इस अंक के लेखक

वैकुण्ठ ल. मेहता — खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अध्यक्ष।

मंघा राम आसूदोमल इदनानी — नयी दिल्ली स्थित भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान में कृषि रसायनशास्त्री।

नारायण पद दत्त — नयी दिल्ली स्थित भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान में रसायन विभाग के अध्यक्ष।

रामदास किशोरदास अमीन — वल्लभ विद्यानगर (गुजरात) स्थित सरदार वल्लभभाई वि में प्रोफेसर और अर्थशास्त्र विभाग के अध्यक्ष।

जगदीश नारायण वर्मा — खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के उप-प्रचार निर्देशक।

विद्या सागर महाजन — कलकत्ता स्थित केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन के औद्योगिक सांखि विभाग से सम्बन्धित।

जेष्ठाराम विश्वनाथ जोशी — खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के मानद तकनीकी सला और कार्यालय तथा भण्डार कार्यकारी।

पेकल श्रीरामुलू पैंट्रो — बिड़लापुर (पश्चिम बंगाल) स्थित बिड़ला जूट मैन्यूफैक्च कम्पनी लिमिटेड में डाईंग मास्टर और सीनियर बी ओवरसीयर।

थानेश्वर देव गोस्वामी — गोहाटी स्थित असम खादी और ग्रामोद्योग मण्डल के खाण्डसारी उद्योग विकास अधिकारी।

सुब्रह्मण्यम् कृष्णमूर्ति — खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के समग्र विकास कार्यक्रम मद्रास स्थित क्षेत्रीय संगठक।

पुटाला नारायण — विस्तार अधिकारियों (उद्योग) के लिए बंगलौर स्थित खा ग्रामोद्योग विद्यालय में लेक्चरर।

विष्णु गोविन्द भट — खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के सहायक लुहारी और बढ़ईगी उद्योग निर्देशक।

रतिलाल महेता — खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के प्रचार निर्देशालय में सहायक सम्पादक।

सुस्पष्ट विचार की आवश्यकता

हम नव वर्ष में पदार्पण करते हैं, राष्ट्र के इस दृढ़-संकल्प के साथ कि सर्वस्व न्यौछावर करके भी हम अपनी स्वतंत्रा की विदेशी आक्रमण से रक्षा करेंगे। राष्ट्र ने एकता के जिस तार को झंकृत किया है, जिसमें कि विभिन्न तल हाल ही तक छोटी-छोटी यानी मामूली बातों को लेकर परस्पर एक-दूसरे से झगड़ते रहते थे, उसने स्पष्ट रूपेण यह सच्चाई सामने ला कर रख दी है कि ३०० से भी अधिक भाषाओं व बोलियों एवम् विभिन्न क्षेत्रों के निवासियों के प्रायः विरोधात्मक रीति-रिवाजों तथा विचारों के होते हुए भी भारत एक राष्ट्र है, और यह कि वह कोई मात्र भौगोलिक नाम नहीं बल्कि अपनी एक हस्ती रखनेवाला तथा वह भी बहुत ही प्राणवान हस्ती रखनेवाला राष्ट्र है। इससे देश के बच्चे-बच्चे को नया-नया तथा कठिन से कठिन काम करने का प्रोत्साहन एवम् नव आत्म-विश्वास मिला है। चीनी आक्रमण ने, यद्यपि अनेक दृष्टिकोणों से बुरा होते हुए भी हममें इस एकता की भावना को मूर्त रूप देने का एक अच्छा काम किया है; जिससे कि हम अन्यथा पारस्परिक ऊपरी नोंक-झोंक यानी तू-तू, मैं-मैं के कारण बहुत-कुछ बेखबर ही रहते। अब सुनिर्देशित नीति और कार्य के जरिये इस मूर्त रूप को अमिट बना देना हमारा अब से आगे का भावी कर्त्तव्य होना चाहिए। अब सर्व प्रथम कार्य है आक्रमण-कारी चीनी सेना का राष्ट्रीय सीमा से निष्कासन; इसके अतिरिक्त एक और भी कार्य है जो अनेक व्यक्ति सोचते या सोच सकते हैं उससे भी कहीं अधिक व्यापक, विस्तृत व विशाल है और जिसके लिए कई दिशाओं यानी क्षेत्रों में एक साथ कार्यवाही करने की आवश्यकता है।

योजना में फेर-बदल

देश पर अनुत्तेजित चीनी आक्रमण के फलस्वरूप उत्पन्न एक क्षोभकारी बात है, इस प्रकार की विचारधारा का पाया जाना जो योजना के लक्ष्य और तौर-तरीके ही बदल देना चाहती है। इस प्रकार की विचारधारा में दो तरह के दृष्टिकोण पाये जाते हैं। एक प्रकार की विचारधारा में वे लोग हैं जो सदैव ही किसी भी प्रकार के आयोजन को शंका की दृष्टि से देखते आये हैं; क्योंकि इसमें वे अनावश्यक विशेषाधिकार तथा शोषण पर आधारित समृद्धि के लिए प्रत्यक्ष खतरे का अनुभव करते हैं। चीनी हमले के परिणाम स्वरूप पैदा हुई अनिश्चितता के मौके का फायदा उठा कर उन्होंने आयोजन के सिद्धान्त की ही उसे देश की आवश्यकता-पूर्ति, और विशेषकर प्रति-रक्षा सम्बन्धी अत्यावश्यकताओं की पूर्ति के लिए, नितान्त अनुपयुक्त बताते हुए निन्दा की है। आर्थिक आयोजन के प्रति इस विचार के प्रवर्त्तकों के सर्व विदित प्रतिरोध या विरोध में कोई विशेष आश्चर्य की बात नहीं है। द्वितीय विचारधारा के लोग आयोजित आर्थिक विकास की आवश्यकता तथा वांछनीयता को स्वीकार करते हुए भी इस बात से डरते हैं कि यदि जिन परियोजनाओं से प्रतिरक्षा कार्यों में तुरन्त कोई सहायता नहीं मिलती—और जिनमें ग्रामीण विकास तथा समाज कल्याण कार्य भी शामिल हैं—उनमें समग्र व्यय की कटौती कर योजना में कोई प्रबल फेर-बदल नहीं किया गया, तो राष्ट्र की युद्ध विषयक क्षमता में गम्भीर अवरोध आ जायेगा।

समग्र रूप से तैयारी

प्रतिरक्षात्मक कार्यों में प्रभावशाली योगदान देने के लिए जहाँ योजना में फिर से फेर-बदल करने के उक्त सुझाव में काफी सार है, वहाँ इन मामलों पर बहुत गहराई से विचार करने की जरूरत है कि इस तरह का फेर-बदल यानी पुनः समायोजन किस

दिशा में और किस ढंग से किया जाय। दुर्भाग्यवश, इस सम्बन्ध में अनेक और प्रायः परस्पर विरोधी, विचारधारा में विभ्रम उत्पन्न कर देनेवाले मत सामने आये हैं कि इस प्रकार का पुनः समायोजन किस ढंग से किया जाय। कुछ विचारों के पीछे स्पष्टतः आर्थिक विचारों के अतिरिक्त अन्य कोई प्रेरणा है और वे उस विभ्रमकारी विचारधारा से उत्पन्न हुए हैं, जिसकी तुलना चन्द ऐसे व्यक्तियों के विवेकहीन खयाली पुलाओं से ही की जा सकती है, जो स्वयम् को इस विषय में अर्थ लगाने के माहिर समझते हैं कि चीनियों की क्या चाल है और उनके क्या उद्देश्य हैं तथा किस ढंग से उनका प्रभावशाली रूप से सामना किया जाय। प्रायः इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट भेद नहीं है कि शत्रु की शक्ति और कमजोरी को उपयुक्त रूप से समझ कर उसके आधार पर किस प्रकार की जानकारी तथा टीका-टिप्पणी देश के भीतर जन-मानस को सक्रिय बना सकती है एवम् विदेशों में जन-मन हमारे पक्ष में करने के लिए किन बातों की आवश्यकता है। शत्रु का सामना करने के लिए राष्ट्र की तैयारी में प्रभावशाली योगदान देने के लिए यह भलीभांति समझना और जनता को समझाना होगा कि आज के जमाने में युद्ध किस प्रकार का होता है, उसके क्या माने होते हैं अर्थात् आधुनिक लड़ाई की सभी बातें अच्छी तरह समझनी तथा जनता को समझानी होंगी। युद्ध में विजय श्री केवल रणक्षेत्र में ही नहीं प्राप्त की जाती, बल्कि इसके लिए समस्त साधन-स्रोतों को—मानवीय तथा सामग्री-संबंधी—समग्र रूप से सक्रिय बनाने की आवश्यकता है। लड़ाई के वक्त जिस देश ने उसके लिए तैयारी नहीं की हो उसमें और जिसने अपने को तैयार कर लिया हो उसमें, कार्यविधियाँ अथवा कार्य आवश्यक रूप से ही भिन्न होंगे।

विकासोन्मुख देशों में कार्य-विधि

प्राविधिक दृष्टि से विकसित और आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न देश जिस विशेष रूप में समस्या का सामना करेगा वह निश्चय ही विकासोन्मुख देश जिस रूप से उसका सामना करेगा अथवा कर सकता है उससे भिन्न होगा। मनोधैर्य और लोक सहयोग दोनों ही प्रकार के देशों में महत्वपूर्ण हैं, लेकिन अल्प विकसित राष्ट्र में वे अतुलनीय रूप से महत्व के हैं, जो कि सभी आवश्यक सामानों के उत्पादन के हेतु केन्द्रीय उत्पादन केन्द्रों और कारखानों का लाभ नहीं उठा सकता, बल्कि जिसे आवश्यक रूप से ही नागरिक आबादी तथा सेना की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये सहकारी प्रयासों—जिनके अन्तर्गत काफी लोग सदस्य होंगे—और विकेन्द्रित इकाइयों पर निर्भर रहना पड़ेगा। विकासोन्मुख देशों में सभी जरूरतें केन्द्रीय रूप से पूरी करने की कठिनाइयों और राष्ट्र के उत्पादनशील तथा संगठनात्मक प्रयासों को सुस्थिर रखनेवाले प्रशिक्षित व्यक्तियों की अत्यन्त कमी के कारण समस्याओं का सामना एक बहुत ही भिन्न रूप में करना होगा। दुर्भाग्यवश, ऐसा लगता है कि वांछित क्रियाविधि का सुझाव देते समय अनेक समालोचक एशियायी देशों के उदाहरण के स्थान पर यूरोपीय देशों के अपेक्षाकृत नये अनुभवों से अधिक प्रभावित हैं। वर्तमान संकटकालीन स्थिति का प्रभावशाली रूप से सामना करने के लिए क्रियाविधि निर्धारित करने में निम्न प्रविधि और सैनिक संगठनवाले देशों द्वारा व्यवहृत रणचातुर्य एवम् युक्तियों का अध्ययन करना अधिक लाभप्रद होगा। उदाहरण के लिए १९३० और १९५० के बीच चीनियों ने जिस तरह के रणचातुर्य एवम् युक्तियों से काम लिया उनके अनुभव वर्तमान स्थिति में बहुत प्रासंगिक हैं और उनका निकट से अध्ययन करना वांछनीय है। एक सफल रणनीति में शत्रु के दृढ़ और कमजोर सभी पक्षों का ध्यान रखना पड़ता है।

दीर्घ-कालीन युद्ध

यदि इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन से कोई शिक्षा मिलती है तो यह कि सैनिक दृष्टि से जिस राष्ट्र का पक्ष कमजोर हो उसे सैनिक उपायों में ढिलाई न करते हुए राष्ट्र के संकल्प को फौलादी जामा पहनाने के लिए

जान-बूझ कर स्वेच्छापूर्वक किये जानवाले लोक प्रयासों को अवश्य ही प्रोत्साहन देना, आगे बढ़ाना चाहिए। आखिरकार किसी राष्ट्र का जीवित रहना उसकी आर्थिक जीवन योग्यता एवम् सांस्कृतिक एकता पर निर्भर करेगा न कि विदेशों से मँगाये गये सामान पर, जो कि कुछ काल के लिए उपयोगी होता है, लेकिन ऐसी स्थिति में उसके कोई मानें नहीं होते जब कि उसके पीछे लोकमत न हो (जैसा कि विदेशी सहायता के बल पर टिके हुए कोमितांग चीन के मामले में था) और जब कि संघर्ष दीर्घ काल तक चलनेवाला हो। दीर्घ-कालीन और लघु कालीन युद्ध की आर्थिक कार्य विधि समान नहीं होती। लघु कालीन संग्राम में प्रत्येक वस्तु को सैनिक कारवाई में लगाया जा सकता है और उसके परिणाम स्वरूप दुःख-दर्दों की चाहे वे कितने ही तीक्ष्ण क्यों न हों कोई परवाह नहीं की जाती; क्योंकि शत्रु को पछाड़ कर और दुःख-दर्दों के कारण को समाप्त कर सरकार तथा जनता के लिए अपने प्रयासों को पुनः राष्ट्रीय आर्थिक और सामाजिक पुनर्निर्माण की ओर लगाना सम्भव होता है। इसके विपरीत एक दीर्घ-कालीन युद्ध में, प्रत्येक वस्तु को दाव पर लगा देना एक गलत कार्यविधि होगी। सही कार्य-प्रणाली यह होगी कि शत्रु को आगे बढ़ने से रोका जाय और राष्ट्र की आर्थिक तथा संगठनात्मक शक्ति, दुश्मन को अंतिम रूप से एकदम खदेड़ देने के लिए मजबूत बनायी जाय। चीन के साथ हमारी लड़ाई, जैसा कि प्रधान मन्त्री बार-बार कहते हैं, जल्दी खत्म होनेवाली नहीं है। यदि अर्थ-व्यवस्था सप्राण न हो, तो वह दीर्घ काल तक सैनिक कार्यवाही का भार उठा कर उसे सुस्थिर रखने में समर्थ नहीं हो सकेगी।

नीति विषयक निर्णय

अतएव इस बात का बहुत बड़ा महत्व है कि नीति निर्णय, उसकी दीर्घ और लघु कालीन निहित बातों पर परिपूर्ण विचार करन के बाद लिया जाय। तद्नुसार प्रधान मंत्री तथा अन्य राष्ट्र-नताओं ने यह बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है कि युद्ध सम्बन्धी जरूरी बातों की पूर्ति के लिए योजना में जो भी फेर-बदल किया जायेगा उसका आयोजन के मूल रूप पर यानी उसकी बुनियादी बातों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। जैसा कि नयी दिल्ली में ग्राम स्वराज प्रदर्शनी का उद्घाटन करते वक्त केन्द्रीय वित्त मन्त्री ने बिल्कुल स्पष्ट कर दिया था कि विकेन्द्रित विभाग तथा ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को शक्तिशाली बनाना बहुत लाभकारी सिद्ध होगा।

देश को जिस स्थिति का सामना करना पड़ रहा है वह कई दृष्टियों से अपने ही ढंग की है। दीर्घ काल के बाद प्रधानतः अहिंसक संघर्ष के जरिये स्वतंत्रता प्राप्त करने पर राष्ट्र ने अहिंसा और किसी पर आक्रमण न करना, अपनी नीति का आधार बनाया तथा युद्ध के लिए तैयारी नहीं की। बड़ी मुश्किल से प्राप्त आजादी को कायम रखने और दीर्घ काल तक विदेशी शासन के अत्याचार तथा शोषण के फलस्वरूप क्षत-विक्षत राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था का, गरीबी से पीड़ित लाखों-करोड़ों लोगों की अवस्था सुधारने हेतु, पुनर्निर्माण करने के लिए हमारे प्रयास जारी रखने के निमित्त, विश्वासघाती चीनी आक्रमण ने जो लड़ाई हम पर थोपी है, वह हमें लड़नी पड़ेगी। आर्थिक कार्यक्रम स्वतंत्रता को प्राण प्रदान करता है यानी वह उसकी जान है, उसके बिना आजादी खोखली होती है।

आर्थिक विकास का अर्थ

भारत के सम्बन्ध में आर्थिक विकास का मतलब है ग्रामीण क्षेत्रों का विकास। आवश्यकता इस बात की है कि जो अर्थ-व्यवस्था एक लम्बे अरसे से निष्प्राण, गतिहीन रही है, उसमें प्राण फूंका जाय, उसे गतिशील बनाया जाय। संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री, प्रोफेसर विलफ्रेड मैलेनबॉम (Wilfred Malenbaum) लिखते हैं, "मूल्य-स्तर में जो थोड़ा-बहुत परिवर्तन हुआ है उसके आधार पर किसी भी हालत में यह माना जा सकता है कि १८६८ में २० रुपये अथवा १८८७ में २७ रुपये की

प्रति व्यक्ति आय, हो सकती है कि (वी. के. आर. वी.) राव के अनुसार १९३१-३२ में ६२ रुपये और राष्ट्रीय आय समिति (नेशनल इनकम कमेटी) के मतानुसार १९५०-५१ में २६५ रुपये की आय से कोई विशेष भिन्न वास्तविक आय नहीं है।"* ऐसा अनुमान लगाया गया है कि देश के ६० प्रति शत लोगों का उपभोग स्तर औसतन राष्ट्रीय प्रति व्यक्ति ३०० रुपये प्रति वर्ष अथवा २५ रुपये मासिक से भी, जो कि स्वयम् पर्याप्त होने के स्तर से काफी कम है, बहुत कम है; तीस प्रति शत व्यक्ति १५ रुपये प्रति माह और २० प्रति शत १२ रुपये प्रति माह से भी कम उपभोग स्तर पर अपना गुजारा करते हैं। यह भी अनुमान लगाया जाता है कि विशेषज्ञों द्वारा मान्य आर्थिक तथा जन-संख्या के विकास की अपेक्षित दरों के आधार पर वर्तमान मूल्य-स्तर पर राष्ट्र की न्यूनतम आय वर्ग में आनेवाली ३० प्रति शत जनसंख्या का उपभोग स्तर २५ रुपये प्रति माह तक सुनिश्चित करने में भी कम से कम तीस-चालीस वर्ष लग जायेंगे।

* विल्फ्रेड मैलनबॉम : 'प्रोस्पेक्ट्स फॉर इण्डियन डेवलपमेण्ट', लन्दन; १९६२; पृष्ठ : १०९।

उपसंहार

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इन तथा अन्य सम्बन्धित तथ्यों पर थोड़ा भी ध्यान देने से पता चलेगा कि राष्ट्र कैसी नाजुक हालत में है। आज कई सीमाओं पर—सैनिक, राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक—हम चुनौती का सामना कर रहे हैं। हमें आक्रमणकारी को खदेड़ बाहर निकालना है; हलचल पैदा कर देनेवाले यानी महान क्रांतिकारी सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन करते हुए भी लोकतंत्र बनाये रखना है। यह कोई औपचारिक यानी मामूली कार्य नहीं है कि साधारण साधनों से पूरा किया जा सके, बल्कि एक ऐसा महान कार्य है जिसे पूरा करने के लिए उच्च कल्पना, शौर्य और बलिदान की आवश्यकता है।

२ दिसम्बर १९६२

आय क्षमता को प्रभावित करने में औपचारिक शैक्षणिक स्तर उतना ही महत्वपूर्ण कारक लगता है, जितना कोई धंधा यानी पेशा। परिवार के मुखिया का शिक्षा-स्तर तथा प्रति परिवार आय के औसत स्तर पर महत्वपूर्ण प्रत्यक्ष सम्बन्ध जान पड़ता है। औसत आय का स्तर जबकि अशिक्षित परिवारों में १,००० रुपये है, मैट्रिक तक पढ़े-लिखे परिवारों में ३,५०० रुपये; स्नातक स्तर तक की शिक्षा (गैर-तकनीकल) प्राप्त परिवारों में ४,९०० रुपये; और स्नातकोत्तर शिक्षा प्राप्त परिवारों में ७,५०० रुपये है। इस प्रकार ज्यों-ज्यों शिक्षा का स्तर ऊँचा उठता है, त्यों-त्यों प्रति परिवार की औसत आय में भी महत्वपूर्ण वृद्धि होती है।

—अरबन इनकम एण्ड सेविंग : नेशनल काउन्सिल ऑफ् अप्लाइड इकनॉमिक्स रिसर्च, नयी दिल्ली।

आदिवासियों का आर्थिक विकास

वैकुण्ठ ल० मेहता

गरीबी और अभाव आदिवासी जीवन के अनचाहे अंग बन चुके हैं। उनसे लोहा लेने, उनका नामोनिशान मिटा देने के लिये एक विशाल और जोरदार कार्यक्रम बनाना पड़ेगा। इसके अंतर्गत आदिवासी क्षेत्रों में कुटीर और ग्रामोद्योगों में उन्नत तकनीकों का व्यवहार कर स्थानीय साधन-स्रोतों का विकास करते हुए उन्हें काम के अवसर प्रदान करने होंगे। इसके साथ ही इन उद्योगों के कार्यक्रम को आदिवासी जीवन के उपयुक्त बनाने के लिए उसमें कुछ हेर-फेर भी करना पड़ेगा।

कार्यक्रम के कार्यान्वय में आदिवासियों की सृजन-शक्ति का पूरा उपयोग करना होगा। उनकी दस्तकारियों की रक्षा करनी होगी और उन्हें विकास के लिए आवश्यक सुविधाएं देनी होंगी तथा मशीनों से बने माल के हमले से उन्हें बचाना पड़ेगा।

भारत के अधिकांश भागों के आदिवासियों में "अपनी संस्कृति और सभ्यता के अनुरूप विकास तथा प्रगति करने की एक उत्कृष्ट अभिलाषा" यह प्रदर्शित करती है कि इनके आर्थिक विकास कार्यक्रम की तत्काल आवश्यकता है।

अनेक कारणों से, जिन पर विचार करना इस लेख के उद्देश्य की दृष्टि से प्रासंगिक न होगा, यह मानना होगा कि वर्तमान शताब्दी के दूसरे दशक तक आदिवासियों की ओर सार्वजनिक रूप से कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया, यद्यपि कुछ प्रान्तों की आबादी में उनकी संख्या काफी अधिक है। विदेशी शासकों की उनके प्रति जो कुछ भी नीति रही हो, उसकी एक मुख्य स्पष्ट बात यह पायी जाती है कि वे यह चाहते थे कि इन लोगों का मैदानी भागों में रहनेवाले राष्ट्रीय विचारधारा के शिक्षित वर्गों के साथ जहाँ तक हो सके कम से कम सम्पर्क हो तथा आदिवासी क्षेत्रों में कानून और व्यवस्था का कड़ाई से पालन किया जाय। यह सच है कि कभी-कभार शिक्षा कार्य अथवा दवा-दारू की सुविधाएँ प्रदान करने के लिए विदेशी 'मिशनों' को कुछ प्रोत्साहन दिया गया। हमारे सामाजिक कार्यकर्ताओं द्वारा धर्म निरपेक्ष आधार पर किये गये प्रारम्भिक प्रयास संदेह की दृष्टि से देखे गये। स्वभावतः उस समय आर्थिक विकास का उद्देश्य रखनेवाली नीति की कल्पना नहीं की गयी थी। यह विचार आजादी हासिल करने के बाद ही, और वह भी आयोजन के विचार के साथ ही सामने आया।

महाराष्ट्र में आबादी

इस लेख में हम आदिवासी जीवन के आर्थिक विकास-वाले पहलू पर विचार करेंगे। विचार का विषय इस हद तक ही सीमित है कि ग्रामीण और वन्य उद्योग आदिवासी अर्थ-व्यवस्था को मजबूत बनाने में कहाँ तक, क्या भूमिका अदा कर सकते हैं। कुछ बातें अखिल भारतीय स्तर पर अपनायी जा सकती हैं, लेकिन मुख्यतः महाराष्ट्र में उपलब्ध अवस्थाओं पर ही विचार किया गया है। महाराष्ट्र में १९६१ की जनगणना के अनुसार आदिवासियों की आबादी, राज्य की कुल ३,९५,५३,७१८ की जनसंख्या में २३,९३,१५९ है। समूचे भारत में इनकी जन-संख्या देश की ४३,८६,०८,१०४ की आबादी में २,९८,८३,४७० है। महाराष्ट्र में भी समुद्र तटीय प्रदेश, मध्यवर्ती क्षेत्र और विदर्भ में इनकी आबादी ज्यादा है। कई आदिवासी समूहों की विशिष्ट विशेषताएँ, भिन्न सांस्कृतिक रीति-रिवाज, भिन्न कौशल और भिन्न अर्थ-व्यवस्था है।

जैसा कि प्रधान मन्त्री ने कहा है, "हमें आदिवासियों की उनके रीति-रिवाजों और कौशल के मुताबिक विकास करने में मदद करनी चाहिए।"

अतएव कृषि अर्थ-व्यवस्था में सुधार करने और ग्राम तथा वन्य उद्योगों को प्रोत्साहन देने के प्रत्यक्ष यानी वास्तविक कार्यक्रम एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में भिन्न हो सकते हैं। फिर भी, परिगणित क्षेत्र और परिगणित जन-जाति (ढेबर) आयोग के प्रतिवेदन के अनुसार इसमें कोई विवाद नहीं हो सकता कि "अभाव और गरीबी सभी आदिवासी क्षेत्रों में जीवन के एक अंग हैं।" वहाँ मात्र गुजर-बसर करने का एक अनवरत संघर्ष रहा है। और इसका उत्तर हमें "भूमि, कुटीरोद्योगों, पशु-पालन तथा जंगलों" में पाना होगा। ग्राम और कुटीरोद्योगों के जारिये, उनकी तक्नीकों में सुधार और आदिवासियों के जीवन की मौजूदा अवस्थाओं के अनुकूल बनाने हेतु कुछ हेर-फेर करके काम के अवसर देते हुए तथा स्थानीय साधन-स्रोतों का विकास करते हुए, गरीबी की इन अवस्थाओं से लोहा लेने के लिए योजना बनानी पड़ेगी। योजना में इस बात की सुनिश्चितता होनी चाहिए कि आदिवासियों की सृजन-शक्ति का परिपूर्ण उपयोग और विकास किया जायेगा।

ढेबर आयोग की सिफारिशें

आदिवासी जीवन की यह एक अपनी विशेषता है कि उनमें जन्मजात सौन्दर्यानुभूति होने की वजह से अनेक दस्तकारियाँ वहाँ अब भी पायी जाती हैं और प्रचलित हैं। इन दस्तकारियों को बनाये रखने और उनके विकास के लिए आवश्यक सुविधाएँ देने की कार्यक्रम में व्यवस्था होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त उनकी मशीन से बने सामानों से रक्षा की जानी चाहिए। कार्यक्रम के इस पहलू पर अखिल भारतीय दस्तकारी मण्डल को विशेष ध्यान देना चाहिए, जो कि इसे कार्यान्वित करने में पंचायतों, पंचायत समितियों व सेवा सहकारी समितियों जैसी विधिविहित संस्थाओं और जिस प्रकार महाराष्ट्र के कई जिलों में हमारे स्वेच्छापूर्वक काम करनेवाले माध्यम हैं ऐसे माध्यमों का उपयोग कर सकता है।

प्रशोधन उद्योगों का संगठन करने में भी इन माध्यमों की सेवाएँ आवश्यक होंगी। ढेबर आयोग के मतानुसार आदिवासियों के हित में इन उद्योगों का विकास करने की सुन्दर सम्भाव्यता है। अतएव इसकी एक सिफारिश यह है कि जहाँ कच्चा माल मिलता हो और उससे बनी वस्तु के लिए स्थानीय अथवा बाहरी बाजार उपलब्ध हो, तो यह सिद्धान्त स्वीकार किया जाना चाहिए कि कच्चा माल उस क्षेत्र से बाहर प्रशोधित अवस्था में ही जाय। इस सिफारिश के अन्तर्गत कृषि उत्पादन और वन्य उत्पादन दोनों ही आयगे, यद्यपि इन दोनों के सम्बन्ध में उपागम भिन्न हो सकता है। अलाभकारी उत्पादन खर्च अथवा स्थानीय संगठनों की क्षमता से बाहर की प्राविधिक या यातायात सम्बन्धी कठिनाइयाँ ही इस काम में रुकावट डाल सकती हैं।

ढेबर आयोग ने गैर-खेतिहर उत्पादन की जिस तीसरी श्रेणी के उद्योगों को प्रोत्साहन देने की सिफारिश की है, वे हैं उपभोक्ता सामग्री तयार करनेवाले कुटीरोद्योग। हो सकता है कि देहाती क्षेत्रों में जिन कुटीरोद्योगों का विकास हुआ है वे सभी आदिवासियों के कौशल और योग्यता अथवा स्वाभाविक रुझान के उपयुक्त न हों। लेकिन चूंकि ऐसे अनेक उद्योगों के लिए कच्ची सामग्री सामान्य तौर पर उपलब्ध है, उनमें व्यवहृत उपकरण सीधे-सादे और सरल हैं तथा उनसे काम करने के लिए किसी विशेष प्रशिक्षण की जरूरत नहीं होती, इसलिए कोई कारण नहीं कि एक ऐसा व्यापक कार्यक्रम न बनाया जा सके, जो अलग-अलग क्षेत्रों की विभिन्न आवश्यकताओं, भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के अन्तर्गत चलाया जा सके।

ग्रामोद्योगों के विकास की गुंजाइश

ढेबर आयोग ने मोटे तौर पर भिन्न-भिन्न राज्यों में ग्रामीण और वन्य उद्योगों की सम्भाव्यताओं तथा विभिन्न राज्यों के आदिवासी क्षेत्रों में अधिक महत्वपूर्ण

ग्राम और वन्य उद्योगों के विकास की गुंजाइश का संकेत दिया है। इसके समानुरूप महाराष्ट्र के विभिन्न जिलों में आदिवासी क्षेत्रों की विभिन्न अवस्थाओं और आवश्यकताओं के उपयुक्त विस्तृत योजनाएँ बनायी जायें, उससे पहले प्रारम्भिक कदम के रूप में उद्योगों की सूची तैयार की जा सकती है। यहाँ ढेबर आयोग द्वारा तैयार की गयी उद्योगों की सूची पर एक नजर डालना रुचिकर होगा। इस सूची में वन्य उत्पादनों का संग्रह और प्रशोधन, काठ पर पच्चीकारी का काम, काष्ठ चिराई, उपस्कर और इमारती सामान तैयार करना, कताई और हाथ करघा बुनाई, कम्बल बुनाई, टसर, रेशम-कीड़ा-पालन और रेशम बुनाई, बेंत और बांस काम, ढली-धातु कार्य, टोकरी बनाना, मधुमक्खी-पालन, धान हाथ कुटाई, नाव और मछली पकड़ने के जाल बनाना, और अन्त में फल संरक्षण तथा उन्हें डिब्बों बंद करना शामिल है।

ढेबर आयोग की सिफारिश है कि अखिल भारतीय स्तर पर इन सबकी जिम्मेवारी अखिल भारत दस्तकारी मण्डल व खादी और ग्रामोद्योग कमीशन जैसे संगठनों की होनी चाहिए। राज्यों में कार्य करने के बाबत इसकी सिफारिश यह है कि प्रत्येक राज्य मण्डल में क्षेत्र में काम करनेवाले माध्यमों को मार्ग-दर्शन, प्राविधिक सहायता, प्रशिक्षण सुविधाएँ तथा आर्थिक सहायता देने के लिए विशेष अनुभाग होना चाहिए। ढेबर आयोग के मतानुसार यह अनुभाग विकास योजनाओं के कार्यान्वय के लिए राज्य में आदिवासी कल्याण विभाग अथवा किसी ऐसी गैर-सरकारी संस्था की सेवाएँ उपलब्ध कर सकता है, जिसके पीछे आवश्यक पृष्ठभूमि, अनुभव और कर्मचारी हों।

सहकारी संस्थाएँ

ढेबर आयोग के प्रतिवेदन के प्रकाशित होने के बाद भारत सरकार के गृह मंत्रालय ने पिछड़ी हुई जातियों, खास कर परिगणित जन-जातियों में सहकारिता के विकास का अध्ययन करने तथा चालू पांचसाला योजना के दरमियान प्राप्त प्रगति को और आगे बढ़ाने के लिए उपाय सुझाने हेतु अतिरिक्त सहकारी आयुक्त श्री एम. पी. भार्गव के नेतृत्व में एक विशेष कार्यकारी दल नियुक्त किया। इस कार्यकारी दल ने कई महत्वपूर्ण सिफारिशें की हैं। इनमें से ढेबर आयोग की सिफारिशों के मुताबिक योजनाएँ बनाने और कार्यान्वित करने के सम्बन्ध में आदिवासियों के लिए उद्योगों से सम्बन्धित सिफारिशें रुचिकर हैं। कार्यकारी दल वन्य उत्पादनों का सहकारी समितियों के जरिये प्रशोधन करने की बात को स्वीकार करता है, फिर भी, उसने यह बात जोड़ी है कि 'इस सम्बन्ध में यदि जो तकनीकें अपनायी जायें वे उन्नत या जटिल न हों तो प्रयास किया जाना चाहिए।'

प्रगति की अभिलाषा

आदिवासी क्षेत्रों में शुरू करने अथवा उनका और आगे विकास करने के लिए जिन उद्योगों की सिफारिश की गयी है वे ये हैं: जहाँ इमली काफी मात्रा में इकट्ठी की जाय वहाँ उनके बीज निकालना, कुटीर दियासलाई के आधार स्वरूप दियासलाई की तिल्लियाँ बनाना, जड़ी-बूटी, दवाइयाँ, तथा अखाद्य तिलहन इकट्ठे करना, टोकरियाँ बनाना, बेंत और बांस काम तथा टसर रेशम और लाख उद्योग। आवश्यकता और उपलब्ध अवस्थाओं के मुताबिक सेवा सहकारों, बिक्री सहकारी समितियों, वन्य श्रमिक सहकारी समितियों अथवा चन्द अन्य विशेष प्रकार की संस्थाओं के जरिये ये काम चलाये जा सकते हैं। फिर भी, ऐसी बात नहीं है कि दूसरी प्रकार की संस्थाओं के जरिये काम न किया जाय, बशर्ते इस बात का आश्वासन मिले कि उत्पादन कार्य से होनेवाला समग्र लाभ उत्पादक को ही मिलेगा।

ये सभी प्रयास राष्ट्रीय जीवन में अपनी उपयुक्त भूमिका अदा करने के लिए आदिवासी जनता के दावे को पूरा करनेवाली योजना के अंग होने चाहिए। इस बात का कोई महत्व नहीं है कि वे शेष समाज से अलग रह कर अपना जीवन-यापन करना चाहते हैं या साथ रह कर। इस बात का निर्णय स्वयम् आदिवासियों को ही करना है। जैसा कि ढेबर आयोग ने ठीक ही

कहा है कि तथ्य यह है कि भारत के अधिकांश भागों में आदिवासियों में "अपनी संस्कृति और सभ्यता के अनुरूप विकास और प्रगति करने की एक उत्कट अभिलाषा" जाग उठी है। सभी समाजार्थिक सर्वेक्षणों और यहाँ तक कि उनके जीवन तथा कार्य के बहुत मामूली ऊपरी ज्ञान से भी यही पता चलता है कि जब तक जिस भीषण गरीबी और अभाव से आदिवासी पीड़ित हैं उसे दूर नहीं किया जाय तब तक इस प्रकार का विकास एवम् प्रगति हासिल करना मुश्किल है।

गरीबी, अभाव, दरिद्रता आदि को नेश्तनाबूद कर देने के लिए एक ऐसे शक्तिशाली, विशाल व व्यापाक तथा गतिशील आर्थिक कार्यक्रम की आवश्यकता है, जिसके अनेक पहलू हों और उनमें एक महत्वपूर्ण पहलू है ग्रामीण तथा वन्य उद्योगों को प्रोत्साहन देना। ढेबर आयोग ने ठीक ही कहा है कि "आदिवासी क्षेत्रों में गरीबी व अभाव का एक कारण है कृषि की वर्तमान निम्न क्षमता और साथ ही पूरक कामों का मौजूदा निम्न स्तर, जो किसी भी माने में कोई छोटा-मोटा कारण नहीं है।" ढेबर आयोग ने आगे कहा है कि "सम्पन्न बुनियादी स्रोत प्रदान करनेवाले वन्य क्षेत्रों और विशाल कृषक समुदाय के समर्थन के होते हुए कोई कारण नहीं कि इन क्षेत्रों में बेकारी अथवा अर्द्ध-बेकारी रहे।" यही वह चुनौती है जिसका सामना करने के लिए खादी और ग्रामोद्योगों के क्षेत्र में काम करनेवाले कार्यकर्ताओं को असाधारण, विशाल प्रयत्न करने की आवश्यकता है।

१८ दिसम्बर १९६२

●

जो यहाँ गाँवों की सेवा के लिए आये हैं उन्हें मैं एक विशेष चेतावनी दूँगा–शिक्षा सम्बन्धी परियोजनाएँ लागू करने में उन पर इस प्रकार के विचारों का प्रभाव कभी नहीं होना चाहिए कि "ये तो ग्रामवासी हैं, इनकी आवश्यकताएँ सीमित हैं, इसलिए इनके मन को जिस तरह से संतोष पहुँचे, वही करने से काम चल जायेगा।" हमें चाहिए कि हम हर प्रकार से ग्रामवासियों के प्रति ऐसे असम्मानपूर्ण रुख से स्वयम् को बचायें। ज्ञान का प्रसार पूरे देश के नगरों व ग्रामीण क्षेत्रों में समान रूप से होना ही चाहिए; यह सभी को उपलब्ध होना चाहिए ताकि समाज को विभाजित करनेवाली ऊँची दीवार को गिराया जा सके। ऐसा सोचकर हमें ग्रामवासियों का अपमान नहीं करना चाहिए कि शिक्षा के माध्यम से उन्हें ऐसी कोई भी चीज देना काफी होगा जो उनके आनन्द-विहीन और अंधविश्वास-जनित भय और अस्वस्थता से भरे जीवन के केवल कुछ अंश मात्र का ही स्पर्श कर पाये। ग्रामवासियों की ओर इस प्रकार के रुख का कारण है–शिक्षा सम्बन्धी असमानता और अभिमान। इसके पीछे एक कारण है–"हमें कुर्सी पर बैठे-बैठे दूर से ही उन्हें निर्देश देना है और उन्हें उस निर्देश पर चलना है।"

— रवीन्द्रनाथ टैगोर

गोबर गैस संयंत्र

मंघा राम इदनानी और नारायण दत्त

भारत में प्रति वर्ष बहुत अच्छी खादवाले २० करोड़ टन गोबर का ४० प्रति शत से भी ज्यादा हिस्सा ईंधन के रूप में जला दिया जाता है। फलस्वरूप भूमि की उर्वरकता बढ़ाने के प्रयत्नों में रुकावट आती है। देहाती क्षेत्रों में गोबर गैस संयंत्रों की स्थापना करने से ग्रामीणों को ईंधन का वैकल्पित स्रोत उपलब्ध होगा, दुर्गंध युक्त रद्दी वस्तुओं के हटाने का एक बहुत ही स्वस्थ तरीका प्राप्त होगा और प्रकाश करने व भोजन बनाने के लिए शक्ति मिलेगी। इसके अतिरिक्त गैस बनने के बाद बचा हुआ गोबर खाद के काम आ सकेगा—और वह भी खाद तत्त्वों को बिना कोई हानि पहुँचाये।

यदि इस कार्यक्रम को सुनियोजित ढंग से तैयार कर कार्यान्वित किया जाय, तो इसमें ग्रामीणों के जीवन तथा दृष्टि-कोण मे भारी परिवर्तन लाने की महान सम्भाव्यताएँ हैं। गोबर गैस संयंत्र स्थापित करने में न तो विशेष पूंजी की आवश्यकता होती है और न किसी खास मेहनत की। इसकी संचालन-प्रक्रिया भी बड़ी सीधी-सादी और सरल है। अतएव कृषक के दैनिक जीवन के साथ इसका बहुत ही समीचीन तालमेल बैठना चाहिए।

गाँवों में गोबर का भोजन बनाने के लिए ईंधन के रूप में उपयोग भारत की एक विशेषता है। गोबर का इस तरह इस्तेमाल करना बहुत पुराने जमाने से चला आ रहा है यद्यपि किसी भी स्तर से गोबर कोई एक अच्छा ईंधन नहीं है, मन्द-मन्द और धूमयुक्त अग्नि प्रज्ज्वलन भोजना बनाना एक कष्टप्रद और थका देनेवाला काम बना देता है। इतना होते हुए भी यदि किसान सदियों से इसका उपयोग करता आ रहा है, तो इस बात को समझने और पहचानने की जरूरत है कि इसका कारण क्या है। हर किसान खेती के लिए आवश्यकतावश एक या दो जोड़ी बैल और अपने आहार की एक प्रधान वस्तु, दूध की पूर्ति के हेतु एक या अधिक गायें रखता है। गाँवों में विकल्प स्वरूप सस्ते ईंधन के अभाव में उसे इस काम के लिए गोबर का उपयोग करते रहना पड़ा है, फिर चाहे वह किसी दूसरे काम की दृष्टि से कितना ही कीमती क्यों न हो। खाद के लिए देसी स्रोतों का उपयोग करने की किसी भी योजना में इस तथ्य का ध्यान रखना ही चाहिए कि प्रति वर्ष उपलब्ध करीब २० करोड़ टन गोबर का ४० प्रति शत से ज्यादा हिस्सा इस प्रकार जलाया जाता है, जिससे कि भूमि की उर्वरकता बढ़ सकती है, और यह ईंधन के रूप में काम में लाने के कारण खाद्यान्न उत्पादन बढ़ाने के लिए कृषि कार्यक्रम के उपयोग में नहीं आ पाता। ईंधन की लकड़ी के लिए पेड़ लगाना एक समाधान है, किन्तु किसानों के छोटे-छोटे खेत होने की वजह से इसे व्यावहारिक रूप देना कठिन है। गोबर के स्थान पर विकल्प स्वरूप किसी दूसरे प्रकार के ईंधन का सुझाव नहीं दिया जा सकता; क्योंकि कृषक को यह मुफ्त में प्राप्त होता है, जो कि उसकी अपेक्षाकृत तंग माली हालत के अनुकूल पड़ता है।

अन्वेषण के जरिये समाधान

इस समस्या का कोई भी समाधान गोबर के आधार पर ही निकालना होगा कि उसका बतौर ईंधन के उपयोग भी किया जा सके और फिर भी उसकी जल कर राख न हो। हाल ही तक इन विरोधात्मक पहलुओं ने समस्या का कोई व्यावहारिक समाधान अपेक्षाकृत कठिन बना रखा था। भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान में हुए अन्वेषण कार्य के परिणाम-स्वरूप गोबर गैस संयंत्र के रूप में

इन समस्याओं का एक परिपूर्ण उत्तर मिल गया है; क्योंकि गोबर गैस संयंत्र में ज्वलनशील गैस प्राप्त करने के लिए, जो जलाने के काम आती है, पहले उसे सड़ाया जाता है और गैसहीन गोबर खाद के रूप में उपयोग के लिए प्राप्त होता है, जिसमें के खाद तत्वों को कोई हानि नहीं पहुँचती। इस प्रकार गोबर गैस संयंत्र अपने सीधे-सादेपन और रख-रखाव के लिए किसी प्रकार के श्रम की आवश्यकता न पड़ने के कारण किसान की दैनिक जीवन-चर्या के अनुकूल पड़ता है। कोई कारण नहीं कि गोबर का अब भी पहले की तरह ईंधन के रूप में व्यवहार किया जाय। देशव्यापी पैमाने पर गोबर गैस संयंत्र अपनाने से अनुकूलतम पैदावार प्राप्ति के हेतु खेतों में डालने के लिए बहुत अच्छी खाद मिल सकती है और साथ ही देहातों में किसानों की सदियों से चली आ रही ईंधन की समस्या का समाधान भी हो सकता है।

कार्यकारी सिद्धान्त

गैस संयंत्र की कार्य प्रणाली सरल है। यह इस सिद्धान्त पर काम करता है कि जब गोबर या अन्य कोई प्रागांरिक पदार्थ हवा के अभाव में सड़ने दिया जाता है, यानी उसमें खमीर पैदा होने दी जाती है तो 'सिवेज' गैस पैदा होती है जिसमें मुख्य रूप से 'मिथेन' और थोड़ी मात्रा में हाइड्रोजन तथा कुछ कार्बन डायआक्साइड होती है। शहरों में अपरिष्कृत 'सिवेज' के परिष्करण के लिए उपचार में ज्वलनशील गैस का उत्पादन इन्हीं सिद्धान्तों पर होता है, जो कि अब गैस प्राप्ति के लिए इस ढंग से गोबर को सड़ान तक लागू कर दिये गये हैं। गोबर गैस संयंत्र के ग्रामीण पारिवारिक प्रकार के नमूने में, जो कि ५.५ फुट के व्यास का और १२ फुट गहरा एक कुंआ-सा होता है तथा जिसकी दीवार ईंटों की बनी होती हैं, यह खमीर गोबर का गारा उसके अन्दर डाल कर पैदा किया जाता है। तत्पश्चात् उसके ऊपर लोहे का एक गुम्बजनुमा ढोल (ड्रम) औंधा रखा जाता है, जिसका व्यास पांच फुट और ऊंचाई चार फुट होती है। इससे कूप में हवा का पहुँचना बन्द हो जाता है और गोबर में खमीर उठने के लिए आवश्यक अवस्थाएँ निर्मित होती हैं। जब गैस तैयार होती है तो उसके इस औंधे ढोल यानी ड्रम में बुदबुदे उठते हैं, और तब फिर वह तैरने व उठने लगती है। ड्रम की चोटी पर लगी एक 'निप्पल' के जरिये यह गैस नलियों के द्वारा रसोई में ले जायी जाती है। एक 'फनल' नली के जरिये, जो कि ताजा गोबर के गारे को कूप के पेंदे तक पहुँचा देती है, रोजाना गोबर डालते रहकर गैस का उत्पादन कायम यानी चालू रखा जाता है। उदाहरण के लिए उक्त मामले में करीब १०० पौण्ड गोबर रोजाना डालना चाहिए। जिस गारे की गैस बन जाती है उसे गैसहीन गारा (स्पेण्ट स्लरी) कहते हैं। यह गारा अपने आप कूप के ऊपरी भाग से बाहर आ जाता है और एक गड्ढे में इकठ्ठा होता रहता है, जहाँ से इसे समय-समय पर उठा कर खाद के गड्ढे में डाल दिया जाता है।

स्थापना

गैस संयंत्र का ग्रामीण पारिवारिक नमूना (चित्र १—पृष्ठ २६३) ऐसा बनाया गया है कि उससे प्रति दिन १०० घनफुट गैस मिलती रहे, जो कि एक औसतन दर्जे के परिवार की भोजन बनाने सम्बन्धी आवश्यकता पूर्ति के लिए पर्याप्त है। पहले पहल रसोई से करीब ५० फुट की दूरी पर ऐसे स्थान का चुनाव किया जाता है, जहाँ धूप मिलती रहे। चार फुट की गहराई तक सात फुट के व्यास का एक कुंआ-सा खोदा जाता है, उसके बाद चारों ओर एक-एक फुट चौड़ी कगार (R) छोड़ कर उसके नीचे आठ फुट तक और खुदाई की जाती , जिसका व्यास पाँच फुट रखा जाता है। इस कगार पर 'गैस होल्डर' रखा जाता है। खमीर कूप (फरमन्टेशन वेल) में ईंटों से इस प्रकार चिनाई की जाती है कि नीचे पेंदे से लेकर कगार तक तो साढ़े-चार फुट का व्यास रहे और कगार से ऊपर के हिस्से का साढ़े-पाँच फुट का। चिनाई जमीन की सतह से एक फुट ऊपर तक की जाती है। फीडिंग पाइप (E) यानी वह नली जिससे ताजा गोबर गैस बनाने के लिए कूएँ में जाता है, इस प्रकार लगाई जाती है कि उसका एक छोर कूप में उसके पेन्दे से डेढ़ फुट ऊपर रहता है और

कूप के बाहर उसका दूसरा छोर जमीन की सतह से करीब दो फुट ऊँचा। नली के ऊपर यानी कूप से बाहरवाले छोर के पास एक डेढ़ फुट की वर्गाकार हौज (G) बनायी जाती है, जिससे प्रति दिन गोबर का गारा इस नली में डाला जाता है। इसके सामने दूसरी ओर एक निकासी नलिका (F) एक ईंट की चौड़ाई की, गैसहीन गारे की निकासी के लिए बनायी जाती है। यह गारा कम्पोस्ट गड्ढे (W) में ले जाया जाता है,

जहाँ यह पत्तियों, घास-फूस तथा अन्य रद्दी सामग्री में मिल जाता है। कूप के ठीक बाहर एक दूसरी से समान दूरी पर तीन घिर्रीदार सहायक नलिकाएँ (I) लगायी जाती हैं, जो दो फुट जमीन के अन्दर और छः फुट बाहर रहती हैं। सहायक नलिकाओं में से एक के पास एक फुट गहरा और डेढ़ फुट लम्बा तथा डेढ़ फुट चौड़ा एक गड्ढा (N) होता है और गैस की नली से विद्रवित जल (कण्डेंस्ड वाटर) हटाने के लिए

चित्र १
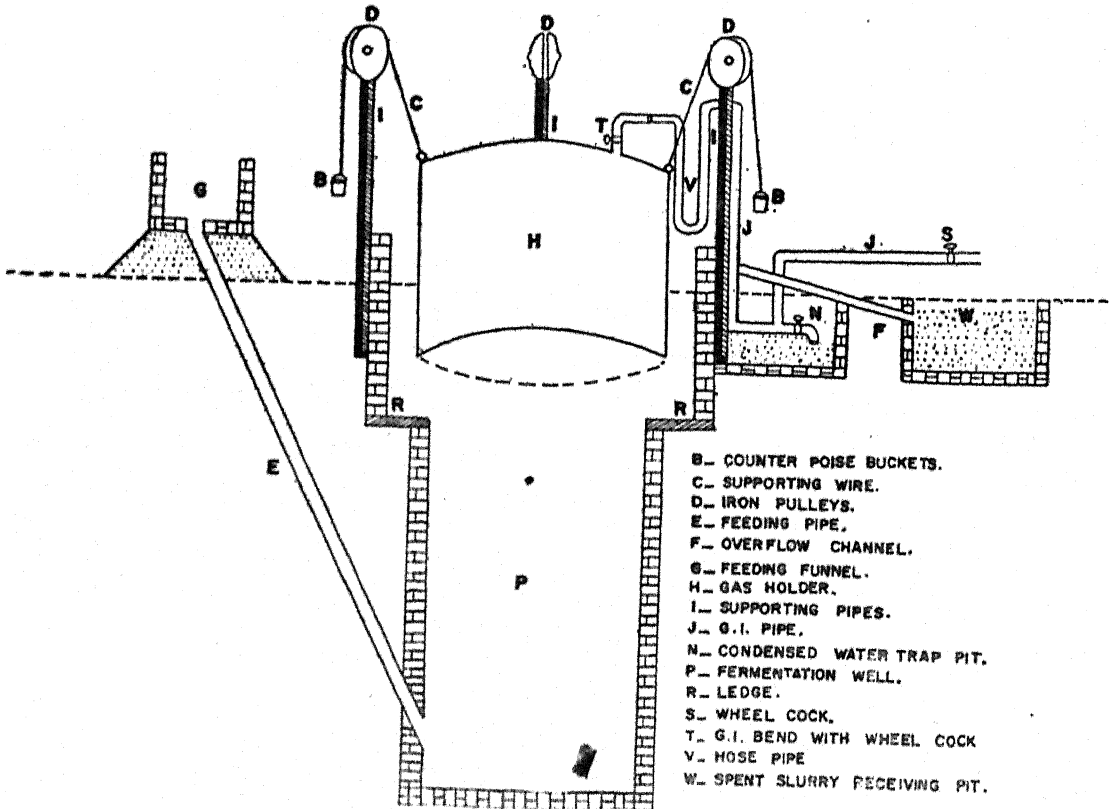
[उक्त चित्र पारिवारिक गोबर गैस संयंत्र का है। अंग्रेजी के अक्षरों से चिन्हित हिस्सों के नाम इस प्रकार हैं : B= प्रतिभारी बाल्टियां; C= लोहे के तारों की रस्सियां; D= लोहे की घिर्रियां; E= ताजा गारा प्रदायक नल; F= गैस बनने के बाद रद्दी गारा निकालनेवाली नली; G=ताजा गारा डालने की फनल; H= गैस होल्डर; I= सहायक नलिकाएं; J= गैस प्रदायक नलिका; N= विद्रवित जल ग्राहक गड्ढा; P= खमीर कूप; R= कगार; S= फिरकीदार टोंटी; T= फिरकीदार टोंटी व गैस प्रदायक नति; V= होज पाइप; W= रद्दी गारे के लिए कम्पोस्ट गड्ढा]

जल-ग्राहक का काम देता है। समय-समय पर टोंटी खोलते रह कर, इकट्ठे हुए जल को बाहर निकलने दिया जाता है और नलिकाओं के अन्दर का छोर साफ रखा जाता है। गैस प्रदायक नलियाँ (J) होज पाइप (V) से जोड़ी जाती हैं जैसा कि चित्र में दिखाया गया ह, जिससे पाइप लाइन ड्रम की प्रदायक निपल से जुड़ जाती है। इस नाली को रसोई तक ले जाया जाता है, जहाँ एक गैस टैप या गैस की टंकी लगायी जाती है, जिसके साथ रबड़ की नली से जुड़ा हुआ एक उपयुक्त गैस का चुल्हा यानी 'बर्नर' लगाया जाता है। इस कूप पर गैस ड्रम (H) इस प्रकार लगाया जाता है कि वह कगार पर टिका रहे। बट लगे हुए तारों की एक १२ फुट लम्बी रस्सी (C) के एक ओर से तीन लोहे की बाल्टियाँ (B) बांधी जाती हैं तथा दूसरा छोर ड्रम के प्रत्येक हत्थे से बन्धा रहता है। ये तार घिर्रीयों से होकर गुजारे जाते हैं ताकि बाल्टियाँ उस स्थिति में सतह से चार फुट ऊपर लटकी रह सकें। गैस उत्पादन के समय गैस होल्डर के वजन को समतोलित करने के लिए बाल्टियाँ ईंटों से भरी जाती हैं। इतना कर लेने के बाद गैस संयंत्र उपयोग के लिए स्थापित हो जाता है यानी उक्त बातें पूरी होने पर गैस संयंत्र तैयार हो जाता है।

परिचालन और रख-रखाव

सर्व प्रथम बराबर का पानी मिलाकर गोबर का गारा करके फनल (G) के जरिये कूप में तब तक डाला जाता है, जब तक कि वह परिपूर्ण रूप से भर न जाय। इसके लिए शुरू में करीब ५०-६० मन गोबर की जरूरत पड़ती है, लेकिन यदि एक ही बार में इतना गोबर प्राप्त न हो तो उसे कुछ दिनों में डाल कर पूरा किया जाता है। जब कूप भरा जा रहा हो, तो होज पाइप को चित्र में दिखाये गये (T) स्थान पर अलग कर दें, ताकि हवा ड्रम से बाहर निकल सके। जब खमीर कूप पूरी तरह भर जाय तो, होज पाइप लगा दें और गैस की टोंटी को बन्द कर दें। गैस उत्पादन साधारणतया एक सप्ताह में शुरू हो जाता है और गैस होल्डर में इकट्ठी हुई गैस, उसके साथ लटकी हुई बाल्टियों के वजन के साथ उसमें हिलने-डुलने और ऊपर उठने की हलचल पैदा करती है। प्रथम बार प्राप्त गैस, उसमें कार्बन डायआक्साइड की मात्रा अधिक होने की वजह से हो सकता है जले नहीं। रसोई में चूल्हे यानी बर्नर को जला कर इसका परीक्षण किया जाता है और यदि गैस नहीं जले तो उसे बाहर निकाल दिया जाता ह तथा ड्रम को नीचे जाने देते हैं एवम् उसे कगार पर टिका रहने दिया जाता है। एक या दो दिन में ड्रम फिर ऊपर उठेगा और जब ऐसा पाया जाय कि गैस जलती है तथा सुस्थिर समान नीली लपटें उसमें से निकलती हैं तो गैस संयंत्र उपयोग के लिए चालू होता है। इस स्थिति से लेकर गैस उत्पादन चालू रखने के लिए करीब १०० पौण्ड गोबर का गारा प्रति दिन संयंत्र में डालते हैं। गड्ढे (W) की चोटी से ऊपर आकर बाहर निकलनेवाला, गैस बनने के बाद का गारा अच्छी खाद होता है और उसे खेतों में डाला जा सकता है अथवा अधिक कम्पोस्ट खाद प्राप्त करने के लिए अन्य प्रांगारिक रद्दी वस्तुओं के साथ एक दूसरे गड्ढे में इकट्ठा किया जा सकता है।

चन्द आवश्यक बातें

गैस संयंत्र की डिजाइन सीधी-सादी व सरल बनायी गयी है, ताकि औसतन कृषक उसके परिचालन व रख-रखाव का काम कर सके। इसमें ऐसी कोई जटिल मशीन नहीं है कि वह खराब हो सके। गैस उत्पादन और गैसविहीन गोबर का बाहर आना अपने आप होता है। जब गैस की उपयोग के लिए जरूरत हो तो लटकी हुई बाल्टियों से ईंटें हटाकर गैस का दबाव बढ़ाने के लिए ड्रम पर रख देते हैं। नीचे लिखे काम करके गैस संयंत्र को परिपूर्ण रूप से अच्छी अवस्था में रखा जा सकता है :

(१) ड्रम में संग्रहीत गैस में पानी की भाप रहती है। यह भाप धीरे-धीरे होज पाइप में या मुख्य पाइप लाइन में विद्रवित होकर चली जाती है। यदि [illegible] में काफी

पानी इकठ्ठा हो जाय तो गैस प्रवाह में रुकावट आ जाती है, जिसका पता आग की लपट कम हो कर अथवा झटका खाकर आने से लग जाता है। विद्रवित जल समय-समय पर होज पाइप और गड्ढे (N) में की टोंटी के जरिये निकाला जाता है।

(२) यदि कूप में गोबर का गारा गाढ़ा हो, तो उसमें से होकर ड्रम आसानी से नीचे नहीं बैठता तथा गैस से प्राप्त आग की लपटें मन्द होती हैं। यह बात खास कर गर्मी के मौसम में और रोजाना गोबर का गारा न डाला जाय अथवा गाढ़ा हो तो पैदा होती है। इस कमी को पानी की कुछ बाल्टियाँ डाल कर और बांस से उसे मिला कर दूर किया जा सकता है।

(३) जब गैस का उपयोग हो रहा हो, तो ड्रम से बंधी हुई रस्सियाँ तथा प्रतिभारी बाल्टियाँ कभी-कभी अटक जाती हैं और ड्रम को अपना उपयुक्त दबाव डालने से रोकती है, जिसका परिणाम होता है 'बर्नर' नें मन्द अग्नि ज्वाला। तारवाली रस्सियाँ लचीली होनी चाहिए ताकि जब गैस काम में ली जाय तो ड्रम नीचे की ओर स्वतंत्रतापूर्वक जा सके। इस कारण यदि अग्नि ज्वालाएँ मन्द नजर आयें तो तनाव कम करने के लिए ड्रम को थोड़ा हिला-जुला यानी झटका देना चाहिए।

ड्रम पर वार्निश

(४) गैस संयंत्र में टूट-फूट अथवा घिस-घिसाव-वाला एक ही हिस्सा ड्रम है, जो कि अनवरत रूप से गोबर के गारे में रहता है। प्रारम्भ में इस पर किसी अच्छी संरक्षणात्मक कलईवाली वार्निश का किया जाना महत्वपूर्ण है, और यदि आवश्यक हो तो हर छः माह के बाद फिर से उस पर वार्निश की जानी चाहिए। वार्निश सूख जाने के बाद उस पर मोम का आवरण चढ़ा देने से वार्निश काफी समय तक टिकी रहती है। इस प्रकार सावधानी बरतने पर गैस संयंत्र बिना किसी विशेष रुकावट या टूट-फूट के कई वर्ष बड़ा अच्छा काम देता है और वह भी उसके रख-रखाव पर व्यवहारतः बिना कोई खर्च किये।

उन क्षेत्रों में जहाँ भू-गर्भीय जल की सतह ऊँची हो अथवा 'खमीर कूप' की खुदाई करते वक्त उसमें पत्थर की चट्टान या कंकड़-पत्थर आयें, तो 'खमीर कूप' की गहराई सीमित रखी जा सकती है। ऐसी अवस्था में खमीर कूप जमीन से बाहर चार से छः फुट की ऊँचाई तक चिनवाया जा सकता है। जमीन के ऊपर के हिस्से को गारे का दबाव बर्दाश्त करने के लिए काफी मजबूत बनाना पड़ेगा। इसके लिए कूप की जमीन से ऊपर की बाहरी दीवार डेढ़ ईंट गहरी होनी चाहिए और इसके पासवाली दूसरी दीवार दो फुट के अन्तर पर चिनी जानी चाहिए। इन दोनों दीवारों के बीच का स्थान मिट्टी डाल कर भरना और पैक करना चाहिए।

आयताकार डिजाइन

उन स्थानों के लिए जहाँ 'खमीर कूप' की गहराई भू-गर्भीय जल अथवा अन्य किसी कारण से पांच-छः फुट तक सीमित रहती है, काम चलाऊ डिजाइन चित्र २ (पृष्ठ २६६) में दिखायी गयी है। 'खमीर कूप' एक आयताकार गड्ढा है, जिसकी गहराई जितनी नीची जा सके रखी जाती है और चौड़ाई साढ़े तीन फुट। गड्ढे की लम्बाई प्रति दिन १०० घनफुट गैस के लिए १०.५ फुट रखी जाती है और आवश्यकतानुसार इस हिसाब से बढ़ाई जा सकती है। इस गड्ढे में छः इंच की गहराई पर चारों ओर एक कगार होती है। गड्ढा पांच फुट लम्बे, तीन फुट चौड़े और एक फुट ऊँचे लोहे के ड्रमों से ढका रहता है। एक-दूसरे ड्रम के बीच तीन इंच का अन्तर छोड़ते हुए, ये ड्रम गड्ढे की लम्बाईवाली कगार पर रखे जाते हैं। ड्रम तारों की रस्सी से जमीन से बांध दिये जाते हैं या उनके ऊपर कुछ वजन रख दिया जाता है, ताकि जब वे गैस से भरें तो हिलें-डुलें नहीं। जिस 'फनल' से ताजा गारा डाला जाता है वह गड्ढे के एक ओर होती है और जिस नाली से गैसहीन गारा निकलता है वह उसके दूसरे छोर पर। हरेक ड्रम के 'निप्पल' होती है, जिसके एक घिर्री-टोंटी (व्हील कॉक) और नति (बेण्ड)

लगी रहती है। जो गैस बनती है वह दबाव के अन्तर्गत इन ड्रमों में इकठ्ठी हो जाती है। इस डिजाइन में आठ फुट व्यास का और छः फुट ऊँचाईवाला एक अलग गैस होल्डर लगाया जाता है। इसमें रोज 'होज पाइप' के स्तरीय डिजाइन तैयार की जा सकती है। इस आकार के 'खमीर कूप' से उसमें प्रति दिन १५-१६ पशुओं का गोबर डालते रहने से तकरीबन ३०० घनफुट गैस पैदा हो सकती है।

चित्र २

RECTANGULAR TRENCH GAS PLANT.
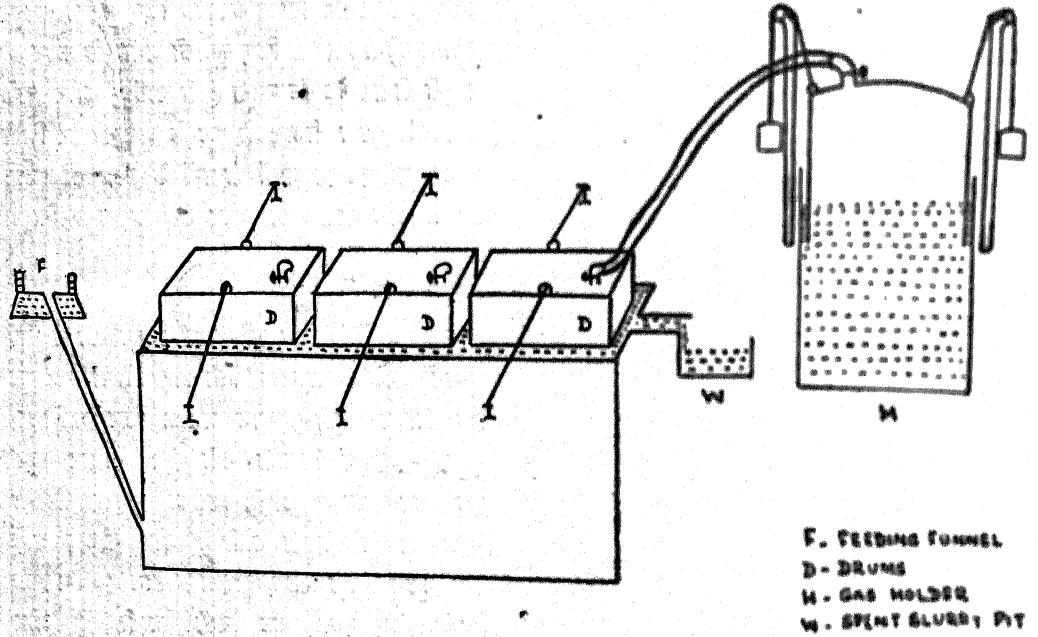
[उक्त चित्र आयताकार गैस संयंत्र का है। अंग्रेजी के अक्षरों से चिन्हित हिस्सों के नाम : F= ताजा गारा डालने की फनल और नल; D=लोहे के ड्रम; H= गैस होल्डर; W= रद्दी गारे के लिए कम्पोस्ट गड्ढा]

जरिये गैस भरी और उपयोग के लिए इकठ्ठी की जाती है। गैस होल्डर एक कूप में जल में तैरता रहता है, जिसका व्यास और गहराई छः इंच ज्यादा होती है।

दीर्घ स्तरीय डिजाइन

गैस संयंत्र के ग्रामीण नमूने की साइज रोजाना चार-पांच पशुओं का गोबर डालते रहने से प्रति दिन १०० घनफुट गैस तैयार करने लायक बनायी गयी है। इसी सिद्धान्त पर 'खमीर कूप' का व्यास ८.५ फुट और गहराई १२ फुट करके तथा गैस होल्डर का व्यास आठ फुट व ऊँचाई पांच फुट करके इसी के समानुरूप दीर्घ

उक्त आकार से भी बड़े गैस संयंत्र की बात बड़ी-बड़ी 'डेरियों' तथा ऐसे गावों के लिए सोचनी चाहिए, जहां कृषक सामूहिक संयंत्र रख सकें और अपने पशुओं का गोबर इकठ्ठा कर उसमें डाल सकें। ऐसा संयंत्र अलग-अलग छोटे-छोटे संयंत्रों से सस्ता भी पड़ेगा। इसके लिए एक ही 'खमीर कूप' में समानुपातिक रूप से बड़े गैस होल्डर की जरूरत पड़ेगी, जिसका बनाया और स्थापना के लिए उपयुक्त स्थान पर ले जाया जाना मुश्किल पड़ेगा। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए एक डिजाइन चित्र ३ (पृष्ठ २६७) में दर्शायी गयी है। इसमें गैस उत्पादन कुछ 'जनित्रों' (जेनरेटर्स) में होता है और वह उपयोग के लिए अलग-

अलग 'गैस-होल्डरों' में संग्रहीत एवम् भाण्डारित किया जाता है। गैस जनित्र आवश्यक रूप से ही किसी भी सुविधाजनक व्यासवाले 'खमीर कूप' के समान १२ फुट गहरा होता है, जिसमें ऊपर से नीचे की ओर एक फुट

होता है और ऊँचाई डेढ़ फुट होती है। उसे हिलने-डुलने न देने के लिए तारों की रस्सियों से जमीन के साथ बांध देते हैं। 'खमीर कूप' में उत्पादित गैस, दबाव के अन्तर्गत ड्रम में इकठ्ठी होती है, जिसमें से यह प्रति

चित्र ३
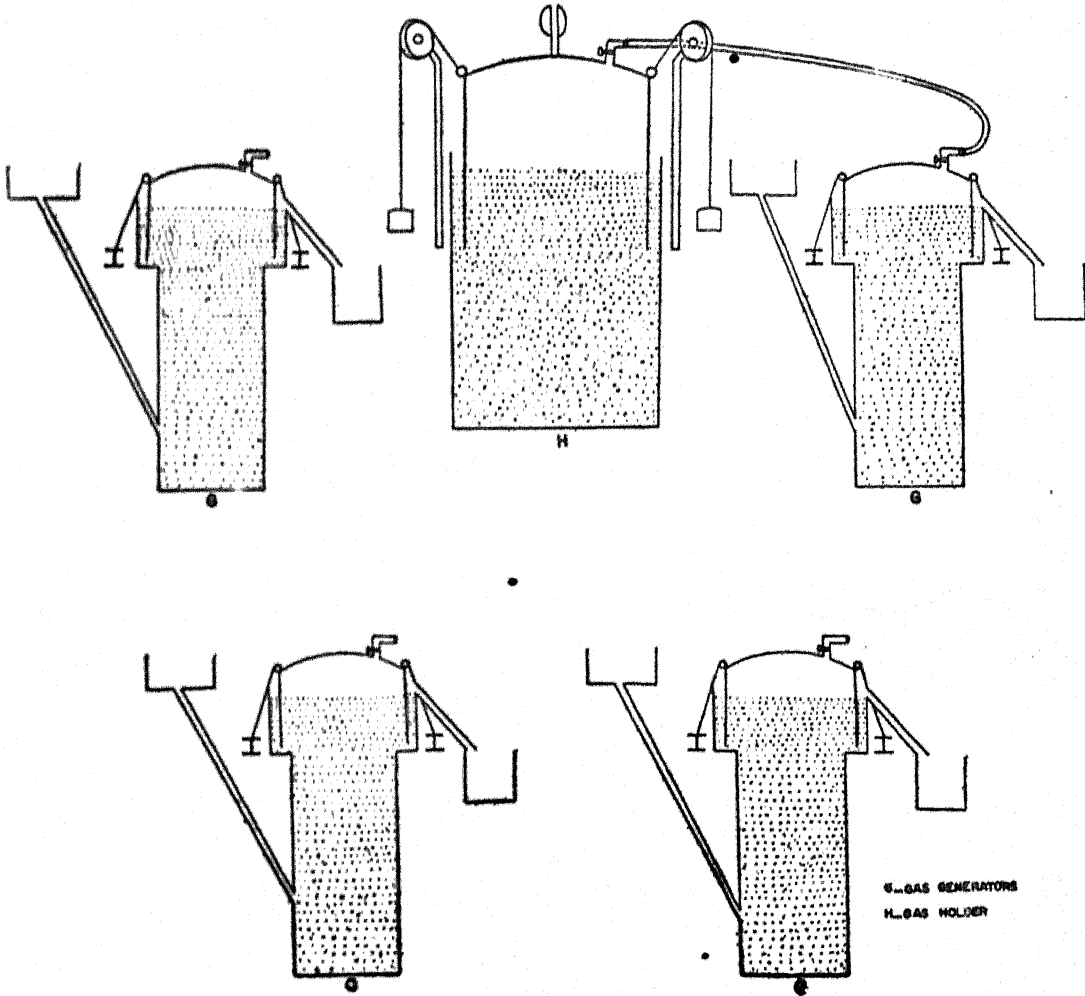
[उक्त चित्र बहु जनित्र गैस संयंत्र का है। अंग्रेजी के अक्षरों से चिन्हित हिस्से: G= गैस जनित्र; H= गैस होल्डर]

की गहराई पर कगार होती है। इसके ऊपर ड्रम लगा रहता है, जिसका व्यास कूप के व्यास से छः इंच कम

दिन 'होज पाइप' के द्वारा मुख्य गैस होल्डर में स्थानांतरित कर दी जाती है। किसी भी तादाद में गोबर

डाले जाने के अनुसार इस प्रकार के गैस जनित्र स्थापित किये जा सकते हैं।

जल-चोलित बंद डिजाइन

उक्त गोबर संयंत्रों में किसी भी पशु का गोबर तथा मैला डाला जा सकता है, जिन सभी से खमीर पैदा होने पर 'मिथेन' गैस बनती है। दुर्गन्ध आनेवाले इन सभी पदार्थों को हटाने का यह तरीका बहुत ही सफाई-प्रधान पद्धति प्रदान करता है, खास कर मैला हटाने के मामले में। गैस संयंत्र में खमीर, हवा के अभाव में उठने के कारण न तो किसी प्रकार की बदबू उठती है और न मक्खियाँ पैदा होती हैं। यदि गोबर और मैला एक साथ संयंत्र में डालने के प्रति कोई दुर्भावना पायी जाय, तो अकेले मैले के लिए भी इस प्रकार के संयंत्र स्थापित किये जा सकते हैं। गांवों में सार्वजनिक शौचालयों, विद्यालयों, चिकित्सालयों आदि के लिए एक दूसरी उपयुक्त डिजाइन नीचे चित्र ४ में दिखायी गयी है। जिस नाली से होकर मैला डाला जाय वह शौचालय से जुड़ी होती है। इससे होकर मैला अपने आप 'खमीर कूप' में जाता रहता है। यदि अन्य स्थानों से ला कर मैला डाला जाय तो अलग से 'फनल' लगायी जा सकती है। गैस होल्डर कूप के व्यास से एक फुट ज्यादा व्यास का होता है, ताकि अन्दर की सामग्री परिपूर्ण रूप से ढकी रहे। 'खमीर कूप' के अन्दर एक विभाजक दीवार (W) होती है। यह दीवार

चित्र ४
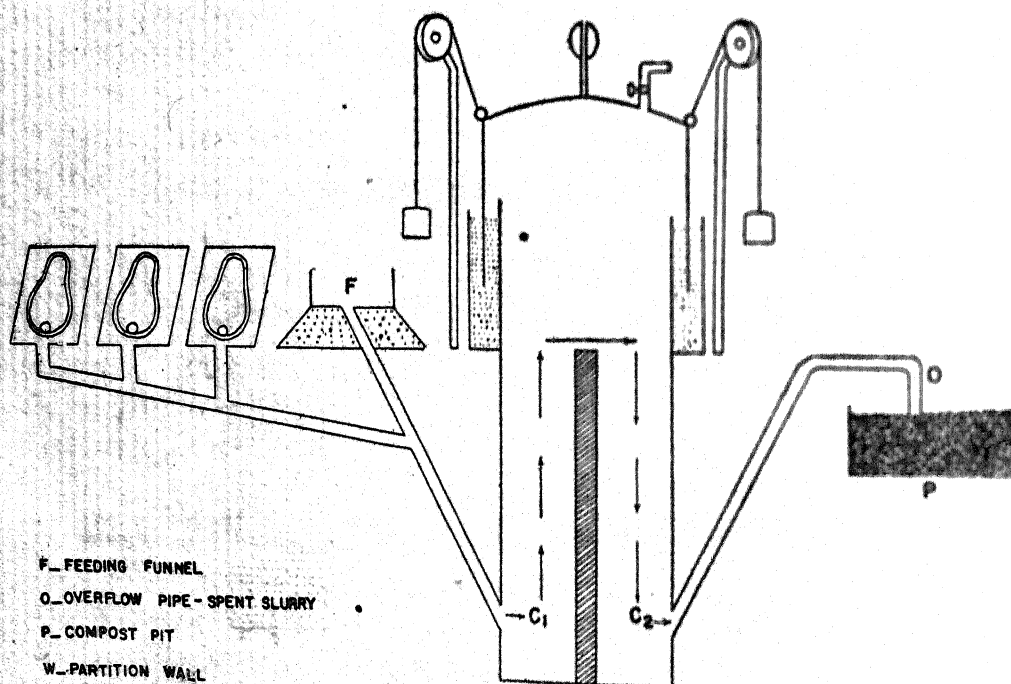
[यह चित्र जल-चोलित बन्द डिजाइन यानी मैले से गैस बनानेवाल संयंत्र का है। अंग्रेजी के अक्षरों से चिन्हित हिस्सों के नाम : F= मैला डालने के लिए फनल; O= गैस विहीन मैला निकालनेवाली नलिका; P= कम्पोस्ट गड्ढा; W= विभाजक दीवार]

उसे दो भागों में विभक्त करती है। जिस गारे से गैस बन चुकी होती है, उसे दूसरे भाग (C2) के पेन्दे से एक नाली के जरिये कूड़े-कचरे से भरे कम्पोस्ट गड्ढे में डाल दिया जाता है, जहाँ वह उसमें मिल जाता है।

गैस उत्पादन बढ़ाना

'मिथेन' गैस उत्पादक प्रांगारिक द्रव्यों पर मौसम का असर पड़ता है और ऐसा पाया जाता है कि जाड़े के दिनों में इनसे गैस उत्पादन ५० प्रति शत या उससे भी कम हो जाता है। व्यवहारतः ग्रामीण क्षेत्रों के लिए अपेक्षाकृत जिस प्रकार के छोटे-छोटे गोबर गैस संयंत्रों की कल्पना की गयी है, उनमें खमीर पैदा करनेवाली सामग्री को भाप के जरिये अथवा अन्य किसी तरीके से गर्मी पहुँचाने का तरीका अपनाना कठिन और खर्चीला पड़ेगा। फिर भी 'खमीर कूप' के अन्दर के सामान को हिलाने-डुलाने से गैस उत्पादन पर अच्छा असर पड़ता है। इस काम के लिए आठ फुट लम्बे बांस की अंग्रेजी के 'एल' अक्षर (L) की आकृति की एक दम-पट्टी इस सम्बन्ध में उपयुक्त पायी गयी, जिसके एक सिरे पर दो फुट लम्बे और तीन इंच चौड़े लकड़ी के दांते लगाये जाते हैं। इसे ड्रम और दीवार की बीच के स्थान से 'खमीर कूप' में घुसेड़ा जाता है और ड्रम के नीचे चारों ओर घुमाया जाता है।

यदि और ज्यादा गोबर उपलब्ध हो तो गैस संयंत्र के समीप जनित्र के रूप में काम देने हेतु, जैसा कि ऊपर दीर्घ स्तरीय गैस उत्पादन के मामले में बताया जा चुका है, दूसरा 'खमीर कूप' बनाकर तथा उसे एक 'लिड' से ढक कर गैस का उत्पादन बढ़ाया जा सकता है। एक 'होज पाइप' की सहायता से इसमें की गैस मुख्य संयंत्र में स्थानांतरित कर दी जाती है।

गोबर गैस का उपयोग

भोजन बनाना: गोबर गैस में गरम, नीली और धूम-विहीन लपट निकलती है तथा यह गैस हवा में सम्मिश्रित नहीं होती। इस गैस से भोजन पकाने के लिए उपयुक्त चूल्हे (बर्नर) बाजार में मिलते हैं। भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान ने इसके लिए बड़े सरल चूल्हे ईजाद किये हैं जो खाली पीपों से सरलतापूर्वक बनाये जा सकते हैं। (चित्र ५—पृष्ठ २७०) सिगारेट के डिब्बे के 'बर्नर' के किनारे पर गैस अन्दर जाने के लिए एक-चौथाई इंच की नली होती है। उसके कवर की परिधि के पास उसके सिरे पर एक कील से सुराख निकाल दिये जाते हैं जिनसे होकर गैस बाहर आती है और जलती है। डिब्बे में वजन के लिए कुछ पत्थर डाल दिये जाते हैं। बूट पालिश की डिबियावाले 'बर्नर' में डिबिया के पेंदे के बीच में नली होती है और वह लम्ब रूप में झुकी रहती है। ऊपर के ढक्कन में छेद निकाले जाते हैं। उपयोग के लिए इसे साधारण लोहे की अंगीठी में लगा देते हैं। ये 'बर्नर' परम्परागत चूल्हों यानी 'बर्नरों' के बहुत अच्छे 'ऐवजी' पाये गये हैं।

प्रकाश: गोबर गैस का इस्तेमाल रोशनी के लिए भी किया जा सकता है। इसके लिए बाजार में उपयुक्त गैस की लालटेन प्राप्य है। पारिवारिक गैस संयंत्र से प्राप्त प्रकाश की सघनता, हो सकता है कभी-कभी गैस के निम्न दबाव के कारण पर्याप्त रूप से सन्तोषजनक न हो। गैस होल्डर पर ईंटों का वजन रख कर यह दबाव बढ़ाया जा सकता है। यदि किसी पेट्रोल युक्त पात्र से होकर गैस को गुजारा जा सके (चित्र ६—पृष्ठ २७१) तो प्रकाश के घनत्व में उल्लेखनीय सुधार हो सकता है। दो लीटर की क्षमतावाले किसी भी टिन से ऐसा पात्र तैयार किया जा सकता है, जिसका मुंह बिल्कुल सीलबन्द कर दिया जाय और ऊपर की चोटी से करीब एक इंच नीचे एक तरफ छेद करके एक-चौथाई इंच की तीन इंच लम्बी तांबे की नली लगा दी जाती है तथा उसके ठीक विपरीत पेंदे से दो इंच ऊपर पात्र से होकर गुजरने के बाद गैस बाहर आने के लिए उक्त प्रकार की एक दूसरी नली लगायी जाती है, जिसका सम्बन्ध लालटेन से जोड़नेवाली रबड़ की नली से होता है। 'फनल' की सहायता से पात्र में लगभग चार औंस पेट्रोल डाला जाता है। पात्र से होकर गुजरते वक्त गैस अपने साथ कुछ पेट्रोल का अंश भी ले

लेती है और जब लालटेन में जलती है तो कम दबाव होने पर भी अच्छा प्रकाश देती है। प्रति दिन तीन घण्टे लालटेन जलाने पर वर्ष भर में पेट्रोल का खर्च पाँच लीटर आता है।

चित्र ५

TIN BURNERS

[प्रस्तुत चित्र टिन के चूल्हों का है]

वाले साधारण प्रकार के इंजिन चलाने में इस्तेमाल किया जा सकता है। गांवों में इस अजित शक्ति का पानी निकालने, चारा काटने, आटा पीसने या अन्य किसी ऐसे काम में उपयोग किया जा सकता है। शक्ति
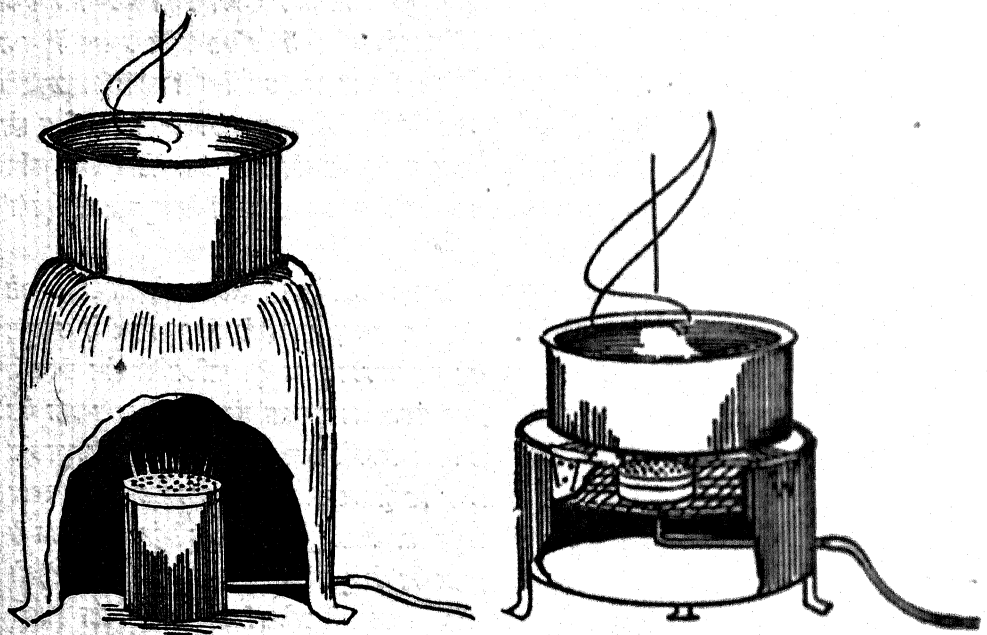
शक्ति (पावर): गोबर गैस संयंत्र से प्राप्त गैस में ६० प्रति शत मिथेन गैस, ३० प्रति शत कार्बन डायआक्साइड और १० प्रति शत हाइड्रोजन होता है। ऐसा पाया गया है कि इस सम्मिश्रण यानी इस प्रकार प्राप्त गैस का उसे उपयुक्त तरीके से कारबूरेटर में प्राप्त करके तथा वायु सम्मिश्रण पर नियंत्रण कर, पेट्रोल और शक्ति से चलने-सम्बन्धी कामों के लिए आवश्यकतानुसार उपयुक्त आकार के गैस संयंत्र स्थापित किये जा सकते हैं। गैस का उपयोग अन्य कई घरेलू वस्तुओं के लिए भी किया जा सकता है जैसे, मिट्टी के तेल से चलनेवाला रेफिजरेटर, गरम हवा देनेवाले इंजिन के पंखे, गर्म पानी करने का यंत्र, इस्त्री आदि।

गोबर गैस संयंत्र के जरिये ईंधन की समस्या के समाधान से प्रति वर्ष करीब २० करोड़ टन गोबर खाद के रूप में काम में लेन के लिए बचाया जा सकेगा, जो अन्यथा जला कर राख कर दिया जाता है। इसके अलावा इस प्रकार खमीर पैदा करने से नाइट्रोजन के तत्वों में भी कोई कमी नहीं आती, बल्कि इसके विपरीत साधारण खाद में इसका ५० प्रति शत तत्व समाप्त हो जाता है। इस प्रकार १०० पौण्ड गोबर की इकाई में ०.२५ पौण्ड नाइट्रोजन कृषक को प्रति दिन मिलता है, जिसमें से वह ५० पौण्ड गोबर और ०.१२ पौण्ड नाइट्रोजन तुलनात्मक रूप से उसी १०० पौण्ड गोबर से ७५ पौण्ड खाद और, ०.२५ पौण्ड नाइट्रोजन प्राप्त होता है। इस प्रकार प्रति वर्ष प्राप्त अतिरिक्त खाद १८,३५० पौण्ड और नाइट्रोजन ७० पौण्ड होगी। प्रति पौण्ड नाइट्रोजन के प्रत्युत्तर स्वरूप पाँच पौण्ड अनाज मानते हुए बढ़ी हुई उपज ३५० पौण्ड अर्थात् ८० रुपये की हुई और तृण सामग्री अलग। इस प्रकार आर्थिक दृष्टि से हिसाब लगान पर भी यहाँ तक माना जा सकता है कि किसान गोबर का ईंधन के रूप में इस्तेमाल करने पर कोई खर्च नहीं करता, इसलिए १०० घनफुट गैस का

चित्र ६

GOBAR GAS ENRICHMENT FOR LIGHTING
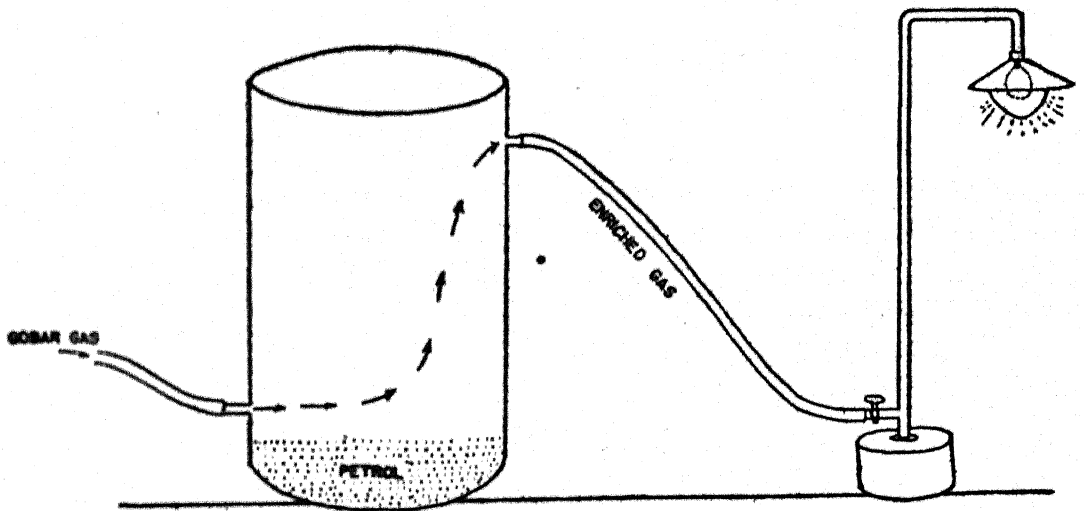
[उक्त चित्र में दिखाया गया है कि गोबर गैस को ज्यादा रोशनी देनेवाला कसे बनाया जाय। अंग्रेजी शब्दों के अर्थ : Gobar Gas= गोबर गैस; Petrol= पेट्रोल; Enriched Gas= अधिक प्रकाशवान गैस]

सीधे रूप से जला देता है और शेष से साधारण खाद २५ पौण्ड तथा ०.०६ पौण्ड नाइट्रोजन प्राप्त होगी। ईंधन के रूप में उपयोग करने से भी कोई बचत नहीं होती। लेकिन प्रकाश के लिए गैस के उपयोग का

हिसाब करने पर मिट्टी के तेल का खर्च पाँच नये पैसे प्रति दिन मानते हुए प्रति वर्ष यह रकम १८.२५ रुपये होती है। इस प्रकार कुल फायदा १०० रुपये रखा जा सकता है तथा संयंत्र की स्थापना का खर्च चार-पाँच वर्ष में पूरा हो सकता है।

रूपान्तर

गोबर गैस संयंत्र कृषक के जीवन में एक सदियों पुरानी समस्या का न केवल परिपूर्ण समाधान प्रस्तुत करता है, बल्कि एक उल्लेखनीय परिवर्तन भी लाता है—मन्द, धूंआदार उपले की आग की जगह गैस से स्वच्छ सोफियाना खाना पकाना; रात्रि में दीपक की धुंधली रोशनी के स्थान पर गैस लालटेन का उज्जवल प्रकाश। इंजिन तथा अन्य उपकरण संचालन के लिए गैस का उपयोग गांवों में ऊर्जा का एक स्रोत प्रदान करता है, जिसका कृषक सेवा कार्यों में व्यवहार किया जाना चाहिए। गोबर तथा अन्य दुर्गन्धयुक्त पदार्थों का गैस संयंत्र के जरियें उपचार करना गांवों में बदबूवाली रद्दी वस्तुओं के हटाने का एक बहुत ही स्वस्थ तरीका प्रदान करता है, जो कि साधारणतया गांवों में एक समस्या है। इस प्रकार गैस संयंत्र जो काम देता है उसका अंश गांवों में एक वैकल्पिक ईंधन प्रदान करने के प्रथम उद्देश्य की पूर्ति करनें से ज्यादा विस्तृत हो गया है और इसलिए उसमें, चन्द अन्य विकासों के समान, कृषक-जीवन और उसकी अर्थ-व्यवस्था में एक रूपान्तर लाने की क्षमता निहित है।

परिशिष्ट

एक गोबर गैस संयंत्र की स्थापना के लिए निम्न सामग्री आवश्यक है :

विवरण	तादाद	मूल्य (रु० में)
१. पांच फुट व्यासवाला और चार फुट ऊंचा १६ जी. एम. सी. का गैस होल्डर—एक सिरे पर खुला हुआ, बन्द सिरे की परिधि के साथ सामान दूरी पर लगे हुए तीन हत्थे, खुले सिरे के चारों ओर 'वेल्ड' की हुई आध-इंच व्यास की एक लोहे की छड़, कगार से करीब नौ इंच की दूरी पर होल्डर की चोटी पर आध-इंच व्यास का एक सुराख और इस सुराख में चार इंच लम्बी तथा आध-इंच व्यास की 'वेल्ड' की हुई निप्पल।	१	२००
२. आठ फुट लम्बी, दो इंच व्यासवाली लोहे की नली, जिसके एक सिरे पर आधार के रूप में काम देने के लिए बिल्कुल बीच में 'वेल्ड' की हुई लोहे की छः इंच वर्गाकार चादर (शीट) और दूसरे सिरे पर एक ओर झुकी हुई अवस्था में लगी 'वेल्ड' की हुई दो छः-छः इंच लम्बी 'शैफ्ट' के बीच में छः इंच व्यास की घिर्री।	३	५०
३. आध-इंचवाली जी. आय. नली में 'फिट' होनवाली 'होज पाइप'।	८ फुट	६
४. बटी हुई तारों की रस्सी।	३६ फुट	१०
५. लोहे की बाल्टियाँ—एक फुट ऊँची और एक फुट व्यासवाली।	३	१५
६. गोबर का गारा डालने की १० फुट लम्बी नाली, जिसका व्यास चार इंच का हो।	१	१२
७. जी. आय. पाइप—आध इंच व्यास की।	३५ फुट	४०

विवणर	तादाद	मूल्य (रु०में)
८. जी. आय. कफोणि (५), साकेट (५), टी (Tee) (२)		१२
९. व्हील कॉक।	१	३
१०. गैस टैप।	१	३
११. पानी की टैप आध-इंच।	१	३
१२. रबड़ की नली।	४ फुट	२
१३. पानी की नलीवाला गड्ढा ढांकने के लिए लकड़ी का तख्ता।	१½ फुट वर्गाकार	१
१४. जी. आय. नति (बेण्ड) आध-इंच।	१	१
१५. संरक्षणकारी (एण्टीकोरोसिव) वार्निश।	२ पौण्ड	१२
१६. ईंटें (कामचलाऊ)।	२,०००	७०
१७. सिमेण्ट।	१ बोरी	१०
१८. मिट्टी (रेत)।	१० घनफुट	५
१९. गैस बर्नर।	१	१०
कुल योग		४६५

२७ सितम्बर १९६२

हम संसार में मित्रता और भ्रातृत्व की आशा ही कैसे कर सकते हैं जब कि अर्थ-व्यवस्था का आधार ही स्वार्थपरता और प्रतियोगिता है? परन्तु सहकारी कार्यों से आपस में उचित सम्बन्ध बनाया जा सकता है। सीधे-सादे शब्दों में सहकार एक ऐसा कार्यक्षम आर्थिक संगठन है, जो बिना किसी का शोषण किये कार्य कर सकता है। यह सेच्छित संगठन है और जबरदस्ती में विश्वास नहीं करता। इसका उद्देश्य लाभ नहीं, बल्कि लागत मूल्य पर सेवा करना है। चूंकि मानवता एक ऐसी व्यवस्था की आवश्यकता महसूस करती है, जो वृढ़ नैतिक मान्यताओं का उल्लंघन न करे, अतः यह दिन-पर-दिन सहकार की ओर उन्मुख होगी। इसी में भावी आशा निहित है।

—अर्नेस्ट पेज : **मनीटोबा कोऑपरेटर** के एक लेख में।

गुजरात की कृषि अर्थ-व्यवस्था

रामदास किशोरदास अमीन

गुजरात के कृषि विभाग में सन् १९५१ से १९६१ तक के दस वर्षों में निरंतर प्रगति हुई और साथ ही यह भी सच है कि इस क्षेत्र में अधिकांश अन्य राज्यों की अपेक्षा उत्पादन अधिक हुआ, इसके बावजूद गुजरात के सामने अनाज उत्पादन में कमी की समस्या बनी ही रही है। यह कमी वर्तमान नकद फसलों के अंतर्गत आनेवाली भूमि को, जो राज्य में कुल जोती जानेवाली भूमि की ५० प्रति शत है, कम किये बिना पूरी करनी है। इसके अलावा इस जोती जानेवाली भूमि में वृद्धि की भी अधिक गुंजाइश नहीं है।

इस समस्या को इन दो तरीकों से काफी हद तक हल किया जा सकता है: एक, दोहरी फसलवाले क्षेत्र में वृद्धि करना, जो कुल क्षेत्र का मुश्किल से दो से तीन प्रति शत तक है और दूसरा तरीका है सिंचित भूमि के प्रतिशतक में वृद्धि करना।

गुजरात में कृषि की प्रगतिशीलता जिस तेजी से काठ के स्थान पर लोहे के हल तथा सिंचाई के लिए तेल व बिजली से चलनेवाले पम्पों का इस्तेमाल हो रहा है, उससे ही प्रकट होती है।

पिछले दस वर्षों में गुजरात राज्य की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का रुख किस ओर रहा है, इसे कृषि और कुटीर व छोटे उद्योगों के क्षेत्र में हुई प्रगति के मूल्यांकन से समझा जा सकता है। सामाजिक व आर्थिक क्षेत्र में होनेवाले खर्च की वृद्धि से राज्य के ग्रामीण क्षेत्रों की सम्भाव्य प्रगति का पता चलेगा। यहाँ हम कृषि क्षेत्र के विकास का मूल्यांकन करेंगे; क्योंकि मुख्यतः इसी पर ग्रामीण क्षेत्रों की समृद्धि निर्भर करती है।

अर्थ-व्यवस्था के कृषि क्षेत्र की वृद्धि-दर का अध्ययन गुजरात राज्य के आय सम्बन्धी आंकड़ों की सहायता से किया जा सकता है। सन् १९५१-५२ से १९६०-६१ की अवधि में गुजरात राज्य की आय में कुल वृद्धि १ अरब ६५ करोड़ रुपये और १ अरब ७० करोड़ रुपये के बीच थी। इसमें से १ अरब ३५ करोड़ रुपये की वृद्धि अकेले कृषि विभाग में हुई। सन् १९५५-५६ की मूल्य दरों के आधार पर १९५१-५२ में गुजरात राज्य में कुल कृषि उत्पादन लगभग १ अरब १३ करोड़ रुपये का था, जो १९५५-५६ में बढ़ कर १ अरब ८५ करोड़ रुपये और १९६०-६१ में २ अरब ५० करोड़ रुपये हो गया। इसका अर्थ यह हुआ कि लगभग दस वर्षों की अवधि में १२० प्रति शत यानी प्रति वर्ष लगभग दस-ग्यारह प्रति शत वृद्धि हुई। सन् १९५४-५५ में कृषि, पशु-पालन और अन्य सहायक गतिविधियों से राज्य को कुल २ अरब ९ करोड़ रुपये की आय हुई, जो कि राज्य की कुल ४ अरब ६६ करोड़ रुपये की आमदनी की ४५ प्रति शत हुई।

तुलनात्मक अध्ययन

समूचे देश में कृषि और उसकी अन्य सहायक गतिविधियों में इतनी ही आमदनी हुई, यद्यपि १९५१-५२ और १९६०-६१ के बीच की अवधि में कृषि विभाग की आय में होनेवाली वृद्धि दूसरे राज्यों में गुजरात जैसी तेज नहीं हुई। भारत में कृषि से होनेवाली आय में कुल वृद्धि १८ अरब रुपये हुई, जबकि राष्ट्रीय आय में यह वृद्धि ४२ अरब रुपये की हुई। गुजरात राज्य में कृषि क्षेत्र की १ अरब ३५ करोड़ रुपये की वृद्धि देश भर की इसी क्षेत्र की वृद्धि का ७.५ प्रति शत भाग है, जबकि समूचे गुजरात राज्य की आय भारत की राष्ट्रीय आय

का केवल लगभग ४.८ प्रति शत भाग है। गुजरात राज्य की १९५१-५२ में कृषि-आय लगभग १ अरब १३ करोड़ रुपये थी, जो भारत की उसी वर्ष की कृषि आय का लगभग २.३ प्रति शत भाग था और १९६०-६१ में वह ३.६ प्रति शत था। देश में हुई कृषि की प्रगति के सन्दर्भ में देखने पर ऐसा लगता है कि गुजरात ने वास्तव में बड़ा भारी काम किया है।

खाद्यान्न तथा दूसरी फसलें

गुजरात राज्य के कृषि सम्बन्धी आंकड़ों के परीक्षण से भी यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है। दोनों पंच वर्षीय योजनाओं की अवधि में खाद्यान्न फसलों के अन्तर्गत कुल क्षेत्र में (१९५१-५२ के आधार पर), कुछ अन्तर आया है, जो कि ९० और ११७ के बीच का रहा है। वस्तुतः १९५९-६० में खाद्यान्न फसली क्षेत्र १९५१-५२ और १९५२-५३ से कुछ कम था। इसके विपरीत दूसरी फसलों जैसे तम्बाकू, मूंगफली और कपास की खेती के अन्तर्गत क्षेत्रों में काफी वृद्धि हुई है। ये सभी गुजरात की मुख्य नकद फसलें हैं। मूंगफली की खेतीवाला क्षेत्र १८ लाख ७६ हजार एकड़ से बढ़ कर ३६ लाख १९ हजार एकड़ हो जाने से लगभग दूना हो गया है। तम्बाकू के क्षेत्र में भी इसी प्रकार वृद्धि हुई है, जो १९५१-५२ के ७४,००० एकड़ से बढ़ कर १९५९-६० में १,६५,००० एकड़ हो गया। कपास के मामले में वृद्धि की दर कुछ कम है, जो १९५१-५२ की ३१ लाख एकड़ के स्थान पर १९५९-६० में ४२ लाख २५ हजार एकड़ पर बोयी गयी थी। फिर भी, ध्यान देने योग्य बात यह है कि राज्य की कुल जितनी जमीन बोयी जाती है, उसके आधे हिस्से में खाद्यान्न फसलें और आध में अन्य फसलें बोयी जाती हैं। पूरे देश में खाद्यान्न फसलें, जितने क्षेत्र पर खेती होती है उसके ७५ प्रति शत हिस्से में उगाई जाती हैं।

धान और गेहूँ

खाद्यान्नों के मामले में धान और दालों की पैदावार में उल्लेखनीय वृद्धि हुई, यद्यपि गेहूं और ज्वार, बाजरा आदि जैसे छोटे-मोटे अनाजों की पैदावार भी ठीक-ठीक हुई। इस पूरी अवधि में धान की खेती ११-१२ हजार एकड़ भूमि पर ही हुई—उसके क्षेत्र में कोई बढ़ौतरी नहीं हुई—पर उसके उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि हुई।

गेहूँ के उत्पादन में जो प्रगति हुई, वह समग्र रूप से देखने पर निरुत्साहक नहीं है। पिछले दस वर्षों में गेहूँ की खेती के अन्तर्गत भूमि लगभग दुगुनी हो गयी है, उत्पादन भी दूना हो गया है और इस प्रकार प्रति एकड़ उत्पादन समान ही रहा है। इससे गेहूँ के उत्पादन में ऊपरी तौर पर प्रगति के अभाव का आभास हो सकता है, पर वस्तुतः ऐसी नहीं है। गेहूँ के लिए अत्यधिक उत्पादकता-वाली सर्वोत्तम भूमि पर १९५१-५२ में खेती की जा रही थी लेकिन, चूंकि कुछ निम्न स्तर की भूमि पर भी खेती करना शुरू किया गया, अतः औसत उत्पादकता का स्तर समान ही बना रहा। गुजरात से लोग मोटे अनाज को छोड़ कर उसके स्थान पर अच्छे अनाज का उपभोग करने लगे। हो सकता है, इसी कारण दूसरे अनाजों की अपेक्षा गेहूँ का भाव बढ़ा और जिससे लोगों को गेहूँ की खेती का क्षेत्र बढ़ाने की प्रेरणा मिली।

ज्वार, बाजरा और दालें

दो मुख्य मोटे अनाजों—ज्वार और बाजरा—के उत्पादन में भी धान की तरह वृद्धि हुई, जबकि खेती के क्षेत्र में कुछ कमी हुई है। बाजरे में नगण्य-सी गिरावट आयी। चूंकि इन फसलों के उत्पादन में अत्यधिक घट-बढ़ होती रहती है, फिर भी आसानी से यह कहा जा सकता है कि बाजरे और ज्वार के उत्पादन में लगभग ७० प्रति शत वृद्धि हुई।

दालों का विकास कुछ भिन्न है। दालों की खेती के अन्तर्गत आनेवाले क्षेत्र में काफी कमी हुई, इनका सूचकांक १९५१-५२ के १०० (आधार वर्ष १९५१-५२) से १९५९-६० में घट कर ६५ हो गया। सन् १९५३-५४ से दालों की खेती के क्षेत्र में बहुत कमी आती जा रही है, पर उत्पादन दूना हो गया है। इस प्रकार इस अवधि

में प्रति एकड़ उत्पादन प्रायः तिगुना हो गया। यह आश्चर्य की बात है कि दालों के उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि होने के बावजद तनी खेती के अन्तर्गत आनेवाले क्षेत्र में भारी कमी हुई है। भूमि की उर्वरता को बनाये रखने के विचार से द्विदलीय यानी दालों आदि की फसलों का उचित अनुपात बनाये रखने की आवश्यकता के संदर्भ में यह बात कुछ क्लेशकर यानी बुरी जान पड़ती है। किन्तु इस प्रश्न पर मूंगफली की खेती के क्षत्र में हुई वृद्धि को ध्यान में रख कर विचार करना चाहिए। दालों और मूंगफली की कृषि के अन्तर्गत १९५१–५२ में लगभग ४६ लाख एकड़ जमीन थी, जो १९५९–६० में बढ़ कर ३७ लाख ५० हजार एकड़ हो गयी। इस प्रकार दाल आदि की फसलों का उचित अनुपात ही नहीं बनाये रखा गया, बल्कि कुल उपजवाली भूमि में थोड़ी वृद्धि होते हुए इसे बढ़ाया भी गया है।

नकद फसलों का महत्व

जहाँ तक नकद फसलों का सवाल है, भारत की अर्थ-व्यवस्था में गुजरात की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का विशेष महत्व है। कपास और मूंगफली का उत्पादन काफी अच्छा है, जो भारत में इन चीजों के कुल उत्पादन का क्रमशः लगभग २२ और २० प्रति शत है। तम्बाकू का उत्पादन १९६०–६१ में लगभग ५० हजार टन हुआ, जो देश के कुल तम्बाकू उत्पादन का लगभग १५-१६ प्रति शत था। मूंगफली के उत्पादन की वृद्धि से कीमतें स्थिर रखने व आयात की बचत करने के लिए कपास के उत्पादन में वृद्धि करके और तम्बाकू का उत्पादन बढ़ा कर निर्यात करने से विदेशी मुद्रा की प्राप्ति में बहुत सहायता मिलती है। गुजरात में खेती की जानेवाले क्षेत्र के ५० प्रति शत में मुख्यतः नकद फसलों की पैदावार होती है। वास्तव में इसी कारण राज्य में अनाज की पूर्ति की समस्या बढ़ गयी है। तृतीय पंच वर्षीय योजनावधि में राज्य में अनाज की कमी के विभिन्न अनुमान कम से कम आठ-नौ लाख टन से लगभग १८ लाख टन तक के लगाये जाते है। अतः गुजरात के सामने मुख्य आर्थिक समस्या यह है कि तृतीय पंच वर्षीय योजनावधि में खाद्यान्नों के उत्पादन में भारी यानी कम से कम आठ-नौ लाख टन की वृद्धि करनी है और इसके साथ-साथ नकद फसलों के उत्पादन की वृद्धि दर को भी बनाये रखना आवश्यक है। बहुमूल्य विदेशी विनिमय की बचत की दृष्टि से इनके उत्पादन में वृद्धि अत्यावश्यक है।

विस्तार की सीमित गुंजाइश

इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए क्या उपाय करने चाहिए? राज्य में भूमि की उपयोगिता पर दृष्टिपात करने से हमें विश्वास हो जायगा कि पैदावार का क्षेत्र बढ़ाने की बहुत काम गुंजाइश है। राज्य के कुल भौगोलिक क्षेत्र के केवल ६८ प्रति शत क्षेत्र का ही लाभदायक उपयोग किया जाता है, जबकि पूरे देश के तुलनात्मक आंकड़े केवल लगभग ७७ प्रति शत है। उपयोग किये गये इस ६८ प्रति शत क्षेत्र के ५२ प्रति शत क्षेत्र पर खेती की जा रही है और अब खेती के विस्तार की गुंजाइश केवल १६ प्रति शत क्षेत्र तक ही हो सकती है। वास्तव में यह बहुत थोड़ी सीमान्त भूमि है, विशेष कर तब, जब कि यह ज्ञात हो कि खेती के योग्य पड़ती भूमि केवल पांच प्रति शत है, जिससे खेती के कुल क्षेत्र को बढ़ाने की बहुत थोड़ी गुंजाइश रह जाती है। इसके अलावा पिछले दस वर्षों में बंजड़ भूमि में कमी हुई है, जो १९५१–५२ में ३२.३५,००० एकड़ थी और १९५६-६७ में १७,७०,००० एकड़ थी।

दो महत्वपूर्ण तरीके ऐसे है, जिनसे प्रगति की जा सकती है। पहली बात तो यह है कि दोहरी फसलवाले क्षेत्र की वृद्धि अभी तक बहुत असंतोषजनक है। ऐसा क्षेत्र जिसमें एक से अधिक फसलें होती थी, १९५१-५२ में लगभग ९,७३,००० एकड़ था, जो १९५६-५७ में में बढ़ कर १०,७२,००० एकड़ ही हुआ, यद्यपि अब यह १५ लाख एकड़ हो गया है। पिछले कुछ वर्षों में यद्यपि दोहरी फसलवाले क्षेत्र में भी कुछ तेजी से वृद्धि होने के बावजूद यह कुल क्षेत्र का मुश्किल से दो-तीन

प्रति शत ही है। इसमें काफी वृद्धि की जा सकती है, यदि सभी सम्बद्ध लोग जी तोड़ प्रयत्न करें।

दूसरी बात यह है कि गुजरात में सिंचित क्षेत्र भी बहुत कम है। सन् १९५१ से खेती के कुल क्षेत्र में सिंचित क्षेत्र का प्रातिशत्य लगभग ६.५ प्रति शत ही रहा है, जब कि भारत के तुलनात्मक आंकड़े १५-१६ प्रति शत के बीच रहे हैं। यद्यपि १९६०-६१ में सिंचित भूमि का अनुमान २५ लाख ५६ हजार एकड़ था, अतः प्रातिशत्य ६.५ से बढ़ कर करीब १० हो गया, फिर भी राज्य में सिंचाई की सुविधाओं में वृद्धि की बड़ी गुंजाइश है।

चावल उत्पादन में हिस्सा

कृषि विकास की दर को समझने का एक दूसरा तरीका भी है। राज्य में खेती के कुल क्षेत्र के लगभग आधे भाग में चावल, गेहूँ, दाल, मूंगफली, कपास और तम्बाकू की खेती होती है। गुजरात में चावल के उत्पादन में लगभग शत प्रति शत वृद्धि हुई, जैसे १९५१-५२ में इसकी उपज ५९,००० टन थी, जो १९५२-५३ में बढ़ कर १,८३,००० टन; १९५९-६० में ३,७६,००० टन; और १९६०-६१ में ४,२८,००० टन हुई। भारत के चावल उत्पादन में गुजरात का हिस्सा १९५२-५३ में ०.७ प्रति शत से भी कुछ कम था, जो १९६०-६१ में लगभग १.२ प्रति शत हो गया।

पिछले दस वर्षों में गेहूँ के सम्बन्ध में पूरे देश के उत्पादन में ठोस रूप से लगभग ६० प्रति शत की वृद्धि हुई। गुजरात में भी गेहूं का उत्पादन करीब-करीब दूना हो गया। ज्वार, बाजरा जैसे छोटे-मोटे अनाजों का उत्पादन पूर्ववत् रहा। दालों के उत्पादन में भारी वृद्धि हुई; समूचे देश में इनकी वृद्धि मुश्किल से ३० प्रति शत थी, पर गुजरात में यह शत प्रति शत हुई।

नकद फसलें

जहाँ तक नकद फसलों के उत्पादन में वृद्धि का प्रश्न है, गुजरात मूंगफली और तम्बाकू के मामले में देश भर में सब से आगे है। केवल कपास के मामले में ही गुजरात पीछे है। देश में कपास के उत्पादन में शत प्रति शत वृद्धि हुई, जब कि गुजरात में यह ४० प्रति शत से भी कम रही। यद्यपि इसके उत्पादन में (१९५१-५२=१००) १९५२-५३ के सूचकांक ९७ से १९५८-५९ के १८९ तक भारी उतार-चढ़ाव पाया जाता है, तथापि पिछले दस वर्षों के तीन-चार वर्ष से यह १२० और दो-तीन साल से १६५ के आस-पास रहा है।

तम्बाकू के मामले में गुजरात और भारत का रुख बिल्कुल भिन्न है। भारत का उत्पादन समान ही रहा है। पिछले दस वर्षों में १९५१-५२ पर आधारित सूचकांक में कठिनाई से ८० से ११३ के बीच उतार-चढ़ाव पाया जाता है। इसका उत्पादन १९६०-६१ में भी १९५०-५१ के समान ही रहा है, जबकि गुजरात में यह करीब-करीब दूना हो गया। सूचकांक (१९५१-५२=१००) धीरे-धीरे १९५२-५३ के १५४ से बढ़ कर १९५६-५७ में २३१ हो गया और १९५९-६० में यह २०९ रहा।

मूंगफली की उत्पादन-दर गुजरात में देश से कहीं अधिक रही है। भारत में मूंगफली के उत्पादन में पिछले दस वर्षों में करीब ४० से ४२ प्रति शत तक वृद्धि हुई है, जबकि गुजरात का उत्पादन चार-पांच गुना बढ़ा है। अतः कृषि की प्रगति देश से कहीं अधिक गुजरात में हुई।

औसत आय

गुजरात में व्यक्तिगत आय का सिंहावलोकन करना भी रुचिकर होगा। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के १४वें दौर के अनुसार भूतपूर्व बम्बई राज्य में १९५८-५९ में आमदनी के रुख पर आधारित प्रति व्यक्ति माहवार व्यक्तिगत आय लगभग १४ रुपये थी, जबकि अखिल भारतीय प्रति व्यक्ति प्रति माह औसत आय लगभग १६.५६ रुपये थी। मैंने १९५८-५९ में खेड़ा जिले के वालासण गांव का आर्थिक सर्वेक्षण किया था, उससे ज्ञात हुआ कि उस गांव में प्रति व्यक्ति वार्षिक औसत आय

२०५ रुपये यानी १७ रुपये मासिक थी। उक्त राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण ने व्यय रुख के आधार पर माहवारी व्यक्तिगत आय २०.४३ रुपये दिखायी थी, जबकि वालासण सर्वेक्षण के अनुसार वार्षिक आय लगभग २३० रुपये यानी १९ रुपये प्रति माह थी। व्यक्तिगत आय साधारण तौर पर प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय की लगभग दो-तिहाई होती है। वालासण खेड़ा जिले का एक अपने ढंग का गांव है, जहाँ गुजरात राज्य के बहुत ही प्रगतिशील कृषि क्षेत्र के समान रहन-सहन का स्तर पाया जाता है।

आय का वितरण

वालासण गांव के इसी अध्ययन से गुजरात राज्य के ग्रामीण क्षेत्रों में आय के वितरण का कुछ पता चल सकता है। वालासण गांव में आय का वितरण निम्न तालिका में दिया गया है:

(आय रुपये में)

प्रति व्यक्ति वार्षिक आय	परिवारों की संख्या	कुल का प्रातिशत्य
५१–१००	९२	१५
१०१–१५०	१२६	२१
१५१–२००	११६	१९.५
२०१–३००	१४७	२४.१५
३०० और ऊपर	११९	२०
	६००	१००

फसलों की व्यवस्था और व्यक्तिगत आय के वितरण के अलावा दो और बातों से ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के रुख का पता चलता है। इनमें से एक है पशु धन और उससे प्राप्त होनेवाली वस्तुएँ, तथा दूसरी है कृषि औजारों या उपकरणों का उपयोग। पशुओं के विषय में यही कि १९५६ में भारत में उनकी संख्या प्रति एक सौ व्यक्तियों के पीछे लगभग ७० थी, जबकि गुजरात के आंकड़े कुछ अधिक यानी ७२ से ७३ तक के थे; यद्यपि १९६१ की गणना के अनुसार इनकी संख्या लगभग ६७ ही थी। प्रति १०० एकड़ खेती की गयी भूमि के पीछे ढोरों की संख्या के आंकड़े और भी अधिक महत्वपूर्ण हैं। गुजरात में खेती किये गये १०० एकड़ क्षेत्र पर पशु-संख्या का घनत्व ५८ है, जबकि पूरे देश में यह ८४ है। और, शायद प्रति १,००० जन-संख्या पर भैंसों की संख्या और भी महत्वपूर्ण है, जो १९५१ की गणना के अनुसार ९१.३ थी और १९६१ में घट कर ८८ रह गयी। भारत के तुलनात्मक आंकड़ों के अनुसार इनकी संख्या १९५६ में प्रति १,००० आबादी पर लगभग ६० थी।

इससे पता चलता है कि गुजरात में दुग्ध उद्योग (डेरी उद्योग) के विकास की पूरी गुंजाइश है। दूध के उत्पादन में काफी वृद्धि की जा सकती है। इसलिए गुजरात में इस उद्योग के विकास की बड़ी सम्भावनाएँ हैं; क्योंकि यहाँ दूध का उत्पादन भी बढ़ाया जा सकता है और दूध देनेवाले पशुओं की संख्या भी काफी है। वालासण गांव के अध्ययन से भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। इस गांव में दूध का प्रति व्यक्ति उपभोग सात औंस है जो गुजरात में, जहाँ का औसत लगभग पाँच औंस है, सब से अधिक है।

दुग्ध उद्योग की गुंजाइश

वालासण गांव की एक दिलचस्प बात यह देखने को मिली कि अनाज और नकद फसलों से होनेवाली आय से अधिक महत्वपूर्ण पशुओं से होनेवाली आय है। नकद फसलों से होनेवाली आय करीब १,७२,१२७ रुपये थी और खाद्यान्नों से १,६२,४४४ रुपये। सन् १९५८-५९ की वर्षावधि में उत्पादित दूध की कीमत नकद और खाद्यान्नों की फसलों के जोड़ के बराबर यानी तकरीबन ३,२५,००० रुपये हुई। दूध की बिक्री से कुल खालिस नकद आय लगभग २,०८,००० रुपये हुई। नकद फसलों से होनेवाली शुद्ध आय १,७२,१२५ रुपये से भी काफी

कम थी और अगर इसमें उद्योगों से होनेवाली लगभग ५०,००० रुपये की आय भी जोड़ दें, तो भी सभी स्रोतों से होनेवाली शुद्ध नकद आय दूध की बिक्री की नकद आय से कम थी। ध्यान देने योग्य बात यह है कि यह बिक्री उस क्षेत्र में हुई, जहाँ खेड़ा जिला सहकारी दूध उत्पादक संघ की एक डेरी चल रही है और इस प्रकार यहाँ एक निश्चित मांग की अवस्थाएं निर्मित की जा रही हैं। मेहसाणा, बनासकांठा और सौराष्ट्र जिलों में दुग्ध उद्योग के विकास की पूरी गुंजाइश लगती है, जहां प्रति १,००० आबादी के पीछे दूध देनेवाले पशुओं की संख्या अपेक्षाकृत अधिक है।

कृषि का यांत्रीकरण

कृषि संबंधी प्रगति के सिलसिले में दूसरा महत्वपूर्ण सूचकांक है कृषि यंत्रों का प्रयोग। देश में ट्रैक्टर, लोहे के हल, बिजली के पम्प, तेल से चलनेवाले इंजिन आदि का उपयोग जितनी अधिक और शीघ्रता से होना चाहिए वैसा नहीं होता। पूरे देश की अपेक्षा गुजरात में इन यंत्रों के उपयोग की वृद्धि-दर अपेक्षाकृत अधिक है। गुजरात राज्य में लकड़ी के हल और लोहे के हलों का अनुपात १४:१ है, जबकि देश भर में यह अनुपात २६:१ है। गुजरात में समग्र देश के कुल लोहे के हलों के लगभग आठ प्रति शत हल पाये जाते हैं, जबकि खेती की जा सकने लायक कुल भूमि और खेती की गयी जमीन का खालिस क्षेत्रफल देश के ऐसे ही क्षेत्र के आठ प्रति शत से कम है। ट्रैक्टर का उपयोग भी किसी सीमा तक कृषि की प्रगति बताता है। गुजरात में १९६१ में करीब २,००० ट्रैक्टर थे, यह संख्या देश में प्रचलित कुल ट्रैक्टरों की संख्या का सात-आठ प्रति शत हो सकती है। सिंचाई के लिए तेल से चलनेवाले इंजिनों और बिजली के पम्पों का अनुपात गुजरात में कहीं अधिक है, जिससे भी राज्य में कृषि प्रगति का पता चलता है।

राज्य में कृषि के काम आनेवाले यंत्रों के व्यवहार में वृद्धि की दर का परीक्षण १९५६ और १९६१ के आंकड़े लेकर किया जा सकता। सन् १९५६ में गुजरात राज्य में लोहे के हलों की संख्या लगभग ५७,३१५ ही थी, जो कि १९६१ में करीब १,०५,८३४ हो गयी यानी पांच वर्षों की अवधि में प्रायः दुगुनी हो गयी। ट्रैक्टरों की संख्या १९५६ में लगभग ८१० थी, जो १९६१ में बढ़ कर २,००० हो गयी। तेल से चलनेवाले इंजिनों और बिजली के पम्पों की कुल संख्या १९५६ में २०,२०० थी, जो १९६१ में ५२,००० हो गयी यानी १५० प्रति शत वृद्धि हुई। यह वृद्धि बिजली के पम्पों के व्यवहार में और भी तेज थी, जिनकी संख्या १९५६ की १,१११ से बढ़ कर १९६१ में ६,२२५ हो गयी। निस्सन्देह भारत की तुलना में गुजरात कृषि विकास के क्षेत्र में बड़ी शीघ्रता के साथ प्रगति कर रहा है और यदि इसे अपनी वर्तमान अनाज की कमी शीघ्र ही पूरी करनी है, तो ऐसा होना भी चाहिए।

२० सितम्बर १९६२

लाख उद्योग की सम्भाव्यताएं*

जगदीश नारायण वर्मा

खादी और ग्रामोद्योग मण्डल ने हाल में अपनी एक बैठक में सुझाव दिया कि खादी और ग्रामोद्योग कमीशन लाख के एकत्रीकरण तथा उसके प्रशोधन के कार्य को बतौर एक वन उद्योग के अपने हाथ में ले सकता है। इसलिए इस उद्योग का तथा इसकी सम्भावनाओं और सम्भाव्यताओं का एक ग्रामीण उद्योग के रूप में अध्ययन करना रुचिकर होगा।

—सम्पादक

लाख एक लारवाला पदार्थ होता है। उसका उत्पादन एक प्रकार के कीड़े करते हैं, जिन्हें अंग्रेजी में लेसीफेरा लक्का (Lacifera Lacca) कहते हैं। ये कीड़े अपनी रक्षा के लिए अपने चारों तरफ एक गोंददार पदार्थ का आवरण चढ़ा लेते हैं। इसी पदार्थ को लाख कहा जाता है। यह पदार्थ एक प्रकार की अनोखी प्राकृतिक लार होती है, जिसका उत्पादन कीड़ों के द्वारा होता है। लैक या लाख शब्द संस्कृत के 'लक्ष' शब्द से निकला है, जिसका अर्थ होता है एक सौ सहस्र। ऐसा समझा जाता है कि एक सेर लाख का उत्पादन लाल रंग के एक लाख कीड़ों द्वारा होता है। यह कीड़ा परजीवी होता है जो कुछ वृक्षों, झाडियों तथा लताओं आदि का रस चूस कर पलता है। इन्हें लाख-पोषिता (लैक होस्ट) कहते हैं। लाख के छोटे कीड़े बड़ी संख्या में एक-दूसरे से सटकर पेड़ों की टहनियों पर बैठते हैं और अपने शरीर से लार यह लाह के समान रसयुक्त पदार्थ निकाल कर अपने को ढक लेते हैं। ये कीड़े अपने इसी खोल के अन्दर बढ़ते रहते हैं तथा खोल को अधिक रस देकर उसे मोटा बनाते रहते हैं। इस लार या लाह जैसे पदार्थ का खोल के ऊपर खोल चढ़ता रहता है और वह एक खप्पर का रूप धारण कर लेता है। जब ये किड़े बड़े हो जाते हैं तो इनमें नर-कीड़े खोल के बाहर निकल आते हैं। ये मादा कीड़ों के साथ जोड़ा खाकर मर जाते हैं। गाभिन कीड़े जो अधिक मात्रा में लाख का उत्पादन करते हैं, अण्डे देते हैं और फिर मर जाते हैं। एक वर्ष में यह जीवन क्रम दो बार होता है।

काष्ठ लाख

लाख पोषिता पेड़ों के तनों तथा डालियों पर से खुरचे गये लाख के खप्परों को काष्ठ लाख कहा जाता है। इस लाख में काष्ठ-पदार्थ होने के अतिरिक्त लाख-राल, लाख रंग, लाख-मोम और मरे हुए कीड़ों के शव भी होते हैं। काष्ठ लाख से चूर्ण लाख (सीड लैक) प्राप्त करने के लिए उसे तोड़ कर पानी में धोया जाता है। लाख धोने का कार्य पत्थर या सीमेण्ट की बनी नादों में या यंत्र-चलित इस्पात के ढोलों में किया जाता है। ऐसा करने से लाख-राल से मृत कीड़ों के शरीर अलग हो जाते हैं। पानी में घुल जानेवाला रंगीन पदार्थ और दूसरी अशुद्धियां भी धोने से दूर हो जाती हैं। इसके पश्चात् लाख के दानों को सुखाया जाता है। इस लाख से एक दूसरा उत्पादन भी प्राप्त होता है, जिसे चपड़ा कहते हैं। यह चपड़ा चूर्ण-लाख को पिघलाकर तथा उससे लार निचोड़ कर अलग कर देने से प्राप्त किया जाता है या घोल में एक विलायक पदार्थ मिलाकर।

चूर्ण लाख मोटे कपड़े की थैलियों में भर कर उन्हें कोयले की एक आग के सामने टांग कर पिघलाया जाता है।

---

*यह लेख कुछ अन्य स्रोतों के अतिरिक्त मुख्य रूप से भारत सरकार के खाद्य और कृषि मंत्रालय के नागपुर स्थित बाजार और निरीक्षण निर्देशालय द्वारा १९६१ में 'मार्केटिंग ऑफ लैक इन इण्डिया' (संशोधित संस्करण) यानी भारत में लाख के बाजार के सम्बन्ध में प्रकाशित प्रतिवेदन (पृष्ठ संख्या ४४०) के आधार पर लिखा गया है।

हाथ से थैलियों को निचोड़ने पर जब चपड़ा टपकता है तो उसे एकत्र करके गरम पानी से भरे बरतन में फैला दिया जाता है। इस बरतन में चपड़ा महीन परतों में फैल जाता है। ठण्ड़ा होने पर यह चुरमुरा हो जाता है। चपड़े की इन परतों को छोटी-छोटी पपड़ियों में तोड़ लिया जाता है। इसी वस्तु को चपड़ा कह जाता है। बटन-लाख इसका दूसरा उत्पादन है। चपड़े के जिस फुजले से बटन तैयार किये जाते हैं उसे थोड़ा-थोड़ा करके धातु की प्लेटों पर रखते हैं। इस पर यह पदार्थ पतली गोलाकार आकृति में फैल जाता है। ये आकृतियाँ ही बटन कहलाती हैं। थैलियों में भर कर कच्ची लाख को पिघलाया तथा निचोड़ा जाता है। यहीं कार्य जल-शक्ति-चालित दबाव यंत्रों से भी किया जा सकता है। इस प्रकार प्राप्त पदार्थ को मशीनों की सहायता से चादरों यानी पतरों का रूप दिया जा सकता है। चूर्ण लाख तथा चपड़ा तैयार करते समय दो सह उत्पादन भी प्राप्त होते हैं, जिन्हें मोलमकिरी तथा पसेवा कहते हैं।

लाख का भण्डार

भारत लाख का घर यानी भण्डार कहा जाता है। विश्व भर में जितना लाख का उत्पादन होता है उसमें भारत का भाग लगभग ८० प्रति शत रहता है। भारत के अलावा लाख का उत्पादन बर्मा, पाकिस्तान, थाईलैण्ड, हिन्दचीन, श्रीलंका जावा तथा चीन में भी होता है। किन्तु व्यापारिक दृष्टि से इन देशों का उत्पादन बहुत कम है। द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व तक लाख के उत्पादन तथा व्यापार पर भारतवर्ष का एक तरह से एकाधिकार था। इन तमाम देशों में जितनी लाख पैदा होती थी उसे भारत को डंडों तता टुर्रों के रूप में भेज दिया जाता था। भारत में पहुँच कर लाख के डंडों को टुर्रों में तथा टुर्रों को चपड़े के रूप में परिवर्तित कर लिया जाता था। अब भी किसी न किसी रूप में इन देशों का अधिकांश उत्पादन भारत में आता है।

हमारे देश में लाख पैदा करनेवाला क्षेत्र बिहार के कुछ जिलों, विन्ध्य क्षेत्र, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, उड़ीसा तथा पश्चिम बंगाल में फैला हुआ है। असम के भी एक छोटे-से क्षेत्र में लाख का उत्पादन होता है। इन क्षत्रों के अलावा आन्ध्र प्रदेश, महाराष्ट्र, मद्रास, मैसूर तथा पंजाब में भी लाख का उत्पादन होता है।

उत्पादन क्षेत्र

विभिन्न राज्यों में लाख उत्पादन क्षेत्रों का ब्यौरा निम्न प्रकार है: बिहार में लाख उत्पादक क्षेत्र गया जिले का धुर दक्षिन हिस्सा और छोटा नागपुर क्षेत्र यानी पालामऊ, हजारीबाग, रांची, मानभूम, सिंहभूम, तथा संथाल परगना जिले है। मध्य प्रदेश के बिलासपुर, रायपुर, सागर, छिंदवाड़ा, मांडला, बालाघाट, जबलपुर, होशंगाबाद तथा सरगूजा मुख्य लाख उत्पादक केन्द्र हैं। विंध्य क्षेत्र के रीवां तथा मैहर प्रसिद्ध लाख उत्पादक क्षेत्र हैं। मध्य प्रदेश के मध्य भारत क्षेत्र में अलीराजपुर भी एक मुख्य लाख उत्पादक क्षेत्र है। उत्तर प्रदेश में मिर्जापुर जिला मुख्य लाख उत्पादक केन्द्र है। सहारनपुर, मेरठ, वाराणसी तथा झांसी में भी लाख उत्पादन का विकास हो रहा है। उड़ीसा में मयूरभंज, सुन्दरगढ़, कालाहाण्डी, बामड़ा तथा केवनझाड मुख्य लाख उत्पादन क्षेत्र हैं।

पश्चिम बंगाल के मुर्शिदाबाद, मालदा तथा बांकुरा जिलों में लाख पैदा होती है। बीरभूम तथा नदिया जिले में भी लाख का उत्पादन होता है, किन्तु कम मात्रा में। असम में लाख का उत्पादन राज्य के कामरूप के जंगलों में गारो, खासी और जयंतिया की पहाड़ियों पर, नौगांव और कछार के जिलों में होता है। महाराष्ट्र के भण्डारा जिले में और गुजरात के पंचमहाल तथा बड़ौदा जिले में लाख का उत्पादन होता है। पंजाब में लाख का उत्पादन मुख्यतः होशियारपुर, कांगड़ा और गुरदासपुर जिलों में होता है। मद्रास राज्य के मदुराई तथा सेलम जिले लाख उत्पादन के लिए प्रसिद्ध हैं। हाल ही में लाख का उत्पादन कोयंबतुर तथा नीलगिरी के जिलों में भी प्रयोग के तौर पर शुरू किया गया है। मैसूर में तुमकर जिला लाख उत्पादन के

लिए बहुत ही प्रसिद्ध है। बंगलोर, कोलार तथा हसन जिलों में भी थोड़ी मात्रा में लाख का उत्पादन होता है। आन्ध्र प्रदेश के विशाखापटनम् जिले में भी किसी हद तक लाख पैदा होता है। अजमेर (राजस्थान) तथा दिल्ली में भी उत्पादन होता है।

इस प्रकार बिहार, मध्य प्रदेश, पश्चिम बंगाल, असम, उड़ीसा तथा उत्तर प्रदेश मुख्य लाख उत्पादक राज्य हैं। बिहार में कुल लाख का ४१ प्रति शत उत्पादन होता है। मध्य प्रदेश में २६ प्रति शत, पश्चिम बंगाल में २१ प्रति शत तथा महाराष्ट्र और गुजरात में ६ प्रति शत लाख उत्पादन होता है।

लाख की खेती

लाख मुख्यत: खुश्क जमीन की फसल है। इसकी पैदावार सघन न होकर अधिकतर विस्तृत ही होती है, क्योंकि जमीन के छोटे-छोटे टुकड़ों में कुछ लाख-पोषिता वृक्ष होते हैं। ये वृक्ष समस्त लाख उत्पादक क्षेत्र में यत्र-तत्र बिखरे होते हैं। लाख या तो पैदा की जाती है या उसे एकत्र कर लिया जाता है। जहाँ-कहीं भी लाख पैदा की जाती है वहाँ यह एक सहायक फसल होती है और बहुत ही छोटे पैमाने पर की जाती है। लाख उत्पादक लाख की खेती अथवा उसका संग्रह कार्य खाली समय के पेशे के रूप में करते हैं, उनका मुख्य पेशा तो खाद्य तथा अन्य फसलें पैदा करना होता है।

लाख की खेती के लिए लाख उत्पादक कीड़ों को लाख-पोषिता पेड़ों पर छोड़ा जाता है। इस प्रक्रिया को संदूषण या संचारण कहते हैं। इसे दो प्रकार से सम्पन्न किया जाता है : (अ) प्राकृतिक संदूषण; तथा (आ) कृत्रिम संदूषण के जरिये। प्राकृतिक संदूषण में कुल अथवा लाख का एक भाग उस पेड़ पर ही छोड़ देते हैं, जिस पर से लाख एकत्र की गयी होती है। लाख के डिम्भ फिर बड़ी संख्या में बढ़ कर नई डालों पर फैल जाते हैं। कभी-कभी लाख-पोषिता वृक्षों से ये डिम्भ हवा से उड़ कर दूसरे वृक्ष तक पहुँच जाते हैं या फिर वे रेंग कर शाखाओं पर पहुँच जाते हैं, यद्यपि डिम्भ आकार में बहुत छोटे होते हैं और वे सिंदूरी पाउडर के दुरों के समान दिखाई देते हैं।

कृत्रिम संचारण

कृत्रिम संचारण के लिए लाखी कीड़ों के जिन टहनियों पर अण्डे चिपटे होते हैं, और जिनसे डिम्भ फूटनेवाले होते हैं उन्हें लेकर लाख-पोषिता वृक्ष पर बांध दिया जाता है। इन वृक्षों की पहले से ही कटाई तथा छंटाई कर दी जाती है, जिससे उनमें नई शाखाएँ निकल आवें। अण्डोंवाली टहनियाँ चार से छः इंच लम्बी काटी जाती हैं। इन टहनियों को पेड़ों की शाखाओं के साथ लम्बरूप में या उनके पार्श्व भाग में बांध दिया जाता है। या फिर इन टुकड़ों को लाख-पोषिता वृक्षों के मध्य सटा कर छोड़ दिया जाता है। एक पुराने तरीके के अनुसार कुछ लाखी-अण्डा युक्त टहनियों के टुकड़े लाख-पोषिता वृक्षों पर घुमाये जाते हैं। कृत्रिम संचारण के फल-स्वरूप अधिक मात्रा में काष्ठ-लाख का उत्पादन होता है।

लाख की काश्त सामान्यत: बिहार के आदिवासियों, मध्य प्रदेश के कोलों, उत्तर प्रदेश के मझारों, खरवारों तथा चमारों, महाराष्ट्र तथा गुजरात के भीलों व अन्य स्थानों के पहाड़ों में रहनेवाली जन-जातियों के समान पिछड़े हुए लोग अपने जीविकोपार्जन के मुख्य पेशे के रूप में करते हैं। जंगलों के ये पिछड़े समुदाय साधारणतया लाख एकत्र करते हैं तथा अपनी घरेलू आवश्यकताओं तथा अन्य जरूरत की चीजें खरीदने के लिए अपनी एकत्रित लाख को थोड़े मूल्य पर ही बेच डालते हैं।

लाख-पोषिता वृक्ष

लाखी कीड़ों के लिए जो पेड़, झाड़ियाँ तथा लताएं बतौर लाख-पोषिता वृक्षों के काम आती हैं, उन्हें दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है, जैसे बड़े और छोटे पेड़। लाख-पोषिता वृक्षों की एक-सौ से भी अधिक किस्मों का पता लगा है। किन्तु नियमित खेती इनमें से कुछ ही किस्म के वृक्षों की होती है। पलास, बेर यानी झाड़ी तथा कुसुम तीन बड़े लाख-पोषिता वृक्ष हैं। छोटे

लाख-पोषिता वृक्षों में कैर, बबूल तथा अरहर के वृक्ष हैं। बबूल के पेड़ समस्त भारत में मिलते हैं। अरहर असम का मुख्य लाख-पोषिता वृक्ष है। इसकी वर्ष में एक अथवा दो फसलें होती हैं। इसे खेत-फसल (फिल्ड-क्रॉप) के तौर पर शीघ्र उगाया जा सकता है और इस से दो उद्देश्यों की पूर्ति होती है। इससे अरहर की दाल तो प्राप्त होती ही है पर साथ ही यह लाख-पोषिता वृक्ष का भी काम देता है। मघानिया-मैंक्रोफिलिया एक प्रकार की लाख-पोषिता झाड़ी है और ज्यादातर मिकिर की पहाड़ियों में पाई जाती है। 'लेफा' असम में साधारणतः लाख-पोषिता वृक्ष का काम देता है। शोरिया टैलुरा (जालरी) समूहों में उगता है। मैसूर राज्य तथा मद्रास और मैसूर की सीमा के आस-पास के क्षेत्रों मे यह लाख-पोषिता वृक्ष का कार्य करता है। घोण्ट (जिजीफस एक्सलोपीरा) जबलपुर तथा सागर (मध्य प्रदेश) क्षेत्रों तथा उनके पास के उत्तर प्रदेश के क्षेत्रों में ज्यादातर लाख-पोषिता वृक्ष का काम देता है। पश्चिम बंगाल के बाँकुरा जिले में भी यह लाख-पोषिता वृक्ष का काम देता है।

लाखी कीड़ों की किस्म

भारत के लाखी कीड़ों की दो निम्न किस्में होती हैं: रंगीनी (गैर-कुसुमी) तथा कुसुमी। ये नाम उन पोषिता वृक्षों के नामों पर रख गये हैं, जिन पर ये पलते हैं। वे कीड़े जो कुसुम के पेड़ों पर पलते हैं, कुसुमी कहलाते हैं और जो कीड़े दूसरे किस्म के वृक्षों पर पलते हैं उन्हें रंगीनी कहते हैं। प्रत्येक प्रकार के कीड़े की एक वर्ष में दो जीवन-यात्राएँ होती हैं। इस प्रकार एक वर्ष में चार फसलें पैदा होती हैं। इन फसलों के नाम, हिन्दी महीनों के नाम पर रखे गये हैं, जिनमें कि वे पैदा होती हैं। इन्हें इन मौसमों में एकत्रित किया जाता है : बैसाखी फसल अप्रैल से जुलाई तक, जेठवीं फसल जून से जुलाई तक, कातकी फसल अक्तूबर से नवम्बर तक तथा अगहनी फसल नवम्बर से फरवरी तक होती है।

बैसाखी फसल चारों फसलों में सबसे बड़ी होती है। कुल लाख-उत्पादन का ६८ प्रति शत इस फसल में ही पैदा हो जाता है। रंगीनी तथा कुसुम लाख-पोषिता वृक्षों के अदल-बदल के रूप में कैर का वृक्ष अच्छा लाख-पोषिता वृक्ष सिद्ध हुआ है। असह्य गरमी के मौसम में बबूल के पेड़ पर लाखी कीड़े खूब अण्डे देते हैं। अनेक वट-जाति के वृक्षों, जैसे पीपल आदि, पर बैसाखी की फसल पैदा की जाती है। इन पेड़ों पर काष्ठ-लाख अधिक पैदा की जाती है और व्यापार के लिए उन पर लाख कम पैदा की जाती है। लाख को कच्ची या पक्की हालतों में इकठ्ठा किया जाता है। कच्ची फसल को 'आरी' लाख कहते हैं। इसमें जीवित कीड़े होते हैं। पक्की लाख को 'फुन्की' लाख कहा जाता है। इसमें जीवित नहीं, बल्कि मरे हुए कीड़े होते हैं।

उत्पादन का आधार

काष्ठ-लाख का उत्पादन जिन बातों पर निर्भर करता है वे हैं: लाख-पोषिता वृक्ष की किस्म, उसका आकार तथा उसकी स्थिति, संचारण की प्रकृति और सीमा, उपयोग किए गये लाखी-अण्डों का गुण यानी वे किस स्तर के हैं, लाखी कीड़ों की कृषि के लिए अपनाये गय तरीके, मौसम तथा भूमि की अवस्थाएँ और इनके अलावा लाखी-कीड़ों को नष्ट करनेवाले अन्य जीव-जन्तुओं से होनेवाला नुकसान। लाख-पोषिता-वृक्षों में तीन प्रमुख हैं: कुसुम, बेर, तथा पलास। इन वृक्षों से ही अधिक मात्रा में लाख एकत्र की जाती है। इनमें भी कुसुम से सर्वाधिक लाख प्राप्त होती है। इसके प्रति वृक्ष से १२ से ३६ पौण्ड तक लाख प्राप्त होती है। इसके बाद बेर तथा पलास का स्थान आता है, जिनका उत्पादन क्रमशः ५ से १४ पौण्ड तथा ४.५ से ११.२ पौण्ड प्रति वृक्ष होता है। पंजाब में पीपल से ४० पौण्ड तक काष्ठ-लाख प्राप्त होती है। मैसूर में जबारी के प्रति वृक्ष से आठ पौण्ड तक लाख निकलती है। असम में अरहर के पेड़ों से प्रति पेड़ दो से छः पौण्ड तक लाख प्राप्त हो जाती है।

प्रत्येक लाख-पोषिता पेड़ से अलग-अलग मात्रा में

लाख प्राप्त होती है। उत्पादन का दारोमदार पेड़ के आकार पर रहता है; क्योंकि पेड़ छोटे, मध्यम तथा बड़े आकार का हो सकता है। इसके अलावा इस बात का भी प्रभाव पड़ता है कि किसी पेड़ से कितनी नयी तथा अच्छी टहनियाँ निकलती हैं। उसकी आयु क्या है? क्या वह पेड़ रोग युक्त है? उस पेड़ को कीड़ों तथा परजीवी जन्तुओं से नुकसान तो नहीं पहुँचता है आदि। बेर के वृक्ष से लम्बी तथा रसदार टहनियाँ फूटती हैं। पलास में कम टहनियाँ निकलती हैं और वे छोटी टहनियाँ हुआ करती हैं। बेर के वृक्ष पर लाखी कीड़ों को विस्तृत स्थान मिल जाता है। इसी कारण से पलास की अपेक्षा बेर से अधिक लाख प्राप्त होती है।

निम्न तालिका से प्रकट होता है कि बिहार में प्रति लाख-पोषिता वृक्ष से उसके आकार तथा आयु के आधार पर किस मात्रा में लाख प्राप्त होती है:

(मात्रा पौंड में)

लाख पोषिता वृक्ष	आकार			आयु		
	छोटा	मध्यम	बड़ा	कम उम्र के	अधेड़	पुराने
कुसुम	१४	२५	४३	१०	२०	२५
बेर	७	१२	१७	—	—	—
पलास	५	९	१४	४	८	१४

जिन लाख-पोषिता वृक्षों को अच्छी स्तर की काष्ठ-लाख से संचालित किया जाता है उनसे उन पेड़ों की अपेक्षा अधिक मात्रा में लाख प्राप्त होती है जिनका प्राकृतिक संचारण होता है। प्राकृतिक संचारण किये गये पेड़ों पर परिपक्व लाख या काष्ठ लाख की मात्रा दूसरी फसल में संचारण के लिए कम या अधिक रह सकती है। नामकुम (रांची-बिहार) स्थित भारतीय लाख अनुसंधान-शाला में किये गये प्रयोगों से पता चला है कि काष्ठ-लाख का उत्पादन कृत्रिम संचारण के द्वारा दो से तीन गुना तक हो सकता है। किन्हीं-किन्हीं खेतों में किये गये प्रयोगों से पता चला कि कुसुम, बेर तथा पलास वृक्षों का उत्पादन क्रमशः १८ पौण्ड, ४ पौण्ड तथा ४ पौण्ड प्रति वृक्ष रहा है जब कि उनका संचारण प्राकृतिक रूप में हुआ, किन्तु जब कृत्रिम संचारण किया गया तो इन पेड़ों से क्रमशः ३० पौण्ड, १४ पौण्ड तथा ८ पौण्ड तक का उत्पादन हुआ।

बादवाले मामले में यह भी सिद्ध हुआ कि लाखी अण्डोंवाली टहनियों को दो या तीन शाखों के साथ पड़ी हुई अवस्था में बांधा जाय तो शिशु-कीड़ों को फैलने तथा बढ़ने का अच्छा अवसर प्राप्त होता है। उनसे लाख का उत्पादन भी अच्छा होता है। अगर ताजे लाख-पोषित पेड़ों के लिए उपयोग में लायी जानेवाली काष्ठ-लाख में लाख-नाशक कीट-पतंग हों तो फलतः अस्वस्थ लाख-कीटों का उत्पादन होता है। और ऐसी अवस्था में काष्ठ-लाख का उत्पादन कम होता है।

लाख की खेती का विकसित तरीका

यदि कृषि तथा पेड़ों की काट-छांट और संचरण के उन्नत तरीके अपनाये जायें तो उत्पादन अच्छा होता है। अगर कृषि में अदला-बदली के तरीकों का इस्तेमाल किया जाय तो काष्ठ लाख का अधिक उत्पादन हो सकता है। इस तरीके के अन्तर्गत लाख-पोषी वृक्षों को सुगम खण्डों में विभक्त कर लिया जाता है और फिर प्रत्येक खण्ड में अदल-बदल कर यानी बारी-बारी से फसल तैयार की जाती है। इस के लिए सावधानी पूर्वक पेड़ों की शाखोंकी कटाई-छंटाई करते हैं, कृत्रिम ढंग पर शाखों का विपत्रण किया जाता है ताकि गरमी की ऋतु में उन शाखों पर नयी कोपलें निकल आयें। इन पेड़ों का संचारण लाख-अण्डों की भ्रूग-धानियों (ब्रूड बास्केट) से किया जाता है। इसी प्रकार मौसम तथा भूमि की अवस्था का भी प्रभाव लाख उत्पादन पर पड़ता है। मौसमी गड़बड़ी के कारण काष्ठ-लाख के उत्पादन में बहुत अधिक परिवर्तन होता रहता है। मार्च के महीने में यदि थोड़ी बरसात हो जाती है तो वह बैसाखी की फसल के लिए लाभप्रद सिद्ध होती है।

कुसुमी फसल के लिए ऐसा साधारण जाड़ा अच्छा होता है, जिसमें पाला नहीं पड़े। कड़ी गरमी तथा सूखी हवाएँ, ओले तथा भारी हिम-पात से काष्ठ-लाख के उत्पादन पर बहुत बुरा असर पड़ता है। कृषि के सुधरे तरीकों में यह आवश्यक है कि कृत्रिम संचारण तथा उचित कटाई-छँटाई के अतिरिक्त उचित मात्रा में स्वस्थ काष्ठ-लाख का भ्रूण-धानी के रूप में भी उपयोग किया जाय। इसके अलावा लाख-पोषी वृक्षों का उचित क्रम से उपयोग भी करना चाहिए। इसी प्रकार उचित समय में लाखी अण्डों से भ्रूण निकलने चाहिए और फिर उचित समय में लाख को एकत्र किया जाना चाहिए। कीट-नाशक कीट-पतंगों से भी सावधान रहने की आवश्यकता है। इनसे लाखी कीटों की रक्षा की जानी चाहिए।

पैदावार

भारत में लाख का वर्तमान वार्षिक उत्पादन लगभग ४३,००० टन तक होता है। यह उत्पादन विश्व के कुल उत्पादन का ७०–७५ प्रति शत है। हमारे देश में पिछले दो दशकों में लाख का उत्पादन कम हुआ है। यह भी अनुमान लगाया जाता है कि औसतन १,०५५ टन लाख का संग्रह नहीं होता और इस प्रकार वह बरबाद जाती है। इसका कारण यह है कि बहुत-से लाख-पोषी वृक्षों, जैसे पलास, की पत्तियां लाख पकने के पूर्व ही गिर जाती है।

भारत में चूर्ण-लाख तथा चपड़े की उन्नत किस्मों का उत्पादन होता है। चूर्ण-लाख का औसत उत्पादन लगभग ६३ प्रति शत होता है, जबकि चपड़े का उत्पादन चूर्ण-लाख का लगभग ५६ ति शत होता है। एक मन चूर्ण लाख तथा चपड़ा लाख तैयार करने का खर्च क्रमशः २.५० रुपये से ७.५० पये और १०.६५ रुपये से १७.५० रुपये तक बैठता है। भारत के अधिकांश उत्पादन कर्त्ता इस धन्धे को छोटे पैमाने पर करते हैं। चपड़ा तैयार करने के लिए वे कभी एक, कभी दो और कभी दो से अधिक भट्टियों का इस्तेमाल करते हैं। अनुमानतः कार्यरत कारखानों की संख्या ३०० है, जिनमें ३,६०० भट्टियाँ लगी हुई हैं। भारत में सभी कारखानों का सामूहिक उत्पादन औसतन ११,००० टन चूर्ण-लाख का तथा २२,००० टन चपड़े का होता है।

अनुसंधान

भारत में लाख की वस्तुओं की पूर्ति में उसके अपने उत्पादन से बनी चीजें, थाईलैंड, बर्मा, मलाया व कुछ अन्य देशों से आयी हुयी लाख से बनी वस्तुएँ शामिल हैं। सन् १९३९–४० तक थाईलैंड में जितनी भी कच्ची लाख पैदा होती थी वह सब की सब भारत भेज दी जाती थी। यहाँ पर इस लाख की वस्तुएँ तैयार की जाती थीं, जो विदेशों को भेजी जाती थीं। इन देशों ने अब लाख का सामान मंगानेवाले विदेशों से अपना सीधा व्यापारिक सम्बन्ध कर लिया है और वे सीधे ही अपनी लाख तथा लाख का बना सामान भेजने लगे है। फलस्वरूप इन देशों से भारत में आनेवाली लाख की मात्रा बहुत कम हो गयी है।

यहाँ पर यह बताना युक्तसंगत होगा कि प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् तत्कालीन भारत सरकार ने भारत में लाख व्यापार की जांच कराई थी। उस जांच के फलस्वरूप लाख व्यापारियों ने १९२१ में कलकत्ता में अनुसंधान के लिए एक भारत लाख संघ (इण्डियन लैक एसोसिएशन) का निर्माण किया। इस संघ के संघठित करने का प्रमुख उद्देश्य लाख का उत्पादन बढ़ाना तथा उसकी किस्म में सुधार करने, फसल की रिपोर्ट प्रकाशित करने, सहकारी समितियाँ बनाने—ताकि पर्याप्त मात्रा में काष्ठ-लाख सप्लाई में और उसकी कृषि में विस्तार हो—की ओर ध्यान देना था। इसके साथ ही लाख के कीड़ों का जीवन सम्बन्धी अनुसंधान करना, लाखी कीड़ों को नष्ट करने-वाले कीट-पतंगों का पता लगाना और लाख के रसायन शास्त्र में अन्वेषण करना भी संघ का उद्देश्य था।

अनुसंधान कार्य में आवश्यक सहायता प्राप्त करने के विचार से संघ ने सन् १९२५ में भारतीय लाख अनुसंधान

शाला की स्थापना की। इस अनुसंधानशाला का काम लाख की कृषि के लिए उन्नत तरीकों की खोज करना था यानी यह देखना था कि किस प्रकार से कृषि तथा सस्य विज्ञान और शुद्ध तथा वर्णसंकर नसल के लाखी कीड़े पाल कर उनकी वंशवृद्धि तथा नसल में सुधार किया जा सकता है और लाख के उत्पादन का स्तर सुधारा जा सकता है। कृत्रिम रालतथा राल की बनी वस्तुओं का लाख तथा उसकी वस्तुओं के एवजी के रूप में बाजार में आ जाने के कारण संघ का कार्यक्षेत्र विस्तृत हुआ। अब इसके कार्य में लाख के रसायन शास्त्र का अध्ययन, चपड़े के नवीन उपयोगों का पता लगाना तथा राल में शीघ्र सूख जानेवाले तेल का मिश्रण कर लाखी राल के गुणों में सुधार करना भी शामिल हो गया।

रॉयल कमीशन

कृषि के लिए रॉयल कमीशन (१९२८) की सिफारिशों पर सन् १९३० में भारतीय लाख उप-कर कानून (इण्डियन लैक सेस एक्ट) पास किया गया। इस कानून के अन्तर्गत १९३० में भारतीय लाख उप-कर समिति की नियुक्ति हुई तथा भारतीय लाख संघ को विघटित कर दिया गया। इस समिति के बनाने का उद्देश्य था भूतपूर्व संघ के विधान को विस्तृत बनाना तथा उसके कार्यक्षेत्र और कार्यों का दायरा बढ़ाना, ताकि भारत में लाख की खेती और लाख से बननेवाली वस्तुओं में सुधार तथा विस्तार हो सके और इसके साथ ही उसकी बिक्री व्यवस्था का भी विकास किया जा सके। यह एक विधिविहित समिति है जो लाख तथा लाख की बनी वस्तुओं के निर्यात पर कर लगाती है। नामकुम (रांची-बिहार) स्थित भारतीय लाख अनुसंधानशाला इस समिति से सम्बन्धित है। इस अनुसंधानशाला ने लाख की खेती तथा कच्ची लाख तैयार करने के अनेक उन्नत तरीकों का विकास किया है। इसने लाख की अनेक उन्नत किस्मों का विकास किया है। यह कार्य बहुत प्रशंसनीय हुआ है। इस सम्बन्ध में इसने लन्दन के 'शैलेक रिसर्च ब्यूरो' तथा न्यूयार्क के 'शैलेक रिसर्च ब्यूरो' के सहयोग से अनुसंधान कार्य किया है। इस अनुसंधानशाला ने लाख की वस्तुएं तैयार करने के क्षेत्र में भी कुछ उन्नत तरीकों का विकास किया है।

लाख का उपयोग

वैदिक युग से ही भारत में लाख का इस्तेमाल अनेक प्रकार की वस्तुएं बनाने में किया जाता रहा है। हम सभी ने महाभारत में लाक्षागृह की कहानी पढ़ी है, जो कौरवों ने उसमें आग लगा कर पाण्डवों को मारने के उद्देश्य से बनाया था। लाख के रंग तथा लाख की बनी राल का उपयोग सर्व प्रथम गारशिया डी ओर्टो (Garcia de orto) के अनुसार सन् १५६३ में किया गया था। आइने अकबरी (१५९०) में भी यह बात मिलती है कि उस समय लाख का इस्तेमाल भारत में वार्निश तथा रंग करने में होता था। यूरोप में भी लाख का उपयोग सन् १६०७ तक होने लगा था। सन् १८८८ में लाख के व्यापार तथा इस्तेमाल के सम्बन्ध में खोज हुई। उसी समय से लाख-राल के उपयोग में विकास हुआ। लाख के गुणों तथा उसके औद्योगिक इस्तेमाल के सम्बन्ध में हुए मौलिक तथा प्रयुक्त अनुसंधान की प्रगति के फल-स्वरूप लाख की अभिनव वस्तुएं तैयार करने का पता लगा। इसका नतीजा यह निकला कि अनेक उद्योगों में लाख के व्यवहार की गुंजाइश बढ़ी।

यहाँ पर लाख के कुछ गुणों की जांच करना उचित होगा। गरम करने पर लाख मुलायम तथा लचीली हो जाती है और ठण्डी होने पर फिर यह कड़ी (सख्त) हो जाती है। अलकोहल (मद्यसार) में डालने से लाख घुल जाती है, किन्तु प्रांगारिक विलायक पदार्थ मिलाने पर उसकी मजबूती बढ़ जाती है। जिस वस्तु पर लाख की वार्निश की जाती है उस पर लाख की पतली-सी चिकनी, स्थिर, टिकाऊ और सख्त परत चढ़ जाती है। गरम करने पर लाख शीघ्र ही पिघल भी जाती है तथा इसमें चिपकने का भी काफी माद्दा होता है। लाख बिजली विसंवाहन के लिए अच्छी है। कम शक्ति के क्षार (अलकली) जैसे सुहागा तथा नौसादर के घोल में जब लाख को मिलाया

जाता है तो इसमें चिपकने की अच्छी शक्ति पैदा हो जाती है। इसी कारण लाख का और उससे बनी वस्तुओं का अनेक क्षेत्रों में उपयोग बढ़ गया है।

लाख तथा उसके उत्पादन का दैनिक उपयोग की अनेक वस्तुएँ तैयार करने में इस्तेमाल किया जाता है। भारत में लाख से बने रंग का इस्तेमाल ऊन, रेशम तथा चमड़ा रंगने; दवाइयाँ तैयार करने और स्त्रियाँ जिस महावर को अपने पैरों में लगाती हैं उसके बनाने में किया जाता है। लाख की राल का इस्तेमाल काष्ठ उद्योग में सजावट के लिए किया जाता है। सोने और चांदी के बने आभूषणों में लाख भरी जाती है। लाख से ही शान रखने का पत्थर तैयार किया जाता है। लाख के रंग का उपयोग धातु के कामों में उसे रंगने के लिए किया जाता है और सील यानी मुहर लगानेवाली छड़ें बनाने में भी।

उपयोग क्षेत्र का विस्तार

लाखी-राल के रासायनिक ज्ञान के प्रसार के कारण इसके उपयोग का एक विस्तृत क्षेत्र खुल गया तथा लोग इसको बड़े पैमाने पर इस्तेमाल करने लगे। इस प्रकार से लाखी-राल के इस्तेमाल का एक नये तथा विस्तृत क्षेत्र का प्रसार हो गया और लाख की बनी वस्तुओं का औद्योगिक क्षेत्र में उपयोग होने लगा। हमारे देश में लाख तथा लाख की बनी वस्तुओं का इन उद्योगों में इस्तेमाल होता है: (१) स्प्रिट व मद्यसार (अलकली) की बनी वार्निश, रंग, पालिश आदि; (२) ग्रामोफोन रिकार्ड; (३) प्लास्टिक के सांचे; (४) मुहर लगाने का चपड़ा; (५) विद्युत्-विसंवाहक; (६) सुरक्षात्मक तथा सजावटी रंग-रोगन; (७) शान करनेवाले चाक; (८) रबड़ तथा लाख मिश्रित वस्तुएँ; (९) चमड़ा तथा जूते का व्यापार; (१०) फर्नीचर उद्योग; (११) स्याही; (१२) चूड़ियाँ तथा कड़े; (१३) युद्ध सामग्री तथा आतिशबाजी का सामान; और (१४) फोटोग्राफी का काम।

लाख एक ऐसी वस्तु है जो अनेक कामों में आती है। इसी कारण भारत तथा विदेशों में लाख को बहु-उद्देशीय राल कहा जाता है। जितने कामों में लाख का उपयोग होता है उनमें ग्रामोफोन रिकार्ड बनाने के काम को छोड़कर शेष अधिकांश कार्य कुटीरोद्योग के आधार पर होते हैं। बहुत-से औद्योगिक प्रतिष्ठान जैसे रेलवे, विशाखापटनम् का जहाज बनाने का कारखाना तथा बंगलोर स्थित हिन्दुस्तान एयर क्रॉफ्ट्स लिमिटेड, आदि में काफी मात्रा में लाख का इस्तेमाल होता है।

निम्न लिखित तालिका में लाख का वार्षिक उपयोग बताया गया है, जो देश के विभिन्न उद्योगों में होता है।

मद	टन
फर्नीचर की पालिश	७५०
चूड़ियाँ तथा कड़े	४५०
ग्रामोफोन रिकार्ड	२६०
चमड़े का परिसमापन	४०
मुहर लगाने की छड़ें	४०
लकड़ी पर लाख का काम	४०
विद्युत विसंवाहन	२०
विविध उपयोग (जैसे गोंद, सीमेण्ट, आर्ट इंक, आतिशबाजी, जेवरों में भरना, रबड़ में मिलाना, रंग आदि)	३००
योग	१,९००

कुटीरोद्योगों में इस्तेमाल

भारत में पैदा होनेवाली लाख की काफी मात्रा का उपयोग कुटीर उद्योगों में विभिन्न रूपों में किया जाता है। वार्निश, रंग तथा पालिश बनाने में लाख की सर्वाधिक मात्रा खपती है। बहुत ही पुराने समय से लोग लाख का पालिश बनाने में इस्तेमाल करते आ रहे हैं। अभी हाल के वर्षों से लाख की कुछ विशेष वस्तुएँ तैयार की जाने लगी हैं तथा उन्हें बिक्री के लिए बाजार में भेजा जाने लगा है जैसे ग्रन्थिल (नाटिंग) वार्निश, नास्त्यात्मक (निगेटिव) वार्निश, विद्युत विसंवाहक वार्निश, चपड़ा सोख तैल-वार्निश, परिष्कृत लाख की

पालिश; तथा लकड़ी, धातु व चमड़े पर लगाने के लिए इसी प्रकार के अनेक रंग तथा रोगन लाख से तैयार होते हैं। राष्ट्रीय विकास की प्रचलित अनेक योजनाओं में लाख तथा लाख से बनी वस्तुओं के उपयोग की सम्भावना बढ़ गयी है; क्योंकि इस लाख से अनेक प्रकार की वार्निशें, रंग तथा पालिशें तैयार होने लगी हैं।

लाख से चूड़ियाँ तैयार करने का कुटीर उद्योग बहुत ही महत्व का है, हालांकि अभी हाल के वर्षों में लाख से बनी चूड़ियों की मांग बहुत कुछ कम हो गयी है। मांग में इस कमी का कारण उपभोक्ताओं की रुचि में परिवर्तन का होना और लाख की बनी चूड़ियों से भी कम दाम में कांच तथा प्लास्टिक की बनी आकर्षक चूड़ियों का मिलना है। लाख की चूड़ियाँ ज्यादातर गरीब औरतें ही पहनती हैं और ये चूड़ियाँ देहाती बाजारों में बिकती हैं जहाँ कि लाख का उत्पादन होता है। लाख की बनी चूड़ियाँ या कड़े बहुत-सी औरतें विवाह तथा त्यौहार आदि के अवसरों पर शुभ शकुन के रूप में पहनती हैं। राजस्थान, बनारस तथा हैदराबाद की बनी लाख की चूड़ियाँ बहुत ही प्रसिद्ध हैं। चूड़ियाँ तथा कड़े आदि बनाने में लाख के छीजन का, विशेष करके किरी, कन्नी, चूर्ण-लाख चपड़े की सस्ती किस्मों का, प्रयोग किया जाता है।

लकड़ी खुदाई उद्योग में

लाख का उपयोग लकड़ी-खुदाई उद्योग में भी किया जाता है। उदाहरण के लिए लाख की वार्निश किये हुए लकड़ी के खिलौने तथा इसी प्रकार की दूसरी सुन्दर वस्तुएँ भी लाख से तैयार होती हैं। लाख का रंग चढ़े लकड़ी के खिलौने देश के विभिन्न भागों में तैयार किये जाते हैं।

चपड़े का इस्तेमाल दस्तकारी में किया जाता है। पीतल के बरतनों व लाख के बने कड़ों में नक्काशी कर इसका उपयोग होता है तथा लकड़ी के खिलौनों में भी चपड़े तथा सीड (लाख-लाख-पोषी वृक्षों पर बची खुची घटिया लाख) का प्रयोग सुनार सोने तथा चांदी के जेवरों के अन्दर भरने में करते हैं। जेवरों में नग लगाने का काम भी चपड़े की सहायता से ही होता है। इस प्रकार के जेवर पहले भी भारत के देहातों में बनते थे तथा अब भी बनते हैं। इसी तरह लाख का उपयोग सजावट करने में तथा बरतनों पर चित्रकारी करने में तथा पचगोई वाली सांचे में ढले हुए कागज के लुग्दे से बनी वस्तुओं पर रंग चढ़ाने में भी किया जाता है। पीतल के कलात्मक खुदे बरतनों में लाख का रंग भरा जाता है। इस कार्य के लिए मुरादाबाद तथा जयपुर बहुत प्रसिद्ध हैं। लकड़ी के खिलौने, फूलदान, पिन कुशन आदि सभी वस्तुओं पर लाख की बनी छड़ों से रंग चढ़ाया जाता है। लाख का रंग या रोगन चढ़ाने की इस प्रक्रिया को लाख-टर्नरी के नाम से पुकारा जाता है। इस प्रकार की वस्तुएं होशियार-पुर (पंजाब); पटना; चन्नापटना (मैसूर), उदयपुर तथा सवाईमाधोपुर (राजस्थान), जूनागढ़ तथा सनखेड़ा (गुजरात) में तैयार होती हैं।

जानवरों की जिन कच्ची खालों का इस्तेमाल चमड़ा उद्योग में होता है उनके रंगने के लिए जो रंग तैयार किया जाता है उस पर काष्ठ-लाख का प्रयोग होता है। मैसूर तथा मद्रास राज्य के अनेक स्थानों में रेशम की साड़ियाँ लाल तथा काला रंग प्राप्त करने, विशेष कर साड़ियों की किनारियां रंगने के लिये लाख से तैयार किये गये घोल में रंगी जाती हैं। सील करनेवाली चपड़े की छड़ें, आतिशबाजी तथा टहलने जाते समय ले जानेवाली छड़ियों के दस्ते जोड़ने में भी लाख का कुटीरोद्योगी आधार पर उपयोग होता है।

निर्यात

हमारे देश में कुटीर तथा अन्य उद्योगों में जो लाख का इस्तेमाल होता है, उसके अलावा यह बड़ी मात्रा में विदेशों को भी भेजी जाती है। इस प्रकार से यह लाख विदेशी मुद्रा कमाने का एक अच्छा साधन भी है। यहां तक कि देश का ९० प्रति शत तक लाख का उत्पादन परिष्कृत रूप में संसार के प्रायः सभी देशों को निर्यात किया जाता है। प्रति वर्ष निर्यात की गयी लाख से भारत को लगभग ८ करोड़ रुपये के बराबर विदेशी मुद्रा की प्राप्ति होती है।

अमरीका भारतीय लाख तथा लाख की वस्तुओं का सब से बड़ा खरीदार है। सन् १९५३-५४ में समाप्त होनेवाली पाँच वर्ष की अवधि में अमरीका ने भारत से कुल निर्यात की जानेवाली चूर्ण-लाख का ८० प्रति शत भाग खरीदा। ब्रिटेन ने नौ प्रतिशत लाख खरीदी। इसके साथ ही ब्रिटेन की ओर से कुल के २९.८ प्रति शत तथा अमरीका की ओर से २३.२ प्रति शत चपड़ा-लाख तथा बटन-लाख की मांग थी। लाख के एक सह-उत्पादन, 'किरी' की मांग जर्मनी में बहुत थी और भारत से जिन किस्मों की लाख विदेशों को निर्यात की गयी उसमें किरी का निर्यात ६३.३ प्रति शत रहा। जर्मनी ने भारत से लगभग ८४ प्रति शत काष्ठ-लाख खरीदी।

रूस, आस्ट्रेलिया, कनाडा, फ्रान्स, न्यूजीलैण्ड तथा जापान भी भारतीय लाख में काफी दिलचस्पी दिखाते हैं। ये देश भारत से लाख की बनी वस्तुओं का काफी मात्रा में आयात करते हैं।

देश के जंगलों में लाख-उत्पादन तथा उसके विकास की बहुत सम्भावनाएँ छिपी हुई हैं। इन जंगलों में लाख-पोषी वृक्ष बड़ी संख्या में पाये जाते हैं। इसके लिए यह बहुत ही आवश्यक है कि लाख की कृषि के उन्नत तरीके अपनाए जायें तथा साथ ही लाख के प्रशोधन व काष्ठ-लाख, चपड़ा और राल आदि के उत्पादन के तरीकों में भी सुधार किया जाय। इन कार्यों को पुराने तरीकों से नहीं, बल्कि वैज्ञानिक तरीकों से करना चाहिए। लाख खरीदने तथा बेचने के लिए सुविधाएँ पैदा की जानी चाहिए। इस कार्य का संगठन देश के दूरस्थ भाग के जंगलों तक में भी किया जाना चाहिए। इसके अलावा लाख व लाख उत्पादन की विभिन्न वस्तुओं का श्रेणी विभाजन किया जाना चाहिए और उनका मूल्य भी निश्चित कर देना चाहिए।

कुटीर उद्योगों में लाख तथा लाख की बनी वस्तुओं के उपयोग का भविष्य उज्ज्वल है और इसकी सम्भावनाओं का पता लगाने तथा अध्ययन करने की आवश्यकता है।

१५ सितम्बर १९६१

हाल के वर्षों में बैंकों (बैंक ऑफ् इंडिया को छोड़ कर) के नकदी अनुपात में निरन्तर कमी हुई है, सन् १९५१-५५ के ४२ प्रति शत औसत से घट कर सन् १९५६-६० में वह ३४ प्रति शत हो गया है; इसी अवधि में ऋण जमानत का अनुपात ६१ प्रति शत से बढ़ कर ६९ प्रति शत हुआ। तृतीय तथा अनुवर्ती योजनाओं में अर्थ-व्यवस्था के जिस तीव्र विकास की कल्पना की गयी है, उससे व्यापार व उद्योगों की ओर से बैंक ऋण की अधिक मांग सामने आयेगी, जिससे बैंक की नकदी पर अधिक दबाव पड़ेगा। इसलिए यह परमावश्यक है कि जो स्रोत बैंक प्राप्त करें उसका एक पर्याप्त हिस्सा नकद स्तर को सन्तोषप्रद रूप में कायम रखने के लिए काम में लाया जाय। फिर भी, निजी विभाग को ऋण देने की बैंकीय पद्धति की सामर्थ्य कम नहीं की जानी चाहिए; क्योंकि समग्र रूप से मुद्रा विषयक नीति की शर्तों का पालन करते हुए ऋण संबंधी योग्य यानी सही आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु बैंक रिजर्व बैंक से उधार लेकर अपने स्रोत बढ़ा सकते हैं। फिर भी, प्रधानतः उन्हें जमा-पूंजी के स्रोत को पर्याप्त रूप में सक्रिय बनाने पर विश्वास करना चाहिए।

—रिजर्व बैंक ऑफ् इण्डिया के सेण्ट्रल बोर्ड ऑफ् डायरेक्टर्स के १९६१-६२ के प्रतिवेदन से।

होता है। यहाँ आकर इतनी बड़ी संख्या में बेकार इन लोगों के लिए सरकारी सहायता की योजना बनाना असम्भव होगा; क्योंकि हो सकता है उन्हें एक अनिश्चित काल तक रोजगारी प्रदान करना सम्भव न भी हो। इस प्रकार की सहायता पर उस धन-राशि का उपयोग करना जिसकी कि कमी हो उस वक्त बुद्धिमानी का काम नहीं कहा जा सकता जबकि उसका वैकल्पिक सरल उत्पादन तक्नीकों में उपयोग कर रोजगारी के अवसर मुहैया किये जा सकते हैं। यह सच है कि इस प्रकार के कामों से प्रति व्यक्ति उत्पादन पूंजी-प्रधान तक्नीकों जितना सम्भव नहीं है। लेकिन प्रति व्यक्ति अधिक उत्पादन उस वक्त अपना बहुत-कुछ महत्व खो बैठता है जबकि वह श्रम-शक्ति के एक बहुत बड़े भाग को काम न दे सके। ऐसी परिस्थितियों में प्रति व्यक्ति उत्पादन के स्थान पर रोजगारी तथा समग्र उत्पादन को अधिकतम बनाना एक विवेकपूर्ण उपागम होगा।

विनियोजन के लिए पूंजी

सभी श्रम-प्रधान तक्नीकों में पूर्ण और अर्ध-बेकार जन-शक्ति को रोजगारी प्रदान करने की गुंजाइश है और ऐसा करना सामाजिक दृष्टि से वांछनीय भी है, लेकिन क्या हम यह भी दलील दे सकते हैं कि ये तक्नीकें आर्थिक विकास की प्रक्रिया में भी सहयोग देती हैं? एक दूसरे रूप में से हम यों रखें कि क्या श्रम-प्रधान तक्नीकें दीर्घ-कालीन प्रगति की पर्याय बन सकती हैं? कुछ लोग कह सकते हैं कि नहीं। ऐसा इसलिए कि आर्थिक विकास का सम्बन्ध और अधिक विनियोजन करने के लिए प्राप्त अतिरिक्त उत्पादन या आमदनी के अनुपात के साथ जोड़ा जाता है तथा इस प्रकार श्रम-प्रधान तक्नीकों के जरिये प्राप्त नैये उत्पादन का, और अधिक विनियोजन करने के लिए प्राप्त होने की अपेक्षा, उपभोग कर लिये जाने की ज्यादा गुंजाइश होती है। पूंजी-प्रधान तक्नीकों के मामले में ऐसा नहीं होगा—और इसलिए उक्त दलील जारी रहती है—क्योंकि यहाँ उत्पादन चन्द दीर्घ-स्तरीय इकाइयों में संकेन्द्रित होगा, जिनमें दीर्घ-स्तरीय बचत तथा विनियोजन की सम्भाव्यता है। हो सकता है कि यह सच हो कि प्रारम्भिक अवस्था में श्रम-प्रधान तक्नीकों के जरिये प्राप्त उत्पादन के अधिकांश भाग का, खास करके यदि वह खाद्य सामग्री हो तो उपभोग कर लिया जाता है। लेकिन इसका एक मात्र कारण यह है कि उपभोग स्तर इतना नीचा है कि श्रमिक जो पैदा करता है उसका उपभोग करने का लोभ संवरण नहीं कर सकता।

परियोजनाओं के प्रकार

इसके साथ ही यह भी पूछा जा सकता है कि क्या स्वयं आर्थिक विकास का सम्बन्ध स्वस्थ श्रम शक्ति के विकास से नहीं है? और क्या आज के परमावश्यक उपभोग से कल और अधिक उत्पादन तथा अतिरिक्त माल की वृद्धि नहीं होगी? इसके अलावा बहुत-कुछ इस बात पर निर्भर करेगा कि किस प्रकार की श्रम-प्रधान परियोजनाओं को प्रोत्साहन दिया जा रहा है। उदाहरण के लिए यदि इनमें नदी घाटी परियोजनाएँ, सिंचाई के लिए नहरों की खुदाई, नयी भूमि की पुनर्वाप्ति तथा मौजूदा जमीन का बेहतर उपयोग, नयी सड़कों और अन्य आवश्यक सुविधाओं का निर्माण आदि की परियोजनाएँ शामिल हैं, तो हम वास्तव में अर्थ-व्यवस्था में अधिक उत्पादक क्षमता का निर्माण कर रहे हैं।

आर्थिक विकास और उत्पादन की पूंजी-प्रधान तक्नीकों के बीच कोई चोली-दामन का सम्बन्ध नहीं है। घने बसे हुए अल्प-विकसित देशों का आर्थिक विकास, प्राविधिक दृष्टि से विकसित श्रम-प्रधान तक्नीकों के जरिये करना होगा, जिनका पूंजी-प्रधान तक्नीकों तथा उपयुक्त आर्थिक नीतियों से उचित समन्वय हो।

छोटे उद्योगों को प्रोत्साहन

इतना कहने के बाद हमें भारत की अर्थ-व्यवस्था पर नजर डालनी चाहिए—जो अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था है और जिस पर अत्यधिक जन-संख्या का भार है—और, यह देखना चाहिए कि बेरोजगारी की जटिल

समस्या के समाधान के लिए किस प्रकार इसने श्रम-प्रधान तक्नीकें अपनायी हैं।

सन् १९४८ और १९५६ की दोनों ही औद्योगिक नीति विषयक घोषणाओं (इण्डिस्ट्रीयल पॉलिसी स्टेटमेंटस्) में भारत के विकास में छोटे उद्योगों के महत्व को स्वीकार किया अर्थात् माना गया है। दूसरी योजना में छोटे और कुटीर उद्योगों के विकास के लिए १ अरब ८० करोड़ रुपये निर्धारित किये गये थे। तीसरी योजना में इनके लिए २ अरब ५० करोड़ रुपये की धन-राशि नियत की गयी है। इसके अतिरिक्त इन उद्योगों के विकास को प्रोत्साहन देने के लिए केन्द्र में विभिन्न संगठन खड़े किये गये हैं। जहाँ-कहीं भी उपभोक्ता सामान तैयार करनेवाले बड़े उद्योगों की छोटे उत्पादन केन्द्रों से सीधी प्रतियोगिता होती है, वहाँ बड़े उद्योगों का उत्पादन सीमित रखने और छोटे उद्योगों के लिए अतिरिक्त उत्पादन सुरक्षित रखने का प्रयास किया जाता है। इसके अलावा छोटे उद्योगों के संगठनात्मक स्वरूप में सुधार की ओर बड़ा ध्यान दिया जा रहा है। उदाहरण के लिए छोटी इकाइयों की सहकारी समितियाँ बनाने पर जोर दिया जाता है, जिससे आशा की जाती है, दूर-दूर फैले केन्द्रों में निकट सम्पर्क स्थापित होगा, उनकी कठिनाइयाँ अच्छी तरह समझने और उनका उचित हल निकालने में सुविधा होगी। संक्षेप में, प्रयत्न यह किया जा रहा है कि उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन करनेवाले बड़े उद्योगों को और अधिक प्रोत्साहन न दिया जाय तथा इन वस्तुओं का उत्पादन छोटे-छोटे केन्द्रों की मार्फत किया जाय, जिन्हें प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष दोनों ही प्रकार से प्रोत्साहन दिया जा रहा है।

जन-शक्ति का उपयोग

यद्यपि छोटे उद्योगों को प्रोत्साहन देने पर उचित बल दिया जाता है, फिर भी, यांत्रिक-शक्ति से चलनेवाले उद्योगों की अपेक्षा हाथ से चलनेवाले उद्योगों की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। उदाहरणार्थ, सूती वस्त्रोद्योग में बुनाई के लिए हाथ करघे और हाथ कताई के लिए अम्बर चरखे पर दूसरे बिजली से च[लनेवाले]
छोटे साधनों से अधिक जोर दिया जाता है। ऐसा
की कुटाई और वनस्पति तेल की पेराई आदि के
में होता है। अतएव ऐसी तकनीकों के पक्ष में
जन-शक्ति का व्यवहार किया जाता है तथ[ा]
प्रविधियों के विरुद्ध जिन में यांत्रिक शक्ति का इ[स्तेमाल]
होता है, निश्चित पूर्व धारणा पायी जाती है।
क्षेत्रों में जहाँ बिजली पहुँचने में काफी समय लगेगा
पड़ी हुई जन-शक्ति के उपयोग के लिए सरकार
उत्सुक है, यह बात हाथ से चलनेवाले उद्योगों को
जानेवाले प्रोत्साहन से समझी जा सकती है। फि[र]
किसी भी कीमत पर इन उद्योगों को प्रोत्साहन
एक अलग बात है।

किसी के लिए भी ये दोनों बातें समझना
जान पड़ता है कि एक ओर तो सरकार जितना
हो सके ग्रामीण क्षेत्रों में बिजली पहुँचाने के
उत्सुक है और दूसरी ओर वह हाथ से चल[ने]
उद्योगों पर जोर देती है। शायद इसके पीछे यह वि[चार]
हो कि आगे चल कर जैसे ही बिजली व्यापक रू[प]
उपलब्ध होने लगेगी वैसे ही धीरे-धीरे हाथ-चा[लित]
उद्योगों को बिजली-चालित उद्योगों में बदल
सम्भव हो सकेगा। इसमें कुछ गलत नहीं है, पर
यह परिवर्तन यानी ऐसा करना सम्भव अथवा इ[तना]
आसान होगा? हाथ चालित उद्योगों पर एक
पूंजी लगाने के बाद उन्हें बिजली-चालित यंत्रों में ब[दलने]
में निश्चय ही भारी व्यय होगा और साधनों को बि[जली]
चालित यंत्रों में बदलने पर हाथ से चलनेवाले
उद्योगों के कारीगर इसका बड़ा विरोध करेंगे। इ[स]
यह अर्थ नहीं कि सभी हाथ उद्योग इतने खराब
बल्कि वे विशेष कर ऐसे व्यवसायों में तो अच्छे हैं जि[नमें]
विशिष्ट प्रकार की कुशलता की आवश्यकता होती
जैसे कि दस्तकारों में पायी जाती है। जिस बात
यहाँ जोर दिया जा रहा है, वह यह है कि देश के आ[र्थिक]
विकास की दृष्टि से उन्हें एक विवेकपूर्ण अथवा संतु[लित]
भूमिका नहीं दी गयी।

इसका हल बिजली से चलनेवाले छोटे उद्योगों पर अधिक जोर देने में निहित है। ऐसा इसलिए कि उत्पादन की तक्नीकें आगे चल कर बड़े केन्द्रों से होनेवाली प्रतियोगिता का सामना करने के योग्य और समर्थ होनी चाहिए। मूल्य और उपभोक्ता की रुचि के विचार से भी हाथ-तक्नीकें, बिजली पर आधारित तक्नीकों की तुलना में निश्चित रुप से निम्न कोटि की हैं। उपभोक्ता कम कीमत पर विभिन्न आकर्षक डिजाइनों की वस्तुएँ चाहता है। उदाहरण के लिए, क्या हाथ-कती और हाथ बुनी खादी जनता की इस रुचि को पूरा कर सकती है? अगर यह ऐसा कर सकती, तो इसे मशीन से बनी वस्तुओं के साथ इतनी कड़ी स्पर्धा न करनी पड़ती। सामान्य मिल के बने कपड़े की तुलना में यह सस्ती नहीं है। इसके अलावा यह मोटी होती है और इसमें विभिन्न आकर्षक डिजाइनों का अभाव भी रहता है।

एक विवेकपूर्ण दृष्टिकोण यह जान पड़ता है कि उन छोटे उद्योगों को प्रोत्साहन दिया जाय जो बड़ी अच्छी तरह बड़े उद्योगों के सहायक बन सकते हैं। उदाहरणार्थ, छोटे इंजीनियरिंग उद्योगों में रोजगार की भी बड़ी गुंजाइश है और साथ ही उन्हें बड़े प्रभावशाली तरीके से इंजीनियरिंग के बड़े उद्योगों में बदला जा सकता है। ग्रामीण क्षेत्र में हाथ कताई और हाथ बुनाई उद्योगों की अपेक्षा विभिन्न निर्माण कार्यों के माध्यम से कहीं अधिक रोजगारी दी जा सकती है। अब ही वह समय है जब कि आयोजक छोटे और कुटीर उद्योगों के प्रति अपेक्षाकृत एक अधिक अच्छा फलदायी दृष्टिकोण अपनायें।

१ अगस्त १९६१

लघु स्तरीय उद्योगों को विशिष्ट बैंकों तथा अन्य वित्तदात्री संस्थाओं द्वारा स्वीकृत पेशगी रकम की गारण्टी के लिए जुलाई १९६० में भारत सरकार द्वारा चलायी गयी योजना ने, जिसका जिक्र पिछले प्रतिवेदन में किया गया था, इस वर्ष और प्रगति की। जून १९६२ के अन्त तक गारण्टी संगठन को १० करोड़ ७० लाख रुपये की गारण्टी के लिए २,९४९ आवेदन-पत्र मिले। इनमें से ९ करोड़ १० लाख रुपये के लिए २,६६७ आवेदन-पत्रों के सम्बन्ध में गारण्टी दी गयी। योजना के अन्तर्गत एक मामले में गारण्टी का भुगतान करने की याचना की गयी और गारण्टी संगठन ने अपने हिस्से के ५४० रुपये चुकाये। यद्यपि समग्र देश की २६ ऋणदात्री संस्थाओं ने गारण्टी के लिए आवेदन किया, पर अधिकांश आवेदन-पत्र स्टेट बैंक ऑफ् इण्डिया से आये, जो कि लघु स्तरीय उद्योगों के लिए उदार शर्तों पर ऋण देने की योजना चला रहा है और जिसने ऐसे उद्योगों की सभी पेशगी रकम को गारण्टी का जामा पहनाने का निर्णय किया है। योजना के चलने में सहूलियत हो, इसके लिए गत वर्ष नियमों में जो ढिलाई की गयी थी उसके अलावा, लघु स्तरीय उद्योगों को ज्यादा पेशगी रकम देने के लिए ऋणदात्री संस्थाओं में अधिक रुचि पैदा करने हेतु कुछ अन्य कदम भी उठाये गये।

—रिजर्व बैंक ऑफ् इण्डिया के सेण्ट्रल बोर्ड ऑफ् डायरेक्टर्स के १९६१-६२ के प्रतिवेदन से।

ग्रामोद्योगों में अनुसंधान

जेठाराम वि. जोशी

ग्रामोद्योगों के क्षेत्र में अन्वेषण कार्य को सुनियोजित करना और विभिन्न ग्रामोद्योग निर्देशालयों के तत्वावधान में किये जानेवाले प्रयासों में समन्वय स्थापित करना आवश्यक है।

अन्वेषण कार्य का एक पहलू परम्परागत उपकरणों का अध्ययन करना है। दूसरा पहलू है आधुनिक शक्ति-चालित मशीनों की प्रतिस्पर्धा में टिकने के लिए पशु अथवा पवन-शक्ति द्वारा संचालित तथा अधिक कार्यक्षम साधन-सरंजाम ईजाद करना जिन पर गाँव या ग्राम समूह का अधिकार हो और वे सहकारी आधार पर चलाये जायें। इसी प्रकार जिला स्तर पर हस्त, पैर, पशु अथवा पवन-शक्ति के अतिरिक्त किसी दूसरी शक्ति द्वारा संचालित आधुनिक यंत्र सर्वाधिक उपयुक्त होंगे।

खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के कार्यक्षेत्र में कोई १४ ग्रामोद्योग आते हैं। उनकी समस्याएँ मुख्यत: प्राविधिक ढंग की हैं यानी वे आज इन उद्योगों में व्यवहृत साधन-सरंजाम व औजार-पातियों में तक्नीकल सुधार करने से सम्बन्धित हैं। इन ग्रामोद्योगों को, इनमें काम आनेवाले सरंजाम व उपकरणों के बाबत कोई सुनियोजित अन्वेषण कार्य न होने की वजह से नुकसान उठाना पड़ा है। ऐसा प्रतीत होता है कि तक्नीकल विकास की दृष्टि से इन उद्योगों की समस्याओं पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। इन उद्योगों को दिन-प्रति-दिन पर्याप्त मार्गदर्शन नहीं मिलता। यद्यपि जमनालाल बजाज केन्द्रीय ग्रामोद्योग अनुसंधानशाला ने, इन उद्योगों में जिन औजारों और उपकरणों की आवश्यकता पड़ती है उनके सम्बन्ध में कुछ अन्वेषण कार्य किया है, किन्तु इन गति-विधियों के विस्तार की बहुत गुंजाइश है। विभिन्न केन्द्रों पर खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के भिन्न-भिन्न उद्योग निर्देशालयों के तत्वावधान में औजारों तथा उपकरणों में सुधार करने का काम हो रहा है। विभिन्न ग्रामोद्योगों के सम्बन्ध में अन्वेषण कार्य करने के लिए स्तरीय तरीके ईजाद कर, इस कार्य में समन्वय स्थापित किया जाना चाहिए। उपकरणों, औजारों व मशीनों में विकास की प्रक्रिया को समझने के लिए तीन सोपानों में अध्ययन किया जाना चाहिए, यथा: (१) घरेलू स्तर इस्तेमाल किये जानेवाले पारम्परिक उपकरण त[illegible] औजार; (२) सहकारी आधार पर एक गाँव [illegible] ग्राम-समूह में पशु और पवन-शक्ति का उपयोग; त[illegible] (३) राष्ट्रीय स्तर पर शक्ति का व्यवहार।

परम्परागत उपकरण

परम्परागत साधन-सरंजाम और उपकरणों [illegible] अध्ययन और उनमें सुधार करना एक विषय है, जि[illegible] हाथ में लिया जा सकता है। विभिन्न राज्यों में व्यवहृ[illegible] भिन्न-भिन्न औजारों का अध्ययन किया जाना चाहिए[illegible] ये अधिकांश उपकरण हाथ या पैर से चलाये जाते है[illegible] कारीगर खुद अपनी आवश्यकता-पूर्ति के लिए, साधार[illegible] तया इनका उपयोग करते हैं। न तो इन उपकर[illegible] के संचालन के तरीकों में कोई आमूल परिवर्तन ही कर[illegible] की जरूरत है और न ही इन्हें आधुनिक उपकरणों [illegible] मशीनों के रूप में तत्काल बदलने अथवा इनके स्था[illegible] पर उनका उपयोग करने की कोई आवश्यकता है[illegible] मौजूदा परम्परागत उपकरणों में बिना किसी आमू[illegible] परिवर्तन के अथवा उनके स्थान पर आधुनिक मशीन[illegible] के उपयोग का बिना कोई प्रयास किये, उनमें सुधार क[illegible] काफी गुंजाइश है। 'फटीग' कम करने, उन पर का[illegible]

करना आसान बनाने, उत्पादन में वृद्धि तथा लागत खर्च में कमी करने और उन्हें स्वावलम्बी आधार पर अपनाये जाने योग्य बनाने के दृष्टिकोण से, उनमें आवश्यक फेर-बदल करके उक्त काम किया जा सकता है।

अध्ययन का दूसरा विषय होगा, वे उपकरण जिनका सहकारी, व्यावसायिक आधार पर समग्र ग्राम या चार-पांच गांवों के एक समूह के द्वारा उपयोग किया जा सके। इस मामले में उन्नत, उपकरणों का इस्तेमाल होगा। केवल परम्परागत उपकरणों से ही, काम नहीं चलेगा। कम 'फटीक' से अधिक उत्पादन करने और आधुनिक शक्ति-चालित साधनों की प्रतिस्पर्धा में टिकने के लिए आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद उत्पादन प्राप्त करने की दृष्टि से पशु-शक्ति अथवा पवन-शक्ति की सहायता से चलनेवाले उन्नत उपकरण, उनका अध्ययन कर तैयार करने होंगे। उदाहरणार्थ, धान हाथ कुटाई उद्योग के लिए 'बाटला' और 'नहान चक्कियाँ' उपयुक्त हैं। इसी प्रकार पवन-शक्ति का भी उपयोग किया जा सकता है और व्यावसायिक आधार पर ग्रामीणों की आवश्यकता-पूर्ति के लिए पवन-चक्कियाँ (विण्ड मिल्स) तैयार की जा सकती हैं।

तृतीय श्रेणी में वे उपकरण आते हैं, जिले जैसे गांवों के विस्तृत समूह की, सहकारी आधार पर जरूरतें पूरी करने के लिए राष्ट्रीय स्तर पर तथा सार्वजनिक विभाग के अन्तर्गत ईजाद किये जा सकते हैं। इसके लिए आधुनिक यंत्रों की बात सोचनी पड़ेगी। ये मशीनें हस्त, पैर, पशु अथवा पवन-शक्ति के अलावा किसी दूसरी प्रकार की शक्ति से चलायी जा सकती हैं। कुछ ऐसे क्षेत्रों में, जहाँ पवन वेग काफी अच्छा हो और बिजली उपलब्ध न हो वहाँ आधुनिक मशीनों के संचालन तथा स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति करने हेतु बिजली पैदा करने के लिए 'पवन-चक्कियाँ' स्थापित की जा सकती हैं। तेल से चलनेवाले इंजिनों का भी, उपयोग किया जा सकता है।

विभिन्न ग्रामोद्योगों में व्यवहृत साधन-सरंजाम के सम्बन्ध में किसी विशेष नियमित अन्वेषण तथा प्रयोग कार्य के अभाव में तक्नीकल अन्वेषण अथवा यांत्रिक क्षेत्र में कोई खास प्रगति दृष्टि-गोचर नहीं होती। यदि ग्रामोद्योगों को आधुनिक विज्ञान यानी प्रविधि के साथ कदम मिला कर चलना है अर्थात् उससे पीछे नहीं रहना है, तो अनुसंधान एवम् प्रयोगों के प्राविधिक पहलू की ओर अधिक ध्यान दिया जाना आवश्यक है। इसके लिए पर्याप्त रूप में विशेषज्ञ कर्मचारियों, सभी आधुनिक यांत्रिक उपकरणों से लैस नवीनतम वर्कशॉप तथा विभिन्न यांत्रिक और प्राविधिक प्रयोगों के लिए एक सुसज्जित प्रयोगशाला का होना आवश्यक है। फिलहाल वर्धा में एक छोटी वर्कशॉप है, परन्तु वह विभिन्न ग्रामोद्योगों के लिए आवश्यक साधन-सरंजामों का निर्माण व प्रयोग करनेवाली एक नवीनतम, सुसज्जित, यांत्रिक इंजीनियरिंग वर्कशॉप के स्थान पर कहीं मरम्मत आदि करनेवाली लुहारगीरी के कारखाने जैसी अधिक है।

दो भिन्न विभाग

अनुसंधान कार्य के लिए दो अलग-अलग विभाग होने चाहिए—एक रसायन अन्वेषण विभाग जिसमें रसायन शास्त्र की प्रयोगशाला हो और दूसरा सभी प्रकार से परिपूर्ण यांत्रिक तथा प्राविधिक अनुसंधान करनेवाला विभाग होना चाहिए, जिसमें यांत्रिक तथा इंजीनियरिंग वर्कशॉप हो और उसके साथ ही साथ एक सुसज्जित भौतिक व यांत्रिक प्रयोगशाला भी हो। इन दोनों विभागों में उपयुक्त कर्मचारी होने चाहिए। साधन-सरंजामों के विकास कार्य तथा ग्रामोद्योगों के लिए आवश्यक विभिन्न मशीनों के बीच समन्वय स्थापित करने के लिए केन्द्रीय आधार पर चलनेवाली एक सुसज्जित यांत्रिक और इंजीनियरिंग वर्कशॉप का होना नितान्त आवश्यक है। विभिन्न उपकरणों तथा सरंजामों से सम्बन्धित कुछ महत्वपूर्ण समस्याएँ हैं, इसलिए मशीनें बिठान, उनके घिस-घिसाव, भार व 'फटीक', तनाव-शक्ति, धात्विक-प्रतिरोध (मेटल रेजिस्टेंस) आदि का गहन अध्ययन करना आवश्यक है। यहाँ वैज्ञानिक आधार पर स्थापित प्रयोगशाला महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती है।

अन्वेषण कार्य से सम्बन्धित असंख्य समस्याओं की दृष्टि से जिस प्रकार खादी के लिए सरंजाम समिति है, वैसी ही एक सरंजाम समिति सभी ग्रामोद्योगों के लिए भी आवश्यक होगी। यह समिति ग्रामोद्योगों के लिए अन्वेषण करने की दिशा में सुसंयोजित प्रयास करने में सहायक होगी।

२४ अगस्त १९६१

विकेन्द्रित आधार पर वस्त्रोद्योग

भारतीय अर्थ-व्यवस्था में वस्त्रोद्योग का महत्वपूर्ण स्थान है। ग्रामीण क्षेत्रों में इस उद्योग के विकास से बिना अधिक पूंजी लगाये, जिसकी अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था में यों ही कमी होती है, वस्त्र उत्पादन की वृद्धि में सहायता मिलेगी। अल्प-विकसित देशों में जहाँ पर्याप्त मात्रा में अतिरिक्त श्रम होता है और साथ-साथ पूंजी की कमी भी पायी जाय, वहां निस्संदेह पूँजी-प्रधान बड़े उद्योगों की अपेक्षा श्रम-प्रधान छोटे-छोटे, स्थान-स्थान पर चलनवाले विकेन्द्रित उद्योगों की ओर विशेष ध्यान देने की जरूरत है। और फिर, चूंकि ग्राम तथा लघु उद्योग शीघ्र लाभ देनेवाले यानी ऐसे उद्योग हैं, जिनमें पूंजी विनियोजन और उत्पादन के बीच समय सम्बन्धी अन्तर बहुत कम होता है, इसलिए उनसे स्फिति की स्थित में भी कीमतों के स्थिर बने रहने का आश्वासन मिलता है।

उत्पादकता में वृद्धि

वस्त्रोद्योग का विकेन्द्रित विभाग ऐसे लोगों के लिए वैकल्पिक रोजगार का निर्माण करता है, जो वर्ष के कुछ महीनों में बेकार रहते हैं और यह केवल रोजगारी पैदा करनेवाला ही नहीं बल्कि आय निर्मित करनेवाला भी है। फिर भी, भारत में विकेन्द्रित वस्त्रोद्योग को कुछ समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

उत्पादकता कम होने के कारण इस उद्योग में श्रमिक लाग बहुत अधिक है। उनके श्रम की उत्पादकता बढ़ाने की एक समस्या सामने है। वस्त्रोद्योगी सामान के निर्यात को कड़ी प्रतियोगिता का भी सामना करना पड़ता है। दूसरे देशों के साथ होनेवाली इस प्रतियोगिता को ध्यान में रखते हुए भारतीय सूती कपड़े के गुण-स्तर में सुधार करना आवश्यक है। सूती कपड़ों की बिक्री उचित मूल्य पर होनी चाहिए और यह तभी सम्भव है जबकि उत्पादकता बढ़ा कर लागत खर्च में कमी की जा सके।

भारत में लिखित इतिहास के आरम्भ होने से बहुत पहले से विभिन्न प्रकार के सूत की कताई और बुनाई होती थी। लोग घर में हाथ से सूत कातते और कपड़ा बुनते थे। यहाँ तक कि प्रतिष्ठित परिवारों की महिलाएँ तक अपने कपड़े स्वयम् तैयार करती थीं। गांवों में भी अधिकांश बुनाई महिलाएँ करती थीं। पुराने जमाने के कपड़ों के कुछ नमूनों में सुन्दर बुनावट यानी पोत, खूबसूरत कारीगरी और चमक-दमकवाले रंग देखने को मिलते हैं। चरखा सीधा-सादा हुआ करता था और सूत कातने के काम में लिया जाता था। यह एक सरल और थका देनेवाला काम था। देश में प्रारम्भिक हाथ करघे लकड़ी के बने होते थे, जिनमें स्ले-बीम होती थी, कंघी और ढर्की का इस्तेमाल जटिल काम समझा जाता

था। स्थानीय बढ़ई उन्हें बनाते थे और उन पर पुरुष काम करते थे।

तकनीकों में सुधार

इस क्षेत्र में बाद में कई सुधार किये गये जैसे, हाथ करघों में उड़न-ढर्की लगाना, फणी के बीच अधिक फासला रखना तथा चौड़े और संकरे दोनों ही प्रकार के करघों में धीरे-धीरे बिजली का प्रयोग। सब करघे गाम (कैम) करघे हुआ करते थे, जिनमें ताने के तारों की शेड-पर नियंत्रण रखनेवाली कंघियों का संचालन परिक्रामी गामों द्वारा होता था। इसका अर्थ हुआ कंघियों की संख्या के साथ-साथ बुनाई की डिजाइनों को भी सीमित रखना। इससे बिजली की मशीनों पर अधिक जटिल डिजाइनें बनने लगीं और बुनाई में एक से दूसरी डिजाइन बदलने में सुविधा होने लगीं। सबसे पहला सुधार था, शुरू में एक तरफ तथा फिर दोनों ओर ढर्की का डिब्बा लगाना, जिससे भरत करना (फिलींगस्) और कई रंग के बाने का प्रयोग करना सम्भव हुआ। उसके बाद किसी भी एक ओर तीन डिब्बों के साथ चौबीस कंघियों का प्रयोग हुआ। उसके बाद गति में वृद्धि हुई। तत्पश्चात् काठ के ठप्पे से छपाई करने का और उसके बाद बेलन छपाई (रोलर प्रिंटींग) तरीके का विकास हुआ। धीरे-धीरे उन्नत तरीके से धुलाई, रंगाई तथा परिष्करण की प्रक्रियाएँ करने का विकास हुआ।

इस उद्योग का आधुनिक और वैज्ञानिक आधार पर पुनर्स्थापन करना एक महत्व की बात है। विकेन्द्रित वस्त्रोद्योग बना रहे, इसके लिए यह आवश्यक है कि वस्त्रोद्योग विशेषज्ञों द्वारा भली प्रकार सोची-विचारी हुई, एक ठोस व्यापक योजना बनायी जाय और वस्त्रोद्योग विशेषज्ञों के मार्गदर्शन में कारीगरों के सहयोग से उसे धीरे-धीरे लागू किया जाय। इस विकेन्द्रित वस्त्रोद्योग के सुधार के लिए हमारी सरकार ने कदम उठाये और योजनाएँ तथा कार्यक्रम बनाये हैं। सभी विकास योजनाओं को उचित प्रकार से बनाने और लागू करना आवश्यक है। विकेन्द्रित वस्त्रोद्योग में अम्बर चरखे, उड़न-ढर्की करघे और जेकर्ड मशीनों के व्यवहार से उत्पादन की गति में वृद्धि होगी और अधिक आकर्षक कपड़ा बनाया जा सकेगा। इस क्षेत्र म विभिन्न प्रकार के सूती, रेशमी, नकली रेशम और ऊनी कपड़े के विभिन्न प्रकार के उत्पादन को प्रोत्साहन देना चाहिए।

पंच वर्षीय योजनाओं में ग्रामीण वस्त्रोद्योग के विकास की व्यवस्था की गयी है। सरकार उद्योगों को औजारों के वितरण की शर्तों को ढीला करके ऋण की सुविधाएँ देती है। फिर भी, अधिकांश ऋण क्षेत्र में काम करनेवाली संस्थाओं के माध्यम से देना होगा। मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि इस विभाग की ऋण सम्बन्धी आवश्यकताओं का पता लगाने तथा ऐसे तरीके लागू करने के लिये और अधिक ठोस प्रयास किये जायें, जिससे उन्हें काफी सहायता प्राप्त हो सके और वे अपनी स्थिति में स्थायित्व ला सकें।

ऋण की सुविधाएँ

वस्त्र उत्पादन में लगी सहकारी समितियों का सहायता के लिए सहकारी ऋण व्यवस्था पर निर्भर रहना स्वाभाविक है। उन्हें संचालन पूंजी की आवश्यकता होती है, जो व्यावसायिक बैंकों से प्राप्त की जा सकती है, यदि वे ऐसी कोई जमानत दे सकें जिससे कि आसानी से रकम वसूल की जा सके। उन्हें नियत जमानत (फिक्स्ड सेक्यूरिटी) पर दीर्घ कालीन पूंजी लेने की जरूरत होने पर साधारणतः राज्य वित्तीय निगमों से सम्पर्क साधना पड़ेगा। फिर भी, इन उद्योगों की ऋण सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरी तरह से तब तक पूरा नहीं किया जा सकता, जब तक कि उक्त ऋणदात्री माध्यमों की गतिविधियों में प्रभावशाली समन्वय स्थापित करने के लिए कोई एक योजना न बनायी जाय।

स्टेट बैंक ऑफ् इण्डिया ने इस प्रकार की समन्वयकारी योजना बनाने की दिशा में कदम उठाया है। हाल ही में स्टेट बैंक ऑफ् इण्डिया ने अपने तीन वृत्तों (सर्कल) के कुछ केन्द्रों में स्थित, इन उद्योगों को ऋण देने के लिए एक आदर्श परियोजना बनायी और देश के विभिन्न

केन्द्रों तक उसका विस्तार किया। ऐसे विभिन्न संस्थात्मक माध्यमों का, कार्य सुविधाजनक बनाने के लिए, जिनकी कोई शाखा नहीं है, स्टेट बैंक ने ऐसा प्रबन्ध किया है जिससे इन एजेन्सियों को बैंक के शाखा एजण्ट की सेवाएँ उपलब्ध हों, जो प्रत्याशित उधार लेनवालों की उपयुक्तता के सम्बन्ध में विश्वस्त या गोपनीय रिपोर्ट देगा और उन केन्द्रों में उन ऋणदात्री माध्यमों के कार्यकारी कार्य में सहायता करेगा जहाँ उनका कोई प्रतिनिधि न हो।

ऋण सुविधाओं का प्रबन्ध करके और तकनीक में सुधार तथा उत्पादन क्षमता में वृद्धि करने के प्रयत्नों के साथ वस्त्रोद्योग के विकेन्द्रित विभाग की सम्भाव्यताओं का पूरा-पूरा लाभ उठाया जा सकता है।

९ अक्तूबर १९६२ —पे. श्री. पैंड्रो

* * *

सहकारी शिक्षा

चूंकि सहकार हमारे जीवन के हर क्षेत्र में आवश्यक है और इसे सामाजिक तथा आर्थिक नीतियों के साधन के रूप में स्वीकार किया गया है, अतः विशेष कर ग्रामीण क्षेत्रों की जनता के लिए, सहकारी सिद्धान्तों, तौर-तरीकों और उसके व्यावहारिक पक्ष की शिक्षा के प्रबन्ध पर अधिक बल देना आवश्यक है। यह काम सहकारी संगठन खड़ा करने से पहले अथवा उसके साथ-साथ किया जा सकता है।

हमारे देश के अधिकांश लोग अनपढ़ या बहुत थोड़े पढ़े-लिखे हैं तथा गांवों में रहते हैं। इसलिए इस अन्दोलन में उनकी रुचि पैदा करना इतना आसान नहीं है, यद्यपि अनेक गांवों में सामुदायिक परम्परा अब तक चली आ रही है। प्रमुख लोग बिना कठिनाई के सहकारी समितियों का महत्व समझ सकते हैं, प साधारण लोगों को समझने में कुछ समय लगेगा ही। इसलिए देश की जनता को सहकार के सिद्धान्तों, व्यवहार और पद्धतियों का विस्तृत प्रशिक्षण देना अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार उन्हें इस राष्ट्रीय नीति को स्वीकार करने के लिए मनोवैज्ञानिक रूप से तैयार किया जायेगा। जब तक सहकार के सम्बन्ध में ग्रामवासियों तथा अधिकांश शिक्षित लोगों को भी सहकार सम्बन्धी शिक्षा नहीं दी जाती, तब तक यह आन्दोलन सफल नहीं हो सकता।

फिलहाल लोगों को सहकारी समितियों के प्रबन्ध आदि विषयों में शिक्षा देने के लिए इधर-उधर कुछ प्रशिक्षण शिविर खोले जा रहे हैं। सहकारी संघों द्वारा इस दिशा में किया गया कार्य वास्तव में सराहनीय है। परन्तु यही काफी नहीं है। कभी-कभी फिल्म प्रदर्शनों और बड़ी-बड़ी सभाओं आदि के माध्यम से किया गया वृहत प्रचार भी हमारी जनता को आन्दोलन की वास्तविक पृष्ठभूमि समझाने के लिए काफी नहीं है।

संस्थाओं की वृद्धि

फिलहाल गांवों में संस्थाओं की संख्या बढ़ती जा रही है। परन्तु विभिन्न संस्थाओं के नेतृत्व के लिए शिक्षित लोगों की संख्या पर्याप्त नहीं है। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के सदस्य श्री ध्वजा प्रसाद साहू ने एक बार यह विचार व्यक्त किया कि इस प्रकार संस्थाओं की वृद्धि से गांवों में उपलब्ध नेतागण पर अत्यधिक कार्यभार आ पड़ता है और इसीलिए यह कभी-कभी असफल हो जाता है। इस महत्वपूर्ण निष्कर्ष से कोई भी असहमत नहीं हो सकता। अधिकांश मामलों में सहकारी समितियाँ सरकारी प्रयासों से खोली गयी हैं। ऐसी समितियों के मामले में सरकारी सहायता ही इनका जीवन है और जैसे ही यह सहायता कम या बन्द कर दी जाती है, य संस्थाएँ भी समाप्त हो जाती हैं। सहकारी भावना के अभाव और आम लोगों पर आर्थिक भार के कारण कभी-कभी समितियाँ अविवेकी लोगों के हाथ में पड़ जाती हैं। यह ध्यान रखना चाहिए कि सहकारी संस्था केवल एक व्यावसायिक संस्था ही

नहीं है, बल्कि यह इससे और अधिक भी कुछ है और यह स्वयं सेवा तथा परस्पर सेवा सिखाती ह, जिससे अन्ततः सच्चा सामाजिक जीवन बिताया जा सकता है।

विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य विषय

गांवों में हाल ही में साक्षर हुए लोगों को सहकार और पंचायत राज आदि के मूल सिद्धान्तों की शिक्षा देनी चाहिए, ताकि व्यावहारिक क्षेत्र में वे अपने ज्ञान को कार्यान्वित कर सकें। इसे स्कूल तथा कालेज के विद्यार्थियों के पाठ्यक्रम में भी अनिवार्य विषय के रूप में सम्मिलित कर देना चाहिए। सहकार की शिक्षा चरित्र निर्माण में भी सहायक होगी, जिससे विद्यार्थियों के परिवारों और फिर समाज पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा। उत्तर प्रदेश सरकार ने विद्यालयों में सहकार को अध्ययन का एक विषय बना कर प्रशंसनीय कार्य किया है। दूसरे राज्यों को भी ऐसा ही कदम उठाना चाहिए। इस प्रकार सहकार आन्दोलन के प्रभावशाली व सफल प्रचार के लिए वातावरण तैयार किया जा सकेगा।

१० अगस्त १९६२ —था. दे. गोस्वामी

* * *

ग्राम इकाइयों में आयोजन

खादी और ग्रामोद्योग कमीशन द्वारा बनाया गया समग्र विकास कार्यक्रम विभिन्न संस्थाओं के माध्यम से ग्राम समूहों में चलाया जाता है, जिन्हें ग्राम इकाइयाँ कहते हैं। ये ग्राम इकाइयाँ हर राज्य में राज्य चुनाव समिति की सिफारिश के अनुसार चुनी जाती हैं। ये समितियाँ बाद में कार्यक्रम लागू करनेवाली समितियाँ बना दी जाती हैं। अनेक इकाइयों में सघन सर्वेक्षण कार्य चल रहा है। पूर्ण और अर्ध-बेकारों, कुशल व अकुशल कामगारों की संख्या सम्बन्धी विशेष जानकारी एकत्र की जा रही है।

इस प्रकार एकत्र की गयी जानकारी का महत्व तब और भी अधिक बढ़ जायेगा, जबकि यह कर्मचारियों की विभिन्न श्रेणियों, जैसे पूर्ण या अर्ध-बेकार, स्त्री या पुरुष आयु-वर्ग, काम में रुचि, तथा इसी प्रकार के अन्य विषयों से सम्बन्धित हो। अन्यथा ऐसे अनेक कार्यक्रम जिन्हें लागू करना है, अपनी जड़ नहीं जमा सकेंगे। जब तक लोग योजनाओं में पूरी-पूरी रुचि नहीं लेते, वे थोड़े समय के लिए ही चल सकेंगी। ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जिनसे यह जाहिर होता है कि जो परियोजनाएँ पूरी तरह से सरकारी पदाधिकारियों या संस्थाओं द्वारा लागू की जाती हैं, और जिनमें न तो जनता का पर्याप्त सहयोग ही मिलता है और न जिन्हें जनता समझ ही पाती, वे लोकप्रिय नहीं हो पातीं। इसी तरह कई ऐसे उदाहरण हैं कि चन्द परियोजनाएँ राहत कार्य के तौर पर चलायी जाती हैं। दीर्घ-कालीन दृष्टिकोण से ये भी प्रभावशाली सिद्ध नहीं होती; क्योंकि वे अस्थायी स्वरूप की होती हैं।

उचित अध्ययन की आवश्यकता

कोई योजना शुरू करने से पहले उचित यानी सावधानी पूर्वक अध्ययन करने की आवश्यकता है। किसी योजना के प्रारम्भ से पूर्व समाज तथा यहाँ तक कि अलग-अलग व्यक्तियों की भी मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा वातावरण सम्बन्धी पृष्ठभूमि का अच्छी तरह मूल्यांकन करना होगा। खादी कार्यक्रम का उदाहरण ही लें। ऐसी स्त्रियाँ जिनके पास खेती का अधिक काम नहीं होता पर छोटे-छोटे खेत होते हैं, वे इस कार्यक्रम में रुचि लेती हैं। ऐसी महिलाओं के लिए भी, जिनके पास जीविकोपार्जन का कोई दूसरा साधन नहीं होता या खेती से बहुत थोड़ी आमदनी हो पाती है, अम्बर चरखा एक वरदान सिद्ध हो सकता है।

उक्त बात के विपरीत यदि नगरीय क्षेत्रों में कुछ नवयुवतियाँ अम्बर चरखा चलाने में रुचि लें और प्रशिक्षण केंद्र में दाखिल हों, तो बड़ी सावधानी के साथ यह देखना चाहिए कि क्या उनका यह जोश कायम रहनेवाला है। ऐसे गाँवों में जहाँ बड़े-बड़े चरागाह हैं,

वहाँ महिलाएँ पशु-पालन, मक्खन और घी के उत्पादन तथा बिस्कुट बनाने आदि का लाभप्रद काम कर सकती हैं।

दयनीय अवस्था

एक दूसरा पहलू और भी है, जिस पर गंभीरतापूर्वक विचार करना आवश्यक है। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि ग्रामीण कारीगरों की दशा बड़ी दयनीय है। उन्हें रहने के लिए ढंग के घर तथा काम करने के लिए स्थान की सुविधाएँ भी नहीं हैं, अन्य सुविधाएँ तो और भी कम हैं। इसलिए प्राथमिकता इसी बात को देनी होगी कि उनकी आर्थिक और सामाजिक स्थिति कुछ तो सुधरे। हमारे इस क्षेत्र की ओर नये-नये लोगों को आकर्षित करने में, इसका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ेगा।

अतः आज आवश्यकता इस बात की है कि ग्राम-वासियों में सामाजिक चेतना जागृत कर ऐसी भावना पैदा की जाय कि वे समाज के निर्धन व कमजोर वर्ग के प्रति अपना उत्तरदायित्व समझने लगें।

२४ सितम्बर १९६२ —सु. कृष्णमूर्ति

* * *

अस्पृश्यता निवारण

गांधीजी ने कहा था (हरिजन, १० फरवरी १९४६)—

"अस्पृश्यता का घाव इतना गहरा चला गया है कि उसका जहर हमारे जीवन की रग-रग में घुस गया है। जब छुआछूत जड़-मूल से नष्ट हो जायेगी, ये सारे भेदभाव अपने आप मिट जायेंगे, और कोई अपने आपको दूसरों से ऊँचा नहीं समझेगा। इसका सीधा नतीजा यह होगा कि गरीबों और दलितों का शोषण भी बन्द हो जायेगा, और चारों तरफ परस्पर प्रेम और सहयोग देखने में आयेगा।"

गांधीजी इसी लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते थे। ब्रिटिश राज के दिनों में उन्होंने जो बड़े-बड़े उपवास किये, उनसे जनता में आम-जागरण पैदा हुआ और हरिजनों के कल्याण हेतु कार्यक्रम शुरू हुए। तब से छुआछूत को जड़ से उखाड़ फेंकने की दिशा में तरह-तरह के कार्य किये गये हैं। जब कि बड़े-बड़े नगरों और शहरों में इस दिशा में काफी सफलता मिली है, गाँवों में तथा सुदूर गाँवों में समस्या अभी भी वैसी की वैसी ही बनी हुई है।

सामाजिक चेतना

अस्पृश्यता निवारण के लिए किसी भी कानून का सफल होना संदिग्ध है। इसके लिए तो ठोस कार्यों के जरिये जनता में सामाजिक चेतना जागृत करने की आवश्यकता है। हम सब यह जानते हैं कि अज्ञानता को दूर करने और रचनात्मक कार्यों के लिए सही दिशा में अपनी शक्ति का उपयोग करने के लिए शिक्षा एक बड़ा प्रभावशाली माध्यम है।

अभी हरिजन अन्य लोगों की बस्तियों से दूर रहते हैं। इस अलगाव को दूर करने के लिए मेरा सुझाव यह है कि हरिजनों से यह कहने के बजाय कि वे दूसरे लोगों के साथ रहने की हिम्मत करें, अच्छा यह होगा कि सरकार इस मामले में आगे आये और चन्द आदर्श बस्तियों का, भले ही वे साधारण ही क्यों न हों, निर्माण करे ताकि कुछ परिवार उनमें रहना शुरू कर सकें। यदि समस्या को इस तरह सुलझाया जाय तथा इसके साथ ही स्वास्थ्य, सफाई आदि के लिए उपयुक्त वातावरण का निर्माण किया जाय तो थोड़े समय में ही बहुत अधिक प्रगति की जा सकती है।

३१ अगस्त १९६२ —पु. नारायण

बांस उद्योग की क्षमता

विष्णु गोविन्द भट

बांस की करीब ३० जातियां और ५५० प्रजातियां हैं जो कि आर्द्र उष्ण-कटिबंधीय तथा बहु उष्ण-कटिबंधीय प्रदेशों में पायी जाती हैं। इनमें से १३६ प्रजातियां भारत में पायी जाती हैं। असम, पश्चिम बंगाल, पूर्वोत्तर हिमालय प्रदेश, पश्चिम घाट और अण्डमान में ये प्रजातियां काफी विस्तृत क्षेत्र तथा घने रूप में मिलती हैं। प्रस्तुत लेख में लेखक ने बांस की चौदह किस्मों का, उनके नाम, उपयोग एवम् उपलब्धि की दृष्टि से वर्णन किया है। लम्बाई और आकार-प्रकार में ये एक-दूसरे से काफी भिन्न होते हैं। भौतिक तत्वों यानी गुणों की दृष्टि से भी इनमें पर्याप्त भिन्नता पायी जाती है।

बांस घास परिवार में आता है। सच तो यह है कि उसका स्थान कहीं घास और शंकल लकड़ी के बीच में है। घास पेक्टोज प्रधान है और शंकुल लकड़ी लिगनिन प्रधान। वे रेशेवाले बंडलों से बने होते हैं। डंठल का कड़ापन बहुत कुछ बंडलों की संख्या और जिस प्रकार वे छितरे होते हैं, उस पर निर्भर करता है। बाहरी छिलके की मोटाई और बाह्य वल्क परतों में सिलिका का जमाव उन्हें बहुत कड़ा बना देता है। रेशे लकड़ी जैसे और भंगुर होते हैं। हर रेशे को अलग-अलग करना संभव नहीं है।

विभिन्न प्रजातियां

बांस की करीब ३० जातियां और ५५० प्रजातियां हैं जो कि आर्द्र उष्ण-कटिबंधीय और बहु उष्ण-कटिबंधीय प्रदेशों में पायी जाती हैं। एशिया और दक्षिण अमेरिका में ये सबसे अधिक हैं, जहां कि इनकी क्रमशः ३२० और १७९ प्रजातियां उपलब्ध हैं। भारत में १३६ प्रजातियां पायी जाती हैं। हमारे देश में बांस की अधिक प्रमुख जातियां देशी उत्पत्ति की हैं। देश के विभिन्न हिस्सों में इनके अलग-अलग नाम हैं। इनके संस्कृत नाम उपयोग पर आधारित हैं : *बहुपल्लव; धनुद्रुम, बहत्तृण, धनुष्य, कंटकी, कीचिका, वेणु, यवाफल* आदि। जब तक इनके नाम आधुनिक भारतीय भाषाओं में तय नहीं हो जाते तब तक हमें पश्चिमी देशों द्वारा दिये गये नामों का अनुकरण करना है। हमारे देश में निम्न प्रमुख प्रजातियां पायी जाती हैं (प्रादेशिक भाषाओं में जो नाम प्रचलित हैं उन्हें यथास्थान लिखा गया है) :

१. अरुंडिनेरिया विगटियाना नीलगिरी और मलाबार तथा उत्तर कनाड़ के सदाबहार जंगलों में पाया जाता है। यह करीब १० फुट ऊंचा होता है और इसमें सालाना फूल लगते हैं।

२. अरुंडिनेरिया फलकेटा पश्चिम हिमालय (रावी से नेपाल तक) में ४,००० फुट से ७,००० फुट की ऊंचाई पर और सिक्कम में भी पाया जाता है। टेहरी-गढ़वाल इलाके में इसे *रिंगल* कहते हैं। पतला और तनु होने के कारण इसका इस्तेमाल मछली पकड़नेवाले लग्गे (बांस) और हुक्के की नली बनाने में करते हैं।

३. अरुंडिनेरिया रेसीमोसा पूर्वी हिमालय (नेपाल-भूटान) में ६,००० फुट से १०,००० फुट की ऊंचाई पर पाया जाता है। नेपाल में इसे *मलिंग* कहते हैं।

४. अरुंडिनेरिया स्पाथीफ्लोरा पश्चिमी हिमालय के फिर, ओक और देवदार के जंगलों में घने झुंडों में ७,००० से ९,००० फुट की ऊंचाई तक पाया जाता है। यह १२ से २० फुट लम्बा होता है।

जंगली पैदावार

५. बैम्बूसा अरुंडिनेसिया संस्कृत–*वंश;* हिन्दी, मराठी, गुजराती–*बांस;* बंगला–*केतुआ, कुतुआसी;* तेलगू– *बोंगू, वेदुरु, पेण्टे;* तमिल, मलयालम–*मुंगिल;*

कन्नड़—*बिदुरु*; असमिया—*कोतोहा*। यह प्रजाति देश के अधिकांश हिस्सों में, खास कर पश्चिमी और दक्षिण भारत के जंगलों में नीलगिरी पहाड़ियों में, ३,००० फुट की ऊंचाई तक बहुतयात में पायी जाती है। यह बांस ८० से १०० फुट लम्बा होता है और इसका व्यास ६ से ७ इंच होता है। इसकी शाखाएं कंटीली होती हैं और यह करीब ३० साल में एक बार फलता है। प्रजातियां बड़ी तेजी से बढ़ती हैं (प्रति दिन करीब १ फुट ८ इंच)। इसकी शाखाएँ कंटीली होने के कारण इनके झुंड में से होकर निकलना मुश्किल है। इसके डंठल घुमावदार व गंठीले होते हैं।

६. **बैम्बूसा अरुंडिनेरिया** मध्य प्रदेश, बिहार और उड़ीसा में पाया जाता है। यह कंटीला होता है और १०० फुट लम्बा बढ़ता है। इसका व्यास ६ से ७ इंच होता है। मध्य प्रदेश में इसे *कांग* कहते हैं।

७. **बैम्बूसा टुल्डा** को हिन्दी में *पेका* कहते हैं। बंगाल में इसे *टुल्डा*, *मितेंगा* और *जोवा* नाम से जाना जाता है। इसके घने झुंड यानी कुंज के कुंज होते हैं और शाखाएँ एक के बाद दूसरी से सिमटी रहती हैं। इसकी लम्बाई करीब ७० फुट तक होती है। यह बंगाल, बिहार और असम में पाया जाता है। पानी में डाल देने से इस पर कीटाणुओं का असर नहीं पड़ता। यह बड़ा ही उपयोगी बांस है।

छत और फर्श के लिए

८. **बैम्बूसा पॉलीमोरफा** सीधा खड़ा होता है और ८० से ९० फुट लम्बाई तक बढ़ता है। इसका व्यास ७ इंच तक का होता है। इसकी शाखाएँ नहीं होतीं, और यह देखने में बड़ा सुन्दर होता है। यह पूर्वी बंगाल और असम में पाया जाता है। बर्मा में इसका इस्तेमाल छत और फर्श छाने के लिए बड़ा ही प्रचलित है। बंगाल में इसे *जामा-बेतुआ* और असम में *बेतुआ* कहते हैं।

९. **बैम्बूसा वल्गेरिस** भारत के अन्दर असम में और बाहर बर्मा, जावा, दक्षिण अमेरिका और वेस्ट इण्डीज में पाया जाता है। यह २० से ५० फुट तक लम्बा और २.२ इंच से ४.४ इंच व्यास तक का होता है। हर बांस एक-दूसरे से अलग-अलग रूप में उगता है और इसके डंठल पीले अथवा हरी धारीवाले रंग के होते हैं। बंगला में इसे *बसनी बांस*, मराठी में *कलका* और तमिल में *पोंमुंगिल* कहते हैं।

१०. **आक्सीटेनेनथा निगनोसिलियाटा** हरे रंग का होता है और इसमें कहीं-कहीं पीले रंग की धारियां पायी जाती हैं। यह गारो पहाड़ियों और अंडमान द्वीप समूह में पाया जाता है। यह ३० से ५० फुट तक लम्बा और ४ इंच तक व्यास का होता है।

११. **आक्सीटेनेनथा मोनोस्टीगमा** पश्चिमी घाटों में पाया जाता है। यह २० फुट लम्बा और १ इंच तक मोटा होता है। इसका इस्तेमाल छाते की डंडी बनाने में किया जाता है।

१२. **डेंड्रोकैलामस स्ट्रिक्टस** सामान्यत: खोखला होता है। यह २० से २५ फुट तक लम्बा और १ से ३ इंच तक के व्यास का होता है। पहले और दूसरे साल में इसका रंग हरा होता है और तीसरे साल से वह पीला होने लगता है। हिन्दी में इसे *रोपा बांस* कहते हैं। असम और बंगाल के उत्तरी पूर्वी भाग को छोड़ कर यह भारत में सब जगह पाया जाता है।

कीटाणु अवरोधक

१३. **डेंड्रोकैलामस जायगनेंटियस** हमारे देश में उपलब्ध प्रजातियों में यह सबसे बड़ी प्रजाति है। यह बांस १२० फुट तक लम्बा होता है और इसका व्यास १० इंच तक का होता है। यह असम, बंगाल, बिहार के चन्द हिस्सों और दक्षिण भारत में पाया जाता है। यह बांस *बैम्बूसा टुल्डा* की तरह कीटाणु अवरोधक है।

१४. **बैम्बूसा बलकूआ** असम, बंगाल और बिहार में उपलब्ध है। यह ५० से ७० फुट लम्बा और ३ से ७ इंच तक के व्यास का होता है। पानी में डाल कर पकाने के बाद यह कीटाणु अवरोधक और टिकाऊ हो जाता है। गृह निर्माण में काम आनेवाले बांसों में बंगाल की यह

प्रजाति सर्वोत्तम है। बंगाल में इसे *बलुका* और असम में *भालुका* कहते हैं।

लम्बाई और आकार में भिन्नता

बांस के लिए सर्वाधिक उपयुक्त स्थल बरसाती जंगल है। वहाँ इसका सबसे अधिक विकास होता है। बर्मा, असम, बंगाल, पूर्वोत्तर हिमालय प्रदेश, पश्चिमी घाट, श्रीलंका और अंडमान द्वीप समूह में बांस बड़े घने उगते हैं। लम्बाई और आकार में ये एक दूसरे से बड़े भिन्न होते हैं। कोई १२० फुट लम्बा बढ़ता है तो कोई झाड़ी के बराबर ही बढ़ कर रह जाता है। अधिकांश बांस सीधे उगते हैं। कुछ पेड़ों से सटे-सटे लम्बे बढ़ जाते हैं। चीन का वर्गाकार बांस गांठ के ऊपर चपटा हो जाता है। डंठल बहुत तेजी से बढ़ते हैं—करीब ३ इंच रोज। कुछ तो बरसात के दिनों में रोजाना पन्द्रह-सोलह इंच तक बढ़ जाते हैं। यह बाढ़ करीब महीने भर रहती है। एक पुंज में ३० से १०० तक डंठल होते हैं। प्रति वर्ष बरसात के आरम्भ में करीब १० बड़े और ३० से ५० तक छोटे डंठल उग आते हैं। ये चिकने और गोल तथा सामान्यतया खोखले (मादा बांस) होते हैं और इनकी गांठों पर आड़ा सपट होता है। कुछ बांस (नर बांस) ठोस होते हैं। ये ५ से ६ साल के अन्दर पक जाते हैं।

बांस अपने जीवन में एक बार फूलता है और मर जाता है। ऐसा २५ से ५० वर्षों के अन्दर एक बार होता है। किन्तु कुछ प्रजातियां ऐसी हैं जो प्रति ३ वर्ष पर फूलती हैं और कुछ तो सालाना फूलती हैं। अकाल के दिनों में बांस के बीजों का इस्तेमाल अन्न के रूप में करते हैं।

बांस का स्तर जिस इलाके में वह उगता है उसकी भौगोलिक अवस्था पर निर्भर करता है और श्रेणी विभाजन इसके इस्तेमाल के अनुसार किया जाता है। सीधे और मोटे बांस, जिनकी गांठें दूर-दूर पर होती हैं—एक फुट से भी अधिक दूरी पर—अधिक उपयोगी होते हैं। मुलायम और चिकने बांस कलात्मक कामों में इस्तेमाल किये जाते हैं। कड़े और वक्र बांस छीलने तथा काटने में बड़ी दिक्कत होती है। जिन बांसों में गांठें बहुत नजदीक-नजदीक होती हैं, वे कमजोर हुआ करते हैं। बिना मोटाईवाला बांस का डंठल बहुत उपयोगी नहीं होता। कांटेदार शाखाओंवाले बांस में परिश्रम ज्यादा पड़ता है। जिन बांसों का कारीगर इस्तेमाल नहीं करते, उनमें से अधिकांश कागज के लिए लुग्दी बनाने के काम आ जाते हैं।

बांस ५ से ६ साल के अन्दर पक जाता है। पक जाने पर डंठलों को काट लेते हैं। जो बांस मजबूत और टिकाऊ नजर आयें, उन्हें ही काटना चाहिए। परन्तु झोले, पिंजड़े और इस तरह के अन्य सामान बनाने में ३-४ साल की उम्रवाले बांस अधिक उपयोगी होते हैं। डेढ़-दो साल की उम्रवाले बांस, जो कि जाड़े के दिनों में काटे जाते हैं, झोलों आदि के किनारों को मजबूती प्रदान करने में काम आते हैं और ये मुलायम यानी नरम भी होते हैं। छ: वर्ष के बाद बांस की उपयोगिता कम हो जाती है। अगर इन्हें १० वर्ष तक रहने दिया जाय तो ये पुराने हो कर सूख जाते हैं। ऐसे बांस किसी काम के नहीं होते और इनका इस्तेमाल जलावन के अलावा कागज के लिए लुग्दी बनाने में करते हैं। जिन बांसों में फूल निकल आते हैं, वे भी बेकार होते हैं।

चीनी और कारबोहाइड्रेट्स

जड़ द्वारा सींचा गया पानी डंठल में प्रवेश करता है। इसमें चीनी और अन्य कारबोहाइड्रेट्स होते हैं। बांस जब बढ़ता रहता है तब ये अधिक मात्रा में होते हैं। अतः जवान यानी कच्चे बांस में 'घुन' लगने का डर रहता है। पक जाने पर इसमें कीटाणुओं से मुकाबला करने की बड़ी शक्ति हो जाती है, परन्तु उनसे छूट नहीं मिलती। चन्द प्रजातियों में अवरोध शक्ति स्वभावतः आ जाती है, जैसे *बेम्बूसा टुल्डा* और *डेंड्रोकैलामस जायगनेटियस*। बांस काटने के लिए अक्तूबर से दिसम्बर तक का समय सर्वोत्तम माना जाता है। इसमें भी कृष्ण पक्ष, जब कि

डंठलों में सर्वाधिक पानी होता है, कटाई के लिए सब से अच्छा समय है। तत्पश्चात् कटाई के लिए दिसम्बर से मार्च तक का समय उपयुक्त है।

कारीगर बांस-कटाई के मौसम में उनका संग्रह कर लेते हैं और फिर बराबर उनसे सामान तैयार करते जाते हैं। वे बांसों को कुछ समय तक पानी में डुबा कर रखते हैं और उनकी धारियाँ निकाल डालते हैं। चूंकि अधिकांश चीजें इन धारियों से तैयार की जाती हैं, अतः इनके मामले में कीड़ों से खाने का डर अधिक नहीं होता। परन्तु जब चीजें अधिक ठोस बांस से बनायी जाती हैं तो कीटों द्वारा खाये जाने का भी डर होता है।

वैज्ञानिक तरीके

बांस का काम करनेवाले कारीगर प्रायः बांस को दिवाल के सहारे खड़ा रखते हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि वे ऐसा जान-बूझ कर वैज्ञानिक ज्ञान के कारण करते हैं। बांस काटने के बाद उसे करीब सप्ताह भर पत्तों सहित खड़ा रखना चाहिए। कारीगर बांस को पानी में डुबा कर जो इस्तेमाल करते हैं वह भी अर्ध-वैज्ञानिक तरीका है। सही तरीका यह है कि बांस को ३ महीने तक पानी में डुबा कर रखा जाय और फिर उसका सुखा कर इस्तेमाल किया जाय। इससे उसमें से गलनेवाली चीजें निकल जाती हैं और वह कीटाणु-अवरोधक हो जाता है।

विशेषज्ञों ने कई तरह के रासायनिक शोधन के तरीके बनाये हैं। परन्तु वे ग्रामीण करीगरों की पहुँच के अन्दर प्रतीत नहीं होते। कॉपर सल्फेट के बहुत ही हल्के घोल में बांस को डुबाये रखना सहज और प्रभावशाली है। फिर, अभी ग्रामीण कारीगर जो चीजें तैयार करते हैं, उनमें इस तरह के शोधन की आवश्यकता नहीं पड़ती।

बांस को पकाने के लिए सबसे सरल और सस्ता तरीका धुआं लगाना है। इस तरह से पकाये गये बांस बहुत ही मजबूत और कड़े हो जाते हैं। पानी में डुबाये रखने के बाद धुआं दिखाना सर्वोत्तम तरीका है, परन्तु उसमें जरा देर लगती है। जंगली गांव में बांसों को स्नान घर में बनी अग्निष्ठिका पर रख देते हैं। बांस (और बेंत) की चीजों को, जिनका कि मौसमी उपयोग होता है, गैर-मौसम में इन अग्निष्ठिकों पर रख देते हैं। गर्मी और धुएं से वांछित असर पड़ता है। इस तरह के शोधन के लिए एक वर्ष का समय सामान्य है।

प्राप्ति का अनुमान

भारत में बांस अधिकतर जंगलों में उगता है, जो कि सरकारी सम्पत्ति है और चूंकि इन्हें नीलाम किया जाता है, अतः प्रति वर्ष काटे गये बांसों की संख्या और उनके मूल्य का सही अन्दाज लगाना सम्भव नहीं है। जो भी जानकारी प्राप्त है, वह कागज और कागज लुग्दी उद्योग के लिए प्राप्त बांस से सम्बंधित है। जंगली इलाकों के ग्रामीणों को मामूली दर पर बांस काटने की अनुमति दी जाती है। इस उद्योग में लगे कारीगरों को भी ऐसी ही रियायत मिली हुई है। इन कारीगरों द्वारा तथा अन्य लोगों द्वारा कितने बांस का इस्तेमाल होता है तथा किस कार्य के लिए होता है, इसकी जानकारी अभी भी प्राप्त करनी बाकी है। वैसे आज से २२ वर्ष पूर्व निम्न अन्दाज लगाया गया था और वही आज भी हर व्यावहारिक कार्य के लिए मान्य है :

राज्य	मात्रा (टन में)
असम	३०,९००
बंगाल	१,००,०००
बम्बई	१,५५,७००
बिहार	९,०००
मध्य प्रान्त	२७,५४५
मद्रास	६८,६६७
उड़ीसा	७१,४२५
हैदराबाद	२५,०००
त्रावणक्रोर	२५,०००
मैसूर	१००,०००
योग :	६१३,२३७

बांस कई आकार का होता है। यह सीधा, लम्बा,

मजबूत, हलका, चिकना और कड़ा होता है। यह खोखला होता है और आसानी से तथा नियमित रूप से इसकी काट-छांट की जा सकती है। बांस के ये-ही गुण उसे कई कामों के लिए उपयोगी बना देते हैं। बांस बहुतायत में प्राप्त है और उसे सहज ही सब जगह उगाया जा सकता है। वह कम समय में ही पक जाता है। उसका काटना आसान है।

विविध उपयोग

बांस का इस्तेमाल लकड़ी के बदले बहुत अधिक किया जाता है। जंगली इलाकों में बांस के ही घर बनाये जाते हैं। दीवार, दरवाजे, खिड़कियाँ आदि सभी कुछ बांस से ही बनाये जाते हैं। बांस का इस्तेमाल सीढ़ियों, पुलों, बेड़ों, सहारों तथा निर्माण कार्यों में बहुत किया जाता है। लम्बे-हलके बांसों का इस्तेमाल नाव खेने में करते हैं। नदी में लकड़ी बहाने के लिए नाव बांस की ही बनाते हैं। बांस से रोजमर्रा इस्तेमाल की कई चीजें बनायी जाती हैं जैसे छड़ी, लाठी, मसाल के डंडे, औजारों की मूठ, झाड़ू, नलियाँ, पंखे, छाते, चटाइयाँ आदि। झोले तैयार करने के लिए बांस प्रमुख सामग्री है। खिलौने और वाद्य यंत्र बनाने में भी बांस का इस्तेमाल किया जाता है। छाते के डंडे बनाने में पतले बांस का इस्तेमाल करते हैं।

आदिवासी लोग चटनी, अचार आदि रखने के लिए खोखले बांस का इस्तेमाल करते हैं। यही उनका बरतन है। वे अपने बहुमूल्य सामान भी इन्हीं में छिपा लेते हैं। शिकार के लिए भी बांस का उपयोग होता है और मछली मारने के डंडे और फंदे, पिंजड़े आदि बनाने में भी इसका इस्तेमाल किया जाता है। कृषि में बांस का विविध और बहुत उपयोग है। पानी खींचने, हल, घेरे, रात में पहरा देने के लिए बनाये गये मचान बन्द इस्तेमाल हैं। बांस की शाखाएँ स्वाभाविक सीढ़ियों का काम देती हैं। इन्हीं सीढ़ियों पर चढ़ कर पान के पत्ते तोड़े जाते हैं। पान के नाजुक पत्तों की रक्षा के लिए बनायी गयी झाड़ियों को भी बांस की डोरियों से ही सीते हैं।

बांस का इस्तेमाल कागज बनाने में बड़े पैमाने पर होता है। बांस का बिना समझे-बूझे काटा जाना और इसके विकास के लिए योजित कार्यक्रम की कमी आगे चल कर इस बहुमूल्य सामग्री का अन्त भी कर सकती है।

७ सितम्बर १९६२

आय वितरण की दृष्टि से अन्य देशों की तुलना में शहरी भारत की क्या स्थिति है ? यद्यपि इस तरह के विस्तृत अध्ययन के लिए अनेक देशों के तत्सम्बन्धी हाल के वर्षों के आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं। प्राप्य आंकड़ों से ऐसा लगता है कि शहरी भारत की तुलना में संयुक्त राज्य अमेरिका और इंग्लैण्ड जैसे आर्थिक दृष्टि से विकसित देशों में आय का वितरण अपेक्षाकृत अधिक समान है, जबकि आर्थिक विकास के समान स्तरवाले श्रीलंका जैसे देशों में यह वितरण तकरीबन एक-जैसा ही है। शहरी भारत तथा श्रीलंका में भी शिखर के १० प्रति शत परिवारों की आय कुल की ४२ प्रति शत है, जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका व इंग्लैण्ड में शिखर के १० प्रति शत परिवारों की आय कुल की २८ से ३० प्रति शत है।

—*अरबन इनकम एण्ड सेविंग : नेशनल कॉउन्सिल ऑफ अप्लाइड इकनॉमिक रिसर्च, नयी दिल्ली।*

टैगोर की प्रतिभा

रतिलाल महेता

भारत के सुप्रसिद्ध विद्वानों के सम्पादक मण्डल द्वारा सहायित और डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् के मार्गदर्शन में योजित तथा सम्पादित यह ग्रन्थ* सम्भवतः रवीन्द्रनाथ टैगोर की स्मृति में अब तक उनके प्रति सर्वोत्तम श्रद्धांजलि है।

सुन्दर छपाई और आकर्षक सजावट से युक्त ५५० से भी अधिक पृष्ठवाला यह विशाल ग्रन्थ सचमुच एक बहुमूल्य वस्तु है। **गुरूदेव** के जीवन काल में तथा उनके स्वर्गवास के पश्चात् देश-विदेशों में और अनेक भाषाओं में उनकी गरिमामय प्रतिभा की प्रशंसा में अनेक लेख प्रकाशित हुए हैं। भारत में शत-शत पत्र-पत्रिकाओं व पुस्तकों के माध्यम से असंख्य व्यक्तियों ने उन्हें श्रद्धांजलियाँ अर्पित की हैं। उनमें तीन प्रमुख अंग्रेजी प्रकाशन हैं: (१) **दि गोल्डन बुक ऑफ् टैगोर** (भारत और विश्व की ओर से १९३१ में रवीन्द्र बाबू के ७०वें जन्म दिवस समारोह के अवसर पर **श्रद्धांजलि** स्वरूप प्रकाशित; रामानन्द चटर्जी द्वारा सम्पादित); (२) **कृष्ण** कृपलानी द्वारा सम्पादित १९४१ में **विश्वभारती** (त्रैमासिक) का टैगोर जयन्ती अंक; और (३) अमुल ह्यूम द्वारा सम्पादित, १९४१ में **कलकता म्यूनिसिपल गजट** का टैगोर मेमोरियल सप्लीमेण्ट (टैगोर स्मारक परिशिष्टांक)।

चिर नवीन

उक्त प्रकाशनों के बाद ऐसा लगा कि टैगोर की बाबत व्यवहारतः अब कुछ कहने के लिए शेष नहीं रहा। फिर भी, सौन्दर्य की प्राचीन परिभाषा "**क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपम् रमणीयताः**" के अनुसार टैगोर का व्यक्तित्व इतना भव्य तथा विशाल है कि उसमें जब-जब झांक कर देखते हैं उसकी नव-रमणीयता दृष्टिगोचर होती है। प्रारम्भिक प्रयास प्रायः करके अपने समय में परिपूर्ण थे, किन्तु तब से टैगोर के अध्ययन में नये-नये विचारों और कल्पनाओंवाले व्यक्ति रत रहे हैं। अतएव शताब्दी समारोह के अनुपम उत्साह की लहर में टैगोर को श्रद्धांजली भेंट करने के रूप में इस प्रकार के सुन्दर ग्रन्थ का प्रकाशित होना स्वाभाविक जान पड़ता है।

बहु विध सामग्री

कितनी भव्य श्रद्धांजलि! जवाहरालल नेहरू द्वारा लिखित प्रस्तावना और डा. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् द्वारा **गुरूदेव** की बहुमुखी प्रतिभा पर महान प्रकाश डालने के साथ ग्रन्थ का प्रारम्भ होता है। इसके साथ ही आयसलैण्ड से लेकर वियतनाम और अर्जेनटाइना से लेकर जापान तक के यानी विश्व भर के लेखकों की, रवीन्द्रनाथ के जीवन-दर्शन का रहस्योद्घाटन करनेवाली अनेक रचनाएँ प्रस्तुत ग्रन्थ में हैं। इन लेखकों में ख्याति-प्राप्त कवि, नाटककार, समालोचक, दार्शनिक, संगीतकार, नृत्यकार, सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञ तथा राजमर्मज्ञ सभी हैं। सभी ने अपना सर्वोत्तम योगदान दिया है। किसी ने व्यक्तिगत संस्मरण के आधार पर कुछ लिखा है तो किसी ने **गुरूदेव** के जीवन अथवा कार्य के किसी न किसी पहलू पर अपनी कलम उठायी है।

हॉलैण्ड के श्री बेन वैन इस्सल्सतेन (Ben van Eysselstein) से जब इस ग्रन्थ के लिए कुछ लिखने का निवेदन किया गया और उन्होंने जो कहा उसमें सम्भवतः सभी लेखकों की भावनाओं की प्रतिध्वनि मिलती है। वे

---

* **रवीन्द्रनाथ टैगोर**: शताब्दी ग्रन्थ (१८६१-१९६१): प्रकाशक: **साहित्य अकादमी, ७४**, थियेटर कम्यूनीकेशन बिल्डिंग, कनॉट सर्कस, नयी दिल्ली; मूल्य: ३० रुपये; पृष्ठ: २५+५३१।

कहते हैं: "प्रस्तुत ग्रन्थ के लिए लेख लिखने के लिए निवेदन किये जाने पर सम्भवतः सभी लेखकों को यही अनुभव हुआ होगा कि क्षणिक शान्ति का अनुभव करते हुए भी उनका हृदय उमड़ पड़ा। इस पल भर की घड़ी में आधुनिक संघर्षमय और उसमें निहित भय से युक्त संसार के चिर परिवर्तनशील चित्र एकाएक लोप हो उनके स्थान पर भारत के महान् कवि महर्षि रवीन्द्रनाथ टैगोर का स्वाभिमानपूर्ण एवम् पवित्र व्यक्तित्व व्यक्तिगत संस्मरण अथवा उनकी रचनाओं के ज्ञान के पुनःस्मरण से आंखों के सामने आया होगा जिससे हृदय फुलकायमान हो उठा होगा।" फल सचमुच अत्यन्त उल्लेखनीय रहा है।

अरुणोदय के समान

वस्तुतः इस लघु लेख में उक्त महान ग्रन्थ की सामग्री का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है। केवल सामान्य प्रभाव ही प्रस्तुत किया जा सकता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ छः भागों में विभक्त है। वर्तमान भारत की दो महान विभूतियों—श्री नेहरू और डा. राधाकृष्णन्—की कलम से पुस्तक के प्रारम्भ में कुछ लिखा जाना समीचीन ही है, जिन पर टैगोर का गहरा प्रभाव पड़ा है। जहाँ श्री नेहरू अपने संस्मरणों में मोटे तौर पर गुरुदेव के प्रतिभाशाली व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हैं, वहाँ डा. राधाकृष्णन् ने विस्तृत रूप से बताया है कि किस प्रकार टैगोर "सभी कलाओं के प्रिय" थे। गांधी और टैगोर की जिन महान् जिम्मेदारियों से वे मंत्रमुग्ध हुए उनके प्रभाव की सामानता तथा असमानता, दोनों ही दृष्टियों से तुलना करते हुए श्री नेहरू कहते हैं—"गांधीजी भारत के सार्वजनिक जीवन में जहाँ बिजली की तरह आये और हम सब को झकझोर डाला तथा प्रकाश-पुंज की तरह हमारे दिलो-दिमाग को रोशन कर दिया, वहाँ टैगोर का प्रभाव किसी पर्वत पर उषाकाल के समान आया एवम् धीरे-धीरे वह हम सब में फैल गया।"

टैगोर के 'महान और तेजस्वी व्यक्तित्व' का विश्लेषण करते हुए डाक्टर राधाकृष्णन् कहते हैं, "रवीन्द्रनाथ में जीवन की पूर्णता, जीवन के विविध पहलुओं का विकास मिलता है.........विविध विषयों पर अपनी गहन रचनाओं में वे स्वतंत्र आत्मा, अमरात्मा के गुणों की अभिव्यक्ति करते हैं.......उनका श्रेष्ठ कविताओं में ऐसी बातें मिलती हैं, जो हृदय को [illegible] कर मस्तिष्क को भर देती हैं और जो दीर्घ-काल तक मानव मन व मस्तिक में बनी रहेंगी।"

डाक्टर राधाकृष्णन् के अनुसार "हम में से अधिकांश शाश्वत गुणों और मूल्यों के प्रति अन्धे हैं, उन्हें देख-समझ नहीं पाते, इसलिए रवीन्द्रनाथ जैसे कवि हमें बताते हैं कि शाश्वत प्रकाश है और अपने गीतों के जरिये वे इसके संघात, प्रभाव और क्रिया-कलाप का दर्शन करने के लिए हमारा आमन्त्रण करते हैं।"

एक संक्षिप्त किन्तु मर्मवेधी रूप में आज के इस दार्शनिक-राजमर्मज्ञ ने बहुत ही सुन्दर रूप में मानवता को टैगोर की देन का उद्घाटन किया है।

व्यक्तिगत संस्मरण

दूसरे भाग में व्यक्तिगत संस्मरण हैं। इसमें गुरुदेव की भतीजी इन्दिरा देवी चौधरानी तथा लिओनार्ड एमहर्स्ट (Leonard Elmhirst) ने संस्मरण लिखे हैं। उक्त महाशय श्रीनिकेतन के निर्माण, जोकि शान्ति-निकेतन के समीप ग्राम पुनर्निर्माण केन्द्र है, में बहुत सहायक थे। इनके अलावा अर्जेनटाइना की कवयित्री विक्टोरिया ओकम्पो (Victoria ocampo) ने, जो कि जब रवीन्द्रबाबू ब्यूनस आयर्स गये तो वहाँ उनकी मेजमान थी, गुरुदेव के पुत्र रथीन्द्रनाथ टैगोर और इटली के इण्डोलोजिस्ट गीसेप्पे तुस्सी (Guiseppe Tucci) ने, जिन्होंनें शान्तिनिकेतन में काम किया था, संस्मरण लिखें हैं।

ये संस्मरण हमें गुरुदेव की आन्तरिक भावनाओं का

अपेक्षाकृत नजदीक से अन्तर्दर्शन करवाते हैं। अधिकांश संस्मरणों में टैगोर के पत्रों से उद्धरण दिये गये हैं, जोकि उनकी आन्तरिक भावनाओं को सर्वाधिक प्रकाश में लाते हैं। वास्तव में जैसा कि एक अन्य लेखक ने ग्रन्थ के एक दूसरे भाग में कहा है, "रवीन्द्रनाथ के सर्वोत्तम पत्र और जिनकी संख्या नगण्य नहीं है—किसी भी साहित्य की वैसी ही श्रेणी में सर्वोत्तम हैं। उन्हें पढ़ना एक आनन्द का विषय है; क्योंकि उनका विषय जो भी हो और चाहे जिस मनःस्थिति–विक्षुब्ध अथवा अविक्षुब्ध, हर्ष या चिन्ताग्रस्त– से प्रेरित होकर लिखे गये हों, सदैव ही बहुत भले लिखे गये हैं।" ग्रन्थ में उद्धृत कुछ पत्रों से प्रकाश में आनेवाली एक विस्मय-कारक तथा साथ ही कष्टपूर्ण बात यह है कि गौरव के शिखर पर और असंख्य प्रशंसकों तथा अनवरत रूप से चलनेवाली गतिविधियों के मध्य भी गुरुदेव प्रायः एकाकीपन महसूस करते थे।

एकाकीपन का भार

विक्टोरिया ओकम्पो, जिन्हें वे विजया कहा करते थे, को एक पत्र में टैगोर ने लिखा :

"तुम्हारे लिए यह समझना कठिन होगा कि एकाकीपन का कितना भारी बोझ मैं उठाये फिरता हूँ, वह भार जोकि मुझ पर मेरे अचानक और असाधारण यश के कारण आ पड़ा है। मैं एक ऐसे दुर्भाग्य-शाली स्थान के समान हूँ, जहाँ किसी अशुभ दिन कोयले की खान निकल आये और फलतः उसके फूलों की अवहेलना की जाय, उसके जंगल काट दिये जायें और वह धन-लोलुपों की दया-दृष्टि पर छोड़ दिया जाय। मेरा बाजार भाव बढ़ गया है और व्यक्तिगत मूल्य तिरोहित हो गया है। यह व्यक्तिगत मूल्य मैं उस तीव्र आकांक्षा के वशीभूत हो कर प्राप्त करना चाहता हूँ, जो दिन-रात मुझे सताती रहती है।"

इसी प्रकार एक दूसरे पत्र में उन्होंने लिओनार्ड ... अपनी आत्मा के चारों ओर एक अनन्त एकाकीपन लिए हुए हूँ, जिससे होकर मेरे व्यक्तिगत जीवन की आवाज प्रायः मेरे मित्रों तक नहीं पहुँच पाती; जिस कारण मुझे उनसे अधिक सहन करना पड़ता है। अपने व्यक्तिगत संसार के लिए मैं भी उतना ही लालायित हूँ, जितना अन्य कोई नश्वर प्राणी; सम्भवतः उससे भी कहीं अधिक।"

किन्तु ये क्षणिक घड़ियाँ थीं, जो टैगोर के अनवरत सृजनात्मक क्रिया-कलापों के समक्ष टिक नहीं सकीं तथा उनकी आन्तरिक परितुष्टि ने पुनः अपना अधिकार कर लिया।

ग्राम पुनर्निर्माण

ग्रामीण विकास में रुचि रखनेवालों के लिए एमहर्स्ट और टैगोर के पुत्र रथीन्द्रनाथ के संस्मरण विशेष महत्व के हैं। उनसे पता चलता है कि टैगोर ने किस प्रकार एक सुव्यवस्थित रूप से ग्रामीण पुनर्निर्माण कार्य किया और वह भी बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में! पूर्वी बंगाल के शेलीदह और पोतीसर क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ को अपने पूर्वजों की एक बड़ी जायदाद का प्रबन्ध करना था, जिसके अन्तर्गत १२५ से भी ज्यादा गांव थे और वहीं उन्होंने जिस ग्रामोत्थान विचार का प्रतिपादन अपनी पुस्तक **स्वदेशी समाज** में किया था उसे सर्व प्रथम कार्यान्वित किया। कुछ कार्याकर्त्ताओं की सहायता से उन्होंने उस जायदाद को तीन विभागों में विभक्त किया। हर विभाग स्वशासित संगठन था, किन्तु हितैषी सभा नामक केन्द्रीय प्रशासनात्मक संगठन की इकाई के रूप में। प्रत्येक गांव में एक निर्वाचित पंच था। इस तरह के दस पंच एक प्रधान चुनते थे। ये प्रधान अपने में से पाँच पंच चुनते थे, जो जायदाद की समग्र जन-संख्या का प्रतिनिधित्व करते थे। इन्हें पंच प्रधान कहा जाता था। वर्ष भर के हिसाब-किताब का विश्लेषण कर उसे स्वीकृत करने, आगामी वर्ष के लिए बजट बनाने, हर

विभागों के लिए ... के लिए ... र लिखने के लिए आगामी वर्ष के लिए ।मलनेवाली ... लेखकों ... का वितरण करने, जायदाद के प्रबन्ध के सम्बन्ध में यदि कोई शिकायतें हो तो उसे जमीदार तक (इस मामले में स्वयम् रवीन्द्रनाथ तक) पहुँचाने और गांवों की हालत सुधारने के लिए जिस सामान्य नीति का अनुसरण करना हो उस पर विचार-विमर्श करने के लिए, हितैषी सभा की वर्ष में एक बार बैठक होती थी। सड़कों की मरम्मत करने, पानी की कमी मिटाने, पंच फैसले के जरिये झगड़े सुलझाने, स्कूलों की स्थापना करने, जंगल साफ करने, धर्म गोला (अन्य भण्डार) स्थापित करके दुर्भिक्ष के विरुद्ध सुरक्षात्मक कदम उठाने आदि जैसे काम स्वयम् करते हुए ग्रामीणों ने कल्याण-कार्य शुरू किये।

गैर-मौसमी काल में अथवा खाली समय में किसानों को काम देने के लिए रवीन्द्रनाथ ने कताई, बुनाई तथा अन्य दस्तकारियाँ व कुटीर उद्योग भी शुरू किये। यही प्रयोग बाद में शान्तिनिकेतन के नजदीक श्रीनिकेतन में वैज्ञानिक ढंग से चलाया गया।

कितना महान् और पथ-प्रदर्शक था यह प्रयास!

टैगोर की प्रतिभा के सृजनात्मक पक्ष के अनेक उदाहरण इस ग्रन्थ में यत्र-तत्र उपलब्ध हैं, बस जरूरत इतनी है कि उन्हें ढूंढ़ने के लिए हमारे पास समय हो।

अध्ययन और समालोचना

तीसरे भाग में 'अध्ययन और समालोचना' है। इसमें अनेक भारतीय और विदेशी विद्वानों की रचनाएँ हैं। इनमें टैगोर की सृजनात्मक प्रतिभा के प्रायः हर पहलू का समालोचनात्मक रूप से गहराई के साथ, अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। उनकी कविताओं, गीतों, नाटकों, कहानियों, उपन्यासों, पत्रों, निबन्धों, बाल-साहित्य, दार्शनिक रचनाएँ व चित्रकारी–शिक्षा और मानव एकता की दिशा में टैगोर की देन का भी–आदि सभी ... सम्बन्ध में उपलब्ध सामग्री का अध्ययन-मनन किया गया है। इसके परिणाम-स्वरूप फिर एक बार इस बात पर प्रकाश पड़ा है कि टैगोर का व्यक्तित्व कितना महान था!

मानव में अटूट विश्वास

इस भाग पर एक सरसरी निगाह डालने से भी इस बात का पता चलता है कि कितनी विविध सृजनात्मक गतिविधियाँ उनमें व्याप्त थीं तथा मानव विचार-धारा व भावनाओं के क्षेत्र में कितना सुन्दर और गहन योगदान उन्होंने दिया है। यहाँ वे एक विरली कलात्मक प्रतिभावाले व्यक्ति के रूप में हमारे सामने आते हैं। उनकी भाषा, जैसा कि उद्धरणों से प्रकट है, इतनी सरल होते हुए भी बहुत ही प्रौढ़ और प्रभावशाली, मनोहर है। यदि उनके शब्द खुशी में गाते और नाचते हैं तो वे दारुण दुःख में रो भी सकते हैं, तथा उनमें उलट-पुलट कर देनेवाला प्रहार करने की शक्ति भी है। जल-प्रपात के गिरने, समुद्र के झंझावात अथवा मेघ के गर्जन जैसी शक्ति भी उनमें है। ब्रह्माण्ड के साथ उनका तादात्म्य है; चिर-परिवर्तनशील प्रकृति में रमे हुए अपने चारों ओर जीवन की चिर-कमनीयता, नवीनता के साथ वे सदैव ही क्रियाशील रहते हैं। और, यही हम पाते हैं कि सभ्यता के जीर्ण-शीर्ण अवशेषों के बीच भी उनका मानव में अटूट विश्वास है।

इस भाग में जितनी रचनाएँ हैं उनमें संक्षिप्त किन्तु सर्वाधिक मार्मिक रचना एलबर्ट श्वित्ज़र (Albert Schweitzer) की है, जिसमें वे कहते हैं, "भारतीय गेटे टैगोर अपने व्यक्तिगत अनुभवों को अभिव्यक्ति प्रदान करता है कि यही सच्चाई (जीवन सत्य, उसका सार) है, और वह भी ऐसे रूप में जो उनसे पूर्व किसी भी व्यक्ति ने जो अभिव्यक्ति प्रदान की उससे कहीं अधिक गहरी, शक्तिशाली और मनोहर है। इस परिपूर्ण रूप से पवित्र तथा समरस विचार का नाता न केवल भारतवासियों से बल्कि समग्र मानवता से है।"

ऐसे ही लेखांश पढ़ कर हमें टैगोर की मौलिक रचनाओं के सोते में डुबकी लगाने की इच्छा होती है।

यात्रा वर्णन

इसके बादवाले भाग में टैगोर द्वारा की गयी अन्य स्थानों की यात्राओं के संस्मरण हैं, जो नीरस प्रतीत होते हुए भी पुरस्कारविहीन नहीं हैं। सम्भवत: आस्ट्रेलिया को छोड़ कर टैगोर ने व्यवहारत: संसार के सभी देशों में, कुछ में तो काफी अधिक, यात्राएँ की हैं और, जैसा कि इनसे प्रकट होता है, राष्ट्रीयता और युद्ध के सम्बन्ध में उनके पूर्व व्यक्त विचारों के कारण हो सकता है कुछ देशों में उनका कम सम्मान हुआ हो, उन्होंने सदैव ही सभी देशों में अपने पीछे गहरा प्रभाव छोड़ा है, श्रद्धा प्राप्त की है तथा अपने जीवन व रचनाओं के प्रति वहाँ के लोगों में विस्तृत अभिरुचि जागृति की है।

पांचवें भाग में इण्डोलोजी (भारत सम्बन्धी विज्ञान) के विभिन्न विषयों पर भारतीय तथा विदेशी विद्वानों की श्रद्धांजलियाँ हैं। यद्यपि इन अध्ययनों का टैगोर के जीवन और कार्य से सीधा सम्बन्ध नहीं है, तथापि स्पष्टत: उन्हें यहाँ इसलिए प्रस्तुत किया गया है कि उक्त भाग में जो विषय हैं उनमें किसी न किसी रूप में टैगोर ने योगदान दिया है।

ग्रन्थ का अन्त जीवन वृतान्त और पुस्तकों की तालिका के साथ समाप्त होता है। वृतान्त परिपूर्ण तथा व्यापक है और साल-दर-साल के हिसाब से दिया गया है। एक वर्ष की प्रमुख घटनाएँ तथा क्रिया-कलाप एक ही पैरा में दिये गए हैं और कुछ महत्वपूर्ण अथवा क्रमबद्ध प्रवृत्तियाँ गयी हैं। टैगोर की [illegible] का वर्णन ग्रन्थ के मूल पाठ के साथ उप-शीर्षक में अलग से दिया गया है। समकालीन इतिहास की महत्वपूर्ण घटनाएँ अलग पैरा में दी गयी हैं, तथा किसी विशिष्ट वर्ष में प्रकाशित प्रकाशनों (बंगला तथा अंग्रेजी) का वर्णन छोटे अक्षरों में दिया गया है। इस प्रबन्ध से गुरूदेव के जीवन के महत्वपूर्ण वर्षों का मोटे रूप में एक विहंगावलोकन हो जाता है। पुस्तक सूची व्यापक है, जिसमें वर्ष-प्रति-वर्ष के अनुसार टैगोर की बंगला और अंग्रेजी रचनाओं का वर्णन दिया गया है। कितना अच्छा होता कि कम से कम यह जीवन वृतान्त और पुस्तक-सूची एक अलग छोटी-सी सस्ती पुस्तिका के रूप में प्राप्त होती।

उपसंहार

प्रस्तुत ग्रन्थ में चित्र नहीं हैं, सम्भवत: इसलिए कि प्रारम्भिक श्रद्धांजली प्रकाशनों में वे काफी तादाद में दिये जा चुके हैं। लेकिन प्रसिद्ध कलाकारों द्वारा तैयार किये गये टैगोर के कुछ सुप्रसिद्ध चित्र तथा टैगोर की पाण्डुलीपि और घसीट लिखावट छाप कर, जिनसे प्राय: विलक्षण कलात्मक रचानाएँ सामने आयी हैं, यह कमी दूर की गयी है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार के प्रकाशन के लिए साहित्य अकादमी बधाई की पात्र है, जो इस महान विश्वकवि और सिद्धपुरुष की स्मृति में एक अनुपम स्मारक सिद्ध होगा।

१ अक्तूबर १९६१

...य के लिए ... लिखने के लिए ... लेखकों के

नवम् वार्षिकांक के विषय में अभिमत

मैंने वार्षिकांक बड़ी दिलचस्पी के साथ पढ़ा। इसमें हमें ग्रामीण विकास की समस्या तथा इस महत्वपूर्ण समस्या को सुलझाने के लिए जो उपाय काम में लाये जा रहे हैं उनकी एक झलक मिलती है। यह पत्रिका ग्रामोद्योगों के विकास के जरिये ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को विकसित करने के विषय में एक वास्तविक सेवा कार्य कर रही है।

७, जंतर मंतर रोड — **दामोदरम् संजीवय्या**
नयी दिल्ली-१ — अध्यक्ष
२५ अक्तूबर १९६२ — भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस

* * *

आपकी पत्रिका देश में एक सर्वोत्तम आर्थिक पत्रिका है। आपने कृषि और उद्योगों के जरिये ग्रामीण विकास के विभिन्न पहलू जनता के समक्ष सही रूप में प्रस्तुत किये हैं। आज चरखा लाखों गरीबों की आर्थिक स्थिति सुधारने में बड़ा ही महत्वपूर्ण कार्य कर रहा है।

७, जंतर मंतर रोड — **के. के. शाह**
नयी दिल्ली-१ — महामंत्री
१६ अक्तूबर १९६२ — अखिल भारत कांग्रेस कमेटी

* * *

खादी ग्रामोद्योग का वार्षिक अंक मिला। इसमें बड़े उपयोगी और विचारोत्तेजक लेख हैं। मेरी इच्छा है कि इसमें प्रतिपादित विचारों को और भी सघन और विस्तृत रूप से कार्यान्वित किया जाय।

११-इलेक्ट्रिक लेन — **एच. सी. दासप्पा**
नयी दिल्ली — अध्यक्ष
२४ अक्तूबर १९६२ — अनुमान समिति, लोक सभा

* * *

आपका खादी ग्रामोद्योग बड़ा ही उत्तम कार्य कर रहा है और आप देश की बहुत बड़ी सेवा कर रहे हैं। मैं खादी ग्रामोद्योग की पूर्ण सफलता की का[मना] करता हूँ।

राज्यपाल शिविर — **वी. वी. गिरि**
नयी दिल्ली — राज्यपाल, केरल
१४ अक्तूबर १९६२

* * *

ग्राम विकास की समस्याएँ बड़ी कठिन हैं और जटिल भी। आपका प्रकाशन इन पर विचार तथा कार्यवाही करने के लिए प्रेरित करने में बड़ा उपयोगी है।

राज भवन — **विष्णु सहाय**
शिलांग (असम) — राज्यपाल, असम
१५ अक्तूबर १९६२

* * *

...वार्षिकांक का आवरण जितना खूबसूरत है उसके अन्दर की सामग्री भी उतनी ही उपयोगी है। यदि भविष्य में ऐसे अंकों में खादी के अर्थ-शास्त्र, उसकी लागत, मूल्य आदि के विषय में तथ्यपूर्ण जानकारी दी जाय तो मुझे बड़ी खुशी होगी। वर्ष में एक बार इस तरह की जानकारी उपयोगी और सहायक भी सिद्ध होगी।

लखनऊ — **विश्वनाथ दास**
२३ नवम्बर १९६२ — राज्यपाल, उत्तर प्रदेश

* * *

खादी ग्रामोद्योग का यह विशेषांक पिछले वार्षिकांक से काफी सुधरा हुआ है और इसमें खादी तथा ग्रामोद्योगों के विकास से सम्बन्धित उपयोगी पठनीय सामग्री है।

ए. सी. जोशी
चण्डीगढ़ — उप-कुलपति
१८ अक्तूबर १९६२ — पंजाब विश्वविद्यालय

* * *

यह एक पठनीय प्रकाशन है और खादी के अर्थ-शास्त्र

में दिलचस्पी रखनेवालों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

बी. आर. सेन

जबलपुर — उप-कुलपति
१९ अक्तूबर १९६२ — जबलपुर विश्वविद्यालय

* * *

मैंने वार्षिकांक के [illegible] लेख पढ़े, वे उच्च कोटि के हैं और [illegible] मारे [illegible]श [illegible] जीवन की एक झलक प्रस्तुत करते हैं।

उमेश मिश्रा

द[illegible]भंगा — उप-कुलपति
२२ अक्तूबर १९६२ — कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय

* * *

मैंने खादी ग्रामोद्योग का वार्षिकांक बड़ी दिलचस्पी के साथ पढ़ा। इसमें कई लेख ऐसे हैं जो खादी और ग्रामोद्योगों के प्रति स्पष्ट और प्रगतिशील विचार के द्योतक हैं।

बी. एन. गांगुली

दिल्ली-६ — प्रत्युपकुलपति
२० अक्तूबर १९६२ — दिल्ली विश्वविद्यालय

* * *

वार्षिकांक में ऐसे लेखों का संग्रह है, जिनके लेखक अपने विषय के अच्छे ज्ञाता माने जाते हैं। लेखों के विषय भी दिलचस्प हैं। अंक का प्रकाशन बड़ा सुन्दर हुआ है।

चिन्तामणि देशमुख

नयी दिल्ली — अध्यक्ष, इण्डिया इंटरनेशनल
१८ अक्तूबर १९६२ — सेंटर और उप-कुलपति, दिल्ली विश्वविद्यालय

* * *

वास्तव में यह एक बहुमूल्य प्रकाशन है जो कि ग्रामो[illegible]न [illegible] प्रमुख लेखकों के लेखों से [illegible] उपयोगी बन गया है।...उच्च कोटि के प्रकाशन के लिए मेरी बधाई।

हिरण्मय बनर्जी

कलकत्ता — उप-कुलपति
२५ अक्तूबर १९६२ — रवीन्द्र भारती

* * *

वार्षिकांक के सभी लेख ऊंचे स्तर के, विवेचनात्मक और गम्भीर हैं। कुछ लेख तो जानकारी की बातों से इतने भरपूर हैं कि उनको पढ़े बिना छोड़ा ही नहीं जा सकता।...लेखों में ग्रामीण जीवन को आज की परिस्थिति में समझने और समुन्नत करने की दृष्टि मिलती है।

(डा.) लक्ष्मीनारायण सुधांशु

पटना — अध्यक्ष
१५ नवम्बर १९६२ — बिहार विधान सभा

* * *

वार्षिकांक के कुछ लेख मैंने बड़ी दिलचस्पी के साथ पढ़े और मैं समझता हूँ कि इस अंक का प्रकाशन बहुत ही अच्छा हुआ है।

ब्रह्मदेव मुकर्जी

बम्बई — मैनेजिंग डाइरेक्टर
१७ अक्तूबर १९६२ — स्टेट बैंक ऑफ् इण्डिया

* * *

सम्पादकों को इस सुन्दर और बहु-विध तथा रुचिकर लेखों से भरपूर प्रकाशन के लिए मेरी बधाई।

अशोक मेहता

बम्बई — अध्यक्ष
२६ अक्तूबर १९६२ — प्रजा समाजवादी पार्टी

सम्पादक : सुभाष चन्द्र सरकार द्वारा खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय,' इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई-५६ से प्रकाशित तथा मुद्रित। मुद्रण-स्थल : एसोसिएटेड एडवर्टाइजर्स एण्ड प्रिण्टर्स, ५०५, तारदेव, आर्थर रोड, बम्बई-३४।
वार्षिक शुल्क : २.५० रुपये; एक प्रति : २५ नये पैसे।

के लिए

प्रकाशित हो गयी !

परिचय पुस्तक : सहायता का विवरण

इस पुस्तक में खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के उद्देश्यों और कार्यों के विषय में विस्तृत जानकारी दी गयी है। इसके साथ ही साथ विभिन्न ग्रामोद्योगों के विकास के लिए दी जानेवाली विभिन्न प्रकार की आर्थिक सहायता का भी सविस्तार विवरण दिया गया है।

पृष्ठ : २२४ (डाक खर्च अलग) मूल्य २·२५ रुपये

प्राप्ति-स्थल

प्रचार निर्देशालय

खादी और ग्रामोद्योग कमीशन

'ग्रामोदय', इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम)

बम्बई–५६

खादी ग्रामोद्योग

फरवरी १९६३

नवम वर्ष पंचम अंक

सम्पादक : सुभाष चन्द्र सरकार। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के लिए सुभाष चन्द्र सरकार द्वारा मुद्रित और प्रकाशित।

ग्रामीण विकास तथा समाजार्थिक व्यवस्था पर लिखे लेखों को कमीशन की पत्रिकाओं में सहर्ष स्थान दिया जायेगा, बशर्ते वे ग्रामीण विकास के ध्येय से लिखे गये हों। फिर भी, प्रत्येक लेख के छापने का आश्वासन नहीं दिया जा सकता। लेखकों को किसी अंश में पुरस्कृत करने का भी प्रबन्ध किया जा सकता है। लेख, पुस्तकों की समीक्षा आदि सम्पादक, 'खादी ग्रामोद्योग', खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय,' इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई—५६ के पते पर भेजें। टेलिफोन नं. ८६७७३।

इस पत्र में प्रकाशित लेखों में प्रकट किये गये विचार खादी और ग्रामोद्योग कमीशन अथवा सम्पादक के न होकर लेखक के हैं। सम्पादक अथवा कमीशन के विचार जहाँ-कहीं भी हैं, उनका उल्लेख कर दिया गया है।

वार्षिक शुल्क : २.५० रुपये; एक प्रति : २९ नये पैसे। चन्दे की रकम इस पते पर भेजी जानी चाहिए : सहायक एकाउण्ट्स ऑफिसर (कैश), खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय', इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई—५६।

इस अंक के लेखक

सुभाष चन्द्र सरकार —खादी और ग्रामोद्योग कमीशन द्वारा प्रकाशित खादी ग्रामोद्योग तथा जागृति के सम्पादक।

चित्तप्रिय मुखर्जी —कलकत्ता में विश्वभारती के प्रकाशन विभाग में उप सचिव।

वैद्यनाथन सुब्रह्मण्यन —खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के प्रमुख प्रशासनाधिकारी।

जगजीवन राम —केन्द्रीय यातायात और संचार मंत्री।

भवानन्द डेका —गौहाटी (असम) विश्वविद्यालय के प्राग्ज्योतिष कालेज में अर्थशास्त्र विभाग के अध्यक्ष।

राजकुमारी अमृत कौर —भूतपूर्व केन्द्रीय स्वास्थ्य मन्त्रिणी; गांधी स्मारक निधि की ट्रस्टी।

वासुदेव द. पण्ड्या —खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के सहायक प्रचार निदेशक।

जागेश्वर गोपाल श्रीखण्डे —खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की मगनवाड़ी (वर्धा) स्थित जमनालाल बजाज केन्द्रीय ग्रामोद्योग अनुसंधानशाला के निर्देशक।

भास्कर यशवंत राव —खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की मगनवाड़ी (वर्धा) स्थित जमनालाल बजाज केन्द्रीय ग्रामोद्योग अनुसंधानशाला में केमिकल टेक्नालॉजी एसिस्टेण्ट।

अरुण मुरलीधर क्षीरसागर —खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की मगनवाड़ी (वर्धा) स्थित जमनालाल बजाज केन्द्रीय ग्रामोद्योग अनुसंधानशाला में टेक्निकल एसिस्टेण्ट।

भारतानन्द (मॉरिश फ्रिडमन) —खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अवैतनिक शक्ति सलाहकार।

बेलमन्नु त्रिविक्रम आचार्य —खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अर्थ अनुसंधान अनुभाग में उप-निर्देशक।

भारत में ग्रामीण विकास का ऐतिहासिक स्वरूप

सुभाष चन्द्र सरकार

समता के साथ औद्योगीकरण का ताल-मेल बैठाना भारतीय आयोजन के समक्ष एक चुनौती है। अन्य देशों में औद्योगीकरण की प्रवृत्ति देश के अन्दर ही अन्तर्क्षेत्रीय विभेद बढ़ाने की ओर रही है—ग्रामीण-शहरी सम्बन्धों में यह भेद विशेष रूप से सामने आया है। भारत में ग्रामीण विकास कार्यक्रम हाथ में लेते वक्त गांवों का बहुत छोटा होना एक समस्या रही है, जिसके कारण उन्हें बाध्य होकर गुजर-बसर करने जैसी स्थिति में रहना पड़ता है। आयोजन में ऐतिहासिक स्वरूप पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए।

किसी देश में प्रगति और विकास का मूल्यांकन भिन्न-भिन्न दृष्टियों से किया जा सकता है। सामाजिक विकास के संकीर्ण क्षेत्र में, पिछले चन्द एक सौ वर्षों की अवधि में ऐसी प्रक्रिया रही है जिसमें आन्दोलन का सम्बन्ध गाँवों से दूर रहा है और नये तथा बड़े-बड़े शहरी केन्द्र[1] सामने आये हैं। यह बात केवल यूरोप अथवा अमेरिका के देशों के सम्बन्ध में ही नहीं वरन् एशिया और अन्य महाद्वीपों के राष्ट्रों के बारे में भी सच है। गत पाँच-छः सौ वर्ष के दरमियान पहले पश्चिम यूरोप में और उसके बाद उत्तरी अमेरिका में इस प्रक्रिया ने जोर पकड़ा।[2] यही बात आज एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका के देशों में हो रही है। महान व्यक्तियों द्वारा ग्राम्य जीवन को आदर्श ठहराने के बावजूद शहरीकरण का विकास हुआ है और हो रहा है, अपने को एक धर्म निरपेक्ष प्रवृत्ति सिद्ध कर रहा है।

१. जी. डी. एच. कोल : **इण्ट्रोडक्शन टू इकनॉमिक हिस्ट्री** १७५०-१९५०, लन्दन; १९५४; पृष्ठ: ३। नेल्स एण्डरसन : **दि अरबन कम्युनिटी : ए वर्ल्ड पर्सपेक्टिव**, लन्दन; १९६०; पृष्ठ: ४–९। राय टर्नर (सम्पादक) : **इण्डियाज अरबन फ्यूचर**, बम्बई, १९६२ भी देखें।

२. प्रक्रिया के इस प्रकार तीव्र होने का एक फल यह निकला कि उद्योग-प्रधान और गैर-औद्योगिक देशों की प्रति व्यक्ति आय में काफी अन्तर आ गया। उच्च और न्यून आयवाले देशों की आमदनी में कितना अन्तर है, इसका पता इसी तथ्य से चल जायगा कि उच्चतम आय वर्ग में आनेवाले देशों की आय संसार की कुल आय का २८ प्रति शत है, जबकि उन देशों की आबादी विश्व की कुल जनसंख्या का केवल ७.७ प्रति शत ही है। इसके विपरीत निम्न आय वर्गवाले देशों का दुनिया की १६ प्रति शत आमदनी पर ही अधिकार है, जबकि उनकी जनसंख्या दुनिया की आबादी का ४९.७ प्रति शत भाग है। इस सम्बन्ध में निम्न तालिका दिलचस्प रहेगी :

विश्व की जनसंख्या और आय का सापेक्षिक हिस्सा

देश	विश्व की आबादी का प्रातिशत्य	विश्व की आय का प्रातिशत्य (समंजित)
न्यूनतम आय वर्गवाले	४९.७	१६
न्यूनतम आय से कुछ अधिक आय वर्गवाले	१७.२	१२
मध्यम आय वर्गवाले	१८.०	२६
मध्यम से कुछ अधिक आय वर्गवाले	७.९	१७
उच्चतम आय वर्गवाले	७.७	२८

स्रोत : एवरेट ई. हैगेन : 'सम फैक्टस अबाउट इनकम लेवल्स एण्ड इकनॉमिक ग्रोथ,' **रिव्यू ऑफ इकनॉमिक्स एण्ड स्टेटिस्टिक्स**, फ़रवरी १९६०; पृष्ठ : ६४—यूगेन स्टॅाली द्वारा **दि फ्यूचर ऑफ अण्डर-डेवलप्ड कण्ट्रीज**, न्यूयार्क, १९६१ (संशोधित संस्करण) के पृष्ठ ४०१ पर उद्धृत।

औद्योगीकरण ने शहरीकरण के विकास को बहुत प्रभावित किया है। इन दोनों प्रक्रियाओं ने एक-दूसरी को सहारा दिया है तथा शक्तिशाली बनाया है। औद्योगीकरण और शहरीकरण की इस दोहरी प्रक्रिया का एक पहलू-एक देश के भीतर विभिन्न क्षेत्रों के बीच–शहरों और गाँवों के मध्य–आय तथा अवसरों की बढ़ती हुई असमानता[3] रहा है। प्रोफेसर स्कूल्ज (Schultz) लिखते हैं, "इसमें कोई सन्देह नहीं कि पाश्चात्य संसार में, जिसमें हमारा देश (संयुक्त राज्य अमेरिका) भी शामिल है, हुए औद्योगिक विकास से आय में असमानता आयी है। विकसित और अल्प-विकसित देशों में तो प्रति व्यक्ति आमदनी में असमानता और भी ज्यादा हो गयी है; *और संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे देशों में आय कर के प्रभाव के बावजूद आर्थिक विकास के केन्द्रों में अथवा उनके आस-पास बसे हुए समुदायों में प्रति व्यक्ति उत्पादकता और आय की शब्दावली में उन समुदायों की अपेक्षा यह असमानता और ज्यादा आयी है जो अपेक्षाकृत ऐसे केन्द्रों से कुछ दूर बसे हुए हैं।*[4]

निम्न तालिका में संयुक्त राज्य अमेरिका की ग्रामीण-शहरी आमदनी का सम्बन्ध दिखाया गया है[5] :

ध्यान देने की बात यह है कि अमेरिका में खेतों का औसत आकार अन्य देशों से बड़ा है, इसलिए वहां खेतों से ज्यादा आमदनी होने की गुंजाइश है। ऐसा होते हुए भी आधे खेतिहर परिवारों की आय २,००० डालर से कम है। इसके विपरीत गैर-खेतिहर परिवारों में यह अनुपात करीब एक-पंचमांश ही है।

संयुक्त राज्य अमेरिका में खेतिहर और गैर–खेतिहर परिवारों का आय स्तर : १९४८*

(संख्या हजार में)

निवास	योग	१,००० डालर से कम	१,००० से २,००० डालर तक	२,००० से ३,००० डालर तक	३,००० डालर और उससे ऊपर
सभी परिवार	३८,५३०	४,०२०	५,५८०	७,९५०	२०,९८०
गैर-खेतिहर परिवार	३१,८१०	२,३४०	३,९८०	६,५३०	१८,९२०
खेतिहर परिवार	६,७२०	१,६८०	१,६००	१,३४०	२,०००

* स्रोत : इकनॉमिक रिपोर्ट, **लो इनकम फैमिलीज एण्ड इकनॉमिक स्टेबिलिटी** पर ज्वाइन्ट कमेटी। डी. सी. वाशिंगटन: यूनाइटेड स्टेट्स गवर्मेण्ट प्रिंटिंग ऑफिस; १९४९); ८१वीं कांग्रेस; प्रथम अधिवेशन; पृष्ठ : १०३।

औद्योगीकरण और असमानता

प्रोफेसर बेनजामिन हिगिन्स ने लिखा है, "कनाडा और संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे विकसित देशों में भी ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ की तकनीक सर्वाधिक विकसित क्षेत्रों से पिछड़ी हुई है, और जहाँ आर्थिक तथा सामाजिक कल्याण का स्तर सापेक्षिक दृष्टि से नीचा है। इस बात के उल्लेखनीय उदाहरण हैं क्यूबेक प्रान्त के देहाती विभाग, दक्षिणी पहाड़ियां और उत्तरी न्यू इंग्लैण्ड पहाड़ियों में ग्रामीण क्षेत्र और टेक्सास, एरीजोना तथा न्यू मेक्सिको में मेक्सिकन समुदाय। अधिकांश अर्थ-व्यवस्थाओं को जिला-क्षेत्रों में विभक्त किया जा सकता है, जहाँ प्राविधिक

३. बरनार्ड ओकुन और रिचर्ड डब्ल्यू. रिचर्डसन (सम्पादक) : **स्टडीज इन इकनॉमिक डेवलपमेण्ट**, न्यूयार्क, १९६१ में साइमन कुजनेत्स का लेख 'इकनॉमिक ग्रोथ एण्ड इनइक्वलिटी' (१९९४ में अमेरिकन इकनॉमिक एसोसिएशन के समक्ष दिया गया अध्यक्षीय भाषण); पृष्ठ : १९९-२१९।

४. थिओडोर डब्ल्यू. स्कूल्ज : **इकनॉमिक आर्गनाइजेशन ऑफ एग्रीकल्चर**, न्यूयार्क, १९५३; पृष्ठ : १६२। इटालिक्स हमारी ओर से।

५. विलियम गी : **दि सोशल इकनॉमिक्स ऑफ एग्रीकल्चर** न्यूयार्क, १९५४; पृष्ठ : ४०९।

विकास की विभिन्न अवस्थाएँ पायी जाती हैं।"[६] इंग्लैण्ड में कर सम्बन्धी उपायों का विस्तृत विश्लेषण करने के बाद प्रोफेसर रिचर्ड एम. टिटमस को "एक गंभीर से कहीं अधिक ठोस रूप में" पता लगा कि १९४९ से आय की असमानता बढ़ती रही है, जबकि सम्पत्ति पर स्वामित्व, जोकि संयुक्त राज्य अमेरिका से कहीं अधिक इंग्लैण्ड में बहुत अधिक संकेन्द्रित था, "सम्भवत कहीं अधिक असमान हुआ है तथा परिवार स्वामित्व की शब्दावली में शायद पिछले वर्षों में यह असमानता और भी अधिक रही है।"[७] अधिकांश स्थानों में शहरों का विकास केवल आबादी और क्षेत्र की दृष्टि से ही गाँवों की कीमत पर नहीं होता बल्कि इस माने में भी कि शहरवासियों की सुविधा के लिए ग्रामीणों का प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से शोषण होता है। पश्चिम यूरोप में औद्योगीकरण का इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है जबकि किसानों ने पूंजीपतियों के शोषण के विरोध में बगावतें की हैं। समाजवाद की आयोजित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत भी औद्योगीकरण को गति प्रदान करने के लिए अधिकारियों ने उसी शोषण का आश्रय लिया है। रूस के विकास के प्रारम्भिक वर्षों का "सिसर्स क्राइसस"[८] भी और कुछ न होकर इसी प्रक्रिया की कार्यवाही का एक हाल का प्रदर्शन था। श्री स्वार्ट्ज लिखते हैं, "ऐतिहासिक दृष्टि से कृषि उत्पादन बहुत ही कम कीमत पर लेने और फिर उसे बहुत ही ऊँची कीमत पर वापिस बेचने की सरकार (सोवियत सरकार) की योग्यता अर्थात् क्षमता रूस के औद्योगीकरण के लिए आवश्यक विशाल पूँजी का एक महत्वपूर्ण घरेलू स्रोत रहा है।"[९]

ग्राम और शहरी असमानता

ग्रामीण और शहरी जीवन के बीच की यह असमानता स्वाभाविक रूप से ही समाज-विचारकों के लिए चिन्ता का विषय रहा है। रूस में साम्यवाद की स्थापना करने विषयक सोवियत सरकार का उद्घोषित एक लक्ष्य है शहरों तथा ग्रामों के बीच विरोधी बातों और भिन्नताओं को समाप्त करना[१०]। स्टालिन ने अपनी मृत्यु से कुछ समय पूर्व प्रकाशित **इकनॉमिक प्रॉब्लम्स ऑफ् सोशलिज्म इन दि यू.एस एस.आर.** (रूस में समाजवाद की आर्थिक समस्याएँ) नामक अपने महान आर्थिक ग्रन्थ में इस समस्या पर विस्तार से विचार किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि शहर और गाँवों के बीच बढ़ती हुई असमानता केवल भारतीयों के लिए ही चिन्ता का विषय नहीं है।

---

६. बेनजामिन हिगिन्स: **इकनॉमिक डेवलपमेण्ट: प्रिंसीपल्स प्रॉब्लम्स एण्ड पॉलिसीज,** इलाहाबाद १९६१; पृष्ठ: २८५।

७. रिचर्ड एम. टिटमस: **इनकम डिस्ट्रीब्यूशन एण्ड सोशल चेंज** (एक समीक्षात्मक अध्ययन), लन्दन, १९६२; पृष्ठ: १९८।

८. देखिए मॉरिस डॉब: **सोवियत इकनॉमिक डेवलपमेण्ट सिन्स १९१७,** लन्दन, १९५७; अध्याय सात; हैरी स्वार्ट्ज: **रसिया'ज सोवियत इकनॉमी,** न्यूयार्क, १९५४ (द्वितीय संस्करण); पृष्ठ: ११०-१११। "प्रथम महायुद्ध से पहले उद्योगों की तुलना में किसानों की जो स्थिति थी १९२० और १९३० के बीच के दशक के उत्तरार्द्ध में उनकी स्थिति कम अनुकूल थी।" (पृष्ठ: १११)

९. स्वार्ट्ज: उक्त उद्धृत; पृष्ठ: ३०५। श्री जैकब मिलर लिखते हैं, "प्रारम्भिक सोवियत समाजवाद के अन्त तक खेती-बाड़ी के क्षेत्र से शहरों की ओर प्रवाहित स्रोत शहरों की ओर से गांवों की ओर कृषि यंत्र, उर्वरक तथा अन्य उपभोक्ता सामानों के रूप में बहनेवाले स्रोते से कहीं बहुत बड़ा था।"—जैकब मिलर: **सोवियत रसिया: एन इण्ट्रोडक्शन,** लन्दन, १९५५; पृष्ठ: ११।

१०. मास्को में हुई रूस के साम्यवादी दल की २२वीं काँग्रेस द्वारा स्वीकृत **प्रोग्रैम ऑफ् दि कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ् दि सोवियत यूनियन।** देखिए **दि रोड टू कम्युनिज्म** (रूस की साम्यवादी पार्टी की २२वीं कांग्रेस के दस्तावेज)। **प्रोग्रैम** में पृष्ठ ५३२ पर कहा गया है, "शहर और देहात के बीच समाजार्थिक तथा सांस्कृतिक विभेद एवम् उनके रहन-सहन की अवस्थाओं के भेद को मिटाना साम्यवादी निर्माण का एक महानतम लाभ होगा।"

भारत में सार्वजनिक रूप से इस समस्या को बड़े शक्तिशाली रूप में सामने लाने का श्रेय महात्मा गाँधी और गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर को है। यह उन्हीं की दूरदर्शिता की बदौलत है कि उन्होंने उस वक्त इस समस्या के प्रति हमें चेतावनी दी जबकि यह अपने वर्तमान भीषण स्वरूप से बहुत हल्की थी। गाँधीजी ने कहा, "हमें भारत के शहरों में जो धन दिखायी देता है, उससे धोखा न खायें। यह धन इंग्लैण्ड अथवा अमेरिका से नहीं आता है। यह गरीबों के खून से निकलता है। भारत में सात लाख गाँव बताये जाते हैं। उनमें से कुछ तो बिल्कुल खत्म कर दिये गये हैं। किसी के पास भी उन हजारों लोगों का कोई रिकार्ड नहीं है जो बंगाल, कर्नाटक तथा अन्य स्थानों पर भुखमरी और बीमारियों के कारण मर गये हैं। सरकारी रजिस्टरों से इस बात की कोई जानकारी नहीं मिल सकती कि ग्रामीण किन हालतों से होकर गुजर रहे हैं। लेकिन एक ग्रामीण होने के नाते मैं जानता हूँ कि गाँवों में क्या हाल-चाल हैं। मैं ग्रामीण अर्थशास्त्र जानता हूँ। मैं आपसे कहता हूँ कि ऊपरवाले लोगों के दबाव से नीचेवाले कुचले जाते हैं।"[११]

टैगोर और गाँधीजी

श्रीनिकेतन के उद्देश्यों पर प्रकाश डालते हुए टैगोर ने लिखा, "आज विभिन्न कारणों से गाँवों की बुरी तरह अवहेलना की जाती है। वे बड़ी तेजी से दासता की ओर अधःपतित हो रहे हैं, अक्सर शहरों में अस्वास्थ्य-कारी और दरिद्रता के वातावरण में अत्यन्त हेय काम के लिए बुद्धि-विहीन तथा बौद्धिक-विहीन श्रम करने के लिए बाध्य किया जाता है।"[१२] गाँधीजी ने इस समस्या को प्रायः इतनी प्राथमिकता दी थी जितनी कि विदेशी शासन से मुक्त होकर स्वतंत्रता प्राप्त करने को। गाँवों को उनकी बुरी अवस्था से निकालकर उनका उद्धार करने के लिए उन्होंने राष्ट्र के समक्ष एक ठोस कार्यक्रम भी रखा था। विज्ञान और प्रविधि के क्षेत्र में तब से हुए विकास ने समस्या को सुलझाने के लिए नये मार्गों की सम्भाव्यता सामने ला दी है। गाँवों की इस समस्या को सुलझाने की चुनौती का सामना करना हमारा अपने पूर्वजों के प्रति कर्तव्य है।[१३]

भारत का रिकार्ड

जहाँ तक देहाती क्षेत्रों में प्रभाव का सवाल है, ऐसा लगता है कि आर्थिक विकास के मार्ग में भारत भी इससे पूर्व जिन देशों में यह विकास हुआ और उनके जो अनुभव हैं, काफी हद तक उन्हीं की पुनरावृत्ति कर रहा है, बावजूद इसके कि विकास के ऐतिहासिक सन्दर्भ में महत्वपूर्ण भेद है।[१४]

भूतकाल से लेकर अब तक के समय में **प्रति व्यक्ति** खेती की गयी भूमि, **प्रति व्यक्ति** कृषि-उत्पादन में काफी कमी हुई है तथा समस्त कार्यकारी जन-शक्ति में खेती-बारी के काम में लगी जनसंख्या का अनुपात धीरे-धीरे बढ़ा है (१८८१ के ६१ प्रति शत से बढ़कर वह १९११ में

---

११. **अमृत बाजार पत्रिका**, कलकत्ता, ३० जून १९४४; निर्मल कुमार बोस द्वारा उद्धृत : **सलेक्शन्स फ्रॉम गाँधी**, अहमदाबाद, १९५७; पैरा : २०४।

१२. उक्त अंश १९६२ में भारत सरकार के सामुदायिक विकास और सहकार मन्त्रालय द्वारा प्रसारित अंग्रेजी अनुवाद **रवीन्द्रनाथ टैगोर ऑन रूरल रीकन्स्ट्रक्शन** के पृष्ठ ९२ से लिया गया है।

१३. विकास की अवधियों में असमानता के दबाव को कम करने की आवश्यकता के प्रति अर्थशास्त्रियों में अधिकाधिक जागरुकता पायी जाती है। देखिए ए. के. केर्नक्रास : **फैक्टर्स इन इकनॉमिक डेवलपमेण्ट**, लन्दन, १९६२; अध्याय-१।

१४. इस संदर्भ विशेष के लिए ए. एन. अग्रवाल और एस. पी. सिंह द्वारा सम्पादित **इकनॉमिक्स ऑफ अण्डर डेवलपमेण्ट**, बम्बई, १९५८, पृष्ठ १३५-१५३ पर साइमन कुजनेत्स का लेख देखिए : 'अण्डर डेवलप्ड कण्ट्रीज एण्ड दि प्रि-इण्डस्ट्रियल फेज इन दि एडवान्स्ड कण्ट्रीज : एन एटेम्प्ट एट कम्पेरीजन' (वर्ल्ड पापुलेशन कॉन्फ्रेन्स, १९५४ में पढ़ा गया लेख)।

७१ प्रति शत और १९५१ में ७० प्रति शत हुआ); इसके साथ ही **प्रति व्यक्ति** गैर-खेतिहर भौतिक उत्पादन में काफी कमी आयी है। पिछले दशक में प्रति कामगार उत्पादन गैर-खेतिहर धंधों की अपेक्षा कृषि के क्षेत्र में कम गति से बढ़ता हुआ लगता है।[१५] ग्रामीण क्षेत्रों में गैर-ग्रामीण क्षेत्रों की अपेक्षा अथवा समग्र राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में उक्त क्षेत्रों में पूंजी निर्माण अपेक्षाकृत कम हुआ है।

प्रति व्यक्ति कम ग्रामीण आय

इन सबका संचयी प्रभाव यह हुआ है कि गाँवों में **प्रति-व्यक्ति** आय शहरी क्षेत्रों की अपेक्षा कम हो गयी है। भारत में १९५१ में शहरी आबादी कुल की १७ प्रति शत थी और वहाँ **प्रति व्यक्ति** आमदनी औसत राष्ट्रीय **प्रति व्यक्ति** आय की दुगुनी से भी ज्यादा थी, जबकि गाँवों में ८३ प्रति शत आबादी थी और उनकी **प्रति व्यक्ति** आय राष्ट्रीय **प्रति व्यक्ति** आमदनी की ७७ प्रति शत ही थी। सामने की तालिका[१६] में तत्सम्बन्धी आंकड़े दिये जाते हैं। अगस्त-नवम्बर १९५१ के लिए के राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के अनुसार शहरों में **प्रति व्यक्ति** मासिक उपभोक्ता खर्च गाँवों से ४५ प्रति शत अधिक था। इससे बुरी बात और क्या होगी कि ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में आय के स्तरों तथा अवसरों के मामले में अंतर बढ़ता जा रहा है। श्री तरलोक सिंह कहते हैं, "सामान्य प्रभाव यही है कि कुछ तो आयोजित विकास के फलस्वरूप ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में आय के स्तरों तथा अवसर के बीच की खाई बढ़ती जाने के कारण, और कुछ द्रुत गति से हो रहे औद्योगिक तथा आर्थिक विकास की माँग की पूर्ति करने के लिए, खेति-प्रधान अर्थ-व्यवस्था को पर्याप्त रूप से शक्तिशाली नहीं बनाये जाने के कारण ग्रामीण क्षेत्रों में आर्थिक प्रगति पर्याप्त रूप से नहीं हो पायी है।"[१७]

भारत में शहरी और ग्रामीण वर्गों का १९५०-५१ में सापेक्षिक आकार तथा प्रति व्यक्ति आय-स्तर

	अखिल भारतीय आबादी का प्रातिशत्य	अखिल भारतीय प्रति व्यक्ति आय के प्रातिशत्य स्वरूप वर्ग की प्रति व्यक्ति आय
शहरी	१७	२०९
ग्रामीण	८३	७७
गैर-खेतिहर ग्रामीण	१६	९३
खेतिहर ग्रामीण	६७	७४
कृषक	४४	९३
श्रमिक	२३	३८
गैर-खेतिहर के साथ मिली हुई शहरी आबादी	३३	१५३

स्रोत : १९५१ की जन-गणना, नेशनल इनकम कमेटी; और आल इण्डिया एग्रीकल्चरल लेबर इन्क्वायरी के प्रतिवेदनों पर आधारित। ग्रामीण गैर-खेतिहर आबादी की **प्रति व्यक्ति** आमदनी राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण की **पूना** सिड्यूल के सम्बन्ध में पूना स्थित गोखले **इन्स्टीट्यूट** ऑफ पॉलिटिक्स एण्ड इकनॉमिक्स द्वारा संकलित जानकारी के आधार पर एक कृषक की आय के बराबर रखी गयी है।

१५. तरलोक सिंह : 'एग्रीकल्चरल पॉलिशी एण्ड रूरल इकनॉमिक प्राग्रेस' (अखिल भारत कृषि अर्थशास्त्री सम्मेलन में दिया गया अध्यक्षीय भाषण), अहमदाबाद, दिसम्बर; १९६२, पृष्ठ : ५।

१६. अन्सली जे. कोल और एडगर एम. हूवर : **पापूलेशन ग्रॉथ एण्ड इकनॉमिक डेवलपमेण्ट इन लो-इनकम कण्ट्रीज** (भारत के स्वरूप का एक यथातथ्य अध्ययन), बम्बई, १९५९; पृष्ठ : १३९ (तालिका २१)।

१७. तरलोक सिंह : उक्त उद्धृत; पृष्ठ : ९; एस. आर. मोहोनोत : **कान्सन्ट्रेशन ऑफ् इकनॉमिक पावर इन इण्डिया** (भारत में आर्थिक शक्ति के संकेन्द्रण और विस्फुरण का सांख्यिक अध्ययन), इलाहाबाद, १९६२; अध्याय ८ (पृष्ठ : १९६-१७२) और पृष्ठ : २५७; एम. आर. सिन्हा द्वारा सम्पादित **ए डिकेड ऑफ् इकनॉमिक डेवलपमेण्ट एण्ड प्लानिंग इन इण्डिया**, बम्बई, १९६२; पृष्ठ : २३ पर ज्ञान चन्द का लेख 'सोशल प्रिमाइसेस ऑफ् प्लानिंग इन इण्डिया' भी देखें।

इससे भी अधिक चिन्ता का विषय तो यह है कि देहाती क्षेत्रों की न्यून आमदनी में भी उन क्षेत्रों के विभिन्न लोक-समूहों की आय में विस्तृत विभेद पाया जाता है। देहाती क्षेत्रों में १९५२ में ६२ से भी अधिक परिवारों का मासिक खर्च १०० रुपये से कम था; २९ प्रति शत तो ५० रुपये से भी ज्यादा खर्च नहीं कर सकते थे। शहरी क्षेत्रों में यह अनुपात क्रमशः ५४ और २१ प्रति शत था। गाँवों में परिवारों का औसतन आकार पाँच है। इस प्रकार हम यों भी कह सकते हैं कि गाँवों में ६२ प्रति शत से भी ज्यादा परिवारों में प्रति व्यक्ति मासिक खर्च २० रुपये के लगभग था। चूंकि कम आमदनीवाले परिवारों में औसत मासिक खर्च करीब-करीब औसत मासिक आय के समान ही होता है, इसलिए यह व्यय-विवरण दिलचस्प होने के साथ ही साथ परोक्ष रूप से ग्रामीण समुदाय की आय असमानता का द्योतक भी है। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण द्वारा एकत्रित जानकारी पर आधारित नीचे दी गयी तालिका[१८] न केवल विभिन्न ग्रामीण जन-समुदाय के बीच आय वितरण का ब्योरा ही प्रस्तुत नहीं करती बल्कि शहरी लोक समुदाय में आय वितरण का तुलनात्मक विवरण भी प्रस्तुत करती है।

भारत के शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों में मासिक पारिवारिक उपभोक्ता खर्च के स्तरों द्वारा परिवारों, आबादी और उपभोक्ता खर्च का प्रतिशतत्व वितरण : अप्रैल–सितम्बर १९५२

पारिवारिक मासिक खर्च (रुपये में)	प्रतिशतत्व वितरण — ग्रामीण			शहरी		
	परिवार	आबादी	कुल खर्च का हिस्सा	परिवार	आबादी	कुल खर्च का हिस्सा
(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)
१. १-५०	२९.१५	१८.५१	८.९३	२१.२१	१०.८६	५.२२
२. ५१-१००	३३.८३	३१.२१	२३.१६	३२.५७	२७.८५	१७.१५
३. १०१-१५०	१७.७०	१९.९९	२०.२६	१८.४६	१९.९०	१६.२९
४. १५१-३००	१४.७९	२१.२६	२७.९१	१८.८०	२५.४७	२७.६०
५. ३०१-५००	३.३८	६.२१	११.६७	५.८२	९.५८	१९.५८
६. ५०० से ऊपर	१.१५	२.८२	८.०७	३.१४	६.३४	१४.१६
७. सभी स्तर	१००.००	१००.००	१००.००	१००.००	१००.००	१००.००

समस्या

पिछले एक सौ वर्षों में ग्रामीण समाज न केवल गतिशीलता हासिल करने में असफल रहा है, बल्कि उसकी अवस्था में काफी ह्रास भी हुआ है। औद्योगीकरण और आयोजन स्थिति में अब तक कोई उल्लेखनीय यानी महत्त्वपूर्ण सुधार करने में सफल नहीं हुए हैं। क्या इस सन्दर्भ में ग्रामीण स्थिति को और बदतर बनाये बिना आर्थिक उन्नति करना सम्भव है? इस सवाल का कोई सीधा और स्पष्ट जवाब नहीं है। उद्योग-प्रधान देशों का अनुभव "उनके आकार, पूर्व इतिहास, और खास करके उनके क्रम में, अग्रणी देशों तथा उनके गुरुतर बादवाले उत्तराधिकारियों से पीछे रहने का उनका समय काफी

१८. मंत्री परिषद सचिवालय : भारत सरकार : राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण का चौथा दौर – अप्रैल–सितम्बर १९५२ नम्बर १८; उपभोक्ता खर्च पर टिप्पणियों सहित तालिकाएँ; पृष्ठ : १४ (तालिका १.२)

विभिन्न है ।"[१९] फिर भी, इन में एक आम बात मिलती हुई है, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, औद्योगीकरण से यद्यपि अनेक लोगों के जीवन में सुधार भी हुए हैं, लेकिन उससे ग्रामीण क्षेत्रों में अधिक असमानता फैली है। और उनका अधिक शोषण हुआ है। एक कृषि-प्रधान अर्थ-व्यवस्था में औद्योगीकरण के लिए अतिरिक्त सामग्री कृषि से ही आयी है। पश्चिम[२०] के देशों, जापान[२१] और रूस[२२] में औद्योगीकरण सामान्य रूप से नहीं लाया जा सका लेकिन उसके लिए आवश्यक मानवीय तथा साधनों सम्बन्धी स्रोतों के लिए ग्रामीण क्षेत्र पर दबाव डाला गया—उसका शोषण किया गया।[२३] विकास के लिए विदेशी सहायता की प्राप्ति की सम्भावना से कृषि पर दबाव कम हो जाता, लेकिन कुल जरूरतों की तुलना में प्राप्त सहायता बहुत कम है।[२४] सहायता का प्रकार और ढंग भी इस सम्बन्ध में खास तौर से सहायक नहीं होते। इन परिस्थितियों के अन्तर्गत प्रमुख रूप से अभिक्रम स्वयम् राष्ट्र के अन्दर से आना चाहिए।

स्पष्टतः कोई आसान हल नहीं है—न तो गरीबी की समस्या का तथा न असमानता का ही, जोकि बहुत कुछ रूप में और कुछ न होकर गरीबी की अपेक्षाकृत बड़ी समस्या का ही प्रक्षेप है। खास तौर से भारत के सम्बन्ध में यह कि गाँवों में आर्थिक गतिशीलता निर्मित करने और उन्हें विकास की प्रक्रिया में सक्रिय रूप से भाग लेने के लिए तैयार करने की समस्या है। किसी समाधान का प्रयास करते वक्त स्वयम् समस्या पर ध्यान देना तथा उसके वास्तविक स्वरूप को समझना आवश्यक है। समस्या किस ढंग की है? क्या शहरीकरण की ओर अपसरण पलटने योग्य है? यदि नहीं, तो निति-निर्धारकों के समक्ष अन्य कौन-से विकल्प हैं? इस सवाल के सही मूल्यांकन पर वे उपाय आधारित हैं, जो स्थिति में सुधार करने के लिए काम में लाये जा सकेंगे। यदि शहरीकरण अवांछनीय है और इस प्रक्रिया को रोका जा सकता है, तब तो शहरीकरण की ओर भागने की प्रवृत्ति को रोकने के कोई माने हैं। इसके विपरीत शहरीकरण सामाजिक संगठन के विकास में दूसरा ऐतिहासिक सोपान प्रतीत हो, तो आवश्यक रूप से ही भिन्न दिशा में कदम उठाये जाने चाहिए।

जब लोगों ने खेती करना शुरू किया, तो फिर थोड़ी-थोड़ी दूर पर वे समूह बनाकर रहने लगे। इस प्रकार गाँवों का जन्म हुआ।[२५] उन दिनों मनुष्य के पास जो

१९. साइमन कुजनेत्स : 'अण्डर डेवलप्ड कण्ट्रीज एण्ड दि प्रि-इण्डस्ट्रियल फेज इन दि **एडवान्स्ड कण्ट्रीज : एन एटेम्प्ट एट कम्पैरीजन'** (१९५४ में हुई वर्ल्ड पापूलेशन कॉन्फरेन्स में प्रस्तुत लेख); ए. एन. अगरवाल और एस. पी. सिंह द्वारा सम्पादित **दि इकनॉमिक्स ऑफ् अण्डर डेवलपमेण्ट**, बम्बई, १९५८; पृष्ठ : १५२ पर प्रकाशित।

२०. जी. डी. एन. कोल : उक्त उद्धृत; पृष्ठ : ५०-५१,५९।

२१. विलियम डब्ल्यू. लोकवुड : **दि इकनॉमिक डेवलपमेण्ट ऑफ जापान** (विकास और स्वरूप परिवर्तन-१८६८-१९३८), प्रिन्सटन, १९५४; पृष्ठ : ९९। जापान में किसानों के उन्मूलन का जिक्र करते हुए प्रोफेसर लोकवुड का कहना है कि 'इस प्रकार जापान ने कई यूरोपीय देशों का अनुभव दोहराया, लेकिन कम औचित्य के साथ।"

२२. स्वार्ट्ज: उक्त उद्धृत; पृष्ठ : ३०५; जैकब मिलर; उक्त उद्धृत; पृष्ठ : ४१।

२३. मॉरिस डॉब : **स्टडीज इन दि डेवलपमेण्ट ऑफ् कैपीटलिज्म**, लन्दन, १९४८।

२४. यद्यपि हमारी वर्तमान योजनाओं की वित्तीय व्यवस्था के लिए उपलब्ध साधन-स्रोतों में विदेशी सहायता का हिस्सा काफी अधिक है।

२५. "नव पाषाण युग की प्रतिनिधि आर्थिक और सांस्कृतिक इकाई है गांव। आज गांव में तकनीकल और आर्थिक गतिविधियों का जो परस्पर जटिल सम्बन्ध पाया जाता है और जो कि इसे अपने क्षेत्र में व्यावहारिक स्वतन्त्रता सुनिश्चित करता है, उसके विकास में निश्चित ही कितनी सदियां लगी होंगी। फिर भी, ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का क्षेत्र और परिवर्तन की सम्भावना बहुत ही सीमित है। जिन देशों के गांवों में हजारों लोग रहते हैं, जैसे कि आज अफ्रीका के चन्द गांवों में, वहां की अर्थ-व्यवस्था में भी करीब-करीब सभी लोग अधिकांश समय खेती में ही लगे रहते हैं अथवा स्थानीय रूप में बननेवाले तथा स्थानीय खपत की चीजों को बनाने में लगे रहते हैं। नव पाषाण युग में गांवों के स्वावलम्बन के लिए इसके विस्तार की जरूरत है, परन्तु यह इसके और विकास में बाधक है।" जे. डी. बर्नाल, **साइंस इन हिस्ट्री**, लंदन, १९५७, पृष्ठ ६५-६६।

पुराने औजार थे, उनसे लोग बड़े-बड़े खेत नहीं जोत सकते थे, और गाँव के लोग जितनी दूर तक पैदल घूम-घूम कर खेत जोत सकते थे वही उनका क्षेत्र माना जाता था।[26] तक्नालॉजी के विकास और सहकार भावना तथा सामाजिक चेतना की वृद्धि के साथ-साथ बड़े-बड़े गाँवों की नींव पड़ी। तब भी, जब तक यांत्रिक ढंग से खेती नहीं की जाती, गाँव का क्षेत्रफल इतना ही होता है जिसकी परिक्रमा एक खेतिहर दिन में दो बार पैदल घूमकर कर सकता है। यांत्रिक खेती की सम्भावनाओं से इन छोटे-छोटे गाँवों को प्रत्यक्ष खतरा है, जो कि पश्चिमी देशों में तो तेजी से मिटते जा रहे हैं, जहाँ कि यांत्रिक खेती दिन पर दिन अधिकाधिक लोग अपनाते जा रहे हैं[27] और गाँवों का शहरीकरण हो रहा है।

भारतीय गांवों की कमियाँ

सभ्यता के विकास के लिए एक बड़े क्षेत्र और बड़ी आबादी की जरूरत होती है, जो कि आदिकालीन जीवन में प्राप्य नहीं थी। गाँवों में लोगों के बसने के बाद ही सभ्यता की नींव पड़ सकी, जो कि पीछे आबादीवाले शहरों में पनप सकी। जैसा कि प्रोफेसर बर्नाल ने लिखा है—"नदी घाटी कृषि का पूरा उपयोग करने के लिए छोटे-छोटे गांवों के बदले उससे कहीं और बड़े क्षेत्रों में सामाजिक समन्वय सचमुच ही बहुत आवश्यक था—महज गतिविधि का पैमाना बढ़ाने के लिए प्रायः असंदिग्ध सम्भावनाओं का जन्म हो जाता है।"[28] आज आधुनिक जीवन के कई उद्योगों के विकास के लिए बड़े क्षेत्रों तथा बड़ी आबादी की जरूरत होती है जो कि गांवों में विकसित नहीं हो सकती, जहाँ कि अधिकांश भारतीय गांवों में आबादी पांच हजार से अधिक नहीं होती। इसमें विस्मय की कोई बात नहीं है कि भारत के बहुत-से गांवों में हाय स्कूल नहीं है तथा उन्हें और भी कई आधुनिक सुविधाएँ अनुपलब्ध हैं।[29] गांवों का रूप बिखरे हुए छोटे-छोटे समूहों जैसा है जिससे सामाजिक प्रशासन का खर्च घटता-बढ़ता रहता है और वहाँ उत्तम सुविधाएँ प्रदान करने की दिशा में भी प्रगति कम हो पाती है। उदाहरण के लिए शिक्षा को ही लीजिए,

---

२६. उदाहरण के लिए विल्सन गी की पुस्तक **दि सोशल इकनॉमिक्स ऑफ् एग्रीकल्चर**, न्यू यार्क, १९५४, भाग-१ (पृष्ठ ४७-५३) देखिए। एकमात्र अपवाद सम्भवतः अमेरिका है, जहां की प्रथा खेतिहरों का घर खुले गांव में, जहां कि वे खेती करते हैं, बनाना है। उपर्युक्त (पृष्ठ ४७ और ५५)

२७. उदाहरण के लिए जी. डी. एच. कोल की पुस्तक **इण्ट्रोडक्शन टू इकनॉमिक हिस्ट्री, १७५०-१९५०,** लंदन, १९५४, पृष्ठ: १५० देखिए। "कृषि में परिवर्तन किसी भी रूप में उद्योग में हुए परिवर्तन से पीछे नहीं रहा है।"

२८. जे. डी. बर्नाल : **साइंस इन हिस्ट्री**, लन्दन, १९५७- पृष्ठ: ६६।

२९. हाल ही में किये गये एक नमूना सर्वेक्षण से यह ज्ञात हुआ कि सन् १९५७-५८ में सर्वेक्षित ग्रामों के ५० प्रति शत ग्रामों से सब से नजदीक का हाय स्कूल [illegible] मील दूर था, अस्पताल की कम से कम दूरी [illegible] मील थी, निकटतम डाकघर [illegible] मील की दूरी पर था और नजदीक से नजदीक थाना [illegible] मील दूर पड़ता था। सर्वेक्षित ग्रामों के एक-[illegible] से अधिक गांव के लोगों के लिए निकटतम हाय स्कूल, थाने और चिकित्सालय की दूरी दस मील से ज्यादा थी; [illegible] प्रति शत गांवों के लिए निकटतम तार घर, थोक बाजार और पशु चिकित्सालय १० मील से ज्यादा दूर थे। रेडियो और समाचार पत्रों की उपलब्धि प्रति सात गांवों में से एक में थी और पुस्तकालय प्रति ११ गांवों के पीछे एक में था। मन्त्री परिषद् सचिवालय: भारत सरकार: **दि नेशनल सेम्पल सर्वे; बारहवाँ राउण्ड—सितम्बर १९५७–मई १९५८,** नं. [illegible]: **ए स्टडी ऑफ सम सोशल एण्ड एकनॉमिक एस्पेक्ट्स,** नयी दिल्ली १९६२, पृष्ठ [illegible]।

जिसके फलस्वरूप कई क्षेत्रों में प्रगति हो सकती है।[३०] बहुत से गाँवों में तो हाय स्कूल खोलना अनार्थिक सिद्ध होगा, कालेज तथा अन्य शिक्षण संस्थाओं की तो बात ही छोड़ दीजिए। इसका सीधा कारण यह है कि गाँव न तो स्कूल के लायक पर्याप्त संख्या में विद्यार्थी ही दे सकते हैं और न स्कूल का आवश्यक खर्च ही वे उठा सकते हैं। यही कारण है कि गाँवों में ग्रामीण शिक्षा संस्थाएँ और कृषि विश्वविद्यालयों की भी स्थापना करना सम्भव नहीं है। कई मामलों में तो यह देखा गया है कि वे ग्राम्य जीवन के अनुकूल नहीं हैं; बल्कि ऊपर से लादी वस्तु की तरह होते हैं।[३१] यदि वे गाँवों में स्थापित हो जायें और सफल रहें तो वे अनिवार्य रूप से शहरी जीवन की सुविधाएँ उपलब्ध करेंगे।

वर्तमान हताश दलों के गाँवों में होते हुए उनकी अवस्थाओं में सुधार होन की कोई गुंजाइश नहीं है। वर्तमान गाँव सहकार संगठनों को चलाने के लिए अपर्याप्त हैं, इसका स्पष्टीकरण अखिल भारत ग्रामीण साख सर्वेक्षण ने कर दिया है। निर्देश समिति ने कहा है, "सहकारी समितियों को ऋण देने के सम्बन्ध में हमारा सुझाव है कि भविष्य में *उन्हीं संस्थाओं को ऋण देना चाहिए जो कि बड़ी हों तथा अधिक बड़े क्षेत्र में कार्य करती हों। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि अब से प्राथमिक कृषि ऋण समितियों की स्थापना की जानी चाहिए* (और जहाँ कहीं आवश्यक हो, जब और जहाँ उपयुक्त हो, वर्तमान संस्थाओं को पुनर्गठित करना चाहिए) *ताकि स्थानीय अवस्थाओं के अनुसार उसके कार्य क्षेत्र में एक ग्राम समूह आ जाये जिससे सदस्यों की संख्या भी काफी बढ़ जाय तथा पर्याप्त हिस्सा पूंजी भी हो जाय।* बड़ी प्राथमिक ऋणदात्री समितियों का नयी हों अथवा पुनर्गठित, प्रधान कार्यालय ऐसी जगह होना चाहिए जो कि समिति के सभी सदस्यों के लिए सुगम हो; यदि क्षेत्र में कोई बिक्री केन्द्र हो तो फिर प्रधान कार्यालय को उसके निकट ही स्थापित करने की कोशिश करनी चाहिए। नियमतः समिति का कार्य-क्षेत्र ऐसा होना चाहिए कि वह पर्याप्त व्यवसाय कर सके। नियम में अपवाद स्वरूप वे गाँव होंगे जो ऐसे क्षेत्रों में हों, जिनकी बहुत ही छितरी हुई आबादी हो और जो कि व्यावसायिक दृष्टि से वेतन-भोगी मंत्री अथवा समिति के अन्य वेतन-भोगी कर्मचारियों द्वारा चलाये जाने के लिए काफी बड़े होंगे। ऐसे मामलों में इन दोनों अवस्थाओं में कोई न कोई समझौता करना होगा।[३२]

---

३०. "ब्रिटेन के हमारे अनुभव यह जोरदार सुझाव देते हैं कि तीव्र विकास से अच्छी शिक्षा प्रणाली का बहुत ही निकट सम्बन्ध है तथा स्कूलों और विश्वविद्यालयों की लागत से अन्य लाभों के अलावा अच्छी खासी आर्थिक आय भी हो सकती है।" ए. के. केर्नक्रास; **फैक्टर्स इन इक्नॉमिक डेवलपमेण्ट,** लंदन, १९६२ पृष्ठ: ३२। समाजार्थिक स्थिति को मापने में शिक्षा के कार्य के लिए अल्बर्ट जे. रीश तथा अन्य लिखित **आकुपेशन्स एण्ड सोशल स्टेटस,** न्यूयार्क; १९६१; पृष्ठ: ८३-८४ भी देखिए। "अल्प विकसित देशों में आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक प्रगति के लिए सबसे महत्वपूर्ण साधन है जनता की शिक्षा प्रणाली को उन्नत करना"– यूगिन स्टैन्ली: दि फ्यूचर ऑफ् अण्डर डेवलप्ड कण्ट्रीज, न्यूयार्क १९६१ (संशोधित संस्करण) पृष्ठ: २३२ में लिखते हैं।

३१. इस सम्बन्ध में शांतिनिकेतन और श्रीनिकेतन का जिक्र किया जा सकता है। "श्रीनिकेतन अपने कार्य क्षेत्र में आर्थिक उन्नति के लिए कुछ लागू करने में असमर्थ रहा है फिर भी, उसने वहां के लोगों में काफी हद तक सांस्कृतिक चेतना जागृत की है जो कि वहां शिक्षितों की अधिक संख्या से स्पष्ट है। फिर भी, हमें जरूरत से ज्यादा शाबाशी नहीं लेनी चाहिए।" हाशिम अमीर अली : **दि एन्वायरन्स ऑफ् टैगोर,** कलकत्ता, १९६० पृष्ठ : २९।

३२. रिजर्व बैंक ऑफ् इंडिया : **आल इण्डिया रूरल क्रेडिट सर्वे रिपोट आफ् दि कमेटी ऑफ् डायरेक्शन,** खण्ड : २ (दि जनरल रिपोर्ट), बम्बई, १९५४; पृष्ठ : ४५०। इटालिक्स हमारी ओर से।

यदि वर्तमान गाँव सहकार के विकास के लिए अनुकूल अवस्था प्रस्तुत नहीं करते तो वे ग्रामीण उद्योगों को भी आरम्भ करने में उतने ही पीछे हैं।[३३] खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के कार्यकर्त्ताओं ने गाँवों में खादी और ग्रामोद्योग विकास कार्यक्रम को कार्यान्वित करने वक्त यह अनुभव प्राप्त किया है कि गाँव बहुत ही छोटे हैं जिससे कार्यान्विय में कठिनाइयाँ पैदा होती हैं। इसी अनुभव के फलस्वरूप ग्राम इकाई कार्यक्रम बनाया गया जिसमें परिकल्पना की गयी है कि कार्यक्रम का कार्यन्वय कम से कम पाँच हजार की आबादीवाली इकाई में किया जायेगा और इससे बड़ी इकाई भी हो सकती है। चन्द मामलों में विकास की यह इकाई गाँवों की वर्तमान सीमा के बराबर भी हो सकती है परन्तु देश के अधिकांश गाँवों की आबादी बहुत ही कम है। सन् १९६१ की जन-गणना के अनुसार भारत में ५,६४,७१८ गाँव थे जिनमें से ५,६०,५४९ की आबादी पांच हजार से कम है। वस्तुतः ४,६८,७६५ गाँवों की आबादी एक हजार से भी कम है जबकि ३,४९,५६८ गाँवों की आबादी ५०० से भी कम तथा १,७६,३८४ गाँवों की आबादी २०० से भी कम है।[३४] जब हम भारतीय गाँवों की समस्या पर विचार करते हैं तो हम बहुत अधिक संख्या में मौजूद उन गाँवों की समस्या पर विचार करते हैं जिनकी आबादी हजार से भी कम है। अगले पृष्ठ पर दी हुई तालिका में विभिन्न राज्यों के गाँव तथा दो हजार[३५] से कम आबादीवाले विभिन्न आकार के गाँवों का विवरण दिया गया है।

क्या ऐसा कार्यक्रम बनाना सम्भव है जिससे गाँवों में रहनेवाली बड़ी आबादी को लाभ हो सके? इकाइयाँ ग्रामोद्योगों के विकास के लिए अधिक सुविधाजनक सिद्ध होंगी, यह देखना तो अभी बाकी ही है। बहरहाल, ग्राम इकाई कार्यक्रम गाँवों की भौतिक सीमा को बदलने की परिकल्पना नहीं करता, बल्कि कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिए लोगों का एक समूह बनाने की ही कल्पना करता है। इससे संगठनात्मक प्रयासों में कई बाधाएँ आने की उम्मीद है, जबकि उन्हीं पर कार्यक्रम की सफलता मुख्यतः निर्भर करती है। आयोजन और समग्र ग्राम विकास के विचार को प्रचलित करने के लिए हर इकाई में एक-एक ग्राम सहायक काम करनेवाला है। सामान्यतः यदि आबादी सुगठित खण्ड में विस्तरित होती तो एक व्यक्ति भी अपनी उपस्थिति का आभास कराने में सफल हो सकता। परन्तु इकाई के अन्दर आनेवाले गाँवों के दूर-दूर बसे रहने के कारण वह उतना प्रभावशाली सिद्ध नहीं भी हो सकता है।[३६] जिस हद तक यह कार्यक्रम ग्राम सहायक पर सफलता के लिए निर्भर करता है, ग्राम सहायक की असफलता, यदि कोई हुई तो, का इकाई कार्यक्रम पर उल्टा प्रभाव पड़ सकता है। इसी तरह गाँवों की वर्तमान सीमाएँ, सहायक संगठकों पर, जो कि ग्राम सहायकों के कार्य की देख-रेख और मार्गदर्शन करते हैं, अतिरिक्त बोझ डालती हैं।

ग्राम इकाई का आरम्भ एक बड़ी ही महत्त्वपूर्ण घटना है। खादी और ग्रामोद्योग कार्यक्रम से संबंधित व्यक्तियों की ग्रामीण लोगों के जीवन में सुधार लाने की ओर निष्ठा संदिग्ध है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। कई कार्यकर्ता गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम में उनके निकट सहयोगी रहे हैं और वे गाँवों के आकार को बदलने के पक्ष में नहीं थे। यदि उन्होंने खादी और ग्रामोद्योग कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिए गाँवों का समूह बनाने का विचार दिया है तो वह वस्तुस्थिति के कारण ही है; क्योंकि ग्रामोद्योग विकेन्द्रित उद्योग हैं और इनमें

---

३३. देखिए विल्फ्रेड मेलनबॉम : **प्रास्पेक्टस फार इण्डियन डेवलपमेण्ट**, लन्दन, १९६२, पृष्ठ : १२७-२८।

३४. **सेंसस ऑफ् इण्डिया** : पेपर नं. १ ऑफ् १९६२ (आबादी का अन्तिम योग), नयी दिल्ली, १९६२; स्टेटमेण्ट : ४४।

३५. उपर्युक्त।

३६. **दी आल इण्डिया रूरल क्रेडिट सर्वे** ने सहकारी क्षेत्र में कार्य करनेवाले कार्यकर्त्ताओं के सम्बन्ध में भी यही समस्या बतायी है। **रिपोर्ट ऑफ् दि कमेटी ऑफ् डायरेक्शन** : खण्ड-२ (दि जनरल रिपोर्ट), का पृष्ठ ४१० [illegible]

अधिक पूंजी तथा तकनीकल दक्षता की आवश्यकता नहीं पड़ती। इकाई का विचार अभी अस्थायी है और काम करते-करते जो अनुभव होंगे उन प[र] इसके स्थायी गठन की योजना बनायी जायेगी।

राज्यों में गावों तथा ग्रामीण आबादी का वितरण

राज्य/केन्द्र प्रशासित क्षेत्र	गाँवों की कुल संख्या	कुल ग्रामीण आबादी	गाँवों की संख्या			
			२०० से कम आबादीवाले	२०० और ४९९ के बीच की आबादीवाले	५०० से ९९९ के बीच की आबादी-वाले	१,० १,९९ के बीच आबादीव
१	२	३	४	५	६	७
भारत						
आन्ध्र प्रदेश	५६४,७१८	३५९,४३५,६०७	१७६,३८४	१७३,१८४/	११९,१९७	६५,३०
असम	२७,०८४	२९,७०८,९३९	५,८७९	४,९१७	५,८३४	६,०५
बिहार	२५,७०२	१०,९५९,७४४	१०,५१४	७,८३१	४,९७९	१,९७
गुजरात	६७,६६५	४२,५४१,६९०	२१,२२८	२१,१९४	१३,७८४	७,६३
जम्मू और काश्मीर	१८,५८४	१५,३१६,७२६	३,२०२	५,३०२	५,२९९	३,३०
केरल	६,५५९	२,९६७,६६१	२,२७५	२,३१७	३	,५२
मध्य प्रदेश	१,५७४	१४,३४९,५७४	३	३	८	५
मद्रास	७०,४१४	२७,७४५,१७४	२६,१७२	२६,८२१	१२,७९५	३,८१
महाराष्ट्र	१४,१२४	२४,६९६,४२५	७८६	१,२६७	३,२१६	४,७७
मैसूर	३५,८५१	२८,३९१,१५७	६,६९६	१०,४१३	१०,२३५	५,९५
उड़ीसा	२६,३७७	१८,३२०,२७९	६,०३५	८,५३४	६,४८१	३,७२३
पंजाब	४६,४६६	१६,४३९,१९६	२१,१६२	१४,८९३	७,४३०	२,५१८
राजस्थान	३१,२६९	१६,२१८,२१७	४,९५१	५,९१६	५,३३८	३,४७०
उत्तर प्रदेश	३२,२४०	१६,८७४,१२४	१०,३२०	११,२९१	६,५९६	२,९३६
पश्चिम बंगाल	११२,६२४	६४,२६६,५०६	३२,७०३	३६,९७९	२६,०१५	१२,८०१
केन्द्र प्रशासित एवं अन्य क्षेत्र	३८,५३०	२६,२८५,४३७	१०,२५२	१२,०५७	८,५५५	५,२४७
अण्डमान और निकोबार द्वीप समूह	३९९	४९,४७३	३२५	५१	२०	२
दिल्ली	२७६	२९९,२०४	५६	५१	९९	५९
हिमाचल प्रदेश	१०,४३८	१,२८७,२१६	८,६११	१,५०७	२६६	४४
लक्काद्वीप, मिनिकाय और अमीनदीवी द्वीप समूह	१०	२४,१०८	१	१	१	२
मणिपुर	१,८६६	७१२,३२०	१,०६६	४२१	२००	१२६
त्रिपुरा	४,९३२	१,०३९,००८	३,६३७	७५६	३६६	१४२
दादरा और नगर हवेली	७२	५७,९६३	८	२०	२३	१८
गोवा, दमण और दीव	अप्राप्य	अप्राप्य		अप्राप्य	अप्राप्य	अप्राप्य
नेफा	अप्राप्य	अप्राप्य		अप्राप्य	अप्राय	अप्राप्य
नागालैंड	८१४	३५०,०४३	२९९	२८२	१५७	६५
पाण्डीचेरी	३८८	३८०,०८२	८६	१२७	८९	६२
सिक्कम	४६०	१५५,३४१	१३९	२३४	८१	६

कार्यान्वित हो रहे कार्य के परिणामों की बड़ी प्रतीक्षा है।

निष्कर्ष यह निकलता है कि गाँवों की जैसी अवस्था आज है उसमें उनका कोई भविष्य नहीं दीखता। अपनी ऐतिहासिक भूमिका अदा करने के बाद आज वे इस प्रतीक्षा में हैं कि उनका स्थान कोई अधिक उपयुक्त सामाजिक संगठन ले ले।[३७] अपनी वर्तमान स्थिति में ये गाँव स्कूल, अस्पताल, तारघर या थाने जैसी साधारण सुविधाएँ प्रदान करने में भी असमर्थ हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि हर गाँव शहर बन जाय, बल्कि इसके सीधे-सादे माने यही हैं कि यदि राष्ट्र को बहुत ही विकसित और शक्तिशाली शहरी क्षेत्र तथा भिस्ती व लकड़हारे जैसी पिछड़ी हुई हालत में गुजर-बसर करनेवाले ग्रामीण क्षेत्र के रूप में स्थायी तौर पर विभाजित नहीं रहना है, तो गाँव बहुत परिवर्तन करने की स्थिति में हैं और उन्हें इस प्रकार पुनर्गठित करना ही चाहिए कि वे विकासोन्मुख प्रविधियों का अधिकतम लाभ उठाने के लिए बेहतरीन स्थिति में हों।[३८]

इसके विपरीत जब तक कृषि मानवीय श्रम पर निर्भर रहती है, जैसा कि फिलहाल हमारे देश में है, तब तक गाँवों के आकार और योग्यता परिवर्तन के पीछे कोई सोद्देश्यात्मक प्रेरणा नहीं रहेगी; क्योंकि गाँव का आकार आवश्यक रूप से ही काफी छोटा होना चाहिए। ग्रामीण क्षेत्रों में अत्यधिक अतिरिक्त श्रम-शक्ति होने की वजह से यांत्रिक पद्धति से कृषि करने के लिए कोई आधार नहीं है और यही एक ऐसा पहलू है जो ग्राम-सीमाएँ विस्तृत करने की सम्भावनाएँ सामने ला सकता है। इसके साथ ही कृषि में इस प्रकार का परिवर्तन [illegible] के लिए देश भी तैयार नहीं है। और फिर, इतनी विशाल जनसंख्या को इस हद तक गैर-खेतिहर कामों में लगाने की सम्भावना भी नजर नहीं आती कि कृषि इंग्लैण्ड के समान एक गौण महत्त्व का धंधा बन सके। यदि ऐसा करना सम्भव होता, तो सामाजिक संगठन के सभी पहलुओं को पूरी तरह प्रभावित करते हुए ग्रामीण समाज बहुत-कुछ बदल गया होता।

समय की चुनौती है, बढ़ती हुई सामाजिक और आर्थिक समानता के साथ औद्योगीकरण का तालमेल बैठाया जाय। भारत के आयोजकों ने इस चुनौती को स्वीकार किया है। तीसरी पंचवर्षीय योजना का एक प्रधान उद्देश्य है 'अनुक्रमिक रूप से अवसर की अधिकाधिक समानता स्थापित करना और आय तथा सम्पत्ति की असमानताएँ कम करना एवम् आर्थिक शक्ति का अधिक समान वितरण करना।'[३९]

यदि ग्रामों का विकास करना है और उनमें रहनेवाले लोगों को अपेक्षाकृत अधिक उच्च जीवन स्तर प्राप्त करना है तो कोई सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से सोची भावना छोड़कर यथार्थवादी दृष्टि से सच्चाई स्थिति का मूल्यांकन करना होगा। भारतीय ग्रामीण समाज की कमजोरियों का पता लगाकर उन्हें दूर करना होगा। इस भ्रामिक विचारधारा को छोड़ना होगा कि ग्रामीण जीवन के तौर-तरीकों में कोई दोष नहीं है और हमारा कर्तव्य इसी में निहित है कि बाहरी प्रभाव को कम से कम किया तथा दूर रखा जाय।[४०] यह दृष्टिकोण

---

३७. आबादी की वृद्धि चुपके-चुपके गाँवों का आकार बदल रही है; एक गैर-शहरी संदर्भ में भीड़-भाड़ जैसी चिपचिप की अवस्था के रूप में एक विशेष प्रकार की शहरी समस्या खड़ी हो रही है, जिससे स्वास्थ्य, सफाई, रोजगारी और गरीबी की समस्याएं जटिल बन रही हैं। इस प्रकार १९५१ के १०,००० की आबादीवाले गाँवों की संख्या २१८ से बढ़ कर १९६१ में ७७२ हो गयी (सन् १९६१ में वितरण इस प्रकार था : आंध्र प्रदेश : २८; बिहार: ४४; गुजरात और महाराष्ट्र : ३६; केरल : ५१०; मद्रास : ९६; पंजाब: १२; उत्तर प्रदेश : २३; और पश्चिम बंगाल : २४। अन्य किसी राज्य अथवा केन्द्र प्रशासित क्षेत्र में कोई गांव ऐसा नहीं था जिसकी आबादी उक्त संख्या से अधिक हो); ऐसे गांवों की संख्या में कुछ गिरावट आयी, जिनकी आबादी ५,००० से कम थी।
ऐसे गाँवों की प्रति व्यक्ति आमदनी का अध्ययन करना रोचक होगा जिनकी आबादी १०,००० तथा उससे ऊपर और ५,००० से कम हो।

३८. प्रोफेसर कैनीक्रास जिसे प्राविधिक "आविष्कार की संक्रमणकालीन प्रक्रिया और प्रविधियों में हुई प्रगति को स्वीकार करने की राष्ट्रीय प्रक्रिया" कहते हैं उनके बीच निकट सम्बन्ध स्थापित करने की समस्या अल्प-विकसित देशों में इसलिए है, जहाँ "बिना अन्य प्रतिबंध आर्थिक दृष्टि से विकसित देशों की अपेक्षा काफी अधिक होती है।" कैनीक्रास : उक्त उद्धृत; पृष्ठ : [illegible]

३९. भारत सरकार : योजना आयोग : थर्ड फाइव इयर प्लान; नयी दिल्ली, १९६१; पृष्ठ : ४८।

गाँवों की रक्षा करता हुआ प्रतीत होते हुए भी वस्तुत: गाँवों के पिछड़ेपन और उनकी निर्भरता को स्थायी बनाने की दिशा में काम करता है। सच्चाई यह है कि गाँवों का पुनर्निर्माण निम्न प्रविधि पर आधारित पिछड़े हुए तथा गतिहीन समुदायों का कायाकल्प करके उन्हें आगे की सोचनेवाले, उच्च तथा आधुनिक प्रविधि का इस्तेमाल करनेवाले गतिशील समुदायों में बदलकर ही किया जा सकता है।[४१]

टैगोर ने इसी तथ्य को बड़े बलपूर्वक ढंग से सामने रखा था, जब उन्होंने यह कहा कि "जो यहाँ गाँवों की सेवा के लिए आये हैं उन्हें मैं एक विशेष चेतावनी दूंगा—शिक्षा सम्बन्धी परियोजनाएँ लागू करने में उन पर इस प्रकार के विचारों का प्रभाव कभी नहीं होना चाहिए कि 'ये तो ग्रामवासी हैं, इनकी आवश्यकताएँ सीमित हैं, इसलिए इनके मन को जिस तरह से संतोष पहुँचे, वही करने से काम चल जायेगा।' हमें चाहिए कि हम हर प्रकार से ग्रामवासियों के प्रति ऐसे असम्मानपूर्ण रुख से स्वयं को बचायें। ज्ञान का प्रसार पूरे देश के नगरों व ग्रामीण क्षेत्रों में समान रूप से होना ही चाहिए; यह सभी को उपलब्ध होना चाहिए, ताकि समाज को विभाजित करनेवाली ऊँची दीवार को गिराया जा सके। ऐसा सोचकर हमें ग्रामवासियों का अपमान नहीं करना चाहिए कि शिक्षा के माध्यम से उन्हें ऐसी कोई भी चीज देना काफी होगा जो उनके आनन्द-विहीन और अंधविश्वास-जनित भय और अस्वस्थता से भरे जीवन के केवल कुछ अंश मात्र का ही स्पर्श कर पाये। ग्रामवासियों की ओर इस प्रकार के रुख का कारण है—शिक्षा सम्बन्धी असमानता और अभिमान। इसके पीछे एक कारण है—'हमें कुर्सी पर बैठे-बैठे दूर से ही उन्हें निर्देश देना है और उन्हें उस निर्देश पर चलना है।"[४२]

समाहार स्वरूप ग्रामीण विकास के लिए नीति निर्धारित करने हेतु सामाजिक और आर्थिक विकास की प्रक्रियाओं की सही ऐतिहासिक जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है।[४३] यदि उपर्युक्त विचार सही है, तो हमारी वर्तमान नीतियों को तदनुसार ढालना होगा। (यह लेख बम्बई स्थित टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ् सोशल साइंसेज में जनवरी १९६३ में दिये गये भाषण पर आधारित है।)

बम्बई : ८ जनवरी १९६३

---

४०. बलजीत सिंह : **नेक्स्ट स्टेप इन विलेज इण्डिया** (भूमि सुधार और सामूहिक गतिशीलता का एक अध्ययन), बम्बई, १९६१।

४१. तृतीय पंच वर्षीय योजना में यह सही दृष्टिकोण अपनाया गया है कि "इसलिए इस दिशा में (अर्थात् ग्रामोद्योगों के विकास की दिशा में) आयोजन का एक मुख्य उद्देश्य उन्नत तक्नीकों के अपनाने और अधिक कुशल संगठनों को सहायता देना है, ताकि सामान्य आर्थिक विकास के फलस्वरूप प्राप्त बुनियादी सेवा-सुविधाओं का पूरा फायदा उठाया जाय, और समय पाकर समूचा का समूचा क्षेत्र अपने पैरों पर खड़ा होनेवाला एवम् स्वावलम्बी बने।"—भारत सरकार: योजना आयोग : **थर्ड फाइव इयर प्लान,** पृष्ठ: ४२६।

४२. रवीन्द्रनाथ टैगोर : पल्ली प्रकृति अथवा गांवों की प्रकृति (ग्राम विकास सम्बन्धी उनके भाषणों और लेखों के संग्रह) में 'पल्ली सेवा अथवा 'ग्राम सेवा' (श्रीनिकेतन के वार्षिकोत्सव के अवसर पर ६ फरवरी १९४० को दिये गये भाषण का मूल); कलकत्ता, १९६२; पृष्ठ : ११२। उक्त अंश का **रवीन्द्रनाथ टैगोर ऑन रिकन्सट्रक्शन रूरल** के अंग्रेजी रूपान्तर (पृष्ठ : ६८-६९) से लिया गया है, जो कि भारत सरकार के सामुदायिक विकास और सहकार मन्त्रालय द्वारा मार्च १९६२ में प्रसारित किया गया था।

४३. डा. फ्रैंकेल ने इस बात पर जोर दिया है कि तक्नीकल परिवर्तनों की कठिनाइयों को समझने के लिए "हमें विकासोन्मुख समाज के स्वरूप के ऐतिहासिक विकास का अपना अध्ययन पहले से अधिक गूढ़ बनाना होगा।" तभी हम परिवर्तन के सही रूप के अध्ययन पर जोर दे सकेंगे : इस बात की खोज करने के लिए कि समाज को बनाये रखने अथवा विकसित करने के लिये आवश्यक न्यूनतम सामाजिक और मनोवैज्ञानिक शांति से समाज के विभिन्न भागों में हो रहा परिवर्तन कितना अनुकूल अथवा कितना प्रतिकूल है। —एस. हर्बर्ट फ्रैंकेल : दि इकनॉमिक इम्पैक्ट ऑन अंडर डेवलप्ड सोसायटीज (एसेज ऑन इंटरनेशनल इंवेस्टमेण्ट एण्ड सोशल चेंज), आक्सफोर्ड, १९५९; पृष्ठ : २५;२५-६।

गाँवों का बदलता रूप

चित्तप्रिय मुखर्जी

गत बीस वर्ष से शहरी और ग्रामीण सम्बन्धों में बड़े तीव्र परिवर्तन हो रहे हैं। बिजली के इस्तेमाल, आवागमन तथा संचार के बेहतरीन व तेज साधनों, सड़कों और नहरों के निर्माण एवम् शिक्षा के प्रचार से लोगों के सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक जीवन और मानसिक बनावट में हुए क्रांतिकारी परिवर्तन स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं।

प्रस्तुत लेख में प्रधान रूप से १९९ गाँवों के एक ग्रामीण और कृषि-प्रधान क्षेत्र के कुछ पहलुओं पर चर्चा की गयी है। इस क्षेत्र का केन्द्र बोलपुर नामक एक कस्बा है। इस छोटे-से क्षेत्र में औद्योगीकरण के साथ ही साथ आधुनिकता भी आ गयी है, फिर चाहे वह भली हो अथवा बुरी।

प्राचीन वर्ग-भेद बड़ी तेजी के साथ समाप्त हो रहा है। पुरानी संस्थाएं नष्ट होने की अवस्था में हैं और नयी सामने आ रही हैं।

*परिवर्तन की इस प्रक्रिया में रवीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा स्थापित **विश्व भारती** का उल्लेखनीय प्रभाव पड़ा है।*

पिछले बीस वर्ष का बंगाल पर जो महान प्रभाव पड़ा है, वह सम्भवतः उसके इतिहास में अपना कोई सानी नहीं रखता। विश्व युद्ध, जिसकी लपटें प्रायः राज्य की सीमा तक आ पहुँची थीं; उसके बाद विभाजन और उसका कटु परिणाम; स्वतंत्रता-प्राप्ति एवम् दो पंच वर्षीय योजनाओं का पूरा होना, ये कुछ ऐसी बातें हैं जिन सभी से परिवर्तन हुए हैं और ऐसे परिवर्तन जिनका दीर्घ-कालीन प्रभाव न केवल कलकत्ता अथवा अन्य शहरी केंद्रों के जन-जीवन पर, बल्कि प्रायः अधिकांश ग्रामीण बंगाल के लोक-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर पड़ा है। सदियों से अपनी गहरी जड़ें जमाये हुए सामाजिक रीति-रिवाजों और मान्यताओं को एक हचकोला-सा लगा है; पूर्वजों द्वारा पवित्र और अनतिक्रम्य रूप में पालित-पोषित जीवन-मूल्य निरन्तर एक परिवर्तन की अवस्था में रहे हैं; आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक व शैक्षणिक क्षेत्रों में उठाये गये महान कदमों ने यदि समग्र जन-मानस पर नहीं, तो उसके एक हिस्से पर अवश्य अपनी अमिट छाप छोड़ना प्रारम्भ कर दिया है।

शहरी-ग्रामीण सम्बन्ध एक महान परिवर्तन की प्रक्रिया से होकर गुजरा है। अब तक उपेक्षित निष्क्रिय ग्रामीण जीवन में धीरे-धीरे अलगाव की भावना का नामोनिशान मिटाने में अच्छी सड़कों, बिजली, टेलीफोन, रेडियो, मोटर गाड़ियां आदि सभी का योगदान रहा है। राष्ट्रीय विस्तार सेवा अधिकारियों तथा कार्यकर्ताओं और राज्याधिकारियों द्वारा सम्पर्क साधने पर ग्रामीण जन-समुदाय अब पहले से कहीं अधिक स्वस्थ चित्त है। आज वह अपने को शहरी भद्र लोगों से दूर अथवा बेगाना नहीं समझता। मलेरिया उन्मूलन, कीटाणु-नाशक औषधियों का प्रादुर्भाव और कृषि उत्पादन की सुनिश्चित मूल्य-प्राप्ति, इन सबसे सम्भवतः आशावादी वातावरण को प्रश्रय मिला है। शायद इतनी अधिक प्रत्याशित आबादी बढ़ जाने के ये ही कारण हैं।

परिवर्तन

इस संक्षिप्त लेख में एक ऐसे क्षेत्र के विकास के चन्द पहलुओं पर ही प्रकाश डाला गया है, जो मुख्यतः ग्राम और कृषि-प्रधान है, लेकिन जिसके केन्द्र में (एक [illegible] सूरदास के विद्यालय को छोड़कर शायद ही अन्य कोई साधन-स्रोत हो) एक कस्बा है, जो हाल ही तक एक बड़ा गाँव और बाजार था; लेकिन अब देश विभाजन

मानचित्र १

बोलपुर थाना क्षेत्र

(१२८.७६ वर्ग मील)

बोलपुर शहर के आस-पास यूनियन बोर्डस् की स्थिति
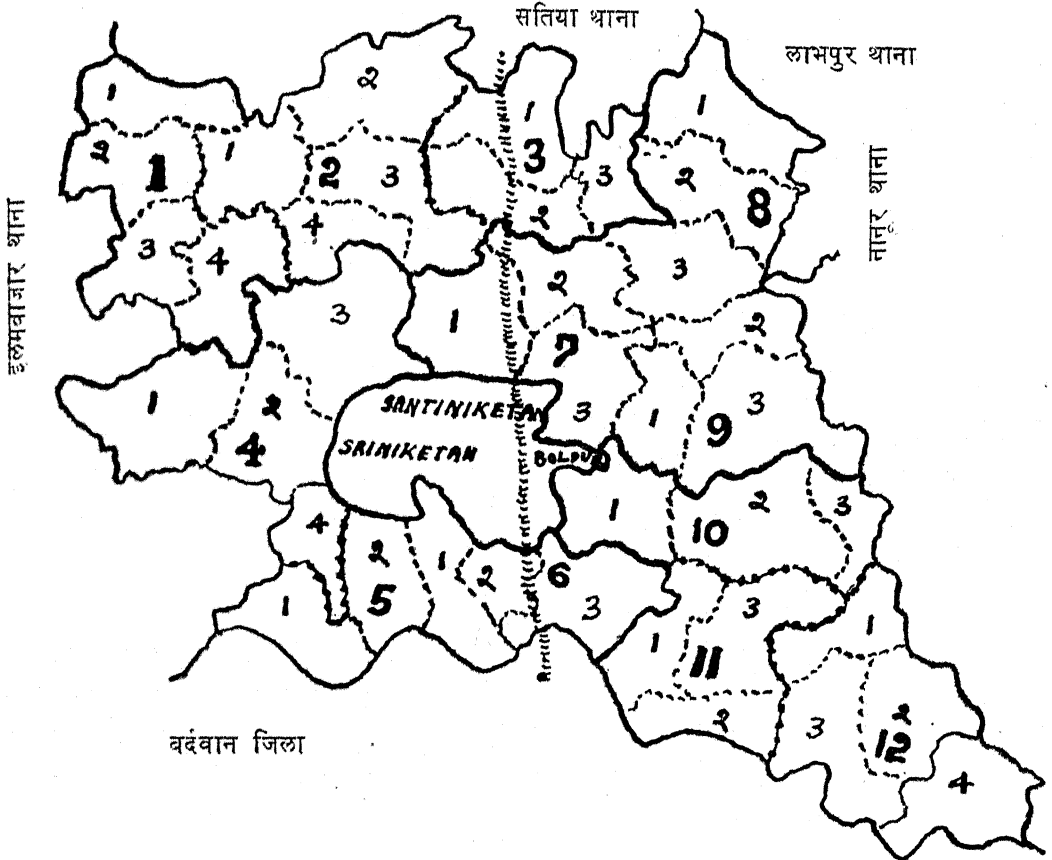
यूनियन बोर्ड्स : (१) सत्तूर; (२) कस्वा; (३) सरपेलहाना; (४) रुप्पुर; (५) रायपुर; (६) सुपुर; (७) तालतोड; (८) अम्दाहरा; (९) सियान; (१०) बहिरी; (११) पंचसोआ; (१२) सिंधी।

मानचित्र डाक्टर हाशिम अली द्वारा अपनी पुस्तक 'एन्वायरन्स ऑफ् टैगोर' में किये गये वर्गीकरण पर आधारित हैं। हर यूनियन बोर्ड के अन्दर के नम्बर डाक्टर अली द्वारा अपनाये गये 'मौजों' का क्षेत्र दर्शाते हैं।

सीमाएँ
—यूनियन बोर्ड्स
...मौजा

(स्केच : रथीन्द्रलाल मित्र)

तथा उसके बाद बंगाल में हुए दूसरे मुख्य परिवर्तनों के फलस्वरूप विकसित हो रहा है यानी प्रकाश में आ रहा है।

१

बोलपुर कस्बे का पिछली शताब्दी के प्रारम्भिक काल तक ऐतिहासिक दृष्टि से कोई नाम नहीं था। इसका इस दृष्टि से उद्गम व्यवहारतः १९५९ में बीरभूम जिले से होकर साहिबगंज लूप लाइन गुजरने के साथ ही है। उसके नजदीक के अन्य स्थानों, जो अब अवनति की ओर जा रहे हैं, का भी एक जमाना था जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कॉमर्सियल रेजीडेण्ट श्री जॉन चीप का विश्व भारती के समीप ग्राम पुनर्निर्माण केंद्र, श्रीनिकेतन के दक्षिण में सुरुल नामक स्थान पर हेडक्वार्टर था और इण्डिगो, रेशम तथा चीनी आदि के क्षेत्र में उसका व्यापार फल-फूल रहा था। अन्य जिलों से विभिन्न प्रकार के धंधों में लगे व्यक्ति—बुनकर, लुहार, वणिक व अन्य—आये तथा सुरुल, सुपुर[1] और रायपुर के गाँवों में बसे एवम् फले-फूले। श्रीनिकेतन से पश्चिम की ओर एक छोटा-सा गाँव है, लोहगढ़। इस गाँव में लकड़ी के कोयले से काफी समय से लोहा गलाये जाने का काम करता था। इसके निशान न केवल आस-पास के स्थानों में बल्कि 'लोहार बागदी' नामक एक परिगणित जाति में भी मिलते हैं। 'सूरी' की ओर जानेवाली सड़क पर कोपाय नदी के ठीक उत्तर में स्थित 'कस्बा'[2] नामक स्थान १८७२ तक उस क्षेत्र का थाना रहा है। अम्दाहरा[3] नामक स्थान का आज शायद ही कोई महत्व हो, लेकिन कभी यह एक अच्छा-खासा व्यापार केंद्र था और पिछली शताब्दी में 'मुंसिफ कोर्ट' वहीं लगती थी। 'तालमा', गोलपाड़ा तथा अन्य आस-पास के गाँव[4] यद्यपि वाणिज्य और व्यापार की दृष्टि से कोई विशेष प्रमुख नहीं थे लेकिन चिट्ठी-पत्रियों में उनका नाम यदा-कदा आया करता था, जैसा कि हाल ही में **विश्व भारती** द्वारा खोज करके प्रकाशित किये गये पत्रों से प्रकट होता है।

गुरुत्वाकर्षण का यह केंद्र अब अपरिहार्य रूप से रेल्वे स्टेशन बोलपुर की ओर चला गया; क्योंकि नव आर्थिक ढाँचे के अन्तर्गत नये स्थानों का महत्व बढ़ गया और पुराने स्थान लुप्त होने लगे तथा उन्हें राम भरोसे छोड़ दिया गया।

बोलपुर कस्बा अपने आस-पास के १५५ गाँवों[5] का केन्द्र बिन्दु है और एक चावल उत्पादक व निर्यात

---

१. यूनियन बोर्ड का एक गाँव। मानचित्र में नवम्बर ६ से चिन्हित; रायपुर यूनियन बोर्ड का नवम्बर ९ से चिन्हित सुप्रसिद्ध लार्ड सिन्हा का गाँव है।

२. यूनियन बोर्ड का मानचित्र में नवम्बर २ से चिन्हित एक गाँव एल. एल. एस. ओमॉली; **बीरभूम डिस्ट्रिक्ट गजेटियर;** पृष्ठ: २७; **डिस्ट्रिक्ट सेन्सस हेण्ड बुक, १९५१,** पी.सी.सी.३४; आर. पंचानन मण्डल द्वारा सम्पादित **चिठी पत्रे समाज चित्र,** पृष्ठः १३०; ४७८।

३. मानचित्र में नवम्बर ८ से चिन्हित यूनियन बोर्ड का एक गाँव। यह गाँव सुरुल से गनुतिया जानेवाली सड़क पर मयूरक्षी नदी के उत्तरी किनारे पर एक फलता-फूलता केन्द्र है, जो सयंतिया स्टेशन से ११ मील पूर्व में और बोलपुर से छः मील उत्तर-पूर्व में पड़ता है।

४. दोनों गाँव शांति निकेतन के उत्तर और उत्तर-पूर्व में स्थित हैं। ये मौजे अथवा तालतोड़ यूनियन बोर्ड (मानचित्र में नम्बर ७) के कार्यक्षेत्र विषयक नम्बर, अब शांतिनिकेतन के अन्तर्गत आते हैं।

५. यहाँ तक कि अपेक्षाकृत विस्तृत क्षेत्र जो व्यवहारतः १९५१ की जन-गणना रिपोर्ट में रूरल ट्रैक्ट १० के रूप में परिभाषित क्षेत्र के समान था; और जो किसी अन्य रेल्वे स्टेशन के अभाव में बोलपुर के घेरे में पड़ता था।

६. बोलपुर थाने के कार्यक्षेत्र विषयक नम्बरों की (जिनमें से कुछ में कोई नहीं रहता) सूची में तथा राष्ट्रीय विस्तार सेवा खण्डों के अन्तर्गत आनेवाले भी कुल १७० गाँव हैं। क्षेत्र के अन्तर्गत २२४ मौजे हैं (देखिए डा० [illegible]: 'एनवायरन्स ऑफ् टैगोर,' परिशिष्ट ७)।

मानचित्र २

बोलपुर थाना क्षेत्र

(१२८.७६ वर्ग मील)

प्रति व्यक्ति एकड़ में घटता हुआ मानव-भूमि-अनुपात : १९५१–६१

(कोष्ठक के भीतर के अंक १९५१ से प्रति व्यक्ति एकड़ में हुई कमी का प्रातिशत्य दर्शाते हैं)
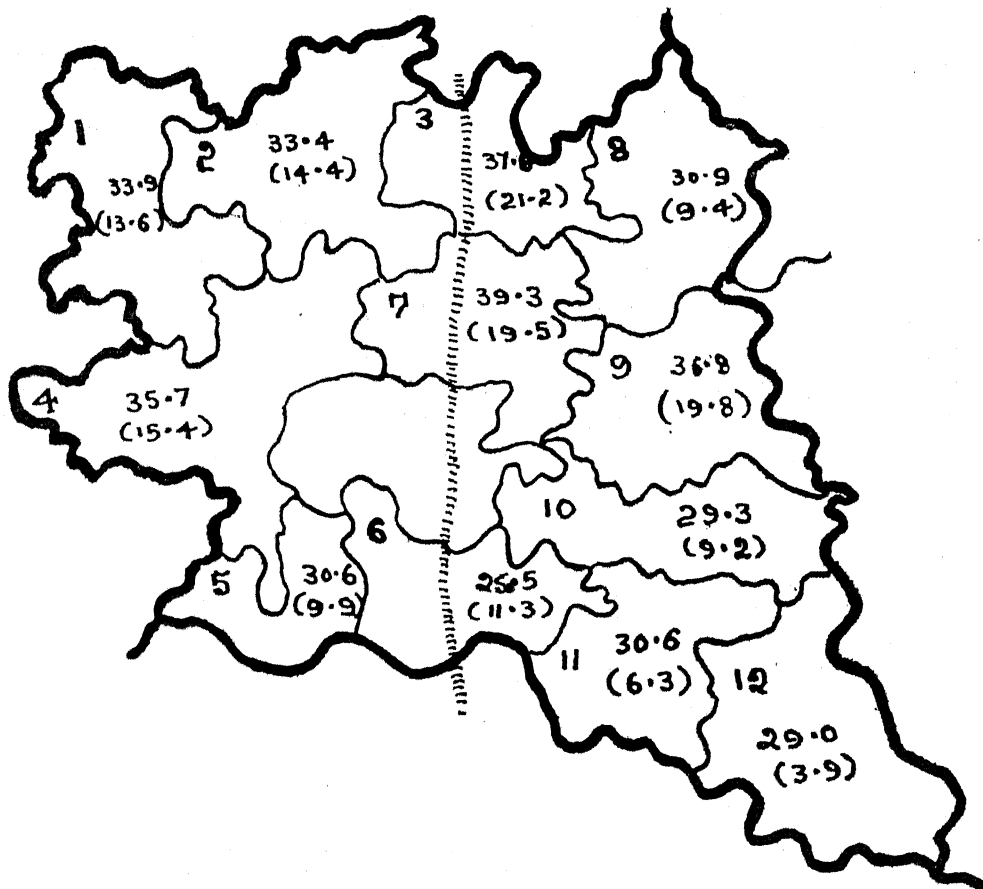
यूनियन बोर्ड्स : (१) सत्तूर; (२) कस्बा; (३) सरपेलहाना; (४) रुप्पुर; (५) रायपुर; (६) सुपुर; (७) तालतोड़; (८) अम्दाहरा; (९) सियान; (१०) बहिरी; (११) पंचसोआ; (१२) सिंघी।

बारह यूनियन बोर्ड्स में हुई कमी का प्रातिशत्य २८.८४ प्रति शत।

(स्केच : मंजुश्री मुखर्जी)

करनेवाले केंद्र[७] के रूप में विकसित हो रहा है। इसके अलावा इसकी एक विशेषता—और सम्भवत: जो अनुपम भी है—यह है कि इसका विकास 'बोलपुर ब्रह्मचर्याश्रम' के साथ हुआ है, जो अन्तर्राष्ट्रीय जगत में **विश्व भारती** के नाम से विख्यात है।

विश्व भारती का प्रभाव

यदि स्वर्गीय महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर द्वारा रेलगाड़ी के प्रारम्भ से पहले रायपुर की यात्रा की जाना मात्र संयोग था तो इस कस्बे के विकास के समकालीन अथवा समानान्तर रूप से हुए विश्व भारती के विकास का भी वैसे ही प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से समग्र क्षेत्र के जीवन मार्ग पर प्रभाव पड़ा है तथा इस प्रकार इस कस्बे को बंगाल के अन्य सभी गैर औद्योगिक शहरी क्षेत्रों से भिन्न विशेषताप्रदान की है।

वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ में इस बोलपुर की आबादी ३,००० से कुछ ज्यादा थी। इसने कस्बे का दर्जा १९४१[८] में और नगरपालिका क्षेत्र का १९५० में ही प्राप्त किया। औद्योगीकरण के प्रथम चरण के रूप में इसमें १९१३ में एक चावल मिल खुली थी। बहुत साधारण प्रति शत की दर से कस्बे की आबादी बढ़ती रही और कभी-कभी तो क्षेत्र के अन्य स्थानों की तुलना में बहुत ही कम प्रति शत की दर से, लेकिन बोलपुर कस्बे में शायद ही कोई ऐसा उद्योग था, जिसका उल्लेख किया जा सके, सिवाय इसके कि वहाँ चावल उत्पादन[९] का उद्योग चलता था। परन्तु गत महायुद्ध के अंतिम वर्षों में कुछ समय के लिए यह कस्बा काफी समृद्ध हो गया था। सन् १९४२-४३ के दुर्भिक्ष के समय में एजन्टों और कस्बे की चावल मिलों के जरिये सरकार ने दीर्घ स्तर पर चावल इकट्ठा किया और उसके बाद बड़ी जल्दी-जल्दी में एक हवाई अड्डे के निर्माण में काफी धन खर्च किया गया—हवाई अड्डे की यह योजना बीच में ही बन्द हो गयी, लेकिन स्थानीय अर्थ-व्यवस्था में इससे काफी रुपये का आगमन हुआ। इन बातों से ऐसे आसार सामने आये कि उनसे पिछले वर्षों की मन्द यानी धीमी विकास गति का अन्त हो गया।

दूसरी ओर **गुरुदेव** के प्रति श्रद्धा रखनेवाले चन्द भारतवासियों तथा विदेशियों द्वारा उदारतापूर्वक दिये जानेवाले मामूली योगदान से प्राप्त साधारण भौतिक साधन-स्रोतों के होते हुए भी विश्व भारती ने ग्राम पुनर्निर्माण के क्षेत्र में, जो कि अब तक अन्धकार के गर्त में ही पड़ा हुआ था, मार्गदर्शक कार्य कर रही थी; और शिक्षा के क्षेत्र में एक प्रयोग करने में वर्षों असफलता व विपर्यय का सामना करते हुए भी वह पूर्व और पश्चिम के बीच सामन्जस्य स्थापित करने की नींव डाल चुकी थी; कई वर्षों के इन कार्यकलापों का उस क्षेत्र पर काफी प्रभाव पड़ा जिसे बंगाल के अन्य जिलों की तुलना में भी पिछड़ा हुआ समझा, माना जाता था।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् शेष भारत के समान, बल्कि कहना चाहिए कि विभाजित बंगाल में विकास

---

७. एल. एस. एस. ओमॉली: **बीरभूम डिस्ट्रिक्ट गजेटियर** १९१०; पृष्ठ: १११।

८. कस्बे की विभिन्न परिभाषाओं के साथ बोलपुर को एक बार १९२१ में कस्बे के रूप में वर्गीकृत किया गया था।

९. डा. हाशिम अमीर अली : **दि राइस इण्डस्ट्री इन लोअर बीरभूम** (१९३४) में लिखते हैं: समग्र बीरभूम मुख्यत: चावल उत्पादन क्षेत्र है। कुल ११, १५, ५०० एकड़ भूमि में से ८,९०,००० एकड़ जमीन पर खेती होती है; इसमें से धान की खेती ७,७२,००० एकड़ भूमि पर होती है (१९४७-४८ से १९५४-५५ तक के आठ वर्ष की औसत संख्या)। प्रति एकड़ चावल की उपज १९४७-४८ के ९.९० मन से बढ़ कर १९५४-५५ में १३.११ मन हो गयी। आठ वर्ष का औसत १२.३५ मन रहा। बोलपुर थाने की ८२, ४१० एकड़ भूमि में से ५८, ३२० एकड़ पर खेती होती है। धान की खेती ५४,००० एकड़ पर होती है। बोलपुर क्षेत्र में १९६१ तक ३८,५३० एकड़ जमीन की सिंचाई होती थी। सामान्य अनुमान के अनुसार बोलपुर थाने में चावल व अन्य चीजों का उपभोग १७,३२० टन और बोलपुर कस्बे का ३,६९० टन है। ८ वर्ष के औसत के मुताबिक बीरभूम में करीब ९५,३२,००० मन चावल पैदा होता है।

मानचित्र ३

बोलपुर थाना क्षेत्र

(१२८.७६ वर्ग मील)

प्रति वर्ग मील आबादी का घनत्व : १९६१

(कोष्ठक के भीतर के अंक आबादी में १९५१ के बाद हुई वृद्धि का प्रातिशत्य दर्शाते हैं)
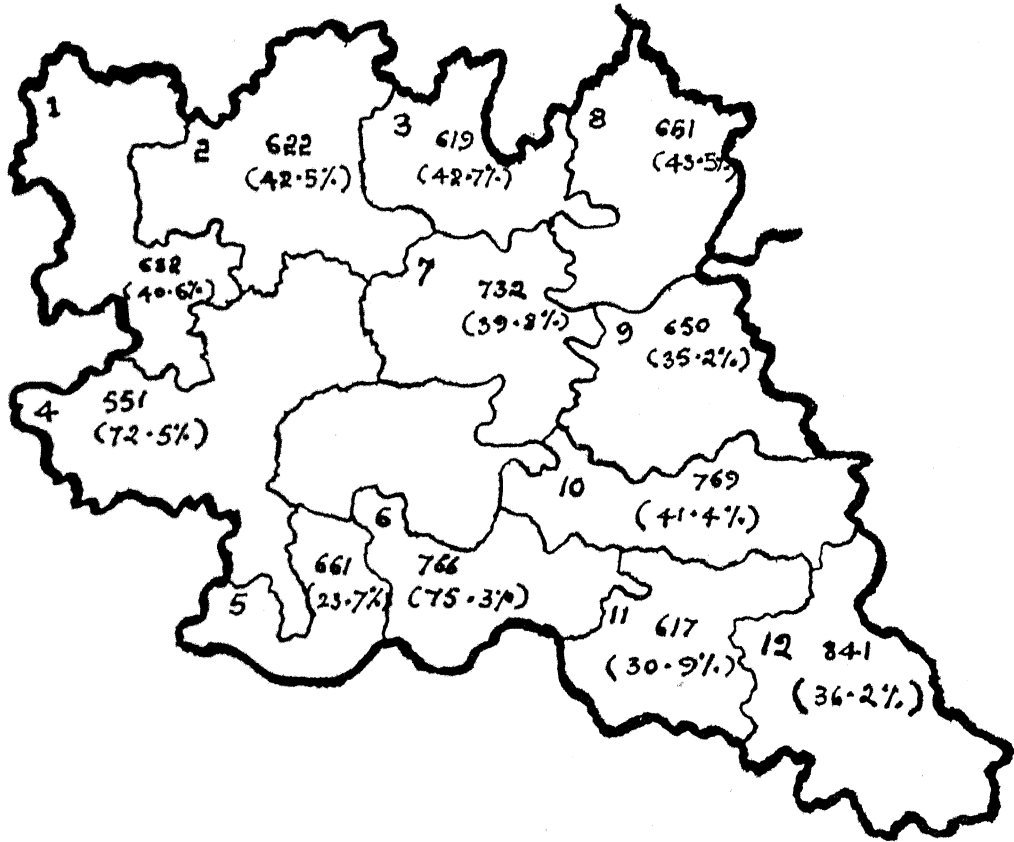
यूनियन बोर्ड्स: (१) सत्तूर; (२) कस्बा; (३) सरपेलहाना; (४) रुप्पुर; (५) रायपुर; (६) सुपुर; (७) तालतोड़; (८) अम्दाहरा; (९) सियान; (१०) बहिरी; (११) पंचसोआ; (१२) सिंघी ।

(स्केच : मंजुश्री मुखर्जी)

कार्यों ने और भी ज्यादा नया मोड़ लिया और उनके प्रभाव महसूस किये गये, यद्यपि बोलपुर और विश्व भारती की अन्य संस्थाओं में इन कार्यों की दिशाएँ भिन्न रहीं।

२

विकास का नया चरण

विभाजन के एक निश्चित परिणामस्वरूप साहिबगंज लूप लाइन का महत्व बढ़ा और फलतः बोलपुर स्टेशन का भी। मसान जोड़े और दामोदर घाटी योजना से बोलपुरवासियों को भी बिजली उपलब्ध हुई, जो अब तक एक ऐसी सुविधा रही है जिसका फायदा विश्व भारती परिवार ही करता रहा है। कस्बे में और कस्बे से दूसरे स्थानों तक रोड़ी की सड़कों के निर्माण से आवागमन के साधन अच्छे तथा तेज हुए। बोलपुर के कायाकल्प में नहरों[१०] का भी स्थान है। शरणार्थियों के आगमन से उक्त कस्बे तथा आस-पास के अन्य स्थानों में एक नये ढंग का जीवन शुरू हुआ। बंगाल में गंगा के मैदान में खनिज तेल के लिए खोज करने और ऐसे एक दल का बोलपुर के नजदीक एक गाँव तक भी पहुँच जाने से उसके 'तैल शहर' में परिवर्तित होने की नयी आशा का संचार हुआ।

इलमबाजार के नजदीक अजय नदी पर पुल बन जाने से लोअर बीरभूम अब एक अलग-थलग क्षेत्र नहीं रह गया है। जिस प्रकार इलमबाजार[११] में अपना खोया हुआ स्थान पुनः प्राप्त करने और नये पुल बाँधने की गभी प्रकार की क्षमता है, वैसे ही बोलपुर भी उससे मोटर के जरिये एक घंटे में पहुँचने की दूरी पर 'रूहड़ ऑफ् बंगाल' के साथ विकास के एक नव चरण में पदार्पण कर रहा है।

इसके दूसरी ओर विश्व भारती ने करीब ४० वर्ष तक बीरभूम की लाल मिट्टी में अपनी जड़ें जमा लेने के बाद १९४१ में गुरुदेव के स्वर्गवास के पश्चात् ही राष्ट्रीय नेताओं का ध्यान आकर्षित किया। अन्ततोगत्वा इसे १९५१ में राष्ट्रीय महत्व की संस्था के रूप में मान्यता

---

१०. सामान्यतः समूचे जिले और खास कर बोलपुर क्षेत्र में नहरों के प्रभाव पर प्रस्तुत लेख में विचार नहीं किया गया है। नहरें ९०४ एकड़ से ज्यादा जमीन पर नहीं हैं, जबकि तालाब ५,१३३ एकड़ भूमि घेरे हुए हैं, लेकिन वे बोलपुर थाने की २४,००० एकड़ की सिंचाई करती हैं; तालाबों की अब कुछ अवहेलना-सी ही है और वे मरम्मत किये जाने जैसी अवस्था में हैं। उनसे केवल १४,००० एकड़ जमीन की ही सिंचाई होती है।

११. बोलपुर से १३ मील पश्चिम की ओर तथा सुरी से २४ मील दक्षिण की ओर स्थित "यह गाँव कुछ महत्व का व्यापारिक केन्द्र है; जिससे तीन रोड़ी की (?) सड़कें बोलपुर, पानगढ़ और दुब्रजपुर रेल्वे स्टेशन को जाती हैं। लाख के आभूषण और खिलौने बनाने के लिए इसका नाम है, लेकिन यह उद्योग अब अवनत हो चुका है, अधिकांश लाख के कारखाने बन्द हो गये हैं।...इलमबाजार एक समय इरस्किन एण्ड कम्पनी नामक एक यूरोपीय फर्म का प्रधान कार्यालय रह चुका है..." एल. एस. एस. ओमॉली : **बीरभूम डिस्ट्रिक्ट गजेटियर १९१०।** इलमबाजार ग्रैण्ड ट्रंक रोड पर पानगढ़ और बोलपुर से समान दूरी पर (कलकत्ता से १०२ मील दूर) स्थित है। पहले यह एक महत्वपूर्ण लाख और नील उत्पादन केन्द्र तथा एक अच्छा नदी बन्दरगाह भी था। अब वह अपना महत्व पुनः हासिल कर रहा है। ऐसा सुझाया जाता है कि शीघ्र सड़क यातायात का एक परिणाम यह निकला है कि इलमपुर और बोलपुर में रानीगंज के कोयले की कीमतें कम हुई हैं तथा दूसरा यह है कि बोलपुर स्टेशन पर आनी मछलियाँ अथवा अन्य खाद्य सामग्री और स्थानीय खाद्य उत्पादन औद्योगिक शहर दुर्गापुर भेजने के कारण उनकी कीमतों में बढ़ौतरी हुई है। इस नये व्यापार मार्ग के दूरगामी प्रभाव एक ऐसा विषय है जिस पर अलग से व्यापक रूप में विचार किया जा सकता है, लेकिन यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि इलमबाजार का एक महत्त्वपूर्ण संगम स्थल के रूप में सामने आना शहर विकास की दृष्टि से और बोलपुर शहर की उन्नति की दृष्टि से इस क्षेत्र में निश्चय ही परिवर्तन लायेगा।

मानचित्र ४

बोलपुर थाना क्षेत्र

(१२८.७६ वर्ग मील)

कुल आबादी के प्रातिशत्य स्वरूप कार्यकारी आबादी : १९६१

(कोष्ठक के अंदर के अंक कुल महिला आबादी के प्रातिशत्य स्वरूप कार्यकारी महिला आबादी दर्शाते हैं)
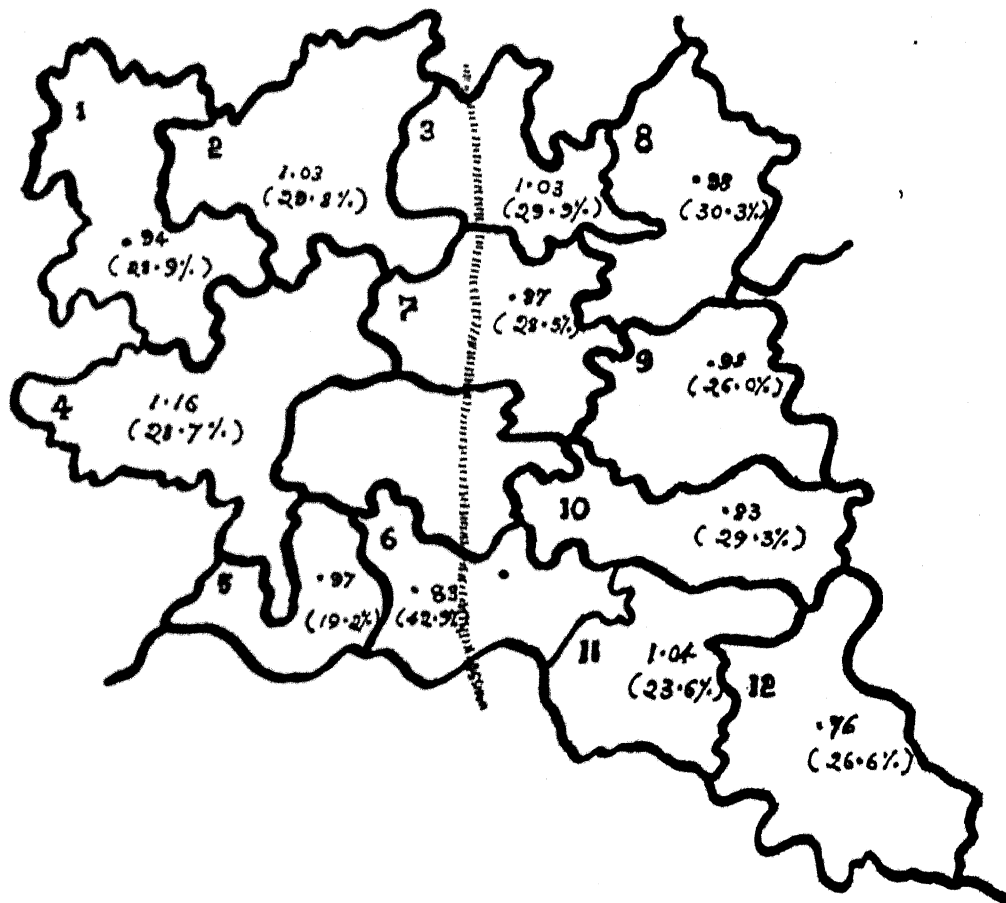
यूनियन बोर्ड्स : (१) सत्तूर; (२) कस्बा; (३) सरपेलहाना; (४) रुप्पुर; (५) रायपुर; (६) सुपुर; (७) तालतोड़; (८) अम्दाहरा; (९) मियान; (१०) बहिरी; (११) पंचसोआ; (१२) सिंघी।

(स्केच : मंजुश्री मुखर्जी)

दी गयी, और जिसके साथ इसकी विकासशील गतिविधियों में एक महान तेजी आयी, जिनका स्थानीय अर्थ-व्यवस्था व जीवन पद्धति पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता रहा। विश्वविद्यालयी शहर की जान शांतिनिकेतन, केंद्रीय सरकार से प्राप्त अच्छे खासे अनुदान में से अपने रचनात्मक कार्यक्रमों में काफी पैसा खर्च करता है और अपने छः सौ अथवा उससे कुछ अधिक कार्यकर्त्ताओं में प्रति वर्ष १० लाख से भी अधिक रुपये वेतन के रूप में वितरित करता है। दूसरी ओर श्रीनिकेतन अपने ग्रामीण पुनर्निर्माण कार्यक्रम के साथ आगे बढ़ रहा है। राज्य की ओर से उदारतापूर्वक प्राप्त सहायता से यह रूरल हायर इन्स्टीटयूट, सोशल एज्यूकेशन आर्गेनाइजर्स ट्रेनिंग सेण्टर चलाता है और राष्ट्रीय विस्तार सेवा खण्ड के कार्यक्रम से निकट सम्बन्ध रखता है। उक्त खण्ड के अन्तर्गत समूचे बोलपुर थाने का क्षेत्र (१२८ वर्ग मील) आता है।

३

विश्व भारती के दोनों निकेतन और बोलपुर शहर एक त्रिकोण के तीन कोणों के बाह्य उपांत के समान हैं, जिनके बीच धान की खेतीवाला मैदान है। ये विस्तृत मैदान की थोड़ी ऊँची जमीन पर बसे हैं। इनके उत्तर में कोवई नदिका तक खोवाई भूमि है और दक्षिण में अजय नदी, जो कि बीरभूम तथा बर्दवान जिले की सीमा बनाती है।

बोलपुर में आधुनिकता का आगमन

यह छोटा-सा क्षेत्र—व्यवहारतः पश्चिम की कंकरीली (लेटराइट) और पूर्व की जलोढ़ भूमि का संगम स्थल—इस क्षेत्र का क्रोड़ स्थल है। यदि जनगणना की परिभाषा के अनुसार बोलपुर 'शहरी' क्षेत्र और विश्व भारती नहीं है तो भी जहाँ तक सुविधाओं का सम्बन्ध है विश्व भारती में एक शहरी क्षेत्र की अधिक विशिष्टताएं मिलती हैं। यह समग्र क्षेत्र—निस्सन्देह ग्रामीय दृष्टि से विभिन्न विशेषताएं रखता है—शहरी विभाग का अधिकेंद्र है।

अब समूचा क्षेत्र एक ऐसा प्रभावशाली दृश्य उपस्थित करता है, जिसमें एक-एक करके शहरी जीवन की सभी सुविधाएं प्राप्त हो रही हैं; प्रायः हर तरफ व्यस्त गतिविधियां—जिन्होंने पहले ही कुछ विशिष्ट सफलताएं प्राप्त कर ली हैं—स्पष्ट नजर आती हैं। 'आधुनिकीकरण' की अपनी योजनाओं के साथ अग्रसर हो रहा बोलपुर अब १५ वर्ष पहले का बोलपुर नहीं रहा।

विश्व भारती के दोनों निकेतनों तथा उनके कर्मचारियों की पूंजी और राजस्व खर्च का बोलपुर की अर्थ-व्यवस्था पर पड़े प्रभाव का या इस विश्वविद्यालय के आस-पास के स्थानों के जीवन पर पड़े असर का पूर्णरूपेण मूल्यांकन करना एवम् उसे अलग करके देखना निस्सन्देह कठिन है। प्रस्तुत लेख का विषय मुख्य रूप से बोलपुर थाने के अन्तर्गत आनेवाले गाँवों और बोलपुर शहर के मध्य जो सम्बन्ध है, उस पर विचार करना ही है।

४

बोलपुर के मुख्य जनपथ से होकर गुजरनेवाला व्यक्ति शहर के बीच नव जीवन के आसारों से शायद ही अनभिज्ञ रह सके। व्यस्त जीपें और ट्रक[१२] इधर-उधर जाते-आते

१२. नगरपालिका के अध्यक्ष के अनुसार १९० मन की क्षमतावाले करीब ३० ट्रक धान, चावल, ईंट, रेत, अन्य भवन निर्माण सामग्री, सरसों व उसका तेल, खली आदि जैसी भारी सामग्री के लगभग ९० प्रति शत भाग को ढोने में लगे हैं और शेष दस प्रति शत बैलगाड़ियों के लिए छोड़ देते हैं जिनकी माँग अब घटती जा रही है। इन ट्रकों पर करीब २०० कुली हैं, जिनमें से ७० प्रति शत संथाल हैं इस श्रम-शक्ति का एक-पंचमांश बिहार से आया है और केवल १० प्रति शत ही स्थानीय लोग हैं, जिनमें अधिकांश परिगणित जातियों के लोग हैं !! नगरपालिका ट्रकों से कोई कर नहीं वसूल करती।

रहते हैं; कोई ३०० रिक्शे[१३] बैल गाड़ियाँ, पैदल चलनेवाले और माइकलें स्टेशन से आनेवाली छोटी-सी विशालित सड़क से होकर गुजरते रहते हैं, जो आगे चलकर तीन भिन्न दिशाओं[१४] में विभक्त हो जाती है। मिट्टी के तेल से जलनेवाली परम्परागत लालटेन व पेट्रोमेक्स के स्थान पर अब बिजली[१५] का इस्तेमाल होने लगा है। दूकानों में बिजली का प्रकाश, पंखे का इस्तेमाल होता है, सभी तरह के कपड़े का अच्छा प्रदर्शन पाया जाता है। एक सौ से अधिक टेलीफोन[१६] लगे हैं जो केवल व्यापारिक केंद्रों अथवा दूकानों में ही नहीं बल्कि स्कूल, कालेज तथा घरों में भी लगे हैं। बोलपुर तथा आस-पास के अन्य शहरों या नानूर, कन्धार, पालित-

१३. नगरपालिका के पास १,०४५ एक रजिस्टर्ड रिक्शों की संख्या १९५१ के १५० के स्थान पर ३०० थी। जनगणना के कार्यवाहक अधिकारी के अनुसार २६० रिक्शे चलते हैं और २८० व्यक्तियों के पास रिक्शा चलाने के लाइसेंस हैं। केवल ३० लोगों का करीब ८० प्रति शत रिक्शों पर अधिकार है। शेष २० प्रति शत पर रिक्शा चलानेवालों का अधिकार है। दिसम्बर के दिनों को छोड़कर जब कि शांतिनिकेतन में वार्षिक समारोह और मेले की धूम रहती है तथा रिक्शा मालिक रिक्शा चलानेवालों से ५ रु. प्रति दिन के हिसाब से रिक्शे का किराया लेते हैं, शेष महीनों में वे १.५० रुपया प्रति दिन के हिसाब से किराया लेते हैं। रिक्शा चलानेवाले १२० से १५० रुपये प्रति माह तक कमा लेते हैं। रिक्शा-किराया नगरपालिका प्रति घण्टे एक रुपये की दर से तय करती है। नगरपालिका ६ रुपये वार्षिक रिक्शा मालिक से और ५०नये पैसे रिक्शा चलानेवाले से कर के रूप में वसूल करती है। करीब ४० प्रति शत रिक्शा-चालक बिहार व अन्य राज्यों से आये हुए हैं; विशुद्ध रूप से स्थानीय लोग केवल ३० हैं; शेष आस-पास के स्थानों से आये हैं। कुछ स्थानीय रिक्शा-चालकों के अनुसार अन्य राज्यों से लोगों के आने के कारण यह व्यवसाय उनके हाथों से निकलता जा रहा है।

१४. सड़कों की कुल लम्बाई ५.०० वर्ग मील के क्षेत्र में २२.५ मील है; १६ मील नगरपालिका के अधिकार में और ६.५ मील अन्य अधिकारियों के। आठ मील पक्की और शेष कच्ची सड़क है। जल और धन की अत्यधिक कमी के कारण शांतिनिकेतन में वार्षिक समारोह के वक्त तीन दिनों को छोड़कर, जब कि प्रधान मंत्री पधारते हैं, शेष काल में गलियों में पानी की व्यवस्था बिलकुल नहीं है। सड़कों पर कुल ३५८ लालटेन और १४० बिजली की बत्तियाँ हैं। इसका मतलब है प्रति एक मील सड़क पर २३ बत्तियाँ अर्थात् प्रति ७० गज पर एक बत्ती!! बिजली की बत्तियों के लिए नगरपालिका को प्रति बत्ती ३ रुपया मासिक देना पड़ता है; यदि एक वर्ष में प्रकाश २,२०० घण्टे से ज्यादा किया जाता है तो दर बढ़ा दी जाती है। यह ऐसा तथ्य है जिससे नगरपालिका (नगरपालिका का वार्षिक स्थानीय राजस्व ८४,००० रु. यानी ३.६१ रुपया **प्रति व्यक्ति** है!! कुल राजस्व १९५१ में ५७,८०० रुपये और **प्रति व्यक्ति** राजस्व ३.९१ रुपये था।) में कम बिजली की बत्तियाँ होने के विषय पर प्रकाश पड़ता है।

१५. सन् १९४२ में ५० किलोवाट की प्रस्थापित क्षमता के साथ स्थानीय बिजली सप्लाई कम्पनी ने २०,५०० किलोवाट घण्टे बिजली पैदा की और १९,२४० किलोवाट घण्टे बिजली बेची। उक्त कम्पनी एक प्राइवेट कम्पनी है। बिजली सप्लाई का काम सरकार ने १९५४ में हाथ में लिया। मार्च १९५५ में ४,०५,००० किलोवाट घण्टे बिजली घरेलू प्रकाश तथा पंखों के लिए बेची गयी और १,४४,००० किलोवाट घण्टे औद्योगिक कामों के लिए। मार्च १९६२ में **घरेलू** प्रकाश और पंखों के लिए भार ७३७ किलोवाट (८०० उपभोक्ता) था; **व्यावसायिक** प्रकाश और पंखों के लिए ३८१ किलोवाट (४१७ उपभोक्ता) और औद्योगिक इस्तेमाल के लिए २५८ किलोवाट (२९ उपभोक्ता) था। जो उद्योग बिजली का इस्तेमाल कर रहे थे उनमें 'इंजीनियरिंग वर्कशाप' पाँच (सम्बद्ध भार ४० किलोवाट), चावल मिलें, तेल पेराई मिलें आदि १३ (सम्बद्ध भार १६३ किलोवाट) थीं। शेष में दो छापेखाने; दो आइसक्रीम फैक्ट्री; तीन काठ चिराई के कारखाने; और एक स्ट्रा बोर्ड फैक्ट्री थी। अब तक उत्पादित बिजली के अधिकांश भाग का घरेलू इस्तेमाल होता है। जिस कुल क्षेत्र (१४.५ वर्ग मील) में बिजली सप्लाई की गयी, उसमें विश्व भारती भी शामिल है।

१६. सन् १९४० में केवल ग्यारह टेलीफोन थे जबकि बोलपुर क्षेत्र में सर्व प्रथम टेलीफोन सेवा शुरू की गयी थी। सन् १९४७ में इनकी संख्या २६ थी और १९६१ तक यह ११८ हो गयी थी।

पुर, इलमबाजार और सूरी जैसे बड़े-बड़े गाँवों के बीच बस सर्विस है। बसों में बड़ी भीड़ रहती है। अब इन गाँवों अथवा शहरों को बोलपुर के साथ सभी मौसमों में काम देनेवाली रोड़ी की सड़कों[१७] से जोड़ा जा रहा है। बिजली का सर्वाधिक औद्योगिक उपयोग करनेवाली धान-कुटाई की मशीनें[१८] हैं। इन्होंने 'ढेंकियों' का चलना—दूर-दूर के गाँवों तक—बन्द कर दिया है। और, अन्त में पुरानी चावल मिलें अब भी शहर[१९] की अर्थ-व्यवस्था पर कब्जा किये हुए हैं।

वर्ग भेद की समाप्ति

हर स्थान पर और जीवन के हर पहलू में बड़ा भारी परिवर्तन स्पष्ट परिलक्षित है, जैसे लोगों की मानसिक

---

१७. बोलपुर से सूरी (जिला हेडक्वार्टर) तक (४२ मील) इलमबाजार होती हुई चार बसें जाती और चार आती हैं। परोली होकर छोटे रास्ते से (२२ मील) छः बसें जाती और छः बसें आती हैं। किरनार (१७ मील), नानूर (१२ मील; चण्डीदास की जन्मभूमि) को छः ट्रिप और छः ट्रिप पालितपुर तक होते हैं। नगरपालिका के अध्यक्ष द्वारा प्रदत्त जानकारी के अनुसार विभिन्न मार्गों पर १५ बसें चलती हैं, जो प्रति दिन करीब ३,००० व्यक्तियों को ले जाती हैं, जिनमें ६० प्रति शत मार्ग के एक छोर से दूसरे छोर तक आते-जाते हैं और शेष सड़क के आस-पास के गांवों के। करीब आधे आदमी शहर में खरीद करने अथवा अन्य किसी काम से आते हैं तथा शेष यात्री या तो रेल से कहीं जाने के लिए अथवा कहीं से रेल द्वारा आने पर बस पकड़ते हैं।

१८. एक हलरवाली धान कूटने की मशीनें बिजली की सहायता से नगरपालिका के क्षेत्र में ही बड़ी अच्छी तरह चल रही हैं। इन्हें आटा चक्कियों में भी बदला जा सकता है। कुटाई की लागत और समय दोनों ही दृष्टियों से फायदा होने की वजह से, जैसा कि लोगों की काना-फूसी से पता चलता है, जो चन्द ढेंकियां अब तक चलती थीं उनका स्थान उन्होंने ले लिया है। (देखिए **डाक्टर हाशिम अमीर अली: राइस इण्डस्ट्री इन लोअर बीरभूम**; पृष्ठ : ४२; **बीरभूम सेन्सस हैण्ड बुक**, १९६१; पृष्ठ : ५०; **साहजपुर रिपोर्ट** (१९५६); पृष्ठ : ९३; **फूड एडमिनिस्ट्रेशन इन ईस्ट इण्डिया**; पृष्ठ : १५४; **खादी ग्रामोद्योग**; जुलाई १९६२; पृष्ठ : ६३२-६३९)। भुवनडांगा के एक कृषक के अनुसार एक धान-कूटक मशीन—जोकि ढेंकी के समान नियमित रूप से धान-कुटाई कर सकती है—एक मन धान की कुटाई के पांच आने लेती है और उसे कूटने में केवल १९ मिनट लगते हैं। डा. अली के अनुसार एक ढेंकी साल भर में १०० मन धान कूट सकती है। एक मन धान पर ३० छटाँक चावल देने की पद्धति को ध्यान में रखते हुए—इस पद्धति में धान को तीन प्रक्रियाओं से होकर गुजारना पड़ता है—वर्तमान लागत के अनुसार प्रति मन चावल पर पारिश्रमिक एक रुपया पड़ता है। पहले कृषक परिवार की महिलाएँ प्रायः साल भर इस काम में लगी रहती थीं या अपने घरेलू उपभोग के लिए श्रमिकों से धान-कुटाई करवाने से वे भी वर्ष के अधिकांश समय में यह काम करते रहते थे। जो लोग स्थानीय महिलाओं को धान कूटने के लिए देते थे वे शाम होने पर भी उसे वापस प्राप्त करने की आशा नहीं रखते थे और उबालने से लेकर ढेंकी में कुटाई करने के समूचे काम के लिए—ढेंकी में कुटाई तीन बार होती है—करीब २८ छटाँक चावल मजदूरी के रूप में देने थे, जो रुपये-पैसे की शब्दावली में एक रुपये से भी ज्यादा के होते हैं। अब इस धान कूटनेवाली मशीन को केवल १९ मिनट लगते हैं और उसकी कुटाई है, केवल पांच आना प्रति मन धान। समय भी बचता है और पैसा भी। दोनों का अन्तर काफी महत्वपूर्ण है। कुछ क्षेत्रों में धान को अब भी ग्रामीण महिलाएं ठेके पर लेकर उबालती हैं।

१९. कुल २० चावल मिलों में से (इनमें से चार तेल पेराई का काम भी करती हैं) दो अब बन्द हो गयी बताते हैं—चावल मिलों के स्वामित्व के संबन्ध में, किसी विस्तृत जांच के अभाव में, अनुमान इस आधार पर लगाया जा सकता है कि सन् १९४० से लेकर टेलीफोन का कनेक्शन कब कैसे टूटा है—श्री सन्तोषनाथ सेठ द्वारा लिखित **बंग देशर चलतत्व** में १९२९ में उल्लिखित २७ नाम प्रस्तुत चावल मिलों के नाम से बहुत भिन्न है। बोलपुर में १९१३ से हुए चावल मिलों के विकास का विस्तृत विवरण डाक्टर हाशिम अमीर अली की रचना **दि राइस इण्डस्ट्री इन लोअर बीरभूम** (१९३४) में मिलता है। बोलपुर की एक औसत चावल मिल के सम्बन्ध में उपलब्ध आंकड़े इस प्रकार हैं :

(१) हलरों की औसत संख्या : ४।

(२) प्रति दिन अधिकतम उत्पादन क्षमता : ४०० मन धान।

बनावट, आर्थिक क्षेत्र तथा सामाजिक और आर्थिक पहलू। पुराने जमाने का वर्ग भेद बड़ी तेजी से मिट रहा है; ग्रामीण और शहरों के 'निम्न वर्गीय' लोगों के मन से 'सफेद पोश' भद्र लोगों का डर मिट रहा है। आज वे बाहर बड़े इत्मिनान से सिगरेट सुलगाकर निकलते हैं, 'बाबू लोगों' के कन्धों से टकराते हुए! रिक्शा करने और मजे से घूमने में आज उन्हें कोई हिचकिचाहट नहीं, जो कि कभी 'उच्च वर्गीय लोगों' का विशेषाधिकार समझा जाता था!!

बेहतरीन संचार साधन

शहर तक अच्छी सड़कों के होने से ग्रामीण आज—उस खर्च पर आराम के साधन मिलने से जिसे वे सहन कर सकते हैं—आराम-पसन्द हो गये हैं। आस-पास के स्थानों पर दिन में काम पर जानेवाले मजदूर आज पैदल चलकर रास्ता तय करने के स्थान पर बस में बैठकर जाना पसन्द करते हैं। चूंकि पहले ग्रामीणों को यह सुविधा प्राप्त नहीं थी, इसलिए यदि अब वे कुछ आराम तलबी बने हैं तो यह अपरिहार्य है।

परिवहन एजेण्ट आज वे सभी प्रकार की चीजें लाने ले जाने का बड़ा अच्छा व्यवसाय कर रहे हैं जिन्हें कभी बैलगाड़ियाँ[२०] ढोया करती थीं; शहर और विश्व भारती में मकान बनानेवाले ठेकेदार सदैव ही किसी न किसी निर्माण कार्य में व्यस्त रहते हैं; क्षेत्र का कायापलट करने में महिला-पुरुष, मुर्शिदाबादी राज व बाहरी स्थानों से आये देहाती श्रमिक सभी हाथ बटा रहे हैं। यदि दूध सप्लाई करने का काम स्थानीय लोगों[२१] के साथ व्यवसाय

(३) तीन अत्यंत व्यस्त महीनों में औसत उत्पादन दर : प्रति दिन १६,००० मन धान।

(४) दो महीनों के लिए (आधी क्षमता पर) औसत उत्पादन दर : १३,००० मन धान।

(५) 'ढीले मौसम' में औसत उत्पादन दर (अधिकतम उत्पादन क्षमता का १० प्रति शत) : ८,००० मन धान = कुल योग : ५६,००० मन धान।

(६) समूचे वर्ष के लिए अन्दाजन मासिक उपरि-व्यय ५०० रुपये प्रति माह।

(७) अत्यधिक व्यस्त मौसम में रोजगार : करीब ६० श्रमिक; इसके अलावा धान उबालने के लिए लगभग २५ व्यक्ति।

(८) ईंधन का उपयोग : करीब ९०-९५ प्रति शत ईंधन भूसी से प्राप्त हो जाता है, शेष कोयला। बिजली के उच्च दबाव का औद्योगिक प्रयोग के लिए न्यूनतम रेट काफी ज्यादा समझा जाता है, आज भी बहुत कम मिलें बिजली का इस्तेमाल करना चाहती हैं। चावल मिलों में मौसमी रोजगारी वर्ष में करीब छः महीने रहती है (और चार महीने आउटस्कॉम की फैक्टिरयों में)। इस सम्बन्ध में **'दि राइस इण्डस्ट्री इन लोअर बीरभूम'** का पृष्ठ ४२ देखिए। उसमें लिखा है... "यदि हम एक औसत मिल का उदाहरण लें जो **वर्ष में २०० दिन चलती है** तो हम देखेंगे कि १,३५० श्रमिक इन मिलों से अपना जीविकोपार्जन करते हैं।" चूँकि यह उद्योग मौसमी है इसलिए कुछ इकाइयां सहायक उद्योग के रूप में सरसों का तेल पेरकर ऊपरी खर्च बराबर करने की कोशिश करती हैं। चावल के मामले में "कच्ची सामग्री" स्थानीय रूप से प्राप्त की जाती है और मुश्किल से एक प्रति शत स्थानीय उपभोग के लिए छोड़कर शेष समग्र उत्पादन बाहर भेज दिया जाता है। इसके विपरीत सरसों के तेल के लिए "कच्ची सामग्री" दूसरे राज्यों से मंगाई जाती है। उत्पादन का या तो स्थानीय रूप से अथवा आसपास के गाँवों में उपभोग होता है।... उन स्रोतों के अनुसार जहाँ से ये तथ्य प्राप्त किये गये हैं, धान कूटनेवाली मशीनों की चावल मिलों के साथ स्पर्धा नहीं है, लेकिन उन्होंने ढेंकी का स्थान परिपूर्ण रूप से ले लिया है।

२०. नगरपालिका के पास १९६२ में रजिस्टर्ड बैलगाड़ियों की संख्या २०० है। बैलगाड़ियों के मालिकों से नगरपालिका ६.५० रुपये लायसेंस फीस लेती है। ट्रकों और किसी हद तक रिक्शों ने इन गाड़ियों की उपयोगिता बहुत कुछ कम कर दी है।

२१. भुवनडांगा गाँव में ग्रामीणों के पशु धन के सम्बन्ध में की गई जाँच से पता चलता है कि मालिक को प्रति माह २० गाँठें घास, दो रुपये की खली, दो रुपये की भूसी आदि और एक रुपया ग्वाले को देने के हिसाब से १५ रुपये खर्च करने पड़ते हैं। इसके बदले उसे दूध मिलता है एक महीने

के रूप में लोकप्रिय नहीं है अथवा उनके बूते के बाहर है तो आस-पास के राज्यों से आकर नये-नये स्थानों से बसनेवाले लोगों ने उस पर एकाधिकार भी कर लिया है।

शैक्षणिक संस्थाएं[२२] अपने विस्तार कार्य में व्यस्त हैं। नये भवन बनवाने, उपकरण, आपरेटस व पुस्तकें प्राप्त करने के लिए सरकार उदारतापूर्वक सहायता देती है। कोई पच्चीस वर्ष पहले एक सरकारी अधिकारी ने लड़कियों के स्कूल के लिए स्थानीय व्यापारियों पर ३०० रुपये इकट्ठे करने के लिए अपने प्रभाव का उपयोग किया था। उस वक्त इस पुनीत प्रयास का काफी विरोध हुआ था। आज वह विरोध विलक्षण प्रतीत होता है —नये डिग्री कालेज की भव्य इमारत बनी हुई है। उच्च शिक्षा की बढ़ती हुई माँग पूरी करने के लिए कालेज का विस्तार करने की योजना है। इस प्रकार सांस्कृतिक और शिक्षा के क्षेत्र में यह एक बहुत बड़ी कमी की पूर्ति करता है। बुनियादी प्राथमिक विद्यालयों और हायर सेकण्डरी स्कूलों में छात्रों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है।

बोलपुर के सांस्कृतिक जीवन पर विश्व भारती का प्रभाव अन्य किसी भी स्थान से अधिक स्पष्ट रूप में परिलक्षित है। स्कूलों और कालेजों में विश्व भारती के नृत्य, नाटक व संगीत को सजीव रूप दिया जा चुका है, जिन्हें आज देश की समग्र जनता स्वीकार कर चुकी है।

बोलपुर देश के आम भागों की प्रगति की गति से ही और सम्भवतः उसी जोरदार ढंग से कलकत्ता की जीवन-पद्धति अपनाता गया है—सार्वजनिक पूजाओं में देवी, दुर्गा या सरस्वती की मूर्तियां आधुनिकतम ढंग से सजाना, जोर-जोर से लाउड-स्पीकर बजाना कलकत्ता तथा बम्बई में बनी फिल्मों के गीत बजाना अथवा कलकत्ता में प्रचलित हो गये निराशामय गीतों के रेकार्ड बजाना।

एक सिनेमा घर है 'ग्रेट लेवलर', जिसने कि पहले के तम्बूवाले मौसमी सिनेमाघर (टूरिंग सिनेमाघर) का स्थान ले लिया है; सिनेमा घर ऐसी जगह पर बना है कि वहाँ बोलपुर, भुवनडांगा और बंदगोरा के लोग अपना मनोरंजन करते हैं। यहाँ हर जगह और हर वर्ग के लोग मिलते हैं तथा अन्य शहरों की भाँति ही सबको एक ही स्तर के मनोरंजन के प्रति झुकना पड़ता है। आबादी में वृद्धि होने से दूसरे सिनेमाघर की जरूरत महसूस की जा रही है और इस बार तो शीत-ताप नियंत्रित सिनेमाघर ही बनाना चाहिए!!.... आजकल ग्राम यात्राओं की बड़ी कम माँग हैं। कभी-कभी कलकत्ता नाटक दल आते हैं तो वे लाउड-स्पीकर, पोस्टर्स आदि के जरिये जोरदार प्रचार कर जनता में उत्साह जागृत कर देते हैं।

राज्य सरकार के विभिन्न विभाग अपने विकास कार्यों में इतने अधिक व्यस्त हैं जितने कि पहले कभी नहीं थे। सिंचाई, वन, बिजली, सड़क, सामुदायिक विकास

में २० रुपये का। दूध का उत्पादन प्रति दिन एक सेर से ज्यादा नहीं होता। पशु-धन से होनेवाला हानि-लाभ इन्हीं आंकड़ों से स्पष्ट है। जुलाई १९६२ में इस गाँव का सर्वेक्षण किया गया था। उससे प्रकट होता है कि १,४०० की आबादीवाले इस गाँव में केवल ५४ घरों में ही गायें हैं; केवल ९१ गायें ही दूध देती थीं; १०० ठंठर थीं; १४ गायें उच्च वर्गीय हिन्दू परिवारों के पास थीं; १२ गायें उन ग्रामीणों के पास थीं, जिन्हें शहर की हवा लग चुकी है; ४० गायों के मालिक १६ मुसलमान परिवार थे; २९ दूसरे परिवारों के पास ७९ गायों में से ५७ ठंठर थीं।

२२. शहर के नौ मुहल्लों (वार्डों) में फिलहाल १० प्राथमिक और बुनियादी विद्यालय हैं, जिनमें १,९०० छात्र हैं। कुल आबादी २३,३६१ है। कुल आबादी में छात्रों का अनुपात ८.१ प्रति शत ही है। लड़कों के हाय स्कूल में १,५०० छात्र हैं; १९४७ में केवल ५०० ही विद्यार्थी थे। लड़कियों के स्कूलों में १९०५ से १९३५ के बीच छात्राओं की औसत संख्या ५८ थी; १९४७ में उनकी संख्या बढ़कर १७२ हुई और अब ५६०.है। स्कूल को १९३६ तक सरकार से ३० रुपये प्रति माह अनुदान मिलता था। कालेज में ४०० विद्यार्थी हैं। काष्ठ दस्तकारी, महिला दस्तकारी और संगीत की शिक्षा देनेवाले कुछ अन्य विद्यालय भी हैं। समग्र रूप से शिक्षा के क्षेत्र में अच्छी प्रगति हुई है, हो रही है।

से सम्बन्धित व्यस्त अधिकारियों के पास जीप गाड़ियाँ हैं और उनके जरिये वे सुदूर गाँवों में बसे लोगों से सम्पर्क स्थापित करते रहते हैं जिन तक कि कुछ वर्ष पूर्व पहुँचना मुश्किल-सा था; अधिकारियों का दावा है कि इससे विभिन्न सरकारी एजेंसियां और ग्रामीण जनता के बीच अच्छी समझ-बूझ पैदा हुई है। शान्ति निकेतन के उत्तर में एक नयी बस्ती नहर के किनारे बसायी गयी है जहाँ कि सिंचाई अधिकारी नहर के सूख जाने पर उसके तेजी से टूट रहे किनारों की मरम्मत में व्यस्त हो जाते हैं। रेलवे अधिकारी, जिन्हें कि अपने सुसज्जित रेलवे स्टेशन पर बड़ा गर्व है, अब वर्तमान स्टेशन से दो मील उत्तर में एक छोटा-सा स्टेशन बना रहे हैं। धान के खेतों के बीच और जॉन चीप द्वारा निर्मित सुरुल सुनुतिया रोड (जोकि अब नहीं है) के निकट[२३] यह नया स्टेशन शान्ति निकेतन को रेलवे स्टेशन के बहुत ही निकट ले आयेगा परन्तु इसके कारण प्राकृतिक छटा विलीन हो जायगी और उसके बदले पक्की इमारतें, यातायात की चिल्लपों और चाय की दूकानें आदि नजर आने लगेंगी। परन्तु इसे स्वीकार करना ही पड़ेगा; क्योंकि शहरीकरण का मूल्य जो चुकाना है।

बिजली की खपत में वृद्धि

इलेक्ट्रिसिटी बोर्ड में बिजली की खपत तेजी से बढ़ती जा रही है; अधिक बिजली चावल कुटाई और आटा पिसाई करनेवाली औद्योगिक इकाइयों द्वारा खर्च की जाती है और इसके साथ ही चारा कटाई करनेवाली मिलें, आइसक्रीम फैक्ट्री और छापाखाने भी औद्योगिक रूप में बिजली का इस्तेमाल करते हैं।

वन विभाग का प्रधान कार्यालय खोवाई की सीमा पर संथाल गाँव के मध्य में एक परम्परागत ढंग के सुन्दर निरीक्षण बंगले में है। वन अधिकारियों ने स्थानीय भूमि-रक्षण को रोक दिया है, जोकि यहाँ के लिए अभिशाप था। गृह निर्माण के बड़े कार्यक्रम के फलस्वरूप मिट्टी को और भी नुकसान पहुँचा; क्योंकि सतह के दो फुट नीचे कंकड़ पाये जाते हैं जिन्हें प्राप्त करने के लिए लोग सरकारी प्रतिबन्ध के बावजूद मिट्टी खोद डालते हैं।

पुरानी संस्थाएँ लुप्त

जैसे-जैसे सरकार हर विभाग के लोगों में सहकार की भावना जागृत करने की अपनी नयी योजना में अग्रसर होती जा रही है, पुरानी संस्थाएं, जो कि वर्षों से स्थानीय लोगों की सेवा करती आ रही हैं, एक के बाद एक लुप्त होती जा रही है। यदि पुराने लोग सहकार के अच्छे विचार को नहीं समझते तो सरकार, जोकि संयुक्त (निगमित) जीवन के लाभों से पुनः प्रेरित है, ने अपने अनुभवों और अब तक किये गये खर्चों को बट्टे खाते डाल देने का तथा नयी पी ी में सहकार की भावना का विस्तार नयी बहुधन्धी सहकारी समितियों के निर्माण के लिए माँग की गयी बड़ी निधियों की पूर्ति कर करने का निश्चय किया है। यदि लोग अपने स्वार्थ के कारण सहकार की अच्छाई व योग्यता में कोई दिलचस्पी नहीं रखते तो कोई बात नहीं, यह योजना शिक्षा का एक अंग है, कोई निवेश नहीं।

जैसे-जैसे शहर का महत्व बढ़ता जाता है इसे सब-डिविजन का प्रधान कार्यालय स्थल बनाने का प्रस्ताव किया जाता है। बड़े लोगों के लिए यह इज्जत का सवाल है और अपने झगड़ों को निपटाने के लिए अदालत जानेवाले लोगों के लिए सुविधा का।

नये प्रख्यात स्थान

चूंकि अब उच्च अधिकारियों का शहर में आना-जाना अधिक हो गया है, अतः पुराने बंगले के पास ६५ हजार

२३. जान चीप के समय की इस सड़क के नष्ट हो जाने के बाद से आस-पास के गांवों के व्यापार कार्य पर बड़ा आघात पहुंचा। यह सड़क सुरुल को ओनूटीयास से मिलाती थी। इसके फलस्वरूप वहाँ के गांवों का शहर और शांति निकेतन से बड़ा ही निकट का आर्थिक सम्बन्ध था। इसके नष्ट होने के पश्चात अब तक कोई दूसरी सड़क नहीं बनी।

रुपये की लागत का एक नया बंगला बनवाया गया है। इस नये बंगले में बड़े अधिकारियों के लिए जगह होगी तथा पुराने बंगले में, जोकि अब व्यापारिक यात्रियों और निचली श्रेणी के अधिकारियों का आश्रय है, अब सूनापन नजर आयेगा।

एक युवक छात्रावास का निर्माण सम्पूर्ण होने को है और विदेशी भ्रमणार्थियों के लिए एक बंगला शहर के बीच थोड़ी-सी बची हुई जमीन पर बनाया जायेगा और वह शहर के किनारे से गुजरती हुई हाईवे के निकट होगा। अब हर खाली जगह पर लोगों के निजी मकान बनते जा रहे हैं, खुली जगह का अभाव होता जा रहा है और जमीन की कीमत दिन पर दिन बढ़ती ही जा रही है।[२४]

तीव्र विकास

शहरी क्षेत्र का पूरा खाका यह है कि हर भाग दिन पर दिन तेजी से विकसित होता जा रहा है और इसके आसपास के गाँव भी इसकी समृद्धि का कुछ लाभ प्राप्त कर रहे हैं। रुपये का लेन-देन बहुत अधिक है, बड़े-बड़े कामों में पिछले दस वर्षों में, रिजर्व बैंक ऑफ् इंडिया द्वारा की गयी जाँच के आधार पर (रिजर्व बैंक ऑफ् इंडिया बुलेटिन; अप्रैल १९६०), मजदूरी के रूप में दस लाख अथवा उससे अधिक ही रुपये चुकाये गये हैं। सिंचाई विभाग ने मुआवजे के रूप में, कम से कम कुछ भागों में, प्रति एकड़[२५] धान के खेत पर १,२५० रुपये की दर से स्थानीय अर्थ-व्यवस्था में बहुत बड़ी रकम दी है। विश्वविद्यालय-वाले शहर को पिछले वर्षों में प्राप्त तथा खर्च की गयी सरकारी निधि भी बहुत बड़ी रही। राष्ट्रीय विस्तार सेवा खंड को १२८ वर्ग मील क्षेत्र हेतु पांच वर्षों के लिए १२ लाख रुपये दिये गये हैं, जो कि उस इलाके में ही खर्च हो रहे हैं।[२६] इसके अतिरिक्त धान की सुनिश्चित कीमत मिलती है और अच्छे बीजों, खाद[२७] के वितरण और कुछ क्षेत्रों में नहर के जल से उत्पादन में वृद्धि हुई है। बढ़ते खर्च की झलक हर दूकान पर बिकनेवाली चीजों से मिलती है; दूकानों में ऐशो-आराम की चीजों तथा फ्राक, ब्लाउज और साड़ियां, साइकिलों, रेडियो, आधुनिक शौचालय के उपकरणों, देशी-विदेशी शराब आदि की अच्छी बिक्री हो जाती है।

●

---

२४. शहर के निकट कृषि योग्य भूमि अब ६०० रुपये से १,५०० रुपये प्रति बीघा की दर से बिकती है जबकि लड़ाई के पहले २० रुपये से ६० रुपये प्रति बीघा उसकी कीमत थी। योग्यता के अनुसार औसत खेतीवाली भूमि की कीमत १,१०० रुपये या उससे अधिक है, 'दो अंश' भूमि ६०० रुपये की दर से बिकती है और घटिया किस्म की 'बेली जमीन' (बलुआही भूमि) ४०० रुपये प्रति बीघा बिकती है। धान की कीमत में हुई वृद्धि (अभी जोकि १४.५० रुपये प्रति मन की दर से बिकता है जबकि १९३९ में दो रुपये प्रति मन की दर से बिकता था) की तुलना में धान के खेतों की कीमत में अधिक वृद्धि हुई है। उत्पादन की अधिक सुनिश्चित कीमत, जमीन का अधिक सघन उपयोग और मांग में वृद्धि के फलस्वरूप ही, कृषि और गैर-कृषि कार्यों दोनों के लिए ही, संभवतः धान के खेतों की कीमत में इतनी अधिक वृद्धि हुई है। गैर-कृषि भूमि की कीमत तो और भी अधिक बढ़ गयी है, बोलपुर से शान्तिनिकेतन आने-वाली मुख्य सड़क के दोनों ओर की जो जमीन लड़ाई के पहले ४० रु. प्रति बीघा में बिकती थी अब करीब [illegible],००० रु. प्रति बीघा की दर से बिकती है।

२५. विश्व भारती की कृषि औद्योगिक अनुसन्धान केन्द्र की रिपोर्ट : "सहजपुर गांव" सन् १९[illegible] के अनुसार।

२६. डा. हाशिम अमीर अली : **एनवायरन्स ऑफ् टैगोर**; पृष्ठ : ५६।

२७. पहले खाद के रूप में हड्डियों और मल-मूत्र के इस्तेमाल का जो अनिच्छा देखी जाती थी वह अन्य किसान वर्गों में से धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही है। ज्ञात हुआ है कि नगर-पालिका के पास कूड़े-कर्कट और मल-मूत्र से तैयार की गयी खाद की अच्छी मांग है।

ग्रामीण खेतिहरों के पास जो फालतू पैसे हैं उनसे पक्का मकान बनाने की प्रेरणा मिलती है; कुछ तो शहर में जमीन और मकान में रुपया लगा देते हैं, जबकि कुछ शहर में नया व्यापार आरम्भ कर देते हैं।

भाग २

आम वृद्धि की उपर्युक्त झलक, जोकि साधारण व्यक्ति को भी प्रत्यक्ष नजर आ जाती है, के साथ यह भी जानना दिलचस्प होगा कि आबादी में वृद्धि तथा धन्धे की पद्धति में आस-पास के गाँवों में क्या रुख है,जैसा कि जन-गणना रिपोर्ट में दिखाया गया है। हमारा एक उद्देश्य यह है कि "आर्थिक विकास का लाभ अपेक्षाकृत समाज के गरीब लोगों को अधिक मिलना चाहिए तथा आय, धन और आर्थिक शक्ति के केन्द्रीकरण में धीरे-धीरे कमी होनी चाहिए।" हमें बोलपुर शहर को केन्द्र मानकर उसके आस-पास के गाँवों में विकास के स्वरूप की मोटी रूप-रेखा प्राप्त करनी चाहिए।

तालिकाओं में दिये गये तथ्य निर्णयात्मक नहीं हैं। ये तो विकास के चन्द पहलुओं का सही स्वरूप दर्शाने हेतु ही हैं। इन सीमाओं के होते हुए भी ये तालिकाएँ अपनी कहानियाँ खुद ही कहेंगी और हमें कुछ ऐसी बातें बतायेंगी जोकि गौर करने तथा बाद में अध्ययन करने योग्य होंगी। इस लेख में ठोस निर्णय करने की कोई कोशिश नहीं की जा रही है; इसे पाठकों पर छोड़ देना चाहिए। तालिकाओं की व्यवस्था करने में जो पद्धति अपनायी गयी है, खासकर जन-गणना से प्राप्त तालिकाओं की, उसके विषय में चन्द शब्द कहना आवश्यक प्रतीत होता है।

क्षेत्र सूची संख्या अथवा मौजा से सम्बन्धित जन-गणना आंकड़ों के पुर्नवर्गीकरण में, ग्राम समूह के स्थान के अनुसार, जोकि अब तक लघुतम प्रशासन इकाई, यूनियन बोर्ड[२८] माने जाते थे, बड़ी इकाइयों (१२ से १५ मौजावाली इकाइयों में) के संयुक्त आंकड़ों को एक जगह कर दिया गया है और उन्हें बोलपुर पुलिस स्टेशन क्षेत्र की तालिकाओं में जोड़ दिया गया है, जोकि जैसा कि पहले बताया जा चुका है, राष्ट्रीय विस्तार सेवा खंड क्षेत्र के समरूप हैं।

सन् १९५१ के जन-गणना वर्गीकरण के अनुसार एक दूसरे से सटे बोलपुर, नान्नूर और इलमबाजार पुलिस स्टेशन क्षेत्रों को, जिनके अन्तर्गत ४५० वर्ग मील क्षेत्र आते हैं, रूरल ट्रैक्ट १० में वर्गीकृत कर दिया गया। इस इलाके की सन् १९६१ में हुई जन-गणना से जो स्थायी आंकड़े लिये गये हैं उन्हें भी इसी तरह रखा गया है।

बोलपुर नगरपालिका का क्षेत्रफल ५.०७ वर्ग मील है और इसमें मौजा संख्या ९७, ९८ तथा ९९ और १०० के कुछ भाग आते हैं। यह ९ वार्डों में विभक्त है, जिनमें से ५ रेलवे लाइन के पश्चिम तथा ४ पूर्व में हैं।[२९] विश्व

२८. अंचल पंचायतों का इलाका पहले के यूनियन बोर्डों से थोड़ा-सा भिन्न है। अंचल पंचायतों के इलाके के विषय में जानकारी प्राप्त न होने के कारण सन् १९६१ के आंकड़े यूनियन बोर्ड के क्षेत्रों के अनुसार तरतीबवार किये गये हैं। फिर भी, क्षेत्रीय विभिन्नताओं के अध्ययन हेतु हम दोनों ही अवधियों में सामान्य आधार से ही सम्बन्धित हैं।

२९. नौ वार्डों की आबादी २३,३६१ है, परन्तु उनके घनत्व और गठन में बड़ी भिन्नता है। यद्यपि ४,३३८ घर तथा ४,२५२ परिवार हैं, वार्ड १,२,३,६ और ८ में घरों की संख्या से परिवारों की संख्या अधिक है। शहर में प्रति परिवार औसत आबादी ५.४९ है। वार्ड ४ में सर्वाधिक अर्थात् ६.१९ व्यक्तियों का परिवार है और वार्ड ७ में न्यूनतम अर्थात् ४.९९ व्यक्तियों का। कुल आबादी का ४५.४२ प्रति शत भाग महिलाओं का है, जिसमें से सबसे कम वार्ड ८ में ४३.८४ प्रति शत और सबसे अधिक वार्ड १ में ४६.८० प्रति शत है। परिगणित जातियों, जन-जातियों और शैक्षणिक संस्थाओं की आबादियों को छोड़कर महिलाओं का प्रति शत ४४.३७ प्रति शत हो जाता है, वार्ड ८ में ३८.७० प्रति शत और वार्ड ३ में ४६.७६ प्रति शत। वार्ड ६ में साक्षर पुरुषों का सर्वाधिक प्रति शत है (६८.७७ प्रति शत) और वार्ड २ में न्यूनतम (४५.३३ प्रति शत); शहर का औसत ५४.५१ प्रति शत है। इसके विपरीत साक्षर महिलाओं का सर्वाधिक प्रति शत वार्ड ३ में है (५०.९८ प्रति शत) और न्यूनतम वार्ड २ में (२३.१८ प्रति शत); शहर का औसत ३३.०९ प्रतिशत है। शहर में

भारती के दो विद्यालयों, के अंतर्गत ये क्षेत्र आते हैं: एक ओर मौजा ९९ और १०० (बन्दगोरा), और १०४ (सुरुल), और दूसरी ओर उनके उत्तरी भाग में मौजा ६३ (रुप्पुर यूनियन बोर्ड में बल्लभपुर) का कुछ अंश, मौजा ६५, ६७, ६९ (ग्वालपाड़ा, श्यामबत्ती और तालतोड़ (जो कि तालतोड़ यूनियन बोर्ड के अन्तर्गत हैं) आदि।[30]

भुवनडांगा गाँव, जो कि मौजा ९९ और १०० में फैला हुआ है, शान्तिनिकेतन और बोलपुर शहर के किनारे बसा है।[31]

तालिका १ (पृष्ठ: ४३७) में बोलपुर तथा उसके आस-पास के क्षेत्रों में १९०१ और १९६१ के बीच आबादी में हुई वृद्धि के आंकड़े दिये गये हैं।

आबादी की घनता में वृद्धि

तालिका एक में जो चीज सर्वाधिक आकर्षित करती है वह है पिछले दशक में सम्पूर्ण क्षेत्र में आबादी में घोर वृद्धि; यह बहुत हद तक पहले ही घोषित आबादी वृद्धि के अनुरूप है तथा सम्पूर्ण पश्चिम बंगाल में हुई वृद्धि के समान ही है। इसके पूर्व के दशकों के विपरीत इस दशक में चारों थाना क्षेत्रों की आबादी में वृद्धि की गति बहुत कुछ बराबर ही रही है।

बोलपुर का ग्रामीण क्षेत्र इन चारों ग्रामीण क्षेत्रों में से १९०१-५१ के दरमियान सबसे तीव्र गति से आबादी वृद्धि करता रहा और १९४१-५१ के दरमियान तो शहरी आबादी वृद्धि से भी कहीं अधिक वृद्धि यहां हुई। सन् १९०१ में इसका चौथा स्थान था और प्रति वर्ग मील आबादी ४०४ थी। सन् १९६१ में बोलपुर ग्रामीण क्षेत्र का तीसरा स्थान था जबकि आबादी प्रति वर्ग मील ७१६ थी। सन् १९०१ में नानूर की आबादी प्रति वर्ग मील उतनी ही थी जितनी कि सन् १९६१ में इलमबाजार की थी, परन्तु १९०१ में नानूर का प्रथम स्थान था और १९६१ में इलमबाजार का चौथा।

सन् १९४१-५१ के दरमियान आस-पास के ग्रामीण क्षेत्रों में आबादी वृद्धि न होने अथवा आबादी के घटने के सम्बन्ध में कोई निष्कर्ष निकाला जाय और यदि उससे यह सोचा जाय कि इन इलाकों से आबादी धीरे-धीरे उन केन्द्रों की ओर स्थानांतरित हो रही है जहां कि आबादी कम है, तो पिछले दस वर्षों के मामले में यह सही नहीं होगा।

पुरुष कर्मियों की औसत संख्या ४८.९८ प्रति शत है जिसमें से वार्ड ९ में ६७.३२ प्रति शत और वार्ड ३ में सिर्फ ४३.१८ प्रति शत है। फिर, महिलाओं में भी सबसे अधिक रोजगारी वार्ड ९ में (१९.०९ प्रति शत) और न्यूनतम वार्ड ७ में (४.८६ प्रति शत) है; शहर का औसत ७.१९ प्रति शत है। गैर कृषि कार्यों में काम करनेवाली आबादी का प्रति शत कुल कर्मी आबादी प्रातिशत्य का ९३.१८ है; वार्ड ६ में ९९.१६ प्रति शत और वार्ड १ में ७३ प्रति शत।

पांच वर्ग मील क्षेत्र जैसे छोटे-से इलाके में इतनी अधिक भिन्नता निश्चित ही वहां के लोगों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति पर प्रकाश डालती है जिस पर कि अलग से अध्ययन किया जा सकता है।

३० अंचल पंचायत से विश्वविद्यालय के क्षेत्र को अलग कर दिया गया है। सन् १९६१ की जन-गणना मौजा के आधार पर की गयी है।

३१ **भुवनडांगा:** इसका नाम रायपुर के लार्ड भुवनमोहन सिन्हा के नाम पर है। यह शांतिनिकेतन के ठीक दक्षिण में बसा हुआ है और जन-गणना की परिभाषा के अनुसार यह गांव नहीं है; क्योंकि यह बोलपुर नगरपालिका (वार्ड ५) का अंग है। सन् १९२१-२२ के असहयोग आंदोलन के वक्त इसे 'अछूतों का गांव' कहा जाता था। अब यह एक ओर विश्वभारती द्वारा उसके कर्मचारियों के लिए निर्मित मकानों और दूसरी ओर बोलपुर शहर के पश्चिमी भाग से घिरा हुआ है। कई शहरी लोग जिनका जन्म गांवों में न होकर शहरों में हुआ है अब ग्रामीण इलाके में रहते हैं। बोलपुर से शांतिनिकेतन जानेवाली सड़क इसमें होकर गुजरती है और इस इलाके में कई सरकारी दफ्तर हैं अतः यह **अनुबंधों का गांव** है। इसके निवासी यद्यपि शांतिनिकेतन और बोलपुर दोनों के ही प्रत्यक्ष प्रभाव में हैं तथापि उनमें कुछ अपनी सामाजिक और आर्थिक रीतियां हैं जिन्हें कि संक्षेप में लेख के अन्त में बताया जायेगा।

जन्म और मृत्यु की सब सूचनाएँ प्राप्त नहीं हुई हैं, ऐसा समझ कर यदि बोलपुर ग्रामीण क्षेत्र[३२] की इसलिए आबादी वृद्धि का मध्यम-कालीन अन्दाज देखा जाय तो भी जब तक कि १९६१ की जन-गणना का पूरा बिवरण प्रकाशित नहीं हो जाता यह निश्चित करना मुश्किल होगा कि इसमें सन् १९५१ की आबादी से स्वाभाविक वृद्धि कितनी हुई है और कितने लोग दूसरी जगह से यहां आकर बस गये हैं।

तालिका १

सन् १९०१ से रूरल ट्रैक्ट १० और बोलपुर शहर में आबादी की वृद्धि

	बोलपुर शहर	बोलपुर थाना शहर सहित	बोलपुर थाना (ग्रामीण)	इलमबाजार थाना (ग्रामीण)	लबपुर थाना (ग्रामीण)	नलूर थाना (ग्रामीण)	रूरल ट्रैक्ट १०
१. क्षेत्रफल (वर्ग मील में)	५.०७	१२८.७७	१२३.७०	१००.१७	१०४.६८	११९.२६	४४७.८१
२. आबादी (हजार में)							
१९०१	३.१	५३.१	५०.०	४०.९	६४.३	८२.२	२३७.४
१९४१	१३.८	६७.८	५३.९	४८.७	६७.२	७३.४	२४३.२
१९५१	१४.८	७७.४	६२.६	४८.३	६६.८	६९.३	२४७.०
१९६१	२३.४	१११.९	८८.६	६८.९	९१.६	९८.५	३४७.६
३. प्रति वर्ग मील धनत्व							
१९०१	—	४१३	४०४	४०८	६१४	६८८	५३०
१९४१	२,५२८	५२७	४४१	४८६	६४२	६१५	५४३
१९५१	२,९२०	६०१	५०६	४८२	६३८	५८१	५५२
१९६१	४,६०८	८६९	७१६	६८८	८७५	८२६	७७६
४. आबादी भिन्नता का प्रतिशतक*							
१९०१-१९५१	३७२.७	४५.७	२५.२	१७.९	३.९	(-) १५.६	४.१
१९४१-१९५१	६.८	१४.२	१६.०	(-) ०.८	(-) ०.७	(-) ५.५	१.६
१९५१-१९६१	५७.८	४४.५	४१.४	४२.६	३७.२	४१.९	४०.७

* सिर्फ उन आंकड़ों को छोड़कर जोकि चिन्हित हैं, शेष सभी आंकड़े वृद्धि (+) बताते हैं।

३२ 'एन्वायरन्स ऑफ् टैगोर' (तालिका ६; पृष्ठ—४२) के अनुसार डाक्टर हाशिम अमीर अली। अन्दाज किया गया कि ६२,६३८ आबादी में ७ वर्षों में ८,४७२ बच्चे पैदा हुए अर्थात् इतनी पैदायशी वृद्धि हुई।

मातृभाषा, जन्म-स्थान अथवा धर्म के आधार पर सन् १९५१ की वर्गीकृत आबादी-रचना को देखने से सन् १९६१ की रचना के विषय में भी, अस्पष्ट रूप में ही सही, अनुमान कर सकते हैं।

रूरल ट्रैक्ट १० में परिगणित जातियां और परिगणित जन-जातियों की आबादी की तुलना करते वक्त तालिका ३ (पृष्ठ: ३४९) से दस वर्षों में हुई १,००,००० की वृद्धि में से कुछ के विषय में ही जानकारी मिलती है।

तालिका २

सन् १९५१ में आबादी की रचना

	रूरल ट्रैक्ट १०	अर्बन ट्रैक्ट ३०
१. कुल आबादी	२,४७,०६४	६८,९९३
२. मातृभाषा के अनुसार :		
बंगला	२,२१,६०४	६०,४३३
संथाली[३३]	२२,२८४	२२४
हिन्दी	२,३२९	६,८७१
३. जन्म-स्थान के अनुसार :		
बीरभूम में पैदा हुए	२,२७,०९१	५५,४४१
पश्चिम बंगाल के अन्य जिलों में पैदा हुए	१४,०६०	२,४५५
४. पड़ोसी राज्यों से आकर बसे हुए[३४]	५,१७३	१,६९१
५. पाकिस्तान से आये हुए[३५]	२,०७४	५,७८५
६. धर्म :		
हिन्दू[३६]	१,८४,०९४	५९,८८७
मुसलमान[३७]	६१,७९४	८,५०८
आदिवासी लोग	१,०९५	१९१
७. परिगणित जातियाँ[३८]	७०,५४३	१७,२०१
८. परिगणित जन-जातियाँ[३९]	२१,६५५	२,१२६

३३ "सन् १८७२ के आंकड़े बताते हैं कि ततपूरे जिले में सिर्फ ६,९९४ संस्थाल थे; १९०१ की जनगणना के अनुसार अब ४७,२२१ हैं" (एल. एस. एस. ओमॉली : डिस्ट्रीक्ट गजेटियर, १९१०; पृष्ठ : ३६)। सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार जिले में संथाली बोलनेवालों की कुल संख्या ६१,७४८ थी (डिस्ट्रीक्ट सेंसस हैंडबुक १९५१)।

३४. जिले में कुल : १०,९९५

३५. जिले में कुल : १४,८८७

३६. जिले में कुल : ७,७४,५२७

३७. जिले में कुल : २,८६,५१८

३८. जिले में कुल : ३,१७,५९०

३९. जिले में कुल : ७९,४१७

दस वर्ष की अवधि में हुई ४०.७ प्रति शत वृद्धि का विश्लेषण करने पर पता चलता है कि अनुसूचित जातियों की आबादी में ३२·३१ प्रति शत और परिगणित जन-जातियों की जन-संख्या में ४०.२ प्रति शत वृद्धि हुई; दोनों का सम्मिलित औसत ३४.२ प्रति शत आता है। शेष जनता में ४४.६ प्रति शत की दर से आबादी में वृद्धि हुई। पूर्वी पाकिस्तान से १९५१ के बाद जिस किसी संख्या में भी लोगों का स्थानान्तरण हुआ हो यह सन्देहास्पद ही है कि रूरल ट्रैक्ट १० (यानी बोलपुर शहर) में बसनेवाले लोगों को शेष ७०,००० लोगों के एक अच्छे-खासे भाग के लिए जिम्मेदार ठहराया जा सकता है, जो कि या तो १९५१ के बाद इस इलाके में स्थानांतरित हुए हैं अथवा १९५१ से बसनेवाले लोगों के यहाँ जन्मे हैं।

अस्थायी तौर पर कोई निहितार्थ निकालने का कोई भी प्रयास, आबादी का आयु-वर्ग की दृष्टि से संघटन और अन्य सम्बद्ध आंकड़ों से युक्त परिपूर्ण जन-गणना प्रतिवेदन मिलने तक स्थगित रखना पड़ेगा। हम इस बात को हिन्दू और मुसलमानों में पुरुष तथा महिलाओं के अनुपात का वर्णन कर समाप्त करेंगे। इनका अनुपात हिन्दुओं में प्रति एक हजार पुरुषों के पीछे ९७५ महिलाओं का और मुसलमानों में १,०२१ मर्दों के पीछे १,००० औरतों का है।[४०]

जहाँ तक रूरल ट्रैक्ट १० के जीविकोपार्जन के रूख का सवाल है उसका, समय (१९५१ से १९६१ तक) और १९५१ की जन-गणना के अरबन ट्रैक्ट ३० में वर्गीकृत बीरभूम जिले के अच्छे शहरों के साथ तुलना करते हुए यानी दोनों ही दृष्टियों से अध्ययन किया जा सकता है।

तालिका ३

१९५१ व १९६१ में अनुसूचित जातियाँ और परिगणित जन-जातियां

	रूरल ट्रैक्ट १० (१९५१)	बोलपुर ग्रामीण क्षेत्र (१९५१)	रूरल ट्रैक्ट १० १९६१		बोलपुर शहर
			३ अन्य थाना क्षेत्र	कुल	
	१	२	३	४	५
१. कुल आबादी (हजार में)	२४७.०	८८.६	२५८.९	३४७.६	२३.४
२. परिगणित जाति की आबादी (हजार में)	७०.५	२२.३	७१.१	९३.३	५.०
३. परिगणित जन-जाति की आबादी (हजार में)	२१.६	१८.५	११.९	३०.४	.४
४. कालम २ और ३ कालम १ क प्रतिशतक के रूप में	३७.३	४६	३२.०	३५.६	२३

तालिका ४ (पृष्ठ : ३५०) में १९५१ और १९६१ में रूरल ट्रैक्ट ३० के जीविकोपार्जन के रुख का विवरण प्रस्तुत किया जाता है :

क्षेत्र में जिस हद तक भी धन पैदा हुआ हो, रोजगारी के अवसरों में कमी तथा गैर-कृषि धंधों में अपेक्षाकृत ह्रास इस दशक में स्पष्ट रूप से देखा गया। योजना का

४० समूचे जिले के लिए स्थिति इस प्रकार है: (अ) हिन्दुओं में प्रति १,००० पुरुष और ९६९ महिलाएँ; तथा (आ) मुसलमानों में प्रति १,००० मर्द व ९९१ औरतें।

उद्देश्य जबकि "पुरानी असमानताओं को कम करना तथा विकास के दौरान नयी असमानताओं को पैदा होने से रोकना है," इस क्षेत्र में खासकर कुछ और ही रुख है। यह महिला कर्मियों की संख्या में और कमी[४१] होने के फलस्वरूप है। तालिका पाँच से इस रुख का पता चलता है।

तालिका ४

रूरल ट्रैक्ट ३० में जीविकोपार्जन का रुख: १९५१ और १९६१

	१९५१ १	१९६१ २	१९६१ में वृद्धि/कमी	कालम २ के प्रातिशत्य स्वरूप कालम ३
१. आबादी (हजार में)	२४७	३४७.६	१००.६	४०.७
२. कार्यकारी आबादी (हजार में)	८३.५	१०४.७	२१.२	२५.४
३. खेतिहर कार्यकारी आबादी (हजार में)	६८.२	८५.८	१७.६	२५.८
४. गैर-खेतिहर कार्यकारी आबादी (हजार में)	१५.३	१८.९	३.६	२३.४
५. (अ) कुल आबादी के प्रातिशत्य स्वरूप खेतिहर कार्यकारी आबादी	२७.६	२४.७	१७.५	
(आ) कुल आबादी के प्रातिशत्य स्वरूप गैर-खेतिहर कार्यकारी आबादी	६.२	५.४	३.६	
(इ) कुल आबादी के प्रातिशत्य स्वरूप कुल कार्यकारी आबादी	३३.८	३०.१	२१.१	

तालिका ५

रूरल ट्रैक्ट १० में महिलाकर्मियों की संख्या : १९५१-६१

	१९५१	१९६१	वृद्धि (+) कमी (–)	
१. महिलाओं की कुल आबादी	१,२२,७००	१,७२,४००	(+)	४९,७००
२. महिला कर्मियों की कुल आबादी	१६,०६०	१३,२८९	(-)	२,७७१
(अ) खेतिहर कर्मी	१०,५९९	९,१०८	(-)	१,४९१
(आ) गैर-खेतिहर कर्मी	५,४६१	४,१८१	(-)	१,२८०
३. कुल आबादी के मुकाबले कर्मी आबादी का प्रति शत	१३.१	७.७		

४१ पश्चिम बंगाल में १९०१ से महिलाओं की रोजगारी में जिस हद तक कमी हुई है, उसके विषय में १९९१ की पश्चिम बंगाल जनगणना रिपोर्ट अंक में विस्तृत विवरण दिया गया है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों की इस तरह की अवस्थाओं से तुलनात्मक अध्ययन के लिए जोंदा सेविल्स लिखित **रूरल डिपोपुलेशन इन इंगलैण्ड एंड वेल्स : १८५१-१९५१** पढ़िये।

तालिका पाँच से यह साफ पता चलता है कि महिला कर्मियों की कमी होती जा रही है। विभिन्न ग्राम समहों में प्रचलित सामाजिक रस्मो-रिवाज के अलावा इस कमी के दो कारण और हो सकते हैं: या तो पुरुष वर्ग इतना अधिक कमा रहा हो कि महिलाओं को बैठाकर खिला सके या फिर महिलाओं के लिए रोजगारी के अवसरों में निश्चित ही कमी होती जा रही है--हमारे वर्तमान आर्थिक स्वरूप में उत्पादन प्रक्रियाओं में दिन-प्रति-दिन होनेवाली तक्नीकी तब्दीलियों के फलस्वरूप---कि वे परिवार की आय में अपना पूरक योगदान देने की इच्छा रखते हुए भी, जो कि उनके लिए जरूरी भी है, रोजगारी नहीं पा रही हैं। सच जो भी हो, शायद सब जगह के लिए यह लागू नहीं होता; उदाहरणस्वरूप, कुटाई मशीन[४२] के कार्य से कृषक परिवार बहुत ही खुश नजर आते हैं। जिन परिवारों की महिलाओं का यह सहायक आय का जरिया था वे अब अपने बजट को बराबर करने के लिए क्या करती होंगी, यह सोचने-समझने की बात है।

जब हम शहरी और ग्रामीण विभाग के धन्धे के स्वरूप की तुलना करते हैं तो कुल आबादी में से दोनों विभागों में स्वावलम्बी लोगों का जो अनुपात है, उससे कुछ महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है।

यद्यपि ग्रामीण आबादी की आय शहरी आबादी की आय से बहुत ही कम है (और ग्रामीणों का शहरों में निरन्तर स्थानांतरित होते रहने का निश्चित ही यही कारण है) तथापि ग्रामीण क्षेत्रों में जीविकोपार्जन माध्यम के विस्तृत वितरण का पता उपर्युक्त तालिका से लगता है। और, जब हम सन् १९५१ के अरबन ट्रैक्ट ३० की कर्मी आबादी के सम्पूर्ण प्रति शत की तुलना सन् १९६१ के बोलपुर शहर से करते हैं, तो यह देखते हैं कि अरबन ट्रैक्ट के ३५.६ प्रति शत की तुलना में बोलपुर का प्रति शत ३०.४ है।[४३]

वर्तमान अपर्याप्त आंकड़ों के आधार पर ग्रामीण और शहरी विभागों में रोजगारी के अवसरों की तुलना करना कठिन होते हुए भी उत्पादन के नये साधनों को निर्मित तथा नियमित करने के लिए उठाये गये कदमों पर विचार करने की गुंजाइश तो है ही। (क्रमशः)

तालिका ६

कुल आबादी में विभिन्न जीविका वर्गों में लगे स्वावलम्बी लोगों का प्रति शत: १९५१

	रूरल ट्रैक्ट १०	अरबन ट्रैक्ट ३०
	४४७.८ वर्गमील	(१४.३८ वर्गमील)
१. अपनी भूमि में खेती	२५.०६	२३.०३
२. गैर की भूमि में खेती	२६.७७	२२.१०
३. खेतिहर मजदूर	३४.७१	३४.०२
४. गैर-कृषक भूमिधर	३२.८०	१९.९४
५. कृषि को छोड़ कर अन्य उत्पादन	४८.४५	३८.३४
६. व्यापार	३६.५२	२९.६१
७. यातायात	२८.२६	३२.१८
८. अन्य	४१.९८	३६.१५

४२ बोलपुर शहर में बिजली की व्यवस्था है जिससे कि वहां औद्योगिक विकास की सुविधाएं उपलब्ध हैं। बोलपुर की कुल आबादी का ३०.४ प्रति शत कर्मी आबादी है जबकि १२ यूनियन बोर्डों तथा सम्पूर्ण बोलपुर ग्रामीण क्षेत्र का प्रातिशत्य क्रमशः ३२.७ और ३१.९ है। प्रति वर्ग मील कर्मी आबादी के हिसाब से शहर में अपेक्षाकृत अधिक आबादी है।

विवेकानन्द: संत और समाजवादी

वैद्यनाथन सुब्रह्मण्यन

स्वामी विवेकानन्द की जन्म शताब्दी सारे देश में मनायी जा रही है। उन्होंने लोगों के सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक विचारों को नया मोड़ दिया। उनका कहना था कि "कोई भी मत अथवा सिद्धान्त भूख शांत नहीं कर सकता।" इसके साथ-साथ उन्होंने अपने अनुयायियों को राजनैतिक स्वतंत्रता और सामाजिक समानता के सन्देश का प्रसार करने के लिए आह्वान किया।

विवेकानन्द ने अपने समय के संसार को एक महापुरुष के समान प्रभावित किया, मानसिक-चैतन्य-शून्यता में सुप्त और राजनैतिक दास्ता में जकड़े हुए अवनति के गर्त में पड़े हुए भारत को जागृत किया, और हिन्दू धर्म के प्राचीन ऋषि-महर्षियों की ज्ञानयुक्त वाणी, उपदेश फैलाकर उसके आध्यात्मिक जीवन में नया प्राण फूंका। वे उस धर्म के ज्ञान-प्रचारक बने, जो नैतिकता, देशभक्ति, सेवा और विश्वव्यापी सहिष्णुता का प्रतीक था। भौतिक दृष्टि से वे ३९ वर्ष ही इस नश्वर संसार में रहे, लेकिन इस अल्पकाल में भी हम देखते हैं कि किस प्रकार एक विद्रोही बालक का एक बौद्धिक दृष्टि से स्वतंत्र युवक में कायाकल्प हुआ, जो आगे चलकर अपने गुरु परमहंस के एक निष्ठावान अनुयायी सिद्ध हुए और अगाध भक्ति से उनकी सेवा की तथा भ्रमणशील सन्त होकर वे आनेवाली पीढ़ियों के लिए "मुक्ति के दूत" बन गये। उनके लिए गीता का निम्न उद्धरण चरितार्थ होता है :

यार्भिविभूति भिर्लोकानिमांस्त्वं
व्याप्य तिष्ठसि।

"जो अपने दैव रूप में समस्त सृष्टि में व्याप्त है।"

(गीता : १०-१६)

मानव का देवत्व

स्वामीजी की आधार-भूत शिक्षा, जो उन्होंने गुरु से प्राप्त की थी और जिसका उन्होंने अथक प्रचार किया, यह थी कि 'मानव देव है, आत्मा और परमात्मा एक ही है तथा सभी मनुष्यों व उनके कार्यों में ईश्वर व्याप्त है।' इस विचार की अभिव्यक्ति उन्होंने अपनी इस अमर वाणी में की : "प्रत्येक आत्मा अपने शाश्वत् रूप में परमात्मा है। हमारा लक्ष्य बाह्य और आंतरिक प्रकृति को काबू में कर हमारे इस अन्दर के परमात्मा को प्रादुर्भूत करना है।

"कर्म से, पूजा-अर्चना से, अपने अन्तर्मन को बस में करके अथवा दर्शन के जरिये—एक अथवा अधिक या सब विधियों से—उक्त कार्य करो और मुक्त हो जाओ।

"यही धर्म का सार है; सिद्धान्त या मत, कर्मकाण्ड अथवा पुस्तकें या मन्दिर सबके सब गौण वस्तुएं हैं।"

परिव्राजक

इसी उदारता के कारण विवेकानन्द ने हर धर्म में मानव को ईश्वर की खोज करते हुए पाया और इसी कारण उन्होंने पूजा-अर्चना आदि के विभिन्न स्वरूपों को परमात्मा तक पहुँचने के विभिन्न मार्ग समझा। इस व्यापक दृष्टिकोण के कारण ही भारत के इस परिव्राजक को १९६३ में अमेरिका में हुए धर्म सम्मेलन में धार्मिक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति माना गया। वे "कल-कल करते हुए स्रोतों में ज्ञान, पत्थर में उपदेश और प्रत्येक वस्तु में अच्छाई देखते थे।" एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति उनका प्रिय सूत्र था। यानी वह जिसका अस्तित्व एक है, संत उसे विभिन्न नामों से पुकारते हैं।

इससे यह अर्थ निकालना गलत है कि विवेकानन्द की परम्पराओं में, जिसे वे नवीन नाम और अर्थ देना

चाहते थे, बुरी तरह दबे हुए थे। निस्सन्देह उन्होंने वेदों एवं उपनिषदों के दर्शन का गहन अध्ययन किया था, किन्तु इस दर्शन की शिक्षाओं में निहित् सत्यमें उन्होंने प्रथम अविश्वास प्रकट करके, जिज्ञासु होकर उनकी जांच-पड़ताल करके, उत्सुक एवं अनावश्यक शंकाएँ उठाकर उनका समाधान होने पर अपनाया। इस विधि से उन्होंने, वैसे ही अनुभव प्राप्त किया था जैसे कि एक विवेकशील मनिषी प्रश्नों व शंकाओं की विवेकपूर्ण व्याख्या कर प्राप्त करता है।

विद्रोही

वे सदैव एक विद्रोही रहे, फिर चाहे यह विद्रोह अंग्रेजी विदेशी भाषा होने के कारण उसे सीखने के प्रति उनके विद्वेश से रहा हो अथवा ब्रह्म समाज के मूल सिद्धान्तों में और केशवचन्द्र सेन या ऋषि देवेन्द्रनाथ टैगोर द्वारा दिये गये बौद्धिक उपदेशों के प्रति असंतोष की भावना से रहा हो। वे किसी बात को बिना तर्क की कसौटी पर कसे स्वीकार नहीं करते थे और उनके गुरू भगवान श्री रामकृष्ण को भी उन्हें शिष्य में परिवर्तित करने तथा उनमें सुप्त आध्यात्मिकता जागृत करने से पूर्व अपने सिद्धान्त भलीभांति समझने के लिए अनेक शंकाओं का समाधान करना पड़ा था। उनकी इसी विद्रोही भावना के कारण उन्होंने निरकुंश तानाशाही एवं अत्याचार का भीषण प्रतिरोध किया, फिर चाहे वह तानाशाही आत्मा की हो अथवा देह की या फिर यह किसी राष्ट्र की राजनैतिक दासता का स्वरूप ही क्यों न रही हो। समस्त युगों में पतित एवं दलित लोगों के हेतु उनका संदेश था : **उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत** अर्थात् "जाग, उठ और जब तक लक्ष्य प्राप्ति न हो तब तक रुक मत।"

कोई आश्चर्य नहीं, यदि उनकी इस आत्म-विस्फोरित शूरता को देखकर भारत के दूसरे अमर पुरुष सुभाषचन्द्र बोस कह उठे कि "आत्मानन्द का अनुभव किये बिना विवेकानन्द के बारे में लिखना मेरे लिए असम्भव है" और यदि विवेकानन्द जीवित रहते तो सुभाषचन्द्र बोस स्वयम् उनके चरणों में जा गिरते।

इतने साहस के होते हुए भी वे दया के प्रतिरूप थे। किसी का दुःख-दर्द देखकर उनका हृदय पिघल जाता था और वे अभागे दीन-दुःखी भाइयों की आर्थिक स्थिति के सुधार करने में कोई भी प्रयत्न अधिक नहीं समझते थे। वे गरीबी से पीड़ित लोगों के उद्धारक थे और भूखे, दीन और वस्त्रविहीन व्यक्तियों का अनवरत ध्यान रखते थे। उनका यह कहना नितान्त सही था कि पहले हमें रोटी की समस्या को हल करने पर जोर देना चाहिए, धर्म तो उसके बाद की वस्तु है। वे कहते हैं, "भूख से पीड़ित गरीबों को जब रोटी की आवश्यकता होती है तब हम उन्हें धर्म का पाठ पढ़ाते हैं। कोई भी मत या सिद्धान्त भूखों की भूख को शांत नहीं कर सकता। आप चाहे जितनी तत्वज्ञान की बातें करें, आप में लाखों धार्मिक सम्प्रदाय हों, किन्तु यह सब व्यर्थ है यदि आप के हृदय में दीन-दुखियों के प्रति हमदर्दी न हो।" विवेकानन्द के हृदय की यही विशालता थी, जिसके कारण उन्होंने दीन-हीन, भूखे-नंगे गरीब भारतीयों को अपना भाई समझा और उनके कल्याण के लिए, उनकी वेदनाओं को दूर कर उन्हें सुख और शान्ति पहुँचाने के लिए वे सतत प्रयत्न करते रहे। वे मानते थे कि इस विशाल जन-समूह की उपेक्षा करना ही राष्ट्र का सबसे बड़ा अभिशाप हैं और यही देश के अधःपतन का कारण रहा है। उन्होंने किसी ऐसी राजनीतिक पद्धति एवं धार्मिक सिद्धान्तों को अधिक महत्व नहीं दिया, जो देश के प्रत्येक व्यक्ति की आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति न कर सके।

समता के हिमायती

स्वामी विवेकानन्द का यह दृढ़ विश्वास था कि मुक्ति की तब तक कोई आशा नहीं करनी चाहिए, जब तक चारों ओर व्याप्त दुःख-दर्द को—जिसे उन्होंने स्वयं अपनी आँखों से देखा था—देश में उदार तथा साधन-सम्पन्न लोग वैराग्य और त्याग की भावना अपनाकर दूर

न कर दें एवं "लाखों देशवासियों की भलाई के लिए, जो दिन प्रति-दिन विनाश और अज्ञान के गर्त में गिरते जा रहे हैं, अधिकाधिक त्याग न करें।" वे 'आर्थिक चेतना' के अवतार थे, जिनमें "मानव की मानव के प्रति अमानुषिकता" देख कर रोष उमड़ पड़ा और जिनमें दीन-दुखियों का दुःख-दर्द दूर करने, भूख और गरीबी से लड़ाई लड़ने तथा आर्थिक सुखसंतोष लाने की तीव्र लगन थी। यही तो समाजवादी दर्शन का सार, आर्थिक जनतंत्र के विचार का सबसे सुन्दर और शानदार स्वरूप है। अपने स्वयम् के प्रयत्नों में सन्तुष्ट न होकर, वे चाहते थे कि उनके सभी अनुयायी इस कार्य की पूर्ति हेतु अपनी समस्त शक्ति लगा दें। उन्होंने अपने शिष्यों को कहा था "पुनीत उत्साह से प्रेरित होकर, ईश्वर में शाश्वत् श्रद्धा रख कर और शेर का साहस, हिम्मत लेकर दीन-दुःखी, दलित एवं पतितों के प्रति सहानुभूति रखकर देश में एक कोने से दूसरे कोने तक जाओ और मोक्ष, सहायता, समाज-सुधार और समता का सन्देश फैला दो।"

नारी का उत्थान

स्वामी विवेकानन्द के सम्बन्ध में कुछ कहना अधूरा ही रहेगा, यदि हम भारतीय समाज में नारी के स्थान के सम्बन्ध म उनके विचारों का वर्णन न करें। उन्होंने नारी जाति का जितना पक्ष लिया, उतना शायद कोई नारी जाति का अत्यन्त हिमायती भी न ले सके। वेदों, उपनिषदों आदि में नारी जाति का जो उच्च स्थान बताया गया है, उसकी ओर उन्होंने अपने अनुयायियों का ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने प्राचीन भारत के आश्रमों, विद्यापीठों में लड़कों और लड़कियों की समता का उल्लेख किया और उसी समानता को आज के भारत में लाने के लिए जोरदार दलील पेश की। उन्हें यह पक्का विश्वास हो गया था कि स्त्री-पुरुष का समाज में समान स्थान किये बिना किसी [illegible] माज की प्रगति सम्भव नहीं है। उन्होंने कहा था कि "किसी राष्ट्र में नारी समाज के प्रति जो व्यवहार होता है वह उस राष्ट्र की प्रगति का सर्वोत्तम प्रतिबिम्ब है।" पर साथ ही साथ उन्होंने मातृत्व का पद भी सामने रखा और ईसामसीह की भांति विवाह सम्बन्ध को अटूट बताया। उनके मतानुसार विवाह एक संस्कार है, कोई करार नहीं है और इस संस्कार को बनाये रखने में अनन्त शक्ति आती है। इसी विचार के आधार पर उन्होंने शक्ति के सिद्धान्त पर बल दिया, उस शक्ति पर जो मातृत्व की पूजा से पैदा है। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि शक्ति अनुकम्पा के बिना कुछ भी हासिल नहीं किया जा सकता। उनके विचारानुसार किसी राष्ट्र का नैतिक आध्यात्मिक दृष्टि से पुनरुद्धार ईश्वर की माता के रूप में पूजा करने पर ही हो सकता है, वह माता जो अनन्त ऊर्जा है, जो पावनता का स्रोत है और जो महान शक्ति का मूल है।

प्रेरणा-स्रोत

आज हम उसी तरह की परिस्थिति में हैं, जिसमें विवेकानन्द ने रहकर कार्य किया था। हम अपने चारो ओर दुःख और निर्धनता देखते हैं, हम लोगों को तुच्छ बातों के लिए लड़ते-झगड़ते देखते हैं, समाज प्राचीनता से संबंध तोड़ रहा है और फिर भी सहायता के लिए भटक रहा है। आज विवेकानन्द के उपदेशों और उनके उदाहरण पर चलने की आवश्यकता है। हमें इस परमानन्द और साहस और शक्ति के शाश्वत स्रोत से, संत, समाज सुधारक, कवि, दार्शनिक और राष्ट्र भक्ति के अद्वितीय समन्वय से बने इस पुरुष से प्रेरणा लेनी है। ऐसे महापुरुष मानवों को पापों से मुक्त करने, उसे अपने उद्देश्यों का स्मरण कराने, अन्याय और असत्य का उन्मूलन करने और नैतिक नियमों की स्थापना करने के लिए बारम्बार जन्म लेते हैं।

२८ जनवरी १९६३

ग्रामोद्योगों का सहकारीकरण

जगजीवन राम

भारत गांवों में बसता है। ग्राम्य जीवन की आर्थिक व्यवस्था और विकास पर हमारे राष्ट्र की समृद्धि निर्भर करती है। गांवों में बकार तथा अर्ध-बकार व्यक्तियों की बहुत बड़ी संख्या है और उनके श्रम को उपयोगी व उत्पादक उद्योगों में लगाना न केवल बेकारी की समस्या को सुलझाना है, बल्कि देश की सम्पत्ति को बढ़ाना भी ह। ग्रामोद्योग ऐसे लघु उद्योग हैं, जिनमें पूंजी-प्रधान तरीकों की नहीं, बल्कि श्रम की प्रधानता होती है। यह मौलिक सिद्धान्त हर योजना, हर विकासोन्मुख प्रयास में परिलक्षित होना चाहिए।

स सम्बन्ध में मेरे कुछ निम्नलिखित सुझाव हैं:

१. सहकारिता या सहकारी संस्थाओं का अधिकाधिक प्रसार होना चाहिए। ग्राम्य जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में इसको प्रोत्साहन मिलना चाहिए—जैसे गृह या कुटीर उद्योग, लघु उद्योग आदि। साथ ही साथ कृषि के क्षेत्र में भी ग्रामीण जनता को सहकारिता का महत्व समझा कर उन्हें उस दिशा में प्रेरित करना चाहिए।

दुग्ध उत्पादन

२. दुग्ध उत्पादन की योजना भी सहकारिता के आधार पर ग्राम्य जीवन में सफल हो सकती है। प्रारम्भ में प्रयोगात्मक उत्पादन और आगे चल कर व्यापारिक उत्पादन का काम सहकारी संस्थाओं द्वारा आयोजित किया जा सकता है। इसमें दूध, पनीर, घी आदि का बड़े पैमाने पर उत्पादन कर, उनके वितरण की समुचित व्यवस्था कर गाँवों में सुख-समृद्धि बढ़ायी जा सकती है।

३. पीतल-तांबे की सजावटी वस्तुओं के उत्पादन और वितरण को और भी सुसंगठित करना तथा सहकारिता के आधार पर उसे संबंधित करना आवश्यक है। इन चीजों की मांग विदेशों में भी है।

छोटी-छोटी समितियां

४. दस्तकारी की वस्तुओं का उत्पादन भी सहकारी संस्थाओं द्वारा बड़े पैमाने पर बढ़ाना, उनकी बिक्री, निर्यात आदि का समुचित प्रबन्ध करना आवश्यक है। विदेशों में ऐसी चीजों की मांग व्यवस्थित प्रचार द्वारा बढ़ायी जा सकती है और इस उत्पादन का क्षेत्र विस्तृत किया जा सकता है।

५. ग्रामोद्योगों के विकास के लिए ऐसी छोटी-छोटी समितियां भी होनी चाहिए जो सदा विश्लेषण करती रहें कि किन वस्तुओं की बाजार में मांग है, क्या परिवर्तन करने से मांग बढ़ायी जा सकती है, किस प्रकार उत्पादन का स्तर बढ़ाया जा सकता है, आदि। ये अनुसंधान समितियां सहकारी संस्थाओं के तत्वावधान में रहें। इस तरह ग्रामोद्योगों में एक व्यवस्थित और सर्वतोमुखी विकास लाया जा सकता है।

१४ दिसम्बर १९६२

असम की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था

भवानन्द डेका

असम में जन-संख्या-वृद्धि की दर १९५१–६१ के बीच ३४.३ प्रति शत रही। यह प्रातिशत्य भारत के अन्य किसी भी राज्य से अधिक है। समस्या है, इस बढ़ती हुई आबादी को काम देने की। स्थान-स्थान पर श्रम-प्रधान लघु स्तरीय उद्योगों का एक जाल-सा बिछा देने से यह समस्या बड़े प्रभावकारी रूप से हल की जा सकती है।

असम भारत का सीमान्त राज्य है। राज्य में से होकर बड़ी-बड़ी नदियाँ बहती हैं। ऊंचे पर्वत और घने जंगल भी वहाँ पाये जाते हैं। जल, जंगल और मानवीय स्रोत वहाँ भरपूर हैं, किन्तु प्राविधिक ज्ञान के अभाव में वे अनुपयोगित पड़े हैं। लोगों का मुख्य पेशा खेती करना है। सन् १९६१ की जनगणना के प्रारम्भिक आंकड़ों के अनुसार–'नेफा' ('उपूसी' क्षेत्र), नागा पहाड़ियों और च्वेन्सांग के भूभाग को छोड़ कर–असम की आबादी १,१८,६०,०५९ है। आबादी की वृद्धि की दर १९५१-६१ के दशक में ३४.३ प्रति शत रही है, जो भारत की जन-संख्या वृद्धि में सभी राज्यों से ज्यादा है। जन-संख्या का औसत घनत्व २५२ है। मैदानी जिलों में आबादी का यह घनत्व ४३२ है। पूरी आबादी में से लगभग १,०९,७०,९७९ लोग गाँवों में रहते हैं और ८,८९,०९० कस्बों में अर्थात् कुल आबादी में से लगभग ९२.५ प्रति शत लोग गाँवों में रहते हैं। इन आंकड़ों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के अध्ययन का कितना महत्व है।

बढ़ती आबादी

आबादी की वृद्धि से खाद्यान्न की मांग बहुत ज्यादा बढ़ गयी है। जिस दर से आबादी की वृद्धि हो रही है, उससे किसी नियत समय में असम की खाद्यान्न संबंधी आवश्यकता पूरी करने के सारे अनुमान गड़बड़ हो जाते हैं। जिस खाद्यान्न नीति में इस तथ्य का पूरा ध्यान नहीं रखा जाता, वह स्पष्टत: शायद ही सफल हो। अतएव असम की खाद्यान्न सम्बन्धी समस्या पर विचार, बढ़ती हुई आबादी को ध्यान में रख कर करना चाहिए। "अन्न के सम्बन्ध में यह ऐसा तथ्य है, जो कि एक विकासशील अंग के समान बढ़ता रहता है। आवश्यकताएँ किसी एक नियत मात्रा में निश्चित न करके एक ऐसे रूप में तय करनी होंगी कि अमुक समय में हमें इतने अन्न की जरूरत पड़ेगी और उसमें बढ़ती हुई आबादी के लिहाज से बढ़नेवाली मांग भी जोड़नी पड़ेगी। देश में जन-संख्या की वृद्धि के साथ-साथ पुराने स्तर के अनुसार भी अन्नावश्यकता बढ़ रही है, यहाँ तक कि आबादी की वृद्धि से भी तीव्र रफ्तार से और वह भी पौष्टिकता सम्बन्धी बेहतरीन स्तरों के साथ।" असम में सार्वजनीन विवाह होते हैं। ऐसे अवसरों पर खाद्यान्न सामग्री में काफी धन व्यय किया जाता है। सभी वर्ग और सभी स्तर के लोग–चाहे वे किसी भी तबके के और गरीब हों या धनी–विवाह-समारोहों के अवसर पर बड़ी भारी दावत भी दिया करते हैं। इसके अलावा अन्य कितने ही पर्व-त्यौहार भी हैं।

उपयुक्त भूमि नीति

खाद्यान्नों की मांग में वृद्धि हो जाने से यह अत्यावश्यक हो गया है कि कृषि का पुनर्गठन किया जाय। इस दिशा में पहला कदम होगा, उपयुक्त भूमि नीति का अपनाया जाना। असम सरकार ने यद्यपि अधिकतम भूमि-सीमा

निर्धारण अधिनियम और अधिकार संरक्षण अधिनियम आदि लागू किये हैं, तथापि अर्थ-व्यवस्था में कोई खास परिवर्तन नहीं दिखायी देता। अभिजात वर्ग इन अधिनियमों की कमियों से अपरिचित नहीं हैं। असम में **सत्राओं** (धार्मिक संस्थाओं) के अधिकार में काफी जमीन है, जो कि अब अनेक **सत्राओं** में वैयक्तिक सम्पत्ति जैसी होती जा रही है। सरकार इन सत्राओं की इस भूमि का मूल्यांकन करके उनके उचित उपयोग के लिए कानून बना सकती है, जो कि किसी एक वर्ग के लाभ के लिए नहीं बल्कि जमीन जोतनेवाले सभी लोगों के हित के लिए होगा।

भूमि की निम्न उत्पादकता कृषि की दूसरी समस्या है। इस क्षेत्र में उपयुक्त सिंचाई-व्यवस्था का विकास करके कृषि को संरक्षण नहीं दिया गया है। सरकार का विचार है कि असम में कृषि के लिए दीर्घ स्तरीय सिंचाई पद्धति आवश्यक नहीं है। यह सत्य है कि इस दिशा में असम को काफी प्राकृतिक देन प्राप्त है। फिर भी, प्रकृति पर पूरी तरह निर्भर रहना ठीक नहीं कहा जा सकता। फिर, हमारा उद्देश्य भी है कि अधिक उत्पादन हो। इसके लिए दीर्घ स्तरीय सिंचाई की आवश्यकता पड़ती है। ब्रह्मपुत्र और सुरमा की घाटियों में साधारण तौर पर १०० इंच अथवा उससे अधिक वर्षा होती है। वर्षा-काल में नदियों में बाढ़ आने से कृषि की रक्षा करने का महत्व और भी बढ़ जाता है। सुरमा घाटी पहली की तुलना में अधिक उपजाऊ है; क्योंकि ब्रह्मपुत्र नदी की तीव्र धारा ब्रह्मपुत्र की घाटी में गादवाले पदार्थ की बजाय केवल वजनी द्रव्य यानी कंकड़-पत्थर आदि ही छोड़ती हैं।

प्रति एकड़ उपज में वृद्धि

भूमि की कमी के कारण विस्तृत रूप से खेती करने की सीमित गुंजाइश है। खेती के दृष्टिकोण से असम की भूमि को तीन भागों में बांटा जा सकता है—जंगलों और पहाड़ियों की भूमि जो खेती के लिए प्राप्य नहीं है; परती भूमि और कृषि के लिए उपलब्ध भूमि। बहुत-सी जमीन कृषि के लिए प्राप्य नहीं है। असम सरकार ने भूमि पुनर्वाप्ति के लिए बहुत-से प्रयास किये पर वे कोई खास फलदायी सिद्ध नहीं हुए। इसलिए अब सघन कृषि के लिए प्रयास करने होंगे। सघन खेती के लिए तीन चीजों की जरूरत है—अधिक श्रम का उपयोग, नये और अद्यावत उपकरणों का उपयोग और खेती के अभिनव तरीके अपनाना। सघन कृषि के जरिये प्रति एकड़ उपज दो तरह से बढ़ायी जा सकती है; हलकी उपजवाली फसलों के स्थान पर भारी उपजवाली फसलें बोना और अधिक फसलों की ज्यादा सघन खेती करना। फसलों की प्रति एकड़ उपज बढ़ाने के लिए विभिन्न पद्धतियाँ काम में लायी जा सकती हैं, जैसे फसलों की उन्नत किस्मों की खोज करना और उन्हें व्यापक बनाना, खाद का लाभदायक उपयोग, कृषि-नाशक कीटाणुओं तथा रोगों से बचाव तथा उन पर नियंत्रण करना और उन्नत कृषि उपकरणों का व्यवहार।

ग्रामीण कर्जदारी

असम के कृषक गरीब हैं फलतः अधिकांश किसान भारी ऋण के बोझ से दबे हुए हैं। ग्रामीण कर्जदारी की इस समस्या को आज एक भारी सवाल माना गया है। बैंकिंग जांच समिति के १९३१ के प्रतिवेदन के अनुसार, असम में ग्रामीण ऋण २२ करोड़ रुपये का था। अब तो वह उससे भी कहीं अधिक है। भारत के रूरल क्रेडिट सर्वे रिपोर्ट (१९५१) में ये प्रमुख कारण बताये गये हैं, जिनके लिए कर्ज लिया जाता है :

अखिल भारतीय आंकड़े	प्रतिशतत्य
फार्म पर पूंजीगत व्यय	२७.८
चालू व्यय	९.३
गैर-खेतिहर व्यवसाय व्यय	६.६
पारिवारिक व्यय	५०.२
अन्य व्यय	५.७
एक से अधिक कार्य	०.४
योग	१००.००

असम में ग्रामीण कर्जदारी बढ़ने के अनेक मुख्य

कारण हैं। नमें बाढ़ों का आना तथा पशुओं का मरना सबसे महत्वपूर्ण है। ग्रामीणों को ऋण क्यों लेने पड़ते हैं? कभी-कभी इसके कारण ये बताये जाते हैं: (१) मवेशियों की खरीद; (२) पुराने ऋण चुकाना; (३) विवाह और पर्व-त्यौहार आदि सामाजिक काम; (४) घर-खर्च; (५) जमीन खरीदना; (६) वर्ष-प्रति-वर्ष बढ़ती हुई आबादी से भूमि पर बहुत अधिक भार पड़ जाना; (७) संयुक्त परिवार व्यवस्था टूट जाने के कारण जमीन का छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट जाना—इसका फल यह हुआ है कि अधिकांश जमीनों से कोई लाभ ही नहीं होता; (८) कुटीर उद्योगों के ह्रास से पूरक रोज़गारी का विनष्ट होना—इसके फलस्वरूप कृषक पहले जो अतिरिक्त आमद करते थे उसमें बहुत कमी हो गयी है; (९) रैयत का स्वास्थ्य अच्छा न होने के कारण कृषकों में भी आलस्य छा गया है; (१०) बिना सोचे-विचारे रैयत द्वारा फिजूलखर्ची किया जाना; और (११) पैत्रिक ऋण। यह बात मालूम करना आसान नहीं है कि असम में खेती सम्बन्धी ऋण कितना है और उसका वितरण किस प्रकार है। इसकी मात्रा एवं विभाजन कितना और कैसा भी क्यों न हो, उसका प्रभाव बहुत अधिक है। इससे जनता की गरीबी बढ़ गयी है, जो ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की समस्या की उग्रता का मुख्य कारण है।

विशाल आर्थिक आयोजन

ग्रामीण कर्जदारी की समस्या ने सरकार का ध्यान गत शताब्दि के उत्तरार्ध में ही आकृष्ट कर लिया था। पर इस दिशा में सरकार के प्रयास बहुत कुछ निष्फल ही हुए। "बढ़ती हुई आबादी, जमीन के टुकड़े-टुकड़े होना और कृषि की आमद के साथ कोई पूरक उद्योग न होने के कारण ग्रामीणों का ऋण दिन-ब-दिन बढ़ना अवश्यंभावी था।" इससे छुटकारा पाने का एक मात्र उपाय है, कृषि को आधार मानकर समग्र दृष्टि से एक विशाल आर्थिक आयोजन तैयार करना।

ग्रामीण कर्जदारी की समस्या सुलझाने के लिए ये कदम उठाये जा सकते हैं : सरकार को पहला कदम यह उठाना चाहिए कि वह महाजनों व साहूकारों के घातक कार्य-कलापों पर नियंत्रण करे। चूंकि ग्रामीणों को ऋण-प्राप्ति की कोई दूसरी सुविधा नहीं है, इसलिए महाजनों को ग्रामीणों को चूसने का मौका मिलता है। सरकार को महाजनों द्वारा किये जानेवाले ग्रामीणों के शोषण को रोकने के लिए कड़ा कदम उठाना चाहिए एवं रैयत को दबा डालनेवाली ब्याज की दर कम करानी चाहिए। ऋण अदा करने के लिए कृषक द्वारा जमीन बेची जाने पर भी रोक लगानी चाहिए। इसके लिए एक कानून ऐसा होना चाहिए कि सभी महाजन अपने नाम रजिस्टर करालें और ऋण व्यापार करने के लिए लायसेंस प्राप्त करें। एक ठोस आधार पर सहकारी आन्दोलन का पुनर्गठन करने के लिए भी सरकार को सहायता करनी पड़ेगी। कृषकों को सहकारी समितियों के जरिये ऋण की अधिक सुविधाएँ दी जानी चाहिए। कृषि विभाग और सहकारी समितियों के मध्य समन्वय होना चाहिए। सरकार ने सेवा सहकारी समितियों के नाम से लोकप्रिय समितियों को ऋण देने,कृषि उपकरणों की सप्लाई करने और तैयार माल की बिक्री करने जैसे कामों के लिए समर्थ बनाने हेतु, उनका पुनर्गठन करने की दिशा में कदम उठाये हैं।

ग्रामोद्योगों का स्थान

असम की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का दूसरा पहलू ग्रामोद्योगों का स्थान है। ये उद्योग वहाँ के देहाती इलाकों से पूर्ण और अर्द्ध-बेकारी का समाधान करने में सहायक हो सकते हैं। पर यहाँ सबसे बड़ी कमी है, ग्रामीण साधन-स्रोतों का—भौतिक एवं मानवीय दोनों का—मूल्यांकन न होना। असम में साधनों की भरमार है, पर उचित योजना, धन और विशेषज्ञों के अभाव में वे अछूते पड़े हैं। बढ़ती हुई आबादी हमें यह बताती है कि हमें ऐसे उद्योगों की स्थापना करनी चाहिए जिनसे लोगों को 'तत्काल' रोजगार मिल जाय। पूंजी-प्रधान बड़े उद्योगों में 'तत्काल' रोजगार की सुविधाएँ प्राप्त करना

सम्भव नहीं है। और फिर, कुटीरोद्योग श्रम--प्रधान हैं तथा उनमें किसी उच्च स्तरीय तक्नीकी कुशलता की जरूरत नहीं होती, जो दीर्घ स्तरीय उद्योगों के लिए चाहिए। अतः ठोस आधार पर आर्थिक पुनर्गठन करने के लिए ऐसे कदम उठाये जाने चाहिए, जिनसे (१) हमारे कुटीरोद्योग और दस्तकारियों में पुनः जान आ जाय; और (२) दीर्घ स्तरीय उद्योगों के लिए पूरक उद्योगों के रूप में लघु स्तरीय उद्योगों का एक जाल-सा बिछ जाय। यदि असम में स्थान-स्थान पर, श्रम-प्रधान और लघु स्तरीय उद्योगों की स्थापना करनी है, तो वे ऐसे हों कि औद्योगिक विकास की जो रूप-रेखा है उसमें फिट बैठें। इसके साथ ही यह बहुत अच्छा होगा यदि सदैव के लिए नहीं तो कम से कम प्रारम्भिक अवस्था में सरकार या राज्य द्वारा प्रवर्तित कोई निगम इनकी देख-भाल करने का काम अपने जिम्मे ले।

चन्द सुझाव

यह सर्वविदित है कि असम में अंग्रेजी-शासन से पहले कुटीरोद्योग फल-फूल रहे थे। पर आज इनमें से अधिकांश उद्योग मरणासन्न स्थिति में हैं। इन कुटीरोद्योगों का बने रहना राज्य की आर्थिक उन्नति के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह इसलिए कि इन उद्योगों में बहुतेरे लोगों को आंशिक और पूरे समय का काम देने की क्षमता है। दूसरी बात यह है कि कुटीरोद्योगों में मूल पूंजी कम लगती है। यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि असम में पूंजी की कमी है, श्रम की नहीं। तीसरी बात यह है कि ये उद्योग कारीगरों को अपने घर पर ही काम देते हैं और सम्पत्ति वितरण में सहायक होते हैं। अतः हमें सामाजिक न्याय के आधार पर उन्हें मदद देनी चाहिए। राज्य सरकार को उत्पादन की विविध पद्धतियों के सामाजिक और आर्थिक लाभों का अध्ययन कर तय करना चाहिए कि किनके जरिये रोजगारी बढ़ेगी, जनता का जीवन-स्तर ऊंचा उठेगा और राष्ट्रीय आय के समान वितरण को प्रश्रय मिलेगा।

शिक्षा और स्वास्थ्य

अन्तिम लेकिन किसी भी दृष्टि से कम महत्वपूर्ण नहीं, ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा और स्वास्थ्य की भी एक समस्या है। सरकार ने ग्रामीण क्षेत्रों में दवा-दारू की सुविधाएँ प्रदान करने के लिए कई योजनाएँ बनायी हैं। वैज्ञानिक तरीकों से निरोधात्मक और उपचारात्मक उपायों को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गयी है। अच्छी स्वास्थ्य सुविधाओं के कारण १९६१ की जन-गणना के अनुसार आबादी की वृद्धि (मृत्यु की तुलना में जन्म की अधिकता) करीब २० प्रति शत हुई है। तृतीय योजना के स्वास्थ्य कार्यक्रमों में व्यापक लक्ष्य है। औषधीय एवं जन-स्वास्थ्य सेवाओं को विस्तृत करना, ताकि जनता का स्वास्थ्य उन्नत हो और प्रेरक जीवन-यापन की अनुकूल स्थितियाँ निर्मित हों। शिक्षा के समूचे ढाँचे को पुनर्गठित करने की आवश्यकता भी अत्यधिक महत्वपूर्ण है। असम सरकार के तृतीय पंच वर्षीय योजना के प्रतिवेदन में बताया गया है कि "द्रुत आर्थिक विकास और तक्नीकी उन्नति करने तथा स्वतंत्रता, सामाजिक न्याय और अवसरों की समानता के मूल्यों पर आधारित समाज रचना के लिए शिक्षा का सर्वाधिक महत्व है। शिक्षा का कार्यक्रम इस तरह, एक नागरिकता के सूत्र में बाँधने, जन-शक्तियाँ जुटाने और देश के हर कोने के प्राकृतिक एवं मानवीय स्रोतों का विकास करने में सभी प्रयासों का आधार है।...अतः तृतीय योजना का एक मुख्य लक्ष्य यह है कि राष्ट्रीय जीवन के सभी अंगों के आयोजित विकास में शिक्षा को केन्द्र-बिन्दु बनाया जाय।" समूचे असम की शिक्षा का प्रातिशत्य २५.७६ है। यह एक बहुत ही निम्न अंक है। अतः शिक्षा-प्रसार के लिए व्यापक प्रयास करने की आवश्यकता है।

२९ अगस्त १९६२

जे. सी. कुमारप्पा

राजकुमारी अमृत कौर

श्री जे. सी. कुमारप्पा का ३० जनवरी १९६० को निधन हुआ। वे गांधीजी के अन्तरंग अनुयायी और विश्वासपात्र सहायक थे। राजकुमारी अमृत कौर उनके निकट सम्पर्क में रहीं और उनके साथ काम कर चुकी हैं। वे यहां गांधीजी का कुमारप्पा के प्रति स्नेह, उनके विचारों को कार्यरूप में परिणत करने की उनकी अटलता एवं उनके चारित्रिक ओज का स्मरण कराती हैं।

मुझे श्री जे. सी. कुमारप्पा को निकटता से समझने और उनके साथ काम करने का उन दिनों सुअवसर मिला था जब गांधीजी ने उन्हें अखिल भारत ग्रामोद्योग संघ का मंत्री नियुक्त किया था।

श्री कुमारप्पा वस्तुतः एक योग्य पुरुष और अपने गुरू के निष्ठावान अनुयायी थे। उनका जन्म, लालन-पालन और शिक्षा-दीक्षा एक ऐसे वातावरण और जीवन पद्धति में हुई थी जो उस जीवन पद्धति से एकदम विपरीत यानी भिन्न थी, जिसे उन्होंने कर्तव्य समझकर बाद में अपनाया था। लेकिन यह स्पष्ट है कि उन्होंने गांधीजी की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की विचारधारा पूर्णतः अपना ली थी। उन्होंने गांधीजी के अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तों एवं गाँवों के इस देश को पुनर्जीवित करने सम्बन्धी विचारों को भलीभांति समझा ही नहीं था, बल्कि गांधीजी द्वारा सौंपे गये कार्य में असाधारण प्राण फूंके एवं मौलिक कार्यशीलता भी ला दी थी, जो कि अहिंसा और उसमें विश्वास, निष्ठा रखने के फलस्वरूप उत्पन्न जीवन आदर्श में दृढ़ यानी सजीव विश्वास एवं श्रद्धा से ही आ सकती है।

अहिंसा

हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि गांधीजी के सभी उपदेशों का मूल उनका अहिंसा में विश्वास था। उनका कहना था कि अहिंसा सत्य से अलग नहीं की जा सकती, क्योंकि सत्य ही ईश्वर है। वे प्रायः कहा करते थे कि सत्य का अन्वेषक मनसा, वाचा और कर्मणा से अहिंसा के सिद्धान्त पर चलने से ही ईश्वर को पा सकता है। गांधीजी मानव की सहज कमजोरियों को भलीभांति समझते थे और उन्होंने अनेक बार इस बात को स्वीकार किया था कि वे स्वयम् मनसा, वाचा और कर्मणा से पूर्णतः अहिंसक नहीं बन पाये हैं।

श्री कुमारप्पा जब कभी कोई नया कार्य शुरू करना चाहते और उस विषय में उनके और गांधीजी के बीच जो चर्चा होती वह बहुत ही आनन्दायक हुआ करती थी। श्री कुमारप्पा सदैव गांधीजी से बड़े ही विनीत भाव से पूछा करते थे कि जो कार्य वे करना चाहते हैं क्या उसे गांधीजी सही अर्थों में अहिंसक जीवन-पद्धति के अनुरूप समझते हैं।

सादा जीवन, उच्च विचार

चूंकि अहिंसा की ओर प्रथम चरण अपरिग्रह है, अतः कुमारप्पा ने ऐसे जीवन को त्यागकर जो ऐश्वर्यमय हो सकता था, सादा जीवन व्यतीत करना अपनाया। मैं उन्हें अक्सर कहा करती थी कि "आप अत्यधिक संयमी हैं और अहिंसा के लिए भी वास्तव में जीवन की आवश्यकताओं का उस हद तक त्याग करना आवश्यक नहीं कि उससे स्वास्थ्य के लिए खतरा पैदा हो जाय। परन्तु श्री कुमारप्पा व्यक्तिगत आवश्यकताएं कम करने के विषय में बहुत ही दृढ़ थे और उन्होंने कभी कोई ऐसी आराम की वस्तु का उपयोग नहीं किया जिसे एक साधारण व्यक्ति सम्भवतः परमावश्यक समझ सकता था।

श्री कुमारप्पा एक सिद्धहस्त लेखक थे और उनकी सभी कृतियाँ जो आज **नवजीवन प्रकाशन** में उपलब्ध हैं, उनके अहिंसा सम्बन्धी अर्थशास्त्र के गहन ज्ञान की परिच.-

यक हैं। उन्होंने केवल लिखा ही नहीं है, परन्तु इससे भी महत्वपूर्ण बात तो यह है कि वे जो कुछ कहते थे उस पर अमल भी करते थे।

श्री कुमारप्पा के संयम और सादेपन से कभी यह नहीं लगा कि उनमें मानव-सुलभ गुणों का अभाव था या वे लोगों से मिलने में आनन्द न लेते थे। वे तो हँसी-मजाक में अपने को खो दिया करते थे। वे आनन्दपूर्ण यानी शिष्ट हास्य में बहुत रस लेते थे। गांधीजी और वे प्रायः परस्पर मजाक किया करते थे!

ग्रामोद्योग आन्दोलन

श्री कुमारप्पा, जिन्हें गांधीजी प्यार से 'कु' कहकर पुकारा करते थे, कठोर परिश्रमी और अन्तःपरायण कार्यकर्त्ता थे और जब वे प्रथम बार रक्तचाप के कारण बीमार पड़े तो गांधीजी को भारी आघात पहुँचा था, वे बहुत दुखी हुए थे। उन्हें अपनी कार्यशीलताओं में कमी करने की सलाह देने के बावजूद गांधीजी द्वारा बनायी हुई ग्रामोद्योगों को पुनर्जीवित करने सम्बन्धी योजना को यथा सम्भव द्रुत गति से कार्यान्वित करने से वे अपने को नहीं रोक सकते थे।

अपने जीवन के अंतिम काल में श्री कुमारप्पा को हताश और उदासीन देखकर मुझे बेहद दुःख हुआ। गांधीजी के साथ उनको ऐसा लगा कि जो कुछ वे निर्माण करना चाहते थे वह सब उनके चारों ओर छिन्न-भिन्न हो रहा है। मैं प्रायः महसूस करती हूँ कि उनकी मानसिक वेदना उस शारीरिक पीड़ा से कहीं अधिक थी जिसके कारण वे मृत्यु के कई महीनों पहिले कष्ट झेलते रहे। मुझे पूरा विश्वास है कि श्री कुमारपप्पा की कार्य में लगन और उनकी रचनाएँ सदैव ही गांधीजी के जीवन-दर्शन और भारत में राम राम राज्य सम्बन्धी उनके विचारों का अध्ययन करने के इच्छुकों में रुचि जागृत करने के साथ-साथ प्रेरणा भी देती रहेगी।

श्री जे. सी. कुमारप्पा से जब से मेरी प्रथम मुलाकात हुई तब से उनके जीवन के अंतिम काल तक उनका स्नेह बराबर बना रहा, इसके लिए सचमुच मैं अपने को सौभाग्यशालिनी समझती हूँ। गांधीजी के इस सच्चे अनुयायी एवं निष्ठावान सर्वोदय कार्यकर्त्ता की स्मृति में अपनी छोटी-सी श्रद्धांजलि अर्पित करने में मैं अपने को खुशकिस्मत समझती हूँ।

१७ जनवरी १९६३

दक्षिण-पूर्व एशिया में सहकारी प्रयोग

वासुदेव द. पण्डया

दक्षिण-पूर्व एशिया में सहकार आन्दोलन को, विशेषकर पिछले पन्द्रह वर्षों में इस क्षेत्र के देशों द्वारा स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद बहुत बढ़ावा मिला है। वहाँ की अनेक सहकारी समितियों ने नयी-नयी दिशाओं में काम किया है।

श्रीलंका में सहकारी आधार पर होटल, अस्पताल और उपभोक्ता भण्डार सफलतापूर्वक चल रहे हैं, जबकि सिंगापुर में एक 'कोऑपरेटिव एजेन्सीज सोसायटी' बीमा, उपस्कर, कार्यालयी उपकरण, घरेलू जरूरत की चीजों, सिलाई की मशीन और यात्रा सम्बन्धी कार्य भी करती है। बर्मा में सहकारी समितियाँ रूई बाजार में प्रविष्ट कर चुकी हैं। पिछले २२ वर्षों से थाईलैंड में नमक सहकारी आधार पर बनाया जाता है। जापान की तो समग्र कृषक आबादी ने ही सहकारी जामा पहन लिया।

लेखक ने इन सहकारी समितियों के कार्य की विस्तृत चर्चा की है तथा उनकी विशेषताओं की ओर ध्यान आकृष्ट किया है।

सन् १८४४ में जब अट्ठाइस जुलाहों ने इंग्लैण्ड की रोशडल नामक छोटी-सी बस्ती में निश्चय किया कि यदि वे अपनी गिरी हुई मजदूरी को बढ़ाने के लिए सफलतापूर्वक संघर्ष नहीं कर सकते, तो कम से कम अपने किराना के भारी बिलों के सम्बन्ध में तो कुछ न कुछ कर ही सकते हैं। तब से न केवल भौतिक सुख-सुविधा प्राप्त करने के लिए, वरन् युक्तिपूर्ण सामाजिक रहन-सहन के लिए भी सहकारिता को सर्वाधिक व्यावहारिक हल माना गया।

इस प्रकार अनेक देशों के लिए सहकारिता प्रकाश-स्तम्भ हो गया। किन्तु यह विशेष कर उन देशों के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हुई, जिनके पास अपने नागरिकों की आर्थिक उन्नति के लिए पर्याप्त साधन नहीं थे। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय द्वारा प्रकाशित कोऑपरेशन* (सहकारिता) नामक पत्रिका में न्यूनाधिक रूप में सहकारिता के विचार की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है :

"एक सहकारी समिति विभिन्न संख्या के ऐसे व्यक्तियों का एक संगठन है, जो एक समान आर्थिक कठिनाई महसूस करते हों तथा समान अधिकार और कर्त्तव्यों के आधार पर जो स्वेच्छापूर्वक संगठित हुए हों; उन कठिनाइयों को मुख्य रूप से अपनी ही जोखिम पर ऐसा उपक्रम चलाते हुए, जिसके अन्तर्गत उन्होंने अपनी समान आवश्यकताओं के अनुरूप इस प्रकार की एक या अधिक आर्थिक गतिविधियाँ स्थानांतरित कर दी हों; तथा अपने सामान्य भौतिक एवम् नैतिक लाभ के लिए संयुक्त सहकारी रूप में इस उपक्रम का उपयोग करते हुए हल करने का उद्यम करें।"

इस परिभाषा में जैसी आर्थिक कठिनाइयाँ व्यक्त हैं वे व्यावहारिक दृष्टि से सारे संसार में विभिन्न परिमाण में मौजूद हैं। और उनसे मुकाबला करने के लिए लोगों ने हर जगह उपाय किये हैं। दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों द्वारा किये गये कुछ उपायों पर हम एक नजर डालेंगे, जो कि दूसरे देशों के लिए उदाहरण बन सकते हैं।

होलीडे होम

श्रीलंका में कोलम्बो से लगभग १२५ मील दूर दियातालवा स्थित 'सहकारी होलीडे होम' संभवत: एक बेजोड़ सहकारी घर है। श्रीलंका सरकार के सहकारी विभाग में काम करनेवाले करीब ३०० निरी-

*पृष्ठ : २०

क्षकों का इसमें हिस्सा है और वे ही इसकी व्यवस्था करते हैं। कोलम्बो से नावरालिया जानेवाली सड़क पर एक पहाड़ी जगह में छोटी-सी हिस्सा पूंजी और सरकार द्वारा प्राप्त कर्ज से उन्होंने एक बंगला खरीदा। उसमें भोजन सहित ४.५० रुपये प्रति दिन के हिसाब से सदस्यों तथा गैर-सदस्यों के रहने की व्यवस्था है। घर के मैनेजर के रूप में दियातालवा क्षेत्र में कार्य कर रहे एक सहकारी निरीक्षक की नियुक्ति की गयी है। यह घर अपेक्षाकृत सस्ते आवास की व्यवस्था करता है। छुट्टी के दिन बिताने के लिए न केवल यह सरकारी कर्मचारियों में ही लोकप्रिय है, बल्कि उन भ्रमणार्थियों को भी आश्रय देता है, जो मंहगा आश्रय लेने की क्षमता नहीं रखते। उस क्षेत्र में एक सामान्य होटल प्रति दिन करीब २० रुपये लेता था। इस सहकारी घर के प्रारम्भ होने से होटलों को अपनी दरें घटानी पड़ीं।

कोलम्बो के इर्द-गिर्द पर्वतीय स्थानों में होटल बड़े मँहगे हैं। मध्यम श्रेणी के सरकारी कर्मचारी तो उन पहाड़ी स्थानों के मंहगे होटलों में रहकर प्रकृति का आनन्द लूटने की सामर्थ्य् ही नहीं रखते थे। अब सहकारी प्रयत्न से इनके लिए यह संभव हो गया है। पूरे वर्ष यह घर भरा रहता है।

अस्पताल और दवाखाने

श्रीलंका में अन्य सहकारी समितियों के क्षेत्र में सहकारी अस्पताल और औषधालय नया मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं। वहाँ जून १९५८ में ग्यारह सहकारी अस्पताल थे। उनके ८,२८६ सदस्य थे और १,७४,५४९ रुपये की प्रदत्त अंश पूंजी थी। उस वर्ष अस्पतालों ने लगभग डेढ़ लाख मरीजों का इलाज किया और उन्हें लगभग एक लाख रुपये का लाभ हुआ। कुछ अस्पतालों में ऑपरेशन कमरा और एक्स-रे यंत्र भी हैं।

श्रीलंका में, विशेष कर ग्रामीण क्षेत्रों में, उपभोक्ता सहकारी समितियाँ बड़ी अच्छी तरह विकसित हुई हैं। सन् १९५८ में लगभग १,२६० उपभोक्ता सहकारी समितियाँ थीं। उनमें से ८७२ ग्राम भण्डार थे, जिनके करीब दो लाख ग्रामीण सदस्य थे। वे बड़ी अच्छी तरह से व्यवसाय कर रहे थे। सन् १९५८ में समितियों ने ९ करोड़ ३० लाख रुपये की वस्तुएँ खरीदीं, जिनमें से लगभग ३० प्रति शत वस्तुएँ चावल, आटा और शक्कर के अतिरिक्त थीं। उदाहरण के लिए एक उपभोक्ता सहकारी भण्डार पनीर की बनी वस्तुओं से लेकर पाउडर के डिब्बे और यहाँ तक कि कृषि के काम आनेवाले औजार तक बेचेगा। ये उपभोक्ता भण्डार इस द्वीप की दो-तिहाई जन-संख्या की जो आवश्यकता की पूर्ति करते हैं वह कोई कम सफलता नहीं है।

सिंगापुर में

एक सहकारी व्यक्ति सिंगापुर की स्थानीय सहकारी एजेन्सी समिति का आतिथ्य शायद ही छोड़े। इस समिति ने बीमा, उपस्कर, कार्यालय की सामग्री, गृहस्थी की चीजें, सीने की मशीनें यहाँ तक कि यात्रा के लिए भी एजेन्सी रखी है। स्वतंत्र व्यक्ति और संस्थाएँ समिति की सदस्य हैं। यह समिति रेफ्रीजेरेटर और मोटर कार से लेकर छोटी-सी कुर्सी तथा सिगरेट के डिब्बे तक की वस्तुओं सम्बन्धी, अपने सदस्यायों की जरूरतें पूरी करने में समर्थ हैं। उक्त समिति सिंगापुर में मलाया की सहकारी बीमा समिति के मुख्य एजेन्ट के रूप में कार्य करती है और इसका व्यापार लाखों डालर में होता है। सात वर्ष के थोड़े-से समय में समिति ने भारी कोष संचित कर लिया है, जिसे उसने सहकारी गृह निर्माण समितियों में फिर से लगा दिया है। उक्त समिति सितम्बर १९५५ में रजिस्टर्ड हुई थी और अब उसने बीमा और आयात विभाग का समुचित संगठन कर लिया है तथा एजेन्सी का श्रेष्ठ व्यवसाय भी करती है। अपने सदस्यों की आर्थिक स्थिति सुधारने में समिति विश्वास रखती है। अन्य एशियायी देशों की सहकारी समितियों द्वारा तैयार माल मंगाने में भी समिति रुचि लेती है।

सिंगापुर कर-मुक्त बन्दरगाह होने के कारण संसार के बड़े-बड़े व्यावसायिक संगठन वहाँ व्यापार संबंध

स्थापित करने में रुचि रखते हैं। सहकारी एजेन्सी समिति उनसे सम्पर्क स्थापित करके अपने सदस्यों को थोड़े समय की सूचना देने या टेलीफोन से मिले निर्देश पर भी आवश्यक माल की पूर्ति करने की व्यवस्था करती है। इससे वह अच्छा-खासा कमिशन अर्जित करती है। यदि समिति उदाहरण के लिए अपने किसी एक सदस्य को एक टाइप करने की मशीन बेचने पर १५ प्रति शत कमिशन पाती है, तो वह ढ़ाई प्रति शत सेवा खर्च के लिए अपने पास रखेगी और शेष १२.५ प्रति शत टाइपराइटर खरीदनेवाले सदस्य को दे देगी।

बर्मा में रूई का लेन-देन

बर्मा सरकार के सहकारी समिति विभाग ने १९५२ में एक सहकारी रूई क्रय-विक्रय योजना बनायी। देश के लिए विदेशी मुद्रा उपार्जन करने हेतु अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में बढ़िया किस्म की रूई बेचने और कपास की खेती के समग्र खर्च को ध्यान में रखते हुए उसका उचित मूल्य निर्धारित करने के विचार से यह योजना बनायी गयी थी। योजना के अन्तर्गत यह निश्चित किया गया कि जिला सहकारी संघों को किसानों से कपास खरीदनी चाहिए और 'यूनियन ऑफ् बर्मा कोऑपरेटिव होलसेल सोसायटी' उसकी बिक्री करे। कपास उत्पादन कार्य में लगे किसानों के लिए यह योजना एक वरदान साबित हुई। इसके कार्यान्वय के लिए उन दोनों संगठनों को नीति विषयक मामलों पर परामर्श देने के लिए सरकार ने एक 'स्टेट कोऑपरेटिव कॉटन मार्केटिंग बोर्ड' की स्थापना की। स्थानीय क्रय-विक्रय के अतिरिक्त होलसेल सोसायटी कपास-निर्यात् का काम भी करती है।

बर्मा की सरकार ने 'कोऑपरेटिव होलसेल सोसायटी' को उदारतापूर्वक ऋण दिया और समिति द्वारा किया गया व्यापार पूर्ण रूप से उत्साहवर्धक रहा। सन् १९५२ से तीन वर्ष की अवधि में सोसायटी ने १५ करोड़ रुपये के बराबर विदेशी मुद्रा अर्जित की। यूनियन ऑफ् कोऑपरेटिव होलसेल सोसायटी और जिला कोऑपरेटिव यूनियनों को उन्होंने जो रूई की गाँठें प्राप्त कीं उन पर ५ रुपये प्रति गांठ के हिसाब से कमिशन दिया गया। किन्तु लाभ पर उन्हें कोई कमिशन नहीं दिया गया। कपास की बिक्री से प्राप्त लाभ कपास उत्पन्न करनेवाले किसानों के हितों को प्रोत्साहन देने के लिए अलग रखा गया। उदाहरणार्थ कपास खरीद की कीमत स्थायी करना। यहाँ यह उल्लेख कर देना उचित होगा कि कपास का बाजार सभी जगह बड़ा अस्थिर और बहुत घटता-बढ़ता रहता है। बाजार जब इस प्रकार घटता-बढ़ता है तो किसानों के लिए कपास की बिक्री से उत्पादन खर्च और उसमें लगाये गये श्रम तक का मूल्य पाना मुश्किल हो जाता है। आवश्यक होने पर उत्पादित लाभ से निर्मित मूल्य स्थायीकरण कोष का उपयोग उत्पादन खर्च के साथ मूल्य समीकरण के लिए किया जाता था। इस प्रकार कपास उत्पादन करनेवाले किसानों को हर समय अपनी फसल के स्थिर मूल्य के लिए आश्वस्त किया गया।

स्याम के नमक उत्पादक कृषक

थाईलैण्ड (भूतपूर्व स्याम) में पिछले २२ वर्षों से अधिकांश नमक का उत्पादन सहकारिता के आधार पर हो रहा है। समुत-सकोर्ण और थोनबूनी प्रान्तों में सन् १९३८ में नमक उत्पादन सहकारी समितियों का संगठन किया गया। वे लगभग ७,५०० *राई** भूमि पर नमक का उत्पादन करती थीं तथा करीब २५० परिवार उनके सदस्य थे। यद्यपि नमक निर्माताओं की संख्या बहुत कम थी। पर थाई सरकार के भूमि सहकारी समिति विभाग द्वारा भूमिहीन श्रमिकों और काश्तकारों के लाभ हेतु उन्हें नमक कृषक का दर्जा प्रदान करने के लिए योजना बनायी।

थाईलैण्ड में नमक का वार्षिक उत्पादन लगभग २,८६,००० मेट्रिक टन होता है जिसका एक-पंचमांश सहकारी समितियों द्वारा होता है। सहकारी समितियों के प्रत्येक सदस्य को इस शर्त के साथ २६ से ४० *राई*

---

* एक *राई* एक एकड़ के दो-पंचमांश के बराबर होती है।

तक भूमि दी गयी कि भूमि का पूर्ण उपयोग होगा और किसानों को दिया गया दीर्घ कालीन ऋण वापस चुकाया जायेगा।

इन समितियों के सदस्यों द्वारा तैयार नमक की बिक्री सम्बन्धी समस्याओं को हल करने के ध्येय से सन् १९४७ में बैंकोक साल्ट मारकेटिंग कोऑपरेटिव सोसायटी का संगठन किया गया। मारकेटिंग कोऑपरेटिव का कार्य, सदस्यों द्वारा तैयार किया गया नमक उसके अच्छे मूल्य पर स्थानीय बिक्री और निर्यात करने के लिए एकत्र करना था। मारकेटिंग सोसायटी ने सदस्यों के लिए नमक उत्पादन के काम आनेवाले औजार भी खरीदे।

जापान को प्रति वर्ष सोसायटी ने औसतन ६०,००० टन नमक का निर्यात किया। समुत-प्रकरण जिले के चाउ फाय नदी के मुहाने पर एक नमक बन्दरगाह का निर्माण किया गया है। इस बन्दरगाह के घाट में १०,००० टन वजन तक के स्टीमर आ-जा सकते हैं। मारकेटिंग कोऑपरेटिव ने सरकार से बन्दरगाह को पट्टे पर लिया है। थाईलैण्ड के सहकारी नमक उत्पादन प्रयोग ने न केवल निर्धन भूमिहीन किसानों को भूमि देकर उनकी सहायता की वरन् देश के लिए बहुत आवश्यक विदेशी मुद्रा उपार्जित करने में भी सहायता पहुँचायी।

जापानी कृषि सहकारी समिति

शायद जापान ही एशिया का अकेला देश है जहाँ समूची खेतिहर आबादी सहकारिता के अन्तर्गत लायी जा चुकी है। यद्यपि जापान की अर्थ-व्यवस्था उद्योग-प्रधान मानी जाती है, तथापि जापान की लगभग ४० प्रति शत जन-संख्या कृषि कार्यों में लगी है। वे लोग लगभग ५० लाख हेक्टर भूमि पर खेती करते हैं, जो कि प्रति व्यक्ति लगभग एक एकड़ आती है। यह संसार का शायद सबसे कम औसत है। जापान का युद्धोत्तर लैण्ड रिफार्म्स एक्ट (भूमि सुधार अधिनियम) केवल जमीन जोतनेवाले को ही भूमि का स्वामी मानता है। यह देश का कृषि-उत्पादन काफी बढ़ाने में सहायक सिद्ध हुआ। इसके अतिरिक्त प्रत्येक गाँव में कृषि सहकारी समिति बनाने और वस्तुतः प्रत्येक किसान परिवार को सदस्य बनाने से आधुनिक टेक्नीक और नवीन वैज्ञानिक तरीके अपनाने में बड़ी सहायता मिली है। किसानों द्वारा बनायी गयी सेवा सहकारी समितियाँ और संयुक्त कृषि सहकारी समितियों ने मोटर युक्त हल और निराई के औजार खरीद कर कृषक सदस्यों को किराये पर देना सुलभ बनाया है। कृषि सहकारी समितियों ने किसानों को कृषि कार्य में सहायता के लिए उन्नत बीज, पर्याप्त मात्रा में खाद और कीट-नाशक दवाइयाँ, दस्ताने और मार्गदर्शन देने का काम भी किया। इन सब बातों से किसान को सहायता देने के लिए संगठन का एक जाल-सा बिछ गया है। फसल तैयार होने पर किसान को उसकी बिक्री के सम्बन्ध में चिंतित नहीं होना पड़ता। इसका ध्यान वह बिक्री समिति रखती है, जिसका वह सदस्य होता है।

जापान का केन्द्रीय कृषि सहकारी समिति संघ एक राष्ट्रीय स्तर का संगठन है जिसे प्रशासकीय केन्द्रीय संघों को शामिल करने सम्बन्धी अधिकार प्राप्त हैं और उनके जरिये प्राथमिक कृषि समितियों को शामिल करने के भी।

जापान में कृषि सहकारी आन्दोलन से सम्बन्धित जानकारी फैलाने के लिए **ई-नो-हिकारी** नामक एक पत्रिका प्रकाशित होती है। इस पत्रिका की लोकप्रियता तो इसी से समझी जा सकती है कि प्रति माह समूचे जापान में इसकी कोई २० लाख प्रतियाँ बिकती हैं। अन्य किसी संगठन से बिना आर्थिक सहायता पाये ही, अपने सदस्यों के चन्दे पर यह पत्रिका चलती है।

भारत में उल्लेखनीय प्रगति

भारत में ऐसा एक सर्वोत्तम उदाहरण खेड़ा जिला सहकारी दूध उत्पादक संघ का है, जिसकी १४० समितियाँ सदस्य हैं, और जो इन समितियों द्वारा भेजे गये दूध का प्रशोधन तथा उससे बनी अन्य चीजों की बिक्री का कार्य करता है। पिछले तीन वर्ष से संघ औसतन रूप से

गया और फालतू घोल बिना बट लगाये गुण्डियों को दबाकर निचोड़ने के जरिये निकाल दिया गया। तत्पश्चात् उन्हें धूप में सुखाया गया। उपचार के लिए १८-१९.६ अंक का ऐसा हाथ-कता सूत लिया गया, जिसमें प्रति इंच १८-१९ बट के चक्कर थे। लटी जाँचक द्वारा प्रति लटी, किलोग्राम में तोड़ भार (ब्रेक लोड) यानी मजबूती

उपचार के बाद सूत की मजबूती

नि=नियंत्रण; ऐयू २०%=ऐमोनिया २०% और यूरिया २०%; ऐयू १०%=ऐमोनिया १०% और यूरिया १०%; ज=जल; अ २%=कास्टिक सोडा २%; अ ४%=कास्टिक सोडा ४%; जबोफा=जल, बोरेक्स और डायसोडियम फासफेट; क्षाबोफा=क्षार, बोरेक्स और डायसोडियम फासफेट ४%; ■ मजबूती में वृद्धि (प्रातिशत्य)

जाचने सम्बन्धी वजन दर्ज करके उपचार के प्रभाव का मूल्यांकन किया गया। उपचार के कारण सूत में पड़ी सिकुड़न भी दर्ज की गयी। हाथ-कते सूत के एक रूप नमूने लेने की दिशा में सावधानी बरती गयी। मजबूती कमरे के २८° सेण्टीग्रेट तापमान और ५५ प्रति शत सापेक्षिक के आर्द्रता के अन्तर्गत जाँची गयी। प्राप्त परिणाम तालिका में और आयत चित्र के माध्यम से अंको में दिये गये है।

परिणाम और चर्चा

उपर्युक्त तालिका और आयत चित्र से पता चलता है कि विभिन्न क्षालन उपचारों से हाथ-कते सूत की मजबूती निश्चित रूप से बढ़ती है। जितने रसायनों का उपयोग किया गया उनमें से बोरेक्स डायसोडियम फास्फेट के प्रयोग से ऐसा प्रतीत हुआ कि अनुपचारित सूत की जितनी मजबूती होती है उससे ४५.४ से ४७.६ प्रति शत तक मजबूती बढ़ती है, फिर चाहे इनके साथ क्षार का उपयोग किया जाय अथवा न किया जाय। सोडियम हायड्रोक्साइड के घोल से हाथ-कते सूत का क्षालन करने से उसकी मजबूती २५.८ प्रति शत बढ़ती है। ऐमोनियायुक्त यूरिया के घोलों से उपचार करने पर मजबूती कोई विशेष नहीं बढ़ती ; उक्त सभी प्रकार के उपचार से दिलचस्प परिणाम प्राप्त हुए है, जिन पर विस्तृत जाँच करने की जरूरत है। हाथ-कते सूत के क्षालन के लिए अनुकूलतम अवस्थाओं तथा बिना भार प्रयुक्त किये खादी के मर्सरीकरण की दिशा में शोध कार्य प्रगति पर है।

९ जनवरी १९६३ ●

ग्रामोद्योग के बतौर शक्ति का उत्पादन

भारतानन्द

ग्रामोद्योग जब अपनी शक्ति सम्बन्धी आवश्यकताओं के बारे में स्वतन्त्र हो जायेंगे और आधुनिक प्रविधि का फायदा उठाने लगेंगे तब वे स्थानीय कच्ची सामग्री तथा अपने निकट यानी आस-पास ही बाजार प्राप्त करने का लाभ उठा सकेंगे। इस दिशा में हर गांव को अपने ऊर्जा-स्रोतों का उपयोग करने, शक्ति-उत्पादन व रूपान्तरण तथा उसे प्राप्त करने का अवसर मिलना चाहिए।

शक्ति-उत्पादन और रूपान्तरण को प्राथमिक ग्रामोद्योगों की सूची में शामिल करने की भारी आवश्यकता है। गाँव आज हर कदम पर शक्ति तथा उसकी सहायता से प्राप्त माल व सेवाओं का इस्तेमाल करते हैं। यहाँ तक कि छोटी-से-छोटी चीज के उत्पादन में भी शक्ति सम्बन्धी पहलू बढ़ता जा रहा है।

ऐसी औद्योगिक प्रक्रियाएँ करना जिनके सम्बन्ध में हाल तक सोचा ही नहीं जा सकता था, ऊर्जा के सघन उपयोग के कारण सम्भव बन गयी हैं। ऊर्जा की अपरिमितता के कारण समुद्र के जल को आसुत कर भूमि की सिंचाई की जा सकती है। ऊर्जा की सहायता से पत्थर, जल व वायु तक से कुछ भी बनाया जा सकता है।

सौर ऊर्जा के भण्डार

फिलहाल मानव द्वारा उपयोगित ऊर्जा के सभी स्तरीय स्रोत वस्तुत: सौर ऊर्जा के भण्डार हैं और स्वयम् सूर्य अपनी ऊर्जा अनवरत आणविक प्रतिक्रिया से प्राप्त करता है। इसलिए सही माने में हमारी सभी ऊर्जा आणविक ऊर्जा है। यही बात वायु ऊर्जा और उष्ण सामुद्रिक जल की तापीय ऊर्जा के सम्बन्ध में है। केवल गहन भू-गर्भीय ज्यो-तापीय ऊर्जा ही अभी तक नहीं समझी जा सकी है। हो सकता है, यह प्राचीन ऊष्मा इकट्ठी हुई हो अथवा पृथ्वी के गर्भ में आणविक प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप भाण्डारित हुई हो।

भारत फिलहाल कई स्रोतों—काष्ठ, तेल, गैस, कोयला, जल और आणविक प्रतिक्रिया—से अपनी ऊर्जा प्राप्त करता है। तेल, कोयला और गैस पुनर्नवीन किये जाने योग्य नहीं हैं, काष्ठ और जल का पुनर्नवीनीकरण हो सकता है और आणविक ईंधन दोनों हैं-कुछ पुनर्नवीकरण योग्य हैं तो कुछ नहीं। हवाएँ, ज्वार और अन्य समयइतर ऊर्जा स्रोतों का आज कोई खास महत्व नहीं है, यद्यपि हो सकता है भविष्य में वे ऐसे न हों। ऊर्जा का दूसरा प्रभावी यानी प्रत्याशित स्रोत है पृथ्वी के अपनी धुरी के तथा सूर्य के चारों ओर घूमने से प्राप्त संवेग ऊर्जा एवम् अंतरिक्ष के जरिये सौर परिवार की श्रेढ़ी। जहाँ इन स्रोतों से ऊर्जा प्राप्त करना फिलहाल हमारी शक्ति से बाहर है, वहाँ इन नक्षत्रों की कुछ ऊर्जा हमें अपने समुद्री किनारे के समीप ज्वार के रूप में उपलब्ध है। हमारी कृषि और औद्योगिक प्रविधि के विकास से तथा फॉसिल ईंधन व जल-शक्ति-स्थलों का पूरा उपयोग होने के बाद हमारी सूर्य पर निर्भरता बढ़ जायेगी।

प्रविधि का अपव्यय

आदिकालीन प्रविधि कृषि और उद्योग के आधुनिक तौर-तरीकों की अपेक्षा ऊर्जा का कहीं जरूरत से ज्यादा अपव्यय है। शिकारी, भोजन इकट्ठा करनेवालों और एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर खेती करनेवालों को अपने लिए कई मील लम्बी-चौड़ी जमीन तथा धूप की आवश्यकता होती थी। आदिकालीन मानव ऊर्जा को

संगठित और नियंत्रित नहीं कर सका, लेकिन फिर भी वह उसका अपव्यय कर रहा था।

भोजन बनाने में हमारी बहुत ज्यादा ऊर्जा खर्च होती है। एक किलोग्राम लकड़ी के जलने से करीब ४,००० किलो-कैलॉरी निकलती है। चूंकि रसोई में काम आने-वाले स्टोव की कार्य-क्षमता पांच प्रति शत से अधिक नहीं हो सकती, इसलिए इसका मतलब यह हुआ कि यदि भोजन जल्दी-जल्दी बनाया जाय तो एक किलोग्राम ईंधन से एक किलोग्राम खाद्यान्न पकाया जा सकता है। यह सही है कि भोजन को ज्यादा देर तक उबालने से उस ईंधन से दुगुने ईंधन की आवश्यकता होगी जो अन्यथा जरूरी होता है। इस हिसाब से प्रति व्यक्ति प्रति दिन १०,००० किलो-कैलॉरी ईंधन की आवश्यकता होगी जो १२ किलोवाट घण्टों के बराबर होती है।

ईंधन का वैकल्पिक स्रोत

रसोई में ईंधन के रूप में जब गोबर के उपलों का इस्तेमाल किया जाय, तो ऊर्जा का व्यय काफी अधिक होता है; क्योंकि खाद की क्षति अपूर्णीय अनाज की प्रति एकड़ कम उपज में प्रतिबिम्बित होती है। गोबर का ईंधन के रूप में इस्तेमाल तब तक बन्द नहीं किया जा सकता, जब तक कि वैकल्पिक ईंधन स्रोत केवल मुश्किल से प्राप्त खर्चीले काष्ठ के रूप में ही उपलब्ध हो। भारतीय रसोई-घरों में सौर उष्मा, मिथेन गैस या बिजली का ईंधन के रूप में प्रवेश करवाये जाने के सवाल पर तत्काल ध्यान दिये जाने की आवश्यकता है।

घरों और गलियों में प्रकाश करने के लिए ऊर्जा की आवश्यकता है। मशालों, मोम-बत्तियों, लालटेनों, गैस की बत्तियों, बिजली की बत्तियों आदि सभी में ऊर्जा प्रकाश में रूपान्तरित होती हैं। अब तक रूपान्तरण की गति बहुत कम है, प्राप्त ऊर्जा का केवल बहुत ही मामूली हिस्सा प्रकाश के रूप में प्राप्त होता है। हमारे ऊर्जा स्रोतों के एक अच्छे-खासे हिस्से का पहले से ही रोशनी के रूप में इस्तेमाल होता है और संस्कृति तथा अवकाश में विकास होने के साथ-साथ हमारी प्रकाश सम्बन्धी आवश्यकताएँ भी बढ़ेंगी। संयुक्त राज्य अमेरिका में जितनी बिजली पैदा होती है उसका एक-तिहाई हिस्सा रोशनी करने में खर्च होता है और उसका अनुपात बढ़ रहा है।

प्रायः प्रत्येक उद्योग में उष्मा की जरूरत होती है, फिर चाहे वह पुराना उद्योग हो अथवा नया। भोजन बनाने और प्रकाश करने, लोहा पिघलाने तथा उसके औजार बनाने से लेकर कपड़े रंगने व ईंटें पकाने तक के लिए उष्मा के रूप में ऊर्जा की आवश्यकता होती है।

निम्न स्तरीय प्रविधि

कुम्भकारी, ईंट-पथाई, चूना पत्थर जलाने व अन्य ऐसे ही पुरानी अर्थ-व्यवस्था से सम्बन्धित उद्योगों में अत्यधिक मात्रा में ईंधन की जरूरत होती है। साधारण भट्टे व भट्ठियाँ बहुत ही अकार्यक्षम हैं; उदाहरण के लिए एक साधारण ईंट-भट्टे में एक घन मीटर ईंट पकाने के लिए दो करोड़ किलो-कैलॉरी तक की आवश्यकता पड़ती है, जबकि एक आधुनिक अर्द्ध-अनवरत भट्टे में केवल एक करोड़ किलो-कैलॉरी या उससे भी कम की जरूरत होती है। गाँवों में बनी चूना पत्थर जलाने की भट्टियों में चूना-पत्थर से दस गुने ज्यादा तक लकड़ी जल जाती है। यहाँ भी हम देख सकते हैं कि निम्न स्तरीय प्रविधि किस प्रकार ऊर्जा का अपव्यय करती है।

भारत अपनी शक्ति सम्बन्धी आवश्यकताओं के लिए भूतकाल में मुख्य रूप से जंगलों पर निर्भर रहा है। देश में कोयले की खानों की खोज अपेक्षाकृत कुछ हाल में हुई है। मिट्टी के तेल और प्राकृतिक गैस के होने का पहले भी पता था, लेकिन भारत के फॉसिल ईंधन के कोषों का अब भी कोई स्पष्ट चित्र सामने नहीं है। चाहे जो भी हो, यह निश्चित है कि वे अपर्याप्त और निर्वातनीय है।

भारत पहले से ही उस स्थिति पर पहुँच चुका है, जहाँ उसके प्राकृतिक जंगलों की वृद्धि उसकी आवश्यकता-ओं से काफी कम है। काठ एक मूल्यवान भवन निर्माण-सामग्री और कई रासायनिक उद्योगों के लिए बुनियादी

जरूरत है यानी उनमें इसके बिना काम चल ही नहीं सकता तथा इसका बहुत ही छोटे पैमाने के अलावा ऊर्जा के स्रोत के रूप में इस्तेमाल नहीं किया जाना चाहिए। पेड़ों की छालों और घास-फूस से भी, उसे जलाने के स्थान पर, कार्ड बोर्ड बनाये जाने चाहिए।

क्षितिज जल विद्युत

सौभाग्य से भारत में जल की प्रतिस्थाप्य ऊर्जा ठीक-ठीक मात्रा में उपलब्ध है। इसे आसानी से बिजली में रूपान्तरित किया जा सकता है, जो कि शक्ति का सर्वाधिक लचीला और परिवर्तनशील रूप है।

भारत में कुल क्षितिज जल-विद्युत का अब भी कोई अन्तिम चित्र हमारे सामने नहीं है। देश के जल शक्ति स्रोत का परिपूर्ण सर्वेक्षण अभी-अभी प्रारम्भ हुआ है। भारत में होनेवाली वर्षा तथा उसकी समाकृति को देखते हुए ऊँचे-ऊँचे स्थानों पर घाटियों में दो पहाड़ों के बीच के स्थान पर उचित बांध लगाकर अप्राकृतिक झीलों का निर्माण करके देश की जल-विद्युत काफी बढ़ायी जानी सम्भव है। उनकी कीमत फिलहाल बूते से बाहर की हो सकती है, लेकिन भविष्य में नहीं।

कोयले की खान

भारत में फिलहाल लिग्निट सहित ५५ अरब टन कोयले का अनुमान लगाया जाता है। वर्तमान खपत ५ करोड़ २० लाख टन वार्षिक है। इसका मतलब यह हुआ कि वर्तमान दर के अनुसार भारत का कोयला १,००० वर्ष तक चल सकेगा। वस्तुतः यदि नयी खानों का पता नहीं लगाया गया तो यह काफी कम वर्षों तक चलेगा, क्योंकि उपभोग निश्चय ही बहुत अधिक बढ़ने-वाला है।

समूचे भारतीय कोयले में कितनी कम ऊर्जा है इसे इस हिसाब से समझा जा सकता है: एक आदमी प्रति दिन खाना पकाने में १०,००० किलो-कैलॉरी खपाता है। इसका अर्थ हुआ प्रति व्यक्ति वार्षिक उपभोग ३६ लाख ५०हजार किलो-कैलॉरी। एक किलोग्राम कोयले में दहन की उष्मा ७,००० किलो-कैलॉरी है और ५५ अरब टन का मतलब है ७,०००×५,०००×५५ अरब किलो-कैलॉरी या ३.८५×१०^{१७} किलो-कैलॉरी (३८५ क्वैड्रिलियन किलो-कैलॉरी)। इसको प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष ३.६५×१०^{६} किलो-कैलॉरी से भाग देने पर पता चलता है कि ५० करोड़ भारतीयों के लिए यह केवल १९२ वर्ष तक ही चलेगा। और इस महान ऊर्जा मात्रा का तीन-चौथाई हिस्सा भोजन पकाने में काम आता है! उक्त अंक यद्यपि अमूमन है, फिर भी वे, तादाद का क्रम प्रस्तुत करते है। वे यह भी दर्शाते हैं कि कितनी विशाल सीमा तक सूर्य हमारी ऊर्जा का मुख्य स्रोत है। और, सूर्य का हर गाँव में फायदा उठाया जा सकता है!!

आणविक शक्ति केन्द्र

ऊर्जा का दूसरा स्रोत, जिसकी महान सम्भाव्यताएँ हैं, आणविक शक्ति केन्द्र है। आणविक रिएक्टर बनाने के काम में प्रगति होने के साथ-साथ आणविक बिजली कोयले से तैयार की गयी बिजली व जल-विद्युत से स्पर्धा करने की स्थिति में होगी। लेकिन यह सब कितनी जल्दी होगा, कोई नहीं कह सकता और न ही यह स्पष्ट है कि भारत में कितना आणविक ईंधन है।

फिर भी, हम यह निश्चित मान सकते हैं कि यदि फॉसिल ईंधन रसायन उद्योगों के लिए सुरक्षित रखा जाय और कारखाने, रेलगाड़ियों, मोटरों आदि सभी में आणविक विद्युत का उपयोग हो तो भारत में उसकी सभी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए पर्याप्त ऊर्जा नहीं होगी। इसके अलावा यदि केन्द्रित ईंधन और शक्ति की ही गाँवों में सप्लाई की जानी है, तो उससे गाँव की आजादी और उसकी आत्मनिर्भरता बुरी तरह गड़बड़ा जायेगी।

एक प्राथमिक सामग्री

शक्ति जिस गाँव में बिक्री या बदलौन के लिए उपलब्ध रही है वहाँ सदैव ही एक प्राथमिक सामग्री रही है। आखिरकार खेतिहर मजदूर और गाड़ीवान अपनी

शक्ति ही तो बेचता रहा है। हिमालय की तराई के किसी गाँव में जल-चक्की का मालिक जल-शक्ति बेचता है, और वहाँ से गंगा में नाव खेकर पत्थरों का बोझ ढोनेवाला नाविक पवन-शक्ति बेचता है। ऐसी पद्धति का विस्तार कर उसे बढ़ाने का तर्क प्रस्तुत करना स्वाभाविक ही है, जो अनादिकाल से चली आ रही है।

नीचे से आयोजन

केन्द्रीय शक्ति आवश्यक रूप से ही केन्द्रित उद्योगों और सेवाओं के लिए सुरक्षित रखी जायेगी। हर क्षेत्र में बुनियादी उद्योगों को प्राथमिकता देना सरकार की निश्चित तथा सही नीति है और इन क्षेत्रों में शक्ति भी शामिल है। खान खुदाई, यातायात तथा परिवहन और यंत्र-निर्माण उद्योगों का द्रुत गति से विकास करके देश की उत्पादन-क्षमता शीघ्रता से एवम् स्थायी तौर पर बढ़ायी जा सकती है।

ग्रामोद्योग देश-व्यापी और लघु-कालीन आयोजन के लिए उपयुक्त नहीं हैं। उनका आयोजन ऊपर से न होकर नीचे से होना चाहिए और नीचे से आयोजन करने से आसान लक्ष्यांक बनाने तथा समय सम्बन्धी कठोर पाबन्दियों को प्रश्रय नहीं मिलता। यह प्राणवान, गतिशील है। इसे संगठित नहीं किया जा सकता। ग्रामोद्योग राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के निश्चित रूप से ही उपेक्षित अंग रहनेवाले हैं। उन्हें तब तक रुपया-पैसा और बिजली बड़ी कंजूसी से दी जायेगी तथा वे कुछ समय के लिए कगार की-सी स्थिति पर बने रहेंगे, जब तक कि वे प्राविधिक तथा संगठनात्मक दृष्टि से एक काफ़ी उच्च स्तर को प्राप्त कर भारत के आर्थिक जीवन में एक स्वतन्त्र काम देनेवाले, आत्म निर्भरक तथा अपने पैरों पर खड़े होनेवाले क्षेत्र के रूप में अपने को विकसित न कर लें।

ग्रामोद्योग अपनी गति से और अपने ढंग से विकसित हो सकें, इसके लिए एक ही मार्ग है कि एक ओर उन्हें उनकी शक्ति सम्बन्धी आवश्यकताओं के मामले में स्वतन्त्र बनाया जाये तथा दूसरी तरफ उन्हें आधुनिक प्रविधि के लाभ उपलब्ध करवाये जायें। ऐसा होने पर ही अपने आस-पास की कच्ची सामग्री और बाजार का वे फायदा उठा सकेगें तथा इस प्रकार स्वतंत्र रोजगार देनेवाला यह क्षेत्र अथवा विभाग उत्पादकता और गुण-स्तर की दिशा में सुदृढ़ प्रगति करते हुए अपनी सार्थकता सिद्ध कर सकेगा।

एकाधिकार अवांछनीय

शक्ति को भी अन्य किसी परमावश्यक सामग्री के के समान समझा जाना चाहिए, जिसका उत्पादन, विक्रय तथा उपयोग किया जा सकता है। इसे सार्वजनिक अथवा निजी विभाग के एकाधिकार की वस्तु नहीं बन जाना चाहिए। हर गाँव को अपने ऊर्जा स्रोत की शक्ति प्राप्त, उत्पादित अथवा रूपान्तरित करने और आस-पास के क्षेत्र में उसे वितरित करने या क्षेत्रीय अथवा राष्ट्रीय 'ग्रिड' को बेचने के लिए सर्वोत्तम उपयोग करने का अवसर मिलना चाहिए। एक मेगावाट (१,००० किलोवाट) से नीचे के बिजली घरों को ग्रामोद्योग माना जाना चाहिए और उन पर समाज का एकाधिपत्य रहे।

१९ जनवरी १९६३

शक्ति करघा : एक विश्लेषण

त्रिविक्रम आचार्य

शक्ति करघा उद्योग के संगठन और विकास की जांच करने के लिए भारत सरकार द्वारा नियुक्त समिति को उन उपायों पर भी विचार करना पडेगा, जिनसे हाथ करघा उद्योग का और ह्रास होना रोका जा सके, जिसमें बताया जाता है कि हाथ करघों को जान बूझकर शक्ति करघों में बदलने के कार्यक्रम अथवा शक्ति करघों के विस्तार से उत्पादन-क्षमता अनुपयोगित पड़ी है।

भारत सरकार ने हाल ही में एक सात सदस्यीय समिति, श्री अशोक मेहता की अध्यक्षता में नियुक्त की है, जो शक्ति करघा उद्योग की समस्याओं की जाँच करेगी। समिति की अधिकार मर्यादाओं में बतााा गया है कि शक्ति करघा के विकास और संगठन, उसकी आय-क्षमता, हाथ करघा उद्योग और मिल उद्योग की तुलना में उसका स्थान आदि बातों की जाँच करके शक्ति करघों के अनधिकृत रूप से होनेवाले विस्तार को रोकने के साधन वह सुझाए तथा हाथ करघा सहकारी समितियों को शक्ति करघों की सहकारी समितियों में परिवर्तित करने की वांछनीयता तथा गुंजाइश की जाँच करें।

पृष्ठभूमि

जब से फेक्ट फाईडिंग कमेटी ने १९४२ में अपनी रिपोर्ट पेश की, शक्ति करघा उद्योग का सवाल बराबर सामने आता रहा है। कुछ समय से इसने आयोजकों का अनवरत ध्यान आकर्षित किया है। इस सम्बन्ध में जो दिलचस्पी है वह तो इसी से प्रकट है कि वस्त्रोद्योग का बड़े पैमाने तथा विकेन्द्रित दोनों ही आधारों पर विकास करने के लिए विभिन्न उपायों की जाँच कर सिफारिश करने हेतु वस्त्रोद्योग जाँच समिति, १९५४ (अध्यक्ष श्री नित्यानन्द कानूनगो); ग्राम और लघु स्तरीय उद्योग (द्वितीय पंच वर्षीय योजना) समिति, १९५५ (अध्यक्ष प्रोफेसर डी. जी. कर्वे) और भूतपूर्व बम्बई सरकार की शक्ति करघा समिति, १९५७ (अध्यक्ष श्री पुरुषोत्तम कानजी) जैसी अनेक समितियाँ नियुक्त की गयीं। फेक्ट फाइंडिग कमेटी (१९४२) ने, जिसने पहली बार इस उद्योग की समस्याओं का वस्तुनिष्ठ अध्ययन करने का प्रयत्न किया, यह स्वीकार किया की अर्थ-व्यवस्था में हाथ करघा उद्योग के विकास का महत्व बहुत है। उसने हाथ करघों को शक्ति करघों में परिवर्तित करने की बढ़ती हुई प्रवृत्ति के प्रति सावधान किया; क्योंकि उसकी राय में ऐसा करने से परम्परागत हाथ करघा बुनकरों की एक बड़ी तादाद को बेकार हो जाना पड़ेगा, जिससे परिस्थिति अधिक खराब हो जायेगी। तथापि, कानूनगो समिति ने हाथ करघा उद्योग को शक्ति करघा उद्योग में, सहकारी क्षेत्र के अन्तर्गत अनुक्रमिक रूप से परिवर्तित करने की राय दी, जिसके पीछे यह मुख्य दृष्टि रही कि जन-संख्या में जो वृद्धि हो रही है, उसके परिणामस्वरूप होनेवाली अतिरिक्त कपड़े की मांग पूरी की जा सके। उन्होंने सिफारिश की कि इस अतिरिक्त माँग की पूर्ति की जिम्मेदारी विकेन्द्रित वस्त्रोद्योग के हाथ करघा और शक्ति करघा क्षेत्रों पर रहे ।

कर्वे समिति ने अधिक व्यावहारिक रूप से इस पर विचार किया। हाथ करघे का शक्ति करघे में परिवर्तन करने से प्राविधिक बेरोजगारी में जो वृद्धि होगी, उसे दृष्टि में रखते हुए शक्ति करघों पर जो उत्पादन होगा, वह २० करोड़ गज वार्षिक से अधिक न हो, ऐसा उसने सुझाया। कर्वे समिति ने इस समस्या पर विचार करते

हुए इन बातों को ध्यान में रखा: (१) दूसरी पंच वर्षीय योजनावधि में उपभोक्ता वस्तुओं की सामान्य माँग की पूर्ति के लिए बढ़ाये जानेवाले उत्पादन के अधिकांश हिस्से का ग्राम और लघु स्तरीय उद्योगों को वितरण; (२) इन उद्योगों में रोजगारी के अवसरों की अनुक्रमिक वृद्धि की व्यवस्था हो; तथा (३) इन उद्योगों के उत्पादन तथा हाट-व्यवस्था का संगठन मुख्यतः सहकारी आधार पर हो।

यथार्थ मूल्यांकन

विकेन्द्रित वस्त्रोद्योग के विकास के प्रति अपने उपागम और नीति निर्धारण करते समय आयोग ऐसा लगता है कि कानूनगो समिति की सिफारिशों से अधिक प्रभावित हुआ है। सरकार की प्रकट नीति यह रही है कि हाथ करघे को शक्ति करघे में बदलकर सहकारी क्षेत्र में उसके विकास को बढ़ावा दें। कानूनगो समिति ने सिफारिश की थी कि प्रति वर्ष २० हजार हाथ करघे शक्ति करघों में इस विचार से रूपांतरित किये जायें कि जन-संख्या में वृद्धि होने के परिणाम-स्वरूप उसी अनुपात में कपड़े की जो माँग बढ़ेगी, उस माँग का काफी हिस्सा हाथ करघों को शक्ति करघों में परिवर्तित करने से पूरा किये जाने की अपेक्षा है; क्योंकि केवल अकेला हाथ करघा क्षेत्र कपड़े की इस अतिरिक्त माँग को पूरा करने में असमर्थ है। उसने सुझाया कि इस प्रक्रिया से जो बुनकर बेकार होंगे, उन्हें दूसरे क्षेत्र में काम दिया जा सकता है। तथापि, कर्वे समिति ने जैसा महसूस किया था कि कपड़े में वृद्धि की यह माँग उतनी समरूप नहीं बल्कि कम है। अतः यह सोचना पूरा-पूरा सही नहीं होगा कि जनसंख्या की वृद्धि के परिणाम-स्वरूप कपड़े की माँग भी उसी अनुपात में बढ़ जायेगी। इसके सिवा प्रति व्यक्ति कपड़े का उपभोग उस मात्रा में नहीं बढ़ा है, जैसा कि कानूनगो समिति या कर्वे समिति ने सोचा था।

अतः यह संदेहास्पद है कि जिस विचार से कानूनगो समिति ने हाथ करघों को शक्ति करघों में परिवर्तित करने का जो सुझाव पेश किया था, उसके लिए कभी कोई मजबूत आधार है। परिणामतः समिति की दृष्टि में रोजगारी बनाये रखने के अल्प-कालीन और अधिक अच्छी क्षमता लाने के दीर्घ-कालीन, दोहरे लक्ष्य पर कपड़े की माँग की दृष्टि में रखते हुए अधिक गहराई से जाँच की जाने की आवश्यकता है, खास कर सूती वस्त्र के मामले में, जिसकी माँग का झुकाव स्थिरता की ओर लगता हो। यहाँ इस तथ्य की ओर भी ध्यान देना कुछ प्रासंगिक होगा कि रेयन, नायलॉन, टेरलिन आदि जैसे संश्लिष्ट तंतुओं के कपड़ों की माँग बढ़ रही है। सूती कपड़े की माँग उपर्युक्त तंतुओं के कपड़े की माँग का मुकाबला किस हद तक कर सकती है, यह भी सोचना होगा। और फिर, कर्वे समिति ने जब २० करोड़ गज के उत्पादन की मर्यादा शक्ति करघों के उत्पादन पर रखने का सुझाव दिया, तो उसका हेतु विशेषतः बेकारी की समस्या से समाधान पाने का अधिक था। बाद में योजना आयोग ने कर्वे समिति की इस सिफारिश को सम्भवतः स्वीकार कर लिया; क्योंकि दूसरी योजनावधि में पैंतीस हजार शक्ति करघों को जो प्रमाण-पत्र दे दिये गये हैं, उनसे अधिक के लिए सिफारिश न करने का ही उसने तय किया।

अनधिकृत शक्ति करघों का विस्तार

पैंतीस हजार शक्ति करघे लगाने की स्वीकृति के समक्ष दूसरी योजनावधि में केवल ३,५०० शक्ति करघे ही लगाये गये बताये जाते हैं। लेकिन उसी अवधि में अनधिकृत करघों में पर्याप्त वृद्धि हुई है, जिनकी संख्या उस लक्ष्य से करीब-करीब दुगुनी बतायी जाती है, जो दूसरी योजना के लिए निर्धारित किया गया था। विश्वस्त जानकारी के अभाव में यह अनुमान काफी सही नजर आते हैं, जबकि हम शक्ति करघा समिति के मालूमातों के प्रकाश में इसे देखते हैं। इस समिति ने १९५६ में बताया था कि साठ हजार दो सौ अस्सी शक्ति करघे चल रहे हैं, जिनमें से ४० प्रति शत सूती कपड़ा बुनते हैं। सन् १९५६-५९ की अवधि में १३,१५९ करघे स्थानीय रूप से बनाये गये और ५,१७१ आयात किये गये। जैसा कि फेक्ट फाइंडिंग कमेटी ने बताया है,

जो शक्ति करघे लगाये गये हैं, उनमें से अधिकांश वे हैं, जो मिलों ने बेकार करार दे दिये थे और जो बाद में १९५९ में वस्त्रोद्योग आयुक्त के आदेश से शक्ति करघों के क्षेत्र में लगाने से रोक दिये गये थे। यह मानते हुए कि लगाये गये नये करघों में से अधिकांश मिलों द्वारा या शक्ति करघा क्षेत्र द्वारा ही स्थापित हुए हैं (बेकार माने गये करघे शक्ति करघा क्षेत्र द्वारा लिये गये), शक्ति करघा समिति की रिपोर्ट के बाद से जो शक्ति करघे बढ़े वे १८,००० के करीब होंगे।

यह तथ्य इस बात से भी सिद्ध होता है कि उक्त अवधि में संगठित क्षेत्र के बुनाई विभाग में व्यवहारतः कोई वृद्धि नहीं हुई है। गत बीस वर्षों में शक्ति करघों में अनधिकृत रूप से इतनी तेज रफ्तार से जो वृद्धि हुई है, उसके कारण ये है : (१) चार करघों से कम की एक इकाईवाली शक्ति करघा इकाइयों को उत्पादन कर चुकाने में दी हुई कुछ सुविधाएँ तथा उनके द्वारा उत्पादित कपड़े से सम्बन्धित सरकार की सुरक्षितता की नीति; और (२) युद्ध और युद्धोत्तर काल में कपड़े की वृद्धि, जो जनसंख्या की वृद्धि तथा आयात की कमी के कारण हुई।

शक्ति करघा बनाम हाथ करघा

यह ज्ञात हुआ है कि इन सभी शक्ति करघों को अधिकृत और पंजीकृत करने की व्यवस्था की जा रही है। हाथ करघा उद्योग पर इसका जो असर होगा, उसको रोकना मुश्किल दिखायी देता है, क्योंकि हाथ करघे के बनिस्बत शक्ति करघे को कुछ विशेष सुविधाएँ प्राप्त हैं। यद्यपि शक्ति करघे अपनी कार्य-क्षमता और उत्पादकता में, मिलों के करघों के बराबर ठहरते हैं, फिर भी तुलनात्मक रूप में उनके लघु स्तरीय काम के कारण उन पर ऊपरी खर्च कम पड़ता है। इसके अतिरिक्त शक्ति करघा जाँच समिति ने बताया कि करीब ६५.४१ प्रति शत शक्ति करघे, जो सूती वस्त्र बुनते हैं, अधिक ऐसी इकाइयों में हैं, जो प्रत्येक २५ करघों से कम की हैं और साधारणतः उनमें ५० से अधिक कारीगर काम पर नहीं होते तथा ४०.१८ प्रति शत करघे १० करघे प्रति इकाई से भी छोटी इकाई के रूप में हैं और वे फैक्ट्री कानून के अन्तर्गत नहीं आते। तीसरी बात यह है कि अधिक प्रतिस्पर्द्धात्मक शक्ति और अधिक मुनाफा देने की क्षमता के कारण वे हाथ करघों की तुलना में मिलों के साथ टक्कर लेने में अधिक समर्थ है, बावजूद इसके कि वे हाथ करघा या मिलों की तुलना में अधिक दामों पर सूत खरीदते हैं; क्योंकि उनमें मुनाफा बहुत ज्यादा होता है। दरअसल शक्ति करघों पर उत्पादित कुछ विशिष्ट प्रकार के कपड़े तो मिलों से भी, उसी प्रकार के कपड़ों की तुलना में, सस्ते होते हैं। इस तरह गुणात्मक और परिमाणात्मक उत्पादन की दृष्टि से शक्ति करघे मिलों के लिए भी गहरी प्रतिस्पर्द्धा करनेवाले हो गए हैं; क्योंकि एक ही पाली चलाकर उनमें प्रति करघा प्रति दिन ४० से ५० गज कपड़ा यार करने की क्षमता है।

उद्यमशीलता का विकास

कभी-कभी यह दलील दी जाती है कि शक्ति करघे रखनेवाले योग्य हाथ करघा बुनकर परिवारों के समूह में उद्‌मशीलता विकसित करने की दृष्टिसे १० करघों से कम की इकाइयों को प्रोत्साहित करना चाहिए। इस तथ्य को थोड़ी देर के लिए अलग भी रखा जाय कि ये इकाइयाँ जैसा कि शक्ति करघा जाँच समिति ने कहा था, उसी तरह खतरे की सम्भावना से युक्त हैं जैसी कि बड़ी, तो भी अपर्याप्त ज्ञान और उद्यम संबंधी योग्यता उन्हें अलाभदायी बना सकती है। फिर भी, इस तर्क में कुछ शक्ति दिखाई देती है, यदि ऐसे करघ व्यक्तिगत तौर पर स्वतन्त्र रूप से पारिवारिक उद्यम के आधार पर चलाय जायँ।

वस्त्रोद्योग आयुक्त द्वारा प्रकाशित रिपोर्ट से पता चलता है कि देश में करीब २८ लाख ५० हजार पंजीकृत

हाथ करघे हैं। परन्तु इनमें से अधिकांश सहकारी क्षेत्र के बाहर हैं। सहकारी क्षेत्र में केवल १३ लाख ९२ हजार करघे हैं। गैर-सहकारी हाथ करघा क्षेत्र के वास्तविक उत्पादन का विवरण उपलब्ध नहीं है। सहकारी क्षेत्र का जो विवरण उपलब्ध है, वह भी बहुत सीमित है। अतः ऐसे विवरणों के अभाव में, हाथ करघा और शक्ति करघा द्वारा होनेवाला उत्पादन इसी आधार पर आंका जाता था कि नागरिक खपत के लिए कितना सूत दिया गया, जिसमें हाथ करघों के लिए ७६ प्रति शत; शक्ति करघों के लिए १४ प्रति शत; तथा दूसरे उद्देश्यों जैसे गंजी, मौजे आदि बनाने एवं दूसरी प्रकार के करघों के लिए १० प्रति शत का हिसाब लगाया जाता था।

उत्पादन का अनुमान

विकेन्द्रित क्षेत्र में दोनों विभागों को नागरिक खपत के लिए सूत देने का जो परिमाण निय तकिया गया था, वह वस्तुतः पिछले १० या १५ वर्षों से करीब वैसा ही है, बावजूद इसके कि उत्पादन में पर्याप्त रूप से वृद्धि हुई है, उदाहरणार्थ पूरे विकेन्द्रित विभा में सन् १९५२ में १ अरब ४३ करोड़ ४० लाख गज का उत्पादन हुआ था, और १९६१ में २ अरब ५९ करोड़ २० लाख गज तक वह पहुँच गया। इसलिए वस्त्रोद्योग आयुक्त ने जून १९६० से शक्ति करघों पर होनेवाले उत्पादन का अलग से विवरण देना बन्द कर दिया है। यह शंकास्पद है कि वस्त्रोद्योग आयुक्त द्वारा हाथ करघों और शक्ति करघों के उत्पादन का अनुमान लगाने के लिए जो सूत्र अपनाया था, वह अब भी योग्य यानी सही है, क्योंकि अब बहुत बड़ी तादाद में शक्ति करघे चलते बताये जाते हैं। शक्ति करघों की स्पर्द्धात्मक क्षमता देखते हुए यह बहुत कुछ संभव है कि नागरिक खपत के लिए दिये जानेवाले सूत का बहुत कुछ हिस्सा उनके पास जाता हो।

उक्त बात की पुष्टि इससे भी होती है कि सहकारी क्षेत्र में चलनेवाले हाथ करघों के लिए भी सूत की पूर्ति में कमी है, इसलिए उन्हें निष्क्रिय रहने के लिए बाध्य होना पड़ता है, फलतः काफी क्षमता बिना पूरे उपयोग के पड़ी है। भारत में सहकारी आन्दोलन (१९६०-६१) से संबंधित रिजर्व बैंक ऑफ् इंडिया के सांख्यिकी विवरणों में बताया गया है कि सहकारी क्षेत्र के औसतन ६० प्रति शत करघे सक्रिय हैं। अखिल भारतीय हाथ करघा मंडल के प्रतिवेदन के अनुसार, प्रति करघा प्रति वर्ष औसत उत्पादन ७०० गज है। सहकारी क्षेत्र के अनुपात में ही गैर-सहकारी क्षेत्र का उत्पादन हो रहा है, ऐसा मान लिया जाय, तो भी सहकारी और गैर-सहकारी दोनों क्षेत्रों में जो करीब १७ लाख करघे व्यापारिक उत्पादन के लिए चालू बताये जाते हैं (असम, मणिपुर और त्रिपुरा जैसे राज्यों में स्वावलंबन के आधार पर जो ५ लाख करघे चल रहे हैं, उनको छोड़कर), उन पर कपड़े का उत्पादन करीब १ अरब २० करोड़ गज का था मोटे तौर पर सन् १९६१ के पूरे उत्पादन (२ अरब ५९ करोड़ २० लाख गज) के ५० प्रति शत का अन्दाज लगाया जा सकता है। दूसरे शब्दों में हाथ करघा क्षेत्र की क्षमता पहले से ही काफी अनुपयोगित पड़ी है।

हाथ करघा बुनकरों की स्थिति

नये शक्ति करघे लगाने और अनधिकृत शक्ति करघों को विनियमित बनाने पर प्रति शक्ति करघा करीब पाँच-छः हाथ करघे बेकार होंगे। इससे ऐसी स्थिति पैदा होगी, जिसका किसी दृष्टि से एक ओर तो हाथ करघा बुनकारों की अवस्था सुधारने तथा दूसरी ओर रोजगारी की स्थिति का संतुलन बनाये रखने के किसी भी कार्यक्रम के साथ तालमेल बैठाया जाना मुश्किल है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार का दृष्टिकोण अपनाना अत्यधिक अव्यावहारिक होगा, खास कर जबकि ३० लाख व्यक्ति पहले से ही बेकार हैं, कि आखिर हाथ करघा बुनकारों की थोड़ी-सी संख्या ही शायद शक्ति करघों की स्थापना के कारण बेकार होगी, जो कि तीसरी योजना के अन्तर्गत अन्य विभिन्न क्षेत्रों की विकास योजनाओं में खपायी जा सकती है। अतः सर्व प्रथम उद्देश्य यह होना चाहिए कि सहकारी क्षेत्रों में हाथ करघा बुनकरों की आर्थिक

स्थिति, पूर्ण रूप से शक्ति करघों में हाथ करघों को परिणत करने के बजाय, अर्ध-स्वचालित करघों जैसे उन्नत साधन-सरंजाम अपनाने के जरिये उनकी क्षमता बढ़ा कर सुधारी जाय। दूसरा महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि छोटे कस्बों और देहाती क्षेत्रों में शक्ति की उपलब्धी मर्यादित रूप में ही है और उसका यदि इस काम में व्यय न हो, तो दूसरे इससे अधिक महत्वपूर्ण कामों में उपयोग हो सकता है। तीसरा विचारणीय पहलू यह है कि हाथ

करघा वस्त्र के सामने विदेशों में कोई प्रतिस्पर्धा नहीं है तथा सुयोजित और अनवरत ठोस प्रयत्नों द्वारा हाथ करघा कपड़े का अधिकाधिक निर्यात करके विदेशी मुद्रा की प्राप्ति काफी बढ़ाये जाने की संभावनाएँ हैं। अच्छी डिजाइन, उन्नत औजारों तथा उच्च स्तर बनाये रखने से इसमें सहायता मिल सकती है।

मुख्य समस्याएँ

हाथ करघा उद्योग का सन् १९६० में अध्ययन करनेवाला कार्यकारी दल इस निष्कर्ष पर पहुँचा हुआ दीखता है कि हाथ करघा उद्योग में बेरोजगारी और अर्द्ध-बेकारी कम कर दी गयी हैं। अतः सभी शक्ति करघों को अधिकृत करने का निर्णय निश्चय ही हाथ करघों की एक बड़ी संख्या को निष्क्रिय बना देगा, खास कर करीब उन सत्रह लाख करघों को जो व्यापारिक उत्पादन में लगे हुए हैं (असम, मणिपुर और त्रिपुरा में अपने खुद के उपयोग के लिए चलाये जानेवाले पांच लाख करघों को छोड़कर)। इसके बाद भी देश के कुल २८.५ लाख करघों में से ६ लाख से अधिक करघे पूरी तरह बेकार रह जाते हैं। अतः समस्या केवल यही नहीं है कि हाथ करघों को सघन रूप से इस दृष्टि से चलाया जाय कि बुनकरों को अधिकाधिक आमदनी प्राप्त हो और उनकी अर्द्ध-बेकारी कम हो, बल्कि यह भी है अधिकाधिक करघे सक्रिय बनाकर बेरोजगारी कम की जाय। इस दृष्टि से इन महत्वपूर्ण प्रश्नों पर गहराई से विचार करने की आवश्यकता है: (१) बेरोजगारी और अर्द्ध-बेकारी कम करने तथा आय बढ़ाने के दोहरे उद्देश्य को दृष्टि में रखते हुए सुधरे हुए उपकरण और तक्नीक लागू करने के लिए क्रमबद्ध कार्यक्रम; (२) वर्ष में कम से कम ३०० दिन तक हाथ करघे पूरी तरह से—सहकारी और गैर-सहकारी दोनों ही क्षेत्रों में—चलते रहें, इस दृष्टि से हाथ करघा बुनकरों को सूत की निश्चित और नियमित सप्लाई करने के लिए उचित कदम; और (३) हाथ करघों को तेजी से सहकारिता का जामा पहनाना, ताकि सभी पंजीकृत क्षेत्र में लाये जा सकें।

कर्वे समिति ने संयुक्त उत्पादन कार्यक्रम का जो सुझाव दिया था, वह तो हाथ करघा उद्योग के विकास के लिए सुझाया गया एक ही उपाय है। यह भी जरूरी है कि हाथ करघा उद्योग को, शक्ति करघे के विकास से जो समस्या सामने आ गयी है, जिससे उसके विकास में अवरोध आता है, उससे बचाया जाय। रोजगारी की स्थिति खराब होने के अलावा जैसा कि पहले बताया जा चुका है, एक ऐसी परिस्थिति भी पैदा हो सकती है कि कपड़े का स्टाक इकट्ठा हो जाय और फलस्वरूप विनियोजन योग्य स्रोत रुक जायें तथा अर्थ-व्यवस्था पर अनावश्यक बोझ आ पड़े।

समिति के विचारार्थ कुछ बातें

संक्षेप में, अशोक मेहता समिति को अन्य बातों के साथ-साथ इन बातों पर भी विचार करना होगा: (१) हाथ करघा सहकारी समितियों को शक्ति करघा सहकारी समितियों में परिवर्तित करने के जानबूझ कर अपनाये गये कार्यक्रम के जरिये शक्ति करघा क्षेत्र का विस्तार करना वांछनीय है या नहीं, जबकि 'टेक अप मोशन', विकसित डिजाइनें, उन्नत उपकरण आदि अपना कर अनुक्रमिक रूप से हाथ करघा बुनकरों का उत्पादन और उनकी आय बढ़ाने के अन्य विकल्प उपलब्ध हैं; (२) हाथ करघा उद्योग की क्षमता का अल्प-उपयोग और फलस्वरूप बुनकरों की पूर्ण और अर्द्ध-बेरोजगारी को देखते हुए यह वांछनीय है या नहीं कि मौजूदा शक्ति करघों का प्रमाणीकरण और विस्तार रोका जाय; तथा (३) हाथ करघा उद्योग की संगठनात्मक और कार्यकारी समस्याओं के समाधान की दृष्टि से अधिक वास्तविक और साहसिक उपागम की खोज ताकि हाथ करघा उद्योग जनता की कपड़े संबंधी जरूरत पूरी करने के प्रयत्नों में अधिक सहायक हो सके।

२३ जनवरी १९६३

नवम वार्षिकांक के विषय में अभिमत

खादी ग्रामोद्योग पत्रिका का नवम वार्षिकांक मिला। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की विभिन्न योजनाओं और ग्रामीण जीवन में सुख समृद्धि लाने के अनेकों प्रयासों का विवरण भी मिला। इस अंक के लेखों में आंकड़ों सहित ग्रामोद्योग तथा खादी सम्बन्धी समस्याओं का स्पष्ट चित्रण दिया गया है तथा कई सुव्यवस्थित और समीचीन सुझाव भी बताये गये हैं।

आपकी इस पत्रिका से देशवासियों को ग्राम्य जीवन की समस्याओं का ठीक-ठीक ज्ञान हो तथा खादी और ग्रामोद्योगों को सतत उपयुक्त पथ प्रदर्शन मिलता रहे, यही शुभ कामना है।

जगजीवन राम

नयी दिल्ली — केन्दीय यातायात
१४ दिसम्बर १९६२ — और संचार मन्त्री

* * *

यह एक बहुत ही उत्कृष्ट और साफ-सुथरा अंक है।

नयी दिल्ली-११ — **बी. वी. केसकर**
३१ अक्तूबर १९६२ — नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया

* * *

मुझे यह कहने में हर्ष होता है कि यह ऐसा अंक है, जिसमें अनेक विचारोत्तेजक तथा उपयोगी लेख हैं। इस अंक के प्रकाशन के लिए मेरी ओर से बधाई।

बी. एस. मूर्ति
केन्द्रीय उप-मंत्री

नयी दिल्ली — सामुदायिक विकास,
३ नवम्बर १९६२ — पंचायत राज और सहकार

* * *

अंक में प्रकाशित सामग्री और उसकी साज-सज्जा के लिए आपको मेरी ओर से बधाई है। मेरी हार्दिक इच्छा है कि आनेवाले वर्षों में भी आप अपने इस शुभ कार्य में सभी तरह से समर्थ हों।

सी. आर. पट्टाभिरामन

नयी दिल्ली — केन्द्रीय उप-मन्त्री
१८ अक्तूबर १९६२ — श्रम, रोजगार और आयोजन

* * *

अंक को मैंने सरसरी तौर पर पढ़ा और रुचिकर पाया। बारीकी से पढ़ने के लिए मैं इसे रख रहा हूँ।

एस. एस. खेड़ा

नयी दिल्ली — मंत्रिमण्डलीय सचिव
१८ अक्तूबर १९६२ — भारत सरकार

* * *

नवम वार्षिकांक में ग्रामीण जीवन पर उपयोगी और जानकारी प्रधान लेख हैं। मेरे लिए इसका पठन लाभदायक रहा। मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं कि आपकी पत्रिका हमारे गाँवों के विकास में महान योगदान दे सकेगी।

बी. एस. केसवन

कलकत्ता — लाइब्रेरियन
२ नवम्बर १९६२ — नेशनल लाइब्रेरी

* * *

मैंने चन्द लेख पढ़े हैं और मुझे कहना चाहिए कि अंक बहुत ही उपयोगी है।

बी. मेहता

जयपुर — मुख्य सचिव
२० अक्तूबर १९६२ — राजस्थान सरकार

* * *

वार्षिकांक की प्रति का मिलना खुशी का विषय था। मैं इसके लेख पढ़ रहा हूँ और आपको अपना अभिमत

प्रेषित करूंगा। जो कुछ थोड़ी-बहुत सामग्री मैंने पढ़ी है, उसके आधार पर मैं कह सकता हूँ कि लेखों का चयन बहुत ही उत्कृष्ट रहा है और इसके लिए आपको मेरी बधाई है। आशा है ग्रामीणों के समक्ष आनेवाली समस्याओं को लेकर विशिष्ट विषयों पर विशेषांक प्रकाशित किये जायेंगे। वस्तुतः वे बहुत ही उपयोगी सिद्ध होंगे।

राम दास
निर्देशक
प्लानिंग, रिसर्च एण्ड
एक्शन इन्स्टीट्यूट

कालाकांकर हाउस
लखनऊ
२१ अक्तूबर १९६२

* * *

वार्षिकांक के उत्कृष्ट प्रकाशन के लिए आपको बधाई है। खादी ग्रामोद्योग में हमारी अर्थ-व्यवस्था के एक बहुत ही महत्वपूर्ण विभाग की समस्याओं पर अधिकारिक जानकारी मिलती है। भारत एक विशाल देश है, जिसकी अधिकांश आबादी अब भी गाँवों में रहती है, जो कि अपनी जीवका के लिए खेती और ग्रामोद्योगों पर निर्भर करती है। भविष्य में काफी लम्बे समय तक ग्रामोद्योगों का हमारे आर्थिक विकास की योजनाओं में प्रमुख स्थान रहेगा। गांधीजी के जन्म दिवस पर वार्षिकांक का प्रकाशन बहुत उपयुक्त है, जो ग्रामीण जनता के विकास के लिए खादी और ग्रामोद्योगों पर आधारित रचनात्मक कार्यक्रम में विश्वास रखते थे तथा जिन्होंने इस दिशा में काम किया।

अंक में प्रकाशित लेख अपने विषय के मर्मज्ञों द्वारा लिखे गये हैं और उनसे खादी तथा ग्रामोद्योगों की स्थिति, प्रगति और सम्भाव्यता का एक सुसमन्वित चित्र सामने आता है। मुझे इसमें सन्देह नहीं कि वे प्रस्तुत विषयों के विभिन्न पहलुओं के अधिकारिक अध्ययन के रूप में उपयोगी सिद्ध होंगे।

सी. एल. घीवाला
सेक्रेट्री
इण्डियन मर्चेण्ट्स चेम्बर

बम्बई
२५ अक्तूबर १९६२

* * *

अंक का आवरण और साज-सज्जा बहुत ही सुन्दर तथा सामग्री उपयोगी एवम् रुचिकर है।

ए. के. घोष
सचिव, वैज्ञानिक अनुसंधान
और सांस्कृतिक मंत्रालय,
भारत सरकार

नयी दिल्ली
२२ अक्तूबर १९६२

* * *

मैंने खादी ग्रामोद्योग का वार्षिकांक देखा और मैं सोचता हूँ पिछले अंकों की अपेक्षा आपने काफी सुधार किया है।

सतीश चंद्र दास गुप्त
निर्देशक (समाजशास्त्र)
सेण्ट्रल इस्टीट्यूट ऑफ्
स्टडी एण्ड रिसर्च, मसूरी

राजपुर, देहरादून
२३ अक्तूबर १९६२

●

सम्पादक : सुभाष चन्द्र सरकार द्वारा खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय,' इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई–५६ से प्रकाशित तथा मुद्रित। मुद्रण-स्थल : एसोसिएटेड एडवर्टाइजर्स एण्ड प्रिण्टर्स, ५०५, तारदेव, आर्थर रोड, बम्बई–३४।
वार्षिक शुल्क : २.५० रुपये; एक प्रति : २५ नये पैसे।

खादी ग्रामोद्योग

मार्च १९६३
नवम वर्ष षष्ठम अंक

सम्पादक : सुभाष चन्द्र सरकार। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के लिए सुभाष चन्द्र सरकार द्वारा मुद्रित और प्रकाशित।

ग्रामीण विकास तथा समाजार्थिक व्यवस्था पर लिखे लेखों को कमीशन की पत्रिकाओं में सहर्ष स्थान दिया जायेगा, बशर्ते वे ग्रामीण विकास के ध्येय से लिखे गये हों। फिर भी, प्रत्येक लेख के छापने का आश्वासन नहीं दिया जा सकता। लेखकों को किसी अंश में पुरस्कृत करने का भी प्रबन्ध किया जा सकता है। लेख, पुस्तकों की समीक्षा आदि सम्पादक, 'खादी ग्रामोद्योग', खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय,' इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई–५६ के पते पर भेजें। टेलिफ़ोन नं. ८६७७३।

इस पत्र में प्रकाशित लेखों में प्रकट किये गये विचार खादी और ग्रामोद्योग कमीशन अथवा सम्पादक के न होकर लेखक के हैं। सम्पादक अथवा कमीशन के विचार जहां-कहीं भी हैं, उनका उल्लेख कर दिया गया है।

वार्षिक शुल्क : २.५० रुपये; एक प्रति : २५ नये पैसे। चन्दे की रकम इस पते पर भेजी जानी चाहिए : सहायक एकाउण्ट्स ऑफिसर (कैश), खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय', इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई–५६।

इस अंक के लेखक

वैकुण्ठ ल. मेहता	—खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अध्यक्ष।
तरलोक सिंह	—योजना आयोग के सदस्य।
सुभाष चन्द्र सरकार	—खादी और ग्रामोद्योग कमीशन द्वारा प्रकाशित खादी ग्रामोद्योग तथा जागृति के सम्पादक।
अल्फ्रेड सॅम्युअल	—मद्रास विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र विभाग में सहकारिता के लेक्चरर।
धीरूभाई मणिभाई देसाई	—खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के प्रशिक्षण निर्देशक।
संजीवराव कृष्णराव कल्लापुर	—खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के रेशा, बढ़ईगीरी और लुहारगीरी उद्योगों के निर्देशक।
युवेश चन्द्र शर्मा	—नासिक स्थित खादी-ग्रामोद्योग विद्यालय के प्राचार्य।
त्र्यम्बकलाल भगवानदास भट्ट	—खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अनाज तथा दाल प्रशोधन उद्योग निर्देशक।
रोशनलाल सुगनमलजी चोरडिया	—खादी और ग्रामोद्योग कमीशन में हाथ कागज उद्योग के टेक्निकल सुपरवाइजर।
दीनानाथ दुबे	—उत्तर प्रदेश खादी तथा ग्रामोद्योग बोर्ड के प्रचार अधीक्षक।
चित्तप्रिय मुखर्जी	—कलकत्ता में विश्वभारती के प्रकाशन विभाग में उप सचिव।
गोकुल ओच्छव परीख	—अहमदाबाद स्थित प्रयोग समिति के अम्बर अनुसंधान विभाग में सीनियर अर्थ अनुसंधानकर्ता
दण्डलम सोमसुन्दर यशवन्त	—मद्रास विश्वविद्यालय के कृषि अर्थ अनुसंधान केन्द्र में सीनियर रिसर्च इन्वेस्टीगेटर।
वासुदेव द. पण्ड्या	—खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के सहायक प्रचार निर्देशक।

आयोजन के प्रति नया दृष्टिकोण

वैकुण्ठ ल० मेहता

चीनी आक्रमण के फलस्वरूप हमारे लोकतांत्रिक आयोजन के समक्ष प्रस्तुत चुनौती की पृष्ठभूमि में, हमारी अर्थ-व्यवस्था में आय के वितरण की जो महान असमानताएं हैं उन्हें ठीक करने के लिए प्रगति की रफ्तार तीव्र बनानी होगी। बेरोजगारों की जो पूर्व संख्या है, वह एक योजना से दूसरी योजना के काल में बढ़ती जा रही है। अतएव काम के भूखे लोगों को लाभदायक रोजगारी के अवसर प्रदान करने के लिए औद्योगिक तथा कृषि उत्पादन कार्य को एक नया मोड़ देना पड़ेगा। स्थानीय रूप से उपलब्ध साधन-स्रोतों तथा मानवीय श्रम का उपयोग करते हुए क्षेत्रीय आधार पर उत्पादन कार्य संगठित करने की दिशा में हम जापान और चीन से शिक्षा ले सकते हैं।

विभिन्न राजनैतिक विचार-धाराओं से सम्बन्धित राष्ट्र-नेताओं ने अनेक बार हमें बताया है कि "चीन की ओर से हमें जो दीर्घ-कालीन खतरा है वह सैनिक क्षेत्र में उतना नहीं है, जितना कि आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में।" वस्तुतः इस वक्तव्य का क्या अर्थ है और इस खतरे से बचने के लिए राष्ट्र को कौन-सा कदम उठाना यानी क्या कार्यवाही करनी चाहिए, यह एक ऐसा विषय है जिससे हमारा सर्वाधिक ताल्लुक होना चाहिए, खास करके तब, जबकि सैनिक क्षेत्र में शान्ति है।

एक गहन उद्देश्य

हमारी उत्तरी सीमा से शत्रु को खदेड़ बाहर निकालना निस्सन्देह अब भी हमारा तात्कालिक यानी सबसे पहला कार्य है; लेकिन स्पष्टतः देश तथा विदेश में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के वेत्ता हमारे ऊपर हुए आक्रमण के पीछे एक अधिक गहरा उद्देश्य देखते, पाते हैं, जिससे यदि 'युद्ध-विराम' के बाद सीमावर्ती क्षेत्रों के सम्बन्ध में कोई निबटारा अर्थात् समझौता हो भी जाय तो भी भारत के प्रति चीनी दृष्टिकोण से जो खतरा सामने आया है, वह समाप्त हुआ नहीं लगता; क्योंकि हमारे राष्ट्र-नेताओं के विचारानुसार चीनी आक्रमण अनिवार्य रूप से ही हमारी जीवन पद्धति को एक चुनौती है।

सामाजिक प्रगति का जो वर्तमान चीनी सिद्धान्त है उससे हमारी जीवन पद्धति में, भौतिक शब्दावली में, कौन-सी असमानताएँ पायी जाती हैं अर्थात् चीनियों के वर्तमान सामाजिक प्रगति के सिद्धान्त से हमारी जीवन पद्धति कितनी भिन्न है? हाल ही में एक लेखक (श्री फेलिक्स ग्रीन: *दि वाल हैज टू साइड्स*) ने सामाजिक परिवर्तन के प्रति भारतीय और चीनी दृष्टिकोणों का भेद बताया है। हम यह तर्क प्रस्तुत कर सकते हैं कि "भारत की गति धीमी है; क्योंकि वह राजनैतिक लोकतंत्रात्मक प्रणाली के जरिये, शनैः शनैः अपेक्षाकृत अधिक मानवीयता के साथ एक क्रांति ला रहा है।" चीन में निश्चय ही साध्य से साधनों का औचित्य ठहराया जाता है; शनैः शनैः और उदारता की प्रक्रिया की वहाँ गणना नहीं की जाती। श्री फेलिक्स ग्रीन आगे कहते हैं, "लेकिन जब हम राजनैतिक सिद्धान्त से अलग होकर मानव-अस्तित्व की भौतिक बातों की ओर आते हैं, तो हमारे सामने यह तथ्य आता है कि एक चीनी बालक का एक भारतीय बालक से अच्छा स्वास्थ्य है, उसके सामने काम की सम्भाव्यता अच्छी है, अधिक शिक्षा और ज्यादा सुरक्षा उसे प्राप्त है; बावजूद इस तथ्य के कि जब अंग्रेजों ने भारत छोड़ा, तो वहाँ मौजूदा चीनी सरकार ने जब शासन अपने कब्जे में किया उससे अधिक उन्नत, विकसित औद्योगिक आधार था, संचार-साधन बेहतर थे।" इस

चित्र द्वारा प्रस्तुत, यह मानते हुए कि यह सही है, चुनौती हमारे सामने है जिसका हमें सामना करना है।

आय विभाजन की पद्धति

यदि हम इस तुलना के आधार पर आपत्ति भी उठायें, तो भी आय वितरण की पद्धति के विस्तृत अध्ययन से जो तथ्य सामने आये हैं वे ऐसे हैं कि उन पर राष्ट्र के नेताओं और योजना अधिकारियों का गहरा ध्यान जाना चाहिए। फिलहाल प्राप्त सांख्यिकी आंकड़ों के अनुसार देश की आबादी के सबसे गरीब २० प्रति शत लोगों का राष्ट्रीय आमदनी में ढ़ाई प्रति शत से भी कम हिस्सा है और वे राष्ट्र में जो भौतिक सामग्री उपलब्ध है उसके तीन प्रति शत से भी कम का उपभोग करते हैं। निरपेक्ष शब्दावली में, आय वर्गों के अनुसार निचले वर्गों में आनेवाले १० प्रति शत लोगों की प्रति व्यक्ति आमदनी ७ रुपये से कम है; इससे 'ऊपरवाले कोष्ठक' के व्यक्ति १० रुपये प्रति माह से कम कमाते हैं; जबकि उससे 'ऊपरवाले कोष्ठक' यानी नीचे से 'तीसरे कोष्ठकवाले' लोगों की आय १२ रुपये मासिक से कम है। इससे भी ऊपर के तीन कोष्ठकों में आनेवालों की प्रति व्यक्ति प्रति माह आय १५; १८ और २१.५ रुपये ह। जन-संख्या के दो-तिहाई व्यक्तियों की प्रति व्यक्ति मासिक आय राष्ट्रीय औसत आमदनी (२८ रुपये प्रति माह) से कम है। इसके दूसरी ओर 'ऊपर के कोष्ठक' में आनेवाले १० प्रति शत व्यक्तियों की आमदनी समग्र राष्ट्रीय आय की एक-तिहाई और उनका उपभोग राष्ट्र के समूचे उपभोग का चौथा हिस्सा है। यह बात कितनी स्पष्ट है, इस पर कुछ कहना सूर्य को दीपक दिखाना है। आय और सम्पत्ति की असमानता कम करना भारत की राष्ट्रीय पंच वर्षीय योजनाओं का उद्देश्य है, लेकिन न केवल वे मौजूद ही हैं, बल्कि बढ़ती जा रही हैं।

तीस वर्ष बाद

इस स्थिति की गुरूता हाल ही में कांग्रेस के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री उ. न. ढेबर—जो कि खादी और ग्रामोद्योग मण्डल के सदस्य हैं—तथा योजना आयोग के बीच हुए विचार-विमर्श का विषय रहा प्रतीत होता है। एक प्रेस समाचार के अनुसार ऐसा लगता है कि आयोजित विकास कार्यक्रम के फलस्वरूप आर्थिक विकास की वर्तमान रफ्तार और प्रत्याशित जन-संख्या वृद्धि के साथ तकरीबन वर्तमान शताब्दी के अन्त तक यानी करीब तीस वर्ष बाद स्थिति में इस हद तक सुधार हो जायेगा कि गुजर-बसर भर करने जैसी स्थिति में लोगों का अनुपात आबादी के वर्तमान दो-तिहाई हिस्से के स्थान पर एक-तिहाई हो जायेगा। इतनी बड़ी संख्या के लिए यह कोई सान्त्वना नहीं है, जो कि आज कम या ज्यादा रूप में भुखमरी जैसी स्थिति में है और बीस वर्ष से भी ज्यादा समय तक ऐसी ही स्थिति में रहनेवाली है। और, यह परिणाम भी तभी प्राप्त किया जा सकेगा, जबकि आर्थिक विकास की गति वर्तमान चार-पांच प्रति शत वृद्धि से बढ़कर कम से कम सात प्रति शत हो जाय।

लोकतांत्रिक आयोजन को चुनौती

विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा लगाये गये अनुमान के अनुसार प्रतिरक्षा के लिए तीसरी पंच वर्षीय योजना की अवधि में १५ अरब रुपये की जरूरत पड़ेगी। राष्ट्रीय स्रोतों से प्रतिरक्षा के लिए इस मांग के कारण स्थिति की कठिनाइयां और भी बढ़ गयी हैं। इसके बावजूद जिस लोकतांत्रिक आयोजन को भारत हृदय से चाहता है, जिस पर उसने अपना सब कुछ लगा दिया है, उसके सामने प्रस्तुत चुनौती का सामना करना है तो न केवल आयोजित आर्थिक विकास की गति में कोई रुकावट नहीं आने देनी है, बल्कि यदि हमारे आय विभाजन के आंकड़ों से प्रकाश में आयी असमानताओं को भूतकाल की चीज बना देना है, तो उसे और भी तीव्र बनाना है। सभी उत्पादन क्षेत्रों में—कृषि और औद्योगिक क्षेत्र—हमारा उद्देश्य, जो कि चीनियों ने अपने सामने रखा है, यह होना चाहिए। तमाम शक्तियां इस बात की सुनिश्चितता पर लगा देनी चाहिए कि उत्पादन ज्यादा, सस्ता, तीव्र और अधिक लाभप्रद हो। दूसरी ओर नागरी दर्जे के क्षेत्रों

की सभी गतिविधियों पर भी इसी दृष्टिकोण का रंग चढ़ा हुआ होना चाहिए, ताकि समान साधन-स्रोतों से सभी क्षेत्रों में हमारे काम करने की गति बढ़े तथा गुण-स्तर में सुधार हो। यदि अस्त्र-शस्त्रों की लड़ाई का खतरा मिट भी जाता है, तो भी लोकतांत्रिक आयोजन को सफल बनाने के लिए जिन उद्देश्यपूर्ण ठोस प्रयासों की जरूरत है, वे उतने ही महत्वपूर्ण बने रहेंगे।

औद्योगिक उत्पादन को नया मोड़

अधिकांश जनता का जीवन-स्तर ऊपर उठाने के अपने लक्ष्य में योजना सफल नहीं हो पायी है, इसके लिए उसमें दोष निकालने का यह स्थान नहीं है। स्थिर मूल्यों के आधार पर *प्रति व्यक्ति* आमदनी १९६०-६१ और १९६१-६२ के बीच एक समान-सी रही है। समग्र आयोजन के काल में जो वृद्धि हुई है, वह नाम मात्र की है। ऐसा इसलिए है; क्योंकि जब बहुत बड़ी संख्या में लोग पूरे वर्ष या वर्ष में काफी समय तक अथवा रोजाना दिन के अधिकांश हिस्से में बिना काम के रहते हों तो आय स्तर नीचे आना ही चाहिए। दुर्भाग्यवश हर योजना के बाद अपनी इच्छा के विरुद्ध बेरोजगार रहनवालों की पूर्व संख्या बढ़ती जाती है। यह सच है कि प्रगतिशील अर्थ-व्यवस्था और समाज व्यवस्थावाले देशों की तरह बेरोजगारों की देख-भाल के लिए राज्य न विधि-विहित रूप से कोई जिम्मेवारी नहीं ली है। फिर भी, इस प्रकार का काम मुहैया करना कि उससे आदमी अपना गुजर कर सके, राज्य नीति के निर्देशक सिद्धान्तों का एक अंग है।

पिछले दो वर्षों के अनुभव से पता चलता है कि निर्माण कार्य की व्यवस्था करना बेरोजगारों की आवश्यकता-पूर्ति का कोई उपयुक्त जवाब नहीं है। औद्योगिक कार्यक्रम को एक नया मोड़ देना होगा और कृषि उत्पादन के क्षेत्र में एक जोरदार अभियान शुरू करना पड़ेगा, ताकि काम के भूखे लाखों लोगों को, काम करके अपनी शारीरिक भूख मिटाने के साधन उपलब्ध हो सकें। जिन चीजों की हमें जरूरत पड़ती है उनका क्षेत्रवार आधार पर अपने ही श्रम से उत्पादन करने की पद्धति पर आधारित कार्यक्रम की क्षमता तथा उसकी सहज अर्थ-व्यवस्था का फायदा नहीं उठाया गया है। यद्यपि चीन और जापान का जीवन-मार्ग, जीवन-पद्धति हमसे भिन्न हो सकती है, लेकिन उक्त क्षेत्र में इन दोनों से ही हम कुछ सीख सकते हैं। लेकिन आज की परिस्थिति में हमें यह हृदयंगम कर लेना चाहिए, जबकि हमारे आयोजन पर बाहरी तथा भीतरी दोनों ही तरफ से महान बोझ और दबाव पड़ रहा है।

२६ फरवरी १९६३

शहरी आय वितरण की सबसे ज्यादा विस्मय की बात यह है कि वहाँ सापेक्षिक दृष्टि से परिवारों की एक बहुत बड़ी संख्या (कुल का ४२ प्रति शत) आय के निचले स्तर पर (प्रति वर्ष १,००० रुपये से कम) है, जबकि दो प्रति शत से भी कम लोगों की आमदनी १०,००० रुपये वार्षिक अथवा उससे भी ज्यादा है।

—*अरबन इनकम एण्ड सेविंग* : नेशनल कॉउन्सिल ऑफ् अप्लाइड कनॉमिक रिसर्च, नयी दिल्ली।

कृषि विषयक नीति के लक्ष्य*

तरलोक सिंह

ग्रामीण और औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था में संयोजन हासिल करने के लिए कृषि विषयक नीति ऐसी हो कि उससे कृषि उत्पादन में तीव्र वृद्धि करने, ग्रामीण क्षेत्रों में गैर-खेतिहर रोजगारी के लिए विस्तृत अवसर निर्मित करने तथा सहकारी आधार पर एक सक्षम ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का निर्माण करने के तिहरे उद्देश्य की पूर्ति हो सके। सुनिर्दिशित सामूहिक प्रयास इस लक्ष्य की प्राप्ति में बहुत सहायक हो सकता है।

ग्रामीण और औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था में समता स्थापित करने के लिए कृषि-नीति इस तरह गठित की जानी चाहिए कि उससे इस त्रि-सूत्री लक्ष्य की प्राप्ति हो सके—कृषि उत्पादन में तेजी से वृद्धि हो सके, गैर-कृषि कार्यों में रोजगारी के नित नये अवसर निर्मित हों तथा सहकारी आधार पर योग्य ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था बन सके। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सुनिर्देशित सामुदायिक कार्य माध्यम बन सकता है।

दस वर्षों से भी अधिक से हमारे आयोजन का मुख्य लक्ष्य रहा है कृषि उत्पादन में तीव्र वृद्धि करना और जमीन की उत्पादकता बढ़ाना। इन उद्देश्यों की पूर्ति हेतु कई तरह के प्रयास किये गये हैं। ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था पर आयोजित विकास के प्रभाव का विचार करते वक्त प्रशासनिक और तकनीकल नीति को आर्थिक और सामाजिक तथ्यों से अलग करना मुश्किल है। पंच वर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत कृषि प्रयास क्षेत्र को तीन मुख्य भागों में बांट सकते हैं। प्रथम, कृषि में लागत पहली योजना के करीब ८०० करोड़ रुपये से बढ़कर दूसरी योजना में करीब १,२०० करोड़ रुपये हो गयी और तीसरी योजना में करीब २,००० करोड़ रुपये। द्वितीय, दूसरी योजना के अंत में १४,००० कृषि स्नातक; ५,००० पशु-चिकित्सा स्नातक और कृषि विस्तार में प्रशिक्षित करीब ४०,००० ग्राम स्तरीय कार्यकर्ता देश के विभिन्न भागों में मुख्यतः कृषि का स्तर ऊँचा उठाने तथा तकनीकल मार्गदर्शन देने में लगे हुए थे। तृतीय, जल, उन्नत बीजों और उर्वरकों की उपलब्धि में निरन्तर वृद्धि कर जमीन की उत्पादकता बढ़ाने के लिए अत्यावश्यक तकनीकल नींव को मजबूत बनाया गया है। इस प्रकार प्रथम दो योजनाओं में सिंचित क्षेत्र ५ करोड़ १० लाख एकड़ से बढ़कर करीब ७ करोड़ एकड़ हो गया, नेत्रजनीय उर्वरकों की खपत नेत्रजन के मामले में ५५,००० से बढ़कर २,३०,००० टन हो गयी और करीब ४,००० सरकारी फार्म खोले गये ताकि अनुसन्धान केन्द्रों में उत्पादित तरह-तरह के उन्नत बीजों को उगाया जा सके।

उत्पादकता में सुधार

इन उपायों से बड़े अच्छे परिणाम निकले हैं, परन्तु चन्द प्रमुख कमियाँ भी स्पष्ट हुई हैं। सन् १९५०-५१ और १९६०-६१ के बीच काल कृषि क्षेत्र में करीब १९ प्रति शत वृद्धि हुई, अनाज के क्षेत्र में १५ प्रति शत और अनाज के अलावा अन्य फसलों के क्षेत्र में करीब ३९ प्रति शत। समग्र रूप से कृषि उत्पादन में करीब ४० प्रति शत, खाद्यान्नों में ३६ प्रति शत और खाद्यान्नों के अलावा दूसरी फसलों में ४९ प्रति शत वृद्धि हुई। साल-दर-साल होनेवाली घट-बढ़ के बावजूद कपास के उत्पादन में दुगुनी और गन्ने के उत्पादन में करीब ७४

*अहमदाबाद में गत २९ दिसम्बर को हुए अखिल भारत कृषि अर्थशास्त्र सम्मेलन में लेखक द्वारा दिये गये अध्यक्षीय भाषण से तैयार किया गया लेख।

प्रति शत वृद्धि हुई। औसत कृषि उत्पादकता में करीब १८ प्रति शत वृद्धि धान, गेहूँ, ज्वार व कपास के मामले में हुई। चन्द राज्यों में कृषि उत्पादन में अच्छी प्रगति हुई है, यद्यपि जिन फसलों में वृद्धि हुई है उनमें हर क्षेत्र में बड़ी भिन्नता पायी जाती है। नीचे दी गयी तालिका में ये बातें विस्तार में दी गयी हैं।

कृषि उत्पादन, क्षेत्र और प्रति एकड़ उपज का सूचकांक

(कृषि वर्ष १९४९-५०=१००)

फसल	कृषि उत्पादन			क्षेत्र			प्रति एकड़ उपज		
	५०-५१	५५-५६	६०-६१	५०-५१	५५-५६	६०-६१	५०-५१	५५-५६	६०-६१
धान	८७.९	११४.२	१३६.२	१००.९	१०३.१	१०९.४	८७.१	११०.८	१२४.५
गेहूँ	१०१.१	१३१.३	१६२.७	९९.९	१२६.७	१३३.०	१०१.२	१०३.६	१२२.३
ज्वार	८९.८	९६.७	१३४.६	१००.२	१११.६	११०.८	८९.६	८६.६	१२१.५
बाजरा	८३.८	१०८.३	१०१.२	९७.४	१२२.४	१२३.३	८६.०	८८.५	८२.१
मक्का	८४.४	११२.३	१४४.५	९६.४	११२.७	१३२.९	८७.६	९९.६	१०८.७
चना	९८.०	१३८.९	१६२.३	९१.२	११८.०	११३.६	१०७.५	११७.७	१४२.९
कुल दालें	९१.७	११८.४	१२८.६	९१.९	११६.८	११६.६	९९.८	१०१.४	११०.३
कुल अनाज	९०.५	११५.३	१३५.६	९७.९	१११.९	११४.५	९२.४	१०३.०	११८.४
गन्ना	११३.७	११९.८	१७३.९	११६.४	१२५.१	१५८.७	९७.७	९५.७	१०९.६
तिलहन	९८.५	१०८.६	१३१.२	१०६.५	११९.३	१३३.४	९२.५	९१.०	९८.३
कपास	११०.७	१५३.९	२०३.३	११९.२	१६४.०	१५४.८	९२.९	९३.८	१३१.३
जूट	१०६.३	१३५.८	१२१.७	१२१.३	१४९.४	१२९.७	८७.६	९०.९	९३.८
तम्बाकू	९७.३	११२.९	११६.४	१०२.७	११७.८	११५.१	९४.७	९५.८	१०१.१
कुल गैर-अनाज	१०५.९	११९.९	१४८.५	११०.८	१३०.७	१३८.९	९५.६	९१.७	१०६.९
सभी फसल	९५.६	११६.८	१३९.९	९९.९	११५.०	११८.५	९५.७	१०१.६	११८.१

स्रोत : केन्द्रीय खाद्य और कृषि मंत्रालय, अर्थशास्त्रीय और सांख्यिकी निर्देशालय।

फसल पद्धति में परिवर्तन

सिंचाई में वृद्धि तथा मांग में परिवर्तन होने के फलस्वरूप बहुत से क्षेत्रों में कम आमदनी करानेवाली फसलों की जगह अधिक आमदनी करानेवाली फसलें उगायी जा रही हैं। इसका पता विशेष सर्वेक्षणों से चलता है जोकि सम्पन्न हो चुके हैं और विभिन्न राज्यों के फसल पद्धति के परिवर्तनों से भी। इस प्रकार जब कि विभिन्न राज्यों के बीच महत्वपूर्ण भिन्नता पायी जाती है, बाजरा, ज्वार, मंडवा आदि जैसा मोटा अनाज, जव और तिल की फसल कम होती गयी है, जबकि धान, गेहूँ, चना, मूंगफली गन्ना, कपास और जूट की फसल में वृद्धि हुई है। सम्पूर्ण ब्यौरा निम्न तालिका (पृष्ठ ३८८) में प्रस्तुत है।

नियोजित अर्थ-व्यवस्था में उन क्षेत्रों में जहाँ सिंचाई और समय पर बारिश के फलस्वरूप फसलें सुनिश्चित हैं; फसल पद्धति सिलसिलेवार तथा अध्ययन के बाद तैयार की गयी योजना के अनुसार होनी चाहिए, न कि मूल्य और मांग में लघु-कालीन परिवर्तन के अनुसार।

आयोजन के तीन परीक्षण

अब हम पिछले दस वर्षों में कृषि क्षेत्र में जो चन्द कमजोरियाँ नजर आयी हैं, उन पर गौर करें। इससे उन दिशाओं का पता चलेगा जिनमें नीति, आयोजन और प्रशासन को मजबूत बनाने की आवश्यकता है। भारत में नियोजित विकास के अन्तर्गत कृषि विकास हेतु आयोजन

फसल पद्धति में परिवर्तन

(हजार एकड़ में)

फसल	१९५३-५४	१९६१-६२	वृद्धि (+) अथवा कमी (−) (प्रति शत)
धान	७७,३१८	८३,६६१	+ ८.२
गेहूँ	२६,३१४	३३,२८०	+२५.९
बाजरा	३०,१४५	२७,०२७	−१०.३
ज्वार	४३,८८२	४३,०७४	− १.८
जव	८,७११	८,२५५	− ५.३
मोटे अनाज	१४,०२८	११,७१४	−१६.५
चना	१९,६८९	२४,०७८	+२२.३
मूंगफली	१०,४९५	१५,८४८	+५१.०
तिल	६,३५१	५,५६१	−१२.४
गन्ना	३,४८५	५,९४२	+७०.५
कपास	१७,२६५	१८,७१०	+ ८.४
जूट	१,२२८	२,२५९	+८४.०

स्रोत : केन्द्रीय खाद्य और कृषि मन्त्रालय : अर्थशास्त्र और सांख्यिकी निदेशालय।

के लिए तीन मुख्य परीक्षण किये जाने चाहिए। पहला यह कि कृषि अर्थ-व्यवस्था का विकास इस हद तक होना चाहिए तथा उसमें इतनी तीव्रता लायी जानी चाहिए कि योजना के अनुमानों के अनुसार अन्न और कच्चे मालों की आवश्यकताओं में वृद्धि की पूर्ति हो सके। मौसमी कारणों से होनेवाली भिन्नताओं के प्रभाव को रोकने के लिए पूरा माल हमेशा स्टाक में रखना चाहिए तथा इसी तरह के अन्य कदम उठाये जाने चाहिए। इन भिन्नताओं के अलावा फसल योजना के अनुसार सापेक्षिक मूल्य और अन्य आर्थिक प्रोत्साहन करीब-करीब हर फसलों के लिए बराबर ही होने चाहिए। दूसरा यह कि देश भर में उत्पादन में निरन्तर प्रगति होती रहे, और खासकर उन क्षेत्रों में जहाँ सिंचाई सुविधाएँ मौजूद हैं तथा समय पर बारिश हुआ करती है। तीसरा यह कि उत्पादन में वृद्धि के जरिये सुधरी तक्नीकें अपनानी चाहिए तथा कृषि इकाई के आकार में सुधार होना चाहिए और प्रति उत्पादन इकाई पीछे खर्च कम पड़ना चाहिए तथा कम किया जाना चाहिए। अभी भारतीय कृषि में जो उच्च लागत-स्तर है, वह पिछड़ेपन और सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था के विकास में बाधा, दोनों का सूचक है।

इन तीन परीक्षणों के अनुसार कृषि आयोजन का जो तरीका इस्तेमाल में लाया गया है वह तथा कृषि कार्य, दोनों ही सम्पूर्ण रूप में देखने पर अपेक्षा में कम रहे हैं और चन्द भागों में तो अन्य भागों से बहुत अधिक रहा है। इस प्रकार निर्यातों के मामले में, जो कि घरेलू खपत और निर्यात दोनों के लिए ही महत्वपूर्ण है, यह पाया जाता है कि पिछले दस वर्षों में उत्पादन शायद ही बढ़ा है। यद्यपि कपास के उत्पादन में काफी वृद्धि हुई है, उत्पादन और क्षेत्र विस्तार दोनों में ही, तथापि यह आवश्यकता से बहुत ही कम है। तम्बाकू जैसी निर्याती फसल में प्रति एकड़ उपज में कोई खास सुधार नहीं हुआ है। अनाज के मामले में प्रथम पंच वर्षीय योजना और फिर द्वितीय पंच वर्षीय योजना के लिए स्वावलम्बन का जो लक्ष्य निर्धारित किया गया, वह भी अभी पूरा होना बाकी है।

कार्यक्रम मूल्यांकन संगठन द्वारा किये गये 'बेंचमार्क' सर्वेक्षण से पता चलता है कि चन्द इलाकों को छोड़कर दोहरे फसलवाले क्षेत्रों में थोड़ी-सी ही वृद्धि हुई है। महाराष्ट्र, पंजाब, उत्तर प्रदेश, मैसूर तथा अन्य राज्यों में किये गये पुन: सर्वेक्षण से यह पता चलता है कि जहाँ सिंचाई के कारण फसल पद्धति में परिवर्तन हुआ है, कृषि पद्धति और किसानों द्वारा उपयोग में लाये जा रहे सरंजाम तथा उपकरणों में बहुत कम आमूल सुधार हुआ है। यह संगठन तथा विस्तार कार्य की तक्नीकों और उद्देश्यों में विस्ताराभाव के कारण ही है।

कमी का कारण

सिंचाई के उपयोग में कमी का कारण सम्भवत: एक ओर कृषि नीति और प्रशासन में कमियाँ तथा दूसरी ओर सामुदायिक प्रयासों और विस्तार के तरीकों के संगठन में कमजोरी है। इस समस्या पर कई अन्तर्राज्यीय सम्मेलनों, आयोजन परियोजना समिति के सिंचाई दल की रिपोर्ट में और कार्यक्रम मूल्यांकन संगठन द्वारा किये गये अध्ययन में विस्तार से विचार किया गया है। प्राप्त आंकड़ों से यह ज्ञात होता है कि दूसरी योजना के अंत में बड़ी और मध्यम सिंचाई परियोजनाओं से कुल १ करोड़ २० लाख एकड़ क्षेत्र के विपरीत सिर्फ ९० लाख एकड़ की सिंचाई क्षमता का उपयोग हो सका। क्षमता तथा असल उपयोग के बीच अभी भी यही अन्तर बना हुआ है। टैंक तथा ट्यूब वेल जैसे छोटे-मोटे सिंचाई कार्य के सम्बन्ध में भी यही समस्या पायी जाती है।

ग्राम समुदाय का प्रयास

यह प्रत्यक्ष है कि सिंचाई सुविधाओं का तेजी से उपयोग करने के लिए कई रास्ते अपनाने होंगे। इसमें क्षेत्र के जल स्रोतों की विस्तृत जानकारी, जोकि सर्वेक्षणों और खोजों के जरिये प्राप्त की जा सकती है, विभिन्न एजेंसियों का समन्वित काम, उपयुक्त फसल पद्धतियों का विकास, जिनके साथ वैसे तरीके भी हों जो किसानों को उसे अपनाने में सुविधाएँ दे सकें, खेतों से होकर गुजरनेवाली नहरों का निर्माण और रख-रखाव की अनिवार्यता स्वीकृति—न सिर्फ जिनका लाभ हो उनके ही द्वारा बल्कि सम्पूर्ण ग्रामीण समुदाय द्वारा—तथा जल वितरण और सिंचाई-कर वितरण के सम्बन्ध में नीतियाँ, जो कि सिंचाई सुविधाओं का अधिकाधिक लाभ उठाने के लिए प्रेरित करें, शामिल होनी ही चाहिए। चूंकि वर्तमान कृषि अवस्था में कमजोरी के कई कारण हैं, अत: उन उपायों को छोड़-कर जो कि अभी किये जा रहे हैं, यह तरीका भी अपनाकर प्रयोग करना चाहिए—कुछ क्षेत्रों को मार्गदर्शी आधार पर चुन लेना चाहिए। चुनाव इस दृष्टि से होना चाहिए कि क्षेत्रीय अवस्थाओं के अनुरूप उन तक्नीकों का विकास किया जाय जिनसे कृषि क्षमता के निर्माण और उसके उपयोग के बीच जो समय का अन्तर पड़ता है, वह दूर किया जा सके तथा उच्च स्तरीय कृषि तक्नालॉजी के विकास के साथ-साथ कृषि सिंचाई सुविधाओं को जारी करना चाहिए या उनमें विस्तार करना चाहिए।

लागत और प्राप्त लाभ का विश्लेषण

इस संक्षिप्त समीक्षा से चार मुख्य निष्कर्ष निकलते हैं। प्रथम, कृषि आयोजन में मूल्य-नीति और बाजार संगठन पर अभी जितना ध्यान दिया गया है उससे न केवल कहीं अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए, बल्कि उनको प्रमुख स्थान दिया जाना चाहिए। इसमें विभिन्न फसलों की लागत और उससे होनेवाली आय का विश्लेषण तथा साथ ही देश में कृषि और बाजार की जो असल अवस्था है उसका निरन्तर अध्ययन, दोनों ही शामिल हैं। द्वितीय, राज्यों में अभी जो कृषि-प्रशासन व्यवस्था, विस्तार कार्यकर्त्ताओं की संख्या तथा योग्यता है तथा विस्तार की जो तक्नीकें हैं, वे सब कृषि के तेजी से विस्तार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपर्याप्त हैं।

अधिक दक्षता की आवश्यकता

खंडों में सामुदायिक विकास संगठन को तक्नीकल, कृषिक और विस्तार कार्यकर्त्ताओं के मामले में बहुत ही मजबूत बनाना है। पहले यह जो आशा की गयी

थी कि खंड में चलनेवाले विभिन्न विकास कार्यों के सामूहिक एजेंट के रूप में ग्राम स्तरीय कार्यकर्त्ता कृषि विस्तार की आवश्यकताओं की भी ठीक-ठीक पूर्ति कर लेगा, इस पर फिर से विचार करना होगा। इसके दो कारण हैं। यदि कृषि को हमेशा प्रथम स्थान दिया भी जाय तो पंचायत राज के विकास के साथ आम प्रशासनिक और संगठनात्मक कार्यवाही दैनिक और तक्नीकल किस्म की कार्यवाही से अग्रसर होने की कोशिश करेगी। तृतीय, कृषि में जो तरक्की हो चुकी है और देश के विभिन्न भागों तथा ग्रामों में जो नया दृष्टिकोण पैदा हुआ है, उससे कृषि-विस्तार सेवा में और भी उच्च किस्म की दक्षता तथा ज्ञान की आवश्यकता है, जो कि ग्राम स्तरीय कार्यकर्त्ता से कहीं ऊँचे दर्जे के कार्यकर्त्ता के वश की ही बात है।

अनुसंधान और उसका प्रयोग

कृषि अनुसंधान तथा खेतों में उसके परिणामों के प्रयोग के बीच बहुत निकट समन्वय की आवश्यकता है। एक विशेषज्ञ समिति ने हाल ही में कई क्षेत्रों में उपयोग में लाये जा रहे उत्तम कृषि तरीकों की सूची बनायी है और यह बताने की कोशिश की है कि उनसे धान, गेहूँ, गन्ना और कपास जैसी फसलों में बहुत अधिक उत्पादन बढ़ा है। उत्पादन तथा कृषि के सामान्य स्तर में एक ही राज्य के विभिन्न भागों में बड़ा अन्तर पाया जाता है। कृषि स्तर तथा कृषि तरीकों को एक सम स्तर पर लाने के लिए यह वांछनीय होगा कि जन और धन दोनों स्रोतों का पूरा-पूरा उपयोग किया जाय। आवश्यक संख्या में कृषि कार्यकर्त्ता तो, कुछ समय से ही मिल सकते हैं। फिर भी, कपास और तिलहनों के तीव्रगामी कार्यक्रमों, भूमि संरक्षण तथा सघन कृषि जिलों में हुए नये-नये विकास के फलस्वरूप कृषि प्रशासन और विस्तार सेवाओं के संगठन में नया दृष्टिकोण अपनाने की अत्यावश्यकता है।

वर्तमान अनुभवों से तीसरा मुख्य निष्कर्ष जो निकाला जा सकता है, उसका सम्बन्ध विशेषकर ग्राम स्तर पर कृषि विकास परियोजनाओं में सामुदायिक कार्य से है। कृषि उत्पादन में काफी वृद्धि करने, उत्तम तकनीकों और तरीकों को बड़े पैमाने पर अपनाने और खासकर उत्पादनों की बिक्री के लिए सहकारी समितियों का संगठन बनाने के लिए यह एक अनिवार्य शर्त है। इस तरह के सामुदायिक कार्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पहलू निश्चित ही हर गांव और हर क्षेत्र के जन-शक्ति-स्रोत का पूरा-पूरा उपयोग होना चाहिए। किसानों द्वारा खेती की पद्धति में हर परिवार के श्रम का पूरा-पूरा उपयोग किये जाने की उम्मीद की जा सकती है। फिर भी, भारतीय परिस्थिति में छोटे-छोटे और अलाभदायक खेत तथा अत्यधिक खेतिहर मजदूर और साथ ही साथ तीव्र जन-संख्या वृद्धि होने के कारण काफी जन-शक्ति बच रहती है जिसे उत्पादक कार्यों में लगाया जा सकता है।

जन-शक्ति का उपयोग

अधिक और बेहतरीन संगठित श्रम-शक्ति काम पर लगाने से सिंचाई का विस्तार करना, भू-संरक्षण, बागनी खेती, भूमि-पुनर्वास्ति, वृक्षारोपण आदि कार्य करना और श्रम-प्रधान कृषि पद्धतियों उस पैमाने पर अपनाना सम्भव है, जोकि अब तक देश के किसी भी कोने में अपनाये गये पैमाने यानी स्तर से कितना ही विशाल होगा। अलग-अलग लोगों द्वारा मजदूर लगाने से निरन्तर काम नहीं दिया जा सकता; और गाँव में उपलब्ध समग्र जन-शक्ति का फायदा उठाने के लिए यह पद्धति अपर्याप्त भी है। इस प्रकार का काम ग्राम समुदाय एक विस्तृत क्षेत्रीय योजना के अंग स्वरूप ही कर सकता है, जो कि आवश्यक साधन-स्रोतों, प्राविधिक मार्गदर्शन तथा अन्य सुविधाएँ सुनिश्चित करती है। इसलिए तीव्र आर्थिक विकास और जन-शक्ति के परिपूर्ण उपयोग की वर्तमान अनिवार्यताओं के सन्दर्भ में स्वतंत्र भूमि-धर- अथवा कृषक और समाज यानी समुदाय के बीच का सम्बन्ध पुनः निर्धारित करना आवश्यक है।

अनेक क्षेत्रों में ऐसी अवस्थाएँ निर्मित करना सम्भव

होना चाहिए कि न केवल व्यस्त मौसमों में वरन् पूरे वर्ष के लिए जन-शक्ति की माँग काफी बढ़ाई जा सके। जैसा कि सर्व विदित है, आज के यूरोप में अनेक देशों में नियमित रूप से ऐसे दूसरे देशों से अकुशल श्रमिक आते रहते हैं, जहाँ उनका बाहुल्य है; और वे देश उन्हें अपनी अर्थ-व्यवस्था में स्थायी रूप से खपा रहे हैं। ऐसा इसलिए होता है कि उनका आर्थिक विकास तीव्र है और फलस्वरूप वहाँ सदैव ही श्रमिकों की कमी रहती है। इसी प्रकार उन क्षेत्रों में जहाँ सिंचाई और बरसात अच्छी होती है खेती-बाड़ी का काम उस पैमाने पर बढ़ाया जा सकता है कि उसमें समय पाकर न सिर्फ स्थानीय श्रम-शक्ति को ही खपा लिया जायगा, बल्कि ऐसी अवस्थाओं का निर्माण भी किया जा सकेगा कि वहाँ दूसरे क्षेत्रों के श्रमिकों के लिए अधिक मांग होगी तथा किन्हीं-किन्हीं मामलों में तो दूसरे राज्यों से श्रमिक बुलाने भी पड़ेंगे। इस प्रकार ग्रामीण जन-शक्ति स्रोतों के परिपूर्ण उपयोग का लक्ष्य रखनेवाली नीति से ग्रामीण आबादी का अलग-अलग राज्यों में, और अनुक्रमिक रूप से विभिन्न राज्यों के बीच, पुनर्वितरण करने की योजना की सम्भाव्यताएँ सामने आयेंगी।

कृषि कार्यों को सघन बनाने और उनके साथ विस्तार कार्यशीलताएँ, सामुदायिक कार्य तथा जन-शक्ति का पूर्ण उपयोग एवम् सहकारी संगठन होने से कृषि में विनियोजन करने के प्रति अधिक साहसिक व दूरदर्शी उपागम की आवश्यकता है। अनेक क्षेत्रों में प्रत्याशित कृषि विकास वर्तमान योजनाओं तथा सामुदायिक विकास परियोजनाओं में जिस स्तर पर विनियोजन की व्यवस्था है उससे कहीं काफी अधिक विनियोजन किये बिना प्राप्त नहीं किया जा सकता। नतीजा यह है कि आयोजन कठोर बन जाता है अर्थात् वह लचीला नहीं रहता, स्थानीय जन-शक्ति का पूरा उपयोग नहीं होता और कृषि अर्थ-व्यवस्था का विकास उस हद तक मारा जाता है कि हो सकता है सदैव ही उसकी क्षतिपूर्ति नहीं की जा सके। अतिरिक्त साधन-स्रोतों के लिए राष्ट्रीय और राज्यीय योजनाओं के अन्तर्गत वार्षिक वितरण की योजना में उन क्षेत्रों के लिए विशेष प्रावधान होना चाहिए, जहाँ सघन कृषि कार्यों से उत्पादन में महत्वपूर्ण वृद्धि होनेवाली हो। प्रारम्भ में, इन क्षेत्रों में भूमि उपयोग, फसल पद्धति, पूंजी विनियोजन, श्रम, उर्वरक आदि तथा साथ ही साथ कृषि उत्पादन की हाट-व्यवस्था और प्रशोधन सम्बन्धी योजना गाँव एवम् समग्र खण्ड (ब्लॉक) के लिए तैयार की जानी चाहिए। गुण-स्तर बनाये रखने तथा जन-शक्ति एवम् अन्य उपलब्ध साधन-स्रोतों के परिपूर्ण उपयोग की जिम्मेदारी समाज पर छोड़ी जानी चाहिए।

ग्रामीण-शहरी सम्बन्ध

राष्ट्रीय उत्पादन में कृषि का जो योगदान है उसमें तथा लोगों को काम देने की दृष्टि से यह सदैव ही भारत का अग्रणी उद्योग रहेगी। अधिक विकसित देशों में, कृषि की तक्नीकों में सुधार होने की वजह से खेती में काम करनेवालों की संख्या में कमी होते हुए भी उत्पादन में लगातार वृद्धि हुई है। इसके साथ ही, ग्रामीण क्षेत्रों में खेती अब भी मुख्य पेशा होने की वजह से शहर और गाँव के बीच का अन्तर कम हो गया है। वास्तव में ग्रामीण और शहरी क्षेत्र अपना विशिष्ट स्वरूप बनाये रखते हुए भी एक ही सुसंयोजित राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के अंग हैं। इन देशों में शहरी क्षेत्र अनवरत रूप से ग्रामीण क्षेत्रों को अपनी दिशा में खींचते हैं। भारत में गरीबी का स्वरूप यानी वह किस ढंग की है, ग्रामीणों की आबादी, प्रमुख औद्योगिक गतिविधियोंवाले केन्द्रों की सीमित संख्या तथा आर्थिक और मानवीय दृष्टि से विकास करने के आयोजन की प्रक्रिया, जिसके लिए हम कृत-संकल्प हैं, से यही निष्कर्ष निकलता है कि ग्रामीण और शहरी तथा आगामी १५-२० वर्षों में जो औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था हम स्थापित करना चाहते हैं उसका पारस्परिक सम्बन्ध क्या हो, इस बारे में विकास की इसी अवस्था में बड़ी सावधानी पूर्वक सोच-विचार कर लेना चाहिए। वस्तुस्थिति के अनुसार अनेक निर्णय लेने पड़ते हैं जिनमें स्थान, प्रविधि तथा उद्योगों का

चुनाव और आर्थिक एवम् सामाजिक सामान्य बातों—जैसे सड़क, बिजली, पानी आदि—का निर्माण करना होता है। इन निर्णयों का बहुत गहरा और दूरगामी प्रभाव होता है तथा वे भावी क्रिया एवम् प्रतिक्रिया का निर्माण करते हैं, जो कि आयोजन, विधि अथवा नीति निर्धारण से सम्बन्धित व्यक्तियों के लिए बाद में कुछ करने के लिए गुंजाइश नहीं छोड़ते। जितने समय की अनुभूति की जा सकती है उससे भी पहले ही एक जटिल आर्थिक-ढांचे का संतुलन और गति बहुत कुछ कार्य की दिशा निर्धारित करने लगती है।

नवीन अवसर

तब फिर हम कृषि और ग्रामीण क्षेत्रों के लिए किस प्रकार आयोजन करें कि उससे समय पाकर ग्रामीण तथा शहरी अर्थ-व्यवस्थाएँ एक-दूसरी में विलीन हो जायें। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ग्राम और शहर के प्रति श्रमिक उत्पादन में बहुत अन्तर है और विकास की अपेक्षाकृत बड़ी कार्यविधि के अभाव में, इस अन्तर को और भी बढ़ाने की ओर ले जानेवाली शक्तियों का प्रतिरोध बड़ा मुश्किल होगा। अपने स्वरूप की दृष्टि से औद्योगीकरण और शहरीकरण की प्रक्रिया कितनी की सघन क्यों न हो, इसका सर्वाधिक प्रभाव छोटे और सीमित क्षेत्रों में सर्वाधिक होगा तथा दूर के क्षेत्रों में वह प्रभाव काफी कम होगा। दूसरे शब्दों में इसे हम यों कह सकते हैं कि भारत में आर्थिक आयोजन का एक परमावश्यक उद्देश्य यह होना चाहिए कि शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों में विकास की गति तथा दिशा में पायी जानेवाली निश्चित एवम् अनवरत द्विक्-रचना से बचा जा सके। इसका एक कारण है गाँवों में बहुत बड़ी मात्रा में अतिरिक्त श्रम-शक्ति का पाया जाना, जिसे कि कृषि विकास चाहे कितना ही क्यों न हो पूर्ण रोजगारी देकर वह उसे अपने में खपा नहीं सकता। और फिर, जब तक कृषि उत्पादन में वृद्धि की ओर नये आर्थिक अवसरों के साथ तथा जीवन स्तर में सुधार लिए हुए कोई ठोस उत्प्रेरणाएं न हों, किसी एक हद पर कृषि उत्पादन भी रुक जायेगा!

सक्षम ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था

कृषि संगठन की वर्तमान अवस्थाओं के अन्तर्गत ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को अपनी जन-शक्ति व साधन स्रोतों को परिपूर्ण रूप से सक्रिय बनाने तथा जो औद्योगिक एवम् आर्थिक विकास की प्रक्रियाएं शुरू हो चुकी हैं, उनसे फायदा उठाने के लिए उपयुक्त स्थान प्राप्त नहीं है। जिस हद तक एक अल्प-विकसित क्षेत्र तीव्र विकास के लिए आवश्यक आर्थिक और सामाजिक सामान्य सुविधाएं प्राप्त नहीं कर सकता या बनाये नहीं रख सकता उस हद तक यह एक दुर्बलक ही है, और इनके अभाव में आर्थिक लाभ का संतुलन उसके विरुद्ध ही रहता है। उसे जितनी कुशलता और अगुआई अर्थात् अभिक्रम वह प्रदान कर सकता है उस सबकी तथा उससे भी ज्यादा की आवश्यकता पड़ सकती है। फिर भी, जो क्षेत्र अधिक तीव्रता के साथ विकसित हो रहे हैं उनके पक्ष में उसे इनसे वंचित होना ही चाहिए। इस प्रकार कृषि उत्पादन में तीव्र वृद्धि प्राप्त करने, ग्रामीण क्षेत्रों में गैर-खेतिहर रोजगारी के लिए विस्तृत अवसर निर्मित करने और सहकारी आधार पर एक सक्षम ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का निर्माण करने के बीच निकट सम्बन्ध है। यही वह मापदण्ड है जिससे कृषि सम्बन्धी नीति के एक ही बुनियादी सिद्धान्त के अंग स्वरूप उक्त तीनों उद्देश्यों का अनुसरण करने पर ग्रामीण और औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था के बीच आवश्यक संयोजन स्थापित करना तथा देहाती क्षेत्रों में रहनेवाले अधिकांश लोगों की आय व जीवन-स्तर उल्लेखनीय रूप से ऊंचा उठाना सम्भव होगा।

खादी आन्दोलन में एक नया अध्याय

सुभाष चन्द्र सरकार

खादी और ग्रामोद्योग मण्डल की नवद्वीप (पश्चिम बंगाल) में गत ४ और ६ फरवरी को जो बैठक हुई, उसमें एक ऐतिहासिक निर्णय लिया गया। खादी की बिक्री पर रिबेट देने की जो मौजूदा पद्धति प्रचलित है उसके स्थान पर सभी हाथ कते सूत की मुफ्त बुनाई करवाने की नयी पद्धति में बहुत ही दूरगामी प्रभावयुक्त बातें निहित हैं। प्रस्तुत लेख में उनके उपयुक्त रूप को ध्यान में रखते हुए विचार किया गया है। मुफ्त बुनाई का प्रस्ताव मान लेने से खादी उद्योग के विकास में एक नये अध्याय का सूत्रपात होगा।

खादी आन्दोलन को प्रारम्भ हुए करीब सात वर्ष बाद पचास वर्ष हो जायेंगे। इस आन्दोलन का सूत्रपात असहयोग आन्दोलन के अंग-स्वरूप विदेशी माल का प्रभावशाली रूप में बहिष्कार करने के लिए १९२० में महात्मा गांधी ने किया था। इसके साथ ही इसका एक दूसरा उद्देश्य था स्वानुशासन और त्याग करने के लिए हर व्यक्ति को अवसर प्रदान करना। शीघ्र ही आन्दोलन ने बेरोजगार ग्रामीणों को रोजगारी प्रदान करने के स्रोत के रूप में एक आर्थिक महत्व प्राप्त कर लिया। सन् १९३३ तक एक करोड़ वर्ग गज खादी का उत्पादन होने लगा था और उससे करीब दो लाख व्यक्तियों को काम मिलता था। द्वितीय महायुद्ध के फलस्वरूप कपड़े की कमी की समस्या पैदा हुई। फलतः खादी को इस तरह प्रेरणा मिली कि उसका उत्पादन बढ़कर १९३९ में एक करोड़ नौ लाख वर्ग गज तथा १९४२ में २ करोड़ १६ लाख वर्ग गज हो गया।

युद्धोत्तर काल में

युद्ध समाप्त होने पर ज्यों ही वस्त्र-पूर्ति की स्थिति सहल हुई, खादी उत्पादन में कुछ गिरावट आयी; १९५३-५४ में खादी उद्योग को प्रोत्साहन देने के लिए जब भारत सरकार ने अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मण्डल की स्थापना की तब खादी का उत्पादन १ करोड़ १५ लाख वर्ग गज था। मण्डल के बाद अप्रैल १९५७ में श्री वैकुण्ठ ल. मेहता की अध्यक्षता में पाँच सदस्यीय विधि-विहित संगठन खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की स्थापना हुई। कमीशन ने उत्तराधिकारी के रूप में मण्डल का काम अपने हाथ में लिया।

उल्लेखनीय प्रगति

इस अवधि में खादी क्षेत्र में अनवरत प्रगति हुई है। विशेषतः १९५३-५४ से उत्पादन, बिक्री तथा रोजगारी के सभी क्षेत्रों में तीव्र प्रगति हुई है। खादी की सभी भांतों का उत्पादन १९५३-५४ में १ करोड़ १५ लाख वर्ग गज था, जो १९६१-६२ में बढ़कर ७ करोड़ ६२ लाख वर्ग गज तक जा पहुँचा यानी इस क्षेत्र में ६०० प्रति शत से भी ज्यादा बढ़ोतरी हुई। खादी-बिक्री के क्षेत्र में भी इसी प्रकार प्रगति हुई। वह १९५३-५४ में १ करोड़ २९ लाख ९८ हजार रुपये की हुई थी और १९६१-६२ में १८ करोड़ ७७ लाख ५४ हजार रुपये की अर्थात् इस दिशा में १,३४४ प्रति शत से भी अधिक वृद्धि हुई। सन् १९५३-५४ में इस उद्योग से कुल मिलाकर ३,७८,००० व्यक्तियों को काम मिला था (३,४८,००० सूतकार; १९,२०० बुनकर और ११,४०० अन्य)। सन् १९६१-६२ में इस उद्योग से १७,४६,२०० लोगों को (१५,३७,१०० सूतकार और १,२४,७०० बुनकर तथा ८४,४०० अन्य) रोजगारी मिली। इसे हम यों भी कह सकते हैं कि रोजी-प्राप्त लोगों की संख्या में लगभग

३६४ प्रति शत वृद्धि हुई। इन आंकड़ों से साफ प्रकट है कि भारत सरकार ने खादी को प्रोत्साहन देने, उसे आगे बढ़ाने के लिए एक विशेष संगठन की स्थापना करके (पहले एक सलाहकारी मण्डल के रूप में और बाद में एक विधि-विहित कमीशन के रूप में) कितनी बुद्धिमानी का काम किया है।

स्वावलम्बी खादी

स्वावलम्बी खादी के उत्पादन (स्वयम् या परिवार के उपभोग के लिए काते गये सूत से बुनी) में भी काफी अच्छी प्रगति हुई, जिसका उत्पादन १९५३-५४ में १० लाख १० हजार वर्ग गज था और १९६१-६२ में बढ़कर ७० लाख ८५ हजार वर्ग गज हो गया, जिसके माने है ७०० प्रति शत के लगभग वृद्धि जो कि बिक्री के लिए तैयार की जानेवाली खादी के उत्पादन में हुई वृद्धि के समान ही थी। यह ध्यान देने की बात है कि स्वावलम्बी खादी पर सब्सिडी दिये जाने के बावजूद वह अधिकांश राज्यों में लोकप्रिय नहीं हो पायी है। फिलहाल जैसी स्थिति है स्वावलम्बन सम्पन्न उत्तर प्रदेश तक ही सीमित है, जहाँ १९६१-६२ में इस आधार पर खादी का उत्पादन ५५ लाख ७२ हजार वर्ग गज था। अन्य राज्यों में गुजरात (१९६१ में उत्पादन ६ लाख ८५ हजार वर्ग गज); जम्मू और कश्मीर (४ लाख ३० हजार वर्ग गज) तथा पंजाब (३ लाख ९८ हजार वर्ग गज) का स्थान आता है, लेकिन वे उत्तर प्रदेश से बहुत ही पीछे हैं। खादी मूल्यांकन समिति (अध्यक्ष डाक्टर ज्ञानचन्द) ने वस्त्र-स्वावलम्बन के लिए सहायता देना चालू रखने की आवश्यकता पर जोर देते हुए कहा था कि "वस्त्र-स्वावलम्बन की समग्र योजना की विशेष रूप से जाँच कर उसका मूल्यांकन किये जाने की आवश्यकता है।"

निम्न विवरण राज्यों में विभिन्न जाति की खादी का वर्ष १९६१-६२ के लिए उत्पादन सम्बन्धी विवरण प्रस्तुत करता है :

खादी का राज्यवार उत्पादन : १९६१-६२ (लाख वर्ग गज में)

	१९६१-६२							
	सूती							
	बिक्री के लिए							
राज्य	परंपरागत	अम्बर	योग	वस्त्र-स्वावलम्बन	योग	ऊनी	रेशमी	कुल योग
१. आन्ध्र प्रदेश	१७.७५	३८.२८	५६.०३	२.०१	५८.०४	११.३०	०.३३	६९.६७
२. असम	०.२९	०.०२	०.३१	...	०.३१	...	०.२९	०.६०
३. बिहार	७६.६१	३५.२८	१११.८९	०.१८	११२.०७	४.८१	४.२८	१२१.१६
४. गुजरात	५.४०	५.१६	१०.५६	६.८५	१३.४१	१.०९	...	१४.५०
५. महाराष्ट्र	०.६१	३.२६	३.८७	०.१३	४.००	१.६५	०.०४	५.६९
६. दिल्ली	१६.७८	१.२७	१८.०५	१.८३	१९.८८	०.६३	...	२०.५१
७. जम्मू और कश्मीर	२.७७	०.१७	२.९४	४.३०	७.२४	३.०८	...	१०.३२
८. केरल	२.३९	७.९१	१०.३०	०.०३	१०.३३	...	...	१०.३३
९. मध्य प्रदेश	...	५.४५	५.४५	०.१७	५.६२	२.६७	०.१३	८.४२
१०. मद्रास	५५.९२	४१.६८	९७.६०	०.१८	९७.७८	०.०२	१.१०	९८.९०
११. मैसूर	२.९९	८.६०	११.५९	०.१३	११.७२	४.४५	०.४५	१६.६२
१२. उड़ीसा	४.१५	२.१८	६.३३	...	६.३३	...	०.२१	६.५४
१३. पंजाब	१०६.६९	६.६७	११३.३६	४.१३	११७.४९	१०.९८	०.०९	१२८.५६
१४. राजस्थान	३७.४४	११.६६	४९.१०	१.५६	५०.६६	६.१३	...	५६.७९
१५. उत्तर प्रदेश	११.९८	८९.८९	१०१.८७	५५.७२	१५७.५९	११.३६	१.४१	१७०.३६
१६. पश्चिम बंगाल	४.९०	६.६०	११.५०	०.०८	११.५८	०.३५	६.७२	१८.६५
योग	३४६.६७	२६४.०८	६१०.७५	७७.३०	६८८.०५	५८.५२	१५.४५	७६२.०२

खादी आन्दोलन का प्रायः इसके शुरू से ही अर्थात् १९२० और १९३० के बीच के प्रारम्भिक वर्षों से ही दोहरा स्वरूप रहा है। सार्वभौमिक कताई पर जोर देते हुए प्रत्येक व्यक्ति को शारीरिक श्रम के मूल्य का महत्व समझाते हुए खादी एक ओर स्व-अनुशासन तथा सदाचार का साधन थी तो दूसरी ओर दुःख-दर्दों से पीड़ित ग्रामीणों को रोजगारी प्रदान करने का वह एक निश्चित आर्थिक कार्यक्रम थी। जिन अनेक सोपानों से होकर खादी कार्यक्रम गुजरा है, उनमें उसके किसी एक अथवा दूसरे पहलू पर जोर दिया जाता रहा है, लेनिक व्यवहारतः उक्त दोनों उपागमों में कभी संयोजन नहीं हुआ। खादी के उत्पादन व विक्रय तथा उसके द्वारा प्रदत्त रोजगारी में वृद्धि होते हुए भी उक्त बात सच है।

कार्यक्रम का दोहरा स्वरूप

उक्त दो दृष्टिकोणों का अन्तर मिटाने और खादी विकास के लिए राष्ट्रीय प्रयास के रूप में उनमें संयोजन स्थापित करने के लिए प्रयत्न किये जाते रहे हैं। इस संयोजन की दिशा में श्रीगणेश १९४४ में खुद गांधीजी ने किया था। इस नये रूप में खादी को ग्रामीण विकास का अंग समझने पर जोर दिया गया और उसका नामकरण हुआ *समग्र सेवा*। ग्रामीण विकास की विस्तृत योजना अथवा कार्यक्रम के साथ खादी कार्य का सम्बन्ध जोड़ने का विचार १९५९ में फिर नये जोश के साथ पुनर्जीवित हुआ, जब खादी और ग्रामोद्योग कमीशन ने *नया मोड़* कार्यक्रम लागू करने का निर्णय किया। *नया मोड़* का सार है खादी कार्य का स्थानीय लोगों द्वारा स्थानीय आवश्यकताओं के आधार पर तैयार की गयी स्थानीय योजना के साथ सम्बन्ध जोड़ना। कार्यक्रम के अन्तर्गत अधिक स्थानीय खपत की व्यवस्था है। इसका औचित्य खादी की बिक्री पर प्रति रुपया तीन आना रिबेट दिये जाने के बावजूद अनबिकी खादी का स्टाक इकट्ठा हो जाने से भी प्रकट होता है। *नया मोड़* कार्यक्रम के कार्यान्विय के लिए खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की तृतीय पंच वर्षीय योजना के दरमियान पाँच-पाँच हजार की आबादीवाली ३,००० ग्राम इकाइयाँ संगठित करने की योजना है।

खादी मूल्यांकन समिति ने भी इस संयोजित उपागम का समर्थन किया है। समिति के विचार से "जिन आधारों पर खादी विकास कार्यक्रम को मान्यता देनी है, उनमें पहला यह है कि इसे ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के विकास का अभिन्न अंग होना चाहिए, जिसमें कृषि, उद्योग तथा व्यावसायिक उत्पादन क्षमता काफी ऊँचे स्तर तक ऊपर उठायी जा सके तथा अर्थ-व्यवस्था के विकास में सामुदायिक प्रयासों का अधिक निर्णायक हिस्सा होना चाहिए; और उसमें सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए लोगों की प्रभावशाली भूमिका हो।" अब तक १,०१७ इकाइयों का चुनाव हुआ है, जिनमें से ९०० ने कार्यारम्भ कर दिया है।

खादी का विस्तृत उपभोग सुनिश्चित करने और खादी उत्पादकों की 'वणिक प्रवृत्ति' कम करने के लिए कुछ वर्ष पहले सूतकार द्वारा स्वावलम्बन के लिए काते गये सूत की किसी एक मात्रा तक मुफ्त बुनाई करवाने का एक प्रस्ताव सामने आया। यह सुझाव विनोबाजी की तरफ से आया था। उन्होंने यह प्रस्ताव इस प्रकार रखा था कि प्रति व्यक्ति १२गज कपड़े की बुनाई मुफ्त हो। बुनाई-खर्च सरकार दे। इसके पीछे विचार यह था कि जिस प्रकार प्रगतिशील देशों में शिक्षा सार्वभौमिक है और उसका खर्च सरकार वहन करती है, उसी प्रकार भारत में सरकार को आगे आकर कम से कम सभी सूतकारों के हाथ कते सूत की बुनाई मुफ्त में करवानी चाहिए।

मुफ्त बुनाई का प्रस्ताव

इसी बीच, अनुत्तेजित चीनी आक्रमण से इस विचार को प्रोत्साहन मिला कि क्या खादी उपभोक्ताओं से मान्य भण्डारों में खादी की बिक्री पर जो छूट मिलती है उसका त्याग करने की अपील की जा सकती है। खादी की बिक्री पर छूट बन्द करने के सुझाव से खादी उद्योग के भविष्य पर प्रबल विचार-विमर्श करने को प्रश्रय मिला।

खादी की बिक्री पर से रिबेट हटाने के फलस्वरूप उत्पन्न समस्या का सामना करने के लिए एक और सुझाव सामने आया कि सभी हाथ कते सूत की बिना किसी मर्यादा के मुफ्त बुनाई करवाने की सुविधा दी जाय और उसका खर्च खादी और ग्रामोद्योग कमीशन को तृतीय पंच वर्षीय योजना के अन्तर्गत जो धन राशि मिली है, उसमें वह वहन करे।

नवद्वीप सम्मेलन

रिबेट देने की वर्तमान प्रणाली के स्थान पर शत-प्रतिशत बुनाई-खर्च देने के सवाल पर खादी और ग्रामोद्योग मण्डल ने—जोकि नीति-विषयक मामलों में खादी और ग्रामोद्योग कमीशन को सलाह देता है—नवम्बर १९६२ में गुजरात के वेडछी नामक स्थान पर और फरवरी १९६३ में पश्चिम बंगाल के नवद्वीप नामक स्थान पर हुई अपनी बैठकों में विचार किया। दिसम्बर १९६२ म अहमदाबाद में हुए खादी संस्थाओं के सम्मेलन तथा उससे भी बड़े स्तर पर फरवरी १९६३ में नवद्वीप में हुए अखिल भारत खादी कार्यकर्त्ता सम्मेलन में भी इस प्रस्ताव पर व्यापक विचार-विमर्श हुआ। नवद्वीप सम्मेलन में कार्यकर्त्ताओं को उक्त प्रस्ताव पर आचार्य विनोबा भावे के सानिध्य में चर्चा करने का लाभ प्राप्त हुआ। खादी आन्दोलन में सरकार इस नये रूप में भाग ले, ऐसा प्रस्ताव रखने के पीछे जो उद्देश्य है, उसका श्री विनोबाजी द्वारा विस्तृत विवेचन किये जाने के बाद, सम्मेलन ने खादी के बिक्री मूल्य पर रिबेट देने के स्थान पर सभी हाथकते सूत की मुफ्त बुनाई करवाने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। इसके साथ ही एक महत्वपूर्ण बात और जुड़ी हुई थी, जिसके अनुसार खादी संस्थाओं का यह कर्त्तव्य होगा कि वे यह सुनिश्चित करें कि उपभोक्ता को जो खादी बेची जाय उसके लिए उसे ज्यादा कीमत न देनी पड़े। यह नयी पद्धति किस प्रकार लागू की जाय तत्सम्बन्धी विस्तृत बातें तैयार करन के लिए एक २० सदस्यों की समिति नियुक्त की गयी, जिसके अध्यक्ष श्री ध्वजा प्रसाद साहू और संयोजक श्री द्वारकानाथ वि. लेले हैं। अन्य सदस्य खादी के उत्पादन अथवा बिक्री से सीधा सम्बन्ध रखनेवाले हैं।

पूज्य विनोबाजी तथा खादी संस्थाओं के साथ सलाह-मशविरा करने के पश्चात् खादी और ग्रामोद्योग मण्डल ने सभी हाथ कते सूत की मुफ्त बुनाई करवाने के नये प्रस्ताव को खादी और ग्रामोद्योग कमीशन को मान लेने की सिफारिश करने का तय किया। नया प्रस्ताव लागू करने के पहले न केवल खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की, बल्कि भारत सरकार की भी इस सम्बन्ध में स्वीकृति प्राप्त करनी है।

नयी पद्धति

उक्त नये प्रस्ताव में कई विशिष्ट पहलू हैं। प्रथम: मुफ्त बुनाई की योजना से आवश्यक रूप से ही स्थानीय अगुआई और संगठन सक्रिय होंगे। द्वितीय: इससे खादी की स्थानीय खपत में सुविधा होगी तथा बिक्री करने सम्बन्धी भार हल्का होगा। तृतीय: सूत को दूसरे स्थानों पर भेजने की आवश्यकता समाप्त करने से खादी का उत्पादन खर्च कम करने में योगदान मिल सकता है। अन्तिम: खादी पर से 'व्यवसायवाद का दाग' हट जायेगा जोकि खादी के आलोचक इसकी बिक्री पर छूट देने की व्यवस्था होने के कारण लगाते हैं।

नयी योजना अर्थात् पद्धति के कार्यान्वय में आनेवाली कठिनाइयों को नजरअन्दाज करना अयथार्थवादी होगा। प्रथम, खादी के खरीदार से एक महत्वपूर्ण उत्प्रेरणा छिन जायेगी। रिबेट देने के बाद भी, यह सच है कि खादी उसी जात के मिल के कपड़े से काफी महंगी है और इस उद्योग को बनाये, टिकाये रखने के लिए खरीदार जान-बूझ कर ज्यादा कीमत चुकाते हैं। फिर भी, इस बात का खण्डन नहीं किया जा सकता कि अनेक ग्राहक रिबेट के कारण ही खादी खरीदते हैं। खादी के दामों में कोई बढ़ती नहीं भी होती है तो भी इस प्रत्यक्ष उत्प्रेरणा के हटाने का क्या प्रभाव पड़ेगा, इसका केवल एक अन्दाज ही लगाया जा सकता है। द्वितीय, यदि सभी सूत की बुनाई के लिए उसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले

जाया जाय और फिर वापस सूतकार को कपड़ा दिया जाय तो मुफ्त बुनाई के कोई माने नहीं रह जायेंगे यानी उसका कोई औचित्य नहीं रहेगा।

हर गाँव में बुनाई व्यवस्था

प्रायः ऐसे हर गाँव में बुनाई की सुविधाएँ प्रदान करनी होंगी, जहाँ हाथ कताई होती हो। नवद्वीप सम्मेलन में न केवल अनेक वक्ताओं ने बल्कि स्वयम् विनोबाजी ने भी इस बात के महत्व पर जोर दिया था। यह काम कितना बड़ा और मुश्किल है, यह तो इसी बात से आंका जा सकता है कि यद्यपि खादी कार्य लगभग एक लाख गाँवों में फैल चुका है, लेकिन बुनाई केन्द्र इनके दसवें हिस्से के गाँवों में ही होंगे। फिर भी, समस्या किसी भी दृष्टि से ऐसी नहीं समझी जानी चाहिए कि उसका समाधान ही नहीं हो सके। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन पहले से ही उन क्षेत्रों में सुनियोजित रूप से बुनकरों को बसाने की नीति का अनुसरण करता आ रहा है, जहाँ परम्परागत बुनकर नहीं हैं। आयोजित प्रयास करके कार्यक्रम को और भी गतिशील बनाया जा सकता ह।

मुफ्त बुनाई के प्रस्ताव को अमल में लाने से कितना आर्थिक खर्च पड़ेगा? सभी पहलुओं के विस्तृत विश्लेषण के अभाव में इस प्रश्न का उत्तर देना मुश्किल है। अपने खुद के इस्तेमाल के लिए वस्त्र-स्वावलम्बन के आधार पर हाथ कते सूत की बुनाई का ७५ प्रति शत खर्च सब्सिडी के रूप में पहले से ही दिया जाता है। इसके अलावा जो संस्थाएँ इस प्रकार के सूत की बुनाई व्यवस्था करती हैं उन्हें ५,००० वर्ग गज तक प्रति वर्ग गज बारह नये पैसे के हिसाब से व्यवस्था-खर्च दिया जाता है। इससे ज्यादा जो कपड़ा बुना जाय उस पर व्यवस्था-खर्च तीन नये पैसे प्रति वर्ग गज के हिसाब से दिया जाता है। कुछ राज्यों में, उदाहरणार्थ गुजरात और तमिलनाड में, राज्य मण्डल अथवा स्थानीय संस्थाएँ वस्त्र-स्वावलम्बन के लिए सूतकारों को २५ प्रति शत बुनाई खर्च उक्त ७५ प्रति शत के अलावा देती हैं।

फिर भी, स्वावलम्बन के लिए बुनाई सब्सिडी केवल सादे कपड़े की बुनाई के लिए ही दी जाती है, डिजाइन अथवा ड्रिल बुनाई के लिए नहीं। नयी योजना के अनुसार सभी प्रकार की बुनाई पर सब्सिडी दी जायेगी। वर्तमान स्तर पर और उत्पादन के प्रचलित स्वरूप के आधार पर नयी योजना से राजकोष पर फिलहाल से कुछ अधिक खर्च आ सकता है। लेकिन यदि योजना सन्तोषप्रद रूप से चलती है तो यह अतिरिक्त खर्च उपयुक्त ही होगा; क्योंकि यह अतिरिक्त पैसा ग्रामीण समाज के उन लोगों के पास जायेगा जो सबसे ज्यादा जरूरतमन्द हैं। सामाजिक और आर्थिक दोनों ही दृष्टियों से यह वांछनीय खर्च होगा। अतएव, सचमुच यह कहा जा सकता है कि खादी कार्यक्रम एक नये युग में पदार्पण कर रहा है।

[*दि इकॉनॉमिक टाइम्स*, बम्बई के सौजन्य से]

बम्बई : १९ फरवरी १९६३

सन् १९५०-५१ से १९६०-६१ के वर्षों में पशुधन मूल्य में हुई वृद्धि केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन की पूंजी निर्माण प्रमाण पुस्तक (ब्लू बुक) में उपलब्ध है। इन अनुमानों में खेतों तथा उनके बाहर काम में लगा पशुधन शामिल है। राष्ट्रीय आय समिति की अन्तिम रिपोर्ट के अनुसार परिवहन कार्यों में इस्तेमाल किये जानेवाले पशुओं का प्रति शत १२.८ है। पशुओं की वार्षिक वृद्धि के लिए इस प्रति शत को सही मानने पर १९६०-६१ में कृषि (खेती) विभाग के पशुधन में कुल वृद्धि २,७०२ करोड़ रुपये की होगी। उपर्युक्त अनुमान में मूल्य परिवर्तन के कारण कोई समन्वय नहीं किया गया है।

—*रिजर्व बैंक ऑफ् इण्डिया बुलेटिन* (जनवरी १९६३) : एस्टीमेट्स ऑफ् टेंजीबल वेल्थ इन इण्डिया।

ग्रामीण क्षेत्र में सहकारिता की प्रेरणा

अल्फ्रेड सॅम्युअल

करीब ५० वर्ष तक काम कर लेने के बाद भी ग्राम ऋणदात्री सहकारी समितियाँ किसानों की केवल तीन प्रति शत ऋण सम्बन्धी आवश्यकताएँ ही पूरी करने में समर्थ हो पायी हैं। सहकारी भण्डार और भवन निर्माण आन्दोलन भी सफल नहीं हो पाया है। इस प्रकार भारत में ग्रामीण सहकारी आन्दोलन अपनी सघनता तथा दिशापथ, दोनों ही दृष्टियों से पीछे है। इस असफलता का कारण ग्रामीणों में शिक्षा की कमी को ठहराया जा सकता है। सहकारी समितियों की जिम्मेदारी उठाने के लिए उनके सदस्यों को योग्य बनाने के लिए एक प्राणवान शैक्षणिक कार्यक्रम की बहुत बड़ी आवश्यकता है।

हमारी जैसी विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था में विदेशी और हमारी अपनी सरकारों, दोनों ने बहुत पहले ही यह बात मान ली थी कि सामाजिक और आर्थिक लक्ष्यों के लिए व्यक्तिगत अभिक्रम जागृत एवं संगठित करने का आदर्श साधन, सफल आर्थिक लोकतंत्र के स्वीकृत प्रतीक सहकारिताएँ ही हैं। कॉंग्रेस के चुनाव घोषणापत्र (दिसंबर १९४५) में बताया गया है कि "सहकारी संस्थाओं के जरिए सस्ती ब्याज दरों पर कर्ज की व्यवस्था होनी चाहिए। ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में अन्य उद्देश्यों के लिए भी सहकारी संस्थाएँ संगठित की जानी चाहिए।"[१] बाद में आर्थिक कार्यक्रम समिति (अ. भा. कॉं. क. १९४८) की रिपोर्ट में भी बताया गया कि "लघु-स्तरीय और कुटीर उद्योगों को औद्योगिक सहकारी समितियों के जरिए गैर-फायदेवाली पद्धति पर प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।"[२] अखिल भारत कॉंग्रेस महासमिति की ग्रामोद्योग और सहकार उप-समिति (१९५५) ने यह राय दी थी कि "जबकि हमारा अधिकतर उत्पादन खुद-रोजगारीवाले किसानों और कारीगरों के प्रयत्नों के फलस्वरूप ही होता है और जिनके पास बहुत ही मामूली आर्थिक साधनस्रोत हैं तथा अधिक साधन सम्पन्न लोगों से प्रभावित अर्थ-व्यवस्था में जो इस योग्य नहीं हैं कि अपने साधनों की रक्षा खुद कर पायें, हमारे देश की आर्थिक जरूरतों के लिए सहकारी रूपवाला संगठन ही अत्यन्त लाभकर हो सकता है।"[३] भारत सरकार का 'समाजवादी ढंग के समाज की स्थापना' का उद्देश्य पूरी तरह से सहकारिता के लक्ष्यों और तरीकों से मेल खानेवाला है, जिसमें आर्थिक प्रवृत्तियाँ लोकतंत्रीय ढंग से नियंत्रित होती हैं तथा लाभ हेतु हटा दिया जाकर सहज ही विभाजक न्याय स्थापित होता है।

पर्याप्त उत्साह का अभाव

यह उल्लेखनीय है कि सरकार का सर्वव्यापी समर्थन तथा देश के करीब करीब सभी राजनीतिक दलों का—हमारी अर्थ-व्यवस्था के क्षेत्रों एवं स्वरूपों में इसको लागू करने की बात पर कम-अधिक जोर दिये जाने को छोड़कर—आशीर्वाद प्राप्त होते हुए भी ग्रामीण भारत में सहकारी आन्दोलन के विकास की गति प्रोत्साहजनक नहीं रही है। अनुकूल वातावरण और सक्रिय सरकारी

१. सुनिल गुहा : **दि कोऑपरेटिव वे** (अखिल भारतीय कॉंग्रेस प्रकाशन); पृष्ठ : २१।

२. रिपोर्ट ऑफ दी इकॉनामिक प्रोग्रैम कमेटी, अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की आर्थिक कार्यक्रम समिति का प्रतिवेदन (१९४८); पृष्ठ : १५-१६।

३. सुनिल गुहा : **दि कोआपरेटिव वे** (अखिल भारतीय कांग्रेस-प्रकाशन); पृष्ठ : २९।

सहायता के अन्तर्गत भारत में सहकारी आन्दोलन अपनी करीब ६० वर्ष की विकासावधि के बाद भी देश की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में एक प्राणवान शक्ति के रूप में प्रौढ़ता प्राप्त नहीं कर सका है। नहीं।[६] भारत में प्रति छः व्यक्तियों में से करीब पांच व्यक्ति ग्रामों में ही रहते हैं। इन पांच में से भी चार व्यक्ति खेतिहर के रूप में गाँवों में स्वावलंबी व्यक्ति हैं। अतः ग्रामीण क्षेत्र की विशाल

भारत में सहकारिता का विकास : १९१५–६०

वर्ष[४]	समिति संख्या (हजार में)	प्राथमिक समितियों की सदस्य-संख्या (लाख में)	संचालन पूंजी (करोड़ रुपये में)
१९१५	११.७९	५.४८	५.४८
१९२०	२८.४८	११.२९	१५.१८
१९३०	८३.९४	३६.८९	७४.८९
१९४०	११६.९६	५०.७७	१०४.६८
१९५०	१५९.६१	१०७.२८	२७५.८५
१९६०[५]	३१३.४९	३०३.२१	१०८३.४७

उपर्युक्त तालिका से भारत में सहकारी आन्दोलन के विकास का तादात्मक ढंग से तो आकर्षक चित्र सामने आता है, परन्तु गुणात्मक दृष्टि से, खासकर ग्रामीण क्षेत्र में स्थिति संतोषजनक नहीं है, जिसके बारे में हम आगे चर्चा करेंगे। देश की जन-संख्या का कितना भाग इसके अन्तर्गत है, परंपरागत माध्यमों की तुलना में खेतिहरों की कितनी सेवा इसने की है, इसकी अंतर्निहित शक्ति, इसके नेतृत्व व सदस्यता की किस्म, इन सबके अध्ययन से यह स्पष्ट हो जायेगा कि अभी तक यह आन्दोलन एक ऐसी प्राणवान, उत्साहवर्द्धक शक्ति नहीं बन पाया है कि वह भारत के ग्रामीण क्षेत्र में जान डाल दे, उसे सक्रिय बना दे तथा उसमें प्रोत्साहन ला दे।

ग्रामीण क्षेत्रों में

ग्रामीण क्षेत्र में सहकारी प्रयत्नों के संकेन्द्रित करने की कितनी जरूरत है, इस पर जोर देने की आवश्यकता व्यापकता स्वाभाविक रूप से यह मांग करने योग्य है कि इसकी तरफ सबसे अधिक ध्यान भारत के सहकारी आन्दोलन के नेता दें एवं कार्य करें। अत: भारत में सहकारी आन्दोलन के विकास का सच्चा गुणात्मक मूल्यांकन ग्रामीण क्षेत्र में उसके स्थायित्व और शक्ति के उपयुक्त सिंहावलोकन से ही होना चाहिए।

हिताधिकारी

भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में सहकारी समितियों के विकास का सिंहावलोकन करना हमारे मूल्यांकन के लिए आवश्यक हो सकता है। कदाचित यहाँ ऋण, भण्डार और भवन निर्माण जैसी चुनिन्दा लोकप्रिय सहकारी प्रवृत्तियों के क्षेत्र में जैसा कि रूरल क्रेडिट सर्वे कमेटी के प्रतिवेदन से प्रकट है, ग्रामीण ऋणदात्री समितियाँ करीब पचास वर्ष के अनवरत सरकारी और गैर-सरकारी प्रयत्नों के बावजूद संख्यात्मक शब्दावली में अगर कहा जाय तो कृषकों की ऋण सम्बन्धी कुल आवश्यकता का केवल तीन

४. उक्त उद्धृत, पृष्ठ: ३०।

५. भारत सरकार; **स्टेटिस्टीकल कंपायलेशन;** सितम्बर १९६१।

६. **आल इण्डिया रूरल क्रेडिट सर्वे** (जनरल रिपोर्ट); पृष्ठ : १२।

प्रति शत भाग ही पूरा कर पायीं हैं। गुणात्मक आधार पर किये गये अनुवर्ती सर्वेक्षण (१९५९) से पता चलता है कि सहकारी ऋण की सुविधा का फायदा छोटे किसानों की अपेक्षा बड़े किसानों ने ज्यादा उठाया।[७] इसलिए ग्रामीण ऋणदात्री सहकारी समितियों के रिकार्ड से न हमारे सरकारी अधिकारियों को ही प्रसन्नता होती है और न ही हम गैर-सरकारी कार्यकर्त्ता ही संतुष्ट हो पाते हैं।

ग्रामीण सहकारी भण्डारों का चित्र भी कोई इससे अच्छा नहीं है। द्वितीय महायुद्ध के दिनों में, सम्भवतः कुछ सामग्रियों की कमी और सरकारी प्रोत्साहन के कारण ग्रामीण भण्डारों का जो एक जाल-सा फैल गया था, वे सरकारी नियंत्रण के हट जाने के बाद अपने विकास की रफ्तार बनाये रखने अथवा वे जिस स्थिति में थे वैसी स्थिति में अपने को बनाये रखने में असफल रहे हैं। ग्रामीण सहकारी भण्डार, जिन्हें 'युद्ध के बच्चों' की सही संज्ञा दी गयी थी, नियंत्रण हटाये जाने के सर्व प्रथम शिकार हुए और वे मद्रास में सहकार पर समिति (१९५६) के इस कथन की पुष्टि करते हुए प्रतीत होते हैं कि "ग्रामीण सरकारी भण्डारों का कोई भविष्य नहीं है।"[८] ग्रामीण क्षेत्रों में उनका घटता हुआ प्रभाव निम्न विश्लेषण से स्पष्ट है :[९]

विवरण	१९५१-५२	१९५५-५६
प्राथमिक भण्डारों की संख्या	९,५७९	७,३५९
सदस्यता	१,८३९,०००	१,४१४,०००
खरीद मूल्य (करोड़ रु. में)	७९.६०	१३.६८
बिक्री मूल्य (करोड़ रुपये में)	८३.७५	१४.४८

ग्रामीण भवन निर्माण कार्य भी उतना ही निराशाजनक रहा है। हाल ही में निर्माण, आवास और पूर्ति मंत्री श्री मेहरचन्द खन्ना ने राज्य सभा में कहा (२८ अगस्त १९६२) कि ग्रामीण भवन निर्माण परियोजनाओं के अन्तर्गत स्वीकृत ३५,०६० भवनों में से मार्च १९६२ में समाप्त होनेवाले पांच वर्षों की अवधि में केवल १०,५६७ मकान ही बनाये जा सके और यह कि केन्द्रीय सहायता में से राज्य सरकारों ने केवल ४ करोड़ २१ लाख रुपये ही निकाले।[१०] आंकड़ों से भी प्रकट होता है कि ग्रामीण क्षेत्र में भवन निर्माण कार्यक्रम ने कोई विशेष प्रगति नहीं की है।

शिक्षा की कमी

इस तथ्य का अनुभव कि भारत के ग्रामीण क्षेत्र में सहकारी अभिप्रेरण यानी प्रेरणा अपनी सघनता और दिशा दोनों ही रूप में नहीं पायी जाती, उन कारणों का विश्लेषण करने का आवाहन करता है जिन्होंने पिछले पचास वर्ष की अवधि में सहकारी प्रगति को रोक रखा है। ऊपर बतायी गयी सहकारी कार्यशीलताओं में से प्रत्येक में हमें सम्भवतः कुछ विशिष्ट कारण मिल सकते हैं, जिन्होंने प्रगति में रोड़ा अटकाया है। उदाहरण के लिए, संगठन व कार्यकारी कारण, आन्दोलन का राज्य प्रवर्तित होने को प्रायः यथार्थ पहलू बताया जाता है, जिन्होंने ग्रामीण साख व्यवस्था में अनुकूलतम विकास लाने को रोका है अथवा उसमें बाधा डाली है। रूरल क्रेडिट सर्वे कमेटी के प्रतिवेदन के अनुसार "........भारतीय अवस्थाओं में वातावरण प्रबल स्वरूप से 'शहरी' रहा है; अभी तक वह ग्रामीण हितों और ग्रामीण आवश्यकता पूर्ति के लिए अनुकूल नहीं है।"[११] इसी प्रकार इंग्लैण्ड के विपरीत ग्रामीण क्षेत्रों में सुप्रतिष्ठित प्राप्त कार्यकारी वर्ग का अभाव, गांवों के साहूकारों की दोहरी भूमिका तथा व्यापार के क्षेत्र में खुदरा बिक्रीकार और खुदरा बिक्रीकार का मामूली लाभांश, ये ऐसे पहलू हैं जो ग्रामीण भारत में उपभोक्ता आन्दोलन की असफलता के अनुकूल हैं। इसी प्रकार भवन निर्माण सामग्री की कमी, पर्याप्त प्राविधिक कर्मचारियों व स्वयम् द्वारा

७. रूरल क्रेडिट फॉलो अप सर्वे, १९५८-५९; परिशिष्ट: १२:३।

८. ई. एम. ह्यूग : **दि कोऑपरेटिव मूवमेण्ट इन इण्डिया**; (पृष्ठ : १२१)

९. उक्त उद्धृत : पृष्ठ १५८।

१०. **मद्रास मेल** : २९ अगस्त १९६२।

निर्मित मांग का अभाव तथा हिताधिकारियों की उदासीनता को सम्भवत: भलीभाँति ग्रामीण भवन निर्माण परियोजनाओं की असफलता के लिए जिम्मेदार ठहराया जा सकता है। लेकिन भारत तथा अन्य इसी प्रकार के अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थावाले देशों में ग्रामीण सहकार आन्दोलन के विस्तार को जिस पहलू ने अनवरत रूप से रोका है वह है ग्रामीणों में शिक्षा की कमी अथवा अभाव।

एक आवश्यकता

इसी बात को पूरी तरह समझते हुए रॉकडैल पायनियर्स (Rochdale Pioneers) ने कहा था कि सहकारिताओं के पास 'वार्षिक रूप से जो अतिरिक्त बचत' होती है, उसका एक हिस्सा अपने सदस्यों की शिक्षा के लिए उपयोग में लाया जाना चाहिए। यदि इस प्रकार से जोर देना पाश्चात्य देशों में आवश्यक और उपयोगी पाया गया, जहाँ कि सहकारिता का स्तर सापेक्षिक दृष्टि से ऊँचा है, तब ग्रामीण भारत में तो ऐसा करना एक स्पष्ट आवश्यकता बन जाती है, जहाँ सहकारिता का स्तर बहुत ही न्यून है।

सहकारों के सदस्यों को शिक्षित कर उनका दिलो-दिमाग रोशन करना चाहिए; एक सहकारी संगठन के वाणिज्य अथवा व्यवसाय के प्रबन्ध की समूची जिम्मेवारी जब तक स्वयं सदस्य न ले लें तब तक, वह कभी भी परिपूर्ण नहीं होता। सहकारी समिति केवल मात्र संगठित भर कर देने के लिए नहीं है, बल्कि उन्हें सक्रिय वनाये, आगे बढ़ते रखना चाहिए। इसलिए वास्तविक अभिप्रेरण एक सजीव शैक्षणिक कार्यक्रम में निहित होना चाहिए, जोकि सदस्यों को उत्तरदायित्व सम्भालने योग्य बनाने के लिए एक 'अपरिहार्य' तत्व है। सदस्यों को लगातार जागरूक और सक्रिय रखने के लिए शैक्षणिक कार्य सजीव और अनवरत रूप से होनेवाला होना चाहिए। यदि सहकार को लोकतंत्र और आर्थिक आजादी का अनुगामी बनना है, तो इसके काम में लगे लोगों की सक्रिय रुचि के बिना वह काफी लम्बे समय तक सुरक्षित रूप से नहीं टिक सकता। और, जब वह दिलचस्पी सामने यानी मूर्त रूप में हो तो सहकार अपने सदस्यों को न केवल उनकी आर्थिक गतिविधियों में ही सहायता देगा बल्कि वह उनकी सामाजिक अवस्थाओं में सुधार कर उन्हें सुयोग्य नागरिक भी बनायेगा।

सहकारी अगुआई

अतएव इस बात पर जोर देने की आवश्यकता नहीं कि ग्रामीण क्षेत्र में सहकारी अभिप्रेरण ग्रामीणों के लिए एक सुनियोजित शैक्षणिक कार्यक्रम पर निर्भर करता है। जिस प्रकार की शिक्षा लोगों को आर्थिक लोकतंत्र के योग्य बनायेगी, वह बिल्कुल मनमानी हुई लगती है। यद्यपि परम्परागत दृष्टि से शैक्षणिक प्रक्रिया के अन्तर्गत मुख्य रूप से बच्चे ही आते हैं, लेकिन आज के जमाने में ग्रामीण क्षेत्रों में अनौपचारिक और औपचारिक प्रौढ़ शिक्षा अधिकाधिक रूप से महत्वपूर्ण बन गयी है। उदाहरणार्थ, नोवा स्कोटिया का 'एण्टीगोनिश मूवमेण्ट' जिसने अपनी सामूहिक चर्चा की तक्नीक से हजारों मछुओं के जीवन में क्रान्ति ला दी है, इस बात का एक बहुत ही सुन्दर उदाहरण है कि एक अनवरत और चेष्टापूर्ण, चौकस रूप से चलायी गयी शैक्षणिक प्रक्रिया किस प्रकार एक ग्रामीण सहकारिता में शक्ति संचार कर देती है। इसी प्रकार, डेनमार्क में अध्यात्मिक आन्दोलन के रूप में प्रारम्भ की गयी 'डेनिश फोक हाय स्कूलों' ने वहाँ के ग्रामीण क्षेत्र में उनकी सांस्कृतिक देन की पुनः खोज करने तथा उसे शिक्षा के जरिये उनके कौशल, नैतिक मूल्यों, आचार-विचार तथा वास्तविक ज्ञान में भर देने में और अपनी ग्रामीण सहकारी समितियाँ बनाने के लिए तथा बहुत ही वांछित सहकारी अगुआई की पूर्ति के लिए उन्हें एक ठोस पहलू के रूप में विकसित करने में अत्यधिक सहायता पहुँचायी है।

यही वह समय है कि हम यह महसूस करलें कि ग्रामीण जनता को प्रभावशाली शिक्षा देना ग्रामीण सहकारीकरण का एक अभिन्न अंग है। अतएव ग्रामीण क्षेत्र में सहकारी प्रगति हासिल करने के लिए शिक्षा को बुनियादी अभिप्रेरण मानना तथा समझना चाहिए। विश्वव्यापी सहकारी समितियों के विकास के अध्ययन से केवल इसी बात की पुष्टि होगी कि समय की दृष्टि से शिक्षा ग्रामीण सहकारिता की प्रगति की अनुगामिनी न होकर अग्रगामिनी रही है।

१९ सितम्बर १९६२

---

११. आल इण्डिया रूरल क्रेडिट सर्वे (जनरल रिपोर्ट); पृष्ठ: २७२।

खादी-ग्रामोद्योगों में प्रशिक्षण

धीरुभाई म. देसाई

ग्रामोद्योग जीवित रहें और पनपें, इसके लिए इनमें लगे कारीगरों और दस्तकारों को विभिन्न उद्योगों के तौर-तरीकों तथा तकनीकों का उपयुक्त प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। प्रशिक्षण देने के लिए वर्तमान "असंतोषप्रद और अपर्याप्त" व्यवस्था में सुधार करने तथा प्रशिक्षण देने का काम करनेवाले कर्मचारियों को इस कार्य के सामाजिक महत्व की शिक्षा देने हेतु, खादी और ग्रामोद्योग कमीशन ने कारीगरों, व्यवस्थापकीय कर्मचारियों, विस्तार अधिकारियों (उद्योग), ग्राम सहायकों तथा अन्य कार्यकर्त्ताओं को प्रशिक्षित करने के लिए एक व्यापक प्रशिक्षण कार्यक्रम अपने हाथ में लिया है।

अखिल भारत चरखा संघ ने सन् १९४६ में विशेष रूप से खादी के बारे में और साधारण तौर पर ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के बारे में कुछ बुनियादी सिद्धान्त निर्धारित किये तथा "अनुसंधान और खादी कार्यकर्त्ताओं के प्रशिक्षण" को विशेष महत्व प्रदान किया। उसने यहाँ तक घोषणा की कि "कृषि, सहकारिता और शिक्षा विभागों के सभी विकास अधिकारियों की नियुक्ति की शर्तों में खादी के प्रशिक्षण की शर्त आवश्यक रूप से शामिल कर देनी चाहिए।"

असंतोषजनक व्यवस्था

योजना आयोग ने कहा है, "भूतकाल में ग्राम-कारीगरों के प्रशिक्षण की कोई संगठित व्यवस्था नहीं थी। अधिकांश रूप में जाति के आधार पर धंधों का चुनाव होता था और परंपरागत रूप में एक से दूसरे के पास काम करने की कला पहुँचती थी। परन्तु ग्रामीण दस्तकारियों को जिस प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा, उसके सामने ये तरीके अपर्याप्त साबित हुए और ग्रामों के बाजारों में नयी-नयी चीजें आने लगीं तथा वे पुरानी चीजों को पीछे ढकेलने लगीं!.......अतः यदि कारीगरों को नयी स्थितियों के अनुकूलन की प्रक्रिया के अभियान में लगाना हो, तो प्रशिक्षण कार्यक्रम को अब व्यापक पैमाने पर संगठित करना होगा.......।"

अतः यह सर्वथा स्वाभाविक था कि भूतपूर्व अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मंडल ने १९५३ में अपनी पहली ही बैठक में एक प्रशिक्षण सर्वेक्षण समिति की स्थापना के लिए तुरन्त कदम उठाया। इस समिति ने मौजूदा प्रशिक्षण सुविधाओं का सविस्तार अध्ययन किया और मंडल का ध्यान इस बात की ओर खींचा कि "ग्रामोद्योगों का स्थायी रूप से परंपरागत काम करनेवाले करीगरों को सुधरे हुए तरीकों का अथवा अकुशल श्रमिकों को ग्रामोद्योगों का तांत्रिक प्रशिक्षण देने की व्यवस्था बहुत ही असंतोषजनक और अपर्याप्त है।" उसने आगे बताया कि "कई मामलों में तो प्रशिक्षण देनेवाले शिक्षक वर्ग को ही अपने काम के सामाजिक महत्व का स्पष्ट खयाल नहीं है और उनमें से कई शिक्षकों में तो तक्नीकल योग्यता की भी कमी है।" अतः उसने मंडल से सिफारिश की कि लोगों को प्रशिक्षण देने की जिम्मेदारी वह खुद उठाए।

उसकी इस सलाह के अनुसार काम करने के लिए श्री अण्णासाहब सहस्रबुद्धे की अध्यक्षता में एक स्थायी प्रशिक्षण समिति नियुक्त हुई और प्रशिक्षण अनुभाग की स्थापना की गयी (अब श्री रघुनाथ श्री. धोत्रे इस प्रशिक्षण समिति के अध्यक्ष हैं)। योजना आयोग ने यह अत्यन्त आवश्यक समझा कि कार्यकर्त्ताओं को बड़ी तादाद में प्रशिक्षित किया जाय, ताकि विकास कार्यक्रमों पर सफलतापूर्वक अमल किया जा सके तथा करीब ५,००० खण्ड स्तरीय विस्तार अधिकारियों (उद्योग)

को भी प्रशिक्षण सुविधाएँ मुहैया की जाएँ। फलतः अनेक खादी ग्रामोद्योग विद्यालय (खादी और विस्तार अधिकारियों के लिए) स्थापित हुए।

खादी कार्यकर्त्ता पाठ्यक्रम

राज्य मंडलों और प्रमाणित संस्थाओं की खादी कार्यक्रम पर अमल करने संबंधी जरूरतों की पूर्ति के लिए खादी कार्यकर्त्ता पाठ्यक्रम बनाया गया। इस पाठ्यक्रम की अवधि १८ माह की है, जिसमें कार्यक्षेत्रीय प्रशिक्षण भी शामिल है।

योग्यताएँ : इस पाठ्यक्रम में उन प्रशिक्षार्थियों को प्रवेश दिया जाता है, जो या तो मैट्रिक या समकक्ष या उत्तर बुनियादी (तालीम) परीक्षाएँ उत्तीर्ण हों तथा जो प्रमाणित संस्थाओं या राज्य मंडलों द्वारा भेजे हुए हों और पाठ्यक्रम में सफल प्रशिक्षार्थियों को इन संस्थाओं एवम् मंडलों द्वारा काम पर लिये जाने का आश्वासन वे दें। हाल ही में प्रशिक्षण समिति ने तय किया है कि प्रवेश-योग्यता की शिक्षा संबंधी शर्तों को कुछ ढीला किया जाय, यदि प्रशिक्षार्थी कारीगरों के परिवारों में से आये हुए हों और अपने पैतृक धंधे में सहायक होनेवाले हों। यह प्रयोग कुछ चुने हुए विद्यालयों में ही किया जाना है।

प्रशिक्षण के विषय : प्रशिक्षार्थियों को सूत कताई, कपड़ा बुनाई, दो ग्रामोद्योग तथा कृषि के बुनियादी तत्वों और कार्यों का प्रशिक्षण दिया जाता है। रचनात्मक कार्यक्रम, सर्वोदय दर्शन, पंच वर्षीय योजनाएँ आदि विषय भी प्रशिक्षार्थियों को पढ़ाये जाते हैं, ताकि वे खादी-ग्रामोद्योगों का सामाजिक महत्व समझ और ग्रहण कर सकें। कार्यक्षेत्र में तीन मास का प्रशिक्षण तथा मार्गदर्शकों के साथ अध्ययन-यात्रा की भी व्यवस्था इसमें है, ताकि खादी-ग्रामोद्योगों के उत्पादन क्षेत्र के काम का अध्ययन वे कर सकें और खादी संस्थाओं के अनुभवी कार्यकर्त्ताओं के मार्गदर्शन में प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकें।

देश भर में १३ खादी ग्रामोद्योग विद्यालय (खादी) हैं, जो इस प्रकार हैं: मद्रास राज्य में ३; उत्तर प्रदेश में १; पश्चिम बंगाल में १; पंजाब में २; राजस्थान में १; बिहार में २; असम में १; उड़ीसा में १; तथा महाराष्ट्र में १। आन्ध्र प्रदेश, केरल, मैसूर, गुजरात और मध्य प्रदेश में कोई विद्यालय नहीं है। अब तक २,३१६ कार्यकर्त्ता इन विद्यालयों में प्रशिक्षित किये जा चुके हैं। रंगाई और छपाई में प्रशिक्षण देने के लिए हुबली के समीप बेनगिरी में एक खादी ग्रामोद्योग विद्यालय (वस्त्रोद्योग रसायन) भी है। पाठ्यक्रम की अवधि १२ महीने की है।

संगठक पाठ्यक्रम

जैसा कि 'संगठक पाठ्यक्रम' शब्दों से ही अर्थ प्रकट होता है, संगठकों के प्रशिक्षणार्थ यह पाठ्यक्रम शुरू किया गया है। इस के पीछे विचार यह है कि ऐसे कार्यकर्त्ताओं को प्रशिक्षित करना, जो केवल कताई और बुनाई में ही विशेषज्ञ नहीं होंगे, अपितु वे अच्छे और कुशल संगठक भी बनेंगे। वे सूतकारों और बुनकरों को सहकारी क्षेत्र में आने की प्रेरणा देंगे तथा अपने-अपने कामों में सूतकार-बुनकर ऊँचे दर्जे का तक्नीकल ज्ञान हासिल कर सकें, इस दृष्टि से उनकी मदद वे करेंगे। खादी संस्थाओं के केन्द्र अच्छी तरह संगठित हो सकें, इस काम में भी वे उन्हें सहायता करेंगे। खादी केन्द्रों के व्यवस्थापकों और निरीक्षकों के तौर पर भी वे काम कर सकेंगे।

इस पाठ्यक्रम की अवधि एक वर्ष की है और प्रशिक्षार्थी उन लोगों में से चुने जाते हैं जो 'खादी कार्यकर्त्ता' पाठ्यक्रम सफलतापूर्वक पूरा कर लेते हैं। संगठक प्रशिक्षार्थी छः माह विद्यालय में रहकर कताई-बुनाई की कला में प्रवीण होते हैं और उसका विशेष तंत्र भी जान लेते हैं। उसके बाद वे छः माह प्रत्यक्ष क्षेत्र में बिताते हैं, जहाँ वे संगठन कार्य का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करते हैं। वहाँ वे अनुभवी क्षेत्रीय कार्यकर्त्ताओं के मार्गदर्शन में काम करते हैं। फिलहाल इस पाठ्यक्रम में १५ प्रशिक्षार्थी हैं और वे त्र्यंबक विद्या मन्दिर, नासिक में प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे हैं।

मई १९५५ में राज्य विकास आयुक्तों का जो वार्षिक सम्मेलन हुआ, उसने यह सुझाव दिया कि सामुदायिक विकास खण्डों के कर्मचारियों की व्यवस्था में विस्तार अधिकारी (उद्योग) का पद भी शामिल किया जाय। उस समय कल्पना यह थी कि कुछ विस्तार अधिकारियों को लघु स्तरीय उद्योगों में और कुछ को खादी-ग्रामोद्योगों में प्रशिक्षित किया जाय। भूतपूर्व अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मंडल को यह जिम्मेदारी सौंपी गयी कि इन अधिकारियों को खादी-ग्रामोद्योगों का प्रशिक्षण देने की व्यवस्था वह करे। इस प्रकार इन विस्तार अधिकारियों का प्रशिक्षण नासिक स्थित त्र्यंबक विद्या मन्दिर में १९५५ में शुरू हुआ। इस पाठ्यक्रम की अवधि एक वर्ष की थी।

विस्तार अधिकारी (उद्योग) प्रशिक्षण

इस विषय पर नैनीताल में १९५६ के मई मास में हुए सामुदायिक विकास सम्बन्धी वार्षिक सम्मेलन में पुनः चर्चा हुई। उस सम्मेलन ने सुझाव दिया कि "प्रत्येक खण्ड के लिए एक-एक विस्तार अधिकारी (उद्योग) होना चाहिए। यह अधिकारी राज्य के उद्योग-संगठन का एक अंग होगा तथा अन्य खण्ड स्तरीय विस्तार अधिकारियों के समान खण्ड विकास अधिकारी के मातहत होगा।" यह भी तय हुआ कि यह विस्तार अधिकारी (उद्योग) संगठक के रूप में हो और उसकी मदद के लिए तक्नीकल विशेषज्ञ होने चाहिए।

इस पाठ्यक्रम में प्रवेश के लिए जो प्रवेश योग्यताएँ राज्य सरकारों को बतायी गयीं, वे इस प्रकार हैं: (अ) इंजीनियरिंग में प्रमाण-पत्र या उपाधि; (आ) 'हायर रूरल इंस्टीट्यूट' का स्नातक; (इ) विज्ञान, वाणिज्य, अर्थशास्त्र, गणित अथवा सांख्यिकी के विश्वविद्यालयीन स्नातक; और (ई) वस्त्र या फल-संवर्धन का प्रमाण पत्र।

बाद में यह तय हुआ कि इन अधिकारियों को चार माह का समग्र प्रशिक्षण लघु उद्योग सर्विस इंस्टीट्यूट में, और आठ मास का प्रशिक्षण खादी ग्रामोद्योग विद्यालयों में दिया जाय।

सामुदायिक विकास और सहकार मंत्रालय; वाणिज्य और उद्योग मंत्रालय, खादी और ग्रामोद्योग कमीशन तथा अन्य अखिल भारतीय मंडलों के संयुक्त प्रयास से यह पाठ्यक्रम तैयार किया गया यानी यह तय किया गया कि कौन-से विषय लिये जायें। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के खादी-ग्रामोद्योग विद्यालयों के शिक्षकों और लघु उद्योग सर्विस इंस्टीट्यूट के कार्यकर्ताओं की तीन संयुक्त विचार गोष्ठियों में, जिनमें वाणिज्य और उद्योग मंत्रालय, सामुदायिक विकास और सहकार मंत्रालय तथा राज्य सरकारों के अधिकारियों ने भी भाग लिया था, इस पाठ्यक्रम पर पुनर्विचार किया गया।

फिलहाल यह विस्तार अधिकारी (उद्योग) पाठ्यक्रम इन पाँच विद्यालयों में चलता है : नीलोखेड़ी (पंजाब), पटना (बिहार), वर्धा (महाराष्ट्र), हिमायतसागर (हैदराबाद–आन्ध्र प्रदेश) तथा टी. कल्लुपट्टी (मद्रास)। इन विद्यालयों में कुल ४०० प्रशिक्षार्थियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था है।

प्रशिक्षण में सूत-कताई, बुनाई और कमीशन के अन्तर्गत आनेवाले १४ ग्रामोद्योगों को शामिल किया गया है।

इन अधिकारियों को, जो प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं, इन कामों की दृष्टि और पृष्ठभूमि ज्ञात हो सके, इसलिए गाँवों की अवस्थाओं का परिचय, ग्रामोद्योगों का अर्थशास्त्र और दर्शन, रचनात्मक कार्यक्रम, सामुदायिक विकास तथा विस्तार कार्यक्रम, बिक्री-व्यवस्था तथा सहकारिता, ग्रामीण समाजशास्त्र, सामाजिक मनोविज्ञान और सभी अखिल भारतीय मंडलों के कार्यक्रम तथा प्रवृत्तियाँ आदि जैसे बौद्धिक विषयों का भी प्रशिक्षण दिया जाता है।

दो मास का क्षेत्रीय प्रशिक्षण भी इन्हें दिया जाता है। विस्तार अधिकारी (उद्योग) इसके सिलसिले में अपने राज्यों में जाते हैं और इन बातों का अध्ययन करते हैं: (१) औद्योगिक मार्गदर्शी परियोजनाएँ; (२)

सर्वेक्षण; (३) अंबर परिश्रमालय, बिक्री भण्डार और उत्पादन केन्द्र; (४) औद्योगिक सहकारी समितियाँ (५) सघन क्षेत्र योजना; (६) राज्य खादी और ग्रामोद्योग मंडलों का संगठन तथा कार्य; और (७) उद्योग निर्देशालयों का काम व गठन।

ये अध्ययन यात्राएँ राज्य सरकारों की संबंधित एजेंसियों के सहयोग से आयोजित की जाती हैं और उनके लिए बनायी गयी प्रश्नावली और पद्धति के आधार पर यह अध्ययन चलाया जाता है। अब तक २,९०७ विस्तार अधिकारी (उद्योग) प्रशिक्षण पा चुके हैं और ५१० पा रहे हैं।

सहायक संगठकों का प्रशिक्षण

समग्र विकास कार्यक्रम की योजना बनाने, उसे संगठित और कार्यान्वित करने के लिए काफी तादाद में प्रशिक्षित कार्यकर्त्ताओं की जरूरत होती है। सहायक संगठक ग्राम इकाइयों में कार्य का संगठन करनेवाले रहेंगे, जो १०–१० ग्राम इकाइयों का काम देखेंगे। उनके कार्य क्षेत्र में चलनेवाले काम का तथा मानव, साधनों, अर्थ, कला-कौशल, शक्ति-क्षमता, तकनीक आदि के स्रोतों का मूल्यांकन करने की क्षमता उनमें इस प्रशिक्षण से आयेगी और संस्थाओं, जनता तथा संगठनों का सहयोग और सहायता वे प्राप्त कर सकेंगे। फिर अपने मालूमातों के आधार पर वे एक सुसंयोजित योजना बनाएँगे। वे आगे क्षेत्र में चलनेवाले विकास कार्यों में लगे अन्य सभी माध्यमों के प्रयत्नों वाली कार्यों में समन्वय साधने में भी पूरी मदद देंगे।

इस लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए सहायक संगठकों का प्रशिक्षण दो क्षेत्रीय नियोजन संस्थाओं (रीजनल प्लानिंग इंस्टीट्यूट) में चलाया जा रहा है, जो कमीशन द्वारा संचालित है। उनमें से एक सेवाग्राम (वर्धा) में व दूसरा कल्लुपट्टी में है। हाल ही में प्रशिक्षण समिति ने एक निर्णय लिया है, जिसके अनुसार इन संस्थाओं की प्रशिक्षण सम्बन्धी गतिविधियाँ नासिक स्थित त्र्यंबक विद्या मन्दिर में चलायी जा रही है। सर्वेक्षण और आयोजन पर विशेष जोर दिया जाता है। ये इंस्टीट्यूट अपने इर्दगिर्द के क्षेत्र के पूरे सम्पर्क में रहती हैं। प्रशिक्षार्थी इन क्षेत्रों का उपयोग प्रत्यक्ष क्षेत्रीय अध्ययन के लिए करते हैं। इस पाठ्यक्रम की अवधि दस माह की है।

ग्राम सहायकों का प्रशिक्षण

ग्राम इकाई के स्तर पर काम करने की जिम्मेवारी ग्राम सहायकों की है, जिनसे ग्राम इकाई के क्षेत्र की देखरेख करने की अपेक्षा है। वे प्रवर्तक संस्थाओं के पूरे समय काम करनेवाले कार्यकर्त्ता हैं। उन्हें निम्न विषयों का प्रशिक्षण दिया जाता है :

(१) इकाई क्षेत्र के गाँवों का समाजार्थिक सर्वेक्षण करना;

(२) इकाई संगठन की स्वीकृति के लिए वार्षिक योजना तैयार करना;

(३) खादी और ग्रामोद्योगों के लिए कमीशन की योजनाओं का कार्यक्रम इकाई संगठन की स्वीकृति के लिए बनाना;

(४) प्रवर्तक संस्था के निर्णय के अनुसार सहकारी समितियाँ संगठित करने का उपाय करना;

(५) रिकार्ड आदि रखने में सहायता देना।

एक नाविन्यपूर्ण पद्धति का प्रशिक्षण कार्यक्रम इस कार्य के निमित्त आयोजित किया गया है, जो अखिल भारत सर्व सेवा संघ के सीधे निरीक्षण में ग्राम स्वराज विद्यालयों में चलाया जाता है। कुछ महत्व की खादी संस्थाओं की सहायता इन विद्यालयों की स्थापना में संघ ने की है। अखिल भारत सर्व सेवा संघ को यह प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाने के लिए कमीशन से सहायता अनुदान मिलता है।

ग्राम सहायकों के प्रशिक्षण-पाठ्यक्रम की अवधि दो वर्ष की है। इस अवधि के पहले दो माह वे विद्यालय

में बिताते हैं, फिर अपने-अपने ग्राम इकाई क्षेत्रों में काम के लिए चले जाते हैं। जब वे वहाँ काम करते होते हैं, तब विद्यालय के शिक्षक भी समय-समय पर वहाँ जाते हैं और मौके पर ही उनकी दिक्कतें हल करने में उनकी मदद करते हैं। फिर, एक माह के लिए वे विद्यालय में वापस आते हैं। इस एक माह में वे विद्यालय में गहन अध्ययन करते हैं और अपने क्षेत्रीय अनुभवों पर आपस में तथा शिक्षकों के साथ चर्चा करते हैं। फिर, एक माह के पश्चात् क्षेत्र में जाकर विद्यालयीन प्रशिक्षण व चर्चाओं से निष्पन्न उपाय वहाँ की समस्याओं पर वे लागू करते हैं। शिक्षक-गण फिर गाँवों में जाते और उनका मार्गदर्शन करते हैं। इस तरह संस्थागत तथा क्षेत्रगत प्रशिक्षण साथ-साथ चलता रहता है। विद्यालय में कुल मिलाकर छः माह बिताये जाते हैं तथा शेष १८ माह ग्राम इकाई क्षेत्र में।

अभी ऐसे १२ विद्यालय हैं, जो परली (केरल); कोडुवई (तमिलनाड); शिवरामपल्ली (आन्ध्र प्रदेश); दुर्गापुर (राजस्थान); पट्टी कल्याण (पंजाब); सेवापुरी (उत्तर प्रदेश); पूसा रोड और खादीग्राम (बिहार); बलरामपुर (पश्चिम बंगाल); विश्वनीड्म (मैसूर); माचला (मध्य प्रदेश) तथा घंटोली (गुजरात) में चलते हैं। इन विद्यालयों के शिक्षक साधारणतः कमीशन की क्षेत्रीय नियोजन संस्था में प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं।

कमीशन के कर्मचारियों का प्रशिक्षण

कमीशन के केन्द्रीय तथा देश के अन्य स्थानों पर स्थित कार्यालियों में कर्मचारियों की काफी संख्या है। खादी-ग्रामोद्योग कार्यक्रम के तीव्र गति से विस्तार के कारण कर्मचारी रखने पड़े। इनमें से बहुत से लोगों को रचनात्मक कार्यक्रम की जानकारी नहीं थी अथवा उन्हें खादी-ग्रामोद्योग के कार्यक्रम की बौद्धिक चेतना का ज्ञान नहीं था।

अतः कमीशन ने यह उचित समझा कि अपने सब कर्मचारियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था वह करे। दो माह के प्रशिक्षण का कार्यक्रम बनाया गया और ३२ कर्मचारियों का पहला सत्र ४ जुलाई १९६० को खादी-ग्रामोद्योग विद्यालय, नासिक में शुरू हुआ। ये कर्मचारी कमीशन के केन्द्रीय कार्यालय के थे।

खादी ग्रामोद्योगों का अर्थशास्त्र और दर्शन, राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्ष और खादी आंदोलन, रचनात्मक कार्यक्रम का दर्शन आदि पर व्याख्यान इस प्रशिक्षण में शामिल किये गये हैं, ताकि कमीशन के कार्यक्रम का उचित स्वरूप वे ग्रहण कर सकें यानी समझ सकें।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, इस प्रशिक्षण के पीछे विचार यह है कि कर्मचारियों का तद्विषयक ज्ञान बढ़े और वे कुशल कार्यकर्त्ता बनें। कमीशन की सारी प्रवृत्तियों की जानकारी, देश के पुनर्निर्माण में इन गतिविधियों का स्थान तथा इस सम्बन्ध में उनके अपने खुद के स्थान का ज्ञान उन्हें होना ही चाहिए।

इस उद्देश्य के लिए कमीशन की प्रवृत्तियां, उसके नियम-विनियमों, विभिन्न विभागों-अनुभागों के कार्य और हिसाब-किताब एवम् लेखा-परीक्षण की प्रणाली की जानकारी उन्हें दी जाती है।

यह पाठ्यक्रम जब शुरू किया गया, तब केवल कमीशन के बम्बई स्थित कार्यालय के कर्मचारियों के लिए ही था, पर हाल ही में उसका क्षेत्र बढ़ाकर उसमें कमीशन के देश के अन्य भागों में स्थित कार्यालयों और राज्य मंडलों के कर्मचारियों को भी शामिल कर लिया गया है। प्रत्येक सत्र में करीब ५० प्रशिक्षार्थी होते हैं। अब तक नौ सत्रों में ३२६ कर्मचारी प्रशिक्षित किये जा चुके हैं।

यह आशा की गयी है कि इस पाठ्यक्रम से कमीशन और राज्य मंडलों के कर्मचारियों को न सिर्फ अपने काम की जानकारी प्राप्त करने और समझने में सहायता मिलेगी, बल्कि उन्हें यह जानने में भी मदद मिलेगी कि वे यह काम क्यों कर रहे हैं। यह महसूस किया गया कि इस प्रकार की जानकारी मिलने से वे अधिक कुशल और उद्देश्ययुक्त कार्यकर्त्ता बन सकेंगे।

प्रत्यास्मरण और लघु-कालीन पाठ्यक्रम, विचार गोष्ठियाँ आदि कमीशन के प्रशिक्षण कार्यक्रम के अन्य महत्व के अंग हैं।

अन्य पाठ्यक्रम

विद्यालयों के आचार्यों की गोष्ठियाँ समय-समय पर बुलायी जाती हैं, जिनमें सर्व-साधारण समस्याओं पर चर्चाएँ होती हैं। विस्तार अधिकारियों (उद्योग) के लिए खादी-ग्रामोद्योग विद्यालयों तथा लघु उद्योग सर्विस इंस्टीट्यूट्स के कर्मचारियों की संयुक्त विचार-गोष्ठियाँ भी दो वर्ष में एक बार होती है, जिनमें सामुदायिक विकास तथा सहकार मंत्रालय, वाणिज्य और उद्योग मंत्रालय तथा खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के प्रतिनिधि भी भाग लेते हैं। इन गोष्ठियों में विस्तार अधिकारियों (उद्योग) के पाठ्यक्रम (सिलेबस), प्रशिक्षण आदि में सुधार करने सम्बन्धी साधनों और उपायों पर साधारण-तया विचार होता है।

कमीशन की 'रीजनल प्लानिंग इंस्टीट्यूट' के शिक्षक और उत्तर प्रदेश सरकार के 'प्लानिंग, एक्शन एण्ड रिसर्च इंस्टीट्यूट' के शिक्षकों की एक संयुक्त विचार गोष्ठी हाल ही में लखनऊ स्थित प्लानिंग, एक्शन एण्ड रिसर्च इंस्टीट्यूट में हुई थी। प्लानिंग, एक्शन एण्ड रिसर्च इंस्टीट्यूट बहुत अच्छा काम कर रही है और उसके काम का तरीका भी उसी तरह का है, जैसा कि रीजनल प्लानिंग इंस्टीट्यूट से अपेक्षित है। इस गोष्ठी से रीजनल प्लानिंग इंस्टीट्यूट के कार्यकर्त्ताओं को बहुत उपयोगी अनुभव और ज्ञान प्राप्त हुआ है।

प्रयोग चर्चा सभाएँ

ग्राम सहायक विद्यालयों के शिक्षकों की भी एक गोष्ठी जून १९६२ में शिवरामपल्ली (हैदराबाद) में हुई थी, जिसमें ग्राम सहायकों के काम और उनके पाठ्यक्रम के बारे में चर्चा हुई। इस गोष्ठी से ग्राम सहायकों के काम के स्वरूप के बारे में भी कल्पना स्पष्ट हुई और इस दृष्टि से योग्य पाठ्क्रम बनाने के काम से शुरूआत हुई। सोचा गया है कि ऐसी गोष्ठियाँ समय-समय पर हुआ करें।

ये सभाएँ नियमित रूप से खादी ग्रामोद्योग प्रयोग समिति, अहमदाबाद में हुआ करती हैं। इन सभाओं में विभिन्न खादी ग्रामोद्योग विद्यालयों के चुने हुए शिक्षक चर्चा करते हैं। ये चर्चाएँ खादी-सरंजाम, जैसे अंबर चरखा, धुनाई मोढ़िया आदि में हुए नवीनतम सुधारों से संबंधित होती हैं। इन सुधारों के प्रात्यक्षिक की भी व्यवस्था की जाती है।

खादी संस्थाओं के कार्यकर्त्ताओं के लिए लघु कालीन पाठ्यक्रम भी समय-समय पर आयोजित होते हैं।

प्रत्यास्मरण पाठ्यक्रम

अंबर मिस्त्री, बुनाई-शिक्षकों तथा विद्यालयों के शिक्षकों आदि के लिए प्रत्यास्मरण पाठ्यक्रम समय-समय पर आयोजित होते हैं, ताकि वे अपने ज्ञान और कला-कौशल में वृद्धि तथा नवीनतम प्रविधियों की जानकारी प्राप्त कर सकें। इस तरह यह प्रयत्न सतत चलता है कि शिक्षक अधिक अच्छे शिक्षक और कारीगर अधिक अच्छे कारीगर बनें।

ग्रामोद्योगों में प्रशिक्षण

कमीशन के अन्तर्गत सभी ग्रामोद्योगों के लिए विविध प्रकार का अलग-अलग प्रशिक्षण कार्यक्रम चलता है। इसके द्वारा कारीगर, सुपरवाइजर, व्यवस्थापक, संगठक आदि प्रशिक्षित किये जाते हैं। ये पाठ्यक्रम सम्बद्ध उद्योग निर्देशालयों के अन्तर्गत चलते हैं। इन पाठ्यक्रमों की अवधि कुछ उद्योगों में एक माह से ले कर कुछ में १२ माह तक की होती है। कमीशन छात्रवृत्ति, शिक्षा-शुल्क, प्रशिक्षार्थी को घर से विद्यालय और विद्यालय से घर तक का यात्रा व्यय आदि देकर सहायताएँ भी उपलब्ध करता है।

उपर्युक्त प्रशिक्षण कार्यक्रम के अतिरिक्त कमीशन

विक्रय विकास निर्देशालय के अन्तर्गत विक्रेता प्रशिक्षण पाठ्यक्रम भी चलाता है। इसके सत्र नियमित रूप से चलते हैं और देश की खादी संस्थाएँ अपने भंडार-व्यवस्थापकों एवं बिक्री कार्यकर्त्ताओं को प्रशिक्षण कराती हैं।

बुनाई विशारद पाठ्यक्रम

अठारह माह का खादी कार्यकर्त्ता पाठ्यक्रम पूरा कर लेनेवाले कार्यकर्त्ताओं को बुनाई-कला में प्रशिक्षण देन की दृष्टि से १५ माह का पाठ्यक्रम शीघ्र ही शुरू होनेवाला है। बुनकरों को तांत्रिक मामलों में मार्गदर्शन करने के योग्य हो सकें तथा उनके काम की व्यवस्था कर सकें इस दृष्टि से, इन कार्यकर्त्ताओं को बुनाई कला का विशेष प्रशिक्षण दिया जायगा। इस प्रशिक्षण-काल में ये कार्यकर्त्ता खादी बुनाई, मिश्र (जैकार्ड) बुनाई, रंगाई, छपाई इत्यादि में अधिक कुशलता प्राप्त करेंगे और अपनी कला का अधिकाधिक विकास करेंगे। इन लोगों को डिजाइनदार बुनाई के लिए डिजाइन आदि बनाने, बुने हुए कपड़ा की लागत निकालने, बुनाई केन्द्रों आदि का संगठन और व्यवस्था करने आदि बातों का प्रशिक्षण भी दिया जायेगा।

बुनाई कला में अनुसंधान किया जा सके और आगे का उच्च प्रशिक्षण भी दिया जा सके, इस हेतु एक इंस्टीट्यूट हाल ही में सेवाग्राम (वर्धा) में खादी और ग्रामोद्योग मंडल के सदस्य श्री द्वारकानाथ वि. लेले के मार्गदर्शन में स्थापित की गयी है। इस संस्था का नाम रहेगा 'खादी अनुसंधान और प्रशिक्षण इन्स्टीट्यूट'।

२१ फरवरी १९६३

ग्रामीण रेशा उद्योग

संजीवराव कृ० कल्लापुर

रेशा उद्योग एक बहुत प्राचीन उद्योग है। रेशा का अनेक कामों में इस्तेमाल हो सकता है। रेशा-वस्तुओं के उत्पादन कार्य से काफी संख्या में लोगों को काम दिया जा सकता है।

लेखक का सुझाव है कि कारीगरों का काम हल्का करने के लिए शक्ति का इस्तेमाल किया जाय एवम् उन्नत उपकरण अपनाये जायें तथा कच्ची सामग्री के नये-नये स्रोतों का पता लगाया जाय और १५ से २५ व्यक्तियों तक की छोटी-छोटी इकाइयों का संगठन किया जाय, जो सामूहिक कार्य-गृहों में काम करें।

कुटीर रेशा उद्योग बहुत पुराना है—इतना पुराना जितना कि स्वयं मानव जीवन! मानव रेशा उद्योग का कार्य कपड़ा बुनाई उद्योग से भी पहले से कर रहा है, बल्कि यह कहना अधिक सही होगा कि मानव खेती करना तथा भोजन पकाना सीखने से पहले भी रेशा उद्योग का काम करता था। चीजों को बाँधने, मछलियाँ पकड़ने, पालतू जानवरों को बाँधने, कुएँ से पानी खींचने आदि जैसे कार्यों के लिए उसे रस्सियों की आवश्यकता पड़ी। मनुष्य ने इन्हें ऐसी वस्तुओं से तैयार किया, जिनमें आवश्यक मजबूती तथा लम्बाई होती थी। पेड़ों की छालें, कुछ किस्म की लताएँ, खालों की धज्जियाँ आदि कुछ ऐसी ही वस्तुएँ थीं। समय बीतने पर ऐसी चीजों का उपयोग किया गया, जिन्हें बाँटा जा सकता था। उदाहरणार्थ, मूंज, पर्वल आदि। इसके पश्चात् ज्यों-ज्यों समय बीतता गया अन्य चीजें भी उपयोग में आती गयीं।

विशिष्ट स्थान

अनेक स्थानों में रेशा उद्योग अब तक पुरानी अवस्था में चल रहा है। डोरी तथा रस्सियाँ इस उद्योग की मुख्य वस्तुएँ हैं। यह अंदाज लगाना कठिन है कि इस उद्योग में कितने लोग लगे हुए हैं। किंतु कुछ स्थानों में की गयी जाँच से पता लगा है कि प्रति एक हजार व्यक्तियों के पीछे औसतन एक रेशा उद्योग कार्यकर्त्ता की आवश्यकता होती है।

रेशा उद्योग को एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। मशीनों तथा कारखानों के बावजूद इस उद्योग ने देश में बहुत लोगों को रोजी दी है। इसके कारण हैं:

१. इन वस्तुओं की बहुत अधिक स्थानीय माँग रहती है; रस्सियों तथा सुतली की प्रत्येक घर में आवश्यकता होती है, फिर चाहे वह किसी कृषक का घर हो या दस्तकार का।

२. चूंकि इन वस्तुओं का उपयोग मोटे कार्यों के लिए किया जाता है, अतः उपभोक्ता उस वस्तु की खूबसूरती पर न जाकर मजबूती पर ही अधिक ध्यान देता है। वह इस बात का भी विचार नहीं करता कि अमुक वस्तु किस कच्ची सामग्री से तैयार की गयी है।

३. उक्त वस्तुएँ कई प्रकार की कच्ची सामग्री से तैयार की जा सकती हैं। ऐसी करीब ७०० कच्ची सामग्रियों का पता लगाया जा चुका है। इनमें से कोई न कोई कच्ची सामग्री प्रत्येक गाँव में ही पायी जाती है। कुछ की खेती होती है, तो कुछ प्राकृतिक रूप से पैदा होती हैं तथा कुछ किसी अन्य उद्योग के उप-उत्पादन होते हैं। कुछ स्थानों पर यह कच्ची सामग्री बिना किसी खर्च के केवल कुछ श्रम कर एकत्र भर कर ली जाती है।

कच्ची सामग्री

४. इन चीजों की उत्पादन प्रक्रियाएँ निहायत साधारण हैं। अधिक खर्चीले औजारों की भी जरूरत नहीं होती। अनपढ़ से अनपढ़ व्यक्ति भी इन वस्तुओं को बनाना

कुछ ही घंटों में सीख सकता है।

५. उत्पादन का जो अन्तिम मूल्य होता है, उसमें कारीगर के पारिश्रमिक के अनुपात में कच्ची सामग्री की कीमत का काफी हिस्सा होता है। कभी-कभी तो मिल में उत्पादित वस्तु के बाजार से ग्राम तक लाने में जो यातायात खर्च बैठता है कारीगर का पारिश्रमिक उसके भी बराबर नहीं होता। इसलिए जब किसी कच्ची सामग्री के मिल या कारखाना पहुँचाने तक के खर्च और फिर तैयार वस्तु को मिल से बाजार तथा बाजार से गाँव तक ले जाने के खर्च और कर तथा अन्य तमाम खर्चों को जोड़ा जाय तो गाँव में बनी वस्तु उसकी अपेक्षा सस्ती पड़ती है।

६. कच्ची सामग्री भारी होने के कारण उसका बाँधना तथा भेजना कठिन होता है। सभी गाँवों के नजदीक सड़क तथा अन्य परिवहन माध्यम नहीं होते।

बदलती परिस्थितियाँ

गाँवों में कुछ खामियाँ भी पायी जाती हैं, जैसे अधिकांश काम तेज धूप में अथवा सर्दी में करना पड़ता है। उपयुक्त यंत्रों का अभाव है। काम से आमदनी कम होती है। अतएव गाँव के बहुत ही गरीब वर्ग के लोग, जैसे हरिजन तथा खानाबदोश ही इसे करते हैं और चाहे जो भी कठिनाइयाँ हों वे यह कार्य करते रहते हैं। किंतु अब परिस्थिति बदल रही है। इस उद्योग में लगे लोग शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। उनका जीवन-स्तर सुधर रहा है। वे चीजों को समझने लगे हैं तथा आर्थिक मूल्य के प्रति जागरूक हो गये हैं।

लोग ज्यों ही कुछ शिक्षा प्राप्त करते हैं, सरकार उन्हें अधिक आमदनीवाले काम दे रही है। ऐसी अवस्था में क्या वे उसी प्रकार से काम करते रहेंगे, जैसे कि पहले करते थे और क्या अपनी थोड़ी-सी आमदनी से संतोष करके बैठ जायेंगे? गाँवों की हालत भी सुधर रही है। उनका सम्बन्ध सड़कों के साथ जोड़ा जा रहा है। परिवहन आसान और सस्ता हो रहा है। प्रायः प्रत्येक कस्बे तथा बड़े गाँव में बाजार खुलते जा रहे हैं। इस प्रकार कुटीर रेशा उद्योग के सामने एक ऐसी स्थिति उपस्थित हो रही है, जो इसके पूर्व कभी नहीं हुई थी। इन परिस्थितियों तथा आये दिन हो रहे मशीनों में सुधार के कारण हो सकता है कि देहातों से ग्राम रेशा उद्योग के लिए आवश्यक सब की सब कच्ची सामग्री बाहर चली जाय। यदि इन बातों पर गाँवों की ओर से उचित ध्यान नहीं दिया गया, तो एक बहुमूल्य ग्रामोद्योग, जिससे लाखों व्यक्ति जीविका प्राप्त कर रहे हैं, समाप्त हो जायेगा।

इस प्रकार की परिस्थिति का सामना करने का परम्परागत उपाय यह है कि कार्यकर्ताओं को सहकारी समितियों में संगठित किया जाय और उन्हें कच्ची सामग्री एकत्र करने तथा चालू पूंजी के लिए कर्ज दिया जाय। विभिन्न राज्य सरकारें इन तरीकों पर अमल कर रही हैं। किन्तु वे बीमारी का आंशिक और अस्थायी उपचार मात्र ही कर रही हैं। वे उन बातों पर ध्यान नहीं दे रही हैं कि किस प्रकार से मनुष्य के विचारों में रोज परिवर्तन होता चला जा रहा है, विशेष कर तब, जबकि शिक्षा की दृष्टि से उसका विकास हो रहा है।

त्रि-सूत्री कार्यक्रम

कमीशन द्वारा मुझे योजना बनाने का निर्देश दिये जाने पर मैंने निम्न कार्यक्रम सुझाया था :

१. ऐसी मशीनें अथवा उपकरण बनाये या प्रचलित किये जायें, जिनसे उत्पादन बढ़े तथा मेहनत कम पड़े और कारीगर काम की ओर अधिक आकर्षित हों। इस कार्य के लिए यदि बिजली अथवा यांत्रिक शक्ति का उपयोग किया जाय तो कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। जहाँ भी कारीगर इसके लिए राजी थे मैंने इसे बढ़ावा देने की कोशिश की।

२. ऐसी कच्ची सामग्री के नये स्रोतों का उपयोग, तरजीहन ऐसी कच्ची सामग्री का उपयोग किया जाय जो बेकार जाती हो अथवा जो कृषि उद्योग का उप-उत्पादन

हो। यह जरूर ध्यान रखा जाय कि इस प्रकार प्राप्त कच्ची सामग्री परम्परागत रूप से जिस सामग्री का इस्तेमाल किया जाता रहा है उससे सस्ती अवश्य हो।

३. सहकारी आधार पर १५-२५ कार्यकर्त्ताओं की छोटी-छोटी इकाइयाँ संगठित की जायें। ये कार्यकर्त्ता उन्नत उपकरणों की सहायता से सामूहिक कार्यगृहों में काम करें।

कार्य की यह योजना विगत चार वर्षों से चल रही है। रस्सी वनानेवाली जापानी मशीनों का पंजाब में प्रचलन किया गया था। इनसे तीन गुना तक उत्पादन बढ़ा। कार्यकर्त्ता की आमदनी में अब पहले की अपेक्षा दो-तीन गुनी वृद्धि हुई है। इस समय एक कार्यकर्त्ता साढ़े तीन से चार रुपये और किन्हीं-किन्हीं मामलों में तो पाँच रुपये प्रति दिन तक कमाने लगा है। मशीन बैठाने तथा काम करने के लिए एक तरफ दो मीटर और एक ओर एक मीटर नाप की भूमि काफी होती है। इस मशीन से *मूंज* तथा *सवाई* घास से रस्सियाँ बांटी जाती हैं। एक दूसरी मशीन रेशा कातने के लिए बनायी गयी है। इस पर पेड़ों की लचकदार छालें तथा पत्तों के रेशे काते जाते हैं। यह मशीन उत्तर कर्नाटक तथा भूतपूर्व हैदराबाद राज्य के कर्नाटक जिले में प्रचलित है। इस मशीन से भी कार्यकर्त्ता की आमदनी ढ़ाई गुनी तक बढ़ी है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि इस से काम आसान तथा हलका हो गया है। दूसरे औजारों का भी धीरे-धीरे प्रचलन हो रहा है।

उत्साहवर्धक परिणाम

दूसरे कार्यक्रम के अन्तर्गत फल तोड़ चुकने के पश्चात् केले के तनों से रेशा निकाला जाता है। *सवाई* घास से सुतली के लिए रेशे काते जाते हैं। दूसरे प्रकार के रेशे भी धीरे-धीरे उपयोग में आ रहे हैं। इन रेशों की उत्पादन क्रिया एकदम साधारण है तथा सस्ते मूल्य पर रेशे उपलब्ध हो जाते हैं।

इन कार्यक्रमों के अन्तर्गत क्या कार्य हो चुका है तथा उनसे कितना लाभ पहुँचा है, इन सब बातों पर विचार करना अप्रासंगिक होगा। लेकिन संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि परिणाम उत्साहवर्धक रहे हैं।

२० अगस्त १९६२

करीब ८६ प्रति शत परिवारों की आय ३,००० रुपये से कम है, जोकि आय कर से छूट की सीमा है, और उनका कुल आमदनी में हिस्सा लगभग ५० प्रति शत है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि ५० प्रति शत शहरी आय पर कर नहीं लगता और लगभग ८६ प्रति शत परिवारों को आय कर चुकाने की आवश्यकता नहीं।

शिखर के १४ प्रति शत परिवारों की आय ३,००० रुपये या उससे अधिक है तथा शेष ५० प्रति शत आमदनी में उनका हिस्सा है, जबकि बिल्कुल ऊपर के १.६ प्रति शत का करीब १९ प्रति शत आय में हिस्सा है। आय दशमक के आधार पर विश्लेषण करने पर शिखर के आय वर्गों में आय संकेन्द्रण स्पष्ट दीख पड़ता है। उदाहरणार्थ, ऐसा पाया जाता है कि शिखर के पांच प्रति शत व्यक्तियों की आय ३१ प्रति शत है, जबकि निचले वर्ग के ६० प्रति शत की आमदनी भी उतनी नहीं है।

—*अरबन इनकम एण्ड सेविंग* : नेशनल कॉउन्सिल ऑफ् अप्लाइड इकनॉमिक रिसर्च, नयी दिल्ली।

ग्रामीण औद्योगीकरण

युवेश चन्द्र शर्मा

हमारी ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में जो प्रवृत्तियां दृष्टिगोचर हो रही हैं, वे निरुत्साहक हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में औसत **प्रति व्यक्ति** आय अखिल भारत औसत की, जो कि खुद ही बहुत कम है, तीन-चौथाई है। ग्रामीण मजदूरवर्ग में बड़ी तेजी से वृद्धि हो रही है। इस तरह की अवस्था में सुधार लाने के लिए विकेन्द्रित उद्योगों की स्थापना से गाँवों का संतुलित विकास सुनिश्चित होगा और विशुद्ध कृषि समाज कृषि-औद्योगिक समाज में बदल जायेगा।

अप्रैल १९६१ में चेब्रोलू (आन्ध्र प्रदेश) में सम्पन्न हुए अखिल भारत सर्वोदय सम्मेलन में श्री जयप्रकाश नारायण ने ग्रामीण औद्योगीकरण आयोग की स्थापना का जो सुझाव दिया, उसने अर्थशास्त्रियों, सामाजिक कार्यकर्ताओं तथा ग्रामीण पुनर्निर्माण कार्य में लगी सरकारी तथा गैर-सरकारी संस्थाओं में गहरी दिलचस्पी पैदा की और उन्होंने इस विचार का पूर्णरूपेण समर्थन किया। इसका उद्देश्य एक विधियुक्त तथा गतिशील कार्यविधि अपनाना और साथ ही एक ऐसा व्यापक कार्यक्रम बनाना है, जिसका क्षेत्र काफी विस्तृत हो। इसने राष्ट्र का ध्यान भी इस तरफ आकर्षित किया कि ग्रामीण क्षेत्रों में विकेन्द्रित आधार पर अधिकाधिक उद्योग आरम्भ करने की प्रक्रिया को तीव्र करने की अत्यधिक आवश्यकता है।

अत्यावश्यकता

भारतीय अर्थव्यवस्था के मामूली अध्ययन से भी प्रत्येक व्यक्ति को इस बात का विश्वास हो जायेगा कि ग्रामीण क्षेत्रों में औद्योगीकरण की तत्काल आवश्यकता है। वास्तव में ग्रामीण औद्योगीकरण कम से कम ६० वर्ष पहले ही, बड़े सोच-विचार के साथ प्रारम्भ किया जाना चाहिए था, क्योंकि हमारी अर्थव्यवस्था की बुनियादी प्रवृत्तियाँ, जो कि आज हमें बहुत ही विक्षुब्ध बना देनेवाली दिखाई देती हैं, वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ में ही सुस्पष्ट थीं। परन्तु दुर्भाग्यवश 'उस समय हम पर विदेशी शासन था, जो कि भारत के समुचित और संतुलित विकास में बिल्कुल दिलचस्पी नहीं रखता था।

रोजगारी की स्थिति

सन् १८८० में फैमिन कमीशन (अकाल आयोग) ने इस बात का पता लगाया था कि खेती के काम में लगे लोगों की संख्या कृषि के लिए आवश्यकता से बहुत अधिक है। इसके पचास वर्ष बाद श्रमिकों के लिए नियुक्त रॉयल कमीशन ने भी इसी बात पर जोर दिया था। उक्त कमीशन ने यह मत व्यक्त किया कि कृषि कार्य में भारतीय जनता उस अनुपात से ज्यादा तादाद में लगी हुई है, जिसे खेती-बाड़ी के काम से आसानीपूर्वक सहायता मिल सकती है यानी उसमें जितने व्यक्ति आसानी से खपाये जा सकते हैं उससे अधिक लगे हुए हैं। दुर्भाग्य-वश जन-संख्या में तीव्र वृद्धि के कारण, जिसका ८२ प्रति शत गाँवों में रहता है, यह प्रति शतक सुदृढ़ रूप से बढ़ता जा रहा है। सन् १९०१ में कुल कार्यकारी शक्ति का ६२.५ प्रति शत कृषि कार्य कर रहा था, जबकि १९५१ में यह अनुपात बढ़कर कुल आबादी का ७० प्रति शत हो गया। यदि हम केवल ग्रामीण जनता पर ही विचार करते हैं तो यह प्रति शतक बढ़कर ८७ तक पहुँच जाता है। गत ५० वर्षों के दरमियान भारत की कार्यकारी शक्ति में जो २ करोड़ ६० लाख लोगों की वृद्धि हुई है वह पूर्णरूप से कृषि क्षेत्र में ही हुई है; क्योंकि शहरी

क्षेत्रों में रोजगारी की जो वृद्धि हुई उसके विपरीत ग्रामीण क्षेत्रों में व्यवहारतः उतनी ही रोजगारी की कमी हो गयी है।

कृषि पर निर्भरता

इससे बुरी बात और क्या होगी कि कृषि में रोजगारी देने के अवसरों में वृद्धि की गति जन-संख्या में वृद्धि की गति की तुलना में बहुत ही कम है। उदाहरणस्वरूप १९२१-५१ के बीच जन-संख्या में लगभग ४१ प्रति शत वृद्धि हुई, जबकि कृषि-भूमि केवल सात प्रति शत, सिंचित भूमि ११ प्रति शत तथा दोहरी फसलवाले क्षेत्रों में १५ प्रति शत की ही वृद्धि हुई। परिणाम यह है कि गाँवों में गरीब मेहनतकस यानी सर्वहारा वर्ग की संख्या निरन्तर बढ़ रही है तथा साथ ही साथ कृषक परिवारों में बेकार तथा अर्ध-बेकार आश्रितों की संख्या भी। हाल ही में यह अनुमान लगाया गया है कि यदि खेती करनेवाले परिवारों और पारिवारिक भूमि इकाइयों की संख्या एक समान ही हो तथा औसतन आकार के परिवार को खेती में पूरे समय का रोजगार दिया जा सके, तो वर्तमान स्तर पर जितना कृषि उत्पादन है उतना उत्पादन खेती के काम में जितने व्यक्ति फिलहाल लगे हैं उनके ६५ से ७५ प्रति शत लोग भी कर सकते हैं। तात्पर्य यह है कि कृषि में मौजूदा श्रम-शक्ति का एक चौथाई से एक-तिहाई तक हिस्सा (करीब ९ करोड़ ८० लाख—१९५१ में) सामान्यतः ज्यादा है। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (नवाँ दौर) के अनुसार दो करोड़ व्यक्तियों के पास प्रति दिन एक घण्टे से कम का काम है और चार करोड़ पचास लाख को रोजाना चार घण्टे या उससे कम समय तक का ही लाभदायक काम उपलब्ध है। महीने में ३ करोड़ व्यक्तियों को ५ दिन से कम, ३ करोड़ ९० लाख को १० दिन से कम और करीब ५ करोड़ ३० लाख को १५ दिन से कम का लाभदायक काम मिल पाता है। द्वितीय कृषि श्रमिक जाँच समिति के अनुसार बेकारी भी बढ़ रही है। कृषि श्रमिकों के सम्बन्ध में १९५१ में २०० दिन पारिश्रमिक पर मजदूरी के, ७५ दिन स्वतंत्र धंधे के और ९० दिन बेकारी के थे। इनकी तुलनात्मक संख्या १९५६ में क्रमशः १९७ दिन, ४० दिन और १२८ दिन थे। उपर्युक्त विचार-विमर्श से पूर्ण तथा अर्द्ध-बेकारी की तीव्र गति से बिगड़ती हुई स्थिति बिल्कुल साफ हो जाती है।

घटती हुई आय

भूमि पर बढ़ते जा रहे दबाव के परिणाम निकले हैं: खेतों का अलाभकारी, छोटे-छोटे और टुकड़े-टुकड़े हो जाना; कृषि में उन्नत वैज्ञानिक तौर-तरीके अपनाने की गुंजाइश में कमी; प्रति एकड़ कम उपज; प्रति व्यक्ति न्यून उत्पादकता; और मानवीय स्रोतों की बर्बादी। सन् १९५१ में खेती के काम में लगे प्रति व्यक्ति का उत्पादन ५०० रुपये का ही था जबकि कारखानों में इसका अनुपात १,७०० रुपये और अखिल भारतीय औसत ६७० रुपये था। परिणामस्वरूप कृषि में लगी ७० प्रति शत जन-संख्या कुल राष्ट्रीय आय का करीब ४८ प्रति शत ही उपार्जन करती है; और ग्रामीण क्षेत्रों में, खासकर खेतिहरों की, **प्रति व्यक्ति** आमदनी ३१० रुपये की न्यून अखिल भारतीय औसत **प्रति व्यक्ति** आय (१९५९-६०) की केवल तीन-चौथाई ही है। द्वितीय कृषि श्रमिक जाँच के अनुसार खेतिहर मजदूरों की प्रति व्यक्ति आय १९५५-५६ में केवल ९९.४ रुपये ही (१९५०-५१ में १०४ रुपये) थी; १५ प्रति शत आबादी की तो प्रति दिन २५ नये पैसे से भी कम आमदनी थी। इससे भी बुरी बात तो यह है कि आज के इस आयोजित अर्थ-व्यवस्था के युग में भी ग्रामीणों की औसत में वृद्धि अनुपात से बहुत कम है। कुछ प्रदेशों में तो, उदाहरणार्थ उत्तर प्रदेश में ग्रामीणों की **प्रति व्यक्ति** आय कम हुई है। द्वितीय कृषि श्रमिक जाँच समिति के मालूमातों से भी घटती हुई आमदनी के तथ्य की पुष्टि हुई है।

इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि यदि कृषि को केवल गुजर-बसर मात्र करा देनेवाली स्थिति से ऊपर उठना है, यदि ग्रामीण अर्थव्यवस्था को अपनी गतिहीनता की अवस्था से उठकर गतिशील बनना हो,

और यदि बहु-जन ग्रामीणों को दैन्य, दारिद्रय तथा अभाव की स्थिति को नमस्कार कर अपने जीवन स्तर को काफी हद तक ऊँचा उठाना है, तो विकेन्द्रित आधार पर गैर-खतिहर धंधों का विकास कर ग्रामीण अर्थव्यवस्था को बहुमुखी बनाना पड़ेगा, जो न केवल पूर्ण और अर्ध-बेकारों को रोजगारी के अवसर ही मुहैया कर सकेगी तथा इस प्रकार बेकार पड़ी जन-शक्ति को धनोपार्जन में लगा सकेगी बल्कि खेतिहरों को अपनी तुच्छ आय में कुछ पूरक आय करने के साधन भी प्रस्तुत करेगी। कोई भी देश तब तक अपना जीवन-स्तर ऊँचा उठाने की आकांक्षा नहीं कर सकता जब तक कि वह अपनी जन-शक्ति का उत्पादक कामों में परिपूर्ण तथा उपयुक्त रूप से उपयोग न कर ले, और अपने सभी नागरिकों को लाभदायक रोजगारी के अवसर न प्रदान कर दे, तथा इस प्रकार उन्हें राष्ट्रीय सम्पत्ति में योगदान देनेवाला न बना दे। इस उद्देश्य-प्राप्ति के लिए भारत को बहुत ही तीव्र गति से कृषि के अतिरिक्त दूसरे उद्योगों का विकास करना पड़ेगा और उनके जरिये न केवल वर्तमान बेरोजगारों तथा भावी जन-संख्या वृद्धि को काम देना है, बल्कि उन लोगों के लिए भी व्यवस्था करनी पड़ेगी जो खेती के क्षेत्र में फालतू यानी ज्यादा हैं।

गैर-खेतिहर धंधे

आशा की जाती है कि आयोजित विकास के जरिये १९७०-७१ तक खेती पर निर्भर करनेवाली जन-संख्या के प्रातिशत्य को १९६०-६१ के ७० से कम करके ६० किया जा सकेगा। यह स्वीकार करते हुए भी कि यह सब सम्भव हो जायेगा, भारत में जनता की भूमि पर निर्भरता में कोई विशेष कमी नहीं होगी। विकसित देशों के अनुभवों को ध्यान में रखते हुए, भारत को अपनी **प्रति व्यक्ति** आय काफी बढ़ाने के लिए आबादी के काफी बड़े हिस्से को गैर-खेतिहर क्षेत्र पर आश्रित करना पड़ेगा, जो कि राष्ट्रीय आय में कृषि से अधिक योगदान देने में समर्थ है।

कुछ लोग सुझाते हैं कि गैर-खेतिहर क्षेत्र पाश्चात्य देशों की पद्धति पर दीर्घ-स्तरीय केन्द्रीय उद्योगों की स्थापना करके ही विकसित किया जा सकता है। लेकिन भारत में इस प्रकार के उपागम से वांछित फल प्राप्त नहीं भी हो सकते हैं। भारत में पिछले १०'५ वर्षों में दीर्घ-स्तरीय उद्योगों में करोड़ों रुपये विनियोजित करने के बाद भी वे करीब ३५ लाख व्यक्तियों को ही रोजगारी दे सके हैं। पिछले दस वर्ष में भी, जबकि औद्योगीकरण की गति काफी तीव्र रही है, बड़े उद्योग केवल सात लाख अतिरिक्त लोगों को ही काम दे पाये हैं। इस बात की किसी भी दृष्टि से कल्पना नहीं की जा सकती कि बड़े उद्योग निकट भविष्य में डेढ़-दो करोड़ बेरोजगारों को काम दे सकेंगे, तीन-चार करोड़ अर्द्ध-बेकारों को पूर्ण रोजगारी देने की तो बात ही छोड़ दीजिये। और फिर, जनता की न्यून बचत क्षमता तथा परिणामस्वरूप पूंजी निर्माण की खास करके ग्रामीण क्षेत्रों में कम गति (१९६०-६१ में राष्ट्रीय आय का ९.७ प्रति शत) को देखते हुए तथा साथ ही बड़े उद्योगों की भारी पूंजीगत लागत, कठिन विदेशी विनिमय की स्थिति, मशीनों की सप्लाई, प्राविधिक ज्ञान और यहाँ तक कि कच्ची सामग्री के मामलों में भी विदेशों पर निर्भरता को ध्यान में रखते हुए देश जिन आर्थिक समस्याओं का सामना कर रहा है उनका समाधान प्रस्तुत करने में बड़े उद्योग असमर्थ ही प्रतीत होते हैं।

असमानताओं में वृद्धि

बड़े उद्योगों में अनुपातिक भारी विनियोजन का निश्चित परिणाम, जैसा कि अन्य अनेक देशों में देखा जा चुका है, यह निकलनेवाला है कि विकास असंतुलित होगा और वह स्वयम् अपनी पेचीदगियाँ पैदा कर देगा। विकेन्द्रित विभाग द्वारा प्रदत्त एक ठोस और विस्तृत आधार के अभाव में इस प्रकार का भारी भरकम ढाँचा गिर जानेवाला है। यह बात बड़े लाभदायक रूप से ध्यान में रखी जा सकती है कि जब तक चिर-वृद्धिशील

क्रय-शक्ति विभिन्न क्षेत्रों में लाभदायक रोजी की व्यवस्था कर विस्तृत रूप से विस्फुरित नहीं की जाती तब तक बड़े उद्योगों के विकास से और भी आर्थिक असमानताएँ पैदा होनेवाली हैं तथा उनके बुरे सामाजिक एवम् राजनैतिक प्रभाव पड़नेवाले हैं। हमारी अर्थ-व्यवस्था में यह अवांछित प्रवृत्ति पहले से ही मौजूद है।

दलित-कल्याण

इसके विपरीत, कम से कम सैद्धान्तिक तौर पर, इसकी विरोधी एक दूसरी विचारधारा और भी पायी जाती है। इस बात को अधिकाधिक रूप से महसूस किया जा रहा है कि हमारा आयोजन अन्ततोगत्वा इस बात में समर्थ होना चाहिए कि समाज के सबसे निचले तबके के लोगों की हालत सुधरे। हाल ही में देश के प्रमुख अर्थ-शास्त्रियों, सामाजिक कार्यकर्त्ताओं और सरकारी अधिकारियों की पूना तथा दिल्ली में जो दो विचार-गोष्ठियाँ हुईं, उनमें भी देश का ध्यान इस बात की ओर विशिष्ठ रूप से खींचा गया कि एक समुचित अवधि के अन्दर हमारे संविधान के अनुकूल सभी योग्य शरीरवाले व्यक्तियों को काम देते हुए भारत के सभी नागरिकों को न्यूनतम जीवन स्तर प्रादान करने के सिद्धान्त को ठोस रूप में परिणत करने की तत्काल आवश्यकता है। सरकारी स्तर पर भी इस समस्या के प्रति जागरूकता पायी जाती है और भारत सरकार द्वारा नियुक्त ग्रामीण समुदाय के कमजोर वर्गों के कल्याण सम्बन्धी अध्ययन दल तथा अनुसूचित क्षेत्र और परिगणित जन-जाति आयोग के प्रतिवेदन हमारे सामने हैं।

अब यह सामान्यतः स्वीकार किया जा चुका है कि साधारणतः भारत की समग्र अर्थ-व्यवस्था और विशेषकर ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में पायी जानेवाली सभी बीमारियों की रामबाण औषधि है गाँवों का संतुलित एवम् व्यापक विकास सुनिश्चित करने हेतु ग्रामोद्योगों का तीव्र और विस्तृत विकास, तथा इस प्रकार विशुद्ध खेतिहर समुदायों को कृषि-औद्योगिक समुदायों में परिवर्तित करना। चिर वृद्धिशील बेरोजगारी और गाँवों के गरीब समुदायों तक पहुँचने में योजनाओं की असफलता की दृष्टि से ऐसा लगता है कि योजना आयोग ने भी द्रुत गति से औद्योगीकरण करने की आवश्यकता स्वीकार कर ली है और परिणामस्वरूप तृतीय पंच वर्षीय योजना के दरमियान बेरोजगारी की स्थिति को और बढ़ने देने से रोकने की आवश्यकता तथा इस उद्देश्य की प्राप्ति में ग्राम और लघु स्तरीय उद्योगों की भूमिका पर जोर दिया है। योजना आयोग द्वारा आगामी चार वर्षों में ४० चुने हुए परियोजना क्षेत्रों में ग्रामोद्योगों का विकास करने में मार्गदर्शन देने के लिए ग्रामीण उद्योग योजना समिति तथा अपनी स्थायी समिति की स्थापना इस बात का और प्रमाण है कि ग्रामोद्योगों का तीव्र गति से विकास करने के लिए योजना आयोग कितने गंभीर रूप से उत्सुक है।

१४ सितम्बर १९६२

एक सरकारी और गैर-सरकारी कर्मचारी के बीच प्रथम का आय दर्जा द्वितीय से काफी ऊँचा है; जिस परिवार का मुखिया सरकारी कर्मचारी है उसकी प्रति परिवार औसत उपभोग्य आय २,०८३ रुपये है, जबकि उस घर की औसत उपभोग्य आमदनी १,५९० रुपये है, जिसका प्रधान गैर-सरकारी कर्मचचारी है। इसके अतिरिक्त यह भी कि मकान किराया, दवा-दारू की सुविधा तथा बच्चों की शिक्षा के रूप में एक सरकारी कर्मचारी को आम तौर पर अधिक भत्ता मिलता है। जिन परिवारों के प्रधान सेवानिवृत्त व्यक्ति हैं उनके स्पष्ट रूपेण उच्च आय दर्जे का कारण है औसतन रूप से ऐसे घरों में कमाऊ व्यक्तियों का ज्यादा होना।

—*अरबन इनकम एण्ड सेविंग*: नेशनल कॉउन्सिल ऑफ् अप्लाइड इकनॉमिक रिसर्च, नयी दिल्ली।

राष्ट्रीय संकटकाल में हाथ धान कुटाई उद्योग

त्र्यम्बकलाल भ. भट्ट

राष्ट्रीय संकटकाल में किफायतसारी हमारा प्रत्यय वचन होना चाहिये । अनाजों तथा दालों का हाथ से प्रशोधन करने पर साधन-स्रोतों को सुरक्षित बनाये रखने में मदद मिल सकती है; क्योंकि मिलों में ऐसे उपकरणों की उपलब्धि है, जिनसे वे काफी अधिक पालिश कर सकती हैं, जब कि इसके विपरीत हाथ धान कुटाई के क्षेत्र में पालिश करने की एक सहज सीमा है । चावल कुटाई उद्योग (नियंत्रण) अधिनियम के उपबन्धों के मुताबिक पालिश करने की सीमा को अमल में लाने से चावल के उत्पादन में जो वृद्धि होगी , उससे विदेशों से चावल नहीं मंगाना पड़ेगा और काफी विदेशी मुद्रा बचेगी । गत महायुद्ध के जमाने में चावल मिलों को पालिशदार चावल तैयार करने से रोक दिया गया था । क्या वैसा कदम अब नहीं उठाया जा सकता ?

राष्ट्रीय संकटकाल में प्रतिरक्षा रसद तथा शस्त्रों के ज्यादा उत्पादन और देश के एक कोने से दूसरे कोने तक सामान पहुँचाने के लिए यातायात में भी अधिकाधिक ऊर्जा का उसके विभिन्न रूपों–कोयला, तेल, बिजली आदि– में इस्तेमाल करने की जरूरत है। जहाँ ऊर्जा की पूर्ति करने के लिए निश्चित प्रयास किये जा रहे हैं, वहाँ यह भी आवश्यक है कि ऊर्जा का उपयोग उसके सभी रूपों में उत्पादन और सप्लाई के क्षेत्रों में सीमित रखा जाय। हाथ धान कुटाई जैसे ग्रामोद्योग यदि जोर-शोर से चलाये जायें तो ऊर्जा का उपयोग बिना बढ़ाये अथवा बहुत ही कम बढ़ाकर न केवल सामानों का उत्पादन ही बढ़ाया जा सकेगा, बल्कि एक ऐसे संकटकाल में अनुपम सहायता भी होगी, जबकि कुछ ऐसे कारणों के वश शक्ति की सप्लाई बन्द अथवा कम की जा रही है। अतएव अनाज तथा दालों का प्रशोधन कार्यक्रम कार्यान्वित करनेवाले माध्यमों को चाहिए कि वे जो केन्द्र बन्द अथवा मन्द पड़े हैं,उन्हें सक्रिय बनाने और चालू केन्द्रों को दुगुना उत्पादन करने के लिए प्रेरित करने की दिशा में अपने प्रयास दिन-दूने रात-चौगुने कर दें। सरकारों को चाहिए कि वे बिना किसी अपवाद के अपनी सभी आवश्यकताओं के लिए, यहाँ तक कि यथासम्भव फौज के लिए भी, हाथ कुटा चावल ही खरीदें।

खेती की जानेवाली भूमि का क्षेत्रफल और प्रति एकड़ उपज बढ़ाये बिना देश में उपलब्ध चावल की मात्रा बढ़ाने के लिए चावल कुटाई उद्योग (नियंत्रण) अधिनियम अमल में लानेवाली राज्य सरकारों को यह सलाह दी जा सकती है कि वे चावल पर पालिश करने सम्बन्धी नियम को लागू करने की दिशा में तत्काल कदम उठायें, जिसमें कहा गया है कि मिलों को चाहिए कि वे चावल पर तीन प्रति शत से कम और पांच प्रति शत से ज्यादा पालिश न करें। चावल कुटाई उद्योग (नियंत्रण) अधिनियम के अन्तर्गत रोक होते हुए भी मिलें १० से १५ प्रति शत तक पालिश करती हैं। हाथ धान कुटाई उद्योग में पालिश करना अपने आप ही पांच से सात प्रति शत तक सीमित है। यदि ज्यादा पालिश की जाती है तो टूट-फूट बहुत ज्यादा होगी और जिससे धान हाथ कुटाई की प्रक्रिया में ज्यादा पालिश करना अलाभकारी होगा।

सम्भाव्य बचत

चावल मिलों में ऐसे उपकरण हैं जिनसे चावल में बिना किसी टूट-फूट के खतरे के २० प्रति शत तक पालिश की जा सकती है। यदि हलरों और मिलों के क्षेत्र में जितने चावल की कुटाई होती है उस पर पांच प्रति शत पालिश की अधिकतम सीमा लागू कर दी जाय, तो उससे करीब ८४ करोड़ रुपये मूल्य के लगभग १२ लाख टन चावल की ज्यादा प्राप्ति होगी। इस अतिरिक्त प्राप्ति

से समग्र रूप से चावल की जो कमी है, वह कम होगी तथा चावल का आयात करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। और फिर, इससे करीब ६० करोड़ रुपये के बराबर विदेशी विनिमय बच सकेगा।

एक दूसरे जिस महत्वपूर्ण पहलू पर यहाँ विचार करना है वह है पिछले चन्द वर्षों में देश में चावल मिलों का विस्तार और उसका प्रभाव। आधुनिक सुविधा के रूप में सभी गांव प्रकाश के लिए बिजली प्राप्त करना चाहते हैं, लेकिन सप्लाई करनेवाली कम्पनियाँ चाहती हैं दिन में भी काफी अच्छे 'बिजली के दबाव' की जरूरत रहे, खास करके उन क्षेत्रों में जहाँ प्राकृतिक सिंचाई-साधन होने की वजह से पम्पों के लिए बिजली की आवश्यकता नहीं पड़ती। ऐसी अवस्था में तुरन्त चावल मिल स्थापित करने की बात सोची जाती है। संकटकालीन स्थिति की आवश्यकताओं के साथ इसका शायद ही ताल-मेल बैठे यानी ऐसा करना शायद ही ठीक हो।

हलरों का अभिशाप

आज शक्ति चालित हलर गांवों में पहुँच गये हैं। उन्होंने स्वावलम्बन के सिद्धान्त की जड़ें काट दी हैं और जिन १० लाख ग्रामीण कामगारों को काम मिलता था, वह छीन लिया है। हलर हाथ धान कुटाई उद्योग के लिए अभिशाप है; क्योंकि वे प्रत्यक्षतः ग्रामीण कामगारों से धान छीन लेते हैं जो अन्यथा हाथ से धान की कुटाई करने का काम प्राप्त कर सकते हैं। चूंकि धान में एक-तिहाई से एक-चौथाई हिस्से का वजन भूसे का होता है इसलिए सामान्यतः वह २००-३०० मील तक की दूरी पर नहीं ले जाया जाता। बड़ी चावल मिलें इनी-गिनी और दूर-दूर पर स्थित हैं, इसलिए उनसे इतना खतरा नहीं है, जितना कि हलरों से। इसके अलावा हलरों में कोई कुटाई (शेलिंग) व्यवस्था नहीं होती और छिलका उतारनेवाली प्लेटों (हलिंग ब्लेड) के कारण २० से ३० प्रति शत तक टूट-फूट होती है। इससे बिना टूटे चावल की प्राप्ति कम होती है। हलरों से चावल का उत्पादन करीब एक करोड़ टन का माना जाता है। अतएव यदि हम २० प्रति शत भी टूट-फूट मानें, तो भी २० लाख टन चावल का बाजार भाव केवल ५० प्रति शत ही होगा यानी टूटे चावलों से पूरे चावलों की १ अरब ४० करोड़ रुपये कीमत के स्थान पर ७० करोड़ रुपये ही प्राप्त होंगे! यदि यह समग्र चावल हाथ से कूटा जाय तो टूट-फूट १० प्रति शत से ज्यादा नहीं होगी और टूटे हुए चावलों की मात्रा केवल १० लाख टन –३५ करोड़ रुपये की–होगी। पूरा चावल करीब १० प्रति शत यानी १० लाख टन बढ़ जायेगा, जिसका मूल्य होगा ७० करोड़ रुपये!!

लोक स्वास्थ्य की रक्षा

बहुत ज्यादा पालिश किये हुए चावल के इस्तेमाल से पूर्वी और दक्षिण भारत के लोगों के स्वास्थ्य पर–विटामिन 'बी' की कमी से पैदा होनेवाली बीमारियों के कारण–बुरा असर पड़ता है, जिनका मुख्य भोजन चावल है। समूचे भारत के लिए चावल का औसत वार्षिक उपभोग १८० पौण्ड प्रति व्यक्ति है। गांवों के लोग बहुत गरीब हैं और वे अन्य कोई पौष्टिक चीज का प्रयोग नहीं कर सकते। इसलिए उन्हें अधिकाधिक अस्पतालों और डाक्टरों की सेवाओं की जरूरत पड़ती है। संकटकालीन स्थिति से पूर्व भी गांवों की अनेक डिस्पेंसरियों में डाक्टर नहीं थे। संकटकालीन स्थिति की घोषणा के कारण अनेक डाक्टरों को सैनिक सेवा के लिए बुला लिया गया है। अतएव डाक्टरों की कमी बढ़ती जा रही है। डाक्टरों की कमी और दवा-दारू तथा अस्पतालों की सुविधाएँ दूसरे अधिक आवश्यक क्षेत्रों की ओर प्रदान करने की बढ़ती हुई जरूरत की स्थिति का मुकाबला करते हुए लोक स्वास्थ्य की रक्षा भी न केवल खाने-पीने की चीजों में मिलावट को रोकते हुए, बल्कि बर्बादीपूर्ण प्रशोधन तथा भोजन पकाने के तरीकों से खाद्य पदार्थ को उसके प्राकृतिक पौष्टिक तत्वों से वंचित न होने देकर भी करनी ही चाहिए।

युद्धकालीन अनुभव

अमेरिका में लोग बहुत कम चावल खाते हैं–प्रति

व्यक्ति तीन-चार पौण्ड वार्षिक। उनकी आर्थिक अवस्था अच्छी होने की वजह से वे चमकदार, उज्ज्वल चावल में की पौष्टिकता की कमी को—वैसे वे विटामिन मिलाकर इस चावल को भी पौष्टिक बना लेते हैं—दूध, मांस, फल आदि खाकर दूर कर लेते हैं। भारत सरकार को इस पौष्टिकता की कमीवाले पहलू पर गम्भीरता के साथ विचार करना चाहिए तथा बहुत ज्यादा पालिश किये जानेवाले चावल के उत्पादन और उपभोग पर प्रतिबन्ध लगा देना चाहिए। फिलीपाइन और अन्य पूर्वी देशों में अत्यधिक पालिशवाले चावल पर प्रतिबन्ध लगा हुआ है। गत महायुद्ध के दरमियान तत्कालीन सरकार ने चावल का कण्ट्रोल किया था। अधिक मात्रा में चावल प्राप्त करने के लिए चावल मिलों को पालिशदार चावल पैदा करने से रोक दिया गया था। वे केवल बिना पालिश किया हुआ चावल ही उत्पादित करती थीं। धान का उत्पादन यद्यपि प्रति वर्ष करीब दो प्रतिशत बढ़ रहा है, लेकिन वह जन-संख्या-वृद्धि की गति से पीछे रह जायेगा और इसलिए चावल की सदैव ही कमी रहेगी। अत : यह प्रश्न उठता है कि क्यों न अब राष्ट्रीय संकटकालीन स्थिति की अवस्था में महायुद्धकालीन उपायों को पुनः काम में लाया जाय ?

१९ फरवरी १९६१

तीसरी योजना में कागज उद्योग

रोशनलाल चोरडिया

कागज सांस्कृतिक प्रगति का प्रतिबिंब है। तृतीय पंच वर्षीय योजना के अन्त तक कागज की मांग ७,००,००० टन होने की अपेक्षा है जबकि वर्तमान उत्पादन ४,१०,००० टन है। हाथ कागज अपनी मजबूती और टिकाऊपन के लिए प्रसिद्ध है तथा कुछ कामों के लिए तो इसका उपयोग अपरिहार्य है। चन्द प्रकार के कागज की मांग पूरी करने में इसे मददगार होना चाहिए।

कागज किसी देश की औद्योगिक प्रगति और समृद्धि का प्रतिबिम्ब है। कागज एक बुनियादी आवश्यकता और परमावश्यक सामग्री है। भारत में सभी छोटी-बड़ी इकाइयों का कुल कागज-उत्पादन फिलहाल ४,१०,००० टन है, और ऐसी अपेक्षा है कि तीसरी पंच वर्षीय योजना के अन्त तक कागज की मांग करीब ७,००,००० टन हो जायगी। इस दृष्टि से वर्तमान कागज मिलों तथा अन्य इकाइयों की क्षमता में काफी विस्तार यानी वृद्धि की जायेगी। ऐसी भी आशा है कि योजनाकाल में छोटी तथा बड़ी, नयी इकाइयाँ खुलेंगी। चूंकि कागज की मांग बढ़ने ही वाली है, इसलिए किसी भी प्रकार के उत्पादन के पैमाने की कोई कठिनाई नहीं है, बशर्ते उसका गुण-स्तर उपयुक्त रूप से अच्छा हो।

प्रतिस्पर्धा

तृतीय पंच वर्षीय योजनावधि में प्रति दिन २.५ और १० टन कागज तैयार करनेवाली कुछ लघु स्तरीय कागज उत्पादन इकाइयों को अनुमति-पत्र दिये गये हैं। ये इकाइयाँ मुख्यतः ऊंची जात का कागज तथा कुछ दूसरी प्रकार के कागज भी तैयार करेंगी। चूंकि हमारे उत्पादन केन्द्र केवल एक या आधे हण्डरवेट कागज का ही प्रति दिन उत्पादन करते हैं; इसलिए तीसरी योजना के दरमियान इस प्रकार की इकाइयाँ स्थापित होने की वजह से हाथ कागज उद्योग को अपने विस्तार के लिए काफी कठिनाई का सामना करना पड़ेगा। हाथ कागज उत्पादन केन्द्रों को इस लायक बनाने के लिए कि वे इनकी प्रतिस्पर्धा में टिक सकें अन्वेषण कार्य इस दिशा में मोड़ना पड़ेगा कि ऐसे तरीके ईजाद किये जायें कि उनसे अच्छे गुण-स्तर के कागज-उत्पादन में स्थानीय कच्ची सामग्री का इस्तेमाल किया जा सके। देश में साक्षरता व शिक्षा-प्रसार के लिए दीर्घ तथा लघु स्तरीय इकाइयों के जरिये कागज उत्पादन आवश्यक है; लेकिन प्रति दिन एक टन से कम कागज तैयार करनेवाली विकेन्द्रित अथवा छोटी इकाइयाँ गांवों में रोजगारी प्रदान करने का एक अतिरिक्त काम भी करती हैं।

दीर्घ और लघु स्तरीय विभाग

इसमें कोई सन्देह नहीं कि देश में हाथ कागज उद्योग का भविष्य उज्ज्वल है; क्योंकि सरकार तथा योजना आयोग दोनों ही इस प्रकार के ग्रामोद्योगों को अधिकतम रूप से प्रोत्साहित करना चाहते हैं। केवल इस प्रकार के उद्योगों के जरिये ही हम पूर्ण और अर्ध-बेकारी की समस्या किसी हद तक कम कर सकते हैं। फिर भी यह आवश्यक है कि अपना लागत-खर्च कम करने की दिशा में ग्रामोद्योग अपनी तक्नीक में सुधार करने के लिए प्रभावशाली कदम उठायें। स्थानीय रूप से उपलब्ध कच्ची सामग्री का उपयोग करने के लिए प्रयास किये जाने चाहिए तथा और भी उन्नत तक्नीकों की खोज की जा सकती है। जहाँ तक ऊँची जात के कागज का सम्बन्ध है, हमें मिलों से किसी स्पर्धा का सामान नहीं करना पड़ेगा। जापान जैसे देशों में दीर्घ तथा लघु स्तरीय कागज उत्पादन केन्द्रों के बीच कोई स्पर्धा नहीं

हैं; क्योंकि वहाँ पर मिलें ऐसी किस्म का कागज बनाती हैं जो हाथ कागज उत्पादक नहीं बनाते। हमारे देश में भी इस प्रकार का स्वरूप खड़ा किया जा सकता है।

हाथ कागज एक गुण-स्तरवाला कागज है। इसमें मजबूती, टिकाऊपन, कड़ापन और सहन-शक्ति का गुण है। दीर्घ काल तक रखे जानेवाले दस्तावेजों के लिए यह अद्वितीय है। कागज पर कलात्मक प्रभाव लाने के लिए हाथ कागज अनुपम क्षेत्र प्रस्तुत करता है, जो कि मिलों में सम्भव नहीं है। उच्चत्तम किस्म के कागज की सदैव ही मांग रहती है और वह बहुत–कुछ हाथ कागज द्वारा पूरी की जाती है।

प्रगति का मूल्यांकन

गांधीजी की प्रेरणा से १९३५ में जब हाथ कागज उद्योग को अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ ने पुनर्जीवित किया, तब इतिहास प्रसिद्ध हाथ कागज प्रायः समाप्ता-वस्था में था। उस वक्त देश में इने-गिने हाथ कागज उत्पादन केन्द्र थे, जिन्हें *कागजी* चलाया करते थे तथा वे रद्दी कागज का कच्ची सामग्री के रूप में इस्तेमाल करत थे। अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मण्डल नें (अब खादी और ग्रामोद्योग कमीशन) १९५३ में कार्यारम्भ किया तथा इस उद्योग को भी विकासार्थ अपने हाथ में लिया। उस वक्त कोई ३५ केन्द्र थे जो ५,६१,७६० रुपये कीमत का १२७ टन कागज तैयार करते हुए ९४५ लोगों को काम दे रहे थे। अनुवर्ती सात वर्ष में तीव्र प्रगति हुई और १९६०-६१ में देश के विभिन्न भागों में २२८ हाथ कागज केन्द्र थें। उनमें से ११६ ने उत्पादन कार्य प्रारम्भ कर दिया था और शेष प्रारम्भिक अवस्था में थे। उन्होंने १,२४७ टन कागज का उत्पादन किया, जिसका मूल्य २४,२२,७०७ रुपये होता है; और ६,६०० लोगों को पूरे समय तथा २,०३४ व्यक्तियों को आंशिक समय का काम दिया। ऐसी सम्भावनाएँ हैं कि चालू योजना की अवधि में कागज उत्पादन केन्द्रों की संख्या में वृद्धि होगी, कागज उत्पादन बढ़ेगा और उससे विस्तृत पैमाने पर लोगों को रोजगारी मिलेगी।

जापानी कागज

हाथ कागज उद्योग निर्देशक श्री गजानन्द गोंधलेकर हाल ही में जापान से होकर आये हैं। उन्होंने इस बात का अध्ययन किया है कि किस प्रकार भारत में जापानी तरीके अपनाये जा सकते हैं। उन्होंने जापानी कागज की सभी तकनीकों व सम्भावनाओं का अध्ययन किया है। जापान में व्यवहृत *कोजो, गम्पी* और *मित्सुमाता* नामक कच्ची सामग्रियों के एव जियों का पता लगाकर कच्ची सामग्री की समस्या हल की जा चुकी है। टोरोरिओ (Tororooi) के लिए भी किसी एवजी का होना बहुत आवश्यक था, जो कि जापानी हाथ कागज का बुनियादी आधार है–इस प्रकार के 'लासा' के अभाव में असाधारण गुण-स्तर का कागज बनाना कभी सम्भव नहीं हो पाता। हमने यह पता लगा लिया है कि भिंडी के पौधे का डण्ठल 'लासा' का एक बहुत अच्छा स्रोत है। भारत में जापान से अच्छी कच्ची सामग्री मिलती है।

फिर भी, इस उद्योग का एक अधिक महत्वपूर्ण पहलू है, इसमें ग्रामीण आबादी को रोजगारी देने की अत्यधिक क्षमता। *रामथा, सतपुड़ा, शहतूत* आदि की छाल यानी रेशों को अब कच्ची सामग्री के रूप में काम में लाना सम्भव हो गया है। इससे कच्ची सामग्री के संग्रह और प्रारंभिक प्रशोधन कार्य में अनेक ग्रामीणों और आदिवासियों को काम मिल सकेगा। इससे कृषकों को पूरक और मौसमी काम मिलेगा, जिनके पास वर्ष में २०० दिन से ज्यादा का काम नहीं होता। तत्सम्बन्धी उपकरण बहुत सीधे-सादे और सरल तथा हमारे परम्परा-गत *कागजियों* के उपकरणों से मिलते-जुलते हैं।

हमारे अन्वेषण केन्द्रों को चाहिए कि वे उत्पादन केन्द्रों को अपने उत्पादन के गुण-स्तर में सुधार करने के लिए मार्गदर्शन दें ताकि वे जहाँ तक ऊँची जात के कागज का सम्बन्ध है बाजार की स्पर्धा में टिक सकें। हमारे देश तथा विदेश में इस कागज की बहुत मांग है और इससे हमें विदेशी मुद्रा के उपार्जन में मदद मिल सकेगी।

१५ सितम्बर १९६२

सीमावर्ती क्षेत्रों का विकास

दीनानाथ दुबे

देश पर चिनी हमला होने से सीमावर्ती क्षेत्रों मे ग्रामोद्योगों का विकास करना बहुत आवश्यक हो गया है। जनता को उसकी गुजर-बसर भर करने जैसी स्थिति से ऊपर उठाने हेतु इन उद्योगों के लिये एक ऐसे व्यापक, विशाल कार्यक्रम की नितान्त आवश्यकता है, जो स्थानीय रूप से उपलब्ध कच्ची सामग्री पर आधारित हों और कार्यक्रम इस रूप में मोड़ा जाय कि वह जनता में अपनी विकास योजनाओं के प्रति लोक-रुचि जागृत करे। सीमावर्ती क्षेत्रों में ऊनी खादी उद्योग तथा अन्य अनेक ग्रामोद्योग बड़ी आसानी से लाभदायक रूप में विकसित किये जा सकते हैं।

खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अध्यक्ष श्री वैंकुण्ठ ल. मेहता ने हाल ही में अपनी एक अपील में कहा है--"चीन ने भारत पर जो नृशंष आक्रमण किया है और उसे तीव्रता से जारी किये हुए है उसे देखते हुए कांगड़ा और कुलू घाटी से लेकर अल्मोड़ा तक के भूभाग को एक नया महत्व प्राप्त हो गया है। यहाँ की जन संख्या विरल है। लोगों में ऊन कताई और बुनाई के कला कौशल की परम्परा चली आयी है। इसके अतिरिक्त ग्रामोद्योगों के काम में आनेवाली कच्ची सामग्री की प्रचुरता है।

"यदि स्थानीय रूप में उपलब्ध कच्ची सामग्री पर आधारित ऊनी खादी और वहाँ के अनुकूल ग्रामोद्योगों का विकास किया जाय तो लोगों का आर्थिक जीवन सम्पन्न बनेगा जोकि हमारी विस्तृत सीमा की रक्षा के लिए जरूरी है।"

स्थानीय आबादी

चीनियों ने हमारे देश के जिस भूभाग पर अपना अनाधिकार दावा किया है उसमें उत्तर प्रदेश का बाराहोती आदि भूभाग आता है। चीन ने अपने ताजा युद्ध-विराम में भारतीय सैनिकों की २० कीलोमीटर वापसी की जो शर्त लगायी है उसके अनुसार माणा, नीती, बाराहोती लीपूलेक आदि स्थानों से हमें हट जाना होगा। ये सब क्षेत्र मैदानी अंचलों से काफी दूर हैं और मौजूदा समय यातायात के सभी साधन (वायु-पथ को छोड़कर) काफी देर में वहाँ पहुँचते हैं। सभी पर्वतीय क्षेत्र जिसमें उत्तर काशी, चमोली, पिथौरागढ़, अल्मोड़ा, पौड़ी गढ़वाल आदि पर्वतीय जिले हैं, अभावों और समस्याओं के क्षेत्र हैं। यहाँ के निवासियों की आर्थिक स्थिति अत्यन्त विपन्न है। आधिकांश निवासी या तो फौज में भरती होते हैं अथवा छोटी-छोटी नालियों में खेती कर अपना जीवन-यापन करते हैं। तिब्बत पर चीन का अधिकार हो जाने और चीन की वर्तमान नीति से इस क्षेत्र के लिए लम्बे समय तक के लिए एक संकट पैदा हो गया है।

इस स्थिति का जो पहला प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा है, वह यहाँ के भोटिया व्यापारियों और ऊनी खादी उद्योग पर। इस तथ्य पर जाने के पहले यहाँ के कुछ आंकड़ों को जान लेना अत्यन्त समीचीन होगा। पूरा पर्वतीय प्रदेश ७ जिलों में विभक्त है जिसे हम कुमायूं और उत्तराखण्ड के भूभाग के नाम से जानते हैं। इन ७ जिलों की आबादी और क्षेत्रफल अगले पृष्ठ पर दी गयी तालिका में दिया गया है।

इन जिलों में उत्तरकाशी में २,६७५; टेहरी गढ़वाल में ७,०५७; पौड़ी गढ़वाल में २३,४५५; अल्मोड़े में २७,०६५; नैनीताल में ११२,१०८ व्यक्ति नगरों में बसते हैं। चमोली तथा पिथौरागढ़ में १९६१ की जनगणना के अनुसार शहरी आबादी शून्य है। उक्त आंकड़ों से यह स्पष्ट है कि उत्तराखण्ड के नवीन तीन जिलों में

पूरी जनसंख्या तथा अन्य चार जिलों में दो-तिहाई आबादी दुर्गम घाटियों में बसती है। इसलिए इस क्षेत्र में बड़े उद्योगों की कौन कहे, कुटीर उद्योगों का भी बहुत बड़ा अभाव रहा है।

तालिका १

कुमायूं और उत्तराखण्ड का क्षेत्रफल और आबादी

जिला	आबादी	स्त्रियाँ	पुरुष	क्षेत्रफल	प्रति मील आबादी का घनत्व
उत्तर काशी	१,२२,३७७	६२,३५०	६०,०२७	–	–
चमोली	२,५२,७१८	१,१९,५५१	१,३३,१६७	३,५२२.८६	७२
पियौरागढ़	२,३२,३९३	१,२६,७३३	१,३५,६३०	२,७८९.१२	९४
टेहरी गढ़वाल	३,४७,०५९	१,५७,८१०	१,८९,२४९	४,५५८.८९	–
पौड़ी गढ़वाल	४,७९,२००	२,२०,७६३	२,५८,४३७	२,१०७.७६	२२७
अल्मोड़ा	६,३१,१०८	३,०१,६५६	३,२९,४५२	२,७२१.१७	२३२
नैनीताल	५,७४,३६७	३,३३,७२३	२,४०,६४४	२,६२५.६०	२१९

धंधे

पर्वतीय क्षेत्र और उग्र शीत पड़ने के कारण भेड़ पालन और उसके ऊन से कपड़ा बुनना यहाँ का परम्परागत व्यवसाय रहा है। भोटिया इसमें विशेष रूप से लगे हैं। इनका व्यापार पहले तिब्बत में होता था किन्तु आसन्न स्थिति में अब यह असम्भव हो गया है। हस्त निर्मित खड्डियों और तकुओं के माध्यम से इस क्षेत्र में कताई-बुनाई होती है। कताई का काम अधिकतर पुरुष और बुनाई का काम महिलाएँ करती हैं। जोहार दारमा (अल्मोड़ा); माणा, नीती (चमोली); हरसिल मटवाड़ी (उत्तरकाशी) स्थानों में कताई-बुनाई मुख्य कार्य है। भोटिया स्त्रियाँ थुलमा, गुदमा, पंखी, पट्टू, कम्बल, गलीचा आदि बनाती हैं। मिलिंग, फिनिसिंग आदि सभी काम इन्हीं के द्वारा होता है।

अभी तक इन सबके लिए कच्चा माल (तिब्बती ऊन) तिब्बत से प्राप्त होता था, किन्तु मौजूदा स्थिति में उसका आना बन्द हो गया है। अतः जो भी ऊनी खादी कार्य इस क्षेत्र में चल रहा है उसके समक्ष कच्चा माल न मिलने के कारण एक विशेष कठिनाई आ गयी है। यों तो उसकी कमी दूर करने का सरकारी स्तर पर विशेष प्रयास किया जा रहा है, किन्तु कच्चे माल की समस्या केवल इसी वर्ष के लिए नहीं, वरन् हमेशा के लिए पैदा हो गयी है। क्षेत्र में बड़े उद्योग-धंधों के मुकाबले में खादी ग्रामोद्योग जैसे विकेन्द्रित उद्योगों की स्थापना के लिए विशेष प्रयत्न किया जाना चाहिए, क्योंकि बड़े उद्योग यहाँ पर पनप पायेंगे या नहीं और पनपने पर स्थानीय निवासियों को रोजगार मिल पायगा या नहीं, यह भी एक विचारणीय समस्या है। बड़े उद्योगों को खड़ा करने में काफी समय लगेगा, जबकि आवश्यकता तात्कालिक है। अस्तु तात्कालिक हल खादी-ग्रामोद्योग के माध्यम से ही सम्भव है। संकटकालीन स्थिति में ये उद्योग काफी लाभप्रद सिद्ध हुए हैं।

खादी और ग्रामोद्योग

सौभाग्य की बात है कि इस क्षेत्र में खादी और ग्रामोद्योग के काम के प्रसार के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ हैं। प्रचुर मात्रा में कच्चा माल उपलब्ध है। यदि व्यवस्थित आधार, कुशल कार्यक्षमता और नेतृत्व में इन उद्योगों का विकास किया जाय तो ये उद्योग सिर्फ स्थानीय आवश्यकताओं की ही पूर्ति नहीं करेंगे वरन् मैदान में भी अपने उत्पादन को सरलता से भेज सकेंगे। वर्तमान समय में खादी-ग्रामोद्योगों की कुछ प्रवृत्तियाँ क्षेत्रों में चल रही

हैं। इनमें सरकारी स्तर पर उद्योग विभाग की पर्वतीय ऊन योजना और श्री गांधी आश्रम का खादी कार्य मुख्य हैं। राज्य खादी तथा ग्रामोद्योग बोर्ड ने भी इस क्षेत्र में ग्रामोद्योग सहकारी समितियों को सहायता दी है। इसके अतिरिक्त उद्योग विभाग और अन्य सरकारी विभाग भी काम कर रहे हैं। खादी ग्रामोद्योग के क्षेत्र में चालू प्रवृत्तियों का विवरण तालिका २ में दिया गया है।

तालिका २

उत्पादन और बिक्री केन्द्र

जिला	खादी उत्पत्ति केन्द्र	खादी बिक्री केन्द्र और प्रशिक्षण केन्द्र	ग्रामोद्योग सहकारी समितियाँ	ग्राम इकाइयाँ
उत्तर काशी	९	४	—	१
चमोली	२६	११	—	१
पिथौरागढ़	१५	५	७	१
टेहरी गढ़वाल	१०	५	३	१
पौड़ी गढ़वाल	१२	५	५	३
अल्मोड़ा	४०	३१	१९	—

इस क्षेत्र में ऊनी खादी के लिए कताई प्राय: तकुए से होती है। तकुए से १ घण्टे में १०० गज कताई होती है। चरखे पर साधारणतया १ घण्टे में ३०० गज काता जा सकता है। स्थानीय वस्त्र की आवश्यकता की पूर्ति के लिए वस्त्र स्वावलबन की तरफ विशेष ध्यान अभी तक नहीं दिया गया है। यदि स्थानीय आवश्यकता की पूर्ति वस्त्र स्वावलबन के आधार पर की जाय तो क्षेत्रीय निवासियों की वस्त्र सम्बन्धी जरूरतें पूरी हो सकती हैं और एक बहुत बड़ी समस्या का समाधान हो सकता है। इस क्षेत्र के लिए वस्त्र स्वावलम्बन की स्थिति लाना बहुत जरूरी है और ऐसा सरलता से किया भी जा सकता है; क्योंकि अभी तक वस्त्र का उत्पादन स्थानीय आधार पर ही होता रहा है। वस्त्र उत्पादन के लिए हमें कच्च माल की तरफ ध्यान देना होगा। अभी तक ऊनी खादी प्राय: तिब्बती और आस्ट्रेलियन ऊन से तैयार की जाती रही है। बदली हुई स्थिति में हमें ऊन का स्थानीय उत्पादन करना होगा। भेड़ पालन की योजना का द्रुत गति से प्रसार आवश्यक है। धुनाई की जो प्रणाली यहाँ है, उसमें भी परिवर्तन आवश्यक है।

आमदनी

वर्तमान समय में इस क्षेत्र में सड़क निर्माण आदि का कार्य तेजी से चल रहा है। स्थानीय निवासियों को उसमें रोज ५-६ रुपये मिल जाते हैं। अत: कत्तिनों या बुनकरों को ऊनी खादी उद्योग में अधिक से अधिक पारिश्रमिक मिलना चाहिए अन्यथा वे अन्य कामों की ओर आकर्षित हो जायेंगे, भले ही उनका यह काम अस्थाई हो। कताई के साथ-साथ बुनाई का कार्य गाँव-गाँव तक बढ़ाने की आवश्यकता है। ऊनी खादी के अतिरिक्त ग्रामोद्योगों का प्रसार अत्यन्त आवश्यक है। फिलहाल इस क्षेत्र में लुहारी तथा बढ़ईगीरी, रेशा, चर्मोद्योग, मधुमक्खी-पालन, हाथ धान कुटाई तथा आटा चक्की, हाथ कागज, कुटीर चूना उत्पादन, तेलघानी तथा ताड़-गुड़ उद्योगों के प्रसार की काफी सम्भावना है। अब हम उद्योगानुसार एक-एक पर विचार करें।

चूना उत्पादन उद्योग

सिमेंट उद्योग के विकास के बावजूद चूना उत्पादन उद्योग का महत्व कम नहीं हो पाया है। मकान आदि बनवाने और उनकी मजबूती के निमित गारे के लिए चूने का प्रयोग किया जाता है। प्राचीन समय में जो इमारतें बनी थीं उनमें चूने का ही उपयोग किया गया था और आज भी वे इमारतें मजबूत चट्टानों की तरह खड़ी हैं! हिमालय के क्षेत्र में जगह-जगह चूना-पत्थर की अपार सामग्री बिखरी है। यत्र-तत्र कुछ लोग काम भी कर रहे हैं, किन्तु अभी तक संगठित पैमाने पर इस उद्योग का कोई विकास नहीं किया जा सका है। एक औद्योगिक सर्वेक्षण के अनुसार इन स्थानों में चूना-पत्थर काफी मात्रा में पाया जाता है: चमोली जिले के अलकनन्दा का उत्तरीय और नागपुर का भाग; लोहाना से पिंडर

और अलकनन्दा नदी की पट्टी; चलणस्यू पट्टी, पट्टी सेरा, दामरू और धनपुर; मुनि की रेती और लक्ष्मण झूला के आस-पास का क्षेत्र (यहाँ एक अकुशल कारीगर २ रु. से २-५० रु. तक तथा कुशल कारीगर ४ रु. प्रति दिन कमा लेता है); अल्मोड़ा और पिथौरागढ़ की खरही पट्टी; नैनीताल जिले में गोला नदी की घाटी (इस क्षेत्र में चूना बनाने का कार्य अल्प पैमाने पर चालू है); देहरादून जिले में अथोईवाला, काकपुर, कावली, माजरा, नहरी आदि स्थानों में चूना उत्पादन का कार्य होता है; और चूना-पत्थर के अतिरिक्त लोहाना और अन्य स्थानों में स्लेट बनाने का पत्थर-खड़िया मिट्टी आदि की प्रचुरता है।

पूरे पर्वतीय क्षेत्र में इस उद्योग के विकास की सम्भावना काफी उत्साहप्रद है। आवश्यकता इस बात की है कि इसमें औद्योगिक सहकारी समितियाँ गठित की जायें और उन्हें आर्थिक सहायता दी जाय। कोयले के स्टाक के लिए ऋण स्वरूप सहायता दी जाय। इस उद्योग के माध्यम से काफी लोगों को रोजगार दिया जा सकता है। चूना सिर्फ इमारती काम में ही नहीं, वरन् चर्म-शोधन, कागज उद्योग, केलशियम कार्बाइड, ब्लीचिंग पाउडर, चीनी मिलों और सभी रासायनिक कार्यों में भी काम आता है। उद्योग का विकास कर पर्वतीय क्षेत्र को आर्थिक दृष्टि से मजबूत बनाया जा सकता है। संकटकालीन स्थिति में सिमेण्ट का प्रयोग सामरिक कार्यों में होने से उसकी कमी पड़ जाती है। ऐसी स्थिति में चूना उद्योग सीमेंट की कमी को बहुत हद तक दूर कर सकता है।

हाथ कागज उद्योग

भावर क्षेत्र व दूधातोली रेंज में सतपुड़ा, चमेला, केला, घास का रेशा प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। पिथौरागढ़ जिले में हाथ कागज का उत्पादन प्राचीन समय से जन्म पत्रिका बनाने के लिए किया जाता रहा है। यह कागज नेपाली कागज के नाम से प्रसिद्ध है। इस कागज की विशेषता यह है कि इसमें दीमक नहीं लगता। यहाँ का कागज उत्पादन खर्च अधिक पड़ता है। गरुड़ में हाथ कागज उत्पादन का केन्द्र है। इसी तरह देहरादून व चमोली जिले में उद्योग के प्रसार की काफी सम्भावनाएँ हैं।

बढ़ई तथा लुहारगीरी उद्योग

सारा पर्वतीय प्रदेश मूल्यवान इमारती लकड़ियों से भरा पड़ा है। स्थानीय निवासियों को फर्नीचर, बेंत की वस्तुएँ, खिलौने, खेल के सामान आदि बनाने का प्रशिक्षण देकर विकेन्द्रित आधार पर इस उद्योग का प्रसार कश्मीर और नेफा की तरह किया जा सकता है। पर्वतीय क्षेत्र में जीविका का मुख्य साधन कृषि है। फलतः लुहार और बढ़इयों की प्रचुरता है। खेती करने, घास तथा लकड़ी काटने से सम्बन्धित मुख्य विविध उपकरण हैं: कुल्हाड़ी, कुदाल, दरांती, हल के लिए लोहे का फला, हथौड़ा और छेनी। इनकी आय दैनिक प्रायः १ रुपये तक ही सीमित होती है। सारे क्षेत्र में चीड़, साल, देवदार, पापड़ी, हल्दी, शीशम, तून आदि की प्रचुरता है। इनका उपयोग फर्नीचर, मकानों के दरवाजे, चौखट, शहतीर रेलवे के स्लीपर आदि के निर्माण में किया जा सकता है। इसके लिए आवश्यक यह है कि बढ़इयों और लुहारों को समुचित प्रशिक्षण दिया जाय। सुधरे औजारों का सफल प्रदर्शन दल और सरंजाम केन्द्र आवश्यकतानुसार स्थापित किये जायें।

इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं कि इस उद्योग से खादी-ग्रामोद्योग में प्रयुक्त होनेवाले चरखे, मधुमक्खी-पालन तथा अन्य ग्रामोद्योगों के समूचे उपकरण की आवश्यकता की पूर्ति इसी क्षेत्र से हो सकती है। अल्मोड़ा जिले में बोरगांव स्थित चरखा कार्यालय तथा मौनागृह फर्नीचर मार्ट (व्यक्तिगत) द्वारा इन सामानों का निर्माण छोटे पैमाने पर किया जाता है। मकानों के लायक सामान तथा उत्तम कोटि के फर्नीचर का निर्माण कर क्षेत्र में उपलब्ध कच्चे माल के उपयोग के साथ-साथ स्थानीय लुहार और बढ़इयों की सुप्त कला का विकास कर उनकी आर्थिक स्थिति को काफी दृढ़ बनाया जा सकता है।

देहरादून जिले में लकड़ी पर नक्काशी का काम बहुत ही सुन्दर होता है। नैनीताल और मसूरी की छड़ियाँ भी काफी प्रसिद्ध हैं। इनमें लगे कारीगरों को आवश्यक प्रशिक्षण देकर उनकी कार्यकुशलता और भी बढ़ायी जा सकती है। आर्थिक दृष्टि से यह उद्योग काफी लाभप्रद और हमेशा मुनाफे पर चलनेवाला है। जरूरत इस बात की है कि नवीन डिजाइनें, उम्दा किस्म की फिनीशिंग आदि कराने के नवीन ढंग का प्रचार किया जाय। यह उद्योग सहकारिता और व्यक्तिगत दोनों आधार पर विकसित किया जा सकता है।

मधुमक्खी पालन उद्योग

पर्वतीय क्षत्र के लिए यह उद्योग काफी लाभकारी और हमेशा लाभ पर चलनेवाला है। अभी इस उद्योग का कार्य राज्य सरकार के कृषि विभाग तथा खादी और ग्रामोद्योग कमीशन द्वारा अल्प पैमाने पर किया जा रहा है। अल्मोड़ा, देहरादून, टेंहरी-गढ़वाल पौड़ी गढ़वाल, आदि जिलों में व्यक्तिगत आधार पर शहद निकालनें का काम होता है, किन्तु शहद निकालनें का तरीका पुराना है। संपूर्ण भूभाग में इस उद्योग का सर्वेक्षण करना आवश्यक है, जिससे जहाँ इस उद्योग के प्रसार की सम्भावना है, वहाँ तुरन्त काम आगे बढ़ाया जाय।

आटा चक्की उद्योग

इस क्षेत्र की मुख्य पैदावार धान, मक्का, गेहूँ और जौ है। क्षेत्र में धान कुटाई उद्योग के प्रसार की असीमित संभावनाएँ हैं। मैदानी क्षेत्र में हलर और शेलर भले ही उपयोगी और कम खर्चीले हों, किन्तु पर्वतीय क्षेत्र में ऊँची-नीची घाटियों से जाकर आटा पिसाना और धान कुटाना काफी श्रम साध्य है। यदि इस उद्योग का प्रसार इस क्षेत्र में किया जाय तो स्थानीय निवासियों के लिए काफी लाभकारी होगा। जनसंख्या यत्र-तत्र ऊँची-नीची घाटियों और चोटियों पर बिखरी है। आटा पिसाने के लिए लोगों को कोसों पैदल जाना पड़ता है। अतः इस क्षेत्र में सुधरी आटा चक्कियों और धान चक्कियों का निर्माण कर घर-घर उपलब्ध कराने की व्यवस्था की जाने की आवश्यकता है।

चर्मोद्योग

क्षेत्र में पालतू जानवर काफी मात्रा में पाये जाते हैं किन्तु उनके मरने के बाद उनके मांस की बात तो दूर रही, खाल का भी उपयोग नहीं हो पाता। यदि सहकारिता के आधार पर चर्मोद्योग की समितियाँ गठित की जायें और खाल सुखाने, चमड़ा पकाने आदि के उपकरणों का प्रसार किया जाय और कार्यकर्त्ताओं को प्रशिक्षण दिया जाय तो चमड़ा सम्बन्धी स्थानीय आवश्यकता की वस्तुएँ इसी भूभाग में बन सकती हैं और एक वर्ग के लोगों की माली हालत काफी सुधर सकती है।

रेशा उद्योग

लोहाना, चांदपुर बधाण जैसे इलाकों में पड़ेरा रिंगाल की टोकरियाँ और चटाइयाँ बनायी जाती हैं। बद्री, केदार की यात्रा पर आनेवाले यात्रियों के हाथ इनकी बिक्री हो जाती है। रिंगाल से टोकरियाँ ही नहीं वरन् चटाई, कण्डी, पिटारा, रस्सी, चिक आदि भी बनती हैं। रिंगाल के अलावा निगोली से काफी अच्छी चटाइयाँ बुनी जाती हैं। अलके रेशों से जाल और रस्सियाँ बनती हैं। इनका उपयोग निवार आदि के लिए भी किया जा सकता है। चीड़ के पत्तों के रेशे पैकिंग और भरने (स्टफिंग) के कार्य में काफी सहायक होते हैं। गद्दियाँ तथा तकिया के गिलाफों में इसका उपयोग बहुत ही उपयुक्त है। इस क्षेत्र में कई रेशे हैं जिनसे कनवास का कपड़ा बन सकता है। कपकोट (पिथौरागढ़) में इस रेशे से कपड़ा बनाने का प्रयोग उद्योग विभाग द्वारा किया जा रहा है। सेलू, एडू, मालू आदि रेशे उत्तर काशी में पाये जाते हैं। इनका उपयोग टाट पट्टी बनाने में होता है। नैनीताल जिले में राम बाँस काफी मिलता है। इसके रेशे से जहाज के लिए रस्सियाँ बन सकती हैं। राम बाँस के साफ

रेशे की कीमत बम्बई में ४७.५० रु. प्रति मन है। रस्सियाँ बनानेवाली मिलें इस रेशे का उपयोग करती हैं। उलझा रेशा २० या २५ रु. मन पर कागज की मिलें खरीद लेती हैं। इसके अतिरिक्त ताड़ खजूर के पेड़, स्युन (Cactus), चीड़ की पत्तियां, कूटी (Lantane), अंडी आदि की प्रचुरता है। संक्षेप में इस उद्योग का विकास सहकारिता के आधार पर किया जा सकता है। उद्योग में लगे कारीगरों को उचित प्रशिक्षण आदि देकर उनकी कुशलता बढ़ायी जा सकती है। पी. आर. ए. आई. और उद्योग विभाग की ओर से कुछ स्थानों पर प्रयोग के रूप में कई केन्द्र चल रहे हैं। इन केन्द्रों से प्राप्त अनुभव के आधार पर रेशा उद्योग इस क्षेत्र के लिए काफी लाभकारी है।

क्षेत्र में खादी-ग्रामोद्योग विद्यालय, सरंजाम केन्द्र, सबल प्रदर्शन केन्द्र की स्थापना अत्यन्त जरूरी है। क्षेत्रीय निवासियों में खादी-ग्रामोद्योगों का प्रचार आवश्यक है। पहाड़ी लोग जब तक उद्योग की उपयोगिता से पूर्णतया वाकिफ नहीं होंगे तब तक उनमें खादी-ग्रामोद्योग की प्रवृत्तियों से सहयोग करने की भावना नहीं आयगी। इसलिए जरूरी यह है कि स्थानीय निवासियों में उद्योग की उपयोगिता का प्रसार किया जाय और स्थानीय कार्यकर्ता तैयार किये जायें, तभी लोगों का आर्थिक जीवन खादी-ग्रामोद्योग के माध्यम से सुधर सकता है। यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है कि खादी-ग्रामोद्योगों के सिवाय और कोई भी जरिया नहीं जिसके माध्यम से दीर्घकालीन आधार पर स्थानीय निवासियों का जीवन खुशहाल बनाया जा सके।

७ फरवरी १९६१

ग्राहकों से

ग्राहकों से अनुरोध है कि *खादी ग्रामोद्योग* का अंक न मिलने अथवा देर से मिलने के बारे में शिकायतें भेजते समय अपनी ग्राहक-संख्या लिखना न भूलें। ग्राहक-संख्या *खादी ग्रामोद्योग* के ऊपर ग्राहक के पते के साथ लिखी रहती है। ग्राहक-संख्या का उल्लेख न करने से शिकायतों पर ध्यान देना मुश्किल होता है और हम चाहते हुए भी उन पर शीघ्र कार्यवाही नहीं कर सकते।

—सम्पादक

गाँवों का बदलता रूप

चित्तप्रिय मुखर्जी

पिछेल बीस वर्ष के दरमियान बोलपुर शहर और उसके आसपास के गांवों की अर्थ-व्यवस्था में जो विशेष प्रवृत्तियां देखने में आयी हैं, उनमें एक है मानव-भूमि-अनुपात में कमी। शहरीकरण से कुछ नयी समस्याएं सामने आयी हैं। उक्त क्षेत्र मे भुवनडांगा जैसे गांव हैं, जहां दो विरोधी बातें गरीबी और समृद्धि साथ-साथ चलती हैं। (प्रस्तुत लेख के प्रथम दो भाग, मानचित्रों सहित, इस पत्रिका के फरवरी माह के अंक में प्रकाशित हो चुके हैं।)

भाग ३

तालिका ७ (पृष्ठ: ४२८) में दिये गये आंकड़ों से बोलपुर ग्रामीण क्षेत्र के १२ भागों में पिछले दशक में जो आबादी के घनत्व की कमी-बेशी हुई, आबादी वृद्धि की असम गति रही, कुल और कर्मी आबादी के बीच जो अनुपात रहा, कर्मी आबादी के धन्धे का जो स्वरूप रहा, शिक्षा के क्षेत्र में हुए परिवर्तन तथा जिस हद तक भूमि-मनुष्य अनुपात में कमी हुई है, उसका सूक्ष्म चित्र मिलता है।

जीविका के लिए भूमि पर निर्भरता

विभिन्न यूनियन बोर्ड्स में ग्रामीण आबादी की अत्यधिक वृद्धि अथवा विभिन्न वृद्धि दर के जो भी कारण हों समूचे क्षेत्र के आंकड़ों की तुलना करने से जो बात सामने आती है वह यह है कि अधिकाधिक लोगों का अपनी जीविका के लिए जमीन पर निर्भर रहना बढ़ता जा रहा है।

पिछले एक दशक में विभिन्न गाँवों अथवा यूनियन बोर्ड्स में भिन्न-भिन्न परिवर्तन हुए हैं और उनके साथ ही मानव-भूमि का अनुपात प्रायः ३० प्रति शत कम हो गया है; तालिका तथा मानचित्रों के निकट अध्ययन से पता चलेगा कि यद्यपि घनत्व निस्सन्देह काफी अधिक है, लेकिन विभिन्न क्षेत्रों में वृद्धि बहुत भिन्न पायी जाती है। उदाहरण के लिए रायपुर में वृद्धि २३.७ प्रति शत हुई, जब कि सुपुर में इसकी रफ्तार ७५.३ प्रति शत तक रही है। संयोग से सुपुर में सर्वाधिक अनुसूचित जातियाँ और परिगणित जन-जातियाँ हैं और वहाँ परिवार-मकान अनुपात बहुत कम है। कुल आबादी में काम करनेवाले व्यक्तियों का अनुपात भी बहुत कम है। इसके विपरीत शिक्षा प्रसार के प्रातिशत्य में वृद्धि हुई है। सन् १९५१ में वह ११.६ प्रति शत था और १९६१ में २२.८ प्रति शत।

रोजगारी जब इतनी कम है तो आबादी इतनी अधिक क्यों होती है? लोगों को काम पर लगाने अथवा उनकी कार्य-क्षमता का क्या शिक्षा से कोई सम्बन्ध है? इसके दूसरी ओर सिंधी में अनुसूचित जातियों और जन-जातियों का प्रतिशतक न्यूनतम है तथा साथ ही साथ वहाँ महिलाओं की बेकारी भी न्यूनतम है। रायपुर की आबादी में बहुत कम वृद्धि होने की वजह से परिवार-मकान- अनुपात सबसे ज्यादा है, लेकिन कुल आबादी में काम करनेवालों का प्रातिशत्य कोई बहुत अधिक नहीं है। तालतोड़ में विश्वविद्यालयी शहर का भी कुछ हिस्सा आ जाता है और उसमें रोजगारी सबसे ज्यादा है। इसके बाद सरपेलहाना का स्थान आता है। महिला रोजगारी के क्षेत्र में उसका स्थान सर्वाधिक है।

आंकड़ों की व्याख्या

वास्तव में इन सब आंकड़ों से निष्कर्ष क्या निकलता है? क्या बोलपुर ग्रामीण क्षेत्र का चित्र समग्र ग्रामीण

तालिका ७

बोलपुर थाना क्षेत्र (ग्रामीण) : सन् १९६१ में प्रति व्यक्ति एकड़, जन संख्या का घनत्व, साक्षरता तथा कर्मी आबादी

यूनियन बोर्ड	प्रति व्यक्ति एकड़		घनत्व प्रति वर्ग मील		वृद्धि का प्रतिशतक	कुल आबादी में परिगणित तथा जन-जातियों का प्रातिशत्य	कुल आबादी में साक्षरों का प्रातिशत्य		परिवार और घर का अनुपात	१९६१ की कुल आबादी में कर्मी आबादी का प्रातिशत्य		
	१९५१	१९६१	१९५१	१९६१			१९५१	१९६१		पुरुष	स्त्री	कुल
(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)	(८)	(९)	(१०)	(११)	(१२)	(१३)
१. सत्तूर	१.३२०	.९३९	४८४.८४	६८१.६५	४०.५९	३९.८४	३८.७३	१९.१८	१.४३७	५४.३०	१३.६०	३३.९
२. कस्बा	१.४६७	१.०३१	४३६.३२	६२१.५८	४२.४६	५६.८१	३६.०७	१८.९८	१.३८९	५१.९०	१४.४०	३३.४
३. सरपेलहाना	१.४७३	१.०३२	४३४.०	६१९.३७	४२.६९	५६.२३	४१.६७	२०.०७	१.१९४	५२.८८	२१.१७	३७.६
४. रुपुर	१.६२९	१.१६१	३९९.५५	५५१.३२	७२.५३	४४.४८	२३.३९	१९.६२	१.३०२	५५.२९	१५.३६	३५.६
५. रायपुर	१.१९८	.९६८	५३४.२४	६६०.८८	२३.७०	४९.९४	१५.१३	२१.७०	१.५०६	५१.१७	९.९२	३०.६
६. सुपुर	१.४६४	.८३५	४३७.०	७६६.२९	७५.३५	६३.५५	११.६१	२२.८३	१.०८२	३९.३२	११.२६	२५.५
७. त्रालतोड़	१.२२२	.८७४	५२३.७९	७३२.२८	३९.८०	५५.७३	२७.१०	२७.३१	१.३०६	५७.२४	१९.५१	३९.३
८. अम्दाहरा	१.४१२	.९८२	४५३.३२	६५०.६९	४३.५४	४८.०९	३३.११	२३.६१	१.०६५	५०.६२	९.४१	३०.८
९. सियान	१.३३०	.९८४	४८०.५३	६४९.६८	३५.२०	५१.२२	१७.५५	२१.५०	१.२५८	५३.४८	१९.७६	३६.८
१०. बहिरी	१.१७५	.८३३	५४३.५६	७६८.५४	४१.३९	३६.९५	२०.८३	२३.२४	१.२६३	४९.४६	९.१७	२९.३
११. पंचसोआ	१.३५८	१.०३७	४७१.०६	६१६.६८	३०.९१	४८.३२	२३.२९	१८.३०	१.१३०	५४.३५	६.२८	३०.६
१२. सिंघी	१.०३७	.७६१	६१७.३०	८४०.५५	३६.१६	३२.५८	१४.५६	१८.७१	१.१८९	५३.७६	३.९८	२९.०
बारह यूनियन बोर्ड्स	१.३२२	.९४१	४८४.१२	६८०.२८	४०.११	४७.४७	२५.३३	२१.०८	१.२५९	५२.२९	१२.४४	३२.७०
१३. सुरुल (मौजा १०४)	.६७९	.४८३	९४१.६४	१,४४५.४७	५३.५०	४०.७२	३५.६२	४१.७२	१.२१९	४३.३६	९.६८	२७.७१
१४. बोलपुर बन्दगोरा का भाग (मौजा ९९ : १००)	.२४१	.१७१	२,६४९.६७	३,७४३.४२	४१.२८	६.६९	५३.८२	६२.९२	१.३३०	४९.३२	४.८९	२७.७६
१५. कुल ग्रामीण क्षेत्र	१.२६४	.८९३	५०६.३६	७१६.१९	४१.४४	४६.०	२६.५४	२३.३०	१.२६६	५१.७०	१२.०९	३२.२८
१६. बोलपुर शहर	.२१९	.१३९	२,९१९.५२	४,६०७.७०	५७.८२	२३.०१	४३.५९	४४.७९	१.०२०	४८.९८	७.९९	३०.३७
१७. कुल क्षेत्र	१.०६५	.७३६	६०१.०	८६९.४१	४४.६६	४१.२०	२९.८०	२७.७८	१.२१६	५१.१०	११.२९	३१.८८

ट्रैक्ट नम्बर १० के औसत से अच्छा है ? क्या कोई क्षेत्र समग्र रोजी, महिला रोजगार अथवा शिक्षा के क्षेत्र में कोई स्थायी प्रवृत्ति का निदर्शन करता है ? यदि हाँ, तो इसके कारण क्या हैं ? इन क्षेत्रों की प्रगति के विभिन्न पहलुओं की विस्तृत विभिन्नताओं की प्रभाव-युक्त व्याख्या के लिए निस्सन्देह यह आवश्यक होगा कि आबादी की रचना, क्षेत्रों की भौगोलिक दृष्टि से बनावट, समाज-व्यवस्था और आर्थिक अवस्था, शहर के साथ आवागमन के साधन तथा अन्य इसी प्रकार की बातों का और अधिक अध्ययन किया जाय। यदि शहर निकट होने से ज्यादा रोजगारी अथवा शिक्षा के पहलू पर प्रकाश न पड़े तो फिर इसके कारण हमें ग्राम पुनर्निर्माण संस्था के कार्यक्षेत्र में मिलेगा या फिर राष्ट्रीय विस्तार सेवा के कार्यकर्त्ताओं ने किसी विशेष पहलू पर अधिक जोर दिया होगा।

बोलपुर थाने के क्षेत्र में कुल आबादी में काम करनेवाली जन-संख्या का प्रातिशत्य १९६१ में ३१.८८ प्रति शत यानी ग्रामीण ट्रैक्ट नम्बर १० से कुछ ज्यादा था, जैसा कि तालिका ७ में दिखाया गया है। लेकिन १९५१ के लिए समानान्तर आंकड़े नीचे तालिका ८ (पृष्ठ : ४३०–३१) में कुल आबादी का—दशक के दोनों छोरों पर बड़े तथा छोटे क्षेत्र पर समान रूप से लागू समग्र पद्धति के अनुसार जो वर्गीकरण किया गया है उससे प्राप्त करने होंगे।

गैर-खेतिहर रोजगारी का अभी सृजन करना है। काम करनेवाली आबादी का प्रातिशत्य कुछ कम हुआ है। भूमि पर अधिक निर्भरता से—सम्भवत : कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए बेहतरीन सुविधाएँ देने और भूमि जोतनेवाले किसान को भूमि पर स्वामित्व का अधिकार देने पर जोर देने की जो अत्यधिक आवश्यकता थी उससे प्रभावित होकर समूचे रूरल ट्रैक्ट १० के एक समान बढ़े हुए उत्पादन के लिए जितने लोगों की आवश्यकता थी, उससे कहीं अधिक लोग आकर्षित हुए हैं।

कृषि के अन्तर्गत भूमि का क्षेत्र और भूमि पर आश्रित आबादी को, प्रति व्यक्ति तथा प्रति एकड़ भूमि उत्पादन बढ़ाते हुए, कम करने का अन्तिम उद्देश्य स्वीकार करते हुए, मानव-भूमि-अनुपात में वर्तमान कमी, भूमिहीन खेतिहर मजदूरों की संख्या में अपेक्षाकृत वृद्धि (जो कि १९५१ में भूमि-मालिकों से दर्जे में कुछ भिन्न होने से जीविकोपार्जन वर्ग २ और ३ में वर्गीकृत किये गये थे), और अन्ततोगत्वा जीविकोपार्जन वर्ग चार—भूमि-लगान वसूल करनेवाले भूमि के गैर-खेतिहर मालिक—का लुप्त होना सम्भवत : न तो प्रथम वर्ग की आर्थिक अवस्था में सुधार ही सुझाते हैं और न द्वितीय वर्ग [४४] का बिल्कुल समाप्त होना ही।

आबादी की वृद्धि के साथ यदि रोजगारी नहीं बढ़ सकी तो इसके लिए सरकार को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। विशुद्ध जन्मानुपात और रोजगारी निर्माण की दौड़ में जब तक सरकार को अपनी दीर्घ-कालीन योजनाओं को कार्यान्वित करने का समय और पर्याप्त शक्ति नहीं मिलती तब तक रोजगारी के अवसर शायद ही उक्त दौड़ में बराबर आ सकें।

शिक्षा और साक्षरता

सभी को मुफ्त प्राथमिक शिक्षा देना यदि हमारा अन्तिम उद्देश्य, और जो राष्ट्र निर्माण के कार्य सरकार

४४. शायद यहीं सरकार के सामने वास्तविक कठिनाई या सवाल आता है। कोई भी लाभदायक उपाय ग्रामीण समाज के विभिन्न आर्थिक वर्गों को निश्चित रूप से ही भिन्न-भिन्न रूप में प्रभावित करता है, जिनके अलग-अलग और सम्भवतः परस्पर विरोधी हित होते हैं। भूमिहीन लोगों के साथ अच्छा व्यवहार करने का आश्वासन देने हेतु राज्य के सीमित स्रोतों का प्रयोग करने से जमीन के मालिकों को उत्पादन बढ़ाने का प्रोत्साहन शायद ही मिले; इसके विपरीत सिंचाई की सुविधाओं, बेहतरीन उपकरणों, खाद या उन्नत बीज देने की दिशा में सुधार करने से न केवल भूमिहीन लोगों को कोई लाभ नहीं होगा, बल्कि संभवतः खेतिहर वर्ग के हाथ मजबूत होंगे और उल्टे उनकी अवस्था बिगड़ेगी। फिर भी, अधिक उत्पादन के व्यापक हित को ध्यान में रखते हुए कुछ काल के लिए यह द्विकू रचना सहनी पड़ेगी।

तालिका ८

बोलपुर थाना क्षेत्र का पेशेवार विभाजन : १९५१–१९६१

क्षेत्र	१९६१						१९५१				
	कुल आबादी में कार्यकारी आबादी का प्रातिशत्य			कार्यकारी आबादी का प्रातिशत्य-विभाजन			आबादी के प्रातिशत्य के रूप में जि. व.§१	आबादी के प्रातिशत्य के रूप में जि. व.§२	आबादी के प्रातिशत्य के रूप में जि. व.§ २ व ४	आबादी के प्रातिशत्य के रूप में कृषि श्रमिक (जि व.§३)	आबादी के प्रातिशत्य के रूप में गैर-कृषि वर्ग
	कृषक	खेतिहर श्रमिक	गैर-खेतिहर वर्ग	कृषक	खेतिहर श्रमिक	गैर-खेतिहर श्रमिक					
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२
सत्तूर	१५.७५	१२.४७	५.७३	४६.३८	३६.७३	१६.८९	४५.०७	१५.८४	६०.९१	२८.३२	१०.७७
कस्बा	१८.७२	१०.४५	४.२३	५६.०४	३१.२९	१२.६७	४६.७४	३१.१०	*७७.९७	१६.८१	५.२२
सरपेलहाना	१८.८१	१३.४१	५.४२	५०.००	३५.६२	१४.३८	४१.८६	२३.६८	६५.५४	२३.२८	११.१८
रुपुर	१५.२६	१३.०५	७.३५	४२.७७	३६.५९	२०.६४	३९.४२	२५.७०	*६६.६३	२७.००	६.३७
रायपुर	१६.३७	९.३३	४.९१	५३.४७	३०.४७	१६.०६	२०.५२	२३.३७	*५१.९७	३२.५८	१५.४५
सुपुर	११.१७	९.८५	४.५१	४३.७६	३८.६०	१३.६४	२६.९८	४०.५०	६७.४८	२१.९०	१०.६२
तालतोड़	१४.१३	१२.४०	१२.७९	३५.९३	३१.५४	३२.५३	२३.९६	२३.४१	*५२.००	२०.२८	२७.७२
अम्दाहरा	१४.२०	१३.८९	२.७७	४६.००	४५.००	९.००	४२.६६	१८.९१	*६४.८२	३०.६५	४.५३
सियान	१२.२५	२०.४३	४.१५	३३.२६	५५.४९	११.२५	२९.८९	३१.१२	*६९.१०	२१.८७	९.०३
बहिरी	१३.४७	१०.५५	५.३१	४६.८६	३५.९६	१७.१८	४५.१३	२२.९६	*६८.५९	२३.४४	७.९७
पंचसोआ	१२.५२	१३.६९	४.४३	४०.८६	४४.६८	१४.४६	३६.४१	२७.५८	*६५.६४	१५.४४	१८.९२
सिंघी	१५.७७	९.६६	३.६२	५४.४५	३३.३६	१२.१९	३५.६५	२८.२९	६३.९४	२६.६२	९.४४
१२ यूनियन बोर्ड्स का योग	१४.९८	१२.२५	५.४७	४५.८२	३७.४५	१६.७३	३६.९६	२६.८०	*६४.९२	२३.८५	११.२३

§ जीविका वर्ग

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२
सुरुल	१०.१५	३.४४	१४.१२	३६.६२	१२.४२	५०.९६	(१७.१७	२७.४९)	*४७.४१	१५.९५	३६.६४
ग्रामीण क्षेत्र, बोलपुर (मौजा ९९; १००)	५.४९	.४८	२०.८९	२०.४२	१.८२	७७.७६	(१६.४५	७.५१)	*२४.०८	१६.३३	५९.५९
योग : ग्रामीण	१४.४७	११.४७	६.३४	४४.८३	३५.५३	१९.६४	(३५.५०	२६.३४)	*६३.०४	२३.२८	१३.६८
बोलपुर शहर	.८६	१.२१	२८.३०	२.८३	३.९९	९३.१८	(७.६२	५.९२)	*१४.८६	१.२०	८३.९४
कुल योग	११.६३	९.३३	१०.९२	३६.४८	२९.२६	३४.२६	(३०.१७	२२.४३)	*५३.८३	१९.०६	२७.११

* कालम ८ और ९ तथा कालम १० का अन्तर जीविकोपार्जन वर्ग चार–भूमि के गैर-कृषक मालिक–के व्यक्तियों का प्रातिशत्य बताता है। (व्यक्तियों की कुल संख्या : ग्रामीण ७९९; शहरी १९९।)

टिप्पणी : कालम ८ से १२ **कुल** आबादी का प्रातिशत्य विभाजन प्रकट करते हैं, कार्यकारी आबादी नहीं। कालम ८ से १२ तक १२ **यूनियन बोर्ड, कुल ग्रामीण क्षेत्र** और **कुल योग** के आंकड़े इस प्रकार हैं : **कालम ८ :** २१,४६९; २२,२३७; २३,२६९; **कालम ९ :** १६,९६९; १६,४९७; १७,२७२; **कालम १० :** २७,७०१; २९,४८९; ४१,६८८; **कालम ११ :** १३,८५०; १४,९८४; १४,७६२; **कालम १२ :** ६,९२३; ८,९६९; २०,९९०।

रूरल ट्रैक्ट १० में सम्बद्ध जीविकोपार्जन वर्गों के लिए **अपने पैरों पर खड़े होनेवाले लोगों** और **कमाऊ आश्रितों** का प्रातिशत्य इस प्रकार है : जि. व. १: २९.०६ प्र. श. और २.१४ प्र. श.; (२) जि. व. २ : २६.७७ प्र. श. और ५.९७ प्र. श.; (३) जि. व. ३: २४.७१ प्र. श. और ५.४० प्र. श.; (४) जि. व. ४ : ३२.८० प्र. श.; और २.२३ प्र.श. और (५) गैर-कृषक वर्ग (जि. व. ५ से ८) : ४३.२२ प्र. श. और ३.४१ प्र. श.। सम्बद्ध वर्ग पर इस प्रातिशत्य (अपने पैरों पर खड़े होनेवाले और कमाऊ आश्रित) का प्रयोग करते हुए १२ रूरल यूनियन बोर्ड्स में कार्यकारी आबादी के लिए हमें ये परिकल्पनात्मक आंकड़े प्राप्त होते हैं : जि. व. १: ५,८३८; (२) जि. व. २ : ५,०९६; (३) जि, व. ३ : ५,५९९; (४) जि. व. ४ : २३९; (५) गैर-कृषक वर्ग : ३,०४२; योग : १९,७६६।

बड़ी व्यस्तता के साथ लागू कर रही है उनमें से एक कार्य, है तो बोलपुर क्षेत्र का समग्र चित्र शायद विश्वासवर्द्धक नहीं है। 'साक्षर और शिक्षित लोगों' को वर्गीकृत करने का मापदण्ड सम्भवतः १९५१ और १९६१ में समान ही था। जनगणना के नवीनतम प्रतिवेदन की तालिका ५७ में प्रस्तुत विवरण दिलचस्प प्रवृत्तियाँ प्रस्तुत करता है।

पूर्ण संख्या की दृष्टि से धुर उत्तर के चार यूनियन बोर्ड्स (सत्तूर, कस्बा, सरपेलहाना, अम्दाहरा—मानचित्र में १,२,३, और ८ से चिन्हित) में साक्षरता के क्षेत्र में गिरावट आयी। सम्बद्ध क्षेत्र की कुल आबादी के प्रातिशत्य की दृष्टि से साक्षरता मापने पर सरपेलहाना १९५१ में सर्व प्रथम था (उस वक्त जनगणना में ४१.७ प्रति शत साक्षर बताये गये थे), लेकिन उसका स्थान गिरकर सातवाँ रह गया। साक्षर व्यक्तियों का प्रातिशत्य २०.१ था। सत्तूर का प्रातिशत्य भी ३८.७ प्रति शत से कम होकर १९.२ प्रति शत हो गया। सबको एक साथ मिलाकर देखने से १२ ग्रामों में से छः का प्रातिशत्य गिरा है, कुल बारह गाँवों का प्रातिशत्य १९६१ में २१.१ प्रति शत था, जब कि १९५१ में २५.३ प्रति शत। बोलपुर शहर के प्रातिशत्य में कुछ सुधार हुआ है, लेकिन समग्र क्षेत्र का सामान्य औसत २९.८ प्रति शत से २७.८ प्रति शत हो जाने से कम हुआ है।

एक संयुक्त ग्राम्य जीवन की विशेषताओं में जो विभिन्न सामाजिक, आर्थिक तथा अन्य पहलू आते हैं उनके पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार करने के लिए तालिकाओं में संकलित आंकड़े स्पष्ट रूपेण अपर्याप्त हैं। तालिका से जो कुछ तथ्य सामने आते हैं उनका यहाँ उल्लेख किया गया है ताकि आबादी के घनत्व, दशक के दरमियान जन-संख्या वृद्धि की दर, साक्षरता प्रातिशत्य, कुल आबादी के प्रातिशत्य के रूप में काम में लगी आबादी—पुरुष, महिलाएँ और कुल—आदि के सम्बन्ध में विभिन्न ग्रामों की सापेक्षिक स्थिति पर ध्यान आकर्षित हो सके। परिवारों और निवासगृहों की परिभाषा में १९६१ में संशोधन किये जाने के कारण हमने दोनों जनगणनाकालों का नहीं बल्कि १९६१ की जनगणना के अनुसार परिवारों और निवास-गृहों का ही अनुपात बताया है।[४५]

तमाम १२ यूनियन बोर्ड्स की सूची पुनः बनाने के स्थान पर तीन शिखर के और तीन निम्न के गाँवों को ही प्रत्येक मद के नीचे लिखा गया है। मानचित्र देखने में सहूलियत हो, इसके लिए प्रत्येक यूनियन बोर्ड के सामने लिखित क्रमांक का भी उल्लेख कर दिया गया है।

(अ) प्रति वर्ग मील घनत्व

१९५१			१९६१		
क्रम	यूनियन बोर्ड		क्रम	यूनियन बोर्ड	
(अ)	सिंघी	(१२)	(अ)	सिंघी	(१२)
(आ)	बहिरी	(१०)	(आ)	बहिरी	(१०)
(इ)	रायपुर	(५)	(इ)	सुपुर	(६)
(औ)	कस्बा	(२)	(औ)	सरपेलहाना	(३)
(अं)	सरपेलहाना	(३)	(अं)	पंचसोआ	(११)
(अः)	रुपुर	(४)	(अः)	रुपुर	(४)

(आ) जन-संख्या वृद्धि की दर (१९५१–६१ में)

क्रम	यूनियन बोर्ड		प्रातिशत्य
(अ)	सुपुर	(६)	७५.३
(आ)	रुपुर	(४)	७२.५
(इ)	अम्दाहरा	(८)	४३.५
(औ)	सियान	(९)	३५.२
(अं)	पंचसोआ	(११)	३०.९
(अः)	रायपुर	(५)	२३.७

४५. इस सम्बन्ध में विस्तृत विश्लेषण के लिए [illegible] रिपोर्ट, १९५९ देखिये।

(इ) कुल आबादी के प्रातिशत्य के रूप में कार्यकारी आबादी : १९६१

पुरुष कार्यकारी आबादी			महिला कार्यकारी आबादी			कुल कार्यकारी आबादी		
क्रम	यूनियन बोर्ड		क्रम	यूनियन बोर्ड		क्रम	यूनियन बोर्ड	
(अ)	तालतोड़	(७)	(अ)	सरपेलहाना	(३)	(अ)	तालतोड़	(७)
(आ)	रुपुर	(४)	(आ)	सियान	(९)	(आ)	सरपेलहाना	(३)
(इ)	पंचसोआ	(११)	(इ)	तालतोड़	(७)	(इ)	सियान	(९)
(औ)	अम्दाहरा	(८)	(औ)	बहिरी	(१०)	(औ)	बहिरी	(१०)
(अं)	बहिरी	(१०)	(अं)	पंचसोआ	(११)	(अं)	सिंघी	(१२)
(अः)	सुपुर	(६)	(अः)	सिंघी	(१२)	(अः)	सुपुर	(६)

(ई) कुल आबादी के प्रातिशत्य स्वरूप कृषक

क्रम	यूनियन बोर्ड		प्रातिशत्य
(अ)	सरपेलहाना	(३)	१८.८
(आ)	कस्बा	(२)	१८.७
(इ)	रायपुर	(५)	१६.४
(औ)	पंचसोआ	(११)	१२.५
(अं)	सियान	(९)	१२.३
(अः)	सुपुर	(६)	११.२

(उ) कार्यकारी आबादी के प्रातिशत्य स्वरूप कृषक

क्रम	यूनियन बोर्ड		प्रातिशत्य
(अ)	कस्बा	(२)	५६.०
(आ)	सिंघी	(१२)	५४.५
(इ)	रायपुर	(५)	५३.५
(औ)	रुपुर	(४)	४२.८
(अं)	तालतोड़	(७)	३५.९
(अः)	सियान	(९)	३३.३

(ऊ) कुल आबादी के प्रातिशत्य स्वरूप खेतिहर श्रमिक

क्रम	यूनियन बोर्ड		प्रातिशत्य
(अ)	सियान	(९)	२०.४
(आ)	अम्दाहरा	(८)	१३.९
(इ)	पंचसोआ	(११)	१३.७
(औ)	सुपुर	(६)	९.९
(अं)	सिंघी	(१२)	९.७
(अः)	रायपुर	(५)	९.३

(ए) कार्यकारी आबादी के प्रातिशत्य स्वरूप खेतिहर श्रमिक

क्रम	यूनियन बोर्ड		प्रातिशत्य
(अ)	सियान	(९)	५५.५
(आ)	अम्दाहरा	(८)	४५.०
(इ)	पंचसोआ	(११)	४४.७
(औ)	तालतोड़	(७)	३१.५
(अं)	कस्बा	(२)	३१.३
(अः)	रायपुर	(५)	३०.५

(ऐ) कुल आबादी में साक्षरों का प्रातिशत्य

१९५१			१९६१		
क्रम	यूनियन बोर्ड		क्रम	यूनियन बोर्ड	
(अ)	सरपेलहाना	(३)	(अ)	तालतोड़	(७)
(आ)	सत्तूर	(१)	(आ)	अम्दाहरा	(८)
(इ)	कस्बा	(२)	(इ)	बहिरी	(१०)
(औ)	रायपुर	(५)	(औ)	कस्बा	(२)
(अं)	सिंघी	(१२)	(अं)	सिंघी	(१२)
(अः)	सुपुर	(६)	(अः)	पंचसोआ	(११)

(ओ) परिवार-मकान अनुपात : १९६१

क्रम	यूनियन बोर्ड	
(अ)	रायपुर	(५)
(आ)	सत्तूर	(१)
(इ)	कस्बा	(२)
(औ)	पंचसोआ	(११)
(अं)	सुपुर	(६)
(अः)	अम्दाहरा	(८)

(औ) कुल आबादी में अनुसूचित जातियों और जन-जातियों का प्रातिशत्यः १९६१

क्रम	यूनियन बोर्ड		प्रातिशत्य
(अ)	सुपुर	(६)	६३.५
(आ)	कस्बा	(२)	५६.८
(इ)	सरपेलहाना	(३)	५६.२
(औ)	सत्तूर	(१)	३९.८
(अं)	बाहिरी	(१०)	३६.९
(अः)	सिंघी	(१२)	३२.६

सीमित अधिकार और मामूली आदमनी से, जो कि प्रति व्यक्ति के आधार पर जोड़ी गयी थी तथा एक दशक की अविध में और भी कम हो गयी हैं, नगरपालिका के सामने एक कठिन समस्या यह है कि २४,००० निवासियों को साफ किया हुआ जल कैसे प्रदान किया जाय। मौसमी बीमारियाँ और ग्रीष्मकाल में पीने के पानी की कमी स्थानीय अधिकारियों के लिए चिन्ता का विषय बनी हुई है। कुछ तो वे बीमारियाँ जो क्षेत्र की प्राकृतिक बनावट के अनुसार हुआ करती हैं और कुछ वे जो प्राय: असन्तोषप्रद भोजन के कारण पैदा होती हैं, उक्त क्षेत्र में खड़ी हो रही हैं। और अन्त में उन बीमारियों का भी जोर बताया जाता है, जो शहरीकरण के साथ जुड़ी रहती हैं।

जनगणना प्रतिवेदन में जिस पेशेवार प्रवृत्ति का वर्णन किया गया है उसमें हमें उन गैर-खेतिहर गतिविधियों[४६]—यद्यपि आंशिक रूप में—का कुछ आभास मिलता है, जो गैर-औद्योगिक शहरी केन्द्र में, जो कि कोई १५० गाँवों[४७] का केन्द्र बिन्दु है, चलती हैं। इन आंकड़ों से फिर भी यह कहना मुश्किल है कि किस हद तक शहरी और ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के बीच सन्तुलन कायम किया गया है अथवा किस हद तक गाँवों से आनेवाली आबादी को शहरी अर्थ-व्यवस्था में खपाया गया है।

यदि 'निर्यात मूलक' कलकत्ता, डेढ़-सौ वर्षों के दरमियान अर्जित की गयी अपनी सभी सम्पत्ति के होते हुए भी शेष बंगाल की ओर से 'पराश्रयी' है तो एक छोटे-से रूप में उसी प्रकार की शकल प्राप्त करनेवाले अथवा उसकी सम्भाव्यतावाले इस स्थान का भी प्रस्तुत आंकड़ों से किसी स्पष्ट चित्र का अन्दाज नहीं लगाया जा सकता।

---

४६. बोलपुर नगरपालिका के अध्यक्ष द्वारा प्रदत्त जानकारी के अनुसार जुलाई, १९६२ में वहाँ ७६६ व्यापारी थे, जिनके पास नगरपालिका के लायसेंस थे। यह सोचते हुए कि एक गैर-औद्योगिक केन्द्र के व्यापारियों की संघटना पाठकों के लिए रुचिकर होगी, इसलिए सूची यहाँ दी जा रही है: (अ) चावल और तेल मिलें (१८); (आ) आटा चक्की और धान कुटाई की मशीनें (१५); (इ) आढ़तदारी या अनाज के थोक व्यापारी (५०); (ई) लोहे के व्यापारी (१०); (उ) काठ चिराई कारखाने (३); (ऊ) सुनार (३६); (ए) काठ के व्यापारी (१२); (ऐ) मुद्रणालय (४); (ओ) कोयले के व्यापारी (४०); (औ) आइस-क्रीम फैक्ट्री (२); (अं) साइकिल की दूकानें (२२); (अः) बैंक (२); (क) होटल (१५); (ख) बीडी के पत्ते और तम्बाकू के व्यापारी (२०); (ग) बैक्री (१०); (घ) पंसारी की दूकानें (१२५); (ङ) कपड़े के व्यापारी (६५); (च) स्टेशनरी की दूकानें (३१); (छ) चाय और मिठाई की दूकानें (८०); (ज) मांस और मछली की दूकानें (११); (झ) दवाई की दूकानें (७); (ञ) शराब और गांजे की दूकानें (६); (ट) जूते की दूकानें (७); (ठ) डाक्टर, वैद्य आदि (२५); (ड) वकील (१४); और (ढ) विविध (१२५)।

जनगणना (१९६१) अधिकारी से प्राप्त एक दूसरे प्रतिवेदन के अनुसार ४२ श्रेणियों के ८६० व्यापारी थे, जिन्होंने २११ मैकेनिकल या कुशल कामगारों; १,५२१ कारीगरों या अन्य कामगारों; १२८ स्थायी श्रमिकों और २,६६० मौसमी श्रमिकों अथवा कामगारों को काम पर लगा रखा था। सन् १९६१ की जनगणना के अनुसार कुल ४८४ व्यक्ति कृषि में और ६,१११ गैर-खेतिहर कामों में लगे थे।

४७. ग्राम और शहरी विकास की गति भिन्न होते हुए १९४१ में प्रति शहरी व्यक्ति के पीछे ग्रामीण बोलपुर में १.९ व्यक्ति थे; १९५१ में यह अनुपात बढ़कर ४.२ हो गया और १९६१ में फिर गिर कर १.८ हुआ।

भुवनडांगा गाँव[४८] का चित्र विरोधाभासों से भरा है। एक ओर शहरी चकाचौंध और दूसरी ओर शान्ति निकेतन के सुरम्य वातावरण के बीच बसा हुआ इस गाँव को दोनों स्रोतों से अपनी अर्थ-व्यवस्था को बनाये रखने का लाभ प्राप्त है। यदि साधारण तौर पर जिस चीज की अपेक्षा की जाय वह न मिले तो कोई भी यह पूछ सकता है कि इसका कारण स्थानीय लोगों में कठोर श्रम करने के प्रति पुश्तैनी उदासीनता का होना है अथवा कुछ और या फिर दोनों। गाँव से होकर गुजरनेवाले को वे ही पुराने छप्पदार घर, दुर्बल काय स्त्री-पुरुष और बच्चे तथा नाममात्र के पशु दृष्टिगोचर होते हैं।

इस गरीबी के बीच कुछ पक्के मकान हैं, जिनमें बिजली और रेडियो लगे हुए हैं; इनमें शहरी लोग रहते हैं, जिनके लिए जमीन की सस्ती कीमत प्रमुख आकर्षण है; दूसरा आकर्षण है शहर से नजदीक होना। इन वर्षों में जिन लोगों के पास जमीन थी वे पनपे हैं; दूसरे पूर्व की भाँति अब भी घुमक्कड़ 'काबुलीवालों' के ऋण के बोझ से दबे हैं। लेकिन, इसका उपचार भी क्या है? शेष भारत के साथ यह इलाका भी अपनी गतिहीनता की अवस्था से उठ चुका है और आगे बढ़ रहा है। पुरानी संस्थाओं का लोप हो रहा है, नयी सुविधाओं और तक्निकों का विकास हो रहा है।[४९]

जो लोग उद्यमशील हैं 'वे प्रस्तुत अवसरों का लाभ उठा रहे हैं तथा निराशावादी उदासीन जनसमुदाय अब भी पीछे लटका हुआ है।'[५०] सरकार बेहतरीन जीवन-यापन के लिए उपयुक्त वातावरण निर्मित करने के सिवाय और कुछ नहीं कर सकती; इसके प्रति लोगों की क्या प्रतिक्रिया होती है, वे किस प्रकार इसका फायदा उठाते हैं, यह निस्सन्देह इस बात पर निर्भर करता है कि अवसर से लाभ उठाने की उनमें कितनी इच्छा और क्षमता है। लेकिन गतिहीनता अथवा किसी एक या दूसरी दिशा में गलत जोर दिये जाने के क्या कोई संकेत मिलते हैं? क्या विकास में कोई ऐसे लक्षण मिलते हैं कि उन्हें देखते हुए हमारे उपागम में नवसंस्करण लाने की आवश्यकता है?

एक देहाती क्षेत्र के विकास सम्बन्धी विभिन्न पहलुओं का संक्षिप्त चित्र प्रस्तुत करते हुए निष्कर्षों की ओर संकेत करने अथवा उपचार सुझाने का कोई प्रयास नहीं किया गया है। कुछ प्रवृत्तियाँ स्पष्ट परिलक्षित हैं और सम्भवतः समग्र देश में जो बातें मिलती हैं उनके अनुरूप भी। कुछ ऐसी बातें भी मिलती सकती हैं जो ऐसी प्रवृत्ति की ओर संकेत करती हैं जो कि क्षेत्र अथवा क्षेत्र में रहनेवाले लोगों की अपनी विशेषता है। ये सब और कुछ न होकर अस्थायी चीजें हैं। इस प्रकार के अध्ययन का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। आशा है ऐसे अध्ययन में रुचि रखनेवाले व्यक्तियों के लिए उक्त लेख किसी हद तक उपयोगी सिद्ध होगा।

१० दिसम्बर १९६२ ●

---

४८. गाँव में २७९ घर हैं; ७४६ पुरुष और ६९८ महिलाएं। गाँव में २९ पक्के मकानों में से २० में शहरी लोग रहते हैं। केवल २१ घरों के पास—१८४ बीघा गाँव से नजदीक और ५७ बीघा दूसरे गाँवों में—जमीन है। इनमें से आठ घरों के पास २२ बीघा, दूसरे सात के पास ५८ बीघा और शेष छः के पास १६१ बीघा जमीन है। केवल ५४ घरों में पशु (१९१) हैं। समूचे गाँव में १६ बैल-गाडियाँ ही हैं। पैंतालीस व्यक्ति विश्वविद्यालय के कार्यालय में, नौ छोटे-मोटे व्यापारी काम और पन्द्रह शहर के कार्यालयों में काम करते हैं। ढेंकी का लोप हो जाने के कारण गाँव की औरतें या तो बेकार हैं अथवा घर की नौकरानी का काम करती हैं। गाँव में ही विद्युत जनित्र होने पर भी केवल कुछ पक्के घरों में ही बिजली है; शेष घरों में 'दीपक तले अंधेरा' है। बिजली के औद्योगिक उपयोग से ग्रामीण अब भी अनभिज्ञ हैं। (उक्त जानकारी गाँव के निवासियों सर्वश्री विजयी हाजरा, जनाब रुस्तम अली, ज्योतिव्रत मजूमदार और नेपाल प्रमाणिक से प्राप्त हुई।)

४९. नहरों से पानी की सप्लाई और अधिक सुनिश्चित होने के कारण पुराने तालाब अब भी पहले की भांति खुदे हुए हैं तथा सिंचाई व मत्स्यपालन के लिए यथा सम्भव प्रभावशाली रूप से काम में लाये जा रहे हैं।

५०. खाद्य सामग्री का उत्पादन बढ़ाने के लिए प्राकृतिक स्रोतों का लाभ उठाने के दबाव के होते हुए भी आस-पास के क्षेत्र में यत्र-तत्र फैले हुए ताड़ और खजूर वृक्षों का छेदन-कार्य परिपूर्ण रूप से हाथ में नहीं लिया गया है; और जैसा कि प्रायः हुआ करता है अन्य गाँवों के उद्यमी लोग आते हैं और उन गाँवों में ताड़ वृक्षों का ठेका लेते हैं जहाँ ये काफी मात्रा में पाये जाते हैं। सदैव निराशावादी स्थानीय व्यक्ति उनका उपयोग नहीं करते।

पूर्ण जानकारी देने की आवश्यकता

खादी विकास कार्यक्रम का एक बुनियादी उद्देश्य ग्रामीण बेकारी और अर्द्ध-बेकारी में कमी करना भी है। इस प्रकार ग्रामीण और शहरी दोनों ही क्षेत्रों में खादी कार्य के संगठन के सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्यों में एक है जरूरतमन्दों के लिए कताई, बुनाई तथा खादी उत्पादन की अन्य सहायक प्रक्रियाओं में काम की व्यवस्था करना। जबसे खादी कार्यक्रम शुरू हुआ है, और खासकर अम्बर चरखा के आगमन के बाद, इसका कारीगरों की सामाजिक और आर्थिक अवस्थाओं पर जो प्रभाव पड़ा है, उसका कुछ समितियों ने मूल्यांकन किया है, जिनमें डा. ज्ञानचन्द की अध्यक्षता में गठित खादी मूल्यांकन समिति की रिपोर्ट विशेष महत्वपूर्ण है।

खादी उद्योग में लगे हुए कामगारों की अवस्थाओं का अध्ययन करते हुए मूल्यांकन समिति इस निष्कर्ष पर पहुँची है कि वर्तमान समय में सूतकारों और बुनकरों की आय बहुत ही कम है। सूतकारों को परम्परागत चरखे से २० रुपये और अम्बर चरखे से ५३ रुपये और खादी बुनकरों को २७६ रुपये की वार्षिक आय होती है।

आंकड़े तथा तथ्य

मूल्यांकन समिति के पर्यवेक्षणों के अतिरिक्त यह सर्व विदित है कि कुछ अर्थशास्त्रियों ने भी खादी कार्यक्रम की आलोचना की है। उनकी आलोचना का मुख्याधार इसमें लगे हुए कामगारों की न्यून वेतन-दर तथा बहुत कम आय है। ये निष्कर्ष कुल उत्पादन, रोजगारी आदि पर आधारित हैं, तथा उस आधार पर राष्ट्रीय औसत का हिसाब निश्चित से अधिक काल्पनिक है। दूसरे शब्दों में, सूतकारों और बुनकरों आदि की आय की वास्तविक दशा उतनी निराशाजनक नहीं है जितनी कि अर्थशास्त्र विशेषज्ञ बताते हैं। बुनकरों की आय के सम्बन्ध में समय-समय पर प्रकाशित सरकारी तथा गैर-सरकारी विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं से पता चलता है कि कई बुनकर परिवारों ने १५० रुपये से २६० रुपये तक मासिक आय की है। गुजरात के कुछ केन्द्रों ने इस बात की पुष्टि की है कि अनेक बुनकर परिवार अम्बर (या परम्परागत चरखे के) सूत की बुनाई से अच्छी आमदनी करते हैं।

आलोचना की गुंजाइश

विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित बुनकरों की वास्तविक आय के आंकड़ों के विश्लेषण से स्पष्ट पता चलता है कि पूरे समय के धंधे के रूप में बुनाई काम अपनाना आर्थिक दृष्टि से भी ठोस है, क्योंकि इससे १५० रुपये से २६० रुपये की मासिक आय हो सकती है, जोकि ग्रामीण और शहरी दोनों ही क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय की तुलना में अधिक है। यहाँ सावधानीपूर्वक

विचार करने की आवश्यकता है। यद्यपि इस प्रकार के आंकड़े प्रायः अनुभवी खादी कार्यकर्त्ताओं द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं किन्तु उनका समर्थन करनेवाली जानकारियों के अभाव में विभिन्न तरह से उनकी आलोचना की जा सकती है। यह बताना युक्तिसंगत होगा कि इस आय में केवल बुनकरों की व्यक्तिगत आय ही नहीं है, वरन् उन सहायकों की भी आय सम्मिलित है जो अधिकतर उनके परिवारों के सदस्य होते हैं।

अतः यह महत्वपूर्ण बात है कि बुनकरों की आय या किसी भी श्रेणी के कारीगरों की आय के आंकड़े प्रकाशित करते समय उन्हें दी गयी सहायता का भी विवरण देने के सम्बन्ध में सावधानी बरतनी चाहिए अन्यथा उनकी आय की सही जानकारी नहीं मिल सकती। इन आंकड़ों की प्रमाणिकता सिद्ध करने के लिए अपर्याप्त जानकारी होने से बेशक खादी कार्यक्रम पर आलोचकों को आक्षेप करने का अवसर मिलता है। अतः उन सभी लोगों से जो इस प्रकार की सूचनाओं का प्रसार करते हैं मेरा साग्रह अनुरोध है कि वे सभी आंकड़ों की युक्ति संगत सूचनाओं के आधार पर कि उसमें सहायकों की संख्या कितनी है तथा उनकी प्रक्रियाओं के लिए कितनी सहायता प्राप्त हुई और काम में कितना समय लगा आदि की जांच करें तथा अपने प्रचार को परिपुष्ट बनायें; उदाहरणार्थ यदि एक बुनकर किसी विशेष महीने में २६० रुपये कमा लेता है और यदि इस सूचना की किन्हीं अन्य तथ्यों द्वारा पुष्टि नहीं की जाती, तो कोई भी व्यक्ति यह अनुभव करेगा कि खादी बुनाई से प्रति माह २६० रु. की आय होती है। अत : इस प्रकार के आंकड़े प्रकाशित करते समय सावधानी बरती जाय। यह वांछनीय है कि उस बुनकर के परिवार में कमानेवालों, सहायकों और आश्रितों की संख्या कितनी है, बुनकर को उनसे विभिन्न प्रक्रियाओं में कितनी सहायता प्राप्त होती है, जैसे, ताना बनाने में, माड़ी लगाने में तथा करघे पर बुनाई करने में भी, का विवरण देकर आंकड़ों की पुष्टि की जानी चाहिए। यदि अधिकृत पत्र-पत्रिकाओं में ये सारी बातें वैज्ञानिक ढंग से पेश की जायें तो अनुचित आलोचना को प्रश्रय न मिलेगा और फिर भी यदि आलोचना हुई तो उन्हें उचित ढंग से यथेष्ट उत्तर दिया जा सकता है।

२ नवम्बर १९६२ —गोकुल ओ. परीख

ग्राम समाज व सामुदायिक विकास

भारत के ग्राम समुदायों के विशेष अध्ययन की आवश्यकता है और इस प्रकार यह कोई असामान्य बात नहीं यानी आम बात है कि मानव-विज्ञान शास्त्री ग्रामीण विचारधारा अर्थात् ग्रामीणों की मानसिक बनावट तथा उनकी प्रतिक्रियाओं पर जात-पांत, संयुक्त परिवार आदि जैसी विशिष्ट विशेषताओं के बीच अध्ययन करते समय ध्यान देते हैं। यह सत्य हो सकता है कि नमूने के तौर पर किये गये अध्ययन के तथ्यों से सम्पूर्ण देश के सांस्कृतिक ढांचे का पूर्ण प्रतिबिम्ब न मिले, किन्तु इस तथ्य को कोई भी व्यक्ति अस्वीकार नहीं कर सकता कि विभिन्न क्षेत्रों में किये गये अनेक अध्ययनों से ग्रामीण जीवन की मौलिक विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है। श्री एम. एन. श्रीनिवास ने ठीक ही कहा है "मानव-विज्ञान शास्त्री को एक या दो समाजों की बहुत निकट और प्रत्यक्ष जानकारी होती है और अपने क्षेत्र के अतिरिक्त विभिन्न लोगों के सम्बन्ध में उसने बहुत कुछ पढ़ा है। किसी गांव या जन-जाति के सम्बन्ध में अपना ज्ञान वह आयोजकों को दे सकता है..........।" *

सामुदायिक विकास की आवश्यकता

सामुदायकि विकास आन्दोलन अज्ञान, असाक्षरता तथा इसी प्रकार की अन्य सामाजिक बुराइयों के उन्मूलन की ओर निर्दशित है यानी इनको मिटाने में लगा है। गांवों में इस प्रकार की अवस्थाओं के अनेक कारण हैं उनमें से कुछ मुख्य इस प्रकार हैं: शिक्षा प्रसार

---

* एम. एन. श्रीनिवासः **इण्डिया'ज विलेजेज,** १९६०; पृष्ठ : १३।

की कमी, भले अभिक्रम की कमी, अन्य स्थानों पर हो रहे परिवर्तनों से अनभिज्ञता आदि। इन कारणों के भी कारण हैं तंग माली हालत, संचार-साधनों की कमी आदि। बहुत दूर देश के भीतरी भागों में बसे गांव इनसे और भी अधिक प्रभावित हुए हैं, मुख्य गांव और 'ढाणियों' (पुरवों) के बीच सामान्य सुधार के सम्बन्ध में सामन्जस्य की कमी की तो बात ही छोड़िये ! स्थानीय रूप से उपलब्ध जन-शक्ति का उपयोग कर सहायक सड़कों, कुओं आदि का निर्माण किया जा सकता है। लेकिन सरकार के सामने जो काम है वह यह है कि वह लोगों को यह महसूस कराये कि यह उनका अपना काम है।

आपसी गुटबन्दी

ग्रामीण क्षेत्रों में आपसी भेद-भाव और गुटबन्दियों के कारण ग्रामोत्थान को बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। यहाँ तक कि पंचायतों के गठन में भी विखण्डन-जात प्रवृतियाँ अभिव्यक्त की जाती हैं और अधिकांश पंचायतें इन गुटबन्दियों के कारण अच्छी तरह नहीं चलतीं। इन दलवन्दियों का सम्बन्ध जातिवाद से रहता है। फलस्वरूप ग्रामोत्थान और ग्राम कल्याण के सामूहिक लक्ष्य की अवहेलना होती है। इसलिए विकास कार्यक्रमों में सदैव ही इन सामूहिक हितों पर जोर दिया जाना चाहिए। "ग्रामीण समाज की काम करने, खास करके उसके अभिक्रम यानी अनुगाई की पद्धति, संचार साधन और शक्ति-संतुलन के समझने के लिए" दलबन्दी का अध्ययन करना "बहुत की महत्वपूर्ण है।"* दलबन्दी ने अभी तक कोई नेता पैदा नहीं किया है और "ऐसा कोई असाधारण नागरिक ग्राम नेता नहीं है जो कि समग्र ग्राम हित में कुछ करने के लिए लोकप्रिय हो।"§

कार्यक्रम का उद्देश्य सदैव ही ऐसा होना चाहिए कि ग्रामीण यह महसूस करें कि उनमें कोई भी परिवर्तन किया गया, खासकर यदि वह स्वेच्छापूर्वक किया गया, तो उससे उनकी और आगे का कार्यक्रम बनाने की विचार-शक्ति बढ़ेगी। मैं इसे एक सामाजिक गुणक कह सकता हूँ। मानव स्वभाव जैसा है उसकी एक सफलता से, आगे और कई साहसिक कार्य करने का मार्ग प्रशस्त होना है। और, इसी में सर्व-हित साधन निहित है।

सीमित सरकारी कार्य

हमारे जैसे अल्प-विकसित देश में सरकारी कार्य केवल सीमित ही हो सकता है; क्योंकि इस प्रकार के काम के लिए साधन-स्रोत बहुत सीमित होते हैं। फिर भी, विस्तार कार्य बहुत महत्वपूर्ण है और "ऐसी नयी तकनीकों का व्यवहार करके, जोकि बिल्कुल सरल और कृषकों को उनके सम्बन्ध में मालूम हो तो अधिकांश किसानों द्वारा अपनायी जाने लायक हों, बिना कोई अतिरिक्त पूंजीगत खर्च किये अथवा बहुत कम करके उत्पादन बढ़ाया जा सकता है।"† इसलिए प्रक्रिया ऐसी हो सकती है, जिसमें लोग इस प्रकार के तरीकों की जानकारी करने में समर्थ हों। यहाँ ग्राम शिक्षा का एक मद के रूप में उल्लेख किया जा सकता है—एक ओर ग्राम शिक्षा ग्रामीण समुदाय का सामान्य दृष्टिकोण उन्नत बनाना चाहती है और साथ ही साथ दूसरी ओर वह नये-नये द्वार उन्मुक्त करती है।

१ अगस्त १९६२ —सोमसुन्दर यशवन्त

* प्लानिंग इवेल्यूएशन आर्गेनाइजेशन (९) : **लीडरशिप एण्ड ग्रुप्स इन ए साउथ इण्डियन विलेज, १९५५;** पृष्ठ : २९।

§ योजना आयोग (भारत सरकार) : **ग्रुप डाइनेमिक्स इन ए नार्थ इण्डियन विलेज, १९५४;** पृष्ठ : ११।

† बेयर और यामेय : **इकनामिक्स आफ् अण्डर-डेवलप्ड कंट्रीज, १९५६;** पृष्ठ : २१७।

वर्धा में सिंचाई ⊙

जिस देश की अर्थ-व्यवस्था कृषि-प्रधान हो, उसके लिए इससे अधिक निश्चित कोई अन्य मार्ग नहीं हो सकता कि वह भूमि-सम्बन्धी स्रोतों का उपयोग करने के लिए सभी मार्गों, उपायों का इस प्रकार प्रयोग करे कि उनसे अनुकूलतम फसल प्राप्ति हो। कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए जो पहलू उत्तरदायी होते हैं, उनमें सिंचाई एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। इतना ही नहीं, बल्कि सिंचाई के दीर्घ स्तरीय विकास से कृषि अर्थ-व्यवस्था का ठोस आधार पर निर्माण करने में सहायता मिलती है और कृषकों की हालत सुधरने का मार्ग प्रशस्त होता है।

देश में जल स्रोतों में अधिकांश जल की पूर्ति भू-गर्भीय जल स्रोतों से होती है। ये स्रोत, खास तौर से उन इलाकों में बहुत उपयोगी साबित हुए हैं जहाँ नदियों से नहर निकालने की परियोजनाएँ अधिक अलाभदायक साबित हों। योजना आयोग ने रूप-रेखा बनायी है कि हरेक क्षेत्र की आवश्यकता-पूर्ति इस प्रकार की योजनाओं से करनी है, जिनके लिए वह सर्वाधिक उपयुक्त हो और जिनसे न्यूनतम खर्च पर सर्वोत्तम लाभ प्राप्त हों। इसके लिए जिस क्षेत्र का विकास करना हो उसका सावधानीपूर्वक अध्ययन किये जाने की आवश्यकता है।

यह अध्ययन खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की रीजनल प्लानिंग इन्स्टीट्यूट (सेवाग्राम), गोखले इन्स्टीट्यूट आफ् पॉलिटिक्स एण्ड इकनॉमिक्स (पूना) तथा डैक्कन एग्रिकलचरल एसोसिएशन (पूना) ने प्रवर्तित किया। रीजनल प्लानिंग इन्स्टीट्यूट के श्री पण्डित पाटणकर ने इसे कार्यान्वित किया। प्रस्तुत अध्ययन वर्धा जिले में भू-गर्भीय जल-स्रोतों का एक उत्तम मूल्यांकन है।

वर्धा में अमूमन ६,९०० सिंचाई कुएँ चलते हैं जबकि ऐसे परित्यक्त कुओं की संख्या १०,६०० है जो लगातार पिछले तीन वर्ष से काम में नहीं लाये जा रहे हैं। परित्यक्त कुओं की इतनी बड़ी संख्या का एक कारण 'दक्षिणी भू-भागों' में भू-गर्भीय जल सप्लाई की अनिश्चितता बताया जाता है। निम्न तालिका कुओं का परित्याग करने के कारणों पर प्रकाश डालती है।

परित्यक्त १७४ कुओं का वर्गीकरण

क्रमांक	कुएँ को अनुपयोगित रखने के कारण	संख्या	प्रतिशत
१	अत्यधिक दूरी	२	२.३
२	वित्त की अप्राप्ति	२८	१६.१
३	भूमिधारिता सम्बन्धी दिक्कतें	७	४.०
४	प्रबन्धकों की अनुपस्थिति	१२	६.९
५	दूसरे पेशों में अधिक रुचि	३	१.७
६	प्रतिकूल सिंचाई खर्च	५	२.८
७	सिंचाई खेती के लिए अपर्याप्त पारिवारिक जन-शक्ति	६	३.४
८	फसल पद्धति में परिवर्तन	४	२.३
९	लापरवाही	१५	८.६
१०	पानी की कमी	५९	३३.३
११	प्रबन्ध के लिए अयोग्य रचना	१३	७.४
१२	विविध : सिंचाई ज्ञान मरम्मत आदि की कमी	१८	१०.२
	योग	१७४	१००.००

जिले की कुल जोत भूमि में से केवल १.२ प्रति शत की ही सिंचाई होती है। कुओं से सिंचाई का प्रातिशत्य एक है। जहाँ-कहीं सिंचाई सुविधाएँ उपलब्ध हैं, किसानों ने गेहूँ और पान की बागवानी के अतिरिक्त संतरा, मिर्च, सब्जियाँ, केले आदि जैसी नकद फसलें बोना शुरू कर दिया है। अध्ययन से पता चलता है कि उक्त सिचाई क्षेत्र के ५० प्रति शत में ऐसे खेत आते हैं, जिनमें प्रत्येक का आकार पाँच एकड़ से बड़ा है।

जिले में बिजली की उपलब्धि से किसानों को सिंचाई की लागत कम करने में सहायता मिली है। यहाँ यह जानना रुचिकर होगा कि प्रति १,००० गैलन पानी के निकालने में बिजली से ३७ नये पैसे, तेल-चालित इंजिन

⊙ **इरिगेशन** (सिंचाई): **वर्धा डिस्ट्रिक्ट डेवलपमेण्ट पेपर १;** खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की सेवाग्राम (वर्धा) स्थित रीजनल प्लानिंग इन्स्टीट्यूट के प्राचार्य श्री ल. रा. पण्डित द्वारा प्रकाशित; पृष्ठ संख्या : ६०; मूल्य: २.५० रुपये।

पम्प से ६२ नये पैसे और पारम्परिक तरीके से १.२५ रुपया खर्च पड़ता है। किसान काफी संख्या में बिजली से चलनेवाले पम्पों का इस्तेमाल करते हैं; क्योंकि ऐसा करना कम खर्चीला है और एक ही व्यक्ति पम्प भी चला सकता है तथा साथ ही साथ खेत में पानी देने, उसे किसी दूसरी ओर मोड़ने आदि जैसा काम भी कर सकता है।

इतना होते हुए भी कई एक परियोजनाओं में अनुभव हुआ है कि काफी लम्बे समय तक पानी अनुपयोजित पड़ा रहता है। इसके अनेक कारण हैं, जैसे, पानी का उपयोग करने के लिए किसी ठोस संगठन की कमी, अलाभकारी उत्पादन, प्राविधिक शक्यता की कमी, जोकि गम्भीर रूप से ध्यान देने पर टाले जा सकते हैं। सघन प्रचार तथा ठोस प्राविधिक मार्गदर्शन और सहकारी संगठन खड़ा करने से निश्चय ही सिंचाई के अन्तर्गत अधिक क्षेत्र लाने में सहायता मिलेगी। लेखक ने बताया है कि पश्चिम महाराष्ट्र में पानी को प्रभावशाली रूप से काम में लाने का कारण गन्ने का उत्पादन बढ़ना नहीं, बल्कि उसका चीनी उद्योग से सम्बन्ध जुड़ना है।

लेखक ने सेवाग्राम में होनेवाली सिंचाई कृषि का भी हवाला दिया है, जहाँ सर्व सेवा संघ की कुछ भूमि है। विभिन्न तरीकों का प्रयोग करने के बाद वहाँ एक नये कुएँ से सर्दी में सात एकड़ और गर्मी में २.७५ एकड़ जमीन की सिंचाई की जा सकी है। वैज्ञानिक तरीके अपनाकर पहले से दुगुनी भूमि की सिंचाई की जा सकी है। महाराष्ट्र राज्य की प्रति नये कुएँ की औसत सिंचाई ३.०८ एकड़ है, जबकि वर्धा जिले में लगभग १.८ एकड़ ही है। दोनों की तुलना करने पर यह अन्तर काफी अजीब लगता है। एक कुएँ से काफी बड़े क्षेत्र तक सिंचाई के लिए पानी पहुँचाने में जिन साधनों का उपयोग किया गया उनमें से कुछ ये हैं: छोटी-छोटी टंकियाँ, बिजिली-चालित पम्प तथा कहीं-कहीं मिट्टी की नलों का उपयोग। ऐसा भी देखने में आया कि कुशल फसल पद्धति से सिंचाई का क्षेत्र विस्तृत करने में काफी सहायता मिलती है। वर्धा में अब तक सिंचाई का कोई दूसरा तरीका नहीं है। फिर भी, बोर नदी पर मध्यम स्तरीय परियोजना तथा आसनी के नजदीक एक तालाब योजना के १९६४ तक पूरी हो जाने की अपेक्षा है। ये हाल ही में शुरू की गयी हैं। जहाँ तक बांध और उठाव सिंचाई का सम्बन्ध है, राज्य के सार्वजनिक निर्माण विभाग की लघु सिंचाई शाखा ने कई योजनाएँ बनायी हैं और ऐसा लगता है कि योजना के कार्यान्वय से करीब ४,००० एकड़ भूमि की सिंचाई हो सकेगी।

इस प्रकार वर्धा जिले में जल-स्रोत उपलब्ध हैं और जिनका उपयोग हुआ है उनके सम्बन्ध में इस अध्ययन से अच्छी जानकारी प्रकाश में आयी है। जिन लोगों का कृषि आयोजन से सम्बन्ध है, उनके लिए यह अध्ययन वस्तुतः उपयोगी हो सकता है। प्रस्तुत अध्ययन पढ़ने के बाद पाठक यह महसूस करता है कि जो लोग सिंचाई कुएँ खोदने में दिलचस्पी रखते हैं उनके मार्गदर्शन के लिए भू-गर्भीय जल-स्रोतों की जल विज्ञान सम्बन्धी पूर्ण खोज की जाय और कुछ फसलों के सम्बन्ध में सिंचाई के प्रति किसानों में जो विरक्ति पायी जाती है, सघन प्रयास कर उसे दूर किया जाय। कूप-सिंचाई में साधारणतया काफी व्यक्तिगत विनियोजन की जरूरत पड़ती है, जो अधिकांश कृषकों के बूते के बाहर की चीज हो सकती है। लेखक ने यह ठीक ही सुझाया है कि कुओं को बैठाने और उनकी मरम्मत करने के काम में सहकारी संगठन मदद दे सकते हैं। समस्या के विभिन्न पहलुओं का स्पष्ट चित्र प्राप्त करने के लिए पुस्तक में दी गयी सांख्यिकी तालिकाएँ, चार्ट आदि सहायक हो सकते हैं।

विकास कार्य सम्बन्धी समस्याओं जैसे महत्वपूर्ण पहलू पर प्रकाश डालने के लिए अध्ययन-कर्ता श्री पण्डित-राव पाटणकर बधाई के पात्र हैं।

प्रॉस्पेक्ट फॉर इण्डियन डेवलपमेण्ट : लेखक : विल्फ्रेड मैलनबॉम; प्रकाशक : जार्ज एलन एण्ड अनविन लिमिटेड, लन्दन; १९६२; पृष्ठ संख्या : ३२५; मूल्य : ३५ शिलिंग।

प्रोफेसर मैलनबॉम नें एक बहुत ही शिक्षाप्रद एवं उपयोगी पुस्तक लिखी है जिसमें भारत के मौजूदा विकासोन्मुख प्रयत्नों को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में रखने की चेष्टा की गयी है। योजनाओं पर विचार करते समय योजनाओं और उनके कार्यान्विय के बीच के अन्तर का हवाला देते हुए आप लिखते हैं कि "इस अन्तर को दूर करने के लिए प्रधानतः सरकार को नये प्रयत्न अथवा नये रूप में जोर देना चाहिए" (पृष्ठ : २५८)। आपके विचारानुसार योजनाएँ अधिकाधिक रोजगारी-प्रधान होनी चाहिए। "रोजगारीवाली बात से कृषि विभाग की नाजुक अवस्था तथा साथ ही साथ स्वयम् रोजी के सवाल पर प्रकाश पड़ता है यानी उसकी स्थिति सामने आती है" (पृष्ठ : २९१)। आप इस सिद्धान्त को हास्यास्पद ठहराते हैं कि अल्प-विकसित देशों में उत्पादन रोजगारी का विकल्प हो सकता है और दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि "इस सिद्धान्त के विकल्प को भारत में (और निसन्देह इसी प्रकार के आर्थिक विकास की अवस्थावाले अन्य देशों में भी) काम की मार्गदर्शिका के रूप में प्रस्तुत करना धुएँ के बादल के समान ही है" (पृष्ठ : २९१-९२)। आपके मतानुसार अधिकतम उत्पादन और रोजगारी के लक्ष्यों के मध्य विरोध नहीं हो सकता; "क्योंकि भारत में अधिकतम उत्पादन अधिकतम रोजगारी देने के साथ-साथ हो सकता है" (पृष्ठ २९२)।

उत्पादन और रोजगारी में अधिकतम वृद्धि करने के लिए आपने चार बुनियादी बातें अथवा शर्तें रखी हैं : प्रथम, खेती और गैर-खेती के क्षेत्रों की आय के अन्तर को कम किया जाना चाहिए, जबकि गैर-खेतिहर क्षेत्र के पक्ष में कुछ अन्तर चालू रहे। द्वितीय, पूंजी की उत्पादकता उच्चतम स्तर पर रखनी चाहिए। तृतीय, श्रम पर होनवाले खर्च की वृद्धि को रोकने के लिए एक निश्चित नीति होनी चाहिए; क्योंकि अल्प-विकसित देशों में ऐसी प्रवृत्ति पायी जाती है कि पूंजी के खर्च से भी श्रम की लागत बढ़ जाती है। अन्तिम, कम से कम तीस प्रति शत की बचत होनी चाहिए। उक्त शर्तों पर बहुत कुछ कहा जा सकता है यानी उनमें ऐसी काफी सामग्री है, जिसकी व्याख्या अथवा समालोचना की जा सकती है।

कृषि की चर्चा करते हुए प्रोफसर मैलनबॉम कहते हैं कि अगर प्रति वर्ष कृषि के उत्पादन में छः प्रति शत की वृद्धि करनी है तो "व्यवहृत मनुष्य-घण्टों और प्रति मनुष्य घण्टे की उत्पादकता दोनों ही क्षेत्रों में वृद्धि करने की काफी गुंजाइश है" (पृष्ठ : २९५)।

आप दस्तकारी की वस्तुओं को कारखानों में उत्पादित वस्तुओं की अपेक्षा तरजीह देने की नीति से सहमत नहीं हैं, फिर भी आप इस सम्बन्ध में किसी कठिनाई की कल्पना नहीं करते कि ये दोनों ही एक-दूसरे के पूरक रूप में काम करें। आप उत्पादन की श्रम-प्रधान तक्नीकों का समर्थन करते हैं। "एक ओर लघु-स्तरीय और दीर्घ-स्तरीय उद्योगों के पारस्परिक सम्बन्धों और दूसरी ओर भारत में रोजगारी देने सम्बन्धी महान कार्य की दृष्टि से भारत की विस्तार योजनाओं में ऐसे प्रमुख क्षेत्रों का शामिल किया जाना आवश्यक है जिनमें उत्पादन की श्रम-प्रधान तक्नीकों का उपयोग करके उत्पादन में वृद्धि की जा सके" (पृष्ठ : २९७)।

पुस्तक का सुपठन निष्फल नहीं जायेगा।

—सु. ब. स.

* * *

फोकलोर : (लोक संस्कृति से सम्बन्धित मासिक पत्रिका): वर्ष : ३ (अक्तूबर १९६२); अंक : १०; सम्पादक : शंकर सेन गुप्त, इण्डियन पब्लिकेशन्स; ३, ब्रिटिश इण्डियन स्ट्रीट, कलकलत्ता—१; पृष्ठ : ५६; मूल्य : एक रुपया।

पत्रिका की छपाई-सफाई सुन्दर और सम्पादन उत्तम है।

आलोच्य अंक में भारत की लोक-संस्कृति में वर्षा का स्थान और प्राचीन काल के कवियों से लेकर आधुनिक कवियों तक पर वर्षा की प्रतिक्रिया सम्बन्धी सामग्री, मोटे तौर पर, प्रस्तुत की गयी है। सभी देशों में वर्षा का आगमन एक महत्वपूर्ण घटना है—हमारे जैसे कृषि—प्रधान देश में तो इसका महत्व और भी विशिष्ट है। यदि वर्षा पर एक सुसम्पन्न लोक-संस्कृति का विकास हुआ है, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। पत्रिका के सम्पादक श्री सेन गुप्त अपने सारगर्भित लेख में लिखते हैं कि "वर्षा के आगमन और उसके बन्द होने के समय के उत्सवों की प्रक्रिया समूचे भारत में समान है; स्थानीय अनुकूलन के अनुसार कुछ अन्तर और विभिन्नताएँ ही पायी जाती हैं" (पृष्ठ : ४५६)। पत्रिका में अन्य उल्लेखनीय लेख हैं : असम (लेखक : प्रफुल्ल दत्त गोस्वामी), महाराष्ट्र (लेखक : सरोजनी बाबर), बिहार (लेखक : गणेश चौबे), पंजाब (लेखिका : सावित्री सरीन), और उत्तर प्रदेश (लेखिका : सावित्री शुक्ल) में वर्षा। श्री रेवती मोहन सरकार बंगाल के विभिन्न भागों में वर्षा सम्बन्धी उत्सवों का संक्षिप्त वर्णन करते हैं। श्री पी. के. भौमिक 'आदिम मानव द्वारा वर्षा के आवाहन की विधियां' का चित्रण करते हैं और श्री चण्डी लैहिरी 'विवाह में वर्षा का स्थान' पर प्रकाश डालते हैं।

प्रस्तुत अंक बहुत ही रुचिकर और पठनीय है। सम्पादन सुरुचिपूर्ण एवम् सावधानीपूर्वक हुआ है।

—सु. ब. स.

* * *

इटेइ मैगजीन : वर्ष : १४; अंक : ६ (वार्षिकांक); दिसम्बर १९६२। सम्पादक : के. रंगस्वामी, इण्डियन टेलिफोन इन्स्टीट्यूट लिमिटेड, बंगलोर; पृष्ठ : ८६; मूल्य : अनुल्लेखित।

यह एक घरेलू पत्रिका है—एक विशिष्ट अन्तर लिये हुए। वस्तुत: कम्पनी में घटी घटनाओं के समाचार उसमें हैं, किन्तु इसी से समूचा स्थान नहीं भर दिया गया है। प्रस्तुत अंक में प्रस्तावना मूलक लेखों के साथ प्राचीन दस्तकारी, शिल्प कला और नृत्यों के बहुरंगी चित्र पुन: प्रस्तुत किये गये हैं।

फिर भी, तनिक और ध्यान देने पर पत्रिका की उपयोगिता बढ़ेगी। अंक की छपाई-सफाई उत्तम है।

—सु. ब. स

नवम वार्षिकांक के विषय में अभिमत

अंक बहुत अच्छा छपा है और निश्चय ही उपयोगी है।

राजभवन — **सम्पूर्णानन्द**
जयपुर — राज्यपाल
५ नवम्बर १९६२ — राजस्थान

* * *

खादी ग्रामोद्योग का वार्षिकांक मिला और वह मुझे बड़ा रुचिकर तथा उपयोगी प्रतीत पड़ा।

राम सुभग सिंह
नयी दिल्ली — कृषि मंत्री
३ नवम्बर १९६२ — भारत सरकार

* * *

मैंने अंक सरसरी तौर पर पढ़ा है। सामग्री शिक्षा-प्रद और विषयानुकूल जान पड़ी।

डी. एस. राजू
नयी दिल्ली — स्वास्थय उप-मंत्री
२१ नवम्बर १९६२ — भारत सरकार

* * *

लेख उच्चतम लेखकों द्वारा बहुत भलीभांति लिखे गये हैं, जो जन साधारण तथा ग्रामोद्योग कार्याकर्त्ताओं के लिए बड़े ही उपयोगी हैं।

एन. एन. कैलास
बम्बई–३२ — आरोग्य उप-मंत्री
६ नवम्बर १९६२ — महाराष्ट्र सरकार

* * *

........सफाई-छपाई और उत्तम लेखों के चयन के लिए बधाई.....लेख शिक्षाप्रद और रुचिकर होने के साथ ही साथ पूर्ण तथा अर्ध-बेकारी की समस्याएँ हल करने का व्यावहारिक हल भी सुझाते हैं।

के. के. बनर्जी
अध्यक्ष
पटना — पे रिवीजीन कमेटी
४ दिसम्बर १९६२ — बिहार सरकार

* * *

यह एक बहुत ही अच्छा प्रकाशन है जिसमें पर्याप्त उपयोगी सामग्री है।

जी. पाण्डे
रुड़की — उप-कुलपति
१८ दिसम्बर १९६२ — रुड़की विश्वविद्यालय

* * *

ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था पर लेख बड़े रुचिकर हैं। इस प्रकार के अत्युत्तम प्रकाशन के लिए आपको मेरी ओर से बधाई।

मोती चन्द
निर्देशक
बम्बई — प्रिन्स ऑफ् वेल्स म्युजियम
८ नवम्बर १९६२ — ऑफ् वेस्टर्न इण्डिया

* * *

प्रकाशन बहुत ही सुन्दर है और लेख यथेष्ठ रूप से अपने विषय के माहिर व्यक्तियों द्वारा लिखे गये हैं।

के. के. सिंह
कलकत्ता–१७ — निर्देशक, इन्स्टीट्यूट ऑफ्
९ नवम्बर १९६२ — पॉलिटिकल एण्ड सोशल स्टडीज

* * *

यह एक शिक्षाप्रद और प्रस्तुत विषयों पर प्रकाश डालनेवाला अंक है, जिसके लिए सभी दृष्टियों से

प्रशंसा की जानी चाहिए। इस सुन्दर प्रयास के लिए आपको मेरी ओर से बधाई है।

एस. रंगनाथ
सीनियर रिसर्च ऑफिसर
मद्रास—२० इण्डियन इन्स्टीट्यूट
६ अक्तूबर १९६२ ऑफ् पापुलेशन स्टडीज

* * *

लेखों के रूप में बहुत ही अधिकारिक सामग्री प्रस्तुत की गयी है। अंक शिक्षाप्रद और ज्ञानवर्द्धक है। कवर की आकर्षक तथा प्रभावोत्पादक डिजाइन बहुत पसन्द आयी।

एस. पी. एस. तल्यारखाँ
बम्बई—१ पब्लिसिटी मैनेजर
१२ नवम्बर १९६२ वोल्टाज लिमिटेड

* * *

चन्द लेख पढ़ने का आनन्द मिला। लेख बड़े अच्छे लगें।

एन. एफ. कैकोबाद
हेड ऑफ् डिपार्टमेण्ट ऑफ् रूरल
बम्बई—७१ वेल्फेयर, टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ्
१५ नवम्बर १९६२ सोशल साइंसेस

* * *

मुझे विश्वास है कि राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के इस महत्वपूर्ण विभाग के सम्बन्ध में जानकारी फैलाने में **खादी ग्रामोद्योग** बहुत ही उपयोगी सेवा कर रहा है।

बी. शिवरामन
संयुक्त प्रमुख अधिकारी, एग्रि-
बम्बई कल्चर क्रेडिट डिपार्टमेण्ट, रिजर्व
१७ नवम्बर १९६२ बैंक ऑफ् इण्डिया

* * *

खादी ग्रामोद्योग का पठन रुचिकर व लाभदायक रहा। न केवल प्रस्तुत लेख ही, बल्कि इसका आला दर्जे का कागज और सुन्दर छपाई भी प्रभावोत्पादक है।

नयी दिल्ली **कपूर सिंह**
१७ नवम्बर १९६२ संसद सदस्य

* * *

अंक की छपाई-सफाई और साज-सज्जा बहुत ही पसन्द आयी, किन्तु उसमें प्रस्तुत सामग्री इससे कहीं कम नहीं।

के. काशीपति
कलकत्ता—१ उप-प्रमुख सूचना अधिकारी
२६ नवम्बर १९६२ प्रेस इन्फारमेशन ब्यूरो

* * *

प्रथम दृष्टि से ही ऐसा लगा कि अंक का प्रकाशन बहुत अच्छा है। आशा है इसका पठन रुचिकर और लाभप्रद रहेगा।

* * *

पी. वेन्तसालराव
सेक्रटरी, फेडरेशन ऑफ्
नयी दिल्ली इण्डियन चेम्बर ऑफ्
१६ अक्तूबर १९६२ कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्री

भूल सुधार

फरवरी १९६३ के 'खादी ग्रामोद्योग' में पृष्ठ ३२७ पर दी गयी तालिका में कालम २ से ७ तक की संख्याएँ 'भारत' के सामने से शुरू होकर उसी सिलसिले से नीचे जानी चाहिए थी तथा मद 'केन्द्र प्रशासित एवम् अन्य क्षेत्र' के सामने कोई संख्या नहीं होनी चाहिए थी। कृपया पाठक सुधार कर लें। भूल का हमें खेद है।

—सम्पादक

सम्पादक : सुभाष चन्द्र सरकार द्वारा खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय,' इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई—५६ से प्रकाशित तथा मुद्रित। मुद्रण-स्थल : एसोसिएटेड एडवर्टाइजर्स एण्ड प्रिण्टर्स, ५०५, तारदेव, आर्थर रोड, बम्बई—३४। वार्षिक शुल्क : २.५० रुपये; एक प्रति : २५ नये पैसे।

खादी ग्रामोद्योग

ग्रामीण जीवन, समाज और अर्थशास्त्र विषयक मासिक

अप्रैल १९६३

नवम वर्ष सप्तम अंक

सम्पादक : सुभाष चन्द्र सरकार। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के लिए सुभाष चन्द्र सरकार द्वारा मुद्रित और प्रकाशित।

ग्रामीण विकास तथा समाजार्थिक व्यवस्था पर लिखे लेखों को कमीशन की पत्रिकाओं में सहर्ष स्थान दिया जायेगा, बशर्ते वे ग्रामीण विकास के ध्येय से लिखे गये हों। फिर भी, प्रत्येक लेख के छापने का आश्वासन नहीं दिया जा सकता। लेखकों को किसी अंश में पुरस्कृत करने का भी प्रबन्ध किया जा सकता है। लेख, पुस्तकों की समीक्षा आदि सम्पादक, 'खादी ग्रामोद्योग', खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय,' इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई–५६ के पते पर भेजें। टेलिफोन नं. ८६७७३।

इस पत्र में प्रकाशित लेखों में प्रकट किये गये विचार खादी और ग्रामोद्योग कमीशन अथवा सम्पादक के न होकर लेखक के हैं। सम्पादक अथवा कमीशन के विचार जहां-कहीं भी हैं, उनका उल्लेख कर दिया गया है।

वार्षिक शुल्क : २.५० रुपये: एक प्रति : २५ नये पैसे। चन्दे की रकम इस पते पर भेजी जानी चाहिए : सहायक एकाउण्ट्स ऑफिसर (कैश), खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय', इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई–५६।

इस अंक के लेखक

उछरंगराय नवलशंकर ढेबर — खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अध्यक्ष ।

सुभाष चन्द्र सरकार — खादी और ग्रामोद्योग कमीशन द्वारा प्रकाशित **खादी ग्रामोद्योग** तथा **जागृति** के सम्पादक ।

विजयेन्द्र कस्तूरी रंगा वरदराजा राव — सुविख्यात अर्थशास्त्री और नयी दिल्ली स्थित इन्स्टीटयूट ऑफ़ इकनॉमिक ग्रोथ के निर्देशक ।

द्वारकानाथ विष्णु लेले — खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के सदस्य ।

कोदण्डरामन वैद्यनाथन — खादी और ग्रामोद्योग कमीशन में समग्र विकास कार्यक्रम के निर्देशक ।

जागेश्वर गोपाल श्रीखण्डे — वर्धा स्थित जमनालाल बजाज केन्द्रीय ग्रामोद्योग अनुसंधानशाला के निर्देशक ।

रामचन्द्र मोरेश्वर रानडे — खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के पटना स्थित निर्देशक ।

दत्तात्रेय नाथोबा दान्देकर — भूतपूर्व बम्बई सरकार में उपमंत्री और सुप्रसिद्ध आदिवासी कार्यकर्त्ता ।

प्रवीण चन्द्र नायर — पंजाब राज्य खादी और ग्रामोद्योग मण्डल के सदस्य-सचिव ।

माधव राजाराम देशपाण्डे — खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की वर्धा स्थित रीजनल प्लानिंग इन्स्टीटयूट में लेक्चरर ।

सी. के. चन्दरन — खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के मधुमक्खी-पालन उद्योग के चेरपू (त्रिचुर) स्थित क्षेत्रीय कार्यालय में एपिअरिस्ट ।

नारायण शिवरामकृष्णन — मद्रास स्थित कुमारप्पा स्मारक समिति के मंत्री ।

सामाजिक न्याय का दर्शन*

उछरंगराय न. ढेबर

भारतीय संविधान सामाजिक न्याय के सिद्धान्त पर आधारित है। यह देश के समस्त नागरिकों को रोजगारी के समान अवसर तथा जीवनयापन एवम् निर्वाह के आवश्यक साधनों की प्राप्ति के अधिकार प्रदान करता है। परन्तु वर्तमान सामाजिक बाधाओं और आर्थिक विषमताओं के कारण इन अधिकारों का पूर्ण लाभ नागरिकों को उपलब्ध नहीं हो सकता। देश में सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए अनुकूल वातावरण निर्मित करने पर ही ये बाधाएँ और विषमताएँ दूर की जा सकती हैं।

समाज चिर प्रवाहित गंगा के समान है। वह कभी स्थिर यानी गतिहीन नहीं रहता। वह सतत गतिशील, चिर परिवर्तनशील है। उसमें सदैव ही उथल-पुथल हुआ करते हैं, फिर चाहे कभी ये उथल-पुथल धीरे-धीरे होते हों या तेजी से, पर होते अवश्य हैं। सामाजिक स्थिरता कल्पना मात्र है। परन्तु हमारे देश के लोग परिवर्तन की ओर उन्मुख समाज के साथ बदलना नहीं चाहते, वे "प्राचीन को छोड़कर नवीन अपनाना नहीं चाहते।" फलस्वरूप भारतवासी परिवर्तनों को स्वेच्छा की अपेक्षा अनिच्छा से ही स्वीकार करते हैं। परिवर्तन के शाश्वत नियमों को यदि जनता समझ ले, तो समाज कई तरह की हानियों से बच सकेगा और उनसे होनेवाले लाभों का सरलता से उपयोग कर सकेगा।

शैथिल्य का कारण

इस महत्वपूर्ण तथ्य को न समझ सकने के कारण ही पिछले एक हजार वर्ष से सामाजिक प्रगति के इस कार्य में शैथिल्य रहा है। उसमें जो थोड़ा-बहुत परिवर्तन हुआ भी है, तो वह गत डेढ़-सौ वर्षों की अवधि में ही हुआ है। यह सब राजा राममोहन राय, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानंद सरस्वती, लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी जैसे महापुरुषों तथा समाज सुधारकों के अथक प्रयत्नों का ही परिणाम है। आज भारत में एक वर्ग यह अनुभव करने लगा है कि देश की सुदृढ़ता एवम् विकास हेतु इस परिवर्तन व गतिशील समाज की पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर ही विचार करना चाहिए।

समाजवाद

आज हमारे सामने एक दोहरा कार्य है। प्रथम, गतिशील समाज में निरन्तर उठनेवाली परिवर्तन की धाराओं को समझना, उनके वेग का ठीक-ठीक पता लगाना और उन धाराओं के बीच में तैरने की आवश्यक शक्ति प्राप्त करना। द्वितीय, हमारे ही तैरने से काम न चलेगा, हमें अपने साथ समाज के सभी लोगों–वृद्ध व जवान, निर्बल तथा सबल, निर्धन एवम् धनी, शिक्षित और अशिक्षित–को साथ रखना होगा, उनको शक्तिशाली बनाना होगा जिससे कि सामाजिक संतुलन कायम रखा जा सके। वस्तुतः हमारे समाज की रचना ऐसी होनी चाहिए कि प्रबल परिवर्तनों के वेग में भी सामाजिक संतुलन बिगड़े नहीं। इसके विपरीत प्रत्येक नया परिवर्तन समाज के संगठन को सशक्त बनाये और उसे प्रगति के मार्ग पर ले जाय।

समाजवाद की अनेक परिभाषाएँ दी गयी हैं और इसकी पूर्ण या सर्वांगीण व्याख्या करना यदि

*गुजरात अनुसंधान कार्यकर्त्ताओं के २० अक्तूबर १९६२ को अहमदाबाद में हुए चतुर्थ सम्मेलन के समक्ष दिये गये भाषण से।

असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। एक अंग्रेज अर्थशास्त्री ने तो यहाँ तक कहा है कि समाजवाद उस टोप के समान है, जिसकी आकृति इसलिए विकृत हो गयी है कि प्रत्येक व्यक्ति उसका इस्तेमाल करने लगा है । पर यदि मुझे कोई पूछे कि समाजवाद क्या है, तो मैं कहूँगा कि वह "सामाजिक परिवर्तन का शास्त्र, विज्ञान है।" समाजशास्त्रियों ने समाज में होनेवाले परिवर्तनों का अध्ययन करके सामाजिक प्रगति के कुछ व्यापक सिद्धान्तों की रचना की है। अतः यह मानने का भी कोई कारण नहीं कि मार्क्सवाद इसका प्रथम अथवा अंतिम दर्शन है। सच कहा जाय तो इस प्रकार की मान्यता समाज परिवर्तन के सिद्धान्तों के प्रतिकूल है।

सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त

समाज परिवर्तन के इतिहास से यह सिद्धान्त स्पष्ट होता है कि समाज विचारों से बदलता है, उसमें वैज्ञानिक आविष्कारों और यंत्र-कला के विकास से परिवर्तन आता है और वह ऊर्जा के विभिन्न प्रकारों से बदलता है । वस्तुतः ये ही सामाजिक परिवर्तन के मूल कारण हैं। उक्त कारण समाज में परिवर्तन लाते हैं, मंद प्रवाह में तीव्रता उत्पन्न करते हैं। यदि परिवर्तन का प्रभाव प्रबल हुआ तो समाज का प्राचीन स्वरूप भंग हो जाता है। इस सम्बन्ध में हमारे सामने रूस और चीन के उदाहरण हैं; और मिस्र तथा रोम के इतिहास का अध्ययन कर हम अपनी स्मृति ताजा कर सकते हैं।

परिवर्तन के ऐसे सिद्धान्त भारतीय समाज पर भी लागू होते हैं। पचास वर्ष पूर्व जो भारत कुम्भकर्ण की निद्रा में सुप्त था, वह आज जागृत हो रहा है। पुरातन आर्य संस्कृति की आध्यात्मिकता और पश्चिम के विज्ञान एवम् यंत्र-विद्या के बीच समन्वय स्थापित करने का राजा राममोहन राय का स्वप्न, स्वामी दयानन्द तथा विवेकानन्द के दर्शन द्वारा साकार होने लगा। कितने ही क्रान्तिकारी बंकिम बाबू के 'वंदे मातरम्' के स्वप्न को पूरा करना चाहते थे, किन्तु इसकी नवीन रीति से अभिव्यक्ति लोकमान्य तिलक द्वारा ही हुई थी। दादाभाई नौरोजी द्वारा लिखित **पावर्टी एण्ड अनब्रिटिश रूल इन इंडिया** (भारत में गरीबी और गैर-अंग्रेजी शासन) नामक पुस्तक ने अर्थशास्त्रियों को भारतवर्ष की यथार्थ स्थिति का ज्ञान कराया। तत्पश्चात् देश को टैगोर और गांधी जैसे महापुरुष प्राप्त हुए और भारत स्वतंत्र हुआ। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् हमारे नेताओं ने आध्यात्मिकता और विज्ञान के बीच समन्वय एवम् समता लाने के लिए एक नवीन मार्ग अपनाया और इस प्रकार भारत और विश्व में विकास की नींव पड़ी।

परिवर्तित भारत

भारत में जिस प्रकार से विज्ञान एवम् यांत्रीकरण के द्वारा परिवर्तन हो रहे हैं, उनका प्रभाव गाँवों में भी दृष्टिगोचर हो रहा है। जो लोग कभी शिक्षा के विषय में सोचते तक नहीं थे आज स्कूलों की माँग कर रहे हैं, जिनको स्वच्छता व आरोग्य सम्बन्धी बातों का भान तक नहीं था वे आज औषधालयों की माँग कर रहे हैं तथा जो अब तक बेगार में काम करते थे, वे आज शहरों में काम करते चले आ रहे हैं और जो लोग ईंधन के लिए गोबर और लकड़ी का उपयोग करते थे वे आज तेल, गैस और बिजली अपना रहे हैं। लेकिन हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि यह तो आरम्भ मात्र है। अभी तो आंशिक प्रगति ही हुई है। इसका पूरा प्रभाव तो तभी सामने आयेगा जब लोग इस बारे में सोचने लगेंगे, यह उनकी विचारधारा का अंग बन जायेगा। संसार में जो नवीन विचार पनप रहे हैं, उनका प्रभाव उच्च श्रेणी के केवल एक प्रति शत लोगों पर ही पड़ा है। समाचार-पत्र, रेडियो और टेलिफोन अभी तक सर्व साधारण के पास नहीं पहुँच पाये

हैं। बिजली का उपयोग अब तक एक सीमित वर्ग ही करता है। जब विज्ञान और यांत्रीकरण तथा आणविक शक्ति देश के कोने-कोने में पहुँच जायेगी, तब हमें ज्ञात होगा कि हमारी प्रगति कितनी धीमी रही है।

२

विभिन्न क्षेत्रों पर प्रभाव

प्रत्येक परिवर्तन सामाजिक गठन को थोड़ा-बहुत प्रभावित करता है। जब परिवर्तन महान होता है तब समाज के प्राचीन आधार डगमगाने लगते हैं। उसका एक प्रभाव समाज के उच्च वर्ग के लोगों पर पड़ता है। स्वभावतः वे अपने हितों की रक्षा करने का प्रयास करते हैं, जिसका निचले तबके के वर्गों पर बुरा असर पड़ता है। चूँकि समाज के ये दलित वर्ग उच्च वर्ग के प्रयत्नों का प्रतिरोध करते हैं, अतः वर्ग-संघर्ष होना स्वाभाविक है। कभी-कभी ऐसा होता है कि परिवर्तन की ये लहरें अपने साथ किसी विशेष वर्ग को खींच ले जाने की चेष्टा करती हैं। खींचे जाने के भय से वह वर्ग प्रत्याक्रमण करता है, परिणाम स्वरूप समाज में अस्थिरता एवम् अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। कभी-कभी तो ये परिवर्तन समाज-व्यवस्था को ही छिन्न-भिन्न कर देते हैं।

भारत का सम्पन्न वर्ग अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाये रखने के लिए प्रयास कर रहा है और सर्वहारा वर्ग इसे विरोध की दृष्टि से देख रहा है। समाज का यह शक्तिशाली वर्ग अपने स्वयम् के साधनों एवम् प्रतिभा के बल पर और कुछ हद तक सत्ता के साथ इस वर्ग का जो सम्बन्ध है उसके बल पर, अपनी मौजूदा स्थिति बनाये रखने के लिए सभी सम्भव यत्न कर रहा है। दूसरी ओर श्रमजीवियों का एक समुदाय अपनी संख्या और संगठन तथा सत्ता के साथ अपने सम्बन्धों के बल पर अपने हितों को बढ़ाने की कोशिश कर रहा है। साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से विचार करनेवाला एक वर्ग नवीन विचारों का विरोध कर प्रतिक्रियावादी बनता जा रहा है। इसी प्रकार सामन्त वर्ग के अवशेष और उन पर आधारित व्यक्ति अपने विशेष अधिकारों को कायम रखने हेतु कुछ न कुछ प्रयत्न कर रहे हैं। दिन-प्रति-दिन होनेवाले इन प्रयत्नों का सबसे अधिक प्रभाव मध्यम वर्ग के लोगों, श्रमिकों, खेतिहर मजदूरों, हरिजनों तथा आदिवासियों पर किसी न किसी प्रकार पड़ रहा है। किन्तु परिवर्तनों के प्रभावों से समाज पूर्णतया अवगत नहीं है और सबसे बड़ा भय इस बात का है कि समाज के अधिकांश लोग अब भी 'जिसकी लाठी उसकी भैंस'वाले सिद्धांत में विश्वास करते प्रतीत होते हैं। भारत के लिए ये प्रवृत्तियाँ अच्छी नहीं हैं। हमारे नेतागण इस बात से परिचित हैं। गत हजार वर्षों में परिवर्तनों के कारण समाज के कुछ वर्गों को दूसरों जितना लाभ नहीं हुआ है और इस कारण जो विषमताएँ उत्पन्न हुई हैं, उनके परिणामों के प्रति भी हमारे नेतागण सजग हैं। इन विषमताओं को दूर कर सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए राष्ट्र नायक साहसिक कदम उठा रहे हैं।

सामाजिक न्याय का अर्थ है कि सामाजिक परिवर्तन की परिस्थिति में समाज की सभी शक्तियों की न्याय-पूर्वक रक्षा। इस रक्षा के न होने से विषमताएँ बढ़ती हैं। फलस्वरूप समाज के निर्बल वर्गों में निराशा की भावना बढ़ जाती है, जो बाद में विरोध की भावना को जन्म देती है। इससे समाज में विघटन-कारी शक्तियाँ पनपती हैं और समाज जीर्ण-शीर्ण होकर विनष्ट हो जाता है।

३

सर्वांगीण दृष्टिकोण

भारतीय समाज सामाजिक संतुलन के विचार को किस ढंग से देखता है? कतिपय लोग समूचे भारत की दृष्टि से सोचते हैं, किन्तु कुछ लोग राज्य, भाषा,

जाति, धर्म और सम्प्रदाय के संकुचित दृष्टिकोण में सोचते हैं। पर सच बात यह है कि सामाजिक संतुलन के लिए हमें सर्वांगीण दृष्टि से विचार करना होगा। एकांगी दृष्टिकोण से सोचने पर यह संतुलन नष्ट हो सकता है। इस प्रकार के खतरे से देश को बचाने के लिए विचारशील व्यक्तियों ने सर्वांगीण रीति से सोचने का मार्ग दर्शाया है। समाज में बढ़ती हुई विषमताओं का कारण है सर्वांगीण दृष्टिकोण से विचार करने का अभाव।

दो विकल्प

इस प्रकार के अन्याय के प्रतिकार के लिए दो मार्ग हैं—एक पूंजीवाद का और दूसरा साम्यवाद का। पूँजीवाद में विश्वास करनेवालों का कहना है, "उत्प्रेरणाओं और श्रमिक इन दो की व्यवस्था हो, तो सबकी व्यवस्था अपने आप हो जायेगी।" साम्यवादियों का कहना है कि उत्पादन के समस्त साधनों एवम् वितरण और विनिमय की व्यवस्था पर राज्य का पूरा अधिकार तथा स्वामित्व हो और दूसरे केवल श्रमिक हों। यहाँ हमें यह देखना है कि इन दो परस्पर विरोधी प्रणालियों में कौन-सी प्रणाली सामाजिक न्याय के सिद्धांत के अनुरूप है और किसके द्वारा सामाजिक न्याय के ध्येय की प्राप्ति हो सकती है। 'उत्प्रेरणा' एक निर्दोष शब्द है। उत्प्रेरणा का ठीक अर्थ केवल आर्थिक प्रोत्साहन ही नहीं होना चाहिए, न इसका अर्थ उस प्रोत्साहन से ही होना चाहिए जो सम्पन्न अथवा निर्धन देशों में प्रायः लिया जाता है। अन्यथा विषमताएँ दूर होने की अपेक्षा बढ़ती ही नहीं जायेंगी, बल्कि नयी-नयी विषमताएँ पैदा भी होंगी। इसी तरह जैसा कि पूंजीवादी व्यवस्था में होता है, रोजगार देने का अर्थ यह नहीं होना चाहिए कि मनुष्य अपनी स्वाभाविक आवश्यकताओं की उपेक्षा कर काम करें, नहीं तो विषमताओं में और वृद्धि होगी तथा दूसरे कितने ही अनर्थकारी कार्य होंगे।

उत्पादन, वितरण और विनिमय के समुचित साधनों पर राज्य का स्वामित्व होने का यह अर्थ है कि आर्थिक क्षेत्र में लोगों के अधिकार का अंत और एक छोटे-से वर्ग के हाथ में जनता का भविष्य सौंप देना, फिर चाहे वह वर्ग जनता में कितनी ही सहानुभूति क्यों न रखता हो। इस प्रकार की व्यवस्था तभी सफल हो सकती है, जब कोई यह विश्वास दिलाये कि एक अच्छे और हमदर्द व्यक्ति का उत्तराधिकारी भी उतना ही अच्छा और हमदर्द होगा। पर इस प्रकार का विश्वास दिलाना असम्भव है। साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था में 'काम' का अर्थ "एक ही काम देनेवाले मालिक पर निर्भर रहना है।" अगर भारत के पास इस मार्ग को अपनाने के अलावा कोई दूसरा मार्ग न हो तो बात दूसरी है, अन्यथा स्वेच्छा से साम्यवाद का मार्ग ग्रहण करना उसके लिए हितकर नहीं होगा।

४

गांधीवादी मार्ग

गुजरात की इस भूमि में जहां आज हम मिल रहे हैं, गांधीजी ने अपने जीवन के लगभग पन्द्रह वर्ष व्यतीत किये थे। सामाजिक न्याय के क्षेत्र में हम गांधीजी से क्या सीख सकते हैं? गांधीजी ने हमारा ध्यान घर में, पड़ोस में, गांव में और राष्ट्र में बढ़ती हुई असमानताओं को दूर करने की आवश्यकता की ओर आकर्षित किया था। उन्होंने उस मनःस्थिति पर ध्यान दिया, जो इन सभी असमानताओं की जड़ है। उन्होंने बार-बार यह कहा कि इन असमानताओं और विषमताओं के उन्मूलन का उपाय विदेशों की कोई जड़ी-बूटी नहीं है और न इसका उपाय किसी पुस्तक में ही मिल सकता है। सच कहा जाय तो अर्थशास्त्र के सिद्धान्त भी हमारे दुख-दर्दों को दूर करने के लिए अधिक सहायक नहीं हो सकेंगे।

भारतीय समाज की विषमताएं अपने ढंग की

हैं। हमने अपने नारी समाज को स्वतंत्रता से वंचित कर रखा है। इस बुराई के मूल में "न स्त्री स्वातंत्र्य-मर्हति" वाला विचार निहित है। भारत में पक्षी पूर्णतया स्वतंत्र हैं, चींटियों को भी पूरी आजादी है, परन्तु देश की ललनाओं को मनुस्मृति, धर्म, परिवार की इज्जत, लोकमत और कानून-कायदे के नाम पर पीछे रखा जाता है। उस पुरुष (मनु) की महानता के बारे में मैं कुछ नहीं कहूंगा, जिसने ऐसे विचार का सृजन किया। वस्तुतः उसकी देन हमें इतनी महान है कि उसके लिए हम अपना मस्तिष्क आदर से नवाते हैं। परन्तु कौन कह सकता है कि इस विचार ने हमारे समाज को कितनी हानि पहुँचायी है और लोगों का कितना अनर्थ किया है! नारी सम्बन्धी हमारे विचार आदिवासियों से भी कहीं गये-गुजरे हैं और इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है कि उन बच्चों का विकास कितना रुक जायेगा, जिनकी माताओं को स्वतंत्र वातावरण में सांस लेने की आजादी न हो!

आर्थिक अवस्था

हमारी आर्थिक अवस्था क्या है? मनुष्य को भोजन, घर, शिक्षा, दवा-दारू और बुढ़ापे में सहायता की आवश्यकता होती है। साठ प्रति शत से भी अधिक परिवारों के मुखिया इन आधार-भूत आवश्यकताओं की पूर्ति करने में अपने आपको असमर्थ पाते हैं। एक व्यक्ति को केवल पौष्टिक भोजन के लिए ही कम से कम ३५ रुपये की प्रति माह आवश्यकता पड़ती है, जबकि भारत में सबसे नीचे के वर्ग की मासिक आय ६.६० रुपये है। इससे ऊपर की श्रेणी के १० प्रति शत लोगों की आय ९.६० रुपये है, और जो इससे ऊपर के दशमक में आते हैं, उनकी ११.७० रुपये है। इसी प्रकार चौथे दशमक की १३.२६ रुपये; पाँचवें की १७.३५ रुपये और छठे की २१.५० रुपये है!

प्रगति की वर्तमान गति को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि भविष्य में लोगों की आय में अवश्य वृद्धि होगी। सन् १९९०–९१ में जब आज का बालक पिता यानी परिवार का प्रधान बन जायेगा, तब नितल श्रेणी के १० प्रति शत लोगों की प्रति व्यक्ति मासिक आय १६.७५ रुपये और उसके ऊपर की श्रेणी की २२.७५ रुपये तथा उससे भी ऊपर की श्रेणी के लोगों की ३० रुपये हो जायेगी।

विचित्र बात यह है कि इतना होते हुए भी लोग विश्वास और आशा लगाकर बैठे हैं। अंग्रेजी शासन-काल में भी लोग शांत रहे, इसका कारण यह था कि अंग्रेज शासक हमारी जनता की अज्ञानता का लाभ उठाते रहे। अब तो वे चले गये। यह कहना कठिन है कि यदि हमारे बीच में बापू न होते तो जो शांति आज की कठिन परिस्थितियों में भी लोगों में दृष्टिगोचर होती है, वह होती। चरखे का उपहास करनेवाले यदि शांति से कुछ सोचने का कष्ट करें, तो उन्हें ज्ञात होगा कि चरखे ने लोगों की कितनी सहायता की है—तथा अब भी कर रहा है—और तब वे गांधीजी के सामाजिक न्याय के सिद्धान्त का आदर करेंगे।

आत्म-निर्भरता

इसी प्रकार जो लोग उत्प्रेरणा की दृष्टि से विचार करते हैं उनसे मेरा अनुरोध है कि वे अपनी सीमाओं को समझें। मेरा यह विश्वास है कि विश्व की समूची धन-राशि अगर हमें मिल जाय तो भी जब तक हम अन्याय से जकड़े समाज को बंधन मुक्त न कर दें और आत्म-विश्वास, उत्साह एवम् स्वयम् के पुरुषार्थ से भारत का विकास कार्य न सम्भाल लें, तब तक भारत की सामाजिक न्याय-अन्याय की समस्या हल नहीं कर सकते। गांधीजी का कहना था 'मानव को अन्याय के बंधनों से मुक्त करो, प्रेम से आत्म-विश्वास की भावना लोगों में जागृत करो, भूल करने पर भी जनता को प्रोत्साहित कर उत्साहित करो और स्वयम् पुरुषार्थ के मार्ग पर चलो।' इसी मार्ग को

अपनाने से भौतिक सहायता के सफल परिणाम सामने आयेंगे।

आज हमारे देश की ही इतनी आधार-भूत जटिल समस्याएँ हैं कि हमें दूसरी ओर देखने तथा अन्य रचनात्मक कार्य करने का अवकाश ही कहाँ है? उदाहरणार्थ, देश के अधिकांश बालक भूखे और प्यासे हैं। उनको भर-पेट पौष्टिक भोजन की आवश्यकता है। देश का श्रमिक वर्ग जीवन-निर्वाह के लिए रोजगार मांगता है और समाज में अपना गौरवमय स्थान चाहता है। आदिवासी आत्मीयता के भूखे हैं। उन्हें रोजगार चाहिए, उन्हें जमीन आदि जैसे साधन चाहिए। पुरुषों में अपने आपको स्त्रियों से श्रेष्ठ समझने की भावना, बालकों के प्रति हमारी उपेक्षा वृत्ति, श्रमिकों को घृणित भावना से देखने की हमारी आदत, हरिजनों के प्रति हमारी उपकार वृत्ति और आदिवासियों के प्रति हमारी उदासीनता, ये सब प्रवृत्तियाँ सामाजिक न्याय की पोषक नहीं हैं। गांधीजी ने इन प्रवृत्तियों को समाप्त करने की भरसक कोशिश की। हम भी अपने ढंग से कोशिश कर रहे हैं। प्रकृति अत्यन्त करुणामय और सहिष्णु है, उसका धैर्य अपार है, पर हमें यह न भूलना चाहिए कि वह अन्याय सहन नहीं कर सकती। उसका धैर्य आदिकाल तक टिकता नहीं। प्रकृति की चक्की धीरे-धीरे पीसती है, पर जो कुछ पीसती है, वह बहुत महीन होता है।

५

वैधानिक अधिकार

पश्चिम के देशों में, जिनसे हमने अपने स्वतंत्रता आन्दोलन की प्रेरणा प्राप्त की, बहुत हद तक राज्य सामाजिक न्याय का उत्तरदायित्व उठाता है। यह उत्तरदायित्व हमारे संविधान में भी निहित है। उसमें इस विषय में दो अध्याय हैं: एक 'मौलिक अधिकारों' का और दूसरा 'राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों' का। मौलिक अधिकारों पर अमल कोई भी भारतीय नागरिक न्यायालय में जाकर करा सकता है; जब कि नीति निर्देशक सिद्धान्तों के अमल के लिए न्यायालयों को हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। संविधान में कहा गया है कि राज्य को इन सिद्धान्तों के अनुसार कानून बनाने चाहिए। फिर भी, यह नहीं कहा जा सकता कि संविधान के बीस पृष्ठों में जो कुछ निहित है, वह पूर्ण सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए परिपूर्ण है, किन्तु उनके महत्व से भी इन्कार नहीं किया जा सकता। हम यह भी नहीं कह सकते कि विधान सभाओं एवम् संसद में कानून बनाते वक्त सदैव इन सिद्धान्तों पर पूर्ण रूपेण अमल होता है, लेकिन इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि वे इस दिशा में पूरा प्रयास अवश्य करती हैं। उन्हें किसी तरह की ठेस न पहुँचे, इसके लिए कार्यपालिका और न्यायपालिका पूरी कोशिश करती है।

अवसर की समानता

संविधान के एक दूसरे अनुच्छेद में कहा गया है कि "राज्य के अन्तर्गत नौकरियों या नियुक्तियों के मामलों में सब नागरिकों के लिए अवसर की समानता रहेगी।" पर वास्तव में वस्तु-स्थिति क्या है? जो लोग स्वयम् के बच्चों को हाई स्कूल तक की शिक्षा दिलाने में असमर्थ हों और जिनके गाँव से एक-सौ मिल के घेरे में कोई कालेज न हो, तो उनको इस अधिकार से फायदा उठाने में लगभग २० वर्ष लग जायेंगे। और, इस अधिकार से कितने लोगों को लाभ प्राप्त हो सकेगा? संविधान में "अस्पृश्यता का उन्मूलन किया गया है और किसी भी रूप में अस्पृश्यता का व्यवहार निषेध ठहराया गया है।" किन्तु वास्तविकता क्या है? आज भी सैकड़ों गाँवों में अस्पृश्यता प्रचलित है। संविधान का एक और अनुच्छेद है जिसके अनुसार "मनुष्यों को बेचना-खरीदना, उनसे बेगार

लेना तथा दासता की प्रथा निषेध है।" फिर भी, दासता की प्रथा के अवशेष अब भी यत्र-तत्र देखने में आते हैं। इसमें न तो संविधान का दोष है और न शासन का; पर इसके लिए जिस प्रकार का संगठन और उपागम चाहिए वह हमारे पास नहीं है, इसलिए उक्त बातों की प्राप्ति कठिन है। संविधान के प्रति हमारा कर्तव्य है कि हम उन लोगों के रास्ते से सब रुकावटें दूर कर दें, जो अपने वैधानिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए यत्नशील हैं। गांधीजी ने भी इसी बात पर बल दिया था।

इसी भाँति हम संविधान में उल्लिखित राज्य नीति के निर्देशक सिद्धान्तों पर विचार करें। नीति निर्देशक सिद्धान्तों के अध्याय के आरम्भ में कहा गया है कि "इस अध्याय के उपबन्धों पर किसी न्यायालय के जरिये अमल नहीं कराया जा सकेगा फिर भी, इस अध्याय में जो सिद्धान्त प्रतिपादित हैं वे देश के शासन के लिए मौलिक हैं और राज्य का यह कर्तव्य होगा कि वह कानून बनाने में इन सिद्धान्तों को कार्यान्वित करे अर्थात् उन्हें अमली जामा पहनाये।" किन्तु हम यह कैसे कह सकते हैं कि इन सिद्धान्तों का सभी ध्यान रखते हैं; क्योंकि सामाजिक न्याय के प्रश्न पर सर्वांगीण दृष्टि से कभी भी कोई पूर्णतः विचार-विमर्श नहीं हुआ।

जीविकोपार्जन का अधिकार

संविधान के ३९वें अनुच्छेद के अनुसार "राज्य के सब नागरिकों को, चाहे वे पुरुष हों या स्त्री, जीविकोपार्जन के उपयुक्त साधन प्राप्त करने का अधिकार है।" इसी अनुच्छेद में आगे कहा गया है कि "समाज के भौतिक साधनों का स्वामित्व और उन पर नियंत्रण इस तरह विभाजित हो कि उससे सबका ज्यादा से ज्यादा हित हो; कि आर्थिक व्यवस्था इस तरह न चले कि उससे सम्पत्ति और उत्पादन के साधन थोड़े-से लोगों के हाथों में इस तरह से चले जायें कि सर्व हित-साधन न हो, घाटे में रहे; कि पुरुषों और स्त्रियों को समान श्रम के लिए समान पारिश्रमिक मिले; कि श्रमिकों की शक्ति और स्वास्थ्य का बेजा फायदा न उठाया जाय; और यह कि किसी नागरिक को आर्थिक मजबूरी के कारण कोई ऐसा काम करने पर मजबूर न होना पड़े जो उसकी आयु या शक्ति के उपयुक्त न हो।" एक दूसरे अनुच्छेद में जीवन-वेतन और अनिच्छा से बेकार रहने की अवस्था में व्यक्ति को राज्यीय सहायता का अधिकार दिया गया है। लेकिन इन सब अधिकारों का क्या अर्थ, जब देश के पास पर्याप्त साधन न हों? और, साधन प्राप्त करने के लिए सबसे सहज उपाय क्या है? देश समुचित साधन तभी पा सकता है, जब समूचा राष्ट्र उद्यमशील प्रयत्नों में हाथ बटाये।

कमियाँ

इन सब बातों का पूरा-पूरा लाभ समाज के उपेक्षित वर्ग को न मिलने के तीन प्रमुख कारण हैं: ज्ञानाभाव, आर्थिक साधनों की कमी और समुचित उपागम का अभाव। सामाजिक परिवर्तन-काल में निर्धन तथा धनी लोगों के बीच की खाई और भी बढ़ जाती है। जिनके पास बुद्धि, साधन, धन, संगठन है और जिनकी जान-पहिचान काफी है, वे पूरा लाभ उठाते हैं, पर जिनके पास ये सब नहीं हैं, उनको कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। पश्चिम और भारत की स्थिति में भारी अन्तर है। पश्चिम में इन वस्तुओं को प्राप्त करने यानी अपना विकास करने में लगभग एक-सौ वर्ष लगे और इस अवधि में संघर्ष हुए, शिक्षा में सुधार हुए तथा लोगों के साधन-स्रोतों में भी वृद्धि हुई। यदि हमें एक-सौ वर्ष की अवधि मिल जाय तो हमारे लिए भी यह सब सम्भव हो सकता है। पर क्या हमारे पास इतना समय है?

यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि सामाजिक न्याय का प्रश्न केवल राजनीति का ही प्रश्न नहीं

है। यह हमारे देश की स्थिति, भूतकालीन अनुभवों, हमारी पद्धतियों, हमारे विश्वास और हमारी समस्त अभिलाषाओं एवम् आकांक्षाओं का सवाल है। जब तक समाज सामाजिक न्याय को अपनी स्वयम् की स्थिरता और विकास के लिए अपरिहार्य न समझेगा, तब तक इस समस्या का समाधान नहीं होगा। वस्तुतः यह राजनैतिक समस्या नहीं है, पर बनती जा रही है और कुछ समय में एक उग्र रूप भी धारण कर सकती है।

औद्योगीकरण और समानता

देश में औद्योगीकरण हो रहा है, और वह आवश्यक भी है। हम प्रायः भूल जाते हैं कि विश्व के अन्य देश विकास के पथ पर बढ़ने के साथ-साथ सामाजिक न्याय के क्षेत्र में भी प्रगति कर रहे हैं। अमेरिका, यूगोस्लाविया, संयुक्त अरब गणराज्य अथवा क्यूबा जैसे देशों में, जहाँ औद्योगीकरण किसी सीमा तक पहुँच चुका है, आर्थिक तंत्र कुछ विशेष सिद्धान्तों पर आधारित है; और वहाँ पर खाद्य पदार्थों के अतिरिक्त अन्य आवश्यक वस्तुएँ भी इतनी सस्ती उपलब्ध करवायी जाती हैं कि कोई भी भूखा नहीं मर सकता, फिर चाहे उसकी आय कितनी भी कम क्यों न हो। स्कूल, मकान, औषधालय, पीने के पानी आदि के लिए लोग निश्चित हैं।

भारत के पास पर्याप्त साधन नहीं हैं, हमारी जन-संख्या भी कहीं अधिक है, हम लोकतांत्रिक पद्धति से परिवर्तन लाना चाहते हैं, और हमें कितनी ही विषमताएँ दूर करनी हैं। कुछ विषमताएँ तो ऐसी हैं, जिन्हें दूर करने के लिए आर्थिक साधनों की आवश्यकता पड़ती है, पर कुछ ऐसी भी हैं, जिनका उन्मूलन लोगों के विचारों और दृष्टिकोण में परिवर्तन लाने से ही हो सकता है। जहाँ समस्या का हल रुपये-पैसे से हो सकता है, वहाँ कुछ समाधान निकाला जा सकता है—हो सकता है वह हल पूर्णतया संतोषप्रद न भी हो। पर जहाँ धन से काम नहीं चल सकता, उसके लिए हमारे पास कोई हल नहीं है।

इसका कारण क्या है? भारतीय जनता सामाजिक दृष्टि से नहीं विचारती और यदि कतिपय लोग इस समाज-हित से सोचते भी हैं, तो वे उस दृष्टिकोण से सोचते हैं, जो हजार वर्ष पहले के समाज के अनुकूल था; तब भारत में अधिक जन-संख्या नहीं थी, उसे गुलामी से होकर गुजरना नहीं पड़ा था और अंग्रेजी शासन-काल जैसे शोषण का वह शिकार नहीं हुआ था। तो फिर, समस्या का हल क्या है? उत्तर स्पष्ट है कि जब तक सामाजिक न्याय का सिद्धान्त हमारी विचार-धारा का अंग न बन जाय, लोग उसे आत्मसात न कर लें, तब तक हमारा जीवन शांतिमय नहीं हो सकता। ●

पुनरुत्पादनीय गोचर सम्पत्ति में १९४९-५० से १९६०-६१ के बीच करीब १०० प्रति शत वृद्धि हुई है। पूंजीगत मालों के मूल्य में वृद्धि २० से २५ प्रति शत हुई है। अत: १९४९-५० और १९६०-६१ के बीच पुनरुत्पादनीय गोचर सम्पत्ति में हुई वृद्धि निरपेक्ष दृष्टि से ७५ से ८० प्रति शत ही होगी। पुनरुत्पादनीय गोचर सम्पत्ति का शुद्ध देशी उत्पादन से अनुपात महत्वपूर्ण वृद्धि दर्शाता है—१९४९-५० के १.८ से बढ़कर १९६०-६१ में करीब २.२—जबकि पुनरुत्पादनीय गोचर सम्पत्ति (कुल गोचर सम्पत्ति) का शुद्ध देशी उत्पदान से समवर्ती अनुपात कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं दर्शाता है, सम्भवतः इसलिए कि भूमि-मूल्य में जो परिवर्तन हुए हैं, उनका कृषि उत्पादनों में हुए मूल्य परिवर्तन में पूर्ण प्रतिबिम्ब नहीं मिलता।

—रिजर्व बैंक ऑफ् इण्डिया बुलेटिन (जनवरी १९६३): एस्टीमेट्स ऑफ् टेंजीबल वेल्थ इन इण्डिया।

पश्चिम बंगाल की शिथिल अर्थ-व्यवस्था*

सुभाष चन्द्र सरकार

पश्चिम बंगाल में एक ऐसा विरोधाभास पाया जाता है कि एक ओर वह भारत का औद्योगिक दृष्टि से सर्वाधिक विकसित राज्य है और वहां की औसत प्रति व्यक्ति आय सबसे अधिक है तथा दूसरी ओर राज्य की आबादी के बहुमत को घोर गरीबी व दुःख-दैन्य-पूर्ण अवस्थाओं के अन्तर्गत रहना पड़ता है एवम् जनता में आय वितरण की भीषण असमानता है। राष्ट्रीय प्रयुक्त आर्थिक अनुसंधान परिषद के मतानुसार राज्य की अर्थ-व्यवस्था का भावी विकास करने का एक उपाय है एक सुसंयोजित, समग्र ग्रामीण विकास कार्यक्रम का चलाया जाना, जिसमें ग्रामीण औद्योगीकरण पर जोर दिया जाय।

नेशनल कॉअन्सिल ऑफ् अप्लाइड इकनॉमिक रिसर्च के प्रतिवेदन में पश्चिम बंगाल की अर्थ-व्यवस्था से सम्बन्धित भरपूर आंकड़े इकट्ठे किये गये हैं। प्रस्तुत लेख में राज्य की अर्थ-व्यवस्था के सर्वेक्षण से प्राप्त जानकारी का संक्षेप में वर्णन करने का प्रयास किया गया है।

भ्रान्ति और वास्तविकता

भारत में आर्थिक स्थिति ऊपर से दीखती कैसी है और असल में कैसी है, इन दोनों के बीच का अन्तर जितना स्पष्ट पश्चिम बंगाल में है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं है। राज्य ने कृषि के लिए भूमि का उपयोग करने में बहुत अधिक सफलता (अखिल भारतीय औसत से १५ प्रति शत ज्यादा) हासिल की है। वहाँ कुल भौगोलिक क्षेत्र के ६० प्रति शत पर खेती होती है। राज्य में ऐसे औद्योगिक स्वरूप का विकास हुआ है, जो भारत के किसी भी हिस्से से ज्यादा, विभिन्न प्रकार का और जटिल है। जैसा कि ऐसी परिस्थितियों में होना चाहिए, पश्चिम बंगाल की प्रति व्यक्ति आय अन्य किसी दूसरे राज्य से अधिक है। लेकिन यह स्पष्ट सम्पन्नता राज्य-निवासियों के वास्तविक जीवन-स्तर में परिलक्षित नहीं होती। वे अत्यन्त गरीबी और दुःख-दैन्य-पूर्ण जीवनयापन करते हैं।

इस सम्बन्ध में 'राप्रआअप' (राष्ट्रीय प्रयुक्त आर्थिक अनुसंधान परिषद्—नेशनल कॉउन्सिल ऑफ् अप्लाइड इकनॉमिक रिसर्च) के दल ने अपने प्रतिवेदन में कहा है: "समग्र भारत की तुलना में पश्चिम बंगाल की प्रति व्यक्ति आय ज्यादा (२८१रुपये) है। इस तुलना से गुमराह कर देनेवाला चित्र सामने आता है; क्योंकि आबादी का अधिकांश उतना भी नहीं कमा पाता कि वह उससे उपयुक्त जीवन-स्तर प्राप्त कर सके। पूर्ण और अर्ध-बेकारी की भरमार है, जो अर्थ-व्यवस्था को अत्यधिक रूप से भाराक्रान्त करती है यानी उस पर भार बनी हुई है। दीर्घ स्तरीय उद्योग तथा व्यवसाय के चन्द आधुनिक अंगों को छोड़कर शेष सभी विभागों अथवा क्षेत्रों की उत्पादकता गति समग्र भारत में सब से कम है।"—पृष्ठ: २०५-२०६।

घोर असमानता

आय-विभाजन में असमानता पश्चिम बंगाल में सर्वाधिक उग्र है। और फिर, बहुत कुछ आमदनी राज्य से बाहर चली जाती है। राज्य में बचत बहुत कम रह जाती है। पश्चिम बंगाल में औपनिवेशिक अर्थ-व्यवस्था की कई विशेषताएँ मिलती हैं, जहाँ विकास का लाभ स्थानीय जन-संख्या को प्राप्त न होकर बाहरी विनियोजकों की तिजोरियाँ भरता है। 'राप्रआअप' के अनुसार "आय कर के विवरणों से पता चलता है कि राज्य के भीतर आय-विभाजन की असमानता भारत के अन्य किसी भी स्थान से ज्यादा है। यह भी पता चलता है कि राज्य में निगम-क्षेत्र अपेक्षाकृत अधिक विकसित हैं। यहाँ अपेक्षाकृत अधिक बचत के लिए स्पष्टतः एक गुंजाइश से भरपूर

---

* **टेक्नो-इकनॉमिक सर्वे ऑफ् वेस्ट बंगाल**: नेशनल कॉउन्सिल ऑफ् अप्लाइड इकनॉमिक रिसर्च, नयी दिल्ली; १९६२; पृष्ठ: १२ + २८४; मूल्य: २० रुपये।

तंत्र है। *फिर भी, आय और लाभ राज्य से बाहर जाने के रूप में असाधारण सुराख हैं*। इसका मतलब है भौगोलिक दृष्टि से विचार करने पर राज्य की आय अन्य किसी दूसरी दृष्टि से राज्य की जो आय होती है, उससे कहीं अधिक है। *इस प्रकार उच्च राज्य आय और औसत प्रति व्यक्ति आय भी एक ऐसा भव्य, यद्यपि एक मायावी, मुख द्वार प्रस्तुत करती है, जिसके पीछे महान् रहस्य (गरीबी, दुःख-दर्द आदि ?) छिपा हुआ है।* अन्य बातों के साथ-साथ यह तथ्य विकास के लिए केन्द्रीय अनुदान की आवश्यकता का महत्व प्रकट करता है।"

(पैराग्राफ १.२९; इटॉलिक्स हमारी ओर से।)

भूमि पर अत्यधिक दबाव

पश्चिम बंगाल का भारत के घनी आबादीवाले राज्यों में द्वितीय स्थान है। सर्वाधिक घनी जन-संख्या केरल में है। पिछले एक दशक में औसतन आबादी घनत्व २५८ प्रति वर्ग मील बढ़ा है—सन् १९५१ में प्रति वर्ग मील ७७३ व्यक्ति थे, जो १९६१ में बढ़कर १,०३१ हुए और १९६६ में १,२०० तथा १९७१ में १,३६० हो जानेवाले हैं। तालिका १ (पृष्ठ : ४५७) पश्चिम बंगाल के विभिन्न में जिलों आबादी घनत्व सम्बन्धी हेर-फेर पर प्रकाश डालती है।

भूमि पर अत्यधिक दबाव है। खेती के लिए काफी हद तक जमीन का इस्तेमाल होते हुए भी, प्रति कृषक व्यक्ति पीछे राज्य में समूचे भारत की १.८० एकड़ के औसत के स्थान पर .८० एकड़ जमीन पर ही खेती होती है। अपेक्षित रूप से बंगाल में अन्य राज्यों की अपेक्षा प्रति व्यक्ति जंगली क्षेत्र कम है। तालिका २ (पृष्ठ : ४५८-४५९) जिलों में भूमि उपयोगिता सम्बन्धी विवरण प्रस्तुत करती है।

राज्य में १५ लाख एकड़ अथवा कुल की ७.५प्रति शत जमीन कृषि योग्य बंजर भूमि होने का अनुमान है। तालिका २ से पता चलेगा कि भूमि पुनर्वाप्ति के योग्य क्षेत्र २४परगना (२,५०,००० एकड़); मिदनापुर (२,४६,००० एकड़); बांकुरा (२,३७,००० एकड़); जलपाईगुड़ी (१,८५,००० एकड़); बर्दवान (१,१६,००० एकड़); मुर्शिदाबाद (९०,००० एकड़); और कूच बिहार (८५,००० एकड़) में पाये जाने हैं। लेकिन इनमें से अधिकांश क्षेत्र वस्तुतः कृषि योग्य नहीं हैं। 'राप्र-आअप' बड़ी सावधानीपूर्वक विचार करने के बाद अनुमान लगाती है कि १० करोड़ रुपये खर्च करके ज्यादा से ज्यादा कुल मिलाकर ५,००,००० एकड़ भूमि पुनर्वाप्ति की अपेक्षा की जा सकती है।

भूमि पर आबादी का इस तरह का अत्यधिक दबाव होने पर कृषि में तरक्की नहीं हो सकती अर्थात् वह सम्पन्न नहीं बन सकती। पश्चिम बंगाल इसका कोई अपवाद नहीं है। यह खाद्यान्न की बहुत ही कमीवाला क्षेत्र है, और अन्य कई राज्यों की तुलना में यहाँ प्रति एकड़ कम उपज होती है। प्रतिवेदन में इस तथ्य पर सही ध्यान दिया गया है कि "राज्य में कृषि सम्बन्धी समस्याएँ मुख्यतः कृषि योग्य भूमि की कमी, प्रति एकड़ और प्रति कर्मी न्यून उत्पादन, तथा श्रमिकों में अर्द्ध-बेरोजगारी सम्बन्धी हैं। जैसी स्थिति फिलहाल है, उसमें इन समस्याओं को कृषि में सम्भाव्य परिवर्तन और कुछ फेर-फार करके केवल आंशिक रूप में ही सुलझाया जा सकता है। फिर भी, समस्या का पूर्ण समाधान कृषि विस्तार तथा अर्थ-व्यवस्था के अन्य अंगों के सुसंयोजित, सर्वांगीण विकास कार्यक्रम पर ही निर्भर है।"—पैराग्राफ : ३.२।

विकृत शहरीकरण

पश्चिम बंगाल की एक-चौथाई से कुछ कम (२३ प्रति शत) आबादी शहरी क्षेत्रों में रहती है। लेकिन यह एक गुमराह कर देनेवाली संख्या है जो शहरीकरण तथा औद्योगीकरण की असली प्रगति प्रतिबिम्बित नहीं करती। शहरी आबादी में वृद्धि (पिछले दशक—१९५१-१९६१—के दौरान २८ प्रति शत) राज्य-विभाजन के फल-स्वरूप वर्तमान शहरी केन्द्रों में विस्थापित व्यक्तियों की बहुत बड़ी संख्या आकर बस जाने का परिणाम है। शहरी विकास की असमानता इस तथ्य से प्रति-

तालिका १

जन-संख्या वृद्धि और आबादी के घनत्व में परिवर्तन : १९५१–१९६१

जिला	१९५१			१९६१			जन-संख्या वृद्धि का प्रतिशत्य
	क्षेत्रफल वर्ग मील में *	आबादी **	प्रति वर्ग मील घनत्व	क्षेत्रफल वर्ग मील में *	आबादी **	प्रति वर्ग मील घनत्व	१९५१-१९६१
दार्जीलिंग	१,८५४	४,५९,६१७	२४८	१,१६०	६,२४,८७९	५३९	३५.९६
जलपाईगुड़ी	२,४०७	९,१४,५३८	३८०	२,४०७	१३,६०,११०	५६३	४८.७२
कूच विहार	१,२९१	६,७१,१५८	५२०	१,२९१	१०,१९,७४७	७९०	५१.९४
पश्चिम दिनाजपुर	१,३७८	९,७९,२८८	७१०	२,११५	१३,३०,३४६	६२९	३५.८५
मालदा	१,४२९	९,३७,५८०	६५६	१,४२५	१२,२०,४९१	८५६	३०.१७
मुर्शिदाबाद	२,०९५	१७,१५,७५९	८१९	२,०८६	२२,९३,०७४	१,०९९	३३.६५
नदिया	१,५२७	११,४४,९२४	७५०	१,५२७	१७,१५,०६८	१,१२३	४९.८०
२४ परगना	५,३०६	४४,५९,४९२	८४०	५,२८८	६२,९३,७५८	१,१९०	४१.१३
कलकत्ता	१०	२६,९८,४९४	२,६९,८४९	३९	२९,२६,४९८	७५,०३८	८.४५
हावड़ा	५७५	१६,११,३७३	२,८०२	५७५	२०,४३,२२५	३,५५३	२६.८०
हुगली	१,२१७	१६,०४,२२९	१,३१८	१,२१७	२२,३३,७९८	१,८३५	३९.२४
बर्दवान	२,७१७	२१,९१,६६७	८०६	२,७१७	३०,८३,५६४	१,१३५	४०.६९
बीरभूम	१,७५४	१०,६६,८८९	६०८	१,७५७	१४,४७,६३८	८२४	३५.६९
बांकुरा	२,६५३	१३,१९,२५९	४९७	२,६५३	१६,६७,५२७	६२९	२६.४०
मिदनापुर	५,२६४	३३,५९,०२२	६३८	५,२६४	४३,४९,०६९	८२६	२९.४७
पुरुलिया	२,४०८	११,६९,०९७	४८६	२,४०८	१३,५८,८४२	५६४	१६.२३
पश्चिम बंगाल	३३,८८५	२,६३,०२,३८६	७७६	३३,९२८	३,४९,६७,६३४	१,०३१	३२.९४

* भारत की जनगणना, १९५१; पेपर नं. १; १९५७।

** अस्थायी जन-संख्या योग — जनगणना, १९६१।

तालिका २

पश्चिम बंगाल में जिलावार भूमि उपयोग : १९५६–५७

(हजार एकड़ में)

जिला	ग्राम खसरा-नुसार क्षेत्र	जंगली क्षेत्र *	कृषि के लिए अप्राप्य	मौजूदा परती के अलावा अन्य गैर-खेतिहर भूमि	मौजूदा परती भूमि	खेती किया गया खालिस क्षेत्र	दोहरी फसल का क्षेत्र	कुल जोता गया क्षेत्र
बर्दवान	१,७३१.५	३१.६ (१.५%)	३३८.४ (१९.५%)	११६.४ (६.६%)	४९.२ (२.८%)	१,१९५.७ (६९.६%)	८३.०	१,२७८.७ (७३.८%)
बीरभूम	१,११५.५	६.० (०.५%)	१७५.० (१५.६%)	४१.० (३.७%)	७८.३ (७.१%)	८१५.२ (७३.१%)	९४.०	९०९.२ (८१.५%)
बांकुरा	१,६९४.०	१९५.५ (११.५%)	१४९.५ (८.९%)	२३७.३ (१४.०%)	२६०.५ (१५.४%)	८५१.२ (५०.२%)	५३.०	९०४.२ (५३.३%)
मिदनापुर	३,३६२.०	३८१.३ (११.२%)	३११.७ (९.३%)	२४६.० (७.३%)	२०७.८ (६.१%)	२,२१५.२ (६६.१%)	१२५.७	२,३४०.९ (६९.६%)
हावड़ा	३५८.५	...	८७.० (२४.३%)	१२.१ (३.३%)	३५.३ (९.८%)	२२४.१ (६२.६%)	४१.०	२६५.१ (७४.०%)
हुगली	७७५.७	०.६	१४८.४ (१९.०%)	३१.९ (४.२%)	७.८ (१.१%)	५८७.० (७५.७%)	७०.१	६५७.१ (८४.७%)
२४परगना	३,६३०.२	१,०५३.० (२९.१%)	६३५.० (१७.५%)	२५०.० (६.८%)	६७.२ (१.८%)	१,६२५.० (४४.८%)	२७०.१	१,८९५.१ (५२.२%)
नदिया	९६५.८	...	१३८.० (१४.३%)	८०.० (८.३%)	५६.५ (५.९%)	६९१.८ (७१.५%)	३६०.३	१,०५२.१ (१०९.०%)
मुर्शिदाबाद	१,३२६.१	...	१८३.० (१३.७%)	९०.० (६.९%)	१२०.६ (९.१%)	९३१.८ (७०.३%)	४०२.०	८३३.८ (६२.७%)
पश्चिम दिनाजपुर	८८६.७	...	१४५.५ (१६.३%)	३८.७ (४.३%)	१८.१ (२.०%)	६८४.४ (७७.४%)	१३५.०	८१९.४ (९२.४%)

तालिका २ (जारी)

पश्चिम बंगाल में जिलावार भूमि उपयोग : १९५६–५७

(हजार एकड़ में)

जिला	ग्राम खसरा-नुसार क्षेत्र	जंगली क्षेत्र*	कृषि के लिए अप्राप्य	मौजूदा परती के अलावा अन्य गैर-खेतिहार भूमि	मौजूदा परती भूमि	खेती किया गया खालिस क्षेत्र	दोहरी फसल का क्षेत्र	कुल जोता गया क्षेत्र
मालदा	८९०.९	...	८९.० (१००.%)	५१.० (५.७%)	४१.४ (४.६%)	७०९.५ (७९.७%)	१८६.२	८९५.७ (१००.५%)
जलपाईगुड़ी	१,५१९.६	३६१.४ (२३.७%)	२६९.० (१७.८%)	१८५.० (१२.२%)	५०.९ (३.४%)	६५३.३ (४२.९%)	६५.०	७१८.३ (४७.२%)
दार्जीलिंग	७६७.८	२९०.८ (३७.९%)	१८४.५ (२४.०%)	४९.० (६.३%)	२६.० (३.३%)	२१७.५ (२८.५%)	४०.१	२५७.६ (३३.५%)
कूच बिहार@	८२३.४	...	१११.७ (१३.५%)	८५.८ (१०.४%)	१०.१ (१.३%)	६१५.८ (७४.८%)	१०३.७	७१९.५ (८७.३%)
पश्चिम बंगाल §	१९,८४७.७	२,३२०.२ (११.६%)	२,९६६.४ (१४.७%)	१,५१४.४ (७.५%)	१,०२९.७ (५.८%)	१२,०१७.० (६०.४%)	२,०२९.५	१४,०४६.५ (७०.७%)

* आरक्षित और संरक्षित जंगल।

@ कूच बिहार का भौगोलिक क्षेत्रफल ८,४६,५०० एकड़ है। इसमें से २३,१०० एकड़ भूमि के कृषि सम्बन्धी सांख्यिकीय आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं। ऊपर वर्गीकृत जानकारी शेष ८,२३,४०० एकड़ के बारे में ही दी गयी है।

§ पुरुलिया जिले को छोड़कर।

स्रोत : स्टेटिस्टिकल ऍब्स्ट्रैक्ट, पश्चिम बंगाल : १९५८।

बिम्बित होती है कि करीब ८६ प्रति शत शहरी जन-संख्या तो हुगली, हावड़ा, २४ परगना, बर्दवान और कलकत्ता, इन पाँच जिलों में ही संकेन्द्रित है; वैसे इन पाँचों जिलों की जन-संख्या समूचे पश्चिम बंगाल की कुल आबादी का ४८ प्रति शत से भी कम हिस्सा है। सबसे कम शहरीकृत जिला मालदा है, जहाँ शहरी क्षेत्रों में केवल ३.७ प्रति शत जन-संख्या ही रहती है। नौ जिलों में (कुल १६ जिलों में से) शहरी आबादी कुल की दस प्रति शत से भी कम है। ग्यारह जिलों की शहरी आबादी राष्ट्रीय औसत १७ प्रति शत से कम है। तालिका ३ विभिन्न जिलों में शहरीकरण के चित्र पर प्रकाश डालती है।

यद्यपि २४ प्रति शत आबादी शहरी क्षेत्रों में रहती है, लेकिन नौ प्रति शत से भी कम आबादी (अथवा कार्यकारी जन-संख्या का १५ प्रति शत) ही खानों सम्बन्धी काम को छोड़कर अन्य सहायक यानी गौण अर्थात् मध्यम वर्ग के धंधों पर निर्भर करती है। दूसरे शब्दों में इसे यों भी कहा जा सकता है कि शहरीकरण तथा औद्योगीकरण के बीच निकट सह-सम्बन्ध नहीं है।

उद्योगों का अतिशय स्थानीयकरण

राज्य की अर्थ-व्यवस्था का एक दूसरा बाधक अथवा विक्षोभकारी पहलू है उद्योगों का स्थान विशेष में ही संकेन्द्रित हो जाना। सभी उद्योग कलकत्ता तथा उसके

तालिका ३

जिलों में कुल आबादी के प्रातिशत्य स्वरूप शहरी आबादी (१९५१)

जिला	शहरी आबादी	ग्रामीण आबादी	कुल में शहरी आबादी का प्रातिशत्य	कुल में ग्रामीण आबादी का प्रातिशत्य
दार्जीलिंग	९४,४८१	३,५०,७७९	१३·१	८६·९
जलपाईगुड़ी	६६,१४५	८,४८,३९३	७·२	९२·८
कूच बिहार	५०,१८०	६,२०,९७८	७·५	९२·५
पश्चिम दिनाजपुर	४१,९४०	९,५१,७०५	५·८	९४·२
मालदा	३५,१६१	९,०२,४१९	३·७	९६·३
मुर्शिदाबाद	१,३४,९२७	१५,८०,८३२	७·८	८२·२
नदिया	२,०८,१०१	९,३६,८२३	१८·२	८१·८
२४परगना	१३,६५,९६९	३२,४३,३४०	२९·८	७०.२
कलकत्ता	२५,४८,६७७	...	१००·०	...
हावड़ा	५,२२,३२०	१०,८९,०५३	३२·४	६७·६
हुगली	३,९४,८३९	१२,०९,३९०	२४·६	७५.४
बर्दवान	३,२३,९४१	१८,६७,७२६	१४.८	८५·२
बीरभूम	६८,९९३	९,९७,८९६	६·५	९३·५
बांकुरा	९४,६१८	१२,२४,६४१	७·२	९२·८
मिदनापुर	२,५२,८८०	३१,०६,१४२	७·५	९२·५
पुरुलिया	७८,४७०	१०,९०,६२७	६·७	९३·३
पश्चिम बंगाल	६,२८१,६४२	२०,०२०,७४४	२३·८	७६·२

स्रोत : **१. भारत की जनगणना, १९५१,** पेपर १; १९५७।

२. स्टेट स्टेटिस्टिकल ब्यूरो : **स्टेटिस्टिकल अब्स्ट्रैक्ट ऑफ् वेस्ट बंगाल,** १९५८।

आस-पास के क्षेत्रों, विकासोन्मुख आसनसोल-दुर्गापुर क्षेत्र तथा दार्जीलिंग और जलपाईगुड़ी के चाय उत्पादक जिलों में संकेन्द्रित हैं। अन्य जिलों में औद्योगिक विकास नहीं मिलता। शक्ति प्राप्ति के मामले में भी पर्याप्त क्षेत्रीय विभिन्नता पायी जाती है। सन् १९५८-५९ में कुल ऊर्जा खपत का लगभग ९० प्रति शत भाग कलकत्ता इलेक्ट्रिक सप्लाई कारपोरेशन के लाइसेंस प्राप्त क्षेत्र में खपा और राज्य में ऊर्जा उपभोग का प्रायः शेष समूचा भाग आसनसोल, दुर्गापुर, जलपाईगुड़ी तथा दार्जीलिंग में। तालिका चार शक्ति पूर्ति और माँग के क्षेत्रीय विवरण पर प्रकाश डालती है।

तालिका ४

पश्चिम बंगाल में शक्ति पूर्ति और माँग का क्षेत्रीय विवरण

(मेगावाट में)

क्षेत्र का नाम	द्वितीय पंच वर्षीय योजनावधि के अंत में अपेक्षित ठोस-क्षमता	के. ज. श. आ. के भार सर्वेक्षण के आधार पर १९६५-६६ में प्रत्याशित माँग
क्षेत्र अ		१,१५२.५९
नदिया, २४ परगना, कलकत्ता, हावड़ा, हुगली, मिदनापुर, बांकुरा, बीरभूम, मुर्शिदाबाद जिला।	४१७.१०* (उपयोगिताएँ) ९९.५९ (स्व-जनक उद्योग)	
क्षेत्र आ		
मालदा और पश्चिम दिनाजपुर जिला।	०.२५	१.५०
क्षेत्र इ		
दार्जीलिंग, जलपाईगुड़ी और कूच बिहार जिला।	४.१५	२५.००

* क्षेत्र 'अ' की उपयोगिता में दामोदर घाटी निगम का दुर्गापुर स्थित हाल ही में बना १५० मेगावाट की क्षमतावाला बिजली घर शामिल नहीं है।

स्रोत : स्टेट इलेक्ट्रीसिटी बोर्ड।

बृहत्तर कलकत्ता क्षेत्र में उद्योगों के 'संकेन्द्रण' का जिक्र करते हुए, जिसका कोई सानी नहीं मिलता, 'राप्रआअप' के दल ने कहा है कि "अत्यधिक भीड़-भाड़, स्थान की घोर कमी और यातायात तथा नागरिक सुविधाओं पर असह्य दबाव होने से यह क्षेत्र अब भौतिक दृष्टि से एवम् प्रायः परिपूर्ण रूप से चरम सीमा पर पहुँच चुका है और वहाँ अब ऐसी गंदी बस्तियों के तीव्र गति से बढ़ते जाने का खतरा सामने है, जिनका कोई अन्त नहीं है। यदि राज्य के भीतर ही नये क्षेत्रों का विकास और उन क्षेत्रों में उद्योगों का प्रबल फैलाव नहीं किया गया, तो औद्योगिक स्थापना के लिए राज्य के जो असंदिग्ध लाभ हैं उन पर भारी बुरा असर पड़ेगा।"–पृष्ठ : ७.२।

शिक्षा में क्षेत्रीय असंतुलन

शक्ति की उपलब्धि और औद्योगिक इकाइयों की स्थापना के सम्बन्ध में जो घोर क्षेत्रीय असंतुलन है वह शिक्षा के स्तर में भी प्रतबिम्बित है। सामान्यतः उद्योग-प्रधान जिलों में शिक्षा का प्रातिशत्य अधिक है। सर्वाधिक न्यून शहरीकृत मालदा जिले में साक्षरता भी सब से कम है। तालिका पाँच (पृष्ठ : ४६२) स्वयम् उक्त कथन की पुष्टि करती है।

जन शक्ति का उपयोग

कार्यकारी आयु वर्ग (१५ से ६० वर्ष तक) में आबादी का करीब ६० प्रति शत भाग आता है। जहाँ सामान्य लिंग अनुपात प्रति १०० पुरुष और ८६ महिलाओं का है वहाँ कार्यकारी शक्ति में इनका अनुपात प्रति १०० पुरुष तथा १८ महिलाओं का है, जो कि एक असाधारण स्थिति प्रकट करता है। यद्यपि १९२१ से १९५१ तक के तीन दशकों की अवधि में समग्र जन-शक्ति में ६१ लाख ५० हजार की वृद्धि हुई है, लेकिन जन-संख्या-जन-शक्ति का अनुपात १९२१ से (जब यह ५९.१ प्रति शत था) प्रायः करके एक समान ही रहा है। कुल २ करोड़ ६३ लाख की आबादी (१९५१ में) में से कृषक वर्ग की संख्या १ करोड़ ५५ लाख (कुल जन-संख्या की करीब

५९ प्रति शत) है। खेतिहर आबादी में निर्भरता प्रभाव बहुत अधिक है; कमाऊ और आश्रितों का अनुपात २८ तथा ७२ है।

समग्र जन-शक्ति में से १ करोड़ १६ लाख ९० हजार (करीब ७४ प्रति शत) देहाती क्षेत्रों में और शेष (२६ प्रति शत) शहरी क्षेत्रों में हैं। शहरी आबादी में कामगारों का प्रातिशत्य (६६ प्रति शत) ग्रामीण जन-संख्या के कर्मियों (५८ प्रति शत) से अधिक है। तकरीबन ५३ प्रति शत कामगार प्राथमिक अथवा प्रधान कार्यशीलताओं (खानों सम्बन्धी कार्य भी इनमें शामिल हैं) में लगे हैं, जबकि ४७ प्रति शत कर्मी अपनी जीविका के लिए खेती पर निर्भर करते हैं। सहायक यानी गौण अथवा मध्यम वर्ग के धंधों में कार्यकारी शक्ति के १५ प्रति शत व्यक्तियों को रोजगारी मिलती है, जबकि तीसरे दर्जे के धंधों में करीब ३२ प्रति शत कार्यकारी आबादी है। सन् १९७१ तक श्रम-शक्ति बढ़कर १ करोड़ ६२ लाख १० हजार हो जाने की अपेक्षा है। निम्न तालिका 'राप्रआअप' के बहिर्वेशनों पर प्रकाश डालती है।

तालिका ५

प्रति १,००० व्यक्तियों पीछे साक्षरों की संख्या

(१९५१ और १९६१ में)

जिला	१९५१*	१९६१†
दार्जीलिंग	२११	२८४
जलपाईगुड़ी	१४४	१९३
कूच बिहार	१५०	२११
पश्चिम दिनाजपुर	१४७	१९८
मालदा	९५	१३६
मुर्शिदाबाद	१३०	१५९
नदिया	२१०	२६९
२४ परगना	२७३	३२६
कलकत्ता	५३१	५८५
हावड़ा	२८३	३६०
हुगली	२४६	३४५
बर्दवान	२०६	२९४
बीरभूम	१७६	२२२
बांकुरा	१७२	२२९
मिदनापुर	२३१	२७१
पुरुलिया	१४१§	१८३
पश्चिम बंगाल	२४५	२९१

* **भारत की जनगणना, १९५१;** खण्ड ६; भाग १-सी-रिपोर्ट।

† **जनगणना, १९६१ :** अस्थायी जन-संख्या योग।

§ **भारत की जनगणना, १९५१;** खण्ड ५; बिहार; भाग २-ए—तालिकाएँ।

तालिका ६

पश्चिम बंगाल में आबादी और कार्यकारी शक्ति-बहिर्वेशन : १९६१–७१

(दस लाख की संख्या में)

वर्ष	आबादी	जन-शक्ति	श्रम-शक्ति
१९६१	३४.९६	२०.९६	१२.७९
१९६६	३९.३६	२३.६२	१४.४१
१९७१	४४.२९	२६.३७	१६.२१

ऐसा पाया गया है कि १९५१ में समाप्त होनेवाली तीस वर्ष की अवधि में सार्वभौमिक अथवा व्यापक (आत्म-निर्भरक कार्यकारी शक्ति) भागीपन १५ प्रति शत कम हो गया है, जिससे पता चलता है कि उक्त काल में "प्राथमिक आय विभाजन अधिक असमान हो गया है....।"—पैराग्राफ : २.२४।

पश्चिम बंगाल, भारत और संयुक्त राज्य अमेरिका की रोजगारी-आय का क्षेत्रानुसार विवरण 'राप्रआअप' द्वारा तैयार की गयी तालिका ७ (पृष्ठ : ४६३) में दिया गया है।

तालिका ७

पश्चिम बंगाल, भारत और संयुक्त राज्य अमेरिका में क्षेत्रानुसार रोजगारी-आय-वितरण

उद्योग	१९५१					
	रोजगारी का प्रातिशत्य			आय का प्रातिशत्य		
	प. बंगाल	भारत	सं. रा. अ. §	प. बंगाल	भारत	सं. रा. अ. §
प्राथमिक या प्रधान (खान-कार्य सहित)	५३.४ (इसमें कृषि = ४७.३)	७१.० (इसमें कृषि = ६८.०)	१३.३ (–)	४०.०	५२.२	१०.५
गौण या सहायक (खान-कार्य के अलावा)	१५.३	९.०	२९.२	१८.२	१५.०	३२.०
तीसरे दर्जे के	३१.३	२०.०	५७.५	४१.८	३३.०	५७.५

§ संयुक्त राज्य अमेरिका।

स्रोत: भारत और पश्चिम बंगाल के लिए रोजगारी का प्रातिशत्य **भारत की जनगणना, १९५१** से और आय का प्रातिशत्य **स्टेट इनकम ऑफ् वेस्ट बंगाल,** १९४८ टू १९५१–५२ (वेस्ट बंगाल स्टेटिस्टीकल ब्यूरो) से लिया गया है। संयुक्त राज्य अमेरिका की रोजगारी और आय के प्रातिशत्य का स्त्रोत है-कोलिन क्लार्क: **कण्डीशन्स ऑफ् इकनॉमिक प्रॉग्रेस।** संयुक्त राज्य अमेरिका के अंकों में सेना के लिए तीसरे दर्जे के काम-धन्धों में मिली रोजगारी का बहुत ही सामान्य प्रातिशत्य भी शामिल है।

बेरोजगारी

पश्चिम बंगाल बेरोजगारी के बुरी तरह से शिकार हुए राज्यों में है। करीब पांच लाख (शहरी जन-शक्ति के १२ प्रति शत) व्यक्ति कलकत्ता और औद्योगिक क्षेत्र में बेकार थे, जबकि देहाती क्षेत्रों में कार्यकारी आयवाले वर्ग के तकरीबन पांच प्रति शत लोग पूरे समय के काम के भूखे थे। 'राप्रआअप' के अनुसार "शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों की बढ़ती हुई बेरोजगारी अर्थ-व्यवस्था पर भारी बोझ डाल रही है तथा राज्य के आर्थिक एवम् सामाजिक स्वरूप की जड़ें खोखली कर रही है।"–पृष्ठ: १२६।

विकास की धीमी रफ्तार

पश्चिम बंगाल की आर्थिक बीमारी का एक दूसरा निदर्शन प्रति व्यक्ति आय की अत्यधिक यानी बहुत ही निम्न वृद्धि में मिलता है, जोकि द्वितीय पंच वर्षीय योजना के दरमियान अखिल भारतीय औसत (१९५५-५६ में प्रचलित मूल्यों के आधार पर) प्रति व्यक्ति १.५ प्रति शत वार्षिक आय वृद्धि की तुलना में ०.४० प्रति शत वार्षिक थी।–पैराग्राफ: ११.८। सन् १९२१ और १९५१ के बीच "जनता के रहन–सहन का स्तर प्रायः करके एक समान ही रहा अर्थात् उसमें कोई विशेष विकास नहीं हुआ और अर्थ-व्यवस्था को समग्र दृष्टि से देखने पर उसके पिछड़ेपन में शायद ही कोई परिवर्तन यानी सुधार हुआ है।"–पैराग्राफ २.२२।

सम्भाव्यता

पश्चिम बंगाल की आर्थिक अवस्था में सुधार करने के लिए विनियोजन की आवश्यकता है। मुख्यतः कृषि-प्रधान अर्थ-व्यवस्था को बहिर्मुखी बनाना पड़ेगा। उसमें वैविध्य लाना पड़ेगा। आबादी को राज्य से बाहर दूसरे राज्यों में जाने के लिए

प्रोत्साहित करना आवश्यक हो सकता है।

वर्तमान दशक (१९६१–७१) के दरमियान 'राप्रआअप' के दल के मतानुसार २० अरब १५ करोड़ ५० लाख रुपये विनियोजित करने की आवश्यकता है, जिससे राज्य की १९६१ में १० अरब ११ करोड़ ४० लाख रुपये की आमदनी १९७१ में बढ़कर करीब १७ अरब ५८ करोड़ ५० लाख रुपये हो सकेगी। विनियोजन **प्रति व्यक्ति** ४६ रुपये वार्षिक बैठता है, जिससे ७.४ प्रति शत वार्षिक विकास दर सुनिश्चित हो सकेगी। **प्रति व्यक्ति** आमदनी ३.७ प्रति शत वार्षिक की दर से बढ़कर १९७१ में ३९७ रुपये हो जाने की अपेक्षा की जाती है, जबकि अखिल भारतीय **प्रति व्यक्ति** औसत वार्षिक आय ३६४ रुपये होने की आशा है। तालिका ८ प्रक्षिप्त अर्थात् परिकल्पित विनियोजन तथा विकास की गति का विवरण प्रस्तुत करती है।

तालिका ८

सन् १९६१–७१ के दरमियान पश्चिम बंगाल की अनुमानित आय वृद्धि

(आय और विनियोजन १९५५-५६ में प्रचलित मूल्यों के आधार पर)

(राशि करोड़ रुपयों में)

विभाग	१९६०-६१ के लिए परिकल्पित आय	१९६१-७१ के लिए प्रस्तावित विनियोजन	पूंजी-उत्पादन अनुपात	१९६१-७१ के लिए परिकल्पित अतिरिक्त आय	१९६१-७१ के लिए परिकल्पित कुल आय	१९६१-७१ में आय-वृद्धि का प्रातिशत्य	१९६१-७१ में आय में भारित प्रातिशत्य वृद्धि
कृषि	२५३.०	८५.०	०.७५ : १	१०६.२	३५९.२	४१.९८	१०.५०
रेशम कीट-पालन	...	१.१	...	...	...	...	...
पशु-पालन	३७.३	१४.५	०.५० : १	१०.७	४८.०	२८.६९	१.०५
जंगल	१.१	६.१	४.०७ : १	१.५	२.६	१३६.३६	०.१५
मत्स्यालय	५.०	२२.५	२.१२ : १	१०.६	१५.६	२१२.००	१.०५
प्राथमिक उत्पादन योग	२९६.४	१२९.२	०.८८ : १	१२९.०	४२५.४	४३.५	१२.७५
कारखाना उद्योग	२१७.०	६९९.०	२.२९ : १	२३८.१	४५५.१	१०९.७२	२३.५४
गैर-कारखाना उद्योग	५३.२	५.५	०.५० : १	११.०	६४.२	२०.६८	१.०९
खान-कार्य	३७.०	१२६.०	२.६३ : १	४८.०	८५.०	१२९.७३	४.७४
शक्ति	२.८	३२०.०	१५.२४ : १	२१.०	२३.८	७५०.००	२.०८
गौण उत्पादन योग	३१०.०	१,१५०.५	३.१३ : १	३१८.१	६२८.१	१०२.६१	३१.४५
यातायात	अप्राप्य	३००.०	४ : १	७५.०	...	...	...
सामाजिक सेवाएँ	अप्राप्य	४३५.८	२ : १	२२५.०	...	...	...
तीसरी श्रेणी के उत्पादन का योग	४०५.०	७३५.८	२.५० : १	३००.०	७०५.०	७४.०७	२९.६७
कुल योग	१,०११.४	२,०१५.५	१.६९ : १	७४७.१	१,७५८.५	७३.८७	७३.८७

प्रस्तावित कुल २० अरब १५ करोड़ ५० लाख रुपये के विनियोजन (१९७१ में समाप्त होनेवाले दशक के दौरान) में से ६ अरब ४४ करोड़ ९० लाख रुपये

राज्यीय क्षेत्र में आयेंगे अर्थात् राज्य सरकार से आशा की जाती है कि वह ६ अरब ४४ करोड़ ९० लाख रुपये के बराबर साधन-स्रोत जुटा सकेगी, जबकि शेष की पूर्ति केन्द्रीय विभाग यानी भारत सरकार करेगी। वर्तमान करावधान के आधार पर अपेक्षा है राज्य सरकार २ अरब ४३ करोड़ रुपये के बराबर साधन-स्रोत जुटा सकेगी (अर्थात् १९६०-६१ में प्रचलित मूल्यों के आधार पर ३ अरब ७ करोड़ ९० लाख रुपये)। इस प्रकार दस वर्ष की अवधि में ४ अरब १ करोड़ ९० लाख रुपयों का अन्तर रहता है, जिसकी पूर्ति और कर लगाकर तथा केन्द्रीय सहायता से करनी पड़ेगी। केन्द्र की ओर से विनियोजन १३ अरब ७० करोड़ ६० लाख रुपये करना पड़ेगा। अखिल भारतीय योजनाओं के सन्दर्भ में यह कोई बहुत ज्यादा नहीं है।

ग्रामीण औद्योगीकरण

परिकल्पित यानी प्रक्षिप्त विनियोजन उल्लिखित दल के अनुसार "सन् १९५५-५६ के मूल्यों के आधार पर २४ शंख ३० खरब (२,४३,००,००० करोड़) रुपये (या १९६०-६१ के मूल्यों के आधार पर २७ शंख ५० खरब-२,७५,००,००० करोड़ रुपये) के कुल भारतीय विनियोजन का ८ प्रति शत से कुछ ज्यादा है। चूंकि बंगाल की आबादी भी अखिल भारतीय जन-संख्या का करीब-करीब उक्त भाग ही है, इसलिए आबादी के सापेक्षिक आकार के आधार पर प्रस्तावित विनियोजन उचित भी है।"—पृष्ठ १८२ पर पैराग्राफ: ११.१६। पृष्ठ १९३ पर पैराग्राफ १२.२८ भी देखें।

चूंकि कृषि क्षेत्र में रोजगारी के नये अवसर निर्मित करने की अब और गुंजाइश नहीं है, इसलिए जोर औद्योगीकरण पर है, और होना भी चाहिए। ग्रामीण क्षेत्रों का विकास करने की आवश्यकता-पूर्ति के लिए ग्रामीण औद्योगीकरण के एक सुसंयोजित सर्वांगीण कार्यक्रम का सुझाव दिया जाता है। 'राप्रआअप' के दल के मतानुसार "ग्रामीण औद्योगीकरण" खेतिहर आबादी के रहन-सहन की अवस्थाओं में सुधार करने का एक निश्चित साधन है। खेती अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी है तथा देहाती क्षेत्रों में वह लोगों को कोई और नया लाभ-दायक काम देने में असमर्थ है। इसलिए आगामी वर्षों में एक सुसंयोजित समग्र ग्रामीण विकास कार्यक्रम चलाना आवश्यक है। इस प्रकार के कार्यक्रम में लघु उद्योगों को एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करनी पड़ेगी। (पैराग्राफ: ८.९१) दीर्घ स्तरीय उद्योग और विकेन्द्रित उद्योगों के मध्य अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा से बचने के लिए समाधान स्वरूप एक संयुक्त उत्पादन कार्यक्रम बनाने का सुझाव दिया गया है।

बम्बई: १४ मार्च १९६३

पश्चिम बंगाल के करीब ४० प्रति शत लोग भूमिहीन हैं। वे या तो भागीदारी के तौर पर अथवा रैयत के रूप में खेती करते हैं। उन्हें आसानी से बेदखल किया जा सकता है। इस प्रकार ऐसी कोई प्रेरणा उन्हें उपलब्ध नहीं है कि जिससे वे जमीन में स्थायी सुधार करने का कोई उपाय करें। भूमि-निवेश और पूंजी संचय के मार्ग में यह एक बहुत बड़ी बाधा है। इसके अलावा छोटे-छोटे और यत्र-तत्र अलाभदायक खेत होने की एक दूसरी समस्या है। अतएव कृषक को भूमि-अधिकार देकर इस स्थिति को सुधारने के लिए तत्काल कदम उठाने की आवश्यकता है। इसके साथ ही साथ खेतों को समेकित लाभदायक भूमि के रूप में परिवर्तित किया जाना चाहिए।

— *टेक्नो-इकनॉमिक सर्वे ऑफ् वेस्ट बंगाल* : नेशनल कॉउन्सिल ऑफ् अप्लाइड इकनॉमिक रिसर्च, नयी दिल्ली।

आर्थिक विकास में मानवीय पहलू*

विजयेन्द्र कस्तूरी रं. व. राव

मानव, मात्र उत्पादन निर्धारक ही नहीं है। वह उत्पादन का उद्देश्य भी है। भारत जैसे देशों को जहाँ मानवीय स्रोतों का बाहूल्य है, मानवीय पहलू के उत्पादनशील उपयोग के प्रति एक सदुद्देशात्मक एवम् सुपरीक्षित दृष्टिकोण अपनाना पड़ेगा। इसके लिए विशुद्ध आर्थिक क्षेत्र के अलावा मानवीय पहलू सम्बन्धी सामाजिक, संस्थात्मक, राजनैतिक व मनोवैज्ञानिक सभी क्षेत्रों में कार्यवाही करने की जरूरत है। आर्थिक क्षेत्र में प्रभावशाली बनने और आर्थिक विकास को प्रोत्साहन देने के निमित्त मानवीय शक्तियों को शिक्षित, प्रशिक्षित, प्रेरित तथा संगठित करना पड़ेगा।

विकास सम्बन्धी विभिन्न पहलुओं के बारे में हुए हाल ही के अध्ययनों ने यह दिखा दिया है कि आर्थिक विकास की गति और उसकी व्यापकता यानी क्षेत्र को निश्चित करनेवाले जितने पहलू हैं उनमें से पूंजी संचयन तो एक ही है। नूतन विषय-प्रवेश यानी नयी-नयी बातों की खोज, प्रविधि, ज्ञानावस्था, ये सब यंत्रों और उपकरणों के समान ही महत्वपूर्ण हैं; यद्यपि यह स्वीकार करना चाहिए कि ये पहलू देर-अबेर से पूंजी संचयन के सन्दर्भ में अर्थात् उसकी शब्दावली में अभिव्यक्त हो जाते हैं। लेकिन मानवीय पहलू के ये इतने निकट हैं कि अध्ययन का एक नया क्षेत्र सामने आ गया है, जिसका उद्देश्य है उनके विकास पर प्रकाश डालना और इस बात का निदर्शन करना कि आर्थिक विकास के इन निर्धारकों में अभिप्रेरित विभिन्नता लाने हेतु मानवीय पहलू के क्षेत्र में क्या कार्यवाही की जानी चाहिए। विज्ञान और प्रविधि का विकास तथा साथ ही साथ न्यून विकसित क्षेत्रों के लाभ के लिए उनका व्यवहार आर्थिक विकास में मानवीय पहलू के विषय का एक ही, यद्यपि एक महत्वपूर्ण, अंग है।

प्रमुख विषय

आर्थिक विकास के अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययनों से भी यही पता चलता है कि कई अन्य पहलू जो सभी अपनी एकता इस तथ्य से ही प्राप्त करते हैं कि वे मानवीय प्रयासों के गुण व उनकी सघनता पर अपने प्रभाव के जरिये काम करते हैं, यह निर्धारित करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं कि प्राकृतिक साधन-स्रोतों को किस हद तक तथा किस गति से आर्थिक उत्पादन एवम् सेवाओं में, जिनसे कि राष्ट्रीय आय बनती है, रूपान्तरित किया जाय। इस प्रकार संस्थाएँ, कानून, रीति-रिवाज, शिक्षा, संगठन, अभिप्रेरणा, संचार-साधन आदि सभी अर्थ-शास्त्रियों के लिए ध्यान देने और विश्लेषण करने के विषय बन गये हैं, जो कि अल्प-विकसित देशों के आर्थिक विकास को तीव्र बनाने के लिए, आर्थिक विकास की गूढ़ता, गहनता को सुलझाने तथा कार्यक्रम बनाने में दिलचस्पी रखते हैं। इस प्रकार 'आर्थिक प्रगति में मानवीय पहलू' विकास के विभिन्न पहलुओं में अध्ययन का एक प्रमुख विषय बन गया है।

श्रम और आर्थिक प्रगति

स्पष्टतः उत्पादन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण निर्धारक, यदि अन्य बातें समान हों तो, श्रमिक संख्या अथवा श्रम-शक्ति का परिमाण है। 'मूल्य के श्रम सिद्धान्त' ने संख्या और उत्पादन के बीच जो अन्तर होता है उसे सामने लाकर रख दिया है, जबकि जन-संख्या नियंत्रण और परिवार नियोजन के प्रति मार्क्सवादी विरोध राष्ट्रीय सम्पत्ति के आकार निर्धारण में श्रम-शक्ति के आकार को

* फरवरी १९६३ में जेनेवा में 'अल्प-विकसित क्षेत्रों के लाभार्थ विज्ञान और प्रविधि के व्यवहार' पर हुए संयुक्त राष्ट्र संघ के संमेलन में प्रस्तुत लेख।

जो महत्व दिया गया है, उसका चरम सीमावाला उदाहरण है। यह भी सर्वविदित है कि हाल में जर्मनी और जापान ने जो आश्चर्यजनक आर्थिक उन्नति की है उसका एक कारण है युद्धोत्तर काल में आर्थिक गतिविधियों में वे अतिरिक्त श्रम-शक्ति लगाने में समर्थ हुए—पश्चिम जर्मनी में निरस्त्रीकरण, अर्पित प्रदेशों से देश-प्रत्यावर्तन और पूर्वी जर्मनी से आये शरणार्थियों के कारण अतिरिक्त श्रम-शक्ति की प्राप्ति हुई; तथा जापान में निरस्त्रीकरण और अर्पित उपनिवेशिक एवम् प्रभाव के क्षेत्रों से स्वदेश लौटे व्यक्तियों के जरिये उक्त अतिरिक्त श्रम-शक्ति प्राप्त हुई।

युद्धोत्तर काल में संयुक्त राज्य अमेरिका में उत्पन्न गतिरोध की अवस्था एक विकासशील अर्थ-व्यवस्था सुनिश्चित करने के लिए वृद्धिशील जन-संख्या और बढ़ती हुई श्रम-शक्ति के महत्व का एक दूसरा उदाहरण है। इस प्रकार विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं के अनुभव से आर्थिक प्रगति की गति निर्धारित करने में मानवीय पहलू के परिमाणात्मक स्वरूप के महत्व का पता चलता है। इस दृष्टि से बहुत बड़ी जन-संख्या और विशाल श्रम-शक्ति सम्पन्न भारत जैसे अल्प-विकसित देश आर्थिक विकास की दौड़ में लाभदायक स्थिति में होने चाहिए थे। इतना होते हुए भी भारत जैसे देश में आर्थिक विकास की गति तीव्र करने के प्रयास में आबादी और श्रम-शक्ति सहायता के बजाय बाधा उपस्थित करती है।

विरोधाभास

यह एक विरोधाभास है, जोकि एक अल्प-विकसित देश के अर्थशास्त्री के मस्तिष्क में छाया रहता है और उसे अब मानवीय पहलू की अर्थशास्त्रीय बातों के सम्बन्ध में अधिकाधिक सवाल उठाने की ओर अग्रसर कर रहा है कि विकसित देशों की अर्थ-व्यवस्थाओं के विकास के अर्थशास्त्रीय पहलुओं में तो श्रम-शक्ति का आकार एक सीमा निर्धारक पहलू हो और अल्प-विकसित देशों की अर्थ-व्यवस्थाओं में एक बाधा डालनेवाला पहलू हो। अतएव जब भारतीय आयोजक इस तथ्य का अफसोसनाक रूप से जिक्र करता है कि जहाँ आयोजित विकास के दस वर्षों में राष्ट्रीय आय में ४२ प्रति शत वृद्धि हुई है वहाँ **प्रति व्यक्ति** आमदनी १६ प्रति शत ही बढ़ी, तो स्पष्टतः उसमें यह निहित है कि श्रम-शक्ति में जो वृद्धि हुई है उसके साथ ही राष्ट्रीय आय में वृद्धि के क्षेत्र में उसने पर्याप्त योगदान नहीं दिया। जब वह **प्रति व्यक्ति** आय-बहिर्वेशनों पर विचार करता और उसका सम्बन्ध जन-संख्या वृद्धि की धीमी गति से जोड़ता है तो स्पष्टतः वह यह मान रहा है कि श्रम-शक्ति वृद्धि की मन्द गति से प्रति श्रमिक इकाई की उत्पादकता परिसीमा अधिक होगी। इस प्रकार एक भारतीय आयोजक के लिए जन-संख्या वृद्धि का तात्पर्य है उत्पादन वृद्धि के लिए उपलब्ध साधन-स्रोतों के बजाय बेरोजगारी का बढ़ना।

अध्ययन का विषय

स्पष्ट है कि यदि जन-संख्या से उत्पादन वृद्धि में सहायता मिले तो कुछ अन्य बातों की भी आवश्यकता है; और भारत जैसी अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में यह अतिरिक्त वस्तु या तो है नहीं अथवा फिर बहुत ही कम है, जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका अथवा पश्चिम जर्मनी किंवा जापान जैसी अर्थ-व्यवस्थाओं में इसकी बहुतायत दीखती है या फिर कम से कम उस हद तक तो है ही कि उससे वे विकास की तीव्र गति प्राप्त कर सकें। यह भी स्पष्ट होता जा रहा है कि 'यह कुछ अतिरिक्त' वस्तु पूँजी मात्र नहीं है। ये अन्य वस्तुएँ ही अपने समग्र प्रभाव से मानवीय क्षमता को प्रभावित करती और श्रम-उत्पादकता बढ़ाती हैं। इन अन्य बातों का अध्ययन ही 'आर्थिक विकास में मानवीय पहलू' का विषय है। और यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इन देशों में पूँजी की कमी, विदेशी सहायता पर लगी पाबन्दियाँ तथा विकास की गति तीव्र करने की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए आर्थिक विकास के सन्दर्भ में मानवीय पहलू का अध्ययन उन सभी व्यक्तियों के लिए अपरिहार्य बन जाता है जो अल्प-विकसित देशों के कल्याण यानी हित में रुचि रखते हैं।

उत्पादन-प्रक्रिया में मानवीय पहलू की क्षमता इन बातों पर निर्भर करती है: (अ) शारीरिक; (आ) मानसिक;

(इ) मनोवैज्ञानिक; और (ई) संगठनात्मक। मानवीय क्षमता में सुधार करने और इस प्रकार आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करने की समस्या का समाधान करने के लिए आयोजक को न केवल इन सब पहलुओं का बल्कि विभिन्न स्तर के श्रम-कौशल की माँग और पूर्ति में सन्तुलन सुनिश्चित करने तथा आर्थिक विकास के दरमियान आनेवाली बेरोजगारी एवम् अन्य कमियों को रोकने का भी अध्ययन करना पड़ता है। नीचे जो कुछ कहा गया है वह किसी एक देश के आर्थिक विकास में मानवीय पहलू की वर्तमान भूमिका का मूल्यांकन करने का प्रयास न होकर अध्ययन की प्रकृति अथवा स्वरूप यानी वह किस ढंग का हो, यह बताने का एक प्रारम्भिक प्रयत्न किया गया है।

शारीरिक योग्यता

सर्व प्रथम मानवीय पहलू की क्षमता आदमी की शारीरिक योग्यता पर निर्भर करती है। एक आधा भूखा श्रमिक अथवा क्लर्क या एक बुद्धिजीवी अपना सर्वोत्तम प्रयास प्रयुक्त नहीं कर सकता। इसका परिणाम होता है उसकी कम उत्पादकता। इससे उसकी आय-वृद्धि रुकती है और इसलिए उसकी भोजन-वृद्धि भी। फलस्वरूप उसकी उत्पादकता कम रहती है और इस प्रकार अपर्याप्त खुराक तथा न्यून उत्पादकता का दुष्चक्र जारी रहता है। यही बात बीमारियों से मुक्ति, आवास, साफ-सफाई व गन्दे पानी की नालियाँ तथा इसी प्रकार की अन्य शारीरिक अवस्थाओं सम्बन्धी बातों के सम्बन्ध में भी सच है, जिनके अन्तर्गत वह तथा उससे ऊपरवाले (अर्थात् वे व्यक्ति जिनके अन्तर्गत वह काम करता है) व्यक्ति काम करते हैं। यह सच है कि ये सब बातें अल्प विकास के अंग हैं। विकास के फलस्वरूप ही इनमें सुधार हो सकता है। लेकिन यह भी सच है कि विकास को गति प्रदान करने का एक मार्ग—एक ऐसा मार्ग जो एक साथ ही आर्थिक विकास के साधन और साध्य दोनों को सम्भालता है—शारीरिक क्षेत्र में जो कुछ कार्यवाही सम्भव हो उसे करने और उन अवस्थाओं को यदि समाप्त नहीं तो कम करने का है, जो कि आदमी को शारीरिक दृष्टि से अपना सर्वोत्तम प्रयास प्रयुक्त करने से रोकती हैं।

बुनियादी जरूरतें

इसी संदर्भ में स्थानीय परियोजनाओं को प्रोत्साहन देने में अतिरिक्त खाद्य पदार्थों के प्रयोग का प्रस्ताव अपने आर्थिक महत्व का हिस्सा प्राप्त करता है। जिन विकसित देशों ने व्यवहारत: अपनी खाद्य-समस्या हल कर ली है और जहाँ साधारणतया कोई विशेष भुखमरी की स्थिति नजर नहीं आती वे इस बात से पूर्ण जानकार नहीं हैं कि अल्प-विकसित देशों में मानवीय क्षमता को नीची रखने में भूख अथवा अन्य बुनियादी बातों की कमी का कितना असर पड़ता है। स्वयम् अल्प-विकसित देशों को विभिन्न वर्गों के कामगारों तथा भिन्न-भिन्न उद्योगों और पेशों के अनुसार क्षमता से सम्बन्धित शारीरिक अवस्थाओं की स्थिति की साधारण ज्ञान से अधिक यानी विशिष्ट जानकारी नहीं है। इस प्रकार के ज्ञान के अभाव में जिन नीतियों का अनुसरण होता है वे सामान्य होती हैं, उनमें प्राथमिकता अथवा अर्थशास्त्रीय तर्कों का अभाव होता है, और अपने प्रभाव में वे उत्पादक आधार की होने के स्थान पर विशुद्ध उपभोग-प्रधान होनेवाली हो जाती हैं। इस सन्दर्भ में मानवीय क्षमता में सुधार करने के लिए बुनियादी आवश्यकताओं की भूमिका का अधिक उपयोग करने का सुझाव दिया जाता है। इनमें न केवल खुराक का परिमाण तथा गुण ही बल्कि स्वास्थ्य और कार्य-सम्बन्धी शारीरिक अवस्थाएँ भी आती हैं। खुराक की समस्या का समाधान करने का एक मार्ग है कारखानों में कैण्टीन खोलना, जहाँ आकर्षक मूल्य पर कामगार को संतुलित एवम् सहायित भोजन प्राप्य करवाया जाय। मलेरिया-उन्मूलन कार्यक्रम न केवल मृत्यु कम करता है वरन् बीमारी के कारण श्रम करने की दृष्टि से जिन मनुष्य वर्षों का ह्रास होता है वह भी कम करता है और जो श्रम कार्यरत है उसके गुण-स्तर में सुधार लाता है; इसी प्रकार पीने के पानी की पर्याप्त पूर्ति तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य सम्बन्धी अन्य उपाय भी उक्त दोनों बातों में सहायक होते हैं। मशीनों के चारों तरफ आड़ लगाने,

हवादार मकानों की सुनिश्चितता, शोर-गुल और धुंआ कम करने आदि सभी से श्रम की क्षमता एवम् मानवीय पहलू से सम्बद्ध उत्पादन बढ़ता है। अच्छी आवास-व्यवस्था और बच्चों के लिए बालवाड़ियों की स्थापना से भी क्षमता बढ़ाने में सहायता मिलती है।

ध्यान देन योग्य महत्वपूर्ण बात यह है कि अधिक और बेहतरीन भोजन, अच्छी आवास-व्यवस्था, रोग-निवारण, सार्वजनिक स्वास्थ्य सुविधाओं का प्रबन्ध और काम करने की सन्तोषप्रद भौतिक अवस्थाएँ न केवल क्षमता के अन्त की चीजें हैं, बल्कि क्षमता निर्धारक भी हैं। अतएव इन सुविधाओं पर खर्च करना उत्पादनशील होगा और उसे मात्र उपभोग न समझकर विनियोजन समझा जाना चाहिए। यद्यपि भारत में इस विषय पर कोई विस्तृत अथवा विशिष्ट अध्ययन नहीं हुए हैं तथापि प्राप्त सामान्य प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि मानवीय पहलू की क्षमता में वृद्धि करने के लिए स्वास्थ्य, खुराक तथा कार्य की बाह्य अवस्थाओं का प्रत्यक्ष सम्बन्ध है।

शिक्षण और प्रशिक्षण

कार्य-क्षमता को प्रभावित करनेवाले दूसरे पहलू को मोटे तौर पर कौशल-स्थिति कहा जा सकता है। मात्र शारीरिक योग्यता ही पर्याप्त नहीं है। प्रायः सभी प्रकार की आर्थिक गतिविधियों में वैज्ञानिक तथा प्राविधिक विकास के प्रयोग की दृष्टि से एक कुशल कामगार केवल अपेक्षाकृत अधिक क्षमताशील ही नहीं है बल्कि वह आर्थिक विकास की एक आवश्यक शर्त भी बन गया है। और, कौशल का निर्धारण शिक्षण तथा प्रशिक्षण से होता है। शिक्षा का महत्व मात्र स्वीकार कर लेना और उसके विभिन्न संघटकों की पूर्ति के निर्धारण का काम तथा-कथित शिक्षकों पर छोड़ देना ही पर्याप्त नहीं होगा। आर्थिक विकास में शिक्षा का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। यदि हमें मानवीय पहलू की क्षमता में सुधार करने के लिए कोई कार्यक्रम चलाना है तो हमारे सामने अर्थ-व्यवस्था में शारीरिक, प्राविधिक, वैज्ञानिक, पेशेवर तथा अन्य प्रकार के कौशल के विकास में शिक्षा के सम्बन्ध का एक सुस्पष्ट व्यापक चित्र का होना आवश्यक है।

सामान्य कौशल

आर्थिक दृष्टि से शिक्षा के सम्बन्ध में इस मान्यता का सम्बद्ध उद्देश्य कौशल प्रदान करना है; यह अर्थ बिल्कुल नहीं लगाया जाना चाहिए कि सभी शिक्षा को वैज्ञानिक, प्राविधिक अथवा पेशेवर होना होगा। यदि शिक्षा कौशल-प्रधान ही हो, तो भी यह मानना पड़ेगा कि सामान्य शिक्षा—जिसमें साक्षरता और भाषा भी शामिल है—का एक विस्तृत आधार है, जो सर्व सामान्य है तथा कौशल प्राप्ति की पूर्व शर्त है। और फिर, आर्थिक विकास को जिस चीज की जरूरत है, वह मात्र विशिष्ट कौशल ही नहीं है। उसे मन और शरीर के उचित मात्रा में विकास, औद्योगिक अनुशासन तथा आदान-प्रदान ग्रहण करने की क्षमता के अर्थ में सामान्य कौशल की भी आवश्यकता है। विभिन्न प्रकार के कौशल के बीच किसी हद तक गतिशीलता प्राप्त करने और एक प्रकार के कौशल से दूसरी तरह के कौशल में पुनर्योजन तथा पुनःप्रशिक्षण के लिए भी यह आवश्यक है। चाहे जैसा भी आयोजन क्यों न हो, वह माँग और पूर्ति में परिपूर्ण सन्तुलन प्रदान कर ही नहीं सकता। विकास की यह प्रवृत्ति ही है कि आर्थिक विकास की परिवर्तनशील गति और अर्थ यानी उसमें निहित बातों के प्रति मानवीय पहलू में लचीलापन तथा परिवर्तन के अनुसार अपने में हेर-फेर कर लेने के गुण का होना आवश्यक है। मौजूदा परिस्थितियों में सामान्य और विशिष्ट शिक्षा के सम्बन्ध, विशेषज्ञता प्राप्त करने से पहले के शिक्षण अथवा प्रशिक्षण की अवधि और विषय-वस्तु, विभिन्न प्रकार की विशिष्ट शिक्षा अथवा प्रशिक्षण के सम्बन्ध, गठन या गुंजाइश, जिसे अंग्रजी में 'बिल्ट-इन' कहा जात है, उसके और/या विशिष्ट कार्यक्रमों के प्रकार पर—जो कि आर्थिक गत्यात्मकता की परिवर्तनशील आवश्यकताओं के अनुसार श्रम-शक्ति के अनुकूलन को सुनिश्चित कर सके—बहुत ही सावधानीपूर्वक ध्यान दिये जाने की आवश्यकता है। इन सबका तात्पर्य है प्राथमिक, माध्यमिक,

विश्वविद्यालयीन, अन्वेषण, पेशेवर, प्राविधिक आदि सभी तरह की शिक्षा के तमाम प्रकारों तथा अवस्थाओं के अन्तिम और प्रारम्भिक यानी दोनों पहलुओं का एक भिन्न प्रकार का विश्लेषण। जिस बात पर जोर दिया जाना है वह यह है कि कौशल-उत्पादक के रूप में शिक्षा एक संश्लिष्ट और संयुक्त वस्तु है, जिसके अनुप्रस्थ तथा ऊर्ध्व दोनों स्वरूप हैं और इसके लिए उसका अब तक विशुद्ध पेशेवर एवम् उपभोग-प्रधान शिक्षकों ने सम्भवतः जैसा अध्ययन किया है उससे कहीं कितना ही अधिक विस्तृत अध्ययन करने की आवश्यकता है।

जन शक्ति आयोजन

मानवीय पहलू का अनुकूलतम उपयोग करने के लिए आवश्यक तक्नीकों का जन-शक्ति आयोजन एक दूसरा महत्वपूर्ण पहलू है। जिस सीमा तक कौशल विशिष्ट हो और विशिष्ट लागत खर्च रखता हो उस हद तक यह महत्वपूर्ण बन जाता है कि विभिन्न प्रकार के कौशल निर्माण में आवश्यक विनियोजन करनें में आर्थिक कसौटी का ध्यान रखा जाय। कौशल की माँगवाले पहलू पर ध्यान देना और उन प्रक्षेपों पर पहुँचना भी उतना ही महत्वपूर्ण है, जो कि पूर्ति-आयोजन के लिए एक उचित आधार प्रस्तुत कर सकें। कौशल की पूर्ति, उत्पादन के विभिन्न सोपान तथा घिस-घिसाव एवम् व्यवहार लोपोन्मुखता पर असंतुलन की अनवरत सम्भाव्यता और जटिलता के पड़नेवाले प्रभावों को ध्यान में रखना अत्यावश्यक है, और इसलिए इन फलितार्थों से निबटने के लिए शिक्षा-पद्धति के लचीलेपन व अनुकूलन हेतु आयोजन करने की आवश्यकता है। जन-शक्ति आयोजन केवल उत्पादन के लिए आयोजन करना ही नहीं है, बल्कि यदि आवश्यक कौशल तैयार करने में गत्यवरोध न बढ़ने देना हो तो वह निवेश-आयोजन भी है। इसलिए हम देखेंगे कि जन-शक्ति आयोजन आर्थिक विकास में मानवीय पहलू को अधिकाधिक भूमिका प्रदान करने का एक आवश्यक अंग बन गया है और यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इसके लिए शिक्षक तथा प्रशासक द्वारा ही नहीं वरन् अर्थशास्त्री, सांख्यिकी एवम् साधन-स्रोत विशेषज्ञ द्वारा समन्वित प्रयास किये जाने की जरूरत है।

आर्थिक विकास अथवा प्रगति में मानवीय पहलू के अनुकूलतम उपयोग से सम्बन्धित और मोटे तौर पर वर्गीकृत 'मानसिक पहलुओं' में अन्वेषण तथा अनुसंधान के स्थान की ओर भी ध्यान आकर्षित किया ही जाना चाहिए। कभी-कभी यह भावना पायी जाती है कि अल्प-विकसित देश विकसित देशों में पहले से ही मौजूद अन्वेषण, प्रविधि और अनुसंधान पर निर्भर कर सकते हैं; अन्वेषण तथा अनुसंधान के लिए उन्हें अपने साधन-सरंजाम रखने की आवश्यकता नहीं; और उनके लिए ऐसा करना वस्तुतः अपने कम साधन-स्रोतों का दुरुपयोग होगा। ऐसा कहना स्थिति को एक सीधे-सादे-से और निश्चय ही आंशिक रूप से समझना है।

अल्प-विकास और तक्नालॉजी

सर्व प्रथम, विकसित देशों में जिस अन्वेषण और प्रविधि का संचयन हुआ है, वह अल्प-विकसित देशों में स्थानांतरण के लिए मुक्त रूप से उपलब्ध नहीं है। द्वितीय, जिस प्रकार की प्रविधि का उन देशों में विकास हुआ है अथवा जिस प्रकार का अन्वेषण वे करते हैं वह आवश्यक रूप से ही उनके अपने आर्थिक विकास की स्थिति, प्रविधि व वैज्ञानिक ज्ञान की अवस्था, उपकरण तथा अन्य सामग्री और संगठनात्मक साधन-स्रोतों की उपलब्धि एवम् उनकी अपनी श्रम-शक्ति के कौशल व प्रशिक्षण से सम्बन्धित होता है; और ये ही स्थिति निर्धारक पहलू साधारण तौर पर अल्प-विकसित देशों में नहीं मिलते। यदि अनुसंधान अथवा प्रविधि का स्थानान्तरण भी किया जा सके तो उसके लिए भी अभी-नवीकरण एवम् पुनरनुकूलन की आवश्यकता होती है। इसके लिए अल्प-विकसित देशों में मौलिक अनुसंधान का होना आवश्यक है। अन्तिम, स्वयम् पेशेवर या वैज्ञानिक अथवा प्राविधिक कौशल के विकास के लिए यदि सम्बद्ध विषय में प्रशिक्षकों के पर्याप्त ज्ञान की प्राप्ति और आवश्यक मानसिक विकास करना हो, तो अनुसंधान के अवसरों का मिलना जरूरी होता है।

अतएव अपनी जन-शक्ति का अनुकूलतम उपयोग करने के इच्छुक अल्प-विकसित देशों के लिए यह परमावश्यक है कि वे अपनी शिक्षा-पद्धति में अन्वेषण तथा उच्च शिक्षा के लिए आवश्यक सुविधाओं की व्यवस्था प्रदान करें। अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न भागों की आवश्यकताओं तथा प्रश्नावलियों से कार्यात्मक रूप से सम्बद्ध—यदि क्रियात्मक रूप से सम्बद्ध न हों तो—कार्यकर्त्ताओं तथा संस्थाओं के लिए तो यह और भी आवश्यक है।

उत्प्रेरणाएँ

मानवीय पहलू की क्षमता निर्धारित करनेवाले कारणों में तीसरे प्रकार के कारणों को अमूमन तौर पर 'मनोवैज्ञानिक' कहा जा सकता है। आर्थिक क्षेत्र में मानवीय पहलू का कुशल उपयोग सुनिश्चित करने के लिए केवल शारीरिक योग्यता और आवश्यक कौशल का होना ही पर्याप्त नहीं है। श्रम-शक्ति और कौशल के उपयोग को अधिकतम बनाने के लिए मानवीय पहलू को पर्याप्त अभिप्रेरणा का प्राप्त होना भी आवश्यक है। इसके अतिरिक्त आर्थिक गतिविधि के विभिन्न क्षेत्रों में इस अभिप्रेरणा को समय और कौशल के रूप में वस्तुतः प्रयुक्त करने के लिए उत्प्रेरणाओं की आवश्यकता होती है।

आर्थिक क्षेत्र में मानवीय प्रयास को अधिकतम बनाने के लिए अभिप्रेरणा की पर्याप्तता सुनिश्चित करने के लिए यह परमावश्यक है कि सम्बद्ध व्यक्तियों में अनुक्रमिक रूप से उच्च जीवन-स्तर की अनवरत अभिलाषा हो। अंततोगत्वा आय के लिए माँग, कार्य की पूर्ति निर्धारित करती हैं; और यदि लोग निम्न जीवन-स्तर से संतुष्ट हों—अपनी आवश्यकताएँ बढ़ाने में विश्वास न करें, भौतिक आकांक्षाएँ न रखते हों और उन्हें जो कुछ वर्तमान हालत में प्राप्त है उसी से संतुष्ट हों—तो अपनी आर्थिक गतिविधियों में जिस परिमाण में श्रम अथवा गुण-स्तर वे प्रयुक्त किये हुए हैं उसका परिमाण या गुण-स्तर अथवा कार्य की सघनता बढ़ाने के लिए वे अभिप्रेरित नहीं हैं। अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था की यह एक अपनी विशेषता है कि वहाँ की अधिकांश जनता ज्यादा सामान और सेवाएँ नहीं चाहती तथा जैसी अवस्था में वह है उसी से संतुष्ट रहती है, जोकि आर्थिक विकास के लिए अपने निहित रूप में सचमुच दर्दनाक, मर्मान्तिक है।

वर्तमान विकास के प्रति असन्तोष

जनता की उक्त 'मर्मान्तिक संतुष्टि' के कई कारण हैं। उनमें से बहुत-से कारणों का सम्बन्ध समाज के सामाजिक और धार्मिक गठन, उसके रीति-रिवाज तथा सांस्कृतिक मान्यताओं और ऐसे प्राकृतिक एवम् अन्य पहलुओं से है, जो उत्पादन का परिमाण व उसकी बनावट निर्धारित करने की दृष्टि से मानव के नियंत्रण से बाहर हैं। यदि हम चाहते हैं कि मानवीय पहलू आर्थिक विकास में अपनी उपयुक्त भूमिका अदा करे तो इस 'मर्मान्तिक सन्तुष्टि' को दूर करना होगा और उसके स्थान पर चपलता, मौजूदा आर्थिक दर्जे और अवस्था के प्रति असन्तोष, बेहतरीन माली हालत और उच्च उपभोग स्तर की अभिलाषा, इस अभिलाषा-प्राप्ति के लिए इच्छा शक्ति तथा ऐसा करने के लिए अपना जीवन-मार्ग बदलने की तत्परता की स्थापना करनी होगी। यद्यपि एक बार आर्थिक विकास की प्रक्रिया शुरू होने और सही दिशा में चलने लगने से उक्त बातों के उदय को प्रश्रय मिलता है, लेकिन यह सब प्राकृतिक रूप से और अपने आप नहीं होता। आर्थिक विकास में मानवीय पहलू अपनी उपयुक्त भूमिका अदा करे, इसके लिए पर्याप्त अभिप्रेरणा की प्रक्रिया प्रारम्भ करने हेतु शिक्षा, प्रात्यक्षिक, संस्थागत परिवर्तन और प्रकृति तथा वातावरण पर काबू पाने की अवस्थाओं का निर्माण आदि सब आवश्यक हैं।

'कर्म' सिद्धान्त

भारत जैसे देश में जातीयता और कर्मवाद की प्रभुता ने मिलकर यहाँ की मौजूदा अर्थ-व्यवस्था को 'यथावत' स्वीकार कर लेने की स्थिति निर्मित कर दी हैं, जोकि आर्थिक उन्नति के लिए जन-शक्ति के निस्तार की प्रेरणा नहीं देती। कुछ लोग तो ऐसे हैं जो कि न तो क्रोधित ही होते हैं और न उनमें प्रतिस्पर्धा के लिए इच्छा ही जागृत होती है, बल्कि वे हर चीज को

अपने पूर्वजन्म के पाप और पुण्य का फल मान बैठते हैं। धार्मिक मान्यताओं ने मानवीय इच्छाओं की पूर्ति तथा इसके लिए भी कि उसमें वृद्धि न हो, सादगी, संतोष और संयम को जीवन में सर्वोच्च स्थान दिया; और इसका प्रभाव न सिर्फ आम जनता पर, बल्कि ऊँचे वर्ग के लोगों की आर्थिक गतिविधियों पर भी पड़ा। फिर, भारतीय समाज के उच्च वर्गीय लोगों की फैशन-प्रवृत्ति और आकांक्षा के फलस्वरूप पड़ौस पर नियंत्रण रखने के बदले स्वयम् पर नियंत्रण रखना, वैज्ञानिक उत्सुकता तथा प्रयोग के बदले दार्शनिक परिकल्पना को अधिक उत्तम समझा गया। उपनिवेशवाद और विदेशी शासन ने भी आर्थिक जड़ता के साथ इस 'मर्मान्तिक सन्तुष्टि' के निर्माण में अपना योगदान दिया; और जिस लाचारी तथा कमजोरी ने इस अधो स्थिति का निर्माण किया, उसे धार्मिक और आध्यात्मिक मान्यताओं द्वारा, जोकि भारतीय परम्परा का बहुत ही महत्वपूर्ण भाग था, अगम्य और युक्ति-संगत बना दिया गया।

पाश्चात्य विचार-धारा से सम्पर्क, विश्वविद्यालयों का विकास जोकि विज्ञान और तक्नालॉजी पर जोर देते हैं—भले ही वह कितना ही अपर्याप्त क्यों न हो—विदेशों में हुई औद्योगिक और आर्थिक प्रगति के प्रदर्शन का प्रभाव, राष्ट्रीयता की भावना का जन्म और उसके साथ ही विशिष्ट वर्ग द्वारा इस बात का अनुभव कि जनता को उसकी अवस्था के प्रति असंतोष जगाकर तथा उसमें यह भावना भरकर कि इस अवस्था को राजनैतिक आजादी हासिल कर ही बदला जा सकता है, इन सबने भारत को आय, आवश्यकता और आर्थिक उन्नति सम्बन्धी अपने परम्परागत रुख से छुटकारा पाने में सहायता दी। चारों तरफ रेलवे की सुविधा उपलब्ध होने तथा यातायात में सुधार हो जाने, जन-स्वास्थ्य-उपायों और बीमारियों पर नियंत्रण, बड़े-बड़े सिंचाई-कार्य और बांधों, नहरों तथा जल-विद्युत-शक्ति, इन सबने यह भावना पैदा की कि प्रकृति अजेय नहीं है और उस पर बुद्धिमानीपूर्वक मिलजुल कर प्रयास करने से विजय प्राप्त की जा सकती है।

आधुनिक शिक्षा, यात्रा, शहरीकरण तथा ब्रिटिश शासन-काल में हुए सीमित औद्योगीकरण तथा सिर्फ ओहदेदार और समाज के नामवर व्यक्तियों के लिए ही नहीं बल्कि गुणी व्यक्तियों के लिए भी अवसर के द्वार खुलने आदि सबने भारतीय जीवन की परम्परागत मान्यताओं, धार्मिक व्यवहारों और सामाजिक रस्मों-रिवाजों से भावनागत सम्बन्ध तोड़ने में मदद की। इसने एक ऐसी उबाल पैदा की, जिसने परिवर्तन और आर्थिक विकास में मानवीय पहलू को प्रधानता देने में संलग्न शक्तियों को बल प्रदान किया। फिर भी, इतना तो कहा ही जा सकता है कि राजनैतिक आजादी मिलने के आज पन्द्रह वर्ष बाद भी, यह प्रक्रिया पूरी नहीं हुई है और भारतीय अर्थ-व्यवस्था में कई गढ़ ऐसे हैं जहाँ कि लोग 'मर्मान्तिक संतुष्टि' की स्थिति अपनाये हुए हैं और वे उच्च जीवन स्तर की ओर आकर्षित नहीं होते।

आर्थिक खुशहाली की अभिलाषा

फिर, आर्थिक विकास में मानवीय पहलू महज उच्च आय और उन्नत जीवन-स्तर की इच्छा कर लेने से ही नहीं आ जाता। इसके लिए यह विश्वास भी जरूरी है कि अधिक प्रयास करने से ही आय में वृद्धि होती है। अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था में ऐसा करना आसान नहीं है, जिसका रूप जागीरदारी जैसा होता है, जिसमें कि जमीन की मालिकी कुछ लोगों के हाथ में केन्द्रित होती है और मुख्यतः वह उन्हें अपने श्रम से नहीं बल्कि वंशगत रूप से प्राप्त हुई होती है। इतने पर भी यदि हम लोगों की आर्थिक दशा उन्नत करना चाहते हैं, तो इसे करना है और वह भी जान-बूझकर, सोच-समझ कर दृढ़ता के साथ। भूमि सुधार, किराये अथवा सम्पत्ति से होनेवाली आय की उच्चतम सीमा का निर्धारण तथा आय और कार्य के बीच निकट सम्बन्ध स्थापित करने के लिए किये गये अन्य संस्थागत परिवर्तन, ये सभी लोगों में आर्थिक प्रगति के लिए प्रेरणा भरने हेतु आवश्यक उपायों के अंग हैं। फिर भी, भारतीय अनुभव यह है कि बड़े-बड़े जागीरदारों और भू-धारियों में आय और 'काम न करने' के बीच सम्बन्ध-

विच्छेद करना ही पर्याप्त नहीं है, जोकि आजादी मिलने के पूर्व बहुत ही प्रचलित था। यद्यपि इसका उच्च वर्ग पर तो प्रभाव पड़ा ही है, आम जनता पर भी अच्छा प्रभाव पड़ा है, तथापि इस बात का भी खतरा है कि अधिक आय करने की नयी इच्छा तथा भारत जैसे लोकतंत्र में जो नये अधिकार उन्हें मिल गये हैं उनके प्रति सजगता से वे अपनी आय में खुद के जोरदार प्रयास में वृद्धि न कर बाहर से—राज्य अथवा अन्य वर्गों अथवा किसी अन्य स्रोत से—वृद्धि की अपेक्षा कर सकते हैं।

एक भय

अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थावाले देश को, जिसने कि पूर्ण राजनैतिक लोकतंत्र की स्थापना की है और अपने देशवासियों में नयी-नयी आशाएँ भर दी हैं, अपने कार्यकर्त्ताओं से यह डर है कि वे उच्च आय प्राप्त करने के लिए खुद काम न कर आन्दोलन का रास्ता अपनायेंगे। अतः यह अत्यावश्यक है कि आर्थिक विकास के लिए किये जा रहे प्रयासों में बिल्कुल आरम्भ से ही आय और कार्य के बीच सम्बन्ध जन-मानस में बनाना चाहिए, और जनता में न सिर्फ आम जनता बल्कि उच्च वर्ग भी शामिल होने चाहिए। यह काम कैसे किया जाय ? यह उन समस्याओं में एक है जोकि आर्थिक विकास में मानवीय पहलू पर ध्यान देने से सम्बन्धित हैं।

आय और कार्य में निकट कार्यकारी सम्बन्ध स्थापित करने की समस्या के आम पहलू से कई कठिनाइयाँ सम्बन्धित हैं; विशिष्ट क्षेत्रों में इसे व्यवहार में लाना सहज है। औद्योगिक संस्थाओं में हाल के वर्षों में काम करने हेतु प्रोत्साहन देने का नया तरीका विकसित हुआ है, और जो विकासोन्मुख देश अपनी जन-शक्ति का पूरा-पूरा इस्तेमाल करना चाहता है उसे पूँजीवादी तथा साम्यवादी दोनों ही समाजों के, मुख्यतः अमेरिका और रूस के, अमूल्य अनुभवों का पूरा लाभ उठाना चाहिए। इस प्रकार फुटकर मजदूरी, उत्पादन और/या लाभ बोनस, निर्धारित समय से अधिक काम करने का मेहनताना, निश्चित उत्पादन अथवा कार्य से अधिक काम करने का इनाम तथा कम काम करने का दण्ड, विशिष्ट योग्यता के लिए विशेष किस्म की मान्यताएँ आदि सब उस प्रक्रिया के भाग हैं, जो कि योग्य अर्थ-व्यवस्थाएँ आय का सम्बंध कार्य के साथ जोड़ने के लिए उपयोग में लाती रहती हैं और इस प्रकार आर्थिक क्षेत्र में मानवीय पहलू का अनुकूलतम उपयोग करने का प्रोत्साहन देती रही हैं। ये उत्प्रेरणाएँ किस हद तक व्यक्तियों तक सीमित रखी जायें और किस हद तक उनका प्रसार समूहों में हो सकता है, आर्थिक विकास में मानवीय पहलू की जुगत में इस समस्या पर भी गहरा अध्ययन करने की आवश्यकता है। फिर, बचत करने, लागत, निर्यात, उद्योग की स्थापना के लिए वांछित स्थान की पूर्ति, आर्थिक क्रियाशीलताओं की वांछित प्राथमिकताएँ और प्रक्रियाएँ तथा योजित आर्थिक विकास से सम्बन्धित अन्य आवश्यक कार्यों के विकास हेतु उत्प्रेरणाएँ देने का भी प्रश्न है। ये सब बातें इस बात की सूचक हैं कि मानवीय व्यवहार और आर्थिक विकास के सन्दर्भ में उत्प्रेरणाएँ देने के विषय में बहुत अध्ययन करने की जरूरत है।

अनुकूलतम संगठन

आर्थिक क्षेत्र में मनुष्य की योग्यता को अधिकतम रूप से बढ़ाने सम्बन्धी चतुर्थ बात है 'संगठन', जिसे मैं 'प्रबन्ध' अथवा 'प्रशासन' के बदले इस्तेमाल करना अधिक पसन्द करता हूँ। नवशिष्ट अर्थशास्त्र में संगठन हमेशा उत्पादन के चार संघटकों में एक समझा गया है तथा उत्पादन पक्ष में इसका सम्बन्ध व्यावसायिक उद्यम से तथा वितरण पक्ष में मुनाफे से जोड़ा गया है। इस लेख में जिन समस्याओं पर विचार किया गया है उनके सन्दर्भ में मैं 'संगठन' शब्द का इस्तेमाल व्यापक रूप में कर रहा हूँ, जिससे वर्गाकार सुराख में वर्गाकार कील लगाने के समान यथोचित स्थान पर यथोचित वस्तु का इस्तेमाल करने तथा इस प्रक्रिया को अनवरत रूप से जारी रखने के लिए व्यवहृत तक्नीकों और उपयोजित सिद्धान्तों का समग्र स्वरूप उसके अन्तर्गत आ सके।

इस प्रकार आर्थिक विकास के लिए मानवीय पहलू के अनुकूलतम संगठन हेतु जिन तक्नीकों अथवा तौर-तरीकों या तंत्र पर ध्यान देना जरूरी है, वे ये हैं: व्यावसा-

यिक मार्गदर्शन, कामदिलाऊ दफ्तर, पुनस्थापन और प्रशिक्षण, नियुक्ति, प्रोत्साहन, व्यक्तिगत सम्बन्ध और प्रबन्ध। इस तंत्र के संचालन में इन सिद्धान्तों को अपनाना चाहिए : हरेक व्यक्ति को उसकी योग्यता और रुझान के अनुसार व्यापारिक मार्गदर्शन देना चाहिए; मांग का पूर्ति से सम्बन्ध कामदिलाऊ दफ्तरों और पूर्ति का मांग से सम्बन्ध पुनस्थापन और प्रशिक्षण की उपयुक्त योजनाओं के जरिये जोड़ना चाहिए और दोनों ही छोटे पैमाने पर न कर बड़े पैमाने पर करने चाहिए; प्रोत्साहन अथवा तरक्की महज पद के बड़ेपन (सिनियॉरिटी) और अनुभव के बल पर ही नहीं बल्कि योग्यता और काम के योग्य होने पर भी देनी चाहिए; मानवोचित कार्य की स्थिति का निर्माण करना चाहिए; किसी से उच्च होने के बदले काम में सफलता प्राप्त करने और व्यक्तित्व के निखार में गर्व महसूस करना चाहिए; और किसी आर्थिक कार्य में लगी संस्था अथवा व्यापारिक संस्थान में काम कर रहे विभिन्न व्यक्तियों अथवा मानद-दलों के बीच आपसी सम्बन्ध बनाये रखने और समझ-बूझ के लिए उपाय करने चाहिए, ताकि वे अपने कार्य की पूर्ति के लिए निरन्तर और समन्वित प्रयास करते रहें।

मानवीय पहलू और विकास में उपर्युक्त बातों के स्थान का औचित्य सिद्ध करने हेतु हरेक बात के लिए, संगठन अथवा तंत्र और सिद्धान्त सम्बन्धी दोनों बातों पर ही, अलग-अलग इस लेख जैसे ही विशेष लेख लिखने की आवश्यकता होगी। इस लेख में तो मैं सिर्फ आर्थिक विकास के लिए मानवीय पहलू के संगठन के महत्वपूर्ण तत्वों पर प्रकाश डालना तथा यह सुझाना चाहता हूँ कि न सिर्फ उनका अध्ययन 'पूर्व सिद्ध' और सैद्धान्तिक रूप में जरूरी है, बल्कि विकसित अर्थ-व्यवस्थावाले देशों, पूंजीवादी और साम्यवादी दोनों ही, के बहुमूल्य अनुभवों का भी अध्ययन जरूरी है और इसमें अनुभव के सकारात्मक और नकारात्मक पक्ष, सफलता और असफलता तथा कृत्य और अकृत्य दोनों ही पहलू शामिल होने चाहिए।

प्रारम्भ में मैंने इस बात पर जो जोर दिया है कि विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं के लिए श्रम-शक्ति एक सम्पत्ति है, जबकि विकासोन्मुख देशों में वह एक बाधा है, इससे कुछ गलतफहमी हो सकती है, जिसे इस लेख को समाप्त करने के पूर्व स्पष्ट करना आवश्यक है। इसीलिए मैंने आर्थिक विकास में मानवीय पहलू का अध्ययन और वैसे उपाय करने का आग्रह किया था, जिनसे कि विकासोन्मुख देशों में श्रम-शक्ति अधिकाधिक उत्पादक सम्पत्ति हो जाय। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि विकासोन्मुख देश अपनी आबादी में कितनी भी वृद्धि होने दे सकते हैं। आर्थिक विकास की दौड़ में बहुत देर से भाग लेने तथा विकसित और विकासोन्मुख देशों के जीवन-स्तर में इतना बड़ा जो अन्तर हो गया है, एवम् जो बढ़ता ही जा रहा है, उसके लिए यह परमावश्यक है कि विकासोन्मुख देश विकसित देशों की अपेक्षा वर्तमान दर से कहीं अधिक तेजी से प्रगति करें।

द्रुत आर्थिक विकास

जीवन-स्तर न सिर्फ राष्ट्रीय लाभांश पर निर्भर करता है, बल्कि इस पर भी कि उसके हिस्सेदार कितने हैं; और यदि विकासोन्मुख देशों में उनकी संख्या उसी गति से बढ़ती गयी, जिस गति से अब बढ़ रही है तो उनके लिए विकसित देशों के विकास की वर्तमान गति प्राप्त करना बिलकुल असम्भव-सा ही हो जायेगा। जिन देशों ने विकसित होने का दर्जा प्राप्त कर लिया है उन्हें अपना समय लगा है, वहाँ मृत्यु-अनुपात धीरे-धीरे करके कम हुआ है, ताकि जन्मानुपात में धीमी वृद्धि से जन-संख्या में अलाभ-दायक वृद्धि नहीं हुई; श्रम-शक्ति का परिमाण आर्थिक विकास और औसतन रूप से जीवन-स्तर उठाने में बाधक सिद्ध नहीं हुआ। फिर भी, आज के अल्प-विकसित देशों में स्थिति बिलकुल भिन्न है। पिछले दो दशकों की अवधि में संसार के प्रायः सभी अल्प-विकसित देशों में आधुनिक औषधियों तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी तौर-तरीकों के प्रयोग से मृत्यु-अनुपात बहुत गिर गया है; लेकिन इसके साथ ही साथ जन्मानुपात नहीं गिरा है। इसका परिणाम यह हुआ कि वार्षिक जन-संख्या वृद्धि दो और तीन प्रति शत के बीच होने लगी।

यह परमावश्यक है कि जन-संख्या वृद्धि की वर्तमान गति चालू नहीं रहनी चाहिए। स्पष्टतः यह काम मृत्यु-अनुपात की प्रवृत्ति फिलहाल जैसी है उससे उल्टी करने अथवा उसका अनुपात और गिरने से रोककर नहीं किया जा सकता। आवश्यकता इस बात की है कि जन्मानुपात में भारी कमी की जाय। विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्थाएँ इस आवश्यकता के प्रति सजग हैं और भारत जैसे देश तो जन्मानुपात कम करने के उद्देश्य से परिवार आयोजन की स्थिति तक जा पहुँचे हैं। लेकिन एक लघु अवधि के भीतर जन्मानुपात में कोई बहुत बड़ी कमी कर लेना आसान नहीं है। विज्ञान और प्रविधि उच्च जीवन-स्तर के बिना भी मृत्यु-अनुपात कम करने के तौर-तरीके निकाल लेने में सफल हुए हैं। लेकिन अल्प-विकसित देशों के सन्दर्भ में जन्मानुपात कम करने का कोई तरीका या उपाय वे खोज निकालने में समर्थ नहीं हुए हैं। इसलिए जरूरत इस बात की है कि विज्ञान और प्रविधि के क्षेत्र में सुनियोजित प्रयत्न कर ऐसे तौर-तरीकों की खोज की जाय कि वे अल्प-विकसित देशों में प्रयुक्त किये जा सकें तथा जन्मानुपात में बहुत कमी कर सकें। 'आर्थिक विकास में मानवीय पहलू की भूमिका' में मैं समझ-बूझकर अपनायी गयी नियमित जन-संख्या वृद्धि और जन्मानुपात में भारी कमी करने की बात को एक महत्वपूर्ण स्थान देने की बात को शामिल करना चाहूँगा।

जन्मानुपात में कमी

इस उद्देश्य के लिए वस्तुतः अल्प-विकसित देशों की सरकारों तथा जनता को आवश्यक सामाजिक और मनोवैज्ञानिक पहलुओं का अध्ययन कर उस पर अमल करना पड़ेगा; लेकिन प्रस्तुत सम्मेलन जैसे सम्मेलनों को भी, जोकि आर्थिक विकास को प्रोत्साहन देने में विज्ञान और प्रविधि के व्यवहार से ताल्लुक रखते हैं, अल्प-विकसित देशों में जो जन्मानुपात है उसे आगामी एक या ज्यादा से ज्यादा दो दशक में कम करके आधा अथवा उससे कम करने में विज्ञान और प्रविधि के प्रयोग की तरफ अपना ध्यान आकर्षित करना चाहिए। आशा है आधुनिक विज्ञान और प्रविधि के समक्ष उक्त सवाल ने जो चुनौती प्रस्तुत की है उसे विकसित देशों के वैज्ञानिक तथा प्राविधिज्ञ स्वीकार करेंगे अर्थात् उस पर ध्यान देंगे।

समाज के कमजोर वर्ग

अल्प-विकसित देशों में मानवीय पहलू से सम्बन्धित एक और बात है, जिस पर यहाँ जोर दिया जाना चाहिए। सभी अल्प-विकसित देशों में ऐसे बहुत-से लोग हैं जो आधुनिकीकरण तथा उत्पादकता वृद्धि के लिए उपलब्ध सीमित सुविधाओं का भी लाभ नहीं उठा सकते। भारत में इन्हें समाज के कमजोर वर्ग कहा जाता है। वे कमजोर और उन्नति करने में असमर्थ हैं। इसका कुछ कारण तो उनकी अर्द्ध-मानवीय माली हालत है, लेकिन साथ ही कुछ कारण ये भी हैं: उनका सामाजिक संगठन, उनकी परम्परागत मान्यताएँ तथा उनकी अपनी मनोवैज्ञानिक विशेषताएँ, जिनके कारण आयोजन एवम् आर्थिक विकास ने जो सुविधाएँ उन्हें प्रदान की हैं उनका वे फायदा नहीं उठा सकते। उदाहरणार्थ, भारत में हमें ऐसा अनुभव हुआ है कि ग्रामीण क्षेत्रों में सामुदायिक विकास और राष्ट्रीय विस्तार सेवा कार्यक्रमों ने मानवीय पहलू के लिए जो अधिक उत्पादकता की सुविधाएँ निर्मित की हैं वे ग्रामीणों को सर्वांगीण विकास की ओर अग्रसर नहीं करतीं तथा यह कि काफी लोग किसी न किसी तरह से आर्थिक विकास के लिए उन्हें जो सुविधाएँ प्राप्त हैं उनका लाभ नहीं उठाते। विकासोन्मुख देशों में मानवीय पहलू को यदि आर्थिक विकास को बढ़ावा देने और उसकी गति तीव्र करने में अपनी उपयुक्त भूमिका अदा करनी है तो अवसर की समानता एवम् सामाजिक परिवर्तन, दोनों ही दिशाओं में सावधानीपूर्वक अध्ययन कर कोई हल निकालना व उस पर कार्यवाही करना आवश्यक है।

अन्त में, आर्थिक विकास में मानवीय पहलू जो भूमिका अदा कर सकता है, उसके महत्व पर मैं पुनः जोर देना चाहूँगा। अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाएँ आर्थिक-विकास में पूंजी और विनियोजन की भूमिका पर

बहुत अधिक जोर देने की ओर झुकी हुई लगती है; वस्तुतः वे इस पहलू के विचार से इतनी ग्रसित अर्थात् इस बात में इतनी डूबी हुई हैं कि एक तरफ वे अपने लक्ष्यांक नीचे निर्धारित करती हैं तथा दूसरी ओर अनावश्यक यानी अत्यधिक रूप में विदेशी सहायता की तरफ निहारती हैं। परिणाम यह निकला है कि प्रगति कम हुई है और विकसित तथा विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्थाओं के बीच का अन्तर बढ़ता जा रहा है। विशेष कर भारत जैसे देशों को जहाँ मानवीय स्रोतों का बाहुल्य है, मानवीय पहलू के उत्पादनशील उपयोग के प्रति अब तक उन्होंने जो दृष्टिकोण अपनाया है उससे कहीं कितना ही अधिक सदुद्देश्यात्मक एवम् सुपरीक्षित दृष्टिकोण अपनाना पड़ेगा। इसके लिए विशुद्ध आर्थिक क्षेत्र के अलावा मानवीय पहलू सम्बन्धी सामाजिक, संस्थात्मक, राजनैतिक व मनोवैज्ञानिक सभी क्षेत्रों में कार्यवाही करने की आवश्यकता है। आर्थिक क्षेत्र में प्रभावशाली बनने और आर्थिक विकास को प्रोत्साहन देने के निमित्त मानवीय शक्तियों को शिक्षित, प्रशिक्षित, प्रेरित तथा संगठित करना पड़ेगा। यह काम केवल आत्मज्ञान अर्थात् खुद के ज्ञान और आत्म-निर्भरता से ही हो सकता है। अतएव मैं आशा करता हूँ कि अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में उत्पादन तथा उत्पादकता, दोनों की ही वृद्धि करने के लिए मानवीय पहलू एक ठोस अर्थात् प्रत्यक्ष साधन के रूप में अपना सही स्थान प्राप्त करेगा।

मात्र उत्पादक नहीं

आर्थिक विकास में मानवीय पहलू की भूमिका का विषय उसके अत्यावश्यक सही स्थान का उल्लेख किये बिना अधूरा रह जायेग। मानवीय पहलू मात्र उत्पादन निर्धारक ही नहीं है। मानव उत्पादन का उद्देश्य भी है अर्थात् उत्पादन, व्याकरण की शब्दावली में 'कर्त्ता' और मानवीय पहलू 'कर्म' है। आर्थिक विकास को प्रोत्साहन देने के लिए मानवीय पहलू के प्रयोग, मानवीय पूंजी की बातचीत, शिक्षा में विनियोजन और उन पर आर्थिक लाभ का हिसाब लगाने, तथा सामाजिक गठन, पारम्परिक मान्यताओं, सांस्कृतिक रीति-रिवाजों तथा मनोवैज्ञानिक पहलुओं आदि सबका उत्पादन को अधिकतम बनाने के दृष्टिकोण से अध्ययन करने के नवीन उत्साह में हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि मानवीय पहलू एक उत्पादक संघटक होने से कहीं बहुत अधिक और कुछ है। यह सही है कि आदमी का रोटी के बिना गुजारा नहीं होता, लेकिन यह भी सच है कि वह केवल रोटी के सहारे ही नहीं रह सकता। आर्थिक मानव पूर्ण मानव से बहुत ओछा है, और पूर्ण मानव में ही हम सबकी दिलचस्पी होनी चाहिए। हम सब में पेशेवर अर्थशास्त्री और प्रशासनात्मक आयोजक भी शामिल हैं।

आध्यात्मिक मूल्य

अतएव आर्थिक विकास को प्रोत्साहन देने के लिए मानवीय पहलू का पर्याप्त और समझ-बूझकर उपयोग करने की दिशा में अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं से सम्बद्ध हम सभी को सब प्रकार का प्रयत्न करना चाहिए; लेकिन इसके साथ ही हमें यह कदापि नहीं भूल जाना चाहिए कि आर्थिक विकास एक साध्य का साधन मात्र है। हमें यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि यदि आर्थिक विकास की प्रक्रिया सदियों से चले आ रहे तथा सभी स्थानों में प्रचलित समग्र मानवीय अनुशासन तथा आध्यात्मिक मूल्यों के अन्तर्गत न रही अर्थात् उसका निर्धारण उक्त अनुशासन व मूल्यों से न हुआ तो उल्लिखित साध्य की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। अन्ततोगत्वा यही तो वे मूल्य हैं जो जीवन जीने के आनन्द में चार-चाँद लगा देते हैं, सोने में सुहागे का काम करते हैं और इन मूल्यों की प्राप्ति के प्रयास से ही मानव अस्तित्व के बने रहने को कोई अर्थ व उद्देश्य प्राप्त होता है। अतएव, यद्यपि हमें मानवीय तथा आध्यात्मिक मूल्यों, मान्यताओं के अन्तर्गत रहकर आर्थिक गतिहीनता के कीचड़ से निकलकर आर्थिक विकास और उपभोग स्तर ऊँचा उठाने के मार्ग पर प्रशस्त होने के लिए मानवीय पहलू को अनुकूल बनाने एवम् उसका उपयोग करने के लिए प्रयास करना चाहिए, लेकिन आर्थिक विकास की अपनी अभिलाषा के लिए हम मानव को मशीन का पुर्जा मात्र नहीं बनने दे सकते। ●

व्यवस्था खर्च या सेवा खर्च

द्वारकानाथ वि० लेले

कच्ची सामग्री, प्रशोधन और पारिश्रमिक व्यय सहित 'पड़ते' के प्रतिशत्य के रूप में व्यवस्था-खर्च का हिसाब लगाने की वर्तमान पद्धति कई दृष्टियों से दोषपूर्ण साबित हुई है। चूंकि खादी काम एक **सेवा कार्य** है और **इसलिए** प्रचलित व्यवस्था-खर्च का हिसाब प्रतिशत के आधार पर न होकर 'सेवा' के आधार पर होना चाहिए, जिसका सम्बन्ध इस बात से जोड़ा जाना चाहिए कि कितने कारीगरों की सेवा की गयी अर्थात् कितने व्यक्तियों को रोजगारी मुहैया की गयी।

खादी कार्य में **नया मोड़** लाया जा रहा है। कताई का साधन, अम्बर आने के कारण बदल रहा है। बुनाई में भी नयी पद्धति अपनायी जा रही है। इसी प्रकार अब तक व्यवस्था-खर्च लगाने की जो पद्धति वर्षों से चली आ रही है, उसमें भी परिवर्तन करना आवश्यक प्रतीत होता है।

पड़ते में परिवर्तन का प्रभाव

व्यवस्था-खर्च लगाने की अब तक की पद्धति ऐसी रही है कि कच्चे माल की कीमत पर, उससे पक्का माल तैयार करने के लिए मजदूरी आदि का जो खर्च आता है, वह जोड़कर जो 'पड़ता' होगा उस पर अधिक से अधिक २० प्रति शत व्यवस्था-खर्च लगाना। इस में भी 'पूलिंग' होता रहा। कुछ किस्मों पर १२ से १४ प्रति शत खर्च बढ़ाते हैं और कुछ किस्मों पर २५ से ३० प्रति शत भी चढ़ाया जाता है। इस तरह व्यवस्था–खर्च बढ़ाने की व्यवस्था-पद्धति में फर्क करके व्यवस्था-खर्च नहीं, सेवा खर्च (Service Charges) लगाने की पद्धति शुरू करनी चाहिए।

कच्चे माल की कीमत में फर्क हो गया, प्रशोधन खर्च कम-ज्यादा लगा तो 'पड़ता' बदल जाता है और उस कारण से व्यवस्था-खर्च की रकम घटती-बढ़ती है। इन दिनों कच्चे माल की कीमत में काफी हेर-फेर होते हैं। मजदूरी में भी परिवर्तन करना चाहते हैं, लेकिन उसमें ज्यादा परिवर्तन नहीं हुआ है। परंतु कच्चे माल को पक्के माल में परिवर्तित करने के साधनों में बदल हो जाने के कारण कारीगर से जितना माल पहले मिलता था उससे अधिक माल मिल रहा है। पारम्परिक चरखे पर जहां एक कत्तिन माह भर में एक सेर सूत कातकर लाती थी, वहाँ अब वही कत्तिन चार-पाँच सेर से भी अधिक सूत कातकर लाती है, और साधन भी परिशुद्ध (प्रिसाइज) होने के कारण पारम्परिक चरखे पर सूत के अंक में जितना हेर-फेर हो सकता था, उस से कम हेर-फेर नये साधन यानी अम्बर पर होता है। यही बात करघे के लिए भी लागू है। सुधरे करघे पर बुनकर आज से अधिक यानी करीब डेढ़-दो गुना उत्पादन दे सकता है, तो क्या कच्चे माल की कीमत में हेर-फेर हुआ? एक ही कत्तिन पहले जितना सूत कातती थी, उससे अधिक सूत उसने काता, बुनकर ने सुधरे करघे पर अधिक बुना तो क्या आज तक की जो पद्धति 'पड़ते' के आधार पर व्यवस्था-खर्च लगाने की रही, वही चालू रखनी चाहिए? यदि वही चालू रखेंगे तो खाँमखाँ व्यवस्था-खर्च की रकम बढ़ नहीं जायेगी?

सेवा कार्य

खादी कार्य सेवा कार्य है, और उसके द्वारा कारीगरों की सेवा करनी है। सुधरे औजारों के

कारण अगर एक कत्तिन अधिक सूत लाती अर्थात् कातती है तो क्या जब वह कम सूत लाती या कातती थी उस वक्त जितना व्यवस्था-खर्च हम लेते रहे उतना ही व्यवस्था-खर्च लेना चाहिए ? अधिक सूत लाती या कातती है, इसलिए व्यवस्था-खर्च अधिक नहीं लेना चाहिए। इसका अर्थ यह होता है कि सुधरे हुए औजारों के कारण कारीगरों की मजदूरी बढ़ेगी, उस परिमाण में ही व्यवस्था-खर्च का प्रमाण बढ़ेगा नहीं, बल्कि उसके उल्टे प्रमाण में घटेगा।

वर्तमान पद्धति दोषपूर्ण

यह तो बात हुई सुधरे हुए औजारों को लेकर। लेकिन सुधरे हुए औजार न भी हों, तो भी हमारी व्यवस्था-खर्च लगाने की पद्धति दोषपूर्ण है। एक कत्तिन अगर १० अंक का सूत कातती है और दूसरी ४० अंक का, तो जाहिर है कि दोनों की मजदूरी में फर्क होगा और महीन कातनेवाली को ज्यादा मजदूरी मिलेगी। लेकिन कत्तिन को मजदूरी ज्यादा मिली तो व्यवस्था-खर्च ज्यादा लेना चाहिए, यह बात सुसंगत नहीं दीखती; क्योंकि १० अंक का सूत कातनेवाली के लिए जो काम करना पड़ता है वही काम ४० अंक का कातनेवाली के लिए भी करना पड़ता है। बुनकरों के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। एक बुनकर १३ सैकड़े की कंघी में बुनाई करता है और दूसरा २४ सैकड़े की कंघी में बुनता है, तो जो कपड़ा तैयार होगा उसमें कम कंघीवाला सस्ता और ज्यादा कंघीवाला मंहगा रहेगा। इस कारण व्यवस्था-खर्च में आज की पद्धति के कारण फर्क पड़ेगा, जबकि प्रत्यक्ष व्यवस्था पद्धति समान ही है। इसलिए पद्धति में परिवर्तन करना ही चाहिए।

हम देखते हैं कि अम्बर के कारण हमारी दौड़ महीन सूत की तरफ हो रही है। मोटे सूत का कपड़ा नहीं मिल रहा है। अतएव मोटे सूत के लिए उत्प्रेरणा मिलनी चाहिए, ऐसा हम कहते हैं। इसलिए सम्भव है कि कुछ जगह मोटे सूत की तथा कुछ जगह महीन सूत की भी कताई की जायेगी। मोटे सूत का कपड़ा कम कीमत का रहेगा और महीन सूत का कपड़ा ज्यादा कीमत का। इसलिए कीमत के आधार पर ही व्यवस्था-खर्च लगाने के कारण एक जगह वह कम मिलेगा और दूसरे स्थान पर ज्यादा। लेकिन हो सकता है कि मोटे सूत के केन्द्र में जितने कारीगरों से काम करना पड़ता है, उतने ही या शायद कम कारीगरों से महीन सूत के केन्द्र में काम करवा लेना पड़ेगा। इसलिए उसमें कुछ सुसूत्रता लाने की जरूरत है।

परिवर्तन आवश्यक

मेरा सुझाव है कि व्यवस्था-खर्च का हिसाब प्रतिशत के आधार पर न होकर सेवा (Service) के आधार पर होना चाहिए। कितनी कत्तिनों की सेवा की या कितने बुनकरों की सेवा की, यह व्यवस्था-खर्च का आधार बन जाना चाहिए। इससे कार्यकर्त्ताओं की कार्य-क्षमता बढ़ेगी। वे कितने लोगों से सम्पर्क साधते हैं, कितने लोगों को काम देते हैं, यह सामने आ जायेगा और काम का मूल्यांकन भी इसी आधार पर होगा। कितने कारीगरों को काम मिलता है, उस पर कार्यकर्त्ताओं की संख्या भी निश्चित की जा सकेगी। कार्यकर्त्ताओं की कार्य-क्षमता बढ़ने से जो कार्यकर्त्ता अधिक कारीगरों की सेवा करेंगे, उनको अधिक सेवा-खर्च मिलना चाहिए। यह संकेत अगर साबित होगा, तो सेवा कार्य अधिक होगा और अधिक लोगों की सेवा करने की तरफ कार्यकर्त्ताओं का खयाल रहेगा। इसलिए व्यवस्था-खर्च की पद्धति में परिवर्तन करना अत्यन्त आवश्यक है।

९ जनवरी १९६३

ग्राम इकाइयों का प्रगति विवरण

कोदण्डरामन वैद्यनाथन

खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के समग्र विकास कार्यक्रम में प्राप्त सफलताओं का मूल्यांकन करने तथा भावी योजना बनाने के लिए समय पर, यथा तथ्य और विस्तृत प्रगति विवरण भेजने का बहुत बड़ा महत्व है। प्रगति विवरणों से खादी तथा अन्य ग्रामोद्योगों, कृषि व सहकार के क्षेत्र में हुई प्रगति की पूर्ण जानकारी मिलनी चाहिए। ग्रामीण क्षेत्र में हुए विकास से ग्रामीणों को अवगत कराना भी उतना ही महत्वपूर्ण है।

प्रगति विवरणों से हमें जो काम हाथ में लिया गया है उसकी प्रगति का अध्ययन करने में सहायता मिलती है। यदि जानकारी सावधानीपूर्वक संकलित की जाय तो हमें इस बात का मूल्यांकन करने में मदद मिलेगी कि जो काम किया गया है वह सन्तोषप्रद है अथवा नहीं, काम के करने में जो तरीका अपनाया गया वह ठीक है या नहीं और सहायता की प्रणाली क्षेत्र की आवश्यकताओं के अनुकूल पड़ती है अथवा नहीं। चूंकि प्रगति विवरणों का बहुत महत्व है, इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वे नियमित और यथा तथ्य रूप में भेजे जायें तथा उनसे अपेक्षित एवम् किये गये कार्य का तुलनात्मक चित्र सामने आना चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि कार्यकर्त्ता के सामने इस बात का स्पष्ट चित्र होना चाहिए कि ग्राम इकाइयों में समग्र विकास कार्यक्रम के कार्यान्विय से किस उद्देश्य की प्राप्ति की जानी है अर्थात् कार्यकर्त्ता के मस्तिष्क में कार्यक्रम का उद्देश्य स्पष्ट होना चाहिए।

जानकारी

खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की कार्यशीलताओं के पीछे उद्देश्य है, ग्राम समाज की समाजार्थिक अवस्था में सुधार करना। इसलिए उन अधिकाधिक ग्रामीणों को लाभदायक रोजगारी प्रदान करने की योजना है, जो इच्छा न होते हुए भी पूर्ण अथवा अर्द्ध-बेकार रहते हैं। वर्तमान अवस्थाओं के अन्तर्गत रोजगारी के अवसरों का विस्तार मुख्यतः खादी तथा ग्रामोद्योगों का संगठन एवम् विकास करने में ही निहित है। अतएव प्रगति विवरणों में यह जानकारी होनी चाहिए: (१) खादी, ग्रामोद्योगों तथा अन्य उद्योगों के विकास के जरिये रोजी प्राप्त लोगों की संख्या; (२) इस प्रकार के उद्योगों में उत्पादित और स्थानीय रूप से उपभोगित वस्तुओं का मूल्य; (३) कितना पारिश्रमिक कमाया गया (यदि सम्भव हो); और (४) उद्योगों में विनियोजित पूंजी, मय विनियोजन स्रोत के।

समाजार्थिक परिवर्तन

ग्राम इकाई क्षेत्रों के जन-जीवन में उद्योगों के सघन विकास कार्यक्रम के फलस्वरूप आये सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों के प्रति जागरूक रहना भी यानी उनका ध्यान रखना भी आवश्यक है। इस प्रकार के परिवर्तन से काफी आबादी को खेती-बाड़ी के काम से हटाकर दूसरे काम-धंधों में लगाने और भूमि पर से जनता के निर्भर रहने का दबाव कम करने में सहायता मिल सकती है, जो कृषि के वैज्ञानिक विकास के लिए आयोजन के मार्ग में एक बाधा है। इसलिए प्रगति विवरणों में जनता के सामाजिक और आर्थिक जीवन में हुए परिवर्तनों का भी विवरण होना चाहिए।

कृषि और सहकार

कृषि तथा जीवन के अन्य पहलुओं के बाबत जानकारी वर्ष में एक बार दी जा सकती है। सामान्यतः यह

जानकारी पर्याप्त होगी : (१) कृषि के अन्तर्गत लायी गयी बंजर भूमि का क्षेत्र; (२) सिंचाई के लिए की गयी व्यवस्था; (३) दोहरी फसल, इकहरी फसल, सिंचाई, बागवानी, सब्जी के अन्तर्गत तथा वर्षा पर निर्भर रहने-वाली भूमि का क्षेत्र; (४) विभिन्न खाद्यान्नों की प्रति एकड़ उपज; (५) उपयोगित खाद—कृत्रिम तथा प्रांगारिक; (६) कार्यरत सहकारी समितियों की संख्या—उनके उद्देश्य, सदस्य-संख्या, सदस्यों द्वारा दी गयी हिस्सा-पूंजी, नियत जमा पूंजी, आरक्षित कोष, वार्षिक लेन-देन, बकाया ऋण और हानि-लाभ के ब्यौरे सहित; (७) नव निर्मित मकान; और (८) प्रदत्त सामाजिक सेवाएँ, जैसे स्कूल, पुस्तकालय तथा वाचनालय, आयुर्वेदिक सुविधाएँ, पीने के पानी की पूर्ति, गलियों में रोशनी और सड़क निर्माण।

जन-मानस को समझाना

निस्सन्देह उक्त जानकारी बहुमूल्य है और उससे हमें विकासोन्मुख प्रयत्नों की प्रगति का अध्ययन करने में मदद मिलेगी, लेकिन मूलतः इसका उद्देश्य इकाई क्षेत्रों में लोगों को उन्होंने जो प्रगति की है उसकी जानकारी करवाना है। अतएव यह आवश्यक है कि जब-कभी जान-कारी इकट्ठी कर उसकी छँटनी की जाय, तब प्रवर्त्तक संस्था अथवा स्थानीय संगठन, सहायक संगठक व ग्राम सहायक द्वारा उसका सावधानीपूर्वक अध्ययन किया जाना चाहिए और ग्राम सभा की बैठक बुलाकर उसमें पढ़कर सुनायी तथा लोगों को समझायी जानी चाहिए। इकाई क्षेत्र के सभी निवासियों को सामाजिक सुरक्षा तथा सामाजिक न्याय का लक्ष्य प्राप्त कराने की दिशा में सघन अभियान चलाने के लिए उनके साथ तौर-तरीकों एवम् साधनों के बारे में भी विचार-विमर्श करना चाहिए। इस प्रकार चार्टों आदि के रूप में, जिन्हें लोग आसानी से समझ सकें, जानकारी इकट्ठी कर उसे किसी ऐसे स्थान पर रखा जाना चाहिए जहाँ लोग उसे देख, पढ़ सकें।

विवरण भेजने में निपुणता

खादी और ग्रामोद्योग कमीशन ने जिस प्रकार के फार्मों में सामयिक प्रतिवेदन यानी प्रगति विवरण भेजना है, उनकी रूप-रेखा तैयार कर ली है। जानकारी इकट्ठी करने का उत्तरदायित्व राज्य खादी और ग्रामोद्योग मण्डलों का है। ग्राम सहायकों, सहायक संगठकों व संगठकों की सेवाएँ उन्हें उपलब्ध करवायी गयी हैं, ताकि वे ग्राम इकाई क्षेत्रों में समग्र विकास कार्यक्रम प्रभावशाली रूप से कार्यान्वित कर सकें। राज्य मण्डलों को चाहिए कि वे इस बात पर जोर दें कि ग्राम सहायक तथा सहायक संगठक आवश्यक जानकारी इकट्ठी करें, फार्म में भरें और समय पर उसे भेज दें। राज्य मण्डलों को यह भी चाहिए कि वे इस बात का निरीक्षण अवश्य करें कि सहायक संगठकों के तथा अन्य क्षेत्रीय अधि-कारियों के माध्यम से भेजी गयी जानकारी सही है या नहीं तथा स्वयम् के सन्तोष के लिए यह देखें कि जानकारी वास्तविक यानी यथा तथ्य है।

विभिन्न मदों के अन्तर्गत आंकड़े दर्ज करने के लिए ग्राम सहायकों को रजिस्टर रखने चाहिए। यदि समय-समय पर प्राप्त प्रगति विवरणों का तुलनात्मक अध्ययन के लिए सदुपयोग करना है तो यह आवश्यक है कि कोई आधार-अंक हो, जिसके साथ आंकड़ों की तुलना की जा सके। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन को, जितनी ग्राम इकाइयाँ उसने स्वीकृत की हैं उन सभी से वहाँ प्राप्त अवस्थाओं के बारे में इस प्रकार के आधार स्थलीय आंकड़े उपलब्ध नहीं हुए हैं। राज्य मण्डलों तथा प्रवर्त्तक संस्थाओं को चाहिए कि वे इस प्रकार के आंकड़े इकट्ठे कर कमीशन को भेजने के लिए तुरन्त कदम उठायें।

९ मार्च १९६३

शहद की शुद्धता

जागेश्वर गोपाल श्रीखण्डे

भारत जैसे उपोष्ण कटिबन्धीय देश में शहद की शुद्धता जांचने के लिए 'फिए परीक्षण' अपर्याप्त पाया गया है। देश के विभिन्न भागों में प्रशोधित शहद के ११५ नमूनों के विश्लेषण से प्राप्त आंकड़ों से भी किसी वैसे तरीके का पता नहीं चल सका, जो कि शहद की शुद्धता जांचने के लिए निर्दोष सिद्ध हो सके।

समय-समय पर यह समाचार सुनने को मिलता है कि शहद का अमुक नमूना शुद्ध नहीं है, भले ही वह कितना ही सावधानीपूर्वक प्रशोधित क्यों न किया गया हो। यह घोषणा 'फिए परीक्षण' के अनुसार की जाती है, जोकि मिलावटवाले शहद में सकारात्मक और शुद्ध शहद में नकारात्मक परिणाम दर्शानेवाला समझा जाता है। यह परीक्षण शीतोष्ण कटिबन्धीय प्रदेश में किया गयाथा। हमारे जैसे देश में, जोकि उपोष्ण कटिबन्धीय है और काफी विस्तृत है, जगह-जगह की जलवायु, मिट्टी और फल-फूल अलग-अलग हैं, स्वभावतः इसका असर शहद की रचना और गुण पर भी पड़ेगा ही, भले ही वह कितनी भी सावधानी से क्यों न इकट्ठा किया जाय तथा रूढ़ तरीके से प्रशोधित किया जाय।

फिए परीक्षण

देश के विभिन्न भागों से प्राप्त भारतीय शहद की शुद्धता जांचने के लिए जब कभी भी 'फिए परीक्षण' किया गया, यह पाया गया कि कुछ नमूनों के मामले में, खास कर **एपिस डोरसाटा** जाति की मक्खियों से प्राप्त शहद धनात्मक निकला और **एपिस इंडिका** जाति की मक्खियों से प्राप्त शहद ऋणात्मक, परन्तु **एपिस इंडिका** से प्राप्त शहद भी कुछ समय स्टॉक में रहने के बाद धनात्मक परिणाम दिखाने लगा अर्थात् मिलावटी लगने लगा। स्टॉक में कुछ समय पड़े रहने पर भी शहद का रंग गाढ़ा होने लगता है, जोकि उसमें जटिल योगिक बनने के कारण हो जाता है और 'फिए परीक्षण' करने पर जो दोष नजर आने लगता है, वह भी उसी के कारण। अतः शहद के किसी खास नमूने की शुद्धता अथवा उसमें मिलावट की जाँच करने के लिए 'फिए परीक्षण' को निर्णयात्मक तथ्य नहीं माना जा सकता।

प्रयोग

इस समस्या को हल करने तथा मिलावट का पता लगाने हेतु तरीका खोज निकालने के लिए भारत के विभिन्न भागों में प्रशोधित शहद के ११५ नमूनों का चार भिन्न केन्द्रों में विश्लेषण किया गया और फिर निष्कर्ष निकालने हेतु परिणामों का संग्रह किया गया, चन्द विशिष्ट नमूनों के परिणाम तालिका (पृष्ठ: ४८२) में दिये गये हैं। यह तो स्वीकार करना ही होगा कि इन आंकड़ों के अध्ययन से किसी वैसे तरीके का पता नहीं चलता, जिसकी सिफारिश शहद की शुद्धता या अशुद्धता का पता चलाने के लिए की जाय।

शहद इन तत्वों का सम्मिश्रण माना जाता है: ग्लूकोज, फ्रक्टोज, पौलीसैक्कराइड्स (डेक्सट्रीन्स), डायसैक्कराइड्स (रैफीनोज, सुक्रोज, माल्टोज), आर्गेनिक एसिड्स, लैक्टोन्स, एमिनो एसिड्स, विटामिन, खनिज, मोम, पराग, जल और सुगंध तथा रंग प्रदान करनेवाले पदार्थ। प्रथम चार तथा सातवें तत्व की शहद में उपस्थिति का पता रासायनिक तरीकों और क्रोमोटोग्राफिक पद्धति से लगा है। इनमें से कुछ का पता रासायनिक, भौतिक और क्रोमोटोग्राफिक पद्धति से भी लगा है।

शहद को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से गर्म करने का निम्न फल होता है:

१. शहद के मुख्य तत्व हैं ग्लूकोज और फ्रक्टोज। ये अपचायक शक्कर कहलाते हैं। गर्म करने से आर्गेनिक एसिड और इनजाइम की आर्द्रता की उपस्थिति में पौली सैक्कराइड्स और डायसैक्करा-

एपिस इण्डिका और एपिस डोरसाटा प्रजाति की मक्खियों से प्राप्त शहद के चन्द नमूनों की बनावट

नमूना क्रम	प्रजाति	आर्द्रता %	भस्म %	अपचायक शक्कर %	लेवुलोज %	डेक्सट्रोज %	सुक्रोज %	रिसॉर्सिनॉल परीक्षण	एनिलीन क्लोराइड परीक्षण	प्रकाशीय घूर्णन
३६	एपिस इण्डिका	२२.९	०.१४	६८.२१	३६.९४	३४.०४	२.३	ऋणात्मक	ऋणात्मक	वामवर्ती
३७	,, ,,	२२.६	०.२५	६८.९२	३६.६८	३४.९९	१.४	,,	,,	,,
३८	,, ,,	२५.८	०.१८	५३.८४	२९.४३	२६.६९	१०.९०	,,	,,	,,
८३	,, ,,	२०.००	०.२४	६६.४६	३४.३६	३४.६९	०.४३	,,	,,	,,
८४	,, ,,	१९.८८	०.२४	६८.०४	३५.००	३५.६७	१.१४	,,	,,	,,
८५	,, ,,	१७.६७	०.२०	६५.९३	३७.६५	३१.११	५.०५	,,	,,	,,
८६	,, ,,	१९.७०	०.४०	६६.६८	३७.९८	३१.५५	१.०८	,,	,,	,,
८७	,, ,,	१८.६२	०.२५	६५.३७	३५.०३	३२.९६	३.६८	,,	,,	,,
८८	,, ,,	१६.८७	०.५२	६३.६८	३४.२८	३२.९८	२.६४	,,	,,	दक्षिणावर्ती
८९	,, ,,	२०.०४	०.३५	७१.५०	४०.८१	३३.७६	२.०१	,,	,,	वामवर्ती
९०	,, ,,	१८.७०	०.४८	७२.२८	४०.९६	३४.४०	१.०२	,,	,,	,,
९१	,, ,,	१८.१८	०.२८	७०.०१	३५.७५	३६.९४	३.७८	,,	,,	,,
९२	,, ,,	१९.७२	०.६४	६३.६०	३६.७९	२९.५८	३.१२	,,	,,	,,
९३	,, ,,	२१.१३	०.४२	६९.७६	३८.९०	३३.७८	१.४५	,,	,,	,,
९४	,, ,,	२५.९०	०.३९	६६.४२	३३.५९	३५.३५	०.६६	,,	,,	,,
२५	एपिस डोरसाटा	२०.४	०.२५	६९.९८	३५.७३	३६.९३	४.६३	घनात्मक	घनात्मक	,,
२६	,, ,,	२०.०३	०.१४	६८.६७	३१.९९	३९.०८	४.४	,,	,,	,,
२७	,, ,,	२०.३	०.६	६९.१४	३२.८६	३८.७५	१.६३	,,	,,	,,
२८	,, ,,	२०.७	०.०४	६७.१६	३२.४८	३७.११	७.७५	,,	,,	,,
२९	,, ,,	२०.५	०.१९	६७.२८	३२.९३	३६.८३	५.१३	,,	,,	,,
३०	,, ,,	२०.८	०.१७	६३.८५	३२.०१	३४.२४	७.१८	,,	,,	,,
३१	,, ,,	२०.९	०.१९	६७.०६	३८.१२	३१.८०	२.६८	,,	,,	,,
३२	,, ,,	१९.९	०.३५	६०.९१	३३.७७	२९.६८	७.१५	,,	,,	,,
३३	,, ,,	२०.५	०.१३	६०.६९	२८.४५	३४.३२	४.९९	,,	,,	,,
३४	,, ,,	१९.०	०.१२	६५.४९	३२.१५	३५.७६	६.५७	,,	,,	,,
३५	,, ,,	२२.४	०.२५	६१.९२	३७.६१	२७.१३	०.९३	,,	ऋणात्मक	,,
३९	,, ,,	१९.४	०.६४	५१.४८	३१.३६	३०.४७	०.५०	,,	घनात्मक	दृश्यमान नहीं

इड्स का जल-विश्लेषण होने लगता है, जिससे अपचायक शक्कर का गाढ़ापन बढ़ जाता है।

२. कैरेमलाइजेशन होने लगता है, जिसका असर रंग और स्वाद पर पड़ता है।

३. चन्द एमिनो एसिड्स और शक्करों के भंग होने अथवा जमने से अन्य रंगीन यौगिक बनने लगते हैं।

४. फुरफुरोल और उसके अवकलज (अ) हायड्रोक्सी-मिथिल फुरफुरोल, जोकि 'फिए परीक्षण' मिलावटी शहद में अम्लावस्थाओं में रिसॉर्सिनॉल के साथ देता है; और (आ) मिथिल फुरफुरोल का बनना।

५. चन्द सुगंध प्रदान करनेवाले तत्व नष्ट हो जाते हैं।

अनपके शहद अथवा शहद रस में सामान्यतया २४ से २७ प्रति शत नमी रहती है, जबकि पके शहद में १८ से २० प्रति शत। यदि स्वाभाविक रूप से उपस्थित नमी को दूर करने के लिए उच्च तापमान पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से शहद को गर्म किया जाय, तो पौली सैक्कराइड्स और डायसैक्कराइड्स का जल-विश्लेषण हो जायेगा और ऊपर (४) में बताये गये अनुसार अन्य यौगिक बन जायेंगे और मिलावट का संदेश पैदा होने लगेगा; क्योंकि मूल रासायनिक रचना में परिवर्तन हो जायेगा, विशेष कर अपचायक शक्कर—ग्लूकोज और फ्रक्टोज—में।

आपत्तिजनक व्यवहार

शहद में मिलावट का पता लगाने के लिए 'फिए परीक्षण' की सिफारिश की जाती है, जोकि जब शहद को नमी निकालने हेतु गर्म किया जाता है और उसे यदि शीतोष्ण और उपोष्ण कटिबन्धीय प्रदेश में, जहाँ कि ११८ फैरनहाइट तक तापमान पहुँच जाता है, जमा रखा जाता है तब भी सकारात्मक परिणाम निकालता है। अप्रशोधित शहद का प्रशोधन करते वक्त उसके हेक्सोसेज के अपकर्ष होने की भी सम्भावना है, जिससे हाइड्रोक्सी-मिथिल-फुरफुरोल बनता है जोकि 'फिए परीक्षण' में सकारात्मक परिणाम देता है। इससे यह स्पष्ट हो जायेगा कि शहद में से प्राकृतिक नमी निकालने के लिए उसे परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप में गर्म करना, ताकि वह पका लगने लगे; आपत्तिजनक है; क्योंकि वह मूल तत्वों में परिवर्तन करता है।

शहद को तभी गर्म करते हैं, जबकि वह अनपका होता है या उसमें खमीर पैदा होने का डर रहता है। कृत्रिम रूप से शहद पकाने पर उपर्युक्त परिवर्तन होने ही वाले हैं और इससे यह संदेह पैदा होगा कि वह शहद कृत्रिम है। ऐसे मामलों में शहद की शीशी पर वह 'गर्म किया हुआ शहद' का लेबल चिपका देना चाहिए। शीशी पर लेबल नहीं लगाने की गलती प्रायः इस अज्ञानता के कारण ही होती है कि सम्भवतः शहद की नमी को दूर करने के लिए उसे गर्म करने से होनेवाले रासायनिक परिवर्तनों का पता नहीं होता। इस तरह की गलती को दूर करने के लिए या तो भविष्य में उन्हीं छत्तों को तोड़ना चाहिए, जिनमें शहद पक गया हो या फिर कम दबाव में शहद को गर्म करें।

परिणामों का अर्थ निर्धारण

परिणामों का अर्थ लगाते समय इतना अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि फ्रक्टोज रखनेवाले प्राकृतिक उत्पादन, जैसे शहद, जब १६० फैरनहाइट पर पकाये जाते हैं अथवा लम्बे समय तक जमा रखे जाते हैं तो उनमें हाइड्रोक्सी-मिथिल-फुरफुरोल पैदा होने लगता है, जैसा कि शहद के प्रशोधन के समय होता है। फिर, नकारात्मक परिणाम यह नहीं दर्शाता कि उसमें ऊपर से शक्कर नहीं मिलायी गयी है; क्योंकि हाइड्रोक्सी-मिथिल-फुरफुरोल के कम मात्रा में रहने पर उसका पता नहीं भी चल सकता है। हाइड्रोक्सी-मिथिल-फुरफुरोल का पता लगाने का तरीका निश्चित करने की दिशा में खोज की जा रही है, ताकि मिलावट का पता लगाने में उसकी मात्रा निर्धारित की जा सके।

शहद पर अनुसंधान करने में ऐसा प्रतीत होता लगता है कि ज्यों-ज्यों अधिक काम होता है सरलता के बजाय जटिलता बढ़ती जाती है। फिर भी, यह तो आशा की ही जा सकती है कि शहद की रचना पर अभी किये जा रहे तथा भविष्य में किये जानेवाले अनुसंधान से सरलता आयेगी ही और शहद के तत्व तथा उसकी रचना और शहद की रचना तथा उसके मूल के बीच के सम्बन्ध की उचित व्याख्या भी स्पष्ट होगी।

९ जनवरी १९६३

राष्ट्र संघ और नव ऊर्जा स्रोत

भारतानन्द

आर्थिक विकास और ऊर्जा-प्राप्ति के बीच निकट सम्बन्ध है। किसी विशिष्ट ऊर्जा-स्रोत का चुनाव उसका जिस तरह की समाजार्थिक अवस्था में विकास व प्रयोग किया जाना है, उसके सन्दर्भ में करना पड़ेगा।

रोम में ऊर्जा के नव स्रोतों को लेकर एक राष्ट्र संघीय सम्मेलन हुआ, जिसमें भू-तापीय, पवन और सौर शक्ति के उपयोग पर विचार किया गया। सम्मेलन में एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण सुझाव यह आया कि ऐसे अल्प-विकसित, ऊर्जा की दृष्टि से गरीब क्षेत्रों में मार्गदर्शी और प्रयोग केंद्र खोले जायें, जहां पवन तथा धूप पर्याप्त मात्रा में मिलती हो।

ऊर्जा के नव स्रोतों पर एक राष्ट्र संघीय सम्मेलन २१ से ३१ अगस्त १९६१ तक राष्ट्र संघ के खाद्य और कृषि संगठन के रोम स्थित प्रधान कार्यालय में हुआ था। राष्ट्र संघ सभी नव ऊर्जा स्रोतों में उसी तरह दिलचस्पी लेता है, जिस प्रकार परम्परागत तथा आणविक ऊर्जा स्रोतों में।

सन् १९५७ में पाँच प्रमुख विशेषज्ञों ने एक अध्ययन प्रस्तुत किया—**न्यू सॉर्सेस ऑफ् इनर्जी एण्ड इकनॉमिक डेवलपमेण्ट** (नव ऊर्जा स्रोत और आर्थिक विकास)—जिसका प्रकाशन किया राष्ट्र संघ ने। तब इस विषय पर, खासकर इसका विकासोन्मुख देशों में उपयोग के विषय पर, विचार करने के लिए एक विशेष सम्मेलन आयोजित करने का निश्चय किया गया। प्रस्ताव का प्रत्युत्तर अत्युत्तम रहा—२९ देशों के अनुभवों के प्रतिनिधि २५० लेख स्वीकृत हुए; और ७४ देशों के ४४७ व्यक्तियों ने सम्मेलन में भाग लिया। प्रस्तुत विषय में अल्प-विकसित देशों के प्रतिनिधियों ने विशेष रूप से दिलचस्पी दिखायी।

विशेष सम्मेलन

भू-तापीय, पवन और सौर ऊर्जा के प्रयोग पर विशेष ध्यान दिया गया। शक्ति के अलावा सौर ऊर्जा के अन्यान्य उपयोगों पर विस्तृत चर्चा हुई। लॉरडेरेलो (Larderello) स्थित भू-तापीय शक्ति संयंत्र और इजराइल की राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला (नेशनल फिजीकल लेबोरेटरी) की सौर ऊर्जा इकाई का अवलोकन करना उक्त सम्मेलन की विशेष उल्लेखनीय घटना रही। सम्मेलन से सौर, पवन और भू-तापीय ऊर्जा के इस्तेमाल सम्बन्धी विचारों व अनुभवों के आदान-प्रदान तथा इस बात पर विचार करने में सहायता मिली कि किस प्रकार नयी-नयी तक्नीकों का विस्तृत उपयोग, विशेष कर उन क्षेत्रों के लाभार्थ किया जा सकता है जो या तो अल्प-विकसित हैं अथवा उच्च ऊर्जा मूल्यों का सामना कर रहे हैं।

विभिन्न रूपों में ऊर्जा की उपलब्धि आर्थिक विकास की पूर्व शर्त है। प्रत्येक क्षेत्र अथवा देश के सन्दर्भ में, जिस समाजार्थिक ढाँचे में ऊर्जा का विकास, प्रयोग किया जाना है उसके दृष्टिकोण से, ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोतों पर विचार करना पड़ता है।

ऊर्जा उपभोग

वर्तमान विश्व ऊर्जा उपभोग प्रति वर्ष पचास खरब (पाँच बिलियन) टन कोयले के बराबर है। शीघ्र ही यह योग दुगुना होकर वर्तमान शताब्दी के अन्त तक उसका भी दुगुना हो जायेगा। प्रति व्यक्ति ऊर्जा उपभोग काफी विभिन्न और औसत आय से प्रत्यक्ष रूपेण सम्बद्ध दिखाया गया है, जिससे

सिद्ध होता है कि उच्च जीवन-स्तर के लिए ऊर्जा कितनी अपरिहार्य है। अल्प-विकसित देशों में न्यून ऊर्जा उपभोग पर भी शहरों का एकाधिकार है और विश्व की करीब दो-तिहाई जन-संख्या किसी भी प्रकार की शक्ति-पूर्ति के बिना तथा मात्र- गुजर-बसर करनेवाले स्तर पर रहती है!

विभिन्न अवस्थाएँ

अविकसित क्षेत्र तीन श्रेणियों में विभक्त किये गये हैं: (१) जहाँ ग्रिड उपलब्ध हैं; (२) जहाँ बिजली घरों तथा बिजली के तारों की शक्यता है; और (३) निकट भविष्य में केन्द्रीय शक्ति-पूर्ति सम्भव नहीं है। यह निष्कर्ष निकाला गया कि प्रथम श्रेणी के क्षेत्रों में हो सकता है पवन और सौर ऊर्जा लाभदायक सिद्ध न हो; जबकि, यदि उपलब्द्ध हो तो भू-तापीय ऊर्जा अन्य किसी भी स्रोत से कितनी ही अधिक लाभदायक यानी कम खर्चीली, किफायती हो सकती है। द्वितीय श्रेणी के क्षेत्रों में जहाँ सामान्यतः ईंधन और शक्ति-जनन खर्च अधिक पड़ते हैं, सौर तथा पवन-शक्ति दीर्घ स्तरीय स्रोतों के सहायक का काम दे सकती है। तीसरी श्रेणी के अधिकांश क्षेत्रों में, जो कि अविकसित देशों में ही विशेष रूप से पाये जाते हैं, दीर्घ स्तर पर ग्रामीण विद्युतीकरण काफी लम्बे समय तक भौतिक या आर्थिक दृष्टि से असम्भव है। वहाँ पवन और सौर ऊर्जा तथा वाष्प व काष्ठ या मिथेन गैस से चलनेवाले इंजिन ही शक्ति-पूर्ति की सम्भाव्यता प्रस्तुत करते हैं एवम् जीवनावस्थाओं में सुधार और आर्थिक परिवर्तन लाने में महत्वपूर्ण पहलू बन जाते हैं; क्योंकि, उत्पादन की तक्नीकों में, जन-संख्या में प्रति व्यक्ति प्रथम शक्ति-किलोवाट की प्रभावशालीनता बड़ी विलक्षण होती है।

स्थानीय शक्ति स्रोत

नव शक्ति-स्रोतों के महत्व का अनुमान लगाते वक्त केवल आर्थिक लाभ-हानि की दृष्टि से ही विचार नहीं किया जाता। चन्द व्यापक सामाजिक उद्देश्य भी इतने ही महत्वपूर्ण हैं, और जहाँ ऊर्जा हो ही नहीं तथा किसी रूप में वह प्राप्त हो—फिर चाहे वह सीमित व अपूर्ण रूप में ही क्यों न प्राप्त हो—तो इन दोनों में से चुनाव ऊर्जा के इस्तेमाल के पक्ष में करना चाहिए, फिर चाहे स्थापित प्रति किलोवाट की प्रथम लागत जो भी पड़े। ऊर्जा के नये स्रोत कोई सार्वभौमिक, व्यापक हल प्रस्तुत नहीं करते। प्रत्येक स्थान को अपना समाधान निकालने और अपने खुद के शक्ति सम्बन्धी स्रोत तैयार करने पड़ेंगे। जो चीज निश्चिय ही की जा सकती है वह है प्रात्यक्षिकों तथा प्राविधिक सहायता केन्द्रों की व्यवस्था। भूगर्भीय स्रोतों से प्राकृतिक भाप और उष्ण जल का पता लगाकर उसका उपयोग करने सम्बन्धी सम्भाव्यताओं तथा परिपूर्ण महत्व को सामान्यतः पहचाना नहीं गया है। इस सम्बन्ध में सम्मेलन का कार्य परिवर्तन-बिन्दु हो सकता है।

इटली, न्यूजीलैंड, संयुक्त राज्य अमेरिका, मेक्सिको तथा अन्यत्र भाप से बिजली पैदा करनेवाले संयंत्र चलते हैं। आइसलैंड की राजधानी में ज्वालामुखी भाप से गर्मी पहुँचायी जाती है। केन्या में उष्ण स्रोतों से मुर्गी के अण्डे 'सेये' जाते हैं, जापान में उनसे घर गर्म रखे जाते हैं और नहाने के लिए गर्म पानी सप्लाई किया जाता है। भू-तापीय बिजली घर अभी अपनी प्रारम्भावस्था में हैं और चन्द क्षेत्रों के विकास में वे महत्वपूर्ण संघटक, पहलू बन सकते हैं। उपयुक्त स्थलों की विभाजन-सम्बन्धी जानकारी बहुत कम उपलब्ध है, लेकिन यह तर्क संगत लगता है कि ऊपर की एक बहुत ही पतली चट्टान—परत—के नीचे पृथ्वी द्रवित है, इसलिए उस स्थान पर भी गर्म भाप मिल जायेगी, जहाँ ज्वालामुखी क्रिया स्पष्ट परिलक्षित नहीं है।

भू-तापीय ऊर्जा विकास

किसी देश के भू-तापीय ऊर्जा-स्रोतों का विकास पेट्रोल उद्योग के समान ही है। इसमें भू-भौतिकी तथा

अन्य प्रकार के सर्वेक्षण एवम् कूप–खुदाई सम्मिलित हैं। ऐसा सुझाया गया है कि राष्ट्र संघ पृथ्वी के भू-तापीय स्रोतों का, विशेष कर अविकसित देशों में, विस्तृत सर्वेक्षण करे। भाप के कुओं के उत्पादक जीवन की अवधि के बारे में भी अनिश्चितता है अर्थात् यह अभी अनिश्चित ही है कि उनसे उत्पादन कार्यों में कितने समय तक सहायता मिल सकती है। भू-तापीय भाप के उद्गम के सम्बन्ध में हम बहुत ही कम जानते हैं। इस विषय पर और अध्ययन किये जाने की आवश्यकता है। भू-तापीय भाप का इस्तेमाल करने की तक्नीकें सुविकसित हैं और कई तरह के संयंत्र वास्तविक रूप से चल रहे हैं। नये क्षेत्रों के लिए ३,५०० किलोवाट क्षमतायुक्त एक टरबाइन और एक जनित्रवाला सीधा–सादा 'मॉनोब्लॉक' जैसा संयंत्र एक दिलचस्प प्रकार है, जो आसानी से एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जाने योग्य है तथा वह कूप से जैसी भाप आती है, उससे चलता है। भू-तापीय ऊर्जा की प्रति प्रभावक इकाई की लागत बहुत कम है और वह किसी भी पारम्परिक हाइडल अथवा तापीय संयंत्र के समान ही है यानी किसी भी हाइडल अथवा तापीय संयंत्र से उसकी सरलतापूर्वक तुलना की जा सकती है।

पवन शक्ति

पवन ऊर्जा में फिर से दिलचस्पी ली जाने लगी है और उसका उत्पादनशील कामों में इस्तेमाल करने के लिए नयी तक्नीकें विकसित हुई हैं। लघु स्तर पर पानी के पम्प लगाने और शक्ति-जनन से लेकर शक्ति ग्रिड से सम्बद्ध करने लिए दीर्घ स्तर पर पवन-शक्ति जनित्रों तक के कामों के लिए १५ देशों में इस दिशा में विकास कर लिया बताया जाता है। यह स्वीकार कर लिया गया है कि पारम्परिक सीधी-सादी पवन चक्कियों की, मुख्यत: पानी निकालने के लिए, अब भी पर्याप्त गुंजाइश अर्थात् सम्भाव्यता है। लेकिन प्रवृत्ति, ऐसे क्षेत्रों में जहाँ पवन पर्याप्त रूप से तेज चलता , हवाई बिजली-घर स्थापित कर उनसे आस-पास के लोगों को शक्ति उपलब्ध कराने की ओर है। इस बात पर जोर दिया गया कि अधिक ऋतु-विज्ञान केन्द्र तथा वेधशालाएँ खोली जायें तथा पवन-चक्कियों के लिए मुस्थलों के चुनाव हेतु और आगे विकास कार्य किया जाय। आधुनिक पवन-चक्कियाँ इजीनियरिंग के क्षेत्र में हुए नवीनतम विकासों तथा तक्नीकों का उपयोग करती हैं; और सक्षम एवम् सस्ते पवन-इंजिनों (एरो-इंजिन) का विशाल पैमाने पर उत्पादन अब कोई समस्या नहीं है।

सौर ऊर्जा के उपयोग

बड़े पवन-बिजली घर जहाँ लागत में हाइड्रो-इलेक्ट्रिक (हवाई इंजिन) प्रतिष्ठापनों से मेल खाते हैं, वहाँ लघु स्तर पर घरेलू उपयोग के लिए उक्त प्रकार के इंजिनों की लागत उसी क्षमता के डीजल इंजिन से ज्यादा पड़ती है। इस दिशा में अन्वेषण किये जाने की जरूरत है। लेकिन प्राय: न तो शक्ति की प्रारम्भिक लागत का और न उसके आवर्ती खर्च का कोई विशेष महत्व है। असल में महत्व उसकी उपलब्धि का है। अनेक परिस्थितियों में तो बीच-बीच में रुक-रुक कर बिजली का सप्लाई किया जाना भी सहन किया जा सकता है। इस बात पर बारम्बार जोर दिया गया है कि उच्च जीवन स्तर के सन्दर्भ में प्रारम्भिक कुछ किलोवाट का सर्वाधिक महत्व है। गाँव में उपयोग के लिए सर्वाधिक उपयुक्त लघु स्तरीय पवन शक्ति संयंत्रों पर विशेष अध्ययन किये जाने की आवश्यकता है, ताकि स्तरीयकरण एवम् दीर्घ स्तर पर उत्पादन करके उनकी लागत कम की जा सके। उत्पादकों और प्रत्याशित उपभोग करनेवालों को संसार के विभिन्न क्षेत्रों में पवन तथा सौर ऊर्जा की स्थापना में प्रातयक्षिक तथा प्रायोगिक केन्द्रों की स्थापना करने में राष्ट्र संघ के साथ आगे आकर मदद करनी चाहिए।

सम्मेलन में सौर ऊर्जा पर काफी विचार हुआ।

सम्मेलन में व्यक्त विचारों से इस क्षेत्र में हुए विस्तृत प्रयासों पर रोशनी पड़ी तथा साथ ही साथ अनेक सम्भाव्य उपयोगों पर, जिनमें से कई उपयोगों को अल्प-विकसित क्षेत्रों के लिए बहुत महत्वपूर्ण समझा गया। नमक उत्पादन तथा खाद्यान्न सुखाने के लिए सौर ऊर्जा का इस्तेमाल सर्व-विदित है; सम्मेलन में सौर ऊर्जा विशेषज्ञों के समक्ष उसके प्रत्याशित उपयोग-कर्त्ताओं और लघु स्तर पर शक्ति-जनन, खाद्य आरक्षण के लिए बर्फ उत्पादन, पीने के पानी के लिए उसे आसुत करने आदि जैसे कामों में सौर ऊर्जा का इस्तेमाल करने सम्बन्धी नयी-नयी माँगें प्रस्तुत हुईं।

अल्प-विकसित देश अधिकांशतः उष्ण कटिबंधीय तथा सम-उष्ण कटिबंधीय क्षेत्रों में अवस्थित हैं, जहां सौर ऊर्जा भरपूर मात्रा में मिलती है। अतएव वहां सौर ऊर्जा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपयोग होगा। लेकिन उक्त क्षेत्रों में ऋतु-विज्ञान केन्द्रों का एक जाल-सा न बिछ जाय तब तक सौर शक्ति स्रोतों का मूल्यांकन करने के लिए इन्तजार ही करना पड़ेगा।

नयी सामग्रियों से प्रगति

सौर ऊर्जा प्राप्ति के लिए मुख्य खर्च परावर्तक अथवा अभिग्राहक का है। विचार-विमर्श के दौरान उनकी प्रारम्भिक लागत कम करने और क्षमता में सुधार लाने की आवश्यकता पर बल दिया गया। सस्ते और प्रभावशाली परावर्तनशील तथा अवशोषक पृष्ठों एवम् पारदर्शक ढक्कनों के विकास में तीव्र प्रगति हो रही है। सूर्य की रोशनी को सीधे विद्युत ऊर्जा में संपरिवर्तित करने की दिशा में उल्लेखनीय विकास हुआ है। प्रकाश-विभव सैल, जैसा आज से दस वर्ष पूर्व था उससे कहीं एक-सौ गुना अच्छा है। नयी सामग्रियों की दिशा में प्रगति करना और प्रतिष्ठित सामग्रियों का अनुकूलन सौर ऊर्जा के अधिक उपयोग की कुंजी है। नभ-यानों के क्षेत्र में हुए विशाल अनुसंधान के परिणाम स्वरूप ऐसे विकास हुए हैं जो सौर शक्ति की प्रविधि के लिए उपयोगी हैं।

सौर ऊर्जा अनुसंधान के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की आवश्यकता है। फिलहाल यह उन्हीं देशों में चल रहा है, जिन्हें इसकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। यद्यपि अविकसित देशों में वित्तीय और प्राविधिक साधन-स्त्रोत नहीं हैं, लेकिन वे चिर विस्तृत पैमाने पर क्षेत्रीय परीक्षण के लिए क्षेत्र प्रस्तुत कर सकते हैं। यद्यपि प्रथम विनियोजन के रूप में सौर शक्ति इकाइयां अब भी प्रारम्भिक विनियोजन के लिए काफी महंगी पड़ती हैं, फिर भी वे विशुद्ध स्थानीय आवश्यकताओं के लिए लघु स्तर पर सर्वाधिक व्यावहारिक सिद्ध होती दीखती हैं।

शक्ति-जनन

सम्मेलन का एक प्रधान विषय था सौर ऊर्जा से शक्ति का जनन। शक्ति जनन के प्रति दो उपागमों पर विचार हुआ—एक भाप से चलनेवाले इंजिनों पर आधारित था और दूसरा सूर्य की रोशनी को सीधे ही विद्युत शक्ति में संपरिवर्तित करने पर। इजराइल के डाक्टर हेनरी तॅबोर (Henry Tabor) द्वारा प्रस्तुत समाधान से अच्छे परिणाम प्राप्त हुए हैं। कार्यकारी माध्यम के रूप में प्रांगारिक गैस का इस्ते-माल, वर्तुल परावर्तक और स्फीतियोग्य प्लास्टिक के गुब्बारे जैसी नालियों के भीतर नलकाकार अभिग्राहकों का समावेश तथा एक ऐसी उष्मा-भाण्डारीकरण पद्धति जैसी कई नयी बातें शामिल हैं, जो न्यून भार पर रात्रि में चलती रहे। अनेक स्थानों में इस प्रकार का संयंत्र डटकर प्रति स्पर्धा कर सकता है। सौर ऊर्जा के अभिग्राहक रूप में सौर तालाब का विकास अपनी प्रारम्भिक अवस्था में है। यदि उक्त विकास सफल हुआ तो यह सौर शक्ति को बड़े-बड़े तापीय तथा हाइड्रो-इलेक्ट्रिक बिजली घरों से प्रतिस्पर्धा करनेवाली लागत में ही मेगावाट (१,००० किलोवाट) के स्तर पर ला खड़ी करेगा।

अन्तरिक्ष अन्वेषण की प्रेरणा के अन्तर्गत सौर ऊर्जा को सीधे बिजली में संपरिवर्तित करने का महानतम विकासशील प्रयास प्राप्त हो रहा है। सीधे ही संपरि-

र्वतित कर लेने के लाभ हैं: सरलता, शांति और संचालन की विश्वसनीयता। लागत इसकी बड़ी बाधा है; फिलहाल रेडियो जैसे बहुत ही न्यून भारवाले कामों में इसका उपयोग हो सकता है। लेकिन कई अच्छे कारणों से हम आशावादी रह सकते हैं कि सस्ते समाधान हमारी देहरी पर हैं। तापीय विद्युत जनित्रों के विकास में अच्छी प्रगति हुई है। छोटी-छोटी सौर बिजली इकाइयाँ शीघ्र ही सामने आ सकती हैं, जो छोटे पैमाने पर पानी निकालने, भोजन बनाने व भोजन आरक्षण जैसे कामों के लिए लाभदायक होंगी।

सूर्य की रोशनी को सीधे ही बिजली में बदलनेवाले सौर-सैल या बैटरियाँ व्यावसायिक स्थिति प्राप्त कर चुकी हैं, और चिर-विस्तृत बाजार उनके सामने है। जहाँ-कहीं बहुत ही कम 'वाटों' की जरूरत होती है, वहाँ इनका उपयोग फैलता जा रहा है। उदाहरण के लिए गाँवों में 'रेडियो लाउड स्पीकरों' के लिए उक्त उपयोग होता है। फिलहाल उनकी लागत ज्यादा है—प्रति किलोवाट करीब पाँच लाख रुपये—लेकिन कुछ ही वर्षों में वह कम होकर किफायती स्तर पर आ सकती है।

ग्रामीण क्षेत्रों में उपयोग

सौर शक्ति का ग्रामीण क्षेत्रो में लघु स्तर पर उपयोग हो सकता है। जब तक सौर तालाब अथवा तापीय विद्युत युग्मन सूर्य से दीर्घ स्तरीय शक्ति जनन करने में समर्थ बनने लगें, तब तक उक्त व्यवहारों के विस्तार की आशा करने के कारण हैं। जैसा कि सम्मेलन से प्रकट हुआ है, सौर ऊर्जा का भोजन बनाने के अलावा अन्य कई कामों में उपयोग सम्भव है। सौर शक्ति से उष्मा पहुँचाने के अपवाद स्वरूप अधिकांश उपयोग प्रयोगावस्था में ही हैं।

धूप से प्रशीतन सम्भवतः सर्वाधिक महत्वपूर्ण है; क्योंकि यह उपयोग के लिए उपलब्ध खाद्य-पूर्ति को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है। खुराक की दृष्टि से सर्वाधिक कीमती खाद्य सामग्री सबसे जल्दी बिगडनेवाली भी होती है। हर गाँव में शीत भाण्डारीकरण आदि होने से वहां कोई भी खाद्य सामग्री बेकार नहीं जायेगी अथवा उसका तत्काल प्रशोधन करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। (सामुदायिक प्रशीतकों के साथ बर्मा में एक अच्छा श्रीगणेश किया जा चुका है।) सुखाने के काम में, जो कि सर्व-विदित है, सुधार की पर्याप्त गुंजाइश है। उन्नत तौर-तरीकों और तकनीकों से काफी खाद्य सामग्री बचायी जा सकती है।

पीने के पानी को आसुत बनाने के लिए पारिवारिक इकाइयाँ पहले से ही सर्व विदित और उपलब्ध हैं। फिलहाल उनकी कीमतें ऊंची हैं, लेकिन नयी-नयी सामग्रियाँ और निर्माण के तौर-तरीके अपनाने से वे निश्चय ही नीचे जानेवाली हैं। दीर्घ स्तरीय सौर आसवन की लागत निषेधात्मक यानी बहुत ऊंची है, लेकिन जहाँ शक्ति-जनन के लिए सामुद्रिक जल की उष्णता का प्रयोग किया जा सकता है (क्लॉड प्रक्रिया), वहाँ दीर्घ स्तर पर आसुत जल प्राप्त करना एक उप-उत्पादन मात्र है तथा साथ ही सस्ता भी।

सौर जल ऊष्मक

स्नान और कपड़े धोने के लिए सौर जल तापन का, जापान में विस्तृत पैमाने पर प्रयोग होता है। वहाँ ३० रुपये तथा उससे ऊपर की कीमत पर १,००,००० इकाइयाँ प्रति वर्ष बिकती हैं। प्लास्टिक के समतल यानी सपाट थैले जैसे आकार में, जिनका एक पार्श्व पारदर्शी और दूसरा काला होता हैं, सौर जल ऊष्मक (हीटर) हर छोटे कस्बे में मिलने चाहिए, जहाँ कुछ ही महीनों में ईंधन की बचत के फलस्वरूप उनकी कीमत चुकता अर्थात् बराबर हो जायेगी। ईंधन की बचत करनेवाले होने के कारण वे औद्योगिक देशों में दिलचस्पी पैदा करनेवाले भी हैं। इजराइल में जल-तापन के लिए उनके प्रयोग से पैदा हुई प्रतिस्पर्धा के कारण बिजली की दरें कम करनी पड़ीं।

सौर ऊर्जा से घरों को गर्म और ठंडा रखने का कार्य अभी प्रयोगावस्था में है।

सौर चूल्हे व्यावसायिक क्षेत्र में उतरने के लिए तैयार प्रतीत होते हैं। एक हजार किलोवाट तक की सौर भट्टियां बनायी जा चुकी हैं और उनमें उच्च

तापमान पर प्रशोधन तथा अनुसंधान कार्य करने के अनुपम गुण पाये जाते हैं। पवन और सौर शक्ति की सप्लाई सभी मौसमों में बीच-बीच में रुक जाने अर्थात् उसमें यती आ जाने के प्रति गहरी जागरूकता देखी गयी। विचार-विमर्श ऊर्जा भाण्डारीकरण और जब-कभी वह उपलब्ध हो उसका वास्तविक रूप से उपयोग करने की आवश्यकता पर भी केन्द्रित रहा। काफी दीर्घ काल तक काम देनेवाली सरल और सस्ती बैट्री तैयार करने तथा ईंधन सैलों में बिजली के रूप में संपरिवर्तित करने के लिए दहनशील गैस के रूप में ऊर्जा भाण्डारीकरण की दिशा की ओर सक्रिय अनुसंधान कार्य मोड़ा जाना चाहिए। ऊर्जा भाण्डारीकरण के क्षेत्र में प्रगति होने से सौर और पवन शक्ति से महत्वपूर्ण भूमिका अदा करने की अपेक्षा है।

गाँवों के लिए व्यापक योजना

बीच-बीच में शक्ति पूर्ति में यति आ जाने की समस्या विभिन्न ऊर्जा स्रोतों में संयोजन कर हल की जा सकती है। सौर, पवन और रद्दी सामग्री से प्राप्त ऊर्जा के संयोजन के लिए ग्राम स्तर पर एक व्यापक योजना बनाना सर्वाधिक दिलचस्प प्रस्ताव था। जब पवन अथवा सौर शक्ति उपलब्ध न हो तो भाण्डारीकरण के रूप में रखी हुई रद्दी वानस्पतिक सामग्री से प्राप्त ऊर्जा का इस्तेमाल किया जा सकता है। इन सब का समाधान बहु-स्रोत, सही समय और भाण्डारीकरण के साधनों की दिशा में निहित लगाता है।

नव ऊर्जा स्रोतों का उपयोग बढ़ाने के लिए वैज्ञानिक तथा प्राविधिक अन्वेषण अनिवार्य है। भूतापीय क्षेत्र में भाप के उद्गमों की दिशा में मौलिक अन्वेषण की आवश्यकता है; पवन शक्ति की प्रविधि भी सुविकसित है, लेकिन स्थानीय कच्ची सामग्री तथा कौशल का और अधिक विस्तृत उपयोग करने के लिए उसे स्थानीय अवस्थाओं के अनुकूल बनाया जा सकता है।

जहां तक सौर ऊर्जा का सम्बन्ध है, वैज्ञानिकों को एक लम्बा रास्ता तय करना है, जिसमें अनेक ऐसी चुनौती पूर्ण समस्याएँ हैं, जिनका समाधान नहीं हुआ है। सौर शक्ति के उपयोग में भी सघन विकास की आवश्यकता है, खास कर ऊर्जा भाण्डारीकरण के सवालों के क्षेत्र में। प्रयोगशालाओं व क्षेत्रीय मार्गदर्शी योजनाओं के बीच बेहतरीन पारस्परिक सम्बंधों का होना आवश्यक है।

सौर ऊर्जा का क्षेत्र इतना विस्तृत और काम के लिए गुंजाइश इतनी व्यापक, महान है कि वास्तविक आवश्यकताओं एवम् सम्भाव्यताओं के सम्बन्ध में सुव्यवस्थित रूप से अन्वेषण के प्रत्याशित उज्ज्वल परिणामों, लक्ष्यों की छंटनी करनी होगी। सम्मेलन में सुझाया गया कि राष्ट्र संघ के शैक्षणिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संगठन अथवा प्रयुक्त सौर ऊर्जा संगठन (एसोसिएशन फॉर अप्लाइड सोलर इनर्जी) दोनों को संयुक्त रूप से सम्मेलन के कार्य का अनुसरण करना चाहिए, सर्वाधिक प्रत्याशित अन्वेषण परियोजनाएँ तैयार करनी चाहिए तथा सौर क्षेत्र में होनेवाले प्रयासों के मध्य अधिक प्रभावशाली समन्वय के लिए आधार प्रदान करना चाहिए।

सम्मेलन ने स्पष्ट रूपेण सौर, पवन और विशेष रूप से भू-तापीय ऊर्जा की प्राप्ति के सम्बन्ध में अधिक जानकारी की आवश्यकता प्रकट की। नव ऊर्जा तक्नीकों को विस्तृत रूप से अपनाने के लिए सम्मेलन में भाग लेनेवाले अनेक प्रतिनिधियों ने माप-तौल उपकरणों और औजारों में स्तरीयकरण प्रस्थापित करने की आवश्यकता स्वीकार की।

मार्गदर्शी केन्द्रों की स्थापना

सम्मेलन में एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण सुझाव सामने यह आया कि ऐसे अल्प-विकसित, ऊर्जा की दृष्टि से गरीब क्षेत्रों में मार्गदर्शी केन्द्र और प्रयोग केन्द्र स्थापित किये जायें, जहाँ पवन तथा धूप पर्याप्त मात्रा में मिलती है। ये केन्द्र सौर अथवा पवन मापक उपकरणों का वितरण, उनके उपयोग की व्यवस्था व देख-रेख कर सकते हैं, स्थल के चुनाव व उपयुक्त उपकरणों सम्बन्धी जानकारी प्रस्तुत कर सकते हैं और वास्तविक कार्य-संचालन के अन्तर्गत सामान्यतः प्राविधिक समस्याओं का स्पष्टीकरण एवम् समाधान प्रस्तुत कर सकते हैं। मार्गदर्शी केन्द्रों से अनुसंधान कार्यकर्त्ताओं का अधिक आदान-प्रदान भी सहल बनेगा।

सम्मेलन में आशा व्यक्त की गयी कि राष्ट्र संघ तथा उसके विशिष्ट माध्यम नव ऊर्जा स्रोतों के अध्ययन व प्रयोग में अधिक सक्रिय भूमिका अदा करेंगे। (**स्रोत**: सन् १९६१ में रोम में 'न्यू सार्सेज ऑफ् इनर्जी' पर हुए राष्ट्र संघीय सम्मेलन का प्रतिवेदन।)

८ मार्च १९६३

कपास उत्पादन में झुकाव

रामचन्द्र मो. रानडे

रेशे की लम्बाई, उसकी मजबूती और प्रति एकड़ उपज, इन तीनों बातों का ध्यान रखते हुए हमारे कपास उत्पादन कार्यक्रम को एक ऐसा विवेकपूर्ण आधार प्रदान करना पड़ेगा कि उससे कपास उत्पादक तथा उपभोक्ता का हित-साधन भी हो सके। कपास की उपयुक्त किस्मों की खेती करने के लिए कृषकों को प्रोत्साहित करने में खादी संस्थाएं महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती हैं।

कपास उत्पादक देश के रूप में भारत की स्थिति विश्व कपास उत्पादन की पृष्ठभूमि में अच्छी तरह समझी, पहचानी जा सकती है, उस पर विचार किया जा सकता है। अन्य देशों के समक्ष कपास की खेती के अन्तर्गत भारत में सर्वाधिक जमीन है। कुल ७,७०,७१,००० एकड़ भूमि के लगभग २५ प्रति शत पर कपास की खेती होती है। फिर भी, विश्व के ३ करोड़ ८० लाख गाँठ कपास उत्पादन का मात्र दशमांश का ही यानी ४० लाख गाँठों का उत्पादन ही भारत में होता है। प्रति एकड़ रुई (लिण्ट) उत्पादन की शब्दावली में कपासान्तर्गत भारतीय भूमि में प्रति एकड़ उपज १०० पौण्ड रुई है, जबकि विश्व औसत उत्पादन अर्थात् उपज २४० पौण्ड प्रति एकड़ है। देश विभाजन के फलस्वरूप पूर्ति स्थिति पर बहुत बुरा असर पड़ा। उस समय रेशों की लम्बाई के अनुसार उत्पादन तथा उपभोग की जो सामान्य स्थिति थी, वह नीचे तालिका १ में दी गयी है।

सन् १९५०-५१ के दरमियान उत्पादन में ३५ प्रति शत वृद्धि हुई। उत्पादन कार्यक्रम से केवल लम्बे रेशे और मध्यम रेशेवाली किस्मों को ही बढ़ावा मिला, जिनमें क्रमशः १३१ तथा २३ प्रति शत वृद्धि हुई। छोटे रेशेवाली किस्मों के उत्पादन में २१ प्रति शत गिरावट आयी। अनुवर्ती वर्षों में प्रयास मुख्यतः लम्बे रेशे की कपास यानी रुई का निर्यात कम करने की ओर रहा।

तालिका १

रुई उत्पादन और उपभोग

(लाख गाँठ में, प्रति गाँठ = ३६२ पौण्ड)

रेशा	उत्पादन	उपभोग			
		भारत	पाकिस्तान	अन्य देश	कुल
लम्बा (७/८ और ऊपर)	४.५	३.६	४.२	७.०	१५.१
मध्यम (७/८ से ११/१६ तक)	१३.०	१२.५	५.६	—	१८.१
लघु (११/१६ और कम)	८.५	५.४	—	—	५.४
	२६.०				३८.६

लम्बे रेशे की कपास के उत्पादन में वृद्धि (अ) कपास की खेती के अन्तर्गत क्षेत्र का विस्तार करके; और (आ) सिंचाई सुविधाओं की व्यवस्था, अन्य फसलों के साथ मिश्रित रूप में कपास की बोआई, खाद देने, उन्नत बीजों का इस्तेमाल, पौधे की रक्षा तथा खेती के उन्नत तरीके अपनाने जैसे सघन कृषि उपायों का व्यवहार करते हुए की जाने की अपेक्षा थी। सन् १९५१ से १९५६ तक के उत्पादन आंकड़ों से पता चलता है कि उत्पादन वृद्धि कपास की खेती के अन्तर्गत क्षेत्र का विस्तार कर (खाद्यान्न फसलों के अहित में) की गयी है। सघन कृषि कार्यक्रम की सफलता केवल प्रति एकड़ उपज में वृद्धि से ही आँकी जा सकती है। तालिका २ (पृष्ठ : ४९२) से पता चलेगा कि १९५०-५१ और १९५५-५६ तक की अवधि में प्रति एकड़ उपज में वृद्धि नहीं हुई।

प्रति एकड़ उपज

मध्यम लम्बाई के रेशेवाली कपास की प्रति एकड़ उपज सबसे कम थी, जबकि उसकी खेती ४६ प्रति शत क्षेत्र में होती थी। इस किस्म की कपास की खेती के अन्तर्गत भूमि का क्षेत्रफल प्रति वर्ष बढ़ता जाता है। छोटे रेशेवाली कपास की प्रति एकड़ उपज मध्यम रेशेवाली कपास से बेहतर है, पर उसकी कृषि के अन्तर्गत भूमि नहीं बढ़ने दी गयी है, बल्कि इसके विपरीत उक्त किस्म की खेती समाप्त करने की नीति है। लम्बे रेशे की उपज छोटे रेशेवाली कपास से कुछ ज्यादा है, लेकिन यह श्रेष्ठता मुख्यत: सिंचाई सुविधाएँ प्रदान किये जाने के कारण है।

लम्बे रेशे की कपास के उत्पादन को सरकार प्रोत्साहन दे रही है। सरकारी विभाग कृषकों के लिए उन्नत बीजों यानी बिनौलों की व्यवस्था करने की कोशिश करते हैं, लेकिन बिनौलों का मुख्य बाजार स्वतंत्र व्यापारियों के हाथ में है। इसलिए उत्पादित कपास की किस्मों पर नियंत्रण रखना मुश्किल बन जाता है। कभी-कभी तो उपज इतनी नीची होती है कि कृषकों को कपास की खेती से ही नमस्कार करना पड़ता है। व्यापारियों को कोई हानि नहीं पहुँचती, बेचारे कृषकों को ही नुकसान उठाना पड़ता है, उन्हें ही सहन करना पड़ता है, वे ही घाटे में रहते हैं! व्यापारियों को केवल अपने व्यवसाय के परिमाण से ताल्लुक है, कृषि कार्यों की उन्हें कोई चिन्ता नहीं। इसका परिणाम होता है रुई का अकाल और विदेशों से आयात पर निर्भरता!! फलत: देश का विदेशी विनिमय स्रोत खाली होने लगता है।

एक बुनियादी बात ध्यान में रखनी है कि सरकार द्वारा केवल उन्हीं किस्मों का प्रवर्तन होना चाहिए, जिनसे किसान को एक उपयुक्त लम्बी अवधि तक कमाई हो सके। वास्तविक आय, मात्र रेशे की लम्बाई से ही नहीं, बल्कि प्रति एकड़ रेशे की उपज से भी नियंत्रित होती है। फिलहाल दौड़ केवल रेशे की लम्बाई के पीछे ही है। उपज और रेशे की मजबूती पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है। यदि कपास उत्पादन एक विवेकपूर्ण आधार पर करना है तो उक्त सभी तीनों पहलुओं को ध्यान में रखना होगा। प्रत्येक कपास सम्भाग के लिये सर्वोत्तम किस्मों का चुनाव करने हेतु कुछ अन्वेषण व परीक्षण करने होंगे।

उपयुक्त सूचकांक

निम्न समीकरण कपास की किसी विशिष्ट किस्म के सम्बन्ध में एक उपयुक्त सूचकांक प्रस्तुत करता है:

किसी किस्म की उपयुक्तता का सूचकांक = प्रति एकड़ रेशे की उपज × क१ औसतन रेशा लम्बाई × क२ रेशे की प्रति लम्बाई इकाई का औसत वजन।

रेशों की लम्बाई कताई और सूत की लम्बाई से सम्बन्ध रखती है, जबकि रेशे की प्रति लम्बाई इकाई का वजन उसकी परिपक्वता तथा कपड़े के टिकाऊपन से सम्बन्ध रखता है। विशेषज्ञों द्वारा क१ और क२ का वास्तविक मूल्य निर्धारण किये जाते वक्त इन दोनों पहलुओं का सापेक्षिक महत्व ध्यान में रखना

तालिका २

कपास की कृषि के अन्तर्गत भूमि और प्रति एकड़ उपज

रेशा	१९५०–५१ एकड़ (हजार में)	१९५०–५१ उपज*	१९५१–५२ एकड़ (हजार में)	१९५१–५२ उपज*	१९५२–५३ एकड़ (हजार में)	१९५२–५३ उपज*	१९५३–५४ एकड़ (हजार में)	१९५३–५४ उपज*	१९५४–५५ एकड़ (हजार में)	१९५४–५५ उपज*	१९५५–५६ एकड़ (हजार में)	१९५५–५६ उपज*	औसत (हजार एकड़ में)	औसत उपज (प्रति एकड़ पौण्ड में)
लम्बा (७/८ और ऊपर)	३,४१६	८०	४,८३९	७८	४,५२१	८०	५,९४५	९६	६,०८०	१००	६,९६५	९०	५,२९४	८८
मध्यम (७/८ से ११/१६ तक)	७,५६३	७६	७,०७१	६८	७,४४८	७४	७,६००	८६	८,६८४	८७	९,३१३	७६	७,९४६	७८
लघु (११/१६ और कम)	३,५७७	९३	४,२८८	९२	३,७२४	८९	३,६३७	९५	३,९२०	८०	३,९५२	६७	३,८४२	८६
योग	१४,५५६	८०	१६,१९८	७७	१५,६९३	७९	१७,१८२	९२	१८,६८४	९०	२०,२३०	७९		

* प्रति एकड़ रुई की उपज, पौण्ड में।

पड़ेगा। उपयुक्तता के श्रेष्ठ सूचकांकवाली किस्म को तरजीह देनी चाहिए। वर्तमान बाजार की कार्य-प्रणालियों में आमूल परिवर्तन करना होगा। सरकारी नीति उत्पादक और उपभोक्ता के हितों को ध्यान में रखते हुए नियंत्रित होनी चाहिए।

खादी उद्योग में अम्बर चरखे के आगमन से लम्बे रेशेवाली कपास अथवा रुई की माँग बढ़ गयी है। इस परिवर्तन पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है। फिर, रुई खरीद करनेवाली संस्थाओं के प्रतिनिधियों ने रुई व्यवसाय का काफी अनुभव प्राप्त कर लिया है और उन्होंने समझ लिया है कि किस तरह कपास उत्पादकों के हितों का ध्यान रखा जाता है। यह सुझाव दिया जाता है कि अब वह समय आ गया है, जब कि कपास उत्पादकों से सीधा सम्पर्क स्थापित किया जाय और साफ रुई प्राप्त करने के उद्देश्य से ओटाई तथा दबाई एवम् कपास चुनाई के तरीकों में सुधार करने का कार्य भी संगठित करने के लिए उनकी सहकारी समितियाँ बनायी जायें।

खादी संस्थाओं को अपना उत्पादन कार्यक्रम बनाते तथा उसे कार्यान्वित करते समय इन बातों का ध्यान रखना चाहिए :

१. केवल उन्हीं किस्मों की खरीद करनी चाहिए, जिनसे जमीन का विवेकपूर्ण उपयोग किया जा सके, फिर बाजार में उनकी कीमतों में चाहे जो भी उतार-चढ़ाव आये।

२. सुगठित क्षेत्रों में कपास उत्पादकों पर प्रमाणित किस्मों की खेती करने की आवश्यकता और पत्तियों जैसी सामग्री से रहित साफ रुई मुहैया करने के लिए जोर डाला जाना चाहिए। यदि आवश्यक हो तो कपास उत्पादकों की सहकारी समितियां बनायी जा सकती हैं, जो अपने सदस्यों से कपास खरीदें और कमीशन के आवश्यकतानुसार औटाई-दबाई की व्यवस्था करें।

३. खादी संस्थाओं का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वे वृक्ष कपास तथा उपयुक्त स्थानीय किस्मों की उपास लगाने के लिए प्रोत्साहन दें।

१८ अगस्त १९६२

शहरी परिवारों के लिए गैस

दत्तात्रेय ना. वान्द्रेकर

हमारे देश के शहरों में बसनेवाली एक-तिहाई आबादी तथा समूची ग्रामीण जन-संख्या के लिए जितने जलावन की आवश्यकता है, उसकी पूर्ति, मल-मूत्र, गोबर तथा प्रांगारिक रद्दी पदार्थों से मीथेन गैस तैयार कर की जा सकती है।

श्री भवानीशंकर कोलपे ने ३० सितम्बर १९६२ के 'भारत ज्योति' (बम्बई से प्रकाशित) के अंक में **दि वेल्थ वी डिस्कार्ड** (सम्पत्ति जिसका हम परित्याग करते हैं) नामक एक रोचक और सूचनात्मक लेख लिखा था। लेख में ईंधन-गैस का विवरण दिया है। लेखक के मतानुसार बम्बई शहर के कूड़े-कचरे से गैस तैयार की जा सकती है और वह घरों में भोजन बनाने में प्रयुक्त की जा सकती है। यदि नगर निगम आवश्यक संयंत्र और उपकरणों पर लगभग २५ करोड़ रुपये खर्च करे तो उसे कूड़े-कचरे से तैयार गैस और खाद से ढ़ाई करोड़ रुपये वार्षिक आय हो सकती है। अभी इस कूड़े-कचरे का उपयोग बम्बई के एक उपनगर देवनार के निचले क्षेत्रों को भरने में किया जाता है। राष्ट्रीय सम्पत्ति की यह बहुत बड़ी बर्बादी है।

रद्दी से रुपया

नित्य प्रति ईंधन की समस्या ग्रामीण और शहरी दोनों क्षेत्रों में विकट होती जा रही है। इस ईंधन की समस्या को हल किया जा सकता है, यदि देश भर के प्रांगारिक कचरे और रद्दी वस्तुओं से गैस-ईंधन जिसे मीथेन गैस भी कहते हैं, तैयार की जाय तो वह लकड़ी के कोयले, कण्डे, मिट्टी के तेल आदि जैसे सामान्य ईंधन के स्थान पर भोजन बनाने के लिए प्रयुक्त की जा सकती है। ग्रामीण क्षेत्रों के ३५ करोड़ मनुष्यों के मल-मूत्र; २० करोड़ पशुओं के गोबर; साढ़े पाँच लाख गाँवों के कचरे का जमाव प्रति दिन ४ अरब ३५ करोड़ घनफुट होगा। देश की इस ३५ करोड़ जन-संख्या के भोजन पकाने हेतु प्रति व्यक्ति १२.५ धनफुट की दर से प्रति दिन औसतन ४ अरब १० करोड़ घनफुट कचरे की आवश्यकता है। यदि ग्राम पंचायतें यह कार्यक्रम अपनायें तो उन्हें अपने क्षेत्रों में ग्रामीण जनता के लाभार्थ जरूरी संख्या में सण्डासों की व्यवस्था करने और एक या अधिक गैस संयंत्र लगाने में कोई दिक्कत न होगी। अपेक्षित गैस के उत्पादन के लिए गाँव के सब गोबर और अन्य प्रांगारिक कचरे का भी उपयोग इन संयंत्रों में करना चाहिए।

ईंधन की कमी

यह सुझाया गया है कि गाँव की ईंधन की आवश्यकता की पूर्ति तथा जलावन की कमी दूर करने के लिए प्रत्येक गाँव में ग्रामीण वन बनाया जाय। किन्तु इन वनों से गाँवों की ईंधन की समस्या का समाधान हो जायेगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह समस्या आधुनिकतम वैज्ञानिक साधनों के जरिये गाँव के कूड़े-कचरे से तैयार गैस का प्रयोग करके ही हल की जा सकती है।

देश के नगर क्षेत्रों के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि ईंधन-गैस के उत्पादन में वे स्वावलम्बी होंगे अथवा नहीं; क्योंकि इस सम्बन्ध में कोई आंकड़े प्राप्य नहीं हैं। यहाँ बम्बई नगर की आवश्यकता पर विचार किया जा रहा है। कुछ आंकड़ों के आधार पर यह अनुमान है, पर है ध्यान देने लायक। बम्बई नगर की जन-संख्या ४० लाख है। अतः प्रति दिन मल-मूत्र से ४० लाख घनफुट गैस तो मिल ही सकती है। इसके अलावा दुधारू पशु, अन्य जानवरों जैसे घोड़े, बैलों आदि—जिनकी संख्या लगभग दो लाख है—के गोबर से तैयार की गयी गैस जोड़ दीजिये। इसके जरिये प्रति दिन लगभग ३० लाख घनफुट गैस प्राप्त होगी। श्री कोलपे की गणना के अनुसार कूड़े-कचरे से १ करोड़ २५ लाख

घनफुट गैस प्रति दिन प्राप्त होगी। इस प्रकार कुल उपलब्ध गैस १ करोड़ ९५ लाख घनफुट होगी। भोजन बनाने के लिए गाँवों में प्रति व्यक्ति १२.५ घनफुट की अपेक्षा शहर में प्रति व्यक्ति औसतन १५ घनफुट गैस की आवश्यकता मान लीजिये। बम्बई नगर के लिए इस प्रकार लगभग ६ करोड़ घनफुट गैस की आवश्यकता होगी, जबकि मुश्किल से २ करोड़ घनफुट ही गैस प्राप्त होगी, जोकि नगर की एक-तिहाई जन-संख्या के भोजन बनाने के लिए पर्याप्त होगी।

इसी प्रकार अन्य नगरों और कस्बों के स्थानीय कूड़े-कचरे से तैयार गैस से वहाँ की एक-तिहाई जन-संख्या अपनी ईंधन सम्बन्धी जरूरतों को पूरा कर सकती हैं। इस प्रकार देश के नगर क्षेत्रों में दो-तिहाई संख्या अर्थात् लगभग छः करोड़ लोगों के लिए ईंधन की समस्या है, जबकि ग्रामीण क्षेत्रों के ३५ करोड़ लोगों की समस्या स्थानीय कूड़े-कचरे से तैयार गैस से पूरे तौर पर हल हो सकती है। वैज्ञानिक प्रगति के आधुनिक युग में इन छः करोड़ लोगों की ईंधन की समस्या का समाधान कठिन नहीं है। इस समस्या के हल करने में तेल शोधक कारखानों में तैयार गैस, भूमि तल से प्राप्त प्राकृतिक गैस, विद्युत शक्ति और आणविक केन्द्रों से बड़ी मदद मिल सकती है। इस दिशा में प्रयास जारी है।

प्रमुख कठिनाई तो यह है कि हमारी सरकारें इस समस्या को हल करने के लिए नगरों और गाँवों के कूड़े-कचरे से तैयार गैस के सम्बंध में विश्वास करती प्रतीत नहीं होतीं। अन्यथा इस विषय पर तृतीय पंच वर्षीय योजना पर लिखित ७०० पृष्ठों से भी अधिक की रिपोर्ट में अवश्य ही इसके लिए कुछ वितरण होता। तृतीय योजना के लिए प्रस्तावित १०,००० करोड़ रुपये में इस कार्य के लिए कोई रकम निर्धारित नहीं की गयी है। किन्तु यह कमी दूर की जा सकती है। जरूरत है इस कार्यक्रम के लिए ठोस जनमत तैयार करने की। हमारी केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें दोनों ने इस क्षेत्र में बड़ा महत्वपूर्ण कदम उठाया है अर्थात् विशेष मंत्रियों की देख-रेख में नगर विकास के लिए विशेष पद का निर्माण किया है। वे इस समस्या का हल निकाल सकते हैं।

गैस संयंत्र के अन्य लाभों का जिक्र मैंने जानबूझ कर नहीं किया है। जैसे इनसे बड़ी मात्रा में प्राप्त तैयार खाद और गंदा पानी, जोकि निकटस्थ क्षेत्रों में कृषि विकास के काम आ सकता है; साथ ही विज्ञान-मानस तैयार होगा, जोकि हमारी प्रगति के लिए परमावश्यक है। ये अतिरिक्त लाभ भी बड़े ही मूल्यवान हैं तथा इन्हें शहरी नगरपालिकाओं को गैस-संयंत्र स्थापित करने के लिए और प्रोत्साहन प्रदान करना चाहिए।

२७ दिसम्बर १९६२ ●

पश्चिम बंगाल की सिंचाई-व्यवस्था सघन कृषि उत्पादन के लिए पर्याप्त नहीं है, नहर सिंचाई–और खास तौर से सरकारी नहरों से जिनका रख-रखाव अच्छी तरह होता है–किसी दूसरी प्रकार की सिंचाई की अपेक्षा अधिक उत्तम है। यद्यपि पश्चिम बंगाल में करीब ५४ प्रति शत भूमि की सिंचाई नहरों से होती है, तथापि सरकारी नहरों से सिंचाई होनेवाली भूमि का अनुपात सबसे कम है। सरकारी नहरों से सिंचाई अधिकतर बर्दवान, बीरभूम और मिदनापुर में होती है, जबकि निजी नहरों से सिंचाई मिदनापुर और जलपाईगुड़ी क्षेत्रों में सकेन्द्रित है। कुओं से सिंचाई का कुछ महत्व कूच बिहार क्षेत्र में ही है। कुल जितने क्षेत्र की सिंचाई होती है, उसमें करीब ९८ प्रति शत हिस्सा चावल और कुछ दूसरी छोटी-मोटी खाद्य फसलों का है तथा ०.९ प्रति शत गन्ने की फसल का। फिर भी, धान की फसल के अन्तर्गत जितना क्षेत्र है उसके २३ प्रति शत और गन्ने की खेती के ४५ प्रति शत की ही सिंचाई होती है।

—*टेक्नो–इकनॉमिक सर्वे ऑफ् वेस्ट बंगाल* : नेशनल कॉउन्सिल ऑफ् अप्लाइड इकनॉमिक रिसर्च, नयी दिल्ली।

इन्काओं में सामाजिक आयोजन

दक्षिण और मध्य अमेरिका के इन्का भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार के सिद्धान्त में विश्वास नहीं करते थे। उनके विचार से अन्न-दात्रि भूमि सभी की है। इन्का सूतकारों और बुनकरों की कोई अपनी सामग्री नहीं होती थी। वे जो कपड़ा बुनते, उसकी बिक्री भी नहीं करते थे। वस्त्रोत्पादन का आयोजन बड़ी सावधानी से किया जाता था, ताकि समुदाय के प्रत्येक व्यक्ति को काम और वस्त्र दोनों की प्राप्ति हो सके।

यद्यपि इन्काओं की कताई और बुनाई पद्धतियाँ उन देशों के समान ही हैं, जिनका हमने अध्ययन किया है, लेकिन उनका वस्त्रोद्योग उत्पादन आयोजन अन्य देशों से भिन्न है, जिसका यहाँ जिक्र करना वांछनीय है। इन्का, भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार के सिद्धान्त में विश्वास नहीं करते। उनके विचार से अन्न-दात्रि भूमि सभी की है। प्रति वर्ष कृषि भूमि कामगारों में विभाजित की जाती थी। पिछले वर्ष जिस कृषक ने जमीन के साथ न्याय नहीं किया हो अर्थात् अपनी सामर्थ्य के अनुसार भूमि का सर्वोत्तम लाभ न उठाया हो उसे त्रास दिया जाता था, मनस्ताप करना पड़ता था। कुछ जमीन पादरियों और धार्मिक अनुष्ठानों के लिए अलग रखी जाती थी, कुछ हिस्सा ऐसे व्यक्तियों के पालन-पोषण के लिए रखा जाता था, जो बहुत वृद्ध अथवा बीमारी के कारण काम करने में असमर्थ होते थे या ऐसे व्यक्तियों के परिवारों में होते थे जो सार्वजनिक कर्तव्यवश घर से दूर हों, सड़क-निर्माण में लगे हों अथवा फिर सैनिक कार्य कर रहे हों। एक तिसरा हिस्सा राष्ट्र शासकों–इन्का और उसके सरदार–के भरण-पोषण के लिए रखा जाता था, जो राज-काज में व्यस्त रहते थे। कृषक को अपनी जमीन की ओर मुड़ने से पहले उस भूमि पर काम करना पड़ता था, जो गिरि-जाघर और गरीबों के लिए रख छोड़ी गयी हो! इसके बाद वह अपनी फसल बोने के लिए स्वतंत्र था, तत्पश्चात् वह इन्का भूमि पर अपना नियत समय देता था।

इन्का सूतकार और बुनकरों का अपनी सामग्री पर स्वामित्व नहीं होता था। जो कपड़ा वे तैयार करते थे, उसे बेचते नहीं थे। वे वस्त्रोपयोगी रेशों का इस्तेमाल करते थे, जिस पर जनता का अधिकार होता था। वे जो कपड़ा तैयार करते, वह अन्य कार्यकर्त्ताओं में वितरित कर दिया जाता था। वे कार्यकर्त्ता इसके बदले सूतकारों व बुनकरों के लिए आवश्यक खाद्य तथा अन्य वस्तुएँ पैदा करते थे। वस्त्रोत्पादन का आयोजन बड़ी सावधानी से किया जाता था, ताकि समुदाय के प्रत्येक व्यक्ति को काम और वस्त्र दोनों की प्राप्ति हो सके। स्पेन द्वारा विजय प्राप्त करने के पश्चात् स्पेनी और रेड इण्डियनों के खून से पैदा हुए व्यक्तियों द्वारा लिखित रिकार्डों से पता चलता है कि यह काम किस तरह होता था।

पशुओं को जाल में फँसाना

रेड इण्डियन पहाड़ों की ऊंचाई में रहते, वहाँ अपने पालतू इलमों की देख-भाल करते और ऊन कताई के समय उन्हें नीचे शहरों की ओर ले जाते थे। उनसे ऊन काटने के बाद गडरियों ने जो कुछ कमाया हो उससे अनाज तथा अन्य आवश्यक वस्तुएँ खरीद, इलमों पर लाद; फिर वापिस पहाड़ों पर चले जाते थे। यहाँ तक कि जंगली इलमों से भी ऊन उतारते थे। वर्ष में एक बार बड़ी शिकार की जाती थी। सम्भवतः कोई ५०,००० व्यक्ति एक घेरा बनाते थे, जो धीरे-धीरे एक सँकड़ी घाटी में कम होता जाता। घाटी के एक छोर पर जाल लगाये हुए रखते थे। इस घाटी में अनेक जानवर फँसाये जाते, जैसे इलमा, विकुना, लोमड़ी, खरगोस आदि। खतरनाक जानवरों को मार दिया जाता था। जो खाने के काम आ सकते हों, उन्हें निस्संदेह खाया जाता।

इलमा और विकुनों का ऊन कतरा जाता था, तत्पश्चात् उन्हें स्वतंत्र विचरण के लिए छोड़ दिया जाता, जो उन्हें अवश्य एक अनोखी बात लगती होगी।

सार्वजनिक भण्डार जब ऊन से भरने लगते तब, सरकारी अधिकारी आवश्यक वस्त्र तथा प्रत्येक बुनकर के अपेक्षित काम का सर्वेक्षण करते थे। इस योजना के अनुसार ऊन दिया जाता था। सरकारी अधिकारी समय-समय पर बुनकरों का निरीक्षण करते रहते थे। जब वस्त्र बुन कर तैयार हो जाता तो उसे बाँट लिया जाता। बुनकरों को अपना हिस्सा मिलता, शेष उन अन्य व्यक्तियों को दिया जाता, जो इस बीच कोई दूसरे काम करते थे।

बुनाई के सुन्दर नमूने

इन्का और उसके सरदार आला दर्जे के विकुना ऊन से बने वस्त्र पहनते थे। चूँकि इन्का को ईश्वर का अवतार माना जाता था, इसलिए उसकी पोशाक साधारण कारीगर नहीं तैयार करते थे। इस पवित्र कार्य के लिए गोरी से गोरी युवतियों का चुनाव होता था और उन्हें देवालयों के समीप 'विहारों' में प्रशिक्षित किया जाता था! संग्रहालयों में 'पेरूवियन' बुनाई के जो सर्वोत्तम सुन्दर नमून आज देखने को मिलते हैं वे सम्भवतः इन्हीं प्रशिक्षित कुशल कारीगरों द्वारा तैयार किये गये थे। वे कारीगर सदैव ही व्यस्त रहते थे, क्योंकि इन्का एक पोशाक एक ही बार पहनता था, बाद में उसे भण्डार में रख दिया जाता था।

राजकुमारियों द्वारा कताई

शाही खानदान की राजकुमारियाँ भी कताई-बुनाई सीखती थीं! यह रिवाज था कि जब वे अपने मित्रों से मिलने जायें तो यह काम करती रहें! फिर भी, यदि कोई निचले वर्ग की महिला राजकुमारियों से मिलने जाती तो वह अपना काम घर पर छोड़ देती। कुछ आवभगत की बातचीत के पश्चात् आगन्तुक महिला, राजकुमारी से कोई काम देने का निवेदन करती, ताकि वह उसमें लग जाय और जितने समय ठहरे, करती रहे।

सम्भव है कि इन्काओं द्वारा जिन तरीकों का व्यवहार होता था, वे आज भी दक्षिण अमेरिका की रेड इण्डियन महिलाओं में प्रचलित हों।

—ई. सी. बेती : *मैन इज ए वीवर* (मानव एक बुनकर है) से।

●

कृषि में अर्ध-बेकारी पश्चिम बंगाल की एक गम्भीर समस्या है। इस समस्या के दो पहलुओं—श्रमिकों का गैर-मौसम में बेकार बैठे रहना और अत्यधिक उच्च श्रमिक-भूमि-अनुपात चूँकि—पर तत्काल ध्यान देने की जरुरत है। कृषि-कार्य मौसमी है, इसलिए प्रथम पहलू (मौसमी बेकारी) मिश्रित कृषि (मय दुग्ध उद्योग तथा मुर्गी-पालन) एवम् अन्य सहायक धंधे अपनाकर ठीक किया जा सकता है। दूसरा (उच्च श्रमिक-भूमि-अनुपात) अधिक साजिश भरा है। खेतिहर श्रमिक की उत्पादकता के समूचे सवाल में ही यह सन्निहित है। भावी उद्देश्य यह होना चाहिए कि श्रमिकों को नये उत्पादन कार्यों में लगाकर प्रति श्रमिक उत्पादकता बढ़ाई जाय। इस संक्रमण कालीन स्थिति को सहल बनाने के लिए भावी जन-संख्या-वृद्धि पर आयोजित नियंत्रण होना चाहिए।

—*टेक्नो-इकनॉमिक सर्वे ऑफ् वेस्ट बंगाल*: नेशनल कॉउन्सिल ऑफ् अप्लाइड इकनॉमिक रिसर्च, नयी दिल्ली।

ग्रामीणों के लिए रोजगारी के साधन

प्रवीण चन्द्र नायर

यद्यपि खादी और ग्रामोद्योगों के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति हुई है, किन्तु देश में बढ़ती हुई बेकारी को दृष्टिगत रखते हुए फिलहाल से भी अधिक प्रभावशाली प्रयास करने की आवश्यकता है।

भूतकाल में भारत अपनी समृद्धि के कारण 'सोने की चिड़िया' कहकर पुकारा जाता था और इसके लिए प्रसिद्ध था कि 'भारत में दूध-दही की नदियाँ बहती हैं।' हमारी इस आर्थिक समृद्धि का कारण था यहाँ के फलते-फूलते ग्रामोद्योग। देश में उत्पादित वस्तुएँ इतनी अच्छी होती थीं कि उनकी प्रशंसा दूर-दूर के देशों में फैली हुई थी, जिनसे हमें काफी धन प्राप्त होता था। मशीन युग के प्रादुर्भाव से—दुर्भाग्यवश जोकि उपनिवेशवाद के साथ-साथ हुआ—मशीनों से बनीं विदेशों की सस्ती वस्तुओं की प्रतिस्पर्धा से (और जिनकी यहाँ के बाजारों में भरमार हो गयी थी) भारतीय कारीगरों को अपनी पारम्परिक दस्तकारी छोड़ने पर मजबूर होना पड़ा। फलस्वरूप भारत को न केवल अपने विदेशी व्यापार से ही हाथ धोना पड़ा, बल्कि वह विदेशों में निर्मित माल का आयात-कर्त्ता भी बन गया, जिससे धीरे-धीरे उसका धन विदेशों में जाने लगा और वह आर्थिक दृष्टि से खोखला बन गया। इसका एक परिणाम यह भी हुआ कि जो कारीगर ग्रामोद्योगों में लगे थे, उन्हें अपनी जीविका के लिए कृषि का सहारा लेना पड़ा। आज भी हर दस व्यक्तियों में से सात व्यक्ति खेती पर निर्भर करते हैं।

बेकारी की समस्या

हमारी विशाल जन-संख्या और खेती योग्य उपलब्ध भूमि को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि कृषि सब लोगों को रोजगारी देने में असमर्थ है; और फिर कृषकों का समूचा समय खेती में लगता भी नहीं। वे अधिक समय बिना काम के रहते हैं। इस समय का उपयोग वे दूसरे सहायक धंधों में कर सकते हैं। तीसरी पंच वर्षीय योजना के प्रारम्भ में गाँवों में लगभग पचास-साठ लाख लोग बेरोजगार थे। योजना के दरमियान गाँवों में करीब १ करोड़ १० लाख से लेकर १ करोड़ २० लाख तक काम करने योग्य व्यक्ति और बढ़ जायेंगे, जिन्हें गाँवों में ही काम उपलब्ध कराना होगा। इसके अतिरिक्त सम्भवतः करीब १ करोड़ ५० लाख व्यक्ति और हैं, जो अर्ध-बेकारी से पीड़ित हैं।

ग्रामोद्योग क्यों

बेकारी, भुखमरी एवम् गरीबी ने हमारी ग्रामीण जनता को हतोत्साहित कर दिया है। अतः सभी को लाभप्रद काम दिलाना पड़ेगा। इस प्रश्न का हल शीघ्रातिशीघ्र निकालना होगा। बड़े पैमाने के उद्योग, जिनमें अधिक पूँजी और विदेशी सहायता की आवश्यकता पड़ती है, शायद ही इस समस्या का समाधान कर सकें; क्योंकि वे श्रम की बचत करने-वाली मशीनों का उपयोग करते हैं। अतः छोटे पैमाने के श्रम-प्रधान पारम्परिक ग्रामोद्योग ही मौजूदा परिस्थितियों में सहायक सिद्ध हो सकते हैं; क्योंकि उनमें कम पूंजी की आवश्यकता पड़ती है और किसान अपने अवकास के समय उन्हें अपना सकते हैं। ये ग्रामोद्योग हैं : खादी, तेल-पेराई, अखाद्य तेल और साबुन, अनाज तथा दाल प्रशोधन, ग्रामीण चर्मोद्योग,

ताड़-गुड़, हाथ कागज, मधुमक्खी पालन, ग्रामीण कुम्हारी, बढ़ईगीरी और लोहारगीरी, ग्रामीण रेशा आदि। थोड़े-से समय का प्रशिक्षण प्राप्तकर एक ग्रामीण ये उद्योग अपना सकता है।

राज्य मण्डल

बड़े पैमाने पर रोजगार देने के अतिरिक्त अनाज तथा दाल प्रशोधन, खाद्य तेल, ताड़-गुड़ आदि कुछ ग्रामोद्योगों के पदार्थों में पौष्टिक तत्व भी ऐसे ही उन पदार्थों से ज्यादा होते हैं जो मिलों द्वारा तैयार किये जाते हैं। काफी संख्या में आटा पीसने, धान कुटाई करने और तेल निकालनेवाली मिलों की स्थापना होने से देश में जन-स्वास्थ्य पर भी बुरा असर पड़ा है।

खादी तथा ग्रामोद्योगों की प्रगति की गति में तीव्रता लाने के लिए १९५७ में सरकार ने अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मण्डल का एक विधि-विहित संस्था, खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के रूप में परिवर्तन किया। देश के सभी राज्यों में खादी और ग्रामोद्योग मण्डलों की स्थापना की जा चुकी है। पंजाब राज्य खादी और ग्रामोद्योग मण्डल की स्थापना १९५७ में हुई थी। इसके पूर्व खादी-ग्रामोद्योगों का कार्य पंजाब खादी गामोद्योग संघ, खादी आश्रम, पंजाब प्रदेश रचनात्मक कार्य मण्डल, कस्तूरबा सेवा मंदिर और पंजाब कताई-बुनाई केन्द्र, ये पाँच संस्थाएँ करती थीं। आज भी खादी-ग्रामोद्योग कार्यक्रम चलाने का मुख्य दारोमदार इन्हीं पर है। अपने-अपने कार्यक्षेत्रों में ये संस्थाएँ अपने कार्य-संचालन में राज्य मण्डल से सहायता और मार्गदर्शन प्राप्त करती हैं। इन संस्थाओं के काम में समन्वय लाने और उन्हें प्रोत्साहन प्रदान करने हेतु राज्य मण्डल, और उसकी विभिन्न उप-समितियों में, जिनके जरिये वह अपना कार्य करता है, उन्हें प्रतिनिधित्व प्राप्त है।

इन पंजीकृत संस्थाओं के अलावा सहकारी समितियां भी हैं, जिनको ग्रामोद्योगों का कार्य करने हेतु राज्य मण्डल सहायता देता है। सन् १९६१-६२ में इन पंजीकृत संस्थाओं एवम् सहकारी समितियों ने ३,०५,११,१५८ रुपये मूल्य की वस्तुओं का उत्पादन किया। इसके अतिरिक्त उक्त अवधि में पंजाब में १,६७,३७,०६७ रुपये की खादी का उत्पादन भी हुआ। इस प्रकार खादी और ग्रामोद्योगों का कुल उत्पादन ४,७२,४८,२२५ रुपये का हुआ। इसी वर्ष में २,९४,९३८ व्यक्तियों को खादी एवम् अन्य ग्रामोद्योगों में काम दिया गया। इनमें उन व्यक्तियों की संख्या भी शामिल है, जिन्हें आंशिक तथा आकस्मिक रूप में रोजगारी मिली।

उपभोक्ताओं का सहयोग

पंजाब में, जहाँ हर १,००० व्यक्तियों में से ७८१ लोग गांवों में रहते हैं, बढ़ती हुई पूर्ण और अर्ध-बेकारी को देखते हुए उक्त प्रगति आकर्षक अवश्य लगती है, पर इसी से सन्तोष करके बैठ जाने लायक नहीं अर्थात् प्रयास करते ही रहना चाहिए। सभी लोगों को काम देने के लिए हमें और भी अधिक प्रयत्न करने पड़ेंगे। इस कार्य की पूर्ति के लिए उपभोक्ताओं सहित सभी लोगों का सहयोग अपरिहार्य है। परन्तु इस कार्य में उपभोक्ताओं का योगदान अधिक महत्वपूर्ण है; क्योंकि वे ही हमारे उन ग्रामीण कारीगरों को वास्तविक प्रोत्साहन दे सकते हैं, जो गरीबी और मजबूरन बेकारी से पीड़ित हैं। हमें यह न भूलना चाहिए कि यदि हम एक नये पैसे की भी ग्रामोद्योगी वस्तु खरीदते हैं, तो वह नया पैसा जरूरतमंदों को ही मिलता है। समाजवादी ढंग का समाज स्थापित करने के हमारे आदर्श का क्या कोई इससे अधिक प्रभावशाली मार्ग हो सकता है?

१३ सितम्बर १९६२

चावल पर पालिश करने का प्रभाव

अखिल भारत ग्रामोद्योग संघ के कार्यक्रम में गांधीजी ने जब हाथ धान कुटाई उद्योग भी शामिल किया, तो उनका सर्वाधिक ध्यान चावल के पौष्टिक तत्वों पर ही था।

मानव जाति के ५० प्रति शत से भी अधिक लोगों के मुख्य भोजन में चावल सबसे महत्वपूर्ण है। साठ वर्ष से कुछ पहले जापान की नौ सेना में मिल कुटे चावल के बदले जौ और गेहूं का इस्तेमाल चालू कर वहाँ के एडमिरल तोक्की (Tokki) नौ सेना में बेरीबेरी नामक रोग मिटाने में सफल हुए थे। इस समस्या के समाधान में फ्रेसर, स्टैंण्टन, वेड्डर और ब्रैड्डन सहित अन्य अनेक व्यक्तियों ने काफी योगदान दिया। पालिशदार चावल के स्थान पर मिलों में कम कूटे गये चावल का प्रयोग करने से फिलीपाइन स्काउटों में बेरीबेरी नामक बीमारी एक वर्ष के अन्दर ही दस के बदले एक प्रति शत रह गयी। मद्रास प्रेसीडेन्सी में १९३६-४५ के बीच हुई जाँच से पता चला कि बच्चों में बेरीबेरी की बीमारी जितनी मानी गयी थी उससे काफी ज्यादा थी और वह अधिक बाल-मृत्यु के लिए उत्तरदायी थी। थायामिन की सूई (इन्जेक्शन) लगाकर उसका प्रभावकारी तौर पर उपचार किया गया। उक्त सूई का बड़ा नाटकीय प्रभाव पड़ा। सूई लगाने के बाद १२ से २४ घण्टे के भीतर-भीतर रोगी का उपचार हो गया। सामान्यतः जिन क्षेत्रों में चावल खाया जाता है वहाँ गेहूँ खानेवाले क्षेत्रों से ज्यादा, खुराक की कमी से पैदा होनेवाली पैरों में जलन, मुखार्ति, जिगरी सूत्रण रोग जैसी बीमारियाँ होती हैं।

अक्रॉयड और अन्य व्यक्तियों[1] ने हलरों से तथा मिलों में कूटे गये चावल में पाये जानेवाले थायामिन अथवा विटामिन बी १ का अध्ययन किया। मशीन द्वारा प्रशोधित चावल में करीब ७५ प्रति शत थायामिन तत्व नष्ट हो जाते हैं, जबकि हाथ कुटे चावल में लगभग २५ प्रति शत। किक और विलियम्स[2] ने मिल कुटे तथा हाथ कुटे चावल में विटामिन बी१ तथा बी२ की मात्रा का अध्ययन करके बताया कि उनमें क्रमशः ७५ एवम् ३३ प्रति शत उक्त तत्व नष्ट हो जाते हैं।

महाराष्ट्र के कोलाबा जिले से प्राप्त **कोलम्बा ४२**, पूना जिले से प्राप्त **आमामोर १५७** और रत्नागिरी जिले से प्राप्त **वारंगल** किस्म के चावलों पर विभिन्न अनुपात में पालिश की गयी। तत्पश्चात् थायामिन अथवा विटामिन बी१ और रिबोफ्लेविन अथवा विटामिन बी२ के तत्वों की दृष्टि से उनका परीक्षण किया गया। विटामिनों का स्तरीय तरीकों के अनुसार विश्लेषण किया गया। प्राप्त परिणाम संक्षिप्त रूप में नीचे दिये जाते हैं।

चावल की बनावट

चावल के दाने में तीन हिस्से होते हैं: (१) बाहरी परत अथवा परिकोटा; (२) भीतरी स्टार्चयुक्त गुदा अथवा भ्रूणकोष; और (३) जीवाणु या

१. डब्ल्यू. आर. अक्रॉयड, बी. जी. कृष्णन, एस. पासमूरे और ए. आर. सुन्दरंजन: **इण्डियन मेडिकल रिसर्च मेमोयर,** १९४०; **पृष्ठ :** ८४।

२. एम. सी. किक और आर. विलियम्स: **नेशनल रिसर्च कॉउन्सिल बुलेटिन नम्बर ११२;** १९४५।

बीजांकुर। परिकोटा और बीजांकुर में विटामिन 'बी' की प्रचुर मात्रा होती है– विशेष कर उनमें बी१ अथवा थायामिन तथा बी२ या रिबोफ्लेविन पाये जाते हैं। पालिश करने की प्रक्रिया में प्रायः परिकोटा और बीजांकुर चावल से अलग हो जाते हैं। पालिश जितनी अधिक की जायेगी, विटामिनों की मात्रा उसी पैमाने पर नष्ट होती जायेगी। इसी प्रकार क्रमशः तीन और छः प्रति शत पालिश करने पर विटामिन बी२ तरकीबन २५ तथा ४० प्रति शत नष्ट होता है। इस तरह पता चलेगा कि पालिश का प्रातिशत्य ज्यों-ज्यों बढ़ता है, विटामिन बी१ और बी२ त्यों-त्यों कम होते जाते हैं।

अतएव यह स्पष्ट है कि मशीनों से चावल की कुटाई करने पर विटामिन ज्यादा मात्रा में नष्ट होते हैं, इसलिए हाथ धान कुटाई को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। हाथ धान कुटाई में परिकोटा तथा बीजांकुर को कोई विशेष चोट नहीं पहुँचती। इसलिए विटामिनों की बहुत कम क्षति हो पाती है।

विटामिनों पर पालिश करने का प्रभाव

(प्रति १०० ग्राम चावल माईक्रोग्राम में)

किस्म	विटामिन	हाथ कुटा	पालिश करने का प्रातिशत्य	
			तीन प्रति शत पालिश	छः प्रति शत पालिश
कोलम्बा–४२	बी. १	४४५.१४	२३९.६० (हानि ४६%)	१३४.४० (हानि ७०%)
	बी.२	९९.६२	७५.१४ (हानि २५%)	६०.२३ (हानि ४०%)
आसामोर–१५७	बी.१	४९७.५५	२८८.६० (हानि ४४%)	१३०.५० (हानि ७४%)
	बी.२	९३.१४	६९.१० (हानि २६%)	५९.३४ (हानि ३६%)
वारंगल	बी.१	२१९.५१	१२३.२३ (हानि ४४%)	७०.१७ (हानि ६६%)
	बी.२	८८.२९	५७.३४ (हानि ३५%)	५०.४१ (हानि ४३%)

यदि चावल की ज्यादा पालिश की जाय तो, निस्सन्देह विशेष सफेदी के कारण वह दीखने में सुन्दर लगता है, लेकिन उसके पौष्टिक तत्वों को बहुत नुकसान पहुँचता है।

प्राप्त विश्लेषणात्मक आंकड़े उक्त तालिका में दिये गये हैं।

उपर्युक्त तालिका से पता चलेगा कि पालिश करने से उल्लिखित दोनों ही विटामिनों का नुकसान होता है। जिन चावलों की किस्मों को लेकर परीक्षण किया गया उससे पता चला कि सभी किस्मों में तीन प्रति शत पालिश करने पर विटामिन बी१ करीब ४६ प्रति शत और छः प्रति शत पालिश करने पर करीब ७० प्रति शत नष्ट हो जाता है।

२६ नवम्बर १९६२ —माधव रा. देशपाण्डे

* * *

केरल में मधुमक्खी स्थानांतरण

समूचे भारत में सम्भवतः केरल ही एक ऐसा राज्य है जहाँ संगठित रूप से और विशाल पैमाने पर स्थानांतरित मधुमक्खी-पालन की पद्धति का अनुसरण होता है। राज्य के केन्द्र में स्थित त्रिचुर जिले में ऐसे अनेक मधु-पालक हैं, जो अपने मधुमक्खी छत्तों

को मौसमी तौर पर उन स्थानों में ले जाते हैं जहाँ मधु प्रवाह ज्यादा होता है।

खादी और ग्रामोद्योग कमीशन द्वारा अपने चेरपू स्थित क्षेत्रीय कार्यालय के अन्तर्गत केरल राज्य खादी और ग्रामोद्योग मण्डल के सहयोग से मधुमक्खी-पालन उद्योग का सघन विकास कार्यक्रम चालू करने से पहले तत्कालीन कोचीन सरकार ने अपने ग्रामीण विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत मधुमक्खी-पालन उद्योग का विकास कार्य हाथ में लिया था। तब से कुछ मधु-पालक कभी-कभार रबड़ के बागानों में मौसमी तौर पर अपने मधुमक्खी-छत्तों को स्थानांतरित करते रहे हैं। अब अधिकांश मधु-पालक अपने छत्ते एचिपारा, पल-पिल्ली, चिरक्काकोड, कण्णबारा और वणियम्बारा ले जाते हैं, जहाँ पश्चिमी घाट की घाटियों में रबड़ के पेड़ घने रूप में विस्तृत क्षेत्र में पाये जाते हैं।

जंगली क्षेत्रों में

छत्तों के स्थानांतरण के सम्बन्ध में खादी और ग्रामोद्योग कमीशन द्वारा १९६१ में एकत्रित की गयी जानकारी से पता चलता है कि उक्त क्षेत्रों में आस-पास के ३०-४० मील की दूरी तक के स्थानों से २,००० से भी ज्यादा आधुनिक मधुमक्खी-छत्ते स्थानांतरित किये गये थे। इन पहाड़ी और जंगली प्रदेशों में हजारों एकड़ भूमि पर रबड़ के बागान हैं। इसके अतिरिक्त इन बागानों के आस-पास सरकार द्वारा आरक्षित जंगल भी हैं, जहाँ पराग तथा मधु-रस-युक्त पेड़-पौधे पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं।

मधु-पालक मुख्यतः कृषक हैं, जिनमें प्रत्येक के पास १०० अथवा उससे अधिक छत्ते हैं। वे स्वतंत्र रूप से अपने छत्ते स्थानांतरित करते हैं – यातायात आदि का तमाम खर्च स्वयम् वहन करते हुए। अन्य छोटे मधु-पालक अपने छत्ते सहकारी आधार पर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाते हैं। यातायात आदि का खर्च सब मिलकर बाँट लेते हैं। छत्ते भाड़े के ट्रकों पर रात में स्थानांतरित किये जाते हैं। स्थानांतरण के लिए मधु-पालक विशिष्ट 'यातायात छत्तों' का उपयोग नहीं करते, बल्कि मधुमक्खियाँ आधुनिक छत्तों में ले जायी जाती हैं, जिनके ऊपर-नीचे तथा पार्श्वों में धागा लगा दिया जाता है, जिससे छत्तों को झटका नहीं लगता। यातायात पूरा होने पर मधु-पालकों को इस बाबत परिपूर्ण सावधानी बरतनी पड़ती है कि मधुमक्खी कहीं उड़ न जायें और झुण्ड बनाकर उड़ने न लगें, जिससे मधु-प्राप्ति में बाधा पहुँचे। मधु-उद्यान स्थल का सावधानीपूर्वक चुनाव करने के बाद मधु-पालक स्थानों का चुनाव करते हैं। छत्तों को रखने के लिए आधार अर्थात् चौखटे नहीं लगाये जाते। उन्हें जमीन साफ करके उसी पर रख दिया जाता है। छत्तों को सुव्यवस्थित कतारों में रखा जाता है, जिसकी तुलना विहंगावलोकन की दृष्टि से एक सुयोजित कस्बे से की जा सकती है।

मधुमक्खियों के साथ

मधु-पालक वृक्षों पर मचान लगाकर जब तक मधुमक्खियाँ बागानों में रखी जाती हैं, वहीं ठहरते हैं। चन्द वे मधु-पालक जिनके पास एक-सौ अथवा अधिक छत्ते होते हैं मधुमक्खी-पालन की जानकारी रखनेवाले अस्थायी सहायक रखते हैं, जो उन्हें अभिजनन तथा मधुमक्खियों के रख-रखाव और मधु-निस्सारण में सहायता देते हैं। स्थानांतरण की अवधि में ही ये सहायक रखे जाते हैं। उन्हें ३० रुपये मासिक दिये जाते हैं।

रबड़ के पेड़ों में फूल आते ही मधु-मक्खियाँ पराग-रस यानी मधु-रस इकट्ठा करने में व्यस्त हो जाती हैं। हर चार दिन के बाद मधु-निस्सारण किया जाता है। यह प्रक्रिया मई के अन्त तक चलती रहती है। मधु-पालकों के सामने सामान्यतः जो कठिनाई आती है वह अतिरिक्त पराग से सम्बन्धित है। उन्हें सलाह दी जाती है कि वे पराग से भरे छत्तों के टुकड़े इकट्ठे कर मधु से भरी सुराहियों में डूबाकर रख लें, जब तक कि उनकी स्थानांतरित मधु-मक्खी उपनिवेशों को जरूरत न पड़े।

पर्याप्त मधु-प्राप्ति

सन् १९६१ में ३१ मधु-पालकों ने २,३४१ से अधिक मधुमक्खी-घर स्थानांतरित किये, जिनसे

२७,९०८ पौण्ड शहद की प्राप्ति हुई। चन्द मधु-पालकों को तो शहद की बहुत अच्छी प्राप्ति हुई। तीन मधु-पालकों के पास २००; १२० और ८५ छत्ते थे, जिनसे उन्हें क्रमश: ४,२४२; ३,००० और १,९०० पौण्ड मधु मिला। प्रतिकूल मौसम के कारण १९६२ में मधु-प्रवाह उत्साहवर्धक नहीं रहा। मौसम के दरमियान बीच-बीच में बूंदा-बांदी होने से फूलों से पराग-रस धुल गया तथा मधु-मक्खियां उड़कर पराग अथवा पराग-रस लाने से रुकीं। फिर भी, यहाँ एक मधु-पालक का हवाला दिया जा सकता है, जिसके पास ८० मधुमक्खी घर थे और जिसने ४० कनस्तरों से कम शहद इकट्ठा नहीं किया—एक कनस्तर में ५५ पौण्ड से ज्यादा शहद आता है!

इस प्रकार आधुनिक वैज्ञानिक तौर-तरीकों का व्यवहार और सुप्रबन्ध करते हुए मधुमक्खी-पालन का कुशल रूप में संगठन किया जा सकता है।

११ अक्तूबर १९६२ —सी. के. चन्दरन

* * *

पंचायतों के समक्ष दुस्तर कार्य

अगर हम प्रत्येक ग्राम या ग्राम समूह के लिए विस्तृत योजना नहीं बनाते हैं और सावधानीपूर्वक आगे नहीं बढ़ते हैं, तो सम्भव है हमारे लोकतंत्रीय विकेंद्रीकरण के कार्यक्रम को सफलता न मिले। मौजूदा प्रवृत्ति शहरीकरण की ओर है। हमारा उद्देश्य यह होना चाहिए कि हम गाँवों का आत्मविश्वासी और स्वावलंबी इकाइयों के रूप में समरस विकास करें।

उत्पादन का उद्देश्य

भूमि पर दबाव यानी खेती पर भारी बोझ गाँवों की पहली समस्या है। ग्राम स्तर पर कृषि के उत्पादन का कृषि-औद्योगिक उत्पादन के साथ संतुलन स्थापित करने में इस समस्या का हल निहित है। आज हम देखते हैं कि खाद्य फसलों का स्थान व्यापारिक फसलें ले रही हैं। आज जब लोगों को इतना कम भोजन मिलता है कि वे करीब-करीब भूखों मरते हैं, तो हमें खाद्यान्नों के उत्पादन पर हमारे प्रयत्न केन्द्रित करने चाहिए। कृषि उत्पादन खाद्यान्न, कपड़े और जीवन की अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होना चाहिए।

खेती के लिए पौष्टिक आहार का अध्ययन करने की आवश्यकता है, ताकि गाँव के लोग संतुलित खुराक के लिए आवश्यक खाद्य सामग्री का उत्पादन करने में समर्थ हों। सिंचाई सुविधाओं का इस प्रकार विकास हो कि उनसे गाँव के पानी के सब साधनों की रक्षा हो सके, जैसे तालाबों व नये कुओं की खुदाई, बाढ़ को रोकना और भू-गर्भीय जल का स्तर ऊपर लाना।

आन्तरिक व्यापार

आंतरिक व्यापार को इस प्रकार नियमित करना होगा कि उससे सर्व प्रथम गाँव की खाद्यान्न एवम् अन्य आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति हो सके, सभी प्रकार का व्यापार उक्त आवश्यकता-पूर्ति के बाद हो। यदि उत्पादन-कार्य स्थानीय उपभोग के लिए प्राथमिकता के आधार पर संगठित किया जाय, तो बहुत-कुछ आंतरिक व्यवसाय नियमित हो जायेगा तथा 'लाभ हेतु बहुत कम हो जायेगा जोकि बिचवानियों के बीच में आ धमकने का कारण है।

धान, गेहूँ, कपास आदि सभी का प्रशोधन स्थानीय रूप से होना चाहिए, जिससे अधिकांश स्थानीय पूँजी का ग्रामीणों में ही आदान-प्रदान होगा—जोकि उक्त उद्योगों को सहकारी आधार पर चलायेंगे—और साथ ही साथ पूर्ण तथा अर्ध-बेकारी की समस्या भी बहुत कुछ दूर होगी। चावल, आटे, तेल, मिल में तैयार सूत तथा कपड़े का गाँव में आयात करने पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है।

पंचायतों का यह सर्व प्रथम कर्तव्य होना चाहिए कि वे इस बात का ध्यान रखें कि भावी नागरिकों अर्थात् बच्चों को सुशिक्षा मिले तथा वे सुसंस्कृत बनें। बच्चों की शिक्षा ठोस आधार पर प्रारम्भ होनी चाहिए। उसमें बौद्धिक शिक्षण के साथ ही साथ शारीरिक श्रम भी शामिल किया जाना चाहिए। यही **नयी तालीम** का भी सार है।

२३ जुलाई १९६२ —नारायण शिवरामकृष्णन

आर्थिक विकास और सामाजिक परिवर्तन*

सुभाष चन्द्र सरकार

आर्थिक विकास और सामाजिक परिवर्तन का पारस्परिक सम्बन्ध, अध्ययन का एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण क्षेत्र है---विशेष कर भारत में होनेवाले प्रयासों के सन्दर्भ में। दोनों ही विकास की प्रक्रिया के प्रतिरूप अंग हैं, लेकिन उनका सापेक्षिक महत्व एक देश से दूसरे देश में और एक ही देश में समय-समय पर भिन्न होता है। भारत में ये दोनों ही पहलू सामाजिक रूप से एक समान महत्वपूर्ण हैं। आर्थिक विकास कर लेना अथवा सामाजिक परिवर्तन ले आना ही उद्देश्य नहीं हैं, बल्कि दोनों कामों में सफलता प्राप्तकर उनमें समुचित सह-सम्बन्ध स्थापित करना है। आर्थिक विकास व सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाएँ इतनी सर्व विदित नहीं हैं; इस सम्बन्ध में तो और भी बहुत कम जानकारी है कि वे एक-दूसरी को किस प्रकार प्रभावित करती हैं। जैसा कि प्रोफेसर डब्ल्यू. आर्थर लेविस श्रीमती एप्सटेन के अध्ययन के प्राक्कथन में कहते है कि "हमें ऐसी समितियों के अनेकों विवरणों की आवश्यकता है, जिनमें परिवर्तन हो रहा हो अर्थात् जो संक्रमण की स्थिति से होकर गुजर रही हों, ताकि हम परिवर्तनशील आर्थिक अवसरों का सामाजिक संस्थाओं, माध्यमों अथवा संगठनों पर पड़नेवाले प्रभाव और परिवर्तनोन्मुख आर्थिक अवसरों में बाधक अथवा साधक यानी सहायक के रूप में विभिन्न सामाजिक संस्थाओं के प्रभाव का भी अर्थात् दोनों प्रकार के पारस्परिक प्रभाव का सामान्यीकरण कर सकें।"---(पृष्ठ: ८)।

उपयोगी अध्ययन

मैसूर के दो गाँवों-- वांगला और दालेना-- में आर्थिक व सामाजिक परिवर्तन के अपने अध्ययन के सन्दर्भ में श्रीमती एप्सटेन उक्त मसले की व्याख्या अर्थात् विश्लेषण की चेष्टा करती हैं। भारत के विभिन्न भागों के लोगों के दृष्टिकोण और रुझान में इतना भारी अन्तर है कि किसी भी एक ही राज्य के दो गाँवों के अध्ययन के आधार पर सामान्यीकरण करना भयंकर रूप से गुमराह कर देनेवाला हो सकता है। लेकिन उस हद तक कि गरीबी और सुधार के प्रति पाये जानेवाले सामाजिक विरोध पर काबू पाने की समस्याएँ समूचे देश भर में कम-ज्यादा करके एक समान ही हैं-- अन्तर परिमाण का है, गुण-स्तर का नहीं-- यह जानना सदैव ही लाभदायक है कि अन्यत्र क्या हो रहा है तथा जो कुछ हो रहा है वह कैसे, किस ढंग से हो रहा है। अतएव समाजशास्त्र के अध्ययनकर्त्ताओं के लिए इस प्रकार के सोद्देश्य अध्ययन अत्यन्त काम के हैं।

प्रस्तुत अध्ययन से एक बहुत ही आशावान स्थिति सामने आती है। भारतीय ग्रामीण नव आर्थिक अवसरों के प्रत्युत्तर में अर्थात् उनके साथ अपने को बदलने में अन्यत्र कहीं के भी ग्रामीणों से कम नहीं हैं। इसे यों भी कहा जा सकता है कि जो व्यक्ति परिवर्तन लाना चाहते हैं वे यदि समुचित उपागम अपनायें तो ग्रामीण क्षेत्रों में विकास करने अथवा लाने का उद्देश्य प्राप्त करने में किसी तरह की नाजायज यानी बेजा कठिनाई नहीं आयेगी। परिवर्तन के प्रति ग्रामीण जीवन के कुछ

---

* **इकनामिक डेवलपमेण्ट एण्ड सोशल चेंज इन साउथ इण्डिया** (दक्षिण भारत में आर्थिक विकास और सामाजिक परिवर्तन--भाषा अंग्रेजी); लेखिका: टी. स्कॉरलेट एप्सटेन (Epstein); ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, बम्बई; १९६२; पृष्ठ: १६+३५३; मूल्य: २७.५० रुपये।

पहलुओं अन्य पहलुओं की अपेक्षा अधिक संवेदनशील हैं, उनमें अपेक्षाकृत आसानी से परिवर्तन लाया जा सकता है।

बाह्य उद्दीपन

एक बात विशेष रूप से ध्यान देने लायक है। लेखिका ने जिन दो गाँवों का अध्ययन किया, उनमें जो परिवर्तन लाये गये वे उन गाँवों के निवासियों के अभिक्रम से नहीं, बल्कि सरकार द्वारा कृषि और औद्योगिक उत्पादन को बढ़ावा देने के लिए अपनी व्यापक नीतियों के अनुसार किये गये कामों से आये है। इस प्रकार प्रस्तुत मामले में उद्दीपन बाहर से आया, स्वयम् ग्रामीणों में से नहीं। समूचे देश भर में ग्रामीण विकास के सम्बन्ध में यह बात अधिकांशतः सच है। यह एक अनुभव योग्य तथ्य है कि अपने ही प्रयास से आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारम्भ करने की सामर्थ्य बहुत ही कम ग्रामों में है। ध्यान देने योग्य एक दूसरी बात यह है कि विकास से यद्यपि धार्मिक पद्धतियों में परिवर्तन आया है, किन्तु धार्मिक मान्यताओं पर उसका किसी तरह का प्रभाव नहीं पड़ा। समग्र दृष्टि से देखने पर गाँवों में 'कर्मकाण्ड' का महत्व गिरता जा रहा है। इसका भी हमारे ज्ञान-भण्डार से सम्बध है। यहाँ यह जानना रुचिकर होगा कि मुख्यतः कृषि-प्रधान अर्थ-व्यवस्थावाले वांगला ग्राम में दालेना—जहाँ काफी संख्या में लोगों ने गैर-खेतिहर धंधे अपना लिये हैं—की अपेक्षा कर्मकाण्डवाद का अधिक जोर है।

उत्प्रेरक गैर-कृषि उत्पादन

यहाँ आकर, जिस प्रकार का आर्थिक विकास सामाजिक परिवर्तन ला सकता है उसके और सामाजिक परिवर्तन के बीच पारस्परिक सम्बन्ध का सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न हमारे सामने आता है। इस बात की कोई प्रतीति नहीं है कि किसी भी प्रकार के आर्थिक विकास से सामाजिक परिवर्तन को प्रश्रय मिलेगा। श्रीमती एप्सटेन के दो गाँवों के अध्ययन से पता चलता है कि मुख्यतः कृषि-प्रधान अर्थ-व्यवस्था की अपेक्षा बहुमुखी ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था से सामाजिक परिवर्तन होने की अधिक सम्भावना है। दालेना में जहाँ लोगों ने गैर-खेतिहर धंधे अपना लिये हैं, किसान 'यजमान' और अछूत 'कमीनों' के बीच का पारम्परिक आर्थिक सम्बन्ध समाप्त हो गया है तथा राजनैतिक भूमिकाओं में तीव्र परिवर्तन आये हैं; परम्परा से चली आ रही पुरानी पंचायतों की भूमिका काफी कम हो रही है। कृषि-प्रधान अर्थ-व्यवस्थावाले वांगला गाँव की कहानी इससे भिन्न है, वहाँ सामाजिक तथा राजनैतिक संगठन में कोई परिवर्तन नहीं आया है।

प्राचीन मूल्यों की अटलता

प्रकाश में आनेवाला बहुत ही महत्वपूर्ण एक अन्य तथ्य है, आर्थिक वातावरण में परिवर्तन आने पर भी प्राचीन मूल्यों की अटलता। पश्चिम के देशों में भी पहले यह अनुभव हो चुका है। यह कोई भारत की ही विशेषता नहीं है। दालेना में यद्यपि लोगों ने औद्योगिक काम-धंधे अपनाये हैं, तथापि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वे कृषि-प्रधान अर्थ-व्यवस्था से चिपके हुए हैं अर्थात् उनका झुकाव कृषि अर्थ-व्यवस्था की तरफ है। श्रीमती एप्सटेन लिखती हैं कि "कृषि के साथ जुड़े हुए इसी मूल्य की यही अटलता बहुत कुछ मात्रा में इस तथ्य के लिए उत्तरदायी है कि दालेना अपने को व्यापक, विस्तृत व्यवस्था में घुला-मिला नहीं पाया है, बल्कि अब भी उसकी अपनी अलग ही समाज व्यवस्था है।"—पृष्ठ : ३२८। इसी द्विक्-रचना के कारण आर्थिक विकास का पूरा लाभ नहीं मिल पाया ह। इससे इस बात का संकेत मिलता है कि आर्थिक परिवर्तन के लिए उठाये जा रहे कदमों के साथ ही साथ, लोगों को परिवर्तन और समाज में उनकी भूमिका के प्रति जागरूक बनाने हेतु एक

शैक्षणिक अभियान चलाने के लिए भी कदम उठाने पड़ेंगे ।

उक्त दोनों ही गाँवों में आर्थिक विकास की प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न हुई, लेकिन संयुक्त परिवार की व्यवस्था खत्म हो चुकी है । किन्तु विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण, इन दोनों गाँवों में महिलाओं की भूमिका अर्थात् उनके स्थान पर परिवर्तनों का अलग-अलग प्रभाव पड़ा है । अपेक्षाकृत अधिक शहरीकृत दालेना में महिलाएँ वांगला की अपेक्षा अपने पतियों पर कितनी ही अधिक आश्रित रहती हैं, जब कि वांगला में पारम्परिक कृषि अर्थ-व्यवस्था में वे बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं और किसी हद तक उन्होंने आर्थिक आजादी हासिल कर ली है ।

वस्तुतः यह एक सुरुचिपूर्ण अध्ययन है, जिसके लिए श्रीमती एप्सटेन बधाई की पात्र हैं । ●

नवम वार्षिकांक के विषय में अभिमत

पत्रिका की छपाई-सफाई और साज-सज्जा आकर्षक हैं। प्रस्तुत लेख खादी कार्यकर्त्ताओं के लिए मूल्यवान सिद्ध होंगे। अनेक लेख अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए भी उपयोगी हैं।

नयी दिल्ली — **मन्मथनाथ गुप्त**
३ नवम्बर १९६२ — सम्पादक, *योजना*

* * *

खादी उद्योग प्रतीक है समर्थ और मुक्त ग्राम रचना का। अहिंसक समाज का वह आधार है। खादी का गर्भित अर्थ फलित हो तो एक नयी क्रांति दिखायी दे जाय। वह अनोखी क्रांति हो और जीवन मूल्य ही उससे बदल जावें। आपका यह अंक उस सब सम्भाव्यता को प्रकाश में लानेवाला है। अंक बहुत उपयोगी है और छपाई-सफाई की दृष्टि से भी उपादेय है।

दिल्ली — **जैनेन्द्र कुमार**
३ नवम्बर १९६२ — सुविख्यात हिन्दी लेखक

* * *

पत्र बहुत अच्छा निकला है। सभी लेख उपयोगी हैं। पत्र का यह अंक गाँव-गाँव में पहुँचना चाहिए।

झाँसी — **वृन्दावनलाल वर्मा**
४ नवम्बर १९६२ — सुप्रसिद्ध हिन्दी साहित्यकार

* * *

वार्षिकांक एक अभिनंदनीय प्रकाशन है। उसमें सादगी और सुरुचिपूर्णता तो है ही, उसकी सामग्री भी बड़ी महत्वपूर्ण है। हमारी अर्थ-व्यवस्था में खादी तथा ग्रामोद्योगों का क्या स्थान है, बड़ी-बड़ी योजनाओं में यह बात प्रायः भुलाई गयी है। यह अंक इन विधायक कार्यों की ओर देश का ध्यान आकर्षित करता है और बताता है कि ग्राम-प्रधान भारत का वास्तविक अभ्युदय बिना खादी-ग्रामोद्योगों की अभिवृद्धि के सम्भव ही नहीं है। विशेषांक की अधिकांश रचनाएँ गम्भीर तथा प्रामाणिक जानकारी देनेवाली हैं।

मैं इस अंक के लिए सम्पादक तथा प्रकाशक दोनों को बधाई देता हूँ और आशा करता हूँ कि सभी वर्गों तथा क्षेत्रों में इसका स्वागत होगा।

नयी दिल्ली — **यशपाल जैन**
५ नवम्बर १९६२ — सस्ता साहित्य मण्डल

* * *

देश के राष्ट्रीय उद्योगों के सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी देने तथा देश की सम्पत्ति को जनता के समक्ष लाने का प्रयोग आपके इस विशेषांक द्वारा हुआ है।

रामकुमार वर्मा
प्रयाग — अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
५ नवम्बर १९६२ — इलाहाबाद विश्वविद्यालय

* * *

खादी ग्रामोद्योग का वार्षिकांक मिला। इसके लिए अनेक धन्यवाद! इस अंक के दो-तीन लेख मैंने पूरे पढ़े और कुछ लेखों को बीच-बीच में देखा। बड़ी ही सुन्दर और उपयोगी सामग्री इस अंक में संकलित की गयी है। आंकड़ों और तथ्यों के साथ जो लेख दिये गये हैं, वे अत्यन्त उपयोगी हैं। खादी और ग्रामोद्योगों के विरुद्ध जो लोग अपना मत रखते हैं, उनकी आँखें खोल देने के लिए यह अंक काफी है। छपाई सुन्दर है, कागज भी बहुत अच्छा लगाया गया है।

वियोगी हरि
नयी दिल्ली — अध्यक्ष
१३ नवम्बर १९६२ — हरिजन सेवक संघ

* * *

खादी ग्रामोद्योग के नवम वार्षिकांक (१९६२)

में ग्रामीण विकास, अर्थ और समाज-शास्त्रीय विषयों पर अनेक रुचिकर लेख हैं।

बी. पी. पाल
नयी दिल्ली — निर्देशक, भारतीय कृषि
६ दिसम्बर १९६२ — अनुसंधान संस्था

* * *

प्रस्तुत विषय के विभिन्न पहलुओं पर अंक में कुछ रुचिकर लेख हैं। नेशनल कॉउंसिल ऑफ् अप्लाइड इकनॉमिक रिसर्च के अध्ययन "लॉंग टर्म प्रोजेक्शन ऑफ् डिमाण्ड फॉर एण्ड सप्लाई ऑफ् सिलेक्टेड कमाडिटीज, १९६०–६१ टू १९७५–७६" (चूनी हुई खेतिहर वस्तुओं की माँग और पूर्ति का १९६०–६१ से १९७५–७६ तक दीर्घ-कालीन प्रक्षिप्त) के निष्कर्षों के सारांश स्वरूप आपके लेख पर विशेष ध्यान गया। मुझे विश्वास है कि पाठकों के लिए वह बहुत ही उपयोगी होगा।

एन. एन. खान
लखनऊ — अर्थशास्त्र विभाग
१ दिसम्बर १९६२ — लखनऊ विश्वविद्यालय

* * *

उपयोगी सामग्री प्रधान अंक प्रस्तुत करने में सचमुच आप सफल हुए हैं। डाक्टर दया किसन मल्होत्रा, डाक्टर पलमडे सामु लोकनाथन और श्री ब्रह्मदेव मुकर्जी के लेख मुझे विशेष रूपेण शिक्षाप्रद तथा उपयोगी लगे।

के. सी. मित्र
प्रमुख अधिकारी,
बम्बई — औद्योगिक वित्त विभाग,
१७ नवम्बर १९६२ — रिजर्व बैंक ऑफ् इंडिया

* * *

एक शिक्षाप्रद और उपयोगी अंक के प्रकाशन के लिए आपको मेरी ओर से बधाई है।

जी. पारथसारथी
उप–निर्देशक
मद्रास–५ — आर्थिक अन्वेषण केन्द्र,
२२ अक्तूबर १९६२ — मद्रास विश्वविद्यालय।

* * *

यह विशेषांक मुझे पसन्द आया। इसमें ग्रामीण उद्योगों के सम्बन्ध में अत्यन्त उपयोगी सामग्री है।

जगदीश चन्द्र माथुर
मुजफ्फरपुर — आयुक्त
६ नवम्बर १९६२ — तिरहुत प्रमण्डल

* * *

खादी ग्रामोद्योग के सभी लेख बड़े महत्वपूर्ण हैं और विचार के लिए सामग्री प्रस्तुत करते हैं। भाषा के संबंध में कुछ कठिनाई जान पड़ी। संभवत: जन-साधारण के लिए यह पत्रिका है भी नहीं। लेखकों की भी कठिनाई आपके सामने अवश्य रही होगी, खास करके मूल हिन्दी में लिखनेवाले लेखकों की। फिर भी, यदि पत्रिका जन-साधारण के लिए उपयोगी बनायी जा सके तो अधिकतम लोगों का अधिकतम कल्याण हो सकेगा।

जगदीश चन्द्र जैन
बम्बई — अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
३ दिसम्बर १९६२ — रामनारायण रुइया कॉलेज

* * *

खादी ग्रामोद्योग देश का एक श्रेष्ठ और सुप्रसिद्ध मासिक है। इसमें ग्रामोद्योगों सम्बन्धी लेख चिन्तन, अनुभव से, विश्वास के साथ लिखे जाते हैं। ये ज्ञान बढ़ाते हैं तथा ग्रामोद्योगों की प्रगति एवम् समस्याओं पर नवीन प्रकाश डालते हैं। देश की वर्तमान अवस्था में, जबकि हमें ग्रामीण क्षेत्रों में आर्थिक समृद्धि लाने का कोई दूसरा साधन नहीं दिखाई देता, इस मासिक का बहुत महत्व है। आशा है यह दिन-प्रति-दिन उन्नति करेगा और स्वतंत्र तथा निज विचार-धारा को प्रोत्साहन देकर देश को सत्य का मार्ग दिखायेगी।

अमरनारायण अग्रवाल
इलाहाबाद — विश्वविद्यालय प्रोफेसर और
३ जनवरी १९६३ — वाणिज्य विभागाध्यक्ष।

* * *

इस माह के समाचार

भारत सरकार ने १ अप्रैल १९६३ से खादी और ग्रामोद्योग कमीशन का पुनर्गठन किया है। श्री उछरंगराय नवलशंकर ढेबर पुनर्गठित कमीशन के अध्यक्ष, श्री कन्दस्वामी अरुणाचलम् उपाध्यक्ष, श्री प्राणलाल सु. कापड़िया सदस्य-सचिव और श्री ध्वजा प्रसाद साहू तथा श्री द्वारकानाथ वि. लेले सदस्य नियुक्त किये गये हैं।

* * *

खादी का पहला जहाज विदेश को रवाना

करीब दो लाख रुपये मूल्य की खादी का पहला जहाज ४ अप्रैल को बम्बई बन्दरगाह से इंग्लैण्ड के लिए रवाना हो गया। तीन दीर्घ-कालीन निर्यात संविदाओं के अन्तर्गत पांच वर्ष की अवधि में इंग्लैण्ड और संयुक्त राज्य अमेरिका को दो करोड़ रुपये कीमत की, सूती तथा रेशमी खादी निर्यात की जानी है।

* * *

गुजरात में पंचायत राज

केन्द्रीय वित्त मंत्री श्री मोरारजी देसाई ने २ अप्रैल १९६३ को गुजरात में त्रि-सूत्री पंचायत राज पद्धति का उद्घाटन किया। उक्त दिवस से तालुका और जिला पंचायतों के चुने हुए अधिकारियों को प्रशासन कार्य सौंप दिया गया है।

* * *

प्रतिरक्षा के लिए योजना

आगामी चन्द वर्षों के अन्दर-अन्दर भारत सैनिक शक्ति बढ़ाकर अब से दुगुनी करने की योजना है। प्रतिरक्षा मंत्री श्री यशवन्तराव चव्हाण ने ८ अप्रैल को लोकसभा में उक्त बात बतायी। श्री चव्हाण ने यह भी बताया कि वायु सेना को शीघ्र ही उसका विस्तार कर आधुनिक स्वरूप प्रदान किया जायेगा।

* * *

नेपाल में टेलीवीजन और रेडियो केन्द्र

इस वर्ष के अन्त तक नेपाल स्वयम् अपनी टेलिवीजन सेवा प्रारम्भ कर देगा। शीघ्र ही वहाँ के रेडियो का व्यापार विभाग उच्च दबाव पर भारत तथा दक्षिण पूर्व एशिया में बिक्री को बढ़ावा देने का अभियान प्रसारित किया करेगा।

* * *

शिक्षा कोई उद्योग नहीं

सर्वोच्च न्यायालय ने १ अप्रैल को बताया कि दिल्ली विश्वविद्यालय जैसी संस्थाओं को कोई उद्योग नहीं कहा जा सकता।

* * *

युगोस्लाविया में नया संविधान

युगोस्लाविया की संघीय संसद (फेडरल पार्लमेण्ट) ने ७ अप्रैल १९६३ को एक नया संविधान स्वीकार अर्थात् लागू किया है। नये संविधान के अन्तर्गत मार्शल टीटो आजीवन राष्ट्रपति रहेंगे और वहाँ का शासन साम्यवादी दल के हाथ में रहेगा।

* * *

फसल कटाई प्रयोग

आगामी रबी की फसल से सभी ५,००० सामुदायिक विकास खण्डों में फसल कटाई प्रयोगों की संख्या

बढ़ाने के लिये श्रीगणेश किया जायेगा।

* * *

बाली में ज्वालामुखी का प्रकोप

हाल ही में बाली टापू में ज्वालामुखी का प्रकोप हुआ, जिसमें उसका पाँचवां हिस्सा बिल्कुल तबाह हो गया। जान-माल की हानि भी बहुत हुई बतायी जाती है।

* * *

भारतीय युद्ध बंदियों की रिहाई

चीन ने घोषणा की है कि वह सभी ३,२१३ भारतीय युद्ध बंदियों को रिहा करेगा।

* * *

चालू वर्ष का निर्यात लक्ष्यांक

चालू वित्तीय वर्ष में ७ अरब रुपये के माल का निर्यात किया जायेगा। यह संख्या गत वर्ष से करीब ४० प्रतिशत वृद्धि दर्शाती है।

* * *

ग्वाटेमाला के राष्ट्रपति पदच्युत

ग्वाटेमाला की सेना ने गत ३१ मार्च के दिन वहाँ के राष्ट्रपति मिग्वेल यदिगोरास फूएन्टेस को पदच्युत कर दिया।

* * *

नेपाल में तुलसी गिरी के नेतृत्व में नया मंत्रि-मंडल

नेपाल के महाराजा महेन्द्र ने २ अप्रैल को डाक्टर तुलसी गिरी के नेतृत्व में नये मंत्रि मण्डल की घोषणा की।

* * *

लोकसभा के लिए निर्वाचित स्थान

परिसीमन आयोग (डीलिमिटेशन कमीशन) के प्रथम आर्डर के मुताबिक लोक सभा के लिए राज्यों से निर्वाचित होनेवाले सदस्यों की संख्या मौजूदा ४८१ से बढ़ाकर ४९० कर दी गयी है। निम्न तालिका में स्थानों का राज्यवार विवरण दिया गया है। मौजूदा संख्या कोष्ठकों में दी गयी है।

राज्य	कुल संख्या	सुरक्षित स्थान	
		परिगणित जातियों के लिए	परिगणित जन-जातियों के लिए
आंध्र प्रदेश	४१(४३)	६	२
असम	१४(१२)	१	२
बिहार	५३(५३)	७	५
गुजरात	२४(२२)	२	३
केरल	१९(१८)	२	कुछ नहीं
मध्य प्रदेश	३७(३६)	५	८
मद्रास	३९(४१)	७	कुछ नहीं
महाराष्ट्र	४५(४४)	३	३
मैसूर	२७(२६)	४	कुछ नहीं
उड़ीसा	२०(२०)	३	५
पंजाब	२३(२२)	५	कुछ नहीं
राजस्थान	२३(२२)	४	३
उत्तर प्रदेश	८५(८६)	१८	कुछ नहीं
प. बंगाल	४०(३६)	८	२
योग	४९०(४८१)	७५	३३

सम्पादक : सुभाष चन्द्र सरकार द्वारा खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय,' इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई-५६ से प्रकाशित तथा मुद्रित। मुद्रण-स्थल : एसोसिएटेड एडवर्टाइजर्स एण्ड प्रिण्टर्स, ५०५, तारदेव, आर्थर रोड, बम्बई-३४।
वार्षिक शुल्क : २.५० रुपये; एक प्रति : २९ नये पैसे।

खादी ग्रामोद्योग
ग्रामीण जीवन, समाज और अर्थशास्त्र विषयक मासिक

नवम वर्ष · मई १९६३ · अष्टम अंक

सम्पादक : सुभाष चन्द्र सरकार। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के लिए सुभाष चन्द्र सरकार द्वारा मुद्रित और प्रकाशित।

ग्रामीण विकास तथा समाजार्थिक व्यवस्था पर लिखे लेखों को कमीशन की पत्रिकाओं में सहर्ष स्थान दिया जायेगा, बशर्ते वे ग्रामीण विकास के ध्येय से लिखे गये हों। फिर भी, प्रत्येक लेख के छापने का आश्वासन नहीं दिया जा सकता। लेखकों को किसी अंश में पुरस्कृत करने का भी प्रबन्ध किया जा सकता है। लेख, पुस्तकों की समीक्षा आदि सम्पादक, 'खादी ग्रामोद्योग', खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय,' इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई—५६ के पते पर भेजें। टेलिफोन नं. ८६७७३।

इस पत्र में प्रकाशित लेखों में प्रकट किये गये विचार खादी और ग्रामोद्योग कमीशन अथवा सम्पादक के न होकर लेखक के हैं। सम्पादक अथवा कमीशन के विचार जहां-कहीं भी हैं, उनका उल्लेख कर दिया गया है।

वार्षिक शुल्क : २.५० रुपये; एक प्रति : २५ नयें पैसे। चन्दे की रकम इस पते पर भेजी जानी चाहिए : सहायक एकाउण्ट्स ऑफिसर (कैश), खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय', इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई—५६

इस अंक के लेखक

वैकुण्ठ ल. मेहता	—बम्बई स्थित खादी और ग्रामोद्योग मण्डल के सदस्य।
विजयेन्द्र कस्तूरी रंगा वरदराजा राव	—नयी दिल्ली स्थित योजना आयोग के सदस्य।
ध्वजा प्रसाद साहू	—बम्बई स्थित खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के सदस्य तथा पटना स्थित बिहार राज्य खादी और ग्रामोद्योग मण्डल के अध्यक्ष।
श्याम बिहारी लाल सिंघल	—खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के कानपुर स्थित गुड़-खाण्डसारी उद्योग के निर्देशक।
इन्दुभाई भाईशंकर रावल	—गुजरात के आफ्टर-केयर एसोसिएशन के प्रमुख अधिकारी।
ललित कुमार मित्र	—कलकत्ता स्थित सिटी कालेज में अर्थशास्त्र विभाग के अध्यक्ष।
जशभाई झवेरभाई पटेल	—खादी और ग्रामोद्योग कमीशन में गोबर गैस योजना के निर्देशक।
विद्या सागर महाजन	—कलकत्ता स्थित केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन के औद्योगिक सांख्यिकी विभाग से सम्बन्धित।
सत्यपाल ठाकुर	—बंगलोर स्थित विस्तार अधिकारियों (उद्योग) के लिए खादी-ग्रामोद्योग विद्यालय के भूतपूर्व प्राचार्य।
समीउद्दीन	—अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के वाणिज्य विभाग में सहकार के लेक्चरर।
आनन्द प्रकाश शर्मा	—खादी और ग्रामोद्योग कमीशन में सम्पर्क अधिकारी (सहकार)
सुभाष चन्द्र मेहता	—नयी दिल्ली स्थित इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ् पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन में गवेषणा छात्र।
कोदण्डरामन वैद्यनाथन	—खादी और ग्रामोद्योग कमीशन में समग्र विकास कार्यक्रम के निर्देशक।
सुभाष चन्द्र सरकार	—खादी और ग्रामोद्योग कमीशन द्वारा प्रकाशित **खादी ग्रामोद्योग** तथा **जागृति** के सम्पादक।
गोपाल पद्मनाभ अय्यर	—खादी और ग्रामोद्योग कमीशन में प्रचार निर्देशालय के सम्पादकीय विभाग में कर्मचारी।
उछरंगराय नवलशंकर ढेबर	—खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अध्यक्ष।

पिछले दशक में खादी-ग्रामोद्योग

वैकुण्ठ ल० मेहता

खादी तथा ग्रामोद्योगों के विकास को बढ़ावा देने के लिए १९५३ में अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मण्डल की स्थापना हुई थी। मण्डल को १९५७ में खादी और ग्रामोद्योग कमीशन का रूप दिया गया। इन उद्योगों के विकास को प्रोत्साहन देने हेतु संगठित प्रयास शुरू हुए दस वर्ष हो गये हैं। प्रस्तुत लेख में खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री वैकुण्ठ ल० मेहता पिछले दस वर्ष में हुई प्रगति का मूल्यांकन करते हैं।

मानव प्राणी के जीवन में दस वर्ष का समय पर्याप्त लम्बा होता है। संस्थाओं तथा संगठनों का जीवन-काल अपेक्षाकृत काफी लम्बा होता है, फिर भी, किसी संगठन के इतिहास में प्रारम्भिक दस वर्ष का समय एक मील के पत्थर के समान होता है, जहां यात्री रुककर यात्रा-पथ पर विचार कर सकता है। अतएव यह उचित ही है कि खादी और ग्रामोद्योग कमीशन तथा गैर-विधिविहित संगठन खादी और ग्रामोद्योग मण्डल के इस अवधि-विषयक सर्वेक्षण से पता चलेगा कि काफी काम करने का प्रयास किया गया, कुछ काम हुआ है, जबकि बहुत कुछ अभी अधूरा है, उसे पूर्ण करना है। यह स्पष्ट है कि आत्मसंतोष करके बैठ जाने के लिए गुंजाइश नहीं है।

महात्मा गांधी ने १९१७ में हाथ कताई का पुनरुद्धार आन्दोलन प्रारम्भ किया। इस आन्दोलन के इतिहास का मूल्यांकन करते वक्त एक निष्कर्ष यह निकलेगा कि १९५४-५५ में अम्बर चरखा इजाद कर लिए जाने पर अब प्राविधिक प्रगति सम्भव हो गयी है। खादी कार्य में अभिरुचि रखनेवाले प्राविधिक विशेषज्ञों से सलाह-मशविरा करने और उक्त आविष्कार का विस्तृत पैमाने पर क्षेत्रीय परीक्षण करने के बाद तत्कालीन अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मण्डल ने अम्बर चरखा कार्यक्रम कार्यान्वित करने के लिए योजना बनायी। वर्तमान मंत्रि-परिषद के सचिव श्री एस. एस. खड़ा की अध्यक्षता में नियुक्त एक समिति द्वारा की गयी जांच के आधार पर उक्त कार्यक्रम स्वीकृति के लिए योजना आयोग के सामने आया।

शक्ति उपयोग

साधन-सरंजाम तथा उत्पादन की प्रविधियों में सुधार लाने का महत्व स्वीकार करते हुए खादी और ग्रामोद्योग कमीशन ने उक्त दस वर्षीय अवधि के उत्तरार्द्ध में विभिन्न प्रक्रियाओं और ग्रामोद्योगो में शक्ति के उपयोग के सम्बन्ध में अपना दृष्टिकोण निश्चित करना आवश्यक समझा। यह रुख अख्तियार किया गया कि खादी-ग्रामोद्योग आन्दोलन के समक्ष सदैव ही यह उद्देश्य रहना चाहिए कि भिन्न-भिन्न ग्रामोद्योगों में लगे कारीगरों का आय-स्तर बढ़े तथा साथ ही साथ उपभोक्ता द्वारा चुकाई जानेवाली इन उद्योगों के उत्पादनों की कीमत घटे। शक्ति उययोग के प्रस्तावों को जिस कसौटी पर कसना है, उस सम्बन्ध में कमीशन ने मोटे तौर पर ये बातें तय कीं:

(१) कि शक्ति उपयोग के परिणाम-स्वरूप किसी विशिष्ट उद्योग अथवा प्रक्रिया में लगे श्रम का विस्थापन न हो; और

(२) कि इससे श्रमिक शोषण को प्रश्रय न मिले अथवा स्वतंत्र रूप से अपना काम करनेवाले कारीगर किसी दूसरे ऐसे माध्यम के आदेश पर काम करनेवाले मजदूर मात्र न बन

जायें जो सामाजिक या सामुदायिक नियंत्रण में न हो।

कार्यक्रम बनाने के बाद छः-सात वर्ष का जो समय गुजरा उसके दरमियान अम्बर चरखे से विस्तृत आधार पर हाथ कताई का विस्तार करने की योजना के मार्ग में जो कठिनाइयाँ अर्थात् सीमाएँ थीं, उन्हें समुचित रूप से समझा गया यानी उन पर उचित ध्यान दिया, विचार किया गया। प्रारम्भिक अवस्थाओं में संगठनात्मक व्यवस्था एवम् गठन में जो खामियाँ थीं, वे दूर की गयीं। स्वयम् अम्बर में जो बनावट सम्बन्धी कमियाँ थीं वे भी दूर कर दी गयी हैं। इसके साथ ही साथ उपकरणों तथा प्रविधियों में सर्व सेवा संघ की प्रयोग समिति के सहयोग से अनवरत सुधार किये जा रहे हैं। फलतः आशा है कि उत्पादकता का स्तर प्रारम्भ में जैसा अनुमान लगाया गया था उससे कहीं ऊंचा होगा और **भारपाट** काफी कम कर दिया जायेगा। यद्यपि हो सकता है कि तात्कालिक सफलताएँ प्रारम्भ में जैसी कल्पना की गयी थी वैसी न हों, लेकिन इस प्रकार विकेन्द्रित वस्त्रोत्पादन के लिए एक नया द्वार उन्मुक्त हो गया है।

प्रविधियों में परिवर्तन

क्या पिछले दस वर्ष के दरमियान परम्परागत चरखे पर कताई कर खादी तैयार करने के दृष्टिकोण में कोई परिवर्तन हुआ है? उत्तर सकारात्मक है। फिलहाल अपेक्षाकृत अधिक साधन-स्रोतों की उपलब्धि के कारण उत्पादन कार्यों में लगीं संस्थाओं के लिए साधारणतया सूतकारों द्वारा काता गया समग्र सूत खरीद लेना सम्भव है। कताई का साधन—चरखा—बहुत कुछ पहले जैसा ही है। धुनाई की प्रक्रिया में फिर भी सुधार हुआ है, और ऐसा लगता है कि नये धुनाई मोढ़िये में वे प्राविधिक कमियाँ नहीं हैं जो अब तक बने धुनाई साधनों में देखने में आयी थीं। उड़न-ढर्की करघों और टेक-अप-मोशन के अपनाने से अनेक स्थानों पर बुनकरों की उत्पादन-क्षमता बढ़ी है। एक, दूसरा उल्लेखनीय परिवर्तन है खादी की अधिक परिमाण में रंगाई और छपाई करना। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन से प्राप्त सहायता से प्रशोधन संयंत्र स्थापित करना खादी उत्पादन की एक जुड़ी हुई चीज बन गयी है।

विभिन्न जात की खादी

खादी उत्पादन में तीव्र और व्यापक वृद्धि होने से प्रायः यह शिकायत आती है कि खादी का गुण-स्तर गिर गया है, इसलिए इस बात की सुनिश्चितता के लिए अनवरत ध्यान रखना पड़ता है कि प्रारम्भिक प्रक्रिया पूरी होने पर केवल मजबूत और समान सूत ही बुनने के लिए जाय। आंध्र प्रदेश, बिहार और पश्चिम बंगाल में कमीशन ने महीन सूत की कताई को प्रोत्साहन दिया तथा सौराष्ट्र, राजस्थान, मध्य प्रदेश एवम् उड़ीसा की विशिष्ट भातों जैसी खादी तैयार करने पर ध्यान दिया गया। ऐसी कुछ भातों की विदेशी बाजारों में भी शक्यता है, फिर यह आवश्यक नहीं कि वे महीन ही हों।

कानूनी तौर पर और अखिल भारत चरखा संघ द्वारा स्वीकृत कार्यक्रम के अंग-स्वरूप भी खादी शब्द में हाथ कता तथा हाथ बुना रेशमी वस्त्र भी शामिल है। पिछले दस वर्ष में ऊनी तथा रेशमी वस्त्रों की बड़े पैमाने पर बिक्री हुई है। उत्पादन के मामले में कमीशन कुछ सहायताएँ देता है, खास कर ऊनी खादी के लिए उन्नत धुनाई संयंत्रों और रेशमी खादी के लिए कुटीर कूण्डों (बेसीन) के रूप में। रेशम उद्योग में एक उचित स्तर पर प्रारिश्रमिक निर्धारित करने का प्रयास किया गया। और फिर, ऊनी तथा रेशमी खादी के उत्पादन को सभी स्तरों पर अधिकाधिक रूप से सहकारी आधार पर संगठित किया जा रहा है।

विदेशी बाजार की खोज

खादी उत्पादन ज्यों ही सूतकारों तथा बुनकरों की आवश्यकताओं से अधिक होता है, बाजार का

अध्ययन आवश्यक बन जाता हैं। खादी की बिक्री-व्यवस्था में मदद देने के लिए काफी तादाद में खादी भण्डार और खादी-ग्रामोद्योग भवन खोले गये। इनमें से अधिकांश भण्डारों तथा भवनों की स्थापना खादी और ग्रामोद्योग कमीशन से उपस्कर एवम् उपकरणों के लिए अनावर्ती अनुदान व सीमित अवधि के लिए आवर्ती प्रबन्ध अनुदान तथा संचालन पूंजी के रूप में प्राप्त सहायता से हुई। इन्हीं प्रयासों के कारण खादी की बिक्री जो आज से कोई दस वर्ष पूर्व एक करोड़ रुपये से कुछ ऊपर थी, अब करीब २० करोड़ रुपये तक पहुँच गयी हैं। केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विशिष्ट गुण-स्तर की खादी खरीदती हैं। लेकिन उनकी यह खरीद कुल बिक्री के १५ प्रति शत से अधिक नहीं है। फिर भी, स्तरीय विशिष्टताओं के पूर्ति-संगठन में जो अनुभव हुए हैं, उनसे यह आशा करने का आधार मिलता ह कि यदि खादी के निर्यात व्यापार के लिए जो प्रारम्भिक कदम उठाये गये हैं, उनसे संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे देशों में खादी के लिए माँग को प्रश्रय मिलता है, तो किसी साधारण पैमाने पर खादी का निर्यात सम्भव बनाया जा सकता है।

कपास की खेती

यह एक सर्व विदित तथ्य है कि न तो खादी कार्य के विकास के प्रारम्भिक तीस वर्षो में और न पिछले दस वर्ष में, हाथ कताई को एक लाभदायक पूरक धंधे के रूप में प्रस्थापित करने के प्रयासों में हरेक स्थान पर एक समान सफलता नहीं मिली है। भूतकाल में उन क्षेत्रों की ग्रामीण जनता ने एक वर्ग के रूप मे हाथ कताई को उदारतापूर्वक नहीं अपनाया जहां कपास की खेती होती है, जब कि इसके दूसरी ओर कपास की खेती न करनेवाले ऐसे क्षेत्र हैं जहां पर्याप्त खादी उत्पादन होता है। खादी मूल्यांकन समिति (अध्यक्ष: डाक्टर ज्ञानचन्द) ने यह सुझाया कि हाथ कताई प्रारम्भ और विकसित करने के लिए रूई की स्थानीय उपलब्धि को एक महत्वपूर्ण पहलू समझा जाना चाहिए। खादी उद्योग की दृष्टि से उत्तरी बिहार जैसे विकसित क्षेत्रों के दृष्टिकोण से समस्या पर विचार करते हुए खादी और ग्रामोद्योग कमीशन ने बिहार में कपास की खेती को प्रोत्साहन देने के लिए एक कार्यक्रम बनाया। बिहार सरकार के सहयोग से इस दिशा में किये गये प्रारम्भिक प्रयत्नों का फल सामने आने लगा है।

नया मोड़

देश के अनेक भागों में परम्परागत चरखों की सहज मांग के प्रत्युत्तर स्वरूप उत्पादित अधिकाधिक खादी की बिक्री का संगठन करने की स्थायी आवश्यकता के कारण खादी आन्दोलन से सम्बद्ध कुछ लोगों को भय है कि काम में लगे लोगों का वणिक दृष्टिकोण हो सकता है। अनेक केन्द्रों पर उत्पादन कार्य चलानेवाली संस्थाओं के विकास से उत्पादन-स्थल पर काम करनेवाले सूतकारों तथा बुनकरों में यह भावना पनप सकती है कि वे तो मजदूर मात्र हैं, किसी दूसरे के लिए काम कर रहे हैं (उक्त प्रकार के उत्पादन केन्द्रों की संख्या १,४१४ संस्थाओं के समक्ष ३,९३९ है)।

इस प्रकार की भावना न तो स्वस्थ विकास के लिए उत्प्रेरक है और न ही वह खादी के मौलिक सिद्धान्त के अनुसार है। खादी का उत्पादन ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का पुनर्निर्माण और आत्म-विश्वास तथा आत्म-निर्भरता की भावना का विकास करने के लिए एक साधन है। इस दृष्टिकोण में जो शक्ति ह उसे पहचानते हुए खादी और ग्रामोद्योग कमीशन ने १९५८-५९ में अपनी तीसरी पांचसाला योजना के दरमियान खादी कार्य का विस्तार करने के लिए कार्यक्रम को एक नया मोड़ देने का निर्णय किया।

ऐसा प्रस्ताव हुआ कि कार्यशीलता की इकाई पांच हजार की आबादीवाला एक गांव अथवा ग्राम-समूह हो। स्थानीय जनता–कृषक तथा अन्य–की यह एक प्रतिनिधि इकाई होगी, जिसे प्रथम तो अपनी वस्त्रावश्यकताओं में स्वावलम्बी बनने और द्वितीय अपने अर्द्ध अथवा पूर्ण बेरोजगार साथी ग्रामीणों को रोजगारी का विस्तृत क्षेत्र प्रस्तुत करने के लिए प्रेरित किया जाना चाहिए। तृतीय योजना के प्रथम दो वर्षों में तकरीबन १,००० ग्राम इकाइयाँ स्थापित हो चुकी हैं। इन इकाइयों से अपेक्षा है कि वे सुसंयोजित कृषि-औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था के अंग-स्वरूप हाथ कताई व हाथ बुनाई का प्रसार करने में अधिकाधिक उत्तरदायित्व सम्हालेंगी। परमावश्यक उपभोक्ता सामग्री के विकेन्द्रित उत्पादन कार्यक्रम का विस्तार करने की दिशा में यह एक उपनति है, जो ध्यान देने योग्य है।

हाथ धान कुटाई

खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के कार्यक्षेत्र में आनेवाले अधिकांश उद्योग मुख्यतः कृषि अथवा स्थानीय रूप से उपलब्ध अन्य कच्ची सामग्री का प्रशोधन करनेवाले परम्परागत ग्रामोद्योग हैं। प्रायः ये सभी उद्योग १९३४–३५ में अखिल भारत ग्रामोद्योग संघ के जरिये ग्रामोद्योगों के पुनरुद्धार तथा पुनर्गठन के लिए महात्मा गांधी ने जो कार्यक्रम चलाया था उसके अंग थे। कमीशन के कार्यक्रम के प्रत्युत्तर स्वरूप हाथ कुटे चावल तथा घानी तेल के उत्पादन में सुदृढ़ वृद्धि हुई है। यह वृद्धि कुछ तो कच्चे माल की खरीद तथा हस्त प्रशोधित माल की बिक्री के लिए प्रदत्त सहायता के कारण हुई है, लेकिन साथ ही उन्नत चक्कियों, अभिनव घानियों, उसावन पंखों व ढेंकियों जैसे बेहतरीन उपकरणों के कारण भी। फिर भी, यह मानना पड़ेगा कि यद्यपि अन्वेषण तथा अनुसंधान के क्षेत्र में प्रगति हुई है, तथापि हाथ धान कुटाई अथवा तेल पेराई की प्रक्रिया में कोई विशेष उत्पादकता वृद्धि नहीं हो पायी है।

सेना की ओर से मांग

गन्ने तथा नीरा से गुड़-खाण्डसारी बनाना भी एक पारम्परिक उद्योग है। दोनों ही क्षेत्रों में अच्छी प्रगति हुई है। इसका कारण वित्तीय सहायता का दिया जाना कोई विशेष नहीं है, बल्कि यह कि जिन सीमित क्षेत्रों में उक्त उद्योगों का काम हुआ उनमें उत्पादन के साधन-सरंजाम और प्रविधियों में विशिष्ट सुधार लाये गये। गन्ने की पेराई तथा चीनी तैयार करने के लिए सेण्ट्रीफ्यूगल के संचालन में शक्ति के उपयोग की अनुमति दी जा चुकी है। प्रयोग चल रहे हैं, जिनसे निर्वात कड़ाह प्रक्रिया से चीनी उत्पादन के लिए आम तौर पर बालिस्तिया संयंत्र (मिजेट प्लाण्ट) अपनाने को प्रश्रय मिल सकता है। सेना के लिए गुड़ की बढ़ी हुई मांग पूरी करने हेतु चालू वित्तीय वर्ष में ऊंची जात का अधिक गुड़ तैयार करने पर विशेष जोर दिया गया है।

अखाद्य तेल और साबुन

इसी प्रकार प्रशिक्षणान्तर्गत एवम् सक्रिय सेना के लिए अच्छे गुण-स्तर के साबुन की मांग भी बढ़ सकती है। हो सकता है कि किसी हद तक उक्त मांग दीर्घ स्तर के साबुन उत्पादक कारखानों में सघन उत्पादन कर पूरी की जा सकती हो। फिर भी, स्थानीय मांग बढ़ी है और उसे अखाद्य तेलों से साबुन बनाकर पूरी करने की कोशिश की जा रही है। बड़े कारखाने अब तक साबुन उत्पादन में अधिकांशतः मूंगफली तथा नारियल के तेल का इस्तेमाल करते रहे हैं। केवल पिछले चन्द वर्षों में ही उन्होंने इनके स्थान पर अखाद्य तेलों का व्यवहार करने की ओर ध्यान दिया है। पहाड़ों और जंगलों में अखाद्य तिलहन बहुतायत में मिलते हैं। इनसे आदिवासी जनता के सामने रोजगारी के नये अवसर प्रस्तुत हुए हैं,

खास कर यदि वे उक्त काम को सहानुभूतिपूर्वक अपनायें। इसके अतिरिक्त अखाद्य तिलहन संग्रह में रोजगारी की क्षमता—यद्यपि मौसमी और आंशिक—काफी है, तथा कमीशन को मालूम हुआ है कि इस स्रोत से पूरक आमदनी प्राप्त करनेवाले व्यक्ति ग्रामीण समाज के सब से कमजोर वर्ग हैं।

मधुमक्खी पालन

मधुमक्खी-पालन एक दूसरा ग्रामोद्योग है, जिसके सम्बन्ध में कमीशन का कार्यक्रम न केवल वनों में रहनेवाले आदिवासियों के लिए, बल्कि मैदानों में रहनेवाले कृषकों और उद्यान कर्मियों अर्थात् बागवानी का काम करनेवालों के लिए भी है। पिछले दस वर्ष की अवधि में प्रायः समूचे देश भर में फैले हुए अपने खुद के मधुमक्खी-छत्ते रखनेवाले मधुपालकों की संख्या काफी बढ़ी है और इसी प्रकार अहिंसक मधु उत्पादन तथा बिक्री भी बढ़ी है। इस उद्योग में लोक रुचि जागृत करने—खास करके देहाती क्षेत्रों में—हेतु कमीशन द्वारा किये गये प्रयासों के प्रत्युत्तर स्वरूप इस उद्योग की परागाधान की दृष्टि से जो उपयोगिता है उसे धीरे-धीरे पहचाना जा रहा है। पहाड़ी मक्खियों (रॉक-बी, जिसे कहीं-कहीं भिड़ मक्खी भी कहा जाता है) को सम्हालने और स्वस्थ अवस्थाओं के अन्तर्गत भिड़-मक्खी-शहद के उत्पादन की दिशा में प्रयत्न किये गये हैं। अहिंसक मधु की शुद्धता के लिए स्तर निर्धारित किये जा रहे हैं तथा **एपिस इण्डिका**—जो कि भारत में मधु प्रदायक है—के जीवन एवम् तद्विषयक समस्याओं का और आगे अध्ययन करने के लिए शीघ्र ही एक केन्द्रीय अनुसंधानशाला स्थापित की जायेगी।

हाथ कागज

अखिल भारत ग्रामोद्योग संघ के कार्यक्रम में हाथ कागज उत्पादन का एक महत्वपूर्ण स्थान था। परम्परागत तरीकों के अनुसार हाथ कागज का उत्पादन अपनी मरणावस्था को पहुँच चुका था। लेकिन गांधीजी की प्रेरणा से उद्योग को पुनर्जीवित करने के प्रयास किये गये और उन्होंने हाथ कागज की मांग को जो प्रोत्साहन दिया उसके फलस्वरूप इसका उत्पादन अनवरत रूप से बढ़ता रहा है; विशेष कर दस वर्ष पूर्व खादी और ग्रामोद्योग मण्डल ने हाथ कागज उद्योग कार्यक्रम अपने हाथ में लिया तब से उद्योग के गठन में एक वास्तविक रूपान्तर लाया जा चुका है। सामाजिक अथवा सहकारी आधार पर लुग्दी तैयार करने के लिए यंत्र संचालित बीटर के प्रयोग से रोजगारी के परिमाण में कमी के स्थान पर वृद्धि करने में सहायता मिलती है और इस प्रकार के यांत्रिक उपकरणों से रद्दी सफेद कागज तथा कतरनों, जिनका परम्परागत रूप से इस्तेमाल होता रहा है, के अतिरिक्त अन्यान्य प्रकार की कच्ची सामग्री से लुग्दी तैयार करना सम्भव है। ऊंची जात एवम् विशेष किस्मों के कागज उत्पादन पर विशेष ध्यान दिया गया है, जिनके लिए देश में विस्तृत बाजार है। चूंकि जापान में हाथ कागज उत्पादन एक बहुत अच्छी कला का रूप प्राप्त कर चुका है, इसलिए उस देश के अनुभवों से शिक्षा प्राप्त करने का प्रयास किया गया।

कुटीर दियासलाई

कुटीरोद्योगिक आधार पर दियासलाई उत्पादन हमारा परम्परागत ग्रामोद्योग नहीं है। फिर भी, मुख्यतः सोदपुर (कलकत्ता) के श्री सतीश चन्द्र दास गुप्त, जो कि शुरू-शुरू में कमीशन के कुटीर दियासलाई कार्यक्रम के अधीक्षक थे, के आग्रह पर गांधीजी ने इस उद्योग को प्रोत्साहन दिया। श्री गुप्त द्वारा तैयार की गयी प्रक्रियाओं तथा अन्य उपकरणों में कुछ फेर-बदल हुए हैं और कुछ सीमित स्थानों पर अब इस उद्योग का उत्पादन कार्य कुशलतापूर्वक चल रहा है। जिन इकाइयों की दैनिक उत्पादन क्षमता २५ ग्रूस दियासलाइयों से ज्यादा नहीं है वे विशेष रूप से घटी दरों

के अनुसार उत्पादन-शुल्क देती हैं। पुनर्गठित आधार पर उद्योग का और आगे विकास करते हुए महिलाओं को अधिकाधिक संख्या में उनके घरों पर ही साधारण उपकरणों की सहायता से बांस अथवा स्थानीय रूप से उपलब्ध अन्य प्रकार की नरम लकड़ी से खपचियां (स्प्लिण्ट) बनाने के काम में रोजगारी दी जा सकती है।

ग्रामीण चर्मोद्योग

शवच्छेदन, चर्मशोधन और चर्म सामग्री उत्पादन का जिक्र किये बिना उक्त सर्वेक्षण अधूरा रहेगा। चर्मोद्योग के उक्त अंग परम्परागत उद्योग हैं, लेकिन जिस ढंग से वे किये जाते हैं वह ऐसा है कि इन कामों में लगे कारीगरों के लिए अपने काम से आय का स्तर ऊंचा उठाना अथवा स्वयम् काम की अवस्थाओं में सुधार करना सम्भव नहीं है। शवच्छेदन तथा चर्म-शोधन, दोनों ही प्रक्रियाओं में उत्पादन-अकुशलता के अलावा मृत पशु के शव का इस प्रकार उपयोग किया जाता है कि उसके अधिकांश कीमती अवयव बेकार, बर्बाद जाते हैं। पशु शव के सभी उपयोगी अवयवों का उपयोग करने की बात महात्मा गांधी ने न केवल ग्रामोद्योग कार्यक्रम के अभिन्न अंग की दृष्टि से, बल्कि गो सेवा आन्दोलन की एक परमावश्यक अनुलग्न वस्तु की दृष्टि से भी कही थी। इस दिशा में कमीशन ने जो प्रयास किये हैं, उनसे यह आशा की जा सकती है कि उनका गांवों में विस्तार होने से न केवल राष्ट्र की सम्पत्ति में वृद्धि होगी, बल्कि इस उद्योग में पेशेवर दृष्टि से लगे लोगों की आय भी बढ़ेगी, जो कि मुख्यतः अनुसूचित जातियों के व्यक्ति हैं।

रद्दी से रुपया

खादी और ग्रामोद्योग कमीशन अधिनियम की अनुसूची में शामिल किये गये चार अन्य उद्योग कमीशन की स्थापना के बाद जोड़े गये। ये चार उद्योग हैं: गोबर से मिथेन गैस और खाद-उत्पादन, भवन निर्माण में चूना पत्थर का अधिकाधिक उपयोग, बढ़ई-गीरी और लुहारगीरी तथा रेशा निकालना एवम् उससे उत्पादन तैयार करना। इन चारों में ही ऐसी सामग्री से राष्ट्र की सम्पत्ति में वृद्धि करने की महान सम्भाव्यता है, जो या तो बर्बाद जाती है अथवा अपर्याप्त रूप से उपयोजित होती है या फिर उसका ठीक तरह से उपयोग नहीं होता। ऐसे पेड़-पौधों की देश भर में भरमार है, जिनसे रेशा निकाला जा सकता है। इसके अलावा केले के तने जैसे स्रोत हैं, जिनसे रेशा प्राप्त किया जा सकता है और जिनका अब तक उपयोग नहीं हुआ है। जैसी कि कमीशन की योजना है, यदि इस उद्योग का उचित संगठन किया जाय तो देश के प्रायः सभी देहाती क्षेत्रों में और यहाँ तक कि जंगलों में भी इसे अपनाया जा सकता है, जिससे गाँवों और आदिवासी जनता में जिन चीजों की आम तौर पर मांग रहती है उनका अच्छे गुण-स्तर के साथ उत्पादन कर काफी लोगों को रोजगारी दी जा सकती है।

राज्यों में संगठन

लेख के प्रारम्भ में संगठनात्मक स्वरूप का कुछ जिक्र किया गया है। जब प्रथम पंच वर्षीय योजना में एक अखिल भारतीय मण्डल के जरिये कार्यक्रम का कार्यान्विय किया जाना शामिल किया गया तो योजना आयोग ने इच्छा प्रकट की थी कि राज्य स्तर पर भी ऐसे ही संगठन हों, जो अपने-अपने राज्यों में कार्यक्रम का भार सम्हालें। तदनुसार सभी राज्यों में वहां के कानूनों के अन्तर्गत मण्डलों की स्थापना हो चुकी है। मण्डलों का गठन अनेक मामलों में अलग-अलग है, लेकिन उनके अधिकार और कर्तव्य कम-ज्यादा रूप में सभी जगह एक समान ही हैं। कुछ मण्डलों ने कार्यक्रम के संगठन अथवा उसकी देख-रेख के लिए अपना खुद का तंत्र खड़ा कर लिया है, जब कि कुछ दूसरे क्षेत्रीय कार्य के लिए

राज्य सरकारों के सहकार और उद्योग विभागों के कर्मचारियों पर निर्भर करते हैं। कुछ में मंत्री राज्य मण्डलों के अध्यक्ष हैं, जब कि अधिकांश के अध्यक्ष गैर सरकारी व्यक्ति हैं। अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मण्डल की बैठक में राज्य मण्डलों के प्रतिनिधि आमंत्रित किये जाते हैं।

जहाँ अधिकांश खादी उत्पादन कार्य पुरानी पंजीकृत संस्थाओं के जरिये चलता है, वहाँ विभिन्न वर्गों के कारीगरों की सहकारी समितियाँ अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मण्डल की स्थापना से पूर्व भी थीं, जैसे ताड़-गुड़, चर्म शोधन, तेल पेराई अथवा हाथ धान कुटाई उद्योग में लगे कारीगरों की प्राथमिक सहकारी समितियाँ। बाद में कारीगरों की प्राथमिक सहकारी समितियाँ गठित कर प्रायः सभी परम्परागत ग्रामोद्योगों, मधुमक्खी-पालन तथा हाथ-कागज उद्योग में भी सहकारी समितियाँ गठित की जा चुकी हैं। इन सहकारी समितियों की कठिनाइयों पर विचार करने तथा विभिन्न राज्यों में सहकारी विभागों अथवा कुटीर उद्योग विभागों से सम्पर्क बनाये रखने के लिए कमीशन में एक अलग अनुभाग है। इस प्रकार का सम्पर्क आम तौर पर राज्य मण्डलों के सहयोग से बनाया रखा जाता है। जैसा कि प्रथम पंच वर्षीय योजना के प्रतिवेदन में योजना आयोग ने ठीक ही कहा था, "आयोजित विकास में सहकार एक ऐसा साधन है, जो कि विकेन्द्रीकरण तथा स्थानीय अभिक्रम के कुछ लाभों का फायदा उठाते हुए, योजना के समग्र उद्देश्यों और दिशाओं का भी स्वेच्छापूर्वक एवम् तत्परता के साथ हित साधन कर सकेगा।"

६ अप्रैल १९६३

उपभोक्ताओं को जो कीमतें चुकानी पड़ती हैं, वे बहुत उँची होती हैं, कभी-कभी तो फसली मूल्यों से दुगुनी। फसल काटने के बाद अपने उत्पादन को तुरन्त बेचने के अलावा प्रतिपालन का अन्य कोई जरिया न होने की वजह से किसानों को बाध्य होकर कम कीमत पर अपना सामान बेचना पड़ता है। किसान और उपभोक्ता के बीच कई बिचवानिये आ जाते हैं तथा मूल्यान्तर का काफी हिस्सा बटा लेते हैं। कृषि अर्थ-व्यवस्था का यह एक हतोत्साहित करनेवाला पहलू है। जब तक किसानों को उचित मूल्य नहीं मिलता, उनमें १९६१–७१ के दरमियान चलनेवाले कार्यक्रम की सफलता के लिए आवश्यक उत्प्रेरणा और क्षमता का अभाव रहेगा। कृषकों के लिए उचित मूल्यों की प्राप्ति सुनिश्चित करने में सहकारी बिक्री-व्यवस्था से बहुत मदद मिल सकती है। फिर भी, सरकार को चाहिए कि वह गोदामों तथा यातायात सम्बन्धी पर्याप्त सुविधाएं उपलब्ध कराये।

—*टेक्नो-इकनॉमिक सर्वे ऑफ् वेस्ट बंगाल* : नेशनल कॉउन्सिल ऑफ् अप्लाइड इकनॉमिक रिसर्च, नयी दिल्ली।

ग्रामीण विकास और शहरीकरण

विजयेन्द्र कस्तूरी रं. व. राव

शहरीकरण एक अप्रतिवर्त्य प्रक्रिया है। प्रस्तुत लेख में डाक्टर राव ग्रामीण विकास और शहरीकरण के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करते हैं, इस बारे में कुछ सुझाव देते हैं कि ग्रामीण विकास तथा शहरीकरण के बीच आदर्श सम्बन्ध कैसा होना चाहिए एवम् चन्द ऐसे नीति-मूलक उपायों का निदर्शन करते हैं जिनसे आदर्श व यथार्थ के मध्य अधिक सामिप्य लाने में सहायता मिल सके। यह लेख जेनेवा में फरवरी १९६३ में 'विज्ञान और प्रविधि के प्रयोग' पर संपन्न संयुक्त राष्ट्र संघीय सम्मेलन के ग्रामीण विकास और शहरीकरण पर विचार करने के लिए हुए विशेष अधिवेशन में पढा गया था।

शहरीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जो एक बार किसी समाज के सामन्तशाही तथा औपनिवेशिक कीचड़ से निकल कर राजनैतिक स्वतंत्रता, औद्योगीकरण और आर्थिक विकास के मार्ग पर अग्रसर होने के बाद रोकी नहीं जा सकती। परिभाषा की दृष्टि से शहरीकरण का तात्पर्य है घनीभूत जन-संख्या-केन्द्रों का प्रादुर्भाव और शहरीकरण की प्रक्रिया के माने हैं शहरी केन्द्रों की संख्या तथा उनकी आकार वृद्धि, दोनों ही दृष्टियों से कुल जन-संख्या में इस प्रकार की आबादी के अनुपात की वृद्धि। जहाँ शहरीकरण के फलस्वरूप गंदी बस्तियों, पारिवारिक व्यवस्था टूटने यानी अलग-अलग परिवारों के हो जाने, यौवन सम्बन्धी अपराध, वेश्यावृत्ति तथा बेकारी जैसी सामाजिक समस्याएँ खड़ी होती हैं, वहाँ इसका अर्थ यह भी है कि इसके साथ ही प्रायः सतत रूप से अधिक सामाजिक तथा सांस्कृतिक सेवाओं, उच्च औसत व्यक्तिगत आय और व्यय-स्तर का प्राप्त होना। सरकार, उद्योग, विदेशी व्यापार, पेशे, विज्ञान तथा प्रविधि जैसे आधुनिक समाज के सभी शक्तिशाली पहलू यदि अपने दर्शन की दृष्टि से नहीं तो भी झुकाव की दृष्टि से शहरी हैं, और ये शहरी क्षेत्रों में उत्पादन तथा उपभोग दोनों के लिए अपेक्षाकृत अधिक आय व बहुमुखी अवसर प्रदान करने के अतिरिक्त किसी हद तक प्रगतिशीलता की ओर भी ले जाते हैं। अतएव आवश्यक रूप से ही शहरी क्षेत्रों का 'पलड़ा' ग्रामीण क्षेत्रों से भारी रहता है, और ग्रामीण आबादी का अनवरत बहिर्गमन होता है; गांवों से शहरों में लोगों के आने से उनकी जन-संख्या दृढ़तापूर्वक बढ़ने को प्रश्रय मिलता है।

उक्त प्रक्रिया उन कारणों अथवा पहलुओं से और भी तीव्र हो जाती है जो ग्रामीण आबादी को गांवों से बाहर 'धकेलते' या 'बाध्य' करते हैं। ये पहलू अथवा कारण हैं गांवों में चलनेवाले धंधों से कम आमदनी, बहुत ही नीचे स्तर पर सामाजिक तथा सांस्कृतिक सेवाओं की उपलब्धि और गांवों में उपलब्ध काम-धंधों में वैविध्य का अभाव तथा बहुत बड़े परिमाण में अर्द्ध और गुप्त बेरोजगारी का होना, जो कि समाज के आधुनिकीकरण तथा शहरी प्रभाव के बढ़ने व फैलने के कारण पारम्परिक मूल्यों के बदल जाने के साथ प्रत्यक्ष एवम् 'अरुचिकर' होने लगती है।

संयोजन आवश्यक

साथ ही साथ शहरीकरण एक खर्चीली प्रक्रिया है। आवश्यक शहरी अवस्थापना निर्मित करने का व्यय विकासोन्मुख देशों के बूते के बाहर है। बढ़ती हुई शहरी आबादी राजनैतिक तथा आर्थिक अशांति का केन्द्र बनने लगती है और राजनैतिक अस्थिरता

के कारण विकास की प्रक्रिया रुक जाने व किसी दूसरी ओर मुड़ जाने का महान खतरा है। अतएव ग्रामीण विकास करना परमावश्यक है। ग्रामीण विकास न केवल शहरीकरण की अस्वस्थ और अलाभदायक गति रोकने के लिए, बल्कि ग्रामीण जनता के रहन-सहन की अवस्थाओं तथा आर्थिक उत्पादकता में सुधार लाने एवम् फलस्वरूप आर्थिक विकास की राष्ट्रीय गति व समग्र राष्ट्रीय उत्पादन के परिमाण में तीव्रता लाने, वृद्धि करने और स्वयम् ग्रामीण क्षेत्र के हित के लिए भी आवश्यक है। विकासोन्मुख देशों में ग्रामीण कामगारों का अनुपात समूचे देश के कामगारों में इतना अधिक—साधारणतः ७० से ९० प्रति शत तक—होता है कि उनकी उत्पादकता बढ़ाये बिना समग्र राष्ट्रीय उत्पादन की गति में कोई उल्लेखनीय वृद्धि करने अथवा तीव्रता लाने की विशेष गुँजाइश नहीं रहती। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि विकासोन्मुख देशों के लिए शहरी तथा ग्रामीण दोनों प्रकार का विकास ही 'अनिवार्य' है। इसलिए बुद्धिमानी इसमें है कि इन दोनों के विकास में संयोजन हो और वे एक दूसरे के विकास की गति में सहायक हों, यह नहीं कि वे एक ऐसी स्थिति की ओर ले जांय, जिसमें एक के विकास की कीमत दूसरे को चुकानी पड़े तथा न केवल शहरी-ग्रामीण असमानताएँ बढ़ें ही, बल्कि अस्वस्थ और समस्या-मूलक शहरी विकास एवम् गतिहीन व अपने आप विलम्बित होनेवाला ग्रामीण विकास हो।

सामुदायिक विकास

शहरीकरण तथा ग्रामीण विकास के बीच आयोजित परिपूरकता का कोई विशेष प्रमाण हमें दृष्टिगोचर नहीं होता। हमारे आयोजित विकास के पिछले बारह वर्ष के दरमियान हम भारत में इस दिशा में एक शौर्यपूर्ण प्रयास कर रहे हैं। हमने एक राष्ट्रव्यापी सामुदायिक विकास कार्यक्रम चलाया है। देश की समग्र ग्रामीण जन-संख्या को खण्डों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक खण्ड में ६० हजार से ८० हजार तक की आबादीवाले तकरीबन १०० गाँव होते हैं। बहु-सेवोपयोगी ग्राम स्तरीय कार्यकर्त्ता नियुक्त किये गये हैं। एक कार्यकर्त्ता के अन्तर्गत करीब दस गाँव होते हैं। खण्ड स्तर पर उसकी सहायता तथा मार्गदर्शन के लिए कृषि, पशु-चिकित्सा, विज्ञान, स्वास्थ्य, सड़क-निर्माण, लघु उद्योग, सहकार और सामाजिक शिक्षा से सम्बन्धित प्राविधिक कर्मचारी होते हैं। ग्राम समितियों और सहकारी समितियों, खण्ड समितियों, तथा हाल ही में पंचायत राज की स्थापना में—जिसके अन्तर्गत निर्वाचित संस्थाओं को स्थानीय रूप से अभीप्सित तथा उत्पादक योजनाएँ चलाने के लिए कार्यपालिका सम्बन्धी अधिकार और वित्तीय साधन-स्रोत उपलब्ध करवाये गये हैं—लोक भागीदारी की गुंजाइश रखी गयी है।

बढ़ती हुई असमानताएँ

भारत में सामुदायिक विकास कार्यक्रमों का परिणाम जहाँ ग्रामीण क्षेत्रों में शहरी क्षेत्रों के सम रूप सामाजिक-सांस्कृतिक सेवाओं का स्वरूप खड़ा करने में नहीं निकला है और खेतिहर श्रमिकों तथा ग्रामीण समाज में अन्य कमजोर वर्गों की आर्थिक समस्या सुलझाने में भी वे सफल नहीं हुए है, वहाँ निस्संदेह वे कृषि उत्पादन में वृद्धि करने (दस वर्ष में करीब ३८ प्रति शत) में सहायक हुए हैं, देहातों में शहरी प्रभाव व इच्छाएँ ला सके हैं और एक खेतिहर मध्यम वर्ग के प्रादुर्भाव में मददगार हुए हैं, जो कि प्रगतिशील उत्पादन प्रवृत्ति दर्शाता है, आधुनिक विज्ञान और प्रविधि के प्रयोग की ओर जिसका झुकाव है तथा जो कृषि को एक जीवन मार्ग न समझकर व्यवसाय समझता है। लेकिन यह तथ्य फिर भी शेष ही है कि आय की शब्दावली में शहरी-ग्रामीण असमानताएँ कम नहीं हो रही हैं तथा रोजगारी के वैविध्यकरण और सामाजिक-सांस्कृतिक सेवाओं के स्तर की दृष्टि से वे वस्तुतः बढ़ रही हैं। जहाँ इससे भारत और कुछ

अफ्रीकी देशों में एक-से ग्रामीण आबादी बहिर्गमन को प्रश्रय नहीं मिला है--भारत में शहरी आबादी १९५१ में कुल का १७·४ प्रति शत थी जो १९६१ में बढ़कर मात्र १७·९ प्रति शत ही हुई--वहाँ यह भी है कि जो ग्रामीण-शहरी स्थिति सामने आयी है वह सन्तोषप्रद नहीं है। ग्रामीण विकास को शहरीकरण के साथ अपेक्षाकृत अधिक संयोजित तथा पूरक आधार पर प्रतिष्ठापित करने के लिए कुछ और अधिक उपाय काम में लाने, प्रयास करने की आवश्यकता है।

शहरों की ओर बहिर्गमन

भारत यांत्रीकरण की नीति का अनुकरण भी करता रहा है। ऐसा करना अपरिहार्य है--लोकतंत्र और विकासात्मक आयोजन अपनाने के साथ सरकार तथा प्रशासन की अधिकाधिक भूमिका के कारण ही नहीं, बल्कि जान-बूझकर, सोच-समझ कर औद्योगीकरण की नीति का हम अनुसरण कर रहे हैं, उसके कारण भी। इससे न केवल शहरी आबादी में वृद्धि, बल्कि भीलाई, राउरकेला और दुर्गापुर के इस्पात के कारखानों, चितरंजन में रेलगाड़ी के इंजिनों के कारखाने तथा सिंदरी में प्रांगारिक खाद के कारखाने जैसे चन्द नव निर्मित औद्योगिक संयंत्रों के के आस-पास नयी एवम् सुआयोजित शहरी बस्तियों (टाउनशिप) की स्थापना भी हुई है। जनगणना दशक १९५१-६१ के मध्य भारत में शहरी आबादी १ करोड़ ६० लाख बढ़ी है, लेकिन इस दशक में उसकी वृद्धि-दर कुल २१·४ प्रति शत जन-संख्या वृद्धि के समक्ष केवल २६·६ प्रति शत ही रही है। स्पष्टतः उक्त दशक में उससे पूर्ववर्ती दशक की अपेक्षा गांवों से शहरों की ओर लोगों का बहिर्गमन बहुत कम रहा है; क्योंकि उस दशक में शहरों की जन-संख्या वृद्धि की दर समग्र जन-संख्या वृद्धि की दर १४ प्रति शत के समक्ष ३९·३ प्रति शत रही थी।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस कमी का कुछ कारण तो उक्त दशक में ग्रामीण विकास में हुई प्रगति में मिलेगा और कुछ इस विकास के फलस्वरूप ग्रामीण क्षेत्रों में 'धकेलक' पहलुओं की शक्ति शिथिल पड़ जाने में। लेकिन किसी हद तक सम्भवतः यह शहरी क्षेत्रों में औद्योगिक विकास की अपर्याप्त और शहरी आबादी में निरपेक्ष संख्या की दृष्टि से काफी वृद्धि होने से 'भारी पलड़े' के हल्के पड़ जाने के कारण भी है। किसी भी हालत में सामाजिक-सांस्कृतिक सेवाओं और रोजगारी के वैविध्यकरण तथा उससे होनेवाली आय के स्तर की दृष्टि से शहरी एवम् ग्रामीण क्षेत्रों के मध्य असमानताएं पायी जाती हैं; और इसमें कोई सन्देह नहीं कि ग्रामीण विकास को शहरीकरण के साथ पूरक बनाने तथा संयोजित करने के लिए सोद्देश्य नीति-विषय उपाय काम में लाने की जरूरत है।

नीति विषयक उपाय

ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगारी के अवसरों में विविधता, ग्रामीण आय के स्तर में वृद्धि और देहाती क्षेत्रों में सामाजिक-सांस्कृतिक सेवाओं के स्तर में वृद्धि लाने की आवश्यकता है। शहरी क्षेत्र में जरूरत इस बात की है कि न केवल शहर की बसावट के सभी पहलुओं की दृष्टि से आयोजन (टाउन प्लानिंग) किया जाय, बल्कि बड़े शहरों या नगरों के आकार की एक सीमा भी निर्धारित की जाय, और छोटे शहरों को जानबूझ कर प्रोत्साहन दिया जाय ताकि शहर तथा देहात के मध्य अनुबन्ध स्थापित करना आसान हो। यह सही है कि यह सब हासिल करने के लिए भूमि सुधार, चकबन्दी तथा कृषि में विज्ञान व प्रविधि का प्रयोग करना पड़ेगा। लेकिन मात्र कृषि उत्पादन बढा लेने से ही खेतिहर मजदूरों और उनके न्यून आय-स्तर की समस्याएँ नहीं सुलझ जायेंगी। और, यह भी आवश्यक नहीं कि ऐसा करने से रोजगारी के क्षेत्र में विविधता आ ही जायेगी।

यह भी स्पष्ट है कि जब तक गांव छोटे रहेंगे तब तक उन्हें किसी उपयुक्त सीमा तक सामाजिक–आर्थिक सेवाएँ उपलब्ध करवाना आर्थिक दृष्टि से सम्भव नहीं होगा। अतएव जरूरत इस बात की है कि कुछ नीति विषय कदम उठाये, उपाय काम में लाये जायें, जिनका उद्देश्य हो:

१. देहाती क्षेत्रो में उद्योगों, शैक्षणिक और पेशेवर संस्थाओं की स्थापना;

२. कृषि और स्थानीय रूप से उपलब्ध प्राकृतिक साधन-स्रोतों से सम्बन्धित ग्राम तथा अन्य देहाती उद्योगों को प्रोत्साहन देना;

३. छोटे-छोटे शहरों की स्थापना, जिनके चारों ओर आस-पास में गाव बसे हों तथा जो गांवों को सामाजिक-सांस्कृतिक सेवाएँ और विविध प्रकार की रोजगारी मुहैया करवायें। इन्हें देहाती शहर कहा जा सकता है। इस समूची प्रक्रिया को मात्र ग्रामीण विकास अथवा शहरीकरण कहने के बदले 'ग्राम्य शहरीकरण' कहा जा सकता है; और

४. बड़े शहरों और नगरों की वृद्धि को नियमित बनाने के लिए विशेष उपाय काम में लाये जायें, तथा नवागंतुकों को शिक्षण, शहरी अनुशासन व संयमन का प्रशिक्षण देकर एवम् जहाँ-कहीं सम्भव हो आवास-व्यवस्था प्रदान कर, विशेष सुविधाएँ निर्मित की जानी चाहिए।

मेरा विश्वास है कि किसी इसी प्रकार के ढंग से सुसंयोजित ग्रामीण विकास तथा शहरीकरण की समन्वित नीति निर्धारित करना सम्भव हो सकेगा। ●

पश्चिम बंगाल की कुल कार्यकारी शक्ति में ७६ लाख ५० हजार पुरुष (८४%) हैं और १४ लाख ४० हजार (१६%) महिलाएँ। इसका तात्पर्य है प्रत्येक १०० मर्दों के पीछे १८ औरतें काम करती हैं। पुरुषों के लिए कुल भागीदारी ८७ प्रति शत और महिलाओं के लिए १९ प्रति शत है।

ग्रामीण कार्यकारी शक्ति ६५ लाख ४० हजार (कुल कार्यकारी शक्ति का ७२ प्रति शत) है और सकल ग्रामीण भागीदारी ५५ प्रति शत। ग्रामीण कार्यकारी शक्ति में पुरुष ८१ प्रति शत (५३ लाख ३० हजार) और महिलाएँ १९ प्रति शत (१२ लाख १० हजार) हैं। ग्रामीण पुरुष भागीदारी ८७ प्रति शत और महिला भागीदारी मात्र २१ प्रति शत है। ग्रामीण क्षेत्र में प्रति १०० कर्मी मर्दों के पीछे मात्र २० औरतें हैं। शहरी कार्यकारी शक्ति २५ लाख ५० हजार यानी कुल शहरी भागीदारी ६१ प्रति शत है। शहरी कार्यकारी शक्ति में २३ लाख २० हजार पुरुष (९१%) और २ लाख ३० हजार (९%) महिलाएँ हैं। शहरी मर्दों की भागीदारी ८७ प्रति शत और औरतों की मात्रा १६ प्रति शत है। शहरी क्षेत्र में प्रति १०० कर्मी पुरुषों के पीछे मात्र १० कर्मी महिलाएँ ही हैं।

—*टेक्नो-इकनॉमिक सर्वे ऑफ् वेस्ट बंगाल*: नेशनल काउन्सिल ऑफ् अपलाइड इकनॉमिक रिसर्च, नयी दिल्ली।

खादी के लिए मुफ्त बुनाई योजना

ध्वजा प्रसाद साहू

खादी उद्योग के पुनरुद्धार के पीछे उद्देश्य था कि ग्रामीणों को अपनी कपड़े सम्बन्धी आवश्यकताओं के मामले में स्वावलम्बी बनाया जाय। इस दिशा में अब तक जो प्रगति हुई है, उसे कोई विशेष सन्तोषजनक नहीं समझा जा सकता। खादी के लिए मुफ्त बुनाई की योजना यदि सक्रिय तथा उत्साहप्रद रूप से लोक-सहयोग प्राप्त कर कार्यान्वित हुई, तो उससे खादी सस्ती होने के साथ ही साथ एक ही छलांग में करोड़ों लोगों का अन-प्रियपरिधान भी बन जायेगी।

खादी का काम लगभग चालीस वर्ष पहले प्रायः शून्य से आरम्भ किया गया। इस काम को फैलाने के लिये अखिल भारत चरखा संघ बना, जिसकी निरन्तर कोशिश से सारे देश में तीन-चार लाख चरखे ग्रामीण जनता के घरों में दाखिल किये गये। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन बनने के बाद चरखों की संख्या लगभग १३ लाख हो गयी है; हजारों संस्थाएँ बनी हैं, जिनके द्वारा खादी का उत्पादन हो रहा है। लगभग पचीस हजार कार्यकर्त्ता भी इस काम में पूरे समय के लिये लगे हुए हैं।

खादी का उत्पादन स्वयम् या ग्रामवासियों के व्यवहार के लिए होगा, यह मकसद था। लेकिन घटना-चक्र से इस उद्देश्य पर संस्थाएँ डटी नहीं रहीं, और खादी को बाजार में लाया गया। इसमें किसी की भूल नहीं थी, बल्कि परिस्थिति से मजबूर होकर ऐसा करना पड़ा। खादी को महात्मा गांधी ने जन्म दिया और उसका पोषण काँग्रेस के द्वारा हुआ। काँग्रेस ने अपने सदस्यों के लिए खादी पहनना अनिवार्य बनाया। काँग्रेस के नेता शहरों में रहते थे और जिलों तथा प्रान्तों के दफ्तर शहरों में होते थे। अतएव उनकी सहूलियत के लिए खादी संस्थाएँ शहरों में दूकानें खोलने के लिए मजबूर हुईं। जो पद्धति आरम्भ में कायम हुई, वह आज तक चल रही है। उत्पादन खुद के इस्तेमाल के लिए होना चाहिए, यह विचार पीछे पड़ गया और दूकानदारी के जरिये खादी बेचने का आकर्षण बढा।

खादी पर सरकार ने रिबेट दिया, जिससे उसके उत्पादन में यथेष्ट वृद्धि हुई, पर चूंकी खादी रिबेट के बावजूद मंहगी पड़ती है, इसलिए उसका विस्तार प्रायः रुक-सा गया है। बड़ी-बड़ी संस्थाएं, जिनका खादी उत्पादन में तीन-चौथाई हिस्सा है, और अधिक काम बढाने से हिचकने लगी है। उनके सामने खादी बिक्री का सवाल रिबेट के बावजूद रहता ही है, लेकिन इससे भी ज्यादा कठिनाई संस्था को व्यवस्थित ढंग से चलाने की रहती है।

कार्यकर्त्ताओं के साथ संस्थाओं का आपसी सम्बन्ध कभी एक कुटुम्ब जैसा था, पर अब जबकि बड़ी-बड़ी संस्थाओं में कार्यकर्त्ताओं की संख्या हजारों तक पहुँच चुकी है, वह प्रेमल सम्बन्ध पहले जैसा नहीं रह गया है। अब जहाँ-तहाँ संचालकों, व्यवस्थापकों और दूसरे कार्यकर्त्ताओं में परस्पर विश्वास के वातावरण का अभाव दृष्टि गोचर होने लगा है। ऐसी स्थिति में वह उत्साह नहीं पाया जाता, जो कभी पहले था। भाईचारे की जगह पर शासन का सहारा लेना पड़ता है, जिस कारण कार्यकर्त्ताओं में उद्देश्य के प्रति निष्ठा नहीं पैदा होती।

सम्बन्ध परिवर्तन

कार्यकर्त्ताओं की मनोदशा का वर्णन ऊपर किया गया है। अब खादी काम में लगे हुए सूतकारों और बुनकरों की क्या स्थिति है, इस पर भी विचार करना अत्यन्त आवश्यक है। इतने वर्षों के बाद भी

संस्थाओं के संचालन में उनका कोई हाथ नहीं होता है। वे केवल मजदूर हैं। माना कि खादी संस्थाएँ परोपकारी संस्थाएँ हैं। और उनका नफा यदि कुछ होता भी हो तो कार्यकर्त्ताओं को नहीं मिलता है। कार्यकर्त्ता सच्चे माने में संस्था के थातीदार (ट्रस्टी) होते हैं, लेकिन इससे कत्तिन-बुनकरों की स्थिति में कोई फर्क नहीं पड़ता। आप चाहे मालिक हों, व्यवस्थापक हों, ट्रस्टी हों, पर यदि काम करनेवालों का व्यवस्था में कोई हाथ नहीं हो तो उनकी स्थिति में कोई परिवर्तन हुआ, ऐसा नहीं कहा जा सकता। खादी का काम जिस संस्था के द्वारा आरम्भ हुआ, उसका नाम चरखा संघ दिया गया। वास्तव में उसका आशय यह था कि वह चरखा चलानेवालों का संघ होगा। इतने वर्षों के बाद भी हम उस स्थिति को नहीं ला सके। व्यवस्थापक वर्ग और कारीगर वर्ग का भेद संस्थाओं में अब भी मौजूद है।

लोक कार्यक्रम

चरखे को हमने अहिंसा का प्रतीक और वर्ग निराकरण का औजार माना। इस ओर अब हमको बढ़ना है और यह तभी हो सकता है जब आज की संस्थाओं का जो स्वरूप है वह बदला जाय। खादी को अब संस्थाओं एवम् कार्यकर्त्ता-व्यवस्थापक की परिधि से निकालकर जनता के हाथ में देना होगा, तभी वह व्यापक बन सकेगी। खादी कार्यकर्त्ता, जिनकी संख्या काफी बड़ी है, उसे जनता के हाथ में देने में सहायक हो सकते हैं। इसकी प्रक्रिया क्या होगी? चार-पांच वर्ष से पूसा आदि जैसे क्षेत्रों में जो प्रयोग हो रहे हैं, उनका वे सहारा ले सकते हैं। कमीशन का ग्राम इकाई कार्यक्रम भी दिशा-सूचक हो सकता है। और, इस प्रकार वे अपने क्षेत्र के लिए ठोस योजना बना सकते हैं। इस आन्दोलन का नारा होगा ग्राम स्वराज्य, जिसमें उत्पादन उपभोग के लिए होगा और सारा काम वर्ग-संघर्ष के बजाय सहयोग से चलेगा।

खादी और ग्रामोद्योग कमीशन ने यह प्रस्ताव किया है कि सरकार रिबेट बन्द कर बुनाई की छूट दे। यदि सरकार इसे मंजूर कर लेती है, तो खादी को व्यापक बनाने में उक्त प्रस्ताव बहुत कारगर सिद्ध होगा। चालीस वर्ष तक खादी का काम हुआ, पर ऐसा प्रतीत होता है कि हम खादी के ४० लाख ग्राहक शायद ही बना पाये हों। आदतन खादीधारी तो बहुत कम ही होंगे। खादी पर रिबेट के पैसे और बढ़ाये जायें, तो सम्भव है कुछ लोग और खादी पहन सकते हैं।

प्रिय परिधान

खादी जब तक बाजार की चीज़ रहेगी, तब तक मंहगे-सस्ते का सवाल उठता ही रहेगा और उसकी गति मन्द ही रहेगी। बुनाई की छूट यदि मंजूर हो जाती है, तो इस देश में करोड़ों लोग जो नंगे और अर्ध नंगे हैं उन्हे उस हालत में रहने की आवश्यकता नहीं होगी। उहें मात्र रूई की कीमत पर कपड़ा मिल सकेगा। कताई की मेहनत उनकी अपनी होगी, जिसके लिए देश की जनता के पास पर्याप्त समय है। एक छलांग में खादी करोड़ों लोगों का प्रिय परिधान बन जायेगी। खादी के लिए एक बड़ा अवकाश बुनाई छूट से प्राप्त हो जायेगा। इस देश में जो २५–३० हजार खादी कार्यकर्त्ता हैं, वे यदि गांव-गांव में संगठन खड़ा कर सकेंगे, तो खादी का भविष्य उज्ज्वल होगा।

पूज्य विनोबाजी ने एक अंग्रेज कवि की कविता का एक अंश सुनाया था, जिसका भावार्थ है 'मैं सदैव ही एक यौद्धा रहा हूँ, एक लड़ाई और लड़नी है, लेकिन वह ऐसी लड़ाई है, जो अन्तिम तथा सर्वोत्तम है।' इसी प्रकार खादी आन्दोलन का इतिहास संघर्ष का इतिहास रहा है। इसलिए मेरा विश्वास है कि यदि बुनाई की छूट को लेकर गाँव-गांव में हम संगठन खड़ा कर सके, तो खादी की यह लड़ाई आखिरी और सबसे अच्छी होगी।

१० अप्रैल १९६३

मानकीकरण का महत्व

श्याम बिहारी लाल सिंघल

उत्पादन के बढ़ने तथा बिक्री अथवा बाजार के विस्तार के साथ उत्पादन के मानकीकरण का महत्व और भी ज्यादा हो जाता है। प्रस्तुत लेख में ग्रामोद्योगी उत्पादनों के लिए मानकीकरण अपनाने की एक अपील है।

खरीद करना एक कला और विज्ञान दोनों है। विवेक-पूर्वक क्रय करने के लिए अच्छी-खासी कल्पना तथा भूतकालीन अनुभव की आवश्यकता होती है। अटकल-पच्चू खरीद दैवाधीन फसल के समान कष्टप्रद यानी झंझटपूर्ण व निष्फल है। बुद्धिमानीपूर्वक क्रय करने में खरीदार को मानकीकरण की आवश्यकता का ध्यान आता है।

बिक्री और मानकीकरण

इसके दूसरी ओर बिक्री का मानकीकरण से अधिक प्रत्यक्ष तथा निकट सम्बन्ध होता है। बिक्री अधिकांशत: विचारहीन, कल्पना-रहित व पुराने ढर्रे की यानी मोटी बुद्धिवाली भी हो सकती है, और साधारणतया होती है। लेकिन एक प्रगतिशील समाज के लिए वस्तुत: बिक्री एक बहुत की गत्यात्मक प्रक्रिया हो सकती है, जिसमें एक जागरूक व तर्कसंगत मस्तिष्क की आवश्यकता होती है, जो खरीदार को आर्काषित करने तथा सच्चे माने में उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के प्रति सदैव तत्पर रहता है। आज के संसार में एक योग्य, कुशल विक्रेता के सम्मुख महान अवसर हैं। इसी बात के महत्व को स्वीकार करते हुए बिक्री की वस्तुओं के मानकीकरण की आवश्यकता का महत्व सामने आता है, बढ़ जाता है।

एक प्रक्रिया

मानकीकरण स्वंयम् एक प्रक्रिया है, जिसमें बिक्री के लिए प्रस्तुत सामग्री पर उसकी वास्तविक उपयोगिता जैसे अन्तर्निहित सहज मूल्यों तथा साथ ही साथ बाहरी आकर्षण के गुणों पर कठोर नियंत्रण रखा जाता है; ये दोनों ही पहलू समान रूप से महत्वपूर्ण हैं। वाह्य तत्वों का महत्व अनावश्यक जोर देना नहीं हो सकता; क्योंकि यदि खरीदार आर्काषित न हो तो एक बहुत ही कीमती वस्तु पर भी ध्यान नहीं जायेगा और हो सकता है कि वह विक्रेता की आल्मारी में ही पड़ी सड़ती रहे। इसके दूसरी ओर उपयोगिता-हीन, मात्र आकर्षण को शुरू में कुछ बाजार प्राप्त हो सकता है, लेकिन वह निश्चय ही टिकनेवाला नहीं है, तथा उसका बाजार खो सकता है।

स्वयम् उत्पादक के हित में

स्वभावत: मानकीकरण के लिए उत्पादक अथवा थोक व्यापारी को प्रारंभिक खर्च कुछ अधिक करना पड़ता है। और, शुरू में उक्त सौदा कुछ कम लाभप्रद दीख सकता है, लेकिन अन्ततोगत्वा खरीदार के मस्तिष्क की स्वीकृति प्राप्त कर ली जाती है ताकि इस तरह की मानकीकृत वस्तुएँ बाजार प्राप्त कर लें और उनकी मांग अनवरत बढ़ती रहे। एक अविवेकी विक्रेता अथवा उत्पादक ये खर्च करने के लिए शुरू-शुरू में अनिच्छुक हो सकता है, लेकिन शीघ्र ही उसे पता चलेगा कि ऐसा न करने से प्रतिस्पर्धा-प्रधान बाजार में उसका भविष्य अन्धकारमय है।

किसी सामग्री के बिक्री योग्य होने के लिए मानकी-करण एक आवश्यक शर्त होनी चाहिए। एक बार समाज को जब यह विश्वास हो जाय कि अमुक सामग्री गुण के सम्बन्ध में मानक बनाये रखती है, तो खरीदार के लिए खरीद और विक्रेता के लिए बिक्री करना आसान बन

जाता है। एक नया द्वार उन्मुक्त होता है। उत्पादक भी किसी मानक के बनाये रखने की आवश्यकता के प्रति निरन्तर सजग है। गुण के माने में वह एक तरह से प्रतिस्पर्धा के क्षेत्र में उतरता है; वह जानता है कि ऐसा करना व्यर्थ नहीं है। उसे इसका पूर्ण लाभ मिलने का विश्वास है।

मानक का दृढ़ पालन

इतना होने पर भी इस बात की सुनिश्चितता के लिए कदम उठाना आवश्यक है कि वस्तुएँ वस्तुतः उपयुक्त मानक की हों; यह नहीं कि वाह्यपन से काम चल जाय। जब तक मानक कड़ाई से लागू न किया जाय, एक उत्पादक सदैव ही कल्पित या निर्धारित मानक के नाम पर निम्न कोटि की वस्तुएं बाजार में रखनेवाला है। इसलिए मानकीकरण वस्तुतः जितना माना जाता है उससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। जनता के मनोविज्ञान को प्रशिक्षित करने यानी बदलने की आवश्यकता है। उत्पादक, विक्रेता, खरीदार और यहाँ तक कि सरकार को भी मानकीकरण की आवश्यकता व महत्व के बारे में शिक्षित-प्रशिक्षित करने की जरूरत है।

जीवन का एक अंग

बहुत ही विकसित शहरों तथा नगरों के निवासियों के लिए तो मानकीकरण उनके जीवन का एक अंग बन जाता है। ग्राम और ग्रामीण, जब तक समाज द्वारा सोद्देश्य प्रयास न किये जायें इसकी सीमा से बाहर ही हैं। साधारणतया एक ग्रामीण को किसी वस्तु के गुणात्मक मूल्य का भान नहीं होता। किसी चीज की खरीद करते वक्त सामान्यतः वह विक्रेता की बातों में आ जाता है। इसलिए गाँवों में कोई प्रतिस्पर्धात्मक बाजार नहीं है। और, सभी तरह की निम्न कोटि की वस्तुएँ गाँवों की दूकानों में पहुँचती हैं। यदि यह स्मरण रखा जाय कि देश की ८० प्रति शत जनता गाँवों में रहती है. तो यह समझ में आ जायेगा कि हमारा कितना रुपया-पैसा उन अविवेकी वर्गों की जेब में चला जाता है, जो सीधे-सादे ग्रामीणों को चूसकर मोटे होते जा रहे हैं।

विशेष कर्मचारी वर्ग

गाँव हमारे सभी प्रयासों के केंद्र होने चाहिए। वहाँ जानेवाले सभी माल की इस दृष्टि से जाँच की जानी चाहिए कि वह विशिष्ट मानक के अनुसार है अथवा नहीं। कुछ ऐसा भी प्रबन्ध होना चाहिए कि इस प्रकार जाँच किये हुए माल पर कोई मुहर लगायी जाय तथा ऐसी मुहर लगे माल को ही गाँवों में जाने दिया जाय। यही नहीं, बल्कि इस बात की निगरानी के लिए विशेष कर्मचारी वर्ग रखा जाय कि गाँवों में निम्न स्तरीय माल न जाने पाये। यह आवश्यक है कि ग्रामोद्योग मानकीकरण के विचार को अपना लें। ऐसा न करने से शहरी उत्पादकों द्वारा तैयार माल की स्पर्धा में टिकना उनके लिए बहुत मुश्किल हो जायेगा; क्योंकि उन्होंने उत्पादन व बिक्री की विकसित तकनीकों का विशेष ज्ञान हासिल कर लिया है।

२४ दिसम्बर १९६२

एक आदिवासी परियोजना क्षेत्र में अल्प बेकारी

इन्दुभाई रावल

गुजरात के एक आदिवासी सामुदायिक विकास खण्ड में ४५९ परिवारों के सर्वेक्षण से पता चला है कि ९४.४ प्रति शत कमाऊ व्यक्ति खेती में लगे हुए हैं, जिससे उन्हें पूरे वर्ष भर काम नहीं मिल पाता। उनमें से केवल ३८ प्रति शत ही पूरक धंधे प्राप्त कर सके हैं। इन क्षेत्रों में वन्य और ग्रामोद्योगों के विकास से ग्रामीणों को रोजगारी मिल सकती है; और इस प्रकार वहां अर्ध-बेकारी की समस्या कम हो सकती है।

कृषि में पूरे वर्ष भर काम न मिलना और रोजगारी के अन्य अवसरों के अभाव का परिणाम निकला है आदिवासियों की आय का निम्न स्तर। गुजरात में खेडब्रह्म आदिवासी सामुदायिक विकास खंड के ४५९ परिवारों (८.९ प्रति शत) का समाजार्थिक अध्ययन-सर्वेक्षण किया गया, जिससे उक्त निष्कर्ष की पुष्टि होती है।

सर्वेक्षित ४५९ परिवारों की कुल जन-संख्या ३,१६५ है। तालिका १ में उसका विभिन्न वर्गों—कमाऊ, कमाऊ आश्रित, आश्रित और अशक्त—के अनुसार विवरण दिया गया है। साथ में १९५१ के आंकड़े भी दिये गये हैं।

तालिका १

कमाऊ और आश्रित

	परियोजना क्षेत्र १९५९		भारत १९५१
वर्गीकरण	संख्या	प्रातिशत्य	प्रातिशत्य
कमाऊ ..	९८९	३०.९	२९.३
कमाऊ आश्रित	१,१६०	३७.०	१०.६
आश्रित ..	९५०	३०.०	६०.१
अशक्त ..	६६	२.१	—
योग :	३,१६५	१००.०	१००.०

उक्त तालिका से पता चलता है कि कुल आबादी में कार्यकारी जन-संख्या का प्रातिशत्य ६७.९—मय ३०.९ प्रति शत कमाऊ और ३७ प्रति शत कमाऊ आश्रित—आता है। आश्रित तथा अशक्त यानी शारीरिक दृष्टि से काम करने में असमर्थ व्यक्तियों का प्रातिशत्य क्रमशः ३० और २.१ है। जनगणना १९५१ के आंकड़ों से तुलना करने से मालूम होता है कि १९५९ में परियोजना क्षेत्र के जन-संख्या वर्गीकरण में बहुत अंतर है। कमाऊ और कमाऊ आश्रितों का अखिल भारतीय प्रातिशत्य (३९.९) १९५९ के परियोजना क्षेत्र के प्रातिशत्य (६७.९) से बहुत कम है; आश्रितों का प्रातिशत्य (६०.१) परियोजना क्षेत्र के आश्रितों तथा अशक्त व्यक्तियों के प्रातिशत्य (३२.१) से काफी अधिक है। तात्पर्य यह है कि आदिवासी क्षेत्र की कार्यकारी जन-संख्या का प्रातिशत्य अखिल भारतीय प्रातिशत्य से अधिक है। इसका कारण यह है कि बहुत छोटी उम्र से ही आदिवासी—युवक व युवतियाँ—पशुओं को चराने, वन्य उत्पादनों का संग्रह या खेतों में काम करने जैसी किसी न किसी आर्थिक गतिविधि में लग जाते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में, खास कर कस्बों व नगरों में, कमाऊ व्यक्ति आदिवासी क्षेत्रों से कहीं अधिक आश्रितों का भार वहन करते हैं।

महिलाओं की निभरता

काम करनेवाली महिलाओं का अनुपात भी अखिल भारतीय अनुपात से ज्यादा है। कार्यकारी महिलाओं का प्रातिशत्य १९५१ में शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों के लिए क्रमशः ७.४ तथा १०.४ था। परियोजना क्षेत्र का प्रातिशत्य १९५९ में १३.७ था। आश्रित महिलाओं का प्रातिशत्य शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों में क्रमशः ८८.१

व ७३.५ था, जबकि आदिवासी क्षेत्र में ३२.८ था। तात्पर्य यह है कि शहरी व ग्रामीण क्षेत्रों की महिलाएँ आदिवासी क्षेत्रों की स्त्रियों की अपेक्षा कहीं कितनी ही अधिक पुरुषों पर निर्भर करती हैं।

पेशेवार वर्गीकरण

आदिवासी क्षेत्र में पूर्ण रोजगारी और अल्प तथा पूर्ण बेकारी एवम् घरेलू काम का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करने के लिए लाभप्रद काम में लगी आबादी को तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है: (१) केवल मुख्य पेशा रखनेवाले; (२) प्रधान और सहायक धंधा करनेवाले; तथा (३) मात्र सहायक धंधा करनेवाले। लाभदायक काम में लगे १,२८८ सर्वेक्षित व्यक्तियों का–सात वर्ष की आयु से ऊपर के व्यक्ति–वर्गीकरण तालिका २ में दिया जाता है।

तालिका २

रोजगारी का वर्गीकरण

क्रमांक	विवरण		संख्या	कुल आबादी में प्रातिशत्य
१.	घरेलू काम	..	१३२	१०.२
२.	मुख्य और पूरक धंधे	..	१,११६	८६.०
३.	केवल पूरक धंधे	..	४०	३.८
४.	योग (२ और ३)	..	१,१५६	८९.८
५.	योग (१ से ३ तक)	..	१,२८८	१००.०
६.	दो (२) में से केवल मुख्य धंधे में लगे	..	६७३	६२.०
७.	दो (२) में से मुख्य तथा पूरक धंधे में लगे	..	४४३	३८.०
८.	योग (६ और ७)	..	१,११६	१००.०

तालिका २ के वर्गीकरण से प्रकट होता है कि कुल १,२८८ काम करनेवाले व्यक्तियों में से १०.२ प्रति शत–सभी महिलाएँ–घरेलू काम में यानी गैर-लाभदायक कार्य में लगे हैं तथा ८९.८ प्रति शत लाभदायक धंधों में लगे हैं। इन शेष ८९.८ प्रति शत को उन श्रेणियों में विभक्त किया गया है, जो मुख्य तथा पूरक, और सहायक धंधों में लगे हैं। उनका प्रातिशत्य क्रमशः ८६ और ३.८ है।

तालिका २ से ही यह भी पता चलता है कि मुख्य और पूरक धंधों में लगे व्यक्तियों को भी दो वर्गों में विभक्त किया गया है: (१) वे व्यक्ति जो केवल मुख्य धंधा ही करते हैं, और वे व्यक्ति जो मुख्य तथा पूरक दोनों धंधों में लगे हैं। उनका प्रातिशत्य क्रमशः ६२ और ३८ है।

तालिका ३ उन व्यक्तियों के सम्बन्ध में विवरण प्रस्तुत करती है जिन्होंने कृषि, पशु-पालन तथा अन्य पेशे मुख्य या पूरक धंधे के रूप में अपनाये हैं।

तालिका ३

पेशेवार वर्गीकरण

पेशा		मुख्य पेशा		पूरक पेशा	
		संख्या	प्रातिशत्य	संख्या	प्रातिशत्य
कृषि	..	१,०५६	९४.९	–	–
पशु-पालन		३३	२.७	३४९	७८.७
विविध	..	२७	२.४	९४	२१.३
योग	..	१,११६	१००.०	४४३	१००.०

यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि ९४.९ प्रति शत कमाऊ व्यक्ति केवल कृषि में ही लगे हैं; चूंकि उक्त क्षेत्र में कोई औद्योगिक अथवा वन्य विकास नहीं हुआ है कि उससे लोगों को रोजगारी के अवसर मिल सकें; और खेती से भी किसान को पूरे वर्ष भर काम नहीं मिलता। पूरक धंधे केवल ३८ प्रति शत लोगों को ही प्राप्त हैं। इन ३८ प्रति शत में भी ७८.७ प्रति शत व्यक्ति पशु-पालन को ही पूरक धंधे के रूप में अपनाये हुए हैं और २१.३ प्रति शत व्यक्ति विविध कामों में लगे हैं। कुल १,११६ कमाऊ व्यक्तियों में शेष ६२ प्रति शत लोगों को बाध्य होकर बेकार रहना पड़ता है। उक्त आदिवासी क्षेत्र में इस प्रकार की अर्द्ध-बेरोजगारी की समस्या है। कुल २,४४६ व्यक्तियों में से–अशक्त व्यक्तियों, विद्यार्थियों और घरेलू काम में लगीं महिलाओं को छोड़कर–७.६ प्रति शत लोग बिल्कुल बेकार हैं।

यद्यपि क्षेत्र के ६७.९ प्रति शत व्यक्ति किसी न किसी धंधे में लगे हैं, लेकिन उनकी प्रति व्यक्ति वार्षिक आय बहुत कम है। इसका कारण है कि उन्हें पूरे वर्ष भर काम नहीं मिलता। इस समस्या का समाधान मुख्यतः ग्रामोद्योगों और वन्य स्रोतों का विकास करने में निहित है।

खादी-ग्रामोद्योगों के विकास का मूल्यांकन

ललित कुमार मित्र

प्रस्तुत लेख में खादी और ग्रामोद्योग मूल्यांकन समितियों द्वारा व्यक्त विचारों व प्रस्तुत आंकड़ों की पृष्ठभूमि में खादी तथा ग्रामोद्योगी कार्यक्रमों के आर्थिक औचित्य पर विचार किया गया है। लेखक ने प्राविधिक अनुसंधान की दिशा में हुई प्रगति का भी मूल्यांकन किया है।

खादी और ग्रामोद्योगों पर विभिन्न मूल्यांकन प्रतिवेदनों तथा विनियोजन-उत्पादन, आय व रोजगारी के सम्बन्ध में प्रगति अवरोधक समस्याओं पर समीक्षात्मक रूप से बारीकी के साथ विचार किया जाना चाहिए। इन पहलुओं की सम्भाव्यता का मूल्यांकन करने में सीमाओं के अन्दर रहते हुए पूंजी-उत्पादन-अनुपात की तकनीक का भी प्रयोग किया जायेगा। यहाँ यह बताया जा सकता है कि कोई भी मूल्यांकन समिति यह सिफारिश नहीं करती कि ये उद्योग बन्द कर दिये जायें अथवा इनका कोई भविष्य नहीं है। मूल्यांकन व विश्लेषण से उन्हें आशावादी कारणों का पता चलता है और इसलिए उन्होंने सुधार तथा विकास की उचित रूपरेखा सुझायी यानी यह बताया कि अमुक आधार पर उनका विकास किया जाय। हमें इस बात पर विचार करना चाहिए कि इन उद्योगों के औचित्य के सम्बन्ध में जो मालूमात हैं वे कहाँ तक न्यायसंगत या सही हैं। यदि मूल्यांकन करनेवालों ने उन सिद्धांत-शास्त्रियों के अनुसार विचार नहीं किया, जो अपनी विचार-धारा उन आर्थिक दलीलों पर आधारित करते हैं जो कि पाश्चात्य देशों में प्रयुक्त की जा सकती हैं, तो इसमें उनका कोई दोष नहीं है।

मूल्यांकन समिति का निष्कर्ष

हम खादी से ही शुरू करें। खादी मूल्यांकन समिति का विचार है कि "इस क्षेत्र की प्रगति का मूल्यांकन करने की किसी भी योजना में इस बात को पहचानना आवश्यक है कि कार्यक्रम के सामने किस प्रकार की समस्याएँ आयी हैं और उनका उस पर कैसा, कितना प्रभाव पड़ा है। इसमें कोई संदेह नहीं कि खादी मुख्यतः अधिकाधिक ग्रामीण आबादी को रोजगारी और राष्ट्र के आर्थिक विकास को द्रुत गति प्रदान करने हेतु एक श्रम-प्रधान उद्योग है।" यद्यपि अनुक्रमिक रूप से सुयोजित सोपानों के अनुसार खादी में यांत्रीकरण लाने की सलाह दी जा सकती है, लेकिन पूर्ण रोजगारी तथा स्वावलम्बन की दिशा में यह सम्भव रूप में आगे बढ़ती है।

खादी मूल्यांकन समिति भी यह सुझाव देती प्रतीत होती है, "विनियोजन-उत्पादन तथा विनियोजन-रोजगारी-अनुपात, दोनों की दृष्टियों से ऐसा लगता है कि निवेश से देश को अनुकूल फल-प्राप्ति हुई है।" प्राप्य आँकड़ों के आधार पर समिति को मालूम हुआ कि परिव्यय-उत्पादन-अनुपात १९५३-५४ में ९.८२:१ और १९५८-५९ में १.६२:१ था; तथा परिव्यय-रोजगारी-अनुपात उक्त अवधियों के लिए क्रमशः २५.१:१ एवम् ८२.५:१ था। यह आनुपातिक वृद्धि संगठनात्मक खर्च अधिक होने के कारण हुई। इस सम्बन्ध में तालिका १ और २–पृष्ठ २३०–में दिये गये आँकड़ों का अध्ययन रुचिकर होगा।

आँकडों का विश्लेषण

निम्न तालिकाओं से कई बातें सामने आती हैं, जैसे कुल खर्च में रिबेट–जो कि अधिकांशतः प्रतिवाद अथवा आलोचना की जड़ है–आदि का प्रातिशत्य धीरे-धीरे

तालिका १

खादी उद्योग में अनुदान, ऋण, उत्पादन और रोजगारी
१९५३–५४ से १९६०–६१ तक

(लाख रुपये में)

	१९५३–५४ से १९५५–५६ तक	१९५६–५७	१९५७–५८	१९५८–५९	१९५९–६०	१९६०–६१
अनुदान						
१. रिबेट और सब्सिडी ..	२२५.०२	२२२.५७	२६०.१३	३००.९८	३९४.००	३६५.००
२. ऋण के अलावा अन्य विनियोजन	४.४५	१५.४५	३१.१२	५२.२१	६७.००	६४.००
ऋण						
१. विनियोजन	–	७६.०२	२०७.९७	३४८.६६	३९७.००	४०२.००
२. रूई खरीद	६९.८२	२१०.०५	२९०.९८	३५५.००	४०४.००	५७२.००
३. संचालन पूंजी	२२३.२१	४३८.३७	६६४.७८	१,०८२.४६	१,३४७.००	१,६५५.००
४. व्यवस्था खर्च	९.५४	९.५१	५४.३५	७४.६८	८२.००	–
५. कुल खर्च	५७७.२५	१,०८३.६०	१,०७१.०५	२,४२१.१३	२,८७६.००	३,२०४.००
६. खादी का कुल उत्पादन* ..	५९७.३३	४३६.१३	६१२.०६	७२३.३२	७१५.८६	६४७.७७
उत्पादन मूल्य	१,१३१.६६	८२२.५२	१,१४८.३९	१,३७५.७२	१,४१४.४६	१,४२३.४९
७. रोजगारी (हजार की संख्या में)	१,५५३.७	८८०.७	१,१३५.९	१,३९९.७	१,६०७.१	१,७२३.६

* लाख वर्ग गज में

स्रोत : खादी और ग्रामोद्योग कमीशन : वार्षिक **विवरण : १९६०–६१।**

तालिका २

खादी उद्योग में उत्पादन, रोजगारी और परिव्यय
१९५३–५४ से १९६१–६२ तक

वर्ष	उत्पादन (लाख गज में)			कुल रोजगारी		परिव्यय (करोड़ रु. में)†	
	परम्परागत खादी*	अम्बर खादी	कुल मूल्य (करोड़ रु.में)	परम्परागत खादी	अम्बर खादी	परम्परागत खादी	अम्बर खादी
१९५३–५४	११५.६३	–	२.१९	३,७९,०००	–	.९५	–
१९५६–५७	४१७.३४	१८.७९	८.२३	८,२३,४००	५७,३००	४.६६	१.७१
१९५७–५८	५००.६१	१११.४५	११.४८	९,६८,५००	१,६७,४००	५.९८	३.८४
१९५८–५९	४८२.९४	२४०.३८	१३.७६	११,१५,९००	२,८३,८००	७.७६	५.२४
१९५९–६०	४५९.३७	२५६.४९	१४.१४	१२,३४,१००	३,७३,०००	१०.४४	४.३९
१९६०–६१	४१३.५२	२३४.२५	१४.२३	१२,९५,८००	४,२७,८००	१३.४९	२.२९
१९६१–६२§	४८१.०९	२६०.४६	१७.३७	१२,९८,५००	४,३७,८००	१६.७५	१.२१

स्रोत: खादी और ग्रामोद्योग कमीशन : **वार्षिक विवरण : १९६०–६१।**

* सूती, ऊनी और रेशमी खादी (मय बिक्री व स्वावलम्बन के लिए तैयार खादी)।

† ऋण (–) संचालन पूँजी।

§ आंकड़े अपूर्ण (देखिए **जागृति** दिनांक ६ दिसम्बर १९६२)।

करके कम हुआ है। कुल ऋण में संचालन पूंजी का हिस्सा ८४.७१ प्रति शत रहा। स्फीत्यात्मक विनियोजन-उत्पादन-अनुपात तथा विनियोजन-श्रम-अनुपात अनुकूल हैं।

प्रति गज खर्च १९५३-५४ में ८२ नये पैसे और १९५८-५९ में १.६४ रुपये था। सन् १९५३-६१ की अवधि में कुल खर्च ७० करोड़ ९३ लाख रुपये हुआ। इसमें २८ करोड़ ६३ लाख रुपये अनुदान; ४२ करोड़ ३० लाख रुपये ऋण; और १७ करोड़ ६८ लाख रूपये छूट (रिबेट) के लिए थे। स्फीत्यात्मक परिव्यय-उत्पादन-अनुपात और परिव्यय-रोजगारी-अनुपात भी अनुकूल हैं।

अनुकूल पूंजी-उत्पादन-अनुपात

खादी उद्योग के कार्य (१) हाथ कताई; और (२) हाथ कते सूत की हाथ बुनाई, इन दो भागों में विभक्त किये जा सकते हैं। हाथ कताई की भी दो तकनीक हैं: परम्परागत और अम्बर चरखे पर कताई। जहाँ तक परम्परागत चरखे पर रूई की कताई का सम्बन्ध है, पूंजी-उत्पादन-अनुपात अनुकूल है, किन्तु प्रति श्रमिक इकाई आधिक्य अथवा बचत नगण्य है। फिर भी, यह याद रखना चाहिए कि खादी विकास कार्यक्रम मुख्यतः स्वावलम्बन अथवा सहायक धंधे की व्यवस्था के लिए है। अम्बर चरखे पर रूई की कताई करने की अनेक व्यक्तियों ने बुरी तरह आलोचना की है। फिर भी, यहाँ यह कहा जा सकता है कि अम्बर चरखे में जो परिवर्तन किये गये हैं उनसे इसका सीमांत पूंजी-उत्पादन-अनुपात काफी अनुकूल बन गया है और वह भावी सम्भाव्यताओं का द्योतक है।[१] ऐसा पाया गया है कि परम्परागत चरखे की तुलना में अम्बर चरखे से सूत की कीमत में प्रति पौण्ड एक-सवा रुपया कम करना सम्भव है।[२] अन्वेषण अथवा अनुसंधान का मुख्य उद्देश्य है "आठ घंटे के कार्य-दिवस में दो व्यक्तियों द्वारा कपास से कताई तक की सभी प्रक्रियाएं करते हुए २० अथवा २४ अंक के ७२ गुण्डी सूत या ३२ अंक के ६४ गुण्डी सूत की प्राप्ति।"[३] चरखा चलाना कम श्रम-साध्य हो, इसके लिए तकुए, तकुआ घुमानेवाले चक्र तथा 'बियरिंग' आदि में कुछ सुधार हुआ है।[४] 'अटीरा' (अहमदाबाद टेक्सटाइल इंडस्ट्री रिसर्च एसोसिएशन) में चार तकुएवाले अम्बर पर हुए प्रयोगों से आठ घंटे में ३२ गुण्डी सूत कातने की सम्भाव्यता का संकेत मिलता है। यहाँ इस बात पर जोर देने की आवश्यकता है कि तकनीकों में सुधार करने की समस्या को, अधिकाधिक पैमाने पर रोजगारी मुहैया करने की अत्यावश्यकता को दृष्टि-ओझल किये बिना सुलझाने का यत्न किया जाता है।

प्रति मिनट ११,५०० चक्करों तक के लिए मालाओं की फिसलन रबड़ की कोटिंगवाली रस्सियों अर्थात् डोरियों का प्रयोग कर पूर्णतः समाप्त की जा सकती है। यहाँ यह भी बताया जा सकता है कि एक कार्यकर्त्ता स्वतंत्र रूप से काम करते हुए प्रति दिन आठ घंटे में तीन पौण्ड पूनियाँ (स्लाइवर) तैयार कर सकता है। उत्पादकता में वृद्धि करने के लिए तकुओं की संख्या बढाकर आठ अथवा बारह तक भी करना और गति बढ़ाना अनुसंधान का उद्देश्य है। सूतकारों को तैयार पूनियों की सप्लाई करना तथा उत्पादन बढ़ाने और लागत खर्च कम करने के लिए धुनाई मोढ़िये के स्थान पर पैर-चालित बीटर (पैडल बीटर) का इस्तेमाल शुरू करने पर भी ध्यान दिया गया है। कम **भारपाट** के साथ अधिक उत्पादकता की दिशा में छः तकुएवाले संयुक्त अम्बर चरखे पर 'अटीरा' में किये गये प्रयोगों के अच्छे परिणाम निकले हैं। बिक्री-व्यवस्था के क्षेत्र में भी खादी की ऐसी डिजाइनों और नमूनों का चुनाव, जिनके लिए निश्चित बाजार प्राप्त किया जा सके, तथा लोकप्रिय भाँतों

१. देखिए मेरा लेख: अम्बर चरखे की अर्थ-व्यवस्था: **खादी ग्रामोद्योग,** मार्च १९६२।

२. खादी और ग्रामोद्योग कमीशन द्वारा प्रकाशित 'कामेण्ट ऑन दि खादी इवेल्यूएशन कमेटी रिपोर्ट,' सितम्बर १९६०; पृष्ठ: ११-१२।

३. खादी और ग्रामोद्योग कमीशन: **वार्षिक विवरण**. १९५९–६०।

४. खादी और गामोद्योग कमीशन: **सहायता का विवरण: परिचय पुस्तक**; १९६२।

का निर्धारण करने के लिए बाजार अनुसंधान की दिशा में कदम उठाये जा रहे हैं।

हाथ करघे के लिए सूत

कभी-कभी यह दलील दी जाती है कि यद्यपि खादी अलाभदायक है, लेकिन मिल सूत से बुना गया हाथ करघा वस्त्र लाभप्रद है। इस प्रकार की दलीलें विभिन्न राज्यों में रेशम कताई और सूती कताई मिलें स्थापित करने के पक्ष में दी जाती हैं। यह तर्क भी पेश किया जाता है कि यदि किफायती दर पर सूत की पूर्ति तथा कताई मिलों और हाथ करघों के बीच निकट समन्वय न हो तो वे हाथ करघों की प्रगति रोक देंगी एवम् यहाँ तक कि उनका गला घोंट कर पनपेंगी। फिर भी, यह एक ऐसा सवाल है जो एक दूर की बात है और उस वक्त सामने आ सकती है जबकि पूर्ण तथा अर्ध-बेकारी की समस्या काफी हद तक हल कर दी जाय तथा हाथ करघा क्षेत्र के उत्पादन में अपेक्षाकृत अधिक किफायत बरतते एवम् रोजगारी का विस्तार करते हुए हाथ करघों का मिल कताई के सहायक के रूप में संगठन किया जाय। इस प्रकार की सम्भाव्यता को एकदम से असंगत नहीं ठहराया जा सकता।[५] (यह हाथ करघों अथवा शक्ति करघों का मिल कताई के साथ भावी क्षैतिज संयोजन है। वैसी हालत में अर्द्ध प्रशोधित सामान मिलों द्वारा तैयार किया जायेगा और परिष्कृत तैयार माल का उत्पादन हाथ अथवा विकेन्द्रित उत्पादन इकाइयों द्वारा होगा।)

जहाँ तक हाथ कते सूत की स्वावलम्बन अथवा बिक्री के लिए बुनाई का सम्बन्ध है, यदि हाथ करघों में उड़न ढर्की और टेप-अप-मोशन पद्धति अपनायी जाय तो उनसे अच्छी बचत हो सकती है। अम्बर चरखा इन्क्वायरी कमेटी के प्रतिवेदन में जो यह बताया गया है कि पारिश्रमिक सब्सिडी आवश्यक है, उसका सम्बन्ध केवल हाथ कताई से ही है और उसमें संगठनात्मक कार्यों के लिए सब्सिडी भी शामिल है।[६] परम्परागत सूत से तैयार खादी के उत्पादन पर अम्बर चरखे पर हुए प्रयोगों की पृष्ठभूमि में पुनः विचार करना है। "फिर भी, फिलहाल के लिए खादी उत्पादन मुख्यतः स्वावलम्बन के आधार पर और एक सीमित हद तक बाजार में बिक्री करने के लिए चालू रखा जा सकता है।"[७] अंबर चरखे के जरिये सूती कताई की सफलता दीर्घ स्तर पर सुकर, कार्यक्षम और लाभदायक कताई इकाई (साधन) की स्थापना पर निर्भर करेगी। इन कताई इकाइयों से हाथ करघा उद्योग को सूत की सप्लाई करना फिलहाल बहुत मुश्किल होगा, लेकिन खादी बुनाई के लिए ऐसा करना शक्य है।

रेशमी खादी

रेशम खादी के सम्बन्ध में बताया जाता है कि करीब ६७ प्रति शत कच्चा रेशम देशी चरखों पर लपेटा (रील किया) जाता है और रेशम बुनाई का काम लगभग दो लाख हाथ करघों पर होता है। अधिकांश उत्पादन कार्य खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अधिकार क्षेत्र से बाहर है तथा उसकी देख-रेख केंद्रीय रेशम मण्डल एवम् अखिल भारत हाथ करघा मण्डल करते हैं। कुटीरोद्योग के आधार पर रेशम की हाथ कताई व हाथ बुनाई के काम की जड़ें अन्यत्र कहीं से भी अधिक असम में जमी हुई हैं। तीनों प्रक्रियाओं—रेशम कोया पालने, कताई अथवा लपेटाई और बुनाई करने—में अधिकांश कर्मी महिलाएँ हैं। असम में 'निधिरम चरखे' पर आठ घंटे में २० अंक के चार-पाँच तोला रेशमी सूत की कताई हो जाती है, जिसकी तुलना रेशम कताई मिल के प्रति तकुए उत्पादन से की जा सकती है; आय करीब १.५० रुपया प्रति दिन हो सकती है।[८] इसमें कोई संदेह नहीं कि

५. डी. एम. अमलसाद: **आर्गेनाइजेशन ऑफ् कॉटन हैण्डलूम इण्डस्ट्री**; १९५९।

६. भारत सरकार: **रिपोर्ट ऑफ् अम्बर चरखा इन्क्वायरी कमेटी**: १९५६; पृष्ठ: ४२ और ६८।

७. **विलेज एण्ड स्माल स्केल इण्डस्ट्रीज (सेकण्ड फाइव इयर प्लान) कमेटी रिपोर्ट**; पृष्ठ: ३८-३९; ४५ और ६३।

८. खादी और ग्रामोद्योग कमीशन: **रिपोर्ट ऑफ् असम विलेज इंडस्ट्रीज सर्वे कमेटी**; १९५८; पृष्ठ: ५६-६७ और ११५-१२०।

खादी रेशम और गैर-खादी रेशम की कीमत में फर्क होता है। इसका मुख्य कारण है खादी उद्योग में उत्पादन की विभिन्न प्रक्रियाओं में विभिन्न कार्यकर्ताओं को स्तरीय दरों के मुताबिक पारिश्रमिक का दिया जाना। कुछ राज्य सरकारों ने हजारों सूतकारों को बेकारी के गर्त में डालकर बुनकरों को रेशमी सूत की सप्लाई करने के लिए रेशम कताई मिलों की स्थापना करना ठीक समझा है। इस समस्या-मूलक मसले की तुलना उन्नत चरखे पर सूती कताई बनाम मिल कताई से की जा सकती है। देशी उत्पादन के विस्तार की निश्चित गुंजाइश है और अगर आबादी तथा उपभोक्ताओं की आय में—माँग की मूल्य सापेक्षिता में—वृद्धि हुई तो इस उद्योग के विकास को और भी प्रोत्साहन मिलेगा।

ऊनी खादी (कताई और बुनाई) के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि यह कम्बलों आदि जैसे उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त करती है। उत्पादन संस्थागत आधार पर चलता है।

इस प्रकार निष्कर्ष ये निकलते हैं : (१) परम्परागत चरखे पर सूती कताई का पूंजी-उत्पादन-अनुपात अनुकूल है, लेकिन आधिक्य या बचत नगण्य है; (२) अम्बर चरखे से सूती कताई का पूंजी-उत्पादन-अनुपात अधिक उत्पादन के लिए सीमान्त रूप से अनुकूल है, लेकिन औसत की दृष्टि से इसे अभी कुछ रास्ता और तय करना है, आधिक्य-सृजन नगण्य नहीं है; (३) रेशम कताई में अनुकूल उत्पादन-गुणांक है, आधिक्य नगण्य नहीं है; और (४) जहाँ तक किसी विशिष्ट जात का सूत लाभदायक मूल्य पर सम्भरित किया जा सके हाथ कते सूत से खादी बुनाई (रेशमी, सूती व ऊनी) लाभ-कारी है। चूँकि कताई तथा बुनाई, ये दोनों ही कार्य खादी योजना के अन्तर्गत आते हैं, अन्तिम उत्पादन यानी वस्त्र (सूती, रेशमी अथवा ऊनी) की औसतन रूप से कीमत सहायित पारिश्रमिक या व्यवस्था-खर्च पर स्पर्धात्मक है; लेकिन पिछले दशक के दौरान तकनीकों में हुई प्रगति के कारण इन क्षेत्रों के वृद्धि प्राप्त सीमान्त उत्पादन की मिल उत्पादनों से तुलना की जा सकती है। उक्त तीनों प्रकार की कताई में सूती की अपेक्षा रेशमी और ऊनी कताई में अधिक लाभदायक गुणांक है।

ग्रामोद्योग

खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अन्तर्गत ये ग्रामोद्योग आते हैं : (१) अनाज और दाल प्रशोधन; (२) घानी तेल; (३) कुटीर दियासलाई; (४) गुड़-खाण्डसारी; (५) ताड़-गुड़; (६) अखाद्य तेल और साबुन; (७) हाथ कागज; (८) ग्रामीण कुम्भकारी; (९) मधुमक्खी-पालन; (१०) ग्रामीण चर्म; (११) रेशा-नारियल की जटा के अलावा; (१२) बढ़ईगीरी और लुहारगीरी; (१३) मिथेन गैस और खाद उत्पादन; तथा (१४) चूना पत्थर। इनका मूल्यांकन करने के लिए कुछ आकड़े हैं। फिर भी, हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि (१) इनसे अधिक क्षमताशील कुछ और भी ग्रामोद्योग हैं, जो खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अन्तर्गत नहीं आते, इसलिए केवल ये ही उद्योग समूचे भारत के ग्रामोद्योगों का समग्र चित्र प्रस्तुत नहीं कर सकते; (२) इन उद्योगों से सम्बन्धित आंकड़े किसी सम्बन्द्ध उद्योग पर आंशिक प्रकाश ही डाल सकते हैं; क्योंकि घानी तेल के समान ऐसे भी उद्योग हैं, जिनकी सभी इकाइयाँ कमीशन द्वारा सहायित कार्यशीलताओं के अन्तर्गत नहीं आतीं; (३) इन अधिकांश कुटीर उद्योगों के माल को मिलों में उत्पादित सामान से प्रतिस्पर्धा करनी पड़ती बतायी जाती है।

कमीशन के अन्तर्गत आनेवाले विभिन्न उद्योगों के वास्तविक खर्च का निर्धारण करते वक्त स्वीकृत, वितरित और उपयोगित रकम के बीच भेद करना पड़ेगा जिससे वास्तव में जो धन खर्च किया गया उसका एक चित्र सामने आयेगा। और फिर, खर्च में मुख्यतः ऊपरी खर्च आते हैं। वह कार्यकारी यानी परि-चालक कम है। तात्पर्य यह है कि यह पर्यवेक्षण कि

इस क्षेत्र में प्राप्त परिणाम खर्च के अनुकूल नहीं है, तथ्य प्रमाणित नहीं है अर्थात् आंकड़ों से इसका मेल नहीं बैठता। प्रथम पंच वर्षीय योजना के चार वर्ष की अवधि में नियत कुल ६ करोड़ ७८ लाख रुपयों में से केवल १ करोड़ ९० लाख रुपये अथवा एक-तिहाई से भी कम वितरित हुए। दूसरी योजनावधि में कुल ३८ करोड़ ८० लाख रुपये नियत हुए। वास्तविक स्वीकृति १७ करोड़ रूपये यानी ५० प्रति शत से भी कम की हुई। पंजीकृत संस्थाओं, सहकारी समितियों के जरिये तथा सघन क्षेत्र योजना के अन्तर्गत अनुदान और ऋण के रूप में कमीशन द्वारा प्रभावकारी तौर पर सहायता १९५६–५७ से ही दी गयी। प्रथम पंच वर्षीय योजनाकाल में तत्कालीन अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मण्डल ग्रामोद्योगों के लिए बहुत मामूली, प्रारम्भिक व्यवस्था ही कर सका। प्रायः हर मामले में धनराशि के वितरण और उपयोग के बीच का अन्तर करीब-करीब एक वर्ष का रहा–यद्यपि एक उद्योग से दूसरे उद्योग में भिन्नता अवश्य रही। जो काम हुआ उसके विश्लेषण और मूल्यांकन के लिए यह आवश्यक है कि आंकडों को ध्यान में रखा जाय। निम्न तालिका में विभिन्न ग्रामोद्योगों के लिए स्वीकृत, वितरित और उपयोगित रकम का विवरण दिया जाता है।

तालिका ३

ग्रामोद्योगों के लिए स्वीकृति, वितरण और उपयोगिता

(लाख रुपये में)

उद्योग	१९५३–५४ से १९५८–५९ तक		१९५३–५४ से १९५७–५८ तक		कालम ४ के प्रातिशत्य स्वरूप कालम ५
	स्वीकृति	वितरण	वितरण	उपयोग	
१	२	३	४	५	६
अनाज व दाल प्रशोधन	१७१.०४	१२७.९२	४१.५९	२२.०६	५३.०४
घानी तेल	३२४.०४	३०४.८६	१३२.०६	५९.९८	४५.४२
ग्रामीण चर्म	१३५.०९	१२०.८९	५३.५०	२४.१८	४५.२०
कुटीर दियासलाई	६१.४६	५३.५४	४३.५३	९.५६	२१.९६
गुड़-खाण्डसारी	५७.३७	५६.८४	१८.९६	९.३५	४९.३१
ताड़-गुड़	१०३.२०	९२.२७	४९.९४	२५.१९	५०.४४
अखाद्य तेल और साबुन ..	१५२.४९	१५६.९४	८६.८९	३९.७९	४५.७९
हाथ कागज	७२.०३	६०.०३	२४.६८	१५.४०	६२.४०
मधुमक्खी-पालन	५८.११	४१.०३	१४.६४	९.६८	६६.१२
कुम्भकारी	३३.८१	३२.३७	१०.१२	७.११	७०.२६
रेशा	१३.७४	१२.२६	६.०८	२.५०	४१.१२
बढ़ईगीरी व लुहारगीरी ..	८.००	६.१२	–	–	–
योग	१,१९०.३८	१,०६५.०७	४८१.९९	२२५.७७	४६.८४

स्रोत: **विलेज इण्डस्ट्रीज इवेल्यूएशन कमेटी रिपोर्ट**; पृष्ठ: १८ और २२।

उपर्युक्त आँकड़ों से पता चलेगा कि स्वीकृत और वितरित रकम के बीच का अन्तर औसतन १०.५० प्रति शत (१९५३–५९) तथा वितरित व उपयोगित रकम का ४६ प्रति शत (१९५३–५७) है। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि १९५७–५८ तक भी कार्य का पूर्ण संगठन नहीं हो पाया था और श्रीगणेश केवल १९५८–५९ में ही किया जा सका। निधि के उपयोग में झुकाव व उत्पादन की गति–विशेष कर दूसरी योजना के अंतिम दो वर्षों में– पूर्णरूपेण इस विचार का समर्थन करती है कि ग्रामोद्योगों का उस स्तर तक विकास किया जा सकता है जिस स्तर पर वे उनमें लगे कारीगरों की हालत सुधारने में बहुत-कुछ योगदान दे सकते हैं। मूल्यांकन समिति ने दो पहलुओं–कच्चे माल की पूर्ति और बिक्री-व्यवस्था के लिए संगठन तथा बेहतरीन साधन-सरंजाम एवम् उपकरणों के लिए प्राविधिक अनुसंधान व प्रशिक्षण–पर जोर दिया है।

इन उद्योगों के भावी विकास और अपने पैरों पर खड़े होने के लिए जिस प्रकार के उपागम तथा आयोजन पर मूल्यांकन समिति ने जोर दिया है वह महत्वपूर्ण है। ग्रामोद्योग चुने हुए क्षेत्रों में ही फलफूल सकते हैं; क्योंकि ये उद्योग मुख्यतः परमावश्यक उपभोक्ता सामग्री का उत्पादन करते हैं, जिनके विकास की गुंजाइश कच्ची सामग्री की पूर्ति के लिए किसी क्षेत्र विशेष की कृषि सम्बन्धी अवस्थाओं पर निर्भर करती है, इसलिए उनका सम्बन्ध ऐसे क्षेत्र की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की समग्र विकास योजना से जोड़ना होगा। उद्योगों के स्थान का निर्धारण स्थानीय अवस्थाओं के आधार पर होना चाहिए। उत्पादन स्थानीय उपभोग के आधार पर हो और निर्यात केवल उसी माल का किया जाय, जो स्थानीय आवश्यकता पूर्ति के बाद बचे। मूल्यांकन समिति के मतानुसार "एक ग्रामोद्योग वह है जो ग्रामीण क्षेत्रों में विकेंद्रित और सहकारी आधार पर संगठित हो तथा स्थानीय रूप से उपलब्ध कच्ची सामग्री पर निर्भर करे एवम् स्थानीय बाजारों में अपने माल की बिक्री करे।" ऐसा होने पर ग्रामोद्योगी उत्पादनों का लागत खर्च भी कम होनेवाला है। "प्रत्येक ग्रामोद्योग के लिए इस बात का सही-सही मूल्यांकन और निर्धारण करना आवश्यक है कि कौन-सी इकाई उसके लिए आर्थिक दृष्टि से अनुकूलतम है तथा किस प्रकार उनका ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की समग्र विकास योजना के साथ संयोजन स्थापित किया जा सकता है।"

प्रथम छः वर्षों के दौरान किये गये प्रयास आवश्यक रूप से ही विभिन्न बातों की जाँच-पड़ताल करने सम्बन्धी रहे और वास्तविक कार्य केवल १९५८–५९ में ही प्रारम्भ हुआ, इसलिए १९५९ में प्रकाशित मूल्यांकन समिति का प्रतिवेदन जैसा कि स्वयम् कमीशन ने माना है, सही माने में मूल्यांकन प्रतिवेदन नहीं हो सकता। ज्यादा से ज्यादा माने में इसने ग्रामोद्योगों की समस्याओं के संगठनात्मक पहलू का ही मूल्यांकन किया।

चन्द सिफारिशें

समिति ने सिफारिश की कि उत्पादन सहायता (सब्सिडी) के स्थान पर अनुक्रमिक रूप से कम होता जानेवाला व्यवस्था-खर्च अनुदान दिया जाय और उसका सम्बन्ध किसी संस्था अथवा माध्यम (एजेन्सी) के उत्पादन व बिक्री संगठन से जोड़ा जाय। इन उद्योगों में आधुनिक यांत्रिक तकनीकों के उपयोग के सम्बन्ध में समिति ने यह विचार प्रकट किया कि उन्नत तौर-तरीकों से आय में वृद्धि हो तब उन्नत तकनीकें अपनाने के लिए अनुकूल अवस्थाएँ निर्मित की जायें और यह कि आधुनिक यंत्रों के अनायोजित विस्तार से बेकारी नहीं बढ़ जानी चाहिए। समिति के मतानुसार निकट भविष्य में सभी ग्रामोद्योगों और सभी क्षेत्रों में उत्पादन के यांत्रिक साधन अपनाना सम्भव नहीं है। छोटी-छोटी इकाइयों में पूँजी विभक्त करने की सम्भाव्यता की दिशा में अनुसंधान करना होगा। लेकिन प्राविधिक चुनाव की बात शक्ति चालित यंत्रों अथवा शक्ति का प्रयोग किये बिना उन्नत तकनीकों के व्यवहार तक ही सीमित रखनी चाहिए या नहीं, यह एक ऐसा मसला है जिसके लिए

"हर मामले में अलग-अलग, सघन और विस्तृत प्रयोग करने की आवश्यकता है। ऐसा किये बिना उनकी विभिन्न आर्थिक बातों अथवा उनके उत्पादन, रोजगारी व अन्य सम्बन्धित पहलुओं पर पड़नेवाले प्रभाव का एक सुस्पष्ट चित्र प्राप्त करना सम्भव नहीं है।" सन् १९५९-६० के लिए प्राप्त निम्न आंकड़े संकेतात्मक हैं।

बहुत-कुछ उत्तरदायी हैं।[१]

यद्यपि ग्रामोद्योग मूल्यांकन समिति के प्रतिवेदन सहित विभिन्न प्रकाशनों में इन उद्योगों के लिए दिये गये कुल परिव्यय से विनियोजन (पूंजीगत) मूल्य का पता लगाना बड़ा मुश्किल है, फिर भी ऊपरी खर्च और संगठनात्मक व्यय, पूंजीगत व्यय तथा संचालन पूंजी

तालिका ४

कुछ ग्रामोद्योगों में विनियोजन, संचालन पूंजी, उत्पादन और बिक्री: १९५९-६०

(लाख रुपये में)

उद्योग	विनियोजन	संचालन पूंजी	उत्पादन मूल्य	बिक्री मूल्य
अनाज और दाल प्रशोधन ..	२४.१४	१५०.७४	२७८.८०	१४६.३१
ग्रामीण तेल	१५९.४२	१८८.४२	१,२१५.९१	८७०.१०
ग्रामीण चर्म	१११.६१	४०.७१	२६.६२	२२.६८
अखाद्य तेल और साबुन ..	१२२.८३	५२.०५	३४.७९	३१.२१
हाथ कागज	६५.४२	१३.२७	२३.५८	२२.४०
मधुमक्खी-पालन	१६.४७	५.५८	११.८८	११.८८
ग्रामीण कुम्भकारी ..	४३.३५	१६.९१	१७.५७	१४.५६

स्रोत: १. खादी और ग्रामोद्यग कमीशन: **वार्षिक विवरण: १९५९-६०।**

२. वाणिज्य और उद्योग मंत्रालय (भारत सरकार): **एनुअल रिपोर्ट, १९६१;** पृष्ठ: १३१।

उक्त तालिका से पता चलता है कि चर्मोद्योग, अखाद्य तेल और साबुन तथा कुम्भकारी को छोड़कर अन्य उद्योग आर्थिक दृष्टि से लाभदायक हैं एवम् विनियोजन-उत्पादन-अनुपात मोटे तौर पर अनुकूल है। शेष उद्योगों के सम्बन्ध में लाभ अपेक्षाकृत कम था; क्योंकि संचालन पूंजी में आरक्षित स्टॉक भी शामिल थे, जिनका पूर्ण उपयोग नहीं हुआ और इस प्रकार उत्पादन इकाइयां वर्ष भर अनवरत काम करने से रुकीं। इसके अलावा संगठनात्मक कमियाँ भी कम उत्पादन के लिए का हिसाब लगाने के लिए 'वितरण विवरणों' में पर्याप्त निदर्शन मिल जाता है, लेकिन अनुदान और ऋण का विभाजन इस प्रकार के हिसाब पर आधारित नहीं है; वस्तुतः अनुदान व ऋणों में कुछ पूंजीगत व्यय शामिल हो सकता है। अमूमन तौर पर, औसतन रूप से, विनियोजन कुल परिव्यय का ४८.६ प्रति शत और संचालन पूंजी ३४.५ प्रति शत होगी। फिर भी, विभिन्न उद्योगों में उक्त प्रातिशत्य भिन्न-भिन्न होगा।

१२ फरवारी १९६३

१. खादी और ग्रामोद्योग कमीशन: **विलेज इण्डस्ट्रीज इवेल्यूएशन कमेटी रिपोर्ट;** पृष्ठ: २५२।

गोबर गैस संयंत्र

जशभाई झ. पटेल

जनवरी १९६३ के **खादी ग्रामोद्योग** में प्रकाशित श्री मंघाराम इदनानी और श्री नारायण दत्त ने अपने लेख 'गोबर गैस संयंत्र' के प्रारम्भिक भाग में प्रति दिन १०० घनफुट गैस तैयार करनेवाले गैस संयंत्र के बारे में विचार किया है। उनके अनुसार प्रति दिन १०० पौण्ड गोबर संयंत्र में डालना होगा। इस दावे की पुष्टि की एक पौण्ड गोबर से एक घनफुट गैस का उत्पादन होगा न तो किसी कार्यकर्त्ता (डाक्टर सी. एन. आचार्य के अलावा) द्वारा प्रकाशित परिणामों से हुई है और न गैस संयंत्रों के परिचालन से प्राप्त अनुभव से। वास्तविक रूप से प्रति दिन १०० घनफुट गैस की क्षमता-वाले संयंत्र से हम गर्मी की मौसम में १०० घनफुट से अधिक, ऐसी ऋतु में जो न गर्म हो और न ठंडी १०० घनफुट तथा जाड़े के दिनों में १०० घनफुट से कम गैस के उत्पादन की अपेक्षा करते हैं। इसके लिए संयंत्र में रोजाना १५० से १६० पौण्ड गोबर तक डालना ही चाहिए। कुछ बहुत ही विशिष्ट परिस्थितियों में १०० पौण्ड गोबर से अनवरत रूप से १०० घनफुट गैस प्राप्त हो सकती है, जैसे पशुओं को हरे चारे के साथ प्रोटीन युक्त खुराक दी जाती हो तथा ऋतु का तापमान अनुकूल हो। साधारण परिस्थिति में वर्ष की अधिकांश अवधि में १०० पौण्ड गोबर से ६० से ८० घनफुट तक गैस उत्पादन की अपेक्षा की जाती है।

पाचित्र

उन्होंने संयंत्र के पाचित्र (डाइजेस्टर) की क्षमता २०० घनफुट बतायी है। प्रतिदिन बराबर के पानी के साथ १०० पौण्ड गोबर डालना ६५ दिन से भी अधिक का पाचन-काल प्रदान करता है। इसका परिणाम बाद में प्राप्त होनेवाली खाद में नाइट्रोजन की बहुत बड़ी हानि के रूप में निकल सकता है और वह भी गैस उत्पादन के क्षेत्र में बिना किसी क्षति-पूर्ति के लाभ के।

संयंत्र के गैस होल्डर का व्यास ५ फुट और ऊंचाई ४ फुट है। गैस होल्डर में ७८.५६ घनफुट गैस समा सकती है तथा वह ७३ घनफुट प्रदान कर सकता है। एक पारिवारिक संयंत्र के लिए, जो कि प्रति दिन ६० से ८० घनफुट गैस तैयार करता है, यह एक काफी बड़ी साइज है। एक सौ घनफुट गैस तैयार करनेवाले संयंत्र के लिए भी उक्त आकार बड़ा है। अतएव एक ऐसा गैस होल्डर आवश्यक है जिसकी क्षमता ५० घनफुट से अधिक न हो।

गैस होल्डर व गैस-दबाव

गैस के कुशल उपयोग के दृष्टिकोण से जिस दबाव पर गैस, उपयोग बिन्दु पर प्रदान होती है उसका सर्वाधिक महत्व है। संसार भर में, उस दबाव (जिसमें बहुत ही नगण्य-सा अन्तर ही होने दिया जाता है) को बनाये रखने के लिए गैस वितरण में लगे सभी व्यक्ति विस्तृत सुप्रबन्ध करते हैं, जिस पर गैस उपभोक्ताओं को प्रदान की जाती है। सभी गैस उपकरण गैस के एक निश्चित दबाव पर काम करने योग्य बनाये जाते हैं। कार्य-क्षमता को बिना कोई आघात पहुँचाए कोई भी व्यक्ति उसे दूसरे दबाव पर नहीं चला सकता। गोबर गैस के मामले में गैस का दबाव गैस होल्डर के साथ पैदा होता है।

प्रतितोलन के लिए लेखकों ने बाल्टियों में ईंटें रखने की सलाह दी है। उन्होंने इन ईंटों को जब कभी बर्नर का इस्तेमाल करना हो गैस होल्डर पर रखने का सुझाव दिया है। चूंकि ईंटों की संख्या अथवा उनके

वजन का उल्लेख नहीं किया गया है, इसलिए प्रत्येक संयंत्र के दबाव में भारी अन्तर आयेगा। यह कह दिया गया है कि १६ गेज के साधारण इस्पात (माइल्ड स्टील) की चद्दरों (शीट) से पाँच फुट के व्यास और चार फुट की गहराई के ड्रम का प्रयोग किया जाता है। कोग रिंग आदि का विशिष्ट विवरण नहीं दिया गया है। इन विशिष्टताओं के उल्लेख के अभाव में गैस होल्डर का निश्चित वजन निर्धारण सम्भव नहीं होगा। उद्गम स्थल पर गैस होल्डर का प्रभावक वजन गैस का दबाव निश्चित करता है। गैस होल्डर का कुल वजन निर्धारित करने में बड़ी सावधानी बरतने की आवश्यकता है।

गैस होल्डर का परिचालन

गैस होल्डर से नालियों के जरिये जब गैस उपभोग स्थल को जाता है तो दबाव कुछ कम होता है। सामग्री सूची में एक आधे इंच की नलिका व कुछ फिटिंग के सामान का उल्लेख किया गया है। पाइप की कुल प्रभावक लम्बाई स्थान-स्थान पर भिन्न हो सकती है। नल का आकार तभी निर्धारित हो सकता है जबकि जिस नल का उपयोग करना हो उसकी लम्बाई मालूम हो। यदि अपेक्षाकृत कम व्यासवाली नल का उपयोग किया जाय तो परिणाम-स्वरूप दबाव की क्षति अधिक होगी। यदि अन्तर ८१ फुट से ज्यादा का न हो तो कुशल गैस वितरण के लिए घर तक कम से कम एक इंच व्यासवाली नल का सुझाव दिया जाता है।

गैस होल्डर के शिखर पर ईंटों के भार से तथा किसी मार्गदर्शन के अभाव में गैस होल्डर निश्चय ही झुक जायेगा यानी उसमें मोच पड़ेगी। झुकी अथवा मुड़ी हुई स्थिति में गैस प्रदान करने के लिए जब वह नीचे जायेगा तो पाचित्र के पार्श्वों को छू सकता है। किसी गैस होल्डर की एक सबसे बड़ी आवश्यक बात यह है कि जब वह नीचे जाय तो उसका नीचे जाना बिना किसी प्रकार की रुकावट के होना चाहिए। यदि ऐसा नहीं हुआ तो, जैसा कि उल्लिखित लेख के मामले में नहीं हो सकता, बर्नर में गैस स्पन्दित रूप में पहुँचेगी। यदि गैस उपयोग की गति अधिक हो तो स्पन्दन काफी तथा बहुत ही अनियमित हो सकता है।

जब बर्नर पर काम लिया जा रहा हो तो प्रतिभारी बाल्टियों की ईंटें गैस होल्डर के ऊपर और काम समाप्त होने पर पुनः बाल्टियों में डाल देने का सुझाव काफी दिक्कतदारीवाला तथा अव्यावहारिक है। अधिकांश औरतें ऐसा नियमित रूप से नहीं करेंगी। चूंकि ईंटों की संख्या बतायी नहीं गयी है और इसका भी उल्लेख नहीं है कि कितनी ईंटें बाल्टियों से गैस होल्डर पर स्थानांतरित की जांय, इसलिए दबाव समय-समय पर भिन्न-भिन्न हो सकता है। गैस होल्डर को नकारात्मक दबाव पर रखना खतरनाक है, क्योंकि वैसा करने पर विस्फोट होने की सम्भावना बढ़ जाती है।

नीचे जाते वक्त गैस होल्डर को खड़ा रखना खतरनाक है। गैस होल्डर के विस्फोटन का यह एक मुख्य कारण है। लेखकों ने उज्ज्वल प्रकाश के लिए जिस पेट्रोलवाली तरकीब का सुझाव दिया है उसके साथ तो गैस होल्डर को खड़ा रखने से विस्फोट का बहुत ही खतरा पैदा हो जाता है। दो उदाहरण तो ऐसे देखने को मिले हैं जिनमें गोबर गैस संयंत्रों के छोटे गैस होल्डरों से विस्फोट हुआ है।

गैस होल्डर संक्षारण

लेखकों के मतानुसार गैस संयंत्र में घिस-घिसाव अथवा टूट-फूटवाला एक ही हिस्सा ड्रम है, जो सदैव गोबर के गारे में रहता है। हमारा अनुभव बिल्कुल उल्टा है। ड्रम का जो हिस्सा गोबर में रहता है उसकी भली-भाँति सुरक्षा होती है और गैस होल्डर के सामान्य उपयोग के दरमियान जो हिस्सा गोबर के गारे के बाहर व भीतर आता-जाता रहता है उस पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है तथा समय-समय पर उस पर वार्निश करके उसकी रक्षा करने की आवश्यकता है। वस्तुतः बेलूर मठ के स्वामी विमुक्तानंद ने गैस अभिग्राहक या पाचित्र-ढक्कन के लिए, जो सदैव परिपूर्णतः गारे में

रहता है, एक पेटण्ट प्राप्त कर लिया है। उनका दावा है कि ड्रम को जब गारे में रखा जाय तब संक्षारण यानी जंग लगने के खतरे से उसे विशेष रूप से सुरक्षित रखा गया है। लेखकों ने इस गैस होल्डर के लिए दो पौण्ड संरक्षणकारी वार्निश की सिफारिश की है, जो कि गैस होल्डर पर वार्निश की दो परत चढ़ाने के लिए वास्तव में जितनी मात्रा की आवश्यकता पड़ती है उसकी करीब आधी है। समुचित बचाव के लिए कम से कम वार्निश की दो परतें तो चढ़ानी ही चाहिए।

गैस होल्डर को गैस नलिका से जोड़ने के लिए एक रबड़ की होज पाइप का सुझाव दिया गया है। इसे किस प्रकार लगाया जाय इसकी जानकारी जनवरी १९६३ के **खादी ग्रामोद्योग** में पृष्ठ २६३ पर दिये गये चित्र १ में दी गयी है। उल्लिखित चित्र में अंग्रेजी के 'यू' (U) अक्षर के जैसा जो आकार है उसमें निचले मोड़ पर विद्रवित जल इकट्ठा हो सकता है, जो कि इससे होकर गुजरनेवाले गैस का दबाव प्रभावकारी रूप से कम कर सकता है। यदि एकत्रित जल की ऊँचाई दबाव से अधिक हुई तो वह इससे होकर गैस को गुजरने से रोक भी सकता है।

आयताकार गैस संयंत्र

ऐसा सुझाया गया है कि ३.५ फुट चौड़ा और १०.५ फुट लम्बा गड्ढा प्रति दिन १०० घनफुट गैस उत्पादन संयंत्र के लिए पाचित्र का काम दे सकता है, फिर उसकी गहराई जो भी हो। विभिन्न गहराई के अनुसार पाचित्र की लम्बाई भी भिन्न-भिन्न होने ही वाली है। साढ़े पाँच फुट की गहराई पर यह संयंत्र उतना गैस देगा जो चित्र संख्या १ में दिखाया गया है। चूंकि गारे के ऊपर के हिस्से का क्षेत्र हवा के सामने अधिक है और गहराई ५.५ फुट तक सीमित है, इसलिए गैस के उत्पादन तथा उसकी बनावट पर निश्चय ही दूरगामी प्रभाव पड़नेवाला है।

अच्छा होता यदि लेखक इस आयताकार संयंत्र के परीक्षणों से उन्हें गैस के उत्पादन व उसके संघटन के संबंध में जो फल प्राप्त हुए उनका विस्तृत विवरण देते।

खादी ग्रामोद्योग के पृष्ठ २६६ पर लेखकों ने अपेक्षाकृत अधिक क्षमताशील संयंत्र का वर्णन किया है, जो दुग्धालयों अथवा ऐसे गाँवों में प्रयोग में लाया जा सकता है जहाँ किसान अपने पशुओं का गोबर इकट्ठा कर उसमें डाल सकें। उनके अनुसार कई छोटे-छोटे संयंत्र स्थापित करने की अपेक्षा इस प्रकार का संयंत्र सस्ता है, लेकिन वे कहते हैं कि इतना बड़ा गैस होल्डर बनाना तथा स्थापना के लिए ले जाना कठिन होगा। इस कठिनाई पर काबू पाने के लिए वे छोटे पाचित्रों तथा गैस होल्डरों का सुझाव देते हैं, जो दबाव के अन्तर्गत बड़े गैस होल्डर में गैस स्थानांतरित कर देंगे। यह नहीं समझ में आता कि बड़े संयंत्र की रचना करने से होनेवाले आर्थिक लाभ, छोटे-छोटे पाचित्रों के निर्माण से किस प्रकार प्राप्त होंगे। यदि बड़ा गैस होल्डर आवश्यक है तो पाचित्र छोटे क्यों? इसलिए उक्त सुझाव पर विशेष प्रकाश डालने की अवश्यकता है; यथातथ्य रूप में वह स्वयम् विरोधाभास पूर्ण है। अच्छा होता यदि लेखक, उन्होंने दीर्घ गैस संयंत्र को लेकर जो परीक्षण किये उसका परिमाप, कुल खर्च और छोटे गैस संयंत्र की तुलना में उन्हें जो लाभकारी परिणाम प्राप्त हुए उनका हवाला देते हुए विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते।

जल-चोलित बन्द डिजाइन

एक रेखा चित्र के साथ **खादी ग्रामोद्योग** के पृष्ठ २६८ पर जल-चोलित बन्द डिजाइन (मैला गैस संयंत्र) प्रस्तुत की गयी है। जैसा कि चित्र से प्रकट होता है पाचित्र अपनी क्षमता के एक-तिहाई के बराबर खाली रहेगा। इतने बड़े क्षेत्र तक गैस ईंटों की दीवार के सामने खुली रहती है कि करीब-करीब सभी गैस दीवारों द्वारा खपा ली जायेगी। यहाँ भी, यदि लेखक उन्होंने जो जल-चोलित बंद डिजाइन बनायी उसका विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते तो अच्छा रहता।

कच्ची सामग्री की लागत

कच्ची सामग्री की लागत का अनुमान सामान्यतः न्यून है और किन्हीं-किन्हीं मामलों में तो बहुत ही कम।

संयंत्र के निर्माण में मात्र एक बोरी सिमेण्ट की आवश्यकता होती है। सम्भवतः सिमेण्ट का ईंटों के जोड़ मिलाने में ही इस्तेमाल किया जाता है। कम मात्रा में सिमेण्ट और रेती की आवश्यकता पर प्रकाश नहीं डाला गया है कि ऐसा क्यों होता है। निर्माण सम्बन्धी और विस्तृत बातें स्पष्टतः आवश्यक हैं।

पेट्रोल का प्रयोग

लेखकों द्वारा विकसित बर्नरों का लेख में उल्लेख है। उनकी क्षमता, कुशलता अथवा ज्वाला–तापमान–की कोई प्राविधिक जानकारी प्रस्तुत नहीं की गयी है। यह भी नहीं बताया गया है कि गैस के कितने दबाव पर इन बर्नरों का उपयोग किया जाना है। उनके व्यावहारिक इस्तेमाल के संबंध में इस प्रकार की जानकारी का दिया जाना आवश्यक है।

कलकत्ता के समीप बेलूर मठ में १९५३–५४ में मैंने देखा था कि जब पाचित्र गैस को पेट्रोल गैस के साथ मिलाया जाय तो प्रकाश अपेक्षाकृत अधिक उज्ज्वल होता है। उक्त पर्यवेक्षण इसलिए सम्भव बन पड़ा कि स्वामी विश्वकर्मानंद रसोई के कचरे के पाचित्र से प्राप्त गैस और पेट्रोल गैस जनित्र के लिए–जिसका वहाँ विकास हो रहा था–एक ही गैस होल्डर का प्रयोग कर रहे थे। फिर भी, पहले मैंने जो कारण बताये हैं उन्हें लेकर इसकी राय नहीं दी जा सकती। 'ज्वाला पिंजड़े' के इस्तेमाल से कुछ संरक्षण मिल सकता है, लेकिन वही पर्याप्त नहीं है। एक ऐसे गैस संयंत्र की स्थापना में जहाँ अपरीक्षित सामग्री का इस्तेमाल होता हो, पेट्रोल गैस का समावेश बड़ा खतरनाक होगा।

८ मार्च १९६३

प्रस्तुत पुस्तक में अहिंसा पर गांधीजी द्वारा प्रकट तथा लिखित विचारों का संक्षेप में वर्णन किया गया है। पुस्तक की प्रस्तावना में डाक्टर कैलाश नाथ काटजू लिखते हैं, "गांधीजी ने दो महायुद्ध देखे थे और इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय जगत में इस भव्य सिद्धान्त के प्रयोग का प्रतिपादन किया। किसी विदेशी सरकार द्वारा आक्रमण किये जाने पर सत्य और अहिंसा उसका जवाब देने में कहाँ तक सफल होती है, यह एक ऐसा विषय है जिस पर विचार किया जाना चाहिए। आवश्यकता इस बात की है कि इस भव्य सिद्धान्त का न केवल किसी एक अथवा दूसरे क्षेत्र में प्रचार किया जाय, बल्कि मानव मात्र को इस सिद्धान्त की शिक्षा अवश्य दी जानी चाहिए।"

उक्त विषय में अभीरूचि रखनेवालों के लिए पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी।

टिप्पणी : 'दि साइन्स ऑफ् दि सौल फोर्स ऑर महात्मा गांधी'ज डॉक्टरायन ऑफ ट्रूथ एण्ड नॉन वायलेंस;
लेखक : एन. बी. परूलकर; प्रकाशक : हिन्द किताबस् लिमिटेड, बम्बई; १९६२;
पृष्ठ : १०७; मूल्य : ३.५० रुपये।

प्रतिरक्षा व विकास में लघु उद्योगों का स्थान

विद्या सागर महाजन

देश के आर्थिक विकास में ही नहीं, अपितु प्रतिरक्षात्मक शक्ति के निर्माण में भी लघु उद्योग महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, आज अधिक मात्रा में ऊनी वस्त्रों की तत्काल आवश्यकता है और लघु उद्योगों द्वारा बड़े लाभदायक रूप में उनका उत्पादन किया जा सकता है।

यद्यपि देश की सुरक्षा में बड़े उद्योगों का बहुत बड़ा स्थान है, पर इसके साथ ही छोटे उद्योगों के महत्व से भी इन्कार नहीं किया जा सकता। वास्तव में राष्ट्र की प्रतिरक्षात्मक क्षमता बहुत-कुछ इन दोनों प्रकार के उद्योगों के उचित समन्वय पर निर्भर करती है। अतएव यदि समुचित दृष्टिकोण से देखा जाय तो ये दोनों उद्योग--बड़े और छोटे--दो जुड़वाँ भाइयों के समान हैं और उन्हें लघु तथा दीर्घ-कालीन, दोनों ही दृष्टियों से देश के विकास और सुरक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं के मामले में एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता।

लघु उद्योगों का गत्यात्मक स्वरूप

मोटे तौर पर लघु उद्योग वे हैं जिनसे पूंजी व तकनालाजी का विवेकपूर्ण उपयोग करते हुए अधिकतम लोगों को रोजगारी प्रदान करने में सहायता मिले। इस परिभाषा के अनुसार लघु उद्योगों में वे कुटीर उद्योग (जो यथार्थ में दूसरे दर्जे के लघु उद्योग हैं) भी आ जाते हैं, जिनसे उक्त लाभ प्राप्त हो सकते हैं। देश की सुरक्षा और विकास को बड़े उद्योगों के साथ जोड़ने का सम्भवतः एक कारण यह है कि हम अभी तक लघु उद्योगों के गत्यात्मक स्वरूप को समझ नहीं पाये हैं, जो कि समुन्नत प्रविधि और प्रबन्ध-व्यवस्था से जुड़ा हुआ है।

सैनिकों की ऊनी वस्त्रों सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए हमें उनकी एवम् सामान्य जनता की—जो कि ऊनी वस्त्रों और बुनाई-ऊन के लिए स्वयम् ऊन की मांग करती है और जो आर्थिक विकास के फलस्वरूप प्रति वर्ष बढ़नेवाली है—आगामी कुछ वर्षों की तत्सम्बन्धी कुल मांग को ठीक तरह से आंक लेना चाहिए।

इससे हमें इस तरह के सामान की भावी मांग के बारे में कल्पना करने में सुलभता होगी और साथ-साथ वस्त्रोत्पादन को उसके अनुसार ढालने में भी। सैनिक और सामान्य जनता की कुल आवश्यकता आंकने के पश्चात् हमें लघु उत्पादन केन्द्रों तथा बड़ी ऊनी मिलों में उत्पादन का वैज्ञानिक पद्धति से विभाजन करने की समस्या हल करनी चाहिए; क्योंकि अच्छे और श्रेष्ठ सूत तथा वस्त्र के उत्पादन के मामले में बड़ी मिलों को निश्चित रूप से ही लघु उद्योगों से कुछ अधिक लाभ प्राप्त हैं। इसके विपरीत मोटे सूत व उससे बने कपड़े का उत्पादन करने में—जिन्हें सर्दी से अधिक बचाव करने की उनकी क्षमता और अपेक्षाकृत सस्ते होने से सर्व साधारण जनता अधिक पसन्द करती है—छोटे उद्योग बड़े उद्योगों से अच्छे नहीं तो भी उतने ही उपयोगी अवश्य सिद्ध हो सकते हैं।

कम्बलों की पूर्ति

इन छोटे केन्द्रों का महत्व इस बात से और भी बढ़ जाता है कि हमारे सैनिकों की अधिकांश आवश्यकता मोटे सूत से बने मजबूत कपड़े की ही होगी।

छोटे उद्योगों को प्रोत्साहन देने की हमारी सरकार की नीति से इनका महत्व दुगुना हो जाता है; क्योंकि उनका यह मानना बिल्कुल सही है कि विकास कार्यक्रमों के परिणाम स्वरूप होनेवाले लाभ की उपलब्धि समाज के विभिन्न लोगों को समान रूप से हो। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि प्रतिरक्षा सम्बन्धी अधिकांश आवश्यकताओं की पूर्ति लघु उद्योगों के जरिये होनी चाहिए। निस्सन्देह यह कोई सहज कार्य नहीं है, पर साथ ही इसे कोई बहुत कठिन भी नहीं कहा जा सकता। कम्बल उत्पादन को ही लीजिए। जब छोटी-छोटी उत्पादन इकाइयों ने यह सिद्ध कर दिया है कि वे नागरिक उपयोग के लिए ऐसे कम्बल बना सकती हैं जो किसी भी तरह बड़ी मिलों द्वारा उत्पादित कम्बलों से हलके नहीं कहे जा सकते, तो फिर कोई कारण नहीं कि सरकार इन लघु उद्योगों को प्रोत्साहन न दे? इसके लिए यदि हमें ऋण और कच्चे माल की सुविधाएँ भी उपलब्ध करानी पड़ें, तो देश में फैली भयंकर बेकारी की समस्या को दृष्टिगत रखते हुए ऐसा करना उचित ही है।

निर्यात पर प्रभाव

यह कहना कि ऐसा करने से बड़े उद्योगों को हानि होगी, तर्कसंगत नहीं लगता। वस्तुस्थिति यह है कि आज मिलें, जितना उत्पादन करती हैं वह सामान्य जनता की मांग की पूर्ति करने के लिए पर्याप्त भर ही है। निर्यात के क्षेत्र में मिलों के लिए और गुंजाइश है; क्योंकि ऊनी कपड़ों को निर्यात के मूल्य पर 'जहाज तक निःशुल्क' (एफ. ओ. बी) शत प्रति शत उत्प्रेरणा प्राप्त होने पर भी इस क्षेत्र में इनका काम बहुत मामूली है। परन्तु दुर्भाग्यवश प्रतिरक्षा हेतु ऊनी मिलों के मौजूदा उत्पादन को सुरक्षित रखने की सरकारी नीति मिलों को निर्यात में वृद्धि करने के लिए शायद ही उत्साहित करे। इसके विपरीत अत्यधिक मांगवाले घरेलू बाजार द्वारा आरक्षित संरक्षण प्रदान करने पर मिलें वर्तमान योजना काल के अन्त के लिए निर्धारित तथा प्रति वर्ष २० लाख गज ऊनी माल का निर्यात करने के सामान्य लक्ष्यांक को भी शायद ही प्राप्त कर सकें। (गत वर्ष निर्यात करीब ५ लाख गज का हुआ था। प्रतिरक्षा के लिए ऊनी वस्त्रों का अधिकांश उत्पादन आरक्षित करने से कहीं ऐसा न हो कि इस वर्ष निर्यात और भी कम हो जाय।)

मिल क्षेत्र को आधुनिकीकरण करके ऐसे अच्छे गुण-स्तर का वस्त्रोत्पादन करने के लिए प्रोत्साहित करने हेतु—जिसकी अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में मांग हो तथा फलस्वरूप जिससे अत्यावश्यक विदेशी विनिमय की प्राप्ति हो सके—उसे कम्बलों व अन्य ऐसे कपड़े का उत्पादन सौंपना तो और भी वांछनीय नहीं है, जो छोटी-छोटी उत्पादन इकाइयाँ तैयार कर सकें।

सहयोग की गुंजाइश

यह स्पष्ट है कि सस्ती दरों पर अधिक मात्रा में ऊन की उपलब्धि और ऊनी उद्योग के स्वस्थ विकास में परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। परन्तु प्रतिस्पर्धात्मक सस्ती दरों पर पर्याप्त मात्रा में ऊन की पूर्ति करने के लिए और आधुनिक वैज्ञानिक तरीकों से भेड़-पालन व्यवसाय को प्रोत्साहन देने हेतु अधिक ध्यान नहीं दिया गया है। चूंकि वर्तमान अवस्था में विदेशों से—मध्य तिब्बत—ऊन का आयात करना सम्भव नहीं है, अतः यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम वैज्ञानिक ढंग से ऐसी नस्लों की भेड़ों के अभिजनन को प्रोत्साहन दें जिनसे अधिक ऊन प्राप्त हो सके। भेड़-पालन उद्योग के विकास से गांवों में लोगों को रोजगारी भी मिलेगी।

प्रस्तुत लेख में ऊन उद्योग की चर्चा यह दर्शाने के लिए ही की गयी है कि हमारी विकास और सुरक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बड़े और लघु उद्योगों में परस्पर व्यापक सहयोग की गुंजाइश है। आवश्यकता इस बात की है कि इन दोनों क्षेत्रों में गतिशील सम्बन्ध हो और इनके प्रति उचित उपागम का अनुसरण किया जाय। इसके लिए उद्योग के संगठनात्मक एवम् तकनीकल, दोनों पहलुओं में सुधार किये जांय और ऊन तथा अन्य कच्चे माल की सस्ती कीमत पर अधिक उपलब्धि करवायी जाय। विकास तथा सुरक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति बड़े और लघु उद्योगों के परस्पर सहयोग से हो, इसके लिए इस प्रकार के उपागम का दूसरे उद्योगों के क्षेत्र में भी विस्तार किया जा सकता है। ●

अनाज और दाल प्रशोधन उद्योग

सत्यपाल ठाकुर

अनाज व दाल के हस्त-प्रशोधन से भोजन के पौष्टिक तत्वों की वृद्धि होती है। बिस्कुट, पोहा, सिवैयां, कुरमुरा आदि जैसे सम्बन्धित उत्पादनों की प्रक्रिया में अनेक व्यक्तियों को रोजगारी प्रदान करने की दृष्टि से भी हस्त-प्रशोधन उद्योग का महत्व है।

अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मण्डल द्वारा पहल करने पर १९५८ में भारत सरकार ने चावल कुटाई उद्योग (नियंत्रण) अधिनियम बनाया। इस सामयिक कार्यवाही से विकेन्द्रित आधार पर इस उद्योग के विकास और कार्यान्विय के लिए एक समुचित वातावरण निर्मित हुआ। चावल कुटाई उद्योग (नियंत्रण) अधिनियम से सामान्य जनता का ध्यान हाथ-कुटाई उद्योग की आवश्यकता और उसके महत्व की ओर आकर्षित होने में मदद मिली। हस्त प्रशोधन उद्योग का निर्धनों के दैनिक जीवन में बहुत बड़ा महत्व है।

कुरमुरा

अनाज व दाल प्रशोधन उद्योग में स्वस्थ और सर्वांगीण जन-जीवन तथा अर्थ-व्यवस्था के विकास के दृष्टिकोण से बड़ी सम्भाव्यताएँ हैं। पोहा या अवलाक्की अथवा चिवड़ा, खील, कुरमुरा, भुना हुआ बंगाली चना, दलिया अथवा भुनी हुई बंगाली चना-दाल, पापड़ या अप्पलम तथा चावल की भूसी से दंत मंजन आदि अब भी गांवों में बनाये जाते हैं। अनेक ग्रामीण इनकी बिक्री करके अपनी जीविका चलाते हैं।

कुरमुरा या कुटे चावल में केवल एक ही दोष है कि नमीवाले मौसम में इसमें आर्द्रता आ जाती है अर्थात् वह कड़क नहीं रहता। चिवड़ा, लड्डू आदि जैसी सस्ती विभिन्न वस्तुओं के बनाने में इसका प्रयोग किया जाता है, जोकि शीघ्र ही बाजार में बिक जाती हैं। कुरमुरा तैयार करना बड़ा ही आसान है और इसकी एक उत्पादन इकाई में १०० रुपये से अधिक के उपकरणों की जरूरत नहीं पड़ती। गाँवों में इसकी बड़ी मांग है और ग्रामीण बाजारों में बड़े सस्ते भाव पर बिकता है। बच्चे तक कुरमुरे को शीघ्र और आसानी से हजम कर लेते हैं।

पोहा या कुटे चावल का प्रयोग अच्छे किस्म का चिवड़ा बनाने में भी किया जाता है। छोटे कस्बों तथा नगरों में कुरमुरा या पोहा से चिवड़ा तैयार करने का उद्योग एक विशिष्ट धन्धा है। फेरी करके चिवड़ा बेचनेवाले प्रायः स्कूलों के आस-पास नाश्ते की छुट्टी के समय बिक्री किया करते हैं और अच्छी-खासी कमाई कर लेते हैं। सस्ते किस्म का चिवड़ा जिसमें प्रायः समान पोषक तत्व रहते हैं, कुरमुरे या भुने हुए पोहे से तैयार होता है। भुने-कुटे चावल का प्रयोग लड्डू बनाने में भी किया जाता है। लड्डू में मीठा तत्व गुड़ होता है।

लाई

प्रायः दुर्बल तथा वृद्ध जन लाई चाव से खाते हैं। इसे चावल के बजाय दूध या पानी के साथ खाते हैं। यह जल्दी ही पचनेवाली वस्तु है। खील तो घर में ही कुछ दिनों के अभ्यास पर बनायी जा सकती है। इसके लिए मुख्य सरंजाम लोहे की कड़ाही और छलनी है। एक समान गर्मी के लिए साधारण-सी साफ बालू का प्रयोग करते हैं। धान ही इसका मुख्य कच्चा माल है,

जोकि बालू में समान रूप से भुन जाता है।

भुनी हुई मक्का लाई मक्का कही जा सकती है। इसे मकई से तैयार करते हैं (अमेरिका में मकई को एक किस्म का धान्य कहा गया है)। भुनी हुई मक्का देखने में बड़ी आकर्षक और सुपाच्य होती है। साधारण तौर पर या मसालेदार अथवा नमकीन बनाकर भुनी हुई मक्का तैयार करना कस्बों और बड़े शहरों में या उनके आस-पास एक फलने-फूलनेवाला उद्योग है। यद्यपि इसका बाजार फिल-हाल नगरों और बड़े कस्बों में ही है, तथापि प्रत्येक विकास खण्ड में एक या दो छोटी इकाई खोलकर भुनी हुई मक्का का कारोबार शुरू करना सम्भव है।

फूलवड़ी बनाना बड़ा आसान है और बिना किसी खराबी तथा पौष्टिक तत्वों के नष्ट हुए इसे तीन से छः माह तक सुरक्षित रखा जा सकता है। इसका उत्पादन और विक्रय दोनों ही बड़े सरल हैं। फूलवड़ी चावल, पोहे, गेहूँ अथवा गेहूँ की सूजी या सागे से बनायी जा सकती है। इसकी उत्पादन इकाई खोलने के लिए १०० रुपये से अधिक प्रारम्भिक पूंजी नहीं चाहिए।

नालाशिका अथवा सिवैंयां

नालाशिका या सिवैंयां बनाना भी बहुत आसान है। अच्छे किस्म की नालाशिका के लिए विभिन्न किस्म के गेहूँ की सूजी के संमिश्रण की आवश्यकता पड़ती है। दस भाग सूजी और तीन हिस्सा पानी मिलाकर इसे अच्छी तरह गूँदना आवश्यक है। इसके लिए पेचदार उत्सारक यंत्र ही मुख्य सरंजाम है, जोकि आम तौर से पीतल का बना होता है। यह उत्सारक यंत्र पीतल की दूकानों पर मिलता है। सामान्य आकार के यंत्र की कीमत लगभग ५० रुपये होती है। लम्बे पतले तार को २५ से ३० सेन्टीमीटर की लम्बाई में काट लेते हैं और तब उसे फैलाकर धूप में सुखाते हैं। धूप में सुखाने पर इसका रंग हल्का पीला होता है, किन्तु यदि छाया में सुखाया जाता है तो इसका रंग सफेद होता है। अधिक सफेदी के लिए इसे कमरे में सुखाना चाहिए, किन्तु यह तभी आवश्यक है जबकि इसका उत्पादन राष्ट्रव्यापी बाजार के लिए हो।

स्थानीय बिक्री के लिए सरंजामों पर अधिक खर्च करने की आवश्यकता नहीं है। कुछ औरतें डेढ़ सूत चौड़ी झर से लकड़ी की तश्तरियों पर सिवैंयां बना सकती हैं। सिवैंयाँ को डेढ़ वर्ष तक बिना किसी खराबी के रखा जा सकता है। बिना पेचवाले उत्सारक यंत्र के सिवैंयाँ बनाना एक कला है, जोकि अब भी ग्रामीण महिलाओं के हाथों में सुरक्षित है। देश के कुछ भागों में, विशेष कर महाराष्ट्र और कर्नाटक में, आधे से एक सेन्टीमीटर की लम्बाई तक की एक चीज बनायी जाती है, जिसे गावले कहते हैं। इसे खीर बनाने के काम में लाया जाता है। महाराष्ट्र के कुछ भागों में और भूतपूर्व बम्बई राज्य के कर्नाटक के कुछ भागों में गावले नौ प्रकार की किस्मों में प्राप्य हैं—ब्रोटूले, नखुले, फैंनिले, मालती आदि।

गेहूँ, अनाज, दाल व अन्य प्रकार के खाद्यान्नों आदि से विभिन्न प्रकार की पपड़ी तैयार करने का विस्तृत विवरण देना आवश्यक नहीं है। इनका उत्पादन आवश्यकता-नुसार अथवा छोटे पैमाने पर किया जा सकता है और स्थानीय मांग की पूर्ति के लिए कुछ सौ रुपये ही पर्याप्त हैं। पाँच हजार की जनसंख्यावाले छोटे शहरों में यह उद्योग बिना किसी दिक्कत के चल सकता है। फिलहाल यह उद्योग बड़े शहरों तथा नगरों में चलता है।

बिस्कुट

पावरोटी और बिस्कुट बनाने का उद्योग धीरे-धीरे ग्रामीण क्षेत्रों में फैल रहा है। पावरोटी के स्वाद को पसन्द करने और उसका गुण बनाये रखने की बात को समझने में आम जनता को कुछ समय लगेगा। पावरोटी उद्योग के अपेक्षित व गर्भित परिणाम धीरे-धीरे सामने आयेंगे। बिस्कुट उद्योग अच्छी प्रगति कर रहा है। गेहूँ का आटा, घी या तेल और खमीर उठानेवाला पाउडर ही बिस्कुट बनाने के लिए कच्ची सामग्री है।

इसे पकाने के लिए आवश्यकता इस बात की है कि एक ऐसी भट्टी बनायी जाय, जिसमें समान ताप प्राप्त हो और बिस्कुट अच्छी तरह पक जाय, जले नहीं।

बिस्कुट उद्योग का एक संगठित क्षेत्र भी है। सन् १९५८ में बिस्कुट बनाने के पंजीकृत कारखानों की संख्या ९२ थी, जिनकी स्थिर पूँजी २ करोड़ ४ लाख और संचालन पूँजी १ करोड़ ३६ लाख रुपये थी। इस उद्योग में ५ हजार २६१ व्यक्ति काम करते थे। उक्त कर्मचारियों को मजदूरी तथा गैर नकदी लाभ के रूप में ७६ लाख रुपये प्राप्त हुए। कुछ नगरों और छोटे शहरों के होटलों में अपनी खुद की बैकरी हैं। असंगठित क्षेत्रों की अनेक बैकरी तीन-तीन या चार-चार व्यक्ति काम पर रखती हैं। इस उद्योग का भविष्य बड़ा उज्ज्वल है।

माल्ट

माल्ट एक ऐसा उत्पादन है जो अंकुरित अनाजों की कुटाई या पिसाई करके तैयार किया जाता है। अंकुरित अनाज की पूर्ण विकर-प्रक्रिया ताप देकर रोक दी जाती है, जिसे विभर्जन भी कहते हैं। इस प्रकार के विभर्जन से माल्ट में एक विशिष्ट महक आ जाती है। इस प्रकार की सामग्री छनी हुई होती है। यद्यपि माल्ट बनाने के लिए मुख्यतः रागी या चोलम का प्रयोग करते हैं, किन्तु सदैव ही यह जरूरी नहीं कि रागी का ही इस्तेमाल किया जाय। बाजरे या जव का भी प्रयोग किया जा सकता है, किन्तु तरजीह रागी या चोलम को ही दी जाती है।

माल्ट में पौष्टिक तत्व बहुत होता है। माल्ट तैयार करते समय अनाज में जो माड़ी तत्व रहता है, उसे डेक्स्टराइन और यवशर्करा (माल्टोज) में परिवर्तित कर दिया जाता है। अतएव माल्ट अनाज के आटे से कहीं अधिक शीघ्र पाचक होता है; अंकुरित करने पर इसमें विटामिन 'बी' की वृद्धि होती है, यद्यपि प्रोटीन तत्वों में व्यवहारतः कोई अन्तर नहीं आता। धूप में सुखाने पर इसमें कुछ पीलापन आ जाता है।

माल्ट चूर्ण (पाउडर) उत्पादन उद्योग में बड़ी सम्भाव्यताएं हैं और यह निश्चय की पनपनेवाला है। माल्ट तैयार करनेवाली इकाइयों की संख्या दिन प्रति दिन बढ़ रही है। पौष्टिक दृष्टि से संतुलित माल्ट उत्पादन के लिए विभर्जित बंगाली चने की दाल का बेसन और मथे हुए दूध का पाउडर तथा कुछ बूरा का प्रयोग आवश्यक है। इनके सम्मिश्रण से पशु और वानस्पतिक प्रोटीन तथा तिक्तीय अम्लों की कमी भी दूर हो जाती है। बंगाली चने की दाल का बेसन सुपाच्य होता है और उस पर लार का तुरन्त प्रभाव पड़ता है, जोकि बेसन को एक प्रकार की शर्करा में परिवर्तित कर देती है। आम तौर पर माल्ट, विभर्जित चने की दाल के आटे और मथे हुए दूध के पाउर का अनुपात १:१:½ होता है।

उर्द्धबिलन उद्योग की दक्षिण भारत में निश्चित गुंजाइश है। कई तटवर्ती क्षेत्रों में, विशेष कर केरल में, ऊसने चावल का ही उपयोग होता है। यह यद्यपि हल्के पीले रंग का होता है, किन्तु इसमें प्रायः सभी विटामिन तथा खनिज पदार्थ होते हैं। वर्धा स्थित जमनालाल बजाज केन्द्रीय ग्रामोद्योग अनुसंधान शाला में विकसित यूरिया प्रशोधन तरीका कुछ स्थानों में अपनाया गया है।

चावल के कणे का तेल

हाल ही में मैसूर स्थित केन्द्रीय खाद्य प्रौद्योगिकी अनुसंधान शाला द्वारा किये गये अन्वेषण और उससे प्राप्त परिणामों के फलस्वरूप द्रावक निस्सारण पेराई से चावल के कणे से तेल निकालना सम्भव हो गया है। चावल मिलों में कणे से तेल निकालना एक उप-उत्पादन है। प्रत्येक विकास खण्ड के आधार पर यह उद्योग प्रारम्भ नहीं किया जा सकता, किन्तु पांच-छः विकास खण्ड मिलकर इसे शुरू कर सकते हैं। यदि कणे में मद्यसार मिलाकर पेराई की जाय तो न केवल उससे तेल, वरन् चावल-शक्कर और चावल-मोम भी प्राप्त किया जा सकता है। मद्यनिषेध और मद्यसार की कमी

के कारण कभी-कभी हेक्सेन का इस्तेमाल करना आवश्यक हो जाता है। यदि हेक्सेन विलायक के रूप में प्रयोग की जाय तो अतिरिक्त उप-उत्पादन के रूप में शक्कर या मोम की प्राप्ति की जा सकती है।

पापड़

कुछ स्थानों में चावल की भूसी को धीरे-धीरे जलाकर दंतमंजन भी तैयार किया जाता है। इस दंतमंजन की मुख्य कमी यह है कि जली हुई भूसी में मिट्टी के अंश रह जाते हैं। यद्यपि ये अंश बहुत छोटे-छोटे होते हैं, किन्तु दांतों को नुकसान पहुँचाते हैं। इसलिए दंतमंजन उत्पादन शुरू करने अथवा चालू रखने के लिए विस्तृत विचार करना होगा।

पापड़ या अप्पलम् बनाने का धंधा दाल प्रशोधन उद्योग के अन्तर्गत आता है। यह उद्योग अब भी गरीब महिलाओं के हाथों में ही है। यदि उचित व्यवस्था की जाय तो इसकी काफी गुंजाइश तथा मांग है। और, इससे उल्लेखनीय फल-प्राप्ति हो सकती है।

इस छोटे-से लेख में अन्य अनेक उद्योगों पर विचार करना सम्भव नहीं है। सक्रियकृत कोयला उत्पादन और चावल की भूसी से स्याही बनाने के उद्योग पर सरलता-पूर्वक विचार किया जा सकता है। इडली, मैदा और सूजी के उत्पादन का भी संगठन किया जा सकता है। दालों के इस्तेमाल पर आधारित अनेक उद्योग, उदाहरणार्थ, दाल से पूर्व-पाचित प्रोटीन और प्रोटीनयुक्त खाद्यान्न; लाख से नहीं (जोकि दाल में कुछ विष के अंश होने से उत्पन्न एक रोग है) बंगाल के चने से बेसन तथा दाल की भूसी या छिलके के उत्पादन जैसे कुछ अन्य सम्भाव्यतापूर्ण उद्योग, प्रारम्भ किये जा सकते हैं।

९ मई १९६३ ●

राष्ट्रीय संकटकाल और सहकारिताएँ

समीउद्दीन

वर्तमान राष्ट्रीय संकटकाल के दौरान हमें आर्थिक साधन-स्रोतों को सक्रिय बनाते हुए न केवल आर्थिक विकास की गति कायम रखनी है, बल्कि उसे तीव्र भी बनाना है। इस सन्दर्भ में सहकारी संगठन बहुत सहायक सिद्ध हो सकता है; क्योंकि उससे कमीवाली उपभोक्ता सामग्री के वितरण में तो आसानी होगी ही, लेकिन साथ ही जनता में बचत-भावना भरने में भी सहायता मिलेगी।

गत वर्ष २० अक्तूबर को देश पर जो निर्लज्ज चीनी आक्रमण हुआ उससे एक साथ दो समस्याएँ खड़ी हो गयी हैं। एक है देश की आक्रमण से रक्षा करना और दूसरी है विकास की गति कायम रखना। आर्थिक क्षेत्र में आज हमें जरूरत इस बात की है कि कृषि और औद्योगिक उत्पादन बढ़ाने, परमावश्यक सामग्रियों की अबाध पूर्ति प्राप्त करने तथा परिग्रह को रोकने एवम् बचत को बढ़ाते हुए उचित मूल्य-स्थिति बनाये रखने हेतु उपलब्ध साधन-स्रोत तैयार करने के लिए अनवरत व अनुशासित प्रयत्न किये जांय। इसके लिए संगठनात्मक कार्य को प्रभावशाली रूप में कुशलतापूर्वक सम्हालने की आवश्यकता है। प्रस्तुत लेख में वर्तमान संकटकाल में आर्थिक साधन-स्रोत तैयार करने के कार्य में सहकारी संगठन की भूमिका का विश्लेषण करने का एक प्रयास किया गया है।

कृषि क्षेत्र

कृषि के क्षेत्र में कृषि उत्पादन बढ़ाने, कीमतें नीची रखने और कुशल वितरण सुनिश्चित करने के लिए सहकारी प्रयास आवश्यक है। भारत में जन-संख्या वृद्धि खाद्यान्न वृद्धि की दर से आगे बढ़ गयी है। इस तथ्य की पुष्टि इस बात से होती है कि सन् १९५८-५९ का सर्वाधिक उत्पादन (७ करोड़ ३५ लाख टन) १९५३-५४ के उत्पादन से आठ प्रति शत ही अधिक था, जबकि इसी काल में जन संख्या वृद्धि नौ-दस प्रति शत हुई है। इतनी ऊँची दर से बढ़नेवाली आबादी की खाद्यान्न सम्बन्धी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए यह आवश्यक है कि सघन खेती तथा प्रत्येक इंच भूमि का उपयोग करते हुए खाद्यान्न उत्पादन बढ़ाया जाय। दस करोड़ टन खाद्यान्न उत्पादन का लक्ष्यांक अलाभदायक, छोटे-छोटे खेतों को एक साथ मिलाये बिना प्राप्त नहीं किया जा सकता। ऊँची उत्पादन लागत और किसान परिवार के भरण-पोषण के लिए ही पर्याप्त न्यून उत्पादन में बचत तथा पूंजी निर्माण की गुंजाइश नहीं रहती।

गरीब होने की वजह से किसान उन्नत बीज, उर्वरक, कीटाणु-नाशक दवाइयाँ छिड़कने तथा आधुनिक उपकरणों का प्रयोग करने का खर्च बर्दाश्त नहीं कर सकता। उसके अलग-अलग और छोटे-छोटे खेतों की सिंचाई नहीं हो सकती, इसलिए प्रति एकड़ उपज कम होती है। अलाभदायक तथा अतिरिक्त बचत का निर्माण न करनेवाले खेतों की समस्या का समाधान और निचले तबके के किसानों को अपनी समुचित आवश्यकताओं की पूर्ति करने एवम् राष्ट्रीय आर्थिक विकास में बिक्री योग्य अतिरिक्त माल प्रस्तुत करने के लिए पर्याप्त उत्पादन करने में समर्थ बनाने हेतु प्रभावशाली कोई कदम नहीं उठाये जाते हैं, तो समाजवादी ढंग का समाज स्थापित करने के हमारे प्रयासों के कोई माने नहीं होते।[1]

---

१. खुसरो और अगरवाल : **दि प्रालबल्म ऑफ् कोऑपरेटिव फार्मिंग इन इण्डिया** (भारत में सहकारी खेती की समस्या—एशिया पब्लिशिंग हाउस); पृष्ठ : ११।

सरकार द्वारा उठाये जानेवाले तात्कालिक कदमों में कृषि की सम्पन्नता को नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता; क्योंकि इसी पर औद्योगिक भारत की नींव आधारित है। हमारी कृषि अर्थ-व्यवस्था पर यदि पूर्ण रूप से विचार किया जाय तो उससे एक अकुशलता और निम्न उत्पादकता का चित्र सामने आता है। एशिया के चन्द पड़ोसी देशों की तुलना में हमारी प्रति एकड़ उपज बहुत कम है; यूरोप के देशों की तुलना में तो और भी कम।[२] हतोत्साहक परिणामों का कारण यह है कि हमारे सभी प्रयासों का उद्देश्य गठन परिवर्तन लाये बिना उत्पादन बढ़ाना रहा है। भारत के कृषि क्षेत्र में इस प्रकार का वांछित परिवर्तन सहकारी खेती अपनाकर लाया जा सकता है। इस तरीके से निश्चय ही प्रति एकड़ उपज व बिक्री योग्य कृषि उत्पादन बढ़नेवाला है और रोजी के अधिक अवसरों का निर्माण होनेवाला है तथा राष्ट्र को शक्तिशाली बनाने में मदद मिलनेवाली है।

सेवा सहकार

कृषि उत्पादन बढ़ाने की सेवा सहकारों में भी क्षमता है। फिलहाल करीब ३५ प्रति शत कृषक आबादी सहकारी क्षेत्र के अन्तर्गत आती है और आशा है कि तीसरी पांचसाला योजना के दौरान इस क्षेत्र के अन्तर्गत ७५ प्रति शत किसान आबादी आ जायेगी। राष्ट्रीय संकटकाल की दृष्टि से सेवा सहकारों को एक झूल दी ही जानी चाहिए ताकि वे कृषक वर्ग की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के दृष्टिकोण से अधिक कुशलतापूर्वक काम करें। ऋण, बीज, उर्वरक तथा उपकरण मुहैया करने के अतिरिक्त वे और भी कई तरह से सहायक हो सकते हैं। प्रथम, वे कृषकों को समूचे गाँव तथा साथ ही साथ अलग-अलग किसानों के लिए उत्पादन आयोजन तैयार करने में मदद दे सकते हैं। द्वितीय, वे गाँवों में बीज-वृद्धि की व्यवस्था कर सकते हैं। तृतीय, वे एकता और आत्मोत्सर्ग की भावना पनपा सकते हैं, जोकि राष्ट्रीय प्रतिरक्षा कोष के लिए ग्राम स्तर पर योगदान प्राप्त करने हेतु आवश्यक है। चतुर्थ, अपनी सुरक्षित जमा पूंजी तथा अतिरिक्त बचत राष्ट्रीय प्रतिरक्षा बाण्ड खरीदने में लगा सकते हैं और ग्रामीण आबादी को बचत करने के लिए प्रोत्साहित कर सकते हैं। नालियाँ बनाने, भू-संरक्षण, कृषि उत्पादनों का यातायात तथा भाण्डारीकरण जैसे कृषि से सम्बन्धित अन्य मामलों में भी सहकारी समितियाँ बहुत मददगार हो सकती हैं।

औद्योगिक क्षेत्र

ये समितियाँ ही किसान को अपना उत्पादन बढ़ाने और आगामी मौसम से बढ़े हुए उत्पादन का कुछ हिस्सा प्रतिरक्षा कोष में देने के लिए तैयार कर सकती हैं। सहकारी शिक्षा व स्थानीय अभिक्रम के अन्तर्गत प्रचार-प्रसार उक्त दिशा में आगे बढ़ाने के लिए वे सर्वोत्तम साधन साबित हो सकते हैं। सहकार आन्दोलन में मदद के रूप में प्रमुख व्यक्तियों की स्वेच्छापूर्वक सेवाएँ प्राप्त करनी चाहिए।

औद्योगिक उत्पादन बढ़ाने के लिए भी सहकारी समितियों का विकास किया जा सकता है। लघु स्तरीय और, विशेष कर, कुटीर उद्योगों के क्षेत्र में अन्य किसी प्रकार के संगठन के स्थान पर सहकारी प्रयासों को तरजीह दी जानी चाहिए। द्वितीय महायुद्ध के दौरान सेना की कम्बलों तथा अन्य ऊनी वस्त्रों सम्बन्धी आवश्यकता के बहुत-कुछ हिस्से की ऊन उद्योग ने पूर्ति की। महायुद्ध के जमाने में लघु और कुटीर उद्योगों ने जिन अन्य सामानों की पूर्ति की उनमें से कुछ ये हैं: पट्टी बांधने का कपड़ा, तौलिये, बूट के फीते, चमड़े के दस्ताने, फावड़े, कुदाल, कुल्हाड़ी, हथौड़े आदि। राष्ट्रीय संकटकाल की अवधि में हमें अपने जवानों के लिए न केवल उक्त प्रकार के सामानों की बल्कि ऊनी वस्त्रों—खासकर ऊँचाईवाले ठण्डे स्थानों में काम देने लायक—की भी आवश्यकता है, जिसकी पूर्ति 'पहाड़ी सहकार' संगठितकर की जा सकती

---

२. **रिपोर्ट ऑफ् दि वर्किंग ग्रूप ऑन कोऑपरेटिव फार्मिंग**—सहकारी खेती पर कार्यभारी दल का प्रतिवेदन; खण्ड : १; पृष्ठ : ७।

है। आज हमें जरूरत इस बात की है कि सहकारी संगठन कताई, रंगाई, बुनाई व वस्त्र के परिष्करण का प्रवन्ध कर उसकी बिक्री की व्यवस्था करे।

स्थानीय आवश्यकतावाली अनेक प्रकार की उपभोक्ता सामग्री के उत्पादन को भी औद्योगिक सहकारी समितियों के जरिये प्रोत्साहन देना चाहिए। राष्ट्रीय संकटकाल में स्थानीय मांग पूरी करने और मूल्य वृद्धि रोक रखने के लिए औद्योगिक सहकारों पर भरोसा किया जा सकता है। अपने उत्पादनों का निर्यात बढ़ाकर वे विदेशी विनिमय उपार्जित करने में भी समर्थ हैं, जिससे राष्ट्र का औद्योगिक गठन शक्तिशाली बनाने में सहायता मिलेगी।

देश की आयोजित अर्थ-व्यवस्था में ग्राम और कुटीर उद्योगों के विकास पर काफी जोर दिया गया है; क्योंकि रोजगारी के अवसर बढ़ाने के लिए तत्काल उपलब्ध साधन वे ही हैं। किसी भी आपतकाल में सामग्री की नियमित पूर्ति के लिए हम सहकारी संगठन का सहारा ले सकते हैं। गुड़, जूते, ऊनी सामान आदि जैसी जीवन के लिए परमावश्यक वस्तुओं की काफी हद तक पूर्ति सहकारी संगठनों को प्रोत्साहन देने से हो सकती है।

खण्ड स्तरीय उद्योग

वर्तमान संकटकाल की दृष्टि से जनता की आवश्यकता-पूर्ति के लिए तात्कालिक कदम के रूप में खण्ड स्तर पर उद्योगों को सर्वाधिक प्राथमिकता दी जानी चाहिए। इसके साथ ही साथ कच्ची सामग्री की खरीद और तैयार माल की बिक्री व्यवस्था के लिए भी सहकारी आधार पर सुसंगठन खड़ा किया ही जाना चाहिए। जून १९५२ के अन्त में करीब ८,००० औद्योगिक सहकारी समितियाँ थीं। उनकी सदस्य संख्या ८ लाख ८० हजार थी। ऐसी अपेक्षा है कि तृतीय पंच वर्षीय योजना के अन्त तक औद्योगिक सहकारों की संख्या ४०,००० और उनके सदस्यों की संख्या ३० लाख तक तथा कुल हिस्सा पूंजी २० करोड़ रुपये तक पहुँच जायेगी। उनका वार्षिक उत्पादन १ अरब ७५ करोड़ रुपये तक और बिक्री २ अरब रुपये तक पहुँच जाने की अपेक्षा है।

उपभोक्ता सहयोग का विस्तार

भारत में उपभोक्ताओं के सहयोग या सहकार के क्षेत्र में १९३९ तक (जब विश्व युद्ध छिड़ा) कोई प्रगति नहीं हुई थी, यद्यपि १९१२ के सोसायटीज रजिस्ट्रेशन एक्ट के अन्तर्गत उसके संगठन की सुविधाएं प्रदान की जा चुकी थीं। सन् १९३९ से पूर्व केवल १९१४-१८ के बीच की अवधि—प्रथम महायुद्ध के दौरान—में ही इसने कुछ प्रगति की थी, क्योंकि उस वक्त उपभोक्ता सामानों की कमी के कारण उनके भाव बहुत ही बढ़ गये थे। इस लघु कालीन अवधि (१९१४-१८) के अतिरिक्त सहकारी आन्दोलन को दूसरे महायुद्ध तक कोई प्रोत्साहन नहीं मिला। भूतपूर्व मद्रास, मैसूर जैसे कुछ राज्यों में ही १९१२-३९ के बीच आन्दोलन का विकास हुआ; अन्यथा बिभिन्न राज्यों[3] में उपभोक्ता भण्डारों की संख्या बहुत कम थी, जैसा कि इन आंकड़ों से प्रकट है : मद्रास—९९; मैसूर—७०; बंगाल—५८; बम्बई—३५; पंजाब—२१; असम—१९; संयुक्त प्रान्त—१३; मध्य प्रदेश (सी. पी.) और बैराड़—८; तथा बर्मा—७।

द्वितीय महायुद्ध के साथ परमावश्यक वस्तुओं की कमी हुई, उपलब्ध वस्तुओं का असमान वितरण होने लगा, सभी स्तरों पर परिग्रह का बोलबाला हुआ और फलस्वरूप कीमतें ऊँची चढ़ गयीं। युद्ध कालीन इन सभी कठिनाइयों से उपभोक्ता सहकारों को प्रेरणा मिली। उपभोक्ताओं को स्फीत्यात्मक मूल्यों से बचाने के लिए खाद्यान्न, मिट्टी के तेल, दाल, चीनी, दियासलाई, साबुन, कपड़े व स्थानीय आवश्यकताओं तथा अवस्थाओं के अनुसार अन्य सामग्रियों के उचित वितरण के लिए सहकारी माध्यम का उपयोग किया गया। कुछ राज्यों में नियंत्रण के अन्तर्गत आनेवाली वस्तुओं के वितरण का सहकारी समितियों

३. विस्तृत विवरण के लिए देखिये—एस. एस. तालमकी: 'कोऑपरेशन इन इण्डिया एँण्ड एबरोड'; १९३१; पृष्ठ: ९६

को एकाधिकार दिया गया, जबकि कुछ अन्यों में कीमतें रोक रखने के लिए उनका दूसरे तरीकों से उपयोग किया गया। विभिन्न स्तरों पर सहकारी भण्डारों की संख्या १९३८-३९ के ३९६ के स्थान पर १९५१-५२ में ९,७५७ हो गयी।

जीवन की आवश्यकताओं का वितरण

आज फिर हमारे सामने वही समस्या है। और, आज के परिणाम पहले से कहीं अधिक गम्भीर हो सकते हैं; क्योंकि कीमतों में कोई भी वृद्धि हुई तो वे प्रथम और द्वितीय पंच वर्षीय योजनाओं के काल में हमने जो सफलताएँ प्राप्त की हैं, उन्हें निष्फल बना देगी। वर्तमान परिस्थितियों में हमारी अर्थ-व्यवस्था का सुचारु रूप से चलना पहले से बहुत अधिक महत्वपूर्ण, आवश्यक है; और हमें अपना सब कुछ लगाकर स्फीतिकारक दबाव की पुनरावृत्ति से बचना है। इस उद्देश्य की प्राप्ति में उपभोक्ता सहकारी भण्डारों का एक जाल-सा बिछा देने से मदद मिल सकती है। जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं के सुवितरण हेतु सरकार देश भर में उपभोक्ता भण्डार चालू कर सकती है। यहाँ यह बताना अप्रासंगिक न होगा कि १९६०-६१ के अन्त में ७,०५८ प्राथमिक उपभोक्ता भण्डार थे, जिनकी सदस्य संख्या १३ लाख ४० हजार थी और वार्षिक लेन-देन ४४ करोड़ २३ लाख रुपये[४] का था। प्रति प्राथमिक भंडार की औसत बिक्री ६३,००० रुपये की थी। संकटकालीन अवस्था के कारण उत्पन्न कठिन परिस्थितियों का सामना करने के लिए भारत सरकार ने उपभोक्ता भण्डार खोलने का निर्णय किया है, जिसके अन्तर्गत एक लाख से अधिक जनसंख्या-वाले ११३ नगरों और ५०,००० तथा एक लाख के बीच की आबादीवाले १३७ कस्बों में उपभोक्ता सहकारी भण्डारों का शीघ्र ही एक जाल-सा बिछ जायेगा।

प्रस्तावित २०० सहकारी थोक बिक्री भण्डार और ४,००० प्राथमिक शाखा भण्डार मुख्यतः आम जनता तक ही सीमित रहेंगे। इस उद्देश्य के लिए ट्रेड यूनियनों तथा अन्य गैर सरकारी संगठनों को भी आवश्यक सुविधाएँ दी जायेंगी। इस योजना के अन्तर्गत उत्तर प्रदेश सरकार ने इलाहाबाद, आगरा, वाराणसी, गोरखपुर, मेरठ, कानपुर, लखनऊ और बरेली में उपभोक्ता सहकारी भण्डार स्थापित करने की घोषणा की है। इलाहाबाद में एक सहकारी थोक बिक्री भण्डार और २० सहकारी खुदरा बिक्री भण्डार खोले जायेंगे। इसी तरह अन्य शहरों में भी इस काम को उच्च प्राथमिकता के तौर पर हाथ में लिया गया है। आशा है इस प्रबन्ध से कीमतों में वृद्धि होना रोका जा सकेगा।

विभिन्न स्तरों पर संगठन

भण्डारों के सफल संचालन के लिए जन **सहयोग,** उचित नेतृत्व, सदस्यों के शिक्षण और प्रशिक्षण तथा प्रचार-प्रसार का बहुत बड़ा महत्व है। किसी मुहल्ले अथवा क्षेत्र में सहकारी भण्डार खोलने से पूर्व सघन प्रचार-प्रसार व शिक्षण के लिए सहकारी समितियों की समितियाँ बनाने की सलाह दी जा सकती है। इसी प्रकार नगर के स्तर पर सभी वर्गों की एक समिति का गठन किया जाना चाहिए। भण्डारों की समस्याएँ समझने और उनके संचालन में सुधार करने के लिए नगर समिति की कार्यकारिणी को मुहल्ले अथवा क्षेत्र की समिति एवम् वहाँ के निवासियों से सम्पर्क बनाये रखना चाहिए।

तृतीय पंच वर्षीय योजना के अन्तर्गत सहकार के लिए कुल ७९ करोड़ ७८ लाख रुपये के बजट में से ९५ लाख रुपये उपभोक्ता सहकारों के विकास और १६ करोड़ ५० लाख बिक्री-व्यवस्था तथा भाण्डारीकरण के लिए एवम् ६ करोड़ १८ लाख राज्य योजनाओं व ६ करोड़ सहकारी खेती पर प्रत्यक्ष खर्च के लिए निर्धारित किये गये हैं। योजनावधि में करीब २,२३३ उपभोक्ता सहकारी भण्डारों को सहायता दी जायेगी।

सहकारी विभाग बचत करने को प्रोत्साहित कर

४. आल इण्डिया कोऑपरेटिव न्यूज सर्विस; वर्ष : ९; अंक: १२; पृष्ठ: २ और ३।

सकता है; क्योंकि सहकारी साख आन्दोलन का यह एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण उद्देश्य है। जैसा कि अखिल भारत ग्रामीण साख सर्वे समिति [५] ने कहा है कि चार विशिष्ट मार्ग ऐसे हैं जिनमें हम सोचते हैं कि प्राथमिक ऋणदात्री समिति, केन्द्रीय सहकारी बैंक, केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक और बिक्री, प्रशोधन तथा अन्य प्रकार की समितियों को न केवल बचत करवाने में ही बल्कि दीर्घ स्तर पर बचत करवाने में भी समर्थ होना चाहिए। उक्त चार मार्ग हैं: (१) चिट फण्ड; (२) सहकारी बैंकों में सरकारी पूंजी से छुटकारा; (३) सहकारी बिक्री, प्रशोधन व अन्य आर्थिक गतिविधियों का विकास; और (४) भूमि बन्धक बैंकों तथा केन्द्रीय सहकारी बैंकों आदि द्वारा सहकारी ऋण-पत्र जारी करना। सहकारी क्षेत्र का यह काम आज और भी महत्वपूर्ण है। रूरल बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी ने अपने प्रतिवेदन में बताया है कि ग्रामीण क्षेत्रों में बैंक जमा पूंजी स्वीकार करने में असमर्थ थे; क्योंकि विभिन्न केन्द्रों के बीच कोष का आदान-प्रदान अब भी बहुत मुश्किल एवम् खर्चीला है। जैसा कि रूरल बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी ने बताया है, इस कठिनाई पर सहकारी बैंकों को रुपये-पैसे भेजने की मुफ्त सेवा प्रदान कर काबू पाया जा सकता है। उन्हें लोकप्रिय तथा प्राणवान इकाइयाँ बनाने के लिए सहकारी समितियों को व्यापारिक पद्धतियों के अनुसार चलना ही चाहिए। इसके साथ ही साथ इस प्रकार की अवस्थाएँ निर्मित की जानी चाहिए, जिनसे सभी वर्गों के लोग सहकारी विभाग की ओर आकर्षित हों।

६ फरवरी १९६१

५. विस्तृत विवरण के लिए देखिए **रिपोर्ट ऑफ् दि आल इण्डिया रूरल क्रेडिट सर्वे कमेटी:** जनरल रिपोर्ट; खण्ड : २; अध्याय : ४२।

ऊन उद्योग का विकास

आनन्द प्रकाश शर्मा

हमारी सेना के लिए ऊनी कपड़ों की बढ़ती हुई माँग पूरी करने हेतु सीमा प्रदेशों में ऊन उद्योग को ठोस आधार प्रदान करने के निमित तत्काल कदम उठाये जाने की आवश्यकता है। ऊन उद्योग के विकास से काफी लोगों को रोजगारी भी प्राप्त हो सकती है।

संसार में लगभग २०० जाति की भेड़ें होती हैं। व्यापारिक दृष्टिकोण से उनका ऊन चार मुख्य किस्मों में बांटा जाता है: १. मैरीनो; २. ब्रिटिश; ३. क्रास-ब्रीड; और ४. कारपेट ऊन। मैरीनो भेड़ें आस्ट्रेलिया, अमेरिका, दक्षिण अफ्रीका, फ्रान्स, जर्मनी और दक्षिण अमेरिका में पायी जाती हैं। ब्रिटिश श्रेणी का ऊन मैरीनो के मुकाबले मध्यम कोटि का होता है। क्रास-ब्रीड ऊन ब्रिटिश ऊन से अधिक बारीक व मुलायम और कम लम्बा होता है, परन्तु आज के उत्पादन आकड़ों के संदर्भ में ५० प्रति शत ऊन क्रासब्रीड ही होता है। एशिया, रूस, उत्तरी अफ्रीका आदि में पायी जानेवाली भेड़ों का ऊन हल्का, घटिया और छोटी-छोटी गाँठों से युक्त होता है तथा व्यापारिक क्षेत्र में कारपेट ऊन के नाम से प्रसिद्ध है।

जलवायु का प्रभाव

भारतवर्ष की जलवायु तथा दशाएँ भिन्न-भिन्न होने से अलग-अलग स्थानों के ऊन में अन्तर पाया जाता है। उन स्थानों पर जहाँ धरती अविकसित है और जलवायु अनुकूल है, जैसे राजस्थान और कश्मीर, ऊन उत्पादन हेतु भेड़ों के झुण्ड के झुण्ड पाये जाते हैं। बंगाल और उड़ीसा में, जहाँ दशाएँ सुविधाजनक नहीं हैं, ऊन बहुत निम्न कोटि का होता है। दक्षिण भारत में प्राप्त रेशा तो बाल के समान ही होता है। भारतवर्ष में लगभग ५ करोड़ ४५ लाख ३३ हजार पौण्ड ऊन उत्पादन होता है, जिसकी कुल कीमत लगभग ८ करोड़ रूपया होती है।

उत्तर प्रदेश के पहाड़ी क्षेत्रों में ऊन उद्योग के विकास की दिशा में भगीरथ प्रयत्न किये जा रहे हैं। और, राज्य सरकार तथा खादी और ग्रामोद्योग कमीशन इस बात के लिए सचेष्ट हैं कि इस उद्योग का द्रुत गति से विकास हो। पर्वतीय भागों में ऊन उद्योग विकसित करने हेतु १९३८ में पर्वतीय ऊन योजना बनायी गयी। यह योजना सर्व प्रथम अलमोड़ा जिले में कार्यान्वित की गयी, जो इस समय पौड़ी गढ़वाल, अलमोड़ा, नैनीताल और देहरादून जिले के जौनसार-बावर क्षेत्र में संगठित है। इस योजना के अतिरिक्त गांधी आश्रम जैसी प्रमाणित संस्थाओं तथा व्यक्तिगत बुनकरों व समितियों द्वारा भी ऊन उद्योग का विकास होता रहा है।

पर्वतीय ऊन योजना

सरकारी (पर्वतीय ऊन) योजना के प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार हैं: १. कताई, बुनाई एवम् रंगाई में प्रशिक्षण प्रदान करना; २. थोक भाव में कच्चा ऊन खरीदकर सहकारी समितियों एवम् अन्य व्यक्तियों को लागत दामों पर नकद या उधार बेचना; ३. सुधरे हुए औजार, चरखा, कच्चा ऊन इत्यादि का प्रबन्ध करके उन्नत कताई को प्रोत्साहन देना; ४. व्यावसायिक ढंग पर ऊन उद्योग का विकास; ५. उत्पादित वस्तुओं की बिक्री का समुचित प्रबन्ध; ६. स्थानीय रूप से उत्पादित ऊनी वस्तुओं का क्रय करना तथा स्थानीय बुनकरों को प्रोत्साहन देना; और ७. सुन्दर नमूनों का प्रचलन करना।

किसी भी योजना को चलाने हेतु यह आवश्यक है कि उस योजना के संदर्भ में तकनीकल ज्ञान आदि हेतु लोगों को प्रशिक्षण दिया जाय तथा समय-समय पर

पुनरध्ययन पाठ्क्रम द्वारा उन्हें सुधारों से अवगत किया जाय। मुख्य रूप से कताई का प्रशिक्षण होता है, जिसके दो प्रकार हैं—कतुवे व पैडल चरखे पर कताई। तकली से एक घंटे में १०० गज कताई होती है। चरखे पर साधारण कातनेवाला एक घंटे में ३०० गज कातता है। इसलिए प्रशिक्षण में चरखे पर ज्यादा बल दिया जाता है। इस प्रकार का प्रशिक्षण देने हेतु ८२ कताई केन्द्र तथा ७ प्रशिक्षण एवम् उत्पादन केन्द्र और ६ बुनाई केन्द्र चल रहे हैं। इनके द्वारा प्रति वर्ष ३२५ बुनकरों तथा १५,००० कत्तिनों को प्रशिक्षण मिलता है। प्रशिक्षण की अवधि में कत्तिनों को पाँच रुपये व बुनकरों को २५ रुपये प्रति माह छात्रवृत्ति दी जाती है। कत्तिनें इसका उपयोग कमीशन द्वारा चरखे पर आधी छूट प्राप्त होने के पश्चात् शेष कीमत की अदायगी में कर सकती हैं और इस प्रकार कत्तिनों को प्रशिक्षण के बाद चरखा मुफ्त मिल सकता है। प्रशिक्षणावधि में प्रारम्भ के कुछ दिनों को छोड़कर शेष में हुए उत्पादन को खरीद कर मजदूरी के रूप में कुछ पैसा दिया जा सकता है, जिससे प्रशिक्षार्थियों का उत्साह और कार्य में तल्लीनता बढ़े।

कच्चा माल

प्रशिक्षण के पश्चात् यह आवश्यक है कि प्रशिक्षित व्यक्तियों के कार्य की जानकारी रक्खी जाय तथा उन्हें कार्य दिलवाने, समिति संगठित करवाने व उद्योग सम्बन्धी दूसरी अड़चनें दूर करने में सहायता दी जाय। इस उद्योग से बुनकर आसानी से प्रति दिन दो रुपया कमा सकते हैं तथा कत्तिनें ८ से १२ आने पैदा कर सकती हैं। उद्योग को सही रूप में चलाने हेतु यह आवश्यक है कि उचित प्रकार के मास्टर सूतकार व बुनकर तैयार किये जांय, जो उत्पादन केन्द्रों को अच्छा माल पैदा करने में सहायता दे सकें।

ऊन वस्त्र उत्पादन भले ही पंजीकृत संस्था द्वारा हो, सार्वजनिक विभाग में हो अथवा सहकारी समितियों द्वारा संचालित हो, यह आवश्यक है कि कच्चा माल उपयुक्त मात्रा तथा गुण के अनुसार उचित भाव पर प्राप्त हो। आज की परिस्थिति में जबकि ऊन का स्तर ऊँचा नहीं हो रहा है और पर्याप्त मात्रा में अच्छा ऊन नहीं मिल पाता है, यह आवश्यक है कि ऊन के उत्पादन पर गौर किया जाय। अच्छी किस्म की भेड़ें पाली जाँय, लोगों में इस कार्य के प्रति आस्था बढ़ायी जाय, अनुदान या दूसरी प्रकार की सहायता देकर तथा आयात होने-वाले ऊन को केन्द्रित रूप में खरीदकर उत्पादन इकाइयों को स्पर्धात्मक मूल्य पर वितरित किया जाय। यह कार्य करने हेतु खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, केन्द्रीय संघ तथा दूसरी संस्थाएँ उपयोगी साबित हो सकती हैं। ऊन का वितरण इन संघों द्वारा मौसम में उधार पर भी किया जा सकता है, जिससे पैसे की असुविधा से उत्पादन न रुके और पैसा पक्के माल के रूप में वसूल कर लिया जाय।

सुधरे औजार

उद्योग को सही रूप में पनपाने हेतु यह आवश्यक है कि सुधरे औजारों का पूरा इस्तेमाल किया जाय, ताकि उत्पादित वस्तुओं के गुणों में वृद्धि हो, उत्पादन की क्षमता बढ़े, कीमत में कमी हो, संस्था खर्च घटे और रोजगारी बढ़े। इस सम्बन्ध में अनुसंधानशाला खोलकर ऐसे उपयोगी अनुसंधान भी किये जायें जो कार्य की निरंतर क्षमता बढ़ाने, गुण वृद्धि करने व कीमत घटाने में सहायक बन सकें। पुराने यंत्रों के स्थान पर सुधरे हुए चरखे, हाथ करघे, बुनाई पैटर्न आदि वितरित किये जाँय ताकि उत्पादन क्षमता के साथ-साथ कार्य में लगे व्यक्तियों की आमदनी भी बढ़े। वस्त्र उत्पादन बढ़ाने हेतु सूत की अधिक उत्पत्ति आवश्यक है। इसके लिए जल चरखे का, जो पहाड़ों पर आसानी से चल सकता है, इस्तेमाल किया जा सकता है। इसी प्रकार छोटी-छोटी मशीनें, जैसे धुनाई यंत्र, मलाई की मशीन आदि इस्तेमाल की जा सकती हैं।

उत्पादन श्रृंखला में क्रम रखने हेतु यह आवश्यक है कि कार्य को एक व्यावसायिक रूप दिया जय और अगर सम्पूर्ण कार्य एक ही इकाई के बूते के बाहर हो तो विकेन्द्रित रूप में एक-दूसरी की पूरक बन कार्य किया जाय, जैसे कताई केन्द्र, बुनकर समितियाँ, अनुसंधानशालाएँ,

धुनाई व परिष्करण इकाई, क्रय-विक्रय समितियाँ आदि। ऐसा होने पर प्रत्येक खण्ड का ऐच्छिक विकास होगा तथा उत्पादन भी बढ़ सकेगा।

उत्पादित माल की निकासी निरंतर होती रहे तथा समितियों व संस्थाओं के पास माल स्टाक में इकट्ठा न हों, इसके लिए इन बातों पर विचार आवश्यक है: १. सुधरे हुए औजार इस्तेमाल कर उत्पादित माल के गुण में वृद्धि करना तथा दर घटाना; २. कच्चा माल थोक भाव में प्राप्त करके कताई व बुनाई में पूरा ध्यान रखते हुए उत्पादन कराना; ३. डिजाइन व पैटर्न में निरंतर परिवर्तन करना तथा बाजार को ध्यान में रखना; ४. बिक्री की व्यवस्था सम्बद्ध संस्था को सौंपना, जो केन्द्रित रूप में इच्छुक व्यक्तियों को निश्चित माप व गुण का माल बेचे तथा उत्पादन केन्द्रों को इस सम्बन्ध में आवश्यक हिदायत व सलाह देती रहे; ५. कमीशन द्वारा इकट्ठे हुए माल की निकासी में सहायता करना तथा उसके सामने पैसा देना, जिससे कार्य में हानि न हो, वह चलता रहे; और ६. केन्द्रित रूप में उत्पादन के प्रत्येक खण्ड पर आवश्यक ध्यान रखना, जिससे उत्पादन की तकनीक में निरंतर वृद्धि हो तथा हानिकारक दोषों का उन्मूलन किया जा सके।

स्थानीय खरीद

किसी भी उद्योग को विकसित करने हेतु यह आवश्यक है कि पहले उस माल की निकासी का प्रबन्ध किया जाय जो पारम्परिक रूप से तैयार किया जा रहा है, जिससे उस कार्य में लगे लोगों को रोजगारी मिलती रहे और तब सुधरे हुए औजार तथा तकनीकें अपनायी जांय। इस प्रकार धीरे-धीरे लोगों में स्वयम् इस ओर जिज्ञासा जागेगी और सुधरी हुई रूपरेखा विकसित होगी। बुनकर व कत्तिन कार्य को ढंग से करें तथा उत्पादन बढ़े, इस हेतु यह आवश्यक है कि उनमें तिमाही और छमाही प्रतिस्पर्धा करायी जाय तथा बुनाई में नयी डिजाइनें व पैटर्न निकालने पर इनाम दिये जांय ताकि कताई व बुनाई दोनों में ही विकास हो सके।

उत्पादित माल की निकासी हेतु कीमत में कमी तथा माल के टिकाऊपन में वृद्धि होने के साथ-साथ डिजाइनों में परिवर्तन भी आवश्यक है। इस ओर पूरा ध्यान रखने के लिए बाजार में प्रचलित डिजाइनों का अध्ययन करना, लोगों की रूचि आदि का ध्यान रखना जरूरी है। इसके लिए डिजाइन केन्द्र खोलना, रंगाई का आयोजन करना, जिससे ऊन विभिन्न रंगों में रंगा जा सके तथा आवश्यक हो तो उसका शाल, ओवरकोट, गाउन आदि की कढ़ाई करने में इस्तेमाल किया जा सके।

पहाड़ी क्षेत्रों में जहाँ जलवायु अनुकूल है और उद्योग को विकसित करने की पूरी संभावना है, सुव्यवस्थित ढंग से उत्पादन बढ़ाने पर लोगों को रोजगार मिलेगा और साथ ही साथ उद्योग का विकास भी होगा।

चन्द सुझाव

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि उत्पादित सूत की खरीद आदि का प्रबन्ध बहुत ही अच्छे पैमाने पर होना चाहिए। बिक्री के साथ-साथ वस्त्र-स्वावलम्बन के लिए उत्पादन की भी सुविधा, सूती खादी के ढंग पर, आवश्यक है, ताकि किसी हद तक बिक्री की समस्या भी हल हो सके। ऊन की पूरी उपलब्धि न होने से विभिन्न किस्मों का ऊन प्रयोग में आता है, जिसकी मिलाई पारम्परिक तरीकों से करना कठिन है और इस प्रकार कपड़े में रगल भी रह जाती है। जब तक भिन्न-भिन्न प्रकारों का ऊन काफी मात्रा में प्राप्त न हो सके मिलाई के लिए उपयुक्त प्रबन्ध होना आवश्यक है। पैडल चरखे के साथ-साथ कताई का प्रयोग अम्बर चरखे पर भी किया जाना चाहिए। साथ ही मजदूरी समय पर मिल सके और उसमें आवश्यक वृद्धि भी हो तो उद्योग में तरक्की होगी। उत्पादन की पद्धतियों में हर स्तर पर आवश्यक अनुसंधान होना जरूरी है। उत्पादित माल की निकासी समय पर हो सके, इसके लिए यह आवश्यक है कि एक क्रय-विक्रय संघ हो जो तकनीकल व्यक्तियों की सहायता से उत्पादन में आवश्यक सुधार कराता रहे।

इसी प्रकार मोटे ऊन के इस्तेमाल में भी, जो कम्बल बनाने में उपयोग होता है, आवश्यक सुधार करना जरूरी है; कम्बल उत्पादन समग्र उत्पादन का करीब ५० प्रति शत होता है। उपर्युक्त बातें ऊन उद्योग के हित में हैं और अगर इस ओर आवश्यक ध्यान दिया जाय, तो उत्पादन तथा रोजगारी दोनों में असाधारण प्रगति हो सकती है।

नियम के अन्तर्गत चकबन्दी समिति की स्थापना का खालापुर गांव पर जो प्रभाव पड़ा है, उसका बड़े नाटकीय रूप से वर्णन किया गया है। ग्राम पंचायतों के चुनावों का भी रोचक विश्लेषण दिया गया है।

अन्तिम अध्याय में लेखक ग्राम पंचायतों को राज्य सरकारों एवम् स्थानीय प्रशासन द्वारा अधिक अधिकार दिये जाने की बात पर जोर देता है। सर्वाधिक महत्वपूर्ण विचारणीय बात है लेखक द्वारा भौतिक निष्पत्ति और क्रिया-विधि सम्बन्धी बारीकियों पर जोर दिया जाना। इस सम्बन्ध में लेखक का सुझाव है कि केन्द्र व राज्य सरकारों को चाहिए कि वे ग्रामीण जनता को उसके उत्तरदायित्व, क्षमता और योग्य स्थानीय अभिक्रम के सम्बन्ध में शिक्षित करें। फिर भी, लेखक का मत है कि फिलहाल पंचायतों को भूमि सम्बन्धी मामलों में, जो कि विवाद एवम् गुटबाजी के प्रधान स्रोत हैं, हाथ नहीं डालना चाहिए; क्यों कि "पंचायतें अभी अपने शैशवकाल में ही हैं।" यह उपागम यथार्थ नहीं प्रतीत होता। निस्सन्देह पंचायतों को इस क्षेत्र में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, परन्तु प्रश्न उठता है कि फिर यह कार्य किसे सौंपा जाय। पंचायतों के अन्तर्भूत दोष और उनकी प्रारम्भिक कठिनाइयों के होते हुए भी, जमींदारी प्रथा के उन्मूलन के उपरान्त उन्हें ही यह काम सौंपने के अतिरिक्त और दूसरा कोई भी चारा नहीं है। इन संस्थाओं के लिए और अधिक मार्गदर्शन देना तथा देख-रेख व सुप्रशिक्षित अधिकारियों की व्यवस्था करना एक महत्वपूर्ण उपाय है।

प्रोफेसर रिट्जलाफ ने उपचार सुझाने के पहले स्थिति को यथावत रूप में समझने की पूरी चेष्टा की है। आपके इस कथन में बहुत कुछ सार है कि औद्योगिक समाज की स्थापना के मार्ग में आनेवाली संक्रमणकालीन सामाजिक एवम् मनोवैज्ञानिक समस्याएँ गांवों का स्थानीय गंदगी और अज्ञानता के घर के रूप में अध्ययन करने से नहीं समझी जा सकती, जैसा कि अधिकांश राजनीतिज्ञ करते हैं। समग्र रूप से अध्ययन विचारोत्पादक है, अतएव इसका व्यापक स्वागत होना चाहिए। ग्रामीण क्षेत्रों के विकास में ग्राम पंचायतों की भूमिका के सम्बन्ध में रुचि रखनेवालों के लिए पुस्तक पठनीय है। भारतीय ग्राम प्रशासन पर अमेरिकी लेखकों द्वारा लिखित पुस्तकों में यह एक अच्छी और उपयोगी रचना है।

२१ फरवरी १९६३ ●

पश्चिम बंगाल के फसली स्वरूप में सर्वाधिक प्रभुत्व धान की फसल का है। वहाँ १९५७-५८ में कुल रकबे के ७० प्रति शत पर अकेले धान की खेती हुई थी। उपयुक्त फसल क्रम और विविध प्रकार की फसलें बोने की कमी एवम् लगातार धान की ही खेती करते रहने के कारण वहाँ की भूमि-उर्वरकता में धीरे-धीरे करके कमी हुई है। उच्च उत्पादन और अधिक कृषि-रोजगारी के हित के लिए फसली-स्वरूप में वैविध्यकरण तथा सघनता, दोनों का होना ही परमावश्यक है।

—*टेक्नो-इकनॉमिक सर्वे ऑफ् वेस्ट बंगाल* : नेशनल कॉउन्सिल ऑफ् अप्लाइड इकनॉमिक रिसर्च, नयी दिल्ली।

ग्राम इकाइयों के लिए न्यूनतम कार्यक्रम

कोदण्डरामन वैद्यनाथन

ग्राम इकाइयों में कार्यान्वित किये जानेवाले समग्र विकास कार्यक्रम का उद्देश्य है वहां के निवासियों के जीवन-स्तर में आम सुधार लाना। जनता की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने पर ऐसा हो सकता है।

खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के समस्त कार्यों का ही अन्तिम लक्ष्य ग्रामीण समाज की समाजार्थिक अवस्था में सुधार लाना है। मौजूदा हालत में यह सुधार तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि मजबूरन पूर्ण एवम् अर्ध-बेकार रहनेवाले हजारों-लाखों ग्रामीणों को उनके घरों पर अथवा आस-पास में लाभप्रद काम नहीं दिया जाय। यह आवश्यक है कि खेती में लगी कार्यकारी आबादी के एक बड़े हिस्से को वहाँ से हटाकर अन्य कोई लाभप्रद रोजगारी का जरिया प्रदान किया जाय। खादी और ग्रामोद्योगों द्वारा एक बड़ी सीमा तक इस आवश्यकता की पूर्ति की जा सकती है बशर्ते विकास कार्यों में लगीं सभी संस्थाएँ संयुक्त रूप से सुसंयोजित प्रयास करें। इस प्रकार की समग्र विकास योजना में सामाजिक सुरक्षा एवम् सामाजिक न्याय की स्थापना की व्यवस्था होनी चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति तभी सम्भव है जब लोगों को भोजन, वस्त्र, घर, औषध-व्यवस्था, शिक्षा जैसी प्राथमिक आवश्यकताओं की उपलब्धि कारवायी जाय। अगर हमारे ग्रामवासियों में सामूहिक उत्तरदायित्व तथा आपसी सहयोग की भावना का विकास किया जाय तो निश्चय ही इन सभी आवश्यकताओं की पूर्ति बड़ी अच्छी तरह हो सकती है।

स्थानीय उपभोग

यद्यपि इकाई के लोगों में सामाजिक जागरूकता और सहयोग की भावना के विकास के लिए प्रयत्न किये जा रहे हैं, पर अधिकतम व्यक्तियों को रोजगारी देने के उद्देश्य से वहीं उत्पादनशील गतिविधियाँ चलाने की भी आवश्यकता है। समाज के सुसम्पन्न वर्गों का यह कर्तव्य है कि वे स्थानीय रूप से उत्पादित वस्तुओं का उपभोग करें, जिससे लोगों को काम मिलता रहे और वे अपना जीवन अच्छे ढंग से चला सकें। इसके लिए यदि इन वर्गों को थोड़ा-बहुत त्याग करना तथा असुविधा उठानी पड़े तो भी उन्हें उसका खयाल नहीं करना चाहिए। इसीलिए यह सुझाया जाता है कि इकाई के लोगों को यह संकल्प लेना चाहिए कि इकाई कार्यक्रम के प्रथम वर्ष में वहाँ का प्रत्येक व्यक्ति कम से कम एक मीटर खादी का उपभोग करने का प्रयास करेगा और खादी उत्पादन एवम् बिक्री शैनः शनैः बढ़ाने के लिए भी कोई कोशिश करनी चाहिए, जिससे कि पांच वर्ष की अवधि में वे प्रति व्यक्ति १२ मीटर खादी की खपत कर सकें; अथवा प्रत्येक व्यक्ति को इस बात के लिए तैयार करने के प्रयत्न भी किये जायेंगे कि वह अपनी आवश्यकताओं के पचास प्रति शत के बराबर ग्रामोद्योगी वस्तुएँ इकाई क्षेत्र से ही अथवा उस सामुदायिक विकास खण्ड से खरीदेगा, जिसमें इकाई स्थित है।

न्यूनतम कार्यक्रम

अतः यह आवश्यक है कि शुरू से ही प्रत्येक इकाई में खादी-ग्रामोद्योगों के विकास के लिए खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की योजनाएँ कार्यान्वित करने के लिए प्रयास किया जाय। भूतपूर्व अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मण्डल ने प्रत्येक इकाई के लिए न्यूनतम कार्यक्रम निर्धारित करने हेतु एक समिति की स्थापना की थी और जिसकी सिफारिशें बाद में खादी और ग्रामोद्योग कमीशन ने स्वीकार की थी। समिति की सिफारिशें संक्षेप में इस प्रकार हैं :

कमीशन के अधिकार क्षेत्र में आनेवाले उद्योगों का इस तरह वर्गीकरण किया गया था : (अ) वे उद्योग जिनका प्रत्येक इकाई में विकास हो सकता है; (आ) वे जिनका विकास इकाई-समूह में हो सकता है; और (इ) वे जिनका विकास खण्ड स्तर पर हो। इन वर्गों में आनेवाले उद्योग हैं : (अ) खादी (कताई, बुनाई, धुलाई और रंगाई, बिक्री और कपास की खेती), अनाज तथा दाल प्रशोधन, घानी तेल, रेशा उद्योग, गोबर गैस संयंत्र, बढ़ईगीरी तथा लुहारगीरी, छोटे पैमाने पर पशु-शव सम्प्राप्ति, लघु ग्रामीण चर्म शोधन केन्द्र, और जहाँ-कहीं सम्भव हो छोटा कुम्हारी उद्योग केन्द्र; (आ) सघन पशु शव सम्प्राप्ति, चर्म शोधन और चर्मोद्योगी उत्पादन तथा जहाँ-कहीं सम्भव हो मधुमक्खी-पालन, गुड़-खाण्डसारी, ताड़-गुड़ उत्पादन और कुम्हारी उद्योगों की मध्यम स्तरीय इकाई स्थापित करना; और (इ) अखाद्य तेल से साबुन बनाना; हाथ कागज उत्पादन, चूना पत्थर, कुटीर दिया-सलाई, ईंट भट्टा, कुम्हारी उद्योग की बड़ी इकाई, रंगाई-छपाई तथा खादी की अन्य प्रक्रियाएँ, केन्द्रीय बिक्री-व्यवस्था, अखाद्य तिलहन संग्रह तथा अन्य ऐसे उद्योगों का कार्यक्रम चलाना, जिनके लिए कच्चा माल स्थानीय रूप से उपलब्ध हो।

हमारे जैसे विशाल देश में रहन-सहन की अवस्थाएँ, शैक्षणिक विकास और भौतिक समृद्धि विभिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न पायी जाती है। अतः सभी इकाइयों में उद्योगों के विकास हेतु एक जैसा स्वरूप और एक ही प्रकार के सिद्धान्त लागू नहीं किये जा सकते। प्रत्येक उद्योग के विभिन्न स्तरों और विभिन्न इकाइयों में लागू किये जानेवाले सिद्धान्त स्थानीय परिस्थितियों पर निर्भर करेंगे।

उद्योगों का विकास

सभी लोगों की खाद्य, वस्त्र तथा आवास सम्बन्धी आवश्यकताएँ करीब-करीब समान ही होती हैं। हाँ, थोड़ा-बहुत फर्क जरूर हो सकता है। अतः सभी गाँवों में खादी (जिसमें कताई, बुनाई और रंगाई सहित परिसमापन भी सम्मिलित है), अनाज प्रशोधन, तेल पेराई आदि विकास हेतु तत्काल शुरू किये जा सकते हैं। इकाईयों में इन उद्योगों के विकास के लिए खादी और ग्रामोद्योग कमीशन ने हर तरह की सुविधाएँ प्रदान करने का निर्णय किया है। कमीशन ने सभी उद्योग निर्देशकों तथा राज्य खादी और ग्रामोद्योग मण्डलों को यह परामर्श दिया है कि वे इस बात का ध्यान रखें कि राज्यों में उद्योगों की विकास योजनाओं के लिए जितनी सहायता दी जाय उसका कम से कम १५ प्रति शत इकाई क्षेत्रों में खर्च हो। अतएव इकाई प्रवर्तक संस्था का पहला उत्तरदायित्व यह होगा कि वह यथा सम्भव अधिकाधिक उद्योगों का विकास करने के लिए आधार तैयार करने हेतु, ग्राम सहायक की सेवाएँ प्राप्त करे, विभिन्न उद्योगों की उन्नत व पुरानी तकनीकों में कारीगरों को प्रशिक्षण दे और उनके उत्पादनों के लिए बाजार निर्मित करे। सालाना हर इकाई में किन-किन उद्योगों का विकास किया जाय, इसका निर्धारण राज्य खादी और ग्रामोद्योग मण्डल अथवा राज्य चुनाव समिति को करना चाहिए। यहाँ इस बात का ध्यान रखने की सलाह दी जा सकती है कि निर्धारित सिद्धान्तों के अनुरूप कहाँ तक क्षेत्र में काम की प्रगति होती है और जिस क्षेत्र का चुनाव किया गया है वह कहाँ तक उस कार्य के लिए उपयुक्त है, इसका समय-समय पर मूल्यांकन किया जाय।

जीवन समृद्धि

समग्र विकास कार्यक्रम यानी नया मोड़ की सफलता इकाई क्षेत्र में उद्योगों का सफलतापूर्वक विकास एवम् संचालन करने और यथा सम्भव अधिक लोगों को पूर्ण तथा आंशिक रोजगारी देने पर निर्भर करती है। अगर समस्त बेरोजगार लोगों को काम देने की सुव्यवस्थित चेष्टा की जाय तथा स्थानीय लोगों की दैनिक तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु क्षेत्र में ही वस्तुओं का उत्पादन किया जाय और उनके अधिकांश भाग का इकाई क्षेत्र में ही उपयोग किया जाय तो अनेक लोगों को कृषि से हटाकर अन्य धन्धों में लगाने तथा कृषि पर मौजूदा भार को दूर करने में—जो कि वैज्ञानिक पद्धति से कृषि का विकास करने में एक बड़ी रुकावट है—बहुत सहायता मिलेगी। इससे इकाई क्षेत्र में पैदा होनेवाला धन वहीं रहेगा और जिसे क्षेत्र के विकास के लिए वहीं विनियोजित करने पर जनता का जीवन स्तर ऊँचा उठेगा। इस प्रकार समय पाकर आशा है कि इकाई में शिक्षा का विस्तार होगा, आर्थिक और

सामाजिक स्वरूप में परिवर्तन आयेगा तथा प्रायः सभी लोगों का जीवन स्वस्थ व सम्पन्न बनेगा।

खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के विभिन्न राज्यों में स्थित कार्यालयों के सहायक संगठकों की १९६३ के प्रारम्भ में एक बैठक मद्रास राज्य के मदुराई जिले में टी. कल्लूपट्टी स्थित गाँधी-निकेतन आश्रम में हुई थी। बैठक में यह निर्णय किया गया था कि १९६३-६४ के लिए क्षेत्र में काम करनेवाले सहायक संगठकों के लिए निम्न न्यूनतम कार्यक्रम निर्धारित किया जाना चाहिए।

खादी : १. जिन इकाइयों में चरखे चलते हैं उन्हें पूर्णरूपेण सक्रिय किया जाय। अगर किसी जगह अम्बर चरखे चलते हों तो एक सक्रिय अम्बर चरखे का अर्थ होगा वर्ष के २०० दिनों में प्रति चरखा प्रति दिन चार-पांच गुण्डी सूत का उत्पादन; २. उन स्थानों में जहाँ खादी कार्य शुरू नहीं हुआ है या तो ५० किसान चरखे या २० अम्बर चरखे लागू कर उन्हें प्रभावशाली तौर पर सक्रिय रखा जाय; ३. एक प्रति शत परिवारों को स्वावलम्बी बनाया जाना चाहिए; और ४. वस्त्रावश्यकता के १२.५ प्रति शत की पूर्ति स्थानीय रूप से खादी तैयार करके अथवा बाहर से मंगवा कर की जाय।

ग्रामोद्योग : स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनाज तथा दाल प्रशोधन उद्योग शुरू करने हेतु कदम उठाये जायें। तेल पेराई उद्योग के अन्तर्गत (१) मौजूदा घानियों को सक्रिय कर उन्हें अपनी पूरी क्षमता पर चालू रखा जाय। (२) जहाँ-कहीं घानी नहीं हैं वहाँ कम से कम दो वर्धा घानियाँ चालू करवाने के प्रयत्न अवश्य किये जायें। अखाद्य तेल से साबुन बनाना : (१) अखाद्य तिलहनों का संग्रह; (२) जहाँ सम्भव हो वहाँ उनकी पेरायी करना; (३) अखाद्य तेल से बने साबुन का प्रचलन करना। चर्म उद्योग के अन्तर्गत प्रत्येक ग्राम इकाई के लिए एक शव छेदन केन्द्र खोलना।

अतः खादी और कमीशन के अन्तर्गत आनेवाले ग्रामोद्योगों का सभी इकाइयों में संगठन और विकास करने के लिए निरन्तर प्रयत्न किये जाने चाहिए। राज्य मण्डलों और संस्थाओं को समय-समय पर इन विषयों का विवरण भेजना चाहिए : (अ) इकाई क्षेत्रों में उद्योगों की स्थापना के लिए किये गये प्रयत्न; (आ) कितनी कीमत की चीजों का उत्पादन और उपभोग हुआ; (इ) कितने लोगों को रोजगारी दी गयी; (ई) समुन्नत तकनीकों में प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए कितने कारीगरों को सुविधा दी गयी; और (उ) उनमें वितरित नवीन तथा अभिनव उपकरणों की संख्या। इस तरह की जानकारी इकाइयों में हुई प्रगति का निदर्शन कर सकेगी।

५ मार्च १९६३

खादी और ग्रामोद्योग विकास कार्य के दस वर्ष
१९५३–१९६२

सुभाष चन्द्र सरकार और पद्मनाभ अय्यर

अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मण्डल तथा खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के गठन के पीछे विचार यह था कि खादी व ग्रामोद्योगों के उत्पादन एवम् विकास के लिए कार्यक्रम बनाकर उसका संगठन करने के लिए एक संगठन खड़ा किया जाय। उक्त कार्यक्रम में कार्यकर्त्ताओं तथा कारीगरों आदि के प्रशिक्षण, उपकरणों का उत्पादन कर उनकी और कच्चे माल की पूर्ति, बिक्री-कार्य व अनुसंधान की व्यवस्था और विभिन्न ग्रामोद्योगों की आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करना भी शामिल था। उक्त संगठन को इन उद्योगों से सम्बन्धित जानकारी व अनुभव के वितरण केन्द्र के रूप में भी काम करना था। अखिल भारतीय मण्डल चार वर्ष काम कर चुका था जब उसके स्थान पर अप्रैल १९५७ में खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की स्थापना हुई। कमीशन के कार्य सामान्यतः उसी प्रकार के हैं जैसे उसके पूर्ववर्ती मण्डल के थे। सरकार से वित्तीय सहायता प्राप्त कर खादी और ग्रामोद्योगों को प्रोत्साहन देने, उन्हें आगे बढ़ाने के लिए प्रारम्भ किये गये संगठित प्रयासों को दस वर्ष हो चुके हैं। दस वर्ष का समय–खास कर किसी देश के ग्रामीण आर्थिक विकास के क्षेत्र में जहाँ बुनियादी सुविधाएँ तक प्राप्त न हों–कोई विशेष नहीं होता। फिर भी, अब तक हुए काम का मूल्यांकन करना अप्रासंगिक न होगा, ताकि इन उद्योगों के विकास के लिए और आगे कदम उठाये जा सकें।

एक लाख गावों में

भारत में ५,६४,६०० से अधिक गाँव हैं। इनमें से ५,६०,५४९ की आबादी पांच-पांच हजार से कम है। वस्तुतः ४,६८,७६५ गाँवों में से प्रत्येक की जन-संख्या १,००० से कम है, जबकि ३,४९,५६८ और १,७६,३८४ गाँवों में से प्रत्येक में क्रमशः ५०० व २०० से कम लोग रहते हैं। गाँव समूचे देश भर में फैले हुए हैं अर्थात् भारत गाँवों का देश है। ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को पुनः प्राणवान बनाने के काम का उत्तरदायित्व सम्हालनेवालों का कार्य कितना दुस्तर है, इसका अनुमान तो गाँवों की इतनी बड़ी संख्या से ही लगाया जा सकता है।

एक दशक के संगठित प्रयास के पश्चात् खादी एक लाख से कुछ अधिक गाँवों तक पहुँच चुकी है। इस बड़े भारी कार्य के लिए उपलब्ध साधन-स्रोतों तथा जन-शक्ति की सीमा को ध्यान में रखते हुए यह कोई मामूली सफलता नहीं है।

वित्त की सीमित उपलब्धि

प्रथम पंच वर्षीय योजनाकाल में खादी और ग्रामोद्योगों के लिए १४ करोड़ ८२ लाख रुपये नियत हुए, जो कुल योजना के लिए नियत धनराशि का ०.४४ प्रति शत था। दूसरी योजना में इनके लिए ८४ करोड़ रुपये (समग्र योजना के लिए नियत राशि का १.२४ प्रति शत) नियत हुए। तृतीय पंच वर्षीय योजना के लिए जितने वित्त की व्यवस्था की गयी है, उसका ०.७८ प्रति शत–९२ करोड़ ४० लाख रुपये–वित्त खादी और ग्रामोद्योगों के लिए नियत किया गया है। इसी बात को यों भी कहा जा सकता है कि तीनों योजनाओं के लिए नियत २ खरब १९ अरब १० करोड़ रुपयों में से खादी व ग्रामोद्योगों के विकास कार्य

के लिए केवल १ अरब ९१ करोड़ २२ लाख यानी ०.८७ प्रति शत रुपये ही दिये गये।

पांच मुख्य बातें

पिछले दशक में मण्डल व कमीशन द्वारा किये गये काम का मूल्यांकन करते वक्त उन उद्देश्यों को ध्यान में रखना आवश्यक है, जिन्हें पूरा करने की अपेक्षा की गयी थी। इसलिए यह देखना आवश्यक कि इन उद्देश्यों की कहाँ तक पूर्ति हुई है। अनेक महत्वपूर्ण बातों में से चन्द का यहाँ उल्लेख किया जा सकता है : (१) उत्पादन का विस्तार; (२) रोजगारी; (३) कार्यक्रम को लोकप्रिय बनाना; (४) वित्तीय सहायता; और (५) बिक्री।

उत्पादन में ५५९ प्रति शत वृद्धि

खादी (मय रेशमी, ऊनी व अम्बर खादी) का उत्पादन १९५३-५४ में १ करोड़ १५ लाख ६३ हजार वर्ग गज था, जो १९६१-६२ में बढ़कर ७ करोड़ ६२ लाख २ हजार वर्ग गज हो गया अर्थात् उसमें ६ गुनी से भी अधिक (५५९ प्रति शत) वृद्धि हुई। उक्त उत्पादन में स्वावलम्बन के लिए तैयार खादी भी शामिल है।

प्रथम पंच वर्षीय योजनावधि में अन्य ग्रामोद्योगों के क्षेत्र में ऐसा कोई विशेष कार्य नहीं हुआ कि उसका उल्लेख किया जाय, सिवाय इसके कि अनाज तथा दाल प्रशोधन, घानी तेल, गुड़-खाण्डसारी और मधुमक्खी-पालन उद्योगों में कुछ कार्य हो रहा था। निम्न उद्योगों के सम्बन्ध में सुव्यवस्थित कार्य १९५६-५७ में प्रारम्भ हुआ—अनाज तथा दाल प्रशोधन; घानी तेल; ग्रामीण चर्म; कुटीर दियासलाई; गुड़-खाण्डसारी; ताड़-गुड़; अखाद्य तेल और साबुन; हाथ कागज; मधुमक्खी-पालन; और ग्रामीण कुम्हारी। बढ़ईगीरी और लुहारगीरी; चूना पत्थर तथा मिथेन गैस और खाद उत्पादन का विकास कार्य बाद में शुरू हुआ।

सांख्यिकीय जानकारी की कमी

ग्रामीण अवस्थाओं से सम्बन्धित सामान्य जानकारी एकत्रित करने में आनेवाली कठिनाइयाँ सर्व विदित हैं। ग्रामोद्योगों के बारे में जानकारी प्राप्त करने में भी ऐसी ही मुश्किलें आती हैं। बावजूद इसके कि खादी और ग्रामोद्योग कमीशन ने विभिन्न संस्थाओं को कर्मचारी वर्ग, प्रशिक्षण, देख-रेख व मार्गदर्शन की सुविधाएँ प्रदान करते हुए सहायता देने का प्रयास किया है, ग्रामोद्योगों के सम्बन्ध में ऐसी जानकारी इकट्ठी करने का कोई प्रभावशाली तरीका नहीं निकाला जा सका है, जो लोक-जिज्ञासा को सन्तुष्ट कर सके। अतएव खादी के अतिरिक्त अन्य ग्रामोद्योगों के बारे में विकास का वास्तविक चित्र प्रस्तुत कर सकने लायक उत्पादन, रोजगारी व बिक्री के आंकड़े देना सम्भव नहीं है। हाँ, प्राप्त विवरणों से उत्साहजनक परिणाम निकलते हैं।

पांच गुनी रोजगारी

खादी कार्य में रोजी प्राप्त व्यक्तियों की संख्या १९५३-५४ में ३ लाख ७९ हजार थी। उसमें ३६० प्रति शत से भी अधिक वृद्धि हुई और वह १९६१-६२ में १७ लाख ४६ हजार तक जा पहुँची। सन् १९६१-६२ में खादी और अन्य ग्रामोद्योगों में कुल २३ लाख ६० हजार व्यक्ति रोजगारी प्राप्त कर रहे थे। इनमें से ७४ प्रति शत अकेले खादी उद्योग में लगे थे।

सामान्यः प्रगति का मूल्यांकन उत्पादन-प्रभाव से आँका जाता है। इस दृष्टि से देखने पर प्राप्त सफलता बिल्कुल ही हतोत्साहित करनेवाली नहीं है; बल्कि यह कहा जा सकता है कि उत्साहवर्द्धक ही है।

कार्यशीलताओं का व्यापक विस्तार

उत्पादन तथा रोजगारी के क्षेत्र में उक्त वृद्धि चन्द सीमित केन्द्रों में प्रयास संकेन्द्रित करके नहीं, बल्कि विकेन्द्रित विकास के उद्देश्य को दृष्टिगत रखते हुए देश के सभी राज्यों में कार्यक्रम का व्यापक क्षेत्र में विस्तार करते हुए प्राप्त की गयी है। खादी तथा अन्य ग्रामोद्योगों के काम में जुटी हुई संस्थाओं की संख्या में हुई वृद्धि में इस कथन की पुष्टि प्रतिबिम्बित होती है।

खादी कार्य में लगीं संस्थाओं की संख्या १९५३-५४ में १८६ और १९६१-६२ में १,४१७ थी, जिसका अर्थ है

६६१ प्रति शत वृद्धि। इन १,४१७ संस्थाओं में ८७६ सोसायटीज रजिस्ट्रेशन एक्ट के अन्तर्गत पंजीकृत संस्थाएँ थीं और ५४१ सहकारी समितियाँ।

तेरह गुनी सहकारी समितियाँ

नीति सहकारी समितियों का विकास करने की ओर रही है। इस दृष्टि से भी कोई कम प्रगति नहीं हुई है– यहाँ तक कि खादी के क्षेत्र में सोसायटीज रजिस्ट्रेशन एक्ट के अन्तर्गत पंजीकृत संस्थाओं के परम्परागत रूप से सक्रिय रहने पर भी सहकारों की संख्या बढ़ी है। खादी सहकारी समितियों की संख्या ४२ (१९५४-५५ में) से बढ़कर ५४१ (१९६१-६२ में) हो गयी अर्थात् उनकी संख्या १,१८९ प्रति शत बढ़ी। खादी कार्य करनेवाली कुल संस्थाओं में सहकारी समितियों का जो अनुपात १९५४-५५ में १८ प्रति शत से कुछ ऊपर था, वह १९६१-६२ में ३८ प्रति शत से अधिक हो गया था।

वित्तीय सहायता

छोटे उत्पादकों के सामने वित्त की कमी एक मुख्य समस्या है। अतएव कमीशन के सामने एक ऐसी सहायता-प्रणाली खोज निकालने की समस्या थी कि उसके अन्तर्गत उत्पादकों को तुरन्त वित्त भी उपलब्ध करवाया जा सके और साथ ही साथ उस पर सामान्य नियंत्रण भी रखा जा सके। खादी और ग्रामोद्योगों के लिए १९५३-५४ में १ करोड़ ९ लाख १४ हजार रुपयों का वितरण हुआ था; वह बढ़कर १९६१-६२ में २५ करोड़ २६ लाख ९७ हजार हो गया, जिसका मतलब है २,२०० प्रति शत यानी २३ गुनी वृद्धि।

चौदह गुनी अधिक बिक्री

हर छोटे उत्पादक के सामने बिक्री की समस्या प्रगति पथ का रोड़ा होती है; अतः इस प्रकार के पैमाने पर होनेवाले प्रयास का प्रतिबिम्ब सामान्यतः बिक्री व्यवस्था में उल्लेखनीय सुधार के रूप में मिलना चाहिए। इस क्षेत्र में भी पर्याप्त विकास हुआ। सन् १९५३-५४ में १ करोड़ २९ लाख ९८ हजार रुपये की खादी बिकी थी और १९६१-६२ में १८ करोड़ ७७ लाख ५४ हजार रुपये की अर्थात् नौ वर्ष की अवधि में चौदह गुनी से भी अधिक वृद्धि हुई।

पांच लाख से ज्यादा प्रशिक्षित

कारीगर, कार्यकर्त्ता आदि का प्रशिक्षण एक महत्वपूर्ण पहलू है। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अन्तर्गत पिछले नौ वर्ष में कुल ५,७३,२५५ व्यक्ति प्रशिक्षित हुए। इनमें से ५,१५,०२१ व्यक्तियों ने खादी उद्योग में तथा ५८,२३४ व्यक्तियों ने ग्रामोद्योगों में प्रशिक्षण प्राप्त किया। इनका भी विश्लेषण करने से पता चलता है कि ४,९९,२९९ व्यक्ति अम्बर चरखा कार्यक्रम के अन्तर्गत और १५,७२२ परम्परागत चरखा योजना के अन्तर्गत प्रशिक्षित हुए। जब से प्रारम्भिक वर्षों में प्राप्त सफलता को ठोस रूप देने तक अम्बर चरखा कार्यक्रम का विस्तार न करने का निर्णय किया गया है, उक्त प्रकार के प्रशिक्षण में कुछ शैथिल्य आ गया है।

उपकरणों की पूर्ति

कमीशन के अन्य प्रमुख कार्यों में उत्पादकों को उपकरणों की पूर्ति करने की व्यवस्था और खादी तथा ग्रामोद्योग उत्पादनों की बिक्री-व्यवस्था के लिए सुविधाएँ प्रदान करना शामिल है।

कुल ३,७३,३४१ अम्बर चरखों का वितरण हुआ। अन्य ग्रामोद्योगों के मामले में भी प्रोत्साहक कदम उठाये गये हैं। अनाज तथा दाल प्रशोधन उद्योग में ७५,७७१ बाल-बियरिंग; ८,५६६ धान चक्की; ६०६ उसावन पंखे और ९६१ ढेंकियाँ वितरित की गयीं। उक्त सभी उपकरण उन्नत किस्म के थे। अब से अर्द्धोबलन-सेट तथा बैल-चालित चक्कियाँ वितरित करने का निर्णय किया गया है। चालू वर्ष में १४७ अर्द्धोबलन-सेट और १७० बैल-चालित चक्कियाँ वितरित की जाने की अपेक्षा है।

ग्रामीण तेल उद्योग के अन्तर्गत १७,८५७ अभिनव घानियों का वितरण हो चुका है। इसी प्रकार ग्रामीण चर्मोद्योग के अन्तर्गत २३,२६२ गड्ढों (नये और पुराने) का निर्माण हुआ। अनुमानतः उनसे १० लाख ५० हजार

रुपये का सामान तैयार किया जा रहा था।

गुड़-खाण्डसारी उद्योग के अन्तर्गत १९६१-६२ के अन्त तक २०,००० बैल-चालित कोल्हुओं की स्थापना हुई, जिनसे करीब ८०,००० व्यक्तियों को पूरे समय का काम मिला; ३८९ शक्ति-चालित कोल्हुओं का भी वितरण हुआ। ग्रामीण कुम्हारी उद्योग के अन्तर्गत १,१३० चाक-संलाग (व्हील अटेचमेण्ट); १,६२३ उन्नत चाक; ३७९ जंजीर से चलनेवाले चाक; २८४ सांचे; ५९ पेचदार दाब यंत्र (स्क्रू प्रेस); ३२ खपरैल बनाने के सांचे और ३९५ भट्टी ओसारे प्रदान किये गये। मधुमक्खी-पालन उद्योग में अन्दाजन दो लाख मधुमक्खी घर और दो लाख मधु निस्सारक यंत्र वितरित किये गये, जिन पर २६ लाख रुपये व्यय हुए। रेशा उद्योग के अन्तर्गत बटारा चरखा, जूट, सीसल और केले आदि के रेशों की कताई के लिए एक हस्त-चालित यंत्र, इन रेशों और कपासिया घास से भी महीन कताई के लिए एक पैर-चालित चरखा; रस्सी-बटाई यंत्र; सीसल तथा खजूर की पत्तियों से रेशा निकालने के लिए एक यंत्र; सीसल, जूट, अम्बाडी और सन की कुटाई के लिए एक यंत्र; केले का रेशा उतारनेवाले उपकरण; और सीसल, अम्बाडी, जूट तथा सन से कुर्सियों की जालियाँ एवम् चटाइयाँ बनाने के लिए १११ 'एम' (उपकरण) वितरित किये गये।

ग्रामोद्योगों में प्रगति

ग्रामीण चर्मोद्योग के क्षेत्र में सर्वाधिक उत्साहवर्द्धक परिणाम प्राप्त हुए हैं। इस उद्योग में १९६०-६१ में ३५ लाख ५० हजार रुपये का माल तैयार हुआ था, जो १९६१-६२ में बढ़कर ९१ लाख ८ हजार रुपये तक जा पहुँचा। अन्य जिन ग्रामोद्योगों में उल्लेखनीय प्रगति हुई उनमें ग्रामीण तेल तथा रेशा उद्योग का नाम लिया जा सकता है। इनका उत्पादन क्रमशः १३ करोड़ ५४ लाख ७० हजार रुपये से बढ़कर १६ करोड़ ७० लाख ३९ हजार और ६ लाख ५६ हजार रुपये से बढ़कर १४ लाख १८ हजार रुपये का हो गया।

निम्न तालिका विभिन्न उद्योगों के उत्पादन में १९६०-६१ और १९६१-६२ के बीच हुई वृद्धि का विवरण दर्शाती है:

ग्रामोद्योगों का उत्पादन

(मूल्य लाख रुपये में)

उद्योग	१९६०-६१	१९६१–६२
अनाज और दाल प्रशोधन	३४१.१२	३९५.००
ग्रामीण तेल		
तेल	१,३५४.७०	१,६७०.३९
खली	३१४.४२	३९९.९९
ग्रामीण चर्मोद्योग	३५.५०	९१.०८
कुटीर दियासलाई	१.४३	२.५६
अखाद्य तेल और साबुन	६५.५९	८०.१२
मधुमक्खी-पालन	१७.३८	२२.६०
ग्रामीण कुम्हारी	४१.९८	४९.०८
ग्रामीण रेशा	६.५६	१४.१८

ग्रामीण चर्मोद्योग

ग्रामीण चर्मोद्योग का अन्तर्निहित विचार है, मृत पशु के शव का छेदन और उससे अधिकतम सीमा तक कीमती सामग्री की सम्प्राप्ति करना। इस दिशा में कमीशन के प्रयास निष्फल नहीं रहे हैं।

इस वक्त २४३ शव छेदन केन्द्र; १९९ चर्म शोधन केन्द्र और ४७ बिक्री केन्द्र चल रहे हैं। चर्म शोधन केन्द्रों में १९६१-६२ के दरमियान ७२ लाख ५८ हजार रुपये का उत्पादन हुआ। नये गड्ढों का निर्माण और पुरानों की मरम्मत करने–जिनकी संख्या २३,२६२ थी–के लिए उक्त वर्ष के दौरान ३१ लाख ६१ हजार रुपये अनुदान स्वरूप दिये गये। इन गड्ढों से अनुमानतः १० लाख ५० हजार रुपये से कम का उत्पादन नहीं होता और १,५०० कारीगर उन पर काम करते हैं।

इस उद्योग में १,९५२ सहकारी समितियाँ हैं। उद्योग से रोजगारी प्राप्त व्यक्तियों की संख्या ६५ (१९५३-५४) से बढ़कर ५,९९६ हो गयी अर्थात् उसमें ९२ गुनी से भी

ज्यादा वृद्धि हुई है। कुल उत्पादन १९६१-६२ में ९१ लाख ८ हजार रुपये का हुआ।

ग्रामीण तेल

ग्रामीण तेल उद्योग कार्यक्रम के अन्तर्गत तेल के उत्पादन में १२ गुनी से भी अधिक यानी १,१४१ प्रति शत ठोस वृद्धि हुई है; क्योंकि १९५६-५७ में उसका उत्पादन १ लाख ५६ हजार मन था जो १९६१-६२ में बढ़कर १९ लाख ३६ हजार मन हो गया। इसी अवधि में खली का उत्पादन १३ लाख २६ हजार मन से बढ़कर ३० लाख ९२ हजार मन हुआ यानी उसमें दुगुनी से भी अधिक अर्थात् १३३ प्रति शत वृद्धि हुई।

इस उद्योग में कुल २९,८३६ पंजीकृत घानियाँ है, जिनमें अभिनव घानियों की संख्या १७,८५७ है। उद्योग से ३५,५३९ व्यक्तियों को पूर्ण; १५,८२६ को आंशिक और ७,३३६ को आकस्मिक रोजगार मिला। सन् १९६१-६२ में उनकी कमाई २ करोड़ ३९ लाख ७४ हजार रुपये हुई।

हाथ कागज

कागज की जिन किस्मों का पहले आयात होता था उनका उत्पादन करना सम्भव बन पड़ा है। जापानी हाथ कागज उद्योग में व्यवहृत तक्नीकें अपनाकर स्टेन्सिल कागज, टिस्सू कागज, दिवारों पर लगानेवाला कलात्मक व साज-सज्जा के काम आनेवाला कागज तथा अन्य इस प्रकार का कागज तैयार करना सम्भव हो सका है, जो निर्यात करने लायक हो।

फिलहाल ११० हाथ कागज उत्पादन केन्द्र चल रहे हैं और उनमें २७ लाख ५० हजार रुपये से भी अधिक कीमत का १,४०० टन कागज तैयार होता है। करीब १६० उत्पादन केन्द्र निर्माणधीन हैं। जब वे उत्पादन कार्य शुरू कर देंगे तो हाथ कागज का उत्पादन ५,५०० टन तक बढ़ जाने की अपेक्षा है।

अनाज और दाल प्रशोधन

ग्रामीण क्षेत्रों में विस्तृत पैमाने पर रोजगारी प्रदान करना तथा धान की कुटाई करके अधिक चावल की सम्प्राप्ति इस उद्योग का बुनियादी उद्देश्य है। उद्योग ने उत्पादन व रोजगारी दोनों ही क्षेत्रों में काफी प्रगति की है।

इस उद्योग के अन्तर्गत १९५३-५४ का ५३ लाख ९६ हजार रुपये कीमत का उत्पादन बढ़कर ३ करोड़ ९५ लाख रुपये तक जा पहुँचा। इसका मतलब है सात गुनी से भी अधिक यानी ६३२ प्रति शत वृद्धि हुई। रोजगारी के क्षेत्र में रोजी प्राप्त व्यक्तियों की संख्या ४,००० से बढ़कर ८०,५०० हो गयी यानी २० गुनी अर्थात् १,९१३ प्रति शत वृद्धि हुई।

संगठनात्मक दृष्टि से सुदृढ़ विकास हुआ। सन् १९५४-५५ में १४८ सहकारी समितियाँ तथा पंजीकृत संस्थाएँ थी। उनकी संख्या १९६१-६२ में २,०५१ थी। इसका अर्थ है तेरह गुनी से भी अधिक यानी १,२८६ प्रति शत वृद्धि।

ताड़-गुड़

ताड़-गुड़ का १९६१-६२ के अन्त तक ७,६१५ गाँवों में विस्तार हो चुका था और उनमें ३ लाख ६१ हजार ताड़-छेदक थे; इस उद्योग में लगीं सहकारी समितियों की संख्या ३,२३९ थी।

ताड़-गुड़ का उत्पादन २ करोड़ ६८ लाख २० हजार रुपये का हुआ; नीरा बिक्री २३ लाख ३ हजार रुपये की हुई; और २ लाख २७ हजार रुपये का अन्य माल तैयार किया गया। उद्योग से २,८८,००० व्यक्तियों को आंशिक रोजगारी मिली।

अखाद्य तेल और साबुन

इस उद्योग के अन्तर्गत उन अखाद्य तिलहनों का संग्रह और प्रशोधन कर सम्पत्ति का निर्माण करने पर जोर दिया जाता है जो अन्यथा देहाती क्षेत्रों में बेकार जाते हैं। देश में खाद्य तेल का उपभोग बहुत कम है। उक्त तिलहनों के तेल से साबुन बनाने पर खाद्य तेल मानवीय उपभोग के लिए अधिक मात्रा में प्राप्त करवाने में

सहायता मिलती है। तिलहन संग्रह, उनकी पेराई और साबुन उत्पादन इस उद्योग के मुख्य कार्य हैं।

अखाद्य तिलहनों का संग्रह १९६१-६२ में १७ लाख २१ हजार रुपये का हुआ। इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य बात है कि इन तिलहनों के संग्रह कार्य से लाभ उठानेवाले व्यक्ति आदिवासी हैं। तेल उत्पादन २२ लाख ३७ हजार रुपये का और साबुन उत्पादन ४० लाख ५४ हजार रुपये का हुआ।

संगठन की शब्दावली में यह कहा जा सकता है कि केन्द्रों की संख्या १९५५-५६ में २१ थी, वह १९६१-६२ में ३२२ हो गयी अर्थात् उनकी संख्या में पन्द्रह गुनी से भी अधिक वृद्धि हुई। सन् १९६१-६२ में ७१,००० व्यक्तियों को तिलहन संग्रह और १,७४८ को उनके प्रशोधन कार्य में काम मिला; तिलहन प्रशोधन कार्य में १० लाख ७ हजार रुपये पारिश्रमिक स्वरूप दिये गये।

मधुमक्खी पालन

लोगों को वैज्ञानिक तरीके से मधुमक्खी-पालन तथा उसकी विभिन्न प्रक्रियाओं की शिक्षा और मधुपालकों को प्राविधिक मार्गदर्शन देना मधुमक्खी-पालन उद्योग का बुनियादी ध्येय है। मधुमक्खी-पालन से खेती में होनेवाले महान फायदों से तुलना करने पर मधु-निस्सारण का महत्व गौण हो गया है।

कमीशन के अन्तर्गत इस उद्योग का सुस्थिर विकास हुआ है। मधुमक्खी छत्तों की संख्या में सतरह गुनी से भी अधिक वृद्धि हुई है—उनकी संख्या १९५३-५४ में ८०० थी और १९६१-६२ में वह १४,००० हो गयी। उक्त अवधि में मधु उत्पादन २० हजार रुपये मूल्य से बढ़कर २२ लाख ६० हजार रुपये कीमत का हो गया और १९६२-६३ में २५ लाख रुपये तक पहुँच जाने की अपेक्षा है। इस उद्योग का विस्तार १०,००० गाँवों में हो चुका है। सन् १९६१-६२ के अन्त में ५०,००० मधुपालक थे।

गुड़-खाण्डसारी

गुड़-खाण्डसारी उद्योग कृषि उत्पादन का प्रशोधन करनेवाला सबसे बड़ा उद्योग है और उससे वर्ष में चार-पांच महीने काम मिलता है। गुड़ उत्पादन १९५४-५५ के २ करोड़ ६० लाख ४० हजार रुपये मूल्य के १७ लाख ३६ हजार मन से बढ़कर १९६१-६२ में ५ करोड़ ५२ लाख ७५ हजार रुपये कीमत का ३६ लाख ८५ हजार मन हो गया यानी उसमें दुगुनी से भी अधिक वृद्धि हुई। इसी प्रकार खाण्डसारी के उत्पादन में ढ़ाई गुनी वृद्धि हुई। उसका उत्पादन १९५५-५६ में ८ लाख ४० हजार रुपये का (२८ हजार मन) था और १९६१-६२ में २१ लाख रुपये का (७० हजार मन) हुआ। रोजगारी प्राप्त व्यक्तियों की संख्या में २७ गुनी से भी ज्यादा यानी २,६५० प्रति शत वृद्धि हुई। उनकी संख्या ३,०३३ से बढ़कर ८३,४१७ हो गयी।

उद्योग के अन्तर्गत २०,००० बैल-चालित कोल्हू और ३८९ शक्ति-चालित कोल्हू हैं। देश में गन्ने की खेती के अन्तर्गत ५८ लाख एकड़ भूमि है। इस उद्योग का विकास कार्यक्रम ३ लाख ५० हजार एकड़ भूमि यानी कुल के ६ प्रति शत तक फैल चुका है।

ग्रामीण कुम्हारी

कुम्हारी उद्योग का उत्पादन भी कोई कम नहीं हुआ। योजनाएँ बनाकर नियमित कार्य १९५५-५६ में प्रारम्भ हुआ। उत्पादन १९५६-५७ में १ लाख ११ हजार रुपये का हुआ था। उसमें सुदृढ़ प्रगति हुई और १९६१-६२ में वह ४९ लाख ८ हजार रुपये तक जा पहुँचा यानी उसमें ४,३२२ प्रति शत अथवा ४४ गुनी से भी अधिक वृद्धि हुई। कुल जितनी संस्थाओं को सहायता दी गयी, उनमें से ४० प्रति शत ने प्रगति विवरण भेजे। उन्हीं का है यह उत्पादन।

करीब १६,००० कुम्भकार परिवार १,०१८ सहकारी समितियों के अन्तर्गत आ चुके हैं। इस उद्योग से १९६१-६२ में ४६,५०० व्यक्तियों को काम मिला।

रेशा उद्योग

कमीशन के रेशा उद्योग कार्यक्रम के अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्रों में कारीगरों को वहाँ पर उपलब्ध कच्ची सामग्री

से, जो अन्यथा बेकार जाती है, वस्तुएँ बनाने की शिक्षा देना शामिल है। इस सम्बन्ध में बारदान अथवा बटार का यहाँ पर उल्लेख किया जा सकता है, जिसकी मैसूर राज्य के उत्तरी हिस्से में अच्छी प्रगति हुई है।

अनुसंधान

सभी उद्योगों के लिए अनुसंधान का बहुत बड़ा महत्व है। लघु तथा ग्राम उद्योगों के लिए तो इसका और भी अधिक महत्व है; क्योंकि साधारणतया जो कुछ अनुसंधान हो रहा है वह संगठित क्षेत्र के लिए होता है, जिससे ग्रामोद्योग कोई विशेष लाभ नहीं उठा सकते। विकेन्द्रित विभाग की समस्याएँ संगठित विभाग की समस्याओं से बहुत भिन्न हैं। और फिर, प्रतिभाशाली वैज्ञानिकों को ग्रामोद्योगों के क्षेत्र में अन्वेषण करने के लिए आकर्षित करना भी मुश्किल है; क्योंकि वैज्ञानिक कार्यकर्त्ता अपने आपको विकेन्द्रित विभाग की आवश्यकताओं की अपेक्षा यांत्रिक विभाग की जरूरतों के अनुसार ढालने में आसानी पाते हैं। इतना होते हुए भी कमीशन के अधिकार क्षेत्र में आनेवाले विभिन्न ग्रामोद्योगों के लिए अन्वेषण परियोजनाओं में विवेकपूर्ण प्रयत्नों के जरिये अनेक प्रतिभाशाली वैज्ञानिकों का सहयोग प्राप्त करना सम्भव बन पड़ा है। फिर भी, अनुसंधान के क्षेत्र में परिणाम प्राप्त करने में समय लगता है और साथ ही सफलता की गारण्टी भी नहीं दी जा सकती। अनुसंधान के प्रोत्साहनार्थ उदार अनुदान दिये गये। कमीशन की वर्धा स्थित जमनालाल बजाज केन्द्रीय ग्रामोद्योग अनुसंधानशाला कुछ समय से इस क्षेत्र में काम कर रही है। अब तक अन्वेषण कार्य पर ३९,६९,००० रुपये खर्च किये जा चुके हैं, जिसके फलस्वरूप अम्बर बेलनी, अम्बर चरखा, धुनाई मोढ़िया, अभिनव तथा उन्नत चक्कियों जैसे सुधरे हुए उपकरण अपनाये जा सके हैं तथा उनसे उत्पादकों की उत्पादकता और आमदनी बढ़ाने की सम्भाव्यताएँ सामने आयी हैं।

जानकारी का वितरण

कमीशन का एक मुख्य कार्य है खादी और ग्रामोद्योग के सम्बन्ध में प्राप्य जानकारी तथा अनुभवों के वितरण केन्द्र के रूप में काम करना। कमीशन दो पत्र-पत्रिकाएँ नियमित रूप से प्रकाशित करता आ रहा है, जिन्हें अधिकाधिक लोग पढ़ते हैं और उन पर अपने विचार व्यक्त करते हैं। इसके अतिरिक्त कमीशन ने अनेक अच्छे प्रकाशन भी निकाले हैं; अब तक १७० प्रकाशनों की २४,२६,३१३ प्रतियाँ छप चुकी हैं। इसके अलावा स्थानीय भाषाओं में पत्र-पत्रिकाएँ व प्रकाशन छापने के लिए राज्य खादी और ग्रामोद्योग मण्डलों को वित्तीय सहायता दी गयी।

जनता को उद्योगों के प्राविधिक पहलू की शिक्षा देने के लिए एक सुनियोजित अभियान प्रारम्भ करने हेतु प्रयास किये जा रहे हैं। कुछ इस प्रकार की छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ (बुकलेट) प्रकाशित करने की योजना है, जिनमें यह बताया जायेगा कि इकाइयाँ स्थापित करने तथा उन्हें चलाने के लिए कैसा, किस ढंग का दृष्टिकोण या उपागम अपनाना चाहिए। कमीशन ने एक 'खादी समाचार सेवा' प्रारम्भ करने के सुझाव को भी सैद्धान्तिक रूप से स्वीकार कर लिया है। इसके शुरू होने पर अपेक्षा की जाती है कि ग्रामोद्योगों के सम्बन्ध में सामान्य जानकारी वितरण करने की अवस्था में सुधार को प्रश्रय मिलेगा।

उपयुक्त दिशा निर्धारण

ग्रामोद्योग अनेक मामलों में एक दूसरे से भिन्न हैं और किसी एक स्तरीय सूत्र के अनुसार उनकी प्रगति का मूल्यांकन करना सम्भव नहीं है। पूंजी की सघनता, कौशल, उत्पादन और बिक्री का संगठन तथा अनुसंधान की दिशा एक उद्योग से दूसरे उद्योग में भिन्न हैं। ये उद्योग केवल इसीलिए उपयोगी नहीं हैं कि वे बेरोजगारों को रोजी-रोटी प्रदान करते हैं--जोकि निश्चय ही वे करते हैं--बल्कि उनका महत्व इस बात में भी निहित है कि वे उत्पादन में प्रत्यक्ष रूप से योगदान देते हुए और इस प्रकार उच्च उपभोग अथवा विदेशों से आयात करने की आवश्यकता के कारण राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था

पर पड़नेवाले दबाव को कम करते हुए राष्ट्रीय सम्पत्ति में वृद्धि करते हैं। उद्योगों के इन सभी पहलुओं पर ध्यान दिये जाने की, विचार करने की आवश्यकता है।

उदाहरणार्थ, यदि हाथ कागज के स्थानीय उत्पादन से सरकार किसी प्रकार के कागज का आयात कम करने में समर्थ बनती है तो उस हद तक यदि उद्योग बहुत बड़ी संख्या में लोगों को काम न दे तो भी प्रोत्साहन देने योग्य है। इसी प्रकार ग्रामीण चर्मोद्योग के मामले में शव छेदन तथा पशु शव की उपयोगिता के एक अच्छे संगठन द्वारा राष्ट्रीय प्रतिरिक्षा व जन उपभोग की वस्तुओं की मांग, यदि प्रभावकारी रूप से पूरी करना सम्भव है तो उद्योग को प्रोत्साहन देना चाहिए। अखाद्य तेल और साबुन उद्योग के सम्बन्ध में तिलहनों का संग्रह ही, जोकि अन्यथा बेकार जायेंगे, एक वांछित कार्यशीलता समझी जानी चाहिए; क्योंकि ऐसा करने से तेल की पूर्ति में मदद मिलेगी—जिसकी अति आवश्यकता है—और आदिवासियों एवम् अन्य न्यून आर्य वर्गवाले व्यक्तियों को आमदनी का पूरक जरिया प्राप्त हो सकेगा।

गोबर की खाद सम्भवतः कृषि के लिए सर्वोत्तम है। भारत में इसका अधिकांश हिस्सा ईंधन के रूप में जलाकर राख कर दिया जाता है। गोबर गैस संयंत्र से न केवल यह बर्बादी रोकी जा सकती है वरन् गाँवों में शक्ति का वैकल्पिक स्रोत भी उपलब्ध हो सकता है, जहाँ विद्युतीकरण की सम्भाव्यता नगण्य-सी ही है।

इसी प्रकार मधुमक्खी-पालन मधु प्राप्ति तथा मोम की सप्लाई (प्रतिरक्षा सम्बन्धी कामों में आवश्यकता के कारण जिसका महत्व और भी बहुत बढ़ गया है) के लिए ही वांछनीय नहीं है, वरन् कृषि उत्पादन तथा विशेष कर बागवानी सम्बन्धी उत्पादन के विकास में भी इसका असूल्य, यदि परोक्ष, योगदान है। यह सर्व विदित है कि मधुमक्खियाँ परागाधान के लिए एक माध्यम हैं। इस तरह जहाँ-कहीं मधुमक्खी-पालन व्यापक पैमाने पर होता है, कृषि भी अधिक फलती-फूलती है।

ग्रामीण क्षेत्रों में मकानात की हालत इतनी बुरी है कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वहाँ की आवास व्यवस्था में सुधार किये बिना ग्रामीणों के रहन-सहन के स्तर में कोई सुधार नहीं हो सकता। जैसा कि सभी जानते हैं, भवन निर्माण सामग्री बहुत मंहगी हो गयी है; जहाँ तक अधिकांश ग्रामीण आबादी का सम्बन्ध है वह किसी भी दृष्टि से साधारण भवन निर्माण सामग्री तक का भी खर्च बर्दाश्त नहीं कर सकती। सभी सम्बद्ध व्यक्तियों का यह कर्तव्य है कि इन दशाओं में सुधार लाने हेतु कुछ न कुछ करें। ग्रामीणों को अपनी आवास व्यवस्था में सुधार करने के मामले में चूना पत्थर तथा ग्रामीण कुम्हारी उद्योग को प्रोत्साहन देने से बहुत मदद मिलने की अपेक्षा की जा सकती है।

इन उद्योगों की सम्भाव्यताएँ जिन दिशाओं में सत्य साबित हो सकती हैं, उनकी खोज करने के लिए प्रयत्न किये जाने चाहिए। अब तक इस पहलू पर उपयुक्त ध्यान नहीं दिया गया है; लेकिन अब इसे गम्भीरतापूर्वक हाथ में लिया जाना चाहिए। ग्रामोद्योगों के विकास की समस्याएँ अपने ही ढंग की हैं। कोई एक केन्द्र स्थापित कर उसे प्रभावशाली व लाभदायक रूप में चलाना मुश्किल नहीं है लेकिन देश भर में, जहाँ विभिन्न प्रकार के क्षेत्र, साधन-स्रोतों व कौशल का असमान वितरण तथा जनता में विभिन्न प्रकार की रुझान, अभिक्रम व प्रतिभा जैसी बातें मिलती हो, ऐसे केन्द्रों का एक जाल-सा फैला देना आसान तो क्या बहुत मुश्किल काम है। अभी तक इस बाबत कोई ऐसा सूत्र नहीं निकाला जा सका है कि अलग-अलग, छोटे-छोटे रूप में, दूर-दूर बसे लाखों गाँवों में कुशल उत्पादन इकाइयों की स्थापना करने की समस्या का समाधान किस प्रकार किया जाय। स्पष्टतः हम कोई मार्ग खोज निकालने की आशा करते हैं। किन्तु कोई मार्ग मिल सकता है तभी, जबकि हम अध्यवसाय करते रहें। इस सम्बन्ध में भूतकालीन अनुभव उत्साहवर्द्धक हैं। ●

इस माह के समाचार

खादी और ग्रामोद्योग मण्डल का पुनर्गठन

भारत सरकार ने खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के सलाहकारी खादी और ग्रामोद्योग मण्डल का पुनर्गठन किया है। पुनर्गठित मण्डल में ४४ सदस्य हैं। सदस्यों के नाम इस प्रकार हैं :

सर्वश्री उ. न. ढेबर (अध्यक्ष); कन्दस्वामी अरुणाचलम् (उपाध्यक्ष); प्राणलाल सु. कापड़िया (सदस्य-सचिव); ध्वजा प्रसाद साहू, मुजफ्फरपुर; और द्वारकानाथ वि. लेले, बम्बई।

सभी राज्य खादी और ग्रामोद्योग मण्डलों के अध्यक्ष मण्डल के सदस्य हैं-- सर्वश्री पी. तिम्मा रेडी (आन्ध्र प्रदेश); एम. एन. हजारिका (असम); ध्वजा प्रसाद साहू (बिहार); बाबूभाई जे. पटेल (गुजरात); के. ए. दामोदर मेनन (केरल); लक्ष्मण सिंह चौहान (मध्य प्रदेश); एम. भक्तवत्सलम् (मद्रास); वी. एस. पागे (महाराष्ट्र); एच. सिद्दवीरप्पा (मैसूर); राज कृष्ण बोस (उड़ीसा); डाक्टर गोपीचन्द भार्गव (पंजाब); सर्वश्री हरभाऊ उपाध्याय (राजस्थान); देव करण सिंह (उत्तर प्रदेश); और प्रफुल्ल चन्द्र सेन (पश्चिम बंगाल)।

अन्य सदस्यों के नाम इस प्रकार हैं : श्री वैकुण्ठ ल. मेहता, बम्बई; श्री अनन्त वासुदेव सहस्त्रबुद्धे, वर्धा; श्री विठ्ठलदास वि. जेराजाणी, बम्बई; अहमदाबाद के हरिजन आश्रम के श्री कृष्णदास गांधी; श्री विचित्र नारायण शर्मा, लखनऊ; श्री झवेरभाई पी. पटेल, नयी दिल्ली; योजना आयोग की ग्रामीण औद्योगीकरण योजना समिति की स्थायी समिति के मंत्री श्री आर. श्रीनिवासन; सेवापुरी (वाराणसी) स्थित गांधी आश्रम के श्री अक्षय कुमार करण; श्री पुरषोत्तम कानजी, बम्बई; बंगलोर स्थित अखिल भारत ऊन औद्योगिक सहकारी सिण्डीकेट के श्री मलप्पा कोल्लूर; श्री गोकुलभाई भट्ट, जयपुर; श्री अनन्दा प्रसाद चौधरी, कलकत्ता; माचला (इन्दौर) स्थित सर्वोदय शिक्षण समिति के श्री देवेन्द्र कुमार गुप्त; श्री माली मरिअप्पा; श्री रा. कृ. पाटील; पानीपत स्थित खादी आश्रम के श्री सोमदत्त विद्यालंकार; आंगुल (उड़ीसा) स्थित बाजीराउत छात्रावास की श्रीमती मालती देवी चौधरी; राजपुरा के कस्तूरबा सेवा मन्दिर की मंत्रिणी बीबी अम्तुस सलाम; बिरादी (पश्चिम गाल) स्थित अभय आश्रम के डाक्टर नृपेन्द्र नाथ बोस; गुजरात प्रदेश कांग्रेस कमेटी (अहमदाबाद) की उपाध्यक्षा श्रीमती मणिबेन पटेल; हैदराबाद स्थित हैदराबाद खादी समिति के अध्यक्ष स्वामी रामानन्द तीर्थ; और श्री के. एन. पण्ड्या, नयी दिल्ली।

संसद सदस्य श्री कमल नयन बजाज, बंबई; श्री जी. एस. मलकटे, हैदराबाद; और श्री देवकी नन्दन नारायण, जलगांव (महाराष्ट्र)।

*   *   *

विनोबाजी का नया आन्दोलन

गत १८ अप्रैल को भूदान आन्दोलन की बारहवीं वर्षगांठ पर आचार्य विनोबा भावे ने घोषणा की कि देश में सामाजिक तथा आर्थिक प्रगति को तीव्र बनाने के लिए वे **त्याग यात्रा** प्रारम्भ करेंगे।

*   *   *

एक करोड़ टन कोयला मिला

मध्य प्रदेश के उद्योग मंत्री श्री नरसिंह राव दिक्षित के कथनानुसार मध्य प्रदेश में सिंगरौली के आसपास आठ मील के घेरे में एक करोड़ टन से भी अधिक कोयला मिलने का पता लगा है।

*   *   *

कोसी पर नया पुल

केन्द्रीय यातायात और संचार मन्त्री श्री जगजीवन राम ने गत २८ अप्रैल को कोसी पर बननेवाले ३,३०० फुट लम्बे पुल का शीलान्यास किया। पुल पर २ करोड़ ३९ लाख रुपये खर्च होंगे और वह १९ महीने में बनकर तैयार हो जायेगा।

*   *   *

दो नये ऋण जारी

भारत सरकार ने २९ अप्रैल को दो नये कर्ज चालू किये हैं। इनमें से एक लघु-कालीन ऋण है, जिस पर ४ प्रति शत ब्याज होगा और वह १९६९ में वापिस चुकाया जायेगा तथा ९९.५० रुपये की दर पर प्रचालित किया जायेगा। दूसरा दीर्घ-कालीन ऋण है, जो १९८६ में वापिस किया जायेगा। उस पर ४.९ प्रति शत ब्याज मिलेगा और वह सममूल्य पर प्रचालित किया जायेगा। वे व्यक्ति जिनके पास ३.५ प्रति शतवाले १९६३ के बाण्ड और १९६३-६५ के ३ प्रति शतवाले ऋण-पत्र हैं, उन्हें उक्त ऋणों में परिवर्तित करवाने की सुविधा दी गयी है।

*   *   *

एवरेस्ट पर चढ़ाई

हिमालय पर्वत की २९,०२८ फुट की ऊँचाईवाली एवरेस्ट चोटी की चढ़ाई करनेवाले अमेरिकी दल की एक दो-सदस्यीय टुकड़ी १ मई को एक बजे उक्त शिखर पर चढ़ने में सफल हो गयी।

*   *   *

राहुल सांस्कृत्यायन का देहांत

प्रसिद्ध विद्वान और इतिहासकार पंडित राहुल सांस्कृत्यायन का गत १४ अप्रैल को स्वर्गवास हो गया। आपकी आयु ७० वर्ष थी।

*   *   *

सम्पादक : सुभाष चन्द्र सरकार द्वारा खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय,' इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई-५६ से प्रकाशित तथा मुद्रित। मुद्रण-स्थल : एसोसिएटेड एडवर्टाइजर्स एण्ड प्रिण्टर्स, ५०५, तारदेव, आर्थर रोड, बम्बई-३४।
वार्षिक शुल्क : २.५० रुपये; एक प्रति : २५ नये पैसे।

खादी ग्रामोद्योग
ग्रामीण जीवन, समाज और अर्थशास्त्र विषयक मासिक

नवम वर्ष · जून १९६३ · नवम अंक

सम्पादक : सुभाष चन्द्र सरकार। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के लिए सुभाष चन्द्र सरकार द्वारा मुद्रित और प्रकाशित।

ग्रामीण विकास तथा समाजार्थिक व्यवस्था पर लिखे लेखों को कमीशन की पत्रिकाओं में सहर्ष स्थान दिया जायेगा, बशर्ते वे ग्रामीण विकास के ध्येय से लिखे गये हों। फिर भी, प्रत्येक लेख के छापने का आश्वासन नहीं दिया जा सकता। लेखकों को किसी अंश में पुरस्कृत करने का भी प्रबन्ध किया जा सकता है। लेख, पुस्तकों की समीक्षा आदि सम्पादक, 'खादी ग्रामोद्योग', खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय,' इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई–५६ के पते पर भेजें। टेलिफोन नं. ८६७७३।

इस पत्र में प्रकाशित लेखों में प्रकट किये गये विचार खादी और ग्रामोद्योग कमीशन अथवा सम्पादक के न होकर लेखक के हैं। सम्पादक अथवा कमीशन के विचार जहां-कहीं भी हैं, उनका उल्लेख कर दिया गया है।

वार्षिक शुल्क : २.५० रुपये; एक प्रति : २५ नये पैसे। चन्दे की रकम इस पते पर भेजी जानी चाहिए : सहायक एकाउण्ट्स ऑफिसर (कैश), खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय', इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई–५६

इस अंक के लेखक

उछरंगराय नवलशंकर ढेबर	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अध्यक्ष ।
वैकुण्ठ ल. मेहता	–खादी और ग्रामोद्योग मण्डल के सदस्य ।
अन्नदा प्रसाद चौधरी	–कलकत्ता निवासी, खादी और ग्रामोद्योग मण्डल के सदस्य ।
हबीबुर रहमान	–अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में लेक्चरर।
दत्तात्रेय नाथोबा दान्द्रेकर	–भूतपूर्व बम्बई सरकार में उप-मन्त्री और सुप्रसिद्ध सामाजिक कार्यकर्त्ता ।
सत्य रंजन सेन	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के कलकत्ता स्थित निर्देशक (रेशम खादी) ।
जगदीश नारायण वर्मा	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन में प्रचार उप-निर्देशक।
वेदनभट्ल सीतारामय्या	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के भुवनेश्वर स्थित निर्देशक ।
जागेश्वर गोपाल श्रीखण्डे	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की वर्धा स्थित जमनालाल बजाज केन्द्रीय ग्रामोद्योग अनुसंधानशाला के निर्देशक ।
गोकुल ओछवलाल परीख	–अहमदाबाद स्थित प्रयोग समिति के अम्बर अनुसंधान विभाग में वरिष्ठ अर्थ अनुसंधानकर्त्ता।
त्र्यम्बकलाल भगवानदास भट्ट	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन में अनाज तथा दाल प्रशोधन उद्योग निर्देशक।
रतिलाल महेता	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के प्रचार निर्देशालय में सहायक सम्पादक।
मूक्तेवी वीर राघव राव	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन में सम्पर्क अधिकारी (सहकार)।
विमल शाह	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की सघन क्षेत्र योजना (गुजरात) के अहमदाबाद स्थित विकास अधिकारी।
वेंकट सुब्रह्मण्य अय्यर	–बम्बई में पेण्ट तकनालॉजिस्ट ।

भारतीय अर्थ-व्यवस्था के चार स्तम्भ

उछरंगराय न० ढेबर

प्रतिरक्षात्मक साज-सामान, अत्यावश्यक रसद, निर्यात सामग्री, रोजगारी और प्रति व्यक्ति आमदनी में जो कमियाँ हैं, उन्हें दूर करके ही राष्ट्रीय प्रतिरक्षा का सफल संगठन किया जा सकता है।

देश की विदेशी आक्रमण से रक्षा करने के सम्बन्ध में व्यापक चर्चा चलती रही है। प्रस्तुत लेख का उद्देश्य प्रतिरक्षा के एक पहलू पर जोर देना है, जो स्वतः प्रत्यक्ष है। यह स्पष्ट है कि राष्ट्र जब तक विभिन्न क्षेत्रों में जो कमियाँ अथवा त्रुटियाँ हैं उन्हें दूर नहीं कर लेता, तब तक वह सफलतापूर्वक अपनी रक्षा नहीं कर सकता। विभिन्न क्षेत्रों की ये कमियां उनकी प्राथमिकता के अनुसार इस प्रकार हैं: (१) प्रतिरक्षा-सम्बधी साज-सामान, जैसे हथियार वगैरह, में कमी; (२) अत्यावश्यक रसद में कमी; (३) निर्यात-योग्य सामग्री में कमी; (४) रोजगारी में कमी; और (५) **प्रति व्यक्ति** आय में कमी। प्रतिरक्षात्मक साज-सामान को सर्वाधिक प्राथमिकता देनी पड़ेगी, लेकिन केवल इसी एक क्षेत्र में ही कमी दूर करके प्रतिरक्षा कार्य का सफलता पूर्वक संगठन करना प्रायः असम्भव ही है। यदि अन्य क्षेत्रों पर ध्यान नहीं दिया जाय तो अर्थ-व्यवस्था के अव्यवस्थित हो जाने का हर दृष्टि से खतरा है, जिससे राष्ट्र की प्रतिरक्षा सम्बन्धी सामर्थ्य अथवा क्षमता पर बहुत बुरा असर पड़ सकता है।

वास्तविक चुनौती

यदि हम अन्य चार कमियों का अध्ययन करें तो पायेंगे कि उनका एक सामान्य कारण है—ग्रामीण समाज की समय के साथ आगे बढ़ने में असमर्थता। इससे उन्हें एक ऐसा नेतृत्व न मिलने की कमी सामने आती है कि जो उन्हें एक सुनिश्चित मार्ग-दर्शन देकर आगे बढ़ने में समर्थ बना सके। इस कमी को दूर करना होगा। लेकिन यह कमी तब तक दूर नहीं की जा सकती, जब तक कि राष्ट्र-नायक इस बुनियादी सत्य को स्वीकार न कर लें कि भारत के किसान को अपनी अर्थ-व्यवस्था में पुनः प्राण फूंकने के लिए जिस नेतृत्व अथवा मार्ग-दर्शन की आवश्यकता है वह नहीं मिल रहा है। दूसरे शब्दों में अब तक हम आदमी को छोड़ गये यानी भूल गये हैं, जिसे काम करना है; और निवेश तथा उत्पादन के सम्बन्ध में बहुत ज्यादा सोचा है। बुनियादी उत्पादक यानी कृषक में आत्मविश्वास तथा जी लगाकर काम करने की भावना जागृत करने और काम को पूरा करने हेतु उसे मनोवैज्ञानिक व भावात्मक रूप से उसके लिए उचित बनाने के सम्बन्ध में भारतीय नेतृत्व में कितनी क्षमता है, यही आज के समय की वास्तविक चुनौती है।

कृषि की आवश्यकता

अत्यावश्यक रसद की कमियों में कृषि के क्षेत्र में कमी सबसे बड़ी अड़चन सिद्ध हो सकती है। स्वतः हमारी दृष्टि कृषक पर पड़नी चाहिए। भारतीय अर्थ-व्यवस्था के अन्तिम चित्र के सम्बन्ध में हम चाहे जो सोचें या कल्पना करें, असल में **किसान ही भारत का भाग्य-विधाता है।** यहाँ तक कि औद्योगिक विकास भी इसी **भाग्य-विधाता** पर निर्भर करता है। खाद्य और कृषि मंत्रालय की माँगों पर हुई बहस का उत्तर देते हुए केन्द्रीय खाद्य

और कृषि मंत्री ने संसद में एक कृषक कक्ष (लॉबी) होने की आवश्यकता प्रकट की थी। संसद में इस प्रकार की लॉबी का होना अच्छा होगा। लेकिन लॉबी क्षेत्र को भी किसान की वास्तविक आवश्यकताएँ समझनी चाहिए।

किसान को अच्छी जमीन, पर्याप्त जल, मजबूत और चंगे बैलों, उन्नत बीज, पर्याप्त खाद, ऋण तथा उपयुक्त लाभ की आवश्यकता है। इनमें से अधिकांश चीजें प्राप्त करने की जी तोड़ कोशिश की जा रही है। लेकिन उनसे अपेक्षित फल-प्राप्ति नहीं होती। इसका सीधा-सादा कारण यह है कि सर्वप्रथम हमें आत्मविश्वासी किसान की जरूरत है। इसके विपरीत मनुष्य और प्रकृति दोनों इस विश्वास की जड़ें खोखली करने में परस्पर मिले हुए हैं। सूर्य की तेज किरणों से उसके खेत लाल तवे बन जाते हैं। उनकी जीवनी शक्ति नष्ट हो जाती है। वे जड़, निष्प्राण व उत्स्रावित शेष रह जाते हैं। कृषि के लिए अत्यधिक सहायक, तरी और वनस्पति तत्व, वाष्पित तथा आदग्ध हो जाते हैं। राष्ट्र की इस संबंध में सबसे बड़ी देन, वन उन्मूलित हो रहे हैं। जानबूझ कर तथा अविवेकपूर्ण ढंग से जंगलों को इस प्रकार नष्ट किया जा रहा है कि भारतीय भूमि के लिए तरी तथा वनस्पति तत्वों का यह एक मात्र स्रोत कुछ वर्ष बाद ही समाप्त हो जायेगा। आवश्यक मात्रा में तो वह अब भी नहीं है।

गायों की संख्या कम करने का भी एक सुनिश्चित, अनवरत और सोचा-समझा हुआ प्रयास हो रहा है। जमीन को तरी पहुँचानेवाला यह एक दूसरा स्रोत है। यह भी समाप्त हो रहा है। काफी शक्ति लगाकर जल-स्रोत प्राप्त किये जा रहे हैं, उन्नत बीजों की वृद्धि और उर्वरकों की सप्लाई की जा रही है, लेकिन किसान प्रशासनात्मक कार्य-प्रणालियों के कारण पंगु बनाया जा रहा है। ऋण की कमी और बाहुल्य दोनों हैं। जहाँ कमी है, वहाँ उसकी प्राप्ति शायद ही समय पर होती हो और जहाँ बाहुल्य है वहाँ वह किसान को अपने बोझ से दबा देता है। जिस चीज की जरूरत है वह लॉबी अथवा कक्ष नहीं है, बल्कि एक ऐसा नेतृत्व है जो इन सब बातों को सही रास्ते पर ला दे और साथ ही इस बात के प्रति पूर्णरूपेण सजग हो कि इन सब बातों का देश की प्रतिरक्षा से बहुत गहरा सम्बन्ध है।

सुसंयोजित उपागम आवश्यक

इस प्रकार की उद्देश्य-पूर्ति अथवा परिपूर्णावस्था अकेली कृषि की ही समस्या पर ध्यान देने से प्राप्त नहीं हो सकती। हमें समस्या पर प्रत्येक दृष्टि से विचार करना होगा, उसे समझना होगा और तदनुसार सभी दृष्टियों से कार्यवाही करनी होगी। यदि हमें जमीन की उर्वरकता पुनः प्राप्त करनी है अर्थात् उसे पुनः उपजाऊ बनाना है, तो वनों का होना अपरिहार्य है। यदि भूमि के वनस्पति-तत्व अन्ततोगत्वा नष्ट होते हैं तो फिर सिंचाई आदि पर करोड़ों रुपया खर्च करने से लाभ! इसी कारण को लेकर पशु-पालन अत्यावश्यक है और इसी प्रकार खाद तथा लघु स्तरीय उद्योग। अनुवर्ती से उसे कुछ नकदी व प्रशोधित माल की प्राप्ति होगी। पशु-पालन से उसे अपनी जमीन के लिए प्रांगारिक खाद, हल खींचने के लिए शक्ति और कुछ दूध, मट्ठा तथा उसके बच्चों के लिए कुछ मक्खन भी प्राप्त होगा। जंगल एक तरह से खेती की माँ है। वह जमीन में जो जीवाणु सम्बन्धी तथा रासायनिक जनन-शक्ति खर्च हो जाती है वह पुनः भर देता है। दोनों एक साथ मिलकर वे बेरोजगारी कम करेंगे, **प्रति व्यक्ति** आमदनी बढ़ायेंगे तथा यहां तक कि निर्यात करने योग्य कुछ अतिरिक्त माल की उपलब्धि भी करवा सकेंगे। प्रस्तुत स्थिति में इस अतिरिक्त माल की प्राप्ति मुख्यतः कृषि क्षेत्र से ही हो सकती है। अतएव यही कारण है कि विनोबाजी इन सबको प्रतिरक्षात्मक उपाय कहते हैं।

अलग-अलग रहकर न तो कृषि ही पनप सकती है

और न वन तथा खादी व लघु स्तरीय उद्योग ही। खादी और ग्रामोद्योग यदि कृषि तथा जंगलों के मुख्य उद्देश्य की पूर्ति नहीं करते हैं, तो अधिक दिनों तक जीवित नहीं रह सकते। कृषि, जंगल और पशु-पालन से ही तो खादी तथा ग्रामोद्योगों को आवश्यक कच्चा माल मिलता है। वे एक ही भूमिका प्रभावशाली ढंग से अदा कर सकते हैं और वह है कृषि के सहायक की भूमिका। अतएव खादी और ग्रामोद्योगों के प्रति कोई एकांगी यानी संकुचित दृष्टिकोण अथवा उपागम स्वयम् खादी तथा ग्रामोद्योगों के उद्देश्य के लिए ही बड़ा भयावह होगा अर्थात् ऐसा उपागम अपनाना उनके पैरों पर कुठाराघात करना होगा। इस प्रकार प्रतिरक्षा की समस्याएँ बुनियादी रूप से कृषि को शक्तिशाली बनाने की समस्याएँ हैं। इस दृष्टि से वृक्षारोपण, पशु-पालन व खादी-ग्रामोद्योगों से बढ़कर कोई दूसरी उनके समान शक्तिशाली, प्राणवान वस्तु नहीं है।

सिद्धान्त और व्यवहार

यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से इस पर कोई विवाद नहीं उठाता, लेकिन सिद्धान्त को व्यवहार में लाने का शायद ही कोई प्रयास हो। व्यवहार में विभिन्न क्षेत्रों को कितना महत्व दिया गया है इसके लिए हमें केवल राष्ट्र के बजट और विभिन्न राज्यों के अनुमान-पत्रों में उनके लिए कितनी निधि नियत की गयी है, उसकी तुलना भर कर लेनी है। हमें प्रशासक के मनोविज्ञान को देखना होगा। जहाँ-कहीं सरकारी खर्च में कमी का प्रस्ताव आता है, कुल्हाड़ी पहले इन्हीं पर चलती है। अन्य विषय जो प्राधान्य प्राप्त करते हैं वह इस बात का प्रमाण है कि हम इन विषयों को गौण स्थान देते हैं। मानव मस्तिष्क को शहरीकृत बनाने के नपे-तुले प्रयास स्वयम् उक्त कथन के प्रमाण हैं। जिस प्रकार के राष्ट्रीय जीवन को हम प्रोत्साहन देते हैं, वह एक दूसरा प्रमाण है। ये सब आर्थिक, मनोवैज्ञानिक और भावात्मक दृष्टि से कृषि के लिए अनुत्प्रेरणाओं का काम करते हैं।

अतएव यथार्थवादी उपागम केवल यही होगा कि हम इस बात को महसूस करें कि हमारी औद्योगिक क्षेत्र की प्रगति भी कृषि अर्थ-व्यवस्था पर निर्भर है और कृषि की प्रगति बुनियादी उत्पादक अर्थात् किसान को पुनर्स्थापित करने पर आश्रित है।

दो सबसे बड़ी कमियाँ

यदि उक्त निष्कर्ष वैध अर्थात् सही है तो भारत सरकार को उसका सुयोजित ढंग से अनुकरण करना होगा। देश की स्वयम् प्रतिरक्षात्मक क्षमता के सामने ही आज प्रश्नवाचक चिह्न लगा हुआ है। जिन अनेक समस्याओं को हम समाधान के लिए हाथ में लेते हैं, उनमें जमीन को उर्वरक बनाने और किसान का अपने पेशे में पुनः विश्वास पैदा करने की समस्याओं पर सबसे कम ध्यान दिया जाता है। हम जिन दो सबसे बड़ी कमियों का सामना कर रहे हैं वे हैं, जमीन की निम्न उर्वरकता और कृषक की गरीबी।

कोई भी देश दूसरों के बल पर अपनी आजादी की रक्षा करने में समर्थ नहीं रहा है। दूसरे, ज्यादा से ज्यादा अस्थायी तदबीर ही प्रदान कर सकते हैं। भारत में कृषि कभी भी जंगल, पशु-पालन व प्रशोधन उद्योगों से अलग नहीं की गयी। वे सभी सहायक हैं, एक दूसरे के पूरक। ये सब मिलकर कृषि का निर्माण, विकास करते हैं। वृक्षारोपण पशु-पालन का अग्रगामी है, तो पशु-पालन कृषि का और कृषि ग्रामोद्योगों की तथा ग्रामोद्योग एक सृजनशील एवम् समृद्ध किसान के। ये सब मिलकर भूमि व कृषक समुदाय को पुनः प्राणवान बनाते हैं, उनमें जीवनी शक्ति भरते हैं, प्राण फूंकते हैं।

बम्बई : १ जून १९६३ ●

शहरीकरण और ग्रामोद्योग

वैकुण्ठ ल. मेहता

यद्यपि हमारी पंच वर्षीय योजनाएँ बारह वर्ष से चल रही हैं, किन्तु उनकी रूपरेखा, स्वरूप, विषय-वस्तु, क्षेत्र आदि आज भी भारत से पूर्व तथा पश्चिम के अनेक देशों और अमेरिकी महाद्वीप में गहरी दिलचस्पी पैदा करते हैं। भारतवासियों की तरह ही समय-समय पर विदेशियों द्वारा अध्ययन सर्वेक्षण होते हैं। अनुवर्ती श्रेणी में ब्रुकिंग इन्स्टीटयूशन का एक नया प्रकाशन* आता है, जोकि लेखक द्वारा १९५८–१९६० के बीच की अवधि में किये गये एक अध्ययन का परिणाम है। पुस्तक के लेखक प्रोफेसर जॉन पी. लुईस १९५९ में भारत आये थे और वे यहाँ १९६० तक रहे। अपने भारत प्रवास काल में प्रोफेसर लुईस ने योजना आयोग तथा अन्य संस्थाओं से सम्पर्क किया। आयोजित आर्थिक विकास के झुकावों, उपनतियों का सर्वेक्षण करना और इस बात का निदर्शन करना उक्त अध्ययन का उद्देश्य था कि इस विकास के विभिन्न पहलुओं के प्रति संयुक्त राज्य अमेरिका की उपयुक्त नीति क्या हो सकती है, जैसा कि उप-शीर्षक से पता चलता है। पुस्तक के ३३६ पृष्ठों में विभिन्न विषयों का विवेचन किया गया है। पुस्तक में १३ अध्याय हैं। उनमें से मुख्यतः दो अध्यायों में अलग से और एक कृषि के लिए आयोजनवाले अध्याय में हमारी ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की स्मस्याओं पर विचार किया गया है, इसलिए प्रस्तुत लेख में हम इन्हीं उक्त अध्यायों पर विचार करेंगे।

खेती की समस्या सम्बन्धी–'दि एग्रीकल्चर पजल'–कृषि-विषयक अध्याय इस पर्यवेक्षण के साथ समाप्त होता है कि कृषि-विषयक नीति का आवश्यक पुनर्निर्देशन सम्भवतः विशुद्ध कृषि-विषयक ही नहीं हो सकता; कृषि की रूपरेखा अथवा स्वरूप महत्वपूर्ण रूप से ही गैर खेतिहर धंधों के विकास पर निर्भर करता है। उद्योगों की स्थापना में शहर की भूमिका सम्बन्धी अनुवर्ती अध्याय के प्रारम्भ में ही उक्त विचार पर जोर दिया गया है। प्रोफेसर लुईस लिखते हैं, "यह स्पष्ट बात है कि एक ही प्रकार के भौगोलिक क्षेत्र में कृषि विकास, औद्योगिक विकास और गैर खेतिहर तथा गैर औद्योगिक विकास परस्पर एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। परन्तु भारत के शासन में कार्यकारी विभाजन की जो विशेषता पायी जाती है, उसके कारण उपर्युक्त तथ्य कुछ अस्पष्ट हो जाता है।" तृतीय पंच वर्षीय योजना के प्रतिवेदन पर संतुलित क्षेत्रीय विकास सम्बन्धी अध्याय और रोजगारी तथा जन-शक्ति पर विचार करनेवाला अध्याय इस बात के प्रमाण हैं कि जहाँ तक योजना आयोग का सम्बन्ध है, उसमें कोई संकुचित दृष्टिकोण अथवा कूपमण्डूकता नहीं पायी जाती। कूपमण्डूकता समाप्त कर समन्वित प्रयासों को प्रोत्साहन देने यानी प्रेरित करने के लिए दस वर्ष पूर्व सामुदायिक विकास कार्यक्रम बनाया गया। प्रोफेसर लुईस के अनुसार अपेक्षित फल-प्राप्ति नहीं हुई है। यही उद्देश्य लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के कार्यक्रम में भी निहित है, जो कि अधिक सफल सिद्ध हो सकता है; क्योंकि पंचायत राज की प्रक्रिया में लोक भागीदारी अधिकतम सीमा तक प्राप्त होने की सम्भावना है।

जैसा कि हम में से अनेकों का विचार है, प्रोफेसर

* जॉन पी. लुईस: **क्वाएट क्राइसिस इन इण्डिया–इकनॉमिक डेवलपमेंट एण्ड अमेरिकन पॉलिसी;** ब्रुकिंग्स इन्स्टीट्यूशन (वाशिंगटन डी. सी.); मूल्य : ५.७५ डालर।

लुईस भी कृषि-औद्योगिक विकास पर कई स्थानों पर जोर देते हैं। यदि कृषि-औद्योगिक विकास का कोई विशेष अर्थ होता है, तो उसका लक्षणार्थ है कृषि और उद्योगों के बीच सम्बन्ध-श्रृंखला स्थापित करना। वैसी हालत में उद्योगों का प्राथमिक आधार स्थानीय रूप से उत्पादित कृषि सामग्री हो सकती है। तब फिर, प्रधान मकसद इस बात की सुनिश्चितता होना चाहिए कि इस प्रकार की सामग्री का प्रशोधन अथवा उससे पक्का माल इस ढंग से यानी ऐसे उपकरणों और तकनीकों की सहायता से तैयार किया जाय कि फलस्वरूप सम्बद्ध क्षेत्र के लोगों को उपयुक्त उत्पादनशील काम मिले और वहाँ की अत्यावश्यक उपभोक्ता सामग्री की पूर्ति हो। फिर भी, इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था प्रोफेसर लुईस को बहुत ही ग्राम-केंद्रित लगती है। उनके अनुसार ग्राम-केंद्रित औद्योगीकरण, शहर अर्थात् नगर-केंद्रित औद्योगीकरण का कोई वास्तविक विकल्प नहीं है, जो कि न केवल भारत में बल्कि औद्योगिक दृष्टि से संसार के सर्वाधिक विकसित देशों में भी आज एक सर्व प्रमुख ढाँचा है। हर स्थान पर नगर और कस्बों में श्रमिक विस्थापन के लिए एक प्रलोभन होता है। यह दृष्टिकोण अख्तियार करने में प्रोफेसर लुईस सम्भवतः भारत की आबादी, ग्राम और शहरों के अनुपात तथा कृषि-गैर-कृषि-धंधों के अनुपात को दृष्टि-ओझल कर देते हैं। पिछले दस वर्ष में उद्योग, वाणिज्य तथा व्यवसाय के क्षेत्र में हुई प्रगति, यातायात तथा अन्य सेवाओं के क्षेत्र में हुए विकास और तीसरी श्रेणी के धन्धों की संख्या में हुई महान् वृद्धि के बावजूद उक्त दोनों अनुपातों में व्यवहारतः कोई अंतर नहीं आया है।

कृषि-औद्योगिक विकास

इस बात से कोई असहमत नहीं हो सकता कि छोटे और बड़े शहरों का विकास किया जा सकता है तथा किया जाना चाहिए। वस्तुतः योजना आयोग की ग्रामीण उद्योग योजना समिति के तत्वावधान में कोई पचास केंद्रों में जो कार्यक्रम बनाया जाना है, उसमें सभी प्रकार के कुटीर एवम् लघु स्तरीय उद्योगों को एक सुसम्बन्धित ढंग से प्रोत्साहन देने की निश्चित व्यवस्था है, ताकि स्थानीय श्रम-शक्ति को उनमें काम मिल सके व स्थानीय साधन-स्रोतों का परिपूर्ण उपयोग हो सके। लेकिन ऐसे उद्योग जो क्षेत्र की आबादी के लिए आवश्यक उपयोगी सामग्री तैयार करने में लग सकते हैं, बाहर से कच्ची सामग्री मँगवाकर व्यवहार में लाये तो उसे नियम-विरुद्ध अथवा असंगत नहीं ठहराया गया है और न ही आधुनिक तकनीकों के उपयोग पर कोई रोक है। स्थान-निर्धारण में भी कोई कठिनाई नहीं आनी चाहिए; वस्तुतः कार्यक्रम में इस बात की कल्पना की जाती है कि फिलहाल ग्राम अथवा कुटीर उद्योगों की श्रेणी में आनेवाले चंद उद्योगों की उत्पादन इकाइयाँ विकास खण्ड अथवा उसके बाहर के शहरों में स्थापित करनी पड़ सकती हैं।

लघु स्तरीय उद्योग

यह प्रश्न फिर भी शेष ही रहता है कि इस औद्योगिक विकास का स्वरूप क्या हो, उसकी कार्य-प्रणाली अथवा ढाँचा क्या हो। एक स्थान पर प्रोफेसर लुईस हाल ही में किये गये लघु स्तरीय उद्योगों के एक अध्ययन की मालूमातों का हवाला देते हैं जहाँ जाँच से पता चला है कि लघु स्तरीय उद्योगों में प्रति पूंजी इकाई अधिक श्रम-उपयोग है; श्रम का उपयोग कम कुशलता के साथ होता है, और फिर यह कि पूंजी का उपयोग संगठित उद्योगों की अपेक्षा अधिक कुशलता के साथ नहीं होता। वे शहरों से दूर श्रमिकों को रोजगारी के अधिक अवसर प्रदान करते हैं, पूंजी इकाई इस प्रकार की होती है कि वह छोटे उद्यमशील व्यक्तियों को अवसर प्रदान करती है। वे नियंत्रण सकेंद्रण से बचते हैं—ये चंद लाभ हैं, जिन पर उक्त प्रकार के औद्योगिक विस्तार को प्रोत्साहन देते वक्त ध्यान देना चाहिए। और फिर, चूंकि इन उद्योगों में छोटे आकार-प्रकार के सीधे-सादे, सरल यंत्रों का व्यवहार हो सकता है, इसलिए इस प्रकार

के उद्योगों में विदेशी विनिमय की निर्भरता कम हो सकती है। इसके अलावा, शारीरिक श्रम तथा पथ निर्देशन के लिए आवश्यक प्राविधिक कुशलता अधिक आसानी से प्राप्त हो सकती है। स्थान-स्थान पर नये औद्योगिक प्रतिष्ठान खुलने अथवा बड़े-बड़े नगरों से दूर बड़े उद्योगों की छोटी-छोटी इकाइयाँ स्थापित करने में यह सहायक हो सकता है, परन्तु ग्रामीण क्षेत्रों की जड़ता या गतिहीनता दूर करने अथवा हमारी अर्थ-व्यवस्था को बहुमुखी बनाने में इसका हमारी समग्र अर्थ-व्यवस्था पर पड़नेवाला प्रभाव उतना महत्वपूर्ण नजर नहीं आता, जितना कि प्रोफेसर लुईस समझते या कल्पना करते हैं। इस प्रकार का कदम रोजगारी के अवसर विस्तृत करने की गुंजाइश प्रस्तुत नहीं करता और आर्थिक शक्ति के संकेंद्रण से बचने की दिशा में कोई योगदान नहीं देता।

ग्रामोद्योग

प्रोफेसर लुईस की दृष्टि में यदि लघु स्तरीय उद्योगों के कार्यक्रम के सामने कुछ सीमाएँ हैं, तो योजनाओं में ग्राम तथा अन्य कुटीर उद्योगों के विकास की तो वे और भी कम उपयोगिता पाते हैं। वे उन्हें "पुरानी अथवा अप्रचलित और अयोग्य उत्पादन प्रक्रियाओं पर आधारित होनेवाले" कहकर आलोचना करेंगे। मात्र पारम्परिक होने की वजह से किसी तकनीक को बन्द कर देना तो शायद ही किसी समस्या को वैज्ञानिक आधार पर अथवा दृष्टिकोण से समझना हो सकता है। इसके साथ ही अयोग्यता अथवा अकुशलता या अक्षमता एक ऐसी चीज है, जिसका उसके चारों ओर परिस्थितियों को मद्दे-नजर रखते हुए मूल्यांकन करना पड़ेगा। भारत की कपड़ा मिलें उन स्पष्ट कारणों की वजह से, जिन्हें हमारे आयोजक जानते हैं, जापानी तकनीकें नहीं अपनातीं; और फिर भी उन्हें वित्तीय संरक्षण के चंद लाभ प्राप्त हैं। इसी तरह इंग्लैण्ड का सूती वस्त्रोद्योग जापान की अथवा संयुक्त राज्य अमेरिका की विकसित प्रविधि का अनुकरण नहीं करता। स्वयम् जापान में भी, जहाँ उद्योग के कुछ क्षेत्रों में उत्पादन तकनीकें अधिक विकसित हैं और कीमतें सम्भवतः संसार के अन्य किसी भी स्थान से कम हैं, एक क्षेत्र है जिसमें आज प्राविधिक बेकारी से बचने के लिए जानबूझ कर पुरानी यानी परम्परागत तकनीकों से काम होता है। एक ऐसे देश में जहाँ बेरोजगारी गणना करने के हिसाब में छूटी हुई यानी अवशिष्ट न होकर, जैसा कि प्रोफेसर लुईस सोचते प्रतीत होते हैं, विस्तृत और बहुत अधिक हो वहाँ योजना अधिकारियों का दृष्टिकोण वैसा नहीं हो सकता, जिसे प्रोफेसर लुईस प्राविधिक दृष्टि से न्याय-संगत समझ सकें।

आर्थिक सहायता का स्थान

कई स्थानों पर प्रोफेसर लुईस ग्राम-केंद्रित कार्यक्रम में दी जानेवाली आर्थिक सहायता (सब्सिडी) का उल्लेख करते हैं। हाल ही में भारत में अमेरिकी राजदूत प्रोफेसर जे. के. गॉलब्रैथ ने दीर्घ स्तरीय उत्पादन इकाइयाँ शक्ति के लिए बिजली का उपयोग करती हैं उसके लिए जो बिल चुकाती हैं, उस सम्बन्ध में प्राप्त आर्थिक सहायता के तत्व की ओर महत्वपूर्ण ध्यान आकर्षित किया था। कुछ इस प्रकार व्यवस्था की गयी है कि निर्माण और वितरण के लिए उत्तरदायी माध्यम को लागत तथा देनगी के बीच का जो अन्तर होता है, उसे अन्य प्रकार के उपभोक्ताओं पर देनगी की दर बढ़ाकर बराबर करना पड़ता है। अथवा यदि सम्बद्ध इकाई सार्वजनिक विभाग में हुई तो उसे या तो आमदनी कम करनी होगी या राजकोष के लिए नुकसान बढ़ाना पड़ेगा। कुटीर अथवा लघु स्तरीय उद्योगों को बिजली प्रदान करने से नुकसान का परिमाण बहुत कम होगा।

आर्थिक सहायता के पीछे, यदि दी जाय तो, राष्ट्रीय आयोजन के दो विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति का अभिप्राय होता है: (१) रोजगारी के अवसर विस्तृत करना; और (२) आय का सुवितरण करना तथा आर्थिक शक्ति को बहुमुखी बनाना। उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ही दीर्घ स्तरीय उद्योगों के विस्तार पर रोक लगायी

जाती है अथवा प्राविधिक परिवर्तन की गति को नियमित रखने का प्रयास किया जाता है। कुछ स्थानों पर योजना अधिकारियों ने लघु उत्पादन इकाइयों के लिए—चूंकि वे मानवीय शक्ति से चलती हैं इसलिए या तो वास्तव में अधिकाधिक लोगों को रोजगारी प्रदान करती हैं अथवा उनमें ऐसा करने की क्षमता है—कुछ क्षेत्र सुरक्षित रखने का जो विस्तृत चुनाव किया है, उसके लिए प्रोफेसर लुईस उनका उपहास करते हैं।

कुछ ऐसे धन्धे हैं जो यहाँ की भूमि के लिए स्वदेशी अर्थात् अपने हैं, जो आज भी प्रचलित हैं और जो किसी राहत कार्य—जैसे दुर्भिक्ष अथवा भूखमरी के दिनों में पत्थर फोड़ना या सड़क-निर्माण के लिए रोड़ी फोड़ना आदि—के समान नहीं हैं। जिन उद्योगों को प्रोत्साहन देना तथा किसी हद तक संरक्षण प्रदान करना चाहा गया है, वे देहातों में पारम्परिक तौर पर चलनेवाले उद्योग हैं, जो ग्रामीण क्षेत्रों में ऐसी उपभोग की वस्तुओं की पूर्ति करते हैं जिनकी आम तौर पर मांग रहती है और वे समग्र रूप से मिलकर किसी भी दृष्टि से कुल राष्ट्रीय आमदनी में कोई मामूली योगदान नहीं देते। प्रोफेसर लुईस 'कृषि-औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था' शब्दों का अक्सर प्रयोग करते हैं। यदि इस वाक्यांश का कोई महत्व है तो इसमें गैर यांत्रीकृत उद्योग आ ही जाते हैं, जो कि अपने क्षेत्र में प्राविधिक दृष्टि से समर्थ यानी सक्षम और आर्थिक दृष्टि से प्राणवान हैं। जैसा कि प्रोफेसर लुईस लिखते हैं कि इनका आधार होगा, "कृषि को शक्तिशाली बनाना और औद्योगिक विस्तार करना, तथा कुटीर एवम् लघु स्तरीय उद्योगों को प्रोत्साहन प्रदान करनेवाले प्रयासों को ठोस बनाना।"

संयुक्त उत्पादन कार्यक्रम

प्रोफेसर लुईस ने "कृषि, ग्रामोद्योग तथा अन्य कार्यक्रमों को खण्ड स्तरीय कस्बों तक केंद्रित करने और साथ ही साथ प्रमुख नये उद्योगों की स्थापना कम से कम जिला स्तरीय शहरों तक विकेन्द्रित करने के" दोहरे कार्यक्रम की जो अपील की है उससे सहमति प्रकट की जा सकती है। लेकिन अर्थ-व्यवस्था के इस प्रकार के बहुमुखीपन के लिए राष्ट्र को कीमत चुकानी पड़ेगी। वह कीमत तकनालॉजी के विभिन्न स्तरों पर उत्पादनशील इकाइयों अर्थात् केंद्रों के लिए संयुक्त उत्पादन कार्यक्रम निर्धारित करने और इस प्रकार के कार्यक्रम में जो पाबन्दी अथवा आर्थिक सहायता निहित है, उसके रूप में चुकानी पड़ेगी।

बम्बई : १६ मई १९६३

प्रमुख फसलों की उपज दर साधारणतया समग्र भारत से पश्चिम बंगाल की ऊँची है। फिर भी, कई राज्यों की दरों से उनकी तुलना करने पर वे नीची हैं। उदाहरणार्थ १९५७–५८ में पश्चिम बंगाल में चावल की प्रति एकड़ उपज ८७० पौण्ड (भारत की ७०४ पौण्ड) थी, जबकि मद्रास की १,२५२ पौण्ड; मैसूर की १,११० पौण्ड; और आन्ध्र प्रदेश की १,११४ पौण्ड। इसी प्रकार जूट की पैदावार पश्चिम बंगाल में ९६४ पौण्ड प्रति एकड़ (भारत में ९३२ पौण्ड) थी, जबकि असम में १,२५४ पौण्ड। इसकी गन्ने की उपज ३,२८३ पौण्ड प्रति एकड़ (भारत की २,८४० पौण्ड) थी, जबकि आन्ध्र प्रदेश में उसकी उपज ५,१०४ पौण्ड; मद्रास में ६,२९४ पौण्ड; बम्बई में ६,३३८ पौण्ड और मैसूर में ५,४०६ पौण्ड थी। तिलहन, ज्वार, तम्बाकू आदि जैसी गौण फसलों की उपज राष्ट्रीय औसत से कम है।

—*टेक्नो-इकनॉमिक सर्वे ऑफ़ वेस्ट बंगाल* : नेशनल काँउन्सिल ऑफ़् अप्लाइड इकनॉमिक रिचर्स, नयी दिल्ली।

पश्चिम बंगाल में रेशम कताई मिल

अन्नदा प्रसाद चौधरी

वस्तु स्थिति का यथा तथ्य मूल्यांकन करते हुए प्रस्तुत लेख में लेखक यह दर्शाता है कि पश्चिम बंगाल में एक और रेशम कताई मिल खोलने की गुंजाइश नहीं है।

मैंने अपने एक पूर्व लेख* में दो बातें रखी थीं : प्रथम, रद्दी रेशम यानी रेशम छीजन के रूप में देश में इतनी कच्ची सामग्री नहीं है कि पश्चिम बंगाल में एक तीसरी रेशम कताई मिल चालू करने के लिए पर्याप्त हो; और द्वितीय, इस परियोजना का पश्चिम बंगाल के कुटीर रेशम (खादी) उद्योग पर बुरा असर पड़ सकता है।

अपने प्रथम लेख में मैंने यह बताया था कि पश्चिम बंगाल में नयी रेशम कताई मिल चालू रखने के लिए राज्य में उपलब्ध रद्दी रेशम अर्थात् रेशम की छीजन पर्याप्त नहीं होगी और उसे जिस-थोड़ी बहुत अतिरिक्त रद्दी रेशम असम से प्राप्त होने की अपेक्षा है उस पर निर्भर रहना पड़ेगा; क्योंकि अकेला पश्चिम बंगाल पैर-चालित चरखों (फिलहाल अकेले मालदा जिले में करीब ३,००० पैर-चालित चरखे हैं, जिन पर रद्दी रेशम की कताई होती है और वे सूतकारों को पूरक आमदनी का स्रोत प्रदान करतें हैं।), तकली सूतकारों और रेशम कताई मिल की रद्दी रेशम सम्बन्धी वर्तमान आवश्यकता की पूर्ति करने की स्थिति में नहीं होगा। इस रद्दी रेशम में रील करने की प्रक्रिया से प्राप्त छीजन और क्षतिग्रस्त कोये भी शामिल हैं। पश्चिम बंगाल में मटका तकली सूतकारों की आवश्यकता पूर्ति के लिए अब भी विद्ध शहतूती कोये मैसूर से मंगवाने पड़ते हैं।

यह भी बताया गया था कि भारत के जल-मार्गीय व्यापार के प्रतिवेदनों के अनुसार रद्दी रेशम का निर्यात १९५९ में ८,१९,१४२ पौण्ड और १९६० में १२,५०,०५७ पौण्ड था, जबकि मैसूर में रेशम कताई मिल बन्द कर दी गयी थी तथा असम स्थित मिल ने काम चालू नहीं किया था। इन दोनों मिलों के पूरी तौर पर चलते रहने से यदि निर्यात बिल्कुल रोक दिया जाय तो भी पता चलेगा कि १९६० में जिस १२ लाख पौण्ड का निर्यात किया था वह उक्त दो मिलों की आवश्यकता पूरी करने के लिए भी पर्याप्त नहीं होगा।

सरकार का रुख

केन्द्रीय श्रम, रोजगारी और योजना मंत्री ने दिनांक १२ नवम्बर १९६२ को मुझे अपने पत्र में लिखा था, "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मंत्री ने हमें सूचित किया है कि असम में रेशम कताई मिल स्थापित करने के प्रस्ताव पर केन्द्रीय रेशम मण्डल ने भी सभी दृष्टियों से विचार किया है— खास करके राज्य के भीतर ही उपलब्ध कच्ची सामग्री और असम में हाथ कताई उद्योग पर पड़नेवाले प्रभाव की दृष्टि से, जहां प्रत्येक परिवार रेशम कीट-पालन से लेकर वस्त्र बुनाई तक की सभी प्रक्रियाएँ करते हुए इस उद्योग को एक संयुक्त इकाई के रूप में चलाता है। मंत्रालय में उपलब्ध जानकारी के अनुसार मिल परिपूर्ण क्षमता भर उत्पादन कार्य प्रारम्भ करने पर प्रति वर्ष दो पालियाँ चलाते हुए २ लाख ४० हजार पौण्ड रद्दी रेशम का उपयोग करेगी। राज्य में कच्ची सामग्री की उपलब्धि

---
* खादी ग्रामोद्योग; सितम्बर १९६२।

४ लाख पौण्ड विद्ध कोया रद्दी रेशम (ऐरी कट कोकून) और २ लाख पौण्ड अन्य प्रकार की रद्दी रेशम की है। इस प्रकार हाथ कताई उद्योग के लिए काफी सामग्री बच रहती है।"

मैंने सदैव यह माना, कहा है कि देश में रेशम और रद्दी रेशम का उत्पादन 'अन्दाज' पर आधारित है। यही बात भारत सरकार द्वारा नियुक्त दासप्पा समिति द्वारा रेशम उद्योग पर प्रस्तुत मूल्यांकन प्रतिवेदन में कही गयी है। हो सकता है ऐसा हो, भारत सरकार के वाणिज्य और उद्योग मंत्रालय द्वारा की गयी खोज के सम्बन्ध में असम सरकार द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदन इस बात की पुष्टि करता है कि कच्चे माल की कमी है; क्योंकि पर्याप्त कच्ची सामग्री के अभाव में असम में रेशम कताई मिल को एक पाली चलाने के लिए भी अन्य राज्यों पर निर्भर रहना पड़ा था। ऐसी रिपोर्ट मिली है कि सितम्बर १९६२ तक असम की मिल ने विभिन्न राज्यों से इस प्रकार रद्दी रेशम की खरीद की: (१) असम से रद्दी पाट रेशम--२,१५० किलोग्राम; (२) असम से रद्दी मूंगा रेशम-- २,३०० किलोग्राम; (३) असम से 'एरी कट' कोये २८,२०० किलोग्राम; (४) कश्मीर से रद्दी कश्मीरी रेशम-- १०,८५० किलोग्राम; (५) मैसूर से रद्दी मैसूरी रेशम-- ४,५०० किलोग्राम; और (६) पश्चिम बंगाल से रद्दी बंगला रेशम-- ११,३७७ किलोग्राम।

'अमूमन' आंकड़े

उक्त विश्लेषण से पता चलेगा कि एक पाली में कुल ५९,३७७ किलोग्राम उपभोग में से २६,७२७ किलोग्राम कच्ची सामग्री कश्मीर, मैसूर और पश्चिम बंगाल से मंगवानी पड़ी थी। यदि ऊपरी खर्च में कमी लाने के लिए मिल में तीन पालियां चलानी पड़ीं तो पर्याप्त मात्रा में आवश्यक कच्ची सामग्री प्राप्त करने का सवाल बिना किसी उत्तर के शेष ही पड़ा रहता है। श्रम, रोजगार और योजना मंत्री द्वारा उद्धृत उक्त प्रतिवेदन में असम में कुल 'एरी कट' कोयों के उत्पादन ४ लाख और अन्य प्रकार के रद्दी रेशम का उत्पादन २ लाख पौंड बताया गया है। यदि उक्त ६ लाख पौण्ड कोयों और रद्दी रेशम में से २ लाख पौण्ड ग्रामीण सूतकारों के लिए छोड़ दिये जाते हैं तो मिल को ४ लाख पौण्ड कच्ची सामग्री उपलब्ध हो सकेगी। यदि राज्य में ४ लाख पौण्ड रद्दी रेशम कताई मिलों के लिए उपलब्ध है तो फिर यह क्या बात है कि असम रेशम कताई मिल को एक पाली काम करने के लिए आवश्यक मात्रा--५९,३७७ किलोग्राम कच्ची सामग्री--में से २६,७२७ किलोग्राम कच्चा माल दूसरे राज्यों से मंगवाना पड़ा। इसलिए क्या यह कहना गलत होगा कि असम में रेशम कताई मिल स्थापित करने के मामले के समर्थन स्वरूप प्रस्तुत शुरू के उत्पादन आंकडे अतिशयोक्तिपूर्ण तथा मात्र 'कल्पना' पर आधारित थे?

लाभदायक इकाई

असम सरकार के उद्योग विभाग के सचिव ने इस सम्बन्ध में भारत सरकार के वाणिज्य तथा उद्योग मंत्रालय के संयुक्त सचिव को एक पत्र लिखा था कि उत्तरी और पूर्वी क्षेत्रों के समग्र रद्दी रेशम का उपयोग करने के लिए उत्तरी भारत में एक और रेशम कताई मिल स्थापित करने की केन्द्रीय रेशम मण्डल की सिफारिश पर असम में सार्वजनिक विभाग के अन्तर्गत एक रेशम कताई मिल स्थापित करने की स्वीकृति दी गयी थी और उक्त योजना असम की द्वितीय पंच वर्षीय योजना में शामिल की गयी थी। उक्त सिफारिश करते वक्त केन्द्रीय रेशम मण्डल ने पश्चिम बंगाल तथा बिहार सरकारों के इसी प्रकार के प्रस्तावों के साथ असम सरकार के प्रस्ताव पर विस्तृत रूप से विचार किया था। परियोजना के वित्तीय पहलू एवम् राज्यों में उपलब्ध कच्ची सामग्री की स्थिति का तुलनात्मक अध्ययन करने पर केन्द्रीय रेशम मण्डल ने ऐसा पाया कि रेशम कताई मिल

असम में एक लाभदायक इकाई हो सकेगी।

उपर्युक्त सन्दर्भ में इस बात पर प्रकाश डालना कठिन है कि केन्द्रीय रेशम मण्डल ने किस प्रकार पश्चिम बंगाल में एक तीसरी रेशम कताई मिल स्थापित करने के लिए ५ लाख रुपये अनुदान की व्यवस्था की।

पश्चिम बंगाल में आवश्यकता नहीं

कुटीरोद्योग के लिए कच्ची सामग्री की कमी का डर आचार्य विनोबा भावे जब मालदा जिले में पधारे तो वहाँ के रद्दी रेशम सूतकारों ने व्यक्त किया था। उन्होंने उनके साथ सहानुभूति प्रकट की थी। हर दृष्टि से कुटीर सूतकारों तथा रद्दी रेशम कताई के जरिये बेरोजगारी कम करने के काम में लगीं संस्थाओं को यह जानकर खुशी होगी कि पश्चिम बंगाल सरकार ने राज्य में एक तीसरी रेशम कताई मिल की स्थापना स्थगित कर दी है, जैसा कि वित्त मंत्री ने अपने बजट भाषण में बताया था और भारत सरकार के वाणिज्य तथा उद्योग मंत्रालय में संयुक्त सचिव ने दिनांक २५ मार्च १९६३ के अपने पत्र में लिखा था कि "पश्चिम बंगाल व बिहार में रेशम कताई मिल स्थापित करने के सम्बन्ध में हमने यह निर्णय लिया है कि जब तक कच्ची सामग्री सम्बन्धी स्थिति में सुधार नहीं हो जाता, कोई नयी मिल स्थापित नहीं की जायेगी। जहाँ तक हम समझते हैं काफी समय तक कोई नयी मिल स्थापित करने की इजाजत नहीं दी जा सकेगी।"

निर्यात के क्षेत्र में मांग होने की दृष्टि से रद्दी रेशम की कताई करके हाथ कताई उद्योग के विकास की पर्याप्त गुंजाइश है। क्या ही अच्छा हो कि इस दिशा में सुसंगठित प्रयास किये जायें और रद्दी रेशम की कुटीरोद्योगी स्तर पर हाथ कताई करते हुए लोगों को रोजगारी प्रदान की जाय।

कलकत्ता : २९ अप्रैल १९६३

भारत : शहरों की संख्या तथा आबादी में वृद्धि : १९०१–६१
(आबादी दस लाख में)

	श्रेणी १		श्रेणी २		श्रेणी ३		श्रेणी ४		श्रेणी ५		श्रेणी ६		कुल	
वर्ष	सं.	आ.	सं.	आ.	सं.	आ.	सं.	आ.	सं.	आ.	सं.	आ.	सं.	आ.
१९०१	२७	६	४५	३	१४८	४	४२२	६	७६८	५	५००	२	१,९१०	२६
१९११	२५	६	३८	३	१५७	५	३९०	५	७५६	५	५४७	२	१,९१३	२६
१९२१	२८	७	४९	३	१७२	५	३९८	५	७८०	६	६२३	२	२,०५०	२८
१९३१	३२	८	५६	४	२२४	७	४८४	७	८५६	६	६०९	२	२,२६१	३४
१९४१	४९	१४	८७	६	२७२	८	५५३	८	९८८	७	४७८	२	२,४२७	४५
१९५१*	७४	२४	१११	८	३७५	११	६७०	९	१,१८९	८	६३८	२	३,०५७	६२
१९६१	१०७	३५	१४१	१०	५१५	१६	८१७	११	८४४	६	२६६	१	२,६९०	७९

(इस तालिका में उन छावनियों और सूचित इलाकों को जो कि मुख्य शहर से सटे हुए हैं, मुख्य शहर में मिला दिया गया है।)

सं.= संख्या। आ.= आबादी

* जम्मू और कश्मीर के शहरों की संख्या तथा आबादी जो १९४१ में थी, वही इस तालिका में १९५१ के लिए भी मान ली गयी है।

— भारत की जनगणना : १९६१ से।

गांधी : मानुषिक अर्थ-व्यवस्था के प्रणेता

हबीबुर रहमान

आर्थिक और सामाजिक बुराइयां दूर करने के लिए मानुषिक अर्थ-व्यवस्था के विचार को लोकप्रिय बनाने में गांधीजी सबके अग्रणी थे। उनका मानुषिक अर्थ-व्यवस्था का सिद्धान्त ऐक्य, साम्य, अहिंसा, परितुष्टि और त्याग पर आधारित है। उनके अनुसार अर्थ-व्यवस्था एक साधन है, साध्य नहीं; साध्य है मानव-कल्याण, जन-हित।

आर्थिक विचार सामान्य विचारधारा प्रतिबिम्बित करते हैं और बौद्धिक शून्यता अथवा खोखलेपन की अवस्था में वे शायद ही टिक सकें। वे बहु-विमितीय शक्तियों से नियंत्रित होते हैं। मनोवैज्ञानिक-सामाजिक कायाकल्प, आचार शास्त्रीय तथा धार्मिक सिद्धान्तों और राजनैतिक-आर्थिक सम्बन्धों के जरिये उन्हें सर्वोत्तम रूप से प्रकाश में लाया जा सकता है। भारतीय अर्थ-व्यवस्था के स्वरूप या गठन पर एक दृष्टि डालने से एक ऐसा चित्र सामने आता है, जिसमें बहुविध लुभावने रंग भरे हुए हैं। यह विभिन्न विशेषताओं से युक्त असंख्य विभागों, क्षेत्रों का सम्मिश्रण है, जो विनिमय अर्थ-व्यवस्था के सूक्ष्म सिद्धान्तों से शासित, नियमित नहीं होता, बल्कि रीति-रिवाजों तथा परम्पराओं, विश्वास, कर्तव्य आदि और 'धर्म' की संयोगशील शक्तियों से बंधा हुआ है। इसकी निर्देशांक अथवा समन्वय पद्धति भी पाश्चात्य त्रि-विमितीय पद्धति से भिन्न है। अतएव इसके आर्थिक क्षितिज पर पश्चिम की जीवन-विहीन तकनीक के साथ किसी बात का स्थल-निर्धारण निरर्थक होगा।

भारत के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम पचीस वर्षों से लेकर बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक का समय एक असाधारण काल रहा है। औद्योगीकरण और सामाजिक जागृति का यह उदय काल था। देश रूढ़िवादिता यानी मतमतान्तरों की तन्द्रा से जाग रहा था और पुराने जमाने से चली आ रही पुराण प्रियता से ऊपर उठ रहा था। भारतीय अर्थ-व्यवस्था गुजर-बसर मात्र करने की अवस्था में थी और गरीबी, अज्ञानता तथा बीमारियों की भरमार थी। इस प्रकार की संकटपूर्ण, नाजुक अवस्था में उसके उद्धारक महात्मा गांधी का आगमन हुआ। उन्होंने सिद्धान्तवादी अंग्रेज अर्थशास्त्रियों अथवा जर्मनी के ऐतिहासिक वर्ग यानी सिद्धान्तों का अनुकरण नहीं किया, बल्कि भारतीय स्थिति का स्वतंत्र रूप से सूक्ष्म अध्ययन किया। उन्हें जो मालूमात हुए वे दादाभाई नवरोजी, रानड़े, गोखले और दत्त को जो मालूमात हुए उनके समान ही थे। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अर्थ-व्यवस्था का तंत्र बिगड़ा हुआ है तथा उस पर उपयुक्त ध्यान देने की आवश्यकता है। लेकिन गांधीजी की प्रतिभा परिमाणात्मक कसौटी से ऊपर उठी और उसने अर्थ-व्यवस्था को गुण तथा सिद्धान्त प्रदान किया। परिणामस्वरूप परम्परागत सामाजिक व्यवस्था को एक उद्देश्य प्राप्त हुआ और मानवीय गुणों अथवा मूल्यों पर आधारित एक नयी समाज व्यवस्था का बीज बोया गया।

मानुषिक अर्थ-व्यवस्था का विचार

बापू द्वारा प्रवर्तित अर्थ-व्यवस्था न तो यंत्रवत थी और न बर्बर अथवा असंस्कृत यानी रूढ़िवादी, बल्कि वह मानवतावादी थी। मैं इसे मानुषिक इसलिए कहता हूँ क्योंकि उनकी दृष्टि में मानव-हित का सर्वोपरि स्थान था। उनके अनुसार मानवीय मूल्य अर्थ-व्यवस्था के उत्पादन तथा वितरण

सम्बन्धी दोनों ही प्रक्रियाओं में महत्वपूर्ण पहलू के प्रतीक थे। प्रकृति का आदमी के साथ निस्वार्थ सहकार होने के लिए इस सिद्धान्त पर यह एक सम्पूरक व्यवस्था थी कि 'तुम्हें निःशुल्क मिला है, निःशुल्क दो।' उन्होंने यह भी माना कि अर्थ-व्यवस्था वनस्पति जगत तथा जीव-सम्बन्धी विकास से जुड़ी हुई है और उसकी क्रिया-प्रतिक्रियाएँ पूर्वकथनीय हैं। यदि हमें व्यवस्था के स्वरूप का ज्ञान है तो हम इस बात का हिसाब लगा सकते हैं कि समाज पर उसका क्या असर पड़ेगा। इसलिए व्यवस्था उद्देश्य-विहीन नहीं होनी चाहिए, उसका कोई उद्देश्य और प्रतिबोध होना ही चाहिए।

समन्वित उद्देश्य

वे जिस प्रकार यह चाहते थे कि व्यक्ति अनुशासित और अहिंसक हो, वैसे ही वे यह भी चाहते थे कि व्यवस्था संगठित तथा आत्मावान, सप्राण हो। आर्थिक विश्लेषण में एल्फ्रेड मार्शल को यदि 'समय' के तत्व का समावेश करने का श्रेय है तो बापू को अर्थ-व्यवस्था में उद्देश्य और प्रयोजन के तत्वों का समावेश करने का श्रेय मिलना ही चाहिए। इससे अर्थ-व्यवस्था में जान आयी और वह नैतिकता के उन सभी सिद्धान्तों के अन्तर्गत आ गयी, जो मानव पर लागू होने योग्य हैं।

व्यक्ति और समाज का परिपूर्ण विकास उनका उद्देश्य था तथा अर्थ-व्यवस्था का उन्होंने इस उद्देश्य-प्राप्ति के साधन के रूप में उपयोग किया। अधिकतम प्रदान करना, योगदान देना व्यवस्था का कर्तव्य है, ताकि समष्टि अथवा पूर्ण मानव के दुःख-दर्द न्यूनतम हो सकें। वह स्वयम् कोई उद्देश्य न होकर असंख्य साधनों में से एक साधन है। लक्ष्य है, प्रेम, शांति और खुशहाली, जो कि भौतिक खुशहाली के संकुचित विचार से बहुत ऊपर की चीज है। गांधी का संसार न तो न्यूटन का 'क्रिया-प्रतिक्रिया' वाला संसार था और न वह आयन्स्टीन का 'कार्यकारी सम्बन्ध' वाला संसार था बल्कि वह समन्वित उद्देश्यों का सारभूत संसार था, जहाँ जीवन के हर पहलू में समरसता थी।

न्यूनतम दुःख-दर्द

उन्होंने समकालीन व्यवस्थाओं का प्रयोग करने से इसलिए इन्कार किया कि उनका झुकाव पाशविकता की ओर था; क्योंकि अबन्ध–नीति दर्शन में उन्हें पशु–पक्षियों का संघर्ष मिला, जहाँ लाठी जिसकी भैंस और स्वार्थ का बोलबाला था। ऐसी अवस्था में सबसे शक्तिशाली ही जिन्दा रह सकता है, जो अस्तित्व के संघर्ष में कमजोरों को समाप्त कर देता है। इसके विपरीत साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था एक वर्ग को जिन्दा रखनेवाली अर्थ-व्यवस्था थी, जिसमें व्यष्टि का समष्टि में समावेश हो जाता है और राज्य ही 'सब कुछ', सर्वोपरि है। इस प्रकार पाश्चात्य सभ्यता लुण्ठक अंग्रेजी साम्राज्यवाद, उद्यमशील अमेरिकी औद्योगीकरण और रूसी तथा जर्मन समाज-प्रियता अर्थात् यूथचारित्व का सम्मिश्रण थी। इस प्रकार के वातावरण में मानवीय मूल्य जीवन की वास्तविकताओं से तिरोहित कर दिये गये थे। साम्राज्यवादी बाजार मानव-भक्षण के प्रतिक थे एवम् सर्वाधिकारवादी अर्थ-व्यवस्थाएँ मानवीय स्वतंत्रता को तिलांजलि दे चुकी थीं। इसके विपरीत भारतीय जनता भाग्यवाद के प्रगाढ़ समुद्र में डूबी हुई और शोषण का शिकार बनी हुई थी। वह अपने उस भव्य, स्वर्णिम भूतकाल को पूर्णतः बिसार बैठी थी, जब मानवता के उद्देश्य अथवा हित को सर्वोपरि स्थान देने में वह सबसे आगे थी। उस पर पाश्चात्य दर्शन यानी विचारधारा का नशा चढ़ा हुआ था और भारत दो वर्गों—धनी व गरीब, साधन सम्पन्न तथा साधन विहीन—में विभक्त था।

वस्तुतः भारत के लिए यह एक बड़ा नाजुक समय था; क्योंकि बाहरी तथा अन्दरूनी शक्तियों के कारण देश बाह्य और आन्तरिक दोनों ही दृष्टियों से कमजोर हो गया था। देश में असंख्य व्यक्ति अज्ञान थे

और वह दुर्भिक्ष तथा दुःख-दर्दों की भूमि बन चुका था। जनता विश्वास खो बैठी थी और वह अलौकिक रूप से भाग्य पलट देनेवाले किसी जादू के होने की अपेक्षा कर रही थी। ऐसी परिस्थितियों में गांधीजी के लिए यह सम्भव नहीं था कि वे किसी चीज को अधिकतम कर देने के उद्देश्य से कोई बात शुरू करते; क्योंकि वैसी अवस्था में दुःख-दर्दों को अधिकतम बनाना होता। इसलिए उन्होंने दुःख-दर्दों को कम से कम करने की मान्यता के साथ कार्यारम्भ किया। यह एक अनुपम विचार था और उनकी मानुषिक अर्थ-व्यवस्था के बिल्कुल अनुरूप।

लोभ का त्याग

मुक्त अर्थ-व्यवस्था में अधिकतम शुद्ध लाभ प्राप्त करने की मान्यता है और सर्वाधिकारवादी व्यवस्था में समाजार्थिक इष्ट का हेतु है, किन्तु ये सुन्दर शब्द भारतीय अवस्थाओं के बिल्कुल उपयुक्त नहीं थे। सर्वाधिक मानवीय हित के सिद्धान्त से युक्त कल्याणकारी राज्य का विचार निश्चय ही बड़ा मनोहारी था, लेकिन वह भी देश के सामने ऐसा मसला नहीं था कि उस पर तत्काल ध्यान दिया जाय। इसके अलावा इस प्रकार की सभी अर्थ-व्यवस्थाओं में खुशी बटाने का निरूपण था, दुःख-दर्द बटाने का नहीं। अबन्ध-नीतिवाली यानी मुक्त अर्थ-व्यवस्था में परान्न-भोजी अर्थात् पराश्रयी दृष्टिकोण था; क्योंकि उसके उपासक सदैव ही अधिकाधिक लाभ की इच्छा रखते हैं—यहाँ तक कि दूसरों का गला घोंटकर भी। नियंत्रित अर्थ-व्यवस्थाओं में उन्होंने 'मानवीय श्रम को मार्गदर्शक सिद्धान्त' के रूप में देखा यानी पाया; काम ही उपभोग का आधार है। यह आदर्श वाक्य बड़ा नेक था, लेकिन इसके प्रत्यक्ष कार्यान्वय में निष्कपटता का अभाव था। मानवीय अर्थ-व्यवस्था के स्थान पर उसकी पाशविक अर्थात् अविवेकशील अर्थ-व्यवस्था से अधिक तुलना की जा सकती है यानी वह पाशविक अर्थ-व्यवस्था के अधिक निकट था। कल्याणकारी राज्यों ने मानवीय पहलू पर ध्यान दिया; क्योंकि उन्हें अधिकतम लोगों की अधिकतम भलाई करनी थी, लेकिन उनके सिद्धान्त केवल उन्हीं देशों में लागू किये जा सकते थे, जो गुजर-बसर भर करने की स्थिति से ऊपर उठ चुके थे। महात्मा गांधी ने जैसे भारत को देखा था वह, यहाँ तक कि, जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी संघर्ष कर रहा था। उसकी भूमि और स्वरूप यानी व्यवस्था दोनों ही उसकी आधी भूखी-नंगी जनता की सहायता करने की स्थिति में नहीं थे इसलिए व्यवस्था को केवल अधिक प्राप्ति के सिद्धान्त पर ही आधारित नहीं किया जा सकता था, बल्कि उसे दुःख-सुख दोनों ही बटाने के सिद्धान्त पर आधारित करना था। यही वह कारण था, जिससे बाध्य होकर गांधीजी ने अपनी आर्थिक विचारधारा में लोभ का त्याग करने का तत्व शामिल किया।

पाँच स्वर्ण सिद्धान्त

बापू भारतीयों को राजनैतिक और आर्थिक आजादी प्रदान करने के लिए कृत संकल्प थे। उनका विश्वास था कि आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी हुए बिना राजनैतिक आजादी और राजनैतिक स्वतंत्रता के बिना आर्थिक आजादी असम्भव है; क्योंकि ये दोनों ही समानार्थक यानी पर्यायवाची और अन्तर्निमेय हैं। राजनैतिक आजादी हासिल करना निश्चय ही एक मुश्किल काम था। आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र होने का कार्य तो और भी कठिन था, जिसके लिए उन्हें पुनर्व्यवस्थापन हेतु विदेशियों व देशवासियों दोनों से लोहा लेना था।

राजनैतिक संग्राम उन्होंने इन पाँच स्वर्ण सिद्धान्तों की सहायता से लड़ा: प्रेम, सत्य, अहिंसा, सहिष्णुता और त्याग। आर्थिक क्षेत्र में भी उन्होंने उक्त सिद्धान्तों का सारभूत यानी एकीकृत रूप में प्रयोग किया। वे कभी भी बल प्रयोग नहीं करना चाहते

थे, जहाँ समानता बन्दूक के जोर पर स्थापित की जाती है और समृद्धि आजादी की बलि देकर; क्योंकि ताकत के बल पर प्रगति करना एक भ्रांति है, वास्तविकता नहीं। इस प्रकार की समानता चिरस्थायी नहीं होती। अतः उन्होंने आर्थिक क्षेत्र में अपने ऐक्य, साम्य, अशोषण, सन्तोष और त्याग के सिद्धान्त का प्रयोग किया। इस प्रकार उन्होंने बड़े साहसपूर्वक अपना ट्रस्टीशिप (न्यासधारिता) का सिद्धान्त फैलाया।

अनुकूलतम परितुष्टि

गांधीजी कभी भी यह नहीं चाहते थे कि चन्द धनवानों का बहुसंख्यक गरीबों पर शासन हो अर्थात् वे उनके नीचे दबे रहें; क्योंकि वैसा करना गोरों के स्थान पर कालों की नौकरशाही की स्थापना ही होती। अतएव उन्होंने एक ऐसे जाति और वर्ग-विहीन समाज की बात सोची जिसमें शोषण न हो। उन्होंने एक वास्तविक विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था की रूपरेखा तैयार की। व्यवस्था का केन्द्र-बिन्दु केन्द्रीकृत बड़े शहरों से हटाकर छोटे-छोटे गाँवों में स्थानांतरित किया गया। ऐसा करना आवश्यक था; क्योंकि निचले स्तरों पर लोकतंत्र कायम रखे बिना ऊपर केन्द्र में भी नहीं रखा जा सकता। उन्होंने अनुकूलतम परितुष्टि के विचार का विकास किया, जिसमें केवल वे आर्थिक आवश्यकताएँ ही न्याय-संगत हैं, जिनसे मानव (उनके अपने अनुयायियों अथवा साथियों सहित) के समग्र कल्याण में सहायता मिले। जब आवश्यकता का सीमान्त विशुद्ध योग शून्य हो तब अनुकूलतम परितुष्टि के बिन्दू की प्राप्ति होती है। यह अहिंसक अर्थ-व्यवस्था से भी सम्बद्ध है; क्योंकि मानव द्वारा मानव का और देश द्वारा देश का शोषण तब पैदा होता है, जब लोग अपनी अनावश्यक आवश्यकताएँ बढ़ा लेते हैं।

श्रम की प्रतिष्ठा

अनुकूलतम परितुष्टि का विचार प्रदान करने के पश्चात् उन्होंने श्रम की प्रतिष्ठा पर जोर दिया। वे दान और छूआछूत के विरुद्ध थे। उनके विचार से व्यक्ति तथा साथ ही साथ देश के लिए ईमानदारी-पूर्वक किया गया परिश्रम सम्पत्ति का वास्तविक स्रोत है। वे कुटीर और लघु स्तरीय उद्योगों के विकास की दिशा में, सत्यनिष्ठ श्रम का निर्माण कर उसे प्रवृत करना चाहते थे। चरखा वह आधार था, जिस पर ग्राम का शांतिपूर्ण समाज आसीन होना था। मशीनों के उपयोग पर रोक अन्तर्राष्ट्रीय शांति और स्वतन्त्रता के दृष्टिकोण से कायम की गयी थी; क्योंकि उपनिवेशिक देशों की गुलामी के रूप में औद्योगिक क्रांति के परिणाम विश्व के सामने थे।

यह अपरिहार्य था; क्योंकि बड़ी-बड़ी मशीनों के लिए कच्ची सामग्री की प्राप्ति और तैयार माल की बिक्री के लिए विस्तृत बाजारों की आवश्यकता थी, जो उन्हीं मशीनों द्वारा निर्मित शस्त्रास्त्रों के बल पर जीते गये, हासिल किये गये।

भौतिकवाद के युग में अर्थ-व्यवस्था का आध्यात्मीकरण आलोचकों को बिलकुल अजीब लग सकता है। वे सामान्यतः इसे स्वप्न लोक बताते हैं। लेकिन आधुनिक आर्थिक उपनतियों अथवा रुखों के विश्लेषण से पता चलता है कि लोग विशुद्ध भौतिक मूल्यों से ऊब गये हैं और अब अधिकाधिक आदर्शी विचार चाहते हैं।

मानव का नैतिक विकास उसकी भौतिक समृद्धि के साथ आगे बढ़ने में असफल हो चुका है। गांधीजी अपने समय से आगे थे और वे 'त्येनत्यक्तेन भुंजितः' की भावना पर आधारित अर्थ-व्यवस्था की बात सोच सके। वे हृदय यानी आत्मा से शांतिमय विकास में विश्वास रखते थे और उन्होंने बिना किसी बाहरी प्रभाव अथवा सहायता के आन्तरिक रूप से देश को आर्थिक आजादी हासिल करवाने का प्रयत्न किया।

अलीगढ़ : ६ मार्च १९६३

पिछड़े वर्गों में सहकार

दत्तात्रेय ना. वान्द्रेकर

आदिवासियों का उत्थान काफी हद तक इस बात पर निर्भर है कि किस सीमा तक वे व्यापारियों, जंगल के ठेकेदारों आदि जैसे बिचवानियों को समाप्त कर अपना जीवन तथा अर्थ-व्यवस्था सहकारी पद्धति पर संगठित करके आत्म-निर्भर बना पाते हैं। पिछड़े वर्गों के लिए सहकारिता के प्रश्न पर अध्ययन करने के लिए नियुक्त विशेष कार्यकारी दल ने तथा अनुसूचित क्षेत्र और जनजाति आयोग ने आदिवासियों की अर्थ-व्यवस्था को इस तरह सहकारी रूप देने की आवश्यकता का आग्रहपूर्वक प्रतिपादन किया है।

प्रथम और द्वितीय पंच वर्षीय योजनाओं के दौरान सहकारिता के क्षेत्र में पिछड़े वर्गों—खास कर अनुसूचित जनजातियों—की प्रगति का अध्ययन करने और तीसरी पंच वर्षीय योजना के कार्य-काल में इस क्षेत्र में प्रगति को तीव्र बनाने के लिये उपाय सुझाने हेतु भारत सरकार के गृह मंत्रालय ने जुलाई १९६१ में एक विशेष कार्यकारी दल नियुक्त किया।

'पिछड़े वर्गों के बीच सहकारिता' के विषय पर इस दल का विवरण एक मूल्यवान दस्तावेज है।

आदिवासियों अथवा जनजातियों में चलनेवाली जिन मुख्य-मुख्य सहकारी प्रवृत्तियों का परिचय इस दल को प्राप्त हुआ, वे इस प्रकार हैं:

(अ) महाराष्ट्र, गुजरात, आंध्र प्रदेश, बिहार, मद्रास तथा राजस्थान में वन श्रमिकों की सहकारी समितियाँ; (आ) उड़ीसा में सहकारी अन्न गोले तथा महाराष्ट्र में अन्न भण्डार (बैंक); (इ) आंध्र प्रदेश अनुसूचित जनजाति सहकारी वित्त और विकास निगम; (ई) मध्य प्रदेश में बहु धन्धी सहकारी समितियाँ; तथा (उ) उड़ीसा की रेशम कीड़े पालनेवाली समितियाँ।

इस दल का यह अनुभव रहा कि यद्यपि विभिन्न राज्यों में सहकारी समितियाँ संगठित करने के लिए कुछ कार्य किया तो जा रहा है, फिर भी कुल मिलाकर सुयोजित और संगठित प्रयत्नों का अभाव ही है। सहकारिताएँ प्रारम्भ करने के लिए तदर्थ योजनाएँ यहाँ-वहाँ चालू भी की गयीं, परन्तु आदिवासियों की आर्थिक स्थिति पर उनका कोई खास प्रभाव नहीं पड़ सका।

पूर्वी क्षेत्र में मंद विकास

आदिवासी क्षेत्रों की सहकारिताओं की प्रगति का मूल्यांकन अलग-थलग रूप से नहीं किया जा सकता, अपितु सहकारी आंदोलन के विकास के व्यापक संदर्भ में पूरे प्रश्न के रूप में ही इस पर विचार करना होगा। आदिवासी अधिकतर पूर्वी क्षेत्र में, यथा बिहार, उड़ीसा, असम, पश्चिम बंगाल, मध्य प्रदेश और आंध्र प्रदेश, केन्द्रित हैं। भारत के आदिवासियों की कुल संख्या २ करोड़ ९८ लाख है। इसमें से २ करोड़ ५ लाख अर्थात् ७२ प्रति शत इसी क्षेत्र में हैं। पश्चिमी क्षेत्र—जिसमें राजस्थान, गुजरात तथा महाराष्ट्र राज्य आते हैं—७४ लाख से कुछ अधिक आदिवासी रहते हैं जो २५ प्रति शत हैं। शेष ३ प्रति शत अन्य राज्यों तथा केन्द्र प्रशासित क्षेत्रों में हैं। सहकारिता आंदोलन का विकास पूर्वी क्षेत्र में बहुत ही धीमा हुआ है, जो पिछले चन्द वर्षों में काफी चिंता का विषय बन चुका है। इसका

असर इस क्षेत्र के आदिवासियों के सहकारी आंदोलन की प्रगति पर भी पड़ा है । आदिवासी क्षेत्रों में सहकारिता के विकास की धीमी और उलार अथवा असंतुलित गति के कई कारण हैं । मोटे तौर पर इसके प्रमुख कारण हैः संरचनात्मक कमजोरियाँ, परिचालन सम्बन्धी दोष, प्रबंध संबंधी समस्याएँ और दूषित कार्य-प्रणालियां । काम करने की ये प्रणालियां और तरीके आदिवासियों की जरूरतों और स्वभाव के अनुकूल नहीं हैं। फिर भी, पिछले चंद वर्षों में जो अनुभव प्राप्त हुआ है, उसका उपयोग इन क्षेत्रों में सहकारिता का एक ठोस कार्यक्रम तैयार करने के लिए किया जा सकता है ।

इस दल ने अनुभव किया कि आदिवासी अर्थ-व्यवस्था, खास कर भीतरी क्षेत्रों में, अधिकतर पैसे के द्वारा लेन-देन करने की नहीं है, बल्कि साप्ताहिक हाटों के साथ जुड़ी हुई है, जहाँ वस्तु विनिमय यानी बारटर पद्धति के आधार पर ही कारोबार होता है । आदिवासियों की जरूरतें अधिक नहीं होतीं, वे साधारणतः नमक, मिट्टी के तेल, गुड़, कपड़े, दियासलाई और चाय तक ही सीमित हैं । ये चीजें वे हाटों में खेती की चीजें और कुछ गौण वन्य उत्पादनों के बदले में खरीदते हैं । अतिरिक्त कृषि उत्पादन, यदि कुछ हो तो, बहुत ही कम होता है । जैसा कि अनुसूचित क्षेत्र और जनजाति (ढेबर)आयोग ने अपनी रिपोर्ट में बताया था कि आदिवासी जनता का एक बड़ा भाग भूमिहीन है और दूसरे बड़े भाग के पास जो भूमि है, वह बहुत ही छोटे-छोटे टुकडों में बँटी हुई है कि वे आर्थिक दृष्टि से अलाभकारी हैं। साक्षरता के लिए किए जानेवाले अनेक प्रयत्नों के बावजूद अब भी आदिवासियों में अज्ञानता अत्यधिक है। वे केवल २० तक की ही गिनती गिन सकते हैं । बहुत सीधे-सादे, विश्वसनीय और स्वभाव से ही किसी प्रकार की शंका-कुशंकाओं से रहित होने के कारण व्यापारियों, साहूकारों आदि के द्वारा—जो कि बाजारों में आते हैं या वहीं रहते हैं—उनका काफी शोषण होता है ।

बाहरी लोगों द्वारा शोषण

कुछ क्षेत्रों में व्यापारी या उनके दलाल भीतरी देहातो में पहुँच कर बेमौसम के दिनों में आदिवासियों को छोटी-मोटी रकमें ऋण के रूप में दे देते हैं और उनसे वादा करा लेते हैं कि वे कृषि की तथा वन्य चीजें, जैसे चावल और अन्य अनाज या टसर के कोये, लाख व तेंदु के पते आदि, नीची दरों पर—जो कि बाजार में मौसम के समय की दरों से काफी कम होती हैं—व्यापारियों या उनके दलालों को देंगे । आदिवासी लोगों को नकद ऋण की अक्सर जरूरत पड़ती रहती है, ताकि बेमौसम के दिनों में वे अपनी दैनिक जरूरतों की चीजें खरीद सकें; क्योंकि उस समय उनके पास कोई कृषि की या वन्य चीजें मौजूद नहीं होतीं, जिन्हें देकर वे जरूरत का सामान खरीद सकें। उन्हें सामाजिक या धार्मिक कार्यों, यथा विवाह, मृतक भोज आदि, के लिए भी ऋण की जरूरत होती है। बेमौसम के दिनों में उपभोग के लिए उधार अनाज की भी जरूरत उन्हें होती है। इसके लिए वे स्थानीय ऋणदाताओं से बहुत ऊंची व्याज दरों पर ऋण लेते हैं। इस तरह व्यापक शोषण होते रहने के बावजूद आदिवासियों के मन में इन व्यापारी और ऋणदाताओं के प्रति कोई शत्रुभाव आम तौर पर नहीं रहता; क्योंकि उनकी तात्कालिक जरूरतों के लिए ये लोग नकद रुपया या उधार चीजें उन्हें देते हैं। इस तरह व्यापारी-सह-ऋणदाता मौजूदा आदिवासी अर्थ-व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण किये हुए है। आदिवासियों की ईमानदारी और सच्चाई का मानदंड इतना ऊंचा है कि उन्हें जो चीजें या नकद रुपया उधार दिया जाता है उसके लिए उनसे कोई बंधक या प्रत्यक्ष जामिन नहीं लिया जाता है । उनका जो शोषण हो रहा है, उसके प्रति अब वे अधिकाधिक सजग होते जा रहे है, परंतु दूसरा कोई चारा न होने की वजह से वे लाचार हैं।

शोषण के एक दूसरे तरीके का जिक्र भी यहाँ किया जा सकता है। देश का बहुत-सा वन-विभागीय कार्य जंगल के ठेकेदारों द्वारा होता है। ये ठेकेदार अपने सभी कार्यों के लिए आदिवासियों को काम पर रखते हैं, परंतु उन्हें बहुत ही कम मजदूरी देकर, अन्य मार्गों से भी उनका शोषण करते हैं। इस स्थिति पर काबू पाने के लिए उक्त दल ने सुझाव दिया है कि सहकारी समितियाँ बनायी जायें। यहाँ यह बताना ठीक होगा कि ढेबर आयोग ने भी आदिवासी क्षेत्रों में सहकारिता के महत्व पर जोर दिया था और कहा था :

"अधिकतर आदिवासी क्षेत्रों की अर्थ-व्यवस्था को मात्र गुजर-बसर करने के स्तर पर माननी या समझनी होगी। ऐसी व्यवस्था में बचत तो नगण्य ही होती है। बड़े पैमाने पर कोई रकम जमा होने की तो बहुत ही कम संभावना रहती है। किसी न किसी रूप में होनेवाले शोषण से स्थिति और भी बदतर हो जाती है। ऐसी हालत में सहकारिता को तिहरी भूमिका अदा करनी है। उसे पतनशील स्थिति के कारणों का सामना करना होगा; उसे यह सुनिश्चित करना यानी इस बात का आश्वासन दिलाना होगा कि मौजूदा उत्पादन और भावी विकास का अधिकतम लाभ इन्हीं लोगों को प्राप्त होगा; तथा उनमें बचत भावना को प्रोत्साहन देना होगा। व्यावहारिक दृष्टि से सहकारी आन्दोलन को यदि आदिवासी क्षेत्रों में सफल होना है, तो उसे वहाँ के लोगों को अत्यधिक कर्ज के भार से मुक्त करने और साथ ही उनकी रोज-ब-रोज की जरूरतों की पूर्ति भी करने, जिनमें अनुत्पादक आवश्यकताओं का भी समावेश है, तथा विकास संबंधी आवश्यकताएँ पूरी करने पर अपना ध्यान केन्द्रित करना होगा।"

आदिवासी क्षेत्रों की मौजूदा विशेताएँ इस तथ्य के कारण हैं कि वे लोग जंगलों और अन्य दूर-दूर के दुर्गम क्षेत्रों में रहते आये हैं तथा मुख्य सामाजिक व आर्थिक प्रवाहों से बहुत अलग रहे हैं। औद्योगिक प्रवृतियों का अभाव, यहाँ तक कि कुटीर उद्योगों तक का अभाव, वहाँ स्पष्ट दिखायी देता है। उनके गाँव साधारणत: यत्र-तत्र बिखरे हुए तथा दूर-दूर के फासले पर होते हैं, जबकि साधारण क्षेत्रों के गाँव ऐसे नहीं होते। अत: केवल साप्ताहिक हाट (अठवारे) के दिन ही ये आपस में मिलने-जुलने का अवसर पाते हैं। इसलिए आदिवासियों के लिए सहकारिताओं को अधिक अनुकूल रूप में सेवाएँ उपलब्ध करानी चाहिए, बनिस्बत हाट के व्यापारियों और साहूकारों के। मौजूदा स्वरूप को भी काफी बड़े पैमाने पर लचीला बनाना होगा और कुछ निश्चित जोखिमवाले काम उठाने की भी व्यवस्था करनी होगी। इसके लिए दल ने यह सुझाव दिया है कि हाटों में सेवा सहकारिताएँ स्थापित की जायें। ये सहकारिताएँ उन्हें नकद रुपये, अनाज आदि उधार दें, सदस्यों का माल खरीदें और उनकी घरेलू जरूरत की चीजें मुहैया करें। विशिष्ट कामों के लिए अलग-अलग सहकारिताएँ भी संगठित की जा सकती हैं, जैसे जंगलों के अलग-अलग क्षेत्रों का उपयोग करने या ग्रामोद्योग तथा अन्य उद्योगों व दस्तकारियों के लिए।

प्राथमिक व्यावसायिक समितियाँ

उपभोक्ता वस्तुओं की सारी की सारी खरीद और बिक्री की जिम्मेवारी उठाने के लिए प्राथमिक बिक्री समितियाँ बनानी चाहिए। सेवा सहकारी समितियाँ और इन प्राथमिक बिक्री समितियों को उच्च संगठनों की ओर से प्रादेशिक और राष्ट्रीय स्तर पर प्रशासनात्मक, तकनीकी और वित्तीय सहायता का प्राप्त होना भी जरूरी है। अत: दल ने सुझाव दिया कि आन्ध्र प्रदेश अनुसूचित जनजाती सहकारी वित्त और विकास निगम के ढंग पर अलग-अलग क्षेत्रीय बिक्री समितियाँ बनायी जानी चाहिए। दल ने आगे और सुझाव दिया है कि राष्ट्रीय निगम भी स्थापित होना चाहिए, जो विकास-प्रगति और व्यापार संबंधी कार्यों को संभाल सके। अपनी प्रवृत्तियों में अन्य एजेंसियों के साथ समन्वय स्थापित करने का काम

भी इस निगम को करना चाहिए तथा उन कामों को नहीं उठाना चाहिए, जो मौजूदा संस्थाओं द्वारा ही सुयोग्यता के साथ चलाये जा सकते हों। साथ ही आदिवासी क्षेत्रों में सहकारिता विकास का काम ठीक से चले, इसकी प्रत्यक्ष जिम्मेवारी भी इसे उठानी चाहिए।

दल की रिपोर्ट में वन मजदूरों की सहकारी समितियों के बारे में भी विशेष रूप से एक अध्याय है। इस दल की राय में उन्हें वन-सह-श्रम संविदा (कांट्रैक्ट) समितियां का नाम दिया जाना चाहिए। इन समितियों के लिए दल ने जो सहायता का स्वरूप सुझाया है वह महाराष्ट्र और गुजरात राज्यों के समान ही है। कार्य का क्षेत्र जंगल की उस इकाई तक सीमित रहना चाहिए, जिसमें एक या दो बार पेड़ों की कटाई लगातार होती हो और जो वहाँ होनेवाले पेड़ों की वृद्धि, सड़कों और लघु सिंचाई की व्यवस्था की उपलब्धि पर निर्भर हो। उसमें यदि एक या अधिक सेवा सहाकारिता का कार्य-क्षेत्र भी आ जाता है, तो उसके लिए एतराज नहीं उठाया जाना चाहिए। इन सहकारिताओं की सदस्य-संख्या २०० से ३०० के बीच होनी चाहिए।

दल ने यह पाया है कि राष्ट्रीय वन नीति और तीनों पंच वर्षीय योजनाओं के निर्देशों तथा केंद्रीय सरकार द्वारा दी हुई पर्याप्त मदद के बावजूद गुजरात व महाराष्ट्र को छोड़कर अन्यत्र बहुत ही कम संख्या में वन सहकारिताएँ कायम हो सकी हैं। अन्य प्रदेशों के आदिवासी करीब ढ़ाई करोड़ हैं, जबकि गुजरात व महाराष्ट्र में केवल ५० लाख हैं। गुजरात व महाराष्ट्र का कुल वन विस्तार करीब ३५,००० वर्ग मील में फैला हुआ है, जबकि अन्य राज्यों में यह २,३४,००० वर्ग मील है। फिर भी, वन सहकारिताओं की संख्या पुराने बंबई राज्य (गुजरात-महाराष्ट्र) में १९५८-५९ में ३०८ थी। पिछले चार वर्षों में इनकी संख्या ५०० तक बढ़ गयी होगी, परन्तु शेष सभी राज्यों की कुल वन सहकारिताओं की संख्या ढेबर आयोग के अनुसार १९५९-६० में केवल ९१ ही थी–आन्ध्र प्रदेश में ५५; राजस्थान में २९; असम में चार; और त्रिपुरा में तीन।

महाराष्ट्र और गुजरात ने इस आंदोलन का हर वर्ष विस्तार करने की दृष्टि से क्रमिक कार्यक्रम बनाये हैं तथा इस विस्तार के लिए आवश्यक वित्तीय सुविधाएँ भी कर रखी हैं। भविष्य में उचित समय में इन दो राज्यों में सभी वन क्षेत्रों का कार्य केवल इन्हीं सहकारी समितियों द्वारा चलेगा। परन्तु ऐसी कार्य-योजना अन्य राज्यों में भी बनायी गयी हैं, यह नहीं प्रतीत होता। पुराने बंबई राज्य में जब यह आंदोलन शुरू किया गया था, तब से १२ से अधिक वर्ष गुजर चुके हैं। सहज ही प्रश्न उठता है कि अन्य राज्यों ने आदिवासियों की स्थिति उन्नत करने के लिए योग्य कदम क्यों नहीं उठाये ?

सहकारिता की धीमी प्रगति

इस प्रश्न पर इस दल ने और ढेबर आयोग ने भी काफी चर्चा की है। पुराने बम्बई राज्य ने जो उपाय अपनाये वे अन्य राज्यों द्वारा न अपनाये जाने के तीन कारण दल ने बताये हैं। पहला कारण है, वन विभाग का राजस्व कम हो जाने का भय; दूसरा है, वन विभाग का नियंत्रण कम हो जाने की आशंका, जिसके परिणामस्वरूप वन संपत्ति का ह्रास या नाश होने की संभावना; और तीसरा है, छोटी-मोटी चोरी हो जाने पर वनों के ठेकेदारों के विरुद्ध तो तुरंत कार्यवाही हो सकती है, परन्तु सहकारी समिति के विरुद्ध ऐसा करना बहुत ही मुश्किल हो जाता है। क्या सहकारी समितियों को कार्य-क्षेत्र का कुछ भाग सौंपने के फलस्वरूप राजस्व पर कोई असर पड़ा है? यह जानने के लिए दल ने महाराष्ट्र व गुजरात की सरकारों से विवरण की मांग की है। परन्तु ऐसा कोई विवरण उपलब्ध नहीं है। कीमत के आधार पर जब सहकारिताओं को कुछ कार्य-क्षेत्र प्रारंभ में सौपा गया तो यह संभावना थी कि प्रत्यक्ष अनुमान निम्न स्तर पर हो जाने के कारण जो न्यूनतम कीमतें तय की गयीं, उनके फलस्वरूप राजस्व में कमी आ जाय। खुली प्रतिस्पर्धा में अच्छी कीमतें प्राप्त हो सकने की वैचारिक संभावना भी सोची गयी थी। परन्तु न्यूनतम आधार पर कीमतें तय करने की पद्धति बहुत पहले ही छोड़ दी गयी और उसके बदले

एक ऐसा सूत्र अपनाया गया जिसके अंतर्गत सरकार तथा सहकारी समितियां परस्पर हिस्सेदार बनकर विशिष्ट अनुपात में उस क्षेत्र के कार्य की वास्तविक प्राप्ति को बाँट लेती हैं। कीमत, लाभ और हानि का प्रश्न इस सूत्र के अन्दर उठता ही नहीं है। दल की राय में इस सूत्र के अनुसार तो राजस्व बढ़ना चाहिए; क्योंकि इमारती लकड़ी और अन्य उपज नीलाम में बेची जाती है। इसके अतिरिक्त सहकारिताएँ अपनी आय अन्य कुछ प्रशोधनात्मक उद्योग शुरू करके भी तो बढ़ा सकती हैं!

दूसरी बात के मामले में, जिसमें बताया गया है कि वन विभाग का नियंत्रण कम हो जायेगा, दल ने राय दी कि सहकारिताओं की एजेंसी के मार्फत पेड़ों का गैर कानूनी तौर पर काटा जाना तथा अन्य अनुचित कार्य बन्द किये जा सकते हैं (जैसा कि महाराष्ट्र और गुजरात के अनुभव से भी सिद्ध हुआ है।) और वनवासियों और वन विभागवालों के बीच नये संबंध कायम किये जा सकते हैं; क्योंकि दोनों को साथ काम करना है। राष्ट्रीय वन योजना में कहा गया है कि किसी वन योजना के, फिर वह कितने ही सदुद्देश्य और विशेष सावधानी से क्यों न बनायी गयी हो, जनता के सहयोग और सामर्थ्य के बिना सफल होने की बहुत कम संभावना है। परन्तु जहाँ एक बार स्थानीय आबादी ने वन-संपदा की ओर अपनी जीविका की दृष्टि से देखना सीख लिया (जो कि सहकारिताओं के आधार पर ही संभव है) तो एक बड़ा कदम उठा लिया गया, ऐसा मानना चाहिए।

स्वीडन का अनुभव

इस संदर्भ में स्वीडन के जंगलों का उदाहरण दृष्टव्य है। वहाँ का कुल वन क्षेत्र ५ करोड़ ६७ लाख ५० हजार एकड़ है और कृषि भूमि १ करोड़ १० लाख एकड़। स्वीडन का वन विभाग उस देश के कुल क्षेत्र (१० करोड़ ९० लाख एकड़) का ५२ प्रति शत है। इस वन्य क्षेत्र का केवल २५ प्रति शत हिस्सा सरकारी और अर्ध सरकारी संगठनों तथा सार्वजनिक संस्थाओं का है, २५ प्रति शत औद्योगिक संगठनों का है और शेष ५० प्रति शत निजी व्यक्तियों का है। स्वीडन के सारे जंगल वहाँ के उद्योगों से संबंधित हैं। उस देश में ४,००० से अधिक कारखाने ऐसे हैं जो जंगलों पर निर्भर हैं और जिनसे वे अपनी कच्ची सामग्री पाते हैं। करोड़ों टन लकड़ी प्रति दिन वहाँ से कारखानों को मिलती है। हर साल लगाये जाने-वाले जंगल कारखानों के लिए काटे जानेवाले जंगलों से डेढ़ गुने होते हैं। काटने और लगाने का काम व्यक्तियों द्वारा बहुत-कुछ निजी रूप में होता है और वे वन संबंधी कार्यों से ही पर्याप्त आय प्राप्त कर लेते हैं और कभी भी बेकार नहीं रहते। स्वीडन के वन्य जाति के लोग अनुभव करते हैं कि जंगल उनका अपना है और वही उनके जीविकोपार्जन का साधन-स्रोत है। अतः वे बड़ी कुशलता से वैज्ञानिक तरीकों से उसकी व्यवस्था करते हैं। वे काफी समझदार और प्रशिक्षित हैं तथा वन-विज्ञान तथा वन-वर्धन में पर्याप्त माहिर हैं।

हमारे वन्य-जन भी स्वीडन के वन्य जनों के समान यथा संभव कम समय में ही तरक्की कर सकें, यह देखने का हमारा प्रयत्न क्या नहीं होना चाहिए?

तीसरी बात के सिलसिले में मैं ढेबर आयोग की रिपोर्ट में से ही कुछ अंश यहाँ उद्धृत करना उपयुक्त समझता हूँ। आयोग ने कहा है:

"अधिकतम वार्षिक आय प्राप्त करने पर जो जोर वन संबंधी नीति में दिया जाता है उससे ठेकेदारों का महत्व बढ़ गया है। इससे सरकार का कार्य अवश्य ही सरल हो गया है, परन्तु अधिकांश ठेकेदार आदिवासियों का अत्यधिक शोषण करते हैं। ठेकेदार अपना ही कानून चलाता है। वन विभाग के अधिकारियों पर उसका प्रभाव रहता है। आदिवासी शायद ही कायदे-कानून जानता है। अतः वह ठेकेदारों की दया पर ही निर्भर रहता है। ठेकेदारी की यह पद्धति पिछले दस वर्षों से खुले आम एकाधिपत्य के रूप में ही चली आ रही है।" आगे इसी में बताया गया है कि वन विभाग का दंड देनेवाला तंत्र भी मानों ठेकेदारों के ही हाथ में है; क्योंकि जो उसका विरोध करते हैं, उनके खिलाफ वह

वन विभाग के कानून तोड़ने का आरोप सहज लगा देते हैं। दल ने अनुभव किया कि सहकारिता से उसके सदस्यों में जिम्मेवारी का भाव विकसित हो सकेगा और वे गैर तरीकों और गलत मार्गों से किये जाने-वाले शोषण से क्षेत्र की रक्षा कर सकेंगे। फिर, सहकारी समिति पंजीयत कानून के दंडात्मक प्रावधान भी कुप्रबन्ध के समय या चोरी होने के प्रसंग में लागू किये जा सकते हैं। प्रबंध समिति भी नियंत्रित की जा सकती है। ऐसा तरीका अख्तियार करने में कोई दिक्कत नहीं है। परन्तु सवाल तो यह है कि पिछले १२ वर्षों में गुजरात-महाराष्ट्र में चलनेवाले सहकारिता के काम में क्या ऐसा कोई अवसर उपस्थित भी हुआ है ?

सहकारों के विरूद्ध एक और आलोचना की जाती है कि गैर आदिवासी इन समितियों में घुस जाते हैं और अपने स्वार्थों के लिए उनका शोषण करते हैं। पर क्या वास्तव में ऐसा कहीं हुआ भी है ? इन समितियों का प्रवर्तन समाज सेवी संस्थाओं द्वारा करने की व्यवस्था पुरानी बंबई सरकार ने ऊपर निर्देशित खतरों से बचने की दृष्टि से की और वह बहुत कारगर साबित हुई। यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि ऐसी समाज सेवी संस्था हर जगह संभवतः उपलब्ध न हों। परन्तु दल ने इसके जवाब में कहा है कि ऐसे क्षेत्रों में, जहाँ ऐसी समाज सेवी संस्थाएँ न हों, सहकारी समितियों के सुयोजित संगठन की जिम्मेवारी सहकारी समितियों के संघ की स्थापना होने तक सहकारिता विभाग, वन विभाग और आदिवासी कल्याण विभाग संयुक्त रूप से उठायें। ऐसा संघ बन जाने पर तो उसे ही प्रवर्तक संघ के रूप में मान्यता दे दी जायेगी। दल इस नतीजे पर पहुँचा कि राज्य सरकार द्वारा सुयोजित तथा क्रमिक कार्यक्रम बनाया जाय और देश के समस्त वन क्षेत्र में सहकारी समितियों की स्थापना उसके अनुसार हो जानी चाहिए। आशा है कि केंद्र और राज्य सरकारें इस संबंध में दल की सिफारिशें स्वीकार कर लेंगी और शीघ्र ही उन्हें अमल में भी लायेंगी।

रिपोर्ट में 'आदिवासियों के लिए उद्योग' सम्बन्धी एक अलग अध्याय है। रिपोर्ट में कहा गया है कि आदिवासियों के वन, कृषि तथा अन्य प्राप्य साधन-स्रोतों पर आधारित उद्योगों की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए उन्हें सहकारिता के आधार पर विकसित करना होगा। आदिवासी क्षेत्रों में वन्य उत्पादन के प्रशोधन की तकनीक तथा उद्योगों का संगठन बहुत सरल होना चाहिए, जिससे आदिवासी आसानी से उसे समझ सकें और अपना सकें। जिन उद्योगों में उन्नत तकनीकों की आवश्यकता है, वे धीरे-धीरे शुरू किये जाने चाहिए। यदि यह उपक्रम जल्दबाजी में प्रारम्भ किया गया तो उससे आदिवासियों को कोई लाभ न होकर दूसरों को ही होगा, जिस कारण उनमें असंतोष फैल सकता है। उपलब्ध कच्चा माल, अन्य साधन-स्रोतों, स्थानीय कुशल श्रम, क्रय-विक्रय की सुविधा आदि के सर्वेक्षण के बाद इस सम्बन्ध में प्रत्येक जिले के लिए अलग-अलग योजना बनानी होगी। प्रतीत होता है कि अभी तक इस सम्बन्ध में पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया, यहाँ तक कि उन राज्यों में भी जहाँ वन सहकारी समितियों ने पर्याप्त सफलता प्राप्त की है।

दल ने जो कुछ ऊपर कहा है, उससे मैं सहमत हूँ। किन्तु प्रश्न यह है कि धीरे-धीरे का क्या अर्थ है? शताब्दियों से आदिवासी लोग निर्धनता, बेरोजगारी, अशिक्षा और अवैज्ञानिक परम्पराओं के शिकार हैं। अब कुछ निश्चित समय नियत कर ही देना चाहिए, जिससे वे अपने स्वीडन के बन्धुओं की भाँति शिक्षित और सम्पन्न हो जायें। इस दिशा में आवश्यकता है प्रभावकारी कार्य करने की। सारे जंगल क्षेत्र में युवक-गण आगे बढ़ने की कामना करते हैं पर अब तक उन्हें कोई मार्ग-दर्शक या सहायक नहीं मिल सका है। सभी वन्य क्षेत्रों में सरल और जटिल दोनों प्रकार की प्रशोधन प्रक्रियाओं की प्रशिक्षण संस्थाएँ प्रारंभ करने की आवश्यकता है। इस प्रकार की संस्थाएँ जिले या तालुके के

प्रधान कार्यालयों में भी प्रारम्भ करने से कोई लाभ नहीं है। जंगल के भीतरवाले भागों में स्थित गाँवों में ही उनका प्रारम्भ होना चाहिए। वहाँ आधुनिक सुविधाएँ दी जानी चाहिए।

आदिवासियों के लिए उद्योग

आदिवासी युवकों को जंगलों में होनेवाले अनगिनत उत्पादनों की सभी प्रक्रियाओं का प्रशिक्षण दिया जा सकता है। कुछ आदिवासी युवकों ने विश्वविद्यालय की शिक्षा भी प्राप्त की है। उन्हें वन्य क्षेत्रों में इन वन उद्योगों के संगठकों के रूप में प्रशिक्षण प्राप्ति के लिए भी प्रोत्साहित किया जा सकता है; पर उन्हें भावी प्रगति के सम्बन्ध में आश्वस्त करना होगा। कुछ युवकों को जटिल प्रशोधन प्रक्रियाओं का उच्च प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए देहरादून तथा अन्य केन्द्रों में भेजना चाहिए। कुछ युवकों को विदेशों में जैसे स्वीडन, फिनलैण्ड, न्यूजीलैण्ड, कनाडा, साइबेरिया (सोवियत संघ) तथा अन्य देशों में भी भेजना चाहिए, जहाँ उन्होंने अपने वन क्षेत्रों को उद्योगों से जोड़ दिया है। इन देशों में वन-विद्या और वन उद्योगों के विविध प्रकार के प्रशिक्षण के लिए अनेक संस्थाएँ हैं। यदि सरकार और आदिवासी नेता दोनों की ओर से ही प्रयत्न और प्रयास किये जायें, तो मुझे विश्वास है कि पचम पंच वर्षीय योजना की समाप्ति के पूर्व ही आर्थिक और औद्योगिक-क्रांति लायी जा सकती है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह दल आदिवासियों में फैली गहरी निर्धनता को ठीक से नहीं आँक सका है। अतः उसके प्रतिकारार्थ सहकारिता के आधार पर वन संबंधी तथा अन्य उद्योगों का क्रांतिकारी कार्यक्रम कैसा होना चाहिए, इसका परामर्ष देने में वह असफल रहा है।

दल ने निम्न लिखित उद्योगों का सुझाव दिया है: (१) इमली से बीज अलग करना; (२) पत्तल बनाना; (३) सोंठ तैयार करना; (४) हल्दी तैयार करना; (५) इमली के बीज से माड़ी बनाना; (६) जड़ी-बूटी और दूसरी वन्य दवाओं का संग्रह करना; (७) लकड़ी का कोयला बनाना; (८) दियासलाई की काड़ियाँ बनाना तथा दियासलाई उद्योग; (९) आराकशी; (१०) मकान बनाने की सामग्री बनाना; (११) टसर का धागा बनाने का उद्योग; (१२) पशु-पालन, मुर्गी-पालन तथा सुअर-पालन; (१३) तिलहनों का संग्रह; और (१४) लाख उद्योग। ये उद्योग आदिवासियों द्वारा चलाने योग्य हैं। उपर्युक्त उद्योगों में से लगभग पाँच तो वास्तविक रूप से वन-उद्योग ही हैं। किन्तु जिस बारे में मैं अधिक उत्सुक हूँ, वह यह है कि जंगलों में जहाँ कच्चा माल मिलता है, वहाँ इन उद्योगों की पूरी प्रशोधन क्रियाएँ की जानी चाहिए। उदाहरण के तौर पर मैं लाख उद्योग की बात कहता हूँ। आदिवासियों को न केवल पलाश के वृक्षों की टहनियों की परत पर परत चढ़ा कर 'शाखि लाक्षा' (स्टिक लैक) का ही उत्पादन करना चाहिए वरन् अगली प्रशोधन प्रक्रिया भी करनी चाहिए, जैसा कि गोंदिया जैसे केंद्रों के कारखानों में की जाती है और चपड़ा तैयार करना चाहिए और तब यांत्रिक प्रक्रिया द्वारा उससे विभिन्न वस्तुएँ बनानी चाहिए। इसी प्रकार उन्हें पुराने तरीके से केवल लकड़ी का कोयला ही नहीं बनाना चाहिए, बल्कि लकड़ी आसवन से लकड़ी का कोयला, तारकोल और शुक्तिक अम्ल (एसेटिक एसिड) प्राप्त करना चाहिए।

मॉन राय के सुझाव

संयुक्त राष्ट्र संघ के खाद्य और कृषि संगठन ने भारत सरकार के अनुरोध पर वन उद्योग के विशेषज्ञ श्री जे. ए. वॉन मॉन राय को हाल ही में भारत भेजा था। भारत सरकार को दिये गये अपने प्रतिवेदन में श्री मॉन राय ने लगभग ३० यंत्र-चालित बड़े उद्योग तथा लगभग २५ कुटीर उद्योग चलाये जाने का सुझाव दिया। महाराष्ट्र राज्य में वन्य

श्रमिक सहकारिताओं के लिए योजना समिति द्वारा नियुक्त वन उद्योग उप-समिति ने अपने प्रतिवेदन में वन उद्योग संबंधी प्रश्न पर बेरोजगारी की समस्या के समस्त पहलुओं को हल करने के साधन के स्वरूप से विचार किया और अपनी सिफारिशें भी पेश कीं। परन्तु ऐसा मालूम होता है कि दल ने इसे कोई विशेष महत्व नहीं दिया गया।

वन्य स्रोतों तथा उद्योगों के सर्वेक्षण की आवश्यकता पर बल देने की आवश्यकता है। तीसरी योजना में कुछ इस तरह का कार्यक्रम है और आशा है कि यह परियोजना यथा शीघ्र सम्बन्धित सरकारें कार्यान्वित करना शुरू कर देंगी।

प्रशिक्षण

प्रशिक्षण के सम्बन्ध में दल ने अधिक परिभ्रमण-शील दलों का संगठन, आदिवासी क्षेत्रों में सहकारी पाठशालाओं की स्थापना, आदिवासियों से सम्बन्धित समस्त विभागों के–जिनमें राजस्व, सार्वजनिक कार्य, जंगल, सार्वजनिक स्वास्थ्य, शिक्षा, सहकार तथा उद्योग विभाग भी हैं– राज्य और जिला स्तर के उच्च तथा मध्य स्तरीय अधिकारियों के लिए विशेष अनुस्थापन पाठ्यक्रम आदि के सुझाव दिये है। इसके अतिरिक्त वन-विज्ञान तथा वन इन्जीनियरिंग कालेजों के पाठ्यक्रम में आदिवासी जीवन, भारतीय संविधान, पंच वर्षीय योजनाएं, वन सहकारिता का विकास, गृह-सहकारिता और उपभोक्ता सहकारिता आदि विषय भी रखने के सुझाव दिये हैं। सामाजिक कार्यकर्त्ताओं की भूमिका स्वयं नेतृत्व सम्भालने की नहीं, बल्कि स्थानीय नेतृत्व को उभाड़-कर लाने की होनी चाहिए, ताकि उसे अपना ध्यान अन्य कार्यों या क्षेत्रों की ओर आकर्षित करने का अवसर मिल सके। सामाजिक कार्यकर्त्ताओं की सेवाओं की संभावना से मैं सहमत हूँ। किन्तु दल ने यह स्पष्ट नहीं किया कि ये कार्यकर्त्ता अपने तथा पारिवारिक खर्चे की व्यवस्था किस प्रकार कर सकेंगे।

दल का यह सुझाव कि भारत सरकार मान्य समाज सेवी अभिकरणों को भारतीय आदिम जाति सेवक संघ जैसे अखिल भारतीय संगठन के जरिये आर्थिक सहायता दे, व्यावहारिक नहीं है। इस प्रकार के अभिकरणों को स्थानीय प्रशासन से तात्कालिक और नियमित रूप से उदारतापूर्वक अनुदान मिलना चाहिए। ज्ञात हुआ है कि भारत सरकार ने भारतीय आदिम जाति सेवक संघ को आजीवन कार्यकर्त्ता बनाने के सिलसिले में दिया जानेवाला अनुदान बन्द कर दिया है, जिसके फलस्वरूप ऐसे आजीवन कार्यकर्त्ताओं द्वारा काम का विस्तार कर सकना अब सम्भव नहीं रहा। अब ऐसा भी प्रतीत होता है कि समाज सेवी अभिकरण पहले जैसे चंदे के बल पर निर्भर नहीं रह सकते; क्योंकि एक तो इस कार्य के लिए उनके पास अब समय नहीं है और दूसरा जिन धनी लोगों के पास वे चन्दे के लिए जाते हैं, वे बड़ी रकम देने से इन्कार करते हैं और उसके लिए सरकार की ओर अंगुली उठाते हैं। यदि उचित ढंग से इन संस्थाओं से काम लेना है तो सम्बन्धित सरकारों को उनकी आर्थिक कठिनाइयों की चिन्ता दूर करनी होगी।

मुझे विश्वास है कि दल के प्रतिवेदन के फल-स्वरूप आदिवासी क्षेत्रों में वन श्रमिकों के संगठन कार्य को तथा अन्य औद्योगिक सहकारिताओं को काफी प्रोत्साहन मिल सकेगा। आदिवासी लोग उन क्षेत्रों में सिर्फ कुशल कारीगरों का काम स्वयम् कर सकेंगे और तकनीकी तथा संगठनात्मक ज्ञान प्राप्त करके वन उद्योग द्वारा राष्ट्रीय समृद्धि और सम्पत्ति को बढ़ाने में मदद भी कर सकेंगे।

बम्बई: २ मार्च १९६३

रेशम खादी उद्योग का विकास

सत्य रंजन सेन

भारत में रेशम उद्योग का पुनरुत्थान उसे खादी की संज्ञा देने के साथ प्रारम्भ हुआ। तब से ग्रामीण रेशम उद्योग का विकास करने हेतु विभिन्न स्तरों पर प्रयास हुए हैं। प्रस्तुत लेख में उद्योग को जिन उलट-फेरों से होकर गुजरना पड़ा है उन पर और उसके पुनर्जीवन हेतु किये गये विभिन्न प्रयासों पर प्रकाश डाला गया है।

यद्यपि रेशम हाथ कता और हाथ बुना वस्त्र था, लेकिन १९३० के लगभग से पूर्व उसे खादी की संज्ञा नहीं दी गयी थी। प्रारम्भिक अवस्था में खादी का मतलब केवल सूती वस्त्र से ही लिया जाता था। उस वक्त रेशम एक विलासिता की सामग्री समझी जाती थी, जिसका उपभोग परिपूर्णतः धनाढ्य वर्ग द्वारा होता था। लेकिन अपनी हरिजन यात्रा के दौरान महात्मा गांधी का ध्यान रेशम कार्य में लगे कारीगरों की दुरवस्था पर गया, जो कि प्रधानतः कुटीरोद्योगी कारीगर थे। चूंकी ग्रामीण रेशम उद्योग खादी समझने के लिए आवश्यक सभी शर्तें पूरी करता था, इसलिए बाद में उसे खादी मान लिया गया।

उस समय रेशम खादी उद्योग में निम्न बुराइयाँ घर किये हुए थीं: (अ) विदेशी सस्ते रेशमी सूत के साथ प्रतिस्पर्धा; (आ) सस्ते कृत्रिम रेशमी वस्त्रों से स्पर्धा; और (इ) बिचवानियों द्वारा शोषण। रेशम उद्योग में लगे कारीगरों के हितों की रक्षा करने तथा साथ ही साथ उद्योग का और ह्रास होने से रोकने के लिए १९३५-३६ के मध्य अखिल भारत चरखा संघ मैदान में आया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए निम्न कदम उठाये गये:

(अ) प्रमाणित संस्थाओं को बाजारू रेशम खरीदने से रोका गया;

(आ) प्रमाणित संस्थाओं को बुनकरों, रील करने-वालों और मटका सूतकारों को निर्धारित दर के अनुसार पारिश्रमिक देकर स्तरीय वस्त्र तथा सूत तैयार करने के निर्देश दिये गये;

(इ) बुनकरों की आमदनी बढ़ाने की दृष्टि से उड़न-ढर्की करघे प्रारम्भ किये गये;

(ई) विदेशी रेशम तथा अप्रमाणित व्यक्तिओं से—जो कि साधारणतया विदेशी सूत का व्यवहार करते थे—रेशम खरीदने के विरुद्ध प्रचार किया गया;

(उ) विदेशी मिलों में बने रेशमी वस्त्र तथा उनमें काते गये सूत की अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा से उद्योग की रक्षा करने के लिए सरकार से कर बढ़ाने का आग्रह करने के प्रयत्न किये गये; और

(ऊ) अच्छे गुण-स्तर के रेशम के लिए बाजार निर्मित करने तथा हजारों कारीगरों को जीवन वेतन प्रदान करते हुए उनकी रक्षा करने हेतु कुछ अधिक दाम देकर भी रेशम खादी खरीदने के लिए उपभोक्ताओं को तैयार करने के प्रयत्न किये गये।

कच्चा रेशम और रेशमी खादी के उत्पादन के लिए बंगाल में उत्पादन केन्द्र खोले गये। कारीगरों को उपयुक्त, न्यूनतम जीवन वेतन प्रदान करने का आश्वासन दिया गया। लागत खर्च के आधार पर कच्चे रेशम और रेशमी वस्त्रों का उचित मूल्य निर्धारित किया गया।

चरखा संघ द्वारा प्रयास

कच्चे रेशम के उत्पादन के लिए अखिल भारत चरखा संघ ने अपने स्वयम् के दो उत्पादन केन्द्र स्थापित किये और संघ द्वारा नियंत्रित लागत खर्च

पर सीमान्त लाभ लेते हुए उसने मास्टर लपेटकों (रीलर) को तैयार किया। संघ ने रेशम सूतकारों व बुनकरों का पारिश्रमिक भी निर्धारित किया। फेंक-ढर्की-करघों के स्थान पर उड़न-ढर्की-करघे अपनाने, वार्पिंग ड्रम आदि जैसी तकनीकों का समावेश किया गया, और प्रमाणित भण्डारों की स्थापना कर बाजार व्यवस्था का विकास किया गया।

अखिल भारत चरखा संघ यद्यपि रेशम उद्योग के सभी पहलुओं, जैसे रेशम कोया पालन, रील करना, चरखों की सहायता से विध्य कोयों और रद्दी रेशम (लपेटते वक्त की प्राप्त छीजन) की कताई, रेशम बुनाई और बिक्री व्यवस्था, का विकास करना चाहता था, किन्तु उसकी गतिविधियों का वस्तुतः सभी क्षेत्रों तक विस्तार नहीं हुआ। मालदा में एक या दो केन्द्रों को छोड़कर सभी स्थानों पर रेशम कोया पालन नहीं किया जा सका। वहाँ पर बीज के उद्देश्य से दो या तीन मौसमों तक रेशम कोया पालन का काम किया गया। यद्यपि सामान्यतः सभी कोया पालकों को कार्य क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं लाया जा सका और सभी को कोयों का उचित मूल्य प्राप्त होना सुनिश्चित नहीं किया जा सका, फिर भी साधारणतः कोयों का मूल्य नियंत्रित होता था; क्योंकि क्षेत्र में संघ ही सब से बड़ा खरीदार था। लपेटने के क्षेत्र में सूत के गुण-स्तर में सुधार लाया गया और तत्कालीन बंगाल सरकार के रेशम उद्योग उप-निर्देशक तक ने स्वीकार किया था कि अखिल भारत चरखा संघ के केन्द्रो में उत्पादित सूत सर्वोत्तम होता है।

लपेटने की क्रिया के उप-उत्पादन स्वरूप प्राप्त रेशम की छीजन के उपयोग के लिए प्रशिक्षण-सह-उत्पादन केन्द्र खोले गये। काते गये सूत से कपड़ा बुना जाता था। बीज कोयों तथा ऐसे कोयों की कताई के लिए जो अन्य किसी कारण से लपेटाई करने योग्य नहीं होते, मालदा व मुर्शिदाबाद जिलों में परम्परागत सूतकार थे। कताई में वे तकली का प्रयोग करते थे। ऐसे क्षेत्रों में केन्द्र खोले गये, कारीगरों को अच्छा सूत कातने के लिए प्रशिक्षित और बेहतरीन पारिश्रमिक प्राप्ति के लिए आश्वास्त किया गया। फेरीवालों तथा कारीगरों द्वारा धोखा-घड़ी करने जैसी गन्दी पद्धितियां समाप्त करने के सफल प्रयास किये गये। बुनाई के क्षेत्र में गुण-स्तर तथा उन्नत साधन-सरंजाम अपनाये गये।

लाभ

इस प्रकार काम में लाये गये उपायों से कपड़े की कीमत कुछ बढ़ी—बाजार भाव से करीब २० प्रति शत अधिक। इसका फल यह हुआ कि बाजार सीमित बना—लोगों में स्वदेशी की भावना पर अवलम्बित। देश भर में फैले खादी भण्डारों में अखिल भारत चरखा संघ द्वारा संचालित केन्द्रों व अन्य प्रमाणित माध्यमों द्वारा तैयार खादी की बिक्री होती थी। उस वक्त प्रमाणित खादी का उत्पादन प्रति वर्ष दो-तीन लाख रुपये से अधिक कीमत का नहीं होता था। अखिल भारत चरखा संघ ने रेशम खादी उद्योग में लगे कारीगरों से स्वदेशी का व्रत लेने और हाथ कती व हात बुनी खादी पहनने का आग्रह भी किया। अखिल भारत चरखा संघ के अन्तर्गत काम करनेवाले लपेटकों, मास्टर-लपेटकों तथा साथ ही साथ बुनकरों को खादी पहननी पड़ती थी।

इसका परिणाम यह निकला कि सर्व प्रथम कच्चे रेशम और रेशमी वस्त्रों के गुण-स्तर में सुधार हुआ। द्वितीय, महाजनों द्वारा असंगठित कारीगरों के शोषण के विपरीत उद्योग में लगे संगठित कारीगरों के हितों की रक्षा करने का प्रयास किया गया, और तृतीय, अखिल भारत चरखा संघ द्वारा प्रचार-प्रसार करके जनता मे शुद्ध रेशमी वस्त्रों के लिए रुझान निर्मित की गयी। इस काम में सफलता (अ) समाचार पत्रों में विज्ञापन देकर; (आ) बंगाल तथा अन्य स्थानों पर

उत्पादित रेशम व खादी के सम्बन्ध में जानकारी प्रस्तुत करनेवाली **खादी कथा** नामक मासिक पत्रिका प्रकाशित कर; (इ) बंगाल के रेशम उद्योग के विभिन्न मदों से सम्बन्धित जानकारी प्रदान करनेवाली स्लाइड सिनेमा घरों में प्रदर्शित करते हुए विज्ञापन देकर; (ई) विभिन्न स्थानों पर मैजिक लालटेन के माध्यम से भाषणों की व्यवस्था करके; और (उ) मेलों आदि जैसे समारोहों में पर्चे, पोस्टर आदि का प्रदर्शन करके प्राप्त की गयी। पर्चों, पोस्टरों आदि में उद्योग के उत्पादन तथा बिक्री के आंकड़ों के सम्बन्ध में बहु-विध जानकारी प्रस्तुत की जाती थी।

युद्ध काल में

ये गतिविधियाँ १९४२ के आन्दोलन के दिनों में अवरुद्ध हुईं; क्योंकि उन दिनों अखिल भारत चरखा संघ गैर कानूनी घोषित कर दिया गया था। महायुद्ध के बाद चरखा संघ ने अलग-अलग व्यक्तियों को प्रमाण-पत्र देने की अपनी नीति बदल दी। रेशम खादी का काम व्यवहारतः रुक-सा गया। रेशम एक युद्ध सामग्री होने की वजह से युद्ध-काल में रेशम उद्योग समग्र रूप से अपने चरमोत्कर्ष पर था। लेकिन लड़ाई की गतिविधियाँ बन्द हो जाने पर बाजार एकदम से गिर गया। कोयों और कच्चे रेशम का भाव १९४६-४७ मे क्रमशः २ रुपये तथा ४० रुपये प्रति पौण्ड था, जो १९४७-४८ में गिरकर ९० नये पैसे एवम् २०.७५ रुपये प्रति पौण्ड हो गया। इस तरह अचानक गिरावट आने का रेशम उद्योग पर बहुत बुरा असर पड़ा।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद

अखिल भारत चरखा संघ ने १९४६ के अन्त में खादी कार्य के सम्बन्ध में कुछ बुनियादी सिद्धान्त बनाये और एक प्रस्ताव पारित किया, जिसकी एक मुख्य बात थी खादी को केन्द्र मानकर सहकारी समितियों का संगठन करना। समग्र अर्थ-व्यवस्था में हुए परिवर्तनों के आधार पर यह—फल-प्रद खादी कार्य के लिए जैसा कि गांधीजी ने उस वक्त प्रतिपादन किया था—एक आवश्यक शर्त के रूप में नया उपागम यानी कार्य-विधि अपनाने की आवश्यकता के अनुरूप था। इस प्रारम्भ बिन्दु के बाद उन्होंने अन्य बातों के साथ-साथ (अ) उत्पादन के विकेन्द्रीकरण; (आ) खादी के उत्पादन और बिक्री की इकाइयों के रूप में सहकारी समितियों के गठन; तथा (इ) दूर-दूर के बाजारों में खादी की बिक्री प्रधान कार्यालय से सलाह-मशविरा करके उसके अनुसार ही करने की आवश्यकता पर जोर दिया।

देश के सामने उस वक्त ये समस्याएं थीं: युद्ध-कालीन चर्मोत्कर्ष का समय बीत जाने के बाद कच्चे रेशम तथा रेशमी वस्त्रों की कीमतें एकाएक गिर रही थीं; इस बीच चरखा रेशम और रेशमी वस्त्रों का गुण-स्तर इतना गिर गया था कि लड़ाई समाप्त होने के बाद उनका कोई बाजार नहीं रह गया; चरखे पर कोयों से रेशम लपेटनेवालों को निर्धारित मूल्य पर अपनी कच्ची सामग्री सरकार को सप्लाई करने के रूप में जो तैयार बाजार प्राप्त था वे सरकारी संरक्षण खो चुके थे; और बाजार कम होते जाने के कारण उद्योग में लगे जिन कारीगरों को सब से ज्यादा हानि उठानी पड़ी उनका साहूकार शोषण कर रहे थे, जिन्होंने कारीगरों का कोई संगठन न होने का लाभ उठाने में तनिक भी अवसर हाथ से नहीं निकलने दिया।

पश्चिम बंगाल सरकार का प्रयास

विश्व समृद्धि के समय में जबकि रेशम का मूल्य ऊंचा हो, उद्योग के लिए यह सम्भव है कि वह बिना सरकारी सहायता के भी जीवित रहे तथा फूले-फले। लेकिन गिरावट यानी मंदी के समय में, जबकि पूर्ति मांग से अधिक हो और उसे प्राप्त करना तथा फिर बनाये रखना मुश्किल हो, तो ऐसे मूल्यों पर जो प्रतिस्पर्धा करने योग्य न हों, नीचे गुण-स्तर का सामान तैयार करनेवाले पर सबसे पहले उसका बुरा असर

पड़ता है। इन सब पहलुओं को ध्यान में रखते हुए कि रेशम उद्योग संकटावस्था में है, पश्चिम बंगाल सरकार ने १९४७ में रेशम उद्योग का मामला हाथ में लिया तथा महायुद्ध से पूर्व अखिल भारत चरखा संघ ने जिन सिद्धान्तों का अनुकरण किया था उनके अनुसार रेशम उद्योग में लगे कारीगरों को संगठित कर उद्योग की अवस्था सुधारने का प्रयत्न किया। निम्न उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए तत्काल एक कार्यक्रम चालू करना वांछनीय समझा गया: (१) कारीगरों को सहकारी आधार पर संगठित करना; (२) रेशमी सूत और वस्त्र के गुण-स्तर में सुधार लाना; (३) बाजार मन्दा होते हुए भी कारीगरों को न्यूनतम जीवन वेतन की गारण्टी प्रदान करना; (४) कारीगरों की महाजनों के शोषण से रक्षा करना; और (५) कारीगरों को पूंजी प्रदान करना।

१९५२ का संकट

अप्रैल १९४८ में गठित टैरिफ बोर्ड की सिफारिश पर आयातित कच्चे रेशम पर संरक्षणात्मक शुल्क बढ़ाकर रेशम उद्योग की अवस्था में सुधार करने हेतु भारत सरकार ने भी कदम उठाये। लेकिन इन सब उपायों के होते हुए भी रेशम उद्योग के सामने १९५२ में एक संकट आया और १९४७ तथा १९५२ के बीच उसे विदेशी कच्चे रेशम की स्पर्धा में बहुत हानि उठानी पड़ी। लेकिन स्वदेशी रेशम उद्योग को हानि पहुँचाने यानी उसके सामने एक संकट खड़ा कर देने में विदेशी कच्चे रेशम का उतना हाथ नहीं था जितना कि कृत्रिम रेशमी सूत व वस्त्रों का, जो रेशमी वस्त्रों के नाम से प्रसिद्ध और रेशमी वस्त्रों के नाम पर बेचे जाते थे। अविवेकी व्यापारी असंगठित बुनकरों का शोषण कर रहे थे। इन सब पहलुओं का रेशम उद्योग पर संचयी प्रभाव पड़ा।

भारत सरकार द्वारा गठित केन्द्रीय रेशम मण्डल द्वारा किये जानेवाले प्रयासों के बावजूद उद्योग की अवस्था गिरती जा रही थी। यद्यपि १९५२ के पश्चात् रेशम के कोयों और कच्चे रेशम की कीमत में कोई विशेष मन्दी (स्फीति) नहीं आयी, लेकिन उत्पादन बहुत गिर गया। चूंकी रेशम कोया-पालक शहतूती खेती के अन्तर्गत जो भूमि थी उसे अन्य प्रकार की खेती के लिए काम में ला रहे थे और कोया-पालन छोड़ रहे थे, इसलिए परिणाम-स्वरूप कच्ची सामग्री के अभाव में रेशम लपेटनेवाले कारखाने बन्द हो रहे थे। इस प्रकार भूमिहीन कोया-पालकों, रेशम लपेटकों और बुनकरों को बेरोजगार कर दिया गया था तथा किया जा रहा था।

इस उद्योग में वास्तविक रेशम बुनकरों को असंगठित होने की वजह से सब से ज्यादा हानि उठानी पड़ती है। मिल बने तथा हाथ बने दोनों ही प्रकार के कृत्रिम रेशमी वस्त्रों से प्रतिस्पर्धा होने की वजह से, देशी तथा विदेशी दोनों ही प्रकार के कच्चे रेशम के दाम ऊँचे होने पर भी शुद्ध रेशमी वस्त्रों की कीमतें नीची रही हैं। बुनकरों को अपना माल बाध्य होकर अलाभकारी मूल्य पर बेचना पड़ा। इस प्रकार मुसीबत के मारे बुनकरों को या तो बाध्य होकर अपना पेशा छोड़ना पड़ा या सरकारी सहायता की शरण लेनी पड़ी। इस अवधि में अनुमान लगाया जाता है कि बुनकरों की संख्या ६,००० से गिरकर करीब ३,००० हो गयी। पश्चिम बंगाल सरकार को १९५३ में ३०० बुनकरों और १९५४ में १०० बुनकरों को—जबकि संकट अपनी चरमावस्था पर पहुँच चुका था—दातृ सहायता देनी पड़ी।

कारीगरों के लिए सरकारी योजना

इस प्रकार अनिश्चित और प्रतिकूल यानी असुखकर वातावरण में पश्चिम बंगाल सरकार ने १९४८ में रेशम उद्योग में लगे कारीगरों के लिए अपनी योजना प्रारम्भ की। उन्हें अपने उद्देश्य प्राप्त करने तथा बाजार में अपनी साख जमाने के लिए अनेक कठिनाइयों और बाजार की उतार-चढ़ावाली अवस्थाओं का सामना करना था। जो इकाइयां स्थापित की

गयीं उन्हें अपने प्रारम्भ से ही तीन क्षेत्रों–(१) कृत्रिम रेशम क्षेत्र, (२) आयातित विदेशी रेशम का क्षेत्र (कम से कम १९४८ से १९५२ तक); और (३) महाजनों द्वारा नियंत्रित असंगठित स्वदेशी रेशम क्षेत्र–से लोहा लेना पड़ा।

फिर भी, जब १९५३ में अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मण्डल की स्थापना हुई तो स्थिति में सुधार हुआ। मण्डल ने अपने परम्परागत खादी कार्य-क्रम के अन्तर्गत रेशम खादी (हाथ लपेटी/कती और हाथ बुनी रेशम) का काम भी अपने हाथ में लिया। मंडल ने एक ही शर्त रखी कि रेशम खादी का काम करनेवाले संगठन अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मण्डल (अब खादी और ग्रामो-द्योग कमीशन) के प्रमाण-पत्र अनुभाग (अब प्रमाण-पत्र समिति) द्वारा प्रमाणित हों। उस वक्त रेशम खादी कार्य में दो परम्परागत खादी संगठन—उत्तर प्रदेश का श्री गांधी आश्रम और बंगाल का अभय आश्रम—रेशम खादी के काम में लगे थे। रेशम शिल्पी संघों ने भी—यद्यपि पश्चिम बंगाल सरकार ने उनकी स्थापना हाल ही में की थी—मण्डल से प्रमाण-पत्र प्राप्त करने के लिए सम्पर्क स्थापित किया। चूंकि वे मंडल के प्रमाण-पत्र अनुभाग द्वारा निर्धारित सभी शर्तें पूरी करते थे, इसलिए उन्हें प्रमाण-पत्र दिये गये। परिणाम-स्वरूप उक्त संघ प्रमाणित खादी भण्डारों के जरिये अपना अधिक माल बेचने और कई प्रकार के कारीगरों को काम देने की अच्छी स्थिति में थे।

खुदरा बिक्री पर छूट (रिबेट), उत्पादन और बिक्री सहायता (सब्सिडी), साधन-सरंजाम पर सहायता, संचालन पूंजी ऋण आदि जैसी जो आर्थिक सहायता परम्परागत खादी को प्राप्य थी, वह रेशम खादी को भी उपलब्ध करवायी गयी तथा उसमें सुस्थिर प्रगति होती रही। लेकिन १९५४ के उत्तरार्द्ध में भारत सरकार ने रेशम खादी की खुदरा बिक्री पर दी जानेवाली छूट के औचित्य पर आपत्ति उठायी और नवम्बर १९५४ में मण्डल के विचारार्थ यह सवाल आया कि छूट देना चालू रखा जाय अथवा बन्द किया जाय। चूंकि प्रायः सभी की राय यह थी कि कोई नीति विषयक निर्णय लेने से पूर्व उक्त प्रश्न पर सभी दृष्टियों से विचार किया जाय, इसलिए मण्डल ने इस मसले का अध्ययन करने के लिए एक समिति नियुक्त की।

समिति ने पश्चिम बंगाल में स्थिति का अध्ययन किया जो कि सदियों से रेशम उद्योग के गढ़ के रूप में प्रसिद्ध है और जहां रेशम खादी आन्दोलन एक ठोस आधार प्राप्त कर चुका था।

समिति को मालूम हुआ कि संरक्षण का दावा मान्य है, लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि समान महत्व के दूसरे ऐतिहासिक पहलू पर उसका उतना ध्यान नहीं गया जितना जाना चाहिए था। अंग्रेजी शासन-काल से ही वास्तविक कारीगर का शोषण एक ऐसा भीषण रोग रहा है कि उसने उद्योग का ह्रास ही कर दिया। उचित व्यवहार प्रायः नहीं था और जल्दी धनवान बन जानेवाले सिद्धान्त ने उद्योग को इतना गिरा दिया था कि हर व्यक्ति दूसरे का गला घोंटने का प्रयास करता था—इस बात की बिना परवाह किये कि ऐसा करना निरन्तर खुद के पैरों पर कुल्हाड़ी मारना है। टैरिफ बोर्ड (१९३८) ने इस बात पर जोर दिया था कि "असाक्षरता और कर्जदारी रेशम उत्पादक को महाजन के चंगुल में फंसा देती हैं तथा वे उसे वहीं फंसाये रखती हैं।" उसने चरखा संघ के प्रयत्नों की प्रशंसा की थी।

पश्चिम बंगाल के प्रमाणित संगठनों ने उल्लेखनीय कार्य किया है और यद्यपि वे वित्तीय सीमाओं के कारण समस्या के अंशमात्र तक ही पहुँच पाये, लेकिन उन्होंने एक अच्छा उदाह-रण प्रस्तुत करते हुए उद्योग का और ह्रास होने से बचाया है। बिचवानियों तथा महाजनों का, जो कोया-पालकों, लपेटकों बुनकरों के अहित में बाजार पर कब्जा जमाये हुए तथा मनमानी किया करते थे,

इस ओर ध्यान गया है एवम् अनुवर्ती वर्ग सहकारी समितियों का मूल्य समझ गये हैं। रेशम खादी उद्योग का यह अनुभव रहा है कि जब कारीगर उचित पारिश्रमिक तथा अनवरत काम मिलने के सम्बन्ध में आश्वस्त हों तो उत्पादन के गुण-स्तर में सुधार होता है एवम् स्वयम् उद्योग के भीतर से ही उसमें जान, शक्ति आ जाती है। निस्संदेह आर्थिक सहायता से मूल्यांतर बराबर करने में मदद मिलती है, लेकिन निदान रेशम खादी को सस्ती बनाने में निहित है।

अतएव टैरिफ कमीशन जहाँ उद्योग की अनुचित विदेशी स्पर्धा से और केन्द्रीय रेशम मण्डल तकनीक में सुधार करने, बाजार सुस्थिर बनाने आदि जैसे कार्यों की देखभाल कर सकता है, वहां कारीगरों को शोषण से बचाने का काम खादी और ग्रामोद्योग कमीशन को करना है अन्यथा कहीं ऐसा न हो कि वास्तविक कारीगर इस पेशे में अधिकाधिक रूप से दिलचस्पी खो बैठें तथा सभी प्रयासों को छिछला व निष्फल बना दें; जैसा कि पिछले चन्द वर्षों में हुआ है। वस्तुतः यह अखिल भारत चरखा संघ की देन है और इससे इन्कार नहीं किया जा सकता, उसे त्यागा नहीं जा सकता।

अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मंडल (अब कमीशन) के प्रयासों का संचयी प्रभाव यह हुआ है कि पश्चिम बंगाल में प्रमाणित संगठनों की संख्या १९५४ में जो ३ थी वह १९६२ में २१ तक पहुँच गयी और उत्पादन २ लाख वर्ग गज से करीब १२ लाख वर्ग गज, जिसका मतलब है छः गुनी से भी अधिक वृद्धि तथा राज्य के कुल रेशम उत्पादन का लगभग ४० प्रति शत उत्पादन। अन्य रेशम उत्पादन राज्यों में भी खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अन्तर्गत कार्य का विस्तार हो रहा है।

कलकत्ता : २९ मार्च १९६३

भारत : लिंग के अनुसार कामगारों का तीन प्रमुख विभागों में प्रतिशत वितरण : १९०१-६१

वर्ष	लिंग	कुल कर्मी	प्राथमिक विभाग (१+२+३)	माध्यमिक विभाग (४+५+६)	गौण विभाग (७+८+९)
१९०१	व्यक्ति	१००	७१.७६	१२.६१	१५.६३
	पु.	१००	७०.३७	१२.३१	१७.३२
	स्त्री.	१००	७४.४६	१३.२५	१२.२९
१९११	व्यक्ति	१००	७४.८६	११.१३	१४.०१
	पु.	१००	७३.६६	१०.९७	१५.३७
	स्त्री.	१००	७७.१४	११.४५	११.४१
१९२१	व्यक्ति	१००	७५.९९	१०.४१	१३.६०
	पु.	१००	७४.५४	१०.५१	१४.९५
	स्त्री.	१००	७८.८०	१०.२१	१०.९९
१९३१	व्यक्ति	१००	७४.७५	१०.२१	१५.०४
	पु.	१००	७४.०८	१०.४३	१५.४९
	स्त्री.	१००	७६.२३	९.७४	१४.०३
१९५१	व्यक्ति	१००	७२.१२	१०.६२	१७.२६
	पु.	१००	६९.०८	११.५९	१९.३३
	स्त्री.	१००	७९.५७	८.२६	१२.१७
१९६१	व्यक्ति	१००	७२.२८	११.७०	१६.०२
	पु.	१००	६७.९८	१२.६८	१९.३४
	स्त्री.	१००	८१.५८	९.५९	८.८३

—भारत की जनगणना : १९६१ से।

कस्तूरबा*

जगदीश नारायण वर्मा

गांधीजी के जीवन, व्यक्तित्व और दर्शन के विषय में बहुत-कुछ लिखा गया है, परन्तु यह एक अजीब बात है कि उनकी जीवन-संगिनी कस्तूरबा के बारे में, जो सत्य की खोज, अहिंसा के प्रयोग और देश के स्वतंत्रता संग्राम में सदैव उनके साथ रहीं, बहुत कम सामग्री उपलब्ध है। गांधीजी की 'आत्मकथा' और 'दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह' तथा अन्य कुछ पुस्तकों में थोड़े-बहुत प्रसंग को छोड़कर **बा** ने राष्ट्र के प्रति जो त्याग किया उसके बारे में कोई विशष नहीं लिखा गया है। कस्तूरबा के विचारों और व्यक्तित्व के विकास तथा गांधीजी के जीवन-दर्शन के विकास में उनके योगदान के बारे में लोग—विशेषतः आज की पीढ़ी के लोग—बहुत कम जानते हैं।

गुरू

एक आदर्श पत्नी होने के नाते कस्तूरबा ने अपने आपको बापू के जीवन और कार्यों में पूर्णतया विलीन करने की कोशिश की और अपने इस प्रयत्न में वे पूरी तरह सफल हुईं। वे भारतीय नारी का एक अत्युत्कृष्ट आदर्श थीं। सीता और सावित्री की भाँति **बा** का आत्मत्याग महान् और भव्य था। इतना होने पर भी उनका अपना स्वयम् का एक प्रबल व्यक्तित्व था; उनकी इच्छा-शक्ति बड़ी दृढ़ थी, जो कभी झुकी नहीं, तोड़ी नहीं जा सकी। जो बात उनकी आत्मा और मस्तिष्क को मान्य नहीं होती उसे वे करने से इन्कार कर देती थीं। अपने विवाहित जीवन के प्रारम्भिक दिनों में पति-पत्नी में कई बातों पर मतभेद रहता था और गांधीजी ने यह अनुभव किया था कि वे कस्तूरबा पर हुकुम नहीं चला सकते। उनको किसी कार्यवाही करने के पहले उसका औचित्य अच्छी तरह समझाना पड़ता था। किन्तु एक बार गांधीजी के विचारों को समझने पर वे उनका दृढ़तापूर्वक अनुगमन करती थीं। इस प्रकार के घरेलू अनुभवों के आधार पर ही गांधीजी ने सत्याग्रह जैसे शक्तिशाली शस्त्र की खोज की थी जो बाद में राष्ट्र की स्वतंत्रता प्राप्ति में प्रबल साधन सिद्ध हुआ। इस प्रकार कस्तूरबा में एक वास्तविक सत्याग्रही की सच्ची भावना थी। और, इसी गुण के कारण गांधीजी ने **बा** को सत्याग्रह के सम्बन्ध में अपना गुरू कहा था।

श्री जवाहरलाल नेहरू ने कस्तूरबा को 'प्रिय भद्र महिला' की बिल्कुल उपयुक्त संज्ञा दी है; क्योंकि उनका आदर न केवल गांधीजी के उन घनिष्ठ साथियों ने ही किया जो स्वतंत्रता संग्राम और रचनात्मक कार्यों के क्षेत्र में गांधीजी का अनुगमन करते और उनके साथ आश्रम में रहते थे, बल्कि उन व्यक्तियों ने भी किया जिन्हें अल्प समय के लिए ही **बा** के सम्पर्क में आने का सुअवसर प्राप्त हुआ। उनके विशाल व्यक्तित्व और वात्सल्य-प्रधान प्रेम से सभी लोग गहरे प्रभावित थे। वे सभी आश्रमवासियों तथा आश्रम में यदा-कदा आनेवाले अतिथियों से समान रूप से स्नेह रखती थीं।

जीवन में परिवर्तन

गांधीजी से कस्तूरबा की सगाई सात वर्ष की उम्र में हुई थी और तेरह वर्ष की आयु में उनका विवाह हो गया था। उनका प्रारम्भिक जीवन दाम्पत्य प्रेम से

***कस्तूरबा मेमोरियल**; मानक चन्द कटारिया द्वारा सम्पादित; कस्तूरबा गांधी नेशनल मेमोरियल ट्रस्ट, कस्तूरबा ग्राम, इन्दौर (मध्य प्रदेश); १९६२; **पृष्ठ**: २५०; मूल्य: १२ रुपये।

ओत-प्रोत रहा। चूंकि कस्तूरबा अशिक्षित थीं, अतः गांधीजी को एक प्रेमी पति के अलावा शिक्षक की भूमिका भी अदा करनी पड़ती थी। दुर्भाग्यवश **बा** को शिक्षा प्राप्त करने में अधिक सफलता प्राप्त नहीं हुई। वे थोड़ा-बहुत लिखना-पढ़ना ही सीख सकीं। परन्तु वे जीवन-पर्यन्त अध्ययन करने में सतत प्रयत्नशील रहीं। जब वे ७५ वर्ष की थीं तब भी गांधीजी उन्हें आगाखाँ जेल में कविता, इतिहास, भूगोल और संस्कृत पढ़ाया करते थे। अन्य लोगों की भाँति शिक्षित न होने के कारण **बा** प्रायः पश्चाताप किया करती थीं। यद्यपि वे शिक्षित नहीं थीं, फिर भी राजनीतिक आंदोलनों में सदैव अग्रणी रहती थीं और कभी-कभी संवाददाताओं को विज्ञप्तियाँ भी देती थीं, जोकि एक ऐसा काम है, जिसमें कभी-कभी अनुभवी जन नेता भी चक्कर खा जाते हैं।

असहयोग आंदोलन के दिनों में बारडोली में एक नेता के रूप में संवाददाताओं को वक्तव्य देते हुए **बा** ने यह स्वीकार किया था, "बापू के सहवास में आने तक मैं असाक्षर थी और उनकी यह हार्दिक इच्छा थी कि मैं पढ़ूं, परन्तु इस दिशा में मेरी प्रगति बड़ी धीमी रही। क्या ही अच्छा होता कि मैं स्कूल जा पाती!"

दक्षिण अफ्रिका में

यह सर्वविदित है कि इंग्लैण्ड से लौटने के पश्चात् गांधीजी ने अपनी पत्नी को पाश्चात्य ढंग में ढालने की कोशिश की थी और दक्षिण अफ्रीका में वे एक अंग्रेज अभिजात वर्ग की भाँति रहे, लेकिन इस दम्पति के जीवन को तो एक बिल्कुल ही भिन्न मोड़ लेना था। उस देश के गोरे शासकों द्वारा जो रंग-भेद की नीति बरती जाती थी उस अन्याय का विरोध करने के लिए गांधीजी को बाध्य होना पड़ा और जो अपमानजनक अनुभव उन्हें हुए उनसे उनका जीवन-पथ और दृष्टिकोण ही बदल गया। अनेक ऐसे उदाहरण हैं जब कस्तूरबा ने गांधीजी के साथ गोरे लोगों की पाशविकता का अपनी जान जोखिम में डालकर भी बहादुरी के साथ सामना किया। जब गांधीजी ने फोनिक्स में अपने प्रथम आश्रम की स्थापना की और जब दोनों ने ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने तथा आश्रम जीवन बिताने का संकल्प लिया तो इस दम्पति के जीवन में एक नवीन अध्याय शुरू हुआ और इसके साथ ही उनके व्यक्तिगत व निजी जीवन का अन्त। जब उन्होंने आश्रम जीवन अंगीकार किया तो उनका परिवार व्यापक होने लगा और **बा** चिर विस्तारशील परिवार की माँ बनीं।

गांधीजी जैसे महान् पुरुष की, जो सदा सत्य की खोज करते रहे और इस प्रयत्न में अनेक यातनाएँ भी सहीं, पत्नी और साथिन बनना कोई आसान काम नहीं था। कस्तूरबा जैसी प्राचीन और पुराण-पंथी वातावरण में पली और सीधी-सादी तथा अशिक्षित किसी भी महिला के लिए अपने नेता पति और उसके प्रगतिशील विचारों के साथ कदम मिलाकर चलना एक अत्यंत कठिन कार्य था। किन्तु **बा** सदा अपने पति के विचारों और कार्यों में अपने को विलीन कर देने का भरसक यत्न करती रहीं और उसमें उन्हें पूरी सफलता मिली। गांधीजी के सुझाव पर उन्होंने मुसलमान और इसाईयों के अतिरिक्त अपने रसोई घर में हरिजन परिवारों को भी आने देना तथा साबरमती आश्रम में अपने घर पर एक हरिजन युवती रखना स्वीकार किया। इस प्रकार उन्होंने पूर्णतया रूढ़िवादिता को छोड़ दिया और तब से वे गांधीजी जिन नवीन सामाजिक मान्यताओं की शिक्षा देते थे उनके अनुकूल अपने को ढालती रहीं। अपने जीवन साथी के साथ वे हर वक्त कंधे से कंधा मिलाकर उनके हर कार्य में आत्मोत्सर्ग के प्रतीक स्वरूप डटी रहीं। आश्रम में दोनों ने वीतरागी का जीवन व्यतीत किया, फिर भी वे एक-दूसरे के बहुत समीप थे।

राजनैतिक जीवन

कस्तूरबा के राजनैतिक जीवन का आरम्भ दक्षिण अफ्रीका में उनकी तीन माह की प्रथम जेल यात्रा से होता है। बोरसाद सत्याग्रह के दौरान वे दूसरी बार १९२२ में जेल गयीं, जब वहाँ के नारी समाज ने गांधीजी की अनुपस्थिति में (गांधीजी उस समय जेल में थे) **बा** से उनका नेतृत्व करने की प्रार्थना की। स्वास्थ्य की दृष्टि से बहुत कमजोर होने पर भी कस्तूरबा संग्राम

में कूद पड़ीं। दो बार जेल जाने के पश्चात् १९३९ में ७० वर्ष की अवस्था में **बा** ने राजकोट आन्दोलन में भाग लिया। उस समय आपका स्वास्थ्य बहुत क्षीण हो रहा था। वे राजकोट के निकट एक ग्राम में एकान्त कारावास में रखी गयीं। चम्पारन आन्दोलन से लेकर बोरसाद, बारडोली तक के सभी सत्याग्रहों में और अन्त में 'भारत छोड़ो आन्दोलन' में भाग लेने से देश के विशाल नारी समाज को आगे आकर स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेने की प्रेरणा व प्रोत्साहन मिला। **बा** ने नमक सत्याग्रह और ताड़ी की दुकानों तथा विदेशी वस्त्र भण्डारों के सामने धरना देने सम्बन्धी आन्दोलनों का निर्देशन किया व स्वयम् ने उनमें भाग लिया।

विदेशी शासन के खिलाफ प्रतिरोध करने के सम्बन्ध में १९४२ में आगाखाँ जेल में वे कैद की गयी थीं। वह उनके विविध घटनापूर्ण जीवन की अंतिम घटना थी। 'भारत छोड़ो आन्दोलन' प्रारम्भ होने के बाद जब बम्बई में पुलिस गांधीजी को पकड़ने गयी तो उस समय **बा** बड़े ही विश्वास और साहस के साथ उनके पास खड़ी हुई थीं। उनके गिरते हुए स्वास्थ्य को देखकर गांधीजी ने उन्हें सेवाग्राम आश्रम में जाकर आश्रमवासियों की देखभाल करने को कहा था, परन्तु कस्तूरबा तो बापू का अनुसरण करने को निश्चय कर चुकी थीं और उससे वह एक इंच भी नहीं डिगना चाहती थीं। उसी दिन वे भी गिरफ्तार कर ली गयीं और आगाखाँ जेल में भेज दी गयीं। अन्ततोगत्वा उन्होंने अपने पति की गोद में ही चिर निद्रा प्राप्त कर ली, भारत में अंग्रेजी शासन की कैदी होकर !

देश भर में उनकी मृत्यु की खबर फैलने पर हड़तालें हुईं और लोगों ने प्रार्थनाएँ कीं। आगाखाँ महल में अगणित शोक संदेश आये, जिनमें एक संदेश भारत के तत्कालीन वायसराय का भी था। देश-विदेश के समाचार-पत्रों ने इस अवसर पर श्रद्धांजलियाँ अर्पित कीं।

अनुरूप स्मारक

गांधीजी की अध्यक्षता में १९४४ में स्थापित कस्तूरबा गांधी राष्ट्रीय स्मारक ट्रस्ट इस श्रद्धेय महिला का अनुरूप स्मारक है। ग्रामीण समाज में जागृति लाने—विशेष कर महिलाओं के जरिये—और ग्रामीण नारी समाज को अज्ञानता, अंधविश्वास तथा द्वेष आदि से मुक्त करने का काम करनेवाले संगठन के रूप में ट्रस्ट एक बहुत बड़ी सेवा कर रहा है। इन सभी वर्षों की अवधि में ट्रस्ट का काफी विकास हुआ है, उसके कार्यकर्त्ताओं की संख्या बढ़ी है, सभी राज्यों में दूर-दूर के क्षेत्रों में बसे हुए, गरीब और उपेक्षित गाँवों तक उसने अपनी गतिविधियों का विस्तार किया है; इन कार्यशीलताओं के अन्तर्गत आदिवासी क्षेत्र भी आते हैं।

ट्रस्ट का प्रधान कार्यालय कस्तूरबा ग्राम (इन्दौर) में है। इस कार्यालय का उद्घाटन २ अक्तूबर १९५० को स्वर्गीय सरदार वल्लभभाई पटेल के कर कमलों द्वारा हुआ था। यह ट्रस्ट के केन्द्रीय प्रशिक्षण केन्द्र के रूप में काम देता है। ट्रस्ट महिला कार्यकर्त्ताओं, दाइयों एवम् ग्राम सेविकाओं को प्रशिक्षित करता है। यह सभी राज्यों में ग्राम सेवा केन्द्र, आरोग्य सेवा केंद्र, मिश्रित केंद्र और औषधालय भी चलाता है। श्री जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में "प्रतिमाएँ तथा अन्य इसी प्रकार के स्मारक बनाने की अपेक्षा इस ट्रस्ट ने विभिन्न प्रकार से नारी समाज को विभिन्न तरीकों से ऊपर उठाने के लिए बहुत अच्छा कार्य किया है।"

बहु विध सामग्री

कस्तूरबा के १९वें निर्वाण दिवस के अवसर पर ट्रस्ट ने एक भव्य स्मारक ग्रंथ प्रकाशित किया है। प्रस्तुत ग्रंथ में विभिन्न प्रकरण हैं, जैसे स्त्री शक्ति, भारतीय नारी और उसका संसार, कस्तूरबा का जीवन और उनके संस्मरण, कस्तूरबा के कार्य—दर्शन और विचार—तथा कस्तूरबा गांधी राष्ट्रीय स्मारक ट्रस्ट—उसके द्वारा सोलह वर्ष की अमूल्य सेवा आदि। इस प्रकार स्मारक ग्रंथ भारत के राष्ट्रीय जीवन में भारतीय नारी समाज की भूमिका, कस्तूरबा और उनके जीवन तथा ट्रस्ट की सफलताओं पर विशद सामग्री प्रस्तुत करता है। अनेक सुप्रसिद्ध लेखकों, विचारकों व रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं की रचनाएँ ग्रंथ में हैं। ग्रंथ का सम्पादन सुन्दर और छपाई—सफाई अच्छी है।

बम्बई : ८ मई १९६३

राष्ट्रीय संकटकाल में हमारा कर्तव्य

वेदनभट्ल सीतारामय्या

देश की उत्तरी सीमा पर चीनी आक्रमण होने से समूचे देश की विचार-धारा में एक क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ है। हमारी सामाजिक और आर्थिक समस्याओं पर भी इसी नये दृष्टिकोण से विचार करना होगा। इस मनोवैज्ञानिक क्रांति में सामाजिक कार्यकर्त्ताओं को भी उनके सामने जो समस्याएँ हैं उनका समाधान करते वक्त इस नव विचार-धारा का ध्यान रखना पड़ेगा। जो व्यक्ति किसी एक विशिष्ट विचार-धारा में पले हैं, उन्हें इस बात की गहरी चिन्ता है अर्थात् उन्हें इस बात से गहरा ताल्लुक है कि हमारी विचार-धारा के ये परिवर्तन अस्थायी हैं अथवा हमारे राष्ट्रीय जीवन के स्थायी अंग यानी गुण बननेवाले हैं।

वस्तुतः जो परिस्थिति सामने आयी है वह कठिन है और हमारे राष्ट्रीय जन-नायक देश की आजादी और सांस्कृतिक तथा लोकतांत्रिक पद्धतियां बनाये रखने के लिए अपनी अधिकतम सामर्थ्यानुसार उसे सम्हाल रहे हैं। अर्थ-व्यवस्था में प्रभावोत्पादक और राष्ट्रीय प्रतिरक्षात्मक प्रयासों में सहायक तौर-तरीकों को ध्यान में रखना यानी उन पर अमल करना ग्रामीण उद्योगों में काम करनेवाले कार्यकर्त्ताओं का कर्तव्य है। निर्धारित समय से अधिक काम करके, होम गार्ड, नेशनल वालण्टरी आर्गेनाइजेशन, ग्राम रक्षा दल जैसे नागरिक प्रतिरक्षा संगठनों में शामिल होकर, राष्ट्रीय प्रतिरक्षा कोष में सहायता देकर तथा साथ ही साथ अपने ग्रामीण कार्य क्षेत्रों को स्वावलम्बी बनाकर वे ऐसा कर सकते हैं। देश की सुरक्षा के लिए उक्त अंतिम कार्य भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि ऊपर बताये गये अन्य काम। इस उद्देश्य पूर्ति के लिए उत्पादन काफी मात्रा में बढ़ाया जाना आवश्यक है, जिसके लिए जरूरी है कि गांवों में प्रचलित पुरानी तकनीकों में सुधार कर उन्हें आधुनिक रूप दिया जाय।

ग्रामीण उद्योगों का स्थान

संगठित बड़े उद्योगों को युद्ध सम्बन्धी आवश्यकताएं और विकेन्द्रित उद्योगों को देश की ८२ प्रति शत ग्रामीण आबादी की परमावश्यकताएँ पूरी करने हेतु कोई कसर नहीं उठा रखनी है। इस दृष्टि से ग्रामीण उद्योगों की भूमिका पहले से कहीं अधिक व्यापक हो गयी है। देश जनता की सामान्य जरूरतें पूरी करने के लिए भी विदेशी विनिमय, जिसकी बहुत कमी है, का उपभोग करने की स्थिति बर्दाश्त नहीं कर सकता, उस हालत में तो और भी कम जबकि राष्ट्र की सुरक्षा ही खतरे में है। विकेन्द्रित उद्योगों द्वारा तैयार माल कुछ महंगा और गुण-स्तर की दृष्टि से घटिया होने पर भी, हमें राष्ट्रीय प्रतिरक्षात्मक प्रयास के अंगस्वरूप उसका इस्तेमाल करना होगा। इसके लिए जनता को कुछ त्याग करना पड़ेगा। ग्राम पंचायतों तथा पंचायत समितियों में जन-प्रतिनिधित्व करनेवाले व्यक्तियों, सामाजिक कार्यकर्त्ताओं और ग्राम इकाइयों में काम करनेवाले कार्यकर्त्ताओं को, इस सम्बन्ध में जनता को समझाना पड़ेगा।

वस्तुतः देश में फिलहाल जैसी नयी परिस्थितियां हैं उनको देखते हुए सर्वांगीण यानी समग्र विकास कार्यक्रम इसी प्रकार चलाना पड़ेगा। यह एक बहुत कठिन काम है और इसके लिए ग्रामीण क्षेत्रों में रचनात्मक कार्यों में लगे सभी सामाजिक कार्यकर्त्ताओं को अथक प्रयास करने की आवश्यकता है। स्थानीय उत्पादन और स्थानीय रूप से उत्पादित माल के उपभोग में वृद्धि राष्ट्र की प्रतिरक्षा मजबूत बनाने के लिए उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी कि जीवन के सभी पहलुओं में मित-व्ययिता लाना।

पहले सामाजिक कार्यकर्त्ताओं का उद्देश्य मुख्य रूप से उपयुक्त आर्थिक गतिविधियाँ चलाकर अधिकाधिक लोगों को काम प्रदान करना था। किसी आर्थिक गतिविधि में अधिक जोर इस पर था कि कितने लोगों को काम मिलता है। मौजूदा परिस्थितियों में उत्पादन और स्वावलम्बन यानी आत्मनिर्भरता पर भी उतना ही जोर देना होगा। हमारी अर्थ-व्यवस्था के इस पहलू पर हमारे नेताओं नें उचित ही जोर दिया है। खादी और ग्रामोद्योगी कार्यों में लगे सामाजिक कार्यकर्त्ताओं को हमारी अर्थ-व्यवस्था की यह वर्तमान आवश्यकता ध्यान में रखनी होगी। चूंकि उत्पादन पर अधिक जोर देना है, इसलिए गाँवों में प्रचलित पुरानी तक्नीकों में परिवर्तन करते वक्त किसी भावात्मक विचार का प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए। लेकिन यह सब इस प्रकार करना होगा कि उससे सामजवादी समाज की स्थापना करने–जिसमें विज्ञान और प्रविधि से प्राप्त लाभ में समाज के आर्थिक दृष्टि से कमजोर वर्गों का भी हिस्सा होगा–की दिशा में हमारे जो प्रयत्न हैं, उन पर कोई बुरा असर न पड़े।

उन्नत तकनीकों की आवश्यकता

कुछ लोग सोच सकते हैं कि राष्ट्रीय संकट काल में ग्रामोद्योगों की योजनाएं देश की अर्थ-व्यवस्था पर भार हैं और परिणाम-स्वरूप राष्ट्र के साधन-स्रोत कम फलप्रद तथा कम उत्पादनशील आर्थिक गतिविधियों में चले जाते हैं, अतएव देश के बजट में उन्हें प्रोत्साहन नहीं दिया जाना चाहिए, फिर चाहे शांतिकालीन अर्थ-व्यवस्था में उनका जो भी महत्व हो। यह दृष्टिकोण विकृत कल्पना और वस्तुस्थिति की वास्तविकताओं के अज्ञान पर आधारित है। ग्रामीण जनता में बेकारी अब भी एक गम्भीर समस्या है। संकटकाल के कारण पैदा हुई परिस्थितियों से देहाती क्षेत्रों में रहनेवाली जनता के दु:ख-दर्द ही बढ़ेंगे। यद्यपि वह राष्ट्र के प्रतिरक्षात्मक उपायों के हित में उनका बहादुरी के साथ मुकाबला करने में अपने को तैयार कर रही है, लेकिन उसे सहायता देने के लिए प्रयास किये ही जाने चाहिए। जब तक विकेन्द्रित ग्रामीण विभाग में उत्पादन नहीं बढ़ता, इस परिस्थिति से छुटकारा नहीं पाया जा सकता। इस सम्बन्ध में पंचायतों व पंचायत समितियों को अपनी जिम्मेवारियों के प्रति अवश्य सजग बनाया जाना चाहिए। स्थानीय साधन-स्रोतों के उपयोग के आधार पर उत्पादन करने से ग्रामीण क्षेत्रों को दूर-दूर के उत्पादन केन्द्रों पर निर्भर रहने से छुटकारा मिलेगा, जिससे यातायात व्यवस्था का भी काफ़ी भार हल्का होगा।

कच्ची सामग्री प्राप्त करने और तैयार माल बेचने के विचार से केन्द्रों को आर्थिक दृष्टि से प्राणवान बनाने के लिए दो या तीन पंचायतों अथवा पंचायत समितियों को मिलकर सोच-विचार करके साथ-साथ काम करना पड़ सकता है। विकेन्द्रित प्रशासनात्मक इकाइयों में निकट सहयोग और सक्रिय भीगीदारी के बिना विकेन्द्रित विभाग में परमावश्यक सामग्री का उत्पादन नहीं बढ़ाया जा सकता। प्रत्येक पंचायत के लिए परमावश्यक वस्तुओं के उत्पादन और बिक्री के लक्ष्यांक निर्धारित करने होंगे और उन्हें प्राप्त करने के लिए अवश्यमेव हर प्रयत्न किया जाना चाहिए।

प्रत्येक पंचायत समिति को अपने प्रशासनात्मक कार्य के अंगस्वरूप एक निश्चित आर्थिक कार्यक्रम रखना चाहिए। आर्थिक कार्यक्रम के बिना लोग पंचायत राज के लाभ महसूस नहीं कर सकते—खास करके समाज के कमजोर वर्ग—और पंचायत समिति का अन्य कोई ऐसा कार्य नहीं जिसमें इससे अधिक लोक-सहकार तथा जनता के उत्साह की आवश्यकता हो। यदि कोई पंचायत समिति क्षेत्र में आर्थिक कार्यक्रम चलाने तथा शारीरिक दृष्टि के काम करने योग्य हर व्यक्ति को रोजगारी के अवसर प्रदान करने में समर्थ होती है तो वस्तुत: यह एक बहुत बड़ी सफलता एवम् सही माने में आर्थिक क्रांति होगी। इसी में ग्राम इकाई कार्यक्रम का महत्व निहित है, जिसकी सफलता परिपूर्ण रूप से इस बात पर निर्भर है कि उस क्षेत्र की ग्रामीण जनता, संस्थाएं और ग्राम इकाई कार्यकर्त्ता उसके उद्देश्यों को कहाँ तक समझते तथा अपनाते हैं, उनके अनुसार चलते हैं।

भुवनेश्वर : ४ मार्च १९६३ ●

फफूंदिया रोग और भोज्य विषाक्तता

जागेश्वर गोपाल श्रीखण्डे

जांच करने से पता चला है कि अनेक मामलों में भोज्य विषाक्तता को भोजन से उद्भिज फफूंदिया बीमारी जैसे कवक विष जनित रोगों का कारण ठहराया जा सकता है, जो मानव तथा पशु दोनों को ही प्रभावित कर सकते हैं। अतः यहीं आकर फफूंदी का बढ़ना व संदूषण रोकने के लिए अन्न उत्पादन तथा प्रशोधन कार्य में सावधानी बरतने की आवश्यकता सामने आती है।

देश में भोज्य विषाक्तता अर्थात् अन्न या आहार विषायण के कारण अनेक मौतें होती हैं। कभी-कभी इस भोज्य विषाक्तता का कारण या तो भोजन बनाने के पात्र में किसी विषाक्त कीटाणु का गिर जाना–खास करके भोजन पकाते वक्त–होता है या फिर तैयार भोजन में धात्विक संदूषण का पैदा होना। पिछले चन्द वर्षों में इस प्रकार की विषाक्तता भांडारित अनाज में कीट-नाशक औषधियाँ छिड़कने–खास कर आयातित अनाज में–के कारण पैदा हुई बताई जाती है।

चन्द सप्ताह पूर्व कुछ मौतें इस कारण हुई कि किसी बीज गोदाम से खरीदे गये चावलों का भोजन के रूप में इस्तेमाल किया गया। यह भी बताया गया कि उल्लिखित चावल अमेरिका से आयात किये गये थे। प्रथम सन्देह वस्तुतः चावल में कीट-नाशक औषधियाँ अथवा तत्वों के होने के बारे में किया गया। फिर भी, रासायनिक विश्लेषण से पता चला कि उसमें कीट-नाशक औषधियाँ अथवा धूमक तत्व नहीं थे और बताया गया कि मृत्यु का कारण अमेरिका से आयातित चावल में किसी प्रकार के दोष को नहीं ठहराया जा सकता।

कवक-विष-जनित रोग

भोज्य विषायण से सभी मृत्युएँ अब आवश्यक नहीं कि आहार में विषाक्त कीटाणुओं अथवा धात्विक संदूषण होने या खाद्यान्न सामग्री के भाण्डारीकरण हेतु परिरक्षात्मक रसायन अथवा धूमक तत्वों के प्रयोग के कारण होती हों। सम-शीतोष्ण देशों में–जहाँ पिछले चन्द वर्षों में एक नव उपागम विकसित हुआ है–किये गये अनुसंधान अथवा जाँच से हाल ही में इस विचार की पर्याप्त पुष्टि हुई है। उक्त उपागम में भोज्य विषायण के अनेक मामलों का कारण भोजन से पैदा होनेवाले कवक-विष-जनित रोग (मिकोटॉक्सीकोसिस) ठहराया गया है। उक्त रोग को जे. फॉरगैक्स (Forgacs) ने इस प्रकार पारिभाषित किया है: फफूंद मूल के जीव-विष (टाक्सिन) का शरीर में प्रवेश करने के बाद पोषद (होस्ट) का विषायण होना। मिकोटॉक्सीकोसिस से मनुष्य तथा पशु दोनों में भोज्य विषायण होता है। मानव प्राणी में इस प्रकार के रोग का एक हाल ही का उदाहरण वह है जो *ऐस्पर्जिलस फ्लेवस* की विक्रिया से संदूषित मूंगफली की सामग्री (पीनट मील) से पैदा होता है। संदूषित मूंगफली की सामग्री के उपभोग के साथ यह बीमारी लगी रहती है, इस बात की जानकारी सर्व प्रथम इंग्लैण्ड के पाताल मयूर-पालकों ने की थी, जिन्हें अनेक चूजों की हानि उठानी पड़ी थी। खाद्य पदार्थों पर फफूंदी लगने अथवा उनके सड़ने से पैदा होनेवाले विषाक्त संघटकों के कारण अन्य कई ऐसी अवस्थाओं का होना प्रदर्शित किया जा चुका है।

ऐसी एक महामारी १९२५ में मैंनचेस्टर में आयी

थी। करीब २०० व्यक्तियों को विषायण होने का कारण उनके चिकित्सकों ने, उन्होंने जो नीवारिका रोटियाँ (ब्रेड) खायी थीं उनमें फफूंदिया जीव-विष होना बताया। रोगियों को इस प्रकार की शिकायतें रहीं: ठंडक और जड़ता (चरम विकृतावस्था में), चमड़ी के नीचे या ऊपर कीटाणुओं के रेंगने की अनुभूति, घूर्णन, पेट दर्द और सर दर्द। विषायण के बाद प्रकुंचन रक्त चाप में वृद्धि होती है। महामारियां रूस (१९२६ में), आयरलैण्ड (१९२९ में) और हाल ही (१९५३ में) फ्रांस में भी आयी बतायी जाती हैं। फफूंदिया जीव-विषों के कारण इस प्रकार का विषायण साधारणतया आर्द्र फसल कटाई के मौसम के दरमियान होता है, जबकि अनाज को कुटाई से पूर्व भली-भाँति साफ नहीं किया जाता। विषाक्त होने के लक्षण उस वक्त भी भाँप लिये गये, जबकि आटे में विषाक्त अंश एक प्रतिशत ही थे। भाण्डारीकरण पर आटे का विषैलापन कम हो जाता है।

इस क्षेत्र में व्यवस्थित व विस्तृत कार्य सर्वप्रथम रूस ने प्रारम्भ किया। रूसवासियों को अपने इस काम में, आंशिक रूप में, द्वितीय महायुद्ध के दरमियान जिन लोगों ने वैसे अनाज की रोटियाँ खायी थीं, जो कि सर्दी भर खेतों में पड़ा रहा था, और उसके कारण उनमें एक रक्तस्राव की बीमारी के लक्षण दीख पड़े थे, उसने प्रेरित किया।

इस बीमारी का, जिसे अब साधारण विष-जनित 'एल्यूकिया' (Aleukia) कहते हैं, १९३२ में वर्णन किया गया था। सन् १९४३ में, जिन क्षेत्रों में रोग फैला था वहाँ के अनाज के २०० से अधिक नमूनों में *फ्यूजेरियम स्पोर ट्राइकिओड्स* नामक फफूंद को प्रधान संदूषक तत्व बताया गया था।

लक्षण

विषैले अनाज से तैयार भोजन मामूली मात्रा में पेट में जाने के बाद मुखार्ति यानी वदनशोध और आमाशय की अंत्रियों में गड़बड़ होने जैसे विकार पैदा होते हैं। भीषणावस्था में पेट में गैस उठने, अत्यधिक लार बहन, वमनेच्छा यानी मिचली आने, कै होने, अतिसार अर्थात् दस्त लगने और यहाँ तक कि १००° फर्नहाइट से भी तेज बुखार तक आने जैसी बातें हो सकती हैं। चन्द मामलों में हलक को प्रभावित करनेवाली व्रणोद्भवी प्रक्रिया इतनी तीक्ष्ण बन जाती है कि वह श्वासावरोधी तथा मृत्यु का कारण भी बन सकती है अर्थात् उससे श्वास आना-जाना बन्द होना और मृत्यु भी हो सकती है।

फ्यूजेरियम स्पोर ट्राइकिओड्स से पैदा हुआ विषैला संघटक २०० सेण्टीग्रेड तापमान में भी अटल यानी जिन्दा रहता है। साधारण तौर पर ताव देने या भोजन बनाने के दौरान वह नष्ट नहीं होता। विष-युक्त अनाज को चार वर्ष तक रखे जाने के बाद भी उसके विषैलेपन में कोई कमी नहीं हुई।

पशुओं को खतरा

एन. आय. कॉजिन और ओ. ए. एकशोव ने १९४५ में अनाज में विषैले तत्वों की जाँच के लिए एक परीक्षण प्रस्तुत किया था। उसके अनुसार, जब *स्टैनस क्लोराइड* के नमक के तेजाब के घोल की अनाज के दाने के साथ प्रतिक्रिया होती है तो बदरी-रक्त (चेरी रेड) रंग पैदा होता है। विषैलापन मालूम करने के लिए जिस दूसरे परीक्षण का प्रयोग किया जाता है उसमें जिस अन्न के विषैले होने का सन्देह हो उसके ईथर तत्व का खरगोश के चर्म पर उपयोग किया जाता है यानी उसे उसके चर्म पर लगाया जाता है। विषैले अनाज के तत्व से चर्म में सूजन और जलन पैदा होती है, जब कि विषहीन अर्थात् अच्छे अन्न के तत्व से उस पर कोई असर नहीं पड़ता।

जैसा कि नीचे बताया गया है विष-जनित रोग पशुओं के लिए आदमियों से कम हानिकारक नहीं होता। पशुओं के चारे में फफूंदी संदूषण ही पशुओं में मधुर तिपतिया घासवाला चारा खाने से होनेवाले रक्तस्राव के रोग का कारण है। ऐसा चारा ही

जिसमें फफूंदी पैदा हो, सम्भवतः पशुओं में 'हाइपर-केराटोसिस' अथवा 'एक्स' रोग और मुर्गियों आदि जैसे पक्षियों में रक्तस्रावक बीमारियों का कारण है। आदमियों की अपेक्षा पशुओं में विष-जनित रोग अधिक पाये जाते हैं। चूंकि पशुओं को काफी समय तक एक समान चारा दिया जाता है और उसके तत्वों का प्रशोधन भी न्यूनतम होता है, इसलिए ऐसा होता ही है जैसा कि कोई भी अपेक्षा कर सकता है।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विष-जनित रोग का एक अधिक रुचिकर मामला वह है जो मधुर तिपतिया घास खा जाने से पैदा होनेवाले रक्तस्राव के रोग से सम्बन्धित है। इस अवस्था का प्रथम बार पता १९२० के लगभग चला था, जबकि उत्तरी डकोटा और कनाडा में खराब मधुर तिपतिया घास खाने के कारण पशुओं को रक्तस्राव हुआ तथा वे मर गये। उससे पूर्व मधुर तिपतिया घास एक विषाक्त निराई समझा जाता था, लेकिन यूरोपीय 'कार्न-बोरर'के समाप्त हो जाने पर एकाएक मधुर तिपतिया घास फार्म में पैदा की जानेवाली एक अच्छी फसल बन गया।

पशुओं के जब सींग काटे जाते हैं, तो उक्त प्रकार की बीमारियाँ प्रायः सर्वाधिक होती हैं। इस प्रकार के एक नियमित कार्य करने के बाद, उनसे खून निकलने लगता है और वे मर जाते हैं। अन्य पशु बस आन्तरिक अत्यधिक रक्तस्राव के कारण मर जाते हैं। स्कोफिल्ड (Schofield) मधुर तिपतिया घास खाये हुए खरगोशों को पुनः स्थिति में ला सके थे। उक्त खरगोशों में खून जम जाने के समय को काफी रोका जा सका था यानी उनका रक्त काफी समय तक जमने नहीं दिया गया था, जबकि कुछ अन्य पशुओं में तो वह कभी जमा ही नहीं।

फफूंद युक्त चारा दो रोगों का अनुषंगी पहलू बताया गया है। इन रोगों के कारण पहले रसायनों को ठहराया गया था, जो संयोगवश चारे में मिल जाते थे अथवा किन्हीं औषधीय प्रयोजनों के लिए मिलाये जाते थे। कुछ वर्षों से यह स्वीकार किया गया कि पशुओं में *हायपरकेराटोसिस* का कारण चिकनाई (ग्रीज) में, जिसका उपयोग चारा मिलों और फार्म दोनों में किया जाता है, मौजूद 'क्लोरि-नीकृत नैप्थैलीन' है।

कुक्कुट-पालन को खतरा

फफूंद संदूषण का जिस दूसरे रोग में हाथ हो सका है वह है कुक्कुट वर्ग में रक्तस्रावक बीमारी। करीब दस वर्ष पूर्व इस रोग ने संयुक्त राज्य अमेरिका के विभिन्न भागों में कुक्कुट-पालकों को बहुत नुकसान पहुँचाया; क्योंकि उक्त रोग से बहुत-से पक्षी मर गये थे। सन् १९५४ में देलावरे मैरीलैण्ड क्षेत्र के सीखिया कबाब उत्पादकों में यह एक प्रमुख रोग था। उक्त बीमारी के मामले जब सर्वाधिक थे तो यह महसूस किया गया कि व्यावसायिक चारे अथवा पीने के पानी में किन्ही *सल्फोनामाइडो* का परिमाण अधिक होने पर चूजों की विटामिन–के की आवश्यकता बढ़ जाती है।

इन अध्ययनों के महत्व पर फॉरगैक्स ने जोर दिया था। उन्होंने बताया कि चारे से अलग अधिकांश विषैले फफूंद एस्पर्जिलली या पेनिसिल्ली हैं। दोनों का पर्याप्त फैलाव है और वे अनाज तथा सूत्रित भोजन को संदूषित करनेवाले सामान्य कारकों में हैं। वे विस्तृत ताप-मण्डल में पैदा होते हैं, लेकिन बढ़ना शुरू करने से पहले उन्हें ठीक-ठीक आर्द्र तापमान यानी वातावरण की आवश्यकता पड़ती है। उनके विकास अर्थात् वृद्धि के लिए अनाज का दाना आवश्यक आर्द्रता प्राप्त करे, इसके लिए सापेक्षिक नमी ७४-७५ प्रति शत होनी चाहिए। फिर भी, एक बार वृद्धि प्रारम्भ होने पर सापेक्षिक आर्द्रता जो भी रहे वे बढ़ते रह सकते हैं।

उपर्युक्त मूल्यांकन भोजन से पैदा होनेवाली फफूंदिया बीमारी के महत्व पर जोर देता है और फफूंद विकास तथा संदूषण न्यूनतम रखने के लिए खाद्य सामग्री के उत्पादन व प्रशोधन कार्य में लगे प्रत्येक व्यक्ति को हर उपाय काम में लाने के लिए तैयार रहना चाहिए।

हमारे जैसे विस्तृत, विशाल देश में, जहाँ विभिन्न प्रकार की जलवायु और मिट्टी पायी जाती है, खाद्यान्नों से उत्पन्न फफूंदिया बीमारियों की समस्या का महत्व विकट रूप धारण कर लेता है। समस्या इसलिए और भी महत्वपूर्ण है कि भोज्य विषायण के फलस्वरूप रक्तस्राव तथा वमन के कारण होनेवाली अनेक मृत्युएँ प्रायः अनिवार्य रूप से हैजे के मामले समझ लिए जाते हैं अर्थात् उक्त लक्षणों को हैजा समझकर मौत का कारण भी हैजा मान लिया जाता है। अन्ततः इसका परिणाम होता है गलत उपचार एवम् रोगी की मृत्यु। यह सब रोकने के लिए नगरपालिकाओं तथा गोदामों के प्रबन्धकों का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वे समस्या का अधिक सावधानीपूर्वक अध्ययन करें और उपभोक्ताओं को अनाज देने से पूर्व उल्लिखित तरीके से उसका सामान्य यानी सीधा-सादा सरल परीक्षण करने की व्यवस्था करें।

यदि इस कार्य का विस्तृत पैमाने पर संगठन किया जाय तो देश में अनुसंधान के लिए एक नया क्षेत्र खुल सकता है; क्योंकि फफूंदिया वनस्पति विभिन्न प्रकार की मिट्टी व जलवायु विषयक अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न होती हैं। सम-शीतोष्ण जलवायु में ही *ऐस्पर्जिलस पेनीसिलियम और फ्यूजेरियम* के तीन प्रभेद पहचाने जा चुके हैं। यह सम्भव है कि भारतीय अवस्थाओं में अन्य प्रकार की फफूंद इसी तरह की क्षति पहुँचा रही हो। इस प्रकार की जाँच से हमारे खाद्यान्न उत्पादन व प्रशोधन के तौर-तरीकों में सुधार करने के अतिरिक्त और आगे परीक्षण करने तथा सावधानी बरतने की प्रेरणा मिल सकती है, जिससे अन्ततः मानव को भोज्य विषायण की पीड़ाओं से बचाया तथा उससे होनेवाली मौतों को कम किया जा सकता है।

वर्धा : २० अप्रैल १९६२

लेखकों से

अक्तूबर में खादी ग्रामोद्योग की दसवीं वर्षगांठ के अवसर पर विशेषांक प्रकाशित किया जायेगा। लेखकों से अनुरोध है कि वे अपने लेख सम्पादक के पास जुलाई १९६३ के अंत तक भेज दें।

अनुसंधान तथा प्रचार

गोकुल ओ. परीख

बुद्धिजीवियों का अभिमत अनुकूल बनाने और सहयोग प्राप्त करने के कार्य में प्रचार को महत्वपूर्ण भूमिका अदा करनी है। अतः आज अधिक चैतन्ययुक्त, शक्तिशाली और व्यापक प्रचार-कार्यक्रम की – जिसमें खादी व ग्रामोद्योगों के विकास के विविध पहलुओं का समावेश हो – जरूरत है। अनुसंधान और प्रचार के बीच उचित समन्वय की भी विशेष आवश्यकता है।

खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के प्रचार निर्देशालय की ओर से अक्तूबर १९६२ में एक **प्रचार अधिकारी सम्मेलन** बुलाया गया था, जो खादी-ग्रामोद्योगों के क्षेत्र में अपने ढंग का पहला सम्मेलन था। प्रचार सम्बन्धी प्रयत्नों को व्यवस्थित और पर्याप्त रूप से संगठित करने की दिशा में यह एक बहुत महत्व का और अत्यंत आवश्यक कदम था। इसके पीछे दृष्टि यह थी कि हमारे देश की अर्थ-व्यवस्था में खादी-ग्रामोद्योगों का जो महत्वपूर्ण स्थान है, उसका न सिर्फ आम जनता को भान कराया जाय, अपितु इस क्षेत्र में किस हद तक प्रगति हुई है, इस कार्य के सिलसिले में उठनेवाली अनेक समस्याएँ क्या हैं तथा इसके विकास के लिए भावी संभावनाएँ कौन-सी हैं, इसकी भी जानकारी उसे दी जाय।

बहुत बड़ा महत्व

विभिन्न प्रकार के लोगों तथा वैज्ञानिकों, इंजीनियरों, अर्थशास्त्रियों, सरकारी अधिकारियों, कारीगरों, उत्पादन इकाइयों के प्रबंधकों तथा साधारण जनता के लिए विभिन्न माध्यमों के जरिये प्रचार कार्य के महत्व पर जितना बल दिया जाय थोड़ा है अर्थात् उसका महत्व बहुत बड़ा है, विशेष कर वैज्ञानिक अनुसंधान और प्राविधिक नवीनीकरण के इस युग में। खादी और ग्रामोद्योगों के क्षेत्र में यह परमावश्यक है कि विशिष्ट अनुसंधान कार्यों के परिणामों की सभी सम्बद्ध लोगों को जानकारी करवायी जाय, खास कर कारीगरों और उन सबको, जो इस कार्यक्रम को कार्यान्वित करने से प्रत्यक्ष सम्बद्ध हैं; क्योंकि कोई भी अनुसंधान-प्रयास अंततः इसीलिए होता है कि क्षेत्र में उसका विशेष रूप से उपयोग हो। विभिन्न क्षेत्रों में तकनीकी अनुसंधान के क्षेत्र में, अन्य क्षेत्रों के समान जो विविध अनुभव होते हैं, उन्हें दृष्टि में रखते हुए सम्मेलन के आयोजकों को इस बात का श्रेय दिया जाना चाहिए कि कमीशन के अधिकारियों और विभिन्न राज्य खादी और ग्रामोद्योग मंडलों के प्रतिनिधियों के बीच विचारों का आदान-प्रदान करने का सुअवसर उन्होंने उपस्थित किया और इस प्रकार हम सब के सम्मुख एक ओर तो प्रचार क्षेत्र के प्रयत्नों तथा जरूरतों का एवम् दूसरी ओर उन्हें पूरा करने के तरीकों व साधनों का एक स्पष्ट चित्र प्रस्तुत किया।

समन्वय पर जोर

अनुसंधान और प्रचार के बीच समन्वय के सवाल पर सम्मेलन की कार्यवाही के प्रसंग में जो जोर दिया गया, वह उचित ही था। कमीशन के प्रचार निर्देशक ने इस दृष्टि से 'एक सुसंबद्ध, संयुक्त और समन्वित प्रचार नीति' निर्धारित करने के सम्बन्ध में चन्द महत्वपूर्ण सुझाव पेश किये। उनमें से एक सुझाव है, बुद्धिजीवियों से (जिनके लिए उन्होंने कहा है) संपर्क साधने की दृष्टि से यह आवश्यक है कि उत्पादन और साधन-सरंजाम की तकनीकों में सुधार करने के सिलसिले में होनेवाले अनुसंधान के परिणाम और उसकी संभाव्यताएँ प्रकाश में लायी जायें। निस्संदेह इस पर तत्काल ध्यान दिया

जाना चाहिए। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि खादी और ग्रामोद्योगों में तभी विकास हो सकता है, जबकि उनमें काम आनेवाले आज के उपकरण और तकनीकों में उचित समय के भीतर ही काफी सुधार किये जायें। इन उद्योगों की उत्पादन-इकाई-लागत कम करनी होगी और साथ ही उनके गुण-स्तर में भी सम-योजित अनुसंधान कार्य द्वारा इस स्तर तक सुधार करना होगा कि वे बड़े-बड़े आधुनिक यांत्रिक उद्योगों से अगर स्पर्धा न कर सकें, तो कम से कम उनके मुकाबले में टिक अवश्य सकें।

खादी में अनुसंधान

खादी और ग्रामोद्योगों के क्षेत्र में जो तकनीकी अनुसंधान कार्य हुआ है, उसके परीक्षण से जाहिर होता है कि विविध उद्योगों के सम्बन्ध में विशिष्ट अन्वेषण कार्य करने और विभिन्न प्रदेशों तक पहुँचने में सम्बद्ध क्षेत्र की वास्तविक आवश्यकताएँ पूरी करने की दृष्टि से वह प्रत्यक्षतः अपर्याप्त सिद्ध हुआ है। आज दो प्रमुख अनुसंधानशालाएँ काम कर रही हैं: (१) अहमदाबाद स्थित खादी ग्रामोद्योग प्रयोग समिति; और (२) वर्धा स्थित जमनालाल बजाज केंद्रीय ग्रामोद्योग अनुसंधानशाला, जोकि इन उद्योगों के सम्बन्ध में विशिष्ट अनुसंधान कार्य करती है। इसके अतिरिक्त, अहमदाबाद वस्त्रोद्योग अनुसंधान संस्था ने भी, जो 'अटीरा' के नाम से साधारणतया प्रसिद्ध है, अंबर चरखे के सुधार कार्य में तथा कताई और पूनी (रोविंग) बनाने के साधनों तथा प्रक्रियाओं की कार्यगत क्षमता बढ़ाने में विशेष दिलचस्पी ली है। परन्तु कई प्रमुख खादी कार्यकर्त्ताओं का यह खयाल रहा है कि इन उद्योगों के उत्पादन-साधनों एवं तकनीकों में सुधार करके उनकी आर्थिक दृष्टि से जीवित रहने की क्षमता में पर्याप्त सुधार करना हो (और ऐसा करना जरूरी है), तो विभिन्न क्षेत्रों में अनुसंधान संस्थाओं का एक जाल-सा बिछाने के कार्य का संगठन करना जरूरी है। यहाँ यह स्मरणीय है कि खादी मूल्यांकन समिति (अध्यक्ष: डाक्टर ज्ञानचंद) ने भी इसी तरह का विचार प्रकट किया था।

अम्बर चरखे का आगमन खादी उद्योग के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण घटना है। अम्बर के आने से न सिर्फ देश में खादी उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि की सम्भावनाएँ प्रकट हुई हैं, बल्कि अम्बर सूत की अधिकाधिक समानता और मजबूती के कारण खादी के गुण-स्तर में सुधार करना भी सम्भव हुआ है। अनुसंधान एक सतत चलने-वाली प्रक्रिया है। अम्बर चरखे में किये जानेवाले विविध सुधारों के कारण उसके सूतकारों को समुचित न्यूनतम आमदनी करवाने की क्षमता रखनेवाला एक अत्यधिक कुशल उत्पादन-साधन होने की सम्भावना का संकेत मिलता है। छः तकुओं के अम्बर चरखे और उसके नवीनतम नमूने अर्थात् आठ तकुएवाले संयुक्त चरखे (जिसमें पूनी या बाती बनाने का काम सूत कातने के साथ ही साथ चलता है) के कारण परंपरागत चरखे तथा साथ ही चार तकुएवाले अंबर चरखे के मुकाबले उत्पा-दकता में काफी सुधार हुआ है, ऐसा स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

पट्टा धुनाई यंत्र

इसी तरह खादी-उत्पादन के अन्य साधनों और प्रक्रियाओं में भी तकनीकी सुधार किये जा रहे हैं। रूई धुनने की प्रक्रिया में भी काफी सुधार करना पड़ेगा, ताकि अच्छी किस्म के सूत की कताई निश्चित की जा सके। खादी ग्रामोद्योग प्रयोग समिति द्वारा यह खोज की जा रही है कि धुनाई में पड़नेवाला भार कैसे कम किया जा सकता है। एक नया पट्टा (टेप) धुनाई यंत्र भी समिति ने खोज निकाला है, जो एक घंटे में एक किलोग्राम के हिसाब से पट्टे के रूप में रूई धुनने की क्षमता रखता है। क्षेत्र में प्राप्त अनुभवों से सिद्ध हो चुका है कि यह क्षमता सहज ही प्राप्त की जा सकती है। ताना तैयार करने, और बुनाई की प्रक्रिया में भी, कई तकनीकी सुधार किये गये हैं, जैसे करघों में टेक-अप-मोशन, लंबा ताना आदि।

खादी और ग्रामोद्योगों अथवा अन्य विकेंद्रित उद्योगों के लिए तकनीकी अनुसंधान का कार्यक्रम पुरानी यानी परंपरागत तकनीकों और प्रक्रियाओं से सर्वथा भिन्न आधार पर ही बन सकेगा, जैसे अंबर के मामले में (जो कि 'तर्कु कताई यंत्र' की प्रक्रिया से लेकर कपड़ा मिलों की 'वलय कताई यंत्र' की प्रक्रिया तक पहुँचने की प्रगति का प्रतिनिधित्व करता है)। उन साधनों और तकनीकों का सूक्ष्म रूप में, ठीक तरह से अपनाया जाना जरूरी है–जो आधुनिक यंत्र-प्रधान बड़े उद्योगों में परिशुद्धता के साथ उपयोग में लायी गयी हैं–जिनके पीछे मनुष्य शक्ति का **उत्पादनशील कामों में अधिकतम उपयोग** करने का निश्चित हेतु हो।

ग्रामोद्योगों के क्षेत्र में कमीशन की ओर से विभागीय तौर पर चलाई जानेवाली कुछ संस्थाएँ हैं, जो अनुसंधान संबंधी कार्य और प्रयोग करती हैं, जैसे दहाणु रोड स्थित ताड़-गुड़ शिल्प भवन और वणाकबोरी (गुजरात) स्थित केंद्रीय अनाज तथा दाल प्रशोधन प्रशिक्षण–सह–अनुसंधान संस्था। इनके सिवाय, राज्यों के खादी और ग्रामोद्योग मंडलों ने भी अनुसंधान और प्रशिक्षण संस्थाएं खोली हैं, जैसे पूना स्थित हाथ कागज अनुसंधान संस्था।

तकनीकी और आर्थिक पहलू

तकनीकी विकास का आवश्यक रूप से ही आर्थिक और सामाजिक विकास में प्रतिबिम्ब मिलना चाहिए। कोई भी तकनीकी अनुसंधान कार्यक्रम आर्थिक विचारों से ही निर्देशित होना चाहिए। एक नया उपकरण या प्रक्रिया तकनीकी दृष्टि से पूर्ण हो सकती है, परंतु आर्थिक दृष्टि से वह मजबूत ही होगी, ऐसी बात नहीं है। अतः संभव है, कार्यक्षेत्र में वह सफल न हो। इसलिए एक तरफ तकनीकी और आर्थिक अनुसंधान तथा दूसरी तरफ प्रचार के बीच निकट समन्वय का होना अत्यावश्यक है। और, विकास कार्यक्रम का मूल्यांकन करने के लिए आर्थिक अनुसंधान कार्य को अन्य बातों के साथ-साथ तकनीकी प्रगति की बात भी ध्यान में रखनी होगी। ऐसे तकनीकी-आर्थिक अध्ययन के परिणाम क्षेत्रीय कार्यकर्त्ताओं के लिए अच्छी तरह प्रकाशित किये जाने चाहिए। खादी-ग्रामोद्योग कार्यक्रम की आर्थिक संभाव्यताएँ अभी तक कुछ लोगों द्वारा ठीक से मान्य नहीं की गयी हैं, अतः विशेष आर्थिक समस्याओं के अध्ययनों का प्रकाशन, हो सकता है, उन्हें समझाने में मदद कर सके।

विशिष्ट आर्थिक मामलों में उपयुक्त सलाह देने के लिए तकनीकी संस्थाएँ यदि अर्थशास्त्र के विद्वानों की सेवाएँ प्राप्त कर सकें तो उचित होगा। खादी-ग्रामोद्योगों के कार्य में इस प्रकार का त्रि-सूत्री, समन्वयात्मक और व्यवस्थित प्रयत्न आज के समय की एक बहुत बड़ी जरूरत प्रतीत होती है। इस प्रकार आशा की जा सकती है कि तकनीज्ञों, अर्थशास्त्रियों और पत्रकारों के संयुक्त प्रयत्न इस कार्यक्रम को सफल बनाने में बहुत सहायक हो सकेंगे, खास कर इसलिए कि देश की आज की लोकतांत्रिक संरचना यह माँग करती है कि राष्ट्रीय विकास कार्यक्रम के प्रति लोकमत जागृत किया जाय।

बुद्धिजीवियों तक पहुँचना

प्राविधिक अनुसंधान कार्य करनेवाली प्रमुख संस्थाओं के कार्य का सविस्तार अध्ययन करने और उनके द्वारा हाथ में ली गयी अनुसंधान परियोजनाओं के सम्बन्ध में विस्तृत बातें, अन्वेषण के उद्देश्य तथा उत्पादकता एवम् तैयार माल के गुण-स्तर के सुधार सम्बन्धी विस्तृत विवरण, लागत खर्च व कारीगरों की आमदनी पर पड़नेवाले अनुसंधान कार्य के प्रभाव एवम् क्षेत्र में उन्हें व्यापक रूप से लागू करने यानी अपनाने की शक्यता सम्बन्धी बातें प्रकाशित करने से बहुत बड़ी सहायता मिलेगी। इसी प्रकार अन्वेषण की दृष्टि से अपेक्षाकृत इस अछूते क्षेत्र में हुए अनुसंधान के कुछ ठोस परिणामों के प्रकाशन से लागों को यह समझाने में बड़ी मदद मिलेगी कि कमीशन को अनुसंधान व प्रयोगों हेतु दी गयी निधियाँ उचित रूप से खर्च की जा रही हैं।

खादी-ग्रामोद्योग की उद्देश्य पूर्ति के लिए पत्रकारों व बुद्धिजीवियों की दिलचस्पी जागृत करने और उनका सहयोग प्राप्त करने की दृष्टि से प्रचार अधिकारी सम्मेलन ने कुछ निश्चित उपाय भी सुझाये। उनमें से

अधिक महत्व के उपाय ये हैं : (अ) निबंध प्रतियोगिता आयोजित करना; (आ) विचार गोष्ठियाँ, स्वाध्याय मंडल आदि का संगठन; (इ) खादी-ग्रामोद्योगों में अनुसंधानार्थ विशेष छात्रवृत्तियाँ देने की व्यवस्था करना; तथा (ई) वैज्ञानिकों से संपर्क साधकर ग्रामोद्योगों के उत्पादनों के उपयोग से होनेवाले लाभ के सम्बन्ध में उनके मत प्राप्त करना। इसके साथ एक सुझाव और जोड़ा जा सकता है कि स्कूलों-कालेजों में इन उद्योगों के महत्व के बारे में भाषण प्रतियोगिताएँ आयोजित की जानी चाहिए। इसके अतिरिक्त यह बात भी उपयोगी होगी कि अनुसंधान और प्रचार के बीच समन्वय स्थापित करने के तरीकों के बारे में सोचा जाय, जिनमें प्रचार कार्यकर्त्ताओं का अनुसंधानशालाओं के काम के गहन अध्ययनार्थ वहाँ जाना और वहाँ के कार्यकर्त्ताओं के साथ सामूहिक चर्चा आयोजित करना भी शामिल है। अतः सम्मेलन ने जो सुझाव दिये, उन पर सही दृष्टिकोण से विचार किया जाना तथा बुद्धिजीवियों का सहयोग प्राप्त करने की दृष्टि से उन्हें उपयुक्त रूप से कार्यान्वित किया जाना वांछनीय है।

संक्षेप में, खादी और ग्रामोद्योग कमीशन का प्रचार कार्यक्रम और भी अधिक शक्तिशाली तथा व्यापक बनाया जाना चाहिए, ताकि उसके अंतर्गत कमीशन के विकास कार्यक्रम के विविध पहलू लाये जा सकें। इनमें अनुसंधान—तकनीकी और आर्थिक—तथा प्रचार के बीच गहरा सामंजस्य स्थापित करना बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य प्रतीत होता है, ताकि इस कार्यक्रम के बारे में जो कुछ गलतफहमियाँ हैं, वे दूर की जा सकें और इस कार्यक्रम को कार्यान्वित करते समय उठनेवाले विविध प्रश्नों पर स्पष्ट तथा मुक्त चर्चा करने का अवसर प्राप्त हो। विकेन्द्रित उद्योगों के क्षेत्र में तकनीकी अनुसंधान के क्षेत्र और आकार यानी विशालता तथा राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में उनके विकास कार्यक्रम के महत्व को उचित रूप से न पहचाने जाने के फलस्वरूप अक्सर जो आलोचनाएं होती रहती हैं, उनका कमीशन द्वारा प्रकाशित **जागृति** और **खादी ग्रामोद्योग** अथवा विभिन्न राज्य मंडलों व संस्थाओं के मुखपत्रों के माध्यम से उपयुक्त उत्तर दिया जाना चाहिए।

अहमदाबाद : ६ मार्च १९६३

भारत : सन् १९५१ में कृषि-प्रधान शहरों की संख्या तथा आबादी
(राष्ट्रीय नक्शा संगठन की आबादी प्लेट से संकलित)

राज्य/केन्द्र प्रशासित क्षेत्र	शहरों की संख्या	आबादी
भारत*	१,१७५	८९,०४,९१९
आन्ध्र प्रदेश	११७	१०,२५,३७६
असम	१	४,२५०
बिहार	५५	७,१०,३२४
गुजरात	८३	५,७४,४१५
जम्मू और कश्मीर† ...	१८	४८,८०६
केरल	६२	५,१९,५०३
मध्य प्रदेश	६२	२,३८,६८०
मद्रास	९४	९,९६,०००
महाराष्ट्र	२०४	१६,३२,९९०
मैसूर	१६४	११,९७,५९३
उड़ीसा	६	४३,१९३
पंजाब	३१	१,८७,५२१
राजस्थान	१०१	५,९६,४६२
उत्तर प्रदेश	१५३	९,४५,४६१
पश्चिम बंगाल ...	१९	१,७३,६९१
हिमाचल प्रदेश ...	५	१०,६५४

* पांडिचेरी के शहर शामिल नहीं हैं। † १९४१ की जनगणना के अनुसार आबादी।

—*भारत की जनगणना : १९६१* से।

तिरघा में सहकारी खेती

त्र्यम्बकलाल भ. भट्ट

समृद्धि का सही, विश्वस्त मार्ग है सहकार। मध्य प्रदेश के दुर्ग जिले में स्थित तिरघा गाँव का अनुभव इस कथन की पुष्टि करता है।

मध्य प्रदेश के दुर्ग जिले में तिरघा गाँव ने जो प्रयास किया है वह ध्यान देने योग्य है। तिरघा खरखरा नदी के तट पर बसा है। राजनांदगाँव और दुर्ग को परस्पर जोड़नेवाली ग्राण्ड ट्रंक रोड इससे चार मील पड़ती है। इसकी आबादी १,०५६ है। गाँव से जाने अथवा गाँव में आने के लिए कोई उपयुक्त उप-सड़क नहीं है; बरसात के दिनों में पास की नदी का पानी इधर-उधर फैल जाता है और आस-पास के क्षेत्रों से उन दिनों में इसका सम्बन्ध बिल्कुल टूट जाता है। मानसून के दिनों में पानी ही पानी भर जाने के सामूहिक खतरे ने सम्भवतः निवासियों को एक होने के लिए प्रेरित किया।

गाँव के एक त्यागी कार्यकर्त्ता श्री प्यारेलाल बालचन्द के मार्गदर्शन में प्रयोगात्मक आधार पर सहकारी खेती प्रारम्भ की गयी। कार्यारम्भ ग्राम सेवा दल के युवकों द्वारा एक सहकारी कृषि समिति के गठन के साथ हुआ। समिति का गठन १५ जुलाई १९५९ के दिन हुआ। उस वक्त उसके पास १,५१५ रुपये प्रारम्भिक पूंजी स्वरूप थे। दिसम्बर १९५९ में उसे १७ सदस्यों के साथ एक संयुक्त सहकारी कृषि समिति का रूप दिया गया। सभी सदस्यों ने अपनी ६२१ एकड़ भूमि को सहकारी खेती के लिए एक साथ मिला देना स्वीकार किया। नकद, आभूषण और बैल, भैंसे, गाड़ी तथा अन्य कृषि उपकरणों के रूप में ४२,२०० रुपये के बराबर साधन-स्रोत जुटाये गये। बाद में सदस्यों की संख्या ५१ और हिस्सा-पूंजी ६१,३३८ रुपये हो गयी तथा समिति के अन्तर्गत आनेवाली भूमि भी बढ़ी–वह ९३० एकड़ थी।

इस नये प्रयास की प्रथम और सर्वाधिक उल्लेखनीय सफलता है प्रति एकड़ धान की उपज में वृद्धि। धान की प्रति एकड़ औसत उपज उस वक्त १५ से १८ मन तक थी, जबकि लोग अलग-अलग खेती करते थे। अब वह बढ़कर २५ मन हो गयी है। इसमें सहायक कारण है: (१) ट्रैक्टर द्वारा गहरी जुताई; और (२) बिजली से चलनेवाले पम्पों की सहायता से सिंचाई के लिए जल की उपलब्धि।

समिति ने उन्नत नस्ल की १० गायें और दो भैंसें खरीदी हैं। उनसे अब तक १८ बछड़े–काटड़े पैदा हो चुके हैं। सन् १९६१–६२ के दरमियान ४,३०० रुपये का दूध प्राप्त हुआ। समिति ने एक अभिनव किस्म की गोशाला प्रारम्भ की है और इन पशुओं के लिए दाना तथा खली का भाण्डारीकरण करने हेतु ५,८०० रुपये की लागत पर एक गोदाम का निर्माण किया है। सदस्य अपने पशु एक सामूहिक स्थान पर रखते हैं। कुल पशु करीब २०० हैं। सदस्यों को उचित मूल्य पर दूध मिलता है।

ग्रामीणों की सब्जी सम्बन्धी रोजमर्रा की जरूरतें पूरी करने की दृष्टि से १० एकड़ उपजाऊ जमीन सब्जी की खेती के लिए अलग रख छोड़ी गयी है और इस जमीन की सिंचाई के लिए ७,९४० रुपये खर्च करके दो कुएँ खोदे गये हैं, जिनमें बिजली से चलनेवाले पम्प लगे हैं। समिति अपने सदस्यों को ५० प्रति शत रियायती दर पर सब्जियाँ देती है और अतिरिक्त मात्रा बेच देती है। मुर्गी और मत्स्य-पालन का काम भी समिति ने हाथ में लिया है–१९६१–६२ में मत्स्य-पालन से १,५०० और मुर्गी-पालन से ५०० रुपये की प्राप्ति हुई।

मध्य प्रदेश खादी और ग्रामोद्योग पर्षद का सहयोग तथा मार्गदर्शन प्राप्त कर गाँव में दो घानियाँ लगायी गयीं। इन घानियों से गाँव की तेल सम्बन्धी

आवश्यकताएँ पूरी होती हैं और पशुओं के लिए खली प्राप्त होती है।

समिति का प्रमुख धंधा है हाथ धान कुटाई उद्योग; क्योंकि गाँव में धान की ही फसल होती है। यह उद्योग अगस्त १९६१ में शुरू किया गया था। अब तक समिति ने ५९,००० रुपये का हाथ कुटा चावल बेचा है। गाँव में उत्पादित धान, समिति बाजार-भाव से २५ नये पैसे प्रति मन ज्यादा देकर खरीदती है और फिर भी वह इस उद्योग से ३,७२० रुपये लाभ स्वरूप कमा सकी है। इस उद्योग के लिए १२,००० रुपये की लागत पर एक कार्य-गृह बनवाया गया है। गोदाम निर्माण, धान सुखाने का स्थान बनाने व धान के भाण्डारीकरण जैसे कामों के लिए समिति को १८,००० रुपये ऋण स्वरूप प्राप्त हुए, जिनमें से ११,२७० रुपये वह लौटा चुकी है।

गाँव में प्रति वर्ष १३,००० मन धान और ३९,००० मन शाली पैदा होती है। इसका दो-तिहाई हिस्सा हर साल बेचना पड़ता है। धान के स्थान पर उसका हाथ से प्रशोधन करके अगर चावल बेचा जाय तो इस काम से वर्ष में आठ महीने २४ श्रमिकों, एक व्यवस्थापक और एक चपरासी को काम मिलेगा। इस प्रकार गाँव में ७,३६५ रुपये (६,३२५ रुपये पारिश्रमिक; ८०० रुपये व्यवस्थापक का वेतन और २४० रुपये चपरासी का वेतन) बाहर जाने से बच सकेंगे। इसके अलावा यातायात के खर्च और समिति द्वारा प्रदत्त मूल्यान्तर के रूप में ६,३७५ रुपये की बचत अलग हो सकेगी। धान की कीमत, पारिश्रमिक, वेतन का खर्च तथा ५०० रुपये अन्य खर्चों के लिए चुकाने के बाद चावल एवम् उसके उप-उत्पादनों से १,०८,१६० रुपये–मय ६२० रूपये लाभ के–प्राप्त हो सकेंगे। धान की भूसी का कुम्हारी उद्योग में इस्तेमाल किया जा सकता हैं। उससे १,७७,७०० ईंटें तथा ७०,००० खपरैल पकायी जा सकती हैं। इससे २० श्रमिकों को तीन महीने तक काम मिल सकेगा। हाथ कुटे चावल के बिक्री केन्द्र में चार व्यक्तियों को पूरे वर्ष भर काम मिल सकता है। दस हजार रुपये कीमत की शाली का कार्ड बोर्ड बनाने में उपयोग किया जा सकता है, जोकि प्रति वर्ष बेकार जाती है। इससे ३५ व्यक्तियों को काम मिलने की अपेक्षा है।

ग्रामीण कुम्हारी योजना के अन्तर्गत ८,२०१ रुपये कीमत की ईंटें और खपरैल तैयार किये जा चुके हैं। सदस्यों के अधिकांश घर इन्हीं ईंटों से बनाये हुए हैं। भवन निर्माण योजना में सरकार भी मदद देती है। गुड़–खाण्डसारी उद्योग भी प्रारम्भ किया जा चुका है। गन्ने की खेती करने के लिए १८ फुट व्यास का एक कुआँ खोदा गया है। उक्त कुएँ में बिजली से चलनेवाला पम्प लगाया गया है। रस्सी, बान आदि के सम्बन्ध में स्थानीय आवश्यकता-पूर्ति के लिए साढ़े-चार एकड़ जमीन रेशे की खेती के अन्तर्गत है।

इस गाँव की एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण सफलता है खरकरा नदी की धारा, जोकि गाँव की ओर बदल रही थी, बदलने के लिए सामूहिक प्रयास प्रारम्भ कर एक नहर का खोदा जाना।

मध्य प्रदेश के रायपुर सम्भाग में इस गाँव की ग्राम पंचायत १९५६ में एक आदर्श पंचायत घोषित की गयी थी और तब से इसने जिला तथा क्षेत्रीय स्तर की प्रतियोगिता में प्रथम स्थान प्राप्त कर एक-एक हजार रुपये के चार पुरस्कार जीते हैं। समिति के अधिकांश सदस्य खादी पहनते हैं। गाँव में एक प्राथमिक विद्यालय और एक चिकित्सालय है। कृषि कार्य के लिए दिये जानेवाले पारिश्रमिक का हिसाब काम के अनुसार लगाया जाता है। कुल उपज का एक-तिहाई हिस्सा पारिश्रमिक स्वरूप और एक-तिहाई जमीन के मालिक को दिया जाता है तथा शेष अन्य खर्चों में लगाया जाता है। कृषकों तथा श्रमिकों और समग्र ग्रामीणों की आय करीब-करीब दुगुनी हो गयी है।

बम्बई : २८ नवम्बर १९६२ ●

शांतिनिकेतन के आसपास ग्राम पुनर्निर्माण

रतिलाल महेता

राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता के नव विचार, देश में एकता व सहकार की भावना, विदेशी शासन के भीषण अत्याचार के खिलाफ स्वाभिमान तथा आत्म-निर्भरता की भावना के विकास, प्राचीन और अर्वाचीन मूल्यों में विवेकशील यानी युक्तियुक्त सामन्जस्य की स्थापना एवम् कला व संस्कृति के क्षेत्र में गुरुदेव रवीन्द्र-नाथ टैगोर का कितना योगदान है, यह सर्वविदित है। पिछले टैगोर शताब्दी समारोहों से हमें इन विचारों के सम्बन्ध में अपनी स्मृति ताजा कर उनका वर्तमान सन्दर्भ में पुनः मूल्यांकन करने का अवसर मिला है।

फिर भी, ग्राम पुनर्निर्माण के क्षेत्र में उनका योगदान इतना प्रकाश में नहीं आया था। इसलिए कम्युनिटी* के आलोच्य अंक–टैगोर शताब्दी अंक–के प्रकाशन में जिन सज्जनों ने सहायता देकर **गुरुदेव** की बहुमुखी प्रतिभा की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है, वे सभी हमारी ओर से बधाई के पात्र हैं।

नवीन अभिव्यक्ति

इस विशेषांक में ग्राम पुनर्निर्माण के क्षेत्र में **गुरुदेव** के योगदान तथा उस दिशा में बाद के विकास कार्य पर पड़े उसके प्रभाव सम्बन्धी यथा सम्भव अधिकाधिक सामग्री का संग्रह करने का प्रयास किय गया है।

विशेषांक दो भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में इन विषयों–'श्रीनिकेतन के इतिहास और आदर्शों, नगर और ग्राम, सहकार, सामाजिक पुनर्निर्माण, ग्राम पुनर्निर्माण तथा मानव अपने स्वयम् के देश का निर्माण करता है'–पर **गुरुदेव** की छः रचनाएँ–उनके द्वारा लिखित लेख व विभिन्न अवसरों पर दिये गये भाषण–हैं। इन रचनाओं से रवीन्द्रनाथ टैगोर की बहुमुखी प्रतिभा के उस पहलू पर नया प्रकाश पड़ता है, जिसके सम्बन्ध में अपेक्षाकृत कम जानकारी प्राप्त है। दूसरे भाग में श्रीनिकेतन व उसके ईर्द-गिर्द किये गये काम का वर्णन तथा प्राप्त परिणामों का मूल्यांकन किया गया है। इन लेखों के लेखकों का उक्त कार्य से निकट सम्पर्क रहा है।

शिक्षा के क्षेत्र में प्रकृति के सौन्दर्य और शांतिपूर्ण वातावरण में रहते हुए एक नया प्रयोग करने के उद्देश्य से शांतिनिकेतन की स्थापना टैगोर ने १९०१ में की थी। साथ ही साथ ग्राम पुनर्निर्माण में उनकी अभिरुचि भी बढ़ रही थी, खास करके १९०८ के बाद जब कि वे अपने पिता के जीवन-काल के अंतिम दिनों में शेलीदह तथा पोतीसर (पूर्वी बंगाल) में, अपनी पुश्तैनी जमींदारी के प्रबन्ध का उत्तरदायित्व उन पर आ पड़ने के कारण वहाँ के ग्रामीणों और आस-पास के ग्रामवासियों के निकट सम्पर्क में आये। उस संपर्क से उनकी दृष्टि एक नयी दिशा में गयी और उनके मस्तिष्क में जो नव विचार सरिता प्रवाहित हो रही थी, वह बलवती बनी। ग्रामीणों को संगठित करने और अपने सामूहिक विकास के लिए परस्पर सहकार से काम लेने के लिए उन्हें तैयार करने की दिशा में किस प्रकार **गुरुदेव** ने अपना कार्यारम्भ किया यह स्वयम् एक रोमांचक कहानी है। प्रथम व्याख्यान (१९३९)† में इसका

***कम्युनिटी :** वर्ष : २ (टैगोर शताब्दी अंक); अंक : १; सम्पादक : विनय भट्टाचार्य; प्रकाशक : चिरव्रत सरकार, सोशल एज्युकेशन आर्गेनाइजर्स ट्रेनिंग सेण्टर, विश्वभारती, शांति-निकेतन (बीरभूम-पश्चिम बंगाल); पृष्ठ संख्या : ११४; मूल्य : २ रुपये।

† जनवरी १९६२ के **खादी ग्रामोद्योग** में पृष्ठ ३०९ और ३१० भी देखें।

प्रभावशाली वर्णन है। अनुवर्ती लेखों और व्याख्यानों में ग्राम पुर्नानिर्माण के सम्बन्ध में उनके विचारों और सिद्धांतों के विकास तथा उनके प्रयोगों के परिणामों पर उनकी भावाभिव्यक्ति मिलती है।

प्रारम्भ

गुरुदेव ने लार्ड सिन्हा के भाई रायपुर के मैजर सिन्हा के साथ १९१२ में लन्दन के एक उपनगर में सुरुल नामक गाँव में—इसी गाँव के चारों ओर बाद में श्रीनिकेतन का विकास हुआ—स्थित पुराने घर व उसके इर्द-गिर्द की जायदाद खरीदने के लिए जब सौदा किया, तो अन्य कोई भी व्यक्ति यह कल्पना नहीं कर सकता था कि वह स्थान ग्राम पुर्ननिर्माण कार्य के एक महान् केंद्र के रूप में सामने आयेगा। फिर भी, **गुरुदेव** के लिए, जैसा कि श्री सी. एफ. एण्ड्रूज कहते हैं, यह एक 'दीप्ति' की तरह आया। शांतिनिकेतन के अपने साथियों और विद्यार्थियों की सहायता से उन्होंने पास-पड़ौस के क्षेत्र की सफाई की और कार्यारम्भ कर दिया। इसकी प्रेरणा उन्हें बहुत पहले ही मिल चुकी थी, जैसा कि उन्होंने गीतांजलि में कहा है:

तेरे तो चरण, वहाँ उनमें आसीन हैं—
जहाँ वे दरिद्र हैं, दीन हैं, हीन हैं।

पुर्नानिर्माण पर गुरुदेव के विचार

गुरुदेव के अनुसार "हमारे ग्रामीण कार्य के दो पक्ष हैं। हमें न केवल अपना काम चलाते रहना है, बल्कि हर समय सीखते यानी अनुभव भी प्राप्त करते रहना है। यदि हम सेवा करना चाहते हैं, तो हमें सीखना ही चाहिए"। एक दूसरे अवसर पर उन्होंने कहा था, "मैं समूचे भारत की जिम्मेदारी नहीं ले सकता। मैं केवल एक या दो गाँवों में अपने काम में फतह पाना चाहता हूँ। हमें ग्रामीणों के हृदय में पैठना होगा, उनका सहयोग प्राप्त कर काम करने के लिए शक्ति हासिल करनी होगी। ऐसा करना कोई बायें हाथ का खेल नहीं है; बल्कि लोहे के चने चबाना है और इसके लिए कठोर आत्म-संयम यानी अनुशासन की आवश्यकता है।" रविबाबू के अनुसार हमारा उद्देश्य "इन चन्द ग्रामों को परिपूर्ण स्वतंत्रता व सभी को शिक्षा प्रदान करना, गाँवों में हर्षोल्लासपूर्ण तथा आनन्द-गीत गाते रहने का वातावरण निर्मित करना" होना ही चाहिए। **गुरुदेव** ने अपने साथियों से अपील करते हुए कहा, "कुछ गाँवों में इस आदर्श की पूर्ति कीजिए और मैं कहूँगा कि ये चन्द गाँव मेरा भारत है। और यदि ऐसा हुआ तो ही भारत हमारा होगा।"

एक अन्य अवसर पर उन्होंने स्पष्टीकरण किया, "मैं कभी भी प्रगति के विरुद्ध नहीं हूँ, लेकिन जब इसकी वेदी पर सभ्यता अपनी आत्मा की बलि चढ़ाने के लिए तैयार होती है, तो अपनी सभ्यता को आत्मा के क्षेत्र में बढ़ते रहना देखने की आशा करते हुए भौतिक दृष्टि से मैं पिछड़ा हुआ रहने का चुनाव करता हूँ.....आदमी का पोषण भोजन से होता है, रुपये-पैसे से नहीं; आदमी जीवन की परिपूर्णता से सुखी बनता है, बटुआ भरा रहने से नहीं। धन बढ़ाते रहने से उन व्यक्तियों के बीच असमानता बढ़ती है जिनके पास है तथा जिनके पास नहीं है, और इससे हमारी समाज-व्यवस्था पर ऐसा भयानक कुठाराघात होता है कि उससे होकर अन्ततोगत्वा समूचा शरीर धरासायी हो जाता है।" उस वक्त ये शब्द बड़े कठोर थे जब कि औद्योगीकरण के सम्बन्ध में पाश्चात्य विचार देश में फैल रहे थे, पनप रहे थे।

टैगोर यांत्रीकरण के विरुद्ध नहीं थे। उन्होंने कहा है, "वर्तमान यंत्र-प्रधान युग में हमारे कृषकों, कारीगरों आदि को मशीनें अपनानी ही चाहिए या फिर प्रगति की दौड़ में पीछे रह जायें और उस वक्त तक पीछे रहते जायें कि वे लड़खड़ाकर विपत्ति के गर्त में न लुढ़क जायें।"

सहकार का महत्व

यांत्रीकरण के लिए प्रशिक्षण और सहयोग करने की क्षमता की आवश्यकता होती है। टैगोर ने कहा था, "जिसमें आशा नहीं है उसे मिट ही जाना चाहिए।

जो काम करना एक के लिए सम्भव नहीं है, वही पचास आदमी मिलकर करने पर सम्भव हो जायेगा।" उन्होंने पुनः स्मरण करवाया, "लोगों को संकीर्णता का त्याग करना ही चाहिए। उन्हें यह महसूस करना ही चाहिए कि वे विश्व-समाज के एक अंग हैं। फिर, आर्थिक क्षेत्र में उनके प्रयास अन्य व्यक्तियों के प्रयत्नों के साथ समन्वित करने पड़ेंगे। इसी बात को यों भी कहा जा सकता है कि बड़े वृक्षों के समान उन्हें भी अपनी जड़ें जमीन के अन्दर और शाखाएँ उसके बाहर हवा व प्रकाश में फैलाने के लिए विस्तृत क्षेत्र की आवश्यकता है। उस हालत में फल-प्राप्ति सरल और विपुल होगी तथा किसी को किसी भी प्रकार की चिन्ता नहीं होगी।" उन दिनों में भी कितने साहसिक एवम् व्यावहारिक थे, ये शब्द! और, आज भी वे उतने ही सत्य हैं, जितने उस वक्त थे।

एक अन्य व्यापक सन्दर्भ में टैगोर ने कहा था, "प्रकृति जगत के समान मानवीय संसार में भी परिपूर्ण एकरसता से अभिक्रम को लकवा मार जाता है और प्रतिभा मन्द पड़ जाती है। लेकिन अत्यधिक असमानता भी उतनी ही बुरी है; क्योंकि आदमी-आदमी के बीच अन्तर पैदा करते हुए वह लोगों में सामाजिक सम्पर्क के विकास में बहुत बड़ा रोड़ा अटका देती है। बुराइयाँ इस प्रकार के अन्तर की ओट में ही पनपती हैं। यदि भारतीय अर्थ-व्यवस्था को पुनः एक बार सहकार पर आधारित कर दिया जाता है, तो हमारी सभ्यता-संस्कृति के पोषक गाँवों में नये प्राण आ जायेंगे और समग्र देश में नयी जिन्दगी आ जायेगी। हमारा श्रीनिकेतन सहकारी आधार पर सामुदायिक विकास करने के लिए हमारे ग्रामीण समाज की समस्त शक्ति को सक्रिय बनाने के हमारे इसी तुच्छ प्रयास का प्रतिनिधित्व करता है।"

प्रयोग

गुरुदेव के सिद्धांतों-आदर्शों से ओतप्रोत शांतिनिकेतन के साथियों ने आसपास के गाँवों में काम करने का धीरे-धीरे संगठनात्मक आधार तैयार किया। कुछ रास्ते में लड़खड़ा गये लेकिन मंजिल पर बढ़ना जारी रहा।

जैसा कि हिरण्यमय बनर्जी कहते है कि प्रयासों के परिणाम वास्तव में १९२१ में प्राप्त होने प्रारम्भ हुए, जबकि **गुरुदेव** के आज्ञानुसार एक आदर्शवादी अंग्रेज युवक लिओनार्ड एमहर्स्ट (Leonard Elmhirst) ने कार्यभार सम्भाला। एमहर्स्ट के कहने पर ही कार्यक्रम को 'ग्राम पुनर्निर्माण कार्यक्रम' की संज्ञा दी गयी; क्योंकि रविबाबू जो चाहते थे वह शैक्षणिक अन्वेषण के लिए सामग्री प्रस्तुत करनेवाले कार्य के चन्द छितरे हुए पहलू न होकर संगठित विकास का एक ऐसा सुसंयोजित सर्वांगीण कार्यक्रम था जो ग्रामीण जीवन के सभी पहलुओं को छूता हुआ चले अर्थात् उससे ग्रामीण जीवन का कोई भी अंग अछूता न रहे। बनर्जी का कहना है, 'जानबूझ कर ही क्रिया-कलाप के किसी पूर्व-निर्धारित या व्युत्पादित कार्यक्रम को न अपना कर ऐसे ही कार्यारम्भ किया गया था; क्योंकि टैगोर चाहते थे कि उनके कार्यकर्त्ताओं को खुले दिलो-दिमाग से प्रयोग करने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया जाना चाहिए।'

सामान्य नीति

"ऐसा करने से सामान्य नीति के सम्बन्ध में दो महत्वपूर्ण निर्णय करने के मार्ग में रविबाबू के सामने कोई रुकावट नहीं आयी।"

पहला निर्णय यह था कि काम बिना किसी प्रकार की बाहरी सहायता के जारी रहना चाहिए। टैगोर ने कहा था, "अपने खुद के साधन-स्रोतों पर भरोसा करने से बढ़कर कोई बात नहीं है। आदमी अपनी शक्ति पर खड़ा होता है और एक सुदृढ़ तथा सुरक्षित आधार निर्मित कर सकता है।......रेगिस्तान में भी एक सोता निकाल लेना सम्भव है, जो स्वयम् अपने को पुनरापूरित कर सकता है। इस प्रकार का सोता कभी सूखता नहीं।"

द्वितीय निर्णय यह था कि ग्रामीण समस्याओं के प्रति उपागम क्षत-विक्षत न होकर सर्वांगीण, सुसंयोजित होना चाहिए। और भी महत्वपूर्ण बात यह है कि कार्यक्रम

में मनोरंजनात्मक गतिविधियों को भी स्थान दिया गया था।

इस प्रकार **गुरुदेव** द्वारा निर्धारित इन दो सामान्य सिद्धांतों के अनुसार कार्य चलता रहा।

वस्तुतः इसने आवश्यक रूप से ही बाहरी सहायता के लिए दरवाजा बिल्कुल बन्द नहीं कर दिया था। जैसा कि बनर्जी कहते हैं, "ऐसी सहायता के लिए भी स्थान हो लेकिन उसका कार्य ग्रामीणों को प्राविधिक ज्ञान प्रदान करने तक ही सीमित रहना चाहिए।...वस्तुतः यह संयुक्त राज्य अमेरिका की विस्तार सेवा जैसा ही है" और एक माने में खादी और ग्रामोद्योग कमीशन तथा सामुदायिक विकास कार्यक्रम द्वारा व्यापक पैमाने पर यानी विस्तृत क्षेत्र में अपनायी गयी पद्धति के समान ही है।

कार्यक्रम

श्रीनिकेतन में चलनेवाले कार्यक्रम* की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार थीं:

१. गाँव और खेतों की समस्या पर कक्षा में अध्ययन तथा चर्चा करना एवम् समाधान के लिए फार्म (खेत) में प्रयोग करना;
२. कक्षा तथा फार्म में प्राप्त ज्ञान व अनुभव ग्रामीणों को देना; और
३. उन्हें सामुदायिक जीवन, पारस्परिक सहयोग तथा सामूहिक प्रयत्नों के लाभ बताना।

प्रारम्भिक अवस्था में श्रीनिकेतन में होनेवाला कार्य मुख्यतः कृषि तथा कुटीर उद्योगों से सम्बन्धित था। लेकिन शीघ्र ही स्वास्थ्य और ग्रामीणों–प्रौढ़ तथा किशोर दोनों ही–के संगठन सम्बन्धी कार्य ने भी महत्व प्राप्त कर लिया। एमहर्स्ट और **गुरुदेव** के सुपुत्र रथीन्द्रनाथ ने–जिन्हें स्वयम् रविबाबू ने कृषि विज्ञान में प्रशिक्षित होने के लिए खास तौर से अमेरिका भेजा था–पूर्ववर्ती कार्य का भार सम्भाला और स्वर्गीय काली मोहन घोष तथा धीरानन्द राय ने अनुवर्ती कार्य का। शांतिनिकेतन और श्रीनिकेतन के पास-पड़ौस के गाँवों में पल्ली मंगल समितियों (ग्राम कल्याण समितियाँ) तथा व्रती बालक दलों (बाल स्काउट दल) का विकास होने लगा। आज भी उनमें से अनेक संगठन जिन्दे हैं और हो सकता है कि कुछ ने काम करना बन्द कर दिया हो लेकिन ग्रामीणों में अपनी समस्याएँ खुद के सहकारी प्रयासों के जरिये हल करने की भावना बड़े प्रभावशाली रूप में घर कर चुकी है।

उत्तरोत्तर रूप से अनेक भारतीय और विदेशी विशेषज्ञ दल अपने विचारों को खेतों में अमली जामा पहनाने के लिहाज से इस स्थान पर आये, जिससे वहाँ की बहुमुखी कार्यशीलताओं के विकास में अत्यधिक सहायता मिली।

स्वास्थ्य कार्यक्रम से मलेरिया, चेचक तथा ग्रामीण क्षेत्रों में होनेवाली अन्य बीमारियाँ कम करने में सहायता मिली।

कुटीरोद्योगों का पुनरुद्धार

व्रती आंदोलन ने युवकों व युवतियों को संगठित किया और उनमें सेवा तथा अनुशासन की भावना भरी एवम् साथ ही साथ प्राथमिक विद्यालयों के विद्यार्थियों को शिक्षा देने में सहायता पहुँचायी। बाद में प्रौढ़ शिक्षा–अक्षर ज्ञान तथा मौलिक, दोनों प्रकार का–कार्यक्रम भी हाथ में लिया गया। इन सबसे कार्यकर्ता ग्रामीणों के निकट सम्पर्क में आये, जिसने उनके बीच घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने का काम किया।

सभी प्रकार की गतिविधियों का प्रशिक्षण देना कार्यक्रम का एक अंग था। प्रति वर्ष दस दिन से लेकर एक माह तक की अवधि के एक या दो बार प्रशिक्षण शिविर आयोजित किये जाते थे। समय पाकर सहस्रों ग्रामीण इन शिविरों, व्रती दलों, शिक्षा-सत्रों (लड़कों के लिए आदर्श विद्यालय), शिक्षा चर्चाओं (ग्रामीण अध्यापकों की साहित्य अकादमी), शिल्प सदनों (कुटीरोद्योगों के लिए उत्पादन-सह-प्रशिक्षण केंद्र) आदि में प्रशिक्षित हुए।

मरणासन्न कुटीरोद्योगों के पुनरुद्धार कार्यक्रम में दस्तकारों व कारीगरों को उत्पादन के अभिनव तरीकों का

*__विश्वभारती__ (त्रैमासिक): शिक्षा अंक, १९४७।

प्रशिक्षण देने से लेकर उन्हें पुनस्स्थापित करने तक का काम शामिल था। चर्म सामग्री उत्पादन, बुनाई, बढ़ईगीरी और लुहारगीरी, कुम्भकारी, जिल्दसाजी, दर्जीगीरी, कसीदाकारी, टोकरी तथा खिलौने बनाने आदि अनेक कामों का विकास हुआ। बाद में ग्रामीण युवकों के लिए बिजली के काम व यांत्रिक कार्य सम्बन्धी एक अन्य पाठ्यक्रम भी शुरू किया गया। ये दस्तकारियाँ प्रारम्भ में ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का आधार विस्तृत करने के लिए प्रशिक्षण कार्यक्रम का एक लघु अंश ही थी। पश्चात्, बिक्री कार्य पर भी ध्यान देना पड़ा। अतएव उत्पादित माल की बिक्री के लिए शिल्प सदन की व्यवस्था की गयी। इस प्रकार यह एक ऐसा केंद्र बन गया जिसमें प्रशिक्षण, उत्पादन व बिक्री, तीनों प्रकार का काम होने लगा। और, अपने उत्पादनों के गुण-स्तर के लिए नाम तथा प्रतिष्ठा प्राप्त की।

कृषि सुधार

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कृषि, दुग्ध उद्योग (डेरी फार्म) और मुर्गी-पालन श्रीनिकेतन की सर्व प्रमुख गतिविधियाँ थीं। मशीनों से खेती करना, बारी-बारी से और नयी-नयी फसल बोना, पशुओं की नस्ल सुधारना, मुर्गी-पालन आदि कार्यक्रम के चन्द महत्वपूर्ण पहलू थे, जिनसे कृषकों को अपनी आमदनी बढ़ाने तथा प्राथमिक, अर्थात् बुनियादी आवयकताएँ पूरी करने में मदद मिली। कुछ समय बाद हाल ही में मयूराक्षी नहर ने सिंचाई की समस्या काफी हद तक हल कर दी है। तत्पश्चात् राष्ट्रीय विस्तार सेवा खण्ड की स्थापना के साथ श्रीनिकेतन के कृषि क्षेत्र से सम्बन्धित कार्य सरकारी संगठन ने अपने हाथ में ले लिये हैं।

शिक्षा

शिक्षा के क्षेत्र में ग्रामीण युवकों को जीवन संग्राम में मुकाबला करने और साथ ही साथ सामाजिक सेवा के लिए तैयार करने हेतु टैगोर ने स्वर्गीय संतोष कुमार मजूमदार की देख-रेख में एक विद्यालय खोला। उसे शिक्षा-सत्र का नाम दिया गया। नयी तालीम, बुनियादी शिक्षा के सम्बन्ध में गांधीवादी विचार, सृजनात्मक शारीरिक श्रम के साथ पुस्तकीय शिक्षा का सह-सम्बन्ध जोड़ने जैसी विशिष्ट बातें भी उक्त सत्र में शामिल की गयी। शिक्षा-सत्र अब विश्वभारती के उच्च माध्यमिक शिक्षा-पाठ्यक्रम के अनुसार कला, दस्तकारी और विज्ञान की शिक्षा देनेवाला एक सह-शिक्षा प्रदायक माध्यमिक विद्यालय (सेकेण्डरी स्कूल) बन गया है। शिक्षा चर्चा में अब स्कूल के मैट्रिक पास अध्यापकों को बुनियादी प्रशिक्षण दिया जाता है। अपने जीवन-काल में यह संस्था हजारों शिक्षक प्रशिक्षित कर चुकी है, जो बीसों गाँवों में टैगोर का संदेश पहुँचाते थे, पहुँचाते है। लोक शिक्षा संसद की स्थापना २५ वर्ष पूर्व हुई थी। यह उन लोगों को शिक्षा प्रदान करती है, जो प्राथमिक शिक्षा से लेकर स्नातकीय स्तर तक के विभिन्न स्तरों पर पत्र-व्यवहार के जरिये शिक्षा प्राप्त करने के लिए स्कूल अथवा कालेज में प्रवेश लेते हैं। प्रत्येक केन्द्र में कुछ शिक्षित व्यक्ति संसद द्वारा सिफारिश की गयी पुस्तकों का अध्ययन करने में छात्रों की मदद करते हैं और वार्षिक परीक्षाओं का आयोजन करते हैं। परीक्षा प्रश्न-पत्र विश्वभारती की ओर से भेजे जाते हैं। सफल व्यक्तियों को प्रमाण-पत्र दिये जाते हैं।

इन सभी प्रकार की गतिविधियों से वर्षों पूर्व शराब पीने, छूआछूत, बाल-विवाह, दहेज आदि जैसी जो बुराइयाँ क्षेत्र में घर कर चुकी थीं, उनका उन्मूलन करने में भी सहायता मिली है।

सामुदायिक विकास के लिए आधार

अनेक गतिविधियाँ १९५२ से केन्द्रीय सरकार द्वारा चलाये जानेवाले सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत आ गयी हैं। और, जैसा कि सामुदायिक विकास, सहकार तथा पंचायत राज के वर्तमान केन्द्रीय मंत्री श्री सुरेन्द्र कुमार दे स्वीकार करते हैं, "अपने सह-साथियों के साथ रवीन्द्रनाथ टैगोर ने जो काम किया उससे वर्तमान सामुदायिक विकास को अनुभव के रूप में बहुत लाभ हुआ है। चन्द ग्रामों में भारत के इस महान् सपूत ने जो बीज बोये हैं, उन्हें विस्तृत क्षेत्र में फैलाना है।

इस महान कार्य में लगे साथी कर्मियों को उनके जीवन के महान् कार्य से प्रेरणा प्राप्त करनी चाहिए। आज हम उपेक्षित लाखों-करोड़ों लोगों तक **गुरुदेव** के सन्देश पहुँचाने के लिए संदेश-वाहक हैं।"

एक मूल्यांकन

सुगत दास गुप्त का लेख 'लेशन्स ऑफ् श्रीनिकेतन' विशेषांक में एक अमूल्य योगदान है। प्रस्तुत लेख द्वारा श्रीनिकेतन में हुए कार्य, उसकी सफलता के पीछे निहित शक्तियों और कई असफलताओं के कारणों, अब तक किये गये सर्वेक्षणों से प्राप्त परिणामों तथा वर्तमान सन्दर्भ में श्रीनिकेतन की भूमिका का व्यवस्थित मूल्यांकन करने का सम्भवतः प्रथम प्रयास किया गया है।

यद्यपि श्रीनिकेतन में हुआ कार्य आवश्यक रूप से ही प्रयोगात्मक रहा है, लेकिन उससे चंद बुनियादी सिद्धांतों का विकास हुआ है, जोकि पिछले इन वर्षों में परीक्षण की कसौटी पर कसे जा चुके हैं और भविष्य के लिए सम्पन्न यानी ठोस मार्ग दर्शक बातें प्रदान करते हैं। "इन्हें, यदि उपयुक्त रूप से व्यवहार में लाया जाय तो वे किसी भी समुदाय की सामाजिक शक्ति और महत्वाकांक्षा के मूल्यों के अभौतिक विकास पर अपना संचयी प्रभाव डाल सकते हैं।"

बुनियादी सिद्धांत

सुगत दास गुप्त द्वारा संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत चन्द बुनियादी सिद्धांतों का यहाँ पुनः उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा :

१. ग्राम और उसकी आवश्यकताएँ समझने की जिम्मेदारी स्वयम् ग्रामीणों पर होनी चाहिए, बाहरी विशेषज्ञों तथा सलाहकारों को केवल सहायता देनी चाहिए।

२. कल्याण आयोजन में मानवीय पहलुओं के अनवरत समन्वय की बात आती है और यह समन्वय विशेषज्ञों के प्राविधिक ज्ञान से उतना नहीं बल्कि सहानुभूति से उद्भिज उनके व्यक्तिगत सम्पर्क व विवेक से लाना है।

३. एक बार अपने को शिक्षित व विकसित करने की अभिलाषा से प्रेरित करने पर किसी समुदाय के युवक तथा युवतियाँ इस सन्दर्भ में बहुत बड़ी भूमिका अदा कर सकते हैं; उनकी कार्यशीलताओं का परोक्ष प्रभाव पुराने रीति-रिवाजों तथा उनके 'मायतों' के दृष्टिकोण में क्रांतिकारी परिवर्तन ला सकता है।

४. ग्रामीण विकास के मामले में कृषि विज्ञान अथवा ग्रामीण प्रविधि का ज्ञान उतना सर्वाधिक महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि उपागम के तौर-तरीकों तथा पर्यवेक्षण का प्रशिक्षण।

५. सफलता की कुंजी किसी कार्यकर्त्ता की किसी विशिष्ट सामाजिक वर्ग यानी समूह अथवा क्षेत्र के साथ एक निश्चित सम्पर्क स्थापित करने और अपनी उपयोगिता अर्थात् सार्थकता सिद्ध करने की योग्यता में निहित है, ताकि वह समुदाय का विश्वास प्राप्त कर मार्ग प्रशस्त कर सके।

विश्वभारती में रवीन्द्र सदन के विद्वान और टैगोर एनसाइक्लोपीडिया—टैगोर ज्ञान-गंगा—के लेखक चित्तरंजन दास ने साल-दर-साल के हिसाब से **गुरुदेव** का जीवन वृत्तांत प्रस्तुत किया है। उक्त वृत्तांत से ग्राम पुनर्निर्माण के सम्बन्ध में रविबाबू की रचनाओं, व्याख्यानों तथा पत्रों के मौलिक स्रोतों के बारे में अमूल्य मार्ग-दर्शन मिलता है।

विशेषांक में अन्य आकर्षण भी हैं। सम्भवतः प्रथम बार चन्द विरले चित्रों का विशेषांक के जरिये प्रकाशन हुआ है, जैसे, टैगोर की सुरुल स्थित कोठी, श्रीनिकेतन का मुख्य कार्यालय भवन, श्रीनिकेतन में कार्यकर्त्ताओं तथा ग्रामीणों को सम्बोधित करते हुए **गुरुदेव** का चित्र, अपने साथियों के साथ और श्रीनिकेतन की विभिन्न गतिविधियों में कार्यरत टैगोर के चित्र।

विशेषांक का पठन वस्तुतः बहुत ही फल-प्रद होगा, विशेष कर उन व्यक्तियों के लिए जिन्हें इस लेखक के समान शांतिनिकेतन व श्रीनिकेतन दोनों ही स्थानों पर **गुरुदेव** को व्यक्तिगत रूप से पुनरुत्थान कार्यशीलताओं में जुटे हुए देखने का सुअवसर मिला है। अंक के पठन से उनकी स्मृतियाँ ताजी हो उठेंगी। ●

बम्बई : १५ मई १९६३

अखाद्य तेल और साबुन उद्योग के लिए सहकारिताएँ

राघव राव

स्वरूप की दृष्टि से अखाद्य तेल और साबुन उद्योग के अन्तर्गत चलनेवाली सहकारी समितियाँ बहु-धंधी हैं; क्योंकि उद्योग के अन्तर्गत काम ही कई ढंग के होते हैं, जैसे तिलहन संग्रह, तेल पेराई और साबुन उत्पादन। लेखक का कहना है कि इन तीनों गतिविधियों का विकेन्द्रीकरण किया जाय और अखिल भारत अखाद्य तेल उद्योग संघ तथा उसकी प्रादेशिक शाखाओं के जरिये उनमें समन्वय लाया जाय।

अखाद्य तेल और साबुन उद्योग के अन्तर्गत तीन काम–तिलहन संग्रह, तेल पेराई तथा साबुन उत्पादन–आते हैं। फिलहाल एक ही समिति उक्त तीनों काम करती है। लेकिन वस्तुतः तिलहन-संग्रह, तेल पेराई और साबुन उत्पादन, तीन अलग-अलग कार्य हैं तथा उन्हें तीन प्रकार के भिन्न-भिन्न व्यक्ति करते हैं, जिनके मध्य सामूहिक हित स्थापित करना कठिन है। जंगलों में अथवा सहकारी समिति के कार्यालय से दूर-दूर के स्थानों में रहनेवाले तिलहन एकत्रित करनेवालों, तेल पेराई में लगे तेलकारों और साबुन उत्पादन के काम में लगे कार्यकर्त्ताओं के बीच ऐक्य की भावना का विकास करना मुश्किल है, खास कर तब जबकि उनकी आमदनी में अन्तर आता है। यदि एक ही समिति उक्त तीनों काम करती है तो भी वे उस संगठन के तीन अलग-अलग भाग रहते हैं।

मान लीजिए कि तिलहन संग्रह और तेल पेराई में फायदा होता है तथा दूसरी कार्यशीलता में नुकसान होता है, तो तीनों गतिविधियों को कुल मिलाकर देखने से समिति को खालिस नुकसान हो सकता है। ऐसी अवस्था में तिलहन संग्रह तथा तेल पेराई और साबुन उत्पादन के काम में लगे कार्यकर्त्ताओं के बीच समरस सम्बन्ध कायम यानी बनाये रखना मुश्किल होगा।

विकेन्द्रीकरण

उद्योग में निहित उक्त कमी को दूर करने की दृष्टि से यह वांछनीय है कि तिलहन संग्रह का कार्य आन्ध्र प्रदेश की चेंचू समितियों जैसी वन्य श्रमिक सहकारिताओं को सौंपा जाना चाहिए। जहाँ इस प्रकार की समितियाँ न हों या तिलहन संग्रह का कार्य हाथ में लेने के प्रति अनिच्छुक हों, वहाँ अखिल भारत अखाद्य तेल उद्योग संघ की प्रादेशिक शाखाओं को उक्त काम अपने हाथ में लेना चाहिए। अधिकांश मामलों में समितियाँ तिलहन संग्रह कार्य मजदूरी पर करवाती हैं, जिसका परिणाम निकलता है नुकसान। मेडरमेटले (आन्ध्र प्रदेश) में संघ की प्रादेशिक शाखा प्रत्यक्ष रूप से तिलहन संग्रह कार्य करती है और बड़े उत्साहप्रद फल प्राप्त हुए हैं। अतएव यह वांछनीय है कि तिलहन संग्रह कार्य वन्य श्रमिक सहकारी समितियाँ अथवा अखिल भारत अखाद्य तेल उद्योग संघ अपने हाथ में ले।

तेल पेराई

आन्ध्र प्रदेश में जिन १७ सहकारी समितियों ने साबुन उत्पादन कार्य प्रारम्भ किया है और जिन्हें एक-एक तेल पेराई इकाई स्थापित करने के लिए भी आर्थिक सहायता दी गयी है, उनमें से केवल सात समितियाँ ही तेल पेराई की इकाइयाँ चलाती हैं। वैसे मामलों में जहाँ तेल पेराई की इकाइयाँ प्रस्थापित नहीं की गयी हैं, प्राप्त निधि का दूसरे कामों में उपयोग करने के उदाहरणों की कमी नहीं है। चन्द मामलों में निधियाँ बेकार पड़ी हैं। इसलिए यह

वांछनीय है कि तेल पेराई का काम ग्रामीण तेल सहकारी समितियों को दे दिया जाय। अखाद्य तिलहनों की पेराई के लिए उन्हें अलग घानियाँ, बैल आदि खरीदने हेतु, अखाद्य तेल और साबुन उद्योग की सहकारी समितियों को जिस पद्धति के आधार पर सहायता दी जाती है, उसके अनुसार अतिरिक्त ऋण व अनुदान दिया जा सकता है।

यदि तिलहन संग्रह और तेल पेराई का काम अन्य माध्यमों के जिम्मे किया जाता है तो साबुन उत्पादन समितियों को अपनी गतिविधियाँ साबुन बनाने तक ही सीमित रखनी चाहिए। इस व्यवस्था के अन्तर्गत उन्हें अपनी सभी प्रकार की आवश्यक कच्ची सामग्री के सम्बन्ध में अखिल भारत अखाद्य तेल उद्योग संघ के पास मांग-पत्र पेश करने होंगे।

समन्वय

तिलहन संग्रह, तेल पेराई और साबुन उत्पादन का काम यदि उक्त प्रकार से अलग-अलग माध्यमों को सौंपा जाता है तो सवाल उठता है कि इन तीनों गतिविधियों के बीच किस प्रकार समन्वय स्थापित किया जाय। इसका उत्तर इस बात में निहित है कि अखिल भारत अखाद्य तेल उद्योग संघ के विधान में आवश्यक परिवर्तन कर उसका कार्यक्षेत्र, कार्य और गतिविधियाँ विस्तृत की जायें।

अखिल भारत अखाद्य तेल उद्योग संघ तथा उसकी प्रादेशिक शाखाओं को सहकारी क्षेत्र के अन्तर्गत लाया जाना चाहिए। ऐसी अवस्था में संघ एक अखिल भारतीय संघ होगा जिसकी सभी राज्यों में शाखाएँ होंगी। राज्यों की साबुन उत्पादन समितियाँ संघ की सदस्य बनेंगी। प्रस्तावित संघ राज्यों में अपनी शाखाओं के जरिये अपने हिसाब पर तिलहन संग्रह कार्यक्रम चलायेगा तथा जिन वन्य श्रमिक सहकारी समितियों ने पहले से तिलहन संग्रह कार्यक्रम चलाना प्रारम्भ कर दिया हो उनसे वह तिलहन खरीदने का काम भी करेगा।

संघ को जो तिलहन उसने इकट्ठे करवाये हों अथवा खरीदे हों, उनकी पेराई करवाने की व्यवस्था पास-पड़ौस में काम करनेवाली ग्रामीण सहकारी समितियों के जरिये करनी चाहिए। यदि आस-पास में कोई समिति न हो या नयी समितियाँ स्थापित होने की कोई सम्भावना न हो तो संघ को अपनी स्वयम् की तेल पेराई इकाइयाँ स्थापित करनी होंगी। सभी महत्वपूर्ण बाजार केन्द्रों में गोदामों सम्बन्धी आवश्यक सुविधाएँ निर्मित की जानी चाहिए। संघ के अन्तर्गत आनेवाली साबुन उत्पादन इकाइयों को रसायन तथा अखाद्य तेल की पूर्ति करनेवाला एक मात्र माध्यम संघ होना चाहिए। सरकारी संस्थाओं अथवा सरकार द्वारा सहायित संस्थाओं को साबुन की पूर्ति करने के लिए निविदाएँ स्वीकार करते हुए उसे प्राथमिक साबुन उत्पादन सहकारी समितियों द्वारा तैयार साबुन की बिक्री के लिए भी व्यवस्था करनी चाहिए। तिलहन संग्रह से लेकर साबुन बिक्री तक की इस श्रृंखला-बद्ध प्रक्रिया में प्राथमिक साबुन उत्पादन समितियों तथा संघ की प्रादेशिक शाखाओं की गतिविधियों में समन्वय का होना एक महत्वपूर्ण कड़ी है।

स्तर व मूल्य नियंत्रण

साबुन की बिक्री उसके गुण और मूल्य दोनों पर निर्भर करती है। कैण्टीन स्टोर्स डिपार्टमेण्ट (भारत) को सप्लाई किये जानेवाले साबुन के मामले में आवश्यक गुण-स्तर सुनिश्चित करने हेतु साबुन उत्पादन के लिए एक विशिष्ट सूत्र निर्धारित है, लेकिन अन्य मामलों में प्रतीत होता कि कोई ऐसा सूत्र निर्धारित नहीं किया गया है, जिसका परिणाम यह निकलता है कि अनेक मामलों में साबुन का गुण-स्तर गिर जाता है और इसलिए अनबिके माल का स्टाक इकट्ठा हो जाता है। इसका निदान इस बात में निहित है कि सस्ते और बिक्री योग्य साबुन के उत्पादन के लिए एक स्तरीय सूत्र निर्धारित किया

जाय । इस सम्बन्ध में यदि कोई 'पड़ता' तैयार कर लिया जाय तो सहायता मिल सकती है, ताकि उक्त समिति उस पर आधारित मूल्य-नीति तैयार करने में समर्थ हो ।

वर्तमान समितियों के कामों में जो कमियाँ पायी जाती हैं वे प्रायः करके एक समान हैं । प्रथम, कार्यगृह, भट्टी आदि के निर्माण में नियत राशि से अधिक खर्च और एक मद की रकम का दूसरी मद में इस्तेमाल करने के उदाहरण कम नहीं हैं । राज्य खादी और ग्रामोद्योग मण्डलों अथवा प्रशासनात्मक नियंत्रण का उपयोग करनेवाले विभाग को स्थापित की जानेवाली प्रस्तावित इकाइयों के लिए नमूने की योजनाएँ और अनुमान तैयार करने चाहिए। समिति को स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार उपयुक्त फेर-बदल करते हुए कमीशन द्वारा प्रदत्त सहायता के अनुमानों के भीतर रहते हुए एक योजना अपनानी चाहिए । फिलहाल, कमीशन द्वारा प्रदत्त सहायता से बनायी गयी गोदामों आदि का साल-दर-साल मूल्य निर्धारित नहीं किया जाता कि वे उनके निर्माण कार्य की मजबूती और टिकी यानी बनी रहने तथा साथ ही बकाया ऋण की जमानत की दृष्टि से सन्तोषप्रद हैं अथवा नहीं। मकानों का वार्षिक रूप से मूल्य निर्धारित होना चाहिए, तथा सभी राज्यों में एकरूपता बनाये रखने के लिए ऋण व अनुदानों की स्वीकृति के सम्बन्ध में नियम बनाये जाने चाहिए ।

मित्तव्ययिता की आदत

सहकारी समिति एक संस्था है, जिससे अपने सदस्यों में मित्तव्ययिता, किफायतशारी की भावना भरने, आदत डालने की अपेक्षा की जाती है । सहकारी समितियों के उप-नियमों में भी कामगारों को दिये जानेवाले पारिश्रमिक से कुछ अंश में कटौती करने की व्यवस्था की गयी है, जोकि उस व्यक्ति के 'मित्तव्ययिता जमा खाते' में जमा की जायेगी; लेकिन कुछ अपवाद-स्वरूप ही ऐसी समितियाँ हैं जो इस सम्बन्ध में कामगारों को दिय जानवाले पारिश्रमिक में से कटौती करती हैं। समिति के सदस्यों को हिस्सा-पूँजी ऋण दिया जाता है, लेकिन उसकी किश्तें समय पर अदा नहीं की जातीं । इस कठिनाई पर काबू पाने के लिये समितियों को चाहिए कि वे 'मित्तव्ययिता कोष' निर्मित करने के लिए पारिश्रमिक से सतत रूप से कटौती करें और उस रकम का व्यवसाय से बाहर अन्यत्र विनियोजन करें। समिति को चाहिए कि वह ऋण की किश्तें निर्धारित समय से पहले अथवा समय पर सदस्य की ओर से राज्य मण्डल को भेज दे।

कमीशन के कर्मचारियों अथवा विभागीय कर्मचारियों को चाहिए कि वे अपने दौरे के समय समितियों के प्रबन्धक वर्ग का, ऊपरी खर्च कम से कम करने की आवश्यकता की ओर ध्यान आकर्षित करें। इस बात की सुनिश्चितता के लिए कि समिति ठोस आधार पर चल रही है, रसायनज्ञ (केमिस्ट) को सहकार तथा हिसाब-किताब का भी प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए ताकि वह कमीशन अथवा राज्य मण्डल द्वारा प्रदत्त सहायता के उचित उपयोग की दिशा में निगरानी रख सके। सम्भवतः रसायनज्ञों का एक संवर्ग निर्मित करने तथा संघ बनने पर उन्हें उसके कर्मचारियों का दर्जा प्रदान करने से उनमें एक सुरक्षा और प्रतिष्ठा की भावना भर सकती है एवम् वे कार्य में अपना सर्वोत्तम योगदान प्रयुक्त करने के लिए प्रोत्साहित हो सकते हैं।

एक औद्योगिक सहकारी समिति के सम्बन्ध में यह माना गया यानी कल्पना की गयी है कि उसका नियंत्रण कामगार सदस्यों के हाथ में रहेगा । लेकिन फिलहाल जैसी स्थिति है अखाद्य तेल और साबुन उद्योग की सहकारी समितियों की विभिन्न गतिविधियों में आकस्मिक श्रमिकों का बाहुल्य है।

अनवरत देखरेख करने और सहकारी सिद्धान्तों को भलीभाँति, समुचित रूप से समझने पर ही उक्त दोष, कमियाँ दूर की जा सकती हैं।

बम्बई : १९ अक्तूबर १९६२ ●

वालोद महाल क्षेत्र विकास योजना

विमल शाह

प्रस्तुत लेख सूरत जिले में वालोद महाल की विकास योजना के प्रतिवेदन पर आधारित है। उक्त प्रतिवेदन परिपूर्ण रूप में गुजरात सघन क्षेत्र संघ (गुजराती में) प्रकाशित कर रहा है। यह एक ऐसी योजना है जिसमें एक ऐसे क्षेत्र में नीचे से आयोजन करने का प्रयत्न किया गया है, जिसकी ६६ प्रति शत अबादी आदिवासियों की है। आदिवासियों और गैर आदिवासियों के जीवन-स्तर में जो अन्तर पाया जाता है उसे कम करते हुए **प्रति व्यक्ति** आय में वृद्धि, औद्योगिक आधार का निर्माण और सभी जरूरतमन्द व्यक्तियों को रोजगारी प्रदान करना योजना का उद्देश्य है।

वालोद महाल गुजरात के सूरत जिले में सबसे छोटा महाल है। इसमें ४० गाँव हैं, जिनकी कुल आबादी १९६१ में हुई जनगणना के अनुसार ४२,८३८ है। इसकी दो-तिहाई जन-संख्या आदिवासियों की है। यह महाल परिपूर्ण रूप से देहाती है; एक भी शहर इसमें नहीं है। वेडछी और रणवेरी, इन दो सघन क्षेत्र विकास योजनाओं के अन्तर्गत सम्पूर्ण महाल आ जाता है। ये योजनाएँ इस महाल में पिछले पांच-छः वर्षों से चल रही हैं और क्षेत्र की जनता की विचार-धारा में आयोजन उपागम का समावेश करने में सफल हुई हैं। उन्होंने महाल में आयोजित गतिविधि का श्रीगणेश प्रारम्भिक अवस्था में कुछ गाँवों के लिए एक-वर्षीय विकास योजनाएँ बना कर किया। कुछ वर्षों तक ये ग्राम योजनाएँ सफलतापूर्वक चलाने के पश्चात् उन्होंने एक क्षेत्रीय योजना तैयार करने का भारी काम हाथ में लिया।

सघन क्षेत्र योजना के कार्यकर्त्ताओं ने यह प्रारम्भ से ही महसूस कर लिया था कि एक क्षेत्रीय योजना तैयार करने के लिए भी महाल में काम करनेवाले सभी सरकारी तथा गैर सरकारी माध्यमों के प्रयासों में प्रभावकारी समन्वय स्थापित करना होगा, और इस प्रकार की योजना को कार्यान्वित करने के लिए तो उक्त समन्वय और भी अधिक आवश्यक है। वे अकेले इतने बड़े काम को पूरा नहीं कर सकते थे। वे इस महान् कार्य के लिए क्षेत्र के विभिन्न साधन-स्रोतों को सक्रिय बनाने का काम प्रारम्भ कर उसमें सहायक ही हो सकते थे। इस स्पष्ट विचार-धारा के साथ उन्होंने महाल में काम करनेवाले विभिन्न माध्यमों से अलग-अलग करके स्वतंत्र रूप से और सामूहिक रूप से सम्पर्क साधा तथा महाल के विकास की गति तीव्र बनाने के लिए उन्हें आयोजित प्रयास करने की आवश्यकता समझायी।

ग्रामीणों के साथ चर्चा

सहकारी समितियों, ग्राम पंचायतों, प्राथमिक विद्यालयों, सेकण्डरी स्कूलों, प्रगतिशील किसानों, महिला मण्डलों, युवक संगठनों आदि के प्रतिनिधियों के साथ अनेक सामुहिक बैठकें की गयीं, जिनमें आयोजित विकास का उपागम समझाया गया तथा विभिन्न कार्यक्रमों पर विस्तृत चर्चा की गयी। अनेक तकनीकल मामलों पर सरकारी तथा गैर सरकारी, दोनों ही प्रकार के विशेषज्ञों की राय ली गयी और विभिन्न कार्यक्रम तैयार करते वक्त ग्राम नेताओं को उनका विशिष्ट परामर्श उपलब्ध करवाया गया। आपस में और विशेषज्ञों के साथ विस्तृत विचार-विमर्श करने के बाद ही क्षेत्र के ग्राम नेताओं ने कार्यक्रम स्वीकृत और लक्ष्यांक निर्धारित किये तथा जो योजना आज 'वालोद महाल क्षेत्र विकास योजना' के नाम से प्रसिद्ध है, वह तैयार की।

योजना बनाते वक्त यह स्पष्ट रूपेण समझ लिया गया था कि राष्ट्रीय आयोजन के सन्दर्भ में उसे सहायक भूमिका अदा करनी है। यह भी अच्छी तरह समझ लिया

गया था कि हमारे जैसे विशाल देश में राष्ट्रीय योजना विभिन्न क्षेत्रों में उपलब्ध भिन्न-भिन्न प्रकार की अवस्थाओं का शायद ही ध्यान रख सके। वह केवल व्यापक नीतियाँ निर्धारित कर मोटे तौर पर लक्ष्यांक ही निश्चित कर सकती है। विभिन्न अवस्थाओं को ध्यान में रखने और उस आधार पर लक्ष्यांक निर्धारित करने का महान् कार्य राज्य, जिला, तालुका या गाँव जैसे निचले स्तरों पर ही करना पड़ेगा। और फिर, निचले स्तरों से आदमी विशिष्ट अवस्थाओं पर अच्छी तरह विचार कर सकता है तथा निश्चित लक्ष्यांक निर्धारित कर सकता है। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए, प्रथम पंच वर्षीय योजना से लेकर, निचले स्तरों पर इस प्रकार की क्षेत्रीय योजनाओं की आवश्यकता पर जोर दिया गया है। दुर्भाग्यवश, अभी तक इस दिशा में कोई विशेष काम नहीं हुआ है। वालोद महाल क्षेत्र विकास योजना इसी दिशा में एक प्रयत्न है।

क्षेत्र की पृष्ठभूमि

सघन क्षेत्र योजना के कार्यकर्त्ताओं ने महाल का व्यापक सर्वेक्षण किया, और उसकी विभिन्न समस्याओं का सघन रूप से अध्ययन किया। इन समस्याओं की विस्तृत बातें लिखकर तैयार की गयीं तथा उन्हें ग्राम नेताओं के समक्ष रखा गया, जिन्हें समस्याओं पर विचार-विमर्श करने के लिए कहा गया। इस प्रकार महाल व उसकी समस्याओं का एक स्पष्ट चित्र प्राप्त करने के बाद नेताओं से तृतीय पंच वर्षीय योजना के लिए कार्यक्रम तैयार और लक्ष्यांक निर्धारित करने के लिए कहा गया। ये लक्ष्यांक समूचे क्षेत्र एवम् अलग-अलग गाँवों के लिए निर्धारित किये गये। इन लक्ष्यांकों को यथा सम्भव यथार्थवादी बनाने का प्रयत्न किया गया। गाँवों को गाँव के प्रत्येक परिवार के लिए लक्ष्यांक निश्चित करने के लिए कहा गया। इससे एक सुसंयोजित, सर्वांगीण योजना बनाने को प्रश्रय मिला–प्रत्येक परिवार, गाँव तथा समग्र क्षेत्र के लिए लक्ष्यांक निर्धारित किये गये और उनमें परस्पर तालमेल बैठाया गया।

ऐतिहासिक उदाहरणों से इस बात का संकेत मिलता है कि उक्त महाल पहले जंगली इलाका रहा है, और उसकी आबादी जनजाति-प्रधान। गैर-आदिवासी जनता वहाँ पेशवा-काल में आकर बसी। पिछले ६० वर्षों के दरमियान आधुनिक विचारों का लाभ प्राप्त होने की दृष्टि से महाल बड़ा सौभाग्यशाली रहा है। आर्य समाजियों तथा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रचार और आन्दोलनों का उस पर प्रभाव पड़ा; आधुनिक धार्मिक और राजनैतिक विचारों के साथ-साथ महाल रचनात्मक कार्य के प्रभाव में भी आया; तथा वेडछी नामक इसका एक गाँव रचनात्मक कार्य का एक वहुत महत्वपूर्ण केन्द्र बन गया। साहित्य, नाटक, संगीत आदि से सम्बन्धित सांस्कृतिक गतिविधियों को भी अच्छा प्रत्युत्तर मिला। इस प्रकार महाल धार्मिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक गतिविधियों की दृष्टि से सम्पन्न वना।

सामान्य जानकारी

एक गाँव के अतिरिक्त महाल के अन्य सभी ग्रामों से रेलगाड़ी काफी दूर पड़ती है। अधिकांश गाँव अच्छी पक्की सड़क से भी काफी फासले पर हैं। इस प्रकार महाल में आवागमन के साधन बहुत ही असंतोषप्रद हैं। महाल का सदर मुकाम (हेड क्वार्टर) वालोद है; लेकिन रेलगाड़ी से काफी दूर पड़ने की वजह से उसका महत्व हाल ही में काफी गिरा है, जबकि मढ़ी और बारडोली का महत्व बढ़ गया है। महाल के ये दोनों स्थान रेलवे स्टेशन के काफी करीब पड़ते हैं। महाल का अधिकांश वाणिज्य-व्यवसाय इन्हीं दो स्थानों पर होता है।

दो छोटी-छोटी नदियाँ महाल से होकर बहती हैं, लेकिन उनका सिंचाई के लिए उपयोग नहीं किया गया है। एक तीसरी नदी महाल को छूती भर है लेकिन अभी तक उसके जल का इस्तेमाल करना सम्भव नहीं हो पाया है। ऐसी आशा है कि काकड़ापाड़ नहर का नहरी पानी महाल को उकाई परियोजना पूरी होने पर ही मिल सकेगा, जिसमें कम से कम दस वर्ष लग जायेंगे।

जनसंख्या

पिछले एक दशक में–१९५१ से १९६१ तक–महाल की आबादी मे १८ प्रति शत वृद्धि हुई है। वह ३६,१७९

से बढ़कर ४२,८३७ हो गयी। जन-संख्या वृद्धि अपेक्षाकृत इस महाल में अन्य स्थानों से कम हुई है। इसका कारण सम्भवतः स्थानीय रूप से पर्याप्त काम न मिलने की वजह से बहुत बड़े स्तर पर आबादी का दूसरे स्थानों पर स्थानान्तरण होना है। महिलाओं की संख्या प्रायः पुरुषों के बराबर ही है। कार्यकारी जन-संख्या यानी १५ से ६० वर्ष तक के आयु-वर्ग में आनेवाले व्यक्ति कुल आबादी के ५६.५ प्रति शत हैं।

पेशे की दृष्टि से १९५१ की जनगणना के अनुसार ७९ प्रति शत लोग कृषि कार्य में लगे थे, जबकि ५.५ प्रति शत उद्योगों में; २.५ प्रति शत व्यापार में तथा शेष १३ प्रति शत अन्य कामों में लगे थे। इसका मतलब है कि कृषि पर निर्भर आबादी बहुत अधिक है। महाल में कोई उल्लेखनीय उद्योग नहीं है।

महाल की अधिकांश आबादी आदिवासियों की है। वे कुल जन-संख्या के ६६ प्रति शत हैं। कुल ४० गाँवों में से २० परिपूर्ण रूप से आदिवासियों के हैं और शेष २० में से १२ में उनका बहुमत है।

आदिवासियों तथा अन्य लोगों के जीवन स्तर में बहुत अन्तर है। अच्छी उपजाऊ भूमि, उन्नत व सक्षम उपकरण तथा लाभकारी धंधों पर गैर आदिवासियों का अधिकार है। इसके विपरीत जन-जातियों के पास जो जमीन है वह कम उपजाऊ है, उनके पशु निम्न कोटि की नस्ल के हैं तथा खेती में वे जिन उपकरणों का व्यवहार करते हैं वे पुराने ढंग के हैं। शिक्षा की दृष्टि से भी वे गैर आदिवासियों की बराबरी नहीं कर सकते; उनसे बहुत पिछड़े हुए हैं। उनकी मात्र सम्पत्ति उनका अपना अकुशल श्रम है। उनकी जीवन पद्धति भी बिल्कुल भिन्न है। आदिवासी अपने खेतों में, एक-दूसरे से दूर-दूर रहते हैं, जबकि गैर आदिवासी एक साथ समुदाय के रूप में गाँव बनाकर रहते हैं। सामाजिक सम्बन्धों के मामले में आदिवासी एकदम स्वतंत्र हैं, गैर आदिवासी कठोर जातिगत संगठन के अन्तर्गत रहते हैं। इस प्रकार महाल में दो बिल्कुल अलग-अलग संस्कृतियाँ एक साथ रहती हैं। वे एक-दूसरी को प्रभावित करती हैं, खास कर गैर आदिवासी जीवन पद्धति आदिवासियों पर अपना प्रभाव डालती है, लेकिन यह प्रभाव बहुत ही मामूली रहा है।

कृषि

महाल का कुल क्षेत्रफल ५०,००० एकड़ है, जिसमें से ४४,००० एकड़ यानी ८९ प्रति शत जमीन खेती के लायक है। शेष भूमि या तो बंजर है अथवा ग्राम-निर्माण-स्थल, चारागाह, जंगल आदि के लिए आरक्षित है। खेती योग्य परती भूमि केवल ४२ एकड़ है। एक से अधिक फसलवाला क्षेत्र ७,००० एकड़ है, जबकि ८०० एकड़ भूमि प्रति वर्ष बंजर रखी जाती है। महाल की भूमि दो प्रकार की—काली और रेतीली—है। काली मिट्टी सम्पन्न और उपजाऊ है, जबकि रेतीली जमीन बिल्कुल निम्न कोटि की। दोनों प्रकार की जमीन का अनुपात समान है। करीब ७,५६३ एकड़ भूमि क्यारीवाली है। इसका क्षेत्रफल प्रति वर्ष बढ़ रहा है।

करीब ८७.५ प्रति शत भूमिधरों के पास दस-दस एकड़ से कम जमीन है, लेकिन ७० प्रति शत के पास तो पांच-पांच एकड़ से भी कम जमीन है। केवल पांच प्रति शत से भी कम लोगों के पास ४०-४० एकड़ से ज्यादा जमीन है। पिछले दशक में महाल में औसत वर्षा ६५ इंच हुई, लेकिन न्यूनतम (२६ इंच) और अधिकतम (१०५ इंच) के बीच अन्तर इतना अधिक है कि उससे खेती में बहुत अधिक अनिश्चितता आ गयी है।

महाल में उपलब्ध सिंचाई सुविधाएँ अपर्याप्त हैं। कुओं में तेल-चालित इंजन और पम्प लगाने के प्रयत्न किये गये हैं, लेकिन जल की कमी के कारण सिंचाई के अन्तर्गत भूमि बहुत कम है; आनुपातिक रूप से बढ़ी नहीं है। सिंचाई के अन्तर्गत कुल भूमि खेती योग्य जमीन के एक प्रति शत से भी कम है। सिंचाई-सुविधाओं का उर्वरकों के प्रयोग पर सीधा प्रभाव पड़ता है, जो कि बहुत ही कम है। हाल ही में गैर आदिवासियों ने खाद का अधिकाधिक प्रयोग करना शुरू किया है, लेकिन महाल को कुल मिलाकर देखने पर वह अब भी बहुत मामूली

ही है। फसलों को शायद ही उर्वरक प्राप्त होते हों।

धान मार्गदर्शी परियोजना के अन्तर्गत महाल में धान की जापानी तरीके से खेती करने की दिशा में अच्छी प्रगति हुई है। कुल ७,५०० एकड़ क्यारीवाली भूमि में से ३,००० एकड़ पर जापानी तरीके से खेती होती है। महाल की मुख्य फसलें ज्वार, धान, दालें, कपास और मूंगफली हैं। सबसे ज्यादा जमीन पर कपास बोयी जाती है। पिछले दशक में ज्वार की खेती के अन्तर्गत जो जमीन थी उसमें लगातार कमी हुई है, जबकि अन्य फसलों की खेती का क्षेत्रफल बढ़ा है। महाल का कुल कृषि उत्पादन १९५९-६० में ४१,९७,४८३ रुपये का अर्थात् प्रति एकड़ ८३ रुपये का था।

पशु-पालन

महाल के कुल २०,००० पशुओं में केवल ६,१०० ही दुधारू हैं । उनका कुल वार्षिक दूध उत्पादन ४ लाख ५० हजार रुपये मूल्य का होने का अनुमान है; प्रति पशु उत्पादन मात्र ७४ रुपये ही आता है।

उद्योग

कोई उल्लेखनीय उद्योग महाल में नहीं है और जिस कृषि उत्पादन का स्थानीय रूप से प्रशोधन हो सकता है वह समूचा कच्चे माल के रूप में महाल से बाहर चला जाता है। खादी उत्पादन कार्य किसी हद तक स्वावलम्बन के आधार पर अपनाया गया है। फिलहाल वह करीब ४० लाख वर्ग गज है। इसके अलावा पत्थर तोड़ाई, जंगल कटाई और कोयला बनाने, नीरा उत्पादन, चटाई-बुनाई तथा ईंट पथाई का काम भी होता है। बढ़ई, लुहार, दर्जी, कुम्हार, नाई, शव-च्छेदक तथा चर्मशोधक आदि जैसे परम्परागत कारीगर गैर आदिवासियोंवाले गाँवों में हैं। इन सब कामों से कुल ८४१ व्यक्तियों को काम मिलता है। इन में से जंगल कटाई का काम करनेवाले ही एक वन्य श्रमिक सहकारी समिति के अन्तर्गत संगठित हैं।

सघन क्षेत्र योजना के अन्तर्गत खादी, ग्रामीण तेल, बढ़ईगीरी, कुम्हारी, नीरा उत्पादन तथा साबुन उत्पादन कार्य संगठित करने के प्रयास किये गये हैं। लेकिन इन प्रयत्नों का महाल की अर्थ-व्यवस्था पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा है।

व्यापार, सेवाएँ, घरेलू कार्य जैसे धंधों में लगे व्यक्तियों की संख्या १,३३४ है और उनकी वार्षिक आय नौ लाख रुपये होने का अनुमान है।

आय व रोजगारी

महाल की कुल आय ६५ लाख रुपये होने का अनुमान है। इसम तीन लाख रुपये उद्योगों और पांच लाख रुपये बाहर से आनेवाले भी शामिल हैं। **प्रति व्यक्ति** आय १५२ रुपये बैठती है। जहाँ तक रोजगारी का सम्बन्ध है प्राप्य मनुष्य दिनों में से ६५ प्रति शत का विभिन्न कार्यों में उपयोग होता है, जबकि ३५ प्रति शत अनुपयोजित रहते हैं।

शिक्षा

करीब ५३ प्राथमिक विद्यालय महाल में हैं। उनमें विद्यार्थियों की संख्या ६,१०३ है। इनमें से १८ स्कूलों में सातवीं कक्षा तक की पढ़ाई होती है, जबकि शेष में चौथी कक्षा तक की, जिनमें १५८ अध्यापक हैं। यहाँ यह एक उत्साहवर्द्धक बात है कि प्राथमिक शिक्षा सुविधा का आदिवासी तथा गैर आदिवासी दोनों ही अच्छा लाभ उठाते हैं। चार उच्च विद्यालय (हाय स्कूल) हैं, जिनमें ९०७ विद्यार्थी हैं। हाय स्कूल तक की शिक्षा का आदिवासी पर्याप्त फायदा नहीं उठाते। वेडछी में एक बुनियादी शिक्षक प्रशिक्षण कालेज भी चलता है। सन् १९६१ की जनगणना के अनुसार महाल में पढ़े-लिखे लोगों का प्रातिशत्य २७.९ था। महाल में दवा-दारू की सुविधाएँ बहुत कम हैं। चिकित्सालयीन अथवा प्रसूति-गृहों की सुविधाओं का बिल्कुल अभाव है।

आवास व्यवस्था

महाल में कुल ७,००० मकान हैं। उनमें से ५,००० ऐसे हैं कि उन्हें रहन-सहन की दृष्टि से अच्छा नहीं समझा जा सकता। वे छोटी-छोटी झोपड़ियाँ हैं। भवन निर्माण सहकारी समितियों के अन्तर्गत मकान बनाने के काम का

संगठन किया गया है, और इस कार्यक्रम के अन्तर्गत १२० मकान बनाये गये हैं। लेकिन रुपये-पैसे तथा जमीन की कमी के कारण इस काम में आगे प्रगति नहीं हो सकी।

सहकार

विभिन्न प्रकार की ३३ सहकारी समितियाँ महाल में चल रही हैं। उनकी सदस्य-संख्या ४,४३४ है। उनमें से १५ ऋणदात्री सहकारी समितियाँ हैं। उन्होंने १९५९-६० में कुल ८४,००० रुपये का ऋण दिया। कपास ओटाई और दबाई समितियों द्वारा दिये गये ऋण सहित महाल में कुल तीन लाख रुपये से अधिक ऋण नहीं दिया गया। यह प्रति एकड़ छः रुपये बैठता है। यदि समग्र भूमि के लिए पर्याप्त ऋण देना है तो जिला सहकारी बैंक के द्वारा निर्धारित स्तर के अनुसार कुल रकम २५ लाख रुपये होगी। इस दृष्टि से विचार करने पर वर्तमान अग्रिम राशि कुल आवश्यकता का मुश्किल से १२ प्रति शत है। सहकारी ऋणदात्री समितियों के अलावा महाल में एक ओटाई और दबाई समिति, दो उठाव सिंचाई समितियाँ, दो सहकारी कृषि समितियाँ, दो औद्योगिक सहकारी समितियाँ और नौ भवन निर्माण सहकारी समितियाँ हैं।

महाल में कोई २२ ग्राम पंचायते हैं। समूचा महाल उनके अन्तर्गत आ जाता है, लेकिन बड़े-बड़े गाँवों की कुछ पंचायतों के अतिरिक्त अन्य ग्राम पंचायतें सक्रिय नहीं हैं।

आयोजन

महाल के सामने एक सबसे बड़ी समस्या है अपने दो-तिहाई आदिवासियों का जीवन स्तर गैर आदिवासियों के समान बनाना।

महाल की पंच वर्षीय योजना के अन्तर्गत जो विभिन्न प्रकार के कार्यक्रम चलाये जायेंगे उनकी मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं:

कृषि विकास से सम्बन्धित अनेक कार्यक्रम एक-मुश्त कार्यक्रम (पैकेज प्रोग्रॅम) के अन्तर्गत चलाये जायेंगे। विभिन्न कार्यक्रमों के सम्बन्ध में योजनावधि के लिए निम्न लक्ष्यांक निर्धारित किये गये हैं:

मेंड़बन्दी कार्यक्रम के जरिये १,८२५ एकड़ जमीन का भू-संरक्षण; २८४ एकड़ भूमि को क्यारीवाली भूमि बनाना; ३,००० एकड़ पुरानी क्यारी भूमि में सुधार करना; और १,५१० एकड़ जमीन में ट्रैक्टर से खेती करना (इन चार कार्यक्रमों से भूमि सुधार उपायों के अन्तर्गत ६,६१९ एकड़ जमीन आयेगी); १३० कुओं की खुदाई तथा ४८५ पुराने कुओं की मरम्मत; ७७ तेल-चालित इंजन और पम्प लगाना; ३६० मौजूदा कुओं में बोरिंग करना; और एक उठाव सिंचाई सहकारी समिति का गठन (इन कार्यक्रमों से ६५० एकड़ नयी जमीन सिंचाई के अन्तर्गत आयेगी); ऐमोनियम सल्फेट का वार्षिक उपयोग: ७०० टन; सुपर फासफेट: ४०० टन; अन्य रासायनिक उर्वरक: १०० टन; पोटाश: १० टन; और खली: ४०० टन (इस प्रकार योजना-काल के अन्त तक उर्वरकों का वार्षिक उपयोग १,६१० टन हो जायेगा); हरी खाद के अन्तर्गत भूमि: १५,१०० एकड़; कम्पोस्ट खाद का उत्पादन: १०,००० गाड़ी भार; मैला खाद: २,००० गाड़ी भार; उन्नत बीजों से खेती के अन्तर्गत भूमि: २४,२७५ एकड़; उन्नत साधन-संरजाम के अन्तर्गत भूमि: ३,६८१ एकड़; उन्नत तरीकों से खेती: २०,६२५ एकड़ पर; शाक-भाजी की खेती: १२५ एकड़ पर; गन्ने की खेती: १२५ एकड़ पर; और बागवानी: ३,७५० एकड़ पर।

उपर्युक्त लक्ष्यांक प्राप्त करने के लिए २० लाख रुपये लघु-कालीन ऋण स्वरूप दिये जायेंगे और दीर्घ-कालीन ऋण की व्यवस्था भी पर्याप्त रूप से विस्तृत की जायेगी। इस बात का ध्यान रखा जायेगा कि लघु और दीर्घ-कालीन ऋण के अभाव में कोई भी कार्यक्रम अपूर्ण न रहे।

अनुमान है कि यदि सभी कार्यक्रम सफलतापूर्वक कार्यान्वित हो सके, तो महाल का कृषि उत्पादन शत प्रति शत बढ़ जायेगा। चूंकि आदिवासियों द्वारा उत्पादन फिलहाल बहुत ही कम है, इसलिए उसके बढ़ने की व्यापक सम्भाव्यताएँ हैं। अनुमानित उत्पादन वृद्धि

गैर आदिवासियों के वर्तमान उत्पापन के बराबर हो सकेगी। योजना-काल के अन्त तक प्रति एकड़ उत्पादन ८३ रुपये से बढ़कर १७२ रूपये तक होने की अपेक्षा है।

पशु-पालन

पशु-पालन विकास के लिए निम्न कार्यक्रम बनाये गये हैं: बेहतरीन नस्ल की गायों की पूर्ति: १२५; अच्छी नस्ल की भैंसें: २१५; भैंसे: ३५; और सांड ७५; नये कृत्रिम गर्भाधान केन्द्रों की स्थापत्ता: ५; गोशाला: १; पशु चिकित्सालय की स्थापना: १; और अभिजात मुर्गियों की पूर्ति: २४०। इनके अलावा अलाभदायक ढोरों की संख्या में कमी करने तथा दूध उत्पादक सहकारी समितियाँ गठित करने के प्रयत्न किये जायेंगे।

उद्योग

औद्योग विकास के लिए यह कार्यक्रम निश्चित किया गया है: समग्र कृषि उत्पादन के प्रशोधन की स्थानीय व्यवस्था; खादी उत्पादन में वृद्धि; पत्थर-तोड़ाई और नीरा उत्पादन का सहकारी आधार पर गठन तथा विस्तार; अन्य सभी परम्परागत कारीगरों को सहकारी आधार पर संगठित करना, और उन्हें इन संगठनों के जरिये सभी प्रकार की सुविधाएँ उपलब्ध करवाना; तथा सहकारी आधार पर ग्रामीण उद्योगपुरियों का संगठन, उनमें कृषि उपकरण-उत्पादन, सिमेण्ट-नाली उत्पादन, मिश्रित खाद उत्पादन जैसे उद्योग तथा छत्तों, स्टेशनरी की चीजों, दियासलाई, लालटेन आदि जैसी उपभोक्ता सामग्री का उत्पादन प्रारम्भ करना; और एक काठ चिराई कारखाने व एक मरम्मत का काम करनेवाली दूकान की स्थापना आदि। इस कार्यक्रम से औद्योगिक कामों के जरिये १,००० नये व्यक्तियों को रोजगारी प्रदान किये जाने की अपेक्षा है।

भवन निर्माण

योजनावधि में नये भवनों का निर्माण इस प्रकार करने की योजना है: नये घर: ५००; भवन निर्माण सहकारी समितियों का गठन: २०; नये मकानों के लिए योजित अनुमान तैयार करने और आवश्यक भवन निर्माण सामग्री की पूर्ति करने के लिए एक संगठन खड़ा करना; श्रमिक सहकारी समितियों के जरिये ठेके पर निजी तथा सार्वजनिक मकानों का निर्माण कार्य हाथ में लेना; और इस प्रकार श्रमिकों के लिए पर्याप्त काम प्राप्त करना।

पूर्ण रोजगारी कार्यक्रम

भारत सरकार द्वारा प्रवर्तित ग्रामीण निर्माण कार्यक्रम के जरिये वर्ष में करीब ५० दिन स्थानीय श्रमिकों (२,००० व्यक्तियों) के लिए अतिरिक्त कार्य की व्यवस्था; उक्त तथा अन्य प्रकार के कामों का सभी ग्राम पंचायतों द्वारा संगठन; और क्षेत्र की जनता के विभिन्न वर्गों के लिए उनकी उत्पादन-क्षमता बढ़ाने की दृष्टि से विभिन्न प्रकार के प्रशिक्षण कार्यक्रमों का आयोजन।

सहकार

पाँच नयी सेवा सहकारी समितियों का संगठन; महाल के सभी परिवारों को सहकारी संगठन के अन्तर्गत लाना; २० लाख रुपये के लघु-कालीन ऋण की व्यवस्था; २० भवन निर्माण सहकारों, पाँच कृषि सहकारी समितियों, सात उपभोक्ता भण्डारों का संगठन; सभी प्रकार के कामगारों के लिए औद्योगिक सहकारी समितियाँ बनाना; और सभी सहकारी समितियों के लिए एक संघ का संगठन करना।

शिक्षा

गाँव में अथवा उसके समीप १० माण्टेसरी पद्धति के तथा माध्यमिक विद्यालयों की स्थापना। यदि सातवीं कक्षा तक के दो और नये विद्यालय उपयुक्त स्थानों पर खुल जाते हैं तो उक्त लक्ष्यांक पूर्ण हो जाता है, प्राथमिक विद्यालयों के लिए ५० कमरों का निर्माण, प्राथमिक विद्यालय के शिक्षकों के लिए प्रत्यास्मरण प्रशिक्षण वर्गों का आयोजन, दो नये आश्रम पद्धति के विद्यालयों की स्थापना, पाँच सातवीं कक्षा तक के विद्यालयों में कृषि का उद्योग के रूप में समावेश, मद्य

छात्रावास की व्यवस्था के आदिवासी क्षेत्रों में तीन हाय स्कूलों की स्थापना ताकि आदिवासी विद्यार्थी हाय स्कूल शिक्षा का लाभ उठाने में समर्थ हो और कृषकों, कारीगरों, महिलाओं, ग्राम नेताओं, ग्राम कार्यकर्त्ताओं, ग्राम सहकारी समितियों तथा ग्राम पंचायतों के पदाधिकारियों के लिए प्रशिक्षण वर्गों का संगठन करते हुए प्रौढ शिक्षा का विस्तार करना, शिक्षा कार्यक्रम की विशेष बातें हैं ।

स्वास्थ्य

महाल चिकित्सा संघ का संगठन और उसके जरिये सभी गाँवों को दवा-दारू की सुविधाएँ उपलब्ध करवाना, एक परिपूर्ण साधन-सरंजाम से युक्त स्वास्थ्य केन्द्र और दो उप-केन्द्रों की स्थापना, २० ग्राम सफाई शिविरों का आयोजन, मूत्राशय शल्य चिकित्सा शिविरों का आयोजन और ५०० व्यक्तियों की चिकित्सा, पीने के पानी के ५० कुओं की खुदाई, दो स्थानों पर सार्वजनिक स्नान गृह बनाना तथा बड़े-बड़े गाँवों में शौचालय बनाकर उनके साथ गैस संयंत्रों की स्थापना करना स्वाथ्य कार्यक्रम के अन्तर्गत शामिल है ।

इन विभिन्न विकास योजनाओं की सफलता मुख्यतः इस बात पर निर्भर करती है कि किस प्रकार विभिन्न स्थानीय संगठन अपनी सफलताओं के लिए प्रभावशाली रूप से काम करते हैं । इन सभी कार्यक्रमों में उच्चतम स्तर पर लोक भागीदारी कायम रखनी होगी तथा विभिन्न प्रकार के स्थानीय संगठनों के मध्य प्रभावकारी ऐक्य स्थापित करना होगा । यदि इसका सफलतापूर्वक संगठन कर लिया जाता है, तो विभिन्न कार्यक्रमों के लिए निर्धारित लक्ष्यांक प्राप्त करना कोई कठिन नहीं है ।

योजना का प्रभाव

यदि उक्त लक्ष्यांक प्राप्त कर लिये जाते हैं, तो महाल की स्थिति में कौन-सा परिवर्तन आयेगा ? महाल की कुल आमदनी दुगुनी से भी अधिक और **प्रति व्यक्ति** आय १५२ रुपये से बढ़कर २८५ रुपये हो जायेगी । जो नये उद्योग प्रारम्भ किये जायेंगे उनसे एक औद्योगिक आधार तैयार होगा; और आगे औद्योगिक विकास करने में मदद मिलेगी । जिन लोगों को वास्तविक रूप से काम की आवश्यकता है, उन्हें काम मिलेगा । प्रत्येक व्यक्ति को अपने घर से बहुत ही नजदीक माध्यमिक स्तर तक की शिक्षा प्राप्त हो सकेगी तथा हाय स्कूल तक की शिक्षा के लिए भी पर्याप्त सुविधा मिल सकेगी । सभी वर्गों के लोगों की उत्पादकता काफी बढ़ जायेगी । सहकारी संगठन शक्तिशाली बनेगा और आदिवासियों सहित सभी व्यक्ति उसका लाभ उठा सकेंगे । दवा-दारू की सुविधा के लिए पर्याप्त व्यवस्था की जायेगी । आदिवासियों के जीवन-स्तर में काफी सुधार होगा और वे समुदाय के रूप में रहना प्रारम्भ करेंगे । आदिवासियों व गैर आदिवासियों के जीवन-स्तर में जो अंतर है, वह कम होगा । विकास कार्यों के प्रति आयोजित उपागम अपनाने का तरीका लोगों में घर कर जायेगा तथा इस प्रकार और आगे विकास करने के लिए अनुकूल वातावरण निर्मित होगा । संक्षेप में, एक बहुत ही पिछड़ा हुआ महाल अपने पिछड़ेपन को छोड़ने और राज्य के अन्य अधिक विकसित क्षेत्रों के साथ आगे बढ़ने लगेगा ।

अहमदाबाद : ३१ जनवरी १९६१ ●

पेण्ट और वार्निश ग्रामोद्योग

वेंकट सुब्रह्मण्य अय्यर

पेण्ट और वार्निश का इस्तेमाल सजावटी और कीटाणुओं से रक्षार्थ कार्यों में किया जाता है। राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में उनका परमावश्यक स्थान है; क्योंकि वे जंग से होनेवाले नुकसान को, जो कि अभी प्रति वर्ष करीब ३ अरब रुपये का होता है, कम करते हैं। देश के तीव्र औद्योगिक विकास और इस्पाती वस्तुओं, यंत्रों, संयंत्रों, मकानातों, पुलों, रेल के डिब्बों, मोटर गाड़ियों और जहाजों की संख्या में वृद्धि के साथ-साथ पेण्ट का इस्तेमाल भी रक्षार्थ और सजावटी कार्यों के लिए बढ़ने ही वाला है। इस प्रकार अभी भारत में पेण्ट की जो खपत करीब ७५,००० टन (२० करोड़ रुपये) है, तीसरी योजना के अन्त तक उसकी जरूरत अन्दाजन १,५०,००० टन (४० करोड़ रुपये) हो जायेगी।

पेण्ट मुख्यतः रंग द्रव्य होता है अथवा तेल या वार्निश में अच्छी तरह मिला हुआ कुछ रंगों का मिश्रण होता है और टरपेण्टाइन जैसे वाष्पशील विलायक से इतना पतला बना दिया जाता है कि जिससे वह इस्तेमाल हो सके। पेण्ट के लिए कच्ची सामग्री का चुनाव इस पर निर्भर करता है कि उसका इस्तेमाल किस कार्य में किया जानेवाला है और इसके साथ ही लागत का भी ध्यान रखना होता है। रेलवे, प्रतिरक्षा सेवाओं, नगरपालिकाओं आदि द्वारा जिन सस्ते पेण्ट का इस्तेमाल किया जाता है वे बहुतायत में प्राप्य रेड आक्साइड और यलो आक्रे जैसे सस्ते खनिज रंग द्रव्यों और व्हाइटिंग, बेराइट्स, टाल्क आदि एक्सटेण्डर्स से तैयार किये जाते हैं। इस तरह के पेण्ट आवश्यक रंग द्रव्यों को प्रशोधित तिल तेल अथवा वार्निश में अच्छी तरह मिलाकर तथा उस मिश्रण में सफेद स्पिरिट जैसा वाष्पशील द्रावक पतला बनानेवाला द्रव्य मिलाकर, जोकि पेट्रोल शोधकों से उप-उत्पादन के रूप में प्राप्त होता है, तैयार किये जाते हैं।

ये पेण्ट गांवों में थोड़ी-सी पूंजी से ही तैयार किये जा सकते हैं। इस कार्य के लिए मुख्य उपकरण है बॉल मिल जोकि इस्पात का वर्तुलाकार बर्तन होता है और उसके अन्दर इस्पात के गेंद (बाल्स) लगे रहते हैं। इस वर्तुल के अन्दर रंग द्रव्य, तिल तेल और घोल को पतला बनानेवाले द्रव्य रख दिये जाते हैं और शक्ति अथवा बिजली के जरिये यह मिल १८ से २४ घण्टे घूमती रखी जाती है, जिस समय में कि रंग द्रव्य तेल में अच्छी तरह घुल-मिल जाय। फिर पेण्ट को उसमें से निकाल लिया जाता है और महीन चलनी में छान लिया जाता है ताकि मोटे अथवा खुरदरे कण निकल जायें। फिर यह इस्तेमाल करने लायक हो जाता ह।

केन्द्रित मिलें

उपर्युक्त पेण्ट बनाने में जिन खनिज रंग द्रव्यों का इस्तेमाल किया जाता है, वे खान से छोटे-छोटे टुकड़ों में प्राप्त किये जाते हैं। पेण्ट बनाने में इनका इस्तेमाल करने के पूर्व इन्हें बिल्कुल महीन चूर्ण के रूप में बदल देना होता है। यह **चूर्णन** कार्य चूर्णक मिलों में करना होता है, जोकि बड़ी कीमती होती हैं। एक छोटी-सी मिल करीब २०,००० रुपये कीमत की होती है। अतः हर गाँव में ऐसी मिल खड़ी करना सम्भव नहीं है। परन्तु इस तरह की मिलों को केन्द्रित स्थानों में स्थापित करना अल्पव्ययी होगा और उनमें तैयार किये चूर्ण रंग-द्रव्यों को आस-पास की रंग उत्पादक इकाइयों को वितरित किया जा सकता है।

लागत

प्रति दिन १०० लीटर पेण्ट तैयार करनेवाली बॉल मिल की कीमत करीब ३,००० रुपये होगी और उसके लिए करीब २ से ३ अश्वशक्ति ऊर्जा की आवश्यकता पड़ेगी। भारतीय मानक विशिष्ट-विवरण स. १२३ के अनुकूल रेड आक्साइड पेण्ट, जो कि

बड़ी मात्रा में संभरण और निकास महा निर्देशक, रेलवे आदि द्वारा खरीदा जाता है, तैयार करने में लागत प्रति लीटर करीब २.२५ रुपये पड़ेगी, जिसमें पेण्ट रखनेवाला बर्तन और प्रति लीटर ४२ नया पैसा उत्पादन शुल्क भी शामिल है। अभी यह पेण्ट बड़ी इकाइयों द्वारा सरकार को प्रति लीटर करीब २.७५ रुपयें की दर से सप्लाई किया जा रहा है। अतः प्रति लीटर ५० नये पैसे का मुनाफा है और अगर इसमें से प्रशासनिक तथा बिक्री खर्च मद के २५ नये पैसे घटा दें तो प्रति दिन १०० लीटर पेण्ट से २५ रुपये की आय होगी। यदि प्रति लीटर ४२ नये पैसे का उत्पादन-शुल्क हटा दिया जाय, जो कि ग्रामोद्योगी उत्पादनों पर नहीं लगता, तो और भी अधिक मुनाफा होगा।

इस प्रकार करीब ६,००० रुपये के निवेश से (३,००० रुपये बॉल मिल के लिए और ३,००० रुपये कच्चे माल तथा अन्य खर्चों के लिए) प्रति दिन २५ रुपये की शुद्ध आय हो सकती है, जिससे कि चार से पाँच व्यक्तियों को अच्छी रोजी भी मिलेगी।

यदि गाँववालों के लिए ६,००० रुपये का निवेश अथवा पूँजी शक्ति के बाहर लगे तो पहले कदम के रूप में तिल तेल और वार्निश का प्रशोधन कार्य हाथ में लिया जा सकता है। इसके लिए न तो कीमती यंत्रों की ही जरूरत है और न ही शक्ति की। वार्निश उबले तेल, घानी तेल और इस्पात की केतली (जो कि गाँव में ही बनायी जा सकती है) में तैयार किया जा सकता है अथवा आरम्भ में इसके लिए ४० गैलन के पीपे का भी इस्तेमाल कर सकते हैं। प्रक्रिया यह है कि तेल को एक खास तापमान पर निश्चित समय तक आग पर गर्म करते रहते हैं, जिससे कि उसमें आवश्यक तत्व आ जायें। वार्निश के लिए तेल को चन्द रेजीन, जैसे रोजीन, इस्टर गम, लाख आदि, तथा चन्द अन्य रसायनों के साथ तब तक गर्म करते हैं जब तक कि सभी तत्व घुल-मिल न जायें। फिर उस मिश्रण को ठंडा करते हैं और टरपेण्टाइन अथवा सफेद स्पिरिट जैसे वाष्पशील विलायक मिलाकर पतला करते हैं। ये सब प्रक्रियाएँ गाँववालों को पेण्ट और वार्निश निर्माण इकाई आरम्भ कर बिना किसी विशेष दिक्कत के सिखायी जा सकती हैं। इस इकाई में वे विभिन्न प्रक्रियाओं को निकट से देखेंगे और धीरे-धीरे उसे सीख लेंगे।

तिल तेल और तिल तेल से बने वार्निश के प्रशोधन के अलावा गाँवों में अस्फाल्ट, कोलतार बिटुमेन, सुपारी का तेल, अंडी का तेल आदि के वार्निश भी बिना किसी बड़े यंत्र अथवा उपकरण के लाभदायक रूप में तैयार किये जा सकते हैं। उपर्युक्त तरीके से तैयार किये गये तेल और वार्निश गुण-स्तर में बड़े उद्योगों द्वारा तैयार की गयी वस्तुओं से कम नहीं होंगे।

अपर्याप्त साधन

ग्रामीण स्तर पर पेण्ट और वार्निश उद्योग के विकसित न होने का कारण यह नहीं है कि छोटे पैमाने पर उत्पादन करना मितव्ययी नहीं है, बल्कि यह है कि आम ग्राहक को छोटी इकाइयों के उत्पादन में पर्याप्त विश्वास नहीं है। फिर, छोटी इकाइयों को जो आर्थिक कठिनाइयाँ रहती हैं, उनसे वे अपने उत्पादन को सजे-सजाये बर्तनों में नहीं बेच सकतीं। इसके अलावा छोटे उत्पादक दूकानदारों को उधार माल देने की तथा अन्य वे सुविधाएँ, जो कि बड़े उत्पादक दे सकते हैं, नहीं दे सकते।

अतः यदि इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए आवश्यक व्यवस्था की जाय– ऐसा उपाय करते हुए कि उत्पादन का उचित स्तर बना रहे—व उत्पादन को भारतीय मानक संस्था से प्रमाणित कराया जाय और प्रदर्शन-गवाक्षों में उसका प्रदर्शन किया जाय, तो कोई कारण नहीं कि ग्रामीण इकाइयों में तैयार किये गये पेण्ट और वार्निश खूब न बिकें तथा उनसे गाँवों में काफी लोगों को रोजगारी न मिले।

बम्बई : २९ सितम्बर १९६२

नवम वार्षिकांक पर समाचार पत्रों का अभिमत

प्रस्तुत वार्षिकांक के अधिकांश लेखों में ग्रामीण औद्योगीकरण सम्बन्धी सैद्धांतिक और व्यावहारिक समस्याओं पर चर्चा की गयी हैं। अनुसंधान का महत्व, जन संख्या की वृद्धि की समस्या, बैंक से वित्त लेना, औद्योगिक सहकारिताओं तथा अन्य संबंधित विषयों पर भी इसमें लेख दिये गये हैं। ये लेख आधिकारिक व्यक्तियों द्वारा लिखे गये हैं। ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में दिलचस्पी रखनेवाले लोगों के लिए इस अंक में बड़ी उपयोगी सामग्री है।

योजना, नयी दिल्ली
२३ दिसम्बर १९६२

* * *

खादी ग्रामोद्योग का नवम वार्षिकांक ग्रामीण औद्योगीकरण के विविध पहलुओं पर विशेष रूप से ध्यान खींचता है और ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के तथा विकेंद्रित उत्पादन क्षेत्र के विविध पहलुओं पर प्रकाश डालता है। **खादी ग्रामोद्योग** अपने ढंग का अकेला पत्र है, जो ग्रामीण पुनरुत्थान से संबंधित विविध समस्याओं पर विविध दृष्टिकोणों से चर्चा करने के लिए विचार-विमर्श का योग्य माध्यम उपस्थित करता है। इस अंक में खादी-ग्रामोद्योगों तथा ग्रामीण औद्योगीकरण के विविध पहलुओं पर विद्वान चिंतकों और विशेषज्ञों के विचारपूर्ण लेख हैं।

कॉमर्स, बम्बई
८ दिसम्बर १९६२

* * *

विकेन्द्रित उत्पादन क्षेत्र के साथ ग्रामीण औद्योगीकरण की विशिष्ट विशेषताओं पर **खादी ग्रामोद्योग** के नवम वार्षिकांक में काफी विस्तारपूर्वक आधिकारिक रूप से प्रकाश डाला गया है।

श्री वैकुण्ठ ल. मेहता ने खादी उद्योग के संबंध में परिपूर्ण और गहन जानकारी-प्रदान लेख लिखा है। श्री मेहता का इस विषय पर पूरा अधिकार है। उन्होंने खादी कार्यक्रम का, उसके विरुद्ध पेश की जानेवाली दलीलों का उत्तर देते हुए औचित्य सिद्ध किया है। दावा किया जाता है कि **खादी ग्रामोद्योग** अपने ढंग का ऐसा अकेला पत्र है, जो "ग्रामीण पुनरुत्थान से संबंधित विविध समस्याओं पर अनेक दृष्टियों से मुक्त और स्वतंत्र रूप से विचार-विमर्श करने का माध्यम है।"

प्रस्तुत विशेषांक बताता है कि यह दावा बिल्कुल उचित है। दरअसल यह अंक अपने उच्च ज्ञान से युक्त लेखों के सुन्दर संकलन के रूप में इस विषय पर एक प्रमाणभूत ग्रंथ का काम कर सकता है।

दि फायनेन्सियल एक्सप्रेस, बम्बई
७ नवम्बर १९६२

* * *

खादी और ग्रामोद्योगों से संबंधित ज्ञानवर्धक विविध सामग्री इस विशेषांक में दी गयी है। डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद ने अपने लेख में इस बात पर जोर दिया है कि खादी और अन्य हस्तोद्योगों को प्रोत्साहन देते समय उत्पादन के गुण-स्तर पर विशेष ध्यान दिया जाना जरूरी है, ताकि जो माल अंतिम रूप से तैयार हो वह विशिष्टता से युक्त और आकर्षक हो। श्री वैकुण्ठ ल. मेहता ने खादी उद्योग की मौजूदा स्थिति की समीक्षा की है। इस अंक में जिन विषयों पर लेख लिखे गये हैं, उनमें से कुछ विषय इस प्रकार हैं: जन-संख्या की वृद्धि, शहरीकरण की समस्या, बैंकों से धन प्राप्ति, अनुसंधान के नतीजे लागू करना, कृषि विकास, क्षेत्रीय नियोजन और शक्ति का उपयोग आदि।

दि हिन्दू, मद्रास
१६ दिसम्बर १९६२

* * *

सम्पादक : सुभाष चन्द्र सरकार द्वारा खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय,' इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई–५६ से प्रकाशित तथा मुद्रित। मुद्रण-स्थल : एसोसिएटेड एडवर्टाइजर्स एण्ड प्रिण्टर्स, ५०५, तारदेव आर्थर रोड, बम्बई–३४।

खादी ग्रामोद्योग
ग्रामीण जीवन, समाज और अर्थशास्त्र विषयक मासिक

नवम वर्ष • जुलाई १९६३ • दशम अंक

विषय सूची

सम्पादक : सुभाष चन्द्र सरकार। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के लिए सुभाष चन्द्र सरकार द्वारा मुद्रित और प्रकाशित।

ग्रामीण विकास तथा समाजार्थिक व्यवस्था पर लिखे लेखों को कमीशन की पत्रिकाओं में सहर्ष स्थान दिया जायेगा, बशर्ते वे ग्रामीण विकास के ध्येय से लिखे गये हों। फिर भी, प्रत्येक लेख के छापने का आश्वासन नहीं दिया जा सकता। लेखकों को किसी अंश में पुरस्कृत करने का भी प्रबन्ध किया जा सकता है। लेख, पुस्तकों की समीक्षा आदि सम्पादक, 'खादी ग्रामोद्योग', खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय,' इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई–५६ के पते पर भेजें। टेलिफोन नं. ८६७७३।

इस पत्र में प्रकाशित लेखों में प्रकट किये गये विचार खादी और ग्रामोद्योग कमीशन अथवा सम्पादक के न होकर लेखक के हैं सम्पादक अथवा कमीशन के विचार जहाँ-कहीं भी हैं, उनका उल्लेख कर दिया गया है।

वार्षिक शुल्क : २.५० रुपये; एक प्रति : २५ नये पैसे। चन्दे की रकम इस पते पर भेजी जानी चाहिए : सहायक एकाउण्ट्स ऑफिसर (कैश), खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय', इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई–५६।

इस अंक के लेखक

उछरंगराय नवलशंकर ढेबर	—खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अध्यक्ष।
वैकुण्ठ लल्लूलाल मेहता	—खादी और ग्रामोद्योग मण्डल के सदस्य।
रामदास किशोरदास अमीन	—वल्लभ विद्यानगर (गुजरात) स्थित सरदार वल्लभभाई विद्यापीठ में प्रोफेसर और अर्थशास्त्र विभाग के अध्यक्ष।
कमल बनर्जी	—खागरा (पश्चिम बंगाल) से प्रकाशित **मुर्शिदाबाद समाचार** के सम्पादक।
माखनलाल भट्ट	—वल्लभ विद्यानगर (गुजरात) स्थित कृषि-आर्थिक अनुसंधान केन्द्र में वरिष्ठ अनुसंधान सहायक।
श्रीपति रंगनाथ	—मद्रास स्थित जन-संख्या का अध्ययन करनेवाली संस्था 'इण्डियन इन्स्टीटयूट ऑफ् पापुलेशन स्टडीज' में वरिष्ठ गवेषणा अधिकारी।
त्यमगुण्डलू कृष्णमूर्ति	—खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के मद्रास स्थित ग्रामीण तेल विकास अधिकारी।
अपरेश भट्टाचार्य	—कलकत्ता के स्कॉटिश चर्च कालेज में रसायनशास्त्र के प्रोफेसर।
हर्षवदन जयकिशनदास दलाल	—खादी और ग्रामोद्योग कमीशन में सहायक निर्देशक (कॉस्टिंग)।
केशव विट्ठल पानसे	—खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की 'नीरा का औषधीय मूल्य' योजना के अन्तर्गत पूना स्थित गवेषणा अधिकारी।
नवीनचन्द्र कृष्णप्पा तिंगलाया	—बम्बई विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र विभाग में रिसर्च फेलो।
मरियप्पन परयपट्टी गुरुसामी	—गांधी निकेतन (टी. कल्लूपट्टी) स्थित उद्योग विस्तार अधिकारियों के लिए खादी ग्रामोद्योग विद्यालय में लेक्चरर।
सोमसुन्दरम सन्मुगम	—राजेन्द्रनगर (हिमायतसागर—आन्ध्र प्रदेश) स्थित उद्योग विस्तार अधिकारियों के लिए खादी ग्रामोद्योग विद्यालय में लेक्चरर।
रामय्या राममूर्ति	—राजेन्द्रनगर (हिमायतसागर—आन्ध्र प्रदेश) स्थित उद्योग विस्तार अधिकारियों के लिए खादी ग्रामोद्योग विद्यालय में लेक्चरर।
स्नेह कुमार चौधरी	—बम्बई से प्रकाशित **धर्मयुग** के उप-सम्पादक।

प्रभावशाली प्रतिरक्षा के लिए राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था*

उछरंगराय न. ढेबर

राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था को शक्तिशाली बनाना न केवल लोक-जीवन स्तर में सुधार लाने के लिए महत्वपूर्ण है, बल्कि प्रभावशाली प्रतिरक्षा की वह एक अनिवार्य पूर्व-शर्त भी है। देश के वर्तमान संदर्भ में आर्थिक सुस्थिरता यानी सुदृढ़ता का अर्थ है कृषि-औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था का निर्माण।

तानाशाहों की भाषा एक समान भी हो सकती है और नहीं भी, लेकिन उनकी कार्य पद्धति अथवा उद्देश्यों में शायद ही कभी कोई अन्तर होता हो। उनका उद्देश्य होता है शक्ति के लिए अशाम्य आकांक्षा, तृष्णा को शान्त करना, जोकि अत्यंत अहम्-केंद्रित मस्तिष्क की विशेषता होती है। उनकी कार्य पद्धति होती है अपने प्रतिद्वंद्वियों को बदनाम, आतंकित, भयभीत तथा उत्साहविहीन करना और उनकी इच्छा-शक्ति का खण्डन, दमन कर देना। मन-गढ़न्त दावे, राजनीतिक दबाव, मिथ्या और घृणा से परिपूर्ण अनवरत प्रचार, उत्तेजना पर अभिकथित अक्षम्य उल्लंघन की ओट में आकस्मिक कार्रवाई, लोगों की जिन्दगी व उनके सुख-चैन से खिलवाड़ करना आदि उनकी सर्व विदित चालबाजियाँ और पैतरे हैं।

आज से करीब पचीस वर्ष पहले जेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण करने से पूर्व हिटलर ने अपने सैनिक जनरलों को जो निर्देश दिये उनसे कुछ अंश **दि राइज एण्ड फाल ऑफ् दि थर्ड रीघ** के सुविख्यात लेखक विलियम शिरर (William Shirer) ने उद्धृत किये हैं। हिटलर ने कहा था:†

"निकट भविष्य में बिना किसी उत्तेजना के जेकोस्लोवाकिया को फौजी कार्रवाई करके तबाह कर देने का मेरा इरादा नहीं है, जब तक कि स्वयम् जेकोस्लोवाकिया में कोई ऐसी बात न पैदा हो कि उसे टाला न जा सके तथा जो कार्रवाई करने पर बाध्य कर दे अथवा यूरोप में ऐसी कोई राजनीतिक घटनाएं न घटें कि उनसे कोई ऐसा विशेष अनुकूल अवसर उपस्थित हो जाय जिसकी सम्भवतः फिर कभी पुनरावृत्ति न हो।

"कार्रवाइयाँ तरजीहन...(आ) जर्मनी के लिए असह्य उत्तेजना पैदा करनेवाली और कम से कम विश्व-मत के कुछ अंश की दृष्टि में सैनिक कार्यवाही का नैतिक औचित्य प्रदान करनेवाली किसी गम्भीर घटना के फलस्वरूप आकस्मिक कार्यवाही द्वारा प्रारम्भ की जायेंगी।

फौजी कारवाई को चार दिन के अन्दर-अन्दर इस तरह की सफलता हासिल करनी थी कि उससे "उन दुश्मन राज्यों के सामने जेकोस्लोवाकिया की सैनिक स्थिति के निकम्मेपन का प्रत्यक्ष प्रदर्शन हो जाय जो बीच में दखल डालने के इच्छुक हों और उन राज्यों को जेकोस्लोवाकिया के विरुद्ध शामिल होकर तुरन्त कार्रवाई करने की एक उत्प्रेरणा भी मिले, जो उसके विरुद्ध प्रादेशिक दावा रखते हैं।

"प्रचार युद्ध ऐसा होना ही चाहिए कि एक ओर

---

* कलकत्ता में सम्पन्न **भारतीय विचारक सम्मेलन** में ७ जुलाई १९६३ को दिया गया भाषण।

† विलियम शिरर: **दि राइज एण्ड फाल ऑफ् दि थर्ड रीघ** (नाजी जर्मनी का इतिहास); फासेट पब्लिकेशन्स; पृष्ठ: ४९१–४९२।

वह भय प्रकट कर जेक जनता को भयभीत करे और उनकी प्रतिरोध शक्ति रगड़ डाले, दूसरी ओर वह राष्ट्रीय अल्प-संख्यकों को संकेत दे कि वे किस प्रकार हमारी फौजी कार्रवाई में मदद करें और तटस्थों को हमारी तरफ मिलाने में प्रभावित करे।

"जेक अन्तिम रूप से शीघ्रातिशीघ्र परास्त हों, इसके लिए उपलब्ध सभी आर्थिक साधन-स्रोतों को आर्थिक युद्ध में प्रयुक्त करना है..."

आक्रमणकारी क्या चाहता है

चीनी तानाशाह भले ही भिन्न भाषा का प्रयोग करता हो, लेकिन उसकी सैनिक नीतियों के लक्ष्य स्पष्ट हैं। हिटलर की भाषा में (यदि हम जेकोस्लोवाकिया के स्थान पर भारत को रखें) वे लक्ष्य हैं: 'भारतीय सैनिक स्थिति की असहायता को प्रकट करना', 'भारत के पड़ोसियों को सभी प्रकार के प्रादेशिक दावे प्रस्तुत करने के लिए उत्प्रेरणा प्रदान करना', 'भारतीय जनता को भयभीत करना ताकि उसकी प्रतिरोध अर्थात् सामाना करने की शक्ति क्षीण पड़ जाय', 'राष्ट्रीय अल्प-संख्यकों को भड़काना', 'तटस्थ राष्ट्रों को प्रभावित करना', और 'भारतीय अर्थ-व्यवस्था के स्वरूप का शीघ्र पतन करना।' अन्त में इस तरह के संघर्ष को परिपूर्ण युद्ध का रूप लेना चाहिए, जिसमें सैनिक, मनोवैज्ञानिक तथा आर्थिक क्षेत्र का निर्मम संघर्ष भी शामिल होता है।

शक्तिशाली आंतरिक क्षेत्र

कोई भी देश जब तक कि उसकी भीतरी अवस्था दृढ़ और सुस्थिर न हो तब तक देश की बाह्य सीमा पर दृढ़तापूर्वक डटे रहने में समर्थ नहीं रहा है। यह बात सभी प्रकार के संघर्षों में लागू होती है। लेकिन जब प्रतिद्वंद्वी का—जो कि एक तानाशाह भी हो—जाना-बूझा हुआ सैनिक उद्देश्य लोक-इच्छा भंग करना, उनको प्रतिरोध शक्ति कमजोर बनाना तथा उनका आर्थिक स्वरूप तहस-नहस करना हो, तब उस अवस्था में भीतरी सीमा यानी स्थिति को शक्तिशाली, मजबूत बनाने के प्रश्न का महत्व और भी बहुत बढ़ जाता है। भारत को अपनी घरेलू स्थिति पर भी उतनी ही सतर्कता के साथ निगरानी रखने की आवश्यकता है, जितनी कि उच्च हिमालय पर अपनी मुख्य सीमा पर। जब तक घरेलू स्थिति को शक्तिशाली और पुष्ट बनाने यानी उसे सहारा प्रदान करने के लिए अनवरत तथा अपरिमित प्रयत्न न किये जायें, तब तक दशाब्दियों तक विदेशी शासन के शोषण से कमजोर बनाया हुआ और परमावश्यक क्षेत्रों के मामले में अल्प-विकसित भारत किसी भी मद की नाजुक अवस्था में डिग सकता है। देश को इस तरह से शक्तिशाली बनाने के लिए निश्चित कदम उठाने पड़ेंगे, जिनमें कुछ जोखिम भी उठानी पड़ सकती है; क्योंकि संकटकालीन स्थिति में भी जोखिम-दारी से बचा नहीं जा सकता। इस संदर्भ में ढिलाई होने पर घरेलू अवस्था कमजोर पड़ जाती है। इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि शिखर पर भारत सरकार ने अर्थ-व्यवस्था शक्तिशाली बनाने के लिए बड़े साहसी कदम उठाये हैं। विकास योजनाएँ चालू रखने का निर्णय एक ऐसा ही दिलेर कदम है, जो भारत के इतिहास में अपनी अमिट छाप छोड़ेगा। वर्तमान वित्तीय वर्ष के लिए सरकारी बजट भी एक अन्य ऐसा ही महान् कदम है, जो सरकार के लिए कम श्रेयस्कारी नहीं है। लेकिन इससे भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि इन साहसी, दृढ़ संकल्पी कदमों के साथ ही साथ कुछ दिशाओं यानी क्षेत्रों में ढीलापन भी पाया जाता है।

नेतृत्व की कमियाँ

यदि हम इस दृढ़ संकल्प और ढिलाई के कारणों का विश्लेषण करें, तो पता चलेगा कि अभी भी सरकार को अपना प्रशासन देश की आवश्यकता के अनुकूल ढालना है। भारत में प्रशासन का जहाँ तक शहरी क्षेत्र की समस्याओं से ताल्लुक है, वह बहुत अच्छी तरह चल रहा है अर्थात् उस क्षेत्र में वह उत्तम है। उस क्षेत्र में वह दक्षतापूर्वक तथा अच्छी तरह चलता है। लेकिन देहाती क्षेत्रों में प्रशासन की गाड़ी

अटक जाती है, ठीक से काम नहीं देती। दुर्भाग्य अथवा सौभाग्य से भारत ८२ प्रति शत ग्रामीण और २० से भी कम प्रति शत शहरी है।

भारतीय अर्थ-व्यवस्था में ढिलाई मुख्यतः प्रशासनात्मक स्तर पर नेतृत्व की कमियों से पैदा होती है। सभी स्तरोंऔर क्षेत्रों में देश के भविष्य की कल्पना की कमी तथा वर्तमान संघर्ष-काल के लिए आवश्यक मात्रा एवम् प्रकार के प्रयासों की कमी—यही सारी कहानी है।

यद्यपि भारतीय अर्थ-व्यवस्था कमजोर है, किन्तु जन-शक्ति व सामग्री दोनों ही क्षेत्रों में अपार अछूते साधन-स्रोत छिपे पड़े हैं। राष्ट्र-जीवन के सभी क्षेत्रों में इस प्रकार की प्रक्रिया का आरम्भ करना राष्ट्र नायकों का कर्तव्य है कि वह इन अछूते साधन-स्रोतों को सक्रिय बना दे, और चूंकि प्रशासन देहाती क्षेत्रों में उसके समक्ष जो कार्य हैं उनकी तुलना में ओछा पड़ रहा है इसलिए राष्ट्र नायकों का यह कर्तव्य भी है कि वे कोई विकल्प ढूंढ निकालें अथवा तैयार करें। मैं किंचित् मात्र भी यह नहीं सुझाना चाहता कि काम की तुलना में प्रशासन का पलड़ा ऊपर उठता है; क्योंकि वह उन कामों को करने के लिए इच्छुक नहीं है। फिर भी, यह स्पष्ट है कि प्रशासन अब भी नवीनीकरण की प्रक्रिया से होकर गुजर रहा है, जो कि उसके भूतकालीन, तथा जो भूमिका अदा करने के लिए उसे खड़ा किया गया था उसके, इतिहास की दृष्टि से आवश्यक है।

अछूते साधन-स्रोत

मेरी राय में जिस बात की सर्व प्रथम आवश्यकता है वह यह है कि यह मान लेना चाहिए कि देश के देहाती क्षेत्रों में अपूर्व अत्यधिक साधन-स्रोत अछूते पड़े हैं, जिन्हें यदि सक्रिय बनाया जाय तो वे राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था को बहुत अधिक शक्तिशाली बना सकते हैं। उदाहरणार्थ,

१. भारत को प्रति दिन पूर्ण और अर्ध-बेकारी के कारण कम से कम क्रमशः एक करोड़ तथा डेढ़ करोड़ मनुष्य-दिनों के बराबरा श्रम-शक्ति की हानि होती है। यह अधिकांश जन-शक्ति गाँवों में है, जहाँ उन्हें तथा उनके निवासियों को सहायता प्रदान करने के लिए काम की कमी नहीं है;

२. भारत में जिन लोगों के पास काम है वे भी अपनी क्षमता के ६० प्रति शत से भी कम काम करते हैं;

३. भारत में कम से कम डेढ़ करोड़ एकड़ भूमि ऐसी है जिसे बिना किसी विशेष कठिनाई के खेती के अन्तर्गत लाया जा सकता है;

४. कृषि योग्य ३० लाख एकड़ भूमि के लिए सिंचाई सुविधाएँ हैं, जिसका देश का अत्यावश्यक कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए अभी तक उपयोग नहीं हुआ है;

५. भारत में २,७५,००० वर्ग मील में जंगल हैं। यहाँ प्रति वर्ग मील केवल २,००० घनफुट इमारती लकड़ी और ईंधन ही उपयोजित होता है, जबकि विश्व का औसात ४,००० घन-फुट है। जंगलों से जो कुछ हम प्राप्त करते हैं उसके बदले वहाँ पर कोई काम हम शायद ही करते हों। वस्तुतः यह बड़े दुःख की बात है;

६. भारत में २० करोड़ पशु हैं, जिनका एक चतुर्थांश भैंस व भैंसे हैं। भारत में प्रति पशु प्राप्ति विश्व के अन्य किसी भी देश की प्रति पशु प्राप्ति का चौथा अथवा छठवाँ भाग है; और

७. भारत में ५ करोड़ ५० लाख भेड़ हैं। उनसे प्राप्ति अन्य देशों की भेड़ों की तुलना में आधी ही है।

ये बहुत महान् स्रोत हैं। रुपये-पैसे में गिनती की जाय तो दो करोड़ मनुष्य-दिनों में प्रति मनुष्य-दिन न्यूनतम २५ नये पैसे के बराबर उत्पादन से भी भारत को रोजाना ५० लाख रुपये का उत्पादन प्राप्त होगा।

एक करोड़ कृषि योग्य भूमि से ५० करोड़ रुपये का अतिरिक्त कृषि उत्पादन प्राप्त होगा। सिंचित ३० लाख एकड़ जमीन कम से कम दस लाख टन अतिरिक्त अन्न दे सकेगी। प्रति दिन एक पौण्ड अतिरिक्त दूध के हिसाब से भी ५ से ७ करोड़ तक गायें हमारे बच्चों में नव जीवन का संचार कर देंगी। जंगल और भेड़ भी हमारे लिए पर्याप्त सम्पत्ति का स्रोत बन सकते हैं। फिर भी, दुःख तो इस बात का है कि देश की अर्थ-व्यवस्था के इस पहलू की ओर हमने कोई विशेष दिलचस्पी नहीं प्रकट की है। सरकार को परामर्श देनेवाले शायद ही आत्म-निरीक्षण करते हों। इसका परिणाम यह निकलता है कि समाज तथा उसके कर्णधार एक-दूसरे में दोष निकालने में व्यर्थ समय गंवाते हैं। आज भारत में पारस्परिक आलोचना संकटकालीन स्थिति की सबसे बड़ी गतिविधि है।

कृषि-औद्योगिक विभाग का महत्व

इस प्रकार भारत की प्रतिरक्षा की समस्या केवल पाश्चात्य देशों से सैनिक सहायता प्राप्त करने की ही नहीं, बल्कि हमारे मस्तिष्क, हमारी विचारधारा के अभिनवीकरण की समस्या भी है। हमें यह महसूस करना पड़ेगा कि आज का यह सीमा-विवाद कभी भी परिपूर्ण घमासान युद्ध में बदल सकता है। सर्वोच्च परीक्षण के समय में जिस बात की आवश्यकता है वह यह है कि हम ऐसे सीधे-सादे, सरल व तुरत उपलब्ध तौर-तरीके खोज निकालें, जिनसे उक्त साधन-स्रोतों का उपयोग किया जा सके। इसके लिए सूझ-बूझ तथा उद्योगशीलता की आवश्यकता है। इसके हेतु उपलब्ध विकल्प प्रदान करने की आवश्यकता है। एक माने में काम चलाऊ उपाय खोज निकालना वक्त की पुकार है। इसके लिए ऐसी नयी तकनीकें तथा तौर-तरीके खोज निकालने की योग्यता की आवश्यकता है, जिन्हें जनता बिना किसी विशेष प्रशिक्षण के समझ कर हृदयंगम कर सके, उनका प्रयोग कर सके। इनके अभाव में हम एक दूसरे को मिटा देने पर तुले हुए हैं।

इस दृष्टि से मैं यह सुझाव दूंगा कि भारत को युगों से उपेक्षित अपनी अर्थ-व्यवस्था के कृषि-औद्योगिक विभाग की क्षतिपूर्ति के लिए कम से कम कुछ समय के लिए इस विभाग पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं है कि राज्य अथवा किसी अन्य व्यक्ति का औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था या बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण के लिए काम करने का अधिकार छीन लिया जाय। मेरे सुझाव में यह बात निहित है कि राष्ट्र को संकटकालीन स्थिति के उद्देश्य से यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि भारतीय अर्थ-व्यवस्था के कृषि-औद्योगिक विभाग को अपेक्षाकृत उच्च प्राथमिकता देनी पड़ेगी। कभी-कभी हमें अपने प्रतिद्वंद्वी से भी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। जिस किसी ने भी चीन की साम्यवादी सेना का वर्तमान शताब्दी के तृतीय और चतुर्थ दशक के दरमियान जापानियों तथा च्यांगकाईशेक की फौजों के साथ जो संघर्ष हुआ उसका इतिहास पढ़ा है, वह इसे स्वीकार करेगा कि उन दिनों साम्यवादी अपने साधन-स्रोतों के लिए बहुत-कुछ कृषि-औद्योगिक विभाग पर ही निर्भर रहे थे। गांधीजी ने इस सच्चाई को तब बहुत अच्छी तरह महसूस किया था। उस वक्त अन्य बहुत कम लोग इस बात को समझ पाये थे। यह कोई सरकार अथवा प्रशासन से ही सम्बन्धित सवाल नहीं है। यह एक ऐसा प्रश्न है, जो सभी व्यक्तियों को प्रभावित करता है, यदि वे अपना अस्तित्व कायम रखना चाहते हैं। हम इस तथ्य और स्पष्ट वास्तविकता से दूर नहीं भाग सकते, बच नहीं सकते कि ग्रामीण विभाग से हम उसके साथ सहानुभूतिपूर्ण तथा क्रियात्मक यानी व्यावहारिक ज्ञान से सम्पर्क साधकर ही शक्ति प्राप्त कर सकते हैं।

ग्राम नवीनीकरण

जब मैं ग्राम नवीनीकरण की बात कहता हूँ तो मेरा मतलब गाँवों की यथा स्थिति बनाये रखने अथवा न्यूनतम परिवर्तन की नीति बरतने से नहीं है। गाँवों को उनकी वर्तमान अवस्था में ही बने रहने देकर उनसे शक्ति प्राप्त करने की बात सोचना हास्यास्पद है। मैं रूढ़िवादिता की दलील नहीं देता। परिवर्तन जीवन का नियम है। महान् संघर्ष से होकर गुजरने में मानव

महान् परिवर्तनों के कारण ही जीवित रह सका है। जिन्होंने ऐसे परिवर्तनों को स्वीकार करने से इन्कार किया वे इस प्रकार के संघर्षों से लोहा लेने में कभी भी सफल नहीं हुए। मैं कृषि-औद्योगिक आयोजन के क्षेत्र में बड़ा भारी परिवर्तन करने की आवश्यकता स्वीकार करता हूँ और इसीलिए मैं इस पहलू पर बार-बार जोर देता हूँ। मैं एक व्यापक पैमाने पर ऐसी नयी तकनीकों का समावेश चाहता हूँ , जो आर्थिक ढाँचे के स्वतंत्र रोजी (सेल्फ-इम्पलॉयमेण्ट) वाले गुण में कोई बाधा न पहुँचायें और खर्चीली या शोषणकारी साबित न हों तथा जिनसे जनता में एक वेग आ जाय, वह सक्रिय रूप से वेगवान हो उठे एवम् जो ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की गति को तीव्र बना दें। साधन-स्रोतों का संग्रहण भी आवश्यक होगा; क्योंकि ग्रामीण बिक्री-व्यवस्था के ढाँचे को पुनर्जीवित करने के लिए वैसा करना जरूरी होगा। उत्पादन तकनीकों में उक्त परिवर्तन, साधन-स्रोतों का संग्रहण और बिक्री-व्यवस्था का पुनर्गठन करने से निस्सन्देह उत्पादन बढ़ेगा और उसके साथ ही रोजगारी के वैकल्पिक मार्गों का भी विस्तार होगा।

इन सबका मतलब है सीमा पर लड़नेवाले जवान से जिस एकनिष्ठ भावना और दृढ़ संकल्प की अपेक्षा की जाती है वैसी ही एकनिष्ठ भावना और दृढ़ संकल्प के साथ प्रयत्न करना। जिस सीमा पर आज हमारी टकटकी लगी हुई है, घरेलू स्थिति यानी आन्तरिक सीमा उससे कम महत्वपूर्ण व निर्णायक नहीं है। चर्चिल के शब्दों में प्रत्येक सीमा पर एक निश्चित मात्रा में रक्त, आँसू और पसीना देने तथा दुःख-दर्द सहने की आवश्यकता होती है।

इसी प्रकार भारतीय जनता को सक्रिय व गतिशील बनाना कोई आसान काम नहीं है। इसके लिए एक ऐसे कार्यक्रम अथवा कार्यवाही की आवश्यकता है, जो भारत के आकार और उसकी जन-संख्या की विशालता के समान ही व्यापक प्रभाव उत्पन्न कर सके। ग्राम नवीनीकरण के अतिरिक्त इस क्षेत्र में कम से कम एक सर्व-स्वीकृत कार्य योजना की आवश्यकता है—घरेलू स्थिति को शक्तिशाली बनाने के लिए। इसके लिए कुछ ऐसे मनोवैज्ञानिक कदम उठाने भी आवश्यक हैं, जिनसे नेता और उसके अनुयायी एक दूसरे के निकट लाये जा सकें, उनमें कुछ निकट सम्बन्ध स्थापित किये जा सकें।

राष्ट्रीय रहन-सहन का स्वरूप ग्रामीण क्षेत्रों में उपलब्ध अवस्थाओं से सम्बद्ध करना पड़ेगा। यहाँ तक कि संकटकालीन स्थिति की अवधि के लिए भी कृषि-औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था की महत्वपूर्ण भूमिका स्वीकार करने के लिए इस बात की आवश्यकता पड़ेगी कि राष्ट्रीय साधन-स्रोतों का एक अच्छा-खासा भाग उक्त उद्देश्य की पूर्ति करने में लगाया जाय। इसका यह अर्थ नहीं है कि बड़े पैमाने के औद्योगीकरण की अवहेलना कर दी जानी चाहिए। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि देश की तत्काल आवश्यकता को उसे जितनी प्राथमिकता की आवश्यकता है, देनी पड़ेगी। ग्रामीण क्षेत्रों में वित्त, विज्ञान और संगठन की सहायता से उत्पादन बढ़ाने के लिए एक ऐसा अखिल भारतीय आंदोलन चलाना—जिसमें राष्ट्रपति से लेकर देश का गरीब से गरीब व्यक्ति आ जाय—सरकार तथा जनता की शक्ति के भीतर है, बूते के बाहर की चीज नहीं और यही राष्ट्रीय संकटकालीन स्थिति की तत्काल आवश्यकता है। ●

न्यूनतम जीवन-स्तर की प्राप्ति

वैकुण्ठ ल. मेहता

समाज के विभिन्न वर्गों की आय में बढते अन्तर की पृष्ठभूमि में रोजमर्रा इस्तेमाल की बुनियादी वस्तुओं और सामाजिक सुविधाओं के राष्ट्रीय न्यूनतम की प्राप्ति सुनिश्चित करने की आवश्यकता बहुत तीव्र हो गयी है।

कई माह पूर्व भारत सरकार ने आय वितरण की वर्तमान प्रणाली की जाँच करने हेतु प्रसिद्ध अर्थ-शास्त्रियों की एक छोटी-सी समिति नियुक्त की थी। ज्ञात नहीं कि इस समिति ने अभी तक अपनी रिपोर्ट पेश की है या नहीं। फिर भी, दैनिक समाचार पत्रों में प्रकाशित चन्द समाचारों पर गौर करने से यह ज्ञात होता है कि आय वितरण के विभिन्न पहलू योजना आयोग के लिए चिंता के विषय बन गये हैं। इस समाचार के अनुसार चन्द आँकड़े हाल ही में आयोग को प्रस्तुत किये गये हैं—समाज के विभिन्न वर्गों की आमदनी में अन्तर बहुत बढ़ गया है। समाचार में बताया गया है कि जो सबसे गरीब १० प्रति शत लोग हैं, वे राष्ट्रीय आय के ढ़ाई प्रति शत से भी कम कमाते हैं तथा राष्ट्र को उपलब्ध सांसारिक वस्तुओं के ३ प्रति शत से भी कम का उपभोग करते हैं। निम्न आय वर्ग में प्रति व्यक्ति प्रति माह औसत आय का विवरण निम्न प्रकार है :

निचले प्रथम	दस प्रति शत		७ रुपये से कम
,, द्वितीय	,,	,,	१० रुपये ,,
,, तृतीय	,,	,,	१२ रुपये ,,
,, चतुर्थ	,,	,,	१५ रुपये ,,
,, पाँचवें	,,	,,	१८ रुपये ,,
,, छठे	,,	,,	२१.५० रुपये ,,

उक्त तालिका से ज्ञात होता है कि ६० प्रति शत लोगों की औसत मासिक आय राष्ट्रीय प्रति व्यक्ति वर्तमान औसत आय २५ रुपये से भी कम है। स्वास्थ्य और पोषण के न्यूनतम स्तर को प्राप्त करने के लिए भी हिसाब लगाया जाता है कि अकेले भोजन पर ही प्रति व्यक्ति ३५ रुपये प्रति माह खर्च आयेगा। आर्थिक विकास की वर्तमान गति से तो अनुमान लगाया जाता है कि आज से ३७ वर्ष बाद अगली शताब्दी के आरम्भ में ही २५ रुपये मासिक कमानेवाले लोग पूरा भोजन प्राप्त कर सकेंगे। परन्तु इस गणना से यह नहीं पता चलता कि उस समय तक भी कितने प्रति शत लोग इस न्यूनतम आय-स्तर को भी नहीं प्राप्त कर पायेंगे।

राष्ट्रीय न्यूनतम

स्मरण होगा कि इस स्थिति की गम्भीरता को समझते हुए अखिल भारत सर्व सेवा संघ (वाराणसी), दि गोखले इंस्टीटयूट ऑफ् पॉलिटिक्स एण्ड इकनॉमिक्स (पूना) और दि इंस्टीटयूट ऑफ इकनॉमिक ग्रोथ (दिल्ली) ने अप्रैल १९६२ में एक चार-दिवसीय गोष्ठी का आयोजन किया था, जिसमें इन संस्थाओं के प्रतिनिधियों, अर्थशास्त्रियों, समाजसेवियों, समाज-शास्त्रियों, सरकारी मंत्रियों और राजनीतिक दलों के नेताओं ने भाग लिया। विचार-विमर्श के बाद गोष्ठी ने यह आग्रह किया कि राष्ट्रीय आयोजन में प्रथम प्राथ-मिकता देश की समस्त जनता के लिए रोजमर्रा इस्तेमाल की बुनियादी चीजों और सामाजिक सुविधाओं का राष्ट्रीय न्यूनतम प्राप्त करने को देनी चाहिए। राष्ट्रीय न्यूनतम का यह सिद्धांत राष्ट्रीय आयोजन में अन्तर्निहित है, परन्तु अभी तक इस बात का संकेत नहीं दिया गया है कि कब तक इस उद्देश्य की पूर्ति की जायेगी। और, न तीसरी पंच वर्षीय योजना में ही यह बताया गया है कि न्यूनतम आय कितनी होनी चाहिए।

अतएव यह उचित ही था कि उक्त गोष्ठी ने छः प्रमुख अर्थशास्त्रियों और तीन विख्यात सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं का एक कार्यकारी दल गठित किया कि वह यह बताये कि राष्ट्रीय न्यूनतम आय का स्तर क्या होना चाहिए और एक निश्चित अवधि का सुझाव दे कि

उसके अन्दर आयोजन से देश के हर परिवार के लिए यह न्यूनतम आय स्तर सुनिश्चित हो जाना चाहिए। कार्यकारी दल से आर्थिक विकास का एक नमूना तैयार करने को कहा गया, जिससे इस उद्देश्य की प्राप्ति हो सके। यह ज्ञात हुआ है कि कार्यकारी दल की दो बार बैठकें हुई हैं, परन्तु अभी तक उसकी कोई ऐसी अन्तिम रिपोर्ट, जिसमें उसका निष्कर्ष सम्मिलित हो, प्राप्त नहीं हुई है, जोकि उल्लिखित आर्थिक स्थिति के विश्लेषण के सन्दर्भ में स्पष्टतः एक दुख की बात है।

कम आयवालों को सब्सिडी

जैसा कि गोष्ठी की रिपोर्ट में बताया गया है, राष्ट्रीय न्यूनतम की सुनिश्चितता के विषय का परीक्षण करने में कई गुत्थियाँ हैं। परन्तु राष्ट्रीय न्यूनतम में भी सर्वोपरि बात है—तुरंत ही रोजगारी के अवसर बढ़ाना। बेशक लक्ष्य है उचित पारिश्रमिक पर पूर्ण रोजगारी की उपलब्धि। चूंकि इस लक्ष्य को प्राप्त करने में समय लग सकता है, इसलिए अर्ध-बेकारों और पूर्ण बेकारों के लिए अधिकाधिक काम की प्राप्ति सुनिश्चित करने के लिए कई सोपान हो सकते हैं। इस बात पर विचार करना होगा कि क्या इस कार्यक्रम में वह रोजगारी तो नहीं है जिसे 'अल्प-प्राप्ति' वाली कहा जाता है। अभी तो अनेक कुटीरोद्योगों में अधिकांश लोगों को जो रोजगारी मिलती है, वह इसी श्रेणी में आती है—कुछ तो इसलिए कि पर्याप्त काम उपलब्ध नहीं है और कुछ इसलिए भी कि इसके उत्पादनों की बिक्री की समस्या है। इस स्थिति को समझते हुए गोष्ठी ने सुझाव दिया कि कार्यकारी दल को उन साधनों की जाँच करनी पड़ सकती है, जोकि इन न्यून आयवालों को एक सोद्देश्य नीति के अंगस्वरूप सब्सिडी देने के लिए उठाने होंगे।

इन चर्चाओं में एक दूसरा जो प्रश्न बार-बार सामने आता है वह यह है कि बड़े पैमाने पर रोजगारी में विस्तार करनेवाले कार्यक्रम में कौन-सी तकनीकें अपनायी जायें। अब तक योजना आयोग के आर्थिक और सांख्यिकीय सलाहकार आम तौर पर इससे सहमत रहे हैं कि अधिकांश रोजगारी कुटीरोद्योगों के जरिये ही देनी पड़ेगी, खास कर उन ग्रामोद्योगों के जरिये जोकि रोजाना इस्तेमाल की चीजों का उत्पादन करते हैं। तभी उन बहु-संख्यकों को, जिनकी सेवा करनी है, उत्पादक कार्यों में लगाया जा सकता है।

तकनालाजी और रोजगारी

अनुभव से पता चलता है कि उत्पादक-माल उद्योगों के जरिये अतिरिक्त रोजगारी देने की सम्भावना बड़ी सीमित है। बेकारों तथा अर्ध-बेकारों की इस बड़ी संख्या को बड़े पैमाने के उपभोक्ता वस्तु उद्योगों में काम देने से, जबकि खर्च के कारण हमारे साधनों पर बहुत अधिक दबाव पड़ सकता है, उत्पादन भी इतना अधिक होगा कि देश-विदेश में उत्पादन की खपत करना भी एक नयी समस्या पैदा कर देगा, खास कर वैसी अवस्था में जबकि हमारी आबादी के अधिकांश भाग की क्रय-शक्ति में कोई वृद्धि होती नजर नहीं आती। अतः किसी भी आयोजित कार्यक्रम में, जैसा कि दिल्ली गोष्ठी द्वारा बनाया गया, उपभोक्ता सामग्रियों के उत्पादन हेतु हमें कुटीरोद्योगों पर ही निर्भर करना पड़ेगा, जिनकी तकनालाजी जरा नीचे स्तर की है। इन उद्योगों में भी हर उद्योग के सम्बन्ध में, प्रारम्भ के तौर पर, यह निर्णय लेना होगा कि किस स्तर की तकनालाजी अपनायी जाय, किस दिशा में आगे बढ़ना चाहिए तथा किस क्रम से सुधार लाना चाहिए।

यद्यपि जापान औद्योगिक रूप से विकसित और प्रगतिशील है, फिर भी उसने चन्द उद्योगों में जानबूझ कर तकनालाजी का स्तर नीचा रखा है ताकि अधिक लोगों को रोजगारी मिले, उसका विस्फुरण हो। भारत में भीषण बेकारी की समस्या और हमारे ग्रामोद्योगों में इस्तेमाल होनेवाली वर्तमान तकनीक को ध्यान में रखते हुए तो यह और भी जरूरी है। उपभोक्ताओं अथवा समाज पर बरावर यह बोझ न बना रहे, इसके लिए एक ऐसा कार्यक्रम तो होना ही चाहिए जिससे तकनालाजी के स्तर में धीरे-धीरे सुधार होता जाय।

पूना : ९ जून १९६३

वलासन गाँव का आर्थिक चित्र

रामदास किशोरदास अमीन

सघन सर्वेक्षण से गांव की आर्थिक अवस्था तथा उन प्राकृतिक और अन्य साधनों का पता चलता है, जोकि उसके आर्थिक विकास के लिए योजना बनाने में सहायक होते हैं। प्रस्तुत लेख में गुजरात के खेड़ा जिले में वलासन गांव के लोगों, भूमि तथा अन्य साधनों से सम्बन्धित आंकड़ों का विश्लेषण किया गया है।

गुजरात राज्य के खेड़ा जिले में एक गाँव है वलासन। सन् १९५९ में इस गाँव का सर्वेक्षण गुजरात की सरदार वल्लभभाई विद्यापीठ में अर्थशास्त्र विभाग के अध्यक्ष के मार्गदर्शन और देख-रेख में वल्लभ विद्यानगर स्थित बिड़ला विश्वकर्मा महाविद्यालय के ग्रामीण गृहनिर्माण विभाग के प्रशिक्षार्थियों की मदद से किया गया। इस लेख के अधिकांश अंक १९५८--५९ से सम्बन्धित हैं।

सर्वेक्षण कार्य को दो भागों में बाँटा गया। पहले भाग में आम सर्वेक्षण रखा गया, जिसमें घरों की गणना की गयी और उनका सर्वेक्षण किया गया। दूसरे भाग में सघन सर्वेक्षण था, जिसके अन्तर्गत १२३ खेतिहरों को नमूने स्वरूप चुना गया ताकि गाँव की कृषि के विविध पहलुओं का अध्ययन किया जा सके। यह लेख गाँव के आम सर्वेक्षण के दौरान एकत्रित आर्थिक और सामाजिक अवस्था दर्शानेवाले आँकड़ों से सम्बन्धित है।

वलासन खेड़ा जिले के, जोकि न सिर्फ गुजरात में बल्कि सम्पूर्ण भारत में एक सर्वाधिक प्रगतिशील जिला है, आणंद तालुका में आणंद-सोजित्रा सड़क पर वल्लभ विद्यानगर से करीब तीन मील दूर बसा है। इस क्षेत्र तथा विशेष कर खेड़ा जिले के अन्य गाँवों की तरह ही वलासन गाँव का आकार भी सापेक्षिक रूप में बड़ा है। इसका क्षेत्रफल करीब ढाई वर्ग मील है।

जोत

वलासन गाँव में कुल ८५० जोत हैं, जिनमें से ३८८ तो एक-एक एकड़ से भी कम के हैं; २९१ एक से दो एकड़ के बीच के हैं और १५५ दो से तीन एकड़ के बीच के हैं। सिर्फ १६ जोत ही ३ एकड़ से अधिक के हैं। चूंकि कुल १,४५० एकड़ भूमि में ही खेती होती है, अतः प्रति जोत का औसत आकार २ एकड़ से कम पड़ता है। खातेदारों अर्थात् खेतिहरों की कुल संख्या ४१० है, जिसमें से १३८ के अपने खेत हैं और २७२ शिकमी काश्तकार हैं। कृषि अयोग्य कुल भूमि २३९ एकड़ है, जिसमें ग्रामताल, तालाब और बेकार जमीन आ जाती है।

फसलें

सन् १९५८--५९ के खरीफ मौसम में निम्न फसलें हुई :

तालिका १

मद.	कृष्ट खेत (एकड़ में)	कुल क्षेत्र का प्रातिशत्य
ज्वार	६६	४.५
बाजरा	६२१	४२.७
धान	७०	४.८
कोदरा	२०१	१४.८
बावटो	२२	१.५
दालें	९१	६.२
तम्बाकू	१७९	१२.३
वरियारी	७०	४.८
नीबू	३९	२.७
केला	२७	१.७
तिलहन	२८	१.८
चरागाह	२१	१.३
गवार	७	.४
सुंधिऊ	८	.५

अनाज में बाजरा, कोदरा, दालें, ज्वार और धान अधिक महत्वपूर्ण हैं। नकदी फसलों में तम्बाकू और वरियारी (सौंफ) महत्वपूर्ण हैं।

सिंचाई

वलासन की सिंचाई पद्धति खेड़ा जिले और बम्बई राज्य दोनों ही की तुलना में अधिक उन्नत है। गाँव के अन्दर ३४ कुएं हैं; जिनमें से २२ पक्के और १२ कच्चे हैं। सिंचाई मुख्यतः डीजल पम्प के जरिये की जाती है; इसके लिए बैलों को काम में नहीं लाया जाता। पानी प्रति घंटा ४ रुपये की दर से सप्लाई किया जाता है, भले ही किसी भी चीज की खेतीकी जा रही हो; यद्यपि पानी सप्लाई करने में खर्च ३ रुपये प्रति घंटा ही पड़ता है। कुल मिलाकर गाँव में १३ पम्प चल रहे हैं। सामान्यतः तम्बाकू, वरियारी और केले की खेती करने में सिंचाई करने की जरूरत पड़ती है। तम्बाकू, वरियारी और केले की फसल काट लेने के बाद कभी-कभी ग्रीष्म ऋतु में बाजरा या सुंधिऊ बोते हैं, मुख्यतः चारे के लिए। इन फसलों की सिंचाई होती है। इस गाँव में मिश्रित फसल भी काफी उगायी जाती है; सामान्यतया बाजरा और दालें एक साथ उगाते हैं जबकि चना, तूर, मूंग, गवार आदि भी मिश्रित फसल के रूप में उगाते हैं। सन् १९५८–५९ में शुद्ध सिंचित क्षेत्र ३१२ एकड़ था, जबकि कुल सिंचित क्षेत्र ४७२ एकड़ था; क्योंकि कुल जमीन पर साल में तीन फसलें उगाते हैं।

समाजार्थिक जीवन

तीन बातें ऐसी हैं जिन्होंने गाँव की समाजार्थिक जीवन पद्धति को मुख्यतः निश्चित किया है। प्रथम, गाँव सर्वाधिक सघन रूप से खेती किये जानेवाले क्षेत्र, जिसे चरोतर कहते हैं, में स्थित है। अतः इस क्षेत्र की मुख्य विशेषताएँ इस गाँव में नजर आती हैं, जैसे आबादी का उच्च घनत्व जिसके फलस्वरूप उच्च मनुष्य-भूमि अनुपात है; कृषि में बहुत उच्च निवेश; एक एकड़ खेत से अधिक अनाज आदि की पैदावार, नकदी फसलों अथवा सहायक धंधों द्वारा नकद आय का प्रभुत्व; भू-स्वामी और काश्तकार सम्बन्ध-पद्धति आदि।

द्वितीय, अन्य जगहों की तरह यहाँ मिश्रित धंधे (विशेष कर पशु-पालन) की सुविकसित प्रणाली है, जिसने इस गाँव की आय को बढ़ाने में बहुत सहायता की है। यह सुनिश्चित माँग के फलस्वरूप है, जोकि वलासन गाँव से करीब ६ मील दूर आणंद में १९४७ में दुग्ध सहकारी समिति की स्थापना से बनी है।

तृतीय, पिछले बारह वर्षों में वल्लभ विद्यानगर स्थित शिक्षण केंद्र के विकास का इस गाँव की समाजार्थिक जीवन पद्धति निश्चित करने में बहुत प्रभाव पड़ा, विशेष कर शिक्षा, रोजगारी और उत्पादनों की बिक्री के अवसर उपस्थित करने में।

जमीन का इस्तेमाल

सम्पूर्ण खेड़ा जिला तथा वलासन गाँव दोनों ही में खेती पर बहुत अधिक लोग निर्भर हैं। जबकि प्रति व्यक्ति शुद्ध कृष्ट भूमि बम्बई राज्य के लिए ११५ सेंट और खेड़ा जिले के लिए ७६ सेंट है (दोनों ही मामलों में १९५५–५६ में), वलासन के लिए (१९५९ में) यह सिर्फ ४४ सेंट है। यही बात प्रति व्यक्ति सकल कृष्ट भूमि के साथ भी है। बम्बई राज्य और खेड़ा जिले की तुलना में वलासन में अनाजवाली फसलें अधिक उगायी जाती हैं, फिर भी अखिल भारत प्रतिशत उससे उच्च है। परन्तु वलासन में अनाज के अन्तर्गत प्रति व्यक्ति भूमि सिर्फ ३६ सेंट है, जबकि अखिल भारत अंक ७३ सेंट है। इनसे सम्बन्धित विस्तृत विवरण तालिका २ (पृष्ठ ६४६) में दियागया है।

प्रति एकड़ उत्पादकता के आधार पर खेड़ा जिला और वलासन गाँव दोनों ही कृषि में प्रगति दर्शाते हैं। बाजरा, कोदरा, तम्बाकू, वरियारी, दालें आदि जैसी मुख्य फसलों का प्रति एकड़ उत्पादन वलासन गाँव तथा खेड़ा जिला दोनों में भूतपूर्व बम्बई राज्य से निश्चित ही बहुत अधिक है। तालिका ३ (पृष्ठ ६४६) में प्रति एकड़ औसत उत्पादन का विवरण दिया गया है।

तालिका २

स्थान	प्रति व्यक्ति कृष्ट शुद्ध भूमि (सेंट में)	प्रति व्यक्ति कृष्ट सकल भूमि (सेंट में)	सिंचित क्षेत्र: कृष्ट सकल भूमि का प्रातिशत्य	सिंचित क्षेत्र: कृष्ट शुद्ध भूमि का प्रातिशत्य	कुल कृष्ट भूमि में अनाजवाली सकल भूमि का प्रतिशतांक	अनाज के अन्तर्गत प्रति व्यक्ति कृष्ट भूमि (सेंट में)
भारत	७९	८९	१६.१	१७.५	७७.५	७३
बम्बई राज्य (विभाजन से पूर्व)	११५	११८	५.३	५.६	६३.३	---
खेड़ा जिला	७६	७९	६.१	'६.४	५९.८	---
वलासन	४४	५१	२८.०	३२.५	७०.६	३६

तालिका ३

सन् १९५५–५६ में प्रति एकड उत्पादन (पौंड में)

स्थान	बाजरा (खरीफ)	कोदरा	धान	तम्बाकू	दालें	वरियारी	बाजरा (रबी)
बम्बई	२४५	६९४	८२२	४९८	५९५	अप्राप्य	अप्राप्य
खेड़ा	५७२	८०२	८०५ या १,०१६ (सिंचित)	५४० १,०९२ (सिंचित)	४७६	अप्राप्य	अप्राप्य
वलासन	६४०	७२०	५१०	७००	६६०	५२०	१,१००

खेड़ा जिला तथा वलासन गाँव दोनों में सुधरे कृषि सरंजाम की उपलब्धि की स्थिति काफी अच्छी है। वलासन में सिंचाई के लिए कई पम्प हैं। प्रति १०० एकड़ शुद्ध कृष्ट भूमि पीछे बैलों अथवा ट्रैक्टरों अथवा हलों की संख्या वलासन और खेड़ा जिले में निश्चित ही बम्बई राज्य से कहीं अधिक है। इनकी जानकारी तालिका ४ में दी गयी है।

तालिका ४

स्थान	पम्पों की संख्या प्रति १००एकड़ शुद्ध कृष्ट भूमि पर	प्रति १००एकड़ शुद्ध कृष्ट भूमि पर बैलों की संख्या	प्रति १०० एकड़ शुद्ध कृष्ट भूमि पर हलों की संख्या	दूधारू गायों की संख्या: प्रति १०० एकड़ पर	दूधारू गायों की संख्या: प्रति १०० व्यक्तियों पर	दूध उत्पादन: प्रति १०० एकड़ भूमि पर	दूध उत्पादन: प्रति १०० एकड़ सकल कृष्ट भूमि पर
बम्बई	.०९	१२.६	६.१	१३.४	१५	अप्राप्य	अप्राप्य
खेड़ा	.२३	१७.३	८.५	१९.५	१९	अप्राप्य	अप्राप्य
वलासन	.६९	१६.३	१०.२	५४.२	२३	२३ मन	२४ मन

गाँव मवेशियों के मामले में सापेक्षिक रूप में धनी है। गाँव में १,२३० मवेशी हैं, जिनमें से ७८७ गाय-भैंस, २३६ बैल और २०८ बछड़े हैं। प्रति १०० व्यक्ति पीछे मवेशियों की संख्या वलासन गांव के लिए बम्बई राज्य के साथ-साथ खेड़ा जिले से भी कहीं अधिक है। वलासन में प्रति १०० व्यक्ति पीछे २३ दुधारू मवेशी हैं; जबकि खेड़ा जिले में १९ हैं और बम्बई राज्य में १५। यदि हम प्रति १०० एकड़ शुद्ध कृष्ट भूमि के पीछे दुधारू मावेशियों की संख्या का पता लागयें तो पशु धन की महत्ता और स्पष्ट हो जाती है। इस सन्दर्भ में वलासन गाँव का अंक ५४, खेड़ा जिले का करीब १९.५ और बम्बई राज्य का १३.४ है (पूर्व पृष्ठ पर तालिका ४ देखें)। सन् १९५८–५९ में मवेशियों से उत्पादन ३ लाख ३० हजार रुपये मूल्य का हुआ।

आबादी और परिवार

सर्वेक्षण के वक्त गाँव की आबादी ३,३०७ थी, जिसमें १,७०६ पुरुष और १,६०१ महिलाएँ थीं। इस प्रकार प्रति १,००० पुरुष पीछे ९३८ महिलाएँ थीं (तालिका ५ देखें)। इनमें से १,४९४ शादीशुदा थे।

ये सब लोग ६१५ परिवारों में एक ही बस्ती में रहते थे। प्रति परिवार औसत सदस्य संख्या करीब ५.५ थी, जबकि खेड़ा जिले और अखिल भारत के लिए परिवार आकार ५ सदस्य के करीब आता है (तालिका ५ देखें)। वलासन के १०० परिवारों में से ३३ बड़े–बहुत बड़े–आकार के थे। इस आकार के परिवारों की संख्या १९५१ में अखिल भारत और खेड़ा जिले के लिए प्रति १०० परिवार में क्रमश: २३ और १९ थी। छोटे परिवारों की संख्या–३ अथवा इससे कम सदस्यवाले–वलासन के १६० परिवारों में से सिर्फ ३१ थी, जबकि खेड़ा जिले और अखिल भारत में १९५१ में क्रमश: ३७ और ३३ थी।

साक्षरता

जहाँ तक साक्षरता-स्तर का सवाल है, इस गाँव के लिए चिंता करने की कोई बात नहीं है; क्योंकि ८३४ पुरुष और ३१३ महिलाएँ अर्थात् १,१४७ व्यक्ति पढ़े-लिखे हैं। इस प्रकार कुल आबादी का करीब ३४ प्रति शत साक्षर है। खेड़ा जिले और अखिल भारत स्तर को देखते हुए यह कहीं अधिक है। पुरुषों में करीब ५० प्रति शत साक्षर हैं, जबकि अन्य जगहों की तरह वलासन में भी महिलाओं में पुरुषों की अपेक्षा साक्षरता कम है, पर अन्य जगहों की महिलाओं की अपेक्षा यहाँ की महिलाओं में साक्षरता अधिक है। साक्षर व्यक्तियों में से अधिकांश ने प्राथमिक और माध्यमिक स्तर तक शिक्षा प्राप्त की है। करीब ७६८ व्यक्तियों नें अर्थात् कुल साक्षर व्यक्तियों के ६७.५ प्रति शत ने प्राथमिक स्तर तक तथा १७४ व्यक्तियों अर्थात् १३.४ प्रति शत ने माध्यमिक स्तर तक शिक्षा प्राप्त की है जोकि भारत

तालिका ५
आबादी विवरण

स्थान	प्रति १,००० पुरुषों पीछे महिलाओं की संख्या	प्रति परिवार औसत सदस्य संख्या	कुल आबादी में शिक्षितों का प्रातिशत्य	कुल शिक्षित लोगों में पुरुष व महिलाओं का प्रातिशत्य	
				पुरुष	महिला
बम्बई (१९५१)	९३२	४.९१	२१.७	अप्राप्य	अप्राप्य
खेड़ा (१९५१)	९१२	४.५४	२२.१	७३	२७
वलासन	९३८	५.४८	३४.३	७३.४	२६.६

की अन्य जगहों के मुकाबले कहीं संतोषजनक प्रगति है। उदाहरण स्वरूप १९५१ में बम्बई राज्य में २१.७ प्रति शत और खेड़ा जिले में २२.१ प्रति शत लोग साक्षर थे; वलासन में अभी ३४.५ प्रति शत लोग साक्षर हैं। (पूर्व पृष्ठ पर तालिका ५ में इस सम्बन्ध में विस्तृत विवरण दिया गया है।)

कुल ३,३०७ लोगों में से ६७ प्रति शत मुख्य आय के लिए भूमि पर निर्भर करते हैं। उनमें से अधिकांश के पास एक से अधिक धंधे हैं। मुश्किल से करीब ४९ परिवार अथवा २६६ व्यक्ति, जोकि कुल का ८ प्रति शत हैं, खेती में लगे हैं। तेईस परिवार कारीगर वर्ग के हैं और उनके १३५ सदस्य हैं। बाकी आबादी खेतिहर मजदूरों की है। तालिका ६ में परिवारों का धंधेवार विवरण दिया गया है।

तालिका ६

परिवारों का धंधेवार वितरण

धंधा	परिवार संख्या	व्यक्तियों की संख्या
खेती	४९	२६६
खेती और मजदूरी अथवा सेवा§	१४५	८०१
खेती और व्यापार ..	२०५	१,१५६
मजदूरी और सेवा ..	५४	२९०
मजदूरी, सेवा और व्यापार§	४१	४०८
वाणिज्य और व्यापार ..	४१	२१७
कारीगर	२३	१३५
अन्य	३	५
	६०३	३,२७८
	१२*	२९*
	६१५	३,३०७

* बारह परिवारों के आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं।

§ मद २ में मुख्यतः खेतिहर मजदूर हैं; मद २ और ५ मे धंधा मुख्यतः पशुधन उत्पादन व्यापार है।

खेती में लगे अधिकांश परिवारों के पास छोटे-छोटे खेत हैं। कुल ४०४ परिवारों में से, जोकि भू-स्वामी अथवा काश्तकार हैं, सिर्फ ६७ परिवारों के पास प्रत्येक के पास ५ एकड़ से अधिक जमीन है; इनमें से भी ४३ परिवार ऐसे हैं जिनके अपने खेत हैं, और जो खुद ही खेती भी करते हैं; सिर्फ १३ परिवार ऐसे हैं जोकि जमीन के मालिक होते हुए भी बिल्कुल खेती नहीं करते। इस प्रकार करीब १५ प्रति शत परिवारों के पास जमीन है, पर वे बिल्कुल खेती नहीं करते। साथ ही १२२ परिवारों के पास अपनी जमीन नहीं है, पर वे काश्त करते हैं और इनमें से १४ परिवार ५ एकड़ से अधिक भूमि में खेती करते हैं। इन दोनों किस्मों के बीच के काश्तकारों में से अधिकांश एक एकड़ से कम अथवा १ से २ एकड़ के मालिक काश्तकार हैं और वे अपने परिवार के लिए अधिकाधिक आय करने की कोशिश करते हैं।

इस प्रकार सम्पूर्ण गाँव अपनी मुख्य आय के लिए भूमि पर निर्भर करता है। यह ३,३०,००० रुपये मूल्य का दूध उत्पादन करता है, जिसमें से करीब २,०३,००० रुपये १९५८-५९ में दूध की बिक्री से प्राप्त हुए। बाकी दूध की खपत गाँव में ही हो गयी। प्रति दिन प्रति व्यक्ति दूध की खपत करीब ७ औंस है। कुल मिलाकर गाँव में प्रति व्यक्ति करीब ४ मन दूध की खपत होती है, जबकि प्रति व्यक्ति उत्पादन १२.५ मन होता है। इस प्रकार गाँववालों के लिए नकद आय का मुख्य साधन दूध भी है। नीचे तालिका ७ में गाँव की आय का विस्तृत विवरण दिया गया है।

तालिका ७

	रुपये
१. कृषि उत्पादन से शुद्ध आय ..	२,२८,४८०
२. पशु धन से शुद्ध आय	२,०७,८५०
३. व्यापार और निर्माण से शुद्ध आय ..	५८,५६०
४. मजदूरी और सेवा से शुद्ध आय ..	१,८२,५६०
कुल शुद्ध आय ..	६,७७४५०
प्रति व्यक्ति शुद्ध आय ..	२०५

तालिका ७ (जारी)

कुल सकल उत्पादन

१. कृषि और पशुधन-उत्पादन का कुल मूल्य

अ. अनाज का कुल मूल्य	१,४७,५५४
आ. दालों का कुल मूल्य	१४,८९०
इ. नकदी फसलों का कुल मूल्य (तम्बाकू, केला, वरियारी) ..	१,७२,१२५
ई. दूध का कुल मूल्य ..	३,२९,७४४
२. व्यापार और निर्माण का योगदान ..	५८,५६०
गाँव में कुल सकल उत्पादन (१+२)	७,२२,८७३

कृषि उत्पादन मूल्य का विश्लेषण

	मन	प्रति मन (रुपये)	कुल मूल्य (रुपये)
बाजरा ..	१४,१२९	९	१,१३,०३२
कोदरा	३,६२४	५	१८,१२०
धान	१,३१४	१०	१३,४१०
तम्बाकू	३,१४१	२५	७८,६२५
वरियारी ..	९२४	२५	२३,१००
गेहूँ	९६	१२	१,२५२
दालें	१,४८९	१०	१४,८५०
बावटो	२९०	६	१,७४०
केला	१७,०००	४	७०,४००
तिल	६०	४०	२,४००
आम	११,६००	४	४६,४००
नीबू	१२०	५	६००
गवार	सिर्फ चारे के लिए		
जामफली ..	७०	६	४२०
			३,८४,३४९
चारा ..	१०,६०,००० पोला (प्रति हजार पोला २५ रुपये)		२६,५००
			४,१०,८४९

नकदी आय का दूसरा महत्वपूर्ण साधन है—नकदी फसलें, जैसे तम्बाकू, केला, वरियारी, आम आदि, जिनकी कीमत १९५८-५९ में करीब १,७२,००० रुपये हुई थी। उसी वर्ष में अनाज से गाँव को करीब १,६२,००० रुपये की आय हुई जिसमें से करीब ५७,००० रुपये के अनाज बेच दिये गये थे और बाकी की खपत उत्पादकों ने ही की। सम्पूर्ण गाँव ने मिलकर करीब ६ लाख रुपये खर्च किये, जिसमें दूध, आचार, फल आदि भी शामिल हैं। व्यापार और निर्माण से शुद्ध आय करीब ५८,००० रुपये की हुई, जोकि कुल शुद्ध आय का करीब ९-१० प्रति शत है।

निर्माण विभाग में सबसे महत्वपूर्ण हैं—गाँव में बीड़ी बनानेवाले ७ कारखाने। करीब १५०-२०० कारीगर अभी इन सात कारखानों में काम कर रहे हैं। ये कारखाने साल भर काम देते हैं। कुछ लोग तो घर पर भी काम करते हैं; क्योंकि बीड़ी बनाना एक अच्छा कुटी-रोद्योग है। इस उद्योग द्वारा सालाना करीब ५८,००० रुपये का उत्पादन होता है। इन कारखानों में काम करनेवाले लोग सामान्यतः १.५० से २ रुपया रोज कमाते हैं। गाँव के ८४ घर खाली हैं; क्योंकि ये लोग दूसरी जगहों में चले गये हैं और यह इस बात का सूचक है कि किस हद तक लोग गाँव के बाहर गये हैं और एक तरफा गाँव के बाहर से गाँव में पैसे आ रहे हैं।

गाँव से ही प्रति व्यक्ति शुद्ध आय करीब २०५ रुपये होती है, जोकि ग्राम विभाग की अखिल भारत प्रति व्यक्ति आय से सम्भवतः जरा-सी ही ज्यादा है, परन्तु यह अखिल भारत प्रति व्यक्ति आय से बहुत कम है। अन्य जगहों की तरह यहाँ भी आय मुख्य धंधे से ही होती है; कृषि और पशुधन उत्पादन से शुद्ध आय कुल आय का करीब दो-तिहाई है। कृषि और सम्बन्धित धन्धों से होनेवाला कुल उत्पादन, आनुपातिक तौर पर कुल सकल आय में, महत्वपूर्ण स्थान रखता है। सन् १९५८-५९ में कृषि उत्पादन से, पशुधन उत्पादन छोड़कर, करीब ४ लाख रुपये की आमदनी हुई थी। इस प्रकार इन उत्पादनों का कुल मूल्य ७ लाख रुपये से कुछ अधिक होता है। सम्पूर्ण गाँव के लिए व्यापार

और निर्माण से आय ५८,००० रुपये से अधिक नहीं है, जोकि कुल का करीब ८ प्रति शत है।

आय वितरण

आय वितरण का विवरण भी बड़ा दिलचस्प है, जोकि तालिका ८ में दिया गया है। सात घर ही ऐसे हैं जिनकी सालाना आय करीब ४,००० रुपये या उससे अधिक है। अधिकांश परिवार ५०१ से १,००० रुपये की आय-वाले वर्ग में हैं। कुल परिवारों में से करीब एक-चौथाई की सालाना आय ५०० रुपये से कम है। प्रति व्यक्ति आय के हिसाब से परिवारों का वितरण और भी दिलचस्प है। गाँव में ३३ परिवार ऐसे हैं जिनकी प्रति व्यक्ति सालाना आय करीब ४०० रुपये है और कुल के १५ प्रति शत परिवार ऐसे हैं जिनकी प्रति व्यक्ति सालाना आय १,००० रुपये से कम है। अधिकांश परिवारों की प्रति व्यक्ति सालाना आय १०० से ३०० रुपये के बीच है। एक ठेठ परिवार की प्रति व्यक्ति सालाना आय १५० से ३०० रुपये के बीच है। जिन काश्तकारों ने खेती के साथ-साथ व्यापार करना आरम्भ कर दिया है, उनका प्रति शत उच्च आयवाले परिवारिक वर्ग में अधिक है, जबकि कारीगरों और मजदूरों के परिवार, जिनमें अदक्ष सेवा-ओंवाले परिवार भी शामिल हैं, न्यून आयवाले परिवारिक वर्ग में आते हैं। न्यूनतम आयवाले पारिवारिक वर्ग में कारीगरों की संख्या अधिक है।

सम्भवतः प्रति परिवार का कुल खर्च औसत शुद्ध आय का अच्छा चित्र प्रस्तुत करता है, जोकि लोगों के असल जीवन-स्तर को निश्चित करता है। सन् १९५८-५९ में गाँव का प्रति व्यक्ति औसत खर्च करीब २२८ रुपये था, जबकि आय २०५ रुपये। यह जो छोटा-सा अन्तर दिखाई देता है वह इस कारण है कि इस गाँव में एक तरफा बाहर से पैसा आता है; क्योंकि यहाँ के निवासी देश के अन्य हिस्सों में तथा विदेशों में, खास कर अफ्रीका में, जाकर बस गये हैं। बाहर से यह पैसा आता ही रहता है, जिसकी गणना शुद्ध आय में नहीं की गयी है। दूसरे, औसत खर्च-स्तर के मुकाबले आय का मामला जरा लचीला होता है। अतः सर्वेक्षण के वर्ष में आय सामान्यतया कम भी हो सकती है। तीसरे, सर्वेक्षण में अधिक खर्च दिखाने का अन्तर्निहित पक्षपात भी हो सकता है और चन्द असंगत कारणों से लोगों की आय भी निम्न हो सकती है, जिसे कि सर्वेक्षण तकनीक में दूर नहीं किया जा सकता है। फिर भी, हमारे मामले में जो अन्तर दिखाई देता है, वह उचित सीमा में है।

खर्च

गाँव का कुल खर्च करीब ७,५३,९०० रुपये हैं, जिसमें से करीब ६ लाख रुपये भोजन पर खर्च किये गये, जैसा कि पहले बताया जा चुका है। करीब ६६,५५० रुपये कपड़े पर और ८५,००० रुपये विविध मदों में खर्च किये

तालिका ८

आय के अनुसार परिवारों का वितरण

आय		परिवार
०– ५००	–	१४६
५०१–१०००	–	२४२
१००१–१५००	–	११८
१५०१–२०००	–	४९
२००१–३०००	–	२९
३००१–४०००	–	१२
४००१ और ऊपर	–	७

गये। सामान्य जीवन-स्तर बनाये रखने के लिए, गाँव में १९५८-५९ में प्रचलित मूल्यों कें आधार पर, प्रति व्यक्ति खर्च २७५ रुपये होना चाहिए, परन्तु चूंकि औसत खर्च सिर्फ २२८ रुपये था अतः औसत जीवन-स्तर सामान्य से १७ प्रति शत नीचे है। यह अन्तर विविध मद में अधिक है–४२ प्रति शत तक, जबकि भोजन में ११ प्रति शत की ही कमी है। इस प्रकार लोग भोजन और वस्त्र पर औसत ही खर्च कर सकते हैं, मनोरंजन अथवा सांस्कृतिक गतिविधियों के लिए उनके पास पैसे नहीं हैं। उनके खर्च का ८० प्रति शत भोजन पर खर्च होता है, जोकि अखिल भारतीय अवस्था के बराबर है। खेतिहर मजदूर तो अपनी आय का इससे भी अधिक प्रति शत भोजन पर खर्च करते हैं–करीब ८५.४ प्रति शत। इनके बाद भोजन पर खर्च करनेवालों में कारीगर परिवार आते हैं जोकि कुल आय का ८४.४ प्रति शत खर्च करते हैं। व्यापार और खेतिहर परिवार अपनी कुल आय का सिर्फ ७५ प्रति शत भोजन पर खर्च करते हैं जोकि आय की दृष्टि से भी सापेक्षिक-तौर पर गाँव के सम्पन्न वर्ग में आता है।

इस पर भी गाँव की गरीबी के खाके का गरीबी-रेखा और निराश्रित-रेखा के माप से जांचने पर पता लग सकता है, जैसा कि तालिका ९ में किया गया है। सन् १९५८-५९ में सामान्य आवश्यकता तथा गाँव में प्रचलित मूल्य के आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रति व्यक्ति आय २५० और २७५ रुपये के बीच होनी चाहिए, निराश्रित की स्थिति से बचने के लिए इससे आधी रकम की आय होनी ही चाहिए। अतः निराश्रित रेखा प्रति व्यक्ति १२५ और १५० रुपये के बीच की आय को मान सकते हैं। इस आधार पर करीब ४७० परिवार या कुल परिवारों के तीन-चौथाई परिवार गरीबी रेखा पर अथवा उससे नीचे हैं। इनमें भी गरीबी-रेखा से नीचे आनेवाले परिवारों में कारीगरों और खेतिहर मजदूरों के परिवारों की संख्या सापेक्षिक तौर पर ज्यादा है। करीब एक-चौथाई परिवार निराश्रित रेखा से नीचे रहते हैं, जोकि अपने को प्रति व्यक्ति १२५ रुपये या उससे कम आय पर पालते हैं। इस वर्ग में भी कारीगर और खेतिहर मजदूर ही ज्यादा हैं। उनमें से अधिकांश कपड़े और विविध मदों

तालिका ९

कुल खपत खर्च (प्रति व्यक्ति) **के आधार पर आर्थिक अवस्था के सूचक के अनुसार परिवारों का वारंवारता बँटन**

सूचक	सापेक्षिक अवस्था	रुपये में क्रम	सब परिवार		खेती		खेती और व्यापार		खेती और मजदूरी अथवा सेवा	
			वारं-वारता	कुल का प्रतिशतक	वारं-वारता	कुल का प्रतिशतक	वारं-वारता	कुल का प्रतिशतक	वारं-वारता	कुल का प्रतिशतक
अ. गरीबी रेखा	नीचे	२५०	४४१	७३.५	२९	५९.२	१३६	६६.६	१०१	६९.८
	सम	२५०–२७५	२६	४.३	४	८.२	७	३.४	७	४.८
	ऊपर	२७५	१३३	२२.२	१६	३२.६	६२	३०.०	३७	२५.४
	कुल		६००	१००.०	४९	१००.०	२०५	१००.०	१४५	१००.०
आ. निराश्रित रेखा	नीचे	१२५	१५७	२६.२	४	८.२	४१	२०.१	४६	३१.७
	सम	१२५–१५०	६८	११.३	३	६.१	१९	९.३	२१	१४.३
	ऊपर	१५०	३७५	६२.५	४२	८५.७	१४५	७०.६	७८	५४.०
	कुल		६००	१००.०	४९	१००.०	२०५	१००.०	१४५	१००.०

तालिका ९ (जारी)

सूचक	सापेक्षिक अवस्था	रुपये में क्रम	मजदूरी या सेवा		मजदूरी या सेवा और व्यापार		वाणिज्य और व्यापार		कारीगर	
			वारं-वारता	कुल का प्रतिशतक	वारं-वारता	कुल का प्रतिशतक	वारं-वारता	कुल का प्रतिशतक	वारं-वारता	कुल का प्रतिशतक
अ. गरीबी रेखा	नीचे	२५०	४९	९१.०	७६	९१.६	२९	७०.६	२१	९१.४
	सम	२५०–२७५	१	१.८	२	२.४	४	९.८	१	४.३
	ऊपर	२७५	४	७.२	५	६.०	८	१९.६	१	४.३
	कुल		५४	१००.०	८३	१००.०	४१	१००.०	२३	१००.०
आ. निरा-श्रित रेखा	नीचे	१२५	२५	४६.०	२७	३२.४	७	१६.९	७	३०.२
	सम	१२५–१५०	७	१३.०	१५	१८.०	३	७.३	कुछ नहीं	कुछ नहीं
	ऊपर	१५०	२२	४०.९	४१	४९.६	३१	७५.८	१६	६९.८
	कुल		५४	१००.०	८३	१००.०	४१	१००.०	२३	१००.०

पर बहुत कम खर्च करते हैं। इस गाँव में कपड़े पर औसत खर्च प्रति व्यक्ति करीब १० रु. से ३० रु. है और अधिकांश परिवारों में उतनी ही रकम विविध मदों पर भी खर्च होती है। गरीबी की जानकारी तालिका ९ से भी मिल सकती है।

खपत स्तर में कई विशिष्टताएं प्रदर्शित हैं। प्रत्येक परिवार में घड़ी, रेडियो, मेज, कुर्सी आदि जैसे उपस्कर तथा घरेलू चीजें अच्छी संख्या में दिखाई देती हैं। बम्बई राज्य में प्रति व्यक्ति दूध और दूध से बने सामान की खपत करीब ३.५६ औंस है, वलासन में इससे कहीं अधिक खपत है। राजस्थान, उत्तर प्रदेश और हिमाचल प्रदेश के मुकाबले इसकी खपत है, परन्तु पंजाब से कम है, जहाँ कि खपत प्रति दिन करीब १५ औंस है। दूध पर इतने अधिक खर्च के और भी कई कारण हो सकते हैं। यह मांस और मछली जैसे प्रोटीन और चिकनाई देने-वाले भोजन के विकल्प की कमी के कारण भी हो सकता है, जोकि मनुष्य को ऊर्जा प्राप्त करने के लिए आवश्यक है। अधिक दूध का उत्पादन भी अधिक खपत का एक महत्वपूर्ण कारण हो सकता है या सम्भवतः अन्य गाँवों की अपेक्षा यहाँ आय का उच्च-स्तर होना भी उच्च खपत स्तर के लिए जिम्मेदार हो सकता है।

दूसरे, लोगों ने अपनी बचत का अच्छा-खासा भाग गृह निर्माण में खर्च किया है, इस गाँव में प्रति घर का औसत मूल्य १,५०० से २,००० रुपये है, जोकि इस क्षेत्र के अधिकांश गाँवों के साथ-साथ देश के अन्य गाँवों के मुकाबले भी कहीं ज्यादा है। यह घर में पूंजी लगाने की प्रवृति के कारण भी हो सकता है और गाँव के बाहर से आनेवाले पैसों के कारण होनेवाली उच्च आय के कारण भी। इस प्रकार गाँव के लोग जमीन, मकान, मवेशी और स्वर्ण में मुख्यतः अपना पैसा लगाते हैं। गाँव के लोग उद्योग में तो पैसा लगाना जानते ही नहीं और सच तो यह है कि वे इसमें पूंजी लगाने के आदि नहीं हैं। सिर्फ ४५ परिवारों ने ही जमीन आदि के अलावा इसमें भी कुछ पूंजी लगा रखी है। करीब आधे परिवार कर्ज में हैं और यह कर्ज मुख्यतः भोजन तथा जमीन और मवेशी खरीदने के लिए लिया गया है।

वल्लभ विद्यानगर (गुजरात) : १ मार्च १९६३

मुर्शिदाबाद का रेशम उद्योग

कमल बनर्जी

भारत में रेशम कीट-पालन सर्व प्रथम लगभग चौथी शताब्दी ईसा पूर्व प्रारम्भ हुआ। भारत में मुर्शिदाबाद एक प्रमुख रेशम उत्पादन केन्द्र रहा है। इस केन्द्र को अनेकों उलट-फेरों का सामना करना पड़ा है। प्रस्तुत लेख में उन्हीं पर विचार किया गया है।

रेशम को हाल ही में "पचास शताब्दियों से वस्त्र-सम्राट" कहा गया था और आज भी वह आधुनिक कृत्रिम वस्त्र-जगत में हुए अनेक आश्चर्यजनक आविष्कारों के बावजूद सर्वोत्तम है। मानव प्रतिभा के लिए अब भी किसी ऐसी वस्तु की खोज करना शेष ही है, जो आकर्षण, चमक-दमक यानी आभा और टिकाऊपन में असली प्राकृतिक रेशम की बराबरी कर सके। रेशम उत्पादन के आदिकालीन वर्णन से पता चलता है कि वह एक विशुद्ध संयोग ही था कि सभ्य मानव को छोटे-छोटे कोयों से बुनाई योग्य काफी लम्बा सूत निकालने का ज्ञान प्राप्त हुआ, और तब से रेशम को 'वस्त्र-सम्राट' के रूप में स्वीकार किया गया है।

रेशम कोये की उपयोगिता का सर्व प्रथम २६४० ई.पू. चीन की सम्राज्ञी सी-लिंग-शी (Hsi-Ling-Shi) ने पता लगाया था और चीनियों ने रेशम कीट से सूत लपेटना प्रारम्भ किया। शताब्दियों तक उन्होंने अपने अमूल्य रेशम-कीट और रेशम उत्पादन का ज्ञान अपने देश के भीतर ही सीमित रखा तथा उसका रहस्य किसी भी आगन्तुक अथवा शोधकर्त्ता के सामने प्रकट नहीं किया—यह कहते अथवा बनाये रखते हुए कि वर्ष के एक विशिष्ट अवसर पर भेड़ों की धूप में धुलाई करके उन भेड़ों के ऊन से रेशम तैयार किया जाता है! चीनी सम्राटों ने यह कठोर आज्ञा जारी की कि रेशम कीट-अण्डों और शहतूती बीजों को चोरी से चीन के बाहर ले जानेवाले व्यक्तियों को मृत्यु-दण्ड दिया जायेगा। चीन से बाहर रेशम उत्पादन का ज्ञान सर्व प्रथम जापान को और उसके बाद चौथी शताब्दी (ईसा पूर्व) के लगभग भारत को प्राप्त हुआ। भारत में रेशम उद्योग का शनैः शनैः विकास हुआ और ईसा की प्रथम शताब्दी में भारतीय रेशम विदेशों में, यहाँ तक कि रोम तक में, बिकने लगा था।

रोमांचक वाणिज्य

उन दिनों रेशम का व्यापार एक बहुत ही रोमांचक वाणिज्य था। इसके व्यापार में काफी समय तक चीन का एकाधिकार रहा, और बाद में भारत उसका एक प्रतिस्पर्धी बना। ऊंट, खच्चरों आदि पर लादकर रेगीस्तान और पहाड़ों को पार करते हुए, रेशम 'व्यापार मार्ग' के अनजान शहरी दरवाजों पर चुंगी देते हुए, रास्ते में माल का उतार-चढ़ाव करते हुए, यदा-कदा जोर-जबर्दस्ती का मुकाबला कर अपने माल की रक्षा करते हुए, बड़े-बड़े काफिलों के रूप में रेशम की गांठें पश्चिम की ओर जाती रहीं। लेकिन चीनी व्यापारियों ने कभी भी यात्रा का अंतिम छोर नहीं देखा। वे फारस के दलालों को अपना सामान बेच देते थे, जो रेशम को रोम साम्राज्य के धनी शहरों में जल मार्ग से भेजे देते। दलाल चीनी रेशम व्यापारियों का रोम साम्राज्य से सीधा-सम्बन्ध स्थापित न होने देने में अत्यधिक सावधान रहते थे। भारतीय रेशम भी फारस अथवा अरब के दलालों के जरिये पाश्चात्य देशों को बेचा जाता था।

प्राचीन रोम सम्राट जुलियस सीजर भारतीय रेशम की पोशाकें पसन्द करता था और ईसा की प्रथम

शताब्दी में सम्राट सालीगूला (Caligula) रेशमी कमीज पहनता था। रोमवासियों को इस बात की जानकारी नहीं थी कि रेशम उत्पादन कैसे अथवा किससे होता है। इस कला का ज्ञानोपार्जन करने में उन्हें कुछ शताब्दियाँ और लगीं तथा वह भी तब जब कि सम्राट जस्टीनीयन को एक उपयुक्त पुरस्कार के बदले चीन से चोरी-चोरी लाये गये रेशम कीड़ों के अण्डे प्राप्त हुए। चन्द बिजेन्टाइन साधु चीन में ईसाई धर्म के प्रचारकों (मिशनरियों) के रूप में रहे और वहाँ के आदिवासियों को रेशम उत्पादन कार्य करते हुए देखा। चीन से रवाना होने के समय दो साधुओं ने किसी प्रकार कुछ रेशम कीट और शहतूत के बीज बांस के डण्डों में डालकर चोरी से ले जाने की व्यवस्था कर ली। वे कुस्तुनतुनिया वापस लौटे और बाद में वे अण्डे सम्राट जस्टीनीयन को भेंट में दिये, जो रोम में प्रथम रेशम-कीट पालन तथा उसका लपेटन होते देखकर बड़े प्रसन्न हुए। पाश्चात्य रेशम उद्योग के श्रीगणेश का वर्ष था ५५० ईसवी।

सभी परिवर्तनमय समय के बावजूद भारतीय रेशम उद्योग विदेशी बाजारों में भली-भाँति चलता रहा और अरब तथा तुर्क व्यापारी उस समय भी दलालों के रूप में काम करते रहे। भारतीय रेशम को फारस, एशियामाइनर, तुर्कीस्तान और पश्चिम यूरोप में लाभदायक बाजार प्राप्त था। पठान और मुगल शासन-काल में बंगाल का रेशम अपने टिकाऊपन के लिए समूचे भारत में प्रसिद्ध हो गया। काते गये रेशम के वस्त्रों के लिए मुर्शिदाबाद सर्वोत्तम केंद्र के रूप में प्रसिद्ध हो गया और उसने मुगल शासन-काल में भारत में आये विदेशी व्यापारियों का ध्यान आकर्षित किया।

अनुपम बंगला रेशम

पिछले ४०० वर्ष से रेशम उद्योग मुर्शिदाबाद का प्रधान कुटीरोद्योग रहा है। मुर्शिदाबादी रेशम ने–सैदाबाद और कासिमबाजार की सरबन्दी रेशम–ही सत्तरहवीं शताब्दी में ईस्ट इंडिया कम्पनी का ध्यान उस जिले की ओर आकर्षित किया था। तत्कालीन रेशम उद्योग केन्द्र–कासिमबाजार–में अंग्रेजों ने जब अपना कारखाना स्थापित किया तो उन्होंने डच, फ्रांसिसियों और अमरीकी व्यापारियों को अपना प्रतिस्पर्धी पाया। प्रसिद्ध फ्रांसिसी यात्री बरनियर (Bernier) ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि उस वक्त डच लोगों का कासिमबाजार के कालिकापुर नामक स्थान पर उस समय का सबसे बड़ा रेशम का कारखाना था, जिसमें ८०० व्यक्ति काम करते थे। अंग्रेजों ने अपना कारखाना कासिमबाजार में १६५८ में प्रारम्भ किया। बारह वर्ष की अवधि में अपनी व्यावसायिक गतिविधियों का विस्तार किया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने १६८१ से अपना रेशम व्यापार फैलाया और १७७६ तक आते-आते "बंगाल रेशम ने इटली और चीनी रेशम के अतिरिक्त अन्य सभी प्रतिस्पर्धियों को अंग्रेजी बाजार में परास्त कर दिया था।"

प्रसिद्ध रेशम केंद्र

नवाब अलीवर्दी खां के शासन-काल में मुर्शिदाबाद के चुंगी-कर सम्बन्धी कागजात में प्रति वर्ष ९७ लाख ५० हजार रुपये मूल्य का रेशम व्यापार दर्ज होता था, लेकिन उक्त रकम में कर-मुक्त युरोपीय विनियोजन शामिल नहीं है। कर्नल रोनेल (Ronnell) ने १७७९ में लिखा था, "कासिमबाजार बंगाल रेशम का आम बाजार है और काफी रेशमी तथा सूती माल यहाँ तैयार होता है, जोकि एशिया के विस्तृत प्रदेशों में भेजा जाता है; कच्चे रेशम में से ३,००,००० से ४,००,००० पौण्ड तक यूरोपीय कारखानों में खपता है।" उस वक्त कासिमबाजार में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अनुमानतः २० लाख रुपये कीमत के साधन-सरंजाम थे। जंगीपुर, गंकर तथा इस्लामपुर उस वक्त के अन्य प्रसिद्ध केन्द्र थे। जंगीपुर में उस समय ६०० भट्टियाँ थीं और वह ईस्ट इण्डिया कम्पनी के सबसे बड़े रेशम कीट-पालन केंद्र के रूप में प्रसिद्ध था। अनुमानतः तोल में २२ लाख पौण्ड रेशम अंग्रेजी कम्पनी के कासिमबाजार स्थित कारखाने से प्रति वर्ष निर्यात होता था। कासिमबाजार

से १७७६ से दस वर्ष तक छः लाख पौण्ड कच्चा रेशम प्रति वर्ष इंग्लैंड भजा जाता था। फ्रांसिसी यात्री बरनियर ने अपने भारत यात्रा वर्णन में लिखा है, "बंगाल में रूई और रेशम का इतना भण्डार है कि इन दो सामग्रियों के मामले में न केवल हिन्दुस्तान अथवा विशाल मुगल साम्राज्य के लिए, बल्कि सभी आसपास के राज्यों और यहाँ तक कि यूरोप के लिए भी उसे सामान्य भण्डार कहा जा सकता है।" मुगल शासन के उत्तरार्द्ध और अंग्रेजी शक्ति के अभ्युदय काल में बंगाल के रेशम तथा सूती वस्त्रों को इस प्रकार का गौरव प्राप्त था। एक अन्य फ्रांसिसी सज्जन मॉन ट्रैवेनियर ने अपने वर्णन में लिखा है, "सत्तरहवीं शताब्दी के मध्य के करीब बंगाल में कुल रेशम उत्पादन २ करोड़ ५० लाख पौण्ड था, जिसमें से १० लाख पौण्ड का स्थानीय रूप से इस्तेमाल होता था; ७ लाख ५० हजार पौण्ड का डचों द्वारा कच्चे रूप में निर्यात होता था और ७ लाख ५० हजार पौण्ड का भारत व मध्य एशिया में वितरण होता था।"

अधःपतन

इंग्लैण्ड में हुई औद्योगिक क्रांति के साथ मुर्शिदाबादी रेशम उद्योग के गौरवपूर्ण दिनों का अन्त हुआ और १७९९ से ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने कासिमबाजार कारखाने से रेशम के निर्यात को धीरे-धीरे कम कर दिया; उस वर्ष मुर्शिदाबाद रेशम की केवल ४,००० गांठें ही निर्यात की गयीं। कासिमबाजार कारखाने से रेशम का व्यापार १८०४ तक आते-आते केवल १४० गांठें रह गया और १८३५ में जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपना कासिम-बाजार स्थित कारखाना बन्द करके व्यावसायिक एकाधिकार त्यागने का निर्णय किया तब मुर्शिदाबादी रेशम उद्योग प्रायः मरणावस्था में था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा अपने खारखाने बंद करने के पश्चात् यूरोप की अन्य फर्में आगे आयीं। इन यूरोपीय फर्मों के पास १८७६ में केवल ४५ सूत्रण (फिलेचर) ही थे, और ६७ सूत्रणों का प्रबन्ध स्थानीय निवासी करते थे। इन सबका वार्षिक उत्पादन करीब २ लाख ५० हजार पौण्ड कच्चा रेशम था।

मुर्शिदाबादी रेशम का बाजार समाप्त हो जाने की वजह से कोया-पालक, लपेटक तथा बुनकरों सहित इस कुटीरोद्योग में लगे सभी व्यक्तियों के सामने भारी कठिनाइयाँ पैदा हो गयीं। उन्हें उद्योग छोड़ना पड़ा और बहुत जल्दी ही उसका अधःपतन हो गया। जहाँ १८७२ में जिले में ३३४ सूत्रण थें वहाँ १८७६ में उनकी संख्या गिरकर १५७ रह गयी। शहतूत की खेती जिले भर में १८५७ में ५१ हजार बीघा जमीन पर हुई थी, जिसका बाद में अन्य नकद फसलें बोने के लिए इस्तेमाल किया गया और १९३१ में उक्त जिले में केवल ३,२०० बीघा भूमि पर ही शहतूत की खेती हुई थी। सन् १९०१ के जनगणना प्रतिवेदन से पता चलता है कि मुर्शिदाबाद में २८,९५० व्यक्तियों को रेशम कताई तथा बुनाई से आश्रय प्राप्त था और १०,०४१ व्यक्ति रेशम कीट-पालन एवम् कोया संग्रह करके अपना गुजारा चलाते थे। सन् १९११ की जनगणना के समय उनकी संख्या गिरकर क्रमशः २७,३३८ और ६,८०३ हो गयी थी। रेशम उद्योग से अपनी जीविका उपार्जित करनेवालों की संख्या धीरे-धीरे कम होती गयी और उन्होंने अपना तथा परिवार का भरण-पोषण करने के लिए अन्यान्य धंधे अपना लिये। परिणामस्वरूप १९५१ में उक्त जिले में रेशम उद्योग से जीविकोपार्जन करनेवालों की संख्या मात्र ७५० रह गयी थी।

उद्योग का पतन रोका न जा सका और यूरोपीय फर्मों के लिए शक्ति करघों का इस्तेमाल करके भी अपना काम चलाना दुभर बन गया; फलस्वरूप बाध्य होकर उन्हें अपने कारखाने बन्द करने पड़े। उद्योग को फ्रांस की सरकार द्वारा लगाये गये भारी संरक्षणात्मक कर (टैरिफ), भारतीय रेशम उद्योग के विस्तार और यूरोप में चीनी तथा जापानी रेशम के आयात का भी प्रहार सहना पड़ा अर्थात् उस पर उक्त बातों का बहुत बुरा असर पड़ा। यहाँ तक कि विदेशी रेशम की प्रतिस्पर्धा से घरेलू यानी देशी व्यापार पर भी बुरा प्रभाव पड़ा

और इन सबके अलावा स्थानीय रेशम उद्योग अपने उत्पादन में एक स्तर कायम रखने में असफल रहा। रेशम व्यापारियों ने एक समिति बनायी और रेशम कीट पालन में सुधार करने के लिए अपनी ओर से पूरा प्रयत्न किया तथा १९०८ में सरकार ने कोया-पालन का नियंत्रण कृषि निर्देशालय के अन्तर्गत अपने हाथ में लिया। अतएव बरहामपुर स्थित रेशम उत्पादन फार्म रेशम उद्योग व्यवस्थापक के अन्तर्गत आया, जिसकी चन्दनपुर, कुमारपुर और महमूदपुर में केन्द्रीय पौधशालाएँ थीं।

सरकार ने रेशम कीड़ों में होनेवाली बीमारी को रोकने और रोग-विहीन बीज वितरित करने का अपनी तरफ से पूरा प्रयत्न किया। एक फ्रांसिसी रेशम उत्पादन विशेषज्ञ १९१२ में नियुक्त हुआ, जिसे 'रेशम उत्पादन अन्वेषण का अधीक्षक, यूरोपीय प्राध्यापक' की संज्ञा दी गयी और उसने बीजों के संक्रमण (हायब्रीडायजेशन) पर प्रयोग किये। सही कोया-पालकों के लड़कों के लिए बरहामपुर में एक रेशम उद्योग प्रशिक्षण विद्यालय खोला गया। राज्य सरकार ने रेशम उद्योग का सर्वांगीण विकास करने के लिए भरसक प्रयत्न किये। लेकिन जिन बुनकरों ने इसे प्रायः अलाभदायक पाने पर छोड़ दिया था, उनमें फिर से उद्योग की प्रतिष्ठा जमाना बड़ा मुश्किल था। अनेक बुनकरों ने रेशम बुनाई छोड़कर सूती कपड़ों की बुनाई करना अपना लिया था।

द्वितीय महायुद्ध के दरमियान पैराशूट बनाने के लिए मुर्शिदाबादी रेशम की अधिकाधिक मांग हुई और अनेक बुनकरों ने पुनः कार्यारम्भ किया। युद्ध-सामग्री की मांग पूरी करने के लिए एक सूती कपड़े की स्थानीय मिल तक ने रेशम बुनाई प्रारम्भ कर दी थी। किन्तु ज्यों ही लड़ाई बन्द हुई, रेशम के लिए यह अस्थायी मांग कम हो गयी, बेरोजगारी की वजह से रेशम उद्योग में लगे कारीगरों के सामने भीषण कठिनाइयाँ आ खड़ी हुई। रेशम उद्योग में लगे कारीगरों ने बुरे दिन देखे, फिर भी इस जिले में रेशम का व्यापार करनेवाले कुछ व्यापारी थे, जिन्होंने भारत व विदेशों में मुर्शिदाबादी रेशम की प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए पुर जोर कोशिश की। इस्लामपुर, चक-मिर्जापुर तथा कुछ अन्य स्थानों में उन्होंने चन्द उन गैर बंगाली व्यापारियों की सहायता से अनेक करघे चालू किये, जिन्होंने भी रेशम उद्योग का गौरव कायम रखने के लिए अपनी तरफ से भरसक प्रयास किया था।

रेशम उद्योग के स्वर्णिम दिनों में कासिमबाजार, कालिकापुर, चूनाखाली, दौलताबाद, बंगपाड़ा तथा अन्य आसपास के क्षेत्रों में भागीरथी और भैराव नदियों के बीचवाले इलाके में हजारों रेशम बुनकर थे। अकेले सैदाबाद में जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी का कासिम-बाजार स्थित कारखाना और कोठी तथा अन्य यूरोपीय व्यापारी रेशम का निर्यात करते थे तब स्वतंत्र व्यक्तियों द्वारा संचालित ५०० छोटे-बड़े रेशम क्रय केंद्र थे। इन निजी रेशम कोठियों ने धीरे-धीरे अपना व्यापार बन्द कर दिया और उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में सैदाबाद तथा कासिमबाजार में २० रेशम व्यापारी ही रह गये थे। 'जगत सेठों' के घर का व्यापार केन्द्र कासिम-बाजार में था जो बाद में 'जगत सेठ' मेहताब चन्द के द्वितीय पुत्र को सौंप दिया गया। अनेक ओसवाल परिवारों के व्यापार केंद्र कासिमबाजार और सैदाबाद में थे। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में भी सैदाबाद में कुछ गैर बंगाली व्यापारी घर थे, जो मुर्शिदाबादी कोरे रेशम, रेशमी थान तथा अन्य प्रकार की भाँतों का लेन-देन करते थे। सैदाबाद तथा कासिमबाजार और अन्य क्षेत्रों के अनेक बंगाली जमींदारों ने अपना जीवनयापन रेशम व्यापार के साथ प्रारम्भ किया एवम् जब रेशम उद्योग के बुरे दिन आये तो वे जमींदार बन गये।

कारमाइकल हाथ रूमाल

कुछ रेशम व्यापारी अपना पुश्तैनी धंधा चलाते रहे और मुर्शिदाबादी रेशम उद्योग का गौरव कायम रखने के लिए उन्होंने जी तोड़ प्रयत्न किया। इन रेशम व्यापारियों में चन्द नामों का उल्लेख किया जा सकता है, जैसे स्वर्गीय चन्द्र कान्त शाह, रणजीत कुमार विश्वास, एस. एस. बागची, सुरेन्द्र नाथ सरकार तथा अन्य। उन्होंने बुनकरों

से रेशम खरीद कर उसकी बिक्री के लिए बाजार ढूंढ़ने की कोशिश की। इस प्रकार वे विभिन्न प्रकार की मुर्शिदाबादी रेशम भारत व विदेशों में बेचने का प्रयास करते थे। इस सम्बन्ध में यह बताना अप्रासंगिक न होगा कि लार्ड कारमाइकल–जिन्होंने उक्त जिले में उत्पादित एक विशेष प्रकार के हाथ रूमाल को अपना नाम दिया था– जब इंग्लैण्ड में थे तो एडिनबर्ग के एक स्टोर से उक्त नाम के हाथ रूमाल खरीदा करते थे। बाद में अविभाजित प्रांत के गवर्नर के रूप में बैरन कारमाइकल ऑफ् स्कर्लिंग बंगाल आये और विशिष्ट छाप के रेशमी हाथ रूमाल के लिए पूछताछ की। बरहामपुर के अपने प्रथम आधिकारिक दौरे के दरमियान लार्ड कारमाइकल ने रेशम थानों की छपाई देखने के लिए कुंजघाट स्थित रेशम छपाई के कार्यगृह तक का अवलोकन किया। एक समय था जबकि मिर्जापुर का एक बहुत ही ऊंची किस्म का दो फुट वर्ग का एक हाथ रूमाल एक रुपये में और १८ इंच वर्ग का एक हाथ रूमाल चार आने मात्र में खरीदा जा सकता था। तात्पर्य यह है कि उक्त जिले में रेशमी हाथ रूमाल कभी सूती से भी सस्ता था!

रेशम व्यापारियों की यह प्रणाली थी कि वे स्थानीय बुनकरों से माल खरीदते और रेशमी थान, चद्दर, धोती तथा साड़ी विभिन्न बाजारों में बेचते। उस वक्त चक-इस्लामपुर के शाह और विश्वासों का कलकत्ता तथा अन्य स्थानों के व्यापारियों से सम्पर्क था एवम् अनेक प्रकार की कठिनाइयों के बावजूद उन्होंने व्यवसाय कायम रखा। उस समय स्वर्गीय चन्द्र कान्त शाह का व्यापार कलकत्ता में था और उन्होंने मुर्शिदाबाद के रेशम बुनकरों द्वारा उत्पादित रेशमी वस्त्रों की बिक्री कायम रखने के लिए इण्डिया सिल्क हाउस के रिशवदास बाबू तथा अन्य व्यापारियों के साथ सहकार किया। इस जिले के चन्द अन्य रेशम व्यापारी भी व्यवसाय में लगे रहे और उन्होंने कभी अपने लाभ की परवाह नहीं की, यद्यपि उस समय भी रेशम बुनकरों द्वारा उत्पादित होनेवाले माल की बिक्री करने में उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। महात्मा गांधी ने जब असहयोग आन्दोलन चलाया तो कुटीरोद्योगों को एक प्रेरणा, बढ़ावा मिला। चरखे और खादी ने रेशम बुनकरों का ध्यान आकर्षित किया, और चक-इस्लामपुर के रेशम व्यापारियों ने अखिल भारत चरखा संघ से सम्पर्क स्थापित किया। अन्ततोगत्वा गांधीजी के खादी आंदोलन ने इस मरणासन्न रेशम उद्योग को एक नया जीवन प्रदान किया और उसे स्वदेशी आंदोलन का एक अंग माना जाने लगा।

मुर्शिदाबाद: २३ अप्रैल १९६३

खादी ग्रामोद्योग का *दशम वार्षिकांक सितम्बर के अन्त में प्रकाशित होगा। लेखकों से अनुरोध है कि वे अपने लेख सम्पादक के पास अगस्त १९६३ के मध्य तक भेज दें।*

जम्मू और कश्मीर में कृषि उधार सहकारी आंदोलन

माखन लाल भट्ट

जम्मू और कश्मीर में कृषि उधार सहकारी आंदोलन को सही दिशा प्रदान करने का गम्भीर प्रयास १९५३ में ही आरम्भ किया जा सका। विकास के दरम्यान आंदोलन को जिन महत्वपूर्ण क्रमों से होकर गुजरना पड़ा है, उनमें से कुछ का विवरण इस लेख में दिया गया है।

जम्मू और कश्मीर में कृषि उधार समितियों का संगठन कार्य १९१४–१५ में आरम्भ हुआ जबकि प्रथम सहकारी समिति अधिनियम पारित हुआ था। कम ब्याज पर शीघ्र ऋण देना ही एकमात्र कार्य होने से इन सहकारी समितियों का संगठन जर्मनी की रफेशन सहकारी समितियों के नमूने पर किया गया।

तब से १९५३ तक आंदोलन कई अनुक्रमों से होकर गुजरा है। जितनी भी सहकारी समितियाँ संगठित हुईं, वे सब संगठित प्रयासों का ही फल नहीं थीं और सहकार तथा स्वयंसेवा की परिव्याप्त भावना से विकसित नहीं हुई थीं; बल्कि वे सरकारी हस्तक्षेप और सामयिक प्रहस्तन का परिणाम थीं। अतः आम तौर पर राज्य में और खास तौर पर गाँवों में आंदोलन की जड़ें नहीं जम सकीं। कई समितियाँ तो शुरू में ही असफल हो गयीं और बाकी निष्क्रिय हो गयीं जिससे इस आंदोलन का एक ढांचा भर ही रह गया।

प्रायोगिक अवस्था

सन् १९१४–२५ की अवधि आंदोलन के विकास में परमावश्यक रूप से प्रायोगिक अवस्था थी। सन् १९१४–१५ के अधिनियम ने प्राथमिक उधार समितियों के संगठन की व्यवस्था की और कृषि कार्य के लिए उधार देने की व्यवस्था की आवश्यकता पर जोर दिया। सरकारी संगठक एक तो सहकारी विचार के महत्व से पूर्ण परिचित नहीं थे और फिर ग्रामीणों के अपढ़ होने के कारण भी बाधाएँ उपस्थित हुईं। आंदोलन आरम्भ होने के दस वर्ष बाद १९२५ में कृषि उधार सहकारी समितियों की संख्या १,३२४ थी और उनके सदस्यों की संख्या २४,००० थी। इसका अर्थ यह हुआ कि औसतन ६ गाँवों के लिए एक समिति थी और समितियों के अन्तर्गत कुल ०.८ प्रति शत ग्रामीण आबादी थी। इन समितियों की अंश पूंजी ६ लाख ७१ हजार रुपये थी और संचालन पूंजी, सरकारी ऋण सहित, २४ लाख रुपये। ऋण के रूप में कुल ६ लाख ३३ हजार रुपये ही वितरित किये गये थे। सदस्यों से ऋण के रूप में दिये गये २१ लाख रुपये वसूल करना बाकी था जिसमें से १४ प्रति शत तो अतिदेय था यानी उसकी मियाद तो कब की पूरी हो चुकी थी।

बड़ा अवसाद

सन् १९२९ के बड़े अवसाद ने इस आंदोलन पर उल्टा प्रभाव डाला। कृषि उत्पादनों तथा जमीन की कीमत में एकाएक गिरावट आ जाने से सदस्यों की आर्थिक अवस्था तथा उधार समितियों की जीव्यता कमजोर हो गयी। अतिदेय बढ़ता गया और कुछ समितियों को तो अपना कार्य ही बंद कर देना पड़ा। ऋण के लिए मांग बढ़ती गयी, पर निधि उपलब्ध नहीं थी। सन् १९२८–३४ के बीच सहकारी उधार ८५.७८ प्रति शत कम हो गया और दिया गया ऋण वसूल नहीं किया जा सका। तालिका १ (पृष्ठ ६५९) में उक्त अवधि में ऋण की अवस्था दर्शायी गयी है।

पुनर्जीवन के लिए प्रयास

फिर भी १९३५ और १९३९ के बीच आंदोलन को पुनरुज्जीवित करने की कोशिश की गयी। आंदोलन को

तालिका १*

सहकारी समितियों द्वारा दिया गया तथा बाकी कर्ज

(लाख रुपयों में)

वर्ष	ऋण दिया गया	सदस्यों के पास बाकी ऋण	अतिदेय ऋण	बाकी ब्याज
१९२८–२९	१०.४८	३६.८१	३.५३	४.७३
१९२९–३०	९.३२	४०.७७	३.६९	५.४९
१९३१–३२	२.३०	४६.२५	६.७०	१०.६१
१९३३–३४	१.४९	४५.२२	७.०८	१५.८६

***स्टेटिस्टिकल डाइजेस्ट, १९५९;** सहकार विभाग, जम्मू और कश्मीर सरकार।

सही दिशा प्रदान करने के लिए किये गये प्रयासों के फलस्वरूप, भले ही वे नियमित रूप से नहीं किये गये, १९३९ के अन्त तक समितियों की संख्या बढ़कर २,६०७ हो गयी तथा सदस्यों की ४७,०००। यह सदस्यता में

तालिका २§

दिया गया और बाकी ऋण

(लाख रुपयों में)

वर्ष	दिया गया ऋण	सदस्यों के पास बाकी ऋण	अतिदेय ऋण	बाकी ब्याज
१९३९–४०	२.७५	८३.२६	१२.१४	१३.२६
१९४१–४२	१.६६	३५.६४	१.२४	१३.७४
१९४२–४३	०.६५	३३.९०	१३.३६	१३.२३
१९४४–४५	१.३५	२७.४८	११.४६	११.८८

§ **स्टेटिस्टिकल डाइजेस्ट, १९५९;** सहकार विभाग, जम्मू और कश्मीर सरकार।

९६ प्रति शत वृद्धि दर्शाता था जोकि राज्य की ग्रामीण आबादी का १.३ प्रति शत था। बहरहाल यह अवस्था बनीं नहीं रह सकी और द्वितीय महायुद्ध की प्रतिक्रिया ने आंदोलन के उद्देश्य और दिशा का रुख बिल्कुल ही बदल दिया। चूंकि अधिकांश जीवनोपयोगी आवश्यक वस्तुएँ कम मात्रा में उपलब्ध थीं, सरकार ने इन चीजों के वितरण का भार उधार समितियों को सौंप दिया, जोकि उपभोक्ता सहकारी समितियों के नाम से जानी जाती हैं। ये समितियाँ लाभदायक नहीं होकर हानिकर साबित हुईं; क्योंकि इनमें से अधिकांश छोटे-छोटे व्यापारियों की–जोकि पूर्ति विभाग से माल प्राप्त करते और विभाग के निर्देशानुसार निजी दूकानदारों को बेच देते थे–संस्थाएँ थीं।[1] समितियों को इस नये कार्य से उपेक्षा करने तथा अन्ततः अपने प्रमुख उद्देश्य–कृषि कार्य के लिए ऋण देने की व्यवस्था करना–को भी पार्श्वभूमि में डाल देने का प्रोत्साहन मिला।

१. **कोआपरेटिव मूवमेण्ट–ए रिव्यू ;** जम्मू और कश्मीर सरकार।

तालिका २ (पृष्ठ ६५९) के आंकड़े यह बतलाते हैं कि १९३९–४५ की अवधि में कृषि ऋण कम होता हुआ धीरे-धीरे इस स्तर पर पहुँच गया कि ग्रामीणों की मांग देखते हुए सभी व्यावहारिक कार्यों के लिए वह नगण्य था। फिर भी बचाववाली एक बात यह थी कि इस अवधि में कृषि उत्पादनों की कीमत काफी बढ़ी और फलस्वरूप सदस्यों की–अधिकांशतः किसानों की–हालत पहले से काफी अच्छी रही और वे अपने कर्ज का कुछ अंश उतार सकने की अवस्था में थे। तदनुसार अतिदेय ऋण का, जोकि कमी के दिनों में जमा हो गया था, ६७ प्रति शत वसूल कर लिया गया।

सन् १९४६–४७ के अन्त में तो अवस्था खराब होनी शुरू हो गयी जबकि २९ लाख ६२ हजार रुपये मूल और १२ लाख रुपये ब्याज के बाकी थे जिसमें कि क्रमशः ९ लाख ६३ हजार रुपये और ११ लाख ३० हजार रुपये अतिदेय थे।[२] इस आंदोलन के अन्तर्गत ग्रामीण आबादी का १.२ प्रति शत ही आता था तथा चार गाँवों पर एक समिति थी। संचालन पूंजी में कमी होती गयी जोकि १९४६ में ४१ लाख ७४ हजार रुपये थी जबकि १९३९ में ६३ लाख ३९ हजार रुपये थी। इससे यह स्पष्ट था कि ऋण सुविधाएँ प्रदान करने के लिए जो पूंजी साधन थे, उनमें सम्पूर्ण रूप से कमी हुई जोकि १९३४ के प्रति व्यक्ति १,३६७ रुपये से घटकर १९४६ में ८५ रुपये हो गये। सन् १९३४ में कुल हिस्सा पूंजी २२ लाख २३ हजार रुपये थी, जबकि १९४६ में १४ लाख ४० हजार रुपये।

बहरहाल इस अवधि में इन सब समितियों द्वारा जो एक उपयोगी कार्य किया गया, वह था चकबन्दी। करीब ४३,००० एकड़ भूमि की चकबन्दी बिना किसी जोर-जबर्दस्ती के की गयी। परन्तु यह कार्य कुछ ही दिनों चला और उपयोगी भी साबित हुआ होता "बशर्ते कि चकबन्दी का काम योजित आधार पर और विशेष दिलचस्पी के साथ किया गया होता।"[३]

राजनीतिक अस्थिरता

अक्तूबर १९४७ में पाकिस्तान के अचानक हमले से सारी प्रशासनिक व्यवस्था ही अव्यवस्थित हो उठी और आंदोलन ठप पड़ गया। कई समितियाँ तो हमलावरों के हाथ पड़ गयीं। संकटकाल की आड़ में तथा प्रशासनिक परिवर्तन के फलस्वरूप बहुत-से अविवेकी सदस्यों ने जान-बूझ कर ऋण चुकाना बंद कर दिया और कइयों ने तो समितियों की सम्पत्ति भी हड़प ली। ऋण की रकम निम्नतम स्तर १ लाख ५० हजार रुपये पर पहुँच गयी जबकि आनुमानिक आवश्यकता ३ करोड़ रुपये की थी।[४] समितियों की अधिकांश सम्पत्ति तो गायब हो गयी और उनका अस्तित्व कमजोर पड़ गया।

अस्थिर राजनीतिक अवस्था और प्रचलित रास्तों के बंद हो जाने से राज्य में उपभोक्ता सामग्रियों की बहुत कमी हो गयी। फिर से सब जगह कंट्रोल जारी किया गया और रेशनिंग की गयी। योग्यतापूर्वक वितरण करने हेतु सहकारी समितियाँ आरम्भ की गयीं। चार सौ भण्डार खोले गये जिनके अन्तर्गत हर पतवार हलका (वार्ड) आ जाता है। परन्तु इन भण्डारों ने धीरे-धीरे व्यापार करनेवाली नियमित व्यापारिक संस्थाओं का रूप धारण कर लिया जो कि अनाज की खरीद-बिक्री और नियंत्रित वस्तुओं की बिक्री करती हैं।[५] एक बार फिर से नये कार्य के साथ, जोकि अधिक आकर्षक और लाभदायक है, सहकारी समितियों का आरम्भ हुआ पर उन्होंने अपना बुनियादी कर्तव्य पूरा करने के लिए कुछ विशेष नहीं किया।

राहत के उपाय

उधार समितियों की गिरती अवस्था को ध्यान में

२, ३ व ४. **कोआपरेटिव मूवमेण्ट–ए रिव्यू**, जम्मू और कश्मीर सरकार।

५. **वजीर जांच समिति रिपोर्ट**, १९६३; जम्मू और कश्मीर सरकार।

रखते हुए सरकार ने ग्रामीणों के कर्ज को कम करने तथा उन्हें महाजनों के चंगुल से छुड़ाने के लिए कई उपाय किये। इनमें ये उपाय शामिल हैं: (१) ऋण वसूली (अस्थायी रोक) अध्यादेश, १९४९; (२) पीड़ित कर्जदार राहत अधिनियम, १९४९; (३) बंधक सम्पत्ति अधिनियम का पुनरास्थापन; और (४) बृहत भू-सम्पदा निवारण अधिनियम, १९५०। इन उपायों के फलस्वरूप १ करोड़ ७५ लाख रुपये का ऋण कम होकर ८५ लाख रुपये (५१ प्रति शत) हो गया और १४ लाख ३८ हजार रुपये मूल्य के बंधकी कर्ज परिसमाप्त कर दिये गये।[६] परिणामतः महाजनों तथा भू-स्वामियों ने जरूरतमन्द किसानों को ऋण देना बन्द कर दिया जिसका कृषि उत्पादन पर घातकी असर पड़ा। इस परिस्थिति का मुकाबला करने के लिए उधार समितियाँ ग्रामीणों की आवश्यकता पूरी करने आगे बढ़ेंगी, यह आशा थी। परन्तु समितियों की कार्यशीलताएँ वैसे क्षेत्रों में बढ़ायी गयीं, जोकि उनकी प्राथमिक जिम्मेदारियों से अलग थीं। क्योंकि ये उनकी आवश्यकताएँ पूरी करने में असफल रहीं, जबकि उन्हें अन्य साधन प्राप्त नहीं थे। उन्होंने इन संस्थाओं को समाप्त कर देने की मांग की। वजीर जांच समिति ने अपनी रिपोर्ट में कहा है: "सहकार भू-आंदोलन के प्रति इतनी अधिक घृणा और अवसाद देखकर हमें बड़ा ताज्जुब हुआ...... हर किसी ने आंदोलन के खिलाफ कहा और इससे शीघ्रातिशीघ्र छुटकार पाने की इच्छा ज़ाहिर की।"[७]

आयोजन युग का आरम्भ

राज्य में प्रथम पंच वर्षीय योजना आरम्भ करने के बाद सहकार आंदोलन ने एक निश्चित रूप धारण करना आरम्भ किया। उपभोक्ता सहकारी समितियों से उधार समितियों में परिवर्तन के लिए संक्रमण अवधि निश्चित कर दी गयी। सरकार ने समितियों के बोझ को हल्का करने के लिए ३६ लाख रुपये का विपत्ति सहकार कर्ज बट्टे खाते डाल दिया। इसके अतिरिक्त प्रथम योजना में इस आंदोलन को जो स्थान प्रदान किया गया है उसके

तालिका ३

प्रथम योजना में हुई प्रगति का सूचकांक†

वर्ष	समितियों की संख्या	सदस्य संख्या	अंश पूंजी	संचालन पूंजी	ऋण दिया गया	ऋण वापस
१९५०–५१	१००	१००	१००	१००	१००	१००
१९५५–५६	११६	५६०	११३	१५८	३३८	२,६९७

† **कोऑपरेटिव मूवमेण्ट इन इंडिया, ट्रेंडस ऑफ् प्रॉग्रेस इन दि स्टेट १९५०–५१ टू १९५९–६०;** सामुदायिक विकास और सहकार मंत्रालय, भारत सरकार, १९६१।

उनका इस्तेमाल गन-आयल, सेकंड-हैंड अमेरिकी कोट तथा वन-अनुबन्धों की खरीद में किया गया।

किसानों का इन समितियों पर से विश्वास उठ गया; अनुकूल संगठनात्मक और प्रशासनिक दोनों ही किस्म के कई कदम उठाये गये जिनके फलस्वरूप प्रगति हुई जिसका विवरण ऊपर तालिका ३ में दिया गया है।

६. **कश्मीर टुडे**, जनवरी–फरवरी १९६०। ७. **वजीर जांच समिति रिपोर्ट, १९५३**; जम्मू और कश्मीर सरकार।

सदस्यों को दिये जानेवाले ऋण की रकम में काफी वृद्धि की गयी–तीन गुनी। बाकी ऋण को करीब ८७ प्रति शत कम किया गया और अतिदेय १९५६ में बाकी ऋण का सिर्फ ७.९ प्रति शत रह गया जो कि १९५०–५१ में ५५ प्रति शत था। इस अवधि में संस्थाओं की कार्य-शीलताओं तथा कार्यक्षेत्र के विस्तार का विस्तृत विवरण नीचे तालिका ४ में दिया गया है

लक्ष्य निर्दिष्ट थे, सिवाय इसके कि किसानों को कितना कर्ज दिया जाना चाहिए।

द्वितीय योजना का लक्ष्य

द्वितीय पंच वर्षीय योजना के प्रथम वर्ष में बड़ी समितियों के विकास पर जोर दिया गया। उसके बाद के वर्ष में नीति में थोड़ा-सा परिवर्तन हुआ और बड़ी

तालिका ४*

कार्य संचालन और सम्बन्धित विवरण (सूचकांक)

वर्ष	ऋण दिया गया	प्रति सदस्य जमा	प्रति समिति जमा	संचालन पूंजी	ऋण दिया गया
१९५०–५१	१००	१००	१००	१००	१००
१९५५–५६	६००	३५८	१,७०९	१३६	२,८९०

* **कोऑपरेटिव मूवमेण्ट इन इण्डिया,** सामुदायिक विकास और सहकार मंत्रालय, भारत सरकार, १९६१।

उक्त तालिका से यह ज्ञात होता है कि औसत रूप में समितियों की आर्थिक और वित्तीय जीव्यता बढ़ी तथा उनके अन्तर्गत और भी लोग आते गये। समितियों की सुधरी आर्थिक हालत इस तथ्य से प्रमाणित है कि वे १९५०–५१ के मुकाबले २८ गुना अधिक ऋण दे सकीं। सदस्यों को औसतन ६ गुना अधिक ऋण मिला। पिछले अनुभवों के सन्दर्भ में किसी भी माप से यह कोई छोटी सफलता नहीं है।

फिर भी, यह महसूस किया जाता है कि अगर प्रशासन की आंतरिक कमजोरियों को ठीक समय पर सुधार दिया गया होता तो प्रगति और भी अधिक होती। आंदोलन की इस अवधि में जो सबसे बड़ी बाधाएँ आयीं, वे थीं : (१) सहकारी समितियों को अर्थ-व्यवस्था के विकास के सन्दर्भ में उन्हें सौंपे गये वर्तमान कार्य को समझने और तदनुसार कार्य को आगे बढ़ाने में काफी समय लगा; (२) राज्य सरकार की नीति स्पष्ट नहीं थी; तथा (३) न कोई स्वीकृत नीति थी और न ही कोई विशेष

समितियों के संगठन के साथ ही साथ छोटी समितियों के गठन की भी स्वीकृति दी गयी। प्रथम बार अलाभकारी छोटी समितियों को बड़ी समितियों में मिला दिया गया, जोकि ग्रामीणों को ऋण सुविधाएँ देने के अलावा उनकी और भी बहुत-सी जरूरतें पूरी करती हैं। सच तो यह है कि प्रभावहीन अलाभकारी समितियों को बंद करना था। तीन सौ बड़ी समितियों के संगठन तथा सदस्य संख्या बढ़ाकर दो लाख करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। राज्य सरकार ने यह भी निर्णय किया कि राज्य के कश्मीर प्रान्त के ५० प्रति शत से अधिक तथा जम्मू प्रांत के २५ प्रति शत परिवारों को सहकारी क्षेत्र में लाया जाय। द्वितीय योजना के प्रथम वर्ष में विशिष्ट लक्ष्य की प्राप्ति हुई। बहरहाल १९५६–५७ (द्वितीय योजना का प्रथम वर्ष) की तुलना में १९५९–६० की जो स्थिति थी, उसे तालिका ५ (पृष्ठ ६६३) में दिया गया है।

यद्यपि समितियों की वित्तीय जीव्यता में काफी सुधार हुआ, पर ऋण की व्यवस्था उस अनुपात में नहीं हुई।

तालिका ५ @

१९५९–६० में प्रगति

वर्ष	सदस्यता	अंश पूंजी	संचालन पूंजी	ऋण दिया गया	ऋण वापस मिला
१९५६–५७	१.८३	१४.८४	६९.१६	५६.६६	३३.६९
सूचकांक	१००	१००	१००	१००	१००
१९५९–६०	२.३३	२३.६०	१४६.०९	६४.५०	६०.४३
सूचकांक	१२७	१५९	२११	११४	१७९

सन् १९५६–५७ के ५६ लाख ६६ हजार रुपये के मुकाबले १९५९–६० में सिर्फ ६४ लाख ५० हजार रुपये ऋण दिया गया जोकि सिर्फ १४ प्रति शत अधिक है। इसके अतिरिक्त, लगता है कि अतिदेय को वसूल करने के लिए, जो कि १९५९–६० के अंत में २६ प्रति शत था जबकि १९५६–५७ के अंत में सिर्फ ०.७ प्रति शत ही था, कोई निश्चित प्रयास नहीं किया गया।

तालिका ६ में समितियों की कार्यशीलताओं और कार्यक्षेत्र में हुई प्रगति का विवरण दिया गया है।

तालिका (६) से लगता है कि अच्छी प्रगति हुई है, परन्तु जितनी प्रगति होनी चाहिए थी उतनी नहीं हुई है; क्योंकि समितियाँ अपने को घाटा पूरा करने योग्य नहीं बना पायी हैं तथा वे अखिल भारत स्तर से कहीं नीचे हैं। उदाहरण स्वरूप, एक लाख व्यक्तियों के लिए समितियों की औसत संख्या १९५९–६० में ४३.९० थी, जबकि अखिल भारत के लिए इसका अंक ७६.८६ था। हजार में से सिर्फ ५९.९० व्यक्ति ही सदस्य हैं जबकि अखिल भारत अंक ७४.३२ है। राज्य के लिए प्रति व्यक्ति

तालिका ६ @

कार्य संचालन सम्बन्धी सूचकांक (औसत अंक)

वर्ष	प्रति समिति सदस्य संख्या	प्रति सदस्य अंश पूंजी	प्रति सदस्य ऋण दिया गया	प्रति सदस्य जमा	प्रति समिति ऋण दिया गया
१९५६–५७	१००	१००	१००	१००	१००
१९५७–५८	१२४	१३८	६१	११७	७६
१९५८–५९	१५७	१८७	१८७	२६	२९६
१९५९–६०	१५९	१९९	९०	२८	१४३

@ **कोआपरेटिव मूवमेण्ट इन इण्डिया;** सामुदायिक विकास और सहकार मंत्रालय, भारत सरकार, १९६१।

औसत संचालन पूंजी ८.९८ रुपये पड़ती है, जबकि अखिल भारत अंक २६.५४ रुपये हैं।

मूल कमजोरी

उपर्युक्त विवरण से जो सामान्य चित्र प्रस्तुत होता है वह आंदोलन का असम विकास दर्शाता है। सामान्य तौर पर सहकार विकास के स्तर पर जिन तथ्यों का प्रभाव पड़ता है उनमें अन्य बातों के अलावा ये बातें हैं: किस किस्म की कृषि अर्थ-व्यवस्था की यह सेवा करती है तथा इसके संगठन और कार्य संचालन से सम्बन्धित नीति, प्रक्रिया और नियम। तत्कालीन सरकार ने इन तथ्यों को बिल्कुल नजरअन्दाज कर दिया था। राज्य में इस आंदोलन के विकास को सीमित कर देने की मूल कमजोरियाँ थीं: थोड़े-से ही गाँवों में कार्य-क्षेत्र का प्रसार, खर्चीली कार्य-शीलता, पूर्णकालीन मंत्री की नियुक्ति करने में अयोग्य होना, दोष पूर्ण प्रबन्ध, गैर कृषक सदस्यों की अधिक संख्या, ऋण वापस करने में देर, अंधाधुंध ऋण देना तथा अपर्याप्त सरकारी सहायता।

यद्यपि योजनावधि में कुछ प्रगति हुई, पर कमियाँ अधिक हे। इन कमियों का कारण सिर्फ इसी तथ्य से दर्शाया जा सकता है कि "परिवर्तन लानेवाली शक्ति परिवर्तन रोकनेवाली शक्ति से अधिक मजबूत नहीं थी।" आंदोलन ने भूतकाल में सरकारी प्रयासों को असफल किया है, आम जनता को निरुत्साहित किया है और आयोजकों को निरुत्साहित कर रहा है। यद्यपि अधिकांश जनता इस आंदोलन के भविष्य के विषय में निराश है, आंदोलन की जड़ अब मजबूत है तथा पिछले दस वर्षों में इसने विश्वास, मजबूती, दृढ़ता और जीव्यता प्राप्त कर ली है। नये दृष्टिकोण और पूर्ण दृढ़ता के साथ अब इसने योजित विकास के तृतीय सोपान में प्रवेश किया है।

वल्लभ विद्यानगर (गुजरात) : १० जून १९६३

आन्ध्र प्रदेश में एकमुश्त कार्यक्रम

श्रीपति रंगनाथ

फोर्ड फाउण्डेशन के विशेषज्ञ दल की सिफारिश पर प्रारम्भ किये गये 'एकमुश्त कार्यक्रम' से चुनिन्दा क्षेत्रों में सघन और सर्वांगीण प्रयासों के जरिये खाद्यान्न के मामले में आत्म निर्भर बनने का अभियान तीव्र होगा। क्षेत्रों का चुनाव ''अधिकतम सिंचाई सुविधाओं और न्यूनतम प्राकृतिक बाधाओं के आधार पर'' किया जाता है।

खाद्यान्न जाँच समिति के प्रतिवेदन (नवम्बर १९५७) में देश में खाद्यान्नों के लिए माँग और अनुमानित उत्पादन वृद्धि का मूल्यांकन करने के पश्चात् आगामी कुछ वर्षों के लिए २० से ३० लाख टन अनाज बाहर से प्रति वर्ष आयात करने की आवश्यकता प्रकट की गयी है। उसमें यह भी प्रदर्शित किया गया है कि हम अपनी खाद्यान्न सम्बन्धी आवश्यकताओं के मामले में स्वावलम्बी नहीं हैं और यह कि हमारी आवश्यकताओं के अनुमानित लक्ष्यांकों की तुलना में हमारे प्रयत्न पर्याप्त नहीं हैं। इस धीमी प्रगति के अनेक स्पष्ट कारण हैं, लेकिन यह सामान्यतः मान लिया गया है कि हमारी कृषि को सघन बनाने हेतु सभी सम्भव शर्तों यानी आवश्यकताओं के साथ कृषि उत्पादन के प्रति एक सुसंयोजित, ठोस वैज्ञानिक उपागम अपनाने से वांछित फल-प्राप्ति होगी। इसी पृष्ठभूमि में एकमुश्त कार्यक्रम (पैकेज प्रोग्रॅम) की बात सोची गयी है।

एकमुश्त कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य है उन्नत बीजों, उर्वरकों, कीटनाशक औषधियों, अभिनव कृषि उपकरणों का उपयोग करते हुए तथा उपयुक्त व सामयिक ऋण आदि प्रदान करते हुए कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए सुसंयोजित एवम् सघन प्रयासों के जरिये खाद्यान्नों के मामले में आत्मनिर्भर बनने के लिए आन्दोलन को तीव्र बनाना।

फोर्ड फाउण्डेशन का विचार

जनवरी और अप्रैल १९५९ के मध्य कृषि उत्पादन पर फोर्ड फाउण्डेशन का एक विशेषज्ञ दल भारत आया तथा उसने अन्नोत्पादन बढ़ाने के लिए चुने हुए क्षेत्रों में कुछ मार्गदर्शी योजनाएँ संगठित करने, चलाने की सिफारिश की। अन्य बातों के साथ-साथ दल ने निम्न सुझाव दिये :

भारत एक विशाल देश है। उसमें विविध विभिन्नताएँ तथा अलग-अलग जलवायु पायी जाती ह, इसलिए अच्छा यही है कि देश की स्थिति पर, उसकी जो अपनी समस्याएँ हैं उन्हें दृष्टि में रखते हुए ही विचार किया जाय। ऐसी परियोजनाओं को सर्वाधिक प्राथमिकता दी जानी चाहिए जिनसे अन्नोत्पादन में तत्काल तथा सर्वाधिक योगदान मिले। प्रति एकड़ औसत उपज और बढ़ायी जानी चाहिए। आयोजकों, प्रशासकों, शिक्षकों, सामाजिक और प्रकृति वैज्ञानिकों, स्थानीय सामुदायिक नायकों तथा कृषकों में सभी स्तरों पर ठोस सहकार की आवश्यकता है। भारत में करोड़ों कृषकों की आर्थिक आमदनी न केवल खेती के उन्नत तरीकों पर, बल्कि ''जमीन की मिल्कियत के स्थायित्व, स्थिर मूल्यों तथा बिक्री व साख सम्बन्धी आवश्यक सुविधाओं के आश्वासन पर'' भी निर्भर है।

जिलों का चुनाव

फोर्ड फाउण्डेशन दल की सिफारिशों पर विचार करने के बाद भारत सरकार ने १५ राज्यों में से प्रत्येक के एक-एक जिले में 'एकमुश्त कार्यक्रम' चलाने का तय किया। प्रारम्भ में यह कार्यक्रम सात राज्यों के ही १४७ विकास खण्डों में से १०० में चलाने की योजना थी। सात राज्यों में उक्त योजना के खर्च का कुछ हिस्सा

फोर्ड फाउण्डेशन वहन करेगा। शेष राज्यों में एक करोड़ रुपये से अधिक का समूचा व्यय केन्द्रीय सरकार वहन करेगी। इस सघन कार्यशीलता कार्यक्रम के लिए जिलों का चुनाव "अधिकतम सिंचाई सुविधाओं और न्यूनतम प्राकृतिक रुकावटों" के आधार पर किया जायेगा। सात राज्यों में जिन जिलों का चुनाव हुआ वे इस प्रकार हैं:

पश्चिम गोदावरी (आन्ध्र प्रदेश); शाहाबाद (बिहार); लुधियाना (पंजाब); अलीगढ़ (उत्तर प्रदेश); पाली (राजस्थान); रायपुर (मध्य प्रदेश); और तंजोर (मद्रास)।

शेष आठ राज्यों के एक-एक जिले में कार्यक्रम शीघ्र लागू किया जायेगा। जिलों के नाम इस प्रकार हैं: कुलाबा–महाराष्ट्र; सूरत–गुजरात; मावद्या–मैसूर; पालघाट अथवा एल्लेपी–केरल; कछार–असम; सम्बलपुर–उड़ीसा; और बर्दवान–पश्चिम बंगाल।

उक्त सघन कृषि कार्यक्रम के फलस्वरूप आगामी पाँच वर्ष में अन्नोत्पादन कम से कम ४० से ६० प्रतिशत बढ़ने का अनुमान है।

पश्चिम गोदावरी : एक अध्ययन

पश्चिम गोदावरी जिला सघन कृषि कार्यक्रम के लिए चुना गया था। कार्यक्रम १९६०–६१ में रबी फसल के साथ प्रारम्भ हुआ। एकमुश्त कार्यक्रम १ अक्तूबर १९६० को शुरू हुआ। उसका उद्घाटन जिले के सदर मुकाम एलुरू में २३ दिसम्बर १९६० को हुआ। यह जिला अपने सहकारी संगठन, पर्याप्त उर्वरकता, अधिकांश क्षेत्र में पानी की नियमित प्राप्ति और मंजे हुए तथा प्रगतिशील किसानों के लिए प्रसिद्ध रहा है। यह एक समुद्र तट पर डेल्टा प्रदेशवाला जिला है, जिसमें आठ तालुके हैं, उदाहरणार्थ नरसापुर, ताणुकु, भीमावरम, ताडेपल्लीगुडम, एलुरू, कोव्वुर, चिंतलापुडी और पोलावरम। प्रथम तीन तालुके मुख्यतः डेल्टा-प्रधान हैं और अंतिम तीन उच्चतर भूमिवाले तथा शेष दो डेल्टा प्रदेश व उच्चतर भूमिवाले हैं अर्थात् उनमें दोनों ही प्रकार की भूमि है। समग्र जिले में गाँवों की संख्या ९११ और आबादी १९ लाख है।

जिले में दो नदी-नहर प्रणालियाँ हैं। गोदावरी नदी की सात मुख्य नहरें और कई उप-नहरें हैं, जो प्रायः नरसापुर, ताणुकु, भीमावरम के समग्र क्षेत्र में, एलुरू, ताडेपल्लीगुडम और कोव्वुर के कुछ हिस्सों में फैली हुई हैं। दूसरी एलुरू नहर है, जिससे शेष एलुरू तालुके की सिंचाई होती है। इन नदी-नहरों के अतिरिक्त अन्य पहाड़ी सोते हैं, जैसे यर्रकालवा, तम्मीलेरु और गुंदेरु, जिनसे कई सिंचाई तालाब भरते हैं। इन सिंचाई योजनाओं के अन्तर्गत ६,०५,३६४ एकड़ भूमि नदी-नहरों के अन्तर्गत आती है; १,५०,३१७ एकड़ तालाब सिंचाई के अन्तर्गत; और ५०,००० एकड़ की सिंचाई झरनों, टयूब वेल तथा सोतों से होती है। इस प्रकार जिले में कुल ८,०५,६८१ एकड़ भूमि की सिंचाई होती है।

फसलें

डेल्टा प्रदेश सपाट है और समुद्र के धरातल से शायद ही ऊँचा हो। मुख्य फसल चावल की होती है; और चूंकि यह सागरवर्तीय क्षेत्र है, इसलिए वहाँ पनई अथवा माढ़ी ताड़, नारियल के पेड़, गन्ना तथा केले भी अच्छी तरह पनपते हैं। डेल्टा का उत्तरी भाग उच्चतर भूमिवाला है, जहाँ वर्षा ही सिंचाई का मुख्य साधन है। इसके फलस्वरूप मूंगफली, जिंजली, हरा चना, काला चना, लाल चना आदि वहाँ की मुक्य फसलें हैं। ऐसे स्थानों में जहाँ कुछ सिंचाई सुविधाएँ हैं, न केवल मिर्च तथा केले की खेती करने के, बल्कि आम आदि के बगीचे लगाने के भी प्रयास हो रहे हैं।

जिले में कृषि-क्षेत्र का विवरण इस प्रकार है:

विवरण		क्षेत्र (एकड़ में)
जिले का कुल भौगोलिक क्षेत्र	..	२९,३१,८३०
खेती के अन्तर्गत खालिस क्षेत्र	..	९,९१,५०३
एक से अधिक फसलवाला क्षेत्र	..	२,३४,७६८
कुल फसली क्षेत्र	..	१२,२६,२७१

कुल क्षेत्र के प्रति प्रातिशत्य	.. ..	६३.५
सिंचित फसलों का कुल क्षेत्र	..	९,०२,६९०
कुल फसली क्षेत्र में प्रातिशत्य	..	७३.६

जिले में औसत वर्षा ३९.४६ इंच होती है। दक्षिण पश्चिम की ओर से आनेवाली मानसूनी हवाओं से वर्षा प्रायः निश्चित रूप से जून के दूसरे सप्ताह में शुरू हो जाती है और पूरे महीने जारी रहती है। अक्तूबर-नवम्बर में भारी बरसात होने की अपेक्षा रहती है, जबकि आर्द्र तथा शुष्क फसलों के लिए वैसा होना अनुकूल होता है। उत्तर-पूर्व की ओर से आनेवाली मानसूनी हवाओं से वर्षा का होना अनियत है।

मिट्टी के सम्बन्ध में यह कि कछारी अर्थात् जलोढ़ भूमि, जोकि सभी प्रकार की मिटटी में सर्वोत्तम समझी जाती है, चिंतलापुडी तालुके को छोड़कर प्रायः समूचे जिले में पायी जाती है। इसी प्रकार एक समान काली मिट्टी, जिसका दूसरा स्थान है, कछारी भूमि के लिए प्रसिद्ध ताणुकु तालुके के अलावा सभी तालुकों में पायी जाती है। गुण की दृष्टि से लोह-युक्त लाल मिट्टी का तीसरा स्थान है, जोकि एलुरू, ताडेपल्लीगुडम, कोव्वुर चिंतलापुडी और पोलावरम तालुकों के उच्चतर भूमि क्षेत्रों में पायी जाती है। कुल क्षेत्र के ३.६५ प्रतिशत भू-भाग में बालुकामय मिट्टी है, जोकि नरसापुर तथा भीमावरम जैसे समुद्र तटीय तालुकों में है। जहाँ-कहीं संतोषप्रद नालिका-प्रवाह की कमी है तथा अनवरत रूप से समुद्र का पानी भरा रहता है, वहाँ सभी तालुकों में खारी मिट्टी मिलती है।

मिट्टी परीक्षण

आन्ध्र प्रदेश में दो मिट्टी परीक्षण प्रयोगशालाएँ हैं। एक राजमुंदरी में और दूसरी बापातला में है, जहाँ मिट्टी के अनेक नमूने विश्लेषण के लिए भेजे गये हैं। एकमुश्त कार्यक्रम के अन्तर्गत एक मिट्टी परीक्षण प्रयोगशाला स्थापित करने की योजना है। इस प्रयोगशाला के पास एक भ्रमणशील इकाई होगी। मिट्टी के विश्लेषण के आधार पर यह सिफारिशें करेगी। कृषकों को उन्नत बीजों का वितरण करने का ध्यान रखा जाता है। बीज की शुद्धता और जीवनी-शक्ति का परीक्षण करने के लिए, निकट भविष्य में ही एक बीज परीक्षण प्रयोगशाला भी स्थापित करने का प्रस्ताव है।

जिले के चार कृषि अनुसंधान केंद्रों में सबसे पुराना मारूतेरू स्थित चावल अनुसंधान केंद्र गोदावरी और कृष्णा नदी के डेल्टा प्रदेश के अनुकूल धान की किस्मों का विकास करने के काम की देख-रेख करने की दृष्टि से १९१३ में स्थापित किया गया था। ऐसे स्थानों के अनुकूल जहाँ प्रायः पानी भरा रहता है, धान की उपयुक्त किस्मों का विकास करने हेतु पुल्ला में एक गहन जल धान अन्वेषण केंद्र स्थापित किया जा चुका है। केलों के लिए एक दूसरा अनुसंधान केंद्र ताणुकु में १९५८ में स्थापित किया गया था, जहाँ "सस्य-विज्ञान प्रभेद और कृषि सम्बन्धी प्रयोग चल रहे हैं।" एक अन्य केंद्र गन्ना उत्पादकों को आवश्यक सुझाव देने की दृष्टि से गन्ने की खेती से संबंधित है, जो "क्षेत्र के गन्ने पर प्रभेद, कृषि और खाद सम्बन्धी परीक्षण करने के काम में जुटा हुआ है।" यह ताणुकु स्थित आन्ध्र शुगर फैक्ट्रीज से सम्बद्ध है।

किसी भी प्रकार की खेती के लिए नाइट्रोजन और सुपर-फास्फेट अनिवार्य उर्वरक हैं। प्रारम्भिक अवस्था के रूप में राज्य को २७,४०० टन नाइट्रोजन युक्त उर्वरक वितरित किये जा चुके हैं। यह हिसाब लगाया जाता है कि कार्यक्रम के प्रथम दो वर्ष की आवश्यकता-पूर्ति के लिए १०,००० टन उर्वरकों की और आवश्यकता है। अन्य उर्वरकों के मामले में यह कि १९६०-६१ में रबी की फसल के दौरान कृषकों में ४,००० मेट्रिक टन सुपर-फास्फेट का वितरण किया गया।

पौधों के रक्षार्थ सहकारी समितियों के जरिये आवश्यक कीटाणु-नाशक तथा फफूंद-नाशक औषधियाँ उपलब्ध करवायी गयी हैं। उपर्युक्त व्यवस्था के अलावा राज्य कृषि भण्डारों के पास किसी भी प्रकार के अनपेक्षित संकट का सामना करने के लिए पर्याप्त स्टॉक है। सन् १९६०-६१ में रबी के मौसम में १६,०७० एकड़ पर

कीटाणुओं, कीड़ों आदि का प्रहार हुआ। फिर भी, उक्त मामले में प्रभावशाली तौर पर रोक-थाम की गयी और स्थिति पर काबू पा लिया गया।

प्रत्येक ग्रामीण कार्यकर्त्ता को एक स्प्रेयर-दवा छिड़कने का उपकरण—और एक डस्टर प्रदान करने के लिए व्यवस्था की जा चुकी है। इसके अलावा प्रत्येक पंचायत के पास कुछ स्प्रेयर और डस्टर हैं, जिन्हें वह सदस्यों तथा अन्य व्यक्तियों को किराये पर दे सकती है। विश्वास किया जाता है कि अनेक कृषकों के पास अपने स्वयम् के डस्टर और स्प्रेयर हैं। एक अनुमान के अनुसार राज्य कृषि विभाग और पंचायत समितियों के पास अपने १,००० स्प्रेयर; २०० डस्टर तथा ३० शक्ति-चालित स्प्रेयर हैं। इन सभी का वक्त-बेवक्त उपयोग होता है।

धान की जापानी पद्धति से खेती करने के सरल तरीके का १९६०–६१ में रबी की फसल के दौरान १२१ गाँवों में २४२ चुने हुए प्लाटों में प्रदर्शन किया गया। उक्त प्रात्यक्षिकों में ये बातें शामिल थीं: "जमीन से ऊपर उठी हुई बीज-क्यारियाँ; खुड़ का फासला छः से आठ इंच और खुड़ के अन्दर पौधों का अन्तर तीन से चार इंच रखते हुए धान के पौधे लगाना...।" मुफ्त वैज्ञानिक प्रात्यक्षिकों के अलावा प्रत्येक खण्ड में शक्ति-चालित स्प्रेयर, स्विंग-फोग आदि का प्रात्यक्षिक करने की भी व्यवस्था है। हर खण्ड में एक ट्रैक्टर तथा अन्य इसी प्रकार के उपकरण की पूर्ति करने की योजना भी कार्यक्रम में शामिल है।

कार्यक्रम का प्रशासनात्मक पक्ष

राज्य स्तर पर समन्वय समिति की स्थापना की गयी है, जिसके सदस्य इस प्रकार हैं; राजस्व मण्डल के सदस्य; सिंचाई निर्देशक (अध्यक्ष); कृषि निर्देशक; सहकारी समितियों के पंजीयन अधिकारी; विशेष प्रमुख इंजीनियर (सिंचाई); एलुरू के जिलाधीश; रिजर्व बैंक ऑफ् इण्डिया (बंगलोर) के प्रतिनिधि; और कृषि निर्देशक तथा राज्य स्तरीय परियोजना अधिकारी (संयोजक)।

समिति की अब तक कई बैठकें न केवल यह देखने के लिए कि योजना उपयुक्त रूप से कार्यान्वित होती है या नहीं, बल्कि कार्यक्रम की प्रगति का मूल्यांकन करने के लिए भी हो चुकी हैं। राज्य समन्वय समिति की सिफारिशों के आधार पर एक जिला समन्वय समिति की स्थापना भी हो चुकी है, जिसके सदस्य इस प्रकार हैं: जिलाधीश (अध्यक्ष); एलुरू जिला परिषद के अध्यक्ष; एलुरू जिला सघन कृषि कार्यक्रम के परियोजना अधिकारी; पश्चिम गोदावरी जिले की पंचायत समितियों के प्रधान; पश्चिम गोदावरी जिले के गैर पंचायत समिति विकास खण्डों के खण्ड विकास अधिकारी; एलुरू के सहकारी समितियों के उप-पंजीयन अधिकारी; एलुरू के कार्यकारी अभियंता; एलुरू स्थित जिला सहकारी केंद्रीय बैंक के अध्यक्ष; और जिला विक्रय संघ (एलुरू) के अध्यक्ष। परियोजना अधिकारी एलुरू में कार्यक्रम का अधीक्षक है। प्रशासनात्मक तथा प्राविधिक पहलू उसी के अन्तर्गत हैं। फिर भी, वह अध्यक्ष के प्रत्यक्ष नियंत्रण में है। अध्यक्ष एलुरू का जिलाधीश है। उसके कामों तथा जिम्मेवारियों में एलुरू की जिला परिषद हाथ बटायेगी। उसकी सहायता के लिए न केवल चार विशेषज्ञ—फार्म-व्यवस्था, पेड़-पौधा संरक्षण, मृत्तिका विज्ञान और सस्य-विज्ञान सम्बन्धी—ही रहेंगे बल्कि एक मूल्यांकन अधिकारी तथा सहकारी समितियों के उप-पंजीयन अधिकारी भी उसकी मदद करेंगे।

उक्त प्राविधिक तथा प्रशासनात्मक कर्मचारी सभी जिला स्तर पर हैं। खण्ड स्तर पर काम देखने के लिए दो अतिरिक्त कृषि विस्तार अधिकारी और एक शिक्षा के लिए अतिरिक्त शिक्षा अधिकारी है। इनके अतिरिक्त सभी २० खण्डों में केन्द्रीय बैंक के चार-चार व्यवस्थापक हैं, जो प्रार्थना-पत्रों पर तुरन्त कार्यवाही करने और ऋण के वितरण में मदद देते हैं। और फिर, योजना के कार्यान्वय के लिए ग्राम स्तर पर प्रत्येक विकास खण्ड में दस ग्राम स्तरीय कार्यकर्त्ता हैं।

जिला स्तरीय कर्मचारियों तथा विकास खण्डों के

लिए चुने गये कर्मचारियों को प्राथमिक प्रशिक्षण प्रदान करने हेतु भारत सरकार ने नीलोखेड़ी में एक विद्यालय स्थापित किया है। जहाँ ग्राम स्तरीय कार्य-कर्त्ताओं तथा कृषि विस्तार अधिकारियों को जिले में परियोजना कर्मचारियों द्वारा उत्पादन योजना की तैयारी करने व योजना बनाने का प्रशिक्षण दिया जाता है, वहाँ यह भी है कि हर खेत के लिए एक उत्पादन योजना बनायी जाती है, फिर चाहे उसका आकार जो भी हो। खेत के आकार के मुताबिक आवश्यक सामग्री तथा ऋण प्रदान किया जाता है। सभी २५६ गाँवों के कृषकों के लिए उत्पादन योजना तैयार करने का काम भी पूरा हो चुका है। कार्यक्रम २५ विकास खण्डों में चलाया जायेगा।

कृषकों के अभिक्रम और उत्साह को देखते हुए राज्य स्तरीय समन्वय समिति ने सिफारिश की कि कार्यक्रम का ४० प्रति शत हिस्सा प्रथम वर्ष में हाथ में लिया जा सकता है तथा पाँचवें वर्ष तक उसका विस्तार ८० प्रति शत तक किया जा सकता ह। प्रारम्भिक अवस्था में धान की खेती के अन्तर्गत क्षेत्र की ४० प्रति शत तथा मिर्च और केले की कृषि के अन्तर्गत भूमि के २० प्रति शत इलाके तक कार्यक्रम का विस्तार किया जा सका। इस योजना के लिए पर्याप्त मात्रा में उर्वरक सप्लाई करने की व्यवस्था कीं गयी है। इन क्षेत्रों का चुनाव पंचायत समितियों से सलाह-मशविरा कर किया गया। इस अवधि में १७० गाँवों तक योजना का विस्तार किया गया। कितने क्षेत्र में किस चीज की फसल होती है, इसका विवरण इस प्रकार है: धान--५८,४३१ एकड़; मिर्च--२,७८४ एकड़; और केला--७७१ एकड़।

पंच वर्षीय अवधि के लिए जिला सघन कृषि कार्यक्रम पर पाँच लाख रुपये खर्च होने का अनुमान है। यह खर्च फोर्ड फाउण्डेशन द्वारा प्रदत्त अनुदान के जरिए भारत सरकार वहन करेगी। इसके सिवाय दूसरी फसल के मौसम में धान के पौधों की प्रारम्भिक किस्मों का विकास करने हेतु पाँच वर्ष की अवधि के लिए भारत सरकार ने अनुमानतः १,३५,२३३ रुपये लागत की एक अन्य योजना हाल ही में स्वीकृत की है।

पश्चिम गोदावरी जिले में पानी की निकासी के लिए उपयुक्त जल निष्कासन प्रणाली की कमी है। चूँकि डेल्टा का प्रमुख भाग समतल है, इसलिए जल निष्कासन की वास्तव में एक समस्या है, खास करके खरीफ की फसल के मौसम (जुलाई से दिसम्बर तक) में। यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त जल निष्कासन व्यवस्था के अभाव में कितना भी सुधार क्यों न किया जाय, कोई लाभ नहीं होगा। अतएव 'एकमुश्त' कार्यक्रम के साथ ही साथ जल निष्कासन प्रणाली सम्बन्धी योजना भी हाथ में ली गयी है। अनुमान है कि बड़ी, मध्यम और छोटी-छोटी जल प्रणालियों की मरम्मत के लिए १ करोड़ १० लाख रुपये खर्च होंगे। मध्यम और लघु जल-प्रणालियों की मरम्मत के लिए १९६०-६१ के दौरान ६ लाख रुपये लागत के बराबर शारीरिक श्रम प्रयुक्त किया गया। सन् १९६१-६२ में उक्त कार्य के लिए २० लाख रुपये अलग रखे गये। प्रमुख यानी बड़ी-बड़ी प्रणालियों के सम्बन्ध में यह कि शारीरिक श्रम द्वारा उनकी मरम्मत शायद ही सम्भव हो, लेकिन निकर्षक (ड्रेजर) तथा बजरे (पण्ट) की सहायता से उक्त काम किया जा सकता है। बड़ी जल-प्रणालियों की मरम्मत का अनुमानित व्यय ५० लाख रुपये है। यंत्रों की खरीद के लिए विदेशी विनिमय प्राप्त करने की एक दूसरी समस्या है।

योजना को प्रभावशाली रूप से लागू करने के लिए विदेशी विशेषज्ञों की राय लेनी है। उनमें जल-प्रणाली अभियंता, कृषि (फार्म) व्यवस्था विशेषज्ञ तथा विस्तार विशेषज्ञ शामिल हैं। जल-प्रणाली अभियंता (इंजीनियर) का कार्य जल-निष्कासन प्रणाली के सुधार और सिंचाई से सम्बन्धित होगा; कृषि व्यवस्था विशेषज्ञ उत्पादन योजना बनाने में अपनी राय देगा और यदि आवश्यक हुआ तो वर्तमान फसल-पद्धति में परिवर्तन सुझायेगा। जहाँ तक विस्तार विशेषज्ञों का सम्बन्ध है, उनसे कार्यक्रम को प्रभावशाली रूप से कार्यान्वित करने में कृषकों व विस्तार अधिकारियों को सलाह-मशविरा प्रदान करने की अपेक्षा है।

मद्रास: १० अगस्त १९६२

तेल स्रोतों का विवेकपूर्ण उपयोग

त्यमगुण्डलू कृष्णमूर्ति

भारतीय जनता क आहार में पौष्टिक तत्वों की कमी पायी जाती है। फिलहाल खाद्य तेलों का औद्योगिक कार्यों में उपयोग होता है। अतएव हमारा प्रयास होना चाहिए, उनके स्थान पर अखाद्य तेलों के प्रयोग को लोकप्रिय बनाकर खाद्य तेल मानवीय उपभोग के लिए उपलब्ध कराना।

स्नेह अर्थात् चिकनाई हमारे जीवन की एक मूलभूत आवश्यकता है और हमारे गरीब देशवासियों के लिए उसे प्राप्त करने का एकमात्र साधन है वनस्पति तेल। उनके आहार में इस परमावश्यक खाद्य सामग्री की कमी होती है। खाद्य तेल की कम सप्लाई तथा उसके स्रोत को बढ़ाने की आवश्यकता की ओर तेल, साबुन, पेण्ट आदि की विकास परिषद तथा केन्द्रीय आर्थिक और प्रतिरक्षा समन्वय मंत्रालय के प्राविधिक विकास विभाग का ध्यान रहा है। यह तथ्य कि वनस्पति तेल उद्योग का देश के निर्यातक उद्योगों में तीसरा स्थान है तथा वह प्रति वर्ष ४० करोड़ रुपये का व्यापार करता है, इस बात का द्योतक है कि खाद्य तेल की इतनी अधिक कमी नहीं है तथा यह कमी काफी हद तक उसके उपभोग में समायोजन कर दूर की जा सकती है।

खाद्य तेल पर पहला हक है, लोगों के दैनिक उपभोग की आवश्यकता का। जब तक इस आवश्यकता की पूर्ति नहीं होती, तब तक उसका उपयोग साबुन, पेण्ट और वार्निश आदि के उत्पादन उद्योग में करना तर्कसंगत नहीं होगा। आज नारियल तथा मूंगफली के तेल का एक अच्छा-खासा भाग साबुन बनाने में उपयोग कर लिया जाता है। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन इस पहलू को इतना महत्व देता है कि उसने नीम, महुआ, उन्दी खाखन, करंज आदि जैसे कम प्रचलित अखाद्य तेलों का, जोकि अभी काफी हद तक व्यर्थ जाते हैं. साबुन बनाने में उपयोग करने हेतु एक अलग निर्देशालय खोल रखा है। यदि साबुन उद्योग इन अखाद्य तेलों का उपयोग करने लगे तो न सिर्फ वह खाद्य तेलों का इस्तेमाल भोजन में इस्तेमाल करने के लिए मुक्त करने का श्रेय लेगा—जोकि बहुत जरूरी है—बल्कि बहुत-से लोगों को अखाद्य तिलहनों के संग्रह और प्रशोधन कार्य में लाभदायक रोजगारी भी दे सकेगा।

पेण्ट में तम्बाकू के तेल का उपयोग

महाराष्ट्र और मध्य प्रदेश के कुछ भागों में अलसी का तेल वहाँ के लोगों का प्रधान खाद्य तेल है, लेकिन उसके विशेष सुखानेवाले तत्व के कारण पेण्ट और वार्निश बनाने में उसका बहुत ज्यादा इस्तेमाल किया जाता है। कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रयुक्त रसायनशास्त्र विभाग द्वारा किये गये अनुसंधान से यह जानकारी मिली है कि अलसी के तेल के बदले तम्बाकू के बीजों के तेल का इस्तेमाल किया जा सकता है। तम्बाकू बीजों का तेल भी सुखानेवाले तेलों की श्रेणी में आता है; क्योंकि उसमें पोलीथेनोआयड एसिड की मात्रा अधिक रहती है, जोकि तेल को सुखानेवाला तत्व प्रदान करता है (तम्बाकू के तेल में पोलीथेनोआयड एसिड का अंश ७०.३ है)।

यद्यपि इसकी क्षमता बहुत बड़ी है, फिर भी तम्बाकू के बीज उत्पादन का एक मामूली हिस्सा ही एकत्रित व इस्तेमाल किया जाता है। इस तिलहन में—जोकि बेकार जानेवाला महत्वपूर्ण कृषि उत्पादन है—४६ प्रति शत तक तेल होता है। आकड़ों से पता लगता है कि १९५८-५९ में करीब ८,९६,००० एकड़ भूमि पर तम्बाकू की खेती हुई। यदि इस तिलहन को अच्छी तरह एकत्रित किया जाय तो १९,२८,५०० टन तिलहन (प्रति एकड़

करीब ७०० पौण्ड) प्राप्त हो सकता है। परन्तु भारतीय केन्द्रीय तम्बाकू समिति के पास उपलब्ध आंकड़ों से यह पता लगता है कि सिर्फ ७,८९० टन तिलहन ही एकत्रित किया गया। इससे पेण्ट और वार्निश उद्योग के लिए एक अछूते क्षेत्र की झलक मिलती है।

उदजनन के लिए खाद्य तेल

उदजनन वह दूसरा उद्योग है जोकि बड़ी मात्रा में खाद्य तेल की खपत कर रहा है। कोई कह सकता है कि उदजनन उत्पादन–वनस्पति–का उपयोग भोजन में भी किया जाता है। चूंकि उदजनन के पूर्व संघटक तेलों का परिष्करण होता है, अतः तम्बाकू और बिनौले के तेल को भी, जोकि अभी सीधे रूप में अपने कड़ुवे स्वाद और दुर्गन्ध के कारण भोजन में इस्तेमाल नहीं किये जाते, उदजनित कर भोजन के काम में लाया जा सकता है। इससे नारियल, जिंजली और मूंगफली के तेल सीधे अर्थात् जैसे के तैसे रूप में उपभोग के लिए बच रहेंगे। चूँकि ये तेल वनस्पति से सस्ते हैं, इसलिए गरीब लोग इनका इस्तेमाल अब से अधिक मात्रा में कर सकते हैं।

यह पाया गया है कि तम्बाकू के तेल का इस्तेमाल भोजन में कर सकते हैं। द्वितीय महायुद्ध के समय जर्मनी, ग्रीस और बल्गेरिया के लोगों ने तम्बाकू के तेल का इस्तेमाल किया और उन पर उसका कोई बुरा असर नहीं पड़ा। यदि तम्बाकू के तेल का इस्तेमाल उसे अच्छी तरह परिष्कृत कर किया जाय तो उसके उदजनन की भी आवश्यकता नहीं है (उसका १६०वी अलकली–क्षार–०.२५ प्रति शत अधिक में और २ प्रति शत फुलमाउण्ट अर्थ जोड़ ०.५ प्रति शत एक्रीवेटेड कार्बन से उपचार करने पर वह प्रत्यक्ष उपभोग के लायक हो जायेगा)। तम्बाकू के तेल से वनस्पति तैयार करना सस्ता भी पड़ेगा; क्योंकि वह मूंगफली तेल से सस्ता है। कलकत्ता विश्वविद्यालय में किये गये परीक्षणों से ज्ञात होता है कि तम्बाकू के तेल में अन्य किसी भी तेल की बनिस्पत अधिक उदजन (हाइड्रोजन) की आवश्यकता है। "यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि कच्चा तेल खरीदने में जितनी बचत होगी वह उदजन गैस के कारण बढ़नेवाले खर्च से कहीं ज्यादा है और अन्ततः उत्पादन का लागत मूल्य भी कम पड़ेगा।" इसी प्रकार तम्बाकू के तेल का अभी वनस्पति उत्पादन में जो नगण्य इस्तेमाल होता है, वह अधिक मात्रा में हो सकेगा।

चावल के कणे से तेल

मैसूर स्थित केन्द्रीय खाद्य तकनालॉजिकल अनुसंधान-शाला ने खाद्य तेल का एक और स्रोत–चावल का कणा–खोज निकाला है। चावल के कणे से १५ से २४ प्रति शत खाद्य तेल निकलता है। यह अनुमान लगाया जाता है कि यदि चावल के कणे की उपलब्ध सम्पूर्ण मात्रा का उपयोग किया जाय तो प्रति वर्ष ३० करोड़ रुपये मूल्य का करीब तीन लाख टन तेल प्राप्त किया जा सकता है। इसकी रचना मूंगफली के तेल के समान ही है। परन्तु ठण्डे मौसम में यह नारियल के तेल की तरह जम जाता है। इसमें बड़ी अच्छी सुगंध आती है और स्वाद भी अच्छा होता है। भोजन में इसका उपयोग सीधे रूप में घी के बदले कर सकते हैं। अनुमान लगाया जाता है कि यह अन्य तेलों से अधिक पौष्टिक होता है; क्योंकि इसमें चन्द अनभिज्ञात विटामिन होते हैं। यह तेल द्रावक प्रक्रिया (सोलवेण्ट एक्सट्रेक्टशन) से निकाला जा सकता है। भारत में शक्कर उद्योग में जो साधारण औद्योगिक मद्यसार (अल्कोहल) प्राप्त होता है, वह द्रावक के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है। हेक्सेन जैसे आयातित सोलवेण्ट की तरह यह अल्कोहल विषैला नहीं होता और इसलिए इसके जरिये निकाला गया तेल मानवीय उपभोग योग्य होगा।

यद्यपि चावल की अत्यधिक पालिशिंग वांछनीय नहीं है, फिर भी जब तक चावल मिलें हैं तथा वे कणा उत्पादन करती हैं, तब तक उसका इस्तेमाल खाद्य तेल निकालने में किया जा सकता है; क्योंकि कणे से तेल न निकालने से दोहरा नुकसान होगा–पालिश करने से प्रोटीन, खनिजों तथा विटामिनों का और स्नेह का भी। यह बहुत खुशी की बात है कि तेल निकालने की इस प्रक्रिया

का एक उप-उत्पादन "खाद्य शर्बत है, जिसमें 'बी' वर्ग के छः विटामिन हैं।" सामान्य आहार के पूरक के रूप में तथा टॉनिक बनाने में भी इसका उपयोग कर सकते हैं। यह ज्ञात हुआ है कि प्रति दिन ५ टन उत्पादन करने की क्षमता रखनेवाला संयंत्र करीब तीन लाख रुपये की लागत से स्थापित किया जा सकता है। राष्ट्रीय खाद्य अनुसंधानशाला के पास इस तरह का एक छोटा-सा संयंत्र है।

खली में तेल तत्व

तिलहन से तेल निकालने के बाद भी कुछ तेल खली में रह जाता है। यह तेल ८ प्रति शत से १५ प्रति शत तक रहता है। खली का इस्तेमाल खाद्य अथवा गोरुओं के चारे के रूप में करते हैं। खली का खाद अथवा चारे के रूप में उपयोग करने के पीछे मुख्य विचार है प्रोटीन उपलब्ध करना। खाद के रूप में खली का इस्तेमाल करना जबकि उसमें तेल की मात्रा हो, हानिकर है; क्योंकि इससे प्रोटीन प्रातिशत्य कम हो जाता है। तेल रहने से खली अधिक दिनों तक अच्छी नहीं रह सकती और उसमें शीघ्र ही दुर्गंध पैदा हो जाती है।

गोरुओं को जो खली खिलायी जाती है, उसके विषय में अभी तक कोई निश्चित वैज्ञानिक मत नहीं मिल सका है कि खली में जो इतनी अधिक मात्रा में तेल रहता है उसमें से वे (गोरु) कितने का परिपाचन कर पाते हैं। कुछ लोगों का यह मत है कि खली में जो तेल होता है, उसे दुधारू पशु चिकनाई के रूप में परिपाचित कर लेते हैं और फिर वह दूध में जा मिलता है। यह मत ठीक नहीं लगता। एक मत यह है कि "पशुओं के भोजन में सामान्यतः कुछ तेल की जरूरत होती है, परन्तु मवेशी तो खुद ही अपने पेट में उस चिकनाई का निर्माण अपने चारे से ही कर लेते हैं, जोकि उनके दूध में पायी जाती है।' उनके चारे में जो तेल रहता है, वह तो ऊर्जा प्रदान करनेवाला है। वह दूध में नहीं जाता। अतः मवेशियों को अधिक मात्रा में तेल खिलाना आवश्यक नहीं है। परन्तु उन्हें विनौले जैसे तिलहनों तथा मूंगफली की खली जैसी तेल-खली में मिलनेवाली आवश्यक प्रोटीन खिलाना परमावश्यक है..... ।" बेशक खली का तेल तत्व मवेशियों के चारे का कैलोरी मूल्य बढ़ा देता है, इसलिए उन मवेशियों को खली खिलाना निश्चय ही ऊर्जा प्रदान करनेवाला होगा, जिन्हें पौष्टिक चारा नहीं मिलता। चूंकि हमारे देश में प्रत्येक मवेशी को अपौष्टिक खुराक मिलती है, अतः हम यह स्पष्ट निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि मवेशियों को खली खिलाने से उसका तेल बेकार नहीं जाता।

राष्ट्र के हित में

हमारे देश में जितनी खली तैयार होती है, उसका ४० प्रति शत से भी अधिक भाग खाद के रूप में इस्तेमाल किया जाता है, जिसके फलस्वरूप उतना तेल बेकार जाता है। अतः यह राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था और कृषि के हित में है कि हम खाद के रूप में इस्तेमाल की जानेवाली खली का तेल निकाल लेने की व्यवस्था करें। द्रावक पेराई पद्धति से खली से एक-एक बूंद तेल निकाला जा सकता है। इस तरह निकाला गया तेल लोगों के खाने योग्य नहीं भी हो सकता है, लेकिन उसका उपयोग औद्योगिक क्षेत्र में खाद्य तेल के बदले कर सकते हैं। द्रावक पेराई संयंत्र की स्थापना में इतना अधिक खर्च बैठता है कि वह ग्रामोद्योग विभाग के उपयुक्त नहीं है। यदि इसकी स्थापना सार्वजनिक क्षेत्र में अथवा सहकारी आधार पर की जाय, तो यह ग्रामीण तेल उद्योग का पूरक हो सकता है।

मद्रास : १७ मई १९६३

शवच्छेदन और पशु-शव सम्प्राप्ति

अपरेश भट्टाचार्य

ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को शक्तिशाली बनाने में चर्मोद्योग बड़ा महत्वपूर्ण भाग अदा करता है। इसका उद्देश्य है पशु-शवों के विभिन्न अवयवों व तत्वों का वैज्ञानिक ढंग से उपयोग करना। साथ ही यह इस उद्योग में लगे लोगों के प्रति होनेवाले सामाजिक अन्याय को मिटाने में भी सहायता करता है।

ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को शक्तिशाली बनाने और ग्रामीणों की औसत आय में वृद्धि करने हेतु खादी और ग्रामोद्योग कमीशन ने जिन ग्रामोद्योगों के विकास का भार उठाया है, उनमें एक है ग्रामीण चर्मोद्योग। इसमें पशु-शव सम्प्राप्ति भी शामिल है। चर्मोद्योग एक बहुत ही महत्वपूर्ण उद्योग है। इसके दो प्रमुख लाभ हैं: प्रथम, व्यर्थ जानेवाले पदार्थों का इस्तेमाल कर उद्योग का सामान्य विकास और द्वितीय – जोकि मेरी राय में पहले से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है–यह सामाजिक अन्याय का उन्मूलन करने में प्रत्यक्ष मदद देता है, खास कर उन लोगों में जो कि परम्परागत रूप से इस उद्योग में लगे हैं। चमार और डोम परम्परागत रूप से पशु-शव सम्प्राप्ति से जीविका अर्जित करते आ रहे हैं। उनका सामाजिक दर्जा इतना नीचा है कि उन्हें अछूतों में भी अछूत कह सकते हैं। कितना भी प्रचार-प्रसार क्यों न करें, उनकी अवस्था नहीं सुधर सकती। इसका मुख्य कारण उनका धंधा है। ग्रामीण चर्मोद्योग विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत समाज के इस वर्ग से सीधा सम्पर्क स्थापित किया जाता है, जिससे कि समाज के चन्द वर्गों में अन्य वर्गों के प्रति जो अविश्वास व दुराव है, उसे दूर करने में बड़ी मदद मिलती है।

अब हम उद्योग के एक दूसरे पहलू–साधनों के वैज्ञानिक और आर्थिक उपयोग के लिए इस उद्योग द्वारा प्रदत्त सम्भावनाएँ–पर नजर डालें। चर्मोद्योग का अर्थ आम तौर पर छोटी-बड़ी खालों की कमाई माना जाता है। हम शायद ही कभी यह सोचते हैं कि पशु-शव से अन्य मूल्यवान उत्पादन भी प्राप्त हो सकते हैं। यदि हम अपने पुराने विचार त्याग दें तथा पशु-शव से प्राप्त विभिन्न तत्वों का वैज्ञानिक ढंग से प्रशोधन करें, जिसे कि गाँव में हमेशा गंदा व व्यर्थ पदार्थ माना जाता है, तो ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की उन्नति हो सकती है।

खाल

पशु-शव की रचना में निम्न तत्व हैं: (१) खाल; (२) चर्बी; (३) हड्डी; (४) मांस; और (५) खुर, सिंग, अंतड़ी, मांस-रज्जु, ग्रंथि आदि। स्तनधारी वर्ग के हर जीव के चर्म अथवा खाल की रचना परमावश्यक रूप से एक समान ही है, सिर्फ उनके मूल के अनुसार उनकी मोटाई और मुलायमियत में भिन्नता होती है। चर्म की दो परतें होती हैं–ऊपरी को अधिचर्म (एपिडरमिस अथवा एपिथेलियम) और भीतरी को निचर्म (कोरियम अथवा डरमिस) कहते हैं। अधिचर्म मोटा होता है और चूना लगाते वक्त वह निकाल दिया जाता है। अधिचर्म, बाल और वसा-ग्रंथि मिलकर जो श्रेणी बनाते हैं उन्हें रासायनिक परिभाषा में शृंगि (केराटिन्स) कहते हैं। चर्मोद्योग में इसका कोई महत्व नहीं है। निचर्म की रचना अधिचर्म से बिल्कुल भिन्न है। निचर्म में अन्तर्वयन रेशों के झुंड होते हैं। ये रेशे लचीले होते हैं। रसायनों का उपयोग कर उनसे कमाये चमड़े तैयार किये जा सकते हैं। शुद्ध किये निचर्म के विश्लेषण से ज्ञात हुआ है कि उसकी रचना इस प्रकार है: कार्बन: ५०.२ प्रति शत; हाइड्रोजन: ६.४ प्रति शत; नाईट्रोजन: १७.८ प्रति शत; और आक्सीजन: २५.४ प्रति शत। कमाई के लिए कच्चे माल हैं: बड़ी खालें, मध्यम खालें (किप्स) और

छोटी खालें, जोकि खाल की किस्म पर निर्भर करता है। बड़ी खालें बैल, गाय, भैंस, घोड़े आदि से मिलती हैं, मध्यम खालें छोटे दुधारू पशुओं से और छोटी खालें बछड़ों, भेंड़-बकरियों आदि से।

दुःख की बात तो यह है कि भारत में अधिकांश खालों का उत्पादन परम्परागत शवच्छेदक परम्परागत तरीके से शवच्छेनद कर करते हैं तथा वे वैज्ञानिक तरीकों से अनभिज्ञ हैं। इससे उत्पादन का गुण-स्तर तो कमजोर पड़ता ही है, साथ ही मूल्य भी कम हो जाता है। इन परम्परागत शवच्छेदकों को शव-च्छेदन तथा नमक आदि लगाने की प्रक्रिया में प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए, ताकि वे अपनी आय में वृद्धि कर सकें।

चर्बी

पशु-शव के अन्य तत्व भी खाल जितने ही मूल्यवान हैं। खाल के बाद अधिक महत्व चर्बी का है। दुर्भाग्य-वश गाँवों में यह बिल्कुल व्यर्थ जा रही है। चर्बी प्रथम श्रेणी की चिकनाई अर्थात वसा है, जिसमें कि ट्रिस्टेरीन, ट्रियाभीटिन साधारण तौर पर और ट्रियोलीन ४५ प्रति शत होता है। साबुन बनाने के लिए इसका बड़ा महत्व है; क्योंकि इसका आयोडीन मूल्य करीब ४५ है और सैप मूल्य लगभग २००। चर्बी बड़ी आसानी से बाजार में बिक जाती है, परन्तु जरा-से रसायन के प्रयोग से ही इसका गुण-स्तर सुधर जायेगा और बिक्री कीमत भी बढ़ जायेगी। निम्न श्रेणी की चर्बी का वाष्प और हवा में जब थोड़ी-सी डायक्रोमेट और सलफ्यूरिक एसिड के साथ संयोग कराते हैं तो वह बर्फ के समान सफेद किस्म की चर्बी में बदल जाती है।

लेकिन यदि चिकनाई अथवा स्नेह को विपाटित किया जाय, तो बिना विशेष कठिनाई के मुक्त स्नेहाम्ल और ग्लिसेरीन प्राप्त किया जा सकता है। ट्रिवचेल प्रतिकर्त्ता (रीएजेण्ट) से विपाटन हो सकता है। स्नेह को उसके वजन के २० से ५० प्रति शत पानी में १ प्रति शत सल-फ्यूरिक एसिड और १ प्रति शत टिवचेल रीएजेण्ट (जो कि ओलिक एसिड और नैपथीलिन के मिश्रण का सुल्बा-यित–सल्फोनेटेड–उत्पादन होता है) मिलाकर उबालते हैं अथवा स्नेह को उच्च दबाववाले वाष्प में गर्म करते हैं। जो उत्पादन प्राप्त होते हैं वे हैं ठोस स्टीयरिक एसिड (द्रावांक: ६९.६); पामीटिक एसिड (द्रावांक: ६३.१); तरल ओलिक एसिड (बुदबुदांक: १८८); और मीठा जल।

ये स्नेहाम्ल कई बड़े उद्योगों के लिए महत्वपूर्ण कच्चे माल हैं। कैल्शियम स्टीयरेट का इस्तेमाल प्लास्टिक उद्योग में सुधारक तथा सांचे के लिए उपस्नेहन द्रव्य के रूप में किया जाता है। मैगनेशियम स्टीयरेट का इस्तेमाल पेण्ट में फ्लैटिंग एजेण्ट के तौर पर किया जाता है। वस्त्रोद्योग और मकानों में एल्युमिनियम स्टीयरेट का इस्तेमाल वाटर प्रूफिंग एजेण्ट के रूप में करते हैं। शृंगार प्रसाधन के लिए जो क्रीम तैयार की जाती हैं, वे इन्हीं पर आधारित हैं। वस्त्रोद्योग, कृत्रिम रेशम उद्योग और पेण्ट उद्योग में तथा वाटर प्रूफिंग पदार्थों में ओलिक एसिड का बहुत इस्तेमाल होता है। मीठा जल, जोकि १० प्रति शत ग्लिसेरीन घोल होता है, का इस्तेमाल लाभ के साथ ग्लिसेरीन तैयार करने में किया जा सकता है।

चर्बी के बाद अब हड्डियों को लीजिए। विस्नेहित हड्डी की औसत रचना है: स्नेह: ६ प्रति शत; ओसीन: २८ प्रति शत; कैल्शियस फास्फेट: ५६ प्रति शत; कैल्शियम कार्बोनेट: ८ प्रति शत; मैगनेशियम फास्फेट: १ प्रति शत; कैल्शियम क्लोराइड: १ प्रति शत; जबकि सूखी हड्डी की औसत रचाना है: जल+ओसीन: ३० से ३४ प्रति शत; कैल्शियम फास्फेट: ४५ से ५२ प्रति शत; कैल्शियम कार्बोनेट: ६ से १४ प्रति शत; कैल्शियम क्लो-राइड: १ से २ प्रति शत; मैग्नेशियम फास्फेट: ०.८ से १.२ प्रति शत; तथा अन्य लवण: नाम मात्र।

हड्डी की खाद

हड्डी स्नेह में २० प्रति शत स्टीयरिक एसिड; २० प्रति शत पामीटिक एसिड; ५० प्रति शत ओलिक एसिड; और १० प्रति शत ग्लिसेरीन रहता है। हड्डी

अनेक कामों में आती है। प्रशोधित हड्डियों से अतिरिक्त आय होती है। कच्ची तथा अवाष्पित हड्डियों में फास्फोरस और नाइट्रोजन अधिक होता है। बढ़िया हड्डी-खाद में ४० से ५० प्रति शत कैल्शियम फास्फेट और ३.५ से ४ प्रति शत नाइट्रोजन होता है। इस हड्डी के परिपाचन में काफी देर लगती है। खूब गर्म वाष्प से पाचित होने पर इसमें नाइट्रोजन कम होकर १ प्रति शत रह जाता है। लेकिन फास्फेट का परिपाचन सहज ही हो जाता है। चूर्ण वाष्पित हडडी को हड्डी-खाद के रूप में बेचते हैं।

एक तरीका और भी है: हड्डी को ८ प्रति शत हाइड्रोक्लोरिक एसिड में करीब एक सप्ताह डुबाकर रखते हैं। इस प्रक्रिया के दौरान सम्पूर्ण फास्फेट अम्ल (एसिड) में घुल जाता है और 'ओसीन' सरेसयुक्त (जिलेटीनाइज्ड) अंश के रूप में रह जाता है। गोंद और सरेस बनाने के लिए ओसीन मूल पदार्थ है। गोंद और सरेस की मांग दिनों-दिन बढ़ती ही जा रही है। ओसीन निकाल लेने के बाद अम्ल घोल को चूने के साथ मिलाकर अच्छी तरह क्लीबित कर दिया जाता है जबकि डाइकैल्शियम फास्फेट $Ca_2\ HPO_4$ अलग हो जाता है। यह साइट्रिक में घुल जाता है और बहुत ही अच्छी खाद है, जिसका परिपाचन पेड़-पौधे सहज ही कर लेते हैं।

इस खाद मूल्य के अलावा हड्डी का उपयोग अन्य तरह से भी कर सकते हैं, जिससे उतनी ही आय, यदि उससे अधिक नहीं तो, हो ही जाती है। विस्नेहित हड्डी को यदि खुली जगह में खूब गर्म किया जाय तो हड्डी भस्म मिलती है। इसमें ८७ से ८९ प्रति शत कैल्शियम फास्फेट; ९ प्रति शत कैल्शियम कार्बोनेट; ३ प्रति शत कैल्शियम क्लोराइड; और १.७ प्रति शत मैग्नेशियम फास्फेट रहता है। यह फास्फोरिक एसिड और फास्फोरस का मुख्य स्रोत है। हड्डी भस्म से फास्फोरिक एसिड और फास्फोरस उत्पादन करने में तकनीकल जानकारी की आवश्यकता है और वह ग्रामीण स्तर पर प्राप्त नहीं भी हो सकती ह, परन्तु हड्डी-भस्म के उत्पादन का संगठन तो आसानी से किया जा सकता है तथा तैयार माल भी लाभदायक रूप में बेचा जा सकता है।

हड्डियों के और भी उपयोग हैं। जब कच्ची हड्डी (जिसमें से स्नेह नहीं निकाला गया हो) का नाशक आसवन (हवा रहित बन्द बर्तन में गर्म करना) किया जाता है, तो गहरे भूरे रंग का तरल पदार्थ ५ से १० प्रति शत तक मिलता है और जो बचा हुआ हिस्सा बरतन में रह जाता है वह आदग्ध-हड्डी कहलाती है, जिससे हड्डी-कालिमा तैयार की जाती है। भूरे हड्डी तेल में अमोनिया, एथिलबेन्जीन, पायरीडिन, पायरोल और अन्य सह-तत्व होते हैं। पायरीडिन और पायरोल का यह व्यावसायिक स्रोत है। हड्डी-तेल मुख्य विकर्त्ता है और उसका इस्तेमाल मिथिलेटेड स्पिरिट बनाने में किया जाता है तथा ऐंटीसेप्टिक औषधिनुमी चीजें बनाने में भी।

बची हुई आदग्ध हड्डी में १० प्रति शत बहुत ही महीन भस्म; ८० प्रति शत कैल्शियम फास्फेट; और १० प्रति शत अन्य चीजें रहती हैं। खनिजाम्ल (हाइ-ड्रोक्लोरिक) उपचार करने पर घोल में से कैल्शियम फास्फेट और अन्य अम्ल दूर हो जाते हैं तथा सिर्फ बहुत ही महीन भस्म बच रहते हैं। इस घोल को फास्फोरिक खाद में बदल सकते हैं।

गोंद और सरेस

पशुओं की छोटी-बड़ी खालों में जो नेत्रजनीय पदार्थ होते हैं, उनके विबन्धन से गोंद का उत्पादन होता है। कई किस्म के गोंद होते हैं, जैसे खाल-गोंद और हड्डी-गोंद। उनकी किस्म कच्चे माल तथा गोंद निकालने के तरीके पर निर्भर रहती है। मछलियों के सिर की मुलायम हड्डियों में से मछली गोंद निकाला जाता है। गोंद की औसत रचना है: कार्बनः ५० प्रति शत; हाइ-ड्रोजनः ६ प्रति शत; नाइट्रोजनः १७ से १८ प्रति शत; तथा ग्लूटीन, जोकि जटिल प्रोभूजिन पदार्थ होता है।

खाल-गोंद चर्म कमाई के बाद व्यर्थ पदार्थों, झालरों, दुम, मांस-रज्जु आदि से प्राप्त होता है। यह करीब

तीन सप्ताह तक चूने में भिगोया जाता है, फिर चूना हटाने के लिए अच्छी तरह धोया जाता है और तब पानी में उबाला जाता है। स्वच्छ घोल संकेन्द्रित किया जाता है और नियंत्रित अवस्था में जमने दिया जाता है। इस प्रक्रिया की सफलता सावधानीपूर्वक संकेन्द्रित करने, जरूरत से ज्यादा गर्म न होने देने तथा नियंत्रित रूप में ठण्डा करने में निहित है।

हड्डी-गोंद

बढ़िया हड्डी-गोंद हड्डी को ८ प्रति शत हाइड्रो-क्लोरिक एसिड में कई दिनों तक डुबाये रखने के बाद मिलता है। जो कड़ी हड्डी बच जाती है, उसे चूने के पानी से सावधानीपूर्वक धोते हैं और फिर गर्म पानी में प्रविलीन कर देते हैं; संकेन्द्रण और ठंडा करने की प्रक्रिया खाल-गोंद की तरह ही है। हाँ, साधारण गोंद पाचन जल से भी प्राप्त किया जा सकता है, जोकि स्नेह से मुक्त कर दिया जाता है। यदि उसमें स्नेह रहा तो फिर उसे संकेन्द्रित किया तथा सुखाया जाता है। यह घटिया किस्म का गोंद होता है, भिर भी बाजार में इसकी काफी खपत है।

सरेस

यह गोंद का अधिक शुद्ध रूप है–रंग-गंध-विहीन। बढ़िया सरेस बछड़ों, मुलायम हड्डियों अथवा जानवरों के बच्चों के चर्म से प्राप्त होता है। सिर्फ पहली बार निकाला सरेस ही इस्तेमाल होता है और वाष्पीकरण के जरिये संकेन्द्रण नहीं होने देना चाहिए। यह वांछनीय है कि मूल पदार्थ को पहले ही शुद्ध कर लिया जाय। फोटोग्राफी में काम आनवाले सरेस को तैयार करने में विशेष सावधानी बरतने की आवश्यकता है और वह सामान्यतः बछड़ों के सिर और पैर के चर्म से तैयार किया जाता है; क्योंकि उससे चमड़ा तैयार नहीं होता। यदि कारीगरों को अच्छी तरह प्रशिक्षित किया जाय तो बिना किसी कठिनाई के इसका उत्पादन किया जा सकता है।

नी-फुट तेल इस उद्योग का अन्य सह-उत्पादन है। यह तेल कई कार्यों में उपस्नेहक के रूप में इस्तेमाल होता है। इस तेल का उपस्नेहन मूल्य इसलिए है कि इसमें दुर्गन्ध नहीं आती। यह तेल बैल, बछड़ों और भेड़ों के पैरों को पानी में उबालने से प्राप्त होता है। तेल का सापेक्षिक गुरुत्व ०.९१–०.९२; रस मूल्य १९४-१९७; और आयोडीन मूल्य ७३-७५ है। औसतन इसमें २ से ३ प्रति शत स्टीयरिक एसिड; १७ से १८ प्रति शत पामीटिक एसिड; ७४.५ से ७६.५ प्रति शत ओलिक एसिड; और ५ से १० प्रति शत ग्लिसेरोल रहता है।

सूखा मांस तो बाजार में उर्वरक के रूप में बिक जाता है; क्योंकि उसमें नाइट्रोजन बहुत ज्यादा होता है। हतजीवाणु मांस-खाद तो मुर्गियों के भोजन का परमावश्यक अंश है और इसकी काफी मांग है। अंतड़ियों का इस्तेमाल मांस-कर्कटी और गटस बनाने में लाभदायक रूप में किया जा सकता है। यदि किसी अंग अथवा अंश का इस्तेमाल नहीं किया जाय, तो उसे उत्तम किस्म की खाद में बदल सकते हैं।

इस बात पर और चर्चा करने की जरूरत है और वह है हारमोन्स निकालना, खास कर वृक्कोपरि ग्रंथि (सुप्रारेनल ग्लैंड) से उपवृक्कि (एड्रीनेलिन) निकालना। ग्रंथियों को पानी में भीगो दिया जाता है; हाइड्रोक्लोरिक एसिड से संयोग करा कर अम्लन किया जाता है; निस्सार का संकेन्द्रण और एड्रीनेलिन हाइड्रोक्लोराइड अलकोहल के जरिये निस्सारित किया जाता है, और मूल अमोनिया के साथ निस्सारित कर लिया जाता है। उपवृक्कि का सूत्र नीचे षट्कोण के रूप में दिया जाता है।

एक सौ किलोग्राम वृक्कोपरि ग्रंथि से करीब १०५ ग्राम उपवृक्कि प्राप्त होता है। यह पूर्ण पारिभाषित रासायनिक संयोग (मिथील एमाइन, एथानोल, कैटेकोल) है।
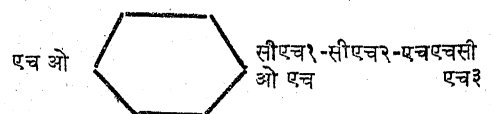
यह सफेद ठोस पदार्थ है, जिसका द्रावांक २११° से २१२° है।

कलकत्ता : ३ अप्रैल १९६३

गोबर गैस संयंत्र से बचत

हर्षवदन जयकिशनदास दलाल

वर्धा जिले (महाराष्ट्र) की दत्तापुर कोढ़ी बस्ती में सितम्बर १९६१ में एक गोबर गैस संयंत्र लगाया गया। उसके आर्थिक पहलू का अध्ययन यह दर्शाता है कि उससे अन्य लाभों के अलावा जलावन-खर्च में भी काफी बचत होती है।

वर्धा (महाराष्ट्र) के निकट दत्तापुर कोढ़ी बस्ती में सितम्बर १९६१ में खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की देखरेख में एक गोबर गैस संयंत्र* स्थापित किया गया। इस संयंत्र के आकार, क्षमता तथा अन्य चीजों सम्बन्धी जानकारी इस प्रकार है:

अ. गैस संयंत्र के पाचित्र (डाइजेस्टर) का आकार—गहराई २० फुट; व्यास ११ फुट।

आ. गैस-होल्डर का आकार—ऊंचाई ४ फुट; व्यास १० फुट।

इ. तीन इंच वाटर कालम दबाव पर गैस होल्डर की क्षमता—एक बार में २७५ घनफुट।

ई. गोबर और पानी पाचित्र में डालने की दैनिक औसत मात्रा (अनुपात २ : ३ में,—११० बाल्टी।

उ. जानवरों की संख्या—७०।

संयंत्र, पाइप बैठाने, तीन स्टोव, मीटर आदि की कीमत ४,२९१.०४ रुपये अर्थात् ४,३०० रुपये है, जिसमें ७६५ रुपये कीमत का लगा वह श्रम भी शामिल है जो कि स्थानीय लोगों ने खुदाई, निर्माण आदि के वक्त किया।

संयंत्र की निर्धारित क्षमता ५०० घनफुट है। अप्रैल १९६२ से मार्च १९६३ तक की अवधि में गैस का उत्पादन अमूमन तौर पर प्रति दिन ४०० घनफुट से ७०० घनफुट तक होता रहा, जैसा कि नीचे दिखाया गया है:

माह	गैस उत्पादन
सितम्बर १९६२ से दिसम्बर १९६२ तक ..	४०० से ५०० घनफुट
अगस्त १९६२ और जनवरी १९६३ तक ..	५०१ से ६०० घनफुट
अप्रैल १९६२ से जुलाई १९६२ तथा फरवरी १९६३ से मार्च १९६३ तक	६०१ से ७०० घनफुट

औसतन प्रति दिन ५५७ घनफुट गैस इस्तेमाल के लिए उपलब्ध थी।

गैस का इस्तेमाल बस्ती के निवासियों के लिए रसोई बनाने में किया जाता है।

इस गैस संयंत्र के निर्माण के फलस्वरूप अप्रैल १९६२ से मार्च १९६३ के बीच जलावन के खर्च में जो बचत हुई है, उसका विवरण अगले पृष्ठ पर दिया गया है।

गोबर गैस के इस्तेमाल के फलस्वरूप जलावन के खर्च में प्रति वर्ष ८०९ रुपये की बचत हुई।

पूंजी लगाने का लाभ: गैस संयंत्र के निर्माण और स्थापन में जितनी पूंजी लगी, उसमें से उसके संचालन तथा रख-रखाव पर होनेवाले खर्च, घिसाव और पूंजी

---

* गत वर्ष फरवरी १९६२ में—दिसम्बर १९६१ और जनवरी १९६२ में प्राप्य आंकड़ों के आधार पर—इस संयंत्र की लाभ-हानि का हिसाब लगाया गया था, जो कि **खादी ग्रामोद्योग** के अगस्त १९६२ के अंक में (पृष्ठ: ७३०-७३२) एक लेख के रूप में प्रकाशित किया गया था। —सम्पादक

दत्तापुर के गोबर गैस संयंत्र का कार्य-विवरण

१. यदि गैस संयंत्र नहीं बैठाया जाता तो जलावन पर होनेवाला खर्च (केन्द्र के लेखे पर आधारित)

अ. अक्तूबर १९६० से सितम्बर १९६१ के बीच २३० व्यक्तियों की रसोई बनाने में लकड़ी की खपत .. .. १,५६२ मन

आ. सन् १९६२–६३ के दरमियान आठ नये व्यक्तियों की रसोई बनाने में खर्च हुआ होता ईंधन .. .. ५४ मन

१,६१६ मन

१. सन् १९६२–६३ में प्रचलित १.८४ रुपये प्रति मन की औसत दर से १,६१६ मन लकड़ी की कीमत .. २,९७३ रुपये

२. सन् १९६२–६३ में २३८ व्यक्तियों का प्रति दिन भोजन तैयार करने में लकड़ी और गैस पर होनेवाला औसत खर्च

अ. लकड़ी–८२०.५ मन; १.८४ रुपये प्रति मन की दर से .. १,५१० रुपये

आ. गैस–५५७ घनफुट प्रति दिन

१. गैस संयंत्र की लागत पर पूंजी-प्रभार (अनुमानित आयु ३० वर्ष).. ४,३०० रुपये

घिसाव .. .. १४३ रुपये
ब्याज ६ प्रति शत की दर से .. .. १२१ रुपये

२६४ रुपये

२. रख-रखाव खर्च* .. .. २५ रुपये

३. प्रति दिन गैस संयंत्र में ११० बाल्टी गोबर और पानी डालने की मजदूरी

२ व्यक्ति दो घंटे प्रति दिन काम करते हुए ३६५ दिन; प्रति व्यक्ति ५० नये पैसे की दर से। } ३६५ रुपये=६५४ रुपये=२,१६४ रुपये

गैस संयंत्र की स्थापना के बाद दूसरे वर्ष जलावन के खर्च में हुई खालिस बचत .. ८०९ रुपये

संयंत्र के संचालन खर्च, घिसाव और संयंत्र की कीमत ४,३०० रुपये पर ६ प्रति शत ब्याज बाद करने के पश्चात् खालिस लाभ १८.८%

* संयंत्र के रख-रखाव पर अक्तूबर १९६१ से मार्च १९६३ तक की अवधि में असल में जो खर्च हुआ, वह नगण्य था। प्रति वर्ष २५ रुपये का जो अनुमान लगाया गया है, वह रबड़ नलियां बदलने, पेण्ट आदि करने के लिए है।

पर ६ प्रति शत ब्याज बाद देने के पश्चात् शुद्ध लाभ १८.८ प्रति शत हुआ। इस प्रकार गैस संयंत्र की लागत सवा पांच वर्ष की अवधि में चुकता हो जाती है।

गैस की कीमत

सन् १९६२–६३ की अवधि में २,०३,००० घनफुट गैस खर्च हुई और उसका उत्पादन मूल्य ७९१ रुपये पड़ा।

इस प्रकार गैस का मूल्य प्रति १,००० घनफुट के लिए ३.२२ रुपये पड़ा।

अक्तूबर १९६० से सितम्बर १९६१ के बीच जबकि जलावनवाली लकड़ी की कीमत १.७३ रुपये प्रति मन थी, वह अप्रैल से मार्च १९६३ के बीच १.८४ रुपये प्रति मन रही अर्थात् उसके मूल्य में ६.३ प्रति शत वृद्धि हुई। लकड़ी के वदले गैस का इस्तेमाल करने से लकड़ी की कीमत में वृद्धि होने से जो खर्च बढ़ता है उससे भी पूर्ण रक्षा होती है।

सन् १९६२–६३ की अवधि में २,०३,००० घनफुट गैस की खपत हुई, जिससे करीब ८०० मन लकड़ी की बचत हुई। इस प्रकार रसोई बनाने में करीब २५४ घनफुट गैस एक मन लकड़ी के बदले इस्तेमाल की जा सकती है।

गैस संयंत्र की स्थापना से कुछ परोक्ष लाभ भी हुए। गैस संयंत्र से उच्च स्तरीय पाचित गोबर प्राप्त होने लगा, जिसमें १.५ प्रति शत नाइट्रोजन होता है जबकि सादे गोबर की खाद में ०.७ प्रति शत ही। प्रति वर्ष करीब ८०० मन लकड़ी की बचत हुई, जिसकी बड़ी कमी है; और रसोई बनाने की अवस्था में भी सुधार हुआ तथा धुएँ से भी रक्षा हुई। यहाँ यह भी बताया जा सकता है कि खाद के गड्ढे से जो खाद प्राप्त होती है उससे तुलना करने पर पता चलता है कि उसी ढोर से ५० प्रति शत अधिक खाद प्राप्त हुई।

बम्बई: २२ मई १९६३

●

वस्त्रोद्योग का प्रारम्भिक उद्भव

मैनचेस्टर के विकास का श्रेय वस्त्रोद्योग को है, जिससे कि उसका सदियों से सम्बन्ध रहा है। इस लेख में इस उद्योग के प्रारम्भिक वर्षों की समीक्षा दी जा रही है।

मैनचेस्टर का नाम दो अलग-अलग समय के विशिष्ट प्रकार के वस्त्रों के साथ जुड़ा हुआ था : सन् १५४० वाले वर्षों में लंकाशायर के ग्रामीण बुनकर मोटा रोएँदार ऊनी कपड़ा, जो 'मैनचेस्टर-कॉटन' के नाम से जाना जाता था, बनाते थे। यह वेस्टरपोरलैंड तथा वेल्स के क्रमशः 'केंडल' और 'वेल्स कॉटन' के समान होता था। 'कॉटन' याने रोएंदार, बालदार वस्त्र। इस अर्थ में यह जर्मन-मूल से निकला हुआ माना जाता है और अरबी 'कुतुन' से निकले हुए रेशे या तंतु के नाम से यह संबंधित नहीं है। जैसा कि १५९० में लिखे वर्णन से ज्ञात होता है, इन सस्ते ऊनी कपड़ों के कारण मैनचेस्टर उस 'काउंटी का प्रथम नगर हो गया। दो सौ साल बाद भारी सूती वस्त्र (जैसा कि आज के अर्थों में माना जाता है) ने मैनचेस्टर को विश्व-विख्यात बना दिया। इंग्लैंड के अन्य कई ग्रामीण क्षेत्रों के समान मध्य युग में लंकाशायर में वस्त्र व्यापार अच्छी तरह जम गया था। ऊन और पटुआ (लीनन) वहां प्रशोधित होते थे और वे आयरलैण्ड से लाये जाते थे। सन् १२९५ के एक भूमि-बिक्री संबंधी शर्तनामें में 'अलेक्जा-डर-ले-टिंक्टोर-डी-मेमेस्तेरे' नामक एक रंगरेज का उल्लेख है। खनिज क्षार रहित (मृदु) जल और सस्ती 'घासवाली' जमीन धोबियों, रंगरेजों और समापन क्रिया करनेवालों के लिए उपयुक्त होती थी। पटुआ-बुनाई के प्रसंग में, सन् १७०० से, मैनचेस्टर के आस-पास के क्षेत्र के धोबियों (ब्लीचर) से संबंधित उल्लेख अधिकाधिक मिलते हैं। परन्तु इस नगर का वास्तविक विकास तो कपास उद्योग और कपास के व्यापार के फलस्वरूप ही हुआ।

पूरे मध्य युग में पहले ऊनी और बाद में सूती कपड़ों का व्यापार ब्रिटेन की अर्थ-व्यवस्था की सर्वाधिक समृद्धिशाली शाखाओं के रूप में बना रहा। उन्हें सम्राट का आश्रय मिला और देश के बहुत महत्व के रेशे के तौर पर ऊन उत्पादन को संरक्षण देने की दृष्टि से प्रसारित की जाने-वाली राजाज्ञाओं की लम्बी विरासत भी प्राप्त हुई। सन् १६०० के बाद से ही रुई प्रशोधन ने इंगलैण्ड में शनैः शनैः पैर जमाये। फ्लेमिरा (टोडापट्टीवाले) निर्वासित, जिनमें अधिकांश बुनकर और अन्य वस्त्र कला के शिल्पी ही थे, इंग्लैंड आये और साथ में उन वस्त्रों के विविध प्रकारों की लोकप्रियता भी लाये, जिनकी नवीनता मुख्यतः रेशम या सूत के मिश्रण से कपड़ा बनाने में या केवल उनके अलग-अलग उपयोग से कपड़ा बनाने में थी। जहां कारीगरों के श्रेणी-संगठन पहले से ही स्थापित थे, उन नगरों में तो इन निर्वासितों को काफी दिक्कतें उठानी पड़ीं, परन्तु मैनचेस्टर जैसे खुले कस्बों में इनका बड़ा स्वागत हुआ। किसी भी निर्वासित को वार्षिक ४ पेंस की दर से ईंधन और करघे बनाने के लिए लकड़ी काटने की इजाजत थी। देहातों में किसी तरह की ऐसी प्रशासनिक या व्यापारिक रुकावटें न थीं, जो कि इस घरेलू वस्त्रोद्योग के तीव्र विकास में बाधक बनती। फलतः मैनचेस्टर में और उसके आस-पास काफी मात्रा में तरह-तरह का कपड़ा बनने लगा।

पटुआ (लीनन) बुनाई, जैसा कि ऊपर बताया गया है, मैनचेस्टर में अच्छी तरह जड़ पकड़ चुकी थी। निर्वासित लोगों ने इसके व्यापक अनुभव को मिश्रित कपड़े के उत्पादन में अपने कौशल के साथ मिलाया। हां, यह सही है कि रेशम इन पिछड़े

ग्रामीण क्षेत्रों में ठीक स्थान न पा सका; क्योंकि उसे वहां के शासकीय अभिजात वर्ग का संरक्षण प्राप्त नहीं हो सका था। फिर भी, वहां की आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियां इसके अनुकूल थीं कि लम्बे रेशों को ऊनी दुबटे (वर्स्टेड) का उपयोग हो। बाद में तो रुई का भी विशेष उपयोग होने लगा। श्रेणी-संगठन का दबाव न होने से लंकाशायर के बुनकरों तथा वस्त्र व्यापारियों के लिये यह सम्भव हो सका कि वे विविध और बढ़िया भांतों, शैलियों के लिए प्रयत्न करें। मैनचेस्टर के व्यापारी उस सुविधा से वंचित थे, जो श्रेणी संगठनवाले व्यापारियों को सहज उपलब्ध थी, जैसे विशेष मात्रा में उन्हें पूंजी प्राप्त होना। परिवहन-साधन भी कम थे। इसलिए "मैनचेस्टर में जो सामान बनाया जाता था, वह छोटा-छोटा और विविध प्रकार का होता था, अतः वे अपनी दूकानें छोटी चीजों, जैसे पिनें, सुइयां आदि से ही भरी रखते थे। यह वर्णन फुलर (Fuller) ने बड़ी नम्रता, परन्तु गौरव भाव से किया है, फिर भी काफी प्रशंसनीय वर्णन के रूप में वह है। एक सावधान वर्णनकर्त्ता के रूप में न सिर्फ उन्होंने सूत और मोटे कपड़े का जिक्र किया है, बल्कि तमाम चीजों की एक सुन्दर झांकी भी प्रस्तुत की है, जो इस प्रकार है : "अतः बहुत सारी चीजें होने से, जिनकी गणना करना या उन्हें याद रखना मेरे लिए कठिन है, यह एक सुरक्षित उपाय होगा कि मैं उन सबको 'मैनचेस्टर टिकिन' में लपेट लूं और उन्हें पिनें लगा दूं (ताकि उनका गिरना या फैल जाना रोका जा सके) अथवा उन्हें टेप से बांध लूं (अच्छा बंधा तो अच्छा मिला) और फीते तथा नुकीले सिरों से भी लपटे लिया जाय, जोकि सभी उसी जगह बनाये जाते हैं।" —वर्दीज ऑफ् इंग्लैंड, १६६२।

मैनचेस्टर तथा आस-पास के कस्बों में चन्द मेले लगते थे। एक बड़े बन्दरगाह से उसका सम्बन्ध भी काफी बाद में हुआ। मध्य युग के समान मैनचेस्टर का व्यापार लद्दू घोड़ों पर ही निर्भर रहता था, जोकि उसके परिवहन के मुख्य साधन थे। इंग्लैण्ड के उत्तर में इन घोड़ों के लिए नदियों पर पुल भी बनाये गये थे। ये पुल पत्थर के थे और ऊँची-ऊँची दीवारों से घिरे रहते थे, ताकि घोड़े और उन पर का सामान अगल-बगल में गिरे भी तो उठाया जा सके। इस तरह भारी सामानों से लदे जानवरों को लिये हुए लंबी-लंबी कतारों में मैनचेस्टर के लोगों का उन रास्तों पर जाना-आना उन दिनों आम तौर पर देखा जाता था, ऐसा डेफो (Defoe) ने अपने 'टूर थ्रू दि होल आयलैंड ऑफ् ग्रेट ब्रिटेन' (१७२४–७) में लिखा है। उन्होंने देश के प्रत्येक हिस्से में मेलों और बाजारों की उनकी यात्राओं का भी जिक्र किया है, जहाँ वे फुटकर बिक्री के स्थान पर दूकानदारों को थोक भाव पर चीजें बेचते थे और वह भी दीर्घ-कालीन उधारी पर।

वस्त्र संबंधी प्रवृत्तियों की नयी शाखा

ये विविध छोटे-छोटे सामान आदि (बिसाती द्वारा बेचे जानेवाले) मूलतः मैनचेस्टर के सन (फ्लैक्स) आदि से बनाये जाते थे, लेकिन यह संभव है कि सूती सूत भी १६५० के आस-पास कभी-कभी मिश्रणार्थ उपयोग में लिया जाता रहा हो, खास कर छोटे टेपों के लिए। फ्लेमिश (टोडापट्टी) बुनकरों ने वस्त्रोद्योग की इंग्लैंड में एक नयी शाखा का सूत्रपात किया, जिससे यूरोप के कई देशों में व्यापारिक लाभ की काफी चीजें बनने लगीं, जैसे मोटे सूती कपड़े। इस मोटे कपड़े फस्टेन (Festian) का, जो पटुआ के ताने और कपास के सूत के बाने से बनता था, जिक्र पहली बार 'नेपल्स के कपड़े' (फस्टेन डी नेपल्स) के नाम से सन् १५५४ में हुआ है। यह एक अच्छी किस्म थी, जिसमें लंबे रेशे के दुबटे ऊनी सूत का मेल भी होता था। मैनचेस्टर ने इस सस्ते मोटे कपड़े में विशेषज्ञता प्राप्त करना शुरू किया और दूसरे नगरों से होनेवाली प्रति-स्पर्धा शीघ्र ही समाप्त कर दी। पर लंदन के ऐसे कपड़े के व्यापारी उस खतरे को समझने में असावधान न थे, जो लंकाशायर जैसे खुले जिलों से आता हुआ दिखाई दे रहा था। सन् १६२१ में, जब कि शाही अधिकारियों के साथ—जिन्होंने श्रेणी बुनकरों के बुने हुए कपड़ों का सर्वेक्षण तो किया था, परन्तु ग्रामीण घरेलू कारीगरों के

वस्त्र विन्यास का सर्वेक्षण, किस्म तथा सही नाप के लिए, नहीं किया था—चख-चख शुरू हुई, तो लंदन के कपड़े के व्यापारियों ने संसद के सामने आवेदनपत्र पेश करते हुए बताया था कि किस प्रकार "करीब २० वर्ष पहले इस राज्य में, खास कर लंकाशायर की काउंटियों में, विभिन्न प्रकार के लोगों ने ऐसे अन्य तरह के मोटे सूती कपड़े का व्यापार खोजा, जो सेमल या 'डौने' (Downe) के ढंग का बनता था। ये जमीन पर उगनेवाले फूल हैं और झाड़ी या क्षुप में लगते हैं,... साधारण रूप से ये 'कपासिया ऊन' के नाम से जाने जाते हैं। अधिकांश रूप में स्कॉटलैंड से आनेवाले पटुवा सूत से भी यह बनाया जाता है..."

ऐसा कहा जाता है कि ऐसे मोटे कपड़ों के ४०,००० अदद उस समय इंग्लैंड में प्रति वर्ष बनाये जाते थे। इस (वजनदार) कपड़े में 'पटुवा सूत' के साथ सुती सूत का जो मेल होता था, उसे बनाने का अनुभव, फिर पटुवा-कपास के सूत के मिश्रण से बुने (हल्के-फुलके) कपड़े बनाने का अनुभव और, कदाचित् इन मिश्रित कपड़ों को साफ करने, रंगने तथा समापन करने में प्राप्त कौशल, ये सभी सूती कपड़े के उद्योग के उचित, परन्तु क्रमिक विकास के लिए बहुत मूल्यवान और गति देनेवाले साबित हुए।

पुरस्कर्ता

मैनचेस्टर का सूती कपड़े का उत्पादन और व्यापार उस प्रारंभिक काल में व्यक्तिगत मालिक और रोजी देनेवालों के अधिकार में था और वे वह सूत उन किसान-बुनकरों को देते थे, जो आस-पास के देहातों में रहते थे। सत्रहवीं सदी के इन मध्यस्थों में से बहुत-कुछ लोग बड़े सफल स्थानीय व्यापारी थे और उनमें से कुछ के तो नाम भी दर्ज हैं। मैनचेस्टर का पहला परिवार, जिसने कपास के सूत और उसके बने मोटे कपड़े के व्यापार में कीर्ति और संपत्ति पायी, 'चेथमस' नाम का था। प्रथम राजवंशीय एडवर्ड ने अपने को 'व्यापारी' की संज्ञा से ही १५४१ में जाहिर किया था और यही उसके पुत्र जेम्स ने किया, जो मैनचेस्टर का एक विशिष्ट मध्यस्थ (व्यापारी) था। उसके पोते हेनरी (१६०३ ई.) ने अन्य चीजों के साथ-साथ टाट का भी व्यापार किया था। अगली पीढ़ी में, हेनरी के चार लड़कों ने अपना कारोबार लंकाशायर की सीमा के बाहर फैलाया। दो भाई, जॉर्ज (१५७६–१६२६) और हैम्परी (१५८०–१६५३) ने, जो कि सेना में दाखिल हो गये थे, अपने को "कपड़ा और अन्य सामान खरीदने-बेचनेवाले साझीदार-व्यापारी" बताया था तथा यह भी कि "उन्होंने १०,००० पौंड की संयुक्त पूंजी लगा रखी है।" जॉर्ज ने लंदन के घर से और हैम्पर ने मैनचेस्टर से इस काम का निर्देशन किया। उनके कारोबार के छः माह (१६२६ में) के विवरण का स्तर सुरक्षित रखा गया है। इस अवधि में कुल ३६.५ 'ऊनी' पैकेट खरीदे गये, जिनमें से ३० थोक भाव से और ४.५ खुदरा रूप में बेचे गये। यह 'ऊन' या जैसे कि कागजात में अधिकतर उल्लेख है, 'सायप्रस वूल', सूत था। एक पैकेट २४० पौण्ड का होता था और उसकी कीमत २० पौंड से २१ पौण्ड तक थी। इस तरह उक्त अवधि में फर्म का अकेले सूती कपड़े का कुल लेन-देन ७०० पौंड का हुआ था। ग्रामों के बुनकरों द्वारा उक्त साझेदारी फर्म के लिए बुना हुआ कपड़ा लंदन में ३० से ४८ अदद का एक-एक पैकेट बनाकर भेजा गया, जो वहाँ १४ शिलिंग और २५ शिलिंग ६ पेंस प्रति नग की दर से बेचा गया। अगस्त और सितम्बर १६२६ में १,०५१ अदद के २७ पैकेट, जिनकी कीमत १,०८४ पौंड थी, उक्त साझेदारों के लिए जहाज से भेजे गये। यह कहना संभव नहीं है कि यह औसत 'डिलिवरी' का प्रतिनिधित्व है या नहीं। परन्तु व्यापार-पत्रकों से यह स्पष्ट हुआ है कि उक्त दो चेथम भाइयों ने कई हजार पौंड का लेन-देन प्रति वर्ष अवश्य ही किया होगा।

हैम्परी यद्यपि देहात में व्यापार करता था, पर अत्यधिक बौद्धिक अभिरुचि का आदमी था। अपनी संपत्ति का कुछ हिस्सा उसने जमीन खरीदने में लगाया था, जो उन लोगों के लिए सामान्य बात थी जिनके पास कुछ संपत्ति होती थी। परन्तु उसकी बहुत स्मरणीय और

स्थायी वसीयत है, बच्चों के लिए स्कूल की स्थापना और सार्वजनिक ग्रंथालय, जो उसने अपने मैंनचेस्टरवाले मकान में स्थापित किया था और जो आज भी उसके सार्वजनिक सेवाभाव के प्रतीक के रूप में विद्यमान है। हैम्परी चेथम आराम पसंद स्वभाव का था और बड़प्पन के लिए होनेवाली होड़ से अलग रहता था, यद्यपि उसके समय के कई पूंजीवाले और व्यापारी ऐसा करना चाहते थे। उसने संसद (लार्ड सभा) की आजीवन सदस्यता ग्रहण करने के आमंत्रण को भी ठुकरा दिया था, पर इसलिए नहीं कि उसके लिए काफी शुल्क अदा करना पड़ता था, जिससे कि वह निरुत्साही हो गया हो। अपने जन्म स्थान में तो उसकी संपत्ति सब पर अच्छी तरह से जाहिर थी। जब वह १६३५ में लंकाशायर का शेरीफ बना था, उस सिलसिले में फुलर ने लिखा है: "वह बहुत सुसंस्कृत और सभ्य था, जन्म और संपत्ति से। जूरियों के बीच जब वह बैठता था, तो उसके वस्त्र इस बात को दिग्दर्शित करते थे कि उसके प्रति उसके साथियों का कितना वास्तविक लगाव था....।"

सब से अगुआ वस्त्रोद्योगी नगर

फिर पूरी एक शताब्दी या करीब उतनी अवधि तक, जब तक कि व्यापक तकनीकी और रासायनिक प्रगति का काल (करीब १७५० तक) नहीं आया, मैंनचेस्टर के वस्त्रोद्योग का नाम पीछे पड़ गया। वह समय कुछ सुस्ती का था, पर उसका सतत विस्तार और परिणाम मैंनचेस्टर ने देखा, जिसने बाद में देश में सबसे अगुआ शहर बनकर यूरोप के सूती वस्त्रोद्योग के काम में उच्चतम स्थान, बिना किसी संघर्ष के प्राप्त कर लिया। यह विलक्षण प्रगति उस खुशी के सह-अस्तित्व पर आधारित थी, जो पटुवा, पटुवा-कपास और उस क्षेत्र की मोटे सूती कपड़े की बुनाई में विद्यमान था। उक्त कार्य में प्राप्त संचित अनुभव सूती वस्त्रोद्योग के लिए लाभदायक रहा। यह उद्योग उपर्युक्त कपड़ों के व्यापार की परंपरा में था, जिसने संवैधानिक लाभ भी अपने लिए प्राप्त कर लिया। पटुवा और सूती मोटे कपड़े के साथ-साथ चलनेवाले व्यापार में श्रेणी संगठन की कोई रुकावट नहीं थी। कच्ची सामग्री के तौर पर उपयोग में आनेवाली कपास के कारण पटुवा-बुनाई व्यापार को, जो वहाँ या अन्यत्र समान रूप से गिरता जा रहा था, इस योग्य बना दिया कि उसे पटुवा मेल की शैली में बदल दिया जाय। फिर, मोटे सूती कपड़े के व्यापार के साथ के इस गहरे मेल से 'कैलिको' कपड़े के निर्माण में और उसकी छपाई में आनेवाली रुकावटें दूर करना भी सम्भव हुआ।

लगभग १७०० में भारत से यूरोप में निर्यात कपड़े (कैलिको) ने अपने आकर्षण, बढ़िया किस्म और सुंदर रंगीन डिजाइनों के कारण बड़ा उत्साह पैदा कर दिया। इंग्लैंड के समाज को वह एक दैवी उद्बोधन जैसा लगा; क्योंकि अपने देश में बनी मोटी और गहरी ढंग की सामग्री से वह ऊबता जा रहा था। उस समय के वाणिज्य-सिद्धांतों पर चलनेवाली सरकारों ने स्वदेशी वाणिज्य के संरक्षणार्थ दूसरे देशों से आनेवाली विलासिता की सामग्रियों के आयात को दबाने का प्रयास किया। इंग्लैंड में १७२१ के एक अधिनियम ने न केवल छपे हुए, रंगीन या रंगीन 'कैलिको' के उपयोग पर ही प्रतिबंध लगाया, बल्कि यह प्रतिबंध "कपास या उससे मिश्रित किसी भी अन्य ऐसे कपड़े पर लगाया, जो किसी रंग या कई रंगों में छापा जानेवाला हो या 'कैलिको' के-से चारखानों में रंगे या धारीदार... या सिला हुआ अथवा किसी रंग या रंगों सहित बाहरी भागों में पुष्पांकित किया गया हो या वहाँ पुष्पों की छपाई की गयी हो (मलमल, गुलूबंद और एक प्रकार के मोटे कपड़े को छोड़कर)।" बिल्कुल नीले रंग के 'कैलिको' पर, खास कर जिसका उपयोग 'स्प्रॉन' (धूल आदि से वस्त्रों की रक्षा करने के लिए ओढ़नी का-सा आच्छादन) तथा स्मॉक फ्रॉक (किसानों की अधबहियों) के लिए किया जाता था, प्रतिबंध नहीं था।

इस कानून में मैंनचेस्टर के लिए दिलचस्पी की बात यह थी कि वहाँ के बने मोटे कपड़े पर प्रतिबंध नहीं लगाया

गया था, जिसके फलस्वरूप उसके उद्योग को कानून के प्रतिबंध से बचाव मिल गया। इस कानून के पीछे तर्क यह था कि इंग्लैंड में उत्पादित वस्त्रों की छपाई हो सके, बशर्ते कि ऐसा होने पर भारत के असली 'कैलिको' के साथ विभ्रम होने की कोई संभावना न हो। भारत का 'कैलिको' इंग्लैण्ड के मोटे कपड़े की तुलना में इतना अधिक महीन था कि वह कपड़े के प्रतिबंध लगाने के नियमों के अन्तर्गत नहीं आता था। लंकाशायर के बुनकरों को मोटे कपड़े (फस्टेन) की छपाई का विकास करने की सुविधा मिल गयी; क्योंकि कपास के ताने के साथ सन के बाने के स्थान पर पटुआ के बाने पर छपाई होने लगी। इस तरह पहले का मोटा कपड़ा अब काफी अधिक हल्का होने लगा। 'कैलिको' के साथ इन कपड़ों की फिर भी इतनी अधिक समानता थी कि नार्विक ऊन उत्पादकों ने मैनचेस्टर के बुनकरों के खिलाफ मुकदमा (सन् १७३५ में) दायर किया। उस मुगदमे में यह दावा किया गया था कि जो छपा हुआ कपड़ा (फस्टेन) बेचा जा रहा है, वह अधिनियम का उल्लंघन करता है। पटुआ आदि ने अधिनियम से बचने के लिए फस्टेन की नकल की। इस मामले का फैसला १७३६ में एक संसदीय समिति ने मैनचेस्टर के पक्ष में दिया।

यद्यपि नार्विक बुनकरों का मामला कानूनी दृष्टि से मजबूत था, पर कमजोरी यह थी कि मैनचेस्टर के व्यापारी मालिकों के पक्ष में किफायतसारी के साथ ही उपभोग करनेवालों की इच्छाएँ भी थीं। सन् १७३६ के निर्णय ने ऊन के ताने के साथ सूती सूत के बाने की अनुमति दी, नव पारिभाषिक फस्टेन की छपाई के आदेश की पुनः पुष्टि की और इसके साथ ही रूई और सन के सूत से मिश्रित सूत (सूती-सन) की बुनाई के लिए प्रति गज ३ पेन्स उत्पादन-शुल्क निर्धारित करके स्वीकृति दे दी। अंततः सन् १७७४ में १७२१ के अधिनियम को खंडित कर दिया गया और आधिकारिक रूप से सभी सूती वस्त्रोत्पादन के लिए छपाई की अनुमति दे दी गयी।

भारत के 'कैलिको' फिर भी लंबे अरसे तक मैनचेस्टर के उत्पादन की तुलना में गुण और मात्रा दोनों में श्रेष्ठ रहे। लंकाशायर के सूतकार, बुनकर और छापेसाज भारत के शिल्पियों की बराबरी में नहीं आ सके; क्योंकि भारत की मलमल इतनी उन्नति कर गयी थी कि वह बहुत ही महीन होती थी तथा उसकी छपाई पूर्व देशीय पुष्पोद्यानों की तरह विविध रंगों की होती थी। भारतीय 'कैलिको' के लंदन स्थित निर्माताओं–प्रधानतः ईस्ट इण्डिया कम्पनी–और उस वक्त द्रुत गति से विकासोन्मुख लीवरपुल बन्दरगाह से सामान भेजनेवाले मैनचेस्टर उत्पादन के व्यापारियों के मध्य मुख्यतः अफ्रीका तथा अमेरिका स्थित उपनिवेशिक बाजारों में डटकर व्यापारिक संघर्ष चला। उनका यह संघर्ष १७२०–५० की अवधि में अपनी चरम सीमा पर था। समुद्र पार के ये क्षेत्र इंग्लैण्ड के प्रदेशों में उत्पादित सादे चौखाने और धारीदार डिजाइन काफी मात्रा में लेते थे। इसके साथ ही उनसे आमदनी भी इतनी होती थी कि वह इंग्लैण्ड में अन्य किसी भी प्रकार के व्यावसायिक लाभ से कितनी ही अधिक थी। इस प्रकार की आमदनी मैनचेस्टर के सूती वस्त्रोद्योग का विकास करने में बहुत बड़े महत्व की थी। औपनिवेशिक बाजार के लिए होनेवाले संघर्ष और उससे प्राप्त अनुभव ने लंकाशायर के सूती वस्त्रोत्पादन के परिपूर्ण तकनीकी विकास को आगे बढ़ाने में बहुत बड़ी भूमिका अदा की।

भारतीय वस्त्रों की लोकप्रियता

मैनचेस्टर की सामग्री ने वेस्ट इंडीज और उत्तरी अमरीका में बड़ी सरलता से अपने पैर जमा लिये। माल की डिलीवरी यहाँ मुख्यतः बगीचों में काम करनेवाले गुलामों के लिए होती थी; क्योंकि उन्हें अपने मालिकों की ओर से मिलनेवाली चीजें ही लेनी पड़ती थीं। पर अफ्रीका का मामला बिल्कुल अलग था; क्योंकि वहाँ के गुलाम लिवरपुल में आधारित त्रिभुजाकार व्यापार के एक अंग के रूप में खरीदे जाते थे। बिक्री अथवा वस्तु-विनिमय (बार्टर) के लिए इस

बाजार में दिये जानेवाले सूती वस्त्रों का गुण-स्तर निग्रो लोगों के स्तर के मुताबिक रखना पड़ता था; क्योंकि वे आसानी से संतुष्ट होनेवाले नहीं थे। ये लोग 'टाक्स' सूती वस्त्र पहनने के आदी थे—क्योंकि वहाँ की गर्म आबोहवा के लिए ये कपड़े सर्वोत्तम थे—और एक जमाने से खुद सूती मोटे कपड़े बनाने और उन्हें नीले और सफेद रंग में रंगने के काम से परिचित थे। भारत के कपड़े, जो ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापारिक लाभ की दृष्टि से इंग्लैंड में पुनर्निर्यात के लिए आयात करने दिये जाते थे, महीन तथा विविध रंगों व भांतों के होने के कारण अफ्री का में शीघ्र ही लोकप्रिय बन गये। वस्तुतः उस समय अफ्रीका में व्यापार करनेवाले व्यापारी के लिए असली भारतीय 'कैलिको' रखना व्यापार की एक अत्यावश्यक वस्तु थी। अफ्रीका के व्यापार के लिए जिस प्रकार के सूती वस्त्र की सर्वाधिक मांग थी, वह था नीली और सफेद धारीवाला लुंगी वस्त्र (Loin) जिसे वहाँ 'अन्नावास्सेस' कहा जाता था। मोटे पटुआ के वस्त्र और वे भी मलिन रंग के, वहाँ नहीं टिक पाते थे। इसी तरह के वस्त्र बेचने का प्रयत्न मैनचेस्टर के व्यापारियों ने पहले वहाँ किया था, पर उन्हें अफ्रीकावासियों ने ठुकरा दिया। वे मोटा सर्ज जैसा ऊनी कपड़ा—जो रैण्टर्स,' परपेट्स' या 'लांग सेल' के नाम से प्रचलित था—यदि वह चमकीले नीले अथवा हरे रंग में रंगाया हो (छपा हुआ नहीं) और मजबूत कागज के कवर में पैक किया गया हो तथा जिस पर रॉयल अफ्रीकन कम्पनी का प्रभोत्वात्पादक हाथी-वाला व्यापार चिन्ह हो, तो खरीद लेते थे। अफ्रीकी लोग फूलों के डिजाइन से सुसज्जित बैंगनी और सिंदूरिया रंग के रेशमी वस्त्र भी खरीदते थे। फिर भी, जब उन्हें अपने मन से चुनाव करने की छूट होती, तो वे सूती वस्त्र ही पसंद करते।

केप कोस्ट कैसल के गवर्नर के १७०६ में दिये गये एक प्रतिवेदन में बताया गया है कि "ईस्ट इंडिया के कपड़े ही बिकने योग्य हैं, न कि उनकी नकल करके बनाये गये वस्त्र।" सन् १७२४ में भी उक्त गवर्नर ने लिखा है कि "व्हायद में बने वस्त्रों की नकल करके बनाये गये वस्त्रों का बाक्स... इतना भारी होने की वजह से यहाँ के आदिम लोगों द्वारा स्वीकृत किये जाने के स्तर से बहुत निम्न कोटि के पड़ते हैं।"

इतना होने पर भी मैनचेस्टर के उत्पादकों ने अपने उत्पादनों के रंग और डिजाइनों में जो सुस्थिर, ठोस सुधार किया उसके फलस्वरूप उनके प्रयासों के फल सामने आने लगे। इस तरह १७४४ में ईस्ट इंडिया कम्पनी के मद्रास स्थित एजेन्ट को इस आधार पर अफ्रीका के लिए जहाज से भेजी जानेवाली छींट की मात्रा में कमी करने का निर्देश दिया गया कि इंग्लैंड में वस्त्रों की छपाई की तकनीक में इस कदर प्रगति कर ली गयी थी कि केवल बहुत ऊंचे दर्जे के भारतीय शैली के वस्त्र के लिए ही प्रतिस्पर्धा में सफलतापूर्वक टिकने की गुंजाइश रह गयी थी।

अठारहवीं सदी के मध्य में भारतीय 'कैलिको' की नकल में बने लंकाशायर के कपड़ों को देशी नामों से—जैसे बाफ्ता, 'नगन्नेपौत', कुश्ते आदि—चिन्हित करके अफ्रीकी बाजारों के लिए उनका सफलतापूर्वक उत्पादन किया जाता था। निश्चय ही उत्पादित सभी सूती किस्में निरपवाद नहीं थीं। उदाहरण के लिए काफी लंबे अरसे तक मैनचेस्टर के रंगरेजों को लाल 'शेड' के मामले में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। अफ्रीका-वासियों ने मैनचेस्टर के 'बेजूतापौत' को इसलिए नापसंद कर दिया कि उसका लाल शेड धुलाई पर टिकता नहीं था। सूती वस्त्र उत्पादक दूसरा उपाय न सोच सके, सिवाय इसके कि रंगा हुआ दुबटा सूत उक्त प्रकार की शैली में लाल शेड की धारियाँ डालने के लिए इस्तेमाल में लाते, जो असंतोषजनक था; क्योंकि निग्रो ऐसा कपड़ा चाहते थे जो सहज में धुल और सूख सके।

सन् १७५० के बाद शीघ्र ही ईस्ट इंडिया प्रतिद्वन्द्वियों के क्रमिक ह्रास से मैनचेस्टरवासियों को अफ्रीकी बाजार पर कब्जा करने में भारी सहायता मिली। सन् १७५१ में सूरत में एक विप्लव हुआ, जहाँ से अधिकांश कपड़े अफ्रीका भेजने के लिए प्राप्त किये जाते थे। और, उसी समय से आगे के वर्षों में भी भारतीयों का असंतोष दिनों-दिन फैलता गया, जिसके फलस्वरूप ईस्ट इंडिया के सूती वस्त्र उत्पादन पर कुल मिलाकर ग्रहण छा गया। सन् १७५१ में इंग्लैंड में उत्पादित सूती वस्त्रों का अफ्रीका में आयात २०,४७२ पौण्ड मूल्य का हुआ था। दस वर्ष बाद यह बढ़कर ५५,५७० पौण्ड मूल्य का हो गया और १७७१ तक पहुँचते-पहुँचते वह १,१६,२५० पौण्ड कीमत का हो गया था। (**सीबा रिव्यू,** बेजल, स्वीट्जरलैण्ड, १९६२/२) ●

पूरक भोजन : ताड़-गुड़ और नीरा

केशव विट्ठल पानसे

इस लेख में चार किस्म के पूरक आहार–नीरा, ताड़-गुड़, मखनिया दूध और केला–का स्कूली बच्चों के स्वास्थ्य पर पड़नेवाले प्रभाव का विश्लेषण किया गया है।

पोषण सम्पूर्ण जीवित शरीर अथवा उसके अंगों के विकास, रखरखाव तथा जीर्णोद्धार या दुरुस्ती सम्बन्धी प्रक्रियाओं का योग है। किसी देश का पोषण-स्तर वहाँ के निवासियों के भोजन की किस्म से आंका जाता है। पोषाहार सर्वेक्षण से, जिसमें कि प्रतिनिधि दलों द्वारा विभिन्न अवधियों में खाये गये भोजन का अध्ययन किया जाता है, उपभोग किये भोजन के गुण-स्तर और मात्रा का पता चलता है। भारत के विभिन्न हिस्सों में किये गये इस प्रकार के सर्वेक्षण से ज्ञात हुआ है कि स्कूल जाने लायक उम्र के बच्चों का औसत स्वास्थ्य निस्संदेह असंतोषजनक है। जहाँ तक पोषण का संबंध है, ग्रामीण और शहरी बच्चों के बीच कोई अन्तर नजर नहीं आता।

भारत के लिए पोषण की समस्या का विशेष महत्व है; क्योंकि यहाँ की खाद्य समस्या भी बड़ी गंभीर है। अपौष्टिक आहार पानेवाली आबादी में ज्यादा नुकसान नवजात शिशुओं और बालकों को पहुँचता है। बच्चों की बाढ़ पर दो चीजों का नियंत्रण होता है: एक अन्तर्निहित शक्ति तथा दूसरा वातावरण। यह सच है कि अनुवंशिकता बच्चे के अंतिम विकास की सीमा बांध देती है। पोषाहार एक मूल वातावरण माना जाता है। यदि बच्चे को, जबकि वृद्धि आवेग बहुत तेज होता है, सर्वोत्तम पोषाहार मिलता है तो वृद्धि भी अनुकूलतम गति से होगी। एक बार आवेग रुका नहीं कि उचित ढंग से विकास होने में बाधा पड़ जाती है। डा. वी. एन. पटवर्धन के पर्यवेक्षणानुसार भारत के शिशुओं का वजन और लम्बाई जन्म के समय यूरोपीय देशों के शिशुओं के समान ही है। परन्तु जब भारतीय बच्चों को माँ का दूध छुड़ाकर अपौष्टिक आहार दिया जाने लगता है तो उनका स्वास्थ्य और विकास धीरे-धीरे गिरने लगता है, और यह अवस्था किशोरावस्था तक जारी रहती है। अपौष्टिक आहार के कारण दाँत, स्नायु-प्रणाली, मानसिक योग्यता और भावात्मक स्थिरता पर बुरा असर पड़ता है। बीमारियों को सहने यानी उनका प्रतिरोध करने की क्षमता पर भी इसका बहुत बुरा असर पड़ता है। विकास की अवस्था में अपौष्टिक आहार मिलने से जीवन भर के लिए कोई न कोई कमजोरी रह जाती है।

स्कूली बच्चों का स्वास्थ

अभी औसत भारतीय बच्चों को जो आहार मिलता है, वह महज भूख मिटानेवाला है। आहार में कार्बोहाइड्रेट का प्रातिशत्य आवश्यक मात्रा से बहुत ज्यादा रहता है, जबकि रक्षात्मक तत्व करीब-करीब नगण्य रहते हैं। ड० लाल ने बिहार में ४१,५९३ बालकों और १९,२७६ बालिकाओं का पौष्टिक दृष्टि से सर्वेक्षण किया। उन्हें पता चला कि उनमें से ४३.१ प्रति शत बालकों और ३८.९ प्रति शत बालिकाओं को अपौष्टिक आहार मिलता है।

यदि यह अवस्था काफी समय तक बनी रही तो आगामी पीढ़ी के लोग शारीरिक दृष्टि से अयोग्य होंगे। कई प्रमुख व्यक्तियों ने इस समस्या की गुरुता और अपरिहार्यता का अध्ययन किया है। उन्होंने सभी स्कूली बच्चों के लिए मध्याह्न पौष्टिक आहार देने की बात कही है।

पाश्चात्य देशों में लोग यह मानते हैं कि स्कूली भोजन उतना ही आवश्यक है जितनी कि कक्षा की पढ़ाई। स्कूली भोजन अन्य चीजों के अलावा अच्छी आदतें सीखने का अवसर भो प्रदान करता है। अब यह सर्वमान्य है कि स्कूलों को बच्चों का सर्वांगीण विकास–बौद्धिक, शारीरिक मानसिक और नैतिक–करने का प्रयास करना चाहिए। भूख का मतलब पूरा भोजन न मिलना हो अथवा उचित किस्म का भोजन न मिलना, परिणाम एक ही है। कई वर्षों पूर्व इंग्लैंड में जिस उद्देश्य से मध्याह्न भोजन सम्बन्धी अधिनियम बनाया गया, वह यह था कि अपौष्टिक आहार प्राप्त बच्चे राज्य द्वारा प्रदत्त शिक्षा सुविधाओं का लाभ उठाने में असमर्थ थे। भारत में भी बच्चों के स्वास्थ्य और बौद्धिक विकास हेतु पौष्टिक मध्याह्न भोजन की व्यवस्था करने का महत्व अब मान लिया गया है।

मैंने भी स्कूली बच्चों के स्वास्थ्य पर चार प्रकार के पूरक आहारों के प्रभाव का अध्ययन किया। आहार थे: नीरा, ताड़-गुड़, मखनिया दूध और केला। इसमें कुल खर्च प्रति विद्यार्थी प्रति दिन एक आना बैठा। छः महीने तक स्कूली बच्चों को ये आहार दिये गये और निम्न परिणाम निकले:

पूरक आहार का विशुद्ध प्रभाव

नीरा का प्रभाव (दो ग्लास)

	बालक	बालिकाएँ
वजन	२.९१ पौण्ड	२.६७ पौण्ड
स्फूर्ति *	०.९१ इंच	२.१ इंच
वेग §	०.३ सेकण्ड	०.८ सेकण्ड

नीरा का प्रभाव (एक ग्लास)

	बालक	बालिकाएँ
वजन	१.० पौण्ड	१.८ पौण्ड
स्फूर्ति	०.४ इंच	१.३ इंच
वेग	०.१ सेकण्ड	०.२ सेकण्ड

ताड़-गुड़ का प्रभाव

	बालक	बालिकाएँ
वजन	०.७५ पौण्ड	१.०८ पौण्ड
स्फूर्ति	१.०० इंच	०.४ इंच
वेग	०.१ सेकण्ड	०.३ सेकण्ड

मखनिया दूध का प्रभाव

	बालक	बालिकाएँ
वजन	०.१ पौण्ड	०.६ पौण्ड
स्फूर्ति	१.१ इंच	१.० इंच
वेग	०.२ सेकण्ड	०.४ सेकण्ड

केले का प्रभाव

वजन	०.० पौण्ड
स्फूर्ति	०.८२ इंच
वेग	०.२५ सेकण्ड

नीरा और ताड़-गुड़ का निर्माण कार्य

उपर्युक्त विवरण से यह ज्ञात होता है कि चन्द किस्म के आहारों के परिणाम बड़े मार्के के हैं। जहाँ ताड़ वृक्ष हैं और ताजी नीरा सप्लाई करने की सम्भावना है, वहाँ अपौष्टिकता की समस्या कम कीमत पर–प्रति

* स्फूर्ति को मापने का तरीका है 'स्टेण्डिंग स्प्रिंग'। इस परीक्षण के अनुसार ९ इंच त्रिज्या का वृत्त दीवाल को छूता हुआ बनाया जाता है। विद्यार्थी को इस वृत्त में खड़ा होना होता है। उसे अपना हाथ ऊँचा करके जितना सम्भव हो उतना ऊँचा कर दीवाल को चिन्हित करना होता है। फिर उसे झुककर आवश्यक छलांग लगाते हुए दूसरा चिन्ह लगाने को कहा जाता है। दोनों चिन्हों के बीच जो अन्तर होता है वही स्फूर्ति बताता है। तीन मौके दिये जाते हैं और सबसे अधिक अन्तर को नोट कर लिया जाता है। अतः दोनों चिन्हों के बीच जितना अधिक अन्तर होगा, उतनी ही अधिक स्फूर्ति होगी। स्फूर्ति मापने का यह तरीका अमेरिका भर में प्रचलित है और इसे सर्वाधिक विश्वसनीय और सही परीक्षण मानते हैं।

§ एक निश्चित दूरी को दौड़ कर तय करने में जो समय लगता है, उससे गति नापी जाती है। उपर्युक्त उदाहरण में दूरी ५० गज ली गयी थी और समय एक सेकण्ड का दसवां भाग माना गया था। अतः जितना कम समय लगे, गति उतनी ही तेज होगी।

बालक प्रति दिन एक आना—काफी हद तक हल की जा सकती है। यह बड़ा ही महत्वपूर्ण है, क्योंकि हमारा असल उद्देश्य न्यूनतम कीमत पर अपौष्टिकता की समस्या हल करना होना चाहिए।

कुछ अन्य देशी उत्पादन भी पूरक आहार का काम दे सकते हैं और उन पर प्रयोग करने की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए मूंगफली की खली को ही लीजिए। उसमें काफी मात्रा में प्रोटीन रहती है और वह हमारे देश का बहुत ही सस्ता उत्पादन है। जरूरत है सही दिशा में प्रयास करने की। स्कूलों में पूरक आहार देना शुरू करने से परोक्ष प्रभाव यह पड़ेगा कि स्कूलों में पिछड़े वर्गों के विद्यार्थियों की उपस्थिति बढ़ जायेगी। अमेरिका में जो एजेंसियाँ और संगठन बच्चों के हित में योगदान देते हैं, उनका मत है कि स्कूली भोजन स्कूल-कार्यक्रम का एक अंग होना चाहिए।

कमजोर स्वास्थ्य उत्पादक क्षमता को क्षीण करता है; खाद्य सामग्री के कम उत्पादन से अपौष्टिकता और बीमारियां बढ़ती हैं तथा उत्पादन शक्ति कम होती है। इस प्रकार एक दुष्चक्र चलने लगता है। अतः अपौष्टिक आहार पानेवाले लोगों को पर्याप्त मात्रा में आहार उपलब्ध कराने के लिए उत्पादन और वितरण दोनों ही क्षेत्रों में उचित प्रयास करने की आवश्यकता है।

पूना : ९ अक्तूबर १९६२

नोट और सिक्कों का संचलन

सन् १९६२-६३ में नोटों के संचलन में १ अरब ७१ करोड़ ७० लाख रुपये (८.५ प्रति शत) की वृद्धि हुई, जिससे कुल २१ अरब ९९ करोड़ रुपये* के नोटों का लेन-देन हुआ, जबकि १९६१-६२ में सिर्फ ८५ करोड़ ६० लाख रुपये (४.४ प्रति शत) की ही वृद्धि हुई थी। जबकि १,०००; ५,०००; और १०,००० रुपये के नोटों के संचलन में कमी हुई, २; ५; १०; और १०० रुपये के नोटों के संचलन में वृद्धि हुई। दस रुपये के नोटों के संचलन में हुई अभिवृद्धि सर्वाधिक मार्के की थी। इसमें ९६ करोड़ रुपये की अभिवृद्धि हुई; संचलित कुल नोटों में इसका हिस्सा १९६१-६२ के ३९.९ प्रति शत के मुकाबले बढ़कर १९६२-६३ में ४१.५ प्रति शत हुआ। इसके बाद १०० रुपये के नोटों का नम्बर रहा, जिनके संचलन में सापेक्षिक तौर पर थोड़ी-सी ही (६७ करोड़ रुपये) वृद्धि हुई, परन्तु इस पर भी विभिन्न अंकों के नोटों में यह सर्वाधिक प्रचलित रहा और संचलित कुल नोटों में इसका हिस्सा पिछले वर्ष जितना अर्थात् ४४.३ प्रति शत ही रहा। पांच तथा दो रुपये के नोटों के संचलन में क्रमशः ११ करोड़ रुपये और २७ लाख रुपये की अभिवृद्धि हुई, परन्तु कुल संचलित नोटों के अनुपात में उनका संचलन १९६१-६२ के क्रमशः ९.६ प्रति शत और १.८ प्रति शत से थोड़ा-सा घटकर १९६२-६३ में ९.४ प्रति शत और १.७ प्रति शत हो गया। इन वृद्धियों के मुकाबले उच्च अंक के नोटों (अप्रैल १९५४ से जारी) में, जिन्होंने कि १९६१-६२ में १२ करोड़ रुपये की वृद्धि दर्शायी थी, १९६२-६३ में २५ करोड़ से ६९ करोड़ रुपये तक की कमी दर्शायी, जिससे कुल संचलित नोटों में उनका हिस्सा ४.५ प्रति शत से घटकर ३.२ प्रति शत हो गया। उच्च अंक की श्रेणी में आनेवाले—१,०००; ५००० और १०,००० रुपये के नोट—सभी नोटों के संचलन में कमी हुई। कुल नोटों के संचलन में उनका हिस्सा १९६१-६२ के क्रमशः ३; १ और ०.५ प्रति शत से कम होकर १९६२-६३ में २.२; ०.६ और ०.४ प्रति शत हो गया।

* पाकिस्तान में संचलित शुद्ध ४३ करोड़ रुपये के भारतीय नोट वापिस आये।

—रिजर्व बैंक आफ् इण्डिया : रिपोर्ट ऑन करेंसी एण्ड फायनेंस, १९६२-६३।
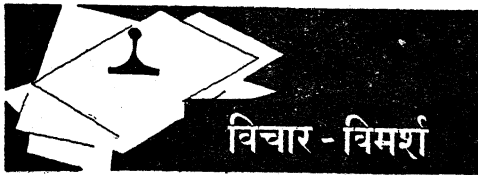
दक्षिण कनारा के मछुवाही गाँवों का समाजार्थिक संगठन

मैसूर के दक्षिण कनारा जिले में समुद्र के किनारे-किनारे बहुत-सी छोटी-छोटी झोपड़ियाँ हैं। इनमें प्रगतिशील मछुओं की एक जात रहती है। इन मछुओं की संख्या करीब ७५,००० है। ये सदियों पुराना अपना पुश्तैनी धंधा—मछली पकड़ना—करते हैं। उनके मछली फँसाने के जाल और सरंजाम भले ही पुराने हों, परन्तु उनका संगठन अनुपम और अत्यन्त आधुनिक है। उन्होंने आपसी स्वयं सेवा (मदद) और सहकारी राज्य की भावना से अभिप्रेरित हो मछली पकड़ने के काम का सहकारी आधार पर गठन किया है।

तुलुनाड के इतिहास पर नजर डालने से यह ज्ञात होता है कि सम्राट अशोक के समय में भी दक्षिण कनारा में संगठित मछुवाही गाँव थे। इन मछुओं के लिए सहकारी किस्म के आर्थिक संगठन का विकास कोई नयी चीज नहीं है। न यह उन पर प्रशासकों अथवा शासकों द्वारा लादी गयी चीज ही है। इसका विकास इन मछुवाही गाँवों के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के अंग-स्वरूप हुआ है और यह मछुओं के इस समाज के बुजुर्गों की बुद्धिमत्ता से पनपा है। भारत के प्रशासकों और आयोजकों के सोचने के बहुत पूर्व ही इन सीधे-साधे ग्रामीणों में 'सहकारी राज्य' का विचार पैदा हुआ, उसे उन्होंने कार्यान्वित किया तथा बनाये रखा।

ग्रामीण संगठन

संगठन इकाई है गाँव। ऐसे करीब ६० गाँव हैं, जोकि जिले के दक्षिणी सिरे उल्लाल से उत्तरी सिरे बरकुर तक फैले हुए हैं। प्रत्येक ग्राम की आबादी २५० से ५०० या उससे अधिक है। हर ग्राम में एक मुखिया है जिसे **गुरीकारा** कहते हैं और यह वंशानुगत पद है। **गुरीकारा** गाँव का आदरणीय तथा चाहवाला व्यक्ति है अर्थात् गाँव में उसकी काफी पूछ है। चूँकि ये लोग **अलिया संतान** नामक वंशानुगत प्रणाली का अनुसरण करते हैं; अतः भगिना न सिर्फ अपने मामा की सम्पत्ति पाने का ही अधिकारी होता है, बल्कि **गुरीकारा** का पद भी प्राप्त करता है बशर्ते कि मामा **गुरीकारा** रहा हो। **गुरीकारा** सामान्यतया ग्राम में हर माह होनेवाली सभा अथवा अत्यावश्यक होने पर बुलायी गयी सभा का सभापति होता है। वे लोकतांत्रिक जीवन व्यतीत करते हैं। समूचे गाँव से सम्बन्धित विषय पर सभाओं में चर्चा की जाती है और एकमत से ही निर्णय तथा कार्यान्विय होता है।

गुरीकारा की सहायता के लिए एक या दो और **गुरीकारों** का चुनाव जनमत के आधार पर किया जाता है। उनमें से एक कोषाध्यक्ष होता है। कोष की दो कुंजियाँ होती हैं—एक कोषाध्यक्ष के पास रहती है तथा दूसरी **गुरीकारा** के पास। कोष या तो किसी **गुरीकारा** के घर में या फिर **ग्राम चावडी** (जिस मकान पर गाँव का अधिकार होता है) में रखा जा सकता है।

मछुआ समाज के हर वयस्क सदस्य—महिला हो अथवा पुरुष—को ग्राम-निधि में सालाना २५ नये पैसे से एक रुपये के अन्दर चन्दा देना होता है। इस प्रकार एकत्रित निधि जरूरतमन्द सदस्यों को लघु-कालीन ऋण के तौर पर दी जाती है, जिस पर नाम मात्र का ब्याज लगता है। जेवर गिरवी रखकर भी ऋण दिया जाता है। बरसात के दिनों में, जबकि समुद्र में मछली पकड़ना मुश्किल होता है, मछुए निष्क्रिय होते हैं और

उनमें से अधिकांश के लिए जीविका चलाना बहुत मुश्किल हो जाता है तो इसी ग्राम-निधि से उनकी रक्षा होती है। सामान्यतया आषाढ़ मास में उनके लिए सबसे खराब मौसम होता है। तब **ग्राम कूटा** की बैठक होती है, जोकि परिस्थिति की गम्भीरता पर विचार करता है और निधि में से कुछ रुपये वितरित करने का निर्णय लेता है। तदनुसार प्रति व्यक्ति ५ या १० रुपये गाँव में बाँटे जाते हैं।

सामाजिक जीवन

हर गाँव में दो से चार 'रमपनिया' हो सकते हैं। रमपनिया मछुओं का एक किस्म का दल होता है, जिसके पास विशिष्ट साज-सामान और नाव होती हैं। इन दलों के सभी सदस्य मिल-जुल कर काम करते हैं और जो थोड़ी-सी आय होती है उसे आपस में बाँट लेते हैं। उनके काम का बँटवारा श्रम और कार्यविधि सम्बन्धी विभाजन के वैज्ञानिक अध्ययन पर आधारित नहीं है। यह व्यावहारिक ज्ञान पर आधारित है और सभी एक समान जोश तथा जिम्मेदारी की भावना से काम करते हैं। जो सदस्य अपने दैनिक कार्य को बीमारी अथवा ऐसे ही किसी अन्य कारण से नहीं कर पाते, उनकी रोजी नहीं मारी जाती अर्थात् उन्हें आय में हिस्सा मिलता है। सचमुच यह इस बात का परिचायक है कि दुख-दर्द और असमर्थता के दिनों में जरूरतमन्द भाइयों की मदद करने की जिम्मेदारी समूचे समाज की है। इसमें विशेष बात तो यह है कि इस उदार प्रवृत्ति के कारण लोगों में आलस्य पैदा नहीं होता। पुरुष टोली बनाकर मछली पकड़ने जाते हैं और महिलाएँ मछलियों को अपने सर पर ढोकर दूर-दूर के बाजारों में ले जाती हैं। लड़के मछली पकड़नेवालों के लिए दोपहर का भोजन ले जाते हैं। इस प्रकार उनकी अधिकांश आर्थिक गतिविधियों में चेतन अथवा अचेतन रूप से यानी जाने-अनजाने श्रम का विभाजन प्रचलित है।

मछुओं के सामाजिक जीवन संगठन में **ग्राम कूटा** का हाथ रहता है। उनके सामाजिक जीवन में उच्च अनुशासन, एकसम दृष्टिकोण और एकता की भावना रहती है। सभी सामाजिक उत्सवों, भोजों तथा त्यौहारों में **गुरीकारा** का प्रमुख हाथ रहता है। **कूटा** और **गुरीकारा** की सहमति के बिना कोई भी शादी नहीं हो सकती। वैवाहिक कार्यक्रम सम्पन्न होने के पूर्व वर तथा वधू परिवार के लोगों को **कूटा** को इसकी खबर करनी चाहिए तथा उसकी औपचारिक स्वीकृति लेनी चाहिए। विवाह के दिन विवाह-मंडप में **गुरीकारा** को समूचे ग्राम की ओर से चन्द रस्में पूरी करनी पड़ती हैं तथा उसे ही विवाह सम्पन्न कराना होता है। दोनों परिवारों की ओर से वह मेजबान का काम करता है तथा बुजुर्गों का सलाहकार बन, जोकि उसका कर्तव्य है, वैवाहिक कार्यक्रम सम्बन्धी उनकी चिंताएँ दूर करता है।

कोई भी समारोह मनानेवाले परिवार को—भले ही वह विवाह का भोज हो या मृत्यु भोज—गाँव के सभी लोगों को निमंत्रित करना पड़ता है। ग्राम का प्रत्येक सदस्य इन समारोहों में निमंत्रित होने का अधिकारी है। इस तरह के अवसरों पर वे एक-दूसरे से मिलते हैं तथा इस प्रकार काम में हाथ बँटाते हैं जैसे हर कोई परिवार का महत्वपूर्ण सदस्य हो।

बीमा

गाँव में किसी की मृत्यु होने पर तुरंत ही **गुरीकारा** को खबर दी जाती है। तुरंत निधि में से ५० रुपये शोकाकुल परिवार को दिये जाते हैं ताकि वे दाह-संस्कार आदि में खर्च कर सकें। यह कार्य इस सहजता के साथ होता है कि संसार की कोई भी कल्याणकारी योजना इस पद्धति का मुकाबला नहीं कर सकती। अनुदान दी गयी यह निधि एक माह के अन्दर ग्राम के सभी सदस्यों से एक रुपया प्रति व्यक्ति अथवा और जो भी रकम निश्चित की जाय उस हिसाब से एकत्रित की जाती है, जिसे 'मरणा वंतिगे' कहते हैं। मृत्यु होने के दिन कोई काम नहीं करता और उस दिन को 'उरू मित्तू' कहते हैं। उस दिन कोई भी नाव मछली पकड़ने नहीं जाती।

गाँव में झगड़ा-टंटा तो शायद ही कभी होता है।

यदि कोई विवाद खड़ा हुआ तो न्याय के लिए **ग्राम कूटा** के समक्ष लाया जाता है। दोनों दल **कूटा** के समक्ष अपना मामला पेश करते हैं। सवाल-जवाब किये जाते हैं। फिर उपस्थित ग्रामीणों का एकमत से फैसला होता है जिसे दोनों दलों को मानना पड़ता है।

सामाजिक बहिष्कार

ग्राम सभा के हाथ में एक महत्वपूर्ण अस्त्र है 'मणा' अर्थात् सामाजिक बहिष्कार, जिससे कि हठधर्मी लोग राह पर आ जाते हैं। यदि कोई व्यक्ति समाज के लिए असाध्य कण्टक साबित हो, सामाजिक प्रथाओं का निरादर करता हो अथवा जाति के बाहर शादी कर लेता हो या सभा का बाकी पैसा नहीं देता हो तो उसे समाज से बहिष्कृत होने के लिए तैयार रहना चाहिए, जोकि सबसे बड़ा सामाजिक दंड है। यह प्रथा इसलिए और भी दारुण अथवा भयावह है कि बहिष्कृत व्यक्ति की सूचना जिले की सभी ग्राम सभाओं को भेज दी जाती है। एक सभा द्वारा बहिष्कृत व्यक्ति किसी भी अन्य सभा में जाकर नहीं रह सकता। सामाजिक बहिष्कार से छुटकारा पाने के लिए उसे कई औपचारिक बातें करनी पड़ती हैं तथा शर्मनाक कार्य करने होते हैं जैसे घर-घर जाकर माफी माँगना। कुछ समय पूर्व चन्द प्रगतिशील ग्राम सभाओं ने यह घोषित किया कि गैर कानूनी शराब पीनेवाले सदस्य का सामाजिक बहिष्कार किया जायेगा। कुछ सभाओं ने जुर्माने का तरीका अपनाया है, और जुर्माने की रकम निश्चित नहीं है।

शिक्षा के क्षेत्र में ग्राम सभा धीरे-धीरे कई गाँवों में अपना प्रभाव डाल रही है। सरकार द्वारा प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य कर देने के पूर्व से ही ये सभाएँ बच्चों के माता-पिता पर, उन्हें पाठशालाओं में भेजने के लिए, जोर डाल रही हैं। मत्स्य विभाग मछुओं के गाँवों में कई प्राथमिक विद्यालय चलाता है, जिनमें से कई तो अब उच्च विद्यालय (हाय स्कूल) बन गये हैं। ग्राम सभाएँ इस कार्य में धन, श्रम और प्रोत्साहन के रूप में जो मदद देती हैं, वह गाँवों में इस तरह की शिक्षा सुविधाओं के विकास के लिए बड़ी अनुकूल, प्रोत्साहक है। पाठशालाओं के शिक्षकों और ग्राम सभा में बहुत निकट सम्पर्क है। गरीब और योग्य विद्यार्थियों को ग्राम सभाओं से किताबें और स्लेटें मिलती हैं।

बम्बई : ४ जून १९६३ —न. कृ. तिंगलाया

× × ×

गैर सरकारी संगठनों की भूमिका

जैसा कि एक रचनात्मक कार्यकर्त्ता ने कहा है "किसी भी अच्छे आयोजन का सर्वोपरि गूढ़ विषय समुदाय का अधिकतम हित-साधन होता है, जो अन्ततोगत्वा इस बात पर निर्भर है कि समुदाय किस हद, स्तर तक उत्पादन और सही वितरण करने में सफल होता है। और, वह स्तर सहज ही इस बात पर निर्भर है कि समुदाय कितना तथा किस प्रकार का रोजगार प्राप्त कर सकता है।" इस कसौटी पर कसने से देहाती क्षेत्रों में उत्पादन बढ़ाने तथा जीवन स्तर ऊँचा उठाने की दिशा में हमारे प्रयास सफल नहीं रहे हैं।

यद्यपि हमारे यहाँ पूंजी की कमी है, लेकिन जन-शक्ति साधन-स्रोतों का बाहुल्य है। सवाल यह है कि इन साधन-स्रोतों का उपयोग किस तरह किया जाय। इस दिशा में हम तीन बुनियादी संस्थाओं—ग्राम विद्यालय, पंचायत और सहकारी समिति—के अतिरिक्त युवक मण्डल तथा महिला संगठन खड़े कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में एक गाँव का उदाहरण दिया जा सकता है जहाँ चन्द स्थानीय व्यक्तियों के नेतृत्व में वहाँ के युवक मण्डल ने बहुत ही उपयोगी कार्य किया है। इस युवक मण्डल का नाम है ग्राम सेवा संघ। युवकों को आगे आकर अपने गाँवों का विकास कार्य हाथ में लेने के लिए प्रेरित व निर्देशित किया गया। ग्राम सेवा संघ ने ग्राम सिंचाई तालाब के चारों ओर कीकर व बबूल के पेड़ लगाये। तीन वर्ष बाद कीकर तथा बबूल के पेड़ों व बीजों को नीलाम करके उन्होंने ६०० रुपये कमाये। सात वर्ष के अन्त में समस्त पेड़ २१,००० रुपये में

बेचे गये और जो आमदनी हुई उसका समग्र समुदाय के हित में उपयोग किया गया। सिंचाई तालाब के इर्द-गिर्द पेड़ लगाने के अलावा ग्राम सेवा संघ ने स्नानागार के चारों ओर नारियल के १०० पेड़ लगाकर स्थान की शोभा बढ़ा दी है। गाँव के अन्दर तथा उसके चारों ओर विभिन्न प्रकार के करीब १,००० पेड़ों (नीम, डोभी आदि) की भलीभाँति रक्षा होती है। युवक दल किस प्रकार सम्पत्ति का निर्माण कर सकते हैं, इसका यह एक उदाहरण है।

रद्दी से रुपया

यदि युवक दल के सदस्य चुस्त हों तो कृषि विकास के लिए आवश्यक खाद की पूर्ति बढ़ाने के लिए अभियान चला सकते हैं। मैले से बहुत उम्दा खाद तैयार करने की दिशा में भी प्रयत्न किये जा सकते हैं। युवक मण्डल शौचालय निर्माण को भी प्रोत्साहन दे सकते हैं। यदि ग्रामीण इन शौचालयों का इस्तेमाल कर खाद तैयार करने लगें, तो इससे उनकी खाद की समस्या हल हो जायेगी। इन प्रयासों के फलस्वरूप कृषि में निश्चय ही सुधार होनेवाला है। नालियों आदि से बेकार जानेवाले पानी का शाक-भाजी की बागवानी में उपयोग किया जा सकता है।

अपने स्थानीय साधन-स्रोतों का सही मूल्यांकन करने के बाद यदि ग्रामीण अपना आयोजन तैयार करें तो वे रद्दी से भी रुपया पैदा कर सकते हैं। यदि सभी रद्दी कागज, चिथड़े, कतरनें आदि इकट्ठी कर भाण्डारित की जायें, तो वे कागज उद्योग के लिए कच्ची सामग्री का काम दे सकती हैं। इसी प्रकार मृत पशुओं की हड्डियाँ इकट्ठी कर उनसे हड्डी खाद तैयार की जा सकती है। यदि लोग अखाद्य तेल बीजों का उपयुक्त रूप से संग्रह करें और भाण्डारित करलें, तो वे सफलता-पूर्वक साबुन उद्योग का विकास कर सकते हैं। इस तरह गाँवों में कम-ज्यादा करके अनेक उद्योग खोले जा सकते हैं। इससे वास्तविक ग्रामीण औद्योगीकरण की स्थापना होगी।

महिला संगठन भी रचनात्मक प्रकृति के अनेक काम कर सकते हैं। ओरतें आसानी से कताई कार्य कर सकती हैं। अपने आराम के वक्त वे चन्द छोटी-छोटी चीजें तैयार कर सकती हैं और घर में किसी वस्तु को बेकार जाने से रोक सकती हैं; क्योंकि घर के काम की देखभाल वे ही तो करती हैं!

अभिक्रम

गांधीजी ने कहा है कि 'श्रम एक प्राणवान, क्षमता-शील एकता स्थापक माध्यम तथा एक महान समानता स्थापक संघटक है।' लेकिन समूची समस्या लोगों को अपने उत्थान के लिए तैयार करने की कठिनाइयों से पैदा होती है। इसके लिए ग्रामीण क्षेत्रों में काम करने हेतु प्राणवान और प्रतिभाशाली व्यक्तियों की आवश्यकता है। जैसा कि श्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा है, "इस महान आंदोलन (सामुदायिक विकास आंदोलन) में मार्ग-दर्शन देने के लिए हमें शिखर पर अच्छे व्यक्तियों की आवश्यकता है। लेकिन ग्राम स्तर पर तो हमें और भी अच्छे आदमियों की जरूरत है। हमें सहस्रों ग्राम-नेताओं को प्रशिक्षित करने की आवश्यकता है, जिनमें अभिक्रम है और जिन्हें अपने काम पर गर्व है।"

टी. कल्लूपट्टी (मद्रास)
१३ मई १९६३ —म. प. गुरुसामी

× × ×

क्षेत्रीय कार्यकर्त्ताओं का कर्तव्य

ग्राम इकाई कार्यक्रम का उद्देश्य है ग्रामीण जीवन और अर्थ-व्यवस्था में सुधार लाना। अभी से १९६१ में प्रारम्भ हुए इस कार्यक्रम की सफलता के बारे में कोई राय निर्धारित करना जल्दबाजी होगी। सामान्यत: उच्चा-दर्शों के सामने भी व्यवहार के क्षेत्र में कुछ गतिरोध आता है। ग्राम इकाई कार्यक्रम की सफलता अनेक बातों पर निर्भर है। इनमें उत्साही तथा मिशनरी भावना से काम करनेवाले युवकों की उपलब्धि सर्वाधिक महत्व की है। अन्य महत्वपूर्ण पहलू हैं: सहकार, विभिन्न स्तरों

पर विभिन्न माध्यमों के बीच समन्वय, गैर सरकारी संस्थाओं का सरकारी संस्थाओं के साथ ताल-मेल आदि।

कृषि उत्पादन में वृद्धि करने के लिए कुछ कार्यक्रम काफी लम्बे अरसे से चल रहे हैं। तिस पर भी पता चला है कि अभी लक्ष्य-पूर्ति नहीं हुई है। कृषि विकास में रोड़ा अटकानेवाले पहलुओं को नजरअन्दाज नहीं किया जाना चाहिए। कुछ बातों में काम करनेवाला माध्यम ग्रामीणों को कुछ गतिविधियाँ चलाने के लिए प्रभावित कर सकता है। कभी-कभी उन्हें प्रभावित करना उसके लिए बड़ा मुश्किल हो जाता है। इसका कारण यह है कि उसका कुछ प्रगतिशील, तो कुछ प्रतिगामी, और कुछ गतिहीन व्यक्तियों के साथ पाला पड़ता है। जो तकनीक प्रगतिशील व्यक्तियों के लिए काम में लायी जाय, हो सकता है वही तकनीक आवश्यक नहीं कि उन व्यक्तियों के मामले में भी उपयुक्त साबित हो जो बदलते नहीं अथवा बहुत कम बदलते हैं। कार्यक्रम कार्यान्वित करने के काम में सक्रिय रूप से भाग लेने के लिए समाज के कमजोर वर्गों को तैयार करने हेतु भिन्न-भिन्न तकनीकें अपनानी होंगी। इस सम्बन्ध में कुछ उदाहरण देना रूचिकर होगा।

चन्द उदाहरण

मैं एक व्यक्ति से मिला जो एक शहर में कुछ महीने ठेकेदार के नीचे काम करने के बाद अपने गाँव जानेवाला था। यद्यपि उसका मुख्य पेशा खेती था लेकिन किसी लाभदायक काम के लिये उसे गाँव छोड़कर शहर जाना पड़ा था। उसके सामने इतनी मनोवैज्ञानिक व सामाजिक समस्याएँ आ खड़ी हुईं कि वह शहरी जीवन से ऊब गया। इस तथ्य के बावजूद कि वह काफी आमदनी कर रहा था, शायद ही कुछ बचा पाया हो। बाद में उसने अपने गाँव लौटने की ठान ली। उसने यह भी बताया कि कुछ और अधिक प्रयास करेगा तो अपने गाँव में भी वह उतना पैसा तो कमा ही लेगा। इस मामले में मुख्य प्रेरक शक्ति यह थी कि अपना जीवन बेहतरीन बनाने के लिये उस व्यक्ति में 'इच्छा' थी। गाँवों में ऐसे अनेक व्यक्ति हैं, जिनमें इसी प्रकार की प्रेरक शक्ति पायी जाती है और जो अपना ग्राम छोड़ना नहीं चाहते। कार्यकर्त्ता का मुख्य कर्तव्य यह है कि वह ऐसे व्यक्तियों को ढूंढ़ कर गाँव में ही कठोर परिश्रम करने के लिए उन्हें प्रोत्साहित करे।

एक अन्य उदाहरण एक गाँव में ४० कम्बली बुनकर परिवारों का है। महत्वपूर्ण बात यह है कि वे अपना कच्चा माल जहाँ से प्राप्त करते हैं, वह उनसे २०० मील दूर है और अपने तैयार माल की बिक्री भी वे दूर-दूर के स्थानों में करते हैं। यह परम्परागत उद्योग संतोषप्रद रूप से चल रहा है। इसका एक कारण यह है कि कारीगर एक खास स्थान पर संकेंद्रित हैं। दूसरा कारण यह है कि उनमें सामुदायिक भावना पायी जाती है। तृतीय कारण है, वे उत्पादन कार्य सहकारी आधार पर चलाते हैं--वे सभी एक सहकारी समिति के सदस्य हैं।

एक अपरिहार्य कार्य

कमजोर वर्गों को अपना जीवन उन्नत बनाने के लिए कठोर परिश्रम करने की आवश्यकता के प्रति सजग बनाना एक अपरिहार्य कार्य है। बेकार जन-शक्ति का उपयोग करने के लिए आयोजन करने हेतु उन्हें तैयार करने के निमित्त कार्यकर्त्ता को एक प्रोत्साहक, प्रेरक शक्ति के रूप में कार्य करना ही चाहिए, ताकि वे पर्याप्त कमाई करने में समर्थ हो सकें। कोई कार्यकर्त्ता यह काम किस प्रकार कर सकता है? इसके लिए कार्यकर्त्ता को अपने स्वयम् में, कार्यक्रम में और लोगों की काम करने की क्षमता में विश्वास होना चाहिए। कार्यक्रम के उद्देश्यों में सफलता प्राप्ति के माध्यम स्वरूप उसे व्यक्तिगत सम्पर्क, सामूहिक सम्पर्क आदि जैसी कोई विस्तारशील तकनीकें अवश्य अपनानी चाहिए। जहाँ तक भारतीय अवस्थाओं का सम्बन्ध है किसी भी कार्यक्रम के प्रचार के लिए व्यक्तिगत रूप से सम्पर्क साधना सर्वाधिक प्रभावशाली तरीका माना जाता है।

कार्यकर्त्ता के काम की तकनीकें स्थान-स्थान पर भिन्न-भिन्न हो सकती हैं।

प्रशिक्षण का कितना महत्व है इस पर जोर देने की आवश्यकता नहीं। प्रशिक्षण-काल में कार्यकर्त्ताओं को विभिन्न तकनीकों की जानकारी दी जानी चाहिए। क्षेत्रीय आवश्यकताओं और प्रशिक्षण के बीच जो सतत अन्तर पाया जाता है, उसे यथा सम्भव कम किया जाना चाहिए ताकि प्रशिक्षण पूरा होने पर ग्राम इकाई कार्यकर्त्ता अपना कार्य दक्षता के साथ निष्पन्न करने में समर्थ हो। ग्रामीणों की अवस्था का पर्यवेक्षण कर, उनकी बात सुनकर तथा उन्हें मदद देकर वह उनका एक अच्छा मित्र बन सकता है। उस हालत में वह जो कुछ कहेगा, ग्रामीण बिना किसी प्रकार की हिचकिचाहट के उसे स्वीकार कर लेंगे। कार्यकर्त्ता, ग्रामीण, सरकारी तथा गैर सरकारी संस्थाएँ यदि पिछड़े वर्गों की हालत सुधारने में कंधे से कंधा मिलाकर काम करें तो ग्रामीणों की अवस्था में पर्याप्त सर्वांगीण विकास करना कोई दूर की बात नहीं होगी।

नासिक : २४ अक्तूबर १९६२ —सो. सन्मुगम

× × ×

एक हरिजन समुदाय का अध्ययन

पाटलगुड़ा हैदराबाद जिले (आंध्र प्रदेश) में इब्राहिमपटनम के समीप एक छोटा-सा गाँव है। गाँव में १६० परिवार हैं—साम्प्रदायिक संकेन्द्रण के रूप में बसे हुए। भिन्न-भिन्न जातियों के घर अलग-अलग रुप में बसे हैं। इसका कारण या तो यह है कि एक जाति के व्यक्ति किसी एक बड़े परिवार से सम्बद्ध हैं अथवा यह कि उनके काम-धन्धे, आदत, रीति-रिवाजों आदि में बहुत साम्य है। हरिजनों में 'मादगिग' और 'माला' नामक दो उप-शाखाएँ हैं जो एक साथ रहती हैं, लेकिन अलग-अलग समूहों में। गाँव में २३ मागदी और १७ माला परिवार हैं। उनका पास-पड़ोस स्वच्छ है। इनमें से ९९ प्रति शत व्यक्ति अनपढ़ हैं और भयंकर गरीबी के कारण वे अपने बाल-बच्चों तक को भी पढ़ाने में असमर्थ हैं। सात-आठ वर्ष का लड़का गाय-भैंसों की देख-भाल का काम करके कमाना शुरू कर देता है। परिवार के लिए वह एक सम्पत्ति है। शिक्षा निःशुल्क होते हुये भी उसके 'मायत' उसे स्कूल भेजने की वजह से घर की कमाई में होनेवाली आर्थिक हानि से डरते हैं।

आय

तीन प्रौढ़ कमाऊ, एक बाल कमाऊ, और दो गैर कमाऊ बच्चोंवाले हरिजन परिवार की वार्षिक आमदनी ५० कुण्डा अनाज है, जिसकी कीमत अमूमन तौर पर २५० रुपये होती है। तेल, इमली, दाल, गुड़, नमक, वस्त्र, मिट्टी के बरतन आदि जैसी उपभोग्य वस्तुओं का मूल्य २८० रुपये प्रति वर्ष आता है। इसके आलवा एक परिवार करीब ३५ रुपये ताड़ी और तम्बाकू पर खर्च करता है। संलग्न मजदूरों को कुछ अतिरिक्त लाभ प्राप्त हैं। उन्हें प्रति वर्ष एक जोड़ी चप्पल, एक ऊनी कम्बली, एक धोती जोड़ा तथा कुछ तम्बाकू मिलती है। तेल, नमक, मिर्च आदि जैसी उपभोग्य वस्तुएँ वस्तु विनिमय के आधार पर खरीदी जाती हैं। उक्त चीजों के बदले में अनाज दिया जाता है। दूकानदार अनाज सस्ते भाव पर खरीदता है और इस प्रकार बेचारे मजदूर सदैव ही नुकसान में रहते हैं। साधारणतया एक महिला कर्मी प्रति दिन २५ नये पैसे पाती है। खेती के अत्यधिक व्यस्त दिनों में ही उसे ५० नये पैसे मिलते हैं। उनके बदले भी जिन्स दी जाती है।

चावल और ज्वार उनका मुख्य भोजन है। जो कुछ पौष्टिक तत्व उन्हें मिल पाते हैं, मात्र हाथ कुटे चावल से। दो जून भोजन करना या जायकेदार आहार प्राप्त करना उनके लिए अन्यंन्त दूभर है। वे बस भूख-भर मिटा लेते हैं। उनके आहार में न तो संतुलन है और न पोषण। कुछ ने तो अपनी जिन्दगी में घी खाया ही नहीं। कुछ परिवारों के पास भैंसें हैं, लेकिन

उनका दूध बेच दिया जाता है! इस मामले में भी दूध की खरीद स्थानीय व्यापारी करते हैं—पचास नये पैसे प्रति सेर (स्थानीय सेर) के भाव पर। स्थानीय सेर सरकारी सेर से करीब-करीब दुगुना होता है। आस-पास के गाँवों में दूध का भाव ६० नये पैसे प्रति सेर है। इस प्रकार हरिजन परिवारों को बेचे गये प्रति दो सेर दूध के पीछे १.४० रुपये की हानि होती है। जीवन के हर क्षेत्र में इन अनजान व्यक्तियों का व्यवस्थित शोषण होता है। यदि वे जानते भी हों कि उनके प्रति अन्याय हो रहा है तो भी उन्हें सहन करना पड़ता है—उनके पास बचने का कोई विकल्प नहीं है। प्रायः वे सभी कच्ची झोपड़ियों में रहते हैं—प्रति परिवार पीछे आवास व्यवस्था के लिए करीब १२० वर्ग फुट का क्षेत्र है। कुछ बालक आधे-नंगे है, शेष फटेहाल!

इन गरीब परिवारों को आशा दिलायी गयी कि केवल अम्बर चरखे से ही उनकी गरीबी की समस्या हल हो सकती है। गाँव में छः तकुए के अम्बर चरखे का प्रात्यक्षिक हुआ। अनेक महिलाएँ उसके प्रति आकर्षित हुईं। यद्यपि हरिजनों तथा अन्य पिछड़े वर्ग की अवस्था में सुधार लाने के लिए सरकार व अन्य सेवा भावी संगठनों ने काफी काम किया है, लेकिन अभी बहुत कुछ काम करना बाकी है।

राजेन्द्रनगर (हैदराबाद) —रा. राममूर्ति
४ मई १९६३

× × ×

परिवर्तन की गतिशील शक्तियाँ

संसार की प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है, फिर चाहे वह निर्जीव हो अथवा सजीव। मनोवैज्ञानिकों ने इस परिवर्तन को 'विकास' का नाम दिया है। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि परिवर्तन होता है; लेकिन वह अचानक कदापि नहीं होता। वह एक बहुत ही निश्चित और शनैः शनैः होनेवाली प्रक्रिया है। मानव ईश्वर की सर्वोत्तम कृति है; क्योंकि उसमें विवेक और जागृति (अथवा चेतना) पायी जाती है। उसका विकास निरन्तर है। इस परिवर्तन के ढंग और इसकी गतिशील शक्तियों पर प्रभाव डालना सामाजिक कार्यकर्त्ता का उद्देश्य है। यदि सामाजिक कार्यकर्त्ता मानवीय परिवर्तन की इस अनुक्रमिक प्रक्रिया की अवहेलना करते हुए कोई अकस्मात् तथा मौलिक परिवर्तन लाना चाहता हो, तो वह निश्चय ही अपने प्रयत्न में असफल होगा। मानव एक सामाजिक प्राणी है और सामाजिक वातावरण में उसका पालन-पोषण होता है तथा उस वातावरण का उस पर असर पड़ता है। इसलिए सामाजिक कार्यकर्त्ता का प्रथम प्रयास यह होना चाहिए कि वह इन बुनियादी आवश्यकताओं को समझे।

सामान्यतः हमें समाज में चार प्रकार के व्यक्ति मिलते हैं: मौजूदा परिस्थितियों से बिल्कुल उदासीन और अपने में ही संतुष्ट, मस्त-मौला व्यक्ति; ऐसे व्यक्ति जो परिस्थितियों के प्रति अपेक्षाकृत अधिक सजग हैं, जो परिवर्तन लाने अथवा विकास करने की दिशा में सोद्देश्य प्रयत्न करने में विश्वास नहीं करते और निराशावादी बने रहते हैं; ऐसे व्यक्ति जो परिस्थितियों के प्रति परिपूर्ण रूप से सजग हैं तथा साथ ही जो कठिनाइयों और समस्याओं से पूर्ण जानकार हैं तथा उनमें ऐसी जागरूकता भी पायी जाती है जिससे वे परिवर्तन के लिए व्याकुल व उत्सुक हैं—इतना होने पर भी अनेक प्रकार की आनेवाली कठिनाइयों को महसूस करते, समझते हुए उनमें भी नैराश्य आ जाता है; और वे व्यक्ति जो परिस्थितियों के प्रति इतने सजग होते हैं कि उनका सक्रिय रूप से सामना करना चाहते हैं। इसी चतुर्थ श्रेणी के व्यक्ति ही परिवर्तन लाने तथा विकास करने के क्षेत्र में अगुआ हुआ करते हैं।

बम्बई : २६ अप्रैल १९६३ —स्नेह कुमार चौधरी

पुस्तक समीक्षा

अमूल्य सन्दर्भ पुस्तिका

अर्थशास्त्रियों, संख्याविदों अथवा अनुसंधानकर्त्ताओं से अलग यानी उनकी श्रेणी में न आनेवाले अर्थ-शास्त्र के विद्यार्थियों को बम्बई के टाटा इण्डस्ट्रीज लिमिटेड का उनके अर्थशास्त्र और सांख्यिकीय विभाग द्वारा समय-समय पर प्रकाशित किये जानेवाले अमूल्य प्रकाशन 'स्टेटिस्टिकल आउटलाइन ऑफ् इण्डिया' के लिए आभार मानना चाहिए। आकर्षक जिल्दवाली इस पुस्तिका के छठे संस्करण में सौ से कुछ अधिक पृष्ठ हैं और इसमें भारतीय अर्थ-व्यवस्था के विकास से सम्बन्धित विविध विषयों पर उपलब्ध नवीनतम सांख्यिकीय सामग्री है। सहज सदन्र्भ के लिए एक ही पुस्तिका में अर्थ-व्यवस्था सम्बंधी इतने अधिक आँकड़े और विवरण आदि अन्यत्र प्राप्त होना दुर्लभ ही लगता है। इस दृष्टि से यह एक बहुमूल्य सदन्र्भ पुस्तिका है।

जब कुछ आँकड़ों को अगल-बगल रखा जाता है तो बहुत-कुछ विचार सामग्री प्राप्त होती है। नीचे (अ) औद्योगिक उत्पादन के सूचकांक; और (आ) कारखानों में मिलनेवाली रोजगारी की तालिकाएँ उससे उद्धृत की जा रही हैं।

	१९५१	१९५९	१९६१
निर्माण उद्योग (उत्पादन सूचकांक)	७२	११५	१३६
कारखानों में मिलनेवाली रोजगारी (लाख में)	२९.२४	३६.३५	३९.१२

उत्पादन जबकि ९० प्रति शत बढ़ा है, रोजगारी में ३० प्रति शत से कुछ ही अधिक वृद्धि हुई है। कारखानों में रोजगारी पानेवालों की संख्या कुल आबादी की एक प्रति शत भी नहीं है। सन् १९५७ और १९६० के बीच सूती वस्त्रोद्योग उत्पादन का सूचकांक ७७ से बढ़कर १०९ हो गया; इस अवधि में सूती कपड़ा मिलों में रोजगारी पानेवालों की संख्या ६ लाख ८५ हजार से बढ़कर ७ लाख ९० हजार ही हुई।

राष्ट्रीय आय सम्बन्धी तालिका में उसके स्रोत के अनुसार, सरकारी प्रशासन पर १९६१–६२ में ७ प्रति शत अर्थात् १० अरब २० करोड़ रुपये खर्च हुए, जबकि १९५०–५१ में ४.९ प्रति शत अर्थात् ४ अरब ३० करोड़ रुपये खर्च हुए थे। यदि ये आँकड़े सार्वजनिक प्रशासन के खर्च में वृद्धि का संकेत करते हैं, तो यह विचार करना उत्तम है कि यह शेष अर्थ-व्यवस्था में हुई वृद्धि के अनुरूप हैं अथवा नहीं।

प्रथम बार 'स्टेटिस्टिकल आउटलाइन ऑफ् इण्डिया' में जीवन-स्तर सूचक दिखानेवाली तालिका प्रकाशित हुई है। कहा नहीं जा सकता कि उसमें जो अन्तर्राष्ट्रीय तुलनात्मक विवरण दिया गया है, उसका वैसे देश में कोई मूल्य भी है क्या जहाँ लाखों लोग आधे भूखे-नंगे, बेघरबार और अस्वस्थ भी हों। अतः तालिका के सूचकों में यात्री गाड़ियों, रेडियो, टेलिफोन आदि देखकर ताज्जुब होता है। प्रति व्यक्ति ऊर्जा और अपरिष्कृत इस्पात की खपत भी सूचकों में एक है। ये आर्थिक विकास के सूचक हो सकते हैं, परन्तु जब हम जीवन-स्तर में वृद्धि को राष्ट्रीय आयोजन के एक उद्देश्य के रूप में पारिभाषित करते हैं, तब 'जीवन-स्तर' के जो माने होने चाहिए उस अर्थ में निश्चय ही नहीं।

पिछले संस्करणों की तुलना में यह अंक यद्यपि अधिक परिपूर्ण है, तथापि ऐसा लगता है कि अतिरिक्त विवरण मुख्यतः व्यापारियों, उद्योगपतियों और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में दिलचस्पी रखनेवालों के लिए ही उपयोगी है। वस्तुतः आर्थिक मामलों के आम विद्यार्थियों के लिए जो विशेष दिलचस्पी की चीजें थीं, उन्हें इस अंक में स्थान नहीं मिला है। सार्वजनिक मामलों के आम विद्यार्थियों के लिए इस पुस्तिका का मूल्य और भी बढ़ जायेगा यदि इसमें भूमि वितरण पद्धति, खतों का क्षेत्रफल और सिंचाई, लघु उद्योगों में उत्पादन और रोजगारी अथवा ग्रामीण और शहरी इलाकों के बीच आय-वितरण से सम्बन्धित सामग्री शामिल की जाय।

पूना : २४ जून १९६३ —वैकुण्ठ ल. मेहता

नवम वार्षिकांक पर समाचार पत्रों का अभिमत

इस अंक में खादी के आर्थिक और सांस्कृतिक पहलुओं पर तथा राष्ट्रीय आयोजन में उसके महत्व-पूर्ण स्थान के सम्बंध में विज्ञ लेखकों के लेख दिये गये हैं। इस मासिक पत्रिका का जो विकास हुआ है, वह इस बात का सबूत है कि देश और विदेश में स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् खादी को कितनी अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई है। भविष्य की बड़ी-बड़ी सम्भावनाओं का भी संकेत इससे प्रकट होता है।

अमृत बाजार पत्रिका, कलकत्ता
६ जनवरी १९६३

* * *

खादी ग्रामोद्योग के नवम वार्षिकांक में इस पत्रिका के क्षेत्र में जो विषय आते हैं, उन पर अनेक मूल्य-वान लेख विविध दृष्टिकोणों से लिखे गये हैं।

पिछले दशक में खादी आंदोलन का विकास जिस प्रकार हुआ, उससे सम्बंधित लोगों के लिए श्री वैकुण्ठ ल. मेहता का 'खादी उद्योग की अवस्था,' शीर्षक लेख विशेष दिलचस्पीवाला सिद्ध होगा।

इकनॉमिक टाइम्स, बम्बई
३ दिसम्बर १९६२

* * *

इस वार्षिकांक में ग्रामीण विकास में रुचि रखनेवालों के लिए यथेष्ठ और विभिन्न प्रकार की सामग्री है। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन द्वारा किये जानेवाले उपयोगी कार्यों को बहुत कम लोग जानते हैं। इसकी स्थापना १९५७ में हुई और वह खादी सहित १५ ग्रामोद्योगों के लिए योजनाएँ बनाने, संगठन और उनका कार्यक्रम कार्यान्वित करने के लिए जिम्मे-वार है और तब से उसने इस दिशा में अच्छी जानकारी प्राप्त की है, बहुत अच्छा काम किया है और देश के ग्रामीण भागों के आर्थिक स्तर को सुधारने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इस वार्षिकांक में ग्रामीण समस्याओं पर विभिन्न पहलुओं से प्रकाश डालनेवाले अनेक रोचक और ज्ञानवर्धक लेख हैं। गांवों की प्रगति में रुचि रखनेवाले लोगों के लिए तो यह वार्षिकांक मानो उपयोगी जानकारी का खजाना ही है।

दि न्यू एडमिनिस्ट्रेटर, मद्रास
नवम्बर–दिसम्बर १९६२

* * *

खादी ग्रामोद्योग का यह वार्षिकांक खादी तथा ग्रामोद्योगों के विषयों पर एक अमूल्य संग्रह है, जबकि इन विषयों पर तुलनात्मक रूप से कम सामग्री पायी जाती है। जिन सुविख्यात लेखकों का सहयोग इसे प्राप्त हुआ है, वह इस बात की गारण्टी है कि इस अंक के लेख अधिकृत और बहुत मूल्यवान हैं।

अंक में रेखाचित्रों, मानचित्रों, तालिकाओं तथा अन्य प्रकार के आंकड़े देते हुए भरपूर सामग्री प्रस्तुत की गयी है, जो पाठक के लिए बहुत ही रुचिकर साबित होगी। अंक की साज-सज्जा बहुत ही सुंदर है।

इस विषय से सम्बंधित लोगों को इसमें मूल्यवान और विश्वसनीय संदर्भ से युक्त तथा मार्गदर्शक सामग्री प्राप्त होगी।

सोशलिस्ट कॉंग्रेसमैन, नयी दिल्ली
१ जनवरी १९६३

* * *

खादी ग्रामोद्योग का नवम वार्षिकांक प्रशंसा के योग्य तथा महत्व का प्रकाशन है, जिसमें बहुमूल्य सामग्री है, सुंदर साज-सज्जा है और हाथ कागज पर बढ़िया छपाई है। इसमें खादी-ग्रामोद्योगों के विषयों पर तथा देश की आर्थिक समस्याओं पर भी २० से अधिक विचारपूर्ण और ज्ञानवर्धक लेख हैं। करीब सभी लेखक विद्वान और अध्येता व्यक्ति हैं। संक्षेप में, और कुल मिलाकर, इस अंक में विविध प्रकार के पाठकों, अर्थशास्त्रियों, सामाजिक कार्यकर्त्ताओं, राजनीतिज्ञों और सर्वसाधारण व्यक्तियों के लिए भी उपयुक्त व विचार-प्रवर्त्तक सामग्री है।

दि इकनॉमिक स्टडीज, कलकत्ता
६ दिसम्बर १९६२

आपकी अत्युत्तम पत्रिका **खादी ग्रामोद्योग** से मैं बहुत ही प्रभावित हुआ। पत्रिका के हर अंक में मुझे कुछ नया योग मिलता है। आकर्षक हाथ कागज पर छपी इस पत्रिका की सफाई, स्पष्टता, उद्धरण, पुस्तक समीक्षा, सांख्यिकीय आंकड़े और कई अन्य अनेक चीजें प्रभावित करनेवाली हैं।

आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि ग्रामीण विकास योजना में दिलचस्पी रखनेवाले यहाँ के कई प्राध्यापकों ने मुझे आप तक इस प्रकार की विद्वतापूर्ण, मितव्ययी, आकर्षक और सुन्दर पत्रिका के प्रकाशन के लिए बधाई पहुँचाने को कहा है।

आज अमेरिका में तकनालाजिकल उन्नति, अनुसंधान, प्रवर्तनों, भारी मशीनों और बड़े पैमाने पर होनेवाले उत्पादन के बावजूद लघु तथा मध्यम स्तर के उद्योगों के कार्य और योगदान का काफी महत्व है।

मैं विश्वासपूर्वक यह कह सकता हूँ कि भारत में कई सामाजिक बुराइयाँ दूर करने और आर्थिक समस्याएँ हल करने में विकेंद्रित आधार पर ग्रामीण और लघु उद्योगों का जोरदार विकास कर वास्तव में मनुष्य का मानविक उपयोग सम्भव है।

भारत के इतिहास, संस्कृति, आकार, क्षेत्रफल आबादी, श्रम, पूंजी और विकसित हो रही तकनालाजी की दृष्टि से हमारे समाज के कमजोर वर्गों के कल्याण और समृद्धि में इन उद्योगों का बहुत बड़ा योगदान होगा।

ग्रामीण भारत के विकास हेतु अच्छी जानकारी का प्रसार कर आपकी पत्रिका एक बहुत उत्तम कार्य कर रही है। सच तो यह है कि चूंकि जन-सम्पर्क-माध्यम तथा संचार के गतिशील साधन बड़ी तेजी से विकसित हुए हैं, अतः हम प्रचार, जन-सम्पर्क और अपने विचारों, प्रगति, समस्याओं और सफलताओं से सम्बन्धित अन्य अनेक कार्यशीलताओं की महत्वपूर्ण भूमिका को नजरअन्दाज नहीं कर सकते।

—छगनभाई के. पटेल

फेलो,
स्कूल ऑफ् एज्यूकेशन,
इंडियाना यूनिवर्सिटी,
ब्लूमिंगटन, इंडियाना
यू. एस. ए.
१८ मई १९६३

सम्पादक : सुभाष चन्द्र सरकार द्वारा खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय,' इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई–५६ से प्रकाशित तथा मुद्रित। मुद्रण-स्थल : एसोसिएटेड एडवर्टाइजर्स एण्ड प्रिण्टर्स, ५०५, तारदेव आर्थर रोड, बम्बई–३४।
वार्षिक शुल्क : २.५० रुपये; एक प्रति : २५ नये पैसे।

खादी ग्रामोद्योग

ग्रामीण जीवन, समाज और अर्थशास्त्र विषयक मासिक

नवम वर्ष · अगस्त १९६३ · एकादश अंक

सम्पादक : सुभाष चन्द्र सरकार। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के लिए सुभाष चन्द्र सरकार द्वारा मुद्रित और प्रकाशित।

ग्रामीण विकास तथा समाजार्थिक व्यवस्था पर लिखे लेखों को कमीशन की पत्रिकाओं में सहर्ष स्थान दियाजायेगा, बशर्ते कि वे ग्रामीण विकास के ध्येय से लिखे गये हों। फिर भी, प्रत्येक लेख के छापने का आश्वासन नहीं दिया जा सकता। लेखकों को किसी अंश में पुरस्कृत करने का भी प्रबन्ध किया जा सकता है। लेख, पुस्तकों की समीक्षा आदि सम्पादक, 'खादी ग्रामोद्योग', खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय,' इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई–५६ के पते पर भेजें। टेलिफोन नं. ८६७७३।

इस पत्र में प्रकाशित लेखों में प्रकट किये गये विचार खादी और ग्रामोद्योग कमीशन अथवा सम्पादक के न होकर लेखक के हैं सम्पादक अथवा कमीशन के विचार जहाँ-कहीं भी हैं, उनका उल्लेख कर दिया गया है।

वार्षिक शुल्क : २.५० रुपये; एक प्रति : २५ नये पैसे। चन्दे की रकम इस पते पर भेजी जानी चाहिए : सहायक एकाउण्ट्स ऑफिसर (कैश), खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय', इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई–५६।

इस अंक के लेखक

उछरंगराय नवलशंकर ढेबर	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अध्यक्ष।
वैकुण्ठ लल्लूभाई मेहता	–खादी और ग्रामोद्योग मण्डल के सदस्य।
रथीन्द्रनाथ टैगोर	–कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पुत्र।
यादव प्रसाद पंत	–नेपाल सरकार के आर्थिक सलाहकार।
ललित कुमार मित्र	–कलकत्ता के सिटी कालेज में अर्थशास्त्र के अध्यक्ष।
मनोहर शंकर नाडकर्णी	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के नयी दिल्ली स्थित सघन क्षेत्र योजना विभाग में अनुसंधान अधिकारी।
पेकल श्रीरामुलू पैट्रो	–बिड़लापुर (पश्चिम बंगाल) स्थित बिड़ला जूट मैन्युफैक्चरिंग कम्पनी लिमिटेड में डाईंग मास्टर और वीविंग ओवरसीयर।
इस्तफा हुसैन	–उत्तर प्रदेश सरकार के भूतपूर्व संसदीय–सचिव, लखनऊ।
जशभाई झवेरभाई पटेल	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन में गोबर गैस योजना के निर्देशक।
भालचन्द्र नारायण गोखले	–बम्बई उच्च न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधिपति।

खादी सम्बन्धी उचित दृष्टिकोण

उछरंगराय न. ढेबर

खादी और ग्रामोद्योग विचार एक यथार्थ दृष्टिकोण पर आधारित है और यथार्थ हैं हमारे देश के पांच लाख गांव, अनुपयोगित विशाल जनशक्ति तथा ग्रामीण उद्योगों में इस्तेमाल के लिए अनुपलब्ध विद्युत तथा अन्य शक्तियां। खादी और ग्रामोद्योग कार्यक्रम की सफलता के लिए शहरी लोगों को इस कार्यक्रम का महत्व समझाने की दिशा में प्रयास किया ही जाना चाहिये।

औद्योगिक और आभियांत्रिक दृष्टिकोण से खादी और ग्रामोद्योगों की समस्याओं को एक वाक्य में इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं: सन् १६६३ में पश्चिमी साम्राज्यवादी आर्थिक-सह-राजनीतिक संगठन के अग्रदूत जॉन कम्पनी के आगमन पर राष्ट्र ने जो सूत्र त्याग दिया था, उसे इस वर्ष १९६३ में, जबकि इसाई धर्म की स्थापना को इतने वर्ष बीच चुके ह, फिर से उद्ग्रहण, करना। औद्योगिक और अभियांत्रिकी संसार द्वारा भारत का अर्ध-विकास तभी समझा जा सकता है जबकि वह इस बात के प्रति जागरूक हो कि तकनीकल और आर्थिक संगठन की दृष्टि से हमें जो रास्ता अभी तय करना है, वह छोटा नहीं है। हमारे हल, निराई के औजार, कटाई की प्रक्रियाएं अनाज-पीटने के उपकरण, चर्खियाँ, कुम्हार के चाक, गाँवों की बढ़ईगीरी और लोहारी तथा आर्थिक संगठन, ये सब अपनी प्राचीनता की गाथा सुनाते हैं–यह उनके लिए गर्व की बात है जो कि निश्चल जीवन को मानसिक संतुलन का सर्वोत्तम उदाहरण मानते हैं, लेकिन यह उनके लिए शर्म की बात है जो कि अपने को समाज के गतिशील गुणों से सम्बन्धित मानते हैं, जिसे कि वे विकसित करना चाहते हैं। खादी और ग्रामोद्योगों की समस्या है गतिहीन व्यवस्था को गतिशील बनाना।

अवस्था की यथार्थता

भारत में एक वर्ग ऐसा है जो कि खादी और ग्रामोद्योगों को प्राचीन दृष्टिकोण का परिणाम मानता है। तथापि, सत्य यही है कि खादी और ग्रोमोद्योगों में विश्वास रखनेवाले ही ग्रामीण जन-मानस में बहुत बड़ा मनोवैज्ञानिक परिवर्तन ला रहे हैं। उनके गतिहीन जीवन को गतिशील बना रहे हैं। आलोचना करनेवाला वर्ग यह समझता है कि खादी और ग्रामोद्योग विचार को आमान्य कर देने से ही उसका काम समाप्त हो गया। खादी और ग्रामोद्योग विचार यथार्थ दृष्टिकोण पर आधारित है। क्या कोई भी व्यक्ति समभाव से भारत के उस मानचित्र पर विचार कर सकता है, जिसमें उसके शहर तकनीकल रूप में उन्नत हों और गाँव निश्चल? क्या उस आधार पर कोई भी व्यक्ति समाज के संतुलित विकास की बात सोच सकता है? भारत में अभूतपूर्व तकनीकल और आभियांत्रिक योग्यतावाले लोग बहुत कम हैं। यह तो उद्यम के जरिये ही पैदा हो सकता है। मिश्रित 'अर्थ-व्यवस्था,' यद्यपि यह नियोजित समाजवादी अर्थ-व्यवस्था पर अधिक जोर देती है, शहरी क्षेत्रों में ऐसे गुणी व्यक्तियों के विकास में मदद दे रही है। पर गाँवों में भी तो औद्योगिक और आभियांत्रिक योग्यतावाले व्यक्तियों का विकास करने हेतु कोई संस्था होनी ही चाहिए। यह अवस्था की यथार्थता को स्वीकार करने से ही हो सकता है–पहला यह कि ग्रामीण भारत ८० प्रति शत कृषि पर निर्भर है; दूसरा, इसकी आबादी अमेरिका और रूस की सम्मिलित आबादी के बराबर है; तीसरा, सामाजिक और भौगोलिक अवस्थाओं के कारण इसकी समस्याएँ जटिल हैं। चर्मोद्योग का ही उदाहरण लीजिए। कोई भी सवर्ण हिन्दू

इस उद्योग को अपनाना नहीं चाहेगा। बल्कि वह इसके बदले भीख मांगना तथा यहां तक कि चोरी करना भी पसन्द करेगा। फिर, जो दक्षिण भारत में सम्भव है वह उत्तर भारत में सम्भव नहीं भी हो सकता है तथा जो समतल में हो सकता है वह आदिवासी इलाकों में नहीं भी सम्भव हो सकता है।

जन-शक्ति का उपयोग

एक यथार्थ और भी है, जिसका सामना करना है। भारत में साढ़े पांच लाख गाँव हैं। बैलों के जरिये उनमें खेती होती है और उन्हें छोड़ा नहीं जा सकता, क्योंकि भारत के पास यांत्रिक खेती के लिए आवश्यक ४० लाख ट्रैक्टर प्राप्त करने का साधन नहीं है। बैल-शक्ति के जरिये खेती करने से गाँव और खेत के बीच की दूरी सीमित हो जाती है। बैल की गति घंटे में चार मिल होने से खेत दो मील के अन्दर की ही दूरी पर रखना होता है। तीसरी बात, भारत में तेजी से विद्युतीकरण हो रहा है। अगर बहुत तेजी से भी यह काम हो, तो भी इस शताब्दी के अन्त तक आधे गाँवों में ही बिजली पहुँच सकेगी। फिर, बिजली सस्ती होनी चाहिए। यह सस्ती तभी हो सकती है जबकि केन्द्रित परियोजनाओं में इसका एकमुश्त इस्तेमाल हो और फिर उससे होनेवाली आय की मदद से विकेन्द्रित परियोजनाओं में इसका उपयोग किया जाय। अन्ततः विद्युत शक्ति तो एक किस्म की शक्ति है। जन-शक्ति भी तो है। राष्ट्र की वह अर्थ-व्यवस्था बुद्धिमतापूर्ण नहीं है जोकि जन-शक्ति को बर्बाद करती है तथा अन्य किस्म की शक्तियाँ प्राप्त करने के लिए हाथ पर हाथ धरे इन्तजार करती है। भारत की जन-शक्ति का जो न्यूनतम अन्दाज लगाया गया है, वह एक दर्जन पंचवर्षीय योजनाओं के पूर्ण होने के बाद जो बिजली शक्ति मिलेगी उससे अधिक है। हमारे शहरी लोगों के साथ कठिनाई यह है कि वे इस बात की अपनी शक्ति भर कोशिश कर रहे हैं कि ग्रामीण लोग शारीरिक श्रम की ओर से मुँह फेर लें। इसका परिणाम यह होगा कि लोग शारीरिक श्रम करना नहीं चाहेंगे। राष्ट्र तथा इसके आर्थिक पुनरुद्धार के प्रति यह उनकी बहुत बड़ी कुसेवा होगी। इसमें कोई संदेह नहीं कि राष्ट्रीय जीवन-स्तर का यह मान देश की सरकारें अपनाकर अचेतन रूप में ही इस प्रक्रिया में मदद दे रही हैं। अचेतन रूप में ही सही, पर राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक रूप में कृषि-औद्योगिक-सभ्यता को कमजोर करने का प्रयास किया जा रहा है। यह बहुत बड़ी दुर्घटना होगी, जिसके लिए हम सबको बहुत भारी मूल्य चुकाना होगा।

साधनों का संरक्षण

खादी और ग्रामोद्योगों की अत्यावश्यक समस्या है शहरी लोगों में यह समझ पैदा करना कि ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को विकसित करने का एकमात्र माध्यम है कृषि को एक ओर पशुपालन और दूसरी ओर ग्रामोद्योगों से सहारा देना। इससे कृषि पर जो अधिक बोझ है, वह कम होगा। इससे हम ग्रामीण जनता के अवकाश काल का इस्तेमाल कर सकेंगे, और यह कोई छोटा लाभ नहीं है। हम प्रति दिन दो करोड़ मनुष्य-दिन से कम श्रम नहीं खोते। इससे हम सरल तकनालाजी आरम्भ कर सकेंगे, जो कि जैसे जैसे विकसित होगा, राष्ट्रीय तकनालाजिकल ज्ञान-पुंज को बढ़ाता जायगा, क्योंकि यह काफी फैला हुआ होगा। इससे हम राष्ट्र के अतिरिक्त जन-शक्ति साधन का इस्तेमाल कर सकेंगे तथा उन्हें उत्पादन कार्यों में लगा सकेंगे। इससे हम उपलब्ध कच्ची सामग्रियों का, जो कि गाँवों और जंगलों में बेकार जाती हैं, उपयोग कर सकेंगे। इससे हम अर्थ-व्यवस्था पर बिना कोई भार डाले लोगों का जीवन-स्तर उन्नत कर सकेंगे, क्योंकि इस कार्य के लिए बहुत ही कम प्रारम्भिक पूंजी की जरूरत है तथा उत्पादनों का स्थानीय बाजार है। इससे हम हर क्षेत्र में राष्ट्रीय साधन-स्रोतों का संरक्षण कर सकेंगे।

रोजगारी

खादी और ग्रामोद्योगों के योगदान को इस पहलू से मापना होगा। किसी चीज की उपयोगिता कभी कभी

उसके प्राप्त परिणामों से अधिक अच्छी तरह प्रदर्शित की जा सकती है। आज खादी और ग्रामोद्योग १७ लाख लोगों को अंशकालीन काम देते हैं। मजदूरी प्रति दिन १९ नये पैसे से ३ रुपये तक मिलती है। औसत करीब ३७ नये पैसे पड़ता है। कृषि को छोड़कर, क्या कोई और ऐसा धंधा है जो कि सामान्य पूँजी की लागत से इतने अधिक लोगों को रोजगारी दे सकता हो? यह सच है कि मजदूरी कम है, परन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि लाखों लोग धीरे-धीरे गतिहीन जीवन से गतिशील जीवन की ओर बढ़ रहे हैं। वे अम्बर युग में प्रवेश कर रहे हैं। ऐसी आशा है कि इस वर्ष के अन्त तक हम ऐसे यंत्र की इजाद कर लेंगे जो कि आठ घंटे काम करने पर औसतन एक रुपया दिला ही सकेगा। यह सही है कि उपभोक्ता और सरकार दोनों को किसी न किसी प्रकार की सब्सिडी देनी होती है। परन्तु भारत में बिना जनता अथवा सरकार की सहायता के किस उद्योग को सफल होने की उम्मीद है?

खादी का योगदान वर्ष में करीब १० करोड़ गज वस्त्र है। एक बार सूतकार इस नये चरखे को चलाना सीख लें तो यह उत्पादन सहज ही दूना हो जा सकता है। चरखे में हर सुधार न सिर्फ उत्पादन में ही वृद्धि लायगा अर्थात् अतिरिक्त जनशक्ति को दिन प्रति दिन बड़े पैमाने पर सामाजिक कार्यों में लगायगा, बल्कि तकनीकों में सुधार होगा और लोगों की दक्षता भी बढ़ेगी। खादी और ग्रामोद्योग कार्यों में लगे लोगों की समस्या है—खादी और ग्रामोद्योग कार्यक्रम के प्रति शहरी लोगों का सहानुभूति पूर्ण रुख बनाना। इस सहानुभूतिपूर्ण रुख के अलावा और भी दो काम करने होंगे—देश के पूर्ण औद्योगीकरण की समस्या के प्रति कुल दृष्टिकोण पर गम्भीरतापूर्वक विवेचन करना होगा तथा शैक्षणिक और औद्योगिक क्षेत्रों में, और इससे भी अधिक लोगों के दैनिक जीवन में वे समंजन करने होंगे जोकि अनिवार्य हैं।

नयी दिल्ली : ९ जुलाई १९६३

भारतीय अर्थ-व्यवस्था के पर्यवेक्षकों को यह आभास मिलना उचित ही है कि इस देश में एक नहीं, बल्कि दो बड़े आर्थिक सुधार आंदोलन चल रहे हैं। एक है बड़े पैमाने के औद्योगीकरण का कार्यक्रम, मुख्यतः कोयला, इस्पात, मशीन तथा मशीन बनानेवाले औजार, ट्रक, लोकोमोटिव यानी रेल के इंजन, बुनियादी रसायन, उर्वरक और विद्युत उत्पादन के क्षेत्र में। दूसरा, ग्रामों में मुख्यतः कृषि परन्तु साथ ही सामुदायिक विकास, स्थानीय निर्माण और सार्वजनिक निर्माण परियोजनाएँ, ग्रामीण उद्योग और सहकारिताएँ जैसे संबंधित कार्यों पर भी जोर देता है। निस्सन्देह विकास कार्यक्रम की ये दो मुख्य धाराएँ अतिव्याप्त हैं। ये प्रशासनिक और निहित अर्थ की दृष्टि से अन्तरसम्बन्धित हैं। परन्तु दोनों के क्षेत्र अलग हैं, नेतृत्व अलग हैं, वृत्ति अलग हैं और पूर्व धारणाएँ अलग हैं।

—जॉन पी. लुई : *क्वायट क्राइसिस इन इंडिया*
दि ब्रूकिंग्स इन्स्टीट्यूशन, वाशिंगटन डी. सी.

तकनीकों का चयन

वैकुण्ठ ल. मेहता

रोजगारी और प्राविधिक दक्षता के बीच समुचित संतुलन बनाये रखना है। यदि औद्योगिक दृष्टि से विकसित जापान जैसे देशों में भी जन-हित की दृष्टि से प्राविधिक प्रगति की गति नियमित करनी पड़ती है तो हमारे यहां तो इस प्रकार के कदम उठाने की आवश्यकता बिल्कुल स्पष्ट है, जहाँ पूर्ण तथा अर्ध-बेकारी ने भयंकर रूप धारण कर लिया है।

हमारे अपने देश तथा विदेश दोनों में ही भारतीय आयोजन के आलोचकों ने हमारी पंचवर्षीय योजनाओं में ग्राम व अन्य कुटीरोद्योगों को जो स्थान प्रदान किया गया है उस पर प्राय: आपत्ति उठायी है। यद्यपि इनके लिए नियत धनराशि योजना-परिव्यय का एक बहुत ही मामूली हिस्सा है, तथापि इसे राष्ट्रीय साधन-स्रोतों की बर्बादी कह कर आलोचना की गयी है। ये आलोचक जो कसौटी अपनाते हैं वह स्थूल रूप में, निवेश-उत्पादन अनुपात है। यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि इसी समान निवेश से यदि इसका उपयोग अपेक्षाकृत अधिक अच्छी तकनीकों का व्यवहार करनेवाले उद्योगों के जरिये किया जाता तो सकल राष्ट्रीय उत्पादन में कितना ही अधिक योगदान मिला होता। फिर भी, योजना अधिकारियों ने जो चुनाव किया है वह बड़ी सूझ-बूझ के साथ किया है; क्योंकि वे देश की अर्थ-व्यवस्था के बुनयादी तथ्यों को समझते, जानते, पहचानते हैं। इन तथ्यों में जो सर्वाधिक चिन्ता का विषय है वह है जनता में भयंकर बेकारी का होना। अतएव बेकारी को और बढ़ने से आवश्यक रूप से ही रोकनेवाले रोजगारी के अवसरों का विस्तार करना हमारे आयोजन का एक मुख्य उद्देश्य हैं।

बुनियादी उपागम

योजना आयोग का सम्भवतः यही दृष्टिकोण था जब उसने द्वितीय पंचवर्षीय योजना बनाने से पूर्व ग्राम और लघुस्तरीय उद्योग (कर्वे) समिति नियुक्त की, ताकि सामान्य मांगवाली उपभोक्ता सामग्री उत्पादन करनेवाले कुटीर तथा ग्रामोद्योग जितनी रोजगारी प्रदान कर सकते हैं उसमें अनुक्रमिक रूप से वृद्धि प्राप्त की जा सके। अपने प्रतिवेदन में समिति ने बुनियादी उपागम संक्षेप में इस प्रकार परिभाषित किया: पूर्ण अथवा अर्ध-बेकारी में और वृद्धि रोकना; अनुक्रमिक रूप से यथासंभव अधिकाधिक रोजागारी प्रदान करना; विकेन्द्रित औद्योगिक पद्धति के लिए आधार निर्धारित करना; और समुचित तीव्र गति से आर्थिक विकास को प्रोत्साहन देना। और अधिक प्राविधिक बेकारी के फैलाव को रोकना इसके बड़े भारी काम का प्रारम्भ बिन्दु लगता है।

तकनीकों के चुनाव के प्रति उनके दृष्टिकोण अथवा उपागम में भी यह मुख्य कसौटी है जो खादी और ग्रामोद्योगों के विकास कार्य में लगे कार्यकर्त्ताओं ने प्रयुक्त करने की कोशिश की है। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन ने १९६१ के प्रारम्भ में प्रसारित अपने नीति-विषयक वक्तव्य में आग्रह किया कि किसी विशेष उद्योग अथवा विशिष्ट प्रक्रिया में नयी तकनीक के अपनाने से उसमें लगे श्रम का विस्थापन नहीं होना चाहिए। इसके विपरित यदि उक्त मार्ग से रोजगारी के विस्फुरण अथवा फैलाव या अतिरिक्त रोजगारी के अवसर निर्मित करने को प्रश्रय मिले तो सम्बद्ध तकनीक का समर्थन किया जाना चाहिए। रोजगारी और तकनीकल कार्य-कुशलता के मध्य समुचित सन्तुलन बनाये रखना होगा।

बारह वर्ष के आयोजन के बावजूद बेरोजगारी के क्षेत्र में जो वृद्धि हुई है उसके सन्दर्भ में, कुछ क्षेत्रों में ऐसी

कार्य-पद्धति का चयन करना ही पड़ेगा कि उसके फलस्वरूप यह रोग और अधिक न फैले। 'गोखले इन्स्टीट्यूट ऑफ् पॉलिटिक्स एण्ड इकनॉमिक्स' तथा सर्व सेवा संघ के संयुक्त तत्वावधान में 'भारत में आयोजित अर्थ-व्यवस्था के मार्ग' पर विचारार्थ पूना में अप्रैल १९६१ में जो गोष्ठी हुई थी, उसमें जो विचार प्रकट किये गये उनका सार भी यही था। हमारी अर्थ-व्यवस्था की वर्तमान अवस्थाओं के अन्तर्गत निकट भविष्य में हम जो भी औद्योगिक तकनीक अपनायें वे ऐसी होनी ही चाहिएं कि प्रयुक्त प्रति पूंजी इकाई से पर्याप्त मात्रा में श्रमिकों को रोजगारी मिले। अतएव हमें विकसित अर्थ-व्यवस्थावाले देशों में प्रचलित पूंजी-प्रधान तकनीकों की नकल करने की प्रवृति को निरूत्साहित करना पड़ेगा। तदनुसार औद्योगिक पद्धति अथवा स्वरूप ऐसा करना पड़ सकता है कि उससे बड़े पैमाने पर रोजगारी सुनिश्चित हो। जैसा कि कर्वे समिति के विचारार्थ विषय से ज्ञात होता है, यह पर्यवेक्षण सामान्य मांगवाली उपभोक्ता सामग्री तैयार करनेवाले परम्परागत उद्योगों में विशेष शक्ति के साथ प्रयुक्त होता है बनिस्बत उन कारखानों के जो उत्पादक तथा उपभोक्ता दोनों प्रकार के सामान का उत्पादन करते हैं।

विकसित देशों का उदाहरण

विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्थावाले भारत में ही यह बात नहीं है कि प्राविधिक विकास को नियमित करने के लिए उक्त तथ्य एक प्राथमिक विचार बन जाता है। औद्योगिक उत्पादन के अनेक क्षेत्रों में आज जापान उत्तरी अमेरिका, पश्चिम यूरोप अथवा रूस से अच्छी हालत में है। तिस पर भी, हाल ही में हुए सर्वेक्षणों से पता चलता है कि अमूमन तौर पर उसकी ४५ प्रति शत श्रम-शक्ति निम्न प्राविधिक स्तरवाले उद्योगों में लगी है। यह निर्णय जानबूझ कर और प्राविधिक प्रगति रोकने के लिए किया गया है अन्यथा कहीं ऐसा न हो कि उससे बड़े भारी पैमाने पर बढ़ती जानेवाली बेरोजगारी पैदा हो जाय। स्पष्टतः इसी प्रकार की समस्या इंग्लैण्ड के सामने है। **न्यू स्टेट्समैन** ने अपने २८ जन १९६३ के अंक में टीका करते हुए कहा है "स्वचलन (औटोमेशन) के इस युग में, जहाँ मशीनें रोजगारी हजम कर जाती हैं, ब्रिटेन के सामने अपने कामगारों के लिए पर्याप्त काम सुनिश्चित करने से भयंकर कोई दूसरी चुनौती नहीं है।" अलाभदायक बताये जाने की जोखिम उठाकर भी सरकार को श्रम-प्रधान उद्योग बनाये रखना बर्दाश्त करना चाहिए। अन्त में **न्यू स्टेट्समैन** कहता है कि "या तो वैसा होगा या फिर एक ऐसा अवसर उपस्थित होगा जिसमें लाखों लोग निठल्ले रहेंगे।"

यदि औद्योगिक दृष्टि से उन्नत देशों में भी जनहित के विचार से प्राविधिक प्रगति की गति नियमित करनी पड़ती है तो हम, जबकि हमारे यहाँ बेकारी बहुत अधिक है, उक्त उद्धरणों से जो चेतावनी मिलती है उसकी अवहेलना नहीं कर सकते। कितनी, किस अवधि में अनुकूलन हासिल करना है, ऐसे कौन-से क्षेत्र हैं जिनमें परिवर्तन सर्वोत्तम रूप में लाया जा सकता है, कौन-से प्रदेशों में उक्त बातें लागू की जानी चाहिए, ये कुछ ऐसे मामले हैं जिन पर कोई निर्णय लेने से पूर्व सोच-समझ कर विचार किया जाना चाहिए। लेकिन एक पहलू पर जोर देना ही पड़ेगा। रूपान्तर का खर्च समग्र समुदाय को समष्टि के रूप में वहन करना चाहिए। उसका असर किसी विशेष परम्परागत उद्योग में लगे कामगारों पर नहीं पड़ना चाहिए। **न्यू स्टेट्समैन** ने बताया है कि उल्लिखित कामकारों का जीवन-मूल्य यानी स्तर और उन्हें उपभोक्ताओं के रूप में प्रदत्त सेवाओं का गुण-स्तर राज्य अर्थात् सरकार का मुख्य ताल्लुक होना चाहिए, फिर चाहे, जिसे 'काम रोकना' कहा जाता है उसकी अवधि कितनी भी लम्बी क्यों न हो।

मानवीय दृष्टिकोण

एक और भी पहलू है जिसे ग्राम तथा कुटीरोद्योगों में ये फेर-बदल करते वक्त दृष्टिओझल नहीं किया जाना चाहिए। आर्थिक विकास की हमारी दौड़ में मानव का इस माने में मशीनों के लिए बलिदान नहीं किया जाना चाहिए कि वह मशीनों का मालिक बनने के स्थान पर गुलाम बन जाय। लुई ममफोर्ड (Louis Mumford)

ने दि ट्रांसफॉरमेशन ऑफ् मैन (मानव का रूपान्तरण) में ठीक कहा है कि " हम चन्द प्रकार के उत्पादनों और कुछ उत्पादन तरीकों का समर्थन कर सकते हैं तथा मानव के व्यक्तित्व पर उनका क्या असर पड़ता है, इस दृष्टि से कुछ का परित्याग कर सकते हैं; हम इनके प्रभाव का मात्र यांत्रिक कुशलता पर मूल्यांकन नहीं करेंगे, बल्कि उन्हें प्रेम, मैत्रित्व की भावना, पारिवारिक जीवन, नागरिकता की कसौटी पर कस के देखेंगे।"

आचार्य विनोबा भावे ने जब यह अनुपम समीकरण प्रस्तुत किया तो उनके मस्तिष्क में यह मानवीय दृष्टिकोण था। समीकरण है : विज्ञान योग हिंसा बराबर है सर्वनाश; विज्ञान योग प्रेम बराबर है सर्वोदय या उत्तम समाज। हम प्रविधि का इस ढंग से उपयोग न करें कि वह ग्राम और कुटीर उद्योगों में लगे समाज के सबसे कमजोर वर्गों के हजारों-लाखों कामगारों का जीवन विश्रृंखल बनाती हुई हिंसा पैदा करे तथा उससे भी अधिक सामाजिक न्याय का तकाजा है कि परिवर्तन इस प्रकार आयोजित एवम् कार्यान्वित किये जाने चाहिए कि उनसे इन कारीगरों को काम अधिक मिले तथा उनका आय-स्तर बढ़े। ऐसा करने में, जैसा कि अप्रैल १९६२ में दिल्ली में वहाँ की 'इन्स्टीट्यूट ऑफ् इकनॉमिक ग्रोथ' और सर्व सेवा संघ के संयुक्त तत्वावधान में आयोजित विचार गोष्ठी ने माना, स्वीकार किया था, इन उद्योगों में उनके उत्पादनों पर आर्थिक सहायता (सब्सिडी) देकर न्यून आय-स्तर ऊपर उठाने की बात आ सकती है।

कमीशन द्वारा प्रसारित नीति-विषयक घोषणा-पत्र में इसे आयोजित विकास का एक उद्देश्य माना गया था कि श्रम-विस्थापन से बचने के प्राथमिक विचार का पूरा ध्यान रखते हुए यदि उनसे उत्पादकता-स्तर ऊपर उठाना निश्चित रूप से सुनिश्चित हो तो प्राविधिक परिवर्तन का समर्थन किया जायेगा, बशर्ते कि उसका स्वतंत्र-रोजगारी (सेल्फ इम्प्लायमेण्ट) के सिद्धान्त पर कोई बुरा असर न पड़नेवाला हो। स्वतंत्र रोजगारी में स्वयम् कारीगरों की औद्योगिक सहकारी समितियों अथवा सेवा सहकारों—जिनके कारीगर सदस्य हों—द्वारा संचालित उद्योग भी आ जाते हैं। यहाँ हम ग्राम पंचायत की ग्राम सभा को उन तकनीकों के समावेश के लिए उत्तरदायी बनाने की कल्पना कर सकते हैं जिनसे स्वतंत्र रोजगारी को प्रोत्साहन मिले और साथ ही साथ किसी विशिष्ट स्थानीय परम्परागत उद्योग में लगे कारीगरों को परिपूर्ण रोजगारी भी मिले। प्रारम्भ में, कमीशन ने अनेक ऐसी परिस्थितियाँ भी बतायी थीं कि जिनके अन्तर्गत न केवल उन्नत तकनीकों के समावेश पर कोई एतराज नहीं होना चाहिए बल्कि वैसी अवस्था में उनका विशेष रूप से समर्थन किया जाना चाहिए। उदाहरणार्थ, जहाँ मानसिक दृष्टि से हानिकारक मजदूरी करनी पड़ती हो, जहाँ किसी काम में अत्यधिक शारीरिक श्रम की आवश्यकता हो, जहाँ किसी एक क्रिया में परिवर्तन से आगे की क्रियाओं में उत्पादन बढ़ाने में मदद मिलती हो, वहाँ उन्नत तकनीकें अपनाने के लिए पर्याप्त औचित्य है।

सामाजिक मूल्य

हमारा उद्देश्य है जीवन-स्तर ऊपर उठाना यानी उत्पादक कार्यों में लगे सभी व्यक्तियों का जीवन आनन्दमय तथा समृद्ध बनाना। स्वतंत्र रोजगारी या आत्म-निर्भरता अथवा विकेन्द्रीकरण अपने आप में कोई साध्य नहीं हैं। इनका समर्थन इसलिए किया जाता है, क्योंकि जैसा कि पूना में हुई गोष्ठी ने इस बात की पुष्टि की थी, इन सबसे उन मार्गों का संकेत मिलता है जिनके अनुसार चलने पर उद्योगों का विस्फुरण करने हेतु रोजगारी के अवसर विस्तृत करने और आर्थिक तथा राजनीतिक शक्ति संकेन्द्रण बढ़ने को रोकने में समर्थ होंगे। छोटी-छोटी पारिवारिक इकाइयों, मध्यम पैमाने की इकाइयों अथवा ऐसी इकाइयों के जरिये जिन पर सहकारी मिल्कियत हो, या कामगारों के स्वामित्व और प्रबन्ध की पद्धति के जरिये स्वतंत्र रोजगारी को प्रोत्साहन देते हुए उस दृष्टि से आर्थिक उत्थान के लिए आयोजन करना सम्भव है जो राष्ट्र द्वारा पालित-पोषित यानी प्राप्त एवम् भारत के संविधान में निहित सामाजिक मूल्यों की रक्षा करे।

बम्बई : ९ जुलाई १९६३

टैगोर और ग्राम पुनर्निर्माण +

रथीन्द्रनाथ टैगोर

ग्रामीण क्षेत्रों के पुनरुत्थान कार्य में विश्व कवि रवि ठाकुर का बहुत मूल्यवान योगदान रहा है। ग्रामीण जनता को आत्म निर्भर बनाने के लिए वे बहुत आकुल थे। उन्होंने कहा था : "अगर मैं केवल एक या दो ही गांवों को अज्ञानता और कमजोरी के बंधनों से मुक्त कर सकूं, तो छोटे पैमाने पर पूरे भारत के लिए एक आदर्श ग्राम की रचना हो सकेगी। ......चन्द देहातों में ही इस आदर्श को कार्य रूप में परिणत किया जाय, और मैं कहूंगा कि ये चन्द देहात ही मेरा भारत है।" उनके पुत्र श्री रथीन्द्रनाथ, रवीन्द्रनाथ के ग्राम विकास संबंधी दृष्टिकोण पर विवेचन करते हुए लिखते हैं : अनेक अड़चनों और असफलताओं के बावजूद जनता पर उनका विश्वास कभी नहीं डगमगाया, क्योंकि उनकी भित्ति वास्तविक स्नेह की मजबूत नींव पर आधारित थी।

हितैषी सभा के गठन के बाद पतिसर में उसकी पहली बैठक हुई। सदस्यों ने प्रस्ताव किया कि रैयत जो लगान देते हैं, उस पर तीन पाई प्रति रुपया के हिसाब से अनिवार्य कर लगाया जाय ताकि सार्वजनिक कामों के लिए सभा उसका उपयोग कर सके। जमींदारी के समस्त लोगों ने इस प्रस्ताव का पूर्ण समर्थन किया और स्वतः शुरू किये हुए इस कर में सभा ने बाद में वृद्धि करके रुपये पर १५ पाई कर लेना प्रारंभ किया। यह "साधारण निधि" कही जाती थी जिसके लिए जमींदारी ने भी पर्याप्त धन दिया। निधि की रकम, विभागा संगठनों के जरिये पाठशालाओं व चिकित्सालयों की स्थापना तथा संचालन, सड़कों का निर्माण, बेकार जलाशयों को भरना, तालाबों की पुनः खुदाई तथा साधारणतया सार्वजनिक हित की परियोजनाएँ चलाने में खर्च की जाती थी। हितैषी सभा के गठन के बाद सन् १९०८ में श्रीमती अबला बोस* को पतिसर से एक पत्र में पिताजी ने लिखा था—"ऐसी व्यवस्था की गयी है कि सड़कों का निर्माण, जलाभाव की पूर्ति, पंचायती द्वारा आपसी झगड़ों का निपटारा, पाठशालाओं की स्थापना, जंगलों की सफाई तथा अकाल की स्थिति का मुकाबला करके धर्म-गोलों की स्थापना आदि कार्यों के द्वारा ग्रामवासी अपने कल्याण कार्यों का भार स्वयं उठाने के योग्य बन जायँ एवं अपने अपने ग्राम के कल्याणार्थ कार्य में वे हर प्रकार सहयोग दे सकें।"

स्वशासन की ओर

स्वदेशी समाज के संबंध में अपने निबंध (१९०४) में पिताजी ने आवाहन किया था कि पवित्र प्रस्तावों के जरिये अंग्रेजों से राजनीतिक अधिकारों की भीख माँगने के बजाय जनता को चाहिए कि वह अपनी समानान्तर सरकार कायम कर ले—जो राज्य के भीतर एक राज्य की तरह होगा—और स्वशासन प्राप्त करने का वही सर्वोत्तम तरीका होगा। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर उन्होंने अपनी दोनों पारिवारिक जमींदारियों में, हितैषी सभा बनने के बहुत पहले, पूर्ण न्यायालयों की स्थापना कर दी थी। (यह सम्भवतः १९ वीं शताब्दी के अंतिम दशक की बात होगी) हितैषी सभा का काम शुरू होने तक रैयत लोग इस प्रथा को मान चुके थे और इस बात के आदी हो गये थे कि अपने सभी दीवानी झगड़े पंच-न्यायालय के समक्ष फैसले के लिए ले जायँ। अपने झगड़े आपस में निबटा लेने के फायदों से वे इतने जागरूक हो गये थे कि कानूनी अदालतों तक जाना

+ **ए सेंटीनेरी वोल्यूम, रवीन्द्रनाथ टैगोर : १९६०-६१** साहित्य अकादमी, नई दिल्ली से पुनर्उद्धृत

* डा० जगदीशचन्द्र बोस की धर्मपत्नी, हैं।

हिकारत की नजर से देखा जाता था और जो ऐसा करता था उसका हुक्का-पानी बन्द कर दिया जाता था। सभी झगड़े गाँव के मुखिया लोगों के सामने पेश किये जाते और वे उनका निबटारा करते। निर्णय अमान्य होने पर पंचप्रधानों की अदालत में अपीलें सुनी जाती थीं। इन मुकदमों के आवश्यक दस्तावेज और कागजात बड़ी सावधानी से सँभाल कर रखे और फाइल किये जाते थे। मैंने यहाँ तक देखा है कि अपढ़ लोगों की ओर से, जो स्वयं अपने मुकदमे की पैरवी नहीं कर सकते थे, लोग स्वयं वकील बनकर उनका मुकदमा लड़ते थे, और अंतिम अपील जमींदार के समक्ष की जाती थी।

पिताजी ने जमींदारी के प्रबंध का भार जब मुझ पर सौंपा तो जमींदारी के गाँवों में मैं अक्सर जाता रहता था। उस समय मेरा अधिकतर वक्त इन अपीलों के सुनने में ही बीतता था। ये आपसी झगड़े मुख्यत: भूमि पर कानूनी स्वामित्व से संबंधित होते थे जो ऐसे पेचीदे होते थे कि बंगाल काश्तकारी कानून सम्बन्धी मेरे अल्प ज्ञान की कड़ी परीक्षा के लिए काफी थे। रैयत का जमींदार पर इतना गहरा विश्वास था कि उनमें से कोई अगर महज रस्म अदायगी के लिए भी जमींदार से मिलने आता तो एक न एक दर्ख्वास्त लेकर आता और इस विश्वास की परंपरा हमारे पितामह महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने स्थापित की थी, पिता जी ने उसको विकसित किया था और पैत्रिक रूप में वह मुझे मिली थी। दस्तावेज आदि कागजात को सुरक्षित रखने के लिए जो खर्च लगता था, उसके निमित्त एक मामूली शुल्क हर दावे के पीछे लिया जाता था। पंच फैसले की यह पद्धति आश्चर्यजनक रूप से चलती रही। लोग इससे इतने अधिक संतुष्ट थे कि सरकार की छोटी अदालतों में मुश्किल से हमारी जमींदारी से किसी रैयत का कोई दीवानी मामला पहुँच पाता था। सौभाग्य से सरकार ने इस पर कोई एतराज नहीं उठाया और न ही उसने इस समानान्तर न्यायप्रणाली को संदेह की दृष्टि से देखा। दरअसल जिले के सरकारी गजेटियर में हमारी जमींदारी व्यवस्था के बारे में प्रशंसा करते हुए लिखा गया– "जमींदारी शासन का एक अत्यंत आदर्श नमूना है"।

कर्ज का बोझ

परन्तु दूसरी एक ऐसी समस्या थी, जिसे हितैषी सभा अच्छी तरह हल नहीं कर सकी। अधिकतर ग्रामीण कर्ज के बोझ से दबे रहते थे और महाजनों को अत्यधिक मनमानी सूद देते-देते तबाह थे। कृषकों के सिर से कर्ज का यह परंपरागत बोझ हलका करने के उपायों के बारे में पिताजी बराबर सोचा करते थे। उस समय एक ऐसे बैंक की बहुत जरूरत थी जो किसानों को उनकी जमीन की साख पर ऋण दे सकता। परन्तु उस समय पिताजी के पास कोई पूंजी नहीं थी। फिर भी अपने मित्रों से उन्होंने कुछ पैसे उधार लिये और पतिसर में एक कृषि बैंक शुरू किया। इससे तुरंत लाभ पहुँचा। साहूकारों ने अपना कारोबार जमींदारी के बाहर हटाना शुरू कर दिया। बैंक से ऋण की अधिकाधिक माँग होने लगी। पिताजी को मित्रों के ऋण पर ७ से ८ प्रति शत सूद देना पड़ता था। इस वजह से बैंक १२ प्रति शत से कम सूद ग्राहकों से नहीं ले सकता था, क्योंकि समय पर अदायगी न होने से जो हानि होती थी उसकी भी पूर्ति करनी होती थी। फिर भी यह १२ प्रति शत ब्याज महाजनों के सूद की दरों की तुलना में बहुत कम था। पिताजी को बैंक के लिए और कोई पूंजी प्राप्त न हो सकी। उनके नोबल पुरस्कार की रकम १,१०,००० रुपये उनके हाथों में १९१३ में पहुँची। यह इस सूचना के साथ शांति निकेतन विद्यालय को दान स्वरूप दे दी गयी कि वह पतिसर कृषि-बैंक में जमा कर दी जाय। इससे दुहरा उद्देश्य पूरा हो गया–विद्यालय को सतत ८,००० रुपये की वार्षिक आय होने लगी और बैंक को भी कृषकों को ऋण देने के लिए अतिरिक्त पूँजी प्राप्त हो गयी।

शुरू से ही हितैषी सभा ने अपने क्षेत्र के बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध करने और उसके लिए सहूलियतें उपलब्ध कराने के काम को प्राथमिकता दे रखी थी। सभी इस बात के लिए लालायित थे कि उनकी नयी

पीढ़ी को, जैसी शिक्षा उन्होंने खुद न पायी है, उससे अधिक अच्छी शिक्षा दी जाय। पाठशालाएँ खुलने लगीं और करीब-करीब हर गाँव में एक-एक पाठशाला हो गयी। हर विभागा में एक छोटा स्कूल खोला गया। पतिसर में उच्च विद्यालय स्थापित हुआ। जमींदारी के दूर-दूर के कोने से नावों में बैठकर इस विद्यालय में पढ़ने आनेवाले छात्रों को देखकर बड़े आनन्द की अनुभूति होती थी। एक बार लोगों ने जहाँ पाठशालाओं की महत्ता समझ ली, फिर पिताजी के लिए यह खास जरूरी नहीं रह गया कि वे आगे भी उसी प्रकार उस कार्य के लिए प्रेरणा देते रहें, क्योंकि शिक्षा की आकांक्षा सार्वभौम रूप से फैल चुकी थी।

कृषि में सुधार

पतिसर के इर्द-गिर्द के देहात पूर्णतः धान की फसल पर निर्भर करते थे। हर साल वहाँ बाढ़ आ जाती। ऐसी हालत में केवल धान की ही पैदावार वहाँ होती थी। पिताजी के लिए ऐसे एक–फसली क्षेत्र में कृषि-सुधार की दृष्टि से कुछ सुझाना मुश्किल था। परंतु वे इस पर सतत सोचते रहते थे जो उनके उन पत्रों से स्पष्ट है जो उन्होंने पतिसर के अपने कर्मचारियों को समय-समय पर लिखे थे। अपने एक खत (१९०८) में उन्होंने लिखा था : "उन्हें प्रोत्साहित करो कि वे अपनी बाड़ियों में तथा खेतों की मेड़ों पर और जहाँ कहीं भी संभव हो, अनन्नास, केले, खजूर तथा अन्य फल-वृक्ष लगावें। अनन्नास के पत्तों से मजबूत और सुन्दर रेशे प्राप्त किये जा सकते हैं। फल बाजार में आसानी से बेचे जा सकते हैं। मेड़ों पर प्रकण पैदा किये जा सकते हैं। उसकी जड़ों से किस प्रकार खाद्य-पदार्थ प्राप्त किया जा सकता है, यह अपने किसानों को सिखाया जाना चाहिए। अगर वे आल बोने को राजी किये जा सकें तो उससे भी लाभ हो सकता है। कार्यालय में जो अमेरिकी मकई रखी हुई है, उसे बोने का प्रयत्न फिर से करो।"

परंतु पतिसर में, जब तक यंत्रचालित ट्रैक्टर नहीं आ गया, कृषि संबंधी सुधारों में कोई खास प्रगति नहीं हो सकी। उत्तर बंगाल बाढ़ निवारण समिति ने कुछ ट्रैक्टर खरीदे थे और उनमें से एक अपनी जमींदारी में प्रयोगात्मक खेती के लिए पिताजी को उधार दिया गया। मुझे कहा गया कि मैं इसका प्रयोग कर देखूं। पहले तो किसानों ने उसके इस्तेमाल पर बहुत एतराज उठाये और उसकी तरफ शंका की दृष्टि से देखने लगे। लेकिन जब कई बार उन्होंने उसके प्रदर्शन देखे और यह समझ लिया कि यह मशीन तो बड़ी अच्छी चलती है और काम भी बहुत कम कीमत पर होता है, तो वे संतुष्ट हो गये। लेकिन छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटी हुई जमीन पर ट्रैक्टर चलाने की समस्या से मैं बेहद परेशानी में पड़ गया। किंतु इस समस्या का समाधान किसानों ने खुद ही निकाला। उन्होंने कहा कि ट्रैक्टर चलाने से अगर उनकी खेतों की मेड़ें टूट जाती हैं तो कोई बात नहीं। ट्रैक्टर से मेड़ें तो टूट जाती थीं पर उसकी निशानियाँ रह जाती थीं। लोग फावड़े लेकर खड़े रहते थे और जुताई पूरी हो जाने पर पुनः मेड़ें बना लेते थे। मैंने एलान कर दिया था कि कोई भी किसान ट्रैक्टर किराये पर ले सकता है और एक रुपया प्रति बीघे की दर से अपने खेतों की जुताई कर सकता है। तब तो हर व्यक्ति यही चाहता था कि ट्रैक्टर उसे ही मिले। पर हमारे पास केवल एक ट्रैक्टर था और यह संभव न था कि जमींदारी की कृषि योग्य समस्त भूमि उसीसे जुत जाय। फिर स्थिति यह आयी कि उन्होंने जब तक मुझ से यह वादा नहीं करा लिया कि अगले साल में अधिक ट्रैक्टर प्राप्त करने की कोशिश करूँगा, उन्होंने मुझे पतिसर से जाने ही नहीं दिया।

कुटीर दस्तकारियां

पिताजी ने देखा कि असली काश्तकार तो साल में केवल कुछ ही महीने कृषि-कार्यों में व्यस्त रहता है और शेष अवधि के लिए उसके पास कोई काम ही नहीं रहता। इसलिए उन्होंने चाहा कि दस्तकारी का कुछ काम वहाँ शुरू हो ताकि वे अपने फाजिल वक्त में कुछ अतिरिक्त आय कर सकें। उन्होंने यह प्रस्ताव हितैषी सभा के सामने पेश किया। सभा ने शीघ्र ही पतिसर में

एक बुनकर विद्यालय प्रारंभ करने के लिए तुरंत ही पैसा दिया। एक स्थानिक बुनकर को प्रशिक्षणार्थ शांति निकेतन भेजा गया ताकि बुनाई की उन्नत पद्धति वह वहाँ सीख सके। वहाँ से उसके लौटकर आने के बाद विद्यालय शुरू कर दिया गया। परन्तु यह सिर्फ आरंभ मात्र था। अन्य परियोजनाएँ भी ली गयीं, जिनमें मत्स्यपालन उद्योग भी शामिल था। मुझे लिखे हुए अपने एक पत्र (१९११) में पिताजी ने सहकारी बुनियाद पर वहाँ एक चावल मिल खोलने की संभावनाओं पर भी विचार किया था। उन्होंने यह भी कहा था कि "मैं सोच रहा हूँ कि कौन-सा गृहोद्योग इस स्थान के किसानों को सिखाया जा सकता है। यहाँ तो धान के सिवा कुछ भी नहीं होता। पर यहाँ की भूमि सख्त मिट्टी-वाली है और यही एक कच्चा माल यहाँ है। मैं जानना चाहता हूँ कि क्या कुम्हारी काम ग्रामोद्योग के तौर पर शुरू हो सकता है ? यह जानने की कोशिश करो कि क्या ग्राम जन छोटी भट्ठी के लिए कुछ खर्च करके यह उद्योग शुरू कर सकते हैं। छाते बनाना भी एक ऐसा उद्योग है, जो यहाँ शुरू किया जा सकता है। इन सब बातों की जाँच करना मत भूलना।"

जन आन्दोलन

यह जन-आंदोलन जिसकी प्रेरणा पिताजी ने दी थी, आज से करीब ७० साल पहले शुरू हुआ था। यह कार्य कोई आकस्मिक रूप से, उत्साह के जोश में आकर शुरू नहीं किया गया था, बल्कि ग्राम-जीवन का गहरा और लंबे अरसे तक अध्ययन करते रहने के बाद ही उनकी इस दिलचस्पी की नींव मजबूती के साथ जम पायी थी। जब वे नदिया, परबना और राजशाही जिलों में अपनी जमींदारी की विभिन्न कचहरियों का निरीक्षण करते हुए दौरे पर होते या शालीदहं और पतिसर में रहते होते या बंगाल के ग्रामजीवन के निकटतम संपर्क में आकर अपनी साहित्य-रचना के लिए सामग्री एकत्र करते होते तो अपने देशवासियों की गरीबी और दुःख-दर्द को देखकर उनकी आत्मा बराबर कराहती रहती थी। पर इस गरीबी से भी अधिक जिस चीज ने उन्हें अधिक धक्का दिया, वह थी लोगों की असहायता और जड़ता की भावना। सन् १९०७ में उन्होंने एक पत्र में लिखा था—"मैं प्रारंभिक बाधाओं से संघर्ष कर रहा हूँ। इनमें सबसे पहली और अत्यंत महत्व की बाधा है, लोगों का अंतर्द्वंद्व। लेकिन एक बार जहाँ उनके हृदय जीत लिये गये कि सब सरल हो जाते हैं।" अनेक अड़चनों एवं असफलताओं के बावजूद जनता पर उनका विश्वास कभी नहीं डगमगाया, क्योंकि उसकी भित्ति वास्तविक स्नेह की मजबूत नींव पर आधारित थी। जैसा कि उन्होंने खुद कहा है, "इन्हें देखकर मेरा अंतःकरण करुणा से भर आता है—ये किसान, हमारे रैयत, प्रान्त के असहाय और पंगु बच्चे, सबके ओंठों तक अन्न पहुँच जाना चाहिए, नहीं तो वे निष्क्रिय ही रहेंगे। जब भूमाता का आंचल सूख जाता है, वे समझ नहीं पाते कि क्या करना चाहिए, सिर्फ चिल्लाना जानते हैं। लेकिन जहाँ थोड़ा पेट भरा कि वे अपना पिछला सब दुःख भूल जाते हैं।"

पिताजी का पहला और मुख्य काम था, इन लोगों को उत्साहित करना, उनके अंदर आत्म-गौरव की भावना जागृत करना और उन्हें आत्मनिर्भर बनाना। इसमें वे काफी सफल हुए। एक बार जब ग्राम्य-जीवन के आर्थिक और सामाजिक पुनरुत्थान का भार स्वयं उठाने के लिए वे एक ओर संगठित हो गये तो आंदोलन तेजी-तेजी से बढ़ता गया और पिताजी सदा प्रेरित करने के लिए उनके साथ रहे। सन् १९०६ से लेकर विभाजन के पश्चात् पूर्व पाकिस्तान सरकार द्वारा जमींदारी के ली जाने के समय तक हितैषी सभा ने पिताजी द्वारा बनायी गयी योजना के अनुसार सार्वजनिक हितों का काम जारी रखा। यह संतोष की बात है कि हितैषी सभा का अस्तित्व अब भी बना हुआ है और पूर्व पाकिस्तान सरकार ने उसे इजाजत दी है कि वह पिताजी के समय में शुरू किये गये विद्यालय, अस्पताल, दवाखाने एवं अन्य संस्थाओं का काम वहाँ जारी रखे।

ग्राम पुनर्निर्माण संस्था

'श्रीनिकेतन' की ग्राम पुनर्निर्माण संस्था ने, जिसे पिताजी ने श्री लिओनार्ड एल्महर्स्ट की सहायता से सन्

१९२२ में स्थापित की, शेलीदह और पतिसर में पिताजी के ग्राम विकास कार्य के अनुभवों के आधार पर ही जन्म लिया था। पिताजी ने करीब-करीब अकेले ही यह सब काम किया था। जनता को उसकी बहुत कम जानकारी थी, अतः उसका इस ओर खास कोई ध्यान न था। पिताजी ने सोचा कि श्रीनिकेतन जैसी सार्वजनिक संस्था के कारण ग्रामोत्थान की जरूरत लोग अधिक महसूस करेंगे; क्योंकि राष्ट्र-निर्माण के कार्यक्रम की यह एक अत्यंत आवश्यक समस्या होगी। दुर्भाग्य से, देश श्रीनिकेतन के काम के प्रति लंबे अरसे तक उदासीन रहा। राष्ट्रीय मंच पर गांधीजी के आगमन के पहले तक ग्रामीण समस्याओं की ओर लोगों का कोई खास ध्यान नहीं गया था। बहुत कम लोग आज इस बात को जानते हैं कि साहित्य और कला के क्षेत्र में पिताजी की जो उपलब्धियाँ रही हैं, उनके अतिरिक्त ग्राम सेवा या सामुदायिक विकास कार्य में भी वे अग्रणी रहे हैं।

कहा जा सकता है कि ग्राम पुर्ननिर्माण के क्षेत्र में पिताजी का कार्य लोगों का अपेक्षित ध्यान इसलिए नहीं खींच सका कि उन्होंने कुछ सीमित दायरे में काम किया और उसके जो प्रयोग हुए और उनके जो नतीजे निकले, वे भी कोई खास महत्वपूर्ण सिद्ध नहीं हुए। हो सकता है, ये दोनों बातें ठीक हों। पर कुछ स्वाभाविक कारणों से ही उन्हें एक सीमित दायरे में काम करना पड़ा और वह भी अपने सीमित साधनों को लेकर ही। उन्हें यह भी ज्ञात था कि रचनात्मक काम तो एक मौन कार्य है, बिना किसी त्वरित परिणाम की आशा से प्रयोगों और भूलों के बीच उसे सतत जारी रखना होता है और कभी उसको तीव्र विरोध भी सहना होता है। यह विरोध केवल प्रस्थापित सत्ता की ओर से ही नहीं, अपितु उन लोगों की ओर से भी होता, जिनकी सेवा का लक्ष्य रखकर काम किया जाता है। सन् १९३९ में जब वे श्रीनिकेतन में आखिरी बार गये थे, तब इस विषय पर उन्हें जो कहना था, वहां कार्यकर्त्ताओं के सामने संक्षेप में भाषण देते हुए उन्होंने अंत में कहा था :

हमें ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि ग्रामवासियों के अंतर से ही उत्पन्न शक्ति हमारे साथ काम कर सके, यद्यपि हमारे लिए वह अगोचर है। जब मैंने 'स्वदेशी समाज' लिखा, तो यह विचार मेरे अंतःकरण में स्वयं उठा। मुझे जो कहना है, वह यह है कि हमें सारे देश की दृष्टि से सोचने की जरूरत नहीं है। मैं सारे देश की जिम्मेदारी ले भी नहीं सकता। मैं तो सिर्फ एक या दो छोटे देहातों का हृदय जीतना चाहता हूँ। हमें उनके हृदय में प्रवेश करना चाहिए, ताकि उनके सहयोग से हम काम करने के लिए शक्ति पा सकें। यह सरल कार्य नहीं है। यह बहुत मुश्किल काम है और इसके लिए कठोर आत्मनियंत्रण की जरूरत है। यदि मैं केवल एक या दो ही गाँवों को उनके अज्ञान और कमजोरी के बंधनों से मुक्त कर सका, तो छोटे पैमाने पर सारे भारत के लिए एक आदर्श नमूने की रचना हो सकेगी। चन्द गाँवों में ही इस आदर्श को कार्यरूप में परिणत किया जाय तो मैं कहूँगा कि ये चंद गाँव ही मेरा भारत है।

गलतफहमी

पिताजी पर यह आक्षेप किया जाता रहा है, खासकर पश्चिम में, जहाँ लोगों को उनके जीवन एवं काम के बारे में बहुत ही सीमित और एकांगी जानकारी है, कि वे एकांत स्थान में रहते थे और दैनंदिनी जीवन की कठोर वास्तविकताओं से अछूते तथा दूर रहकर बादलों की ओर निहार कर काव्य सृजन करते थे। इससे बढ़कर अन्यायपूर्ण और गलतफहमी पैदा करनेवाला दूसरा कोई आरोप हो नहीं सकता। मुझे उन्हीं के शब्दों में कहने दीजिए :

"जिस मिट्टी में हम पैदा हुए वह हमारे गाँवों की मिट्टी है, वही है हमारी पृथ्वी माता जिसकी गोद में सारा देश प्रतिदिन आहार प्राप्त करता है। हमारा शिक्षितवर्ग इस आदिम आधार से विमुक्त होकर लक्ष्यहीन बादलों की तरह कल्पना

लोक में भटक रहा है। अगर ये बादल प्रेमपूर्ण सेवा के लिए वर्षा के रूप में परिणत न हो जायँ तो पृथ्वी माता के साथ मानव का सम्बन्ध कभी अर्थपूर्ण न हो सके। यदि हमारे समस्त दाक्षव विचार असार निर्जीवता में ही तैरते रहे तो नये युग का यह बीजारोपण-काल व्यर्थ ही चला जायेगा। ऐसी बात नहीं कि वर्षा नहीं आती, पर भूमि बिना जोते ही रह जाती है। हम उन क्षेत्रों के प्रति अत्यंत असावधान रहते हैं, जो धारण करने और फल देने में समर्थ हैं और अच्छी फसल दे सकते हैं। यह तो ऐसा प्रतीत होता है मानो हमारे विशाल देश से, जो रेगिस्तान बन गया है, एक अतृप्त पुकार अनंत की ओर बढ़ती जा रही है : तुम्हारे ये सारे संग्रहीत विचार, शोभनीय वैभव में सजाये गये तुम्हारे सारे ज्ञान-भण्डार–सब हमारे हैं। मेरा सब कुछ मुझे दे दो। मुझे वह क्षमता दो कि उन सबको प्राप्त कर सकूँ। जो कुछ तुम दोगे उसका हजार गुना तुम्हें लौटकर मिलेगा।

पृथ्वी माता के हृदय की प्रज्ज्वलित आह स्वर्गलोक तक पहुँच चुकी है। भरपूर वृष्टि का समय भी आ गया है। प्राप्त भूमि को जोतने-कोड़ने में विलम्ब करके क्या और भी समय हम गँवा देंगे ?"

भारत के मामले में प्रथम तो घरेलू बचत सम्बन्धी बाधा कोई दुर्दम्य समस्या नहीं है। औसत आय का निम्न स्तर होने के बावजूद आय का इतना असम वितरण इस बात का सूचक है कि उच्च आयवाले वर्गों में काफी बचत की जा सकती है। फिर, यह भी अधिकाधिक देखने में आ रहा है कि औसत भारतीय ग्रामीण भी पश्चिमी विचारधारा के अनुकूल "निर्वाह" सम्बन्धी आय-स्तर का अतिक्रमण करते हुए अच्छी बचत कर लेते हैं। इस बात के भी प्रमाण मिल रहे हैं कि जितनी जल्दी उन्हें यह विश्वास हो जाय कि लाभपूर्ण प्रत्यक्ष निवेश की अवस्था में सुधार हुआ है, बहुत से कृषक और अन्य छोटे-मोटे उद्यमी अपनी वर्तमान आय में से भी बचत की दर में खासी वृद्धि करने को तैयार हैं।

–जान पी. लुई: *क्वायट क्राइसिस इन इंडिया*
दि ब्रूकिंग्स इन्स्टीट्यूशन, वाशिंगटन, डी.सी.

नेपाल में ग्रामीण और लघु उद्योग

यादव प्रसाद पंत

नेपाल सरकार के औद्योगिक कार्यक्रम में लघु उद्योगों का विकास अब महत्वपूर्ण स्थान रखता है। उनके विकास का ठोस प्रयास १९५१ के बाद ही आरम्भ हुआ। इस लेख में नेपाल में लघु उद्योगों की कार्य-सम्बन्धी विशेष बातें दी जा रही हैं।

नेपाल सरकार की औद्योगिक नीति घोषणा[1] में उद्योगों को इस प्रकार वर्गीकृत किया गया : ५०,००० रुपये तक की पूंजी लगनेवाले उद्योगों को कुटीर और ग्रामीण उद्योग कहा जायगा, ५,००,००० रुपये तक की पूंजी लगनेवाले उद्योगों को मध्यम उद्योग तथा उससे अधिक पूंजी लगनेवाले उद्योगों को भारी उद्योग।

कुटीर उद्योगों तथा दस्तकारियों का विकास नेपाल के लिए कोई नयी चीज़ नहीं है। सरकार ने १९३९ में ही एक उद्योग विभाग खोला था। उसके पूर्व १९३४ में भी राणा के शासन काल में "देश के प्राचीन उद्योगों और दस्तकारियों के पुनरुत्थान के लिए ठोस कदम उठाने हेतु" सरकार ने वाणिज्य वर्धक संस्था का गठन किया, जो कि विकसित हो १९३६ में उद्योग परिषद हो गया। उसी वर्ष देश में पहला कम्पनी कानून लागू हुआ तथा प्रथम व्यापारिक बैंक, नेपाल बैंक , का स्थापन हुआ। सन् १९३९ में नेपाली वस्त्र और कुटीरोद्योगों के प्रसार के लिए, मुख्यतः कुटीरोद्योगी कारीगरों को हाथकरघे तथा अन्य आवश्यक सरंजाम उपलब्ध करने हेतु, सरकार ने एक विभाग खोला। यह कदम अधिकांश परम्परागत दस्तकारियों के पुनरुत्थान में बहुत सहायक बना। शुरू में तो इस योजना को लोगों ने बड़े उत्साह से अपनाया। देश के विभिन्न भागों में हाथकरघा बुनाई और मधुमक्खी-पालन में प्रशिक्षण देने हेतु कई केन्द्र खोले गये और १९४१ के उत्तरार्द्ध में काठमाण्डू में एक केंद्र खोला गया। द्वितीय महायुद्ध के समय चीजों की कमी तथा बढ़ी कीमत के कारण इनके उत्पादकों की अस्थायी और कृत्रिम माँग बढ़ी। सन् १९४७ में प्रशिक्षण और उत्पादन के लिए काठमांडू तथा उसके आस-पास करीब ३० केन्द्र खुले।

बहरहाल चन्द विकासों के बावजूद, देश की जरूरतों को ध्यान में रखते हुए सम्पूर्ण रूप से देखने पर कुटीर उद्योग न तो संगठित हुए थे और न भारी उद्योगों के उत्पादन से मूल्य, मात्रा अथवा स्तर में मुकाबला करने के लिए सुसज्जित थे। उन्हें सामान्यतया धंधेदार लोग चलाते थे, जोकि उनसे जातिगत अथवा धार्मिक कारणों से बँधे थे, जैसे चमार, लोहार, दर्जी, सुतार आदि। एक उदाहरण लीजिए। "गोरखा और पोखरा जिले में १९४८ तक कुल मोची आबादी २०,६६१ में से ३,३६५ मोची जातिगत तौर पर मोची का काम करते थे, अर्थात् १६.२ प्रति शत लोग अपने पेशेवर व्यवसाय में लगे थे, बाकी किसान हो गये थे।"[2] इस प्रकार चन्द प्रशिक्षण सुविधाएँ प्रदान करने के बावजूद, राज्य शासन को उखाड़ फेंकने तक, देश के विभिन्न भागों में लघु उद्योगों के पुनरुत्थान और विकास के लिए कोई खास काम नहीं किया गया।

फोर्ड फाउण्डेशन–अध्ययन

सन् १९५१ के बाद ही सरकार द्वारा कुटीरोद्योगों के विकासार्थ कुछ ठोस और समन्वित प्रयास किये गये

१. नेपाल औद्योगिक नीति, नेपाल नरेश की सरकार, (२९ मार्च १९६१), पृष्ठ २.

२. **इंडस्ट्रीयल सर्वे**–सांख्यिकी विभाग, काठमांडू, १९४८।

तथा योजनाएँ बनायी गयीं। अप्रैल १९५४ में नेपाल नरेश सरकार ने फोर्ड प्रतिष्ठान के सहयोग से पंच वर्षीय योजना कार्यक्रम आरम्भ करने का निर्णय किया और एक लाख अमेरिकी डालर तथा एक साल के लिए एक तंत्रज्ञ की सेवाएँ प्राप्त कीं। फोर्ड प्रतिष्ठान ने सरकार के सहयोग से एक समिति नियुक्त की, जिसने कि विस्तृत जाँच-पड़ताल करने के बाद अपनी रिपोर्ट पेश की। समिति ने पाया कि कई कच्चे माल तथा यातायात की कमी और अपर्याप्त विद्युत शक्ति के कारण कई चीजों का उत्पादन तो अवांछनीय है। अतः उसने सुझाव दिया कि पहले तो चुनिन्दा जगहों में लघु उद्योग के विकास का प्रयास किया जाय और फिर प्राप्त अनुभवों के आधार पर कार्यक्षेत्र बढ़ाया जाय।[3] समिति की अधिकांश सिफारिशें सरकार ने स्वीकार कर ली। वर्तमान अवस्थाओं के अतर्गत कुटीरोद्योग के विकास की सम्भावनाओं तथा सीमाओं का अध्ययन करने की दिशा में प्राथमिक कदम उठाये गये। जुलाई १९५६ में दस्तकारी की सहायता करने तथा कुटीरोद्योगो भवनों के जरिये कुटीर और लघु उद्योगों द्वारा तैयार किये गये माल को दूर-दूर तक बेचने के लिए मार्केटिंग कारपोरेशन (बाजार निगम) की स्थापना की गयी। नवम्बर १९५६ में काठमाण्डू में कुटीर, ग्रामीण और लघु उद्योग प्रशिक्षण-सह-विस्तार केन्द्र खोला गया।

योजना

पंच वर्षीय योजना में लघु उद्योगों के विकास के अन्तर्गत ये चीजें भी शामिल थीं : स्तर तथा जिंदा रहने की क्षमता के आधार पर चुनिन्दा उद्योगों का पुनरुत्थान और विस्तार, निजी बचत को प्रोत्साहन, सर्वेक्षण कार्य को सघन बनाना, तकनालाजिकल प्रशिक्षण को प्रोत्साहन और विदेशी तकनालाजिकल सहायता का विवेकपूर्ण इस्तेमाल। बहरहाल, प्रशिक्षण को छोड़ कर अन्य क्षेत्रों में कोई अधिक प्रगति नहीं हुई। औद्योगिक उत्पादन बढ़ाने के तकनालाजिकल क्षेत्र तथा देश के विभिन्न भागों में लघु उद्योगों के विकास की गति बढ़ाने, इन दोनों ही क्षेत्रों में प्रगति धीमी रही।

यहाँ चन्द महत्वपूर्ण लघु और कुटीर उद्योगों पर विचार करना संगत है। वस्तु स्थिति पर गौर करते हुए सुधार के लिए चंद सुझाव भी दिये जा रहे हैं।

हाथ करघा

यद्यपि हाल के वर्षों में रूई-सूत कताई और बुनाई का लगातार ह्रास होता रहा है, फिर भी, हाथ करघा बुनाई देश का सबसे महत्वपूर्ण कुटीरोद्योग है। सन् १९५० में ५०,००० चरखे चल रहे थे। नेपाल अपनी जरूरत की सारी रूई भारत से खरीदता था। बहरहाल, हाथ कताई करीब-करीब पूर्णतः समाप्त हो गयी है, क्योंकि रूई के बदले अब दिनों दिन सूत का ही अधिक आयात किया जा रहा है। बुनाई का काम भी चन्द गाँवों तक ही सीमित है। दो निर्माण संस्थाएँ हैं, जहाँ कि केन्द्रीय कारखानों में हाथकरघा बुनाई का काम संगठित किया जाता है। काठमांडू घाटी में इस्तेमाल किया जानेवाला अधिकांश कपड़ा मिल का बना है और वह भारत से आयात किया जाता है। बहरहाल, ऊन की कताई और बुनाई की सम्भावनाएँ रूई-सूत से उत्तम हैं, यद्यपि विभिन्न जगहों में ऊन की उपलब्धि बहुत ही अनियमित है। सम्पूर्ण रूप से देखा जाय तो तिब्बती ऊन के अधिकांश भाग की बिक्री नेपाल को ही की जाती है। अभी भी ऊन हाथ कताई और बुनाई का काम नेपाल में काफी फैला हुआ है, परन्तु इसका स्तर अधिकांशतः नीचा है क्योंकि बाजार सीमित है। खासकर काठमांडू घाटी में ऊन हाथ से धुना, काता व बुना जाता है और प्रायः उससे रग (एक किस्म का कम्बल) तैयार किये जाते हैं। सामान्य तौर पर इसके लिये कोई कारण नजर नहीं आता कि स्थानीय बाजार के लिए उम्दा किस्म के

---

३. **रिपोर्ट आन स्मॉल एंड विलेज इण्डस्ट्रीज**, आर. अलेग्जेंडर और टी. डी. व्रतराय, काठमांडू, १९४८।

उत्पादन क्यों नहीं बनाये जा सकते हैं जिससे कि विदेशी ऊनी सूत के आयात में कटौती की जा सकती है। इसकी भी बहुत अधिक सम्भावना है कि इस तरह के उत्पादनों की विदेशी बाजारों में भी अच्छी बिक्री हो जाय। बहरहाल इसके लिए अन्य चीजों के अलावा उत्पादन की आधुनिक तकनीकें सिखाना तथा सालों भर नियमित रूप से सूत उपलब्ध करना आवश्यक है।

काष्ठ कला

काठमांडू घाटी में लकड़ी पर नक्काशी का काम करनेवाले अधिकतर पाटन, काठमांडू और मदगाँव शहरों में ही बसे हैं। कलात्मक तथा सुन्दर काष्ठ मूर्तियाँ बनाना काठमांडू की परम्परागत कला है। कहते हैं कि सदियों से इस घाटी में यह कला पनपती रही है और आकृतियों तथा उद्भृत नक्काशी, बड़ी खिड़कियों, फ्रेम आदि आकारों का इसने अपना एक अलग ही नमूना प्रस्तुत किया है। पिछले कई दशकों से इस कला का लगातार ह्रास होता जा रहा है। यद्यपि कई कला-नक्काशों के उत्तराधिकारीगण अब साधारण उपस्कर आदि बनाते हैं, तथापि सुन्दर काम की गयी खिड़कियाँ और पुराने महलों में किये गये कला के महीन काम के नमूने अब भी मौजूद हैं। कई दक्ष कारीगर परिवार हैं जोकि ग्राफनुमा छपाई के लिए अपूर्व काष्ठ-कटाई कर सकते हैं और आवश्यक प्रोत्साहन तथा सुविधाएँ मिलने पर ये उद्योग पुनः पनपने की क्षमता रखते हैं।

सामान्यतया धातु अधिकांशतः भारत से कचड़े के रूप में आयात किये जाते हैं। बहरहाल कुछ कच्चा लोहा स्थानीय रूप में भी गलाया जाता है। ग्रामीण और शहरी लोहार फावड़े, ताले, लोहे के छोटे-मोटे औजार आदि बनाते तथा मरम्मत करते हैं। पीतल तथा तांबे की चादरें सामान्यतया भारत से आयात की जाती हैं और उनका इस्तेमाल विभिन्न आकार-प्रकार के घरेलू बर्तन बनाने में किया जाता है। बर्तन बनानेवाले परम्परागत कारीगर काठमांडू घाटी, पोखरा, तानसेन और भोजपुर में अधिक बसे हैं। काठमांडू घाटी का पाटन कभी धातुओं की धार्मिक मूर्तियाँ बनाने के लिए बड़ा प्रसिद्ध था। आज भी पाटन के बहुत से कारीगर पीतल, तांबा और कांसे की मूर्तियाँ और उद्भृतचित्र बनाते हैं। काठमांडू घाटी में बहुत से दक्ष स्वर्णकार और चाँदी का काम करनेवाले हैं और इस क्षेत्र की अपनी परम्परा है।

कुम्हारी कुटीर उद्योग देश के विभिन्न भागों में चलता है। काठमांडू और मदगाँव के बीच स्थित थिमी गाँव एक मशहूर कुम्हारी केन्द्र है। बहरहाल उत्पादन रोगन-रहित होते हैं और वे भारतीय ग्रामीण कुम्हारी के सदृश हैं। तराई जिलों में मुख्यतः सुराही और बड़ी प्याली जैसे मिट्टी के बर्तन स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए बनाये जाते हैं।

हाथ कागज

कागज बनाने का काम काठमांडू घाटी में होता है, लेकिन इसके लिए कच्चा माल (मुख्यतः घास और पेड़ की छालें) आस-पास के पहाड़ी क्षेत्रों और अन्य पहाड़ी इलाकों से मँगाये जाते हैं। हाथ कागज नेपाल का एक महत्वपूर्ण परम्परागत उत्पादन है और अभी भी यह एक महत्वपूर्ण कुटीरोद्योग है। लेकिन उत्पादन का तरीका बहुत ही पुराना है, जिस कारण खुरदरे, असम और दोषपूर्ण ताव तैयार होते हैं। फिर भी, मजबूती में यह कई तरह से जापान के राइस-पेपर से मिलता-जुलता है और चूंकि यह सस्ता है अतः काफी प्रचलित भी है। यांत्रिक कूटक, रसायन और लुग्दी तैयार करने के उत्तम सरंजाम का इस्तेमाल आरम्भ करने से उत्पादन का स्तर बहुत सुधर जायगा।

नेपाल में जूते-चप्पल मुख्यतः भारत से मँगाये जाते हैं। नेपाल में जूता बनाने का थोड़ा-बहुत काम होता है, परन्तु वह बहुत निम्न-स्तर का होता है। बहरहाल जूते की बहुत कुछ माँग सींक के जूतों से पूरी की जाती है, जिसे किसान बहुत पसन्द करते हैं। कपड़े और रस्सी के धागों से बने जूतों का भी बहुत प्रचलन है। जूते बनाने के काम को इतना नजरअन्दाज करने का कोई कारण

नजर नहीं आता। प्रथा के कारण जूता बनाने का काम मोचियों तक ही सीमित है। जैसे, सन् १९४८ में गोरखा और पोखरा जिले की कुल आबादी ४,५९,०५० में से मोचियों की आबादी २०,६६१ थी और उनमें से सिर्फ ३,३६५ अर्थात् १६.२ प्रति शत ही लोग पूर्णतः अपने धंधे पर निर्भर थे। आज भी उस स्थिति में कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ है। इनके अलावा आज भी चल रहे कुछ अन्य महत्वपूर्ण कुटीरोद्योग हैं: चावल कुटाई, तेल पेराई, बांस के झोले बनाने का काम, गन्ना-पेराई और उद्भूत कसीदाकारी। ये दस्तकारियाँ देश भर में फैली हैं। लघु और कुटीर उद्योगों में लगे लोगों की संख्या की अलग से सही जानकारी प्राप्त करना मुश्किल है क्योंकि औद्योगिक रोजगारी के आंकड़े अभी तक उपलब्ध नहीं हैं।

पुराने और अक्षम औजार तथा सरंजाम के कारण ही लघु उद्योगों के उत्पादनों का न तो स्तर ऊँचा हो पाता है और न कीमत में ही कमी हो पाती है। अनुसंधान और परीक्षण के जरिये इन पुराने औजारों के बदले अधिक योग्य औजार तैयार करने चाहिए।

विस्तार सेवाएं

लघु उद्योगों के लिए व्यापारिक और तकनीकल आसूचना सेवा की बहुत जरूरत है। व्यापारिक आसूचना तो सिर्फ सरकार ही उपलब्ध कर सकती है, जिसका कि व्यापक संगठन और विस्तार सेवाएँ हैं। चूंकि कुटीर और लघु उद्योग इकाइयाँ गुणी तंत्रज्ञों की सेवाएँ प्राप्त करने का खर्च नहीं उठा सकतीं अतः तकनीकल समस्याओं को सुलझाने तथा योग्यता बढ़ाने में सहायता देने हेतु विस्तार सेवाएँ अभी हाल में आरम्भ की गयी हैं। विस्तार सेवाओं के अन्तर्गत तकनीकल और बाजार सुविधाएँ, आरम्भ किये जानेवाले उद्योग का चुनाव, कार्यक्रम के आयोजन तथा साथ-साथ यंत्रों, औजारों, कच्चे माल और सम्पूर्ण कारखाने के नक्शे का चुनाव आ जाते हैं। हाल ही में कुटीरोद्योग केन्द्र ने गश्ती-गाड़ियाँ, मशविरा सेवाएँ, सूचनाएँ और विज्ञापन तथा अन्य कार्यक्रम आरम्भ किये हैं।

सन् १९५१ के बाद कुटीर और लघु उद्योगों के प्रति सरकारी नीति में स्वागत योग्य परिवर्तन हुआ है। सरकार के ग्रामोद्योग कार्यक्रम में इन उद्योगों को महत्वपूर्ण कार्य दिया गया है। "सरकार इस बात की कोशिश करेगी कि औद्योगीकरण प्रक्रिया के दौरान कुटीर और ग्रामीण उद्योगों तथा मध्यम और भारी उद्योगों के बीच संतुलन बना रहे।" तीन वर्षीय योजना के दौरान "नकद और उधार-खरीद ऋण के जरिये...... कारखाना खोलने के लिए" सरकारी स्तर पर सुविधाएँ देने का प्रयास किया जाता है। अन्दाज है कि प्रशिक्षित व्यक्तियों की सेवाओं का उपयोग करने की नीति के अन्तर्गत योजनावधि में २,६०० व्यक्तियों को रोजगारी मिलेगी। कुटीरोद्योग केन्द्रों के उत्पादनों को काठमांडू, धरन और पोखरा की दूकानों में बेचने की भी परिकल्पना है।

विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था

आर्थिक विकास के सरकारी कार्यक्रम में जोर सहकारिता के आधार पर विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था निर्मित करने पर है। देश के भौगोलिक आकार को मद्देनजर रखते हुए यह सुझाव दिया जा सकता है कि भावी औद्योगिक पद्धति में ग्राम समूह में कार्य होना चाहिए जहाँ कि स्वाभाविक औद्योगिक और शहरी केन्द्र हों।

लघु उद्योगों की समस्याएँ एक तरह से भारी उद्योगों की समस्याओं से अधिक जटिल हैं। आवश्यक पूंजी, प्रबन्धकीय योग्यता और अन्य सुविधाएँ प्रदान करने पर बड़ा औद्योगिक कारखाना खोलना आपेक्षिक तौर पर सहज है परन्तु कई लघु उद्योगों का समग्र विकास करने में बहुत ही सघन सर्वेक्षण और तैयारी करने की आवश्यकता है। इन उद्योगों के उपयुक्त स्थान का चुनाव करने में बड़ी सावधानी बरतनी होगी, जिसमें शक्ति और यातायात की उलपब्धि पर विशेष

ध्यान देना होगा। इन उद्योगों के लिए वित्तीय व्यवस्था करनी होगी और यह भी सुनिश्चित करना होगा कि इनके उत्पादन निर्दिष्ट स्तर के अनुसार हों। सच तो यह है कि इन सबके लिए बहुत अधिक सघन आयोजन की आवश्यकता होगी और सरकार को भी बड़े उद्योगों के विकासार्थ बनी योजनाओं के मुकाबले इस पर अधिक निगरानी रखनी होगी।

कठिनाइयाँ

लघु उद्योगों की दिक्कते हैं: पर्याप्त वित्त की कमी, यातायात की कमी, सीमित बाजार, पुराने और अविकसित औजार, पहल और प्रशिक्षण की कमी आदि। किसी भी औद्योगिक कार्य की तरह, भले ही उसका आकार जो भी हो, लघु उद्योगों में भी व्यापारिक योग्यता के लिए पर्याप्त और नम्य वित्त उपलब्धि की आवश्यकता है। लघु उद्योगों को आरम्भ करने अथवा विस्तृत करने के लिए वित्तीय सहायता तीन विकल्प में प्राप्त है: कुटीर और लघु उद्योग मण्डल के जरिये प्रत्यक्ष ऋण और चन्द मामलों में औद्योगिक विकास निगम (१९५८ में स्थापित) के जरिये नेपाल बैंक (एकमात्र व्यावसायिक बैंक) से गारंटी अथवा जमानत पर लघु कालीन ऋण; औद्योगिक संस्थान द्वारा उपलब्ध सामूहिक सेवाएँ (जोकि आर्थिक बोझ कम करने का परोक्ष मार्ग है)। ऐसे दो संस्थान काठमाण्डू में खोले गये हैं। इन विभिन्न योजनाओं के अतर्गत बहुत थोड़ी रकम ऋण के रूप में दी गयी है। छोटे उद्योगपतियों को उनकी आवश्यकता पूर्ति के लिए सुयोजित संस्था खोलने की जरूरत तो है ही, अनुसंधान बाजार, यातायात, समन्वय, तकनीकल दक्षता की व्यवस्था, जोकि एक-दूसरे से बहुत अधिक निकट सम्बन्धित है, पर भी उचित ध्यान देना होगा।

नेपाल का भूचित्र ऐसा है कि उसके सामान्य आर्थिक विकास में यातायात एक सामान्य बाधा है। छोटे कारीगरों की एकमात्र दिक्कत बाजार है, उन्हें अपना माल किसी भी मूल्य पर बेच देना होता है। जनरुचि में परिवर्तन, कुटीरोद्योगी उत्पादन में समापन तथा सम-स्तर की कमी, मिल वस्तुओं की बनिस्बत अधिक कीमत और संगठनात्मक कमी इसके मुख्य कारण हैं। बाजार की समस्या तो तभी दूर हो सकती है जबकि कारीगर सामूहिक रूप में काम करना सीख लें और उन्हें सरकार से लगातार सामूहिक रूप में काम करने की प्रेरणा मिलती रहे।

फिर भी यदि नेपाल में श्रम प्रधान लघु उद्योगों का जाल-सा बिछा देना है तो उन्हें औद्योगिक आयोजन के सामान्य आकार में अच्छी तरह मिला देना चाहिए। इसमें प्रारम्भ में सरकार द्वारा चलाये जानेवाले निगमों को प्रमुख भाग लेना पड़ सकता है। यह महसूस किया जा रहा है और इसका दर्शन वर्तमान तीन वर्षीय योजना में होता है जो कि अपना प्रथम वर्ष इस मास पूरा कर रहा है।

(इकनॉमिक वीकली, बम्बई के २९ जून १९६३ के अंक से साभार)

बहरहाल, भारी उद्योग और कृषि की योग्यता पर और भी अधिक प्रत्यक्ष जोर दिया जा सकता है। क्योंकि कुल कार्यक्रम की ये दो मुख्य धाराएँ न सिर्फ प्रधानतः अप्रतियोगात्मक हैं, बल्कि वे एक-दूसरे की पूरक भी हैं। दोनों की आवश्यकता है। दोनों को साथ-साथ चलाना चाहिए और दोनों में कोई भी, बिना विनाशक परिणाम के, एक-दूसरे से अधिक आगे नहीं बढ़ सकता।

–जान पी. लुई : *क्वायट क्राइसिस इन इंडिया*
दि ब्रूकिंग्स इन्स्टीट्यूशन, वाशिंग्टन डी. सी.

खिरपई सघन क्षेत्र का आर्थिक सर्वेक्षण

ललित कुमार मित्र

आर्थिक आयोजन प्राकृतिक और जन साधनों की प्राप्ति से सम्बन्धित होना चाहिए। अतः विकास योजनाओं के आरम्भ करने के पूर्व उनसे सम्बन्धित आंकड़े प्राप्त करने हेतु सर्वेक्षण करने का महत्व है। इस लेख में पश्चिम बंगाल के खिरपई सघन क्षेत्र की सम्भाव्यताओं और सफलताओं का मूल्यांकन करने की कोशिश की गयी है।

खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के तत्वावधान में आरम्भ की गयी तथा तत्काल खिरपई की लोक सेवा समिति द्वारा कार्यान्वित की जा रही खिरपई सघन क्षेत्र योजना के अन्तर्गत पश्चिम बंगाल के मेदिनीपुर जिले के घाटल सब डिवीजन के चन्द्रकोना थाने का चन्द्रकोना खंड सं. १ आता है। इस क्षेत्र के सघन खंड में १३० मौजे हैं, जोकि पाँच ग्राम पंचायतों और २ नगर-पालिकाओं के अन्तर्गत आते हैं। इस क्षेत्र में कोई ग्राम इकाई नहीं है। यह क्षेत्र १९ मील पश्चिम दक्षिण-पूर्व रेलवे के चन्द्रकोना रोड रेलवे स्टेशन से एक पक्की सड़क के जरिए जोकि सब डिवीजनल हेड क्वार्टर घाटल तक चली जाती है और एक अच्छी सड़क के जरिए दक्षिण पूर्व रेलवे के पांसकुड़ा रेलवे स्टेशन से जुड़ा हुआ है। यह क्षेत्र चन्द्रकोना थाना के पूर्वी भाग में इस सड़क के उत्तर और दक्षिण में लम्बा बसा हुआ है। एक पक्की सड़क उतर की ओर पैकमाजिता, रामजीवनपुर और नेकरबाग मौजों को जाती है, पर दक्षिण की ओर सिर्फ दक्षिण पश्चिम में केशपुर होती हुई, मेदिनीपुर शहर जानेवाली सड़क को छोड़कर, कोई सड़क नहीं है। खिरपई तथा आसपास के १२ गाँव जोकि इस सघन क्षेत्र योजना के मूल केन्द्र हैं, इस क्षेत्र के मध्य में स्थित हैं। दो नगरपालिकाएँ हैं–एक मध्य में स्थित खिरपई तथा दूसरी उत्तर में बसे रामजीवनपुर में। सघन विकास केन्द्र अब खंड के साथ संयुक्त अंतिम स्टेशन है।

क्षेत्र में छोटे-बड़े विकसित अविकसित मौजे हैं, जिनका कि साधारण सर्वेक्षण किया गया है। इस क्षेत्र का संगठन १९५६ में आरम्भ हुआ।

ग्रामोद्योग

इस क्षेत्र में ये ग्रामोद्योग चलते हैं: खादी (अम्बर चरखा), धान हाथ कुटाई, ग्रामीण तेल, ग्रामीण चर्म, गुड़, साबुनसाजी, कुटीर दियासलाई, कुम्हारी और ईंट पथाई, चूना तथा हाथ कागज। इसमें सामुदायिक उत्पादन केन्द्र, सघन क्षेत्र कारखाना, कुम्हारी ओसारा, दियासलाई कारखाना, हड्डी चूरा करनेवाला ओसारा, खादी गोदाम, ग्रामोद्योग गोदाम, हाथ कागज केन्द्र, धान कुटाई, तेल और साबुन केन्द्र, एक संग्रहालय और एक समापन केन्द्र भी है, और इन सबको खादी और ग्रामोद्योग कमीशन अनुदान और ऋण के रूप में आर्थिक सहायता देता है।

तालिका (पृष्ठ ७१९) में यह दर्शाया गया है कि १९६१–६२ में ३२० अम्बर चरखे चल रहे थे। स्वावलम्बन की दृष्टि से सूत और वस्त्र का उत्पादन नगण्य रहा, जबकि बिक्री के लिए सूत और वस्त्र का उत्पादन क्रमशः १९६१–६२ में ३,१३३ पौंड और २८,४२३ गज रहा। कर्मियों की कुल संख्या १९६१–६२ में ३९२ रही और उन्होंने ३२,२२३ रुपये कमाये। ये सभी अंशकालीन कर्मी थे। क्षेत्र के बाहर उत्पादनों की खासी बिक्री हो जाती है; इसे और बढ़ाना है, ताकि १९६१–६२ के अन्त में जमा हो गया ८६,५५४ रुपये कीमत का माल

खिरपई सघन क्षेत्र में १९६१-६२ में उत्पादन, बिक्री, रोजगारी और पारिश्रमिक

उद्योग	उत्पादन परिमाण	उत्पादन मूल्य (रु.)	बिक्री (रु.)	पूर्णकालीन रोजगारी	अंशकालीन रोजगारी	पारिश्रमिक दिया गया (रु.)	स्टाक (रु.)
अम्बर खादी उद्योग							
सूत	३,३७३ पौंड	१७,४४४	४१,४६२	—	३९२	३२,२२३	८६,५५४
वस्त्र	२८,५२८वर्ग गज	६१,५१८	—	—	—	—	—
ग्रामीण तेल उद्योग	३८८ मन	३८,६७७	—	३	१०	३,५३६	१२,९४९
ग्रामीण चर्म उद्योग							
हड्डी चूरा	३२ मन	३८४	६२५	—	३	२७८	१०७
हाथ धान-कुटाई							
चावल प्राप्त	६१६ मन	११,७०२	१३,२४०	—	२८	१,८५३	५,६३५
धान कूटा गया	९२२ मन						
गुड़ और खांडसारी (१९६०–६१)	१६१ मन	२,१९८	—	१	—	३३०	—
अखाद्य तेल और साबुन	८ मन	६३६	१२६	१	२	४४९	२,४४३
लोहारी और बढ़ईगीरी	—	२,६२७	२,६२७	३	१	२,८६०	२,४४३
ताड़ गुड़							
गुड़	१,२८२ पौंड	६२६	५७१	—	५	५१९	१२८
नीरा	१,३८८ गैलन	१६७					
ग्रामीण कुम्हारी	—	३४०	३५९	१	२	३८५	१७१
चूना निर्माण	८७ घन फुट	८५	५७	—	३	८	७५
कुटीर दियासलाई	२७४ ग्रूस	१,९१८	१,३३०	—	३०	६१५	२,९३८
हाथ कागज	१४४ रीम	८,३३७	६,५०८	१२	८	३,६४३	४,०३९
मवेशी संवर्द्धन और कृषि (दूध)	८,९६८ मन	२,७३४	२,६५१	२	३	१,७५९	—
मुर्गी और मत्स्यपालन	—	१,०२६	१,०२६	१	१	५९५	१,४०५
गृह निर्माण	—	१,४००	—	—	३२	५,८३४	—
कुल		१,५१,९१९	—	२४	५२०	५४,९८७	—

बेचा जा सके। पिछले वर्ष राहत के लिए जो अतिरिक्त काम किया गया, उसकी वजह से ही इतना माल इकट्ठा हो गया। तथापि सूत के उत्पादन को लोकप्रियता से सम्बन्धित करना होगा।

सन् १९६१–६२ में घानी तेल का उत्पादन और बिक्री काफी संतोषजनक रहा, क्रमशः ३८८ मन और ३८,५६३ रुपये। सुधरी घानियाँ लगाकर इसमें और विस्तार करने की आवश्यकता है। यहाँ एक शवच्छेदन केन्द्र आरम्भ किया जाना चाहिए तथा और भी हड्डी चूरक केन्द्र खोले जाने चाहिए ताकि कृषकों को खाद मिल सके। हाथ धान कुटाई उद्योग का भविष्य आशामय है बशर्ते कि धान का पर्याप्त स्टाक बनाये रखा जाय और अंशकालीन कर्मी वर्तमान मजदूरी दर पर उपलब्ध हों। बहरहाल यहाँ तथा आसपास के क्षेत्र में चल रहे हलरों से मुकाबला करना मुश्किल है और जब तक हाथ कुटाई प्रक्रिया में, यहाँ तक शक्ति के संयोग से भी, सुधार नहीं होता तब तक यह प्रतियोगिता इस उद्योग को उखाड़ने की ही कोशिश करेगी।

साबुनसाजी काम अभी-अभी शुरू किया गया है, परन्तु साबुनों की बिक्री उत्साहजनक नहीं है। बढ़ईगीरी और लोहारगीरी उद्योगों के चमकने और इनके उत्पादनों की तत्काल स्थानीय रूप में ही बिक्री हो जाने की उम्मीद है। इन उद्योगों के अन्तर्गत ग्रामोद्योगों तथा कृषि में इस्तेमाल होनेवाले सरंजामों के निर्माण को भी शामिल कर इनका विस्तार किया जाना चाहिए तथा उद्योग विभाग को इन्हें नियमित रूप से लोहे और इस्पात की चादरें सप्लाई करनी चाहिए। ताड़-गुड़ उद्योग अभी-अभी आरम्भ किया गया है। इसका और विस्तार किया जाना चाहिए। इस उद्योग में सबसे कम पूंजी की आवश्यकता होती है।

नीरा

नीरा एक पौष्टिक पेय सिद्ध हुई है। नीरा से गुड़ और पाटली तो बनाते ही हैं, स्कूली बच्चों को सहायित दर पर करीब ५ औंस की एक ग्लास नीरा एक नये पैसे में पिलाते हैं। इन बालकों के वजन और ऊँचाई का रिकार्ड रखा गया है तथा यह पाया गया कि नीरापान से उनके वजन और ऊँचाई में वृद्धि हुई है। ईंट पथाई (कुम्हारी) कार्य उत्साहजनक नहीं है। यद्यपि ग्रामीण घरों में सुधर लाने के लिए इसे प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए था। इसकी वजह है–गाँव के आसपास अच्छी मिट्टी प्राप्त नहीं होना। फिर भी, शिलावटी नदी के किनारे उपयुक्त मिट्टी प्राप्त होने के फलस्वरूप ईंट पथाई कार्य फिर से आरम्भ करने की कोशिश की जा रही है। चूना निर्माण स्थानीय उद्योग होते हुए भी दयनीय अवस्था में हैं, क्योंकि नियंत्रित कीमत पर सीमेंट प्राप्त होने की वजह से चूने की माँग कम है। इसका भविष्य भविष्य में सीमेंट की उपलब्धि पर निर्भर करता है। प्रायोगिक अवस्था में चलनेवाले कुटीर दियासलाई उद्योग में उत्पादन और बिक्री की गति बनी हुई है तथा इसमें और विस्तार करने की आवश्यकता है।

हाथ कागज

हाथ कागज उद्योग को आरम्भ हुए अभी तीन ही वर्ष हुए हैं, पर इसने अभूतपूर्व प्रगति की है। इसके विस्तार की काफी गुंजाइश है, बशर्ते कि पर्याप्त मात्रा में कच्चा माल मिलता रहे और विभिन्न सरकारी विभागों का भी संरक्षण सुनिश्चित हो। सबाई घास की बहुतायत में पूर्ति कर एक कागज लुग्दी केन्द्र लाभपूर्ण अवस्था में आरम्भ किया जा सकता है तथा लुग्दी हाथ कागज बनानेवाले केन्द्रों को दी जा सकती है ताकि उनके उत्पादन खर्च में कमी आये।

सन् १९६१–६२ में ८,९६३ पौंड दूध का उत्पादन हुआ, जिससे प्रकट होता है कि दुग्ध उद्योग में अच्छी प्रगति हुई है। यही अवस्था मुर्गीपालन उद्योग की है। मुख्य उद्देश्य मवेशियों की नस्ल सुधारना रहा है, जिससे उत्पादन वृद्धि में मदद मिलेगी। जब तक चारे की पर्याप्त सप्लाई के लिए एक बड़े चरागाह की व्यवस्था नहीं की जाती, बड़े पैमाने की दुग्धालय योजना आर्थिक दृष्टि से सफल नहीं हो सकती।

मुर्गीपालन विकास कार्य के लिए खिरपई के दक्षिण-पूर्व और दक्षिण में बसे क्रमशः गोपालपुर और बरबेरिया गाँवों में सफल प्रयोग किये गये हैं। बरबेरिया में सभी देशी मुर्गी की जगह अब सफेद लेगहार्न मुर्गे पाले जा रहे हैं और गोपालपुर में सभी देशी नर बतख के बदले खाखी कैम्बेल नर बतख पाले जा रहे हैं। अब संकरता के फलस्वरूप बड़े तथा अधिक संख्या में अंडे होते हैं।

रोजगारी

उपर्युक्त उद्योगों में सन् १९६१-६२ में २४ व्यक्तियों को पूर्णकालीन और ५२० व्यक्तियों को अंशकालीन कार्य प्राप्त हुआ। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि ये सभी उद्योग हर क्षेत्र के लिए आर्थिक और आदर्शरूप लाभदायक नहीं भी हो सकते हैं। स्थान और उद्योग का चुनाव इन बातों को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए: (१) पिछले परिणाम; (२) स्थानीय साधन-स्रोत; (३) स्थानीय श्रमिकों का उत्साह और (४) स्थानीय खरीदारों में बिक्री और बाहरी क्षेत्रों में निर्यात किये जाने की सम्भावना। ताल सुधार और मत्स्य विभाग ने हाल ही इस सम्बन्ध में दिलचस्पी लेना आरम्भ किया है और कुछ तालाबों को मत्स्यपालन आरम्भ करने के लिए चुना है। जब तक कि इन क्षेत्रों के लिए चुने गये उद्योगों का अलग-अलग गाँवों में विकास नहीं किया जाता, बेकारी और अर्धबेकारी दूर करने में वे विशेष सहायक सिद्ध नहीं होंगे। इन उद्योगों के आर्थिक पहलू पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए।

सर्वेक्षण के परिणाम

उन्नीस छोटे-बड़े प्रतिनिधि मौजों का नमूना सर्वेक्षण किया गया और क्षेत्र के जन तथा भौतिक स्रोतों के सम्बन्ध में निम्न तथ्य व आँकड़े प्राप्त हुए:

(१) प्रति व्यक्ति औसत आय-विशेषकर कृषकों और दिन में काम करनेवाले श्रमिकों का: ८२ रुपये प्रति वर्ष, जोकि वर्तमान मूल्य पर अखिल भारत औसत से बहुत कम है।

(२) चौदह से ५५ वर्ष की उम्रवाले बेकारों और अर्धबेकारों की औसत संख्या:-अधिकांशतः महिलाएँ-प्रति मौजा ३०० है, जिनमें से प्रति मौजा ९२ व्यक्ति कृषि में अर्धबेकार हैं।

(३) कुल खेत जिन्हें सिंचाई की आवश्यकता है: प्रति मौजा औसतन ९०० बीघा कृषि योग्य भूमि, अभी सिर्फ २४० बीघा भूमि में ही सिंचाई होती है।

(४) नहरों और तालाबों के जरिए सिंचाई की सम्भावना: अभी जो नहरें और ताल हैं, उनसे कुल कृषि योग्य भूमि के १० प्रति शत की सिंचाई हो सकती है।

(५) तालाबों की कुल संख्या: प्रति मौजा औसतन ६ तालाब, जिनमें से आधे का इस्तेमाल सिंचाई ताल के रूप में कर सकते हैं।

(६) आलू और प्याज का औसत उत्पादन: प्रति मौजा प्रति वर्ष करीब १,००० मन आलू और ६० मन प्याज।

(७) दूध, अंडा और मछली का औसत उत्पादन: (अ) प्रति मौजा १४४ मन दूध, (आ) प्रति मौजा ११,९८८ अंडे, (इ) प्रति मौजा २५ मन मछली प्रति वर्ष।

(८) गाय, बतख, मुर्गी और बकरियों की औसत संख्या: (अ) ११५, (आ) १५०, (इ) १०० और (ई) ४० प्रति मौजा।

(९) ताड़, खजूर और बाँस वृक्षों की औसत संख्या: (अ) २२०, (आ) १५० और (इ) २७०-प्रति मौजा।

(१०) खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अन्तर्गत चलनेवाले खादी और ग्रामोद्योगों के अलावा अन्य ग्रामोद्योग: बीड़ी बनाने का काम, दर्जीगीरी, टेबुल-कुर्सी बनाने का काम, धुलाई, हाथ करघा, बेल मेटल।

(११) जिन उद्योगों के विकास की सम्भावना है: मिल सूत से चलनेवाले हाथ करघे, बाँस और बेंत उद्योग, रस्सी बनाना, जूता बनाना, कागज के थैले अर्थात् ठोंगे बनाना, और बेल मेटल उद्योग।

(१२) सहकारी संस्थाओं की संख्या : समूचे खंड में कृषि की एक भी सहकारी संस्था नहीं है, दो या तीन हाथ करघा और बेल मेटल उद्योग में हैं।

(१३) परिवहन-साधन : साइकिल, बैलगाड़ी और बस तथा बरसात के दिनों में नाव।

(१४) बिजली सप्लाई की सम्भावना : डीजल इंजिन से और हाल ही में दामोदर घाटी निगम के जरिये।

(१५) तक्नीकल प्रशिक्षण : बढ़ईगीरी, सिलाई और कसीदाकारी, मिल-सूत की बुनाई और रंगाई में प्रशिक्षण के लिए ३ विद्यालय।

(१६) अन्य सामाजिक संस्थाएँ : प्रति मौजा औसतन २ क्लब और संगठन।

प्रशिक्षण

रामजीवनपुर में एक बड़ा केन्द्र है जिसमें मिल-सूत हाथ करघे पर बुना जाता है। खंड में एक प्रशिक्षण-सह-उत्पादन केन्द्र है, जहाँ वस्त्र डिजाइन बनाने तथा कपड़े की रंगाई और छपाई का प्रशिक्षण दिया जाता है। जारा में भी एक प्रशिक्षण-सह-उत्पादन केन्द्र है, जहाँ कि दर्जीगीरी और सिलाई तथा कसीदाकारी का काम सिखाया जाता है। रामजीवनपुर में बेल-मेटल दस्तकारी का भी काम होता है। लोक सेवा समिति खिरपई में बढ़ईगीरी तथा सिलाई का एक औद्योगिक स्कूल चलाती है।

समग्र योजना की आवश्यकता

यद्यपि सघन क्षेत्र योजना के अन्तर्गत हर गाँव को अपनी योजना बनानी पड़ती है, तथापि सम्पूर्ण क्षेत्र के लिए समन्वित और समग्र योजना होनी चाहिए जिसमें कि हर क्षेत्र की योजना का तारतम्य बैठ जाय। कृषि क्षेत्र में मुख्य कठिनाई सिंचाई और उर्वरक उपलब्धि की है। सहकारी खेती की योजना आरम्भ की जा सकती है, जिसमें कि सिंचाई सुविधा की व्यवस्था हो। प्रति व्यक्ति आय बढ़ाने, धीरे-धीरे अधिक रोजगारी प्रदान करने तथा लोगों को अधिक पौष्टिक आहार प्रदान करने की दृष्टि से मिश्रित खेती आरम्भ की जानी चाहिए और उसमें विशेष जोर दुग्धालय, फल उत्पादन, तरकारी उगाने (जैसे आलू और प्याज), मत्स्यपालन (क्षेत्र में बहुत से तालाब हैं), मुर्गीपालन और गाय तथा बकरी पालन पर देना चाहिए।

ग्रामोद्योग क्षेत्र में सघन कार्य करने की आवश्यकता है। हर क्षेत्र में एक ग्रामीण औद्योगिक बस्ती तो होनी ही चाहिए। यदि यहाँ ग्रामीण औद्योगीकरण योजना को लागू किया जाय तो क्षेत्र अपने जन और अन्य साधनों का पूर्णतः इस्तेमाल कर सकेगा। यहाँ पर योजना आयोग के ग्रामीण निर्माण कार्यक्रम को भी आरम्भ करना चाहिए ताकि बेकारों और अर्धबेकारों को पूर्ण रोजगार मिल सके। परन्तु मुख्य समस्या तो इन सब कार्यक्रमों की नीतियों और कार्य में समन्वय लाना है, जोकि सघन क्षेत्र केन्द्र द्वारा विकास खंड, ग्राम पंचायतों और सहकारी समितियों के निकट सहयोग से किया जा सकता है। यह खुशी की बात है कि खंड अधिकारियों और सघन क्षेत्र संगठकों के बीच कार्य में समन्वय लाने की दिशा में प्रारम्भिक कदम उठाये जा चुके हैं। बहरहाल शुरू में योजना बनाने और उसे कार्यान्वित करने का पहल स्थानीय संस्थाओं को, जिनकी इस क्षेत्र में कमी नहीं है, गाँव में नियुक्त किये गये ग्राम योजकों से मिलकर करना चाहिए और अन्ततः वे उत्पादन इकाइयों को जैसे-जैसे सहकारी समितियों का गठन होता है उनके सुपुर्द कर देंगे।

शक्ति का उपयोग

इस क्षेत्र में सहकारी संयुक्त खेती सिंचाई-व्यवस्था पर निर्भर है, जबकि अभी तो सिंचाई की बहुत कम व्यवस्था है। अन्ततः हर प्रशोधन उद्योग सहकारी समितियों को हस्तांतरित कर देना होगा, जोकि उनके संचालन के आर्थिक पहलू के लिए जिम्मेदार होंगी। जहाँ तक व्यावहारिक हो, ग्रामोद्योगों में शक्ति चालित यंत्रों का इस्तेमाल करना है, विशेषकर डीजल इंजिन का, जब तक कि कांगसाबाटी योजना अथवा दामोदर घाटी निगम से सहायित दर पर बिजली न मिलने लग जाय। यह शक्ति ग्रामीण उद्योग बस्तियों से भी प्राप्त की जा

सकती है, जिसमें से एक बस्ती तो इस क्षेत्र में होनी ही चाहिए। ऐसी हालत में गन्ना पेराई, तेल पेराई, हड्डी चूरा कराई, आटा-पिसाई, चावल कुटाई, कागज लुग्दी बनाई तथा बढ़ईगीरी का कार्य शक्ति से किया जा सकता है। बहरहाल, यह देखना है कि बिजली का इस्तेमाल सस्ता पड़े और इसके कारण लोग बेकार न हों, और यांत्रीकरण के कारण जितने श्रमिकों का श्रम बचे उन्हें दूसरे काम में लगाया जाय। जैसे, हस्तचालित यंत्र के जरिये हाथ कते सूत से गंजियाँ तैयार कर सकते हैं। अतिरिक्त हाथ कते सूत का इस्तेमाल करने का यह भी एक तरीका है। यदि हाथ करघों को पर्याप्त मात्रा में हाथ कता सूत न मिलता हो तो मिल सूत का इस्तेमाल करनेवाले हाथ करघों को बढ़ा सकते हैं। धोती और साड़ी को छोड़कर बाकी मोटे कपड़े बुनने में हाथ कते सूत का इस्तेमाल किया जा सकता है और उन्हें आकर्षक रंगों में पक्का रंगा जा सकता है। बीस हजार रुपयों की लागत से सामान्य कार्यों के लिए एक कारखाना खोला जाना चाहिए जोकि सरकारी तथा आसपास के क्षेत्रों से प्राप्त आर्डरों की पूर्ति कर सके। परन्तु उनके लिए लोहे और इस्पात की चादरें, कोयला और शक्ति की सप्लाई सुनिश्चित होनी चाहिए। न लाभ न नुकसान के आधार पर चमड़ा काम, रेशा काम और साबुन साजी के लिए, प्रत्येक के लिए कम से कम एक सहकारी संगठन आसानी से बनाया जा सकता है।

बेकारी दूर करने हेतु सिफारिशें

तथापि बेकारी और अर्धबेकारी को दूर करने के लिए हमें मूलतः कृषि विस्तार पर और अधिक लघु सिंचाई कार्यों तथा परती जमीन में खेती करने की व्यवस्था कर और दोहरी तथा तिहरी फसल उगाकर जोर देना है। इसके लिए ये सिफारिशें की जाती हैं: बाँधों तथा सिंचाई नहरों का निर्माण, दूर के क्षेत्रों में सिंचाई करने के लिए डीजल पम्पिग सेट, तालाबों का (जोकि इस क्षेत्र में बहुत हैं, पुनरुत्थान किया जा सकता है) शीघ्रातिशीघ्र पम्प सिंचाई के लिए उपयोग, अधिक संख्या में फौवारा कुआँ खोदना, चन्द मौजों में मिट्टी परीक्षण इस दृष्टि से करना कि वे दोहरी फसल तथा विभिन्न क्षेत्रों में फसल आयोजन के लिए उपयुक्त हैं अथवा नहीं। साधन-सर्वेक्षण से ज्ञात होता है कि आलू, प्याज, केला, नींबू और अमरूद की खासी पैदावार की जा सकती है क्योंकि इनका काफी अच्छा व्यापार होता है। सिंचाई सुविधाएँ मिलने पर गन्ने की पैदावार भी बढ़ायी जा सकती है और फिर कपास की खेती भी की जा सकती है। बाँस और भी अधिक उगाये जा सकते हैं और सबाई घास, जोकि इस क्षेत्र में पहले से ही बहुत है, की उपज में वृद्धि करने से कागज उद्योग को मदद मिलेगी और उसमें अधिक खर्च करने की भी जरूरत नहीं पड़ेगी। रस्सी बनाने और अन्य रेशा उद्योगों की भी संभावना है, बशर्ते कि क्षेत्र में कच्चे माल की सप्लाई उपलब्ध की जाय। तिल भी प्राप्य है, जिनसे कि तिल तेल निकाला जा सकता है और बाहरी क्षेत्रों में तुरंत बिक्री भी की जा सकती है। इस क्षेत्र में गन्ना रस और नीरा से गुड़ बनाने का उद्योग भी खूब पनप सकता है। पान के पत्ते की भी अच्छी खेती हो सकती है।

दुधारू गायों, मुर्गियों, बकरियों और बतखों की संख्या भी इस क्षेत्र में कम नहीं है और यदि उनके सुधार पर उचित ध्यान दिया जाय तो यहाँ काफी मात्रा में दूध, अंडे और मांस की पूर्ति हो सकती है तथा आसपास के क्षेत्रों में भी इसकी पूर्ति की जा सकती है। इससे निश्चय ही लोगों की क्रयशक्ति बढ़ेगी। क्षेत्र में ताड़ और खजूर वृक्ष भी बहुतायत में हैं, जोकि सम्बन्धित उद्योगों के लिए, खासकर उत्तरी भाग में अच्छी मात्रा में कच्चे माल की पूर्ति कर सकते हैं। उत्तरी भाग में किसानों के कई गाँव हैं, जोकि सहकारी खेती का संगठन करने के लिए उपयुक्त हैं। यह क्षेत्र छोटानागपुर पठार की श्रृंखला में है और वहाँ की भूमि मूंगफली, काजू, कपास और गन्ने की खेती के उपयुक्त बन सकती है, बशर्ते कि रांगेरखाल अथवा खूब गहरे ट्यूबवेल लगाकर सिंचाई के लिए पर्याप्त पानी की पूर्ति की जाय। सच तो यह है कि इस क्षेत्र में दोहरी-तिहरी फसल हो सकती है,

बशर्ते कि अधिकारीगण सिंचाई सुविधाएँ प्रदान करने के लिए जोरदार प्रयास करें।

सड़क-विस्तार

खिरपई के उत्तर में जानेवाली सड़क को और बढ़ाना चाहिए, उस पर एक पुल बनाना चाहिए तथा सड़क को आरामबाग तक और बढ़ाना चाहिए, जोकि क्षेत्र की उत्तरी सीमा से २० मील दूर है। आरामबाग से कलकत्ता तक पक्की सड़क (४० मील लम्बी) है। आरामबाग से एक सड़क बांकुड़ा जिले के विष्णुपुर को भी जाती है। इसलिए यदि यह प्रस्ताव कार्यान्वित किया जाय तो जिलों के तथा कलकत्ता के बीच अन्तर-पथ बन जायेंगे। अभी कलकत्ता घाटाल होकर जाना पड़ता है। इस सड़क के कारण कलकत्ते की दूरी थोड़ी कम हो जायेगी क्योंकि घाटाल होकर जाने से लम्बा रास्ता तय करना पड़ता है। क्षेत्र के दक्षिण भाग में शिलावटी नदी में सालों भर नाव आदि चलाने की व्यवस्था करनी चाहिए, खासकर बाँका और सुल्तानपुर गाँवों के निकट। चूँकि शिलावटी में सिर्फ बरसात के दिनों में ही और वह भी ढलान की ओर ही नाव आदि चल सकती है, अतः सटे हुए दक्षिण में कम से कम मनोहरपुर (वर्तमान डिंगल कच्ची सड़क) तक, नदी के पूर्वी किनारे-किनारे मोटर चलने लायक सड़क बनायी जानी चाहिए।

शिक्षा

तीन माध्यमिक विद्यालय हैं, जिनमें एक उच्च माध्यमिक है और बाकी दोनों को भी शीघ्र ही उच्च बनाये जाने की उम्मीद है। रामजीवनपुर और खिरपई में लड़कियों के लिए दो जूनियर हाई स्कूल हैं। यदि शैक्षणिक पिछड़ापन दूर करना हो तो उदारतापूर्वक शैक्षणिक सुविधाएँ प्रदान करनी होंगी। कुटीरोद्योग प्रधान चन्द और तकनीकल स्कूल तथा कई बहुमुखी स्कूल खोलने होंगे। शिक्षा के क्षेत्र में एक कमी यह भी है कि समूचे क्षेत्र में लड़कियों के लिए एक भी उच्च अथवा उच्चतम माध्यमिक विद्यालय नहीं है। बेकारों तथा अर्धबेकारों में अधिकांश महिलाएँ ही हैं; इन्हें वर्तमान तथा योजना में प्रस्तावित नये ग्रामोद्योगों में रोजगारी प्रदान करने की व्यवस्था करनी है। इतना ध्यान रखना चाहिए कि सिर्फ कृषि अथवा अकेले ग्रामोद्योग ही ग्रामीण बेकारी की समस्या का हल नहीं कर सकते। ग्रामोद्योगों को कृषि और पशुपालन से संयुक्त करने की नितांत आवश्यकता है। इसके बाद भी यदि कुछ अर्धबेकारी (मौसमी) रह जाय, तो ग्रामीण निर्माण कार्य, जैसे सड़क, छोटी नहर तथा गृह निर्माण कार्य, हाथ में लिया जाय।

कल्याण कार्य

खिरपई मौजा में संस्थापित कल्याणकारी संस्थाओं में से कुछ का प्रतिरूप अन्य मौजों में भी होना चाहिए। अभी दो स्वास्थ्य केन्द्र हैं, जिसमें से एक में चार रोगियों के रहने की व्यवस्था है तथा दूसरे में दो। दो और भी केन्द्र खुलनेवाले हैं। खिरपई स्वास्थ्य केन्द्र में एक गश्ती इकाई भी है। कुछ और गश्ती इकाइयाँ होनी चाहिए। प्रसूति सेवाओं को और बढ़ाने की बहुत अधिक जरूरत है। आधुनिक किस्म के मनोरंजन की भी व्यवस्था होनी चाहिए। सामुदायिक रेडियो सेट की संख्या बढ़ायी जानी चाहिए। पीने के पानी की कमी है। टचूबवेल का इस्तेमाल शीघ्र ही बंद हो जाता है। त्यक्त टचूबवेलों को फिर से गाड़ने का सरकार का कोई कार्यक्रम नहीं है। फलतः उतने ही टचूबवेल बेकार हो जाते हैं, जितने कि नये लगते हैं। कई क्षेत्र ऐसे भी हैं जहाँ कि भू-गर्भ में इष्टकिज पट्टी होने के कारण टचूबवेल सफल नहीं है। वहाँ रिंगवेल लगाये जा सकते हैं। बहरहाल पीने के पानी की पूर्ति में बहुत सुधार करने की अत्यावश्यकता है।

अन्ततः यह ध्यान रखना चाहिए कि विकास योजनाओं के आयोजन अथवा मूल्यांकन के लिए सूचनाएँ और आँकड़े प्राप्त करने के कोई नियमित और निर्भरीय तरीके नहीं हैं। अतः ग्राम योजकों को शीघ्र ही नियुक्त किया जाना चाहिए और उन्हें सर्वेक्षण रिपोर्ट तैयार करने में, अभी जो भी उपलब्ध हो उसके आधार पर परन्तु पूर्ण और विस्तृत, मदद करने के लिए कहना चाहिए। उन्हें सम्बन्धित गाँवों के साधनों के आद्यतन मूल्यांकन के आधार पर उनके कृषि और औद्योगिक विकास के लिए ग्रामवार आयोजन करने में भी मदद करनी है।

कलकत्ता : २९ मार्च १९६३ ●

'उपूसी' क्षेत्र में खादी और ग्रामोद्योगों की सम्भाव्यता

मनोहर शं. नाडकर्णी

इस लेख में उत्तर पूर्वी सीमांत क्षेत्र में खादी और ग्रामोद्योगों के विकास की सम्भाव्यता पर वहां की विशेष अर्थ-व्यवस्था और लोगों के रुख को ध्यान में रखते हुए विचार किया गया है।

उत्तर पूर्व सीमांत क्षेत्र की भौगोलिक स्थिति ही कुछ ऐसी है कि उस क्षेत्र में कोई भी विकास कार्यक्रम कार्यान्वित करना एक समस्या है। समूचा. क्षेत्र ५ प्रखंडों में विभक्त है। उनके सदर दफ्तरवाले शहर तक तो सड़क या हवाई मार्गों से जा सकते हैं पर अधिकांश स्थानों तक जाने के लिए पैदल मार्ग के अलावा दूसरा कोई रास्ता नहीं है। उन स्थानों के बारे में यही सुनने में आता है कि सदर दफ्तरवाले शहर से किसी की दूरी १० दिन की है तो किसी की २० दिन की। तराई इलाकों को छोड़कर, जो असम के लगे हुए क्षेत्रों के सदृश है, सारा 'उपूसी' प्रदेश पहाड़ी है।

वहाँ के रहनेवाले कबायली लोग हैं जिनकी अवस्था हमारे देश के भीतरी प्रदेशों में रहनेवाले आदिवासियों से बिल्कुल भिन्न है। इन कबायलियों की अपनी मजबूत और अदूषित परम्पराएँ हैं जो उनके जीवन की समस्त पहलुओं में रमी हुई हैं। यहाँ लगभग ४० किस्म के कबायली हैं जिनकी अलग-अलग बोलियाँ हैं, अलग-अलग सामुदायिक संगठन हैं और अलग-अलग आर्थिक ढाँचे हैं। उनकी आर्थिक व्यवस्था को वस्तु-विनिमयवाली आत्म-निर्भर अर्थ-व्यवस्था कह सकते हैं।

अर्थ-व्यवस्था

उनके अपने परम्परागत धंधे हैं और खाद्य, कपड़े तथ आवश्यकता की अन्य वस्तुओं की पूर्ति के तरीके भी अपने हैं। उनमें अधिकांश खेती करनेवाले हैं जो **झूम** तरीके से खेती करते हैं। बहुत कम लोग, जीरो पठार के अपातानी लोगों की तरह, बसकर खेती कार्य में लगे हैं। इन कबायलियों की आपसी निर्भरता के तरीके भी परम्परागत हैं। उत्तरी क्षेत्र के कुछ लोग तिब्बत और भूटान के साथ व्यापार करते रहे हैं। वे कागज, फर और चमड़े के सामान तिब्बत भेजते थे। पर उत्तरी सीमांत पर हाल में जो गड़बड़ी हुई है उससे तिब्बत के साथ होनेवाला उनका कारबार बिल्कुल ठप पड़ गया। तराई प्रदेशों के कबायलियों का आर्थिक सम्बन्ध असम के मैदानी इलाकों के लोगों से रहा है और उनमें से कुछ खेतिहर मजदूर हैं। वे अपनी आवश्यकता की चीजें खरीदने प्रायः मैदानी बाजारों में आते रहते हैं।

इस प्रदेश में प्रवेश के लिए कुछ ऐसे कायदे-कानून बने हुए हैं जिसकी वजह से इन लोगों का बाहरी आर्थिक शोषण से बचाव हो सका है और यथासंभव आंतरिक आर्थिक व्यवस्था पर भी नियंत्रण है।

समस्या समाधान के लिए कदम

आजादी के बाद भारत सरकार ने अधिकाधिक क्षेत्रों को सक्रिय प्रशासनिक नियंत्रण में लाने के लिए कदम उठाये हैं। साथ-साथ अनवरत विकास कार्यक्रम भी चल रहे हैं जिनका संचालन प्रधान मंत्री द्वारा निर्धारित ५ सिद्धांतों के आधार पर होता है। ये पाँचों सिद्धांत हैं: लोगों का विकास उनकी रुचि के अनुसार हो, उन पर कोई चीज लादी न जाय, उनकी अपनी कला और संस्कृति को हर तरह से प्रोत्साहित किया जाय, जमीन और जंगलात पर कबायली अधिकारों की कद्र की जाय, उनके अपने लोगों के एक दल को प्रशिक्षित किया जाय और

ऐसा तैयार किया जाय कि प्रशासन और विकास कार्य सम्भाल लें। इसमें संदेह नहीं कि शुरू में कुछ तक्नीकी लोगों को बाहर से लाने की आवश्यकता पड़ेगी, पर कबायली क्षेत्रों में अत्यधिक बाहरी व्यक्तियों को लाने से बचा जाय, इन क्षेत्रों का अत्यधिक प्रशासन या उन पर योजनाओं की विविधताओं के बोझ लादने से बचा जाय। काम सीधे किये जायँ जिनका उनके सामाजिक या सांस्कृतिक संस्थाओं से कोई टकराव न हो और उनके परिणाम आँकड़े या खर्च किये गये धन से नहीं, बल्कि मानव चरित्र के गुणों से आंके जायँ।

मानवीय कदम

तथ्यपूर्ण ये सारी बातें डा. वेरियर एलविन तथा असम राज्यपाल के परामर्शदाताओं ने अपने "उपूसी-दर्शन" में अंकित कर ली हैं। कबायली लोगोंको धीरे-धीरे इस तरह आधुनिक सभ्यता के प्रकाश में लाना है कि उनकी अपनी संस्कृति पर कहीं ऐसा धक्का न लग जाय कि उनके अंदर स्थायी हीन-ग्रथियाँ बन जायँ या अधिक अच्छी चीजों को ग्रहण करने के पहले उनके पारम्परिक जीवन के अच्छे तत्त्व नष्ट हो जायँ, आदि मानव दर्शन की बातें हैं। इसीलिए 'उपूसी' क्षेत्र में काम करने के इच्छुक किसी भी अभिकरण को यही मार्ग अपनाना पड़ेगा। नहीं तो पूरे क्षेत्र में गड़बड़ी फैल सकती है जो देश हित के लिए, और खासकर हाल की घटनाओं की पृष्ठभूमि में बड़ा ही घातक सिद्ध होगा।

नये परिवर्तन

उपर्युक्त तथ्यों के साथ-साथ इधर हाल के उन परिवर्तनों को भी देखना पड़ेगा जो उन क्षेत्रों में हो रहे हैं। सीमांत सड़क-निर्माण कार्यक्रम की वजह से बहुत से कबायली सड़क बनाने के काम में लग गये हैं; फौजी शिविरों में कुछ को काम मिल गया है। आमतौर पर रोजाना ५ रुपये की मजदूरी लोगों को मिल रही है। पूरे इलाके में सही अर्थों में कहीं बेकारी नहीं है। दर असल हालत यह है कि मजदूरों की कमी है और निर्माण कार्यों के लिए बाहर से मजदूर लाने पड़ रहे हैं। इसके विपरीत कुछ ऐसे कबायली भी हैं, जो सड़कें बनाने के कार्य में शारीरिक मेहनत का काम नहीं कर सकते; क्योंकि वे अपनी पारम्परिक रूढ़ियों से चिपके हुए हैं। उनके लिए और खासकर औरतों के लिए ग्रामोद्योग विकास कार्यक्रम की गुंजाइश हो सकती है।

'उपूसी' प्रशासन का कार्यक्रम

प्रशासन ने 'उपूसी' में विकास कार्यक्रम के अंतर्गत विकास कमिश्नर के अधीन एक गृह-उद्योग विभाग की स्थापना की है। इसके अनुसार दस्तकारी केन्द्र खोले गये हैं और प्रत्येक खण्ड के विभिन्न क्षेत्रों से आनेवाले वयस्कों को दस्तकारी का प्रशिक्षण दिया जा रहा है। आशा है, प्रशिक्षण पूरा करके जानेवाले लोग अपने-अपने गाँवों तथा पड़ोसियों को अपनी प्राचीन दस्तकारी में नयी तक्नीक अपनाने के लिए प्रेरित करेंगे। हस्त-शिल्प के इस विकास कार्यक्रम का उद्देश्य कृषि का स्थान लेना नहीं बल्कि उसका पूरक बनना है। फिर स्थिति यह है कि 'उपूसी' के भीतरी क्षेत्रों के प्रशिक्षणार्थी अगर पूरे वक्त के लिए हस्तशिल्पी बन जाते हैं तो उनकी उत्पादित वस्तुओं के इतने खरीदनेवाले कहाँ से आयेंगे? इसके अतिरिक्त कारखानों के उत्पादन तथा मैदानी क्षेत्रों के कारीगरों की वस्तुओं की प्रतिद्वंद्विता में वे कैसे टिकेंगे? इसीलिए प्रशासन इस बात की कोशिश कर रहा है कि वे अपनी प्राचीन परम्परा के अनुकूल विशिष्ट आकर्षक वस्तुओं के उत्पादन में ही लगें।

संभाग तथा उप संभाग के सदर दफ्तर के केन्द्रों में एवं अंचल केन्द्रों में भी हस्तशिल्प केन्द्र स्थापित किये गये हैं और प्रत्येक केन्द्र के साथ कृषि फार्म भी खोले गये हैं। पाठशालाओं में भी छोटे वर्गों में हस्तकला की शिक्षा दी जाती है। चलते-फिरते बुनकर दल, दर्जी दल, एक बुनाई विद्यालय, एक मछली-पालन केन्द्र तथा एक मुर्गी-पालन केन्द्र हैं। सूती वस्त्र तथा बेंत-बाँस और लकड़ी के उपस्कर आदि की सरकारी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उत्पादन केन्द्र भी चल रहे हैं।

हस्तशिल्प प्रशिक्षण केन्द्रों ने साबुन बनाना, बुनाई,

बढ़ईगीरी, बेंत और बाँस के काम, दर्जीगीरी, राजगीरी, चमड़े का काम, लुहारी, अड़कशी, काष्ठ-शिल्प, ऊन-बुनाई, दरी-बुनाई, रंगाई और कुम्हारी आदि कार्य शुरू कर दिये हैं। मार्च १९६३ तक कुल मिलाकर, १,८०० व्यक्तियों को इन शिल्पों का प्रशिक्षण दिया गया जिनमें से ७४४ को उनके शिल्प से सम्बन्धित औजार आधी कीमत पर दिये गये। एक हजार से अधिक लोगों को अनुवर्ती प्रशिक्षण दिया गया। दो हजार से अधिक लोग इस समय प्रशासन के उत्पादन कार्यक्रम के अंतर्गत कार्य कर रहे हैं। 'उपूसी' के पूरे क्षेत्र में कुल मिलाकर २१ औद्योगिक इकाइयाँ चल रही हैं जिनमें से प्रत्येक लघु उद्योग के स्वतंत्र उत्पादन केन्द्र हैं।

कुछ सुझाव

'उपूसी' क्षेत्र की मौजूदा अवस्थाओं को देखते हुए ऐसा महसूस किया जा रहा है कि वहाँ के लिए खादी और ग्रामोद्योग के काम के लिए कोई संगठन बनाने के बजाय 'उपूसी' का प्रशासन ही उस काम को ज्यादा अच्छी तरह संगठित कर सकता है। अगर कोई दूसरी संस्था बनायी भी गयी तो उसे अपने रोजमर्रे के काम तक के लिए प्रशासन पर इतना अधिक निर्भर रहना पड़ेगा कि उसका अलग अस्तित्व बनाकर रखना बहुत ही कठिन होगा। ऐसी स्थिति में खादी और ग्रामोद्योग कमीशन वहाँ के प्रशासन को उद्योगों को बढ़ाने में मदद कर सकता है और उस क्षेत्र को बढ़ाने के लिए अपने सुयोग्य व्यक्तियों को शिलांग स्थित प्रशासन के प्रधान कार्यालय में भेज सकता है। ये भेजे जानेवाले लोग ऐसे हों, जो किसी भी क्षेत्र में गाँवों के छोटे-छोटे समूह के बीच सब तरह के कल्याण कार्य या विकास कार्य का संगठन और संचालन कर सकने की क्षमता रखते हों। इसके अतिरिक्त उन व्यक्तियों के अंदर कबायली लोगों के बीच कल्याण कार्य करने की दिलचस्पी भी होनी चाहिए।

ऐसे व्यक्तियों का चुनाव कर लेने के बाद यह आवश्यक है कि 'उपूसी' में उन्हें अपने सेवा क्षेत्र में भेजे जाने के पहले अच्छी तरह हर बातें समझा दी जायँ और वहाँ की भाषाओं से भी उनका परिचय करा दिया जाय। इस तरह शिक्षा उन्हें 'उपूसी' प्रशासन की ओर से सियांग संभाग के पासी घाट स्थान पर संचालित ग्राम सेवक प्रशिक्षण केन्द्र में दी जा सकती है। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन 'उपूसी' क्षेत्र के लोगों को चुनकर अपने विभिन्न संस्थानों में उन्हें प्रशिक्षण दे सकता है। जहाँ तक सम्भव हो सके असम में प्रशिक्षण के जितने केन्द्र हैं, उन्हें पूर्ण उपयोग में लाने की कोशिश की जाय। वहाँ के ग्रामोद्योग की वस्तुओं को, खासकर सूती वस्त्र, काष्ठ-शिल्प की वस्तुएँ, कागज तथा बेंत और बाँस की वस्तुएँ आदि का विक्रय बाजार ढूँढ़ने के लिए 'उपूसी' का प्रशासन काफी चिंतित है। कमीशन ऐसा कर सकता है कि उनकी वस्तुओं को लेकर वह अपने विभिन्न विक्रय केन्द्रों में प्रदर्शन के लिए रखे और बाद में विक्रय के लिए प्रशासन से वार्ता करे।

कमीशन के कार्यक्रम की गुंजाइश

खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के कुछ कार्यक्रम, थोड़ी बहुत सुधार करके, 'उपूसी' क्षेत्र में विभिन्न स्थानों पर शुरू किये जा सकते हैं। सुवंसिरी, सियांग, और लोहित संभागों के कुछ क्षेत्रों में छोटे रेशेवाली कपास पैदा की जाती है। स्थानीय रूप से तकलियों पर उसका सूत काता जाता है और करघे पर कपड़े भी बुने जाते हैं। इन इलाकों में परम्परागत चरखों का चलन किया जा सकता है। समूचे 'उपूसी' क्षेत्र में, थोड़े से कबायलियों को छोड़कर, प्रायः समस्त कबायलियों की औरतें अपने घरों के व्यवहार के लिए और अन्य वस्तुओं से विनिमय के लिए स्वयं कपड़े बुनती हैं। प्रशासन ने जोरहाट स्थित अपने केन्द्रीय पूर्ति भण्डार से समस्त स्थानों के लिए २० अंक का रंगा हुआ बटा सूत पूर्ति करने की व्यवस्था की है। जिन क्षेत्रों में प्रवेश कठिन है वहाँ हवाई जहाजों से सूत गिराया जाता है और सभी स्थानों पर सूत का वही दाम लिया जाता है जो जोरहाट में पड़ता है। प्रशासन ने नये करघे और कपड़े का नया रूपांकन चालू किया है और स्थानीय उत्पादित सब

कपड़े खरीद लेने की भी व्यवस्था की है। जहाँ तक खादी का सम्बन्ध है खादी और ग्रामोद्योग कमीशन अपातानी की पठार में हापोली के समीप छोटे पैमाने पर अम्बर चरखा कार्यक्रम शुरू कर सकता है। अन्य स्थानों पर हाथ कता सूत मिल सूत की दर पर पूर्ति किया जा सकता है।

सियांग संभाग के पासीघाट तथा तीराप संभाग के नामसांग नामक स्थानों पर रेशम के कीड़े पालने के लिए जलवायु अनुकूल है। क्षेत्र के उत्तरी भागों में तिब्बत से ऊन आता था जिसे मोनपा लोग बुन कर खुद व्यवहार में लाते थे और तिब्बत को निर्यात भी करते थे। लेकिन तिब्बत के साथ व्यापार बन्द हो जाने के कारण उन्हें ऊन मिलने में कठिनाई हो रही है। प्रशासन ने इधर हाल ही में कबायलियों को बाहर से कुछ भेड़ें लाकर दी हैं, पर तात्कालिक अवस्था तो उन्हें ऊन देने की है। कमीशन ने अगर राजस्थान या अन्य क्षेत्रों से ऊन की पूर्ति करने की व्यवस्था की तो उन क्षेत्रों में इस उद्योग को पुनः चालू करने में बड़ी मदद मिलेगी। उस अवस्था में ऊन के उत्पादित माल की खपत के लिए भी विचार करना होगा।

ग्रामोद्योग

'उपूसी' क्षेत्र के तराईवाले कुछ हिस्सों में सरसों की पैदावार होती है। प्रशासन की ओर से सुबंसिरी संभाग के दियोमुख स्थान पर कुछ कोल्हू बैठाये गये हैं और लोहित संभाग के चौखाम स्थान पर एक तेल पेरनेवाला यंत्र बैठाया गया है। तराई इलाकों में और खासकर तीराप संभाग में अखाद्य तिलहन भी पाये जाते हैं। इन क्षेत्रों में तिलहन के एकत्रीकरण का काम संगठित किया जा सकता है। बोमडिला के नजदीक **शिकाकाई** और रेह मिट्टी पायी जाती है, जहाँ प्रशासन की ओर से साबुन उद्योग की इकाइयाँ स्थापित की गयी हैं, लेकिन इस उद्योग की गुंजाइश बहुत सीमित है।

इस इलाके में उपस्कर बनाने की लकड़ियाँ बहुतायत से पायी जाती हैं। प्रशासन ने अपने समस्त हस्तशिल्प केन्द्रों में बढ़ईगीरी और लुहारगीरी का प्रशिक्षण शुरू कर दिया है।

कामेंग संभाग में कुछ मोम्पा परिवार नरम लकड़ियों से कागज बनाते हैं। पहले काफी बड़ी मात्रा में यह कागज तिब्बत को निर्यात किया जाता था। तवांग के बौद्ध-विहार में भी यही कागज खरीदा जाता था, लेकिन चीन के साथ संबंध खराब होने से इन उद्योगों को काफी नुकसान हुआ है। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन अगर इस इलाके के उत्पादित कागज को खरीदने की व्यवस्था करे तो उससे स्थानीय जनता को बड़ी राहत मिलेगी। कागज उत्पादन की नयी तकनीकें बाद में शुरू की जा सकती हैं।

अपातानी पठार में तथा तराई के कुछ भागों में चावल बहुतायत से होता है। सुबंसिरी संभाग के जीरो और दुइमुख स्थानों पर हाथ धान कुटाई उद्योग का संगठन किया जा सकता है। 'उपूसी' में जलवायु की अवस्था और फूलों की बहुतायत, मधुमक्खी पालन उद्योग के लिए काफी उपयुक्त है।

उत्तरी इलाकों में, खासकर भूटान और तिब्बत से लगे क्षेत्रों में कच्चा चर्म प्रशोधन और चमड़े की वस्तुएँ बनाने का काम होता है। इस भाग में इस उद्योग का संगठन किया जा सकता है। फिर उनके उत्पादन को बेचने की समस्या रह जायगी। कबायली लोगों की कुछ अपनी मान्यताएँ हैं, जिससे सम्भव है चर्म प्रशोधन का कार्य शुरू करने में कुछ दिक्कते आयें, लेकिन यहाँ यह बात भी समझ लेना चाहिए कि अधिकांश कबायली लोग मरे हुए जानवरों का मांस खाते हैं।

'उपूसी' क्षेत्र के मध्यभाग में बांस और बेंत बहुतायत से पैदा होता है। अधिकांश कबायली बांस और बेंत का बड़ा ही सुन्दर काम करते हैं। अगर उनके उत्पादनों के विक्रय की व्यवस्था कर दी जाय तो इस कारीगरी में सुधार की बड़ी गुंजाइश है। नामेंग संभाग के बोमडिला और सेल्पा में, सुबंसिरी संभाग के जीरो में तथा तीराप

संभाग के खोन्सा में दियासलाई उद्योग की इकाइयाँ बैठायी जा सकती हैं। चीना घास के बिछुये (दंश रोम) की छाल के रेशे से सूत कातकर कपड़ा बनाया जाता है। इस कार्य को भी बढ़ाने की कोशिश की जा सकती है।

क्षेत्र में अनेक स्थानों पर चूना पत्थर के भण्डार हैं। 'उपूसी' क्षेत्र में जो निर्माण कार्य चल रहा है, उसके लिए ये उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। 'उपूसी' के पूरे क्षेत्रों में जो जगहें ऐसी हैं, जहाँ आसानी से प्रवेश नहीं हो सकता, उन क्षेत्रों में रोज की आवश्यकता की बिक्री के लिए दूकानों की बड़ी कमी है।

और सबसे अन्त में, आग्रह यह है कि 'उपूसी' क्षेत्र का सारा कार्यक्रम समग्र विकास को मद्देनजर रखते हुए ही होना चाहिए।

नयी दिल्ली : १ जून १९६३

वस्त्रोद्योग में रंजक-चयन

पेकल श्रीरामुलू पैट्रो

वस्त्रोद्योग में रंजक सामग्रियों का चुनाव वित्त, रंजक तैयार करने की दिक्कतें, रंजक की तेजी—जिसकी गारंटी कोई नहीं दे सकता, सिवाय इसके कि सर्वोत्तम रंजकों का सही तरीके से इस्तेमाल किया जा सकता है—और लोकप्रिय पसन्दों से सम्बन्धित है। इस लेख में वस्त्रोद्योग में जिन वर्गों और किस्मों की रंजक-सामग्रियों का इस्तेमाल किया जा सकता है, उनका विवरण दिया गया है।

वस्त्र के नमूने, रंग, टिकाऊपन और धार्यता के सम्बन्ध में जनता की पसंदगी पर वस्त्रोद्योग व्यवसाय में ध्यान दिया जाना जरूरी है, ताकि देश भर में उसकी खुदरा बिक्री दिनों-दिन और बढ़ती ही जाय। उचित मूल्य निर्धारित करने, जनता की पसंद के अनुकूल नयी डिजाइनें, नमूना और रंग निकालने तथा उम्दा से उम्दा कपड़ा एक खास-कीमत पर बेचने की ओर भी ध्यान दिया ही जाना चाहिए। जहाँ तक धार्यता और टिकाऊपन का सवाल है, हमारे लिए यह अत्यावश्यक है कि हम सप्लायरों से सभी स्तरों पर निकट सम्पर्क बनाये रखें। हम वस्त्रोद्योग में होनेवाले नये विकासों से परिचित रहें और नये-नये विचारों को व्यवहार में लायें।

लोकप्रिय पसंद

बिक्री के लिए तैयार किये जानेवाले वस्त्रों के रंग को निर्धारित करने में कई बातों का ध्यान रखना पड़ता है। रंग का चयन जनता की पसन्द पर निर्भर करता है। फैशन विशेषज्ञ, कलाकार और वस्त्र की डिजाइन बनानेवाले वस्त्र की डिजाइन के लिए रंग-योजना का चयन करते हैं। रंगसाज और छापेसाज के रंग कलाकार के रंग से बहुत ही सीमित होते हैं और फिर इस बात पर भी ध्यान देना होता है कि किस तरह के वस्त्र को रंगना है तथा कितने तेज रंग की जरूरत है। अतः डिजाइन को वस्त्र पर उतारते वक्त आवश्यकतानुसार कलात्मक आकलन में परिवर्तन करना ही होता है। काम करनेवाले रंगसाज को रंग की सीमाएँ अच्छी तरह मालूम होती हैं कि कौन-सा रंजक किस तरह के रेशे पर किस हद तक चढ़ सकता है। घटिया रंगसाजी से बचना बड़ा ही महत्वपूर्ण है। जनता की इच्छापूर्ति भी करनी है। सर्वोत्तम किस्म के रंजकों से की गयी रंगसाजी प्रायः महँगी पड़ती है। बहुत बार इन्हें बनाना भी मुश्किल है। इनका रासायनिक स्वरूप जटिल होता है, जिस कारण बीच-बीच में कई प्रक्रियाएँ करनी पड़ती हैं। फलस्वरूप इस तरह की रंगाई के लिए बहुत अधिक कीमत लेनी पड़ती है जोकि कभी-कभी कपड़ा वितरक देने को अनिच्छुक होगा। आज जिस डिजाइन की बहुत अधिक बिक्री होती है, करीब तीन महीने बाद उसका बिकना भी मुश्किल हो सकता है। यदि इन डिजाइनों में महँगे रंजकों का इस्तेमाल किया जाय तो इसके अनबिके माल के कारण होनेवाला नुकसान सस्ते रंजकों के वस्त्र के मुकाबले अधिक होगा। रासायनिक उद्योग ने अब तक इतनी प्रगति कर ली है कि स्वाभाविक और पुनरुत्पन्न 'सेलुलोस' रेशों पर कई तरह के तेज (पक्के) रंगों का चढ़ाना सम्भव है। सेलुलोस रेशों पर भी सबसे तेज रंजक चढ़ाने के लिए व्यक्ति को कुछ अनुभव होना जरूरी है। इन रंजकों से चाहे जैसे रंगाई नहीं की जा सकती।

रंग की तेजी

अब हमें इन रंगों की तैयारियों में 'आप्टीकल

ब्लीचिंग एजेण्ट्स' (प्रतिदीप्त श्वेतक कारकों) पर भी विचार करना है। इनमें से कुछ तो वैट रंजक में भी बहुत ही आश्चर्यकारी रंग-परिवर्तन लाते हैं, और वे धूप अथवा उष्मा लगने से खासकर क्षारीय अवस्था में पीले हो जाते हैं। अधिकांश कपड़ों का इस्तेमाल आम लोगोंद्वारा किया जाता है। सुन्दर डिजाइनवाला देखने में अच्छा कपड़ा तुरंत बिक जाता है। यदि कीमत कम हुई तो ग्राहक प्रायः इतना निश्चित कर लेगा कि वस्त्र का रंग बाद में इतना तेज नहीं रहेगा, जितना कि अभी है। बहरहाल, वस्त्र का बाहरी आकर्षण सर्वाधिक महत्वपूर्ण रहेगा।

रंग के खराब हो जाने या धुल जाने जैसे प्रतिकूल गुणों से ग्राहकों को ताज्जुब होगा। कपड़ा धुलने पर रंग फीका पड़ जाने से उसे बड़ी निराशा होगी। यदि धुलने पर और धूप में रंग न उतरने की गारण्टी दी जाय और श्वेतीकरण के वक्त कपड़े का रंग फीका पड़ जाय तो ग्राहक को और अधिक निराशा होगी। बहुत ही अच्छे सामान्य गुण-तत्वोंवाली रंजक सामग्री का चुनाव आवश्यक है, जिसमें कि वस्त्र के इस्तेमाल के लिहाज से सर्वोत्तम गुण-तत्व हों।

उपयोग से सम्बन्ध

कार्डुराय और मखमल में मुख्य दिक्कत है उन पर ऐसा लाल और गहरा लाल (मॅरून) रंग प्राप्त करना जोकि धुलने पर भी अपनी उचित तेजी बनाये रखे और जो कपड़े को सूखी या गीली अवस्था में रगड़ने पर भी बना रहे। इस समस्या का शीघ्र हल प्राप्त करना अत्यावश्यक है। हम बायलर सूट को सल्फर रंजक के बदले वैट-रंजक से रंगने को तरजीह देते हैं। बेशक शर्टिंग के वैट-नील रंजक की तेजी सुधारने के लिए सतत माँग है, ताकि वह क्लोरिन जैसे आक्सीडाइजिंग एजेंटों के संयोग से फीका न पड़ जाय। फिर, यह कोई अत्युक्ति नहीं है कि भ्राषमान मिश्रण कई सादी शर्टिंग के वैट-रंगों को बिल्कुल बिगाड़ देते हैं। हर विशेषज्ञ को यह समझना चाहिए कि धुलने पर प्लश-पर्दों के रंग की तेजी कमीज और रूमाल के कपड़ों के रंग की तेजी से कहीं कम रहेगी। सूती वस्त्र खरीदनेवाले अधिकांश ग्राहक यह जानते हैं, पर दूसरे नहीं। इस प्रकार यह हो सकता है कि कपड़े का वैसा इस्तेमाल किया जाता हो जिसके लिए वह बना नहीं है। इससे कई बड़ी दिक्कतें उठ खड़ी हो सकती हैं और असाधारण घटना घट सकती है। उदाहरणस्वरूप, एक वस्त्रनिर्माता ने जनाने कोट बनाने के लिए हल्के तेज प्रत्यक्ष रंगों से रंगे गहरे लाल रंग के प्लश इस्तेमाल किये। उस कोट के भींग जाने पर क्या हुआ होगा, इसका अन्दाजा लगा सकते हैं। एक केशन-एक्टिव पदार्थ का इस्तेमाल कर उनमें से अधिकाधिक के रंग को धुलने पर फीका होने से बचाने के लिए प्रयास किया गया। स्वभावतः इसमें रंग परिवर्तन करने की बात आ जाती है और चूंकि धुलाई करने पर रंग न उतरे इसके लिए अधिकतम व्यवस्था की जाती है, इसलिए उसमें धूप में तेजी कम न होने की क्षमता कम होने की बात भी आ जाती है।

इस सम्बन्ध में एक अनुभव बताने योग्य है। थैला बनाने के लिए सफेद और लाल चेक का कपड़ा बनाया गया था। लाल रंग अजीविक रंजक था, जोकि **नेपथोल एएस** और तेज लाल **आर. सी. बेस** का मिश्रण था। इस कपड़े का इस्तेमाल एक ग्राहक ने रसोई घर का पर्दा बनाने में किया। दो साल के बाद रोशनी की वजह से वह कपड़ा कमजोर हो गया पाया गया। जहाँ कहीं सफेद और लाल धागे का संयोग था, लाल धागा कमजोर पड़ गया, जबकि जहाँ लाल धागे से दूसरे लाल धागे का संयोग था, वहाँ तो कई जगह छेद हो गये। यह इस कारण हुआ कि ग्राहक ने उस कपड़े का गलत इस्तेमाल किया। यदि कपड़े का इस्तेमाल उस कार्य में किया जाय जिसके लिए वह नहीं बना है तो उसमें निश्चय ही वस्त्र निर्माता का दोष नहीं है।

ग्राहक बहुत अधिक फैशन-प्रभावित हैं। बड़े-बड़े शहरों में रहनेवाले फैशन निर्माता जो फैशन निकाल देंगे उन्हें वे खुशी या नाखुशी से अपनायेंगे। बहरहाल ये फैशन

निर्माता रसायन उद्योग की सम्भावनाओं को या तो समझते ही नहीं और यदि समझते हैं तो बहुत कम। वे कभी-कभी बहुत हल्का रंग निर्दिष्ट कर देते हैं, जिसके फलस्वरूप धूप में उसका रंग प्रायः और भी कम हो जायेगा। यदि बहुत ही हल्के रंग की इच्छा प्रकट की जाय तो बहुत-से रंगों में धूप में भी रंग की तेजी संतोष-जनक बने रहने की गारण्टी देना सम्भव नहीं है।

यदि फैशन गहरा रंग निर्दिष्ट करता है, तो फिर धुलाई और रगड़ में भी तेजी बने रहने की समस्या खड़ी हो जायेगी। लोगों को समान्यतया यह नहीं मालूम है कि कुछ रंग ऐसे होते हैं, जोकि लोहा करते वक्त फीके पड़ जाते हैं। परन्तु यदि उन्हीं रंगों का इस्तेमाल सामान्य अथवा उससे कुछ गहरे रंग में किया गया हो तो लोहा होने के बाद भी उनकी तेजी काफी बनी रहती है। जब फैशन बहुत ही अधिक गहरे रंग का हो जाता है तो फिर यह सम्भव है कि कुछ रंगों की तेजी की गारण्टी नहीं दी जा सकती।

रंजक-सामग्री का चुनाव

सर्वोत्तम रंजकों का सही तरीके से इस्तेमाल होने पर ही वस्त्र पर गारण्टीशुदा रंग की तेजी प्राप्त हो सकती है। रंग-सामग्रियों के जिन वर्गों का चुनाव करना हो, वे इतने विस्तृत होने चाहिए कि रंगसाज उनसे हर फैशनेबल शेड तैयार कर सके, उनमें पर्याप्त मात्रा में तेजी के आम गुण होने चाहिए और विशेष चीजों में इस्तेमाल किये जाने के लिए उनमें कई सर्वोत्तम गुण-तत्व होने चाहिए। यह दुःख की बात है कि रंजक निर्माण उद्योग अभी उस अवस्था में नहीं पहुँचा है कि वह इन सब माँगों की एक साथ पूर्ति कर सके। इस क्षेत्र में स्वाभाविक और पुनरुत्पन्न सेलुलोस के लिए रंग बनाने में सर्वाधिक प्रगति हुई है। इसके लिए उपयुक्त रंजक-वर्ग है विक्षविज्वरित वैट रंजक (एंथ्राक्विनोनायड वैट डाइज), उनके सल्फ्यूरिक एसिड इस्टर्स और कुछ अजीविक रंजक।

कभी-कभी तेजी के बहुत अच्छे तत्व रखनेवाला कोई रंजक अन्य वर्गों में भी मिलेगा। परन्तु इस रंग पर कोई विशेष रंगविस्तार आधारित करना सम्भव नहीं है। इन तीन वर्गों के बाहर के किसी वर्ग से रंजक चुनने में खतरा यह है कि रंजक का गाढ़ापन घटते जाने के साथ-साथ धूप में तेजी बने रहने की क्षमता भी बहुत घटती जाती है। यही कमजोरी अजीविक रंजकों में भी है। अतः इनका इस्तेमाल मध्यम अथवा गाढ़े रंग में ही किया जा सकता है। बेशक दूसरी कमजोरी यह भी है कि धुलाई और रगड़ में भी तेजी रखनेवाले अजीविक रंजक बनाने में रंगसाजों को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अतः अजीविक रंजक को गारण्टी के दायरे से अलग करने के पक्ष में अनेक बातें हैं। तथापि, चूंकि अजीविक रंजक में रंगे वस्त्र यदि अन्य वस्त्रों के साथ धोये जाते हैं तो दूसरे कपड़ों पर उनका स्थायी दाग नहीं पड़ता और रगड़ खाने पर अजीविक रंजक का जो दाग पड़ जाता है वह सहज ही साबुन से धोन पर धुल जाता है, अतः तेज रंगों के वर्ग में चन्द अजीविक रंग मिश्रणों को शामिल करना सम्भव है।

विक्ष-विज्वरित वैट रंजक

विक्ष-विज्वरित वर्ग में अकेले 'अंगूठी परीक्षण' के आधार पर ही कम से कम २५ उपवर्ग पाये जाते हैं। फिर यदि यह भी ध्यान में रखा जाय कि **एसिड एमाइड वर्ग** अथवा **हालगन एटम्स** उसी उप-वर्ग से प्राप्त मिश्रणों की तेजीवाले तत्वों पर खराब असर डालते हैं, तो यह समझा जायेगा कि सभी विक्ष-विज्वरित रंजक समान तेजीवाले नहीं हैं। यह वांछनीय है कि रंजकों के सभी मुख्य रंग एक ही गुण-स्तर के हों। दुर्भाग्यवश यह सम्भव नहीं है। बहुत से रंजकों में नीला, हरा, भूरा, खाखी, जैतूनी और काला रंजक तत्व बहुत तेजी रखता है, परन्तु उनके पीले, नारंगी, गुलाबी और जामनी रंग-विस्तार विभिन्न कारणों से सीमित हैं। धूप के कारण रेशों का कमजोर होने, सोड़ा डालकर कपड़े को उबालने से रंग की तेजी, धोने में तेजी, रोशनी में तेजी और लोहा करने में तेजी का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है।

फिर, इन रंगों के रंजकों को पर्याप्त संख्या में भी शामिल करना आवश्यक है। इसमें कुछ मामलों में जरा-सी कम तेजी भी स्वीकार करनी होगी, ताकि सभी रंगों में रंजन किया जा सके।

एक रंगसाज रसायन उद्योग द्वारा सप्लाई किये गये रंजक से अपने ग्राहकों को अच्छे से अच्छे रंग दे सकता है। कभी-कभी वह सावधानीपूर्वक तैयार किये रंजक-व्यूहाणु में थोड़ा संशोधन कर उसे बिगाड़ भी सकता है। इस मामले में वैट रंजक बड़े नाजुक हैं। वह नेपथोल और अजीविक मिश्रणों को एक साथ मिलाने में भी गलती कर सकता है। ग्राहक भी कभी-कभी वस्त्र को आशानुसार अच्छा नहीं पा सकता। सर्वोत्तम उत्पादनों से तैयार किये गये रंजक सर्वोत्तम तरीके से इस्तेमाल किये जाने पर भी रंगसाज को हर तरह से संतोष नहीं भी दे सकते हैं। प्रायः यह भी आवश्यक हो सकता है कि सही रंग लाने के लिए रंजक निर्माता के निर्देशानुसार से भी अधिक समय तक रंगना पड़े। ऐसे मामलों में उसे खास रंग बिल्कुल सही नहीं प्राप्त होने की सम्भावना और उसमें तेजी लाना, इन दोनों के बीच किसी एक को चुनना होगा। चूँकि ग्राहक वस्त्र के ऊपरी आकर्षण से प्रभावित होता है, अतः इसका प्रथम महत्व होता है कि किस हद तक वह खास रंग सही-सही प्राप्त किया गया है। रंगसाज हमेशा यह आशा करता है कि रंगने के दौरान रंजक की तेजी अधिक बिगड़े नहीं।

रंगसाज का झुकाव रंजक-निर्माता द्वारा निर्देशित तापमान पर रंगने को हो सकता है, ताकि रंग अच्छी तरह पैठ सके, जिससे तेजी और रंग दोनों ही प्रभावित होंगे। वह सामान्यतः रंजकों के मिश्रण काम में लाता है और उसमें एक रंजक दूसरे से अधिक समय तक रंगाई करने अथवा उच्च तापमान पर रंगाई करने के मामले में अधिक नाजुक होता है। अनेक रंजकों पर वस्त्र परिष्करण के ढंग का बहुत जल्द असर होता है। जब प्रत्यक्ष सूती रंगों का इस्तेमाल किया जाता है तो यह प्रभाव सर्वाधिक होता है। बाद की प्रक्रिया का धूप में तेजी बनाये रखने पर काफी बुरा असर पड़ सकता है। ऐसी अवस्था में किसी रंजक विशेष की रचना का बहुत अधिक महत्व होता है। यद्यपि रंगसाज अपना काम काफी अच्छी तरह करता है और निर्दिष्ट रंजक का इस्तेमाल करता है, इस पर भी भिन्न-भिन्न कारखानों द्वारा तैयार किये गये विक्ष-विज्वरित रंजकों और अजीविक रंजकों के मिश्रण का इस्तेमाल करने में गलती हो सकती है। अतः रंजक निर्माताओं और रंगसाजों में बहुत ही निकट सहयोग का होना आवश्यक है।

बिड़लापुर (पश्चिम बंगाल) : २२ जून १९६३

पिछड़े वर्गों में सहकार

स्वराष्ट्र मामलों की केन्द्रीय उप-मंत्रिणी श्रीमती एम. चन्द्रशेखर श्री दत्तात्रेय नाथोबा वान्द्रेकर को **खादी ग्रामोद्योग** (जून १९६३) में प्रकाशित उनके एक लेख के सम्बन्ध में लिखती हैं :

खादी ग्रामोद्योग के जून १९६३ अंक (नवम वर्ष नवम अंक) में आपक लेख 'पिछड़े वर्गों में सहकार' पढ़ा। बड़ा ही दिलचस्प लेख है। लेख के अंतिम पैरा के पूर्व पैरा में आपने लिखा है, "ज्ञात हुआ है कि भारत सरकार ने भारतीय आदिम जाति सेवक संघ को आजीवन कार्यकर्त्ता बनाने के सिलसिले में दिया जानेवाला अनुदान बन्द कर दिया है, जिसके फलस्वरूप ऐसे आजीवन कार्यकर्ताओं द्वारा काम का विस्तार कर सकना अब सम्भव नहीं रहा।" मैं आपका ध्यान श्री रंगराजन द्वारा आपको लिखे गये अर्ध-सरकारी पत्र संख्या एफ ८६।६२–एसटीसी–२ दिनांक २९ अप्रैल १९६३ की ओर आकर्षित करना चाहती हूँ जिसमें आपको यह सूचना दी गयी है कि भारतीय आदिमजाति सेवक संघ की आजीवन कार्यकर्त्ता सम्बन्धी योजना अभी जारी रखी जा रही है और संघ को भारत सरकार से इस योजना के लिए वित्तीय सहायता मिल रही है। बहरहाल, यह लेख आपने २ मार्च १९६३ को लिखा था, अर्थात् सही सूचना दिये जाने के पूर्व ही लिखा था। ●

खादी ग्रामोद्योग का दशम वार्षिकांक सितम्बर के अन्त में प्रकाशित होगा। लेखकों से अनुरोध है कि वे अपने लेख सम्पादक के पास अगस्त १९६३ के मध्य तक भेज दें।

उत्तर प्रदेश में हाथ करघे

इस्तफा हुसैन

उत्तर प्रदेश में २,६१,००० पंजीकृत हाथ करघे हैं, जिन पर १०,००,००० लोग काम करते हैं। इस लेख में राज्य में इस उद्योग को सक्षम बनाने तथा सहकारी दायरे में लाने के लिए किये गये प्रयासों का विवेचन किया गया है।

मशीनों द्वारा वस्त्र उत्पादन आरम्भ होने के बहुत पूर्व ही भारत में हाथ करघा उद्योग का अत्यधिक विकास हो चुका था। तथापि देश में औद्योगीकरण के विस्तार से हाथ करघा उद्योग को भारी हानि हुई। लेकिन फिर भी अपनी स्वाभाविक शक्ति के कारण इस उद्योग ने आर्थिक उतार-चढ़ाव को सहन किया और उनके प्रभाव से समाप्त नहीं हो गया। यद्यपि कृषि सम्बन्धी रायल कमीशन ने १९२८ में एक रिपोर्ट में कहा था कि बढ़ती हुई प्रतियोगिता की स्थिति में ग्रामोद्योगों को बनाये रखने के लिए उनका विकास सहकारी आधार पर करना आवश्यक है, पर सन् १९३४ तक उद्योग की समस्याओं का समाधान करने के लिए कोई विशेष काम नहीं किया गया, जब कि भारत सरकार ने हाथ करघा उद्योग के विकास के लिए राज्य सरकारों को पाँच वर्ष की अवधि के लिए प्रति वर्ष ५ लाख रुपये तक आर्थिक सहायता देने के निर्णय की घोषणा नहीं कर दी।

हाथ करघा मंडल की स्थापना

इसके बाद कुछ राज्यों में प्राथमिक और शीर्ष सहकारी संस्थाओं का गठन किया गया। चूंकि कोई विशेष सुधार नहीं हुआ, इसलिए भारत सरकार ने १९४० में हाथ करघा उद्योग से सम्बन्धित निम्नलिखित बातों का अध्ययन करके उनकी रिपोर्ट देने के लिए एक फैक्ट फाइंडिग कमेटी नियुक्त की: हाथ करघा उद्योग का विस्तार क्षेत्र, हाथ करघा वस्त्र के उत्पादन और बिक्री से सम्बन्धित वर्तमान परिस्थितियाँ, मिल और हाथ करघे के बीच की प्रतियोगिता किस प्रकार की और किस हद तक है, और यह भी पता लगाना कि यदि मिलों में मोटा सूत इस्तेमाल नहीं करने की रोक लागू कर दी जाय तो हाथ करघा उद्योग को कहाँ तक लाभ होगा। कमेटी ने कई सिफारिशें कीं। भारत सरकार ने १९४५ में अखिल भारत हाथ करघा मण्डल बनाकर कमेटी की एक मुख्य सिफारिश को कार्यान्वित किया। राज्य सरकारों द्वारा बनायी गयी परियोजनाओं को अनुदान देने हेतु १० लाख रुपये की एक हाथ करघा विकास निधि भी बनायी गयी। बाद में इस राशि में ५ लाख रुपये और बढ़ा दिये गये। सन् १९५० में सरकार ने एक अधिसूचना जारी की जिसके अनुसार उत्पादन के कुछ उचित क्षेत्र केवल हाथ करघा उद्योग के लिए रक्षित करने हेतु मिल उद्योग द्वारा कुछ विशेष प्रकार के कपड़ों के उत्पादन पर प्रतिबन्ध लगा दिया।

मिलों पर प्रतिबंध

बहरहाल बाद में जब दशा बिगड़ती गयी और जब १९५२ में हाथ करघा उद्योग के सामने गंभीर समस्या उठ खड़ी हुई तब भारत सरकार ने सूती वस्त्रोद्योग के विभिन्न विभागों, जैसे मिल, बिजली, करघे, हाथ करघे, आदि, की जाँच के लिए एक जाँच समिति नियुक्त की—जिसका उद्देश्य था देश की अर्थ-व्यवस्था में प्रत्येक के स्थान और इनके आपसी सम्बन्धों का निर्धारण करना। हाथ करघा उद्योग के लिए अन्तरकालीन राहत सम्बन्धी उपायों के तौर पर सरकार ने मिल उत्पादन पर नियंत्रण के दूसरे आदेश भी जारी किये जैसे मिलों द्वारा धोतियों का माहवारी उत्पादन ६० प्रति शत कर दिया और उनमें साड़ियों की फुटकर रंगाई पर प्रतिबंध लगा दिया। सरकार ने खादी और दूसरे हाथ करघा उद्योगों के

विकास और खादी व दूसरे हाथ करघा वस्त्रों की बिक्री में वृद्धि करने के लक्ष्य से, खादी और अन्य हाथ करघा उद्योग विकास (वस्त्र पर अतिरिक्त कर) अधिनियम, १९५३ पारित कर मिल के कपड़े पर अतिरिक्त उत्पादन कर लगाने का निर्णय किया।

ठोस अवस्था

उद्योग में मन्दी की आवर्तित दशा के कारण हाथ करघा बुनकरों के बीच गंभीर बेरोजगारी को दूर करने के लिए अखिल भारत हाथ करघा मण्डल के अनुसार सर्वोत्तम उपाय था, सहकारी संस्थाओं के माध्यम से उद्योग का उचित संगठन और हाथ करघा वस्त्रों की बिक्री सुनिश्चित करना। मण्डल ने सहायता देने के लिए कुछ 'सामान्य सिद्धांत' निर्धारित किये। प्रत्येक राज्य के सम्बन्ध में प्रति वर्ष के लिए कुछ निधि निश्चित कर दी गयी। यह निधि प्रत्येक राज्य में करघों की संख्या और हाथ करघा उद्योग में प्रयोग किये जानेवाले सूत की मात्रा के आधार पर निश्चित की जाती थी। सामान्य सिद्धांतों के अनुसार राज्य सरकारों को कुछ धन ऋण और कुछ अनुदान के रूप में दिया जाता था। विकास, प्रशिक्षण और अनुसंधान तथा बिक्री सम्बन्धी अर्थ सहायता पूरी तौर से अनुदान के रूप में तथा व्यावसायिक कार्यवाहियों और संचालन पूंजी के लिए आवश्यक सहायता ऋण के रूप में दी जाती थी। कुछ ऐसी परियोजनाओं को भी स्वीकार किया गया जिनमें ऋण और अनुदान दोनों ही सहायता शामिल थे। प्रथम व द्वितीय पंचवर्षीय योजनावधि में ये सभी परियोजनाएँ चलती रहीं। इसके फलस्वरूप हाथ करघा उद्योग की स्थिति में स्थायित्व आ गया। सहकारी संगठन के अन्तर्गत अधिकाधिक बुनकरों को लाया गया, हाथ करघा उद्योग के उत्पादन में वृद्धि हुई, बुनकरों की आय भी बढ़ी और देश भर में इस उद्योग में मिलनेवाली रोजगारी की दशा भी काफी उत्साहजनक रही।

अभी तक हाथ करघा उद्योग की दशा पूरे देश के आधार पर बतायी गयी। अब उत्तर प्रदेश में इस उद्योग की दशा के विषय में विस्तारपूर्वक बताया जायगा। जहाँ तक हाथ करघा उद्योग का प्रश्न है, उत्तर प्रदेश देश के कुछ महत्वपूर्ण राज्यों में से हैं। यहाँ देश के कुल हाथ करघा बुनकरों की संख्या का ९ वाँ भाग है। राज्य में खेती के बाद इसी उद्योग में सबसे ज्यादा संख्या में रोजगार मिलता है। हाथ करघा उद्योग का महत्व समझने के फलस्वरूप इस उद्योग का विकास करने और इसे स्थायित्व प्रदान करने के लिए कई परियोजनाएँ प्रथम व द्वितीय पंचवर्षीय योजनावधि में लागू की गयीं।

अखिल भारत हाथ करघा मण्डल द्वारा सिर्फ सहकारी विभाग में ही हाथ करघा उद्योग को विविध सहायता देने के निर्णय से बुनकर सहकारी संस्थाओं के विकास और नवीनीकरण में काफी सहायता मिली है। उत्तर प्रदेश में २ लाख ६१ हजार पंजीकृत हाथ करघे हैं जिन पर १० लाख लोग काम करते हैं। सहकारी संस्थाओं की संख्या १,२२८ है। इनकी शीर्ष संस्था उत्तर प्रदेश औद्योगिक सहकारी संघ सितम्बर १९५२ में बनायी गयी थी। अब लगभग ६०० बुनकर सहकारी संस्थाएँ इसकी स्थायी सदस्य हैं। सन् १९५२ में उत्तर प्रदेश औद्योगिक सहकारी संघ की हिस्सा पूंजी ५६,१७३ रुपये थी, जो अब लगभग सात लाख रुपये है।

हाथ करघों के लिए सहायता

राज्य में औद्योगिक सहकारी संस्थाओं की आर्थिक सहायता के लिए जुलाई १९५६ से एक अलग ही औद्योगिक सहकारी बैंक खोला गया है जिसे उत्तर प्रदेश औद्योगिक सहकारी बैंक कहते हैं, और इसका प्रमुख कार्यालय कानपुर में है। इसके कार्य का पिछले पाँच वर्षों का तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत करना उचित होगा।

	३०-६-१९५६ की स्थिति	३०-६-१९६० की स्थिति
सदस्य	४	४४१
हिस्सा पूँजी (रु.)	९१,५००	१०,६२,२००
बचत (रु.)		६,६५,०००
लाभ जो बाँटे नहीं गये (रु.)		२,६६,२००
जमा (रु.)		६०,६२,६००
ऋण (रु.)		४७,९१,६००
संचालन पूँजी (रु.)	५१,०००	१,२८,०८,५००
बकाया (रु.)		३२,४९,३००
निवेश पूँजी (रु.)	९०,०००	१,२३,००,७००

उत्तर प्रदेश औद्योगिक सहकारी बैंक औद्योगिक सहकारी संस्थाओं की सहायता के लिए ४८,५५,२०० रुपये दे चुका है। सन् १९६०–६१ में इसे ६६,१९७ रुपये का लाभ हुआ।

सहकारी बैंक

इस राज्य के लिए हाथ करघा उपकर निधि से निर्धारित सब आर्थिक सहायता उत्तर प्रदेश औद्योगिक सहकारी संघ द्वारा ही बाँटी जाती है। औद्योगिक सहकारी संस्थाओं के लिए पर्याप्त धन उपलब्ध कराने की अत्यावश्यकता को मानकर इन संस्थाओं को उपकर (सेस) निधि से संचालन पूँजी के लिए ऋण दिया गया। यह काम अब रिजर्व बैंक ऑफ् इंडिया को सौंप दिया गया है। प्रति करघे पर ३०० रुपये की दर पर्याप्त नहीं माना जा रहा और अब यह माँग की जा रही है कि यदि इसे तीन महीने के कार्य-वृत के लिए ५०० रुपये कर दिया जाय तो उपयोगी होगा। रिजर्व बैंक ऑफ् इंडिया यह धन राज्य सहकारी बैंक को बैंक दर से १॥ प्रति शत कम यानी २॥ प्रति शत पर देगा। राज्य सहकारी बैंक छोटी सहकारी संस्थाओंको ५॥ प्रति शत ब्याज की दर पर ऋण देंगे पर बुनकर सहकारी समितियों को वास्तव में ३ प्रति शत ब्याज ही देना होगा, बाकी २॥ प्रति शत ब्याज भारत सरकार सब्सिडी के रूप में देगी। सहकारी बैंकोंको बुनकर समितियों के साथ ऋण व्यवसाय में होनेवाली व्यक्तिगत हानि का ५० प्रति शत भारत सरकार, ४० प्रति शत राज्य सरकार और १० प्रति शत सम्बन्धित सहकारी बैंक वहन करेंगे। उत्तर प्रदेश औद्योगिक सहकारी बैंक ने रिजर्व बैंक ऑफ् इंडिया से १५ लाख रुपये के ऋण की माँग की थी ताकि बुनकर सहकारी समितियों को संचालन पूँजी के लिए ऋण दिया जा सके। इसके स्थान पर उत्तर प्रदेश सहकारी बैंक ने स्वयं अपने पास से यह राशि उत्तर प्रदेश औद्योगिक सहकारी बैंक को राज्य सरकार की गारण्टी पर उधार देने के लिए प्रस्ताव रखा है। वे इस सुझाव के पक्ष में लगते हैं। उन्होंने इस वर्ष ३ लाख रुपये हिस्सा पूँजी और २॥ लाख रुपये सुधरे उपकरणों के लिए स्वीकृत किये हैं। हिस्सा पूँजी की निधि में से, यदि एक हिस्से की दर २५ रुपये से कम या इतनी ही हो, तो बुनकर समितियों में २५ रुपये के हिस्से खरीद सकेंगे। यदि वर्तमान हिस्सों का मूल्य बढ़ाना हो तो इसे २५ रुपये से बढ़ाकर ५० रुपये किया जा सकता है। यह ऋण हल्के किस्तों में दो वर्ष में अदा हो जाना चाहिए और इस पर ब्याज ३ प्रति शत की सामान्य दर से लगेगा।

हाथ करघा उद्योग के विकास के लिए राज्य में चलनेवाली विभिन्न परियोजनाएँ इनसे संबंधित हैं—नयी पद्धतियों और तकनीकों का आरम्भ, उत्पादन, रंगाई, धुलाई, कैलेण्डरिंग और स्तर अंकन। फिर, परियोजना का सबसे महत्वपूर्ण भाग आता है—देश और विदेश दोनों में ही माल की बिक्री। इसके साथ ही प्रचार और प्रसार कार्य भी है।

बुनकर सेवा केन्द्र

हाथ करघा उद्योग को बहुत कुछ तकनीकी निर्देशन और नयी-नयी विकसित डिजाइनों के अपनाने पर निर्भर रहना पड़ता है। ऐसी डिजाइनें तैयार करने पर जोर देना है जो मिल उद्योग के लिए सस्ते दामों पर बनाना कठिन हो, और समय-समय पर बाजार की माँग का अनुमान भी लगाना चाहिए, जो फैशन बदलने के साथ-साथ बदलती रहती है। हाथ करघा उद्योग में शीघ्रता के साथ बदलनेवाली माँग के अनुसार उत्पादन में परिवर्तन करने की स्वाभाविक क्षमता पायी जाती है। इसे ध्यान में रखते हुए वाराणसी में अखिल भारत डिजाइन केंद्र के अलावा लखनऊ और रामपुर में दो डिजाइन और बिक्री अनुसंधान केन्द्र खोले गये हैं। राज्य सरकार द्वारा अर्थ सहायित अमरोहा, रामपुर, मऊ (आजमगढ़), टांडा और गाजीपुर में चल रहे पाँच डिजाइन बनानेवाले केन्द्रों के अलावा राज्य सरकार तीन और डिजाइन केन्द्र खलीलाबाद, बाराबंकी और कासगंज (एटा) में उपकर निधि परियोजना के अंतर्गत चला रही है। आधुनिक डिजाइनें निकलने के कारण सहकारी समितियों

के बुनकरों को इन नियी-नयी डिजाइनों के कपड़े बुनने के लिए तकनीकल प्रशिक्षण व मार्गदर्शन की आवश्यकता पड़ेगी। इसलिए अखिल भारत मण्डल ने विभिन्न डिजाइन केन्द्रों का नाम बदल कर बुनकर सेवा केन्द्र रखने का निर्णय किया है। इन केन्द्रों में बुनकरों को आधुनिक डिजाइनों, सुधरे हुए औजारों का इस्तेमाल और रंगाई की नयी तकनीकों का प्रशिक्षण दिया जायगा। बुनकरों को राज्य के अन्दर तथा दूसरे राज्यों के बुनाई और प्रशोधन केन्द्रों में अध्ययन-भ्रमण हेतु जाने के लिए भी सुविधा प्रदान करने की व्यवस्था की गयी है ताकि उन्हें दूसरे स्थानों में उद्योग के अन्तर्गत हो रहे विकास की जानकारी मिलती रहे।

कच्चा माल

हाथ करघा उद्योग की मुख्य समस्या है–उचित मूल्य पर अच्छे स्तर के कच्चे माल विशेषकर सूत, रंग और रासायनिक पदार्थों का न मिलना। उत्तर प्रदेश औद्योगिक सहकारी संघ ने सहकारी समितियों को एक करोड़ रुपये कीमत का सूत सप्लाई किया, लेकिन मुख्य कठिनाई सूत के मूल्य से सम्बन्धित है। जब सूत का भाव महँगा होता है तब समितियाँ उत्तर प्रदेश औद्योगिक सहकारी संघ के पास आती हैं और जब सूत का दाम गिर जाता है तब वे स्थानीय रूप में ही व्यवस्था कर लेती हैं। सूत की स्थिति को सुधारने के लिए राज्य की सहकारी समितियों ने अपनी कताई-मिल खोलने का निर्णय किया है। मिल एक सहकारी प्रयास है। उत्तर प्रदेश की औद्योगिक सहकारी समितियों ने २१ लाख रुपये और राज्य सरकार ने भी २२ लाख रुपये के हिस्से खरीदे हैं। अनुमान किया जाता है कि मिल के पूरा होने तक इसमें ८५ लाख रुपये लग जायेंगे। फिलहाल इसमें १२,००० तकुए होंगे परन्तु बढ़ाकर २४,००० तकुए कर दिये जायेंगे।

भारत सरकार द्वारा आयात पर लगाये गये नियंत्रणों के कारण रंग और रासायनिक पदार्थों की सप्लाई की स्थिति गम्भीर हो गयी है। इसलिए उत्तर प्रदेश औद्योगिक सहकारी संघ ने आयात लायसेंस लेकर नाममात्र के लाभ पर ८५,००० रुपये कीमत के रंग सहकारी समितियों को सप्लाई किये।

बिक्री

सूती वस्त्रोद्योग के संगठित विभाग से होनेवाली प्रतियोगिता की स्थिति में हाथ करघा वस्त्रों की बिक्री कोई आसान बात नहीं है। तेज तथा उत्तम रंगों और आकर्षक डिजाइनों के स्तर नियंत्रित उत्पादन के सभी कार्यक्रम सुव्यवस्थित और कार्यक्षम बिक्री विभाग के अभाव में बेकार सिद्ध होंगे। इसलिए इस दिशा में आगे बढ़ने का प्रयास किया जा रहा है। राज्य में माल बेचने के लिए लगभग १०० बिक्री भण्डार हैं जिसमें से तीन उत्तर प्रदेश औद्योगिक सहकारी संघ द्वारा चलाये जा रहे हैं। और बिक्री भंडार खुलनेवाले हैं। सन् १९५३ में हाथ करघा कपड़ा १५ लाख रुपये का बिका जबकि १९६०–६१ में इसकी बिक्री ७ करोड़ रुपये की हुई। इसमें वह बिक्री भी शामिल है जो विदेशों में हुई।

प्रचार व प्रसार

हाथ करघा वस्त्र को लोकप्रिय बनाने और इसकी बिक्री बढ़ाने में प्रचार व प्रसार का बड़ा महत्व रहा है। उत्तर प्रदेश में तथा इससे बाहर हाथ करघा वस्त्रों की लोकप्रियता बढ़ाने के लिए प्रचार के ये उपाय अपनाये गये: १. प्रदर्शनियों व मेलों में भाग लेना, २. हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी भाषा के मुख्य पत्र-पत्रिकाओं में विज्ञापन, ३. रंग-बिरंगी सिनेमा स्लाइड्स का सिनेमा घरों में प्रदर्शन, ४. गश्ती गाड़ियों का भ्रमण, ५. सीलोन रेडियो के माध्यम से प्रचार, ६. रेडियो से प्रसारित वार्ता, आदि आदि।

लखनऊ : १४ जुलाई १९६२

गोबर गैस संयंत्र की स्थापना

जशभाई झ. पटेल

गोबर गैस संयंत्र के स्थल, आकार और डिजाइन पर विचार करते वक्त इस बात की भी सही जानकारी होनी चाहिए कि कितना और कैसा कच्चा माल उपलब्ध है तथा किन कार्यों में गैस का उपयोग किया जायगा।

गोबर गैस संयंत्र का उपयोग गोबर, मल-मूत्र, पशु शवों के माँस तथा कृषि के रद्दी पदार्थों जैसे कूड़े-कचरे को ह्यूमस प्रधान खाद तथा उच्च श्रेणी की जलावन वाली गैस में परिवर्तित करने में किया जाता है। यदि इनका निर्माण और स्थापन उपयुक्त तकनीकल मार्गदर्शन में किया जाय तो ये संयंत्र सस्ते भी पड़ते हैं और इनमें लगी पूंजी के हिसाब से लाभ भी अच्छा होता है। गोबर गैस संयंत्र के निर्माण हेतु इसका आकार और डिजाइन निश्चित करने में काफी सावधानी पूर्वक विचार करना होगा। प्रथम निश्चित और सही आँकड़े प्राप्त करना आवश्यक है, आकार और डिजाइन जिस पर आधारित होंगे।

आकार

गैस संयंत्र के आकार का अर्थ है (१) पाचित्र का आकार, (२) गैस घर (गैस होल्डर) का आकार और (३) गैस पाइप का आकार। इसका आकार बड़ा ही महत्वपूर्ण है। इन भागों में से प्रत्येक का आकार स्वतंत्र तथ्यों पर निर्भर करता है।

पाचित्र का आकार ऐसा होना चाहिए कि वहाँ प्राप्त कच्चे माल का अच्छी तरह उपयोग किया जा सके। अगर यह आवश्यकता से छोटा हुआ तो इसे प्रांगारिक अतिभार के अन्तर्गत काम करना होगा, उचित रूप में पाचन नहीं हो सकेगा, गैस उत्पादन कम होगा और यह भी हो सकता है कि गैस का उत्पादन हो ही नहीं। अन्य हालात में अतिभारित पाचित्र में से फेन निकल सकते हैं, जिसके जरिये अर्धपाचित और दुर्गंधपूर्ण पदार्थ बाहर निकल सकते हैं। पर, यदि आवश्यकता से बड़ा पाचित्र हुआ तो प्रथम, इसकी कीमत अधिक हो जायगी। अधिक कीमत हो जाने से सहज ही यह संयंत्र अलाभकर हो सकता है। यदि पाचित्र का इस्तेमाल इसकी क्षमता से बहुत कम क्षमता पर किया गया तो तैयार होनेवाली खाद में कीमती नाइट्रोजन का भी बराबर नुकसान होता जायगा।

कच्चा माल

अतः प्राप्त कच्चे माल के सम्बन्ध में यथासंभव सही अनुमान लगाना आवश्यक है। गोबर प्राप्ति का अनुमान लगाते वक्त तीन दिन तक लगातार ताजे गोबर का वजन लेकर फिर उसका औसत निकालना आवश्यक है। मवेशियों की संख्या पर आधारित अनुमान इन कारणों से सतत अविश्वनीय है: मवेशी का आकार, उसके भोजन की पौष्टिकता, मवेशियों के बाहर चरने अथवा क्षेत्र-क्षेत्र में और एक ही क्षेत्र में जगह-जगह पर उनके काम करने में काफी भिन्नता। एक बाल्टी में गोबर भर कर स्प्रिंग बैलेन्स से तौलना सहज है। पाचित्र संचालन और गैस-उत्पादन ताजा गोबर किस परिमाण में उपलब्ध है, उस पर निर्भर हैं, न कि मवेशियों की संख्या पर। सही आकार का पाचित्र सस्ता होता है, प्रति पौंड गोबर पीछे अधिकतम गैस देता है और कई वर्षों तक बिना किसी कठिनाई के चलता है।

प्रायः गैस संयंत्र के भावी मालिक यह दावा करते हैं

कि 'काफी' परिमाण में गोबर उपलब्ध है। इस तरह की सूचना से हमें कार्य करने लायक कोई उपयोगी जानकारी नहीं मिलती। गोबर गैस संयंत्र तो रद्दी पदार्थों का इस्तेमाल करनेवाला यंत्र है, इसकी स्थापना स्थानीय रूप में प्राप्त प्रांगारिक रद्दी पदार्थों के इस्तेमाल के लिए ही की जानी चाहिए। संयंत्र के मालिक पहले संयंत्र की स्थापना कर लें और इसे चलाने के लिए जगह-जगह गोबर इकट्ठा करते फिरें, यह तो बिल्कुल गलत काम होगा। कभी-कभी यह बताया जाता है कि आवश्यक गोबर पड़ोस से अथवा अन्य ग्रामीणों से प्राप्त कर लिया जायगा। गोबर गैस संयंत्र ३० वर्ष से भी अधिक चलता है। अतः यह विचार करना होगा कि क्या पड़ोसी ३० साल तक गोबर देते रहेंगे। फिर, ताजा गोबर (८० प्रति शत पानी) की ढुलाई और परिवहन का खर्च महँगा पड़ जायगा और यह अलाभकर भी हो सकता है।

पशु-शवों के माँस

गैस संयंत्र में पशु-शवों के माँस का उपयोग सघन पशु-शव सम्प्राप्ति केन्द्रों में ही सम्भव है जहाँ कि पशु-शवों को बची खुची चर्बी, माँस और हड्डियाँ निकालने के लिए उबालते हैं।

कभी-कभी कुछ अन्य पदार्थ भी मिल जाते हैं, जिनमें कि खमीर पैदा होता है। इस तरह के पदार्थों का उपयोग गैस संयंत्र में किया जा सकता है। संयंत्र का निर्माण करने के पूर्व इस पर अच्छी तरह विचार कर लेना चाहिए कि प्राप्त कच्चे माल को पचाने के लिए कौन-सा संयंत्र उपयुक्त है। इसमें पाचित्र के अन्दर भौतिक और रासायनिक कच्चे माल की क्रियाओं का भी अध्ययन शामिल है।

रोशनी के लिए गैस

गैस के उपयोग पर भी विचार करना चाहिए। गैस संयंत्र के भावी मालिक को यह जानकारी प्राप्त करने का हक है कि प्रस्तावित संयंत्र से प्राप्त होनेवाली गैस से वह कितना काम कर सकेगा। उसके लिए यह जानना आवश्यक होगा कि प्राप्त गैस से उसकी रसोई बनाने अथवा इंजिन चलाने की आवश्यकता पूरी होगी या नहीं और अगर होगी तो किस हद तक। कभी-कभी गैस का उपयोग रोशनी के लिए प्रस्तावित किया जाता है। बहरहाल, वर्तमान गैस-बत्तियाँ उतनी योग्य व सस्ती नहीं हैं, जितनी कि होनी चाहिए। उनका मरम्मत खर्च तथा विशेषकर मैंटल का खर्च बहुत भारी पड़ता है। वे अधिक दिनों तक चलती भी नहीं। वर्तमान गैस बत्तियाँ उतनी रोशनी भी नहीं देतीं, जितनी कि उन्हें देनी चाहिए। एक गैस बत्ती में इतनी गैस खर्च हो जाती है कि उतनी ही गैस को यदि बिजली शक्ति में परिवर्तित कर दिया जाय तो पाँच बिजली की बत्तियाँ जल सकती हैं। फिर, इसमें बत्तियाँ लगाने के लिए जो पाइप लगानी होती है, वह भी बहुत महँगी है।

रसोई के लिए

जब गैस का उपयोग रसोई बनाने के लिए करते हैं तो औसत खपत एक परिवार में प्रति व्यक्ति प्रतिदिन करीब २० घनफुट होती है। सामूहिक रसोईघरों में उतना ही काम उससे कम गैस के इस्तेमाल से हो जाता है। उबालने और तलने में चपाती अर्थात रोटी बनाने के बनिस्बत कम गैस खर्च होती है।

इंजिन चलाने के लिए

इंजिन चलाने में भी गैस का प्रयोग करते हैं। गैस इंजिन बनाने का प्रयास किया जा रहा है। इस क्षेत्र में इतना काम हो चुका है कि पाँच अश्व शक्ति का गैस इंजिन २,५०० रुपये से ३,००० रुपये में उपलब्ध है। इस इंजिन में अभी प्रति घण्टा प्रति अश्व शक्ति पीछे करीब २२ घन फुट गैस खपत होती है, जो कि अनुमानित खपत से अधिक है। तथापि जहाँ आवश्यक हो, इस इंजिन का उपयोग करने के लिए कहना गलत नहीं होगा। इसका इस्तेमाल पानी बाहर निकालने, चारा काटने की मशीन चलाने तथा अन्य कामों में किया जा सकता है।

वितरण

एक दिन में खपत होनेवाली गैस के परिमाण पर विचार करने के अलावा चौबीस घंटों में इसका कैसे

वितरण होगा, इसका भी गैस संयंत्र के गैस-घर के आकार से संबंध है। परिवार में जलावन के लिए गैस ठीक वितरित है। जबकि पाचित्र का आकार प्राप्त कच्चे माल पर निर्भर होता है, गैस घर का आकार, जो कि गैस के उत्पादन और खपत के बीच संतुलन-टंकी है, मुख्यतः सारे दिन और रात गैस का वितरण किस तरह होता है उस पर निर्भर करता है। जैसे प्रयोगशाला द्वारा गैस का इस्तेमाल सुबह दस बजे से शाम के ६ बजे तक अर्थात सिर्फ ८ घंटे किया जायगा। इस मामले में ६ बजे शाम से सुबह १० बजे तक अर्थात १६ घंटे में जितनी गैस तैयार होगी, उसके जमा होने की व्यवस्था होनी ही चाहिए। इस हालत में गैस-घर, पाचित्र की क्षमता समान होने पर भी, पारिवारिक संयंत्र के लिए आवश्यक, गैस-घर से कहीं बड़ा होगा।

संग्रह और परिवहन

प्रायः यह पूछा जाता है कि क्या इस गैस को एक जगह से दूसरी जगह भेजने के लिए संग्रहीत रखा जा सकता है, जैसा कि बाजारों में परिष्कृत गैस सिलीण्डरों में बेची जाती है। ये गैस ब्यूटेन (मीथेन गैस का हाइड्रो-कार्बोनो) होती हैं और तेल शोधक कारखानों में केसिंग हेड गैस से प्राप्त की जाती हैं। ब्यूटेन को ०.५° सेण्टीग्रेड पर ठंडा कर तरल बनाया जा सकता है, जिसका अर्थ है कि कम दबाव पर हल्के बोतलों में इसे तरल अवस्था में रखा जा सकता है। गैस संयंत्रों में प्राप्त होनेवाली मुख्य गैस है मीथेन। यह –१६१.५° सेण्टीग्रेड पर तरल हो जाती है, अतः इसे तरल बनाना व्यावहारिक नहीं है। इस कारण इसे थोड़े परिमाण में दबाकर संग्रहीत करना व्यावहारिक नहीं है। यदि मीथेन गैस पर प्रति इंच ५,००० पौंड दबाव पड़े तो यह सामान्य आकार से करीब २० गुना दब सकती है। यह व्यवहारिक नहीं है। और उस दबाब पर घरेलू कार्यों में इसका इस्तेमाल करना अधिक खर्चीला भी है। मीथेन गैस को, जिससे हम सम्बन्धित है, संग्रहीत तथा परिवहन करने के लिए थोड़ी-थोड़ी मात्रा में सम्पीडन अथवा तरलन का अभी तो सवाल ही नहीं उठता। सामान्यतः गोबर गैस के संग्रह की योजना नहीं की जाती, खास कर इस मानी में कि आज तैयार हुई गैस कल या परसों इस्तेमाल की जायगी। जिस दिन गैस का उत्पादन होता है, उसी दिन उसका इस्तेमाल करना व्यावहारिक है।

गोबर गैस को संयंत्र से इस्तेमाल के स्थान पर ले जाने के लिए पाइप लगानी होती है। गैस पाइप पर्याप्त व्यास की होनी चाहिए ताकि गैस दबाव में कम से कम कमी आये। पाइप १/१० इंच की हो सकती है। जितनी लम्बी पाइप होगी उसका व्यास उतना ही बड़ा होना चाहिए, ताकि दबाव में बिना कमी हुए सब जगह बराबर गैस मिले। यही कारण है कि अधिक दूर तक गैस ले जाने से पाइप लगाने का खर्चा भी बहुत बढ़ जाता है।

इस्तेमाल की जगहें

जिस दबाव पर गैस को विभिन्न उपकरणों में पहुँचाना है, वह बहुत ही महत्वपूर्ण है, क्योंकि इन उपकरणों का निर्माण इस हिसाब से किया जाता है कि एक निश्चित गैस दबाव पर वे सर्वाधिक योग्यता से कार्य करेंगे। गोबर गैस के लिए तीन इंच वाटर कालम प्रेशर को मानक मान लिया गया है। यह अनुकूलतम से जरा-सा कम है, परन्तु विभिन्न अन्तर सम्बन्धित तथ्यों के बीच का है। अतः पाइप लाइन की उपयुक्त डिजाइन सुनिश्चित करने हेतु इस्तेमाल होनेवाली जगह तथा गैस संयंत्र और गैस इस्तेमाल होनेवाली अन्य जगहों के बीच की कुल दूरी जानना बहुत जरूरी है।

गोबर गैस संयंत्र की स्थापना की जगह भी बहुत महत्वपूर्ण है। संयंत्र से ५० फुट की दूरी तक कोई कुआँ नहीं होना चाहिए। स्थापना-स्थल ऐसा होना चाहिए कि गोबर और पानी के लिए तथा फिर पाचित पदार्थों को कम्पोस्ट गढ़ों तक ले जाने के लिए परिवहन की आवश्यकता नहीं पड़े।

उपर्युक्त विचार से यह स्पष्ट हो जायगा कि गोबर गैस संयंत्र बनाने के लिए कई महत्वपूर्ण बातों पर ध्यान

देने की जरूरत है। इसके लिए यह आवश्यक है कि संयंत्र की डिजाइन बनानेवाले को सही और विस्तृत जानकारी हो तथा तकनीकल रूप में वह पूर्ण दक्ष हो ताकि वह एक ऐसे संयंत्र का निर्माण कर सके जोकि कई वर्षों तक निर्दोष और आर्थिक लाभ के साथ काम कर सके। जिन जानकारियों की आवश्यकता है, वे हैं :

जानकारी की बातें

१—कच्चे माल की प्राप्ति :

(अ) **गोबर :** लगातार तीन दिनों तक प्राप्त ताजे गोबर का वजन; और गोबर प्राप्त होने के स्थल से प्रस्तावित संयंत्र स्थल की दूरी।

(आ) **मल-मूत्र :** (१) वर्तमान शौचालयों की संख्या। क्या ये शौचालय सेप्टिक टैंक से जुड़े हुए हैं? मल-मूत्र की निकासी कैसे होती है अर्थात उनका क्या इस्तेमाल होता है ? वर्तमान शौचालयों और प्रस्तावित संयंत्र के बीच की दूरी; (२) कितने नये शौचालय बनाये जानेवाले हैं? ये संयंत्र स्थल पर होने चाहिए, और वर्तमान शौचालयों का इस्तेमाल करनेवाले व्यक्तियों की सख्या। प्रस्तावित शौचालयों का इस्तेमाल करनेवाले व्यक्तियों की संख्या।

(इ) **पशु-शव मांस :** (१) प्राप्त पशु-शवों की संख्या, (२) रोजाना, (३) साप्ताहिक तथा (४) मासिक।

(ई) यदि कोई और प्रांगारिक पदार्थ उपलब्ध हो तो उसका विवरण दें तथा प्रति दिन उसकी प्राप्ति का वजन भी लिखें।

२—गैस का उपयोग :

(अ) (१) **रसोई के लिए :** कितने व्यक्तियों के लिए रोज रसोई बनेगी, (२) कितने घंटे रसोई बनेगी, सुबह, दोपहर, शाम, रात, (३) अभी कौन-सा और कितना जलावन इस्तेमाल किया जाता है, (४) अभी इस्तेमाल किये जानेवाले जलावन पर क्या खर्च बैठता है, (५) कैसी रसोई बनती है—उबाली हुई, तली हुई, रोटियाँ आदि और (६) संयंत्र स्थल से रसोई घर की दूरी ?

(आ) गैस बत्तियाँ।

(इ) इंजिन।

३—बीस फुट की गहराई तक मिट्टी और उप-मिट्टी की किस्म। कितनी गहराई में पानी निकलता है ?

बम्बई : २ जुलाई १९६३

भारत उत्पादन की नयी प्रक्रियाएँ आरम्भ कर सकता है जो कि आर्थिक दृष्टि से उन्नत राष्ट्रों की तरह वैज्ञानिक रूप से प्रगतिशील हैं, और भारत की विशेष अवस्था में उनसे अधिक अनुकूल हैं। सैद्धांतिक रूप से यह अवसर मुझे अपरिमित लगता है क्योंकि यह जरूरी नहीं है कि वैज्ञानिक रूप से उन्नत उत्पादन तकनीकों का उपयोग आधुनिक पश्चिमी तकनालाजी की तरह पूंजी-प्रधान श्रम-बचत की दिशा में ही किया जाय।

—जान पी. लुई : *क्वायट क्राइसिस इन इंडिया*
दि ब्रूकिंग्स इन्स्टीट्यूशन, वाशिंगटन डी. सी.

वकालत का नैतिक पहलू*

भालचन्द्र नारायण गोखले

वकीलों तथा न्यायालयों के कर्त्तव्य और कार्य के सम्बन्ध में गांधीजी का अपना एक अलग ही विधि-दर्शन था। वे सत्य और न्याय के सिद्धान्तों पर जोर देते थे। सविनय अवज्ञा के विषय में उन्होंने लिखा था : वकील को कानून और स्वतन्त्रता का संरक्षक होना चाहिए; अतः देश के सांविधिक ग्रन्थ को पवित्र एवं अदूषित रखने की उनकी अभिरुचि उचित है।

हमने प्रायः अपने देश में विधिवेत्ताओं की कमी पर दुख प्रकट किये हैं और इसका कारण कानून-शिक्षा के स्तर को बताया है। डा. राधाकृष्णन जैसे प्रमुख व्यक्ति की अध्यक्षता में विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग ने इस अवस्था पर निम्न विचार प्रकट किये थे :

> "हमारे देश में कई मशहूर वकील और बहुत ही अच्छे न्यायाधीश हैं।....विधि क्षेत्र से हमें कई महान् नेता और जन-सेवी मिले हैं। इनमें सर्वप्रमुख हैं गांधीजी। ......हमारे यहाँ कोई विश्व-विख्यात विधिशास्त्री नहीं हैं। हमारे लॉ-कालेजों को न देश में और न विदेश में ही उच्च स्थान प्राप्त है और न विधि प्रगाढ़ पांडित्य और अनुसन्धान का ही क्षेत्र बन सका है।"

इस प्रतिवेदन के प्रकाशित होने के पश्चात् निस्सन्देह हमारी विधि-शिक्षा के तरीकों में सुधार हुआ है, परन्तु राधाकृष्णन आयोग के अभिमत की पुष्टि १९५८ में श्री मोतीलाल शीतलवाड की अध्यक्षता में गठित भारतीय विधि आयोग ने भी की थी।

स्वतंत्र विधि-दर्शन

मुझे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि आज की गोष्ठी के आयोजकों ने जब 'विधिवेत्ता के रूप में गांधी जी' विषय चुना था, तो उन्होंने विधिवेत्ता शब्द का प्रयोग सिर्फ इसके सरल तकनीकल अर्थ में नहीं किया था। परन्तु मेरे विचार से यदि हम गांधीजी का विवरण विधिवेत्ता के उपर्युक्त अर्थ में न दें तो उनके प्रति कोई अनुचित बात न करेंगे। तथापि इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि गांधीजी का अपना स्वतंत्र विधि-दर्शन था तथा वे वकीलों और न्यायालयों के कर्त्तव्य और कार्य के विषय में बड़ा ही उच्च विचार रखते थे, भले ही उस समय उन्हें मान्यता न प्राप्त हुई हो और आज भी उन्हें पूर्ण तथा हार्दिक रूपेण स्वीकृति न मिले। तथापि उससे न तो उनका मूल्य ही कम होता है और न आज शाम के विचार-विमर्श की उपयोगिता ही।

आज के भाषण में गांधीजी के विधि-दर्शन के हर पहलू का जिक्र करना मेरे लिए सम्भव नहीं होगा। फिर, दुर्भाग्यवश, मैं यह भी दावा नहीं कर सकता कि गांधीजी के निकट सम्पर्क में रहने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ है। अतः मैं उनके दर्शन के एक-दो पहलुओं तथा उनकी सामान्य वैधता के प्रश्न पर ही अपने विचार प्रस्तुत करूँगा।

सूक्ष्म अन्तर्दृष्टिवाले वकील

परन्तु ऐसा करने के पूर्व गांधीजी ने जिस दक्षता के साथ तत्कालीन दुखी पंजाब के चन्द मार्शल लॉ मामलों का **यंग इंडिया** के कालमों में विश्लेषण और विवेचन किया, उसके लिए मैं श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ। उस वक्त गांधीजी को वकालत करने का २० वर्ष का अनुभव था। अधिकांशतः वकालत उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में की थी। जहाँ तक ज्ञात है, बम्बई उच्च न्यायालय में वे किसी मामले को लेकर उपस्थित नहीं हुए। परन्तु जैसाकि मैं कह रहा था, जिस प्रकार गांधीजी ने इन मामलों का विश्लेषण और विवेचन किया, उससे स्वतः लोग उनकी

* बम्बई में १ जुलाई १९६९ को, गांधी स्मारक निधि की बम्बई शाखा द्वारा आयोजित गोष्ठी, जिसका विषय था "विधिवेत्ता के रूप में गांधीजी", के अवसर पर दी गयी वार्ता पर आधारित।

प्रशंसा करने लगते थे। अन्यत्र स्थिति का प्रमाण दे बचाव, पहचान के लिए लोगों को पंक्तिवद्ध कर खड़ा करने, पुलिस डायरी में दर्ज कराने, मुखबिर की गवाही का मूल्य आदि के विषय में उनका पर्यवेक्षण अथवा असंगत गवाही न स्वीकार करने के प्रति उनकी सावधानी, ये सब बातें यह बताती हैं कि वे फौजदारी कानून की पेचीदगियों में सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि रखनेवाले वकील थे, और उन्होंने जो सिद्धांत रखे, वे आज भी वैध हैं जैसाकि हमारे उच्चतम न्यायालयों के आदेश से स्पष्ट है। इस सन्दर्भ में मैं दयानन्द एंग्लो-वेदिक कालेज के छात्र करमचन्द के मामले में गांधीजी द्वारा लिखे गये लेख का विशेष रूप से जिक्र करूँगा। मैं नहीं जानता कि **यंग इंडिया** में प्रकाशित लेखों के कारण भारत सरकार के अंतिम निर्णय में कहाँ तक परिवर्तन हुए, जिनके कारण चन्द मामलों में पुनर्विचार भी किया गया। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उन लेखों ने पंजाब में किये गये महापराध के विरोध में समूचे देश में जनमत जागृत कर दिया, अन्यथा वह बात वहीं दब जाती।

सत्य और न्याय

गांधीजी के विधि-दर्शन पर चर्चा करते वक्त प्रथम स्थान वकीलों के कर्त्तव्य और कार्य के सम्बन्ध में उनके विचार को देना ही चाहिए। उनका मत था कि यद्यपि वकील को अपने मुवक्किल को बचाने के लिए अपना सारा जोर लगा देना चाहिए, परन्तु उसे ऐसा महज-मुवक्किल का ही होकर सत्य और न्याय के सिद्धान्तों को भंग करते हुए नहीं करना चाहिए। अपने जीवन के आरम्भिक काल में ही गांधीजी को एक कड़ुआ अनुभव हुआ था जबकि उन्होंने अपने बड़े भाई के लिए, जोकि पोरबन्दर के राणासाहब के गद्दी पर बैठने के पूर्व उनके कानूनी सलाहकार और सचिव थे, और ऐसा कहा गया था कि उन्होंने राणासाहब को गलत राय दी थी, पोलिटीकल एजेंट से वकालत करने की कोशिश की थी। इस मामले में पोलिटीकल एजेंट नें गांधीजी से बुरा व्यवहार किया और गांधीजी को उसके व्यवहार से बहुत चोट लगी, परन्तु उन्होंने अन्ततः सर फिरोजशाह मेहता की यह हितकर राय मान ली कि आवेश में कुछ न किया जाय। गांधीजी ने यह स्वीकार किया है कि इस घटना ने कुछ हद तक उनके जीवन में परिवर्तन ला दिया। वे हमेशा यह मानते थे कि वे प्रथम सत्य और न्याय के वकील हैं और बाद में अपने मुवक्किल के।

जिरह का महत्व

सत्य जानने की उनकी उत्कंठा ने उनमें जिरह करने का विशेष ढंग पैदा कर दिया और कहा जाता है कि झूठे गवाहों की पोलें खोलते उन्हें देर नहीं लगती थी। वे हमेशा कहा करते थे कि एक सीमा के अन्दर बचाव पक्ष के वकील को झूठी गवाही की पोल खोलने के अथवा मुद्दई के कमजोर अंग पर प्रहार करने के लिए जिरह का सहारा लेना ही चाहिए। एक बार जबकि पटना उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश ने यह समझते हुए कि वकील को जिरह करने के अधिकार का दुरुपयोग करने की आदत है, उसकी निन्दा की और यहाँ तक कहा ऐसे मामले में तो सजा और बढ़ा देनी चाहिए तो गांधीजी ने इसका खुलेआम विरोध किया और बताया कि रसेल जैसे प्रमुख वकील भी 'पिगौट फोरजरीज' की स्थापना करने में कभी भी सफल नहीं होते, यदि वे योग्य और जोरदार जिरह नहीं करते। परन्तु मुझे इसमें भी सन्देह नहीं है कि अपने मामले को कमजोर जानते हुए भी महज गवाहों को डराने के लिए ही वकीलों द्वारा इस अस्त्र का इस्तेमाल करने का गांधीजी उतना ही विरोध करते।

सिर्फ सच्चे मामले

गांधीजी के सत्य के आग्रह ने उन्हें अपने मुवक्किलों के साथ भी दृढ़ रहने में मदद दी। मुवक्किल गांधीजी के विचार जानते थे, अतः उनके पास सच्चे मामले ही लेकर जाते थे, अन्य मामले दूसरे वकीलों के सुपुर्द कर देते थे। इस मामले में सिर्फ गांधीजी भाग्यशाली थे। ऐसा भी अवसर आया है जबकि गांधीजी को मामला लड़ते वक्त यह मालूम हुआ है कि उनके मुवक्किल ने उन्हें धोखा दिया है और बीच में ही उस मामले से उन्होंने अपना हाथ खींच लिया। अन्य वकीलों ने भी ऐसा किया है। एक

घटना मेरे सामने की है जबकि भूतपूर्व महाधिवक्ता और महान् वकील श्री डी. एन. बहादुरजी न्यायालय में बहस करते वक्त ही सिर्फ इसलिए बैठ गये कि उनके अधिवक्ता ने उन्हें गलत सूचना दी थी तथा बहस पुनः जारी करने के लिए उनकी बड़ी खुशामद की गयी थी। गांधीजी की जीवनी पढ़नेवाला हर व्यक्ति यह जानता है कि किस प्रकार गांधीजी ने अपने एक व्यापारी मुवक्किल से यह दोष स्वीकार कराया था कि वह चोरी से माल मंगाता रहा है और चुंगी अधिकारियों को धोखा देता रहा है। तस्कर मामलों के कितने वकील इस उदाहरण का अनुकरण करने को तैयार हैं ?

समझौते पर जोर

उनके न्याय और सत्य पर दृढ़ रहने का एक और लाभ हुआ। गांधीजी हमेशा मामले को समझौता से ही निपटा देना चाहते थे और अपने मुवक्किलों को यह सलाह देते थे कि आपस में ही मामला निपटा लेना चाहिए। अपने पहले मामले में ही उन्होंने अपने मुवक्किल अब्दुल सेठ और मुद्दालय तैयब सेठ में समझौता करा दिया। विशेषकर जूनियर वकीलों के बारे में समझौते का यह तरीका मुवक्किलों में गलतफहमी पैदा कर देता है। परन्तु गांधीजी को इस तरीके से प्रशंसा ही मिली और मुवक्किलों का उनमें विश्वास बढ़ा। कुछ हद तक यह इसलिए भी हुआ कि उनके कई मुवक्किल दक्षिण अफ्रीका के जन-सेवा कार्य में उनके साथी थे। गांधीजी ने हमेशा इस बात पर जोर दिया है कि दो विरोधियों को अपना मामला पंच फैसला के जरिये निपटा लेने को मना लेना वकालत की शान है।

गांधीजी ने वकील का जीवन प्रारम्भ करते ही मामले का सूक्ष्म अध्ययन करने का महत्व जान लिया था, क्योंकि जैसाकि उन्होंने बताया कि यदि तथ्यों पर पूरा ध्यान दिया जाय तो कानून के कार्यान्वय में सहूलियत होगी। उन्होंने बताया है कि ये सब बातें उन्होंने अपने उच्च श्री लिओनार्ड से सीखी थी जो कि दक्षिण अफ्रीका के एक मशहूर वकील थे और जिस पहले मामले का मैंने जिक्र किया है उसमें गांधीजी के मुवक्किलों ने उन्हें नियुक्त किया था। गांधीजी इस पद्धति पर दृढ़ रहे और इसका पालन अपने राजनीतिक-जीवन में भी करते रहे। **यंग इंडिया** के कालमों में जिन चन्द मार्शल लॉ मामलों के विषय में उन्होंने लिखा था, उनमें उन्होंने अपने तथ्यों के विषय में पूरी सावधानी बरती थी और जब उनका ठीक से इस्तेमाल नहीं किया गया अथवा वकील द्वारा अनुपयुक्त शब्दों और गलत तर्कों के पेश करने के कारण मामला खराब हो जाने पर दुख भी प्रकट किया था। लोकमान्य तिलक ने वकालत का प्रशिक्षण लिया था परन्तु उन्होंने कभी वकालत की नहीं। परन्तु उन्होंने भी कानूनी मामलों को पढ़ने की आदत डाली थी और विभिन्न मामलों में वैधानिक स्थिति की जानकारी हेतु कानूनी रिपोर्टों का अध्ययन करते थे जिससे अपने कई मामलों में वे योग्यतापूर्वक बचाव कर सके। कॉंग्रेस अधिवेशन के अवसर पर **केसरी** में एक महत्वपूर्ण विषय पर लेख लिखने हेतु अपनी सामग्रियों का संकलन करने में तिलक को ३६ घंटे लगे थे।

तथ्यों का असज्जित विवरण

यंग इंडिया में एक मार्शल लॉ मामले पर लिखते हुए गांधीजी ने दोषपूर्ण मसौदा तैयार करने की कटु आलोचना की थी, जिससे प्रायः अच्छे मामले भी खराब हो जाते हैं। गांधीजी मसौदे बनाने में सिद्धहस्त थे और उन्होंने जो चेतावनी आज से ४४ वर्ष पूर्व दी, वह आज भी उतनी ही वैध है : "मसौदे तैयार करने के अपने अनुभव से मैं आवेदन-पत्र लिखनेवालों को, भले ही वे वकील हों अथवा और कोई, यह राय देता हूँ कि जो काम वे हाथ में लें, उस पर ध्यान केन्द्रित करें। मैं उन्हें यह विश्वास दिलाता हूँ कि सरल भाषा में तथ्य प्रकट करना लच्छेदार भाषा में गाथा सुनाने से कहीं अधिक प्रभावशाली होता है।" गांधीजी ने इसे स्वीकार किया था कि यह पाठ उन्होंने गोपाल कृष्ण गोखले और डा. दादाभाई नवरोजी से सीखा है जोकि हमेशा उन्हें यह सिखाते थे कि यदि वे चाहते हैं कि लोग उनकी बात सुनें तो संक्षेप में कहें, विषयवार लिखें तथा तथ्यों से विमुख न हों, विषय से कभी दूर न हों और विशेषणों

का इस्तेमाल करने से बचें। गांधीजी ने कहा था कि यदि उन्हें अपने कार्यों में सफलता मिली है, तो वह इन उच्च और अनुभवी राजनीतिज्ञों की अमूल्य राय को अपनाने के फलस्वरूप ही।

मानवता की भावना

मानवता के पुजारी होने के नाते मुवक्किलों की कठिनाइयों एवं दुःखों से गांधीजी को बेहद वेदना होती थी। मुकदमेबाजी में होनेवाला अधिक व्यय और वकीलों द्वारा लिये जानेवाले अत्यधिक शुल्क के प्रति उनका सदैव विरोध उनकी मानववादी भावना का ही प्रतीक था। हाँ, उनका कहना था कि एक वकील को अपने कार्य, प्रतिभा और अनुभव के लिए उचित पारिश्रमिक लेने का अधिकार अवश्य है। और यह भी सच है कि विशेषतः छोटे वकीलों को बेइमान मुवक्किल इस उचित पारिश्रमिक से भी वंचित करने की प्रायः चेष्टा करते हैं। दूसरी ओर ऐसे वकील भी हैं जो अर्थशास्त्र की मांग के सिद्धान्त का अनुगमन कर अपनी प्रतिभा के अनुसार जो कुछ फीस उन्हें प्राप्त हो सकती है, लेने की कोशिश करते हैं। ऐसा कहते वक्त हम उन बेइमान वकीलों की बात नहीं कर रहे हैं जिन्हें अनुशासन के नियमों के अन्तर्गत कभी भी सजा दी जा सकती है। क्या इतनी फीस की मांग जो मुकदमेबाजी में किये गये दावे के अनुकूल नहीं है, वकील के पेशे के उच्च स्तर के अनुरूप है ? इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है। परन्तु मैं यह विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि यह कहना युक्तिसंगत होगा कि वकीलों की फीस की निम्न सीमा वकील लोग ही अखिल भारतीय स्तर पर वकीलों की परिषद बनाकर निश्चय करें तो ज्यादा अच्छा है। गांधीजी ने अपने निर्धन मुवक्किलों से कभी फीस नहीं ली और मुझे विश्वास है कि अनेक वकील आज भी ऐसा ही कर रहे हैं। लेकिन गरीब मुवक्किलों में गांधीजी की दिलचस्पी को दृष्टिगत रख इस बात पर विचार गांधी स्मारक निधि को करना चाहिए कि इसे कानूनी मदद करने की समस्या को—जिसका अब तक पूर्णतया समाधान नहीं हुआ है—हल करने में रुचि लेना चाहिए अथवा नहीं। सन् १९३१ में इंग्लैण्ड में हुई गोलमेज सभा की संघीय रचना समिति में भाषण करते हुए गांधीजी ने ऐसे संघीय न्यायालय अथवा सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना, जिसका कार्यक्षेत्र अधिक से अधिक व्यापक हो और जिसके निर्णयों को रद्द करनेवाली कोई प्रिवी कॉउँसिल न हो, की मांग कर गांधीजी ने अपनी असाधारण दूरदर्शिता का परिचय दिया था।

उन्नीस वर्ष की अवधि में गांधीजी का यह स्वप्न तब साकार हुआ जब सन् १९४९ के प्रिवी कॉउँसिल ज्यूरिशडिक्शन कानून का उन्मूलन हुआ और इस देश में सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना हुई और जिसके कार्य एवं न्याय की कीर्ति विदेशों में दूर-दूर तक फैल गयी। परन्तु गांधीजी ने यह कभी न सोचा था कि इस सर्वोच्च न्यायालय के अन्तर्गत भारतीय नरेशों द्वारा शासित राज्य भी आ जायेंगे। दुर्भाग्यवश गांधीजी इस चमत्कार को देखने को जीवित न रहे जब सन् १९४८ में ही यहाँ के राजा-महाराजाओं ने सरदार वल्लभभाई पटेल—जो उस वक्त गृह मंत्रालय का कार्य देखते थे—की कुशल राजनीतिज्ञता के कारण अपने राज्यों को समस्त भारत में विलीन करने की स्वीकृति दी थी।

सविनय अवज्ञा

यहाँ पर सविनय अवज्ञा के बारे में गांधीजी के विचारों पर चर्चा करना अनुचित न होगा क्योंकि सविनय अवज्ञा का सिद्धान्त गांधीजी के विधि-दर्शन का महत्वपूर्ण अंग है। शायद आप में से कुछ लोगों को यह स्मरण होगा कि गांधीजी ने बम्बई उच्च न्यायालय के इस मत का कि "जिन लोगों की जीविका का आधार कानून है उनको कानून का अवश्य पालन करना चाहिए" कितने जोरदार शब्दों में विरोध किया था। इस सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए उन्होंने यह लिखा था: "अगर इसका अर्थ यह लगाया जाय कि कोई भी वकील न्यायालय को अप्रसन्न किये बिना कभी भी कानून का विरोध नहीं कर सकता तो इसका मतलब होगा पूर्ण स्थिरता, याने कानून के विकास में पूरा गतिरोध। वकील ही ऐसे व्यक्ति हैं जो बुरे कानून के खतरों को अच्छी प्रकार समझ सकने की सामर्थ्य रखते हैं

और कानून तोड़ने के अपराध को रोकने हेतु कानून का सविनय विरोध करना उनका पुनीत कर्त्तव्य है। वकीलों को कानून एवं स्वतंत्रता का संरक्षक होना चाहिए, अतः देश के सांविधिक ग्रंथ को पवित्र और अदूषित रखने की उनकी अभिरुचि उचित है।" यह सच है कि जिस परिस्थिति की कल्पना गांधीजी ने की थी वह स्वतंत्र भारत में, जिसका शासन जनतांत्रिक सिद्धान्तों पर आधारित संविधान के अनुसार होता है, नहीं आ सकती। परन्तु जब वकील लोग जोरदार शब्दों में सरकार के किसी कानून को अवैधानिक और आपत्तिजनक कह कर उसकी भर्त्सना करते हैं—जैसाकि अभी हाल ही में हुआ है और भविष्य में भी हो सकता है—तो यह अनुमान कि अगर गांधीजी जीवित होते और इन वकीलों के विचारों का समर्थन करते तो उनकी इस सम्बन्ध में क्या प्रतिक्रिया होती, बड़ा ही रोचक होगा।"

गांधीजी अंग्रेजी साहित्य के प्रसिद्ध लेखक रसकीन की शिक्षाओं और रचनाओं से और विशेषतः उनकी **अन टु दि लास्ट** नामक पुस्तक से अत्यधिक प्रभावित हुए थे। किसी सभ्य समाज में प्रचलित पांच आदरयुक्त पेशे के कार्य के संबंध में रसकीन ने इस प्रकार लिखा है :

> "आज तक दैनिक जीवन की आवश्यकताओं से संबंधित पांच बौद्धिक पेशे प्रचलित रहे हैं। तीन पेशे तो प्रत्येक सभ्य राष्ट्र में अवश्य पाये जाते हैं : सैनिक का पेशा राष्ट्र की रक्षा करना है; चिकित्सक का पेशा लोगों के स्वास्थ्य की देख-रेख करना है; पास्तर (गुरु) का पेशा शिक्षा देने का है; वकील का पेशा राष्ट्र में न्याय-पालन करवाने का है और व्यापारी का पेशा देश में सामग्री उपलब्ध करने का है। और सभी व्यक्तियों का यह कर्त्तव्य है कि वक्त आने पर अपनी जान भी दे डालें। याने वक्त पड़ने पर सैनिक को रण-क्षेत्र से भाग जाने की अपेक्षा, चिकित्सक को महामारी (प्लेग) फैलने के वक्त अपना कार्य छोड़कर भाग जाने की अपेक्षा, पास्तर (गुरु) को मिथ्या और झूठ सिखाने की अपेक्षा, वकील को अन्याय का समर्थन या प्रोत्साहन देने की अपेक्षा मर जाना कहीं श्रेयस्कर है। व्यापारी के लिए उचित समय क्या है? यह व्यापारी के लिए जितना बड़ा प्रश्न है उतना ही हमारे लिए भी है। क्योंकि यह सच है कि जो व्यक्ति मरने के उचित समय को नहीं जानता है वह जीवन-यापन करने के तरीके को भी नहीं जानता है।"

ठीक इसी तरह गांधीजी ने सन् १९३१ के नवम्बर माह में **यंग इंडिया** पत्रिका में लिखा था, जिसमें उन्होंने विभिन्न पेशों के लोगों से निवेदन किया था कि वे अपनी प्रतिभा का उपयोग देश की सेवा करने में करें बजाय इस के कि इसके द्वारा वे धनोपार्जन करें। गांधीजी ने लिखा था : "अगर आप चिकित्सक हैं तो आपकी चिकित्सा संबंधी बुद्धि के लिए देश में बहुत-सी बीमारियाँ हैं। अगर आप वकील हैं तो सुलझाने के लिए भारत में बहुत झगड़े-टण्टे भी हैं। झगड़े-टण्टे को अधिक बढ़ाने की अपेक्षा इन्हें दूर करिये और मुकदमेबाजी बन्द करिये। अगर आप इंजीनियर हैं तो लोगों के साधनों एवं आवश्यकताओं के अनुरूप मकान बनाइये, ऐसे मकान जिनमें स्वस्थ और ताजा हवा आये। ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जिसे आपने प्राप्त किया है और उसका उपयोग न हो सके।" सन् १९३१ के अच्छे दिनों में निरन्तर बढ़ती कीमतों और कालाबाजारी की कोई समस्या नहीं थी। अन्यथा निस्संदेह गांधीजी व्यापारियों को लाभ कमाने की वृत्तियों से दूर रहने का अनुरोध आज के हमारे अनेक नेताओं की अपेक्षा अधिक प्रभावोत्पादक ढंग से करते। जब गांधीजी दो वादियों को आपस में समझाने में सफल हुए थे तब उन्होंने दावा किया था कि उन्होंने वकालत करने के सच्चे तरीके को, मानव प्रकृति के सच्चे स्वरूप को और मनुष्यों के मस्तिष्कों को समझने की विधि समझ ली है। सन् १९४४ में उनकी ७५ वीं वर्षगाँठ के उपलक्ष्य में उनको भेंट किये गये ग्रन्थ के एक लेख में यह लिखा है : "दुनिया के अनेक महान व्यक्तियों ने अपने विचारों का प्रचार केवल मानव की भ्रातृत्व भावना और सद्भावनाओं को नष्ट करने के लिए किया है। आज के युग को गांधीजी का यह बड़ा योगदान है कि वे मनुष्यों में अपने विचारों का प्रचार उनके दिल और दिमाग में प्रेम और भाईचारे की भावनाओं को बढ़ाने के लिए करते हैं।" कानून के क्षेत्र में भी गांधीजी का यही योगदान है यद्यपि उन्होंने देश की सेवा करके इसको पूर्णतया स्वतंत्र राष्ट्र बनाने के लिए वकालत छोड़ दी थी।

बम्बई में खेतिहर मजदूर

जनवरी और फरवरी १९६२ के खादी ग्रामोद्योग अंकों में हमने द्वितीय कृषि जांच समिति, १९५६-५७ की रिपोर्ट के खंड २ और ३ में से पश्चिम बंगाल और आंध्र प्रदेश से सम्बन्धित विवरण प्रकाशित किया था। इस अंक में हम खंड ४ में से भूतपूर्व बम्बई राज्य (वर्तमान महाराष्ट्र और गुजरात राज्य में विभाजन होने के पूर्व) का विवरण प्रकाशित कर रहे हैं, जोकि कृषि परिवारों के विषय में जानकारी प्रदान करता है।

द्वितीय कृषि श्रमिक जाँच के अनुमानानुसार बम्बई राज्य की ग्रामीण जन-संख्या में करीब ६.५ प्रति शत वृद्धि हुई है। सन् १९५०–५१ की जाँच के वक्त देहाती क्षेत्रों में ६८ लाख ६९ हजार परिवार थे। इसके विपरीत १९५६–५७ में उनकी संख्या बढ़कर अनु-मानतः ७३ लाख १६ हजार हो गयी है। दूसरी ओर, १९५०–५१ से १९५६–५७ के बीच खेतिहर मजदूरों के परिवारों की संख्या में कमी हुई है। बम्बई राज्य में १९५६–५७ में खेतिहर मजदूरों के अनुमानतः कुल १९ लाख १० हजार, कुल ग्रामीण परिवारों के करीब २६ प्रतिशत, परिवार थे, जब कि १९५०–५१ में उनकी संख्या १९ लाख ६७ हजार, कुल ग्रामीण परिवारों के लगभग २९ प्रतिशत, थी।

राज्य पुनर्गठन (नवम्बर १९५६) के बाद बम्बई एक बहुत ही शहरी कृत राज्य का स्वरूप ले रहा है, जहाँ औद्योगीकरण की ओर एक स्पष्ट झुकाव हो गया है। इस प्रकार यह सम्भव है कि खेतिहर मजदूरों का निकटवर्ती शहरों में निष्क्रमण हुआ है, जिससे ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के कृषि-श्रमिक परिवारों की संख्या में कमी हुई। इसके अतिरिक्त प्रथम कृषि श्रमिक जाँच (१९५०–५१) के लिए खेतिहर मजदूर परिवार के सम्बन्ध में अपनायी गयी परिभाषा के अनुसार जहाँ यह सम्भव है कि कुछ सीमान्त भूमिधर परिवारों को खेतिहर मजदूरों में शामिल कर लिया गया था, वहाँ द्वितीय कृषि श्रमिक जाँच में कृषि पारिश्रमिक के आधार पर खेतिहर मजदूर परिवारों का विभाजन होने की वजह से ऐसा होना सम्भव नहीं था। दोनों जाँचों के बीच की अवधि में खेतिहर मजदूरों और ग्रामीण परिवारों के अखिल भारतीय आंकड़ों में भी इसी प्रकार का रुख मिलता है, जब उनका अनुपात ३० से २४ प्रति शत हो गया। विवरण १ में १९५०–५१ और १९५६–५७ में राज्य के ग्रामीण और कृषि श्रमिक परिवारों की जो अनु-मानिक संख्या थी, उसका ब्यौरा दिया गया है।

विवरण १

सन् १९५६–५७ के दौरान कृषि श्रमिक परिवारों और ग्रामीण परिवारों का वितरण

अवधि	अनुमानित परिवार संख्या (सैकड़ों में)		कुल ग्रामीण परिवारों में कृषि श्रमिक परिवारों का प्रातिशत्य
	ग्रामीण	कृषि श्रमिक	
१९५६–५७	७३,१६१ +(६.५)	१९,०६६ −(३.१)	२६.०३
१९५०–५१	६८,६९०	१९,६७०	२८.९९

उन खेतिहर मजदूर परिवारों की तुलना में जिनके पास बिल्कुल ज़मीन नहीं है और जो मुख्यतः मजदूरी पर मिलनेवाले काम पर ही निर्भर रहते हैं उन परिवारों की स्थिति कुछ अलग है जिनके पास कुछ जमीन है फिर चाहे वह जमीन उनकी मिल्कियत वाली हो अथवा पट्टे (लीज) पर ली हुई। इसके बाद उन्हें आकस्मिक और संलग्न अथवा सम्बद्ध या ठेके पर काम करनेवाले मजदूरों की श्रेणी में वर्गीकृत किया गया। विवरण २ में १९५०–५१ और १९५६–५७ के दौरान विभिन्न

वर्गों के कृषि श्रमिक परिवारों के प्रातिशत्य वितरण का ब्यौरा दिया गया है।

विवरण २

भूमिधारी व भूमिहीन और आकस्मिक तथा संलग्न श्रमिक परिवारों का प्रातिशत्य

विवरण : १९५६–५७

अवधि	कृषि श्रमिक परिवारों का प्रातिशत्य			
	भूमिधारी	भूमिहीन	आकस्मिक	संलग्न
१९५६–५७	३८.२८	६६.७२	८३.१२	१६.८८
१९५०–५१	३६.७१	६३.२९	८२.३	१७.७

राज्य स्तर पर भूमिधारी कृषि श्रमिकों का अनुपात १९५०–५१ में ३७ प्रति शत से गिरा है–वह १९५६–५७ में करीब ३३ प्रति शत हो गया। उक्त अवधि में भूमिहीन खेतिहर मजदूरों के अनुपात में तनिक वृद्धि आयी है–सन् १९५०–५१ और सन् १९५६–५७ के लिए प्रातिशत्य अंक क्रमशः लगभग ६३ और ६७ थे। सन् १९४८ से जमींदारी उन्मूलन से काश्तकारों को जमीन बोने के लिए देनेवाले भूमि-संक्रामण माध्यम के लोप को प्रोत्साहन मिला और जिसका परिणाम निकला तत्कालीन जमींदार तथा तालुकेदारों द्वारा खुद काश्त के लिए जमीन हासिल करना। भूमि के उत्तराधिकार सम्बन्धी कानून तथा उसके साथ ही भूमि पर अत्यधिक भार का फल हुआ–जमीन का अधिक विभाजन और छोटे-छोटे टुकड़े होना, जिससे कृषि श्रमिक धीरे-धीरे भूमिहीन हो गये।

सन् १९५०–५१ की तुलना में १९५६–५७ के दरमियान खेतिहर मजदूरों के पेशे की दृष्टि से संघटन में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। उक्त दोनों ही वर्षों में आकस्मिक श्रमिकों की प्रमुखता थी, संलग्न श्रमिक परिवारों का प्रातिशत्य १९५०–५१ में १८ और १९५६–५७ में १७ था।

आकार व कमाई क्षमता

आकार और कमाई क्षमता ये दो ऐसे बुनियादी पहलू हैं, जिनका किसी परिवार के दर्जे और जीवन-स्तर से प्रत्यक्ष सह-सम्बन्ध होता है। द्वितीय कृषि श्रमिक जाँच में परिवार के सदस्यों को इस प्रकार वर्गीकृत किया गया था–कमाऊ, कमाऊ आश्रित और गैर-कमाऊ आश्रित। कमाऊ उसे माना गया जो अपना भरण-पोषण करने में समर्थ था, जबकि कमाऊ आश्रित उसे माना गया जो स्वतंत्र रूप से अपनी जीविका चलाने जितनी कमाई नहीं कर सकता था। गैर-कमाऊ आश्रित स्पष्टतः परिपूर्ण रूप से कमाऊ सदस्यों पर आश्रित रहते थे। प्रथम जाँच (१९५०–५१) के दौरान सदस्यों के वर्गीकरण की कसौटी कुछ भिन्न थी। परिवार को कमाऊ, सहायक और आश्रित इन तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया था; कमाऊ वे थे जो कुछ न कुछ कमाई करते, फिर चाहे उनकी आमदनी कितनी भी नगण्य क्यों न हो। द्वितीय जाँच (१९५६–५७) के दरमियान 'कमाऊ-शक्ति' में कमाऊ और कमाऊ आश्रित दोनों थे।

विवरण ३

कृषि श्रमिक परिवारों का आकार और कमाऊ व्यक्ति : १९५६–५७

अवधि	परिवार का आकार	कृषि श्रमिक परिवारों में कमाऊ व्यक्ति			
		पुरुष	स्त्री	बच्चे	योग
१९५६–५७	४.५	१.१०	०.९७	०.२१	२.२८
१९५०–५१	४.४	१.१	१.१	०.२	२.४

राज्य के कृषि परिवारों के आकार और कमाई करनेवाले व्यक्तियों सम्बन्धी आँकड़े विवरण ३ में प्रस्तुत हैं।

कृषि श्रमिक परिवार का औसत आकार १९५६–५७ में ४.४ से बढ़कर ४.५ हुआ। खेतिहर मजदूरी कमानेवालों की संख्या १९५०–५१ में २.४—१.१० पुरुष, १.१ स्त्री और ०.२ बच्चे—थी जो १९५६–५७ में गिर कर २.२८—१.१० पुरुष, ०.९७ स्त्री और ०.२१ बच्चे—हो गयी।

अतएव यह स्पष्ट है कि औसत परिवार की आय में हुई कमी के लिए महिला श्रमिकों की संख्या में हुई कमी जिम्मेदार थी।

कृषि श्रमिक परिवारों की कुल अनुमानित संख्या और परिवारों में पारिश्रमिक कमानेवाले व्यक्तियों का औसत १९५६–५७ में गिरा है। सन् १९५०–५१ में खेतिहर मजदूरों की कुल अनुमानित संख्या ४७ लाख २० हजार थी। सन् १९५६–५७ के दौरान उसमें कमी हुई और वह ४३ लाख ९० हजार हो गयी। कृषि श्रमिकों में १९५०–५१ और १९५६–५७ के लिए पुरुष, महिलाओं तथा बच्चों की कुल अनुमानित संख्या विवरण ४ में दी गयी है।

विवरण ४

सन् १९५०–५१ और १९५६–५७ में कृषि श्रमिकों की अनुमानित संख्या

(हजार में)

वर्ग	१९५०–५१	१९५६–५७
पुरुष	२,१६४	२,०९७
स्त्री	२,१६४	१,८९५
बच्चे	३९३	४००
योग ..	४,७२१	४,३९२

रोजगारी तथा बेरोजगारी

ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का दायरा सीमित होने की वजह से खेती में मजदूरी का मिलना इस माने में अपना विशेष स्थान रखता है कि वहाँ काम की अविच्छिन्नता और / अथवा निश्चितता नहीं है। जहाँ समूचे वर्ष भर श्रम पूर्ति का बाहुल्य रहता है, वहाँ इसकी माँग इस हिसाब से घटती–बढ़ती रहती है कि काम कितना है और प्राकृतिक अवस्थाएँ प्रतिकूल रही हैं अथवा अनुकूल।

खेती में मजदूरी पर प्राप्त काम प्रकृति और कृषि पद्धति, सिंचाई सुविधाओं की उपलब्धि, फसल के स्वरूप, खेतों के आकार, जमीन की उर्वरकता और दोहरी फसल उगाने की सम्भाव्यता आदि जैसी बातों पर निर्भर करता है। इन बातों का किसी क्षेत्र की कृषि सम्बन्धी क्षमता तथा प्रयुक्त श्रमिक-वर्ग—जैसे आकस्मिक व संलग्न एवम् पुरुष, स्त्री और बाल वर्ग भी—पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है।

रोजगारी, बेरोजगारी और स्वतंत्र रोजगारी के सम्बन्ध में आँकड़े इकट्ठे करने का सन्दर्भ काल सात दिन का है। जिस व्यक्ति के पास एक से अधिक काम हैं, उसके लिए सन्दर्भ काल में मुख्य पेशा निर्धारित करना प्रायः मुश्किल है। इसके लिए अग्रता जैसे (अ) लाभदायक रोजी प्राप्त, (आ) बेरोजगार, और (इ) श्रम-शक्ति में शामिल नहीं—के क्रम के अनुसार प्राथमिकता का मापदण्ड निर्धारित किया गया। ऐसा व्यक्ति जो लाभदायक रूप से किसी काम में लगा था और साथ ही सन्दर्भ दिन में और काम प्राप्त करना चाहता था उसे लाभदायक रोजी प्राप्त व्यक्ति की श्रेणी में शामिल किया गया। इसी प्रकार सन्दर्भ दिन के मौके पर काम चाहने वाले किसी विद्यार्थी अथवा घर का काम धंधा करनेवाले व्यक्ति को 'बेरोजगार' समझा गया, 'श्रम-शक्ति में शामिल नहीं' नहीं समझा गया। 'श्रम शक्ति में शामिल नहीं' की श्रेणी का कोई व्यक्ति एक से अधिक काम करता हो तो उसमें प्रथम कार्य को

अन्य कामों की अपेक्षा प्राथमिकता दी गयी। इस प्रकार लाभदायक रोजी प्राप्त या तो 'काम पर थे' अथवा 'काम पर नहीं'। लाभदायक रोजी प्राप्त व्यक्ति यदि सन्दर्भ दिवस के मौके पर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से किसी काम-धंधा में लगा हो तो उसे काम पर या व्यस्त समझा गया। यह सम्भव है कि इस प्रकार काम में हाथ बटाने का परिणाम सदैव माल उत्पादन तथा सेवा निर्माण में कुछ भी न निकले। लेकिन फिर भी उन्हें काम पर माना गया, काम-धंधे पर थे और सामान तथा सेवा निर्माण में लगने को उद्धत थे। गैर मौसम के वक्त के किसी सन्दर्भ दिवस के अवसर पर एक कृषक को अपना समय बेकार गँवाते हुए लाभदायक रोजगारी प्राप्त नहीं माना गया, क्योंकि उस दिन उसके पास कोई काम नहीं था। लाभदायक रोजी प्राप्त व्यक्ति किसी काम पर हो भी सकता है और बीमारी, चोट-खसोट, छुट्टी, त्यौहार, खराब मौसम आदि के कारण नहीं भी। इस प्रकार के व्यक्ति माँग की कमी, गैर मौसम आदि जैसे कारणों से भी काम पर नहीं हो सकते हैं, यद्यपि ऐसे मामलों में काम से नाता तोड़ना नहीं होता और लोगों को किसी दिन काम शुरू कर देने की समुचित आशा रहती है।

कार्यशीलता का वर्गीकरण

परिवारिक श्रम के सम्बन्ध में यह कि मुख्यतः-पारवारिक श्रम से, बिना परिश्रमिक के, घर के उत्पादनशील काम में लगे व्यक्ति को घेरेलू काम में लगा निःशुल्क कर्मी समझा गया बशर्ते कि उस व्यक्ति ने सन्दर्भ दिन में कम से कम एक घंटा उल्लिखित काम किया हो, फिर चाहे वह व्यक्ति पुरुष हो अथवा स्त्री। लाभदायक काम में नहीं लगे व्यक्ति को सन्दर्भ दिन के अवसर पर बेरोजगार माना गया, फिर चाहे वह काम की खोज में ही हो। काम के लिए उपलब्धि का अर्थ सामान्य शर्तों और अवस्थाओं के अन्तर्गत लाभदायक काम करने को तैयार समझा गया।

इस प्रकार कार्यशीलता के स्वरूप के बाबत जो बुनियादी वर्गीकरण अपनाया गया वह इस तरह था: काम पर, काम की कमी के कारण बेरोजगारी, काम पर नहीं लेकिन काम-धंधा है, और मजदूरी के बाहर की गतिविधियाँ। 'काम पर' के प्राथमिकता वर्गीकरण का आगे उप-विभाजन इस प्रकार किया गया: मजदूरी-रोजगारी, जिसमें खेतिहर मजदूर, गैर खेतिहर मजदूर, वेतन भोगी कर्मी शामिल थे, खेती में स्वतंत्र रोजगारी, और अन्य प्रकार की स्वतंत्र रोजगारी। फिर, 'काम पर नहीं लेकिन जिनके पास काम है' का बीमारी, मौसम की खराबी, पर्व-त्यौहार, आराम अथवा छुट्टी आदि जैसे कारणों के मुताबिक उप-वर्गीकरण किया गया।

काम चाहे बड़े पैमाने का हो अथवा छोटे पैमाने का, जिस सघनता के साथ उसे चलाया जाता हो उसका भी ध्यान रखा गया। इस उद्देश्य के लिए सघनता के चार वर्ग निर्धारित किये गये: पूर्ण, अर्ध, नाम मात्र और नगण्य। पूरे दिन के काम का मतलब है सामान्य कार्य-घंटों के तीन चौथाई अथवा उससे अधिक समय का काम। सामान्य कार्य घंटों के एक-चौथाई से अधिक और तीन-चौथाई से कम समय के काम को 'अर्ध' सघनता की संज्ञा दी गयी। कार्य घंटों के एक चतुर्थांश से कम के बराबर काम को एक-अष्टमांश सघनता के 'सामान्य' कार्य की संज्ञा दी गयी। 'नगण्य' सघनता का तात्पर्य है, संदर्भ काल में किसी काम का न किया जाना। रोजगारी सम्बन्धी आंकड़ों का तालिकाकरण करते वक्त सघनता को ध्यान में रखा गया था।

फिर भी, प्रथम कृषि श्रमिक जाँच (१९५०–५१) के दरमियान आधे या उससे अधिक दिन की मजदूरी को पूरे दिन का काम माना गया था और उससे कम को हिसाब में नहीं लिया गया था—अर्थात् उसे गणना में शामिल नहीं किया गया। उन सभी व्यक्तियों को लाभदायक रूप से काम में लगा समझ लिया गया था जिन्होंने महीने में एक दिन भी काम किया हो। बेरोजगारी के सम्बन्ध में उन प्रौढ़ पुरुष श्रमिकों के लिए ही आँकड़े इकट्ठे किये गये जिन्होंने प्रति माह मजदूरी-रोजगारी की रिपोर्ट दी। जिन्होंने श्रमिक रोजगारी के

बारे में रिपोर्ट नहीं दी उनके लिए यह माना गया कि वे आधे समय अपने खुद के धंधे में लगे थे। फिर घंटों में कार्य दिन के सम्बन्ध में कोई सिद्धांत नहीं बनाया गया था। फलतः प्रथम कृषि श्रमिक जाँच के लिए आंकड़े कुछ थे और उनका झुकाव अपेक्षाकृत आधिक्य की ओर था। ऐसी परिस्थिति में १९५०–५१ और १९५६–५७ के रोजगारी सम्बन्धी आँकड़ों के प्रस्तुत तुलना अध्ययन में बड़ी सावधानी बरतनी पड़ेगी।

मजदूरी रोजगारी

कृषि श्रमिकों के लिए मजदूरी पर काम करना जीविकोपार्जन का सबसे बड़ा श्रोत था। खेती में मजदूरी पर काम का मिलना दो बातों पर निर्भर करता है: विभिन्न क्षेत्रों में काम की अनिवार्यता अथवा मँाग और वहाँ प्रचलित खेती क्यारी सम्बन्धी पद्धतियों को नियंत्रित करनेवाले पहलू। इन पहलुओं का प्रभाव खेतिहर मजदूरों की श्रेणियों जैसे आकस्मिक तथा संलग्न और उनका लिंग भेद व आयु एवम् भूमिधारी या भूमिहीनवाला दर्जा, के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। रोजगार का परिमाण निर्धारित करने में श्रम की सक्रियता एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू है। जहाँ आकस्मिक मजदूरों को किसी भी प्रकार का काम प्राप्त करने की स्वतंत्रता रहती है, वहाँ संलग्न यानी ठेकेदारी पर काम करनेवाले मजदूरों के सामने ठेके के काम सम्बन्धी शर्तों की सीमाएँ होती हैं। फिर भी, काम के ठेके यानी संविदे से उन्हें अपेक्षाकृत लम्बे समय का काम मिल जाता है।

विवरण ५ में १९५६–५७ के दौरान कृषि श्रमिक परिवारों की दो श्रेणियों के वयस्क पुरुष श्रमिकों को मिली मजदूरी-रोजगारी का ब्यौरा है। फिर भी, यह ध्यान रखना चाहिए कि परिवारों द्वारा एक-दूसरी श्रेणी का काम कर लेने की प्रकृति के कारण यह जरूरी नहीं कि आकस्मिक श्रमिक परिवारों में मजदूरी करनेवाले सभी व्यक्ति आकस्मिक खेतिहर मजदूर हों। इसी प्रकार यह भी आवश्यक नहीं कि संलग्न श्रमिक परिवारों के व्यक्ति संलग्न यानी ठेकैपर काम करनेवाले मजदूर हों।

विवरण ५

विभिन्न परिवार-श्रेणियों में वयस्क पुरुष कृषि श्रमिकों की मजदूरी-रोजगारी : १९५६–५७

(दिन)

परिवार श्रेणी	कृषि रोजगार	गैर-कृषि रोजगार	योग
आकस्मिक श्रमिक	१९८.१३	२४.६३	२२२.७६
भूमिधारी ..	१६७.३७	२६.४८	१९३.८५
भूमिहीन ..	२१२.८८	२३.७५	२३६.६३
संलग्न श्रमिक ..	२९६.३२	८.१८	३०४.५०
भूमिधारी ..	२५८.४५	१४.५२	२७२.९७
भूमिहीन ..	३०५.४४	६.६५	३१२.०९
सभी कृषि श्रमिक-परिवार ..	२१९.९७ (२०५)	२०.९७ (२१)	२४०.९४ (२२६)

कोष्ठक में दिये गये आंकड़े १९५०–५१ के हैं।

आकस्मिक श्रमिक परिवारों में वयस्क पुरुष श्रमिक १९५६–५७ में औसतन रूप से वर्ष में लगभग २२३ दिन काम पर थे। कृषि कार्यों में उन्हें मजदूरी का काम करीब १९८ दिन मिला जब कि गैर कृषि कार्यों में केवल २५ दिन। जहाँ तक भूमिधारी आकस्मिक कृषि परिवारों में प्रौढ़ पुरुष श्रमिकों का सम्बन्ध है, उनका काम (१९४ दिन) उसी श्रणी के भूमिहीन श्रमिकों से कम रहा, जो वर्ष में तकरीबन २३७ दिन व्यस्त रहे। खेती के कामों में उन्हें १६७ दिन मजदूरी मिली और गैर-खेतिहर कार्यों में २७ दिन। अन्य पेशों में सीमित अवसर, पूंजी स्रोतों की कमी और पारिवारिक दस्तकारियों के अभाव के कारण भूमिहीन कृषि श्रमिकों के पास अन्य कोई काम नहीं था, जो केवल खेतीबाड़ी के धन्धे में ही काम की तलाश में रहे, जहाँ उन्हें वर्ष में करीब २१३ दिन काम मिला। उन्हें १९५६–५७ में

गैर-खेतिहर धंधों में केवल २४ दिन ही काम मिल सका।

संलग्न श्रमिक परिवारों के मजदूरी करनेवाले व्यक्तियों में भी भूमिहीन परिवारों ने अपना अधिकांश समय खेती-बाड़ी के कामों में ही लगाया। भूमिधारी तथा भूमिहीन खेतिहर मजदूर परिवारों के लिए मजदूरी रोजगारी के अंक क्रमशः २५८ और ३०५ दिन रहे। गैर-खेतिहर विभाग में भूमिधारी और भूमिहीन संलग्न श्रमिक परिवारों को क्रमशः १५ और ७ दिन काम मिला।

सभी कृषि श्रमिक परिवारों (आकस्मिक तथा संलग्न दोनों को साथ मिला कर देखने पर) में मजदूरी करनेवालों के सम्बन्ध में कृषि रोजगार की प्रधानता स्पष्ट है। मजदूरी रोजगारी का कुल परिमाण १९५०–५१ के स्तर से १९५६–५७ में १५ दिन बढ़ा। वृद्धि केवल कृषि क्षेत्र में ही हुई, जहाँ १९५०–५१ में २०५ दिन काम मिला था और १९५६–५७ में २२० दिन। जहाँ तक गैर कृषि क्षेत्र में मजदूरी रोजगारी का सम्बन्ध है, व्यवहारतः कोई अन्तर नहीं था; १९५०–५१ और १९५६–५७ के लिए आँकड़े क्रमशः २१ दिन और २०.९७ दिन हैं।

राज्य स्तर पर,१९५६–५७ में वयस्क पुरुष आकस्मिक श्रमिकों को करीब २१७ दिन काम मिला जो कि १९५०–५१ के मुकाबले अधिक है जबकि १८१ दिन ही रोजगारी मिली थी। विवरण ६ में राज्य के वयस्क पुरुष आकस्मिक श्रमिकों की रोजगारी अवस्था का चित्र मिलता है।

विवरण ६

सन् १९५६ में वयस्क पुरुष आकस्मिक श्रमिकों को मजदूरी और अपने काम में मिली रोजगारी

(दिन)

अवधि	मजदूरी के लिए रोजगारी	अपने काम के लिए
१९५६–५७	२१७.१५	३४.९५
१९५०–५१	१८१	४७

सन् १९५६–५७ में मजदूरीवाली रोजगारी के अवसरों में जहाँ सुधार दिखाई देता है खेतिहर मजदूरों के अपने काम के लिए रोजगारी में कमी दिखाई देती है। सन् १९५०–५१ के ४७ दिन के मुकाबले १९५६ में वयस्क पुरुष आकस्मिक श्रमिकों को अपने काम में ३५ दिन ही रोजगारी मिली। अपने काम में कम रोजगारी मिलने के लिए जिम्मेदार है राज्य में भूमिधारी कृषि श्रमिक परिवारों की संख्या में आपेक्षिक तौर पर हुई कमी। बहरहाल यह ध्यान रखना चाहिए कि क्रिया-विधि भिन्नताओं के कारण १९५०–५१ और १९५६–५७ के अपने काम सम्बन्धी आँकड़ों की तुलना करने में सीमाएँ हैं। प्रथम कृषि श्रमिक जाँच (१९५०–५१) के वक्त अपने काम में मिलनेवाली रोजगारी का परिमाण बहुत कुछ अनुमानित था, क्योंकि काम के कुल ३६५ दिन में से मजदूरी पर मिलनेवाली रोजगारी तथा बेकारी के दिनों को घटाने के बाद जो दिन बच जाते हैं उसीके अनुसार इसका अनुमान लगा लिया गया था।

संलग्न श्रमिकों की रोजगारी

चूंकि संलग्न श्रमिकों की रोजगारी आकस्मिक श्रमिकों की रोजगारी से भिन्न थी, अतः उस पर विशेष रूप से ध्यान देने की जरूरत है। संलग्न श्रमिक एक निर्दिष्ट अवधि के लिए ठीके पर काम करते थे। यद्यपि ठीके की शर्तें सामान्यतया उन्हें यह तो सुनिश्चित करती थीं कि काम बराबर मिलता रहेगा तथा वह रोजगारी में लगा रहेगा, तथापि संलग्न श्रमिकों की रोजाना आय प्रायः आकस्मिक श्रमिकों से कम हुआ करती थी। संलग्न श्रमिकों में सिर्फ पुरुष ही पुरुष थे। लेकिन कुछ ऐसे भी उदाहरण हैं जहाँ कि महिलाओं और बच्चों को अपने परिवार के पुरुषों का हाथ बँटाते देखा गया है। बच्चे सामान्यतया गाय-भैंस चराने जैसा छोटा-मोटा काम करते थे, जब कि महिलाएँ अपने मालिकों के घर का काम करती थीं। खलिहानों में काम करने के अलावा संलग्न श्रमिकों को मवेशी पालने, उपले बनाने, चारा और जलावन चुनने आदि

जैसे रोजमर्रा के काम भी करने होते थे। ये सभी कार्य अनिवार्य थे क्योंकि मालिकों से लिखित अथवा मौखिक अनुबन्ध करते समय इन्हें शर्तों में शामिल कर दिया जाता था। संलग्न श्रमिकों को ब्याज पर अथवा निर-ब्याज ऋण देना, मुख्यतः उन्हें अपनी सेवा में रखने के लिए, अनुबन्ध की दूसरी किस्म थी। संलग्न श्रमिकों की रोजगारी से संबंधित नियम व शर्तें क्षेत्र-क्षेत्र में भिन्न हुआ करती थीं। विभिन्न क्षेत्रों में उन्हें अलग-अलग नामों से पुकारा जाता था। राज्य के पूर्वी भाग में उन्हें सलदार अथवा महीन्दर कहा करते हैं और गुजरात देश में साथी, चाकर अथवा चकसृयत। †

विवरण ७ में राज्य में संलग्न पुरुष श्रमिकों को औसत कितने दिनों की रोजगारी मिली, उसका ब्यौरा दिया गया है।

विवरण ७

संलग्न वयस्क पुरुष कृषक श्रमिकों को मजदूरी और निजी धंधे के लिए रोजगारी

(दिन)

अवधि	मजदूरी के लिए रोजगारी	निजी धन्धे के लिए रोजगारी	कुल
१९५६–५७	३१९.३०	७.६१	३२६.९१
१९५०–५१	३२३	३०	३५३

सन् १९५६–५७ में संलग्न श्रमिकों की रोजगारी में ४ दिनों की कमी हुई है। एक संलग्न पुरुष श्रमिक को साल में कुल ३२७ दिनों की रोजगारी मिली जो कि १९५०–५१ के स्तर से २६ दिन कम थी। जहाँ तक मजदूरीवाली रोजगारी का सवाल है सन् १९५०–५१ के मुकाबले १९५६–५७ में बहुत मामूली कमी हुई, ३२३ दिनों के बदले ३१९ दिनों की रोजगारी मिली। निजी धन्धे की रोजगारी में २२ दिनों का अन्तर पड़ा। बहरहाल, प्रथम जाँच के वक्त अपनायी गयी कार्य-पद्धति में कमी और 'सघनता' की वैज्ञानिक कसौटी के समावेश,* जिससे कि दूसरी जाँच के वक्त लोग सम्बन्धित थे, को दृष्टि में रखते हुए और इस बात पर विचार करते हुए कि दोनों जाँचों द्वारा निजी काम में मिली रोजगारी सम्बन्धी आँकड़े बराबर नहीं हैं, यह अन्तर महत्त्वपूर्ण नहीं लगता। फिर भी, १९५०–५१ में हुई ३० दिन की कमी के मुकाबले १९५६–५७ में हुई सिर्फ आठ दिन की कमी के लिए कुछ हद तक जिम्मेदार, भूमिधारी परिवारों के अनुपात में हुई कमी-करीब ३७ प्रति शत से १९५६–५७ में ३३ प्रति शत तक–और जोते जा रहे खेतों के आकार में धीरे-धीरे हुई कमी जिससे कि निजी धंधे में मिलनेवाले काम के परिमाण में कमी आयी, को ठहराया जा सकता है।

महिला श्रमिक

महिला श्रमिकों अर्थात् मजदूरिनों को अधिकतर आकस्मिक किस्म के कामों में लगा पाया गया और उन्हें रोजगारी घरेलू खर्च में बहुत आवश्यक होने पर ही मिली। मजदूरिनों की माँग सामान्यतया उस मौसम में होती है जबकि काम बहुत अधिक होता है। वे अधि-कांशतः खेत के उन कामों में लगी रहती हैं जिनमें कि कड़े श्रम की जरूरत नहीं पड़ती। सन् १९५६–५७ में मजदूरी पर काम करनेवाली मजदूरिनों को औसतन १६९ दिन काम मिला जबकि १९५०–५१ में १३२ दिन काम मिला था। विवरण ८ में मजदूरिनों को मजदूरी पर मिली रोजगारी का तुलनात्मक विवरण दिया गया है।

† विस्तृत विवरण के लिए **अग्रीकल्चरल लेबर इन इंडिया-रिपोर्ट आन दि सेकण्ड इन्कवायरीज,** खंड १, अखिल भारत का पृष्ठ ७८-८० देखिये।

* पूर्ण विवरण के लिए रिपोर्ट का अध्याय १ पृष्ठ ७ देखें।

विवरण ८

वयस्क मजदूरिनों को मजदूरी पर मिली रोजगारी की स्थिति

(दिन)

अवधि	कृषि में	गैर कृषि में	कुल
१९५६–५७	१६०.२५	८.४२	१६८.६७
१९५०–५१	१२२	१०	१३२

मजदूरिनों की रोजगारी में वृद्धि आपेक्षिक तौर पर कम मजदूरी पर मजदूरिनों की उपलब्धि, जिन्हें १९५०–५१ के स्तर से प्रति दिन ११ नये पैसे कम मिला, और कृषि कार्यक्षेत्र में हुए सुधार, जिसमें १९५०–५१ की १२२ दिन मजदूरी रोजगारी के मुकाबले १९५६–५७ में वे १६० दिनों तक व्यस्त रहीं, के फलस्वरूप हुई। पूर्वी भाग के जिले आपेक्षिक तौर पर अधिक उपजाऊ हैं और गेहूं, धान, ज्वार और बाजरा जैसे अनाज, तिल और तीसी जैसे तिलहन, मिर्च और गन्ना, तम्बाकू तथा कपास जैसी व्यापारिक फसलें उगाते हैं, जिससे कि बहुत अधिक परिमाण में मजदूरी पर रोजगारी मिलती है। महिलाओं को धान के खेतों में पौधे रोपने, व्यापारिक फसलों की निराई करने और महत्वपूर्ण फसलों की कटाई करने का काम मिला। तम्बाकू के पत्ते, मिर्च और कपास तोड़ने के काम में उन्हें दी गयी रोजगारी सस्ती पड़ी।

गैर-कृषि विभाग में मजदूरिनों को कुछ काम मिला और वे आलोच्य वर्ष में आठ दिन ही काम प्राप्त कर सकीं, जबकि १९५०–५१ में उन्हें १० दिन काम मिला था। राज्य के सागरतटीय क्षेत्रों में मछली मारने जहाजों पर काम करने, बंदरगाहों में देशी दस्तकारियों में लोगों को काम मिलता है जबकि भीतरी क्षेत्रों में मजदूरिनों को कसीदाकारी जैसा काम भी मिलता है।

मजदूरिनों के निजी धन्धे

मजदूरिनों के निजी धंधे से सम्बन्धित १९५०–५१ की जाँच के समय कोई आँकड़े एकत्रित नहीं किये जा सके। अतः १९५६–५७ की जाँच में प्राप्त आँकड़ों से कोई तुलना सम्भव नहीं है। कृषि कार्य में लगी एक वयस्क मजदूरिन १९५६–५७ में २५ दिनों तक अपने धंधे में लगी थी। महिलाओं ने अपने पुरुषों को अपने खलिहानों में, तटीय क्षेत्रों में मछलियाँ पकड़ने, सुखाने और बेचने में, जंगली उत्पादनों को एकत्रित करने, हाथ कताई, बांस छिलने तथा घरेलू उपयोग की सामग्रियाँ बनाने में मदद की। विवरण ९ में महिलाओं को सन् १९५६–५७ में मिली रोजगारी– मजदूरी पर तथा निजी धन्धे में– का ब्यौरा दिया गया है। यहाँ यह बताना जरूरी है कि चूँकि मजदूरिनें कुछ ही किस्म के कृषि कार्यों में लगी हैं, अतः पुरुषों को मिली रोजगारी के साथ तुलना करना कोई महत्व नहीं रखेगा।

विवरण ९

सन् १९५६–५७ में पुरुष और महिला कृषि श्रमिकों को मजदूरी पर तथा निजी धंधे में मिली रोजगारी

(दिन)

श्रेणी	मजदूरी पर रोजगारी	निजी धंधे में रोजगारी
महिलाएँ	१६८.६७	२५.४९
पुरुष	२४०.९४	२८.५८

सन् १९५६–५७ में महिलाओं को पुरुषों से ७२ दिन कम रोजगारी मिली। मजदूरिनें इस अवधि में मजदूरी पर १६९ दिन काम में लगीं थी, जबकि पुरुष श्रमिकों को २४१ दिन काम मिला। तथापि निजी-धंधे में काम करीब-करीब बराबर ही मिला–महिलाओं को २५ और पुरुषों को २९ दिन।

सन् १९५६–५७ में बम्बई राज्य में परिवार की पूरक आय के लिए बाल-श्रमिकों पर निर्भरता बढ़ी है। सन् १९५०–५१ के १५९ दिनों के मुकाबले बाल-श्रमिकों को १९५६–५७ में २०६ दिनों की मजदूरी पर रोजगारी मिली। यह वृद्धि मुख्यतः कृषि मजदूरी-रोजगारी में हुई जो कि इस अवधि में १५० दिनों से बढ़कर १९३ दिन हो गयी।

बाल-श्रमिकों को रोजगार

सिर्फ कृषि क्षेत्र में ही आकस्मिक बाल कृषि श्रमिकों को १९५६–५७ में १६४ दिन काम मिला। निराई और फसल कटाई वे प्रमुख कार्य थे जिनमें बाल श्रमिक लगे थे और उनमें उन्हें क्रमशः ५१ और ४४ दिन काम मिला।

जिन बाल-श्रमिकों के माता-पिता के पास अपने खेत थे, वे ३६ दिनों तक निजी धंधे में रोजगारी पाये। उन्होंने लकड़ियाँ चुनने, तरकारियाँ और मछलियाँ बेचने, पशुपालन आदि कार्यों में अपने माता-पिता का हाथ भी बटाया।

उपर्युक्त अंश में कृषि में पुरुषों, महिलाओं और बालकों को मिली रोजगारी की अवस्था पर चर्चा की गयी है। सन् १९५६–५७ में सभी कार्यों में (कृषि और गैर कृषि दोनों ही) आकस्मिक श्रमिकों द्वारा किये गये कुल कार्य दिनों में से पुरुषों का ४९.५२ प्रति शत महिलाओं का ४२.३३ प्रति शत और बाल-श्रमिकों का ८.१५ प्रति शत योगदान रहा। सन् १९५०–५१ में उनका योगदान क्रमशः ५१.८ प्रति शत, ४३.६ प्रति शत और ४.६ प्रति शत था। इस प्रकार जबकि पुरुषों और महिलाओं के अंश में थोड़ी कमी हुई है, बाल श्रमिकों के अंश में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई है। कृषि श्रमिक अर्थ-व्यवस्था में बाल-श्रमिकों के अंश की वृद्धि बहरहाल सुखद बात नहीं है।

पुरुष, महिला और बाल आकस्मिक श्रमिक

विवरण १० में विभिन्न कृषि और गैर-कृषि कार्यों में १९५६–५७ में पुरुष, महिला और बाल-श्रमिकों द्वारा किये गये काम के कार्य–दिनों का प्रतिशत दर्शाया गया है।

विवरण १०

सन् १९५६–५७ में विभिन्न कृषि और गैर-कृषि कार्यों में पुरुष, महिला और बाल आकस्मिक श्रमिकों द्वारा किये गये कार्य-दिनों का प्रति शत

कार्य	किये गये कार्य दिनों का प्रतिशत			औसत कार्य दिन		
	पुरुष	महिला	बाल	पुरुष	महिला	बाल
कृषि						
हलचालन	४.२६	०.१९	०.३८	१८.६७	०.७९	८.२८
बीजारोपण	०.६३	०.३४	...	२.७७	१.३३	...
पौधारोपण	०.९१	१.५५	०.२८	३.९८	६.१५	५.९६
निराई	६.९९	१३.२२	२.३७	३०.६५	५२.४४	५१.०३
फसल कटाई	११.८३	१५.४७	२.०५	५१.८७	६१.३८	४४.१७
गैर-कृषि कार्यों में	४४.१३	४०.१८	७.६५	१९३.५०	१५९.४१	१६४.५८
सब कार्यों में	४९.५२	४२.३३	८.१५	२१७.१५	१६७.९४	१७५.४८

प्रत्यक्ष है कि निराई और फसल कटाई सबसे अधिक रोजगारी देनेवाले कार्य थे और बेशक वे वैसे काम हैं जबकि इकट्ठे ही कई लोगों की जरूरत पड़ जाती है। तैयार फसल सड़ न जाये अथवा नुकसान न हो जाय और साथ ही इसलिए भी कि उत्पादकों में प्रतियोगिता पैदा न हो, फसल कटाई का कार्य शीघ्र ही पूरा करना होता है जब कि निराई कार्य खेतों में बढ़ रहे पौधों को अधिकतम पौष्टिकता प्रदान करने के लिए परमावश्यक है। सभी कार्यों में जितने कार्य-दिन लगे, उनमें से फसल कटाई में २९ प्रति शत और निराई में २२ प्रति शत कार्य-दिन लगे।

बेकारी

कृषि में मिलनेवाला काम मौसमी होता है, जिससे कभी बहुत अधिक, कभी कम और कभी बिल्कुल काम नहीं होता। बीच की अवधि में कृषि श्रमिकों के पास कोई काम नहीं होता, उन्हें छोड़कर जो कि कारखानों, बाजारों अथवा अन्य विकास कार्यों में दक्ष अथवा अदक्ष कारीगरों के रूप में काम करने के लिए चले जाते हैं, अथवा उन चन्द भाग्यशाली लोगों को छोड़कर जिनके पास अपनी कुछ जमीन है और अपने छोटे-मोटे लाभ-दायक कार्य करते हैं। अतः बेकारी की समस्या पर देश की विकासोन्मुख कृषि अर्थ-व्यवस्था की विशेषताओं के सन्दर्भ में विचार करना होगा।

विवरण ११ में वयस्क पुरुष आकस्मिक श्रमिकों के बीच १९५०-५१ में तथा १९५६-५७ में फैली बेकारी और महिला-श्रमिकों में १९५६–५७ में फैली बेकारी का ब्यौरा दिया गया है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि १९५०–५१ के लिए महिला श्रमिकों में फैली बेकारी के आँकड़े एकत्रित नहीं किये जा सके।

विवरण ११

सन् १९५०–५१ और १९५६–५७ में वयस्क पुरुषों और महिला श्रमिकों में बेकारी

अवधि	आकस्मिक वयस्क पुरुष	महिला	संलग्न वयस्क पुरुष
१९५६–५७	११२.९०	१७०.८४	३८.०९
१९५०–५१	१३७	अप्राप्य	१२

वयस्क पुरुष आकस्मिक श्रमिकों की बेकारी अवस्था में कुछ सुधार हुआ है क्योंकि १९५०–५१ में उनमें जबकि १३७ दिनों बेकारी थी, १९५६–५७ में यह घटकर ११३ दिन ही रह गयी। संलग्न वयस्क पुरुष श्रमिकों में बेकारी १९५०–५१ के १२ दिनों से बढ़कर १९५६–५७ में ३८ दिन हो गयी। हाँ, मजदूरिनें १९५६–५७ में ६ महीने से कुछ कम दिनों बेकार रहीं। कार्यरूप में बेकारी का रोजगारी से सम्बन्ध होने के नाते, दोनों के बीच तुलना की जो सीमाएँ हैं, वे यहाँ भी लागू हैं।

कारणतः बेकारी

बेकारी का सम्पूर्ण रूप देखने से यह ज्ञात नहीं होता कि कब श्रमिकों को काम नहीं मिल पाता। सच तो यह है कि ऐसे भी दिन होंगे जब कि श्रमिकों के काम करने की इच्छा रहने पर भी वे काम नहीं कर सकेंगे, जैसे बीमारी, रद्दी मौसम, सामाजिक उत्सव, दुर्घटना आदि के वक्त। संक्षिप्त बनाने के लिए इन सब बातों को १९५६–५७ के दौरान 'अन्य' में शामिल कर दिया गया। बहरहाल बेकारी का असल माप तो है 'काम की कमी'। सब मिलाकर यह कह सकते हैं कि कृषि श्रमिक सिर्फ काम न मिलने की वजह से ही बेकार नहीं रहे, क्योंकि वे कुल ११३ दिन की बेकारी में से करीब ४८ दिन या ४२.४८ प्रति शत 'काम की कमी' के कारण बेकार रहे और शेष दिन 'अन्य' कारणों से। ●

पुस्तक समीक्षा :

ट्राइबल सुवेनीर*

खादी और ग्रामोद्योग कमीशन द्वारा गठित कमजोर वर्ग समिति ने सुझाव दिया है कि कमीशन के अन्तर्गत ही एक विशेष विभाग की स्थापना की जानी चाहिए जो कमजोर वर्गों के सदस्यों की समस्याओं पर ही अपना ध्यान पूर्णतः केन्द्रित करे। यह सर्वविदित है कि अनुसूचित क्षेत्रों और अनुसूचित जन-जातियों के सदस्य ही इस वर्ग का एक बड़ा भाग हैं। अतः खादी और ग्रामोद्योग कार्यक्रम से सम्बन्धित कार्यकर्त्ताओं के लिए आदिवासियों के जन-जीवन का परिचय प्राप्त करना अत्यावश्यक हो गया है। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन हमेशा ही कमजोरर वर्गों के सदस्यों के कल्याण कार्य में दिलचस्पी रखता आया है। कमीशन के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री वैकुण्ठ ल० मेहता ने इस संबंध में बहुत-कुछ लिखा है।

खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के वर्तमान अध्यक्ष श्री उछरंगराय न० ढेबर, जोकि भारतीय आदिमजाति सेवक संघ के भी कार्यकारी अध्यक्ष हैं, की अध्यक्षता में गठित परिगणित क्षेत्र और परिगणित जन-जाति आयोग की रिपोर्ट ने आम जनता को परिगणित क्षेत्रों और परिगणित जन-जातियों के सदस्यों की विशेष समस्याओं से परिचित कराने में बड़ी मदद की है। आदिमजाति सेवक संघ द्वारा प्रकाशित **ट्राइबल सुवेनीर** में आदिवासियों की आम समस्याओं का विहंगावलोकन प्रस्तुत है। इसमें उन व्यक्तियों द्वारा लिखे गये लेख शामिल हैं, जिन्होंने आदिवासियों की समस्याओं का विशेष अध्ययन किया है और उनके रहन-सहन में सुधार करने के लिए निश्चित योगदान दिया है। परिगणित क्षेत्र और परिगणित जन-जाति आयोग की सिफारिशों के सार का भी एक अंश प्रकाशित किया गया है। इस सन्दर्भ में कमीशन की दृष्टि में इन चार कार्यों पर जोर देने की आवश्यकता है : (अ) आर्थिक विकास, (आ) शिक्षा, (इ) स्वास्थ्य और (ई) संचार। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के कार्यकर्त्ता आर्थिक विकास के क्षेत्र में सार्थक योगदान दे सकते हैं और परोक्ष रूप में शिक्षा, स्वास्थ्य तथा संचार के क्षेत्र में भी।

आदिवासियों की समस्याओं को समझने में यह सुवेनीर सबके लिए लाभप्रद सिद्ध होगा।

***ट्राइबल सुवेनीर**, मानद सम्पादक-प्रेमचन्द आर्य, भारतीय आदिम जाति सेवक संघ, नई दिल्ली, १९६३ (?) पृष्ठ संख्या १९६, मूल्य १०.९० रुपये।

★

सम्पादक : सुभाष चन्द्र सरकार द्वारा खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय,' इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई–५६ से प्रकाशित तथा मुद्रित। मुद्रण-स्थल : एसोसिएटेड एडवर्टाइजर्स एण्ड प्रिण्टर्स, ५०५, तारदेव आर्थर रोड, बम्बई–३४।
वार्षिक शुल्क : २.९० रुपये; एक प्रति : २५ नये पैसे।

खादी ग्रामोद्योग

ग्रामीण जीवन, समाज और अर्थशास्त्र विषयक मासिक

नवम वर्ष · सितम्बर १९६३ · द्वादश अंक

सम्पादक : सुभाष चन्द्र सरकार। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के लिए सुभाष चन्द्र सरकार द्वारा मुद्रित और प्रकाशित।

ग्रामीण विकास तथा समाजार्थिक व्यवस्था पर लिखे लेखों को कमीशन की पत्रिकाओं में सहर्ष स्थान दिया जायेगा, बशर्ते कि वे ग्रामीण विकास के ध्येय से लिखे गये हों। फिर भी, प्रत्येक लेख के छापने का आश्वासन नहीं दिया जा सकता। लेखकों को किसी अंश में पुरस्कृत करने का भी प्रबन्ध किया जा सकता है। लेख, पुस्तकों की समीक्षा आदि सम्पादक, 'खादी ग्रामोद्योग', खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय,' इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई—५६ के पते पर भेजें। टेलिफोन नं. ८६७७३।

वार्षिक शुल्क : २.५० रुपये; एक प्रति : २५ नये पैसे। चन्दे की रकम इस पते पर भेजी जानी चाहिए : सहायक एकाउण्ट्स ऑफिसर (कैश), खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय', इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई—५६।

इस अंक के लेखक

उछरंगराय नवलशंकर ढेबर	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अध्यक्ष।
वैकुण्ठ लल्लूभाई मेहता	–खादी और ग्रामोद्योग मण्डल के सदस्य।
गोपीचन्द भार्गव	–खादी और ग्रामोद्योग मण्डल के सदस्य तथा पंजाब के वित्त मंत्री।
छोटे लाल शर्मा	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन में अखाद्य तेल और साबुन उद्योग के सहायक निर्देशक (मार्केटिंग)।
माखन लाल भट्ट	–वल्लभ विद्यानगर (गुजरात) स्थित कृषि-आर्थिक अनुसंधान केन्द्र में वरिष्ठ अनुसंधान सहायक।
त्र्यम्बकलाल भगवानदास भट्ट	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन में अनाज तथा दाल प्रशोधन उद्योग के निर्देशक।
गोविन्द बालकृष्ण देवडीकर	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की पूना स्थित केन्द्रीय मधुमक्खी अनुसंधान तथा प्रशिक्षण संस्था में मधुमक्खी-पालन के अवैतनिक वैज्ञानिक सलाहकार।
सरगुर मदभूषणम वीरराघवाचार	–मैसूर स्थित मैसूर विश्वविद्यालय के 'पोस्ट ग्रेज्युएट स्टडीज एण्ड रिसर्च इन इकनॉमिक्स' विभाग में अर्थशास्त्र के लेक्चरर।
गणेश लक्ष्मण चन्दावरकर	–सुप्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री और बम्बई स्थित राममोहन इंग्लिश स्कूल के आचार्य।
मकदूम मोहीउद्दीन	–आन्ध्र प्रदेश सरकार के हैदराबाद स्थित उद्योग उप-निर्देशक।
आँब्रे सिलास माटूक	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन में कुटीर दियासलाई उद्योग के निर्देशक।
अली मोहम्मद शाह	–श्रीनगर स्थित जम्मू और कश्मीर खादी और ग्रामोद्योग मण्डल के मधुमक्खी-पालन उद्योग संगठक।
सोमसुन्दरम सन्मुगम	–राजेन्द्रनगर (हिमायतसागर–आन्ध्र प्रदेश) स्थित उद्योग विस्तार अधिकारियों के लिए खादी-ग्रामोद्योग विद्यालय में लेक्चरर।

प्रन्यासिता का स्वरूप

उछरंगराय न. ढेबर

सम्पत्ति का विचार समय बीतते जाने के साथ-साथ तथा मानवीय चेतना बढ़ते जाने के साथ-साथ विकसित हुआ। परिस्थितियों ने मनुष्य को सम्पत्ति प्राप्त कर उसका उपभोग करने के अपने अधिकार में सीमाएँ स्वीकार करने को मजबूर किया। और, इस प्रकार ट्रस्टीशिप अर्थात् प्रन्यासिता के सिद्धान्त का उदय हुआ।

प्रन्यासिता शब्द एक व्यापक शब्द है। सर्व प्रथम यह केवल सम्पत्ति से सम्बन्धित है न कि मनुष्य से, जो कि इसका उपभोग करता है और सम्पत्ति के अलावा भी एक जीवन होता है, जिस पर हर कोई गंभीरता-पूर्वक ध्यान देता है। आखिर सम्पत्ति क्या है? इस विषय पर तब से विचार किया जा रहा है जब से कि मनुष्य के पास एक के बदले दो तीर, दो कमान और दो लंगोटियाँ हुई हैं। तब मनुष्य अपने विचारों को व्यक्त नहीं कर सकता था, जैसा कि आज हम कर सकते हैं; क्योंकि उस समय उसे अपने अधिकारों और कर्तव्यों का ज्ञान नहीं था। परन्तु जिस चीज को भी वह अपनी समझता था, सहज प्रवृत्ति से उसकी रक्षा करता था। तब सिर्फ सहज प्रवृत्ति ही काम करती थी। वह मनुष्य का अहम् प्रदर्शित करती थी। सम्पत्ति, वस्तु और स्वामित्व की सहज प्रवृत्ति ने उसमें यह भाव भरा कि जो कुछ उसके पास है, उसका ही है और उसे अपना समझने के लिए पर्याप्त औचित्य भी है। इस सम्बन्ध में जो झगड़े पैदा होते थे, वे बातों से नहीं, पत्थरों और तीरों से लड़े जाते थे। इस प्रकार सम्पत्ति, सम्पत्ति के स्वामित्व का विचार और सम्पत्ति का इस्तेमाल सदियों से चर्चा के विषय रहे हैं। यद्यपि मनुष्य ने चन्द दिशाओं में प्रगति की है और सम्पत्ति का स्वरूप भी बदला है, किन्तु वह पुराने तरीके से विचार करना नहीं छोड़ पाया है तथा सम्पत्ति के मामले में उसकी अहम् और स्वामित्व की भावना अभी भी अपना प्रभाव दिखाती है।

अतः सम्पत्ति के स्वरूप, स्वामित्व के स्वरूप और उसके एकमात्र उपयोग के स्वरूप का उचित विश्लेषण किया जाय तो यह पाया जायगा कि इस विचार का सम्पूर्ण मूल इस पर निर्भर करता है कि मनुष्य का चीजों के साथ सम्बन्ध कैसा है और मनोभाव कैसा है। यह मनोभाव सम्पूर्ण विश्व के मुकाबले स्वामित्व के अधिकार और उपयोग के अधिकार का औचित्य प्रदान करता है। समय बीतते जाने के साथ-साथ तर्कशास्त्र का विकास हुआ व साथ ही न्याय-दर्शन का और लोगों का भी—जिनका जीवन कानून पर आधारित है—विकास हुआ, जिसके परिणाम-स्वरूप मनुष्य सम्पत्ति प्राप्ति और उसके उपभोग के अधिकार से अपना सम्बन्ध तथा स्वामित्व और उपयोग के अपने दावे का औचित्य विस्तृत करने की दिशा में आगे बढ़ा है। इन सबको उसने धार्मिक मान्यताएँ प्रदान की हैं। तथापि, मनुष्य ने कभी भी मूल स्थिति का विश्लेषण करने का कष्ट नहीं किया कि जिस विचार को वह मूलतः स्वाभाविक समझता है, उसमें निहित मनोभाव सही है अथवा नहीं।

सम्पत्ति, स्वामित्व और उपभोग

बाद की सदियों में दो विषयों पर काफी विचार-विमर्श हुआ है: मनुष्य का वस्तु से सम्बन्ध और इस तरह के सम्बन्ध से पैदा होनेवाला अधिकार। परन्तु भाग्यवश मानव समाज के लिए विपरित दिशा में भी कुछ बातें अपना प्रभाव दिखा रही हैं तथा

बढ़ती जा रही हैं। बाह्य परिस्थितियों ने मनुष्य को वस्तुओं से अपने सम्बन्ध तथा उसके लिए औचित्य प्रदर्शन में सीमाएँ स्वीकार करने को मजबूर किया है। वस्तुओं को प्राप्त करने व उन्हें अपने अधिकार में रखने की सहज प्रवृत्ति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है, मनोभाव अभी भी वैसा ही है और इस विषय में औचित्य भी प्रदर्शित किये जाते हैं, परन्तु बाह्य परिस्थितियाँ लगातार उसे स्वामित्व और प्राप्ति के अपने दावे तथा उसके उपभोग के अधिकार, दोनों के सम्बन्ध में सीमाएँ स्वीकार करने को मजबूर करती जा रही हैं। इन दोनों प्रक्रियाओं को समझना आवश्यक है जो कि एक साथ ही विपरित दिशाओं में कार्य कर रही हैं। एक ओर तो प्रक्रिया मानवीय सहज प्रवृत्ति से वस्तुओं की प्राप्ति और उपभोग को बढ़ावा देती है और फिर उस दृष्टि से वैसे दावे और उपभोग के लिए औचित्य सिद्ध करने में मदद करती है और दूसरी ओर बाह्य परिस्थितियाँ उन अधिकारों और उपभोगों पर लगातार पाबन्दियाँ लगाती जा रही हैं।

विकृत दृष्टिकोण के उदाहरण

यदि हम सम्पत्ति के इतिहास को देखें, तो पायेंगे कि एक समय हमारी महिलाएँ चल सम्पत्ति समझी जाती थीं, जिन पर कि अन्य पदार्थों की तरह स्वामित्व प्राप्त किया जा सकता था। जो भी चीज स्वामित्व के लायक थी, स्वभावतः इच्छानुसार उसका उपभोग किया जा सकता था और महिलाएँ उपभोग की वस्तु समझी जाती थीं तथा उनका वैसे ही उपयोग किया जाता था। रोम के विधि-दर्शन और अंग्रेजी कानून के अन्तर्गत महिलाएँ सम्पत्ति की अधिकारिणी नहीं हो सकती थीं; क्योंकि वे स्वयम् ही सम्पत्ति समझी जाती थीं। ऐसा सदियों तक चलता रहा। हमारी विधि महिलाओं को चल सम्पत्ति नहीं मानती थीं, लेकिन पुरुषों की अर्धांगिनी मानती थी, इसलिए सम्पत्ति सम्बन्धी उनके अधिकारों पर भी सब ओर से रोक लगा दी गयी थी।

दासों के विषय में भी यही बात थी। उन पर उनका अधिकार समझा जाता था जो कि उन्हें युद्ध-स्थल में जीत लेते थे अथवा बाजार में खरीद लेते थे जैसे कि हम मवेशियों को खरीदते हैं। उनके विजेता और खरीदार का उन पर पूर्ण भौतिक अधिकार होता था और वे उन्हें नीलाम कर सकते थे। यदि हम आज से २,३०० वर्ष पूर्व के इतिहास पर दृष्टि डालें, तो पायेंगे कि बड़े-बड़े विजेता, सिकन्दर महान् भी, इसलिए बड़े नहीं माने जाते थे कि वे बड़े पवित्र अथवा न्यायी थे, बल्कि इसलिए कि वे बड़ी सेनाओं के सहयोग से दूसरों पर विजय प्राप्त करते थे और सहस्रों दासों पर कब्जा जमाते थे। उनके दासों की संख्या से देश में उनकी सामाजिक और राजनीतिक प्रतिष्ठा आंकी जाती थी। इन दासों को सम्पत्ति प्राप्त कर सकने का कोई अधिकार नहीं होता था; क्योंकि वे स्वयम् ही सम्पत्ति समझे जाते थे।

इसी प्रकार एक समय विजित देश विजेता की सम्पत्ति समझे जाते थे और वहाँ के लोग उसकी 'प्रजा'। 'प्रजा' शब्द ही शासक और शासित के सम्बन्ध का स्पष्टीकरण कर देता है।

आज बीसवीं सदी में कोई भी यह स्वीकार नहीं करेगा और न विश्वास ही करेगा कि महिलाओं को कभी चल सम्पत्ति समझा जाता था। मनुष्य के मस्तिष्क का विकास किसी वर्ग विशेष, समाज अथवा देश तक ही सीमित नहीं है। वह तो सर्व व्यापक प्रक्रिया है। इसी तरह का विकास विजेताओं और दासों तथा युद्ध में पराजित सैनिकों के सम्बन्ध के बीच हुआ है। अब वे दास नहीं बल्कि युद्ध-बन्दी समझे जाते हैं। इसी प्रकार, कोई भी विजित देश अब विजेता की निजी सम्पत्ति नहीं समझा जा सकता।

विधि और साम्या

ट्रस्टीशिप अर्थात् प्रन्यासिता योजना कोई नयी वस्तु नहीं है। इसका मूल विधि दर्शन में है। परन्तु तब यह बहुत अस्पष्ट था और इसके स्पष्ट होने में सदियों का

समय लग गया। यह तो 'साम्या' (Equity) नामक न्याय की शाखा के विकास के साथ प्रकाश में आया। साम्या 'न्याय' से अलग है और ये दोनों शाखाएँ—न्यायिक शाखा तथा साम्या शाखा—विधि की भिन्न शाखाएँ हैं। एक शाखा सम्बन्ध के प्रश्न का वैधानिक दृष्टि से निर्णय करती है और दूसरी समुचित जागरूकता और निष्पक्षता की दृष्टि से। ब्रिटेन में न्याय की इन दो शाखाओं के बीच—जो न्यायाधीश महज कानून की दृष्टि से न्याय करता है तथा जो पूर्ण जागरूकता और निष्पक्षता के आधार पर मामले का निर्णय करना पसन्द करता है उसके बीच—जो झगड़ा चलता रहता है, उसकी कथा बड़ी ही रोचक है। कभी-कभी तो इन दोनों शाखाओं के बीच मुक्त विवाद हुआ है। कभी-कभी तो न्यायाधीशों ने यह समझ कर कि जो मामला उनकी शाखा का होते हुए दूसरी शाखा में चला गया है उसे अपनी शाखा में लाने के लिए शारीरिक बल का भी प्रयोग किया है।

प्रन्यासिता सम्बन्धी मामला प्रशासन और 'साम्या' शाखा के अन्तर्गत आता है। यही मानवीय मान्यताएँ स्वामित्व और उपभोग के पूर्ण अधिकार के दावे पर हावी होने लगीं और 'साम्या' न्यायालयों ने अधिकारों के मनमाने संचालन पर सीमाएँ बांधना आरम्भ कर दिया। इस विचार के पीछे एक लम्बी कहानी है कि कानूनी रूप में सही अधिकार का भी प्रयोग समाज अथवा उसके अंग व्यक्ति को हानि पहुँचाते हुए नहीं कर सकते। अधिकार के सम्बन्ध में कोई शंका नहीं हो सकती है। परन्तु उसका उपयोग सामाजिक सीमाओं और विवेक तथा निष्पक्षता का ध्यान रखते हुए ही किया जा सकता है। इस प्रक्रिया को लागू होने में काफी समय लगा और इस बीच झगड़े तथा विवाद होते रहे और अनिश्चितता बनी रही। परन्तु धीरे-धीरे यह प्रक्रिया स्पष्ट होती गयी। जो अपने अधिकारों के पूर्ण व अविच्छिन्न होने में विश्वास रखते थे, वे भी यह स्वीकार करने लगे कि इन अधिकारों के साथ-साथ चन्द अनिवार्य शर्तें भी जुड़ी हुई हैं, और वे कानून के अन्तर्गत न होते हुए भी अनिवार्य कानून जैसी ही हैं। उन्होंने इन अनिवार्य शर्तों को लागू करने के लिए 'साम्या न्यायलय' के माध्यम को भी स्वीकार करना आरम्भ कर दिया। इसके फलस्वरूप ब्रिटेन में दो किस्म के न्यायालय हो गये : एक राजा का न्याय विभाग (किंग्स बेंच डिवीजन) हो गया, जिसका कार्य था विधि की वैधानिक व्यवस्थाओं को लागू करना और दूसरा चांसरी विभाग हो गया जिसका कार्य था सम्बद्ध मामले में साम्या से उत्पन्न होनेवाली अनिवार्य शर्तों को लागू करना।

तभी औद्योगिक क्रान्ति हुई। तब तक लोगों के पास सीमित परिमाण में सम्पत्ति थी; क्योंकि उत्पादन के साधन उन्नत नहीं थे। परन्तु औद्योगिक क्रांति के आगमन और उत्पादन तथा जलावन, शक्ति और यातायात के साधनों के विकास के साथ ही धन में भी वृद्धि होने के अवसर बढ़ने लगे। औद्योगिक क्रांति ने मनुष्य को अधिकाधिक प्राप्त करने की सहज प्रवृत्ति प्रदान की और उससे न सिर्फ बड़े-बड़े कोष-संग्रह बन गये, बल्कि बड़े-बड़े साम्राज्य भी बनने लगे। हर जगह मानव का शोषण होने लगा और संसार साधन-सम्पन्न तथा साधन-विहीनों में विभक्त हो गया। साधन-विहीन न सिर्फ सम्पत्ति से ही, बल्कि औद्योगिक क्रांति के पूर्व उनके पास जो थोड़ी-बहुत चीजों की प्राप्ति और स्वामित्व के अवसर थे उनसे भी वंचित हो गये।

न्यास विधियों का उद्गम

इससे क्रांतिकारी विचार और सिद्धान्त पैदा हुए, लोगों में असंतोष फैला और खून-खराबी हुई। तथापि, कुछ ऐसे भी लोग थे जो समाज की क्रमशः प्रगति का आग्रह रख कर आगे बढ़ते आये और सहज प्रवृत्तियों के आगे न झुकते हुए विकल्प संस्थाओं की खोज में लगे रहे, जो कि सम्पत्ति आदि के विचार में हस्तक्षेप न करते हुए भी इस बात की कोशिश करे कि संग्रह से समाज अथवा समाज के अंग व्यक्ति के हित को नुकसान न पहुँचे। इसी से प्रन्यासिता संस्था का जैसा कि पश्चिमी देशों में माना जाता है, विकास हुआ।

इस प्रकार पश्चिम के इस प्रन्यासिता विचार का अर्थ

यह है कि सर्व प्रथम सम्पत्ति होनी चाहिए। द्वितीय, सम्पत्ति का वैध स्वामी होना चाहिए, जिसे कि उसके उपयोग हेतु निर्णय लेने का अधिकार हो। वैधानिक रूप में उसे 'ऑथर ऑफ दि ट्रस्ट' अर्थात् न्यास प्रवर्त्तक कहते हैं। तृतीय, उसे इस प्रकार के उपयोग के उद्देश्य का निर्धारण और निश्चय करना होता है। ये सब न्याय के उद्देश्य हैं। चतुर्थ, उसे यह निर्णय करना होता है कि किसके लाभ के लिए उस सम्पत्ति का उपयोग किया जाय। जिनके लिए सम्पत्ति का उपयोग किया जाता है, उन्हें बेनिफिशियरीज अर्थात् हिताधिकारी कहते हैं। पंचम, वह ट्रस्टीज अर्थात् न्यासियों तथा उनके अधिकार, कर्तव्यों, सत्ता और कार्यों का भी निश्चय करता है। वैधानिक रूप से न्यास के अन्तर्गत जो बातें आती हैं, उन्हें मैं एक बार और दुहरा देता हूँ। सर्व प्रथम, सम्पत्ति का स्वरूप है। द्वितीय, सम्पत्ति का अधिकारी है जिसे उसके प्रबन्ध, स्वामित्व और उपभोग सम्बन्धी विशेषाधिकार हैं। तृतीय, न्यास के निश्चित उद्देश्य हैं। चतुर्थ, निश्चित हिताधिकारी भी हैं और पंचम, न्यासी और उनके अधिकार तथा कार्य हैं। ऐसे प्रत्येक मामले में राज्य का यह अधिकार माना जाता है कि वह न्यास को लागू करे और इस बात का भी ध्यान रखे कि न्यासी अपना कर्तव्य पूरा करते हैं तथा हिताधिकारियों के हित की पूर्णतः रक्षा होती है। न्यास विभिन्न किस्म के होते हैं—निजी न्यास और सार्वजनिक न्यास। उत्तरदायित्व भी भिन्न होते हैं—प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व, रचनात्मक उत्तरदायित्व और अपराध कानून के अन्तर्गत उत्तरदायित्व, जिसमें सजा भी शामिल है।

गांधीवादी उपागम

प्रन्यासिता के दीर्घ-कालीन इतिहास में जाने का मेरा उद्देश्य यह स्पष्ट करना है कि किस प्रकार वैधानिक प्रन्यासिता का स्वरूप गांधीजी द्वारा प्रतिपादित प्रन्यासिता के स्वरूप से भिन्न है। गांधी ने जब कभी भी प्रन्यासिता के उद्देश्य के बारे में कोई बात कही तो उन्होंने सीमित दृष्टिकोण नहीं रखा। उन्होंने इस बात को कभी स्वीकार नहीं किया कि सम्पत्ति का स्वामित्व समाज को छोड़ कर किसी व्यक्ति को सौंप दिया जाय। उनका विश्वास था कि सब सम्पत्ति भगवान की है और उसकी दृष्टि में जो कार्य उचित है, उसी में सम्पत्ति का उपयोग करना भगवान की सेवा करना है। प्रन्यासिता सम्बन्धी उनका विचार अधिक बुनियादी महत्व रखता है। वे मानवीय सुख और मानवीय विकास की वृद्धि में सम्पत्ति को महज प्रासंगिक मानते थे। उनके अनुसार सम्पत्ति तो इस उद्देश्य की पूर्ति करने के लिए है। सम्पत्ति मानवीय सुख को बढ़ाने तथा उसका प्रबन्ध करनेवालों को आध्यात्मिक रूप में उन्नत करने के लिए है। प्रन्यासिता के स्वरूप का मूल दृष्टिकोण, जोकि सम्पत्ति कानून का ही एक अंग है, चन्द सामाजिक नियमों के अनुरूप सम्पत्ति का उसके स्वामी के लाभार्थ महज उपयोग सुनिश्चित करना है। हमारे विचार-विमर्श का अभिप्राय कहीं व्यापक है और वह इस संकीर्ण वैधानिक स्वरूप से अधिक बुनियादी है।

कभी-कभी यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि स्वामित्व और सम्पत्ति का किसी दल अथवा समाज को स्थानांतरण मोटे तौर पर प्रन्यासिता के समान होगा। इसके उत्तर में मैं आदिवासी समुदाय में सम्पत्ति के स्वरूप का जिक्र करूँगा। उस समाज में व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं होती, पर दल का—सम्पूर्ण आदिवासी समाज का—स्वामित्व होता है और सम्पत्ति का उपयोग भी सम्पूर्ण आदिवासी समाज की इच्छा के अनुसार किया जाता है। इसके परिणाम क्या हुए हैं? परिणाम यह निकला है कि कभी-कभी आदिवासी समाज के नेताओं ने आदिवासी दल का शोषण भी किया है। इससे भी भयंकर परिणाम निकले हैं। इसका सामाजिक प्रभाव यह पड़ा है कि आदिवासी दल का आकार-विस्तार सीमित रहा है, ताकि जहाँ तक सम्भव हो कम से कम लोगों द्वारा सम्पत्ति का उपयोग किया जाय। स्वामित्व की सहज प्रवृत्ति ने आदिवासियों पर अपना असर डाला है और रक्त की विशुद्धता बनाये रखने के लिए सदस्यों की संख्या पर प्रतिबन्ध रखने की दिशा में प्रगति

की है। इसके फलस्वरूप सामाजिक जीव्यता ही सीमित हुई है। साम्यवादी राज्य में, जो कि अलग से पहचाना जानेवाला समाज है, सम्पत्ति के स्वामित्व के सम्बन्ध में साम्यवादी विचार के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। पूंजीवाद की अपेक्षा साम्यवाद अधिक परिपक्व विचार है। यह सम्पत्ति पर समाज के अधिकार में विश्वास करता है, परन्तु उसके कार्यान्वय में इसने मनुष्य को निजी स्वतंत्रता, सम्मान और रचनात्मक विकास से विमुख किया है। लिप्सा के दोषों के कारण साम्यवाद का महत्व कम हो जाता है।

गांधीवादी विचार

सम्पत्ति सम्बन्धी गांधीवादी विचार इस बात पर जोर देता है कि सम्पत्ति तो प्रासंगिक है और मनुष्य जीवन का सही उद्देश्य है, सीमित करनेवाली बातों से मुक्ति पाना, जो मनुष्य को केवल भौतिक विचारों में बाँध रखती हैं। यह विचार इस बात पर जोर देता है कि मनुष्य सम्पत्ति से गौण नहीं है और न ही उसके और सम्पत्ति के बीच कोई सम्बन्ध है, सिवाय इसके कि यदि उसे कोई सम्पत्ति मिलती है तो वह उसका उपयोग एक न्यासी के नाते उसी काम में करेगा, जिसके लिए वह है। इस विचार से एक नया ही दर्शन प्रवाहित होता है जो कि अभी की विधि पद्धति के लिए बिल्कुल नया है। अभी तक हम इस दर्शन अथवा विचार के परिणाम का अन्दाज नहीं लगा पाये हैं।

यह सही है कि पश्चिम में इस विचार को मूर्त रूप दिये जाने की कोशिश की जाती है। तथापि, यह बहुत संदिग्ध है कि पश्चिम में जिन संस्थाओं अथवा दलों ने प्रन्यासिता के इस सम्बन्ध को अपनाया है, उनमें से सभी ने इसी भाव से अपनाया है अथवा नहीं।

अतः इस विचार की विशिष्ट बातों पर जोर देना आवश्यक हो जाता है। इस विचार के अनुसार (१) मनुष्य के जीने का असल उद्देश्य धन नहीं है और न ही चन्द सामाजिक जिम्मेदारियाँ निभाना है, बल्कि मनुष्य को आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक और भौतिक रूप में उन्नत करना है; (२) इस सन्दर्भ में सम्पत्ति का अपना स्थान है, परन्तु अधिकार या उपभोग के स्वामित्व से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है; तथा (३) जिस कार्य के लिए सम्पत्ति है तथा जिस रूप में उसका उपयोग अथवा उपभोग किया जाना चाहिए, उसका निर्धारण किसी विश्वास अथवा स्वामित्व की अन्तःप्रेरणा से अभिभूत होकर नहीं किया जाना चाहिए, बल्कि सम्पत्ति के उपयोग का सम्बन्ध मानव सुख-समृद्धि और व्यक्ति के विकास से होना चाहिए।

इस संदर्भ में महत्वपूर्ण है मनुष्य-मनुष्य का आध्यात्मिक विकास और सम्पत्ति का मनुष्य के सुख के लिए उपयोग। इस योजना में धूल की भी उतनी ही कीमत है जितनी सोने की। तथापि, दोनों का उपयोग उनके बाजार भाव से नहीं निर्धारित किया जाता, बल्कि मानव सुख-सन्तोष और व्यक्ति के विकास में उनके योगदान से निर्धारित किया जाता है।

हम अब भी 'प्रन्यासिता' शब्द का प्रयोग करते हैं, पर गांधीवादी दृष्टि से। हमारा उद्देश्य है इस दर्शन को समझी जानेवाली भाषा में व्यक्त करना। प्रन्यासिता के पूर्ण विचार को विधि अथवा साम्या के अनुसार समझना, गांधीवादी दृष्टिकोण से प्रन्यासिता का जो अर्थ है उसे सीमित करना होगा।

मानवीय सुख और मानवीय विकास का क्या अर्थ है? मानवीय सुख तो स्पष्ट है। इसमें सम्पत्ति के जरिये भोजन, वस्त्र, शिक्षा, आवास और स्वास्थ्य सेवाएँ प्रदान करना शामिल हैं। लेकिन व्यक्तिगत मानवीय विकास क्या है? गांधीजी ने इसका सार बताते हुए कहा था कि उनके लिए अहिंसा के जरिये सत्य की खोज करने से बढ़ कर कुछ भी नहीं है, स्वराज भी नहीं। सत्य क्या है? उदाहरण के लिए भारत का विभाजन लें। जिन्होंने भारत का विभाजन स्वीकार किया, उन्हें उसी प्रकार अपने प्रति असत्य नहीं कहा जा सकता जैसा कि जिन्होंने विभाजन का विरोध किया उन्हें यह नहीं कहा जा सकता

कि उनमें विश्वास की कमी थी अथवा वे सच्चे नहीं थे। दोनों ने अपनी दृष्टि से सत्य का अनुसरण किया। परन्तु सत्य इससे बढ़ कर कुछ और है। अपना हर विचार सही अर्थ में सत्य नहीं समझा जा सकता। सत्य, सत्य है बशर्ते कि वह निर्लिप्त विचार से पैदा हो। स्वयम् अनुशासन के लिए गांधीजी जो जोर देते थे, उसका इससे स्पष्टीकरण होता है।

अहिंसा क्या है ? अभी हम विकास के जिस स्तर पर हैं, उस पर इसे पूरा-पूरा समझना बड़ा मुश्किल है। गांधीजी के विचारों के पूर्व अहिंसा को सिर्फ 'हत्या नहीं करना' ही माना जाता था। अहिंसा दर्शन में गांधीजी ने अपने ही विचार डाले और इसे सक्रिय प्रेम बताया। परन्तु सक्रिय प्रेम क्या है ? यह सब हम लोगों के लिए अस्पष्ट कथन है और सम्पत्ति तो हम लोगों के लिए अधिक अनुभवगम्य है। सम्पत्ति को प्रन्यासिता की दृष्टि से, जिसकी मैंने ऊपर व्याख्या की है, देखते हुए मैं भयातुर होता हूँ; क्योंकि इसकी मूल शर्तों को कार्यान्वित करना बड़ा कठिन है। सक्रिय प्रेम है, अपने आप को पहचानना। अहिंसा सभी मतभेदों का अन्त है। जब तक मनुष्य के मस्तिष्क में सम्पत्ति के स्वामित्व और उपभोग के सम्बन्ध में मतभेद रहता है, वह अहिंसात्मक नहीं हो सकता। इस अवस्था को तभी प्राप्त किया जा सकता है, जबकि वह त्याग की चरम सीमा पर पहुँच जाय। आध्यात्मिक भाषा में अहिंसा मानवीय स्तर पर सभी मतभेदों का अन्त है और उसमें मनुष्य के दोहरे रूप की सम्पूर्ण समाप्ति शामिल है। जब तक हम यह महसूस करते हैं कि अलग-अलग अस्तित्व है, एक हम हैं और दूसरा कोई और अर्थात् मनुष्य-मनुष्य में भेद है, तब तक हम दूसरों के हित के साथ अपने हित को परिपूर्ण रूप से नहीं पहचान सकते। इस दोहरे भाव को कैसे दूर किया जाय ? हम माँ और बच्चे का उदाहरण लें। माँ–बच्चे का सम्बन्ध सक्रिय प्रेम का–अहिंसा विधि के कार्यान्वय का–आदर्श नमूना है। ऐसा इसलिए है कि माँ और बच्चा दोनों ही यह महसूस करते हैं कि वे दोनों एक-दूसरे के लिए हैं। माँ सिर्फ यही महसूस नहीं करती कि बच्चा उसका है, बल्कि यह भी महसूस करती है कि वह सम्पूर्णतः बच्चे की है। तथापि, बच्चे के कुछ वर्ष का हो जाने के बाद उस सम्बन्ध में परिवर्तन होने लगता है, लेकिन अदृश्य रूप में, और वह तब तक होता रहता जब तक कि वह युवा नहीं हो जाता। जैसे बच्चा बढ़ता है, अदृश्य स्वभाव स्पष्ट होने लगता है। और, एक विचार तब दोहरा रूप धारण करने लगता है; क्योंकि सजग रूप से उसका समर्थन नहीं किया गया था। दोनों के मस्तिष्क अहम् से सम्बन्धित विशिष्ट बातों से प्रभावित थे। तथापि, माँ को सच्चा आनन्द हो सकता है यदि वह अहम् भाव से ऊपर उठ जाय, बच्चे से अलग अपना व्यक्तित्व भूल जाय और बच्चे के सर्वोत्तम हित में कार्य करे।

अतः अहिंसा की सम्पूर्ण प्रक्रिया अहम् भाव पर आधारित मानवीय सम्बन्ध में परिवर्तन करने का एक पक्षीय प्रयास है। अहिंसा में विश्वास रखनेवालों के सामने सबसे कठिन समस्या अपना मस्तिष्क उस विचार-धारा के गर्त से विमुक्त करने की है, जो प्रत्येक समस्या को इस अहम् भाव से देखती है। मानव-मानव के बीच का बाह्य सम्बन्ध तभी बदल सकता है, जबकि यह अहम् भाव समाप्त कर दिया जाय। अहिंसा और सक्रिय प्रेम के आधार के समान प्रन्यासिता का आधार अहम् भाव का–जो मानव और समाज के मध्य भेद खड़ा करके प्रवृत्तियों को उकसाता है–लोप है। मैं यह कह सकता हूँ कि प्रन्यासिता के दर्शन व अहिंसा के दर्शन की भी यही आधार शिला है।

बम्बई : १७ अगस्त १९६३

ग्रामीण औद्योगीकरण

वैकुण्ठ ल० मेहता

योजना आयोग की ग्रामीण उद्योग आयोजन समिति द्वारा हाल ही में नयी दिल्ली में आयोजित सम्मेलन में भाषण करते हुए प्रधान मंत्री ने छोटे और बड़े उद्योगों के बीच संघर्ष पैदा न होने देने का आग्रह किया। इसके लिए आवश्यक है कि नीतियां स्पष्ट हों तथा भारत सरकार लाइसेंस देने व औद्योगिक नीति प्रशासन सम्बन्धी अपने अन्य अधिकारियों को स्पष्ट निर्देश दे।

नयी दिल्ली में जुलाई के अन्तिम सप्ताह में ग्रामीण उद्योग आयोजन समिति द्वारा आयोजित सम्मेलन में हुए विचार-विमर्श से ग्रामीण औद्योगीकरण अभी विशेष चर्चा का विषय बना हुआ है। इस समिति का गठन लगभग डेढ़ वर्ष पूर्व योजना आयोग ने श्री जयप्रकाश नारायण द्वारा प्रस्तावित ग्रामीण औद्योगीकरण आयोग की स्थापना के प्रत्युत्तर स्वरूप किया था। समिति ने देश के ४६ क्षेत्रों में कई सघन विकास परियोजनाएँ आरम्भ की हैं। केन्द्रीय रूप से कार्यक्रम ग्रामीण उद्योग आयोजन समिति की स्थायी समिति के हाथ में है। हर राज्य के लिए एक राज्य स्तरीय सलाहकार समिति की स्थापना की गयी है, जिसके अध्यक्ष राज्य के मुख्य मंत्री अथवा विभागीय मंत्री हैं। इसी प्रकार हर परियोजना के कार्य में एक सलाहकार समिति मदद करती है। परियोजना अधिकारी इसके सचिव और संयोजक हैं। परियोजना क्षेत्रों के प्रत्येक क्षेत्र में चार खंड आते हैं। स्थायी समिति के निर्देशानुसार कई केन्द्रों की परिस्थितियों और आवश्यकताओं का सर्वेक्षण किया गया। इन सर्वेक्षणों के आधार पर परियोजनाएँ बनायी जा रही हैं।

व्यवस्था से असंतुष्टि

सम्मेलन के समक्ष कार्य का पूर्ण विवरण प्रस्तुत किया गया। तथापि, सम्मेलन ने मुख्य रूप से व्यापक नीति सम्बन्धी विषयों पर ही ध्यान दिया। इनमें से एक प्रशासनिक और वित्तीय कार्य-प्रणाली से सम्बन्धित था—ऐसी कार्य-प्रणाली बनानी है, जिससे व्यवस्था सुचारु रूप से चले। सम्मेलन को प्रस्तुत एक टिप्पणी में श्री जयप्रकाश नारायण ने प्रचलित यानी मौजूदा व्यवस्था पर कुछ असंतोष प्रकट किया। योजना आयोग कार्यक्रम के लिए जो निधि निर्धारित करता है, वह राज्य सरकारों को दे दी जाती है और वह राज्यीय वित्त का अंग बन जाती है। उसे राज्य सरकार के बजट के अन्य मदों की तरह ही खर्च किया जाता है। चूंकि परियोजना समिति एक तदर्थ समिति है, परियोजना अधिकारी निधि वितरण का कार्य अन्य सरकारी अधिकारियों की तरह ही करता है। इससे देर होती है और समय-समय पर योजना में परिवर्तन करना होता है।

एक ऐसा सरल तरीका निकालना चाहिए जिसके अन्तर्गत राज्य स्तरीय समिति का सचिव—सामान्यतया जोकि उद्योग निर्देशक अथवा संयुक्त उद्योग निर्देशक होता है—परियोजना समिति की सिफारिश पर राज्य स्तरीय समिति द्वारा स्वीकृत कार्यक्रम के अनुसार निधि वितरण की आज्ञा दे सके। यदि परियोजना समिति को सरकारी समिति अधिनियम के अन्तर्गत पंजीकृत उद्योग विकास समिति में बदल दिया जाय, तो इस वैध समिति को राज्य स्तरीय समिति की सिफारिश पर और कार्यक्रम के विशेष मदों के लिए स्वयं स्थायी समिति द्वारा ही ऋण और अनुदान देने की व्यवस्था करना सम्भव हो सकता है। इससे ग्रामीण उद्योग आयोजन समिति और परियोजनाओं को कार्यान्वित करनेवाले कार्यवाहक अधिकारियों के बीच और निकट सम्बंध सुनिश्चित हो जायेंगे।

आशानुसार सम्मेलन में उत्पादन की तकनीकों पर भी विचार हुआ। उदाहरण स्वरूप, उद्घाटन भाषण

में प्रधान मंत्री ने ग्राम विकास, विशेषतः उद्योगों के विकास के लिए, के किसी भी कार्यक्रम में ग्रामीण विद्युतीकरण का महत्व बताया। तथापि, ग्रामीण औद्योगीकरण कार्यक्रम आवश्यक नहीं कि विद्युतीकरण से सम्बद्ध हो। ग्रामीण विद्युतीकरण के किसी भी कार्यक्रम में बहरहाल उठाव (लिफ्ट) सिंचाई के लिए विद्युत शक्ति की पूर्ति को सर्वाधिक प्राथमिकता दी जानी चाहिए। उसके बाद नये अर्वाचीन लघु उद्योगों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। उपलब्ध स्थानीय कच्चे माल का उपयोग करनेवाले ऐसे लघु उद्योगों के विकास को बढ़ावा देने के लिए ही ये ग्रामीण उद्योग परियोजनाएँ मुख्यतः बनायी गयी हैं, जो कि स्थानीय कच्चे माल अथवा बाहर से प्राप्त चीजों से अर्वाचीन उपभोग्य वस्तुओं का निर्माण कर उनकी पूर्ति कर सकें। इन दोनों ही दिशाओं में आवश्यकता पूर्ति होने पर ही विद्युत शक्ति परम्परागत उद्योगों को उपलब्ध की जानी चाहिए।

इस तरह की प्राथमिकता का कारण यह है कि ग्रामीण औद्योगीकरण कार्यक्रम स्थानीय औद्योगिक उत्पादन में वैविध्य लाने तथा परम्परागत उद्योगों के अलावा अन्य गैर खेतिहर उद्योगों में रोजगारी के अवसर प्रदान करने के लिए है। परम्परागत उद्योगों में तो बहुत संख्या में लोगों को रोजगारी मिल ही रही है। यह ग्रामीण औद्योगीकरण का उपहास ही होगा, यदि इसके फलस्वरूप अभी काम में लगे लोग बड़ी संख्या में बेकार हो जाते हैं, जैसा कि होने की सम्भावना है। उदाहरणस्वरूप हाथ करघों की जगह शक्ति-चालित करघे स्थापित करने से। बहरहाल, यह प्रश्न उठाना लाभरहित है, क्योंकि तृतीय योजना के अंत तक ऐसा नहीं लगता कि एक प्रति शत से अधिक गांवों में बिजली पहुँचेगी।

इससे अधिक महत्वपूर्ण है सम्मेलन में प्रा. धनंजयराव गाडगिल द्वारा प्रस्तुत लेख में उठाया गया सामान्य नीति विषयक प्रश्न। अपने भाषण में प्रधान मंत्री ने कहा कि छोटे और बड़े उद्योगों के बीच संघर्ष नहीं होने देना चाहिए। उन क्षेत्रों में भारी उद्योगों को नहीं फैलने देना चाहिए जहाँ कि रोजगारी में वृद्धि और विस्तार के हित में लघु स्तरीय ग्रामीण उद्योगों को तरजीह देनी चाहिए। तथापि प्रा. गाडगिल का अधिनिबन्ध यह था कि संघर्ष तो है ही और स्पष्ट निर्देशों के अभाव में विकेन्द्रित औद्योगिक उत्पादन के दावे उपेक्षित रह जाते हैं। प्रा. गाडगिल ने बताया कि ग्रामीण औद्योगीकरण के लिए महत्वपूर्ण आधार है ग्रामीण क्षेत्रों में उपलब्ध कच्चा माल। यदि बड़े उद्योग अपने असीम साधनों के बल पर इन्हें खरीदने में सफल हो जाते हैं, तो ग्रामीण औद्योगीकरण प्रायः असम्भव हो जायगा। कई क्षेत्रों में ऐसा हो रहा है, बिना इसका ध्यान रखे कि नयी स्थानीय उत्पादन इकाइयों पर अन्ततः इसका क्या प्रभाव पड़ेगा। जैसी कि प्रा. गाडगिल की आपत्ति है कि तकनालाजिस्ट और वित्तीय विशेषज्ञ तथा प्रायः सार्वजनिक कार्यकर्त्ता और प्रचारक भी उन्हीं इकाइयों के विषय में विचार करते हैं, जिनकी तकनीक बहुत उन्नत हो और जो कि बड़े से बड़े पैमाने पर हो सकती हैं। भारत में औद्योगिक दृष्टि से बहुत ही उन्नत देशों में भिन्न सामाजिक और आर्थिक अवस्थाओं में खोज निकाली गयी तकनीकों को बिना अच्छी तरह सोचे-समझे स्वीकार करना तथा अपनाना प्रशासनिक और वित्तीय दोनों ही क्षेत्रों में बड़ा गम्भीर खतरा मोल लेना हो सकता है। प्रा. गाडगिल ने सुझाव दिया कि लाइसेंस देनेवालों तथा औद्योगिक नीति सम्बन्धी अन्य पहलुओं के कार्यवाहकों को स्पष्ट निर्देश दिये जायं तो विकल्प खोजे जा सकते हैं।

उन्नत औद्योगिक देशों के अनुरूप कार्य-क्षमता और पूंजी विनियोजन की सघनता के आकार के संस्थान खड़े करने से औद्योगिक विकास और शहरी केन्द्रीकरण का वह ढाँचा प्रस्तुत हो जायगा, जिससे कि योजना अधिकारी बचना चाहते हैं। तथापि, अभी जो औद्योगिक रुख है, वह भी उच्चतम शहरीकृत पूंजी-प्रधान आधुनिक उद्योग और उद्योग रहित गरीब गांव की ओर ले जायगा। जब तक भारत सरकार सामान्य नीति की स्पष्ट घोषणा नहीं करती, नीति के अनुसार विशिष्ट निर्देश नहीं दिये जाते, हम ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में वैविध्य लाने में असफल रहेंगे और राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के महत्वपूर्ण अंग की गतिहीनता दूर करने की सम्भावना और भी पीछे पड़ जायगी।

पूना : ६ अगस्त १९६३

पंजाब में ग्रामोद्योगों की प्रगति

गोपीचन्द भार्गव

खादी तथा ग्रामोद्योगों के क्षेत्र में पंजाब ने काफी अच्छी प्रगति की है, खास कर १९५७ में राज्य खादी और ग्रामोद्योग मण्डल की स्थापना के बाद। चीनी आक्रमण के फलस्वरूप उत्पन्न चुनौती का सामना करने के लिए भी राज्य ने बड़ा उत्साहपूर्ण प्रत्युत्तर दिया और १९६२-६३ के दरमियान ५७,९०० फौजी कम्बलों की पूर्ति की। सेना के लिए रसद की पूर्ति करने में वर्तमान वर्ष के दौरान यह राज्य और भी अधिक लक्ष्यांकों की प्राप्ति करने की अपेक्षा करता है।

खादी और ग्रामोद्योगों का पंजाब की अर्थ-व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण स्थान है। पंजाब में कृषि तथा ग्रामोद्योग युग-युगान्तर से जीवन रूपी गाड़ी के दो पहिये रहे हैं। यहाँ तक कि अपने वैभवकाल में पंजाब कपड़े और लघु उद्योगी माल के मामले में अफगानिस्तान तथा इरान जैसे देशों के लिए प्रमुख निर्यातक प्रदेश था। किन्तु पंजाब में भी अंग्रेजी शासन के आगमन द्वारा अख्तियार किये गये स्वार्थपूर्ण एवम् दमनकारी हथकण्डों के कारण इन उद्योगों के शीघ्र पतन का काल प्रारम्भ हुआ। वस्त्र निर्माण, कपास ओटाई, तेल पेराई, आटा पिसाई, धान कुटाई आदि के लिए मिलों की स्थापना होने से स्थिति और भी खराब हो गयी। ये सब काम मशीनों के आगमन से पूर्व स्थानीय रूप से निर्मित सीधे-सादे उपकरणों की सहायता से हाथ द्वारा होते थे तथा इस प्रकार अत्यधिक जरूरतमन्द लोगों को रोजगारी मिलती थी। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि पंजाब में आजादी की लड़ाई और ग्रामोद्योगों का पुनरुद्धार करने का कार्यक्रम साथ-साथ चला।

आज दो हजार संस्थाएं

स्वाधीनता प्राप्ति से पूर्व खादी-ग्रामोद्योग कार्यक्रम में सरकारी प्रोत्साहन का अभाव रहा। राष्ट्रीय सरकार ने इन उद्योगों का कार्यक्रम कार्यान्वित करनेवाले संगठनों की, उनके सीमित साधन-स्रोत तथा क्षमता को देखते हुए, सहायता करने की बात सोची। सन् १९५६ में खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की स्थापना हुई जिसने अप्रैल १९५७ में १९५३ में स्थापित खादी और ग्रामोद्योग मण्डल का कार्यभार सम्भाला। आज समूचे देश में कमीशन के विभागीय कार्यालय हैं। कमीशन के प्रयत्नों में सहायक होने के लिए प्रायः सभी राज्यों में—पंजाब सहित—खादी—और ग्रामोद्योग मण्डल निर्मित किये जा चुके हैं। समग्र भारत में करीब २,००० संस्थाएँ खादी उत्पादन और बिक्री कार्य में लगी हैं। ग्रामोद्योगों का सहकारीकरण भी साथ-साथ चल रहा है।

प्रचार-प्रसार और ग्रामीणों के लिए प्राविधिक व वित्तीय सहायता का प्रावधान रखते हुए ग्रामोद्योगों का संगठन करने व उनके विकास को और अधिक बढ़ावा देने की दृष्टि से पंजाब में १९५७ में खादी और ग्रामोद्योग मण्डल की स्थापना हुई। कोई ४३७ सहकारी समितियों को प्राविधिक और आर्थिक सहायता दी गयी है तथा राज्य मण्डल के प्राविधिक कर्मचारी उनकी देख-रेख करते हैं। सन् १९५८ से मार्च १९६३ के अन्त तक उपकरण, सरंजाम आदि खरीदने और भवन-निर्माण के लिए राज्य मण्डल ने २९,४२,१४६ रुपये अनुदान तथा ५०,३४,५५५ रुपये ऋण स्वरूप स्वीकृत किये। ऋण उपकरण व सरंजाम खरीदने, कच्चा माल भाण्डारित करने, हिस्सा पूंजी, संचालन पूंजी आदि के लिए दिया जाता है। अनुदान तथा ऋण से ग्रामीणों को सहकारी समितियाँ गठित करने और उन्नत साधन-सरंजाम के साथ परम्परागत उद्योग प्रारंभ करने में सहायता मिली है।

अधिक रोजगारी

सभी ग्रामोद्योग रोजगारी प्रधान हैं और कामगार उन्हें अपने घर पर चला सकते हैं। उपकरण तथा सरंजाम

पर विनियोजन भी बहुत कम होता है। अतएव थोड़े विनियोजन से अधिक रोजगारी का निर्माण किया जा सकता है। अतएव वर्ष में करीब १५० दिन बिना किसी काम के रहनेवाले हमारे कृषकों के अतिरिक्त श्रम को इन उद्योगों में लगाया जा सकता है। यदि इन व्यक्तियों में से प्रति व्यक्ति औसत २५ नये पैसे भी रोजाना कमाये तो हमारे जैसे देश में जहाँ की ७५ प्रति शत जनता कृषि कार्य में लगी है, राष्ट्रीय आमदनी में प्राप्त होनेवाला योगदान कोई मामूली नहीं होगा। मण्डल के कार्यक्षेत्र में आनेवाले ग्रामोद्योगों और खादी के क्षेत्र में पिछले पाँच वर्ष की अवधि में राज्य में जो प्रगति हुई है उससे इस बात का औचित्य सिद्ध होता है कि उन्हें और अधिक प्रोत्साहन दिया जाय। प्रगति उत्साहप्रद रही है। प्रस्तुत तालिका से पता चलेगा कि गत पाँच वर्ष में हाथ धान कुटाई, ग्रामीण तेल और ग्रामीण कुम्हारी उद्योग के उत्पादन में पाँच गुनी वृद्धि हुई है।

ताड़ गुड़ उद्योग राज्य में नया-नया है, लेकिन उसके बड़े उत्साहप्रद फल प्राप्त हुए हैं। सन् १९५८-५९ में मात्र ९,१६७ रुपये का उत्पादन हुआ था, लेकिन १९६२-६३ के दौरान वही ७७,१५१ रुपये तक पहुँच गया। इस उद्योग के विकास की तो और भी बहुत गुंजाइश है, क्योंकि छेदन योग्य चार लाख खजूर के पेड़ों में से केवल १४,००० का ही नीरा के लिए छेदन हुआ। खजूर ताड़ की पत्तियों व रेशों से टोकरियाँ, झाड़ू, ब्रुश आदि भी बनते हैं।

रेशा उद्योग पंजाब में बहुत लोकप्रिय बन गया है। इसका उत्पादन १९५९-६० में १०,२६२ रुपये का था जो १९६२-६३ में बढ़ कर १३,१६,२०३ रुपये का हो गया। इस उद्योग को और अधिक लोकप्रिय बनाने के लिए खण्ड विकास अधिकारियों, पंचायतों तथा खादी संस्थाओं के जरिये कारीगरों को रस्सी बनाने की एक जापानी ढंग की मशीन रियायती कीमत पर दी जाती

पंजाब में ग्रामोद्योगों का उत्पादन: १९५८–५९ से १९६२–६३ तक

उद्योग	१९५८-५९	१९५९-६०	१९६०-६१	१९६१-६२	१९६२-६३
हाथ धान कुटाई (मन में)	९,०००	२२,०००	२३,१००	२७,८०८ (क्विण्टल)	३४,७०८ (क्विण्टल)
ग्रामीण तेल (मन में)	९,४००	१२,०००	१९,४८५	२९,४९० (तेल) ५९,९७८ (खली)	५४,४४,०९६ (रु. का तेल व खली)
अखाद्य तेल और साबुन (पौण्ड में)	६,३०,०००	७,८५,०००	८,५५,६३१	४,७५,३९४ (क्विण्टल)	८,२२,३५६ (क्विण्टल)
ताड़-गुड़ (रुपये में)	९,१६७	२४,६०८	४०,४००	५७,०८०	७७,१६१
ग्रामीण कुम्हारी (रुपये में)	४०,३००	६४,५००	१,१३,४८२	१,५१,३९०	१,९७,५७७
गुड़-खाण्डसारी (टन में)	३,१००	३,७९१	४,३९४	६,३९२	४९,२७७ (मन)
हाथ कागज (रुपये में)	४०,०००	४१,४००	५१,७५०	७८,१८२	८५,५०९
रेशा (रुपये में)	——	१०,२६२	२,०६,२४८	११,१४,१५१	१३,१६,२०३
चर्म (रुपये में)	४,२६,०००	३,५१,०००	३,९५,४४२	५,२७,५४०	३,२३,३९८

है। इस मशीन की रियायती कीमत ७० रुपये है। यह एक छोटी-सी मशीन है और महिलाएँ तथा बच्चे तक भी इसे चला सकते हैं। आठ घण्टे काम करके एक कामगार दो से तीन रुपये तक प्रति दिन कमा सकता है।

पंजाब में खादी उत्पादन तथा बिक्री कार्य खादी और ग्रामोद्योग कमीशन द्वारा सहायित १३ पंजीकृत संस्थाओं के जरिये चलाया जाता है। ये संस्थाएँ राज्य भर के सूतकारों से सूत खरीदती हैं, उसे बुनवाती और रंगवाती हैं तथा शहरों व कस्बों में खादी की बिक्री करती हैं एवम् इस प्रकार वे कमीशन का कार्यक्रम कार्यान्वित करने का महत्वपूर्ण साधन बन गयी हैं। पिछले चार वर्ष की अवधि में राज्य में खादी के उत्पादन और विक्रय में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। खादी का उत्पादन १९५९-६० में ६७,९०,२४० रुपये का था जो १९६२-६३ में इतना बढ़ा कि २,६२,०२,६२७ रुपये तक पहुँच गया। इन संस्थाओं के जरिये १,४०,९६१ कारीगरों और २,१६९ वेतन भोगी कर्मचारियों को काम मिला। अन्य ११,००० व्यक्तियों को दूसरे ग्रामोद्योगों में काम मिला।

खादी व ग्रामोद्योगों के विकास को और अधिक बढ़ावा व प्रेरणा देने के लिए खादी और ग्रामोद्योग कमीशन ने ग्राम्य जीवन के सर्वांगीण विकास का कार्यक्रम—नया मोड़ कार्यक्रम—चलाया है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत उद्योग शुरू करने से पूर्व गाँव का उसकी आबादी, रोजगारी की पद्धति, कच्चे माल की उपलब्धि आदि के सम्बन्ध मे सर्वेक्षण किया जाता है। सर्वेक्षण कार्य में क्षेत्र की पंचायत को साथ लेना होता है और स्थानीय जनता को प्रारम्भ में कम से कम २५ प्रति शत उत्पादन स्थानीय रूप से खपाने का संकल्प लेना पड़ता है। यह कार्यक्रम खण्ड विकास अधिकारियों, पंचायतों और खादी संस्थाओं के जरिये कार्यान्वित किया जाता है। पंजाब में ४८ गांवों में सर्वांगीण विकास कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया है।

पिछले अक्तूबर में जब देश पर चीनी आक्रमण हुआ, तो सेना के लिए फौजी कम्बलों की बहुत माँग सामने आयी। ऐसे अवसर पर पंजाब में वहाँ की खादी संस्थाएँ आगे आयीं और उन्होंने १९६२-६३ में ५७,५०० कम्बलों की पूर्ति की। इस वर्ष (१९६३-६४) के लिए १,०५,००० फौजी कम्बलों; ६०,००० चौखाने कम्बलों और २५,००० मीटर कम्बलनुमा कपड़े का लक्ष्यांक निर्धारित किया गया है। पंजाब के सीमावर्ती पहाड़ी क्षेत्रों में ऊन कताई बहुत लोकप्रिय है। अब इन क्षेत्रों में ऊन कताई और बुनाई तथा अन्य ग्रामोद्योग शुरू करके अधिक रोजगारी प्रदान करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। तृतीय पंच वर्षीय योजना में इन क्षेत्रों के लिए ५१ लाख ७८ हजार रुपये नियत किये गये हैं।

सेना के लिए कम्बल

चूंकि देश के समक्ष प्रस्तुत खतरा कोई अस्थायी नहीं है, इसलिए देश की अर्थ-व्यवस्था को एक नयी अवस्था में ढालना हमारे लिए आवश्यक है। यह तभी हो सकता है जबकि हम अपनी दीर्घ स्तरीय मिलों को सेना के लिए आवश्यक रसद की पूर्ति में लगा दें और अपनी रोजमर्रा की जरूरतों के लिए ग्रामोद्योगों पर निर्भर करें। ग्रामोद्योगों में बहुत कम विनियोजन की आवश्यकता है और उनमें उत्पादन जल्दी तैयार होता है। अर्थ-व्यवस्था के विकेन्द्रीकरण से यातायात पर जो अनावश्यक भार है वह भी कम हो जायेगा। इसके साथ ही देश भर में फैले हुए लाखों-करोड़ों लोगों के लिए रोजगारी का निर्माण भी होगा, जिससे हमारी प्रतिरक्षात्मक क्षमता बढ़ने के अलावा वैसा करना स्वयम् में ही किसी भी आक्रमण के विरुद्ध एक महान् प्रतिरक्षा होगी।

और फिर, खादी तथा ग्रामोद्योग सबको काम यानी रोजगारी प्रदान करते हैं और उनमें आर्थिक समानता का विचार निहित है।

चण्डीगढ़ : १६ अगस्त १९६३

एक आदिवासी क्षेत्र की औद्योगिक क्षमता

छोटे लाल शर्मा

प्रस्तुत लेख में राजस्थान के कोटा जिले में शाहबाद पंचायत समिति के अधिकार क्षेत्र में आनेवाले आदिवासी क्षेत्र की भौगोलिक स्थिति, कृषि सिंचाई, रोजगारी व यातायात से सम्बन्धित आंकड़ों का विश्लेषण किया गया है। लेखक वहाँ चल रहे ग्रामोद्योगों का भी संक्षिप्त चित्र प्रस्तुत करते हुए उनकी सम्भाव्यताओं पर विचार करता है।

शाहबाद पंचायत समिति में दो तहसीलें हैं– शाहबाद और किशनगंज। यह समिति कोटा-बारां संभाग से पूर्व में स्थित है। समिति का समूचा क्षेत्र आदिवासी क्षेत्र है। स्वतंत्रता-प्राप्ति से पूर्व इसे कोटा राज्य का जंगली इलाका कहा जाता था। शाहबाद की घाटी इस क्षेत्र को दो भागों–निचला और ऊपरी–में विभक्त करती है, जिन्हें वहाँ 'तरेटी' और 'उपरेटी-कहते हैं। पार्वती नदी इसे शेष कोटा जिले से अलग करती हैं। नदी के दूसरे किनारे से लेकर हम एक ऐसे क्षेत्र में कदम रखते हैं जो सर्वाधिक पिछड़ा हुआ, घोर गरीबी, कमी, भुखमरी, बेकारी, असाक्षरता, पुराने रीति-रिवाजों तथा पारस्परिक द्वेश का शिकार है, जहाँ घने जंगल हैं, जिनमें आवागमन का कोई साधन नहीं है और डाकुओं एवम् जंगली जानवरों के घर बने हुए हैं।

लगभग ८० वर्ष पूर्व यह क्षेत्र झालावाड़ राज्य के अन्तर्गत था; क्योंकि राज्य के संस्थापक राणा झालिम सिंह ने शाहबाद के जंगल ब्राह्मण किलेदारों से जीत लिए थे। चूँकि शाहबाद और झालावाड़ के बीच किसी तरह से कोई सम्बन्ध नहीं था, इसलिए यह क्षेत्र परिपूर्ण रूप से उपेक्षित ही रहा। ये तहसीलें जब कोटा राज्य को स्थानांतरित की गयीं तो कोटा के महाराजा उमेद सिंह ने इस क्षेत्र का विकास करने की ओर ध्यान दिया और इसलिए उन्होंने इस घोषणा के साथ उत्तर प्रदेश तथा पंजाब के निवासियों को वहाँ बसने दिया कि जितना क्षेत्र वे जंगल काट कर साफ कर लेंगे, उस पर उन्हीं की मिल्कियत होगी। फलतः उक्त क्षेत्र में जमींदारों की एक श्रृंखला स्थापित हो गयी। इन जमींदारों ने क्षेत्र के सहरियों को अपने हालियों के बतौर रख लिया और घड़ियावाली तथा गोगची नदी के बीच की उपजाऊ भूमि का उपयोग किया।

जमींदारी उन्मूलन और अनेक सरकारी तथा गैर सरकारी संस्थाओं द्वारा आदिवासियों में विकास खण्ड खोलने एवम् सामाजिक कार्य प्रारम्भ करने के साथ आर्थिक व सामाजिक उत्थान के लिए एक वातावरण निर्मित हुआ है। इसके अलावा कोटा में चम्बल नदी पर सिंचाई व हाइड्रोइलेक्ट्रिक परियोजना के प्रारम्भ से ऐसा लगता है कि इस क्षेत्र का भविष्य भी उज्ज्वल है। क्षेत्र को अनेक प्राकृतिक लाभ प्राप्त हैं जैसे, औद्योगिक कच्चे माल, सस्ते श्रम की उपलब्धि, जल व शक्ति की पूर्ति–जो कोटा से प्राप्त हो सकती है–मुश्किल से ९५ मील की दूरी पर स्थित और अजमेर व कोटा से होकर दिल्ली से शिवपुरी जानेवाले राष्ट्रीय जनपथ (हाइवे) पर स्थित होना, जो कि शिवपुरी नामक स्थान पर बम्बई-आगरा सड़क में मिलता है।

भौगोलिक स्थिति

कुल क्षेत्रफल १,१८६ वर्ग मील यानी ६,१९,५४८ एकड़ है। आबादी (१९५१ की जनगणनानुसार) ६९,००० है। भूगोल, जन-संख्या की संघटना आदि

से सम्बन्धित विशिष्ट बातें इस प्रकार हैं : ग्राम संख्या : ४३५; कुल जन-संख्या : ६९,०००; आदिवासी आबादी : ३०,०००; ५० प्रति शत से अधिक सहरियोंवाले गाँवों की संख्या : १२७; पहाड़ चट्टान आदि : १,७९,४२५ एकड़; जंगल : २,४३,२०० एकड़; कृषि भूमि : १,३०,५६० एकड़; और कृषि योग्य भूमि : ६६,३६३ एकड़। औसत वर्षा ४० इंच है; तापमान गर्मियों में १०४° फर्नहाइट और सर्दियों में ६२° फर्नहाइट।

फसलों का स्वरूप

यद्यपि इस क्षेत्र में प्रधान रूप से जंगल हैं, फिर भी १,३०,५६० एकड़ पर खेती होती है। क्षेत्र का फसली स्वरूप इस प्रकार है :

फसल	क्षेत्र (एकड़ में)	प्रति एकड़ उपज (मन में)	दर प्रति मन (रुपये में)
अनाज			
गेहूँ	४६,१००	१०	१६
धान	३,५००	११.३	२६
ज्वार	३४,५३५	५	१२
जव	२,०००	१२.५	१२
मक्का	२,३६०	१०.६	१०
बाजरा	३,८१०	५	१०
दालें			
चना	३,५००	२०	१५
उर्द	१५०	३५	१६
मूँग	१,२००	२	१६
तिलहन			
तिल	३,८००	२	२४
राई	३००	२	२०
गन्ना	१,१७५	३५०	१

कृषि कार्य में ४७,८२१ व्यक्ति लगे हैं। आदिवासियों की संख्या ३०,००० है। आदिवासी जनता के वर्तमान पेशे इस प्रकार हैं : (१) कृषि और स्थानांतरण खेती (जून से सितम्बर तक); (२) जंगली पैदावार का संग्रह (अक्तूबर से मार्च तक); और (३) श्रम (अप्रैल से मई तक—मुफ्त)।

खेतों का आकार

आकार	खेतों की संख्या
१ एकड़ से अधिक नहीं १.१ से २.५ एकड़ तक २.५ से ५ " "	१०,५००
५.१ से १० " "	४,०००
१०.१ से २५ " "	४००
२५.१ से ५० " "	२००
५० एकड़ से अधिक	१००

गैर खेतिहर धंधे और उनमें लगे व्यक्तियों की संख्या इस प्रकार है : हाथ करघा—१२१; मधु-संग्रह—५००; कत्था-उत्पादन—१५०; चर्मशोधन—३७०; बांस कार्य—११०; दियासलाई व गलीचे बुनकर—२६७; बीड़ी बनानेवाले—६०; तेलकार—१५७; और कुंभकार—१६०।

वस्तुतः जो अर्थ-व्यवस्था वनों पर आधारित थी वह अब कृषि द्वारा पूरित हो रही है और यह एक विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था का चिन्ह है। सहरियों की कुल औसत आमदनी प्रति व्यक्ति प्रति माह मात्र १५ से २० रुपये है। अतएव उनकी आय और क्रय-शक्ति बढ़ाने की स्पष्ट आवश्यकता है। इसके लिए हमें बुनियादी उद्योग का अन्य उद्योगों के साथ तालमेल बैठाना पड़ेगा। सरकार ने भूमिहीन आदिवासियों के लिए २०,००० बीघा जमीन नियत की और १९६२—६३ में तकावी के रूप में वितरण के लिए दो लाख रुपये स्वीकृत किये।

सिंचाई

लघु सिंचाई कार्य के लिए काफी गुंजाइश है। उन्नीस लघु सिंचाई कार्य सपन्न हो चुके हैं। डाण्डा

पूर्णिया परियोजना, टाण्डा अहीरा और विलोदा कार्य १८,००० रुपये खर्च पर पूर्ण हुए तथा शेष अन्य १,५०,००० रुपये व्यय पर। समाज कल्याण विभाग ने भी दो लाख रुपये की लागत के तीन बड़े सिंचाई कार्य हाथ में लिए हैं। सिंचाई विभाग सर्वेक्षण कर रहा है। वह भी कुछ सिंचाई कार्य तृतीय योजना काल में अपने हाथ में ले सकता है। सरकार ने हाल ही में लघु सिंचाई कार्यों के लिए एक लाख रुपये स्वीकृत किये हैं। अभी १२,८६१ एकड़ भूमि की सिंचाई हो रही है और १९६२ के अंत तक उसके १९,८०० एकड़ हो जाने की आशा है। लघु सिंचाई कार्य का पहले से ही एक जाल-सा बिछा हुआ है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विकासोन्मुख कृषि के लिए काफी गुंजाइश है। सहरियों द्वारा खेती की गयी ९,६७३ एकड़ भूमि में से ३,११७ एकड़ भूमि पर सिंचाई होती है।

पशु-धन के सम्बन्ध में क्षेत्र काफी सम्पन्न है। इसका मुख्य कारण यह है कि पशुओं के लिए चारा वहाँ पर साधारणतया मुफ्त में प्राप्त हो जाता है। प्रति वर्ष राज्य के दूसरे-दूसरे हिस्सों से यहाँ पशु आते है। पशुओं की संख्या इस प्रकार है : गाय और बैल : ६०,८२३; भैंस-भैंसे : २८,५३६; भेड़ : ७,०३४; बकरे व बकरियाँ : ५,३४९; तथा अन्य : १०,९८६।

शक्ति पूर्ति

अपेक्षा है कि कोटा जिले में स्थापित किये जानेवाले लघु स्तरीय उद्योगों के लिए, चम्बल घाटी योजना के अन्तर्गत कोटा हाइड्रोइले-क्ट्रिक शक्ति काफी सस्ती दर पर और काफी मात्रा में प्राप्त हो सकेगी तथा क्षेत्र के सभी उद्योगों की शक्ति सम्बन्धी आवश्यकताएँ पूर्ण करना सम्भव हो सकेगा।

क्षेत्र में पानी की कमी नहीं है। बाणगंगा, रेणपी, खन्दार और घाड़ियावाली आदि जैसी अनेक छोटी-छोटी नदियाँ क्षेत्र में बहती हैं। ये नदियाँ वहाँ के स्थायी जल-स्रोत हैं। केलवाड़ा, समरानिया, सीताबाड़ी जैसे स्थानों पर पानी की सतह बहुत ऊंची है। अनेक स्थानों पर छोटे-छोटे बांध बांधे गये हैं। पानी मीठा है और बहुतायत में प्राप्त है।

श्रम सस्ते में उपलब्ध है। पुरुष श्रमिक १.५० रुपया प्रति दिन और महिला श्रमिक १ रुपये प्रति दिन में स्थानीय रूप से प्राप्त हो जाता है। पुरुष व महिला श्रमिकों के लिए अधिकतम दर क्रमशः दो तथा डेढ़ रुपया हो सकती है। अर्ध-कुशल श्रमिक भी उपलब्ध हैं।

निकटतम रेलवे स्टेशन बारां है। बारां राजस्थान की दूसरी बड़ी मण्डी है। बारां रेलगाड़ी तथा सड़क मार्ग द्वारा कोटा जंकशन से जुड़ा हुआ है और दोनों ही बम्बई-दिल्ली रेलवे लाइन पर होने के कारण रेल एवम् सड़क मार्ग से भली-भाँति जुड़े हुए हैं। बीना, भोपाल, दिल्ली, अजमेर, इन्दौर, जयपुर और शिवपुरी के लिए सड़क यातायात उप-लब्ध है। इस प्रकार क्षेत्र में सभी यातायात सुविधाएँ उपलब्ध हैं।

इस क्षेत्र के दोनों ओर राजस्थान में बारां तथा मध्य प्रदेश में शिवपुरी स्थित मण्डियाँ हैं, जहाँ बैंक सम्बन्धी सुविधाएँ भी उपलब्ध हैं। सभी प्रकार के औद्योगिक उत्पादन दिल्ली, कानपुर, बम्बई, इन्दौर, अजमेर व जयपुर जैसे भारत के महत्वपूर्ण उपभोग केन्द्रों को पहुँचाये जा सकते हैं।

पत्थर, चौके, मिट्टी, इमारती काठ तथा चूने जैसी भवन निर्माण सामग्री क्षेत्र में बहुत ही सस्ती दर पर उपलब्ध है। जमीन भी बहुत सस्ती है। सीमेण्ट लाखेरी और सवाई माधोपुर में तथा फर्श डालने के चौके रामगंज मंडी व मोड़क में बहुतायत से प्राप्त हैं।

आदिवासी

कुल आबादी में करीब ४४ प्रति शत आदिवासी हैं। वे जंगलों में रहते हैं। उनमें से भी कुछ तो

बिल्कुल एकाकी जीवन बिताते हैं। यद्यपि उनका मुख्य पेशा खेती है लेकिन उनके खेतों का आकार बहुत छोटा है। उनमें से बहुत से भूमिहीन श्रमिक हैं और गिलोंदी, महुआ-फूल, चिरोंजी, शहद, गोंद, आम्ला आदि जैसे जंगली उत्पादनों के संग्रह में लगे हैं। इन चीजों के बदले वे स्थानीय व्यापारियों से अपनी रोजमर्रा की चीजें खरीदते हैं। रुपये-पैसे की शब्दावली में उन्हें बहुत कम कीमत मिलती है। बरसात के दिनों में वे मजदूरों अथवा शिकार के लिए 'हाका' करनेवालों के रूप में काम करते हैं। उनमें से बहुतों को चारों मौसमों में वस्त्र, आवास और भोजन भी अच्छी तरह उपलब्ध नहीं होता। इन असमर्थताओं में यह भी जोड़ा जा सकता है कि अनेक व्यक्ति आर्थिक दृष्टि से कर्ज के भार से दबे हैं और फलस्वरूप सामान्यतः वे दासता की स्थिति तक पहुँच गये हैं। शिक्षा की दृष्टि से आदिवासी बहुत पिछड़े हैं और शोषण के शिकार हैं; क्योंकि वे असंगठित, अनपढ़ व अनभिज्ञ हैं।

कृषि-उद्योग

चर्मोद्योग : जिन उद्योगों का आसानी से कृषि के साथ पारस्परिक सम्बन्ध एवम् समन्वय स्थापित किया जा सकता है, उनमें क्षेत्र में पशु-धन का बाहुल्य होने के कारण चर्मोद्योग को सर्वोच्च स्थान मिलना चाहिए। काफी संख्या में पशुओं की प्राप्ति तथा पेशेवर चर्मकारों को बड़ी संख्या के कारण इस क्षेत्र में करीब ३७० आदर्श शवच्छेदन व चर्मशोधन केंद्र बड़ी आसानी से खोले जा सकते हैं। विकास खण्ड में समरानिया, कस्बाथाना, शाहबाद, नाहरगढ़, छिनोद और पीपलदा में पहले से ही छः पंजीकृत चर्मोत्पादक सहकारी समितियाँ हैं। खाण्डा-सहरोल तथा खण्डेला में दो और समितियाँ पंजीकृत करवाने की योजना है। एक आदर्श चर्मशोधन केन्द्र क्षेत्र के केन्द्रीय स्थल समरानिया में स्थापित होना चाहिए। भंवरगढ़ में एक दधिची यंत्र (डाइजेस्टर) इकाई तुरंत चल सकती है।

कृषि से जिस दूसरे उद्योग का अति निकट सम्बन्ध है वह है **गुड़ और खांडसारी** उद्योग। पहले से ही १,१७५ एकड़ भूमि पर गन्ने की खेती होती है। क्षेत्र के अनुसार करीब ४,११,२५० मन गन्ना पैदा होता है। फिलहाल जो लघु सिंचाई योजनाएँ निर्माणाधीन हैं उनके पूर्ण होने पर गन्ना उत्पादन बढ़ सकता है।

अकेले कैलवाड़ा गाँव के नजदीक पाँच मील के घेरे में १,२२,००० मन गन्ना पैदा होता है। अतएव क्षेत्र में कई गुड़-खाण्डसारी की उत्पादन इकाइयाँ स्थापित की जा सकती हैं। उद्योग के विकास के लिए दो गुड़-खाण्डसारी सहकारी समितियाँ और एक शक्कर उत्पादक सहकारी समिति पंजीकृत हो चुकी है।

ग्रामीण तेल : क्षेत्र में तिलहन काफी तादाद में मिलते हैं। करीब ४,१०० एकड़ भूमि पर तिल व अलसी की खेती होती है और इस प्रकार लगभग ८,२०० मन तिलहन पैदा होते हैं। क्षेत्र में १५७ तेली परिवार हैं। उनके पास १५७ घानियाँ हैं। शाहबाद, भँवरगढ़ और केलवाड़ा में तीन तेल उत्पादक सहकारी समितियाँ हैं। लेकिन उनका काम ठीक से नहीं चल रहा है। तीनों समितियों को ही मौसम काल में तिलहन संग्रह करने के लिए वित्तीय सहायता की जरूरत है।

वन्य उद्योग

जंगल पूरे क्षेत्र में हैं। शाहबाद, किशनगंज तथा नाहरगढ़ के घने जंगल इस क्षेत्र में हैं। कत्थे के लिए खैर, उपयोगी वस्तुओं के लिए बांस, बीड़ी के पत्तों के लिए तेन्दू, फूलों व अखाद्य तेलबीजों के लिए महुआ और इमारती लकड़ी के लिए सागवान के पेड़ अत्यधिक मात्रा में उपलब्ध हैं। जलवाड़ा और नाहरगढ़ में सागवान तथा अन्य प्रकार का उपयुक्त एवम् मजबूत, टिकाऊ काठ मिलता है। किशनगंज, जलवाड़ा, नाहरगढ़, राजपुर और कस्बाथाना में बढ़इयों के ९० परिवार हैं; उनके

पास पुराने, परम्परागत औजार हैं और वे बैलगाड़ी तथा कृषकों के काम आनेवाले अन्य प्रकार के सीधे-सादे उपकरण बनाते हैं। ये बढ़ई यद्यपि मुख्य रूप से खेती करते हैं, पर इस काम से १,००० रुपये वार्षिक कमा सकते हैं। इसके अलावा ईंधन की लकड़ी और कोयला बनाना वहाँ के अन्य महत्वपूर्ण उद्योग हैं।

रामगढ़ और शाहबाद तहसील में सनवाड़ा के नजदीक खिरखई, खण्डेला के समीप फोदिया, शाहबाद से ६–७ मील दूर स्वांस, राजपुर के निकट भैंसड़ा और शाहबाद में ३,००० एकड़ में बांस के जंगल हैं। करीब ९५ परिवार (७५ बांसेड़ों के और २० सहरियों के) परम्परागत रूप से बांस से घरेलू उपयोग की चीजें बनाने में लगे हैं। रामगढ़ में ५८ बांसेड़ा परिवारों की सहकारी समिति को खुले बाजार में ऊंची दर पर बांस खरीदने पड़ते हैं। उपलब्ध बांस का गुण-स्तर अच्छा है और चार इंच व्यास के बांस वहाँ पर प्राप्त हैं। चूंकि ये परिवार ५५० रुपये में १,५०० बांस खरीदते है और उनकी वस्तुएँ बनाकर १,५०० रुपये में बेचते हैं, जो बाजार में सिर्फ १,६६० में बिकती हैं, इसलिए बहुत कम लाभ प्राप्त हो पाता है। इस प्रकार प्रत्येक सदस्य करीब ५० रुपये माहवार ही कमाता है।

फिलहाल डाल, डालियों, टोकरियों, पंखों आदि जैसी स्थानीय उपयोग की वस्तुएँ बनायी और रामगढ़, रेलवण, बड़ौदा (मध्य प्रदेश), भँवरगढ़, किशनगंज, बूड़ादीत तथा मंगरोल के साप्ताहिक बाजारों में बेची जाती हैं। बांस से बहुत ऊंची जात की चीजें बनानेवाले प्रशिक्षित व्यक्तियों की सेवा प्राप्त कर उद्योग का संगठित विकास करने की काफी गुंजाइश है। अखिल भारत दस्तकारी मण्डल के जरिए यह काम किया जा सकता है। कागज और दियासलाई में इस्तेमाल के अलावा इनसे कुछ बहुत ही कलात्मक वस्तुएँ बनायी जा सकती हैं। इस काम के लिए कुछ कार्यकर्त्ताओं को प्रशिक्षण प्राप्ति हेतु दक्षिण में भेजा जा सकता है।

हाथ कागज : ऊंची जात का कागज बनाने के लिए बांस के जंगलों के अलावा एक अन्य प्रकार का घास भी पर्याप्त मात्रा में हरेक स्थान पर मिलता है, जिसे स्थानीय बोलचाल की भाषा में गोंधरा घास कहते हैं। शिवपुरी के लोग इस घास का जाल बनाने के लिए इस्तेमाल करते हैं। किशनगंज तहसील का यह एक फलता-फूलता उद्योग हो सकता है। और फिर शाहबाद, केलवाड़ा तथा नाहरगढ़ में लाबदार घास एवम् घाटी क्षेत्रों में लूटा घास मिलता है। इस घास का एक नमूना परीक्षण के लिये पूना स्थित हाथ कागज अन्वेषण केन्द्र को भेजा गया। केन्द्र पर कुछ परीक्षण हुए और यह पाया गया कि यह घास पुट्ठा कागज बनाने के लिए उपयुक्त है तथा लघु स्तर पर कागज बनाने के लिए नहीं।

पुट्ठा कागज बनाने के लिए आवश्यक उपचार इस प्रकार हैः पूनावाले नमूने का कॉम्प्रेशन डाइजेस्टर का उपयोग; रसायन–१५ प्रति शत जल्दी गलानेवाला, त्वरित चूना; तापमान–१००° सेण्टीग्रेड; समय–५ घण्टे; प्राप्ति–६७ प्रति शत और बीटिंग का समय–२ घण्टे। बीटिंग के दौरान ये सामग्रियाँ डाली गयीं: पीली आकरे–५ से १० प्रति शत; रोजिन–३ प्रति शत; और फिटकरी–४ से ५ प्रति शत।

गोंद संग्रह : खैर और धोक के जंगल पाये जाते हैं। उनका क्रमशः कत्थे एवम् जलावन या कोयला उत्पादन के लिए उपयोग करने के अलावा सहरिया जाति के लोग उनसे गोंद भी इकट्ठा करते हैं जो एक उप-उत्पादन है। वे यह गोंद प्रधान ठेकेदार को बेच देते हैं। बिक्री दर स्थान-स्थान पर तथा गोंद के गुण-स्तर के अनुसार अलग-अलग होती है। अधिकांशतः गोंद का ज्वार, गेहूँ या नकदी के साथ बदलौन होता

है। प्रस्तुत विवरण से यह बात स्पष्ट हो सकेगी:

गोंद की किस्म	बदलौन दर	प्रति मन वास्तविक दर (रु. में)	प्रति मन बिक्री मूल्य (रु. में)
खैर	१ सेर गोंद में ३ सेर गेहूँ	४०	८० से ९०
नागली	१ सेर गोंद में ४ सेर गेहूँ	४० से ५०	१०५ से ११०
कथीरा	१ सेर गोंद में २.५ या ३ सेर गेहूँ	४० से ५०	६० से ६५

प्रति वर्ष करीब १,५०० मन गोंद पैदा होता है। एजेण्ट साधारणतया बनिये होते हैं। वे गोंद इकट्ठा करनेवालों से अन्य आवश्यकताओं के बदले प्रति सेर १९ नये पैसे कमिशन लेते हैं। औसत मूल्य ८० रुपये प्रति मन मानने पर अकेले गोंद की बिक्री से ही १,२०,००० रुपये प्राप्त होंगे।

मधु-पालन और मोम

स्थानीय व्यक्ति, अधिकांशतः सहरिया, पुराने तौर-तरीके से जंगली शहद इकट्ठा करते हैं तथा ठेकेदारों को बेचते हैं। बिक्री का भाव-ताव ठेकेदार ही तय करते हैं। वे शहद बाल्टियों, पीपों आदि में लाते हैं। राजपुर, आमखोह, सीताबाड़ी, शाहबाद, जलबाड़ा और नाहरगढ़ में मधु मिलता है। वहाँ पर इसकी मौसम फरवरी, मार्च, अप्रैल, जून और जुलाई से सितम्बर तक होती है। मौसम काल में ठेकेदार अथवा उनके दलाल ७५ नये पैसे से १ रुपया प्रति सेर तक के भाव से मधु खरीदते हैं और बाजार में डेढ़-दो रुपये प्रति सेर की दर से बेचते हैं। बाजार में मोम भी तीन रुपया सेर के हिसाब से बेचा जाता है। यदि इस क्षेत्र का सुव्यवस्थित रूप से उपयोग किया जाय तो प्रति वर्ष ५०० से ७०० पीपों तक शहद की प्राप्ति हो सकती है। इन क्षेत्रों में करीब ४०,००० पौंड मधु तथा ८,००० पौंड मोम उपलब्ध हैं।

अखाद्य तिलहन

महुआ बीज जिन्हें वहाँ पर गिलोंदी कहा जाता है, कस्वाथाना, बीची, राजपुर, खटका, समरानिया, केलवाड़ा, खण्डेला, भँवरगढ़ और नाहरगढ़ के जंगली इलाकों में मिलते हैं। प्रति वर्ष चार-पांच हजार मन महुआ बीज इकट्ठे किये जा सकते हैं। बीज इकट्ठे करने का ठेका नीलामी पर दिया जाता है। सबसे ज्यादा बोली लगानेवाले को ठेका मिलता है और वह सहरियों के मार्फत संग्रह करवाता है, जो उन्हें ये बीज इकट्ठे करने दिये जायें इसके लिए किसी निर्धारित दर पर वे ठेकेदार को कुछ कर देते हैं और शेष बीज उचित बाजार भाव पर उसे अथवा उसके एजेण्ट को बेच देते हैं। सामान्यतः वे बीजों के बदले ज्वार, गेहूँ, महुआ तेल अथवा अपनी आवश्यकताओं के मुताबिक नकद रुपये-पैसे लेते हैं। जीविकोपार्जन की दृष्टि से महुआ तेलबीज इकट्ठे करना सहरियों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण धंधा है। वे महीनों महुआ फूल खाते हैं और अन्य जरूरी चीजें ही खरीदते हैं। अधिकांश व्यक्ति महुआ बीजों और फूलों पर अपना जीवन बसर करते हैं। सहरियों की दो सहकारी समितियों ने इस वर्ष महुआ बीज संग्रह कार्य आरम्भ कर दिया है। ये समितियाँ तलेटी में पठारी और उपरेटी में केलवाड़ा नामक स्थान पर हैं।

अधिकांशतः आदिवासी आबादी-प्रधान ४६ गाँव नदियों-नालों के किनारे बसे हैं और उनके तटों के दोनों ओर अर्जुना (कोरा), तोमनतोशा (सादरा) तथा बेर के वृक्षों से युक्त १०० फुट चौड़ा जंगल मीलों चला गया है, जिसमें टसर के कोये मिलते हैं।

कत्था उत्पादन

इस क्षेत्र में कत्था उत्पादन एक अपने ढंग का वन्य रसायन उद्योग है। कत्था मुख्यतः अकासिया पेड़ के गूदे

से तैयार किया जाता है। कटेचू, अकासिया सुन्दर और अकासिया कटेचुइड इसके अतिरिक्त स्रोत हैं। पान तथा कुछ अन्य प्रकार की मिठाइयों में मिलाने के लिए कत्थे की भारत में बहुत मांग है। इसका मुख्य तत्व खदिर है, जो इसे मीठा तत्व प्रदान करता है। देशी तरीके से तैयार बाजारू कत्थे में कैचिन तत्व करीब ५० प्रति शत ही होता है, शेष आर्द्रता, छाल तथा अन्य प्रकार की पानी में घुलनशील अथवा अघुलनशील सामग्री होती है। कटेचिन, अपने विशुद्ध रूप में पारे के समान सफेद तत्व होता है।

क्षेत्र में कत्था उत्पादन करनेवाले १०४ आदिवासी परिवारों की एक पठारी जंगल उपज सहकारी समिति तथा एक सनवाड़ा जंगल उपज सहकारी समिति है। अपने प्रस्तुत प्रसंग के लिए हम पठारी जंगल उपज सहकारी समिति पर विचार कर सकते हैं। यह समिति शाहबाद तहसील में १९५६ में स्थापित हुई थी। लगभग ५० आदिवासी परिवार पुराने उपकरणों का उपयोग करते हुए **हाण्डी** आधार पर कत्था तैयार करते हैं। उनकी वार्षिक क्षमता ४८० मन कत्था बनाने की है, जिसकी कीमत १,१०,६०२ रुपये होती है।

चूना उद्योग

भँवरगढ़ और केलवाड़ा में काफी चूना पत्थर मिलता है। ईंधन पर्याप्त मात्रा में मिलता है और वह भी सस्ती दर पर–प्रायः जंगलों से मुफ्त में ही। श्रम सस्ता है। चूने की बहुत मांग है और इससे मूल्य प्राप्ति भी अच्छी होती है। अतएव केलवाड़ा में क्षेत्र का उपयुक्त सर्वेक्षण करने और उत्पादन इकाई के आर्थिक पलहुओं का मूल्यांकन करने के बाद एक चूना उत्पादन इकाई स्थापित की जा सकती है।

क्षेत्र में जो अन्य उद्योग शुरू किये जा सकते हैं वे इस प्रकार हैं: फल संरक्षण, दुग्धालय, शराब बनाना आदि। इस प्रकार समग्र क्षेत्र सम्पत्ति से सम्पन्न है। लेकिन वास्तविक कृषक और श्रमिक गरीब हैं। उन्हें दो जून भोजन शायद ही मिलता है। इसका कारण यह है कि जो कुछ जंगलों में पैदा होता है, सहरिये जिसे एकत्रित करते हैं, वह उनकी बुनियादी जरूरतें पूरी करने के लिए स्थानीय बनियों अथवा दलालों के साथ बदलौन के रूप में उनके पास चला जाता है। इस प्रकार समुदाय के समग्र आर्थिक, सामाजिक एवम् सांस्कृतिक स्वरूप में दलाल अथवा मध्यस्थ केन्द्र बिन्दु बना हुआ है। ये दलाल, ठेकेदारी, साहूकारी, दूकानदारी व यहां तक कि कृषि कार्य भी करते हैं। वे आदिवासियों को विवाह-शादियों, मृतक-भोजों आदि के लिए रुपये उधार देते हैं और सीताबाड़ी मेले के वक्त मधु, गिलोंदी, गोंद या मोम लाकर उन्हें देने के सम्बन्ध में अगाऊ सौदा कर लेते हैं। जंगली उत्पादन इकठ्ठे करने के लिए कानूनी दृष्टि से अधिकार प्राप्त वास्तविक ठेकेदार जो भी हो, यह पद्धति सदियों से चली आ रही है। अनभिज्ञता, गरीबी, असाक्षरता और उपयुक्त स्थानीय नेतृत्व के अभाव में सहरिये इन मध्यस्थों को अपने शुभचिन्तक, मित्र, मार्गदर्शक और सलाहकार मानते हैं। वे कभी भी उनके चंगुल से नहीं निकल पाते हैं और यहाँ तक कि मूल का दस गुना चुकाने पर भी उनके कर्जदार बने रहते हैं, फिर चाहे वह अदायगी जिन्स के रूप में हो अथवा नकद रूप में। सामान्यतः आदिवासी व्यक्ति वन्य उत्पादन दिन में इकट्ठे करते हैं और रात में साहूकारों को देकर अपने इकरारनामे पूरे करते हैं।

कार्यकर्त्ता

योजना कार्यान्वित करने में सबसे बड़ी कठिनाई ह कर्तव्य-निष्ठ तथा ईमानदार कार्यकर्त्ताओं का प्राप्त होना। कार्यकर्त्ताओं को न्यून वेतन देने की वर्तमान पद्धति से, और वह भी उनके भविष्य की बिना किसी गारण्टी के, इस समस्या का समाधान

होनेवाला नहीं है। कार्यकर्त्ताओं को पहाड़ी इलाकों, डाकुओं के भय, जंगली जानवरों के बीच और सड़कों के अभाव जैसी परिस्थितियों में काम करना पड़ता है। इन कठिनाइयों के कारण राष्ट्रीय विस्तार सेवा खण्डों तथा रचनात्मक संस्थाओं के कर्मचारी अपने को बड़ी हीनावस्था में, अनुत्साहित पाते हैं। इसलिए अपने उद्देश्य की पूर्ति में परिपूर्ण विश्वास रखनेवाले कर्तव्य-निष्ठ कार्यकर्त्ताओं को आवास, भोजन, प्रोविडेण्ट फण्ड आदि की पूर्ण सुविधाएँ देनी चाहिए।

इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए आदिवासियों के सर्वांगीण विकास के लिए ठोस, व्यापक और व्यवहारिक योजनाएँ तैयार की जानी चाहिए।

यदि हम चाहते हैं कि ये व्यक्ति परिपूर्ण रूप से सम्पन्न बनें, तो सभी स्तरों पर पूर्ण सहकार सुनिश्चित किया जाना चाहिए अन्यथा करोड़ों रुपये खर्च करके भी जो समय, शक्ति और सार्वजनिक धन लगेगा उसकी तुलना में प्राप्त सफलता बहुत मामूली ही हो सकती है।

बम्बई : ७ अगस्त १९६२

कश्मीर का शाल उद्योग

माखन लाल भट्ट

कश्मीर अपने शाल उद्योग के लिए प्रसिद्ध है। जिन परिवर्तनों से होकर यह उद्योग गुजरा है, उनका यहाँ वर्तमान अवस्था के साथ विवरण दिया गया है। चन्द सुधार भी सुझाये गये हैं।

कश्मीर के प्रसिद्ध कुटीर उद्योगों में शाल बुनाई उद्योग का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। इसकी ख्याति इसके मनोहारी रंग, मुलायम वस्त्र और आकर्षक डिजाइन के फलस्वरूप ही है। यद्यपि कश्मीर के शाल विश्व भर में अपनी कलात्मकता के कारण ही बिकते हैं, राज्य की अर्थ-व्यवस्था में इसकी महत्ता इसलिए है कि यह ७० प्रति शत खेतिहर मजदूरों को, जो कि साल में १२० दिनों से भी अधिक बेकार रहते हैं, सहायक और मौसमी रोजगारी देता है। यह बहुत-सी महिलाओं को भी आंशिक काम देता है।

यह उद्योग काफी पुराना है। अपने जीवन में इसे अनेक क्रमों से होकर गुजरना पड़ा है, जिन्हें मुख्य रूप से इस तरह विभक्त कर सकते हैं: (अ) प्रारम्भिक क्रम अथवा विकास (सन् १८७० तक); (आ) औद्योगिक संतुलन का विघटन तथा अविच्छिन्नता की अवधि (१८७०–१८९०); (इ) यथा स्थिति और बहुत धीमे प्रत्यावर्तन (१८९०–१९१४); और (ई) बृहद विस्थापन और योजित विकास के जरिये निश्चित अर्थ-नीति का उद्‌भव (१९४७ से)। इस लेख में इस उद्योग के इन विभिन्न क्रमों का अध्ययन और विश्लेषण प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

प्रारम्भिक विकास

कश्मीर घाटी में इस उद्योग का आरम्भ कब हुआ, इस विषय में मतभेद है। कई लेखकों का कथन है कि शाल उद्योग का आरम्भ मुसलमानी शासन-काल में हुआ, परन्तु इस बात के भी प्रमाण हैं कि इसका आरम्भ ५,००० वर्ष पूर्व हुआ। एक प्रख्यात लेखक ने लिखा है कि "रोम साम्राज्य के समय भी शाल उद्योग काफी समृद्ध था, जबकि सीजर के हरम की महासुन्दरियाँ कश्मीरी शाल ओढ़ती थीं।" सम्राट अशोक के समय के साहित्य में भी शाल का अच्छा विवरण उपलब्ध है। परन्तु बाद में इस उद्योग का ह्रास हुआ और जब १४वीं तथा १६वीं सदी के बीच कश्मीर में मुसलमानों का आगमन हुआ तब यह समाप्त प्रायः हो चुका था। उन्होंने ही इसका पुनर्विकास किया, इसके उत्पादनों को संरक्षण प्रदान किया और इसे प्रोत्साहन दिया।

लोकप्रियता में वृद्धि

सत्रहवीं शताब्दी में इस उद्योग में काफी गति आयी जबकि नयी-नयी डिजाइनों, खास कर जीघा (बादाम के आकार जैसी), मेल खाते रंगों और उत्तम पोत तथा कसीदाकारी का आरम्भ किया गया। इन सुधारों को प्रचलित करने हेतु "मुगल बादशाह कई अंदजानी बुनकर भारत और कश्मीर लाये।" शाल का उत्पादन चौगुना बढ़ गया। लंदन को इसका निर्यात इतना बढ़ गया कि वहाँ के स्थानीय स्कार्फ की बिक्री बहुत कम हो गयी और अपने स्थानीय उद्योग को संरक्षण प्रदान करने के लिए लंदन के सीमा शुल्क विभाग ने कश्मीर शाल पर ८० प्रति शत आयात शुल्क लगा दिया, जिससे इसकी कीमत प्रति शाल ५०० पौंड हो गयी। लंदन में माँग बढ़ने से देश में भी शाल की कीमत पर अच्छा प्रभाव पड़ा।

डेढ़ गज लम्बी मामूली शाल की कीमत १२ रुपये से ७०० रुपये तक थी। तथापि, बाद में ३×२ गज के शाल की कीमत, जिसके दोनों पल्लव पर एक-एक फुट अलंकृत कसीदाकारी की हुई होती थी, ३०० रुपये से ९०० रुपये तक थी। इस उद्योग की सफलता तथा इसके होनेवाले अधिक लाभ ने मुगल बादशाहों को इतना अधिक प्रभावित किया कि उन्होंने इस उद्योग को पटना और आगरा ले जाने का जोरदार प्रयास किया और इसके लिए १०,००० कारीगर इन स्थानों में लाये गये। परन्तु यह प्रयोग गर्म आबहवा के कारण असफल रहा। यही कारण है कि शाल-उद्योग सिर्फ कश्मीर में फल-फूल सका।

इस घाटी में जब पठानों का शासन था, तब यह उद्योग चर्मोत्कर्ष पर था। परन्तु इसकी प्रगति में भारी कराधान तथा अत्यधिक लाभ-कर लगने से बाधा पहुँची। इन कराधानों से राज्य-कोष में ४० लाख रुपये पहुँचते थे और यह कारीगरों तथा सम्पूर्ण उद्योग के लिए हानिकारक था। फलस्वरूप उद्योग क्षीण हो गया।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में सिक्ख शासन काल में इस उद्योग को सर्वाधिक महत्व प्राप्त हुआ। इसने १० लाख २० हजार लोगों को रोजगार दिया तथा सरकार को भी इतनी अधिक आय करायी कि भू-राजस्व के बाद इसी का स्थान हो गया। वार्षिक उत्पादन अन्दाजन ३५ लाख रुपये मूल्य का था अथवा वर्तमान मूल्य स्तर पर १ करोड़ ५ लाख रुपये का। फिर, उद्योग ने प्रथम बार यूरोप के ग्राहकों को आकर्षित किया। संयोग से "यूरोप पहुँचनेवाला प्रथम शाल नेपोलियन द्वारा मिस्र अभियान के वक्त साम्राज्ञी जोसेफीन को भेंट देने हेतु खरीदा गया।"† उसके बाद शीघ्र ही फ्रांसीसी व्यापारी भारत और फिर कश्मीर आये और विभिन्न किस्म के शालों का फ्रांस को निर्यात किया। फ्रांसीसी व्यापारियों के साथ खुले तौर पर मूल्य तय कर लिया गया, यद्यपि अन्य मामलों में वे बंद और खुले दोनों ही तौर पर तय किये जाते थे। इस अवधि में सालाना २५० से ५०० मन कच्चा ऊन आयात किया जाता था। "पहले ऊन सिर्फ तिब्बत के तैन-शुऊ और उस्त तरजन से ही आयात किया जाता था* परन्तु इस अवधि में पड़ोसी यारकन्द, कोहतेन तथा खिरगी के गडरिया परिवारों से भी प्राप्त किया गया।" मुगल व्यापारी इसे खरीदते थे और फिर तैयार शालों से बदल लेते थे, जिन्हें कि वे अच्छे लाभ पर रुस को बेच देते थे। इससे उद्योग की इस माने में तरक्की हुई कि उत्पादन बढ़ने के साथ ही नये बाजार भी खोजे जाने लगे तथा उनकी मांग की पर्याप्त पूर्ति की जाने लगी। साथ ही कारीगरों के हितार्थ कच्चे माल के नये स्रोत भी खोजे गये।

विघटन के बीज

सिक्ख सरकार को भी वित्त की बहुत कमी हो गयी और उसने अपनी पूर्व-कालीन सरकारों की तरह भारी कराधान का रास्ता अपनाया। भारी शुल्क लगाया गया और १८२७ में सालाना शुल्क १२ लाख रुपयों तक पहुँच गया। "दूकानों पर शुल्क इस हिसाब से लगाया गया कि साल में जितने शाल बनाये गये तथा छापे गये उन पर प्रति रुपया ३ आना लिया गया (प्रत्येक १०० रुपये को १४४ रुपये मान लिया गया)। इन दो शुल्कों के अलावा छत्रहना, रसूम-दवंके, हक्में-नजराना आदि कर भी लगाये गये।§ फलतः दूकानों की संख्या घट कर ६०० या ७०० रह गयी और सारा व्यापार ही बंद होने जैसा हो गया। इन भारी करों से १७९४ से १८२२ के बीच कारीगरों में बहुत असंतोष फैला, शाल की कीमत १८०

† डब्ल्यू. आर. लारेंस : **वैली ऑफ कश्मीर**; पृष्ठ: ३७६।

* पी. एन. के. बमजाई: **कश्मीर अण्डर सिक्ख्स**; पृष्ठ: ५७

§ लेफ्टिनेंट टेलर : **लाहोर पोलिटिकल डायरी**; खंड: २; पृष्ठ: ५४।

रुपये से ६,६०० रुपये हो गयी और कच्चे ऊन की कीमत करीब ४०० प्रति शत बढ़ गयी, जैसा कि तालिका १ में दिखाया गया है।

तालिका १

शाल ऊन का मूल्य

वर्ष	प्रति छः सेर का मूल्य (रु. में)	प्रातिशत्य वृद्धि
१७९४–१८०७	८	...
१८०८–१८१३	१६–२०	१५०
१८१४–१८१७	२२	१७५
१८१८	२५	२१२
१८२२ और बाद में	४०	४००

उद्योग को १८३४ के दुर्भिक्ष में एक धक्का और लगा, जिससे बहुत से शाल बुनकर कश्मीर छोड़ पंजाब के अमृतसर, लुधियाना, अम्बाला जैसे स्थानों में जा बसे, जहाँ बाद में उन्होंने अपनी ही दूकानें खोल दीं। बहुत-से कारीगर अधिक आय करानेवाले अन्य धंधों में जा लगे।

पुनर्जीवन

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राज्य में डोगरा शासन प्रस्थापित हुआ और फलतः वातावरण शान्त होने पर उद्योग ने एक बार फिर प्रगति की ओर कदम बढ़ाना शुरू किया और १८४६ से १८६९ तक राज्य को सालाना ७ लाख रुपये की आमदनी कराता रहा। उत्पादन भी २५ लाख रुपये से बढ़ कर ३० लाख रुपये का हो गया, जिसमें से ८० प्रति शत तो अकेले फ्रांस ने, अमेरिका ने १० प्रति शत, इटली ने ५ प्रति शत, रूस ने २ प्रति शत तथा जर्मनी और ग्रेट ब्रिटेन में से प्रत्येक ने १–१ प्रति शत खरीद लिया। इस उद्योग में करीब २८,००० लोग लगे थे, "किन्तु उन्हें बहुत मामूली मजदूरी मिलती थी तथा न उन्हें कश्मीर छोड़ने की इजाजत मिलती थी और न रोजगारी बदलने की ही, जिससे कि वे गुलामों की स्थिति में थे और उनकी औसत मजदूरी प्रति दिन तीन रुपये थी।"

यह जो थोड़ी-सी राहत मिली, फ्रांस-प्रशिया युद्ध ने उसे मिटा कर उद्योग पर गहरा प्रहार किया। "वृद्ध कश्मीरी अभी भी उन दिनों की कहानी सुनाते हैं कि किस उत्साह और दिलचस्पी के साथ उन्होंने उस युद्ध का अवलोकन फ्रांस के भाग्य का निर्णय जानने के लिए किया था और जर्मनी के विजयी होने का समाचार मिलते ही फूट-फूट कर रो पड़े थे।" युद्ध में परास्त होने के कारण फ्रांस की माँग बहुत कम हो गयी। सन् १८७७-७९ के दुर्भिक्ष से, जिससे आबादी एक-चौथाई हो गयी, उद्योग के पुर्नविकसित होने की आशाएँ ढह गयीं। हजारों लोग भारतीय मैदानी भूमि पर चले गये। जो कोई घाटी में रह गया, उसने भी भारी कराधान के कारण इस उद्योग को छोड़ दरी उद्योग अपना लिया। इसी समय हर साल किसान भी बड़ी-बड़ी संख्या में कश्मीर छोड़ने लगे। फलतः पहले जो लोग इस उद्योग में लगे थे, वे दूसरे उद्योगों को अपनाने लगे और इसके लिए वे राज्य के बाहर जाना भी पसन्द करते थे।

उद्योग के गिरने का एक कारण भारी कराधान भी था। सरकार शाल बुनकरों को नियुक्त करनेवालों से प्रति बुनकर पीछे ३५ रुपये और उत्पादित वस्तुओं पर २० प्रति शत शुल्क वसूल करती थी। निर्यात किये जानेवाले बड़े शाल पर ७.१५ रुपये और छोटे शाल पर ५.१३ रुपये निर्यात शुल्क लगा दिया गया। यूरोप की औद्योगिक क्रांति का भी इस उद्योग पर असर पड़ा। औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप यूरोप में कपास और कच्चे रेशम का बृहत् उत्पादन हुआ और भारत में उनके बढ़ते आयात से देशी माल की बिक्री कम हो गयी। फिर, कानपुर और धारीवाल में ऊनी मिलों की स्थापना से उत्तर भारत के

बाजार उनके कपड़ों से भर गये, जिससे कश्मीरी वस्त्रों की माँग बहुत कम हो गयी।

इसके अलावा, अमृतसर और ग्रेट ब्रिटेन (खास कर पेसली से, जहाँ मशीन से सस्ते शाल 'तैयार किये जाने लगे) के सस्ते कपड़ों से प्रतियोगिता, विदेशों को भेजे जानेवाले माल पर लगाया गया निर्यात शुल्क और ग्रेट ब्रिटेन द्वारा आयात पर लगाया गया भारी शुल्क, फैशन में परिवर्तन, विशेष कर फ्रांस में, रियासतों की समाप्ति, नकली और सस्ते मालों का उपयोग, स्वतंत्र व्यापारियों के असंगत और आक्षेपजन्य व्यवहार, कम मजदूरी (प्रति माह १ रुपये ५० नये पैसे) और सरकारी संरक्षण की कमी ने इस उद्योग को मृत-प्राय: बना दिया।‡ इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में शाल उद्योग प्राचीन गौरव का स्मरण करने योग्य उद्योग भर रह गया।

सन् १८९०–१९१४ के बीच उद्योग की गिरती अवस्था को राज्य में आनेवाले भ्रमणार्थियों की बढ़ती संख्या ने और गिरने से बचाया और इससे स्थानीय कला-कारीगरी को नवजीवन मिला। इसी प्रकार १९०५–१९०७ के स्वदेशी आन्दोलन ने भी इन ऊनी वस्त्रों की घरेलू मांग, विशेष कर उत्तर भारत में, बढ़ा दी और इन उद्योगों को प्रेरणा मिली, परन्तु वह क्षणिक रही।

बाद के ३३ वर्षों में (१९४७ तक), उन्नीसवीं शताब्दी के चौथे दशक की विश्व आर्थिक संकट की घड़ी को छोड़ कर, किसी प्रकार के सुधार के आसार नजर नहीं आये। प्रथम विश्व युद्ध के समय पुन: बहुत-से श्रमिक ऊन उद्योग में आ लगे और फलत: ऊनी वस्त्रों के मूल्य में सुधार हुआ। परन्तु इससे स्तर में गिरावट आयी; क्योंकि सस्ते ऊन और एनीलाइन रंगों से जल्दी-जल्दी शाल तैयार किये जाने लगे जिससे स्पष्ट ही उद्योग पर बुरा असर पड़ा। द्वितीय विश्व युद्ध आरम्भ होने से उद्योग को पुन: थोड़ी राहत मिली। आजादी मिलने के बाद के चन्द प्रारम्भिक वर्षों में उद्योग की अवस्था निम्नतम स्तर पर पहुँच गयी–प्रथम १९४७ में हुए पाकिस्तानी हमले के कारण तथा यूरोप वासियों का भारत से प्रस्थान करने के कारण और द्वितीय, राज्य का भारत में विलय होने के कारण जिसने कि भ्रमणार्थियों की यात्रा और मांग का स्वरूप ही बदल दिया है। इस प्रकार भारत के योजित विकास के प्रारम्भ में यह उद्योग भूत की परछाई भर था।

‡डाक्टर पी. एन. कौल : 'एक्सटर्नल ट्रेड एंड रिसेंट डेवलपमेण्ट ऑफ जम्मू एंड कश्मीर स्टेट,' अप्रकाशित शोध लेख।

वर्तमान अवस्था

इस अनिश्चित और असदृश्य अवस्था में राज्य सरकार ने उद्योग का विकास समग्र रूप में करने की कोशिश की। प्रारम्भ में उद्योग की अवस्था को सुधारने हेतु इन कामों के लिए महत्वपूर्ण कदम उठाये गये : (१) कारीगरों का सहकारी आधार पर संगठन; (२) सूत और वस्त्र के स्तर में सुधार; (३) प्रत्येक कारीगर को कम से कम ४५ रुपये प्रति माह के न्यूनतम वेतन की गारंटी; (४) यथा संभव बिचवा-नियों की समाप्ति; (५) कारीगरों को पूंजी सहा-यता; (६) अपने भवनों के जरिये भारत के प्रमुख शहरों में उत्पादनों का प्रचार; (७) देश के हर हिस्से तथा विदेश से भी अधिकाधिक भ्रमणार्थियों को आकर्षित करना; और (८) शालों का निर्यात बढ़ाने के लिए शाल व्यापारियों को मुफ्त निर्यात लाइसेंस देना।

रोजगारी

इन उपायों से १९५८–५९ में १ लाख ३५ हजार रुपये मूल्य के कसीदाकारी किये शाल तथा अन्य वस्त्र उत्पादित हुए जो कि १९५०–५१ के उत्पादन के मुकाबले करीब दूने हैं। अकेले सरकार प्रवर्तित उत्पादन केन्द्रों ने इस कुल उत्पादन का दसवां हिस्सा उत्पादित किया।

अभी इस उद्योग में २० हजार से भी अधिक

लोग विभिन्न रूप में कार्य कर रहे हैं जिसका विस्तृत विवरण नीचे दिया गया है :

तालिका २

थोक व्यापारी-सह-निर्माता		५०
बिचवानिये		८००
कारीगर		
(अ) पूर्णकालीन	३,५००	
(आ) अंशकालीन	१६,०००	१९,५००
अन्य		१००
कुल		२०,४५०

कसीदाकारी का काम करनेवाले १९,५०० कारीगरों के अलावा, प्रथम दो श्रेणियों में आनेवालों को छोड़ कर, ७ से १२ वर्ष की आयुवाले २,००० बच्चे अप्रेंटिस के तौर पर नियुक्त हैं। अन्य कारीगरों में धोबी, रंगसाज और छापेसाज शामिल हैं।

उद्योग में लगे कारीगरों को नग के हिसाब से मजदूरी दी जाती है। औसत मजदूरी अन्य समकालीन दस्तकारियों के मुकाबले कम है। पूर्णकालीन कारीगरों की दैनिक मजदूरी में भिन्नता निम्न प्रकार है :

	रफल शाल (रुपये में)	पश्मीना शाल (रुपये में)
वयस्क कारीगर	१.२५ से २.६०	१.७५ से ३.००
बच्चे	०.२० से ०.५०	०.५० से ०.८०

उद्योग के मुख्य कच्चे माल हैं रफल और पश्मीना। इनकी वर्तमान पूर्ति बिल्कुल अपर्याप्त है और इससे न्यूनतम मांग की भी पूर्ति नहीं होती।

(अ) रफल सूत आस्ट्रेलिया अथवा इंग्लैंड से आयात किये गये मेरिनो ऊन से काता जाता है। अभी हाल तक इसकी पूरी आवश्यकता अमृतसर द्वारा पूरी की जाती थी। परन्तु हाल के वर्षों में सरकार ने आयात से छुटकारा पाने की दृष्टि से स्थानीय उत्पादन को प्रोत्साहित करने के लिए १२,००० तकुए स्थापित किये हैं जिनकी क्षमता ७५ हजार पौंड सूत कातने की है। फिर भी, उद्योग आयात पर निर्भर है और काफी समय तक रहेगा। आयात के मुख्य स्रोत तथा उनके परिणाम तालिका ३ में दिये गये हैं।

(आ) पश्मीना बहुत ही सीमित परिमाण और अधिकतम मूल्य पर प्राप्त है। कच्चे ऊन का मूल्य प्रति पौंड १० रुपये से ५० रुपये तक है। पश्मीना मर्चेंट्स एसोसिएशन, अमृतसर के अनुसार सामान्य वर्ष में कुल १ हजार से १,२०० मन लद्दाख में और २ हज़ार मन कूलू आदि में आता है। किन्तु इंडियन ट्रेड एजेण्ट, गंगतोक के अनुसार कच्चे पश्मीना ऊन का तिब्बत से १९५४, १९५५ और १९५६ में कुल आयात क्रमशः २,६१८ मन, ३,१०८ मन और ४,८६५ मन हुआ। इसमें से १,००० से २,२५० मन तक विदेशों को निर्यात कर दिया जाता है, जिस कारण स्थानीय बाजार के लिए बहुत कम परिमाण में माल बच जाता है। इस प्रकार पश्मीना वस्त्र बहुत ही कीमती और दुर्लभ है और स्वभावतः यह सिर्फ धनिकों की पहुँच की वस्तु है।

पश्मीना बुनने के लिए श्रीनगर में करीब ५०० करघे हैं जिनके मालिक विभिन्न एजेंसियाँ हैं जो कि करीब १२,०० व्यक्तियों को रोजगारी देती हैं और

तालिका ३

मद	परिमाण (लाख में)	मूल्य (लाख रुपये में)	स्रोत
१. रफल सूत	२. ७५ पौंड बराबर है १३.९२ गज वस्त्र के	३९.००	९० प्रति शत अमृतसर १० प्रति शत बम्बई
२. रफल वस्त्र	३.०० गज	१०.००	अमृतसर

इसके अलावा ४,००० औरत सहायक धंधों में लगी हैं। महत्वपूर्ण संगठनों के लिए पश्मीना वस्त्र के उत्पादन के आंकड़े निम्न प्रकार हैं:

तालिका ४

जम्मू और कश्मीर में पश्मीना वस्त्रोत्पादन

	१९५६–५७ (रुपये में)	१९५७–५८ (रुपये में)	१९५८–५९ (रुपये में)
खादी और ग्रामोद्योग कमीशन	९१,४८८	९५,५६१	८८,१२५
श्री गांधी आश्रम	१,५३,१११	१,३६,८०५	६२,९१८
पश्मीना बुनकर औद्योगिक सहकारी समिति लि०	...	...	४,६९१
कश्मीर सरकार आर्टस् एम्पोरियम	अप्राप्य	अप्राप्य	१,००,०००

स्रोत : विकास आयुक्त (लघु स्तरीय उद्योग), भारत सरकार।

उद्योग के सुदृढ़ विकास के लिए चन्द अत्यावश्यक और महत्वपूर्ण उपाय हैं :

१. सहकारी समितियों का गठन : बिचवानियों के महत्व को कम करना चाहिए और कारीगरों को किसी सहकारी संघ के अंतर्गत एक बनाना चाहिए, ताकि छोटे परन्तु आर्थिक रूप में कमजोर इकाइयों का बड़े पैमाने पर संगठन हो सके और उनका बहुत कुछ स्थानीय और बाहरी खर्च बच सके।

२. प्रत्येक मद में सुविधाएँ : कैलेंडरिंग और समापन प्रक्रियाओं के लिए एक संयंत्र की स्थापना की जानी चाहिए ताकि बाहरी स्रोतों पर निर्भर न रहना पड़े और यातायात, पैकिंग आदि मदों में होनेवाले खर्च बचाये जा सकें।

३. डिजाइन : नयी डिजाइनें तैयार की जानी चाहिए और पुरानी डिजाइनों में सुधार करना चाहिए, ताकि वे बदलती रुचियों और पसन्दों के अनुरूप हो सकें। इस कार्य के लिए निजी अथवा सरकारी तौर पर एक स्थायी बाजार अनुसंधान संस्था की स्थापना की जानी चाहिए। राज्य सरकार मांग का अध्ययन कश्मीरी व्यापारियों से सम्पर्क तथा विदेशों में नियुक्त भारतीय व्यापार आयुक्तों के जरिये सम्भावित आयातकों से सम्पर्क स्थापित कर सकती है।

४. प्रचार : इन वस्तुओं के व्यापक प्रचार के लिए राज्य सरकार को एक सूची तैयार कर उसे अपने व्यापार प्रतिनिधियों के जरिये विदेशी बाजारों में वितरित कर देनी चाहिए।

५. निरीक्षक : यह आवश्यक है कि तैयार वस्तुओं का निरीक्षण सरकारी कला भवन करे अथवा कोई और सरकारी माध्यम।

६. खरीद गारंटी योजना : इस व्यापार में बड़ी संख्या में लगे कारीगरों की रोजगारी सुनिश्चित करने के लिए, आर्थिक तथा कलात्मक दोनों ही पहलुओं से, सरकार को खरीद गारंटी योजना जैसी कोई चीज आरम्भ करनी चाहिए, ताकि गरीब परन्तु जरूरतमंद कारीगर बिचवानियों के जरिये लूटे न जायें और उन्हें न्यूनतम मूल्य निश्चित ही मिल सके।

आशा है कि ये सुविधाएँ मिलने पर यह पुराना और कम समृद्ध उद्योग अपनी खूबियाँ और क्षमता बनाये रखेगा और फिर से पनपकर वही प्राचीन महत्व और आकर्षण प्राप्त करेगा।

बल्लभ विद्यानगर (गुजरात) : ७ जुलाई १९६३ ●

धान का सेलीकरण

त्र्यम्बकलाल भ. भट्ट

चावल सम्प्राप्ति से पूर्व धान का सेलीकरण क्यों किया जाता है, इस तरीके से प्राप्त लाभ का मूल्यांकन करने के लिए किये गये परिक्षणों तथा धान का सेलीकरण करने के विभिन्न तरीकों जैसी विभिन्न बातों पर प्रस्तुत लेख में चर्चा की गयी है।

सम्भवतः धान ही एक ऐसा अन्न है, जिससे पकाने व खाने के लिए अन्तिम खाद्यान्न, चावल, प्राप्त करने से पूर्व किसी अंश तक उबाला जाता है। अर्द्धोबलन, आंशिक उबलन का संक्षिप्त रूप है, जोकि पूर्ण उबलन या उबालन से बिल्कुल भिन्न है। पूर्ण उबलन तो बाद में होता है, जब चावल को वास्तविक रूप से खाने के लिए पानी के साथ पकाया जाता है। इस बात का पता नहीं है कि भारत में यह प्रक्रिया कब प्रारम्भ हुई या सर्व प्रथम कहाँ और किस उद्देश्य से अपनायी गयी अथवा आकस्मिक रूप से इसका पता चला था या यह जान-बूझ कर किसी निश्चित उद्देश्य से हाथ में ली गयी प्रक्रिया का फल था। मलाया में बेरी-बेरी नामक बीमारी के कारणों की खोज करनेवाले वैज्ञानिक अनुसंधानकर्त्ताओं के प्रतिवेदन के आधार पर पता चलता है कि वहाँ के तमिल भाषी लोग आज से करीब १०० वर्ष पहले इस प्रक्रिया से पूर्णरूपेण परिचित थे। इस तथ्य के आधार पर हम कह सकते हैं कि यह प्रक्रिया कम से कम दो सौ वर्ष पुरानी है और इसका उद्गम स्थल दक्षिण भारत है। धान के सेलीकरण या अर्द्धोबलन के सम्बन्ध में हमें दक्षिण-पूर्व एशिया, यूरोप अथवा अमेरिका के किसी देश में कोई चर्चा नहीं मिलती; हमने इन अनेक देशों में बेरी-बेरी नामक रोग होने की बातें ही सुनी हैं, जिससे अनेकानेक व्यक्ति पीड़ित व मृत्यु के ग्रास बनते हैं।

बीमारी का विस्तार

आज यह एक सर्व परिचित तथ्य है कि मानव शरीर के विकास व स्वास्थ्य में पौष्टिक तत्वों (विटामिन) का बहुत बड़ा हाथ रहता है; और हमारे आहार में विटामिन 'बी' की कमी बेरी-बेरी नामक रोग का मूल कारण है। हाथ कुटे चावल में, जोकि मुख्यतः कम पालिशदार अथवा बिना पालिश का होता है, विटामिन 'बी' काफी मात्रा में मिलता है, और यह कि इस चावल के उपभोग से उक्त रोग की रोक-थाम होती है। यह बात अच्छी तरह प्रतिष्ठापित हो चुकी है कि अत्यधिक पालिशदार चावल के उपभोग और बेरी-बेरी नामक बीमारी का आदमी की ६५ वर्ष की आयु के पश्चात् बहुत गहरा सम्बन्ध होता है तथा यह भी पाया गया कि जहाँ का प्रधान आहार अत्यधिक पालिशदार कच्चा चावल है वहाँ चन्द क्षेत्रों में यह एक महामारी है। इस बात की खोज किस प्रकार हुई, यह जानना रुचिकर होगा। श्री ब्रैडोन नामक एक सज्जन १९०० से १९१२ के मध्य मलाया (अब स्वतंत्र) संघ में काम करता था। उसने वहाँ उक्त रोगों के छूत से लगनेवाले तत्वों का अध्ययन किया। वह इस तथ्य पर पहुँचा कि छूत से प्रभावित होने में चीनी और तमिल व्यक्तियों में बहुत भिन्नता है। चीनियों पर उक्त रोग का बहुत प्रभाव हुआ, जबकि तमिल लोग बच गये। चीनी लोग मिल कुटा कच्चा चावल खाते थे, तमिल लोग सेलीकृत धान से प्राप्त उसने चावल को तरजीह देते थे। इस पर्यवेक्षण से श्रीगणेश कर श्री ब्रैडोन ने बताया कि सभी चावल खानेवाले देशों में मिल कुटा कच्चा चावल खाने के साथ बेरी-बेरी का प्रभाव जुड़ा रहता है, जबकि जो लोग उसना चावल खाते हैं वे इस रोग से मुक्त रहते हैं। उसकी व्याख्या

यह थी कि वाष्पित करने अथवा उबालने से चावल में का 'टोक्सिन' नष्ट हो जाता है। इस प्रकार के चावल को 'उपचारित' चावल भी कहा जाता है। एक अन्य व्यक्ति श्री फ्लेचर (Fletcher) कुआला-लुमपुर में के मानसिक उपचार गृह में काम करते थे। उन्होंने परीक्षणों के आधार पर यह सिद्ध किया कि कच्चे चावल के स्थान पर सेलीकृत अर्थात् उसने चावल का उपयोग कर बेरी-बेरी नामक रोग को पूर्णतः समाप्त किया जा सकता है।

फ्रेजर (Fraser) और स्टेण्टोन (Stanton) का परीक्षण भी इतना ही उल्लेखनीय है। उन्होंने श्रमिकों की दो टोलियाँ बनायीं और उन्हें जंगल में एक दूसरी से सात मील के अन्तर पर सड़क निर्माण कार्य में लगाया गया। एक टोली में २२० व्यक्ति थे। उन्हें मिल कुटा सफेद कच्चा चावल खाने के लिए दिया गया। दूसरी टोली में २७३ व्यक्ति थे, उन्हें न्यून मिल कुटा उसना चावल खाने को दिया गया। चावल के अतिरिक्त उनके भोजन में समुद्री मछली, प्याज, आलू तथा नारियल शामिल थे। छः माह के अन्दर प्रथम टोली में २० व्यक्ति बेरी-बेरी के शिकार हुए, जबकि द्वितीय टोली में कोई इस बीमारी का रोगी नहीं हुआ। अवस्थाओं में अब परिवर्तन किया गया— पहली टोली को उसना चावल और दूसरी को मिल कुटा चावल दिया गया। प्रथम में बेरी-बेरी की पहली घटना अचानक बन्द हो गयी और द्वितीय में प्रारम्भ हुई। जापान की नौसेना, बर्मा में लाइट हाउस के कर्मचारियों, फिलीपाइन के स्काउटों आदि में इसी प्रकार के परीक्षण किये गये और उनसे उक्त तथ्य की पुष्टि करनेवाले परिणाम निकले। असंतुलित चावल के आहार के साथ जुड़ी हुई बीमारियाँ अपने विशिष्ट रूप की हैं। भारत के अनेक भागों में प्रधान भोजन के रूप में उसना चावल खानेवालों में उन बीमारियों को कोई जानता भी नहीं, फिर चाहे वह चावल मिल कुटा ही क्यों न हो। अपने विशिष्ट रूप में ये बीमारियाँ वर्तमान आन्ध्र प्रदेश के समुद्र तटीय प्रदेशों और गंजम जिले तक ही सीमित हैं, जहाँ मिल कुटा कच्चा चावल प्रधान अन्न के रूप में खाया जाता है। असम, पश्चिम बंगाल, बिहार, उड़ीसा, केरल, मद्रास और मैसूर के समुद्र तटीय जिलों जैसे देश के अन्य भागों में इन रोगों के कोई इने-गिने मामले ही कभी-कभार सामने आते हैं।

सेलीकरण क्यों ?

धान का सेलीकरण करने के अनेक कारण हैं। धान जब बिल्कुल नया हो अथवा चार माह से कम पुराना हो तो जैसी की तैसी कच्ची अवस्था में उसकी कुटाई नहीं की जा सकती। कुटाई करने पर उसमें टूट-फूट बहुत होगी। इस प्रकार का नया चावल अच्छी तरह पकता भी नहीं। वह चिपचिपा हो जाता है। सेलीकरण से इस समस्या का एक समाधान मिलता है। इससे चावल का दाना कठोर हो जाता है और फलस्वरूप कुटाई करने पर टूट-फूट कम होती है, पकाने में भी सुविधा होती है तथा यह भी दावा किया जाता है कि इस प्रकार का उसना चावल सुपाच्य भी हो जाता है। पुराने धान का सेलीकरण करने से उसमें भी टूट-फूट कम होती है, फिर चाहे उसकी कुटाई मिल में ही क्यों न की जाय। नरम दाने में यह टूट-फूट ५ से १० प्रति शत और कठोर एवम् कुछ मोटी किस्मों में उससे कुछ कम प्रातिशत्य में होती है। कुटाई बहुत आसान भी हो जाती है, क्योंकि सेलीकरण के दौरान छिलके किसी हद तक ढीले पड़ जाते हैं और किसी-किसी अवस्था में तो तिड़क भी जाते हैं। कुछ किस्मों का प्राकृतिक लाल अथवा गहरा लाल रंग लोग पसन्द नहीं करते, और सेलीकरण से किसी हद तक लाल रंग भी पीले-से रंग में बदल जाता है।

पौषक मूल्य की दृष्टि से भी उसना चावल उत्तम होता है। ऐसा पाया गया कि अत्यधिक पालिशदार उसना चावल भी प्रशोधन क्रिया के दौरान उस सीमा तक पौषक तत्व नहीं खो बैठता जिस हद तक अत्यधिक पालिशदार कच्चा मिल कुटा चावल। परीक्षणों से पता चला है कि बिना पालिश किये हुए कच्चे चावल में विटामिन 'बी' प्रति ग्राम में २.३ माइक्रोग्राम होता है

जबकि बिना पालिशवाले उसने चावल में प्रति ग्राम पीछे २.६ माइक्रोग्राम। इसी प्रकार १७ से २२ प्रति शत तक मिल कुटे कच्चे चावल में विटामिन द्रष्टव्य नहीं होते उसी प्रातिशत्य में मिल कुटे उसने चावल के प्रति ग्राम में १.६ माइक्रोग्राम विटामिन होते हैं। इसके विपरीत कच्चे चावल का जो कणा अलग हो जाता है उसमें उसने चावल के कणे से अधिक विटामिन होते हैं। यहाँ तक कि पकाने से पूर्व चावल के धोने और अनावश्यक मांड निकालने पर भी उसने चावल में अधिक पोषक तत्व रहते हैं। अतएव अत्यधिक मिल कुटे पालिशदार चावल की मांग होने पर उसना चावल पकाना बेहतर है। यह इसलिए कि विटामिन तथा कुछ धात्विक लवण—जो चावल की बाहरी कणेदार परत में होते हैं—सेलीकरण के दौरान पानी में मिल कर दाने के परिकोटा में चले जाते हैं एवम् कुटाई, धुलाई आदि के दरमियान वहाँ सुरक्षित बने रहते हैं। चावल को कई दिनों तक रखने के सम्बन्ध में भी कच्चे चावल से उसने चावल का गुण अच्छा होता है। जहाँ कच्चे चावल में यदि उसे तीन माह से अधिक भाण्डारित करके रखा जाय तो कीटाणु पड़ सकते हैं, वहाँ उसने चावल में उतना भय नहीं है।

सेलीकरण के तरीके

सेलीकरण का प्रारंभिक तरीका जिसे हम औद्योगिक तरीके से भिन्न देशी तरीका कह सकते हैं, यह है कि पहले दिन शाम में डेढ़-दो मन चावल किसी बरतन में पानी में भिगोकर दूसरे दिन सुबह तक यानी १०-१२ घण्टे पानी में रखते हैं। बरतन को चूल्हे अथवा भट्टी पर रख देते हैं। इस भट्टी में अगले दिन आग जलायी जायेगी और पानी गरम किया जायेगा। तब बरतन को भट्टी से अलग कर लेते हैं, धान को ढालू जमीन पर फैला देते हैं ताकि पानी निकल जाय या फिर बरतन के मुँह पर बोरा या बोरी बांधकर उसे उल्टा कर देते हैं। पानी के निकल जाने के बाद धान को कुछ घण्टे के लिए छाया में फर्श पर सुखाते हैं और उसके बाद धूप में सुखा लेते हैं। कुछ परिवारों में पानी उबलना शुरू होने के साथ ही उसे छान लेते हैं; कुछ में तब तक उबालते जाते हैं जब तक कि धान का छिलका तिड़क न जाय और चावल का सफेद दाना दिखने न लगे। अनेक मामलों में पानी में भिगाने का समय छः या आठ घण्टे से अधिक का नहीं होता। कुछ मामलों में धान एक जल-युक्त पात्र में डाला जाता है और तुरन्त उसे उबालना शुरू कर देते हैं, भिगोने के लिए बिना समय देते हुए। इस प्रकार तुरन्त उबाला हुआ चावल कच्चे चावल से बहुत मिलता है और इस कारण बहुत पसन्द किया जाता है। भाप से सेलीकरण करना कभी भी घरेलू प्रक्रिया नहीं रही।

इन तरीकों को बाद में जब बड़ी तादाद में चावल प्रशोधन होने लगा तो व्यावसायिक पैमाने पर इस्तेमाल में लाया जाने लगा। पानी की कमी और उबलते हुए पानी को छानने में होनेवाली असुविधा तथा जोखिम के कारण भी वाष्प उबालन अपनाया गया। इस तरीके में धान को गर्मी भी समान रूप से मिलती है, इसलिए पेंदे में अधिक उबलने अथवा ऊपर कम उबलने या असमान रूप से उबलने से भी बचा जा सका। उबालने में लगनेवाले समय में करीब ५० प्रति शत बचत हुई है और पानी तथा जलावन की भी बचत हुई है। फिलहाल भाप से उबालने के दो तरीके प्रचलित हैं: सामान्य तरीका यह है कि धान को लोहे की टंकी या कड़ाह में भिगाते हैं। कड़ाह भट्टी पर रखते हैं। जलावन मुख्यतः धान की भूसी तथा कुछ अन्य प्रकार का होता है। लोहे की टंकी में दो पेंदे होते हैं जिनमें एक झूठा पेंदा होता है। उसमें एक वर्ग इंच में करीब दस-बारह छेद होते हैं। इनमें से आँच लगने पर भाप बनकर ऊपर भीगे हुए धान से होकर चोटी से होती हुई निकल जाती है। चोटी पर ५ से ८ मिनट तक भाप का आना टंकी के पार्श्व दरवाजे से—जो कि झूठे पेंदे के समतल होता है—धान को बाहर निकालने के लिए हरी झण्डी है। व्यावसायिक उबालन में धान को छाया में नहीं सुखाया जाता; केवल धूप में ही सुखावन होता है।

द्वितीय तरीके में वाष्प एक नियमित बोइलर में दबाव के अन्तर्गत जनित की जाती है। पानी में भिगोया हुआ धान दो लम्ब रूप लोहे के वर्तुलों (सिलिण्डर) में रखा जाता है। इनके पेंदे शुण्डाकार होते हैं जो अन्तिम छोर पर बिल्कुल बन्द होते हैं। बोइलर से दो-तीन नलिकाओं के जरिये धानयुक्त वर्तुलों में बारी-बारी से १०-१५ मिनट तक भाप पहुँचायी जाती है। इन वर्तुलों में १५-२० मन धान आ सकता है। इस तरीके में सेलीकरण का खर्च कम है लेकिन प्रारम्भिक लागत अधिक है।

धान को भिगाने के समय के बारे में यह पाया गया कि घर पर उबालन के लिए यह न के बराबर से १० घण्टे तक और व्यावसायिक उबालन में २४ से ९६ घण्टे तक का होता है। धान जब एक ही पानी में २४ घण्टे से अधिक तक भिगोया रखा जाता है तो उससे बास-सी आने लगती है और यदि पानी बदला नहीं जाय तो उसका प्रभाव धान पर भी पड़ता है। काफी समय तक भिगोया रखने के कारण चावल में भी हरा-हरा या पीला-सा रंग आ जाता है। इस प्रकार रंग और यहाँ तक कि उक्त प्रकार की बास भी, कहते हैं कि अनेक उपभोक्ता पसन्द करते हैं तथा बताया जाता है कि लम्बे समय तक भिगाने का यही कारण है। एक अन्य व्यावसायिक कारण भी है। एक ही पानी में धान को भिगाने से धान के दाने में असाधारण फुलावट आ जाती है। बाद में सेलीकरण और सुखावन के पश्चात् भी चावल अपने प्रारम्भिक आकार तक नहीं सिकुड़ता। कुटाई के पश्चात् आकार की दृष्टि से इस प्रकार अधिक प्राप्ति होती है, विशेष कर तब जबकि उसकी कुटाई कुछ-कुछ आर्द्र अवस्था में की जाय। यद्यपि यह अधिक उत्पादन वास्तविक नहीं है, पर इसका प्रतिस्पर्धात्मक बाजार में चावल का बिक्री मूल्य कम करने में फायदा उठाया जाता है। यह चावल उतनी मात्रा में नहीं पकेगा जितनी मात्रा में अच्छी तरह सुखाया और कूटा हुआ चावल पकता है। खेद है कि इस बात का इस प्रकार के चावल का उपभोग करनेवाले अनेक उपभोक्ताओं को पता नहीं है। इसकी दुर्गन्ध से बचने के लिए कुछ उत्पादक साधारण अथवा किसी दूसरे प्रकार का नमक मिला देते हैं। लवण की मात्रा धान के वजन का ·५ प्रतिशत होती है। लवण की मात्रा से चावल को आर्द्रतावशोषी बना देते हैं अर्थात् वह वातावरण से आर्द्रता सोख लेता है और चावल का वजन व आकार बढ़ाने में सहायक होता है। इस प्रकार ये दोनों ही बातें उत्पादक के लिए व्यावसायिक लाभ की हैं।

धान सेलीकरण का एक अन्य तरीका भी है, जिसे दोहरा उबालन तरीका कहते हैं। यह तरीका भिगाने के लिए आवश्यक समय में कमी करने के लिए वहाँ काम में लाया जाता है, जहाँ दैनिक उत्पादन १०० मन या उससे अधिक हो। इस तरीके में पहले सूखे धान को करीब ४५ मिनट तक भाप द्वारा गर्मी पहुँचायी जाती है। उसके बाद गर्म धान को ठण्डे पानी की टंकी में डाला जाता है और वहाँ उसे १२ से २४ घण्टे तक पड़ा रहने देकर फिर उसे भाप दी जाती है। जहाँ उबालन के लिए वाष्प का उपयोग न कर जल का उपयोग किया जाता है, वहाँ धान को एक लोहे की टंकी अथवा केटली में भिगोया जाता है और फिर उबाला जाता है। इसके बाद आग हटा ली जाती है तथा धान को गर्म पानी में १२ घण्टे तक पड़ा रहने दिया जाता है। तत्पश्चात् उसे फिर गर्म किया जाता है। जब धान उसकी भूसी तिड़कने अथवा कुछ-कुछ वैसी ही सीमा तक उबाल लिया जाता है तब पानी निकाल दिया जाता है, धान को सूखने देते हैं और तब उसका प्रशोधन करते हैं।

समय व जल की मात्रा में कमी करने के लिए धान को भिगोने हेतु करीब ८५° सेण्टीग्रेड गर्म पानी का इस्तेमाल करते हैं। गर्म जल का वास्तविक तापमान ७०°–७५° सेण्टीग्रेड होता है और समय तीन घण्टा। गर्म पानी से भी उसी प्रकार धान को पीला-सा रंग प्रदान होता है, जैसे काफी समय तक ठण्डे पानी में भिगोने से रंग कुछ फीका पड़ सकता है, यदि गर्म पानी आठ घण्टे तक ५०° सेण्टीग्रेड रखा जाय। भिगोने और वाष्प प्रदान करने का काम एक ही वर्तुल या केटली में किया जा सकता है। इससे प्रारम्भिक लागत में भी कुछ बचत हो सकती है।

अन्त में हम सेलीकरण के 'यूरिया तरीके' पर विचार करें। इस तरीके में धान का उबालन बिल्कुल नहीं किया जाता। धान के वजन का ०.५ प्रति शत व्यावसायिक 'यूरिया' धान को जब पानी में डाला जाय तब उसमें डाल देते हैं। सर्वोत्तम फल प्राप्ति के लिए सामान्य तापमान में धान को पानी में ३६ घण्टे तक भिगोया रखते हैं। पानी को अलग करने के बाद धान को धूप में सुखाते हैं तथा तत्पश्चात् उसे कूटते हैं और इस प्रकार प्राप्त चावल वैसा ही अच्छा होता है जैसा कि उबालन प्रक्रिया से प्राप्त चावल, लेकिन जहाँ तक टूट-फूट का सम्बन्ध है, 'यूरिया प्रक्रिया' से प्राप्त चावल में दोहरे उबालनवाले तरीके से प्राप्त चावल की बजाय ४ प्रति शत टूट-फूट अधिक होती है। इस तरीके में भट्टी, चिमनी, टंकी आदि जैसे कीमती उपकरणों और जलावन की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। प्रशोधन प्रक्रिया में काफी समय की भी बचत होती है। चूंकि यूरिया बहुत कम मात्रा– .५ प्रति शत–में मिलाया जाता है, इसलिए उससे चावल में भी कोई बुरी बास नहीं पैदा होती। इसके साथ ही उसका आदमी की पाचन क्रिया पर भी कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता।

बिलकुल नये चावल के मामले में भी यदि साधारण तापमान में चावल के वजन का .५ से १ प्रति शत तक यूरिया उस पानी में मिलाया जाय जिसमें चावल अच्छी तरह भीग जाय और उसे करीब तीन घण्टे तक पड़ा रहने दिया जाय तो उससे चावल को पकने के मामले में बहुत अच्छा गुण प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार के चावल को पकाने से पूर्व दो बार अच्छी तरह धोया जाना चाहिए। इस चावल की गंध और जायका भी उपचार न किये गये चावल के समान ही होता है।

पहले कहा जा चुका है कि चावल में से कुटाई, धुलाई और पकाई के दौरान पौष्टिक तत्व नष्ट होने देना रोकने के लिए सेलीकरण एक प्रभावकारी मार्ग है। कुटाई के दरमियान बीजांकुर और परिकोटा में जो पौष्टिक तत्व होते हैं वे कच्चे चावल में सामान्यतः नष्ट हो जाते हैं, पर सेलीकृत चावल में बने रहते हैं। यह इसलिए होता है कि भिगाने के समय ऊपर के पौष्टिक तत्व पानी के साथ मिलकर चावल के दाने के अन्दरूनी भाग में समा जाते हैं। पकाने से पूर्व यदि चावल का तीन बार जोर से रगड़ कर धोया जाना बन्द कर दिया जाय अथवा हल्के हाथ से एक बार साफ करने तक सीमित रखा जाय तो उसमें के एक-तिहाई पौष्टिक तत्व बचाये जा सकते हैं। यदि चावल को काफी भर पानी में पकाया जाय, परिणामस्वरूप बाद में मांड न निकाला जाय तो दूसरे एक-तिहाई पोषक तत्व बचाये जा सकते हैं। सामान्यतः तीन बार धोने और ज्यादा पानी में पकाने के पश्चात् चावल में मुश्किल से एक-तिहाई पौष्टिक तत्व बच पाते हैं। लेकिन इन सब में सेलीकृत चावल कच्चे चावल से बेहतर है और इसलिए उसे तरजीह दी जानी चाहिए। अतएव किसी भी कारण से यदि सफेद पालिशदार चावल को तरजीह दी जाय तो उस अवस्था में उसना चावल खाना अच्छा है। इसके दूसरी ओर कम पालिशदार भूरे रंगवाले चावल को तरजीह दी जाती है और वह सेलीकृत चावल से उत्तम है, क्योंकि इससे सेलीकरण की सभी असुविधाओं आदि से बचा जा सकता है और प्राप्त चावल सेलीकृत चावल जैसा ही होता है।

बम्बई : २९ दिसम्बर १९६२

पाठकों से

पाठकों से निवेदन है कि *खादी ग्रामोद्योग* के न मिलने अथवा देर से मिलने के सम्बन्ध में शिकायत भेजते समय वे पते के साथ दी गयी अपनी ग्राहक-संख्या लिखना न भूलें। जैसा कि हम चाहते हैं, ग्राहक-संख्या लिखने पर यथा शीघ्र कार्यवाही करने में सहायता मिलती है।

—सम्पादक

मैसूर में मधुमक्खी-पालन उद्योग

गोविन्द बा. देवडीकर

मैसूर में मधुमक्खी-पालन उद्योग का बड़ा ही उच्च स्थान है। इस उद्योग का काम मुख्यतः वहां के कुर्ग जिले और हसन जिले के मलनाड भाग में केन्द्रित है। हां, सम्पूर्ण पश्चिमी तटीय प्रदेश-गोवा सहित-में इस उद्योग के विकास की बृहद् सम्भावनाएं हैं।

मैसूर भारत में एक प्रमुख मधुमक्खी-पालन करनेवाला राज्य है। फिलहाल इस राज्य में करीब ५०,००० आधुनिक मधुमक्खी घर हैं। मधु-उत्पादन ३,००,००० पौण्ड वार्षिक से भी अधिक होता है। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन का भारत में मधुमक्खी-पालन उद्योग का जितना काम होता है, मैसूर राज्य में इस उद्योग से सम्बन्धित कार्य उसका करीब २५ प्रति शत है। मोटे तौर पर भौगोलिक दृष्टि से यह क्षेत्र तीन भागों में बाँटा जा सकता है : (अ) पूर्वी पठार जो कि अधिकांशतः समतल है, सिवाय इसके कि जहाँ-तहाँ छोटी-छोटी पहाड़ियाँ मिलती हैं; (आ) पश्चिमी घाट और मलनाड क्षेत्र, जहाँ २,००० से ७,००० ऊँचाई तक के पहाड़ हैं और जिनमें उष्ण कटिबन्धीय प्रदेशों में पाये जानेवाले घने जंगल हैं; तथा (इ) समुद्र तटीय संकड़े मैदानी क्षेत्र।

पूर्वी पठार में सुसंरक्षित जंगल न के बराबर हैं, किन्तु विस्तृत रूप से लगाये गये बारह मास तथा स्थायी स्वरूप की बागानी फसलें मौसमी तौर पर खुराक प्रदान कर सकती हैं, जिसका मधुमक्खियों को समय-समय पर जंगलों और उद्यानों में स्थानांतरण करते रह कर फसलों के परागाधान के लिए उपयोग किया जा सकता है। इससे औसत मधु-प्राप्ति तथा फसल-प्राप्ति में सुधार होना चाहिए, लेकिन अभी तक इस दिशा में कोई संगठित प्रयास नहीं किया गया है।

उद्योग का विस्फुरण

इस राज्य में मधुमक्खी-पालन फिलहाल घाट अथवा मलनाड क्षेत्रों तक ही—वह भी बिना किसी प्रकार के स्थानांतरण के, एक ही स्थान पर आवारित—संकेन्द्रित है। करीब २७,००० मधु-उपनिवेश अकेले कुर्ग में हैं, जह २,००,००० पौंड वार्षिक से अधिक शहद तैयार होता है। समग्र मैसूर राज्य में जितना काम इस उद्योग का होता है उसमें ६० प्रति शत से अधिक कार्य यहीं होता है। इसके बाद हसन और चिकमंगलूर जिलों के मलनाड भागों का स्थान आता है, जिनमें मधु-उपनिवेशों की संख्या करीब ८,५०० है और वार्षिक शहद-उत्पादन ६०,००० पौंड से अधिक तथा यह उत्पादन राज्य के कुल उत्पादन का लगभग २० प्रति शत है। समुद्र तटीय क्षेत्र में दो जिले आते हैं—उत्तर और दक्षिण कनारा। राज्य का करीब १२ प्रति शत मधु-उत्पादन यहाँ होता है। उत्तर कनारा में करीब ३०,००० पौंड शहद का उत्पादन होता है और लगभग ७,५०० मधु-उपनिवेश हैं तथा दक्षिण कनारा में उपनिवेशों की संख्या तकरीबन ६,५०० और शहद उत्पादन मात्र ५,००० पौंड है। मैसूर, शिमोगा, धारवाड़ और बेलगाम जिलों में राज्य का ५–१० प्रति शत शहद-उत्पादन होता है।

औसत उत्पादन कुर्ग में सर्वोच्च है। हसन और चिकमंगलूर जिलों के मलनाड भागों का इस सम्बन्ध में भी द्वितीय स्थान है। उत्तर कनारा में औसत उत्पादन अपेक्षाकृत कम है। दक्षिण कनारा में सबसे कम है। समूचे राज्य में सात-चौखटिया 'न्यूटन' मधुमक्खी घर का सामान्य रूप से प्रचलन है और मधुमक्खी-पालन एक ही स्थान पर होता है, किसी प्रकार का संगठित रूप से स्थानांतरण नहीं होता।

कुर्ग एक ऐसे प्रारम्भिक स्थानों में है, जहाँ मधुमक्खी-पालन शुरू में प्रारम्भ हुआ। स्थानीय लोग मधुमक्खी-पालन का काम प्रायः अपने सामान्य जीवन के अंगस्वरूप करते हैं। कुर्ग में दो मधुमक्खी-पालन सहकारी समितियाँ हैं, जिन्होंने भारत भर में 'कुर्ग मधु' के लिए अपनी प्रतिष्ठा जमा ली है। इसमें मधुमक्खी-पालन उद्योग का सर्वाधिक संकेन्द्रण है। मैसूर राज्य तथा दक्षिण भारत के अन्य आस-पास के स्थानों में यह एक प्रमुख मधु-उत्पादक केन्द्र है। अपेक्षाकृत इसमें औसत मधु-प्राप्ति भी अधिक है। **एपिस इण्डिका** मक्खियों की सहायता से इसने मधु-उद्यान उद्योग का विकास किया है और **एपिस डोरसाटा** मक्खियों का पालन भी वहाँ होता है। संग्रह, प्रशोधन और बिक्री संगठित रूप से होती है। मधुमक्खियों को बर्तनी छत्तों में आकर्षित करने का स्थानीय व्यवहार नये मधुमक्खी-उपनिवेशों को पकड़ने में बड़ा सरल सिद्ध हुआ है। बहुत कम श्रम या लागत पर फिर इन मधुमक्खियों को आधुनिक छत्तों में स्थानांतरित किया जा सकता है। यहाँ विस्तत रूप से 'एस्टेट फार्मिंग' होने की वजह से जंगलों में सड़कें जाती हैं। कुर्ग जिले का पूर्वी पठार के जिलों तथा पश्चिमी घाट के साथ-साथ मंगलोर से भी अच्छा सम्बन्ध जुड़ा हुआ है।

केरल के पश्चिमी तटीय प्रदेशों, दक्षिण और उत्तर कनारा जिलों, गोवा तथा उत्तर के अन्य जिलों का हाल ही में जो सर्वेक्षण हुआ उनसे यह प्रकट होता है कि समूचे के समूचे पश्चिमी घाट को मधुमक्खी-पालन उद्योग के विकास की दृष्टि से एक विशिष्ट 'क्षेत्र' समझना चाहिए। जहाँ तक भौगोलिक, पारिस्थितिकीय, जलवायु-प्रभावात्मक, तलरूप, वानस्पतिक तथा अन्य प्रकार के तथ्यों का सम्बन्ध है, प्रायः समूचा तटीय क्षेत्र कम-ज्यादा करके एक समान है। हाँ, दक्षिण से उत्तर की ओर आने पर कुछ मामूली परिवर्तन अवश्य मिलते हैं।

पश्चिमी घाट की एक विशेषता यह है कि वहाँ मधुमक्खियाँ अपेक्षाकृत औसतन छोटी होती हैं, मधु-उत्पादन (५ से १० पौंड प्रति छत्ता), लेकिन विस्तृत रूप से लगाये गये ताड़ वृक्षों से प्रायः अनवरत पराग मिलता रहता है, जिससे व्यवहारतः पूरे वर्ष (सितम्बर से मई तक) अण्डे सेने और नरमक्षिका जनन को उत्तेजन मिलता है। समुद्र तटीय मधु में स्थानीय आर्द्रता के कारण जल तत्व कुछ अधिक होता है, अतएव उसमें खमीर उठने का अधिक डर रहता है। यह स्थिति समुद्र के किनारे-किनारे कन्याकुमारी से लेकर दीव तक और उससे कुछ उत्तर में भी पायी जाती है। धुर उत्तर और धुर दक्षिण में जो अंतर पाया जाता है, वह गुण का अधिक न हो कर डिग्री का रहता है कि किसमें कितनी आर्द्रता है।

गोवा में

गोवा का पश्चिमी घाट के क्षेत्रों में प्रमुख स्थान है। वहाँ भी समुद्र के किनारे-किनारे ताड़ वृक्ष तथा अन्य प्रकार के पेड़, वनस्पति पायी जाती हैं। इसके भीतरी भाग में अच्छे जंगल हैं। वहाँ सड़क, रेलगाड़ी तथा समुद्र के किनारे चलनेवाले स्टीमरों के जरिये पहुँचा जा सकता है। बहुत अच्छी नस्ल की रानी मक्खियोंवाले करीब ५० मधुमक्खी-उपनिवेश वहाँ भेजे गये हैं। भेजने से पूर्व इन रानी मक्खियों का बार-बार चुनाव किया गया तथा महाबलेश्वर और पूना की प्रयोगशालाओं में उन पर लगातार छः वर्ष तक सन्तति सम्बन्धी परीक्षण हुए। इस क्षेत्रीय प्रयोगात्मक केन्द्र का नियमित कार्य शीघ्र ही प्रारम्भ होने की अपेक्षा है।

पूना : १९ मार्च १९६३

पाठकों से अनुरोध है कि वे खादी ग्रामोद्योग में प्रकाशित सामग्री पर अपने विचार प्रकट करें। साथ ही पत्रिका में नये स्तम्भ आरम्भ करने के लिए अपने सुझाव भी दें।

मैसूर में एकमुश्त योजना

स. म. वीरराघवाचार

'एकमुश्त कार्यक्रम' चुनिन्दा क्षेत्रों में कृषि उत्पादन बढ़ाने का सघन अभियान है। इस लेख में मैसूर राज्य में उसके कार्यान्वय की चर्चा की गयी है।

सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार मैसूर राज्य की करीब ७१ प्रति शत आबादी अपनी जीविका कृषि तथा उससे सम्बन्धित धंधों से अर्जित करती है। राज्य की कुल आय सन् १९५६ में अन्दाजन ५ अरब १७ करोड़ रुपये और १९६१ में ६ अरब २ करोड़ रुपये थी। सन् १९६६ में कुल आय ७ अरब २२ करोड़ रुपये होने का अनुमान है। सन् १९५६ में प्रति व्यक्ति आय २४३ रुपये और १९६१ में २६६ रुपये वार्षिक थी तथा १९६६ की अपेक्षित आय २९८ रुपये है। उपर्युक्त वर्षों के लिए देश की प्रति व्यक्ति आय क्रमशः २७६ रुपये; ३०२ रुपये और ३५४ रुपये है। प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय में १९५६-६१ के बीच ९.४ प्रति शत वृद्धि हुई, जबकि मैसूर में ९.५ प्रति शत। सन् १९६१ और १९६६ के बीच वृद्धि दर अखिल भारत के लिए १७.२ प्रति शत और मैसूर के लिए १२ प्रति शत अपेक्षित है। इन आंकड़ों से यह स्पष्ट है कि अखिल भारत और राज्य के बीच अन्तर है, जिसे तीव्र विकास के जरिये दूर करना होगा।

मुख्य धंधा

मैसूर के लोगों का मुख्य धंधा है कृषि। राज्य की करीब ६० प्रति शत भूमि खेती के अन्तर्गत है, जिसमें से ५६.४ प्रति शत भूमि में खेती की जाती है। करीब १० प्रति शत भूमि स्थायी चरागाह के रूप में रखी जाती है। जंगल १८.५ प्रति शत भूमि में हैं। मुख्य फसलें हैं : धान, ज्वार, दाल, गेहूँ, रागी, रूई, कपास, गन्ना, तिलहन, तम्बाकू, नारियल, काफी, काली मिर्च और काजू।

मुख्य अनाज हैं : चावल, रागी, ज्वार और दालें। अनाजों के उत्पादन में काफी प्रगति होने के बावजूद राज्य में अनाज की अभी भी कमी है। सन् १९६०-६१ में अन्दाजन ३ लाख ४ हजार टन की कमी थी। प्रति व्यक्ति प्रति दिन १५ औंस अनाज और ३ औंस दाल की खपत के आधार पर १९६५-६६ की अनुमानित आबादी के लिए ४७ लाख १८ हजार टन अनाज की जरूरत पड़ेगी। राज्य की तीसरी योजना में १९६५-६६ तक १० लाख ४० हजार टन अतिरिक्त अनाज के उत्पादन का अनुमान है। योजना के अनुमानानुसार कुल अनाज उत्पादन ४८ लाख ५४ हजार टन होगा, जबकि जरूरत ४७ लाख १८ हजार टन की है अर्थात् थोड़ा-सा अनाज बच जायगा।

चूंकि खेती के लिए उपयुक्त और उपलब्ध भूमि सीमित है, सघन खेती का सहारा लेना होगा। यह स्पष्ट है कि राज्य की सिंचित भूमि में भी प्रति एकड़ उपज अखिल भारत औसत उत्पादन से बहुत कम है।

सन् १९५९–६० में प्रति एकड़ औसत उपज

(पौण्ड में)

अनाज	मैसूर	भारत
चावल	१,२८३	१,२०९
गेहूँ	२००	६४०
ज्वार	३६६	३६३
दालें	२२६	३००
तिलहन	५८०	८२२

यद्यपि चावल का उत्पादन अखिल भारत औसत के मुकाबले है, जापान के मुकाबले यह बहुत ही कम है,

जहाँ कि प्रति एकड़ उत्पादन २,८६९ पौंड है।

मैसूर की तीसरी पंच वर्षीय योजना को पुनर्गठित राज्य के आर्थिक विकासार्थ प्रथम विस्तृत कार्यक्रम कह सकते हैं। तीसरी योजना के मुख्य उद्देश्य हैं: (अ) कृषि उत्पादन बढ़ाना; (आ) ग्रामीण क्षेत्रों में सुविधाओं का राष्ट्रीय न्यूनतम उपलब्ध करना; और (इ) जन-शक्ति के पूर्ण उपयोग तथा निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने का तरीका निकालना। योजना कृषि उत्पादन में तीव्र वृद्धि लाने का लक्ष्य रखती है। कुल खर्च २ अरब ५० करोड़ रुपयों में से १ अरब ३ करोड़ रुपये तो कृषि और सिंचाई में ही खर्च होते हैं। कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए एक महत्वपूर्ण कार्यक्रम है 'एकमुश्त योजना' अथवा सघन जिला कृषि कार्यक्रम।

विशेषज्ञों की सिफारिशें

फोर्ड फाउण्डेशन द्वारा प्रवर्तित एक कृषि विशेषज्ञ दल ने यह सिफारिश की कि देश भर के चुनिन्दा जिलों में सघन खेती की जाय। दल ने यह पाया कि वर्तमान कम उत्पादन, मिट्टी में किसी प्रकार का दोष होने के कारण नहीं है। अतः उसने सुझाव दिया कि इस परियोजना के लिए प्रत्येक राज्य में उन क्षेत्रों और फसलों को चुनना चाहिए जिनकी वृद्धि की बहुत अधिक सम्भाव्यता हो। इस प्रस्ताव को कार्यान्वित करने हेतु प्रारम्भिक तौर पर प्रत्येक राज्य के एक-एक जिले में सघन जिला कृषि कार्यक्रम आरम्भ किया गया।

इस कार्यक्रम से चुनिन्दा क्षेत्रों में कृषि उत्पादन में तीव्र वृद्धि लाने तथा अन्य स्थानों में कौन-से नये-नये तथा मिश्रित तरीके उपयोग में लाये जा सकते हैं उन्हें सुझाने की आशा की जाती है। इसमें उन्नत उत्पादन तरीकों की व्यवस्था है, जैसे उन्नत जोताई विधियाँ और जल प्रबन्ध विधियाँ, उर्वरकों की सामयिक तथा पर्याप्त पूर्ति, अच्छे बीजों, कीटाणुनाशकों तथा सरंजामों का उपयोग, उचित ऋण सुविधाएँ आदि।

एकमुश्त योजना के मुख्य उद्देश्य हैं: (१) चुनिन्दा जिलों में अन्नोत्पादन में वृद्धि के विभिन्न तरीके प्रदर्शित करना; (२) किसान और उसके परिवार की आय बढ़ाना; (३) ग्रामीण स्रोतों का पूर्ण उपयोग सुनिश्चित करना; और (४) देश की उन्नति के लिए कृषि की नींव ठोस बनाना।

उत्पादन योजनाएँ

खेतवार उत्पादन योजनाएँ तैयार करना एकमुश्त योजना की बहुत ही महत्वपूर्ण मूल आवश्यकता है। इस योजना को बनाते वक्त खेत विशेष की भूमि और जल-स्रोतों, भूमि की किस्म तथा उसकी खाद आवश्यकता, नाली की कठिनाइयों, पशु-धन स्रोतों, कृषि सरंजामों, श्रम-पूर्ति, बाजार की सुविधाओं तथा किसान की आर्थिक अवस्था और प्रबन्धकीय दक्षता को ध्यान में रखा जाता है। इसमें ऋण सुविधाओं, उर्वरकों, उन्नत किस्म के बीजों, कीटनाशकों, सुधरे सरंजामों, उत्तम उत्पादन प्रक्रियाओं और तकनीकल मार्गदर्शन का पूरा-पूरा और प्रभावशाली उपयोग करने की बात निहित है। किसान की उम्र, उसके परिवार का आकार तथा उसकी उपभोग सम्बन्धी आवश्यकताओं और खर्च को भी ध्यान में रखा जाता है।

खेती की योजनाओं के अलावा ग्राम पंचायतों और सहकारी समितियों द्वारा कार्यान्वित की जानेवाली ग्राम उत्पादन योजनाएँ भी बनायी जाती हैं। ग्राम योजनाओं में सहकारी समितियों का संगठन, सिंचाई कार्य और नहरों में सुधार तथा उनका रख-रखाव, ग्रामीण पौधों की रक्षा के उपाय आदि शामिल हैं। इन विभिन्न विकेन्द्रित उत्पादन योजनाओं में खण्ड और जिला स्तर पर उचित समन्वय कायम रखा जाता है।

सहकारी समितियों का कार्य

एकमुश्त योजना सहकारी समितियों के पुनर्गठन और उन्हें मजबूत बनाने पर विशेष जोर देती है। इस सघन कृषि कार्यक्रम को कार्यान्वित करने में सहकारी वित्तदात्री संस्थाओं और हाट-बाजार समितियों के प्रमुख भाग लेने की आशा है; क्योंकि ऋण उपलब्धि, पूर्ति और बाजार सेवाएँ करनेवाले ये ही तो मुख्य माध्यम हैं।

जितनी ऋण सुविधा उपलब्ध की जाती है, वह उत्पादन योजना के आधार पर आंकी गयी उत्पादन आवश्यकताओं से प्रत्यक्ष सम्बन्धित है। मौसमी फसल पद्धति के अनुकूल समय पर ऋण देने की भी व्यवस्था है। योजना में भाग लेनेवाले किसानों की ऋण आवश्यकताओं और उनके द्वारा किये जानेवाले ऋण उपयोग पर बराबर तकनीकल रूप से निगरानी रखी जाती है। बिक्री समितियों के माध्यम से ऋण वसूल किया जाता है, ताकि उसकी वसूली शीघ्र की जा सके और उत्पादक को अपने अतिरिक्त उत्पादन का उचित मूल्य मिल सके। अतः इन सघन विकास क्षेत्रों में काम कर रहीं सहकारी ऋणदात्री समितियों के पास पर्याप्त वित्तीय साधन और अपने जटिल कार्य को कार्यान्वित करने के लिए सुप्रशिक्षित कर्मचारी होने ही चाहिए। इसी प्रकार बिक्री समितियों को पुनर्गठित कर उन्हें ऐसा बनाना होगा कि उनके पास पर्याप्त माल जमा रह सके, ताकि वे योग्यतापूर्वक पूर्ति कर सकें और बाजार का काम चला चला सकें। इन संस्थाओं से बहुत उच्च स्तर के कार्य की अपेक्षा है।

मंड्या जिले में

कार्यक्रम सर्व प्रथम मैसूर राज्य के मंड्या जिले में मार्च १९६२ में आरम्भ किया गया। भूमि उर्वरकता और जल पूर्ति की दृष्टि से इस जिले की अवस्था राज्य में सबसे अच्छी है। फिर, यहाँ अच्छा सहकारी संगठन भी है।

इस कार्यक्रम के कार्यान्वय के साथ मंड्या जिले में दस सामुदायिक विकास खंड होने की आशा है, जिनका कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण जिला होगा। प्रथम दो वर्षों में २० प्रति शत किसानों द्वारा इसका लाभ उठाये जाने की आशा है। आगामी पाँच वर्षों में किसानों को २ करोड़ ४२लाख रुपये के उर्वरक; ३ लाख ६३ हजार रुपये के कीटनाशक; १८ लाख ४९ हजार रुपये के उन्नत बीज; ४ लाख २९ हजार रुपये के सुधरे कृषि सरंजाम; ६७ लाख ५० हजार रुपये कुओं और पम्प सेटो के लिए ऋण तथा अन्य आवश्यकताओं के लिए १ करोड़ १७ लाख रुपये देने की व्यवस्था की गयी है। जिले के लिए कार्यक्रम के अन्तर्गत लघु कालीन ऋण हेतु ३ करोड़ ८५ लाख रुपये और मध्य कालीन ऋण हेतु ६७ लाख ५० हजार रुपये की कुल ऋण-व्यवस्था की गयी है।

लगभग १,००० सिंचाई कुएँ खुदवाने और १,००० पम्प सेट की पूर्ति करने की योजना है। यातायात, भंडार, कृषि कारखाना, प्रात्यक्षिक, मूल्यांकन, सर्वेक्षण और बीज जांच प्रयोगशाला जैसे अन्य मदों में अन्दाजन क्रमशः १७,८२,८०० रुपये; ४,००,००० रुपये; १०,४८,००० रुपये; २७,०१,५०० रुपये; १,५०,६०० रुपये; और १,३१,२०० रुपये खर्च होंगे। इस प्रकार राज्य में इस कार्यक्रम पर पाँच वर्षों की अवधि में लगभग ५,५७,३९,००० रुपये खर्च होंगे।

पूर्ण कार्यान्वय पर

जब कार्यक्रम पूर्णतः कार्यान्वित होगा तो धान के खेतों का ७५ प्रति शत भाग और १,१७,००० एकड़ रागी क्षेत्र इसके अन्तर्गत आ जायगा। पाँच वर्ष के अन्त में ३७,५०० टन चावल और ११, ७०० टन रागी अधिक पैदा होने की आशा है। इससे १९५९-६० के उत्पादन के मुकाबले प्रति एकड़ ०.३६ टन चावल और ०.१ टन रागी अधिक पैदा होगी। औसत परिव्यय प्रति एकड़ २५१ रुपये पड़ता है।

अभी ही इस परियोजना के परिणाम का मूल्यांकन करना ठीक नहीं होगा; क्योंकि अभी तो यह कार्यान्वय की प्रारम्भिक अवस्था में है। तथापि, यह बहुत बड़ा कार्यक्रम है और इसमें उन्नत आधुनिक तकनीकों के जरिये कृषि उत्पादन में वृद्धि करने की बड़ी क्षमता है। इसमें खाद्य उत्पादन समस्या को हल करने के बहुमुखी मार्ग निहित हैं। इसकी सफलता तो इस बात से आँकी जायगी कि राज्य में कृषि उत्पादन में विकास करने तथा गति लाने हेतु प्रक्रियाओं के परिवर्तनार्थ यह किस हद तक किसानों में इच्छा जागृत कर सकेगा।

मानस गंगोत्री (मैसूर) : १५ जून १९६३ ●

बुनियादी तालीम की समस्याएँ*

गणेश ल. चन्दावरकर

महात्मा गांधी देश की मौजूदा शिक्षा प्रणाली को मूलतः नीचे से ऊपर तक गलत समझते थे और उसके स्थान पर अपनी जो योजना लागू करने के लिए वे आतुर रहते थे, उस सम्बन्ध में उनका संबोध दो प्रस्थापनाओं पर आधारित था :

"आज प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च विद्यालयों की शिक्षा के नाम पर जो कुछ हो रहा है, उसके स्थान पर प्राथमिक शिक्षा काल में (जिसकी अवधि सात साल या अधिक भी हो) अंग्रेजी के अतिरिक्त प्रवेशिका स्तर के समस्त विषयों का ज्ञान करा दिया जाय और उसके साथ-साथ कोई एक बृत्तिक शिक्षा भी दी जाय ताकि बालक-बालिकाओं का सर्वतोमुखी विकास हो सके।[१]

"इस तरह की शिक्षा से, कुल मिला कर, आत्मनिर्भरता आयेगी और दर असल, आत्मनिर्भरता ही इसकी सच्चाई की कसौटी होगी।"[२]

इन दो प्रस्थापनाओं से स्पष्ट है कि जिस शिक्षा-प्रणाली को गांधीजी आवश्यक समझते थे वह सिर्फ प्राथमिक शिक्षा के लिए ही नहीं, वरन् माध्यमिक शिक्षा के लिए भी लागू होता है।

प्राथमिक वर्गों तक ही नहीं

यहाँ यह ध्यान देना आवश्यक है कि गांधीजी द्वारा प्रतिवेदित यह शिक्षा योजना, आगे चल कर जिसकी व्याख्या जाकिर हुसैन समिति ने अपने प्रतिवेदन तथा योजना में की, 'बुनियादी तालीम' के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसे लागू किये २४ वर्ष हो गये, किन्तु अब तक यह प्राथमिक शिक्षा और प्राथमिक विद्यालयों तक ही सीमित रह गयी, जबकि गांधीजी माध्यमिक शिक्षा एवम् माध्यमिक विद्यालयों तक इसके दायरे को बढ़ाना चाहते थे। दर असल, जब हम इस पूर्ण सिद्धांत पर गौर करेंगे कि मौजूदा पूर्व-प्राथमिक, प्राथमिक, माध्यमिक और उच्चतर खण्डों में शिक्षा का विभाजन न कर, शुरू से आखिर तक यानी पूर्व-प्राथमिक स्तर से लेकर प्राथमिक और माध्यमिक सोपानों से होते हुए विश्वविद्यालय स्तर तक की पूरी शिक्षा को एक रूप और लगातार प्रक्रिया मान ली जाय और उसी तरह अमल किया जाय, तो यह बात आसानी से समझ में आ जायेगी कि बुनियादी तालीम का विस्तार माध्यमिक विद्यालयों तक करना क्यों आवश्यक है।

गांधीजी ने अपनी इस राष्ट्रीय शिक्षा योजना में विश्वविद्यालय या उच्च शिक्षा को शामिल क्यों नहीं किया, यह समझना और उसे परखना कठिन नहीं है। निश्चय ही उनका यह विचार कदापि नहीं रहा होगा कि विश्वविद्यालयीन शिक्षा अनावश्यक है—हो सकता है, २५ वर्ष पहले वे इसे विलासिता समझते रहे हों, जैसा कि बहुत-से शिक्षा शास्त्री आज भी इसे विलासिता ही मानते हैं। पर आज हमारे देश में शिक्षा का विकास उस स्तर तक पहुँच गया है जहाँ बच्चे प्राथमिक शिक्षा की चौथी या सातवीं कक्षा तक पहुँच कर अपना मुँह नहीं मोड़ लेते, बल्कि उनमें से अधिकांश माध्यमिक स्कूल लीविंग सर्टिफिकेट (अर्थात् पुराना मैट्रिकुलेशन) तक की पढ़ाई पूरी करना चाहते हैं। इन्हीं कारणों से गांधीजी की इस राष्ट्रीय योजना पर विचार करते या उसका परी-

---

* बम्बई में १७ और १८ अगस्त १९६३ को गांधी स्मारक निधि की बम्बई शाखा द्वारा आयोजित बुनियादी शिक्षा गोष्ठी में पढ़ा गया विशेष लेख।

१. हरिजन : २ अक्तूबर १९३७।

२. हरिजन : २ अक्तूबर १९३७।

क्षण करते समय उचित है कि सिर्फ प्रारम्भिक विद्यालय ही नहीं, बल्कि माध्यमिक विद्यालयों को भी ध्यान में रखा जाय।

आर्थिक पहलू

यह कह कर कि आत्मनिर्भरता बुनियादी तालीम योजना की सच्चाई की कसौटी है, गांधीजी ने स्पष्ट शब्दों में उसके आर्थिक पहलू की व्याख्या की है। 'हरिजन' के १३ जुलाई १९३७ वाले अंक में उन्होंने लिखा था, "किन्तु एक राष्ट्र की हैसियत से शिक्षा के मामले में हम इतने पिछड़े हैं कि अगर यह कार्यक्रम धन पर ही निर्भर रहा तो इस सम्बन्ध में एक निश्चित अवधि के भीतर, इस पीढ़ी में , राष्ट्र के प्रति हम अपना कर्तव्य पूरा कर सकने की आशा नहीं कर सकते।"[३] इसी वजह से उन्होंने शिक्षा को आत्मनिर्भर बनाने की सलाह देते समय इस बात की जरा भी परवाह नहीं की कि ऐसा करने से उनकी रचनात्मक क्षमता की प्रसिद्धि को खतरा होगा।[३क] उनके ये सुझाव बड़े ही ठोस और ग्रहण करने योग्य हैं, शिक्षा के आदर्श के रूप में भी। भारत एक गरीब देश है, जहाँ आजादी के १६ वर्षों के बाद आज भी शिक्षण संस्थाओं को इतना आर्थिक सहयोग नहीं मिल पाता कि वे संतोषजनक प्रगति कर सकें।

महज आर्थिक दृष्टिकोण से शिक्षा का विभाग कोई आयकारी विभाग नहीं है। इस वजह से अगर हमारी केन्द्रीय और राज्य सरकारें औद्योगिक विकास और आर्थिक प्रगति के लिए अधिकाधिक साधनों की प्राप्ति के प्रयास में विभिन्न खर्चों में यथा सम्भव कटौती करने के लिए व्यग्र रहती हैं तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। हम प्रायः अपने नेताओं और राजनीतिज्ञों को कहते सुनते हैं कि शिक्षा जैसे राष्ट्र निर्माणकारी विभागों पर प्रशासन को तुरन्त ध्यान देना चाहिए। लेकिन उनकी वाणी को जब कार्यरूप में परिणत करने की बात आती है, तो कहानी का रूप ही उलट जाता है–शिक्षा के लिए तथा उसके विस्तार के लिए उन्हें पर्याप्त धन ही नहीं मिलता। इन्हीं कारणों से गांधीजी शिक्षा को आत्मनिर्भर बनाना चाहते थे। उस सन्दर्भ में वे जब भी कुछ कहते थे, उनके मस्तिष्क में शहरों और नगरों की पाठशालाओं की नहीं, बल्कि गांवों के विद्यालयों की आवश्यकताएँ रहती थीं, जिन्हें आत्मनिर्भर बनाना वे लाजिमी समझते थे। उनका खयाल था कि कोई बालक या बालिका ७वीं की पढ़ाई पूरी करते-करते (१४ साल या अधिक उम्र में) परिवार या समुदाय के लिए एक कमाऊ सदस्य बन कर निकले। आज की शिक्षा-व्यवस्था की आलोचना करते हुए उन्होंने एक बार हरिजन में लिखा था, "शिक्षा दो और साथ-साथ बेकारी की जड़ें भी काटते जाओ।"[४] ज्ञान-प्राप्ति, शिक्षा का मात्र एक उद्देश्य है, उसका विस्तृत उद्देश्य तो जीवन संघर्ष के लिए सुसज्जित करना है।

बड़े होकर जीवन को सुखी और उपयोगी बनाने के लिए बच्चों को जिन चीजों की आवश्यकता है, वे शिक्षा के जरिये ही सीख सकते हैं। इसीलिए गांधीजी जब इस बात का आग्रह करते थे कि ज्ञान के समस्त क्षेत्रों में बालक-बालिकाओं का ध्यान लगाने के लिए तथा उन्हें आत्मनिर्भर बनाने के लिए शिक्षा में किसी शिल्प का होना आवश्यक है, तो उनका मतलब था (१) शारीरिक मेहनत, जो छात्रों को शारीरिक शक्ति और हस्त-कौशल प्रदान करे; (२) उत्पादक-शिल्प; और (३) उत्पादित वस्तुओं के विक्रय की क्षमता और इतनी पर्याप्त कमाई कर लेना कि विद्यालय विद्यार्थियों के खर्च वहन करने की स्थिति में आ जाय तथा यह सब कार्य शिक्षा के अभिन्न अंग हों। इस अंतिम तथ्य के लिए गांधीजी ने निश्चित रूप से सलाह दी थी कि सरकार इस बात की गारंटी दे कि छात्रों द्वारा उत्पादित वस्तुएँ वह खरीद लेगी।

जाकिर हुसैन समिति ने इस विचार का पूर्णतः समर्थन किया। किन्तु उसने वित्तीय और उत्पादन

३. हरिजन : १३ जुलाई १९३७। ३क. हरिजन : १३ जुलाई १९३७। ४. हरिजन : १८ सितम्बर १९३७।

पहलुओं की सीमाएँ तथा खतरों को भी नजरन्दाज नहीं किया। स्पष्ट शब्दों में उसने चेतावनी दी कि छात्रों की पढ़ाई और उनके काम की पूर्णता और सुघरता सुनिश्चित रखने के लिए पर्याप्त निषेध होना चाहिए। सांस्कृतिक और शैक्षणिक उद्देश्यों की कुर्बानी देकर अगर आर्थिक पहलू पर ही जोर दिया गया तो योजना के संचालन में जो खतरा होगा उस ओर भी जाकिर हुसैन समिति ने स्पष्ट संकेत किया था।

योजना के लागू होने से अब तक के २४ वर्षों के दरम्यान उसके आर्थिक पहलू से सम्बद्ध शिल्प-शिक्षा सर्वाधिक विवाद का विषय रहा है और विभिन्न कारणों से उसकी आलोचनाएँ की गयी हैं। सन् १९६१ में महाराष्ट्र सरकार द्वारा आचार्य एस. आर. भीसे की अध्यक्षता में नियुक्त बुनियादी तालीम अवलोकन समिति ने शिल्प-शिक्षा के खिलाफ अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा था :

"आलोचनाएँ तो अनेक तरह की हैं। किन्तु मुख्यतः कुछ ऐसी धारणाएँ बन गयी हैं कि बुनियादी तालीम, कताई-बुनाई शिल्प की शिक्षा के समान ही है। छात्रों को काम का कोटा दिये जाने के खिलाफ अलग आवाज आती है। कोटा पूरा करने के लिए छात्रों को विद्यालय में और घर पर बैठकर काम करना पड़ता है और इस प्रकार उन्हें अपनी पढ़ाई के विषयों को पूरा कर सकने का समय ही नहीं मिलता। ऐसा देखा गया है कि इन शिल्पों का लोगों के दैनिक जीवन से कोई ताल्लुक नहीं रहता और माध्यमिक शिक्षा काल में उसका सिलसिला टूट जाता है। शिक्षा-शास्त्रियों का ख्याल है कि शिल्प-शिक्षा से विभिन्न विषयों के बीच समन्वय स्थापित करने में कोई लाभ नहीं होता। इसलिए इन शिल्प कार्यों पर जो भी समय लगता है, वह व्यर्थ समझा जाता है।"[5]

योजना का स्वरूप

बुनियादी तालीम योजना के खिलाफ इन आलोचनाओं से महाराष्ट्र सरकार अपरिचित नहीं है। यह योजना पुराने बम्बई राज्य के कुछ चुने हुए विद्यालयों में १९३८ में प्रयोगात्मक रूप में चालू की गयी थी और धीरे-धीरे समस्त प्राथमिक विद्यालयों तक उसका विस्तार कर देने का उद्देश्य था। राज्य के तीन भाषावर प्रखण्डों में इस प्रयोग के लिए चार सुगठित क्षेत्र चुने गये—एक सूरत जिले में, दो सतारा और पूर्व खानदेश जिलों में तथा एक धारवाड़ जिले में। इन चुने हुए सुगठित क्षेत्रों में ५५ विद्यालय लिये गये—१३ गुजराती; २० मराठी; १६ कन्नड़ तथा ६ उर्दू के। कुछ स्थानीय अधिकारीगण तथा निजी संस्थाएँ भी इस प्रयोग को आजमाने के लिए आगे आयीं। यह बड़ी दिलचस्प बात है कि सरकार ने उस समय आलोचनाओं का मुकाबला किया और समय-समय पर कमजोरियों को दूर कर अवस्था में सुधार लाने की कोशिश की। सन् १९४६ में जब लोकप्रिय मंत्रि-मण्डल ने सत्ता ग्रहण की, सरकार ने निर्णय किया कि शिक्षा के पुनर्गठन कार्यों में वह बुनियादी तालीम के विस्तार व सुधार को प्राथमिकता देगी और उसने यह भी घोषित किया कि प्राथमिक शिक्षा का भावी विकास बुनियादी तालीम के ढाँचे पर ही होगा। इस प्रकार समस्त प्राथमिक विद्यालयों को बुनियादी विद्यालयों के रूप में बदल देना उसकी नीति बन गयी। बुनियादी तालीम योजना को पूर्ण रूप से लागू करने के लिए १० से १५ वर्ष की अवधि का एक विस्तृत संक्रमणकालीन कार्यक्रम तैयार किया गया जिसमें मुख्यतः ये बातें थीं :

१. शिल्प-विद्यालयों का संगठन, जो साधारण प्राथमिक विद्यालय और पूर्ण बुनियादी विद्यालय के बीच की कड़ी जोड़नेवाला होगा;

२. प्राथमिक अध्यापकों की समस्त प्रशिक्षण संस्थाओं का बुनियादी ढंग पर पुनर्गठन, ताकि कम से कम समय के अन्दर बुनियादी विद्यालयों के लिए आवश्यक प्रशिक्षित अध्यापक उपलब्ध हो सकें;

३. साधारण प्राथमिक विद्यालयों तथा बुनियादी विद्यालयों के स्तर विभेद को दूर करने के लिए धीरे-धीरे प्राथमिक विद्यालयों के पाठ्यक्रमों को ऊँचा उठाना

---

५. रिपोर्ट ऑफ दि बेसिक एज्युकेशन रिव्यू कमेटी, पृष्ठ : १४

तथा उनकी पढ़ाई के तरीकों में सुधार लाना; और

४. बुनियादी विद्यालयों के खर्च को इतना कम करना कि साधारण प्राथमिक विद्यालयों से कम खर्च बैठे या कम से कम उससे अधिक न हो।[६]

इस कार्यक्रम के फलस्वरूप

१. राज्य के प्रथम श्रेणी के प्राथमिक विद्यालय, यानी ऐसे प्राथमिक विद्यालय जो पहली से सातवीं तक समस्त कक्षाओं की पढ़ाई करते थे, प्रयोगात्मक तौर पर शिल्प-विद्यालय के रूप में परिणत कर दिये गये;

२. इसके लिए निम्न लिखित शिल्प मंजूर किये गये: (१) बागवानी; (२) सूत-कताई (रूई और ऊन दोनों) और आगे की कक्षाओं में बुनाई; (३) कागज और कूट का काम और आगे की कक्षाओं में लकड़ी का काम। इनमें से कोई एक शिल्प जारी करना था।

इस कार्यक्रम के फलस्वरूप शिल्प-विद्यालयों की संख्या, जो सन् १९४७-४८ में ५२४ थी १९५४-५५ में २,८१६ तक पहुँच गयी। सन् १९६१-६२ में महाराष्ट्र राज्य में बुनियादी विद्यालयों की कुल संख्या निम्न प्रकार थी:

१. बुनियादी विद्यालय, जिनमें कताई और बुनाई की बुनियादी शिक्षा दी जाती थी	२,९८६
२. बुनियादी विद्यालय, जिनमें कृषि की बुनियादी शिक्षा दी जाती थी	९०१
३. बुनियादी विद्यालय, जिनमें लकड़ी के काम की बुनियादी शिक्षा दी जाती थी	३४०
कुल	४,२२७

समस्त प्राथमिक विद्यालयों को बुनियादी ढाँचे पर बदल देने के आगे के कदम स्वरूप निर्णय किया गया कि प्राथमिक विद्यालयों तथा बुनियादी विद्यालयों के पाठ्यक्रमों का विभेद यथा सम्भव कम किया जाय। शुरू में दोनों के बीच बहुत बड़ा फर्क था। इस सिलसिले में एक महत्वपूर्ण नियम बनाकर विषयों की सादृश्यता पर जो जोर दिया जा रहा था उसे कम किया गया और यह निश्चित कर दिया गया कि सादृश्य अध्यापन के सिद्धांत के आधार पर वे ही विषय पढ़ाये जायं जो शिल्प या सामाजिक और भौतिक वातावरण के अनुकूल स्वाभाविक रूप से सदृश्य बनाये जा सकें। इस प्रयोग के प्रारम्भिक वर्षों में गांवों में जाना तथा ग्राम सफाई का व्यावहारिक प्रशिक्षण देना, सामाजिक कार्यों का मुख्य अंग था। किन्तु इन कार्यों में समस्त बातों को सिखाने का अवसर नहीं मिल पाता था। इसलिए साल भर के लिए सामाजिक कार्यों के कार्यक्रम तैयार किये जाने लगे। त्योहारों का समारोह, मेलों में जाना, मलेरिया दिवस, पुस्तकालय दिवस, वृक्षारोपण दिवस, माता-पिता दिवस आदि विशेष दिवसों का मनाना इत्यादि कार्यक्रम में शामिल था। अध्यापकों के मार्गदर्शन के लिए राज्य के शिक्षा विभाग ने बुनियादी विद्यालयों के कार्यक्रम के संबंध में एक पुस्तिका भी निकाली।

जाकिर हुसैन समिति ने शिल्प के लिए प्रति दिन ३ घंटे २० मिनट का समय निर्धारित किया था। किन्तु राज्य सरकार के शिक्षा विभाग ने अपने नये पाठ्यक्रम में उसे घटा कर सप्ताह में कुल १० घंटा कर दिया और दावा किया कि शिल्प की शिक्षा अगर सिलसिलेवार ढंग से दी गयी तो इस कम किये गये समय में भी उत्पादन का स्तर आसानी से इतना अच्छा हो जायेगा कि उसकी प्रगति होती जायेगी। इस सन्दर्भ में **बम्बई राज्य में शिक्षा का अवलोकन**[७] पुस्तक में बुनियादी तालीमवाले अध्याय में लिखा है:

"नये पाठ्यक्रम में पूर्व-पाठ्यक्रम के प्रमुख स्वरूपों को कायम रखा गया, जैसे पुस्तकों को पढ़ाने की बजाय कार्य पर अधिक जोर देना, बिखरे हुए विषयों की शिक्षा की बजाय परस्पर सदृश्य विषयों की पढ़ाई शुरू करना, स्थानीय अवस्थाओं के अनुकूल कार्यक्रम एवं कार्यों का उलट-फेर करना आदि। किन्तु इसमें दो बातें और

६. **ए रिव्यू ऑफ एज्युकेशन इन बॉम्बे स्टेट: १८५५-१९५५**; पृष्ठ : १३९ ७. वही, पृष्ठ : १४६-१४७

जोड़ दी गयीं : (१) तंदुरुस्ती, स्वास्थ्य और सफाई; तथा (२) समाज अध्ययन एवं सामान्य विज्ञान की शिक्षा का नया तरीका। तंदुरुस्ती, स्वास्थ्य और सफाई विषय के अन्तर्गत जिन कार्यों को निर्धारित किया गया उनका उद्देश्य था स्वच्छ और स्वास्थ्यकर जीवन के लिए आवश्यक समुचित रुचि का विकास और स्कूल तथा घर पर बच्चों की जिन्दगी तथा सामाजिक वातावरण के साथ कार्यों की सादृश्यता। इस बात की भरसक कोशिश की जाती थी कि बच्चे दैनिक जीवन में स्वावलम्बन और अनुशासनपूर्ण कार्य एवं उसके आनन्द तथा खुशी के महत्व को समझें। इस प्रकार स्वास्थ्य की पढ़ाई पुराने प्राथमिक विद्यालयों के पाठ्यक्रम से बिल्कुल भिन्न थी, जहाँ सिर्फ पुस्तकों में ही इसकी पढ़ाई पूरी कर दी जाती थी। नये पाठ्यक्रम में इस बात की विशेष सावधानी बरती जाने लगी कि बच्चे विभिन्न निर्धारित कार्यों को करें और उसके साथ-साथ उन्हें आवश्यक वैज्ञानिक जानकारी भी करायी जाने लगी, ताकि वे उन कार्यों को समझदारी और सहानुभूति से करें।

"समाज-अध्ययन तथा सामान्य-विज्ञान के लिए भी व्यावहारिक और मनोवैज्ञानिक रास्ते अपनाये गये। समाज-अध्ययन का पूरा पाठ्यक्रम बच्चों की स्वाभाविक दिलचस्पी पर आधारित किया गया और उसी के इर्द-गिर्द शिक्षा दी जाने लगी। प्रारम्भिक अवस्थाओं में इतिहास-भूगोल के नियमित पाठ नहीं दिये गये। शुरू में, आदि मानव की, पुराणों की तथा लोक कथाओं की दिलचस्प कहानियों के जरिये इतिहास पढ़ाया जाने लगा और फिर धीरे-धीरे सिलसिलेवार ऐतिहासिक ज्ञान की पृष्ठभूमि से वर्तमान आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का ज्ञान कराया जाने लगा। उसी तरह सामान्य विज्ञान की पढ़ाई भी बच्चों के इर्द-गिर्द के वातावरण से सम्बन्धित रखी गयी।"

माध्यमिक शिक्षा आयोग के विचार

इधर हाल के वर्षों में समस्त प्राथमिक तथा माध्यमिक विद्यालयों में इन कार्यों के तत्वों की महत्ता पहचानी जा चुकी है। भारत सरकार द्वारा १९५२ में नियुक्त माध्यमिक शिक्षा आयोग ने अपने प्रतिवेदन में लिखा है :

"हमें अपने विद्यार्थियों की औद्योगिक, प्रायोगिक व उत्पादन-क्षमता को बढ़ाने पर जोर देना चाहिए। काम के प्रति, हर तरह के छोटे से छोटे काम के प्रति, सम्मान की भावना महज अभिप्रेरित करने से ही सब कुछ नहीं हो जायेगा। आत्म-संतोष और राष्ट्रीय समृद्धि की भावनाएँ भरनी पड़ेंगी जो सिर्फ काम के जरिये ही सम्भव हैं और उसमें प्रत्येक व्यक्ति को निश्चित हाथ बंटाना है। फिर, ऐसा संबोध पैदा करना होगा कि शिक्षित व्यक्ति जो काम अपने हाथ में लें, यथा शक्ति पूरी दक्षता और कलात्मक ढंग से पूरा करने की कोशिश करें। इस तरह की भावनाएँ उत्प्रेरित करना प्रत्येक अध्यापक का कर्तव्य हो और विद्यालय के प्रत्येक कार्य में इसकी अभिव्यक्ति होनी चाहिए।"[८]

नयी रुझानें

अब वह समय आ गया है जबकि माध्यमिक शिक्षा की प्रगति में दिलचस्पी लेनेवाले तथा उसमें निपुणता लाने के लिए जिम्मेवार लोगों को महसूस करना चाहिए कि छात्रों को महज स्कूली और किताबी शिक्षा देना ही संतोषजनक स्थिति नहीं है। यहाँ हम लोगों को इस बात का भी ख्याल रखना पड़ेगा कि समस्त विद्यालयों के लिए यह सम्भव न होगा और न है कि वे स्वीकृत शिल्प के प्रशिक्षण का एकबारगी बन्दोबस्त कर लें; क्योंकि स्थान की कमी आदि जैसी अनेक कठिनाइयाँ हैं। लेकिन जैसा कि माध्यमिक शिक्षा आयोग ने कहा है, बिना नियमित शिल्प के भी वे उस तरह की भावनाएँ पैदा कर सकते हैं। विद्यालयों के जीवन में तथा उनके इर्द-गिर्द बहुत से ऐसे दैनिक कार्य हैं जो छात्रों के लिए पर्याप्त काम दे सकते हैं और विद्यालय से बाहर के जीवन के साथ सम्पर्क स्थापित करने के अवसर प्रदान कर सकते हैं।

---

८. **रिपोर्ट ऑफ दि सेकंडरी एज्युकेशन कमीशन;** पृष्ठ : २१।

इन अवसरों के अतिरिक्त, माध्यमिक शिक्षा आयोग की सिफारिशों के मुताबिक, माध्यमिक स्कूल सर्टिफिकेट परीक्षा में बैठनेवाले छात्रों के लिए तरह-तरह के पाठ्यक्रम स्वीकृत हैं, जिनके अनुसार वे कृषि, प्रौद्योगिकी, वाणिज्य या इसी प्रकार के अन्य विषय ले सकते हैं। शरीर-विज्ञान और स्वास्थ्य, भौतिक और रसायन शास्त्र, बनस्पति और प्राणी विज्ञान जैसे विषय भी अगर जीवंत दिलचस्पी और प्रत्यक्ष तरीके से पढ़ाये और अध्ययन किये जायं तो जीवन के साथ सीधा सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है। दूसरी तरफ, कताई तथा बुनाई जैसे शिल्प व कृषि भी यांत्रिक तरीके से पढ़ायी जा सकती है, जिसमें छात्रों को कुछ सिद्धांत और प्रक्रियाएँ बिना किसी दिलचस्पी के पढ़ा दी जा सकती हैं। असल मकसद तो बच्चों के अन्दर जिज्ञासा उत्पन्न करने से हैं–विभिन्न प्रक्रियाएँ, जैसे सहकारी गतिविधियां, योजना, व्यक्ति की दक्षता और सुघरता आदि क्या है और उसकी क्या आवश्यकता है, यह जानने की रुचि पैदा करना और उन्हें समझाना। किसी भी विषय में, चाहे वह गणित, भाषा, इतिहास, भूगोल जो भी हो, इस तरह की ज्ञान-पिपासा और आकांक्षा बच्चों के अन्दर पैदा कर दी जाय और वास्तविक जीवन के हालात से सीधा सम्पर्क स्थापित करने के लिए उन्हें अभिप्रेरित किया जाय तो विद्यालयों में बुनियादी तालीम कार्यक्रम जारी करना और सफलतापूर्वक उसे आगे बढ़ाना सम्भव हो सकेगा।

अब यहाँ चार प्रश्न उठते हैं:

१. बुनियादी तालीम क्या प्राथमिक कक्षाओं (प्रथम से लेकर चौथी या सातवीं कक्षा तक) तक सीमित रहेगी या माध्यमिक विद्यालयों की प्रथम तीन कक्षाओं तक (पाँचवीं से सातवीं कक्षा तक) और उच्चतर कक्षाओं तक लागू होगी?

२. क्या बुनियादी तालीम का अर्थ सिर्फ शिल्प-केन्द्रित शिक्षा है या इसका अर्थ कुछ और है या शिल्प की शिक्षा के अतिरिक्त भी कुछ और है?

३. पिछले २४ वर्षों के दरम्यान बुनियादी तालीम कहाँ तक महात्मा गांधी द्वारा आत्मनिर्भरता की कसौटी पर खरी उतरी है?

४. अगर बुनियादी तालीम महात्मा गांधी या जाकिर हुसैन समिति के बताये हुए रास्ते से प्रयोग में नहीं लायी जा सकती तो क्या संशोधित कर उसे लागू किया जा सकता है?

माध्यमिक विद्यालयों में बुनियादी तालीम

प्रश्न १ का उत्तर: शुरू में ही बताया गया है कि गांधीजी की राष्ट्रीय शिक्षा योजना यानी बुनियादी तालीम आज प्राथमिक, माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा के नाम पर जो कुछ हो रहा है, उसके स्थान पर लागू करने को थी। इसलिए फिर से इस बात को समझाने की आवश्यकता नहीं है कि बुनियादी तालीम गांधीजी के अनुसार माध्यमिक विद्यालयों तक जारी की जानेवाली थी। इस विश्वसनीय तथ्य के अतिरिक्त, हमारे पास शिक्षा विभाग (पुराने बम्बई राज्य के) के उस पाठ्यक्रम का प्रमाण है जो उसने सन् १९४७-४८ में प्राथमिक विद्यालयों (कक्षा १ से ४ तक) के लिए तैयार किया था और संशोधित पाठ्यक्रम में बुनियादी तालीम बोर्ड द्वारा तैयार पाठ्यक्रम के मशविदे को शामिल किया था। इसमें सफाई, नागरिक शास्त्र, शरीर विज्ञान, स्वास्थ्य एवं सामुदायिक जीवन आदि पर विशेष जोर दिया गया था और कक्षा १ से ४ तक के पाठ्यक्रम के परिवर्तनों ने कक्षा ५ से ७ तक के पाठ्यक्रमों में भी तब्दिली लाना लाजिमी कर दिया। इन कक्षाओं के लिए संशोधित पाठ्यक्रम के अनिवार्य पहलू थे–विद्यार्थियों के सोचने-समझने की ताकत तथा आजाद खयाल को बढ़ावा देना और अपने इर्द-गिर्द के वातावरण के प्रति उन्हें जिज्ञासु बनाना। इसके लिए शिल्प अनिवार्य विषय किया गया।[९] इसके लिए शिक्षा विभाग ने जिन

९. शिक्षा निर्देशक द्वारा १ से ७वीं कक्षा के लिए संशोधित पाठ्यक्रम (प्राथमिक, बुनियादी और माध्यमिक स्कूल) की भूमिका, १९५३।

निम्न लिखित लक्ष्यों तक पहुँचने का अन्दाज पेश किया उससे स्पष्ट हो जाता है कि बुनियादी तालीम के सिद्धांत और तत्वों ने माध्यमिक विद्यालयों में भी अपना स्थान बना लिया है :

१. विद्यालय जाने योग्य प्रत्येक बच्चे को शिल्प की आवश्यक शिक्षा देना, ताकि मनुष्य मात्र की तीनों बुनियादी आवश्यकताओं, भोजन, वस्त्र और आवास, के मामले में वे आत्मनिर्भर बन सकें।

२. बच्चों को इतने अवसर देना कि वे जीवन-शिल्प की समस्याओं के जरिये सुगमतापूर्वक पाठ्यक्रम के विषय सीखते जायँ।

३. बच्चों के अन्दर ऐसी भावनाएँ भरना कि वे सजगता और यथार्थ को जीवन में आवश्यक समझें।

४. बच्चों के अन्दर अपना काम स्वयं करने, सेवा और सहकारी तथा कोई भी काम शुरू करने के पहले योजना बनाने की आदतें पैदा करना।[१०]

पांचवीं, छठी और सातवीं कक्षाओं के लिए निम्न लिखित शिल्प निर्धारित किये गये : (१) हाथ कताई और बुनाई; (२) कृषि; (३) दर्जीगिरी; (४) सिलाई और कसीदाकारी; (५) बढ़ईगीरी; (६) संगीत; और (७) गृह-विज्ञान।

नया पाठ्यक्रम १९५५ में १०वीं कक्षा तक समस्त कक्षाओं में लागू किया गया था। उसके तथा माध्यमिक स्कूल लीविंग सर्टिफिकेट परीक्षा (१९५७) के संशोधित पाठ्यक्रम के सावधानीपूर्वक अध्ययन से पता चलेगा कि शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर तथा खासकर प्रत्येक पहलू पर बुनियादी तालीम के सिद्धान्तों का क्या प्रभाव पड़ा। आठवीं से दसवीं कक्षाओं तक के पाठ्यक्रम तैयार करते समय सरकार को इस आवश्यकता पर विचार करना पड़ा कि प्राथमिक और माध्यमिक विद्यालयों के पाठ्यक्रम को एक सम्पूर्ण रूप में तैयार किया जाय।[११] नये पाठ्यक्रम के अनुसार शार्टहैंड और टाईप-राइटिंग, संगीत, गृह-शिल्प, दर्जीगिरी, हाथ-कताई और बुनाई, रेडियो-मरम्मत, छपाई-कला, बढ़ईगीरी तथा उपष्कर का नक्शा और अंदाज आदि विषयों के पढ़ाने की व्यवस्था की गयी। इन विषयों तथा इसी तरह के अन्य विषयों का माध्यमिक स्कूल सर्टिफिकेट परीक्षा में समावेश एवं बहुद्देशीय विद्यालयों की योजना की स्वीकृति इस बात की द्योतक है कि शिल्प तथा बृत्तिक विषयों को अधिक महत्व दिया जा रहा है।

इन नये तत्वों के पीछे भी वही सिद्धान्त हैं जो बुनियादी तालीम की बुनियाद में हैं। दर असल, माध्यमिक शिक्षा आयोग ने उसे इन शब्दों में रखा था, "प्राथमिक, अपर या मिडल तथा माध्यमिक कक्षाओं के क्रमिक स्तरों के लिए पाठ्यक्रम तैयार करने की योजना में एक पूरा सिलसिला होना चाहिए, ताकि छात्र सीढ़ियों पर पैर रखते बढ़ते चले जायं और कहीं कोई रूकावट न आये।"[१२] आयोग ने इस बात की भी आवश्यकता महसूस की कि ११ से १४ वर्ष की आयुवाले बच्चों की पढ़ाई में बुनियादी तालीम के कुछ महत्वपूर्ण सिद्धान्तों को लागू किया जाय। आयोग के परामर्शों के अनुसार विद्यालयों में शिक्षा के प्रत्येक प्रक्रम में एक सिलसिला होना ही चाहिए। चौदह वर्ष की उम्र तक के बच्चों की पढ़ाई में बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्तों को लागू करके उसके बाद उसे छोड़ा नहीं जा सकता।

इसलिए यह आवश्यक है कि हम समस्त माध्यमिक शिक्षा के अभिन्न अंग के रूप में बुनियादी तालीम के सिद्धान्तों को मान लें, पर किसी खास शिल्प को समूची पढ़ाई का केन्द्र बनाने पर अधिक जोर न दें।

१०. कक्षा १ से ७ तक के लिए संशोधित पाठ्यक्रम, १९५३; पृष्ठ : २१ या २२

११. माध्यमिक शालाओं के पाठ्यक्रम की भूमिका (कक्षा ८ से ११), १९५६

१२. रिपोर्ट ऑफ दि सेकण्डरी एज्युकेशन कमीशन; पृष्ठ : ३१-३२

प्रश्न २ का उत्तर : पिछले २४ वर्षों में बुनियादी तालीम के क्षेत्र में काम करने से शिक्षा शास्त्री व अध्यापक इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि वह महज शिल्प-केन्द्रित शिक्षा के अतिरिक्त कुछ और भी है। दर असल, शिल्प होना तो निहायत जरूरी है; क्योंकि शिल्प ही वह वस्तु है जो बच्चों के अन्दर शारीरिक मेहनत के प्रति वह सद्भावना और प्रेम जाग्रत कर सकती हैं, जो एक अच्छी और ठोस शिक्षा के लिए अत्यंत आवश्यक है। "आधुनिक शिक्षा के विचारक इस ख्याल पर एकमत हैं कि किसी उपयुक्त उत्पादन-कार्य के जरिये बच्चों को शिक्षा दी जाय। सर्वतोमुखी शिक्षा की समस्याओं के समाधान के लिए यह रास्ता सर्वाधिक प्रभावशाली समझा जाता है।"[१३]

शिल्प-केन्द्रित शिक्षा

फिर भी, सब प्रकार की शिक्षा के लिए शिल्प को शुरुआत और केन्द्र बनाने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। सब से बड़ी कठिनाई है विभिन्न वर्गों के लिए शिल्प और विषयों के बीच प्रभावशाली सम्बन्ध स्थापित करने की। शिल्प को समस्त पढ़ाई का केन्द्र बनाने का आग्रह करने की बजाय उसे विद्यालय के जीवन में महत्वपूर्ण स्थान देना ही पर्याप्त है। यह भी सम्भव है कि शिल्प को शिक्षा का केन्द्र न बना कर छात्रों के दिलों में विभिन्न तरीकों से शारीरिक मेहनत के प्रति प्रेम उत्पन्न किया जाय। उदाहरणार्थ, विद्यार्थियों से बारी-बारी करके विद्यालय के भवन और आहाते साफ कराये जायं, आवश्यक वस्तुओं का एक भण्डार खोल कर उन्हीं से उसका संचालन कराया जाय और जहाँ-कहीं भी सम्भव हो सके थोड़ी-सी जमीन पर बागवानी भी करायी जा सकती है। विद्यालयों में समाज-सेवा केन्द्र स्थापित किये जा सकते हैं और छात्रों से स्वयं सेवक का काम लिया जा सकता है।

बहुत-से शिक्षा शास्त्री बुनियादी तालीम को अब ऐसी योजना मानने लगे हैं कि वह शिक्षा को मानवीय पहलू प्रदान कर सकती है। समस्त शिक्षा शास्त्री इस बात पर एकमत हैं कि विद्यालयों का संगठन समुदाय के रूप में किया जाय तो विद्यालय से बाहर के सामुदायिक जीवन से सब बातों पर उसके गहरे और प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित हों। विद्यालयों की शिक्षा के मानवीकरण और समाजीकरण के इस सिद्धान्त को राष्ट्रीय शिक्षा का आधार बनाया जा सकता है। इसी का दूसरा नाम बुनियादी तालीम है। इस शिक्षा में शिल्प एक अनिवार्य तत्व है, और रहेगा। इस सन्दर्भ में जाकिर हुसैन समिति ने शिक्षा में शिल्प के स्थान के बारे में जो स्पष्ट लिखा है उस पर हमें ध्यान देना चाहिए :

"सब से पहले शिल्प और उत्पादन कार्य का चुनाव ऐसा होना चाहिए कि उसमें शिक्षण की सम्भाव्यताएँ काफी हो। प्रमुख मानवीय कार्य तथा मानव की दिलचस्पियों के सम्पर्क में आने के स्वाभाविक तत्व उनमें मौजूद हों और विद्यालय के पाठ्यक्रम में निर्धारित समस्त विषयों तक उनकी पहुँच हो। बाद में, अपने प्रतिवेदन में, बुनियादी शिल्प की पसंदगी के सम्बन्ध में अपनी सिफारिशें देते समय हमने इस विषय पर विशेष ध्यान दिया है और उन समस्त लोगों से, जो किसी भी रूप में इस योजना से सम्बन्धित हैं, हम आग्रह करेंगे कि वे इस महत्वपूर्ण बात की गाँठ पार लें। इस नयी शिक्षा योजना का उद्देश्य मुख्यतः शिल्पकार पैदा करना नहीं है जो 'यंत्रवत' शिल्प का कुछ काम करता रहे, बल्कि शिल्प कार्य में मौजूद सामर्थ्य को शिक्षा कार्य के लिए उपयोग में लाना है।"[१४]

आत्मनिर्भरता का पहलू

प्रश्न ३ का उत्तर : बुनियादी तालीम का आत्मनिर्भरतावाला पहलू उसका अंतिम लक्ष्य माना जा सकता है। यहाँ हम फिर याद दिलाना चाहते हैं कि महात्मा गांधी ने इस सम्बन्ध में सलाह दी थी कि राज्य को इस

१३. जाकिर हुसैन रिपोर्ट ('एज्युकेशन रिकन्स्ट्रक्शन' में प्रकाशित); पृष्ठ : ९-१०

१४. वही, पृष्ठ : ११

बात की गारंटी देनी चाहिए कि विद्यालयों में छात्र जिन वस्तुओं का उत्पादन करेंगे वह उन्हें खरीद लेगा। उनके अनुसार ऐसा करने से प्रत्येक विद्यालय आत्म-निर्भर हो सकता है। इस सम्बन्ध में जाकिर हुसैन समिति के विचार बिल्कुल स्पष्ट हैं। जो लोग आत्म-निर्भरतावाले पहलू को सख्ती और हू-बहू रूप में स्वीकार करना चाहते हैं उनके लिए वह मार्ग-दर्शक का काम करेगा। समिति ने लिखा है, "अगर यह किसी रूप में 'आत्मनिर्भर' न भी हो तो भी बुनियादी तालीम को शिक्षण नीति और राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के अत्यावश्यक उपाय के रूप में स्वीकार करना चाहिए। यह सौभाग्य की बात है कि यह बेहतरीन शिक्षा, स्वाभाविक रूप से, चालू खर्च का अधिकांश पूरा करेगी।"[१५] अंतिम वाक्य योजना के आत्मनिर्भरतावाले पहलू पर समिति के अटूट विश्वास को प्रकट करता है। जो लोग इस योजना को स्वीकार करेंगे उन्हें समिति के इस विश्वास को भी स्वीकार करना चाहिए, जिसका तात्पर्य है कि अगर निकट भविष्य में नहीं तो आगे चल कर योजना आत्म-निर्भर अवश्य हो जायेगी।

योजना का संशोधित स्वरूप

प्रश्न ४ का उत्तर : बुनियादी तालीम की उपयोगिता व एकमात्र प्रभावशाली शिक्षा योजना के रूप में उसके महत्व में पूर्ण विश्वास रखनेवाले भी इससे इन्कार नहीं कर सकते कि पिछले २४ वर्षों के दरम्यान इसके प्रयोग-काल में अनेक संशोधन किये गये हैं और आगे इसके स्थायी और अच्छे परिणाम देखन हैं तो बहुत से और भी करने पड़ेंगे। नवम्बर १९६१ में महा-राष्ट्र सरकार द्वारा नियुक्त भीसे समिति ने लिखा था, "महाराष्ट्र सरकार बुनियादी तालीम की नीति को जारी रखने के लिए उत्सुक है। लेकिन सरकार इस बात से भी वाकिफ है कि योजना के कुछ पहलुओं के सम्बन्ध में जनता और शिक्षा शास्त्रियों में असंतोष है। योजना की कुछ खामियों तथा उसके संचालन और प्रशासन की दिक्कतों से भी सरकार परिचित है।"[१६]

भीसे समिति ने अपने निरीक्षण के सिलसिले में देखा कि "प्राथमिक स्तर पर भी समन्वित पढ़ाई का सिलसिला संतोषजनक नहीं है।" लेकिन उसी दरम्यान समिति ने अपवाद स्वरूप श्री चन्दूलाल नानावटी कन्या विनय मन्दिर, विले पार्ले को भी देखा जहाँ समन्वित पढ़ाई का तरीका बेजोड़ और पूर्ण संतोषजनक पाया। भीसे समिति की इस सिफारिश का कि जो उच्चतर विद्यालय के स्तर तक समन्वित शिक्षा प्रणाली लागू करना चाहते हैं, वे उक्त कन्या विनय मन्दिर से प्रेरणा लें, पूर्ण समर्थन करते हुए हम यह भी समझते हैं कि समस्त विद्यालयों के लिए यह सम्भव नहीं होगा कि वे नानावटी कन्या विनय मन्दिर जैसे चन्द विद्यालयों की तरह ही योजना को क्रियान्वित कर सकें। इसीलिए आवश्यक है कि समन्वित सिद्धांत वहीं तक लागू किया जाय जहाँ तक स्वाभाविक रूप से प्रगति हो सके "कार्य और जीवन से सीधा सम्पर्क" सिद्धांत को सब प्रकार की शिक्षा का अनिवार्य तत्व मान लिया गया है, और यह कायम रहेगा। इसीलिए हम आग्रह करेंगे कि समन्वय और आत्मनिर्भरता के पहलुओं पर ढोल न पीट कर (क्योंकि दोनों शिक्षा के ठोस पहलू स्वीकार कर लिये गये हैं), उन्हें यथा सम्भव स्वाभाविक और प्रभावशाली ढंग से लागू करने के प्रयास किये जायं। माध्यमिक विद्यालयों में कार्य के रूप में काम और जीवन के साथ सीधा सम्पर्क के सिद्धान्त को तत्काल जारी किया जाय और यहाँ यह खयाल रहे कि ऐसा करने से अवश्य ही बच्चों की स्वयंसेवा वृत्ति, स्वास्थ्य तथा मानसिक धरातल ऊपर उठेगा। नगरों तथा शहरों के माध्यमिक विद्यालयों के प्रधान तथा शिक्षक भी अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन लाकर एवं वर्ग में बैठा कर बच्चों को पढ़ाने के दकियानूसी तरीकों को छोड़ने की प्रवृत्ति अपना कर उपर्युक्त बुनियादी तालीम के पहलुओं को लागू कर सकते हैं। यही शिक्षा की गांधीवादी पृष्ठभूमि है। ●

---

१५. वही, पृष्ठ : १३।

१६. रिपोर्ट ऑफ दि बेसिक एज्युकेशन रिव्यू कमेटी, १९६२; पृष्ठ : २।

विकास की कुंजी : सहकार

मकदूम मोहीउद्दीन

राष्ट्रीय साधन-स्रोतों को सक्रिय बनाने और जनता को अपनी सहायता खुद करने के लिए तैयार करने में सहकार एक बहुत बड़ी भूमिका अदा करता है। हमारे अपने देश में विकास योजनाओं में सामाजिक तथा आर्थिक अनुसंधान के लिए बहुत बड़ी गुंजाइश है।

सहकार और विकास के प्रति यथार्थवादी उपागम प्राकृतिक साधन-स्रोतों तथा सम्पत्ति के क्रमशः सघन सर्वेक्षण एवम् मूल्यांकन में निहित हैं। आयोजन व विकास के जरिये हम ने अज्ञान, गरीबी और बीमारियों रूपी इन्सानियत के पुराने दुश्मनों को नेश्तनाबूद करने की चुनौती स्वीकार की है। यदि सपने को साकार बनाना है, तो कार्य-विधि अर्थात् जुगत के सिद्धान्त के मामले में ही नहीं, बल्कि असल कार्य के क्षेत्र में भी हमें एक, संगठित होना होगा। इसे एक लोक-कार्यक्रम के रूप में चलाना और मुख्यतः मानवीय साधनों—जोकि हमारे सभी स्रोतों में सब से महत्वपूर्ण, अमूल्य हैं—द्वारा इसका पालन-पोषण करना होगा।

आयोजित कार्य-विधि के लिए हमारे पास मस्तिष्क तथा अन्य प्रकार की सभी शक्तियाँ हो सकती हैं, किन्तु उन्हें कार्य रूप में परिणत करने के लिए महत्वपूर्ण इच्छा-शक्ति के बिना वे निष्क्रिय होंगी। स्व-निर्धारित त्याग और अनुशासन के साथ हमें अपने आपको तैयार करना तथा पुरानी पद्धतियों के सम्बन्ध में अपने आप में सुधार करने के लिए उत्साहपूर्वक आगे बढ़ना होगा।

अपने आप सहायता

ऐसा कहा जाता है कि विकास की कुंजी स्वयं देश का विकास करने में निहित है। लाभदायक तथा गतिशील विकास सुनिश्चित करने हेतु देश को अपनी जनता व साधन-स्रोत तैयार करने पड़ते हैं तथा इन सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि अपनी सहायता खुद करने, स्व-निर्धारित अनुशासन व त्याग करने एवम् एक पावन कर्तव्य के रूप में मितव्ययिता की आदत का विकास करने के लिए उपाय काम में लाने होते हैं। विकासोन्मुख जनता की इच्छा-शक्ति के अभाव में किसी भी परिमाण में बाह्य सहायता क्यों न मिले, वह बेकार ही नहीं जायेगी बल्कि एक महान बर्बादी भी होगी।

यह एक प्रतिष्ठापित तथ्य है कि किसी भी देश में विकास के लिए व्यक्ति यानी जनता एक सामान्य हर होती है। विकास कोई ऐसी वस्तु नहीं कि 'आर्डर देकर बनवा लिया जाय।' राजनैतिक विचारधाराओं और सैद्धान्तिक सीमाओं का विकास में कोई स्थान नहीं हो सकता है। विकास में सहानुभूति दर्शानेवालों और उद्भावकों के पंजे में जकड़े सामाजिक ढांचे के साथ 'बहु-जन' के बल पर 'अल्प जनों' को आर्थिक लाभ प्राप्त होने की बात परिपूर्ण रूप से टाली जानी चाहिए। सदुद्देश्य युक्त ईमानदार कार्यकर्त्ताओं के प्रयासों को नैराश्यपूर्ण करनेवाले भ्रष्ट तथा अकुशल शासन को समाप्त करना पड़ेगा। वास्तविक विकास तभी हो सकता है, जबकि सभी व्यक्ति एक परिवार के समान होकर कार्य करें।

विशाल पैमाने पर नागरिकता की शिक्षा—फिर चाहे वह सामुदायिक विकास के अन्तर्गत हो अथवा सहकार या दोनों के अन्तर्गत—देश का विकास करने, नागरिकों में नागरिकता के विशिष्ट गुणों का समावेश करने कि एक नागरिक को ऐसे समाज के अन्दर जोकि

पुराने नैराश्यपूर्ण सन्तोष को त्यागने के निश्चित उद्देश्य के साथ आगे बढ़ रहा हो अपने को किस प्रकार तैयार करना चाहिए तथा किस प्रकार अपने दैनिक जीवन व अस्तित्व के सभी पहलुओं में प्रयत्न करना चाहिए आदि विशिष्ट गुणों का समावेश करने में समर्थ होनी चाहिए; और इस प्रकार वातावरण पर विजय प्राप्त करते हुए उससे समाजवादी ढंग की समाज व्यवस्था का प्रिय लक्ष्य प्राप्त होना चाहिए।

नवम्बर १९४८ में राष्ट्रीय विकास परिषद् ने जो ऐतिहासिक प्रस्ताव पारित किया उसके साथ भारत में सहकारी आन्दोलन ने एक नया महत्व प्राप्त किया। उसने ग्राम स्तर पर सामाजिक और आर्थिक विकास के लिए ग्राम पंचायतों तथा ग्राम सहकारी समितियों के उत्तरदायित्व एवम् अभिक्रम पर विशेष जोर दिया। सहकारी सिद्धान्तों के सम्बन्ध में कोई नयी बात नहीं है। पारस्परिक सहयोग और इकाइयों की परिपूर्ण स्वतंत्रता सामाजिक जीवन के परमावश्यक गुण-तत्व हैं।

राज्य से सम्बन्ध

श्री वैकुण्ठ ल. मेहता ने **जरनल ऑफ कोऑपरेटिव स्टडीज** में 'विलेज इंडस्ट्रीज' शीर्षक से प्रकाशित लेख में लिखा है, "उत्पादनशील कार्य के लिए अवसर, मात्र अधिक आमदनी का साधन ही नहीं है वह स्वाभिमान, मानव व्यक्तित्व के विकास और समाज के सामान्य हितों में भाग लेने की भावना का साधन भी है।" नागरिक जब यह महसूस करने लगें तो समझना चाहिए कि हमने नागरिकता में शिक्षा का लक्ष्य प्राप्त कर लिया है। ग्रामीण अपनी जड़ता यानी आलस्य का त्याग कर आगे आने के लिए उन्मुख है। वह अपनी ओर से अपना सहयोग, योगदान देने को तैयार है जो वस्तुतः हमारे लोक कार्यक्रम में एक बहुत बड़ा योगदान होगा।

राज्य और सहकार आन्दोलन के बीच आपसी सम्बन्ध के तीन पहलू हैं: (१) सामान्य नियमन और विधि के अन्तर्गत नियंत्रण; (२) वित्तीय तथा अन्य प्रकार की सहायता; और (३) सहकारी समितियों द्वारा कार्यान्वित की जानेवाली नीतियों का निर्धारण। सहकारिताएँ परिपूर्ण स्वायत्तता का दावा नहीं कर सकतीं। उन्हें राज्य की योजनाओं के अनुकूल बनना होगा, जोकि साधारणतया इस ढंग से तैयार की जाती हैं कि वे सरकार की समग्र नीतियों के अनुकूल हों। इसी प्रकार 'नीचे से आयोजन' कार्यान्वित होगा।

प्रशिक्षित कर्मचारी प्रपत्र में एकत्रित आकड़ों के वैज्ञानिक विश्लेषण पर आधारित योजनाएँ तैयार करेंगे। विस्तार अधिकारी (उद्योग और सहकार) के पास अपने गांव का एक मानचित्र होगा, जिसमें उस गाँव की खण्ड, जिला, राज्य और देश के समकक्ष स्थिति बतायी गयी हो। उसे गाँव की भौगोलिक बातों, जलवायु, वर्षा, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, क्षेत्र, जन-संख्या व उसके वितरण, कृषि, धातु, वन्य-सम्पत्ति, पशु-सम्पत्ति, यातायात की सुविधाएँ और संचार, जल व शक्ति की उपलब्धि, शिक्षा तथा दवा-दारू की सुविधाओं, बाजार, मेलों, विभागीय कार्यशीलताओं, चुंगी, रीति-रिवाज आदि की परिपूर्ण जानकारी होगी। उसके पास एक सजिल्द रजिस्टर में उक्त सभी शीर्षकों के अन्तर्गत एक-एक अध्याय में जानकारी अथवा विवरण लिखा हुआ होगा। संक्षेप में उसके पास गांव तथा ग्रामीणों के बारे में हर तरह की परिपूर्ण—उनके रीति-रिवाजों, आदतों, स्वास्थ्य सम्बन्धी अवस्थाओं आदि जैसी बातों की—जानकारी होगी।

उक्त परमावश्यक आंकड़ों के आधार पर वह अनिवार्य रूप से ही, आवश्यकतानुसार कुटीर, लघु, मध्य तथा दीर्घ स्तर के उद्योगों के क्षेत्र में, सहकारी ढंग पर योजनाएँ बनाने के लिए पूरे तौर पर तैयार होगा। इसलिए कोई कारण नहीं कि आयोजित विकास क्यों नहीं किया जाना चाहिए।

हैदराबाद: १४ जुलाई १९६३

कुटीर दियासलाई उद्योग

ऑब्रे सिल्वास माटूक

कुटीर दियासलाई उद्योग में रोजगारी प्रदान करने की अच्छी क्षमता है। प्रस्तुत लेख में उद्योग की प्रवृत्ति, उसमें हुई प्रगति और कुटीर दियासलाई इकाइयों की सफल स्थापना तथा संचालन के सम्बन्ध में उठाये जानेवाले कदमों पर प्रकाश डाला गया है।

अधिकांश लोग यही समझते हैं कि दियासलाइयाँ स्व-चालित यंत्रों से तैयार की जाती हैं, लेकिन विकेन्द्रित कुटीर दियासलाई विभाग इस शताब्दी के चौथे दशक से कार्य कर रहा है। खादी और ग्रामोद्योग मण्डल (अब कमीशन) ने इस उद्योग के विकास का कार्य १९५५–५६ में अपने हाथ में लिया; क्योंकि कुटीर दियासलाई उद्योग में रोजगारी देने की, विशेष कर परिवार की आय में पूरक आय जोड़ने की, बड़ी क्षमता है। और यह मुख्यतः मध्यम, निम्न मध्यम और कारीगर वर्ग की महिलाओं, बच्चों और वृद्ध पुरुषों को काम देता है। केन्द्रीय उत्पादन-कर विभाग ने उत्पादन शुल्क के लिए दियासलाई कारखानों को उनके उत्पादन के आधार पर तीन मुख्य श्रेणियों में विभक्त किया है– 'ए', 'बी' और 'सी'। कुटीर दियासलाई केन्द्र 'डी' श्रेणी में आते हैं।

स्थल का चुनाव

कुटीर दियासलाई केन्द्र के भावी प्रवर्तकों को प्रथम उस क्षेत्र का प्राथमिक सर्वेक्षण कर लेना चाहिए, जिसमें प्रस्तावित केन्द्र की स्थापना करनी हो। केन्द्र स्थल के प्राथमिक सर्वेक्षण में निम्न बातें शामिल होनी चाहिए : (१) भवन निर्माण के लिए जमीन और कच्चे माल तथा रसायनों की उपलब्धि की दृष्टि से स्थल का चुनाव जिसमें यातायात खर्च अधिक न करना पड़े, जिसके कारण उत्पादन खर्च बढ़ जाता है; और (२) श्रम की उपलब्धि, मुख्यतः वृद्ध पुरुष, महिलाएँ और बीस वर्ष से नीचे के बालक जोकि अपने परिवार की आय में कुछ वृद्धि करने को उत्सुक हों और योजनान्तर्गत दरों पर काम करने के इच्छुक हों। वर्तमान संशोधित पद्धति अनुभव के आधार पर तैयार की गयी है और यह उत्तम तथा आकर्षक दियासलाइयाँ बनाने और प्रति दिन २५ ग्रूस के न्यूनतम उत्पादन लक्ष्य से अधिक उत्पादन करने में सहायता पहुँचानेवाली है। वर्तमान केन्द्रों में से अधिकांश ने प्रति दिन न्यूनतम २५ ग्रूस उत्पादन लक्ष्य की सीमा पार कर ली है। इसका एक कारण यह भी है कि बांस की तीलियों के बदले ग्रेबोर्ड और मुलायम लकड़ी की तीलियाँ इस्तेमाल करने लगे हैं।

उत्पादन और बिक्री

पुरानी पद्धति के अन्तर्गत १९६१–६२ में वार्षिक उत्पादन ४ करोड़ ४१ लाख दियासलाइयों का हुआ था, जिसकी कीमत ४५,९४५ रुपये थी और आज की संशोधित पद्धति के अन्तर्गत १९६२–६३ में ५,०९,१०० रुपये मूल्य की ४८ करोड़ ८७ लाख दियासलाइयों का उत्पादन हुआ। केन्द्र को आर्थिक लाभ के साथ चलाने के लिए २५ ग्रूस दियासलाइयों का नित्य उत्पादन अत्यावश्यक है। यह बहुत ही आवश्यक है कि जितनी दियासलाइयाँ बनती हैं, वे जल्द से जल्द बिक जायें। तैयार माल के संग्रह से मूल्यवान संचालन पूंजी रुक जायेगी, जोकि केन्द्र के लाभपूर्ण संचालन के लिए हानिकारक है। केन्द्र के सफल संचालन के लिए हमेशा उत्पादन लागत और स्तर पर ध्यान रखा जाना चाहिए। एक ही मूल्य के कई उत्पादनों में ग्राहक उसे ही अधिक पसन्द करते हैं जो अधिक उम्दा हो। एक बार बाजार में प्रवेश करने पर

यदि वह चीज ग्राहकों को संतोष नहीं पहुँचा पाती है तो निश्चित ही वह असफल रहेगी और उसे ग्राहकों में लोकप्रिय बनाने के लिए फिर नये सिरे से कार्य करना होगा। माल की नियमित पूर्ति न होना भी निरंतर मांग न बने रहने का एक कारण है। अतः प्रवर्त्तकों को इस ओर सावधानी बरतनी होगी कि वे संचालन पूँजी का, अनबिके माल का भंडार जमा किये बिना किस प्रकार सर्वोत्तम उपयोग करें।

कुटीर दियासलाई विभाग इस दृष्टि से घाटे में है कि यह बिक्री भण्डारों का जाल नहीं बिछा सकता। न ही यह उधार के रूप में बिक्री सुविधाएँ दे सकता है। इसके अतिरिक्त न तो यह बृहद् विज्ञापन ही कर सकता है और न बिक्री बढ़ाने के लिए बड़े-बड़े विक्रेताओं को ही नियुक्त कर सकता है। जो भी हो, कुटीर दियासलाई केन्द्रों को दियासलाइयों के लिए आर्डर मिल रहे हैं। महाराष्ट्र और गुजरात के केन्द्र प्रतिरक्षा कैण्टीनों से तथा उत्तर प्रदेश के केन्द्र उत्तरी रेलवे से दियासलाई पूर्ति के मामले में अनुबन्धित हैं।

बम्बई स्थित केन्द्रीय पूर्ति भंडार थोक भाव पर रसायनों और कच्चे माल की पूर्ति देश की उन विभिन्न इकाइयों को करता है जिन्हें ये स्थानीय रूप में उपलब्ध नहीं हैं।

रोजगारी

औसत रूप में एक दियासलाई केन्द्र ५ व्यक्तियों को पूर्ण कालीन और ३० व्यक्तियों को अंश कालीन कार्य देता है। एक कारीगर प्रति दिन ७५ नये पैसे से २ रुपये तक कमा सकता है। महिलाएँ, बच्चे और वृद्ध पुरुष केन्द्र से काम लेकर अपने घरों में कर सकते हैं। यह उन निम्न मध्य वर्गीय महिलाओं के लिए बड़ा ही लाभदायक है जोकि कारखानों में बैठ कर काम करना नहीं चाहतीं। प्रवर्त्तकों और पर्यवेक्षकों को हमेशा यह ध्यान रखना होता है कि कम से कम जितने श्रमिकों की आवश्यकता है उतने श्रमिक हमेशा मिलते हों, उन्हें उचित तथा नियमित मजदूरी मिलती रहे तथा श्रमिकों को प्रोत्साहित करना चाहिए, ताकि वे प्रति दिन न्यूनतम लक्ष्य २५ ग्रूस से अधिक उत्पादन करने के लिए पुर जोर काम करें।

यदि केन्द्र के लिए भवन हो तो जहाँ-कहीं आवश्यक हो उसका नक्शा नगरपालिका और फायर ब्रिगेड के अलावा केन्द्रीय उत्पादन कर अधिकारियों से भी स्वीकृत करा लेना चाहिए। यदि भवन बनाना हो तो उसमें कम से कम छः कमरे निम्न आकार के होने ही चाहिए:

अ.	काम करने का हॉल	३०'×२०'
आ.	पोटासियम क्लोरेट भांडारित करने के लिए कमरा	१०'×१०'
इ.	अन्य रसायनों और कच्चे माल के लिए कमरा	२०'×१०'
ई.	तैयार माल रखने के लिए कमरा	२०'×१०'
उ.	डिपिंग रूम	१०'×१०'
ऊ.	उत्पादन-कर विभाग के कर्मचारियों के लिए कमरा (कार्यालय)	१०'×१०'

आवश्यक लाइसेंस

उपर्युक्त आकार सिर्फ आभास देने के लिए है और उसमें स्थानीय आवश्यकता के अनुसार उपयुक्त परिवर्तन किये जा सकते हैं। भवन का अग्नि बीमा भी कराना होगा। इन लाइसेंसों की आवश्यकता होगी: (१) पोटासियम क्लोरेट भांडारित करने के लिए जिलाधीश का लाइसेंस; (२) जहाँ-कहीं आवश्यक हो, दियासलाई निर्माण के लिए नगरपालिका का लाइसेंस; और (३) जहाँ-कहीं आवश्यक हो फायर ब्रिगेड अधिकारियों का लाइसेंस। इन सबके लिए आवेदन, केन्द्रीय उत्पादन-कर अधिकारियों के पास आवेदन करते समय साथ-साथ कर देना चाहिए।

दियासलाइयों पर मुहर लगाने के लिए पट्टीवेल्ल खरीदने हेतु रिबेट प्रमाण-प, केन्द्रीय उत्पादन-कर अधिकारियों से प्राप्त करना होगा। लाइसेंस मिलने के

तुरन्त बाद उत्पादन-कर अधिकारियों को केन्द्र के कार्यालय के विषय में १५ दिन पूर्व सूचना देनी होगी। निरन्तर २५ ग्रूस अथवा उससे अधिक उत्पादन करने हेतु प्रशिक्षित कारीगरों के अलावा कच्चे माल की बराबर पूर्ति भी नितांत आवश्यक है। अतः तीन से छः महीने के उत्पादन लायक स्टाक रखना वांछनीय है। पोटासियम क्लोरेट को अलग कमरे में रखना होगा। फॉसफोरस तथा अन्य रसायनों को सुरक्षा नियमों के अनुसार अच्छी तरह पैक और सील करके रखना होगा। केन्द्रीय उत्पादन-कर खातों तथा हिसाब बहियों को नियमित रूप से भरना भी आवश्यक है अन्यथा दोषी पाये जाने पर लाइसेंस रद्द हो सकता है।

भांडार बही में रसायनों के विषय में—निकालने और रखने के बारे में—सही-सही जानकारी करनी चाहिए और वह बही आद्यतन होनी चाहिए। भांडार बही को ठीक रखने से माल के भंडार की सही जानकारी मिलेगी और इससे केन्द्र कम हो गये माल को मँगा सकेगा और उत्पादन की ठीक-ठीक कीमत लगा सकेगा। रसायनों की बर्बादी रोकने के लिए भी कदम उठाये जाने चाहिए; क्योंकि ये चाहे तभी प्राप्त नहीं होते।

कुटीर दियासलाई के निर्माण में ये प्रक्रियाएँ शामिल हैं; (अ) तीलियों और वीनियर का निर्माण; (आ) डिब्बों का निर्माण; और (इ) तीलियों के सिरे और डिब्बों को दो हिस्सों पर मसाला चढ़ाना, डिब्बों में तीलियाँ भरना, लेबल लगाना, मुहर लगाना और समापन।

तीलियाँ और वीनियर

वर्तमान पद्धति के अन्तर्गत बांस की तीलियाँ और कार्ड-बोर्ड के वीनियर इस्तेमाल किये जा रहे हैं, तथापि बांस के वीनियर भी बनाने की इजाजत है, यदि वे आर्थिक रूप में लाभदायक हों तथा डिब्बों का समापन अच्छा हो व बाजार में आसानी से बिक जायें। तीलियाँ बनाने के लिए हाथ से चलनेवाले यंत्र का इस्तेमाल कर सकते हैं, जोकि सस्ता और चलाने में सरल हो। इससे वर्गाकार तीलियाँ बनती हैं, और बांस की बर्बादी कम होती है। दियासलाई केन्द्रों में यह यंत्र बहुत प्रचलित है। मुलायम लकड़ी की तीलियाँ और वीनियर का भी इस्तेमाल कर सकते हैं, बशर्ते कि वे हाथ के बने हों। तथापि इस बात की सावधानी बरतनी होगी कि बांस की तीलियाँ वर्गाकार और सम-लम्बाई की हों तथा बांस की बर्बादी कम से कम हो। मसाला चढ़ाने का काम कारीगरों के घरों में किया जा सकता है। इसके लिए एक चौखटे का इस्तेमाल किया जाता है जिसमें ६० लाठ होते हैं और उनमें १,८०० तीलियाँ रहती हैं। एक चौखटे में ५० तीलियोंवाले ३६ डिब्बे तैयार हो सकेंगे अर्थात् १ ग्रूस तैयार करने में ४ चौखटे चाहिए।

अभी दियासलाई के डिब्बे ग्रे-बोर्ड से बनाये जाते हैं; क्योंकि इन डिब्बों के आकार परिमार्जित होते हैं। यदि उन्हें ठीक से रखा जाय तो वे बरसात के दिनों में नमी से बच सकते हैं। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन ने कार्ड बोर्ड की कमी के कारण मुलायम लकड़ी के वीनियर इस्तेमाल करने की अनुमति दे दी है।

तीलियों के सिरे का मसाला

तीलियों के सिरे पर जो मसाला लगाया जाता है, उसे इस तरह तैयार किया जाना चाहिए कि वह रसायन मिलाने के स्तरीय सूत्र के समान हो और उसे किसी हालत में नहीं बदलना चाहिए; और न केन्द्र के भवन में कोई प्रयोग ही किया जाना चाहिए। ये दोनों ही चीजें हानिकारक हैं; उनसे रसायन की बर्बादी हो सकती है और केन्द्र में आग भी लग सकती है। एक ही कमरे के अन्दर सूखा रखने पर, पोटासियम क्लोरेट और रेड फॉसफोरस नहीं लाना चाहिए। निश्चित परिमाण में मसाला तैयार करने की सावधानी बरतनी चाहिए, क्योंकि अधिक मसाला तैयार होने से उसकी निकासी तथा अगले दिन इस्तेमाल करने हेतु उसे भांडारित करने की समस्या आ खड़ी होगी। इस्तेमाल न किये जाने लायक

मसाले को निकासी के लिए सुरक्षित स्थान में रख देना चाहिए। सूखा रहने पर मसाले में जरा भी घर्षण होने से आग लगने और विस्फोट का खतरा है। मसाला लगाने का काम जहाँ तक सम्भव हो, धूपवाले दिन में और इस तरह करना चाहिए कि सब में समान रूप से मसाला लगे। दियासलाइयों के नमूने खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के कुटीर दियासलाई निर्देशालय के पास उचित परीक्षण और मार्गदर्शन के लिए भेजे जा सकते हैं। सभी भरे हुए चौखटों को सूखने के लिए अच्छी तरह रखना चाहिए। इस बात की सावधानी बरतनी चाहिए कि तीलियों के सिरे पर लगा मसाला टपके नहीं।

डिब्बों में भरने की प्रक्रिया

चौखटों में मसाला लगाने और सुखाने के बाद तीलियों को डिब्बों में भरने के लिए निकाल लेना चाहिए। अच्छी तरह मसाला नहीं लगी तीलियों को रद्द कर अलग रख देना चाहिए। उपयुक्त आकार के डिब्बों को चुनना चाहिए और जो स्तरीय न हों उन्हें हटा देना चाहिए।

डिब्बों के ऊपर दोनों ओर जो मसाला लगाया जाता है, उसे तैयार करने में सूत्र का पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए, डिब्बों को एक चौखटे में तीलियों की तरह ही लगाना चाहिए। उन पर फिर इस तरह मसाला चढ़ाना चाहिए कि किनारे खराब न हों। मसाला चढ़ानेवाले ब्रुश को ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर चलाना चाहिए तथा ऊपर और नीचे दोनों सिरों का कुछ स्थल सुरक्षा हेतु मसाला रहित रहने देना चाहिए ताकि अगर कोई तीली बंद डिब्बे के बाहर निकल भी जाये तो वह डिब्बे के मसाले से रगड़ न खा सके। जिन डिब्बों पर ठीक से रंग न लगा हो, जगह-जगह धब्बे हों, उन्हें रद्द कर देना चाहिए; क्योंकि वे खतरनाक होते हैं। चुनिन्दा डिब्बों पर मुहर और लेबल लगाने के लिए एडहेसिक पेस्ट का उपयोग करना चाहिए। फिर तैयार डिब्बों को दर्जन तथा ग्रूस के हिसाब से पैक करना चाहिए।

बम्बई : १६ अगस्त १९६३

असामान्य मौसम और मधुमक्खी-पालन

गत शरद् ऋतु से कश्मीर में असामान्य मौसम बना हुआ है। दिनांक १८ नवम्बर १९६२ को प्रथम हिमपात हुआ और तब से ही जाड़ा आरम्भ हो गया, जो कि समय से बहुत पूर्व था। इस समय तक मधुमक्खी-पालकों ने अपनी मधुमक्खियों को शरद स्थानान्तरण केन्द्रों में ही रख रखा था। तापमान सामान्य अवधि से अधिक समय तक हिमांक के नीचे बना रहा। इस जाड़े में तापमान में जितनी ठंड बनी रही, उतनी पहले कभी नहीं हुई थी। सभी झील जम गयीं। फरवरी १९६३ के मध्य तक स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। उसके बाद १ मार्च १९६३ को तापमान बढ़ कर १९.७ सेंटीग्रेड हो गया।

इसने मधुमक्खियों को अपनी गतिविधियाँ बढ़ाने की प्रेरणा दी। उस समय तक पूसी विलो फूल की ऊपरी पंखुड़ियाँ खिल चुकी थीं, जो कि मधुमक्खियों को पुष्परस और पराग उपलब्ध करती हैं और तदनुसार मधुमक्खियाँ इनका संग्रह करने में व्यस्त हो गयीं, जिससे कि वे अपने खाली भंडार को भर सकें। आशा थी कि पूसी विलो तथा अन्य फूल जब तक पूर्णरूपेण खिलेंगे तब तक मौसम अच्छा हो जायेगा, परन्तु वह मद्धिम पड़ गया। बारिश शुरू हो गयी और लगातार कई दिनों तक वर्षा होती रही इससे तापमान ६ मार्च १९६३ को ७.५ डिग्री सेन्टीग्रेड हो गया। तत्पश्चात् ९ मार्च को भारी हिमपात हुआ। दस और १४ मार्च के बीच मौसम में थोड़ा सुधार हुआ, परन्तु १५ मार्च को पुनः हिमपात हुआ। पूसी विलो फूल तथा पुष्परस प्रदान करनेवाले अन्य फूल बहुत कुछ नष्ट हो गये। यह अवस्था ५ अप्रैल तक बनी रही। इस बीच मार्च के अन्तिम दो सप्ताह में सिर्फ चन्द घण्टे ही मौसम अच्छा रहा। मधुमक्खियों ने जो मधु संचित कर रखा था वह पूर्णतः समाप्त हो गया और अभिजनन कार्य ठप पड़ गया। मधुमक्खियों के बच्चों की अवस्था गिरने लगी। बहुत कम संख्या में नयी मधुमक्खियाँ पैदा हुईं, जबकि अधिक संख्या में आयु प्राप्त मक्खियाँ मरती गयीं। सम्पूर्ण घाटी से मधुमक्खियों के मौत के समाचार आते रहे। मधु-पालक अपनी मधुमक्खियों को बचाने के लिए उनका भोजन संग्रहित करने में व्यस्त थे, ताकि प्रतिकूल मौसम के कारण वे नष्ट न हो जायें।

दिनांक ६ और १४ अप्रैल के बीच मौसम में थोड़ा सुधार हुआ, जबकि अधिकतम तापमान १४.७ डिग्री सेन्टीग्रेड तक पहुँचा। इस अवधि में पुष्परस और पराग के मुख्य स्रोत थे : वृक्ष और तिलहन के फूल। मधुमक्खियों ने इस अवधि का पूरा-पूरा लाभ उठाने और अपनी क्षति-पूर्ति करने की कोशिश की। मधु-पालकों ने भी समय गंवाना उचित नहीं समझा और उन्होंने अपनी मधु-मक्खियों को भूखे मरने से बचाने के लिए उनका भोजन संग्रहित करने में अपना पूरा समय लगा दिया। अप्रैल के बाद के दिन प्रतिकूल ही रहे।

यदि मधुमक्खियों और मधुमक्खी-पालकों को अनुकूल मौसम की यह छोटी-सी अवधि प्राप्त नहीं होती तो बहुत अधिक संख्या में मधुमक्खियों की मौत हो जाती।

मई माह के प्रथम दो सप्ताह मद्धिम रहे। बारिस के कारण मधुमक्खियों की गतिविधियाँ सीमित रहीं तथा कुछ फूल भी नष्ट हुए। मधुमक्खियों को जीवित रखने के लिए सम्पूर्ण घाटी में उन्हें भोजन कराया जाता रहा। इस अवधि में भी कुछ मधुमक्खी छत्तों के विनष्ट होने आदि के समाचार आते रहे। यह बड़ी अजीब अवस्था थी। सामान्यतया इस अवधि में मधुमक्खियों के छत्ते मधु से परिपूर्ण रहते हैं, नयी मधुमक्खियाँ काफी संख्या में दिखायी देती हैं और मधुमक्खियों के बच्चोंवाले कोष भी भरपूर रहते हैं। इस माह में चूँकि मधुमक्खियाँ अपने पूरे यौवन पर रहती हैं, अतः मधुमक्खी-पालक उनकी संख्या बढ़ाने में निरन्तर व्यस्त रहते हैं। परन्तु इस वर्ष इस माह में बहुत कम मधुमक्खियाँ जीवित रह सकीं और जो जीवित रहीं वे भी बहुत कमजोर हैं, उनका मधु भंडार खाली-सा है।

चार महीनों में (जनवरी से अप्रैल) बारिश के सम्बन्ध में समाचार पत्रों में जो समाचार प्रकाशित हुए उस विषय में कुछ अंश यहाँ देना असंगत न होगा :

"कश्मीर को अब तक इस अर्थ में भी प्रसिद्धी मिली है कि सैर-सपाटेवाली अन्य पहाड़ियों के बनिस्बत यहां सबसे कम बारिश होती है, परन्तु पिछले चार महीनों में यहां देश के अन्य भागों से सर्वाधिक बारिश हुई है।

दिनांक १ जनवरी से ३० अप्रैल १९६३ तक कश्मीर में जितनी बारिश हुई उतनी तो चेरापूंजी में भी नहीं हुई। प्राप्त रिपोर्ट के अनुसार कश्मीर में ३७८ मिलीमीटर बारिश इस अवधि में हुई, जबकि चेरापूंजी में सिर्फ ३५५ मिलीमिटर...।"

सम्पूर्ण रूपेण, अवस्था मधुमक्खी-पालकों के लिए सन्तोषजनक नहीं है। यह हर मधुमक्खी-पालक और मधु संस्थान के लिए गंभीर विचार-विमर्श की बात है। उन्हें बहुधा आपस में मिलना चाहिए, एक-दूसरे को वर्तमान विकासों से परिचित रखना चाहिए तथा ऐसा रास्ता अपनाना चाहिए, जोकि उन्हें इस तरह की तथा अन्य समस्याओं को सुलझाने में मदद करे।

श्रीनगर : २७ मई १९६३ —अ. मो. शाह

ग्रामीण विकास में समन्वय

ग्राम पुनर्निर्माण के क्षेत्र में 'समन्वय' अथवा 'संयोजन' शब्द पर किसी न किसी रूप में विशेष जोर दिया जाता रहा है। पंजाब में गुड़गांव योजना के प्रवर्तक श्री एफ. एल. ब्रायन (Brayne) ने बताया "गुड़गांव योजना में कोई नयी बात नहीं है। उसमें केवल एक ही बात है, प्रयासों में समन्वय।" इटावा मार्गदर्शी परियोजना में अलबर्ट मायर (Albart Myre) ने समन्वयवाले पहलू पर विशेष ध्यान दिया। सभी माध्यमों के बीच परिपूर्ण समन्वय कैसे लाया जाय ? सामान्य कार्यकर्त्ता कभी-कभी प्रशासनात्मक कठिनाइयों के कारण आगे कदम बढ़ाने में असमर्थ रहता है।

आक्सफोर्ड डिक्शनरी में इसका सीधा-सादा अर्थ फाउलर (Fowler) ने इस प्रकार दिया है, "विभिन्न अंगों में समुचित सम्बन्ध स्थापित करना" अर्थात् उनमें संयोजन लाना। मूने (Mooney) और रेले (Reiley) ने आनवर्ड इण्डस्ट्री में समन्वय पर लिखा है, "यह शब्द संगठन के सिद्धान्त ज्यों के त्यों व्यक्त करता है, और कुछ नहीं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कोई सहायक सिद्धान्त नहीं हैं। इसका सीधा-सादा अर्थ यही है कि अन्य सभी इस एक शब्द 'समन्वय' में आ जाते हैं। अन्य सिद्धान्त, मात्र ऐसे हैं जिनके जरिये समन्वय का संचालन होता है और वह प्रभावकारी बनता है।" संक्षेप में स्वयम् संगठन का उदेश्य ही समन्वय है। मनोवैज्ञानिक एकता, संयोजन—मात्र व्यवस्था का ही नहीं बल्कि इच्छा तथा उत्साह का भी—समन्वय का उद्देश्य है। इसके माने हैं किसी कार्य के सभी अंगों के मध्य समरस सम्बन्धों को आगे बढ़ाना।

उदाहरणार्थ, यदि ग्राम इकाई कार्यक्रम कार्यान्वित करनेके लिए जिम्मेदार कार्यकर्त्ता अन्य क्षेत्रीय कार्यकर्त्ताओं के साथ समरस सम्बन्ध नहीं बढ़ाता है, तो निश्चय ही उसे अन्य माध्यमों की गतिविधियों में समन्वय स्थापित करने के अपने एक उद्देश्य में न्यून प्रत्युत्तर तथा सहयोग मिलेगा। यह आवश्यक है कि कार्यकर्त्ता सरकारी अधिकारियों, पंचायतों, पंचायत समितियों तथा जिला परिषदों का प्रतिनिधित्व करनेवाले गैर सरकारी अधिकारियों, सामाजिक कार्यकर्त्ताओं एवम् प्रमुख स्थानीय व्यक्तियों आदि के साथ मधुर सम्बन्ध बढ़ाने में समर्थ हो। यह महसूस करना उनके लिए एक स्वाभाविक बात है कि जो कुछ वे कर रहे हैं वह सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। समग्र विकास के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सभी की तरफ से प्रयास किया जाना परमावश्यक है। हर व्यक्ति काम में हाथ बटा रहा है। कृषि, स्वास्थ्य, शिक्षा, सहकार आदि के विकास का ग्राम पुनर्निर्माण कार्य में महत्वपूर्ण स्थान है।

राजेन्द्रनगर—हैदराबाद : १० अगस्त १९६३ —सो. सन्मुगम

पुस्तक समीक्षा :

आर्थिक विकास का एक अध्ययन

यह एक सामान्य अनुभव की बात है कि किसी कार्य के प्रति उसमें भाग लेनेवालों की अपेक्षा पर्यवेक्षक के विचार अधिक सहायक होते हैं। अतः कॉउन्सिल ऑफ इकनॉमिक एज्यूकेशन द्वारा प्रकाशित बारबरा वार्ड की नयी रचना **प्लान अण्डर प्रेशर*** का अध्ययन आयोजन के विद्यार्थी के लिए विचार जागृत करने का काम करती है तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यह प्रकाशन श्रीमती बारबरा वार्ड (जो लेडी जेक्सन के नाम से भी प्रसिद्ध हैं) द्वारा सन् १९६२ के अंतिम काल में दिए गये भाषणों पर आधारित है। इस पुस्तक में पूर्ण विकास की समस्या का अध्ययन गत वर्ष के अंतिम महीनों में हुए चीनी आक्रमण द्वारा उत्पन्न "तत्कालीन संकट" के संदर्भ में किया गया है।

भारत में द्रुत गति से होनेवाले औद्योगिक विकास को श्रीमती बारबरा वार्ड पूरे उत्साह व हर्ष से देखती हैं, फिर भी, वे यह मानती हैं कि "जो लोग इस्पात के कारखानों को अत्यधिक आशापूर्ण निगाह से देखते हैं वे प्रायः यह भूल जाते हैं कि समूचे औद्योगिक विकास में इस्पात का केवल छोटा-सा ही योगदान होता है।" वे ठीक ही कहती हैं कि "वस्तुतः इन लोगों को रूई अथवा जूट या मूंगफली के पूर्ण विकसित क्षेत्र को भी उतनी ही आशा पूर्ण दृष्टि से देखना चाहिए।" एक उत्तम बीज-उत्पादन खेत की अपेक्षा जिसके द्वारा भारतीय उत्पादन का स्तर संसार के स्तर पर पहुँच सकता है, किसी कारखाने की धुँआ छोड़ती हुई चिमनी को अधिक 'प्रतिष्ठा का प्रतीक' नहीं समझा जाना चाहिए।

*बारबरा वार्ड : **प्लान अण्डर प्रेशर**; एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई; १९६३; पृष्ठ : ६०; मूल्य : ५ रुपये।

किसी योजना का बड़ा होना, उसका भौतिक आकार, उस पर खर्च की गयी लागत, उसके पूर्ण होने पर उसके द्वारा भारी मात्रा में उत्पादन, ये सब बातें प्रायः हमें लुभाती हैं। यही बात श्रीमती बारबरा वार्ड वन्य साधन-स्रोतों की अपेक्षाकृत उपेक्षा के सम्बन्ध में भी कहती हैं। उत्पादित माल का पूर्णतया उपयोग करने तथा स्रोतों में उत्पादन को सुरक्षित बचाये रखने की दृष्टि से लघु परन्तु आवश्यक योजनाओं में कम आकर्षण रहता है। ऐसे समय में यह आशा की जाती है कि जब कठिनाइयाँ अधिक हैं और अर्थ-व्यवस्था में गतिरोध आने का खतरा मौजूद है, इस प्रकार की प्रवृत्ति हमारी निर्णय-शक्ति को प्रभावित न करे।

बड़े का आकर्षण

हमारे देश में और विदेशों में योजना के ऐसे अध्ययन-कर्त्ता भी हैं जो कहते हैं कि भारत जैसे देश में जहाँ जन-संख्या म निर्बाध रूप से निरन्तर वृद्धि हो रही है वहाँ योजना द्वारा आर्थिक विकास के लिए खर्च करना साधनों को पूर्णतया नष्ट करना है। वास्तव में जन-संख्या में वृद्धि जन्मानुपात में वृद्धि होने के कारण नहीं हुई है वरन् विशिष्ट कार्यवाहियों के प्रभावकारी होने के कारण मृत्यु-अनुपात में कमी होने से पैदा हुई है। यह सब बातें बताते हुए श्रीमती वार्ड कहती हैं कि किसी देश का आर्थिक विकास मंद गति से बढ़ती हुई जन-संख्या से नहीं होता, बल्कि आर्थिक विकास छोटे कुटुम्ब रखने की भावना को जन्म देता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि आर्थिक विकास के कारण ही लोगों में छोटे कुटुम्ब बनाये रखने की इच्छा को प्रोत्साहन मिलता है।

कृषि का उत्पादन बढ़ाने पर बल देती हुई श्रीमती

वार्ड कहती हैं कि यह बड़े दुःख की बात है कि सिद्धान्तों और बातों में तो कृषि को प्राथमिकता दी जाती है पर व्यवहार में इन सिद्धान्तों का अमल बहुत कम हो पाता है। इस सम्बन्ध में आप एक उदाहरण देती हैं। आपका कहना है कि अभी तक किसी भी राज्य के मुख्य मंत्री ने कृषि का कार्यभार नहीं सम्हाला है। कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए अधिकांश सैद्धान्तिक हल हमें भली-भांति विदित हैं। परन्तु कठिनाई यह है, जैसा कि श्रीमती बारबरा वार्ड कहती हैं कि खेती के सुधार के कार्यक्रम का कार्यान्विय सम्पूर्ण, समग्र रूप से न कर थोड़े-थोड़े अंशों में होता है और इस कार्यक्रम के प्रशासन में सुआयोजन एवं कुशलता की कमी है। इन कमियों का प्रभाव सिंचाई की सुविधाओं में वृद्धि व विस्तार करने पर, उर्वरक उचित समय पर मुहैया करने पर और बोआई के समय शुद्ध बीज किसानों को बांटने पर पड़ता है।

श्रीमती वार्ड ने औद्योगिक विकास का अवलोकन कर जो विचार व्यक्त किये हैं, वे ग्रामीण औद्योगिक कार्यक्रम में जो लोग लगे हुए हैं उनके लिए अधिक उपयोगी हैं। रूस और उत्तरी अमेरिका के अनुभवों से प्रभावित हमारे विचारों की व्याख्या करती हुई श्रीमती बारबरा वार्ड कहती हैं कि हमारे साधन और आवश्यकताएँ इन देशों से बहुत ही भिन्न हैं। वे पूछती हैं कि क्या विकास का यह स्वरूप अधिक व्यावहारिक न होगा यदि हम कृषि और अन्य प्राकृतिक स्रोतों को, जिनसे हमें सदा नये-नये पदार्थ प्राप्त हो सकते हैं, ज्यादा महत्व दें और उद्योगों का छोटे पैमाने पर विकेन्द्रीकरण करन का प्रयास करें? आपके विचारों से जापान के प्रारम्भिक काल के कुटीर उद्योगों और छोटे उद्योगों का आर्थिक ढांचा आज के भारत के लिए श्रेयस्कर है।

सहकारिता की ओर प्रयास

देश को सुरक्षित रखने, बढ़ती हुई कीमतों को रोकने और लोगों का जीवन स्तर ऊँचा उठाने के लिए श्रीमती वार्ड ने अपने समस्त भाषणों में सुव्यवस्थित ढंग से आर्थिक विकास की वृद्धि करने की आवश्यकता पर बल दिया है। श्रीमती वार्ड को यह अच्छी तरह ज्ञात है कि सुव्यवस्थित ढंग से आर्थिक विकास दूसरे देशों द्वारा उदार आर्थिक सहायता बिना नहीं हो सकता। इस दृष्टि से देखने से भारत को संकट काल से निकालने, विकास की गति में चार-पांच प्रति शत वृद्धि करने और देश के ४५ करोड़ लोगों को थोड़ी-बहुत सुख-सुविधा उपलब्ध करवाने का संयुक्त प्रयास दया अथवा नम्रता या पैत्रिकता अथवा राजनैतिक स्वार्थ के द्वारा भी सम्भव नहीं है। उनका कहना है कि हमें यह तथ्य स्वीकार करना चाहिए कि करोड़ों लोगों का दुःख दर्द एक ऐसा भार है जिसके वहन करने की आशा समस्त मानव जाति से करना उचित नहीं है। श्री अब्राहम लिंकन के शब्दों को उद्धृत करती हुई श्रीमती वार्ड कहती हैं कि मानव जाति के कंधों से इस भार को हटाने की चेष्टा करना पश्चिमी देशों के लिए उतना ही हितकर है, जितना कि स्वयम् भारतवासियों के लिए।

पूना : १९ जुलाई १९६३ —**वैकुण्ठ ल. मेहता**

सम्पादक : सुभाष चन्द्र सरकार द्वारा खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय,' इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई–५६ से प्रकाशित तथा मुद्रित। मुद्रण-स्थल : एसोसिएटेड एडवर्टाइजर्स एण्ड प्रिण्टर्स, ५०५, तारदेव, आर्थर रोड, बम्बई-३४।
वार्षिक शुल्क : २.५० रुपये; एक प्रति : २५ नये पैसे।

खादी ग्रामोद्योग

ग्रामीण जीवन, समाज और अर्थशास्त्र विषयक मासिक

वर्ष : ९ : अंक : १-१२

अक्तूबर १९६२–सितम्बर १९६३

विषय सूची

सम्पादक: सुभाष चन्द्र सरकार

प्रचार निर्देशालय

खादी और ग्रामोद्योग कमीशन

ग्रामोदय, इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम)

बम्बई–५६

लेखों की सूची

पुस्तक समीक्षा

लेखक और उनकी रचनाएँ

सुभाष चन्द्र सरकार द्वारा खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय', इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई–५६ से प्रकाशित तथा मुद्रित। मुद्रण-स्थल: एसोसिएटेड एडवर्टाइजर्स एण्ड प्रिण्टर्स, ५०५, तारदेव, आर्थर रोड, बम्बई–३४।

खादी ग्रामोद्योग

ग्रामीण जीवन, समाज और अर्थशास्त्र विषयक मासिक

दशम वर्ष · अक्तूबर १९६३ · प्रथम अंक

(अगले पृष्ठ पर)

सम्पादक : सुभाष चन्द्र सरकार द्वारा 'ग्रामोदय', इर्ला, बम्बई-५६ से मुद्रित और प्रकाशित। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की पत्रिका 'खादी ग्रामोद्योग' ग्रामीण विकास और समाज तथा अर्थशास्त्र-विषयक मासिक है, जिसका ध्येय आर्थिक लाभ अर्जित करना नहीं है। इन तथा अन्य सम्बन्धित विषयों पर ग्रामीण विकास के ध्येय से लिखे गये लेखों पर पत्रिका में प्रकाशनार्थ सहर्ष विचार किया जायेगा। स्वीकृत रचनाओं पर पारिश्रमिक दिया जायगा। लेख, पुस्तकों की समीक्षा आदि सम्पादक, 'खादी ग्रामोद्योग', खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय,' इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई–५६ के पते पर भेजें। टेलिफोन नं. ८६७७३।

इस पत्र में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार आवश्यक नहीं कि खादी और ग्रामोद्योग कमीशन अथवा सम्पादक के हों, जब तक कि विशेष रूप से उल्लेख न कर दिया गया हो।

वार्षिक शुल्क : २.५० रुपये; एक प्रति : २५ नये पैसे। इस अंक के दो रुपये। चन्दे की रकम इस पते पर भेजी जानी चाहिए : असिस्टेण्ट एकाउण्ट्स ऑफिसर (कैश), खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय', इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई–५६।

विषय सूची

(पिछले पृष्ठ से)

इस अंक के लेखक

उछरंगराय नवलशंकर ढेबर	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अध्यक्ष।
वैकुण्ठ लल्लूभाई मेहता	–खादी और ग्रामोद्योग मण्डल के सदस्य।
मोरारजी रणछोड़जी देसाई	–भूतपूर्व केन्द्रीय वित्त मंत्री; संसद सदस्य।
कन्दस्वामी अरुणाचलम्	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के उपाध्यक्ष।
त्रिभुवन नारायण सिंह	–योजना आयोग के सदस्य।
ब्रह्मदेव मुकर्जी	–बम्बई स्थित स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया के मैनेजिंग डायरेक्टर।
अरुण चन्द्र गुहा	–संसद सदस्य; लोक सभा की अनुमान समिति के अध्यक्ष।
ध्वजा प्रसाद साहू	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के सदस्य।
रामकृष्णराव कृष्णराव पाटिल	–खादी और ग्रामोद्योग मण्डल के सदस्य।
झवेरभाई पुरुषोत्तमभाई पटेल	–खादी और ग्रामोद्योग मण्डल के संदस्य।
शंकरलाल घेलाभाई बेंकर	–प्रख्यात अनुभवी रचनात्मक कार्यकर्त्ता।
जोसेफ दुरै सुन्दरम्	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के भूतपूर्व अर्थ अनुसंधान निर्देशक; अब बम्बई स्थित 'इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ बैंकर्स' के सेक्रेटरी।
भगवन्त नागेश दातार	–भारत सरकार के नयी दिल्ली स्थित योजना आयोग में श्रम तथा रोजगारी प्रमुख।

(अगले पृष्ठ पर)

इस अंक के लेखक
(पिछले पृष्ठ से)

अमृतलाल दत्त	–बम्बई स्थित टैरिफ कमीशन में सहायक अनुसंधान निर्देशक।
बहराम होरमसजी मेहता	–टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेस में रिसर्च प्रोफेसर; 'इण्टेग्रेटेड प्रोग्रैम्स ऑफ सोशल सर्विसेस एण्ड एज्यूकेशन फॉर ट्राइबल वेलफेयर' के गोंडवाना केन्द्र के निर्देशक।
अब्दुर रहीम खाँ	–नयी दिल्ली स्थित भारतीय कृषिक अनुसंधान संस्था में कृषि विस्तार विभाग के अध्यक्ष।
शिशिर कुमार बराट	–मद्रास स्थित केन्द्रीय चर्म अनुसंधान संस्था में सहायक निर्देशक; खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की चर्मोद्योग सलाहकार समिति के सदस्य।
चित्तप्रिय मुखर्जी	–श्रीनिकेतन स्थित 'रूरल हायर इन्स्टीट्यूट' में सहकार के लेक्चरर।
मंजेश्वर सदाशिव राव	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की ग्रामीण इंजीनियरिंग शाखा के निर्देशक।
गौरी शंकर रायचौधरी	–दिल्ली विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के लेक्चरर।
श्रीपति श्रीदेवी	–हैदराबाद स्थित महिला विश्वविद्यालय कालेज की आचार्या।
मीरा गुहा	–कलकत्ता विश्वविद्यालय में भूगोल की लेक्चरर।
पुल्लै विश्वनाथ श्रीकण्ठ राव	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन में अखाद्य तेल और साबुन उद्योग निर्देशक।
सुभाष चन्द्र सरकार	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन द्वारा प्रकाशित 'खादी ग्रामोद्योग' तथा 'जागृति' के सम्पादक।

दशम वर्ष

प्रस्तुत अंक के साथ *खादी ग्रामोद्योग* अपने जीवन के दसवें वर्ष में पदार्पण कर रहा है। गाँवों में परम्परागत उद्योगों में लगे, यहाँ-वहाँ बिखरे हुए रूप में वसे हुए असंगठित कारीगरों को संगठित करने और तकनीकल प्रशिक्षण तथा वित्तीय एवम् अन्य प्रकार की सहायता के जरिये उनकी हालत सुधारने में मदद करने हेतु भारत सरकार ने अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मण्डल की स्थापना की, उसके लगभग डेढ़ वर्ष पश्चात् इस पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ था। निश्चय ही किसी संस्था को अपना संगठन स्थापित करने में कुछ समय लगता है–विशेष कर उस अवस्था में जबकि उसका कार्यक्षेत्र या स्वरूप अखिल भारतीय स्तर का हो। अतएव एक माने में *खादी ग्रामोद्योग* का दसवाँ वर्ष खादी और ग्रामोद्योगों को बढ़ावा देने के सुव्यवस्थित प्रयासों का दशम वर्ष समझा जा सकता है।

राष्ट्र विकास के लिए पिछला दशक वहुत ही महत्वपूर्ण रहा है। इस दशक में राजनीतिक तथा आर्थिक एकीकरण और पूर्णीकरण अर्थात् समाकलन हुआ है एवम् जनता की आर्थिक और सामाजिक खुशहाली के लिए सुनियोजित उपाय काम में लाये गये हैं। इसी काल में पंचायत राज की स्थापना के जरिये, निर्णय करने की प्रक्रिया में ग्रामीणों की आवाज को साथ लेकर चलने के बड़े सोचे-समझे कदम भी उठाये गये। आयोजन पर जोर देना इस दशक की प्रवल प्रवृत्ति रही है।

खादी व ग्रामोद्योगों के क्षेत्र में प्राप्त सफलताओं का मूल्यांकन अर्थ-व्यवस्था की सामान्य प्रगति के संदर्भ में करना पड़ेगा। अर्थ-व्यवस्था के ग्रामीण क्षेत्र में प्रयास करने के बावजूद सामान्य चित्र यह रहा है कि विकास व परिवर्तन की गति अपेक्षाकृत मन्द रही है। कृषि क्षेत्र में उत्पादकता और उत्पादन बढ़ाने के प्रयत्नों का कोई विशेष प्रत्युत्तर नहीं मिला। चूँकि अधिकांश ग्रामीण आबादी कृषि पर निर्भर है–वैसे सामान्य आवादी के सम्बन्ध में भी यह सच है–इसलिए कृषि में मन्द विकास की प्रतिछाया गाँवों में चलनेवाले अन्यान्य काम-धंधों पर भी पड़ने ही वाली है।

सामान्यतः विकास की प्रक्रिया के साथ कदम मिला कर चलने में कृषि की असफलता से उन कठिनाइयों का प्रतिविम्ब सामने आता है, जिनके साथ विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था को लोहा लेना पड़ा। खादी व ग्रामोद्योगों का काम एक लाख से भी अधिक गाँवों में फैला हुआ है। दस वर्ष पूर्व करीव दस हजार गाँवों तक ही इस कार्यक्रम का विस्तार था। खादी-उत्पादन (मय रेशमी, ऊनी व अम्बर खादी) में ५५९ प्रति शत से भी अधिक वृद्धि हुई है। यह उत्पादन १९५३-५४ में १,१५,६३,००० वर्ग गज था, जो १९६१-६२ में ७,६२,०२,००० वर्ग गज तक जा पहुँचा। इसी प्रकार रोजगारी के क्षेत्र में भी ३६० प्रति शत से अधिक वृद्धि हुई। पूर्ववर्ती वर्ष में ३,७९,००० व्यक्तियों को रोजगारी मिली थी तथा अनुवर्ती में १७,४६,०००को। अन्य ग्रामोद्योगों के क्षेत्र में भी उल्लेखनीय प्रगति हुई है। खादी तथा अन्य ग्रामोद्योगों ने १९६१-६२ में कुल २३,६०,००० व्यक्तियों को रोजगारी प्रदान की, जिनमें से ७४ प्रति शत अकेले खादी उद्योग में लगे थे। इसी प्रकार नौ वर्ष की अवधि में खादी की बिक्री में चौदह गुनी वृद्धि हुई। पाँच लाख से भी अधिक व्यक्तियों को प्रशिक्षण-सुविधाएँ प्रदान की गयीं।

निस्संदेह खादी व अन्य परम्परागत ग्रामोद्योगों में व्यक्ति को पारिश्रमिक कम मिलता है अर्थात् इनसे उसे कम ही आमदनी होती है और रोजगारी प्राप्ति के अन्य कई क्षेत्रों में मिलनेवाले परिश्रमिक की तुलना में वे ठहर

नहीं पाते। किन्तु यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि यदि किसी को कहीं अन्यत्र अच्छी रोजगारी मिलती है तो उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि वह इन उद्योगों को अपनाये ही। गांधीजी ने स्पष्ट शब्दों में कहा था, "हाथ कताई किसी भी उद्योग की विनाशक नहीं है। मैंने हाथ कताई के खातिर एक भी उपयोगी प्राणदायक औद्योगिक प्रवृत्ति को छोड़ने की कल्पना तक नहीं की, सलाह देना तो दूर रहा।" इस गांधीवादी दृष्टिकोण से पराङ्मुखता नहीं आयी है। इस आर्थिक वास्तविकता की स्पष्ट प्रतिछाया गत २६ अगस्त को केन्द्रीय योजना मन्त्री ने जो वक्तव्य दिया उसमें मिलती है। उस वक्तव्य में यह बताया गया था कि देश की जन-संख्या में नितल श्रेणी के दस प्रति शत व्यक्तियों का प्रति व्यक्ति मासिक व्यय देहातों में आठ रुपये और शहरों में दस रुपये है। इसका मतलब है ग्रामीण क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति प्रति दिन व्यय ४.३ आने (२७ नये पैसे से कुछ अधिक) और शहरी क्षेत्रों में तेतीस नये पैसे है। उक्त वक्तव्य के अनुसार देहाती क्षेत्रों की सत्तर प्रति शत आबादी प्रति दिन पचास नये पैसे से कम ही खर्च कर सकती है। और, देश की अस्सी प्रति शत से अधिक जन-संख्या गाँवों में रहती है! दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि २५ करोड़ १९ लाख व्यक्तियों के पास प्रति दिन प्रति व्यक्ति के हिसाब से खर्च करने के लिए पचास नये पैसे भी नहीं हैं। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के ग्यारहवें दौर के अनुसार ग्रामीण आबादी का प्रति व्यक्ति मासिक खर्च १६.९७ रुपये था यानी प्रति व्यक्ति प्रति दिन ५६ नये पैसे से कुछ ही ऊपर। फिर, एक से दूसरे प्रदेश में पर्याप्त भिन्नता है, जैसे मध्यवर्ती भारत में १४.९१ रुपये मासिक और पश्चिमोत्तर भारत में २१.७५ रुपये। शहरी क्षेत्रों की आय के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार का भिन्नत्व दृष्टव्य है।

योजना मंत्री द्वारा उद्धृत आंकड़े सितम्बर १९६१ से जुलाई १९६२ तक की अवधि से सम्बन्धित थे, जब राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण का सत्रहवाँ दौर पूर्ण हुआ था। यहाँ यह स्मरण करवाया जा सकता है कि १९५५ में हुए सर्वेक्षण (नवम दौर) के प्रति व्यक्ति आय सम्बन्धी आंकड़ों से पता चलता है कि ग्रामीण क्षेत्रों में २० करोड़ व्यक्तियों की प्रति व्यक्ति वार्षिक आय १७५ रुपये थी, जिसके माने हैं पचास नये पैसे रोजाना से कम। इस प्रकार १९५५ और १९६२ के बीच इस न्यून आय वर्ग में पाँच करोड़ व्यक्ति बढ़े हैं। इसे आर्थिक प्रगति का द्योतक नहीं समझा जा सकता। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि यदि जनता को रोजगारी के ऐसे अवसर उपलब्ध करवाये जा सकें कि उससे वह प्रति व्यक्ति प्रति दिन पचास नये पैसे से अधिक कमाई करने में समर्थ हो तो प्रयास काफी प्रशंसनीय होगा। इस दृष्टि से मूल्यांकन करने से खादी और ग्रामोद्योगों का सही स्थान सामने आ जायेगा। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के प्रति आलोचकों ने जो धारणा बनायी अथवा उसका जो चित्र प्रस्तुत किया है उसके विपरीत न्यूनतम आय वर्ग में आनेवाले सूतकारों की आय बढ़ाने में सहायता देने के प्रति वह अनभिज्ञ अथवा असावधान नहीं है। कमीशन ने ऐसा चरखा प्रचलित करने का निर्णय किया है, जिससे सूतकार प्रति दिन एक रुपया कमा सकेगा। यह नमूना ज्यों ही परिपूर्ण होगा, उसका क्षेत्र में प्रचलन किया जायेगा।

प्रायः सवालात उठाये जाते हैं कि राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था पर इस कार्यक्रम का क्या प्रभाव

पड़ा है। प्रथम पंच वर्षीय योजनावधि में खादी और ग्रामोद्योगों के लिए १४ करोड़ ८२ लाख रुपये निर्धारित किये गये अर्थात् योजना के लिए जो कुल प्रावधान था उसके ०.४४ प्रति शत के बराबर इन उद्योगों को दिया गया। द्वितीय योजना में खादी व ग्रामोद्योगों के लिए ८४ करोड़ रुपये का प्रावधान (योजना के कुल निर्धारण का १.२४ प्रति शत) रखा गया। इनके लिए तीसरी योजना के अन्तर्गत रखा गया ९२ करोड़ ४० लाख रुपये का प्रावधान कुल निर्धारण का ०.७८ प्रति शत है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि तीनों योजनाओं में कुल २ खरब १९ अरब १० करोड़ रुपये के निर्धारण में से खादी और ग्रामोद्योगों के विकासार्थ मात्र १ अरब ९१ करोड़ २२ लाख रुपये यानी कुल की करीब ०.८७ प्रति शत निधि ही दी गयी। कुल आयोजित परिव्यय के एक प्रति शत से भी कम व्यय के साथ किसी कार्यक्रम से राष्ट्रीय स्तर पर अपनी छाप छोड़ने की शायद ही अपेक्षा की जा सके। देश में कुछ विशिष्ट क्षेत्र ऐसे हैं, जहाँ कार्यक्रम के प्रभाव का समुचित अध्ययन किया जा सकता है। और फिर, कार्यक्रम के लाभदायक प्रभाव का स्थायित्व व्यापक राष्ट्रीय नीतियों के निर्धारण और कार्यान्वियन पर निर्भर करता है। यहाँ तक कि उन क्षेत्रों में भी यांत्रिक इकाइयों की स्थापना अथवा नीति परिवर्तन के कारण कार्यक्रम छिन्न-भिन्न हो सकता है, जहाँ कि वह सफलतापूर्वक संचालित, कार्यान्वित किया जा चुका है। गन्ना-पूर्ति का धारा-प्रवाह चीनी उत्पादन की ओर मोड़ने के हाल ही के निर्णय से गुड़-उत्पादक को खतरा पैदा हो गया है।

खादी तथा ग्रामोद्योगों की प्रकृति अथवा स्वरूप ही कुछ ऐसा है कि उस कारण ग्रामीण समुदाय के अपेक्षाकृत पिछड़े हुए वर्ग के साथ व्यवहार करना खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के लिए आवश्यक हो जाता है अर्थात् उसे ग्रामीण समाज के पिछड़े हुए वर्गों में काम करना पड़ता है, जो आर्थिक दृष्टि से भी कमजोर हैं। कार्यक्रम की व्यवस्था यानी उसका प्रबन्ध करने में आनेवाली विभिन्न समस्याएँ (जरूरतमन्द व्यक्तियों को वित्त उपलब्ध कराना और वह भी उसकी सुरक्षा पर बिना कोई आघात पहुँचाये; उपयुक्त उपकरण मुहैया करना; साधन-सरंजाम की मरम्मत के लिए सुविधाएँ प्राप्त करवाना; ग्रामीण कारीगरों को प्रशिक्षण देना; उन्हें ऐसे उपकरणों का व्यवहार करने के लिए तैयार करना, हो सकता है जिनके वे अभ्यस्त न हों अथवा जिनके लिए वे नये हों; उत्पादन की देखभाल करना; उत्पादनों की विक्री-व्यवस्था करना और वह भी दूर-दूर, अलग-थलग रूप में बसे गाँवों से इकट्ठे करके; तथा अन्य ऐसी ही अनेक बातों की सार-सम्भाल करना) विचार कर देखने पर अपनी सही विशालता और जटिलता के साथ सामने आयेंगी, जो सर्वोत्तम अभिक्रम तथा इरादों को भी विचलित कर देने के लिए पर्याप्त हैं।

इस समस्याओं का कोई सरल समाधान नहीं है तथा खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अतिरिक्त अन्य कई संस्थाएँ भी उन्हें हल करने में जुटी हैं, पर किसी को भी अधिक सफलता नहीं मिली है। और फिर, यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि कमीशन प्रायः प्रत्यक्ष रूप से कार्यक्रम कार्यान्वित नहीं करता। कार्यक्रमों का कार्यान्वियन राज्य खादी और ग्रामोद्योग मण्डल, सहकारी समितियाँ तथा समिति पंजीयन अधिनियम के अन्तर्गत पंजीकृत संस्थाएँ करती हैं। कमीशन के प्रमुख कार्य वित्तीय सहायता, मार्गदर्शन व समितियों के कार्यकर्त्ताओं

तथा कारीगरों के प्रशिक्षण के लिए सुविधाएँ प्रदान करने सम्बन्धी हैं। अपने काम में समितियाँ किस हद तक सफल होती हैं, यह अनेक बातों पर निर्भर करता है, उदाहरणार्थ उनके पास कैसे, कितने उद्यमशील, साहसी व व्यवस्थापकीय योग्यता रखनेवाले कार्यकर्त्ता हैं, कच्चा माल प्राप्त करने और अपने उत्पादनों की बिक्री करने में बाजार में आनेवाली घट-बढ़ या उतार-चढ़ाव का सामना करने की उनमें कितनी दक्षता व कौशल है, आदि।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, पिछले दशक में जो प्रयास किये गये उनसे ऐसी बात नहीं है कि अच्छे परिणाम बिल्कुल ही प्राप्त न हुए हों। किन्तु उस पर ही परितुष्ट हो कर बैठ जाने या काम में शिथिलता आने देने का अवसर नहीं है। कार्यक्रम का संचालन-क्षेत्र विस्तृत करने और ग्रामीणों के लिए उसकी सार्थकता बढ़ाने हेतु कमीशन में अधिक व बेहतरीन कार्य पर अनवरत जोर दिया जाता है। कमीशन ग्रामीण क्षेत्रों में काम करनेवाले अन्य माध्यमों और अपनी कार्यशीलताओं के मध्य समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करता रहा है, ताकि जो प्रयास किये जायँ उनसे अधिकाधिक फल प्राप्त किये जा सकें। समन्वय की आवश्यकता के प्रति जागरूकता ही *नया मोड़* कार्यक्रम की पृष्ठभूमि में मार्गदर्शक भावना है। ग्राम पुनर्निर्माण की सर्वाधिक कठिन समस्याओं से मुटभेड़ लेने में, यह कहें कि निरन्तर सजगता और आत्म-समीक्षा का बहुत बड़ा महत्व है, तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है अर्थात् उक्त दोनों बातों के महत्व की शायद ही अतिशयोक्ति हो सके। जहाँ खादी और ग्रामोद्योगों की अपूर्ण ज्ञान पर आधारित आलोचना को, सही स्थिति पर प्रकाश डालते हुए, रोकना है वहाँ उन्हें प्रोत्साहन देने के लिए विभिन्न वैकल्पिक मार्गों पर विचार करने से इन्कार करना अनुचित होगा। खादी व ग्रामोद्योगों के विकास कार्य में लगे कार्यकर्त्ता यदि परिपूर्ण जानकारी से युक्त और पक्षपात-विहीन दृष्टि से विभिन्न विकल्पों पर विचार करें तो ही गलतियों से बचा जा कर सही मार्ग ढूंढा जा सकता है। अतएव प्रस्तुत अंक में—ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का सामान्य मूल्यांकन प्रस्तुत करना जिसका उद्देश्य है—कार्यक्रम और कमीशन की आलोचना को दूर रखने का कोई प्रयास नहीं किया गया है।

पत्रिका का उद्देश्य इसके प्रथम अंक में श्री वैकुण्ठ ल. मेहता ने इस प्रकार बताया था: "किन्तु राज्य की सहानुभूति और सहायता जरूरी होने पर भी मण्डल (अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मण्डल, जिसके उत्तराधिकारी के रूप में अब खादी और ग्रामोद्योग कमीशन है) जो पुनर्गठन करके उसके द्वारा व्यापक रूप में लोगों को रोजी देना चाहता है, वह तभी सम्भव है जबकि समाज का विचारक वर्ग, जो सार्वजनिक मामलों के मार्ग पर अपना अधिक प्रभाव रखता है, हमारे आर्थिक जीवन में खादी और ग्रामोद्योगों का महत्व समझे तथा उनकी कद्र करे। अतः समाज के इस वर्ग के समक्ष खादी ग्रामोद्योग आन्दोलन का सही चित्र प्रस्तुत करना और उसके प्रति रुचि जागृत कर उसका सक्रिय सहयोग प्राप्त करना मण्डल का एक सर्व प्रमुख कार्य है। गांधीजी ने हमें भारतीय अर्थनीति की बुनियाद का जो अमूल्य पाठ सिखाया है उसे अगर हम भूल गये तो हमारा सामाजिक ढाँचा छिन्न-भिन्न हो जायगा।" आज भी हमारा उद्देश्य यही है।

जनता के रहन-सहन की अवस्थाओं में सुधार करने के लिए किसी भी मौलिक यानी विशुद्ध कार्यक्रम में ग्रामोद्योगों की अनुप्रासंगिकता तथा उस लक्ष्य की प्राप्ति में आनेवाली जिन महान समस्याओं से लोहा लेना पड़ता है उसका यदि इस अंक से तनिक भी बेहतरीन अहसास हो जाता है तो हम समझेंगे कि हमारा परिश्रम सार्थक सिद्ध हुआ। ●

भारत में सामाजिक और आर्थिक विषमताओं का स्वरूप

उछरंगराय न. ढेबर

भारत में पायी जानेवाली अनेक असमानताओं का मूल है हमारी समाज-व्यवस्था, जो युगयुगान्तरों से विशेषाधिकारों को पनपाती रही है। पिछले पन्द्रह वर्ष की अवधि में हुए अनेक प्रयासों के बावजूद देश में आज जो हालात हैं, वे सामाजिक तथा आर्थिक दोनों ही क्षेत्रों में उत्साहजनक नहीं हैं। देश के अधिकांश हिस्सों में आज घोर गरीबी का बोलबाला है। तीस प्रति शत आबादी के सामने तो आज जीवन-मरण का प्रश्न आ खड़ा हुआ है। असमानताएँ दूर करने का संघर्ष हमारी विशाल जन-संख्या के लिए अपना अस्तित्व बनाये रखने का संघर्ष है। अर्थ-व्यवस्था के इस असंतुलन को कम करने में खादी-ग्रामोद्योग तथा पशु-पालन से सहायता मिलेगी।

आय और सम्पत्ति के क्षेत्र में पायी जानेवाली असमानताओं के लिए अनेक बातें जिम्मेदार हैं। कुछ असमानताएँ व्यक्तिगत कारणों से हैं। प्रकृति ने हम सबको एक समान नहीं बनाया है। व्यक्ति-व्यक्ति की बौद्धिक क्षमता भिन्न होती है। हृदय और मस्तिष्क के गुणों से कुछ अन्य पहलुओं का भी सम्बन्ध होता है। जीवन में व्यक्ति के स्थान पर भी उनका प्रभाव पड़ता है। साहसिक कार्य करने की भावना की भी अपनी भूमिका है। इन सब गुणों से युक्त व्यक्ति का पलड़ा अन्य लोगों से भारी होता है। इन सबसे कुछ असमानताएँ आया करती हैं। तथापि, इस सम्बन्ध में किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

फिर भी, कुछ असमानताएँ ऐसी हैं जो आपत्तिजनक हैं। उन्हें रोकना अथवा दूर करना होगा। व्यक्तिगत गुणों का इन असमानताओं से शायद ही कोई सरोकार हो। वे ऐसे कारणों से पैदा होती हैं जिनके लिए कोई व्यक्तिगत रूप से श्रेय नहीं ले सकता। उनका उद्‌गम जन्म, वर्ग, जाति, धार्मिक पद, धार्मिक व्यवस्था यानी धर्मसत्ता, पेशे तथा अन्य बाह्य पहलुओं में है। सम्पन्न घर में पैदा हुआ एक मूढ़मति भी धनाढ्य है। इसलिए नहीं कि उसमें कुछ व्यक्तिगत गुण हैं, जिनसे वह उसके पास जो धन है उसका अधिकारी है,बल्कि इसलिए कि वह एक समृद्ध बाप का बेटा है। सामन्तशाही व्यवस्था में एक सामन्त के लड़कों को स्वतः भूमि मिल जाती है। इसका सीधा-सादा कारण यह है कि वे संयोगवश एक सामन्त के बेटे हैं। जातिवादी दृष्टिकोण के कारण एक हरिजन सदैव ही घाटे में रहता है। पण्डे-पुजारियों की प्रधानता के युग में धर्म ने भी उक्त संदर्भ में अपनी भूमिका अदा की है। कुछ पेशे ऐसे हैं, जिनकी समाज में प्रतिष्ठा है और समाज के प्रति जो भी सेवा वे करें उसके बदले में उन्हें सभी प्रकार से मोटी आमदनी होती है।

विषम समाज व्यवस्था

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि चन्द विशेषाधिकृत पद स्वतः ही कुछ लाभ प्रदान करते हैं, फिर चाहे वे पद सामाजिक कारणों से हों अथवा आर्थिक, राजनीतिक या धर्मसत्ता के कारण। इसका कारण है समाज-व्यवस्था का स्वरूप। समाज उक्त विशेषाधिकार प्राप्त व्यक्तियों के अधिकारों को मान्यता देता है और उनसे विहीन व्यक्तियों के दावों की अवहेलना करता है। भारत में प्रचलित अनेक असमानताओं का मूल समाज-व्यवस्था है, जिसमें युगयुगान्तरों से ऐसे विशेषाधिकारों का पोषण होता रहा है, जिनसे चन्द व्यक्तियों अथवा वर्गों को लाभ प्राप्त होता है, जबकि दूसरों को अधिकारों या अवसरों से वंचित रखा जाता है। फलस्वरूप भारत में आय तथा संपत्ति के क्षेत्र में उस सीमा तक असमानताएँ

पैदा हुई हैं, जिस सीमा तक संसार के किसी अन्य संगठित समाज में शायद ही मिलें।

२

विशेषाधिकृत वर्ग

भारत का जो चित्र आज १९६३ में है वह १९४७ से भिन्न है। सन् १९४७ में ऐसे सामाजिक वर्ग थे, जिन्हें तत्कालीन साम्राज्यवादी व्यवस्था के अन्तर्गत व्यापक विशेषाधिकार प्राप्त थे। उन अधिकारों से जीवन में उन्हें किन्हीं प्रकार का स्थान यानी दर्जा प्राप्त था और समाज में उनकी आवाज थी। साथ ही साथ उक्त व्यवस्था के अन्तर्गत सामान्य भारतीय जनता उन अवसरों से वंचित थी, जिनसे वह अपना विकास करने में समर्थ बनती। अपनी प्रकृति से ही साम्राज्यवादी व्यवस्था शोषणकारी व्यवस्था थी। चन्द व्यक्तियों तक ही जीवन के व्यापक अवसर एकाधिकृत कर वह जीवित रही तथा पनपी। साम्राज्यवादी वर्ग के बाद भूमिधारी अभिजात वर्ग आता है। उदाहरणार्थ, लगभग देश के एक-तिहाई भाग में भारतीय राजा-महाराजाओं को राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्र में वह प्रमुखता प्राप्त थी, जो अन्य किसी को उपलब्ध नहीं थी। इस प्रकार समाज-व्यवस्था से ऐसी सामाजिक प्रणाली अथवा गठन को पूर्ण समर्थन प्राप्त हुआ, जिसके अन्तर्गत उनका बोलबाला था और जिसमें उनकी रियासतों में सर्वसाधारण को शायद ही कोई अवसर प्राप्त हो। राजकुमार का छोटा भाई उस समाज-व्यवस्था में जमींदार था। सामाजिक स्वरूप यानी संरचना में विशेषाधिकृत पद का दावा करके और अपने काश्तकार को प्रत्येक अवसर से वंचित करके उसने भी सामाजिक स्वरूप में असंतुलन ही पैदा किया। भारत में करीब तीन-चौथाई जन-संख्या काश्तकार हैं। उस वक्त वह उक्त समाज-व्यवस्था की शिकार थी।

उत्तराधिकारविहीन

अनुसूचित जातियाँ वह दूसरा वर्ग था, जिसे धर्म के नाम पर उत्तराधिकार के अधिकार प्राप्त नहीं थे। परिगणित जन-जातियाँ एक अन्य वर्ग था, जिसे नीति-उन पर राजनीतिक पृथक्कत्व थोपने के लिए तत्कालीन साम्राज्यवादी सरकार द्वारा अख्तियार की गयी नीति-विषयक कारणों से उत्तराधिकारविहीन बनाया गया था। श्रमिक भी रोजगारी देनेवालों की दया पर निर्भर करते थे। स्थानिक बेरोजगारी और अल्प-रोजगारी के कारण श्रमिकों के पास इसके सिवाय कोई चारा नहीं था कि जो कुछ मजदूरी उन्हें प्रस्तुत की जाती हो, उसे वे स्वीकार कर लें।

इन दो वर्गों—सामाजिक दृष्टि से विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग और शोषित वर्ग—के बीच मध्यम वर्ग था। वह भी सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से हीन जीवन व्यतीत कर रहा था।

गांधीजी का नेतृत्व

इस प्रकार की अप्राकृतिक स्थिति दीर्घ काल तक टिकनेवाली नहीं थी। शीघ्र ही जनता में नैराश्य के चिन्ह दिखायी पड़ने लगे, वह अपना अभिक्रम खोने लगी और कुछ समय तक तो ऐसा लगा कि उसका परिपूर्णतः नैतिक ह्रास हो चुका है। यह गांधीजी के नेतृत्व का चमत्कार ही था कि उन्होंने इस प्रकार के नैतिक ह्रास के वातावरण में नव आशा व साहस का संचार किया और जनता को आजादी की लड़ाई के लिए तैयार करने में सफल हुए, जिसकी प्राप्ति से इस देश तथा अन्य अनेक देशों पर साम्राज्यवादी व्यवस्था के अधिकार का खात्मा होना था।

३

उज्ज्वल भविष्य हेतु परिवर्तन

लोक निर्वाचित प्रतिनिधियों ने पन्द्रह वर्ष के शासन में भारत का चित्र बदल दिया है। साम्राज्यवाद का कब्जा पूर्णतः समाप्त कर दिया गया है और भारतीय अर्थ-व्यवस्था राजनीतिक दृष्टि से आज एक स्वतंत्र, अर्थ-व्यवस्था है। सरदार वल्लभभाई पटेल की राज-नीतिक दूरदर्शिता ने देश को जमींदारों के चंगुल से भी

मुक्त कर दिया है। तुलनात्मक दृष्टि से, भूमि पर अधिकार के सम्बंध में भारतीय कृषक एक स्वतंत्र व्यक्ति है। साम्राज्यवादी सामन्तशाही व्यवस्था की समाप्ति से विशाल जनता के सामने अनेक अवसर आये हैं। अनुसूचित जातियाँ सम्भल रही हैं। परिगणित जन-जातियों का पृथक्करण समाप्त किया जा रहा है। कारखानों में काम करनेवाला मजदूर अपने हक के सम्बन्ध में आश्वस्त है। कृषिक तथा औद्योगिक दोनों ही प्रकार की आय में वृद्धि हुई है। शैक्षणिक अवसरों का काफी विशाल पैमाने पर विस्तार हुआ है। आज पहले के मुकाबले अधिक व्यक्तियों को जीवन सम्बन्धी सामान्य सुविधाएँ उपलब्ध हैं। पंचायत राज संस्थाओं और सहकारी समितियों के माध्यम से भारत के सभी व्यक्तियों को लोकतांत्रिक स्वतंत्रता प्राप्त करवाने के वचन को पूरा करने के लिए निष्ठापूर्ण तथा हार्दिक प्रयत्न किया जा रहा है। जनता में एक नया जागरण पैदा हुआ है, जिससे उसमें नये अभिक्रम का सृजन हो रहा है और जीवन के नव अवसर सामने आ रहे हैं। न्याय का यह तकाजा है कि जिन्होंने यह सब सम्भव बनाया है, उन्हें उचित श्रेय मिले।

४

कमियाँ

कुछ दिशाओं में कमियाँ हैं। वे भी सब जगह नहीं हैं। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि कमियाँ हैं। मैं नहीं सोचता कि जिन व्यक्तियों के हाथ में देश की बागडोर है, जो भावी भारत के निर्माता हैं, वे भी इससे इन्कार करेंगे कि कमियाँ हैं। मैं यह भी नहीं सोचता कि उन्हें ही इन कमियों के लिए उत्तरदायी ठहराना उचित अथवा समीचीन होगा। जबकि रचनात्मक योगदान के रूप में उनके आलोचकों ने कुछ भी नहीं किया, वहाँ यदि कुछ कहना ही हो तो हम यह कह सकते हैं कि, उन्होंने देश की पन्द्रह वर्ष तक सेवा की है, जिसके फलस्वरूप आज हमारे जीवन में नये अवसर आये हैं और इसके अतिरिक्त उन्होंने वे बाधाएँ दूर की हैं जो कल तक राष्ट्र की प्रगति में रोड़ा अटकाए हुए थीं।

इन कमियों के सम्बन्ध में कुछ विचार करने का कारण यह है कि इन कमियों में भयानक नैतिक और सामाजिक बातें छिपी हैं। राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कमियाँ ढूंढी जा सकती हैं। यह हमारा सौभाग्य है कि हमें गांधी जैसा महापुरुष मिला। वे एक आदर्शवादी थे, जिनमें सहज व्यावहारिक ज्ञान भरा पूरा था। कठोर परिश्रम और व्यक्तिगत त्याग द्वारा उन्होंने देश में अहम् के विचार से रहित होकर दलितों की सेवा करने का वातावरण निर्मित किया। उन्होंने वित्तीय उत्प्रेरणाओं का स्थान लेने हेतु आध्यात्मिक उत्प्रेरणाओं, मान्यताओं को लोकप्रिय बनाया। उन्होंने सादगी का वातावरण निर्मित किया। राष्ट्र के गत १५ वर्ष के जीवन में सबसे बड़ी कमी इसी स्तर पर रही है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से १९६३ के भारत का १९४७ अथवा उससे भी पहले के भारत से शायद ही कोई सम्बन्ध हो। आज त्यागमय वातावरण के स्थान पर 'अपनी रोटी के नीचे आंच लगाने' वाला वातावरण पाया जाता है। सेवा का स्थान 'लक्ष्मी' ने ले लिया है। सहकारी सिद्धान्त के स्थान पर अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा की भावना प्रतिष्ठापित की जा रही है। व्यक्तियों अथवा समूहों के वस्तुपरक, निरपेक्ष, विचार का रूपान्तर हो गया है। देश आज एक ऐसे वातावरण में रह रहा है जिसमें आराम-तलबी तथा अहंकार का बोलबाला है। समग्र चित्र ही अधिकाधिक अश्लील तथा अशोभनीय बनता जा रहा है और अपने आकर्षण व शोभा से विहीन हो रहा है। यह कहना गलत होगा कि यह बात राजनीतिक क्षेत्र तक ही सीमित है। कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं जो दूसरे पर उंगली उठा सकता हो और उस पर उंगली न उठे।

क्षमतायुक्त साधन से वंचित

हमारे राष्ट्रीय जीवन का जो भी क्षेत्र हो, गांधीजी के जीवन-मूल्यों का अनुकरण न करने और अन्य देशों के स्तर की नकल की कोशिश करते हुए, राष्ट्र ने अपने आपको अपेक्षाकृत एक महान शक्यता अथवा क्षमतायुक्त साधन या उपादान से वंचित कर लिया है, जो उसके लिए इस यथार्थ जगत में भी अत्यधिक सहायक होता।

सामाजिक क्षेत्र में अहिंसा का सिद्धान्त सर्वसाधारण और अभिजात वर्ग को तथा विभिन्न धर्मों और समुदायों के व्यक्तियों को एक साथ रखने, विवेकशील और अनपढ़ जनता को एक-दूसरे के निकट लाने, धनवानों को गरीबों के साथ और शिक्षित व्यक्तियों को अशिक्षित व्यक्तियों के साथ मिलाने के लिए एक जादू के रूप में काम कर रहा था। हम यह महसूस करना प्रारम्भ कर रहे थे कि हमने एक ऐसा समाज निर्मित किया है कि वह जीवन के नये मूल्यों–सहकार, सद्भावना, सहानुभूति, भ्रातृत्व भावना, पारस्परिक प्रेम और भारत के लाखों-करोड़ों दलितों की अवस्था सुधारने का प्रयत्न करने में ही रुचि रखने के मूल्य–से बंधा हुआ है, उन पर टिका हुआ है। इन मूल्यों ने हमें कुछ अनुशासन के सिद्धान्त भी दिये। यह अनुशासन नये ढंग का था, किन्तु उसने राष्ट्र को एक प्रकार का स्वाभिमान और प्रतिष्ठा प्रदान की। उन मूल्यों और अनुशासन को जो सामाजिक मान्यता मिली, उससे साधारण आदमी को भी वे मूल्य तथा अनुशासन आसानी से अपनाने में सहायता मिली। उन मूल्यों को न केवल मनोवैज्ञानिक रूप से बल्कि यथार्थ में भी आघात पहुँचा है। राष्ट्रीय जीवन आज फिर उन्हीं मूल्यों की 'दया' पर निर्भर है, जो उसे पतन के गर्त में ले गये थे।

आर्थिक स्तर पर

आर्थिक स्तर पर भी कमियाँ रही हैं। भारत पूर्ण और अल्प-बेकारी के कारण दो करोड़ मनुष्य-दिनों की हानि उठा रहा है और उसे इस प्रकार की हानि काफी लम्बे समय तक उठानी पड़ेगी। समाज के निचले तबके में हमारी जन-संख्या के तीस प्रति शत को उस आमदनी पर सन्तोष करना पड़ता है, जो पेट भरने के लिए भी पर्याप्त नहीं समझी जा सकती और यद्यपि उसका स्तर १९४७ की अपेक्षा ऊँचा है तथा अनुक्रमिक रूप से ऊपर उठता ही जायेगा, लेकिन आगामी पच्चीस वर्ष या उससे भी ज्यादा समय तक मानवीय अस्तित्व की दृष्टि से वह पर्याप्त नहीं होगा। आज अधिकांश मध्यम वर्ग भार मय जीवन बिता रहा है और आगामी २०-३० वर्ष तक उसे वैसी ही अवस्थाओं के अन्तर्गत रहना पड़ेगा। आय और सम्पत्ति के क्षेत्र में जो असमानताएँ हैं, उन पर इस सन्दर्भ में विचार करना होगा।

५

गरीबी की कहानी

इन असमानताओं का महत्व क्या है? कुछ चित्र मेरे सामने आते हैं। करीब पाँच वर्ष पूर्व मैं एक बार अपने प्रिय मित्र श्री गिरधरलाल कोटक के साथ यात्रा कर रहा था। मध्यान्ह भोजन का वक्त था। रास्ते में हमने अपनी कार रोकी और हम दो-चार झोपड़ों में गये। पहले पहल जिस झोपड़ी में हम गये, उसमें शायद खाने के लिए अनाज के लाले पड़े थे और दूसरे घर में रोटियों के लिए एक औरत से तीन-चार बच्चे लिपटे हुए थे। दिन का भोजन बनाना शुरू करती इससे पहले वह घर में मालिक के लौटने का इन्तजार कर रही थी। श्री कोटक बड़े सहृदय तो हैं ही, वे आँसू न रोक सके।

ऐसा ही एक वाकया गत जुलाई माह में सामने आया। मैं एक राज्य खादी और ग्रामोद्योग मण्डल के अध्यक्ष के साथ कार में सफर कर रहा था। वे मुझ से देहाती क्षेत्रों में जो महान् परिवर्तन आये हैं उस सम्बन्ध में बात कर रहे थे। कुछ हद तक उनका दावा न्यायोचित भी था। लेकिन मेरे मन में कुछ ऐसी बात थी कि उक्त अध्यक्ष समग्र चित्र से अवगत नहीं हैं। अतएव मैंने उनसे अगले गाँव में कार रोकने का आग्रह किया। यह भी मध्यान्ह भोजन का समय ही था। सर्व प्रथम हम जिस घर में गये उसका मालिक चार एकड़ जमीन पर सिकमी खेती करता था। परिवार में छः व्यक्ति थे। वे दोपहर का भोजन कर चुके थे और शाम के लिए थोड़ा-बहुत बचा कर रख दिया था। अध्यक्ष महोदय द्वारा बारबार पूछताछ और करीब १० मिनट तक छानबीन करने के बाद पता लगा कि उनके घर में छः सेर अनाज भी नहीं था। फिर हम एक दूसरे घर में गए। उस घर का मालिक भी काश्तकार था और उसके पास छः एकड़ भूमि थी। उसने भी

वैसी ही कहानी सुनायी। उसे वर्ष में तीन-चार महीने उधार पर काम चलाना पड़ता था और ब्याज की दर थी २.५ प्रति शत प्रति माह! हम तीसरे घर में गये और वहाँ भी वैसी ही कहानी सुनने को मिली। ये हैं भारत के भूमिहीन श्रमिक जो हमारी ग्रामीण कृषक जन-संख्या के १७ प्रति शत हैं और ज्यों-ज्यों हमारे छोटे-छोटे भूमिधारियों के परिवारों में विभाजन होता है, प्रत्येक दशक के साथ इनकी संख्या बढ़ती ही जाती है। भारत में खेती योग्य जो खेत हैं, उनके ५७ प्रति शत खेत पाँच-पाँच एकड़ से छोटे हैं। समय बीतने पर वे भी भारत के भूमिहीन श्रमिकों की श्रेणी में आ जायेंगे।

अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष

अनुसूचित जातियों को दो वर्गों में बांटा जा सकता है। जो व्यक्ति साफ-सफाई—खासकर छोटे-छोटे शहरों में—का काम करते हैं वे अपना अस्तित्व मात्र बनाये रखने के लिए भी बड़े कठिन समय से होकर गुजर रहे हैं। शेष व्यक्ति जो गाँवों में रहते हैं, उनकी हालत वहाँ के भूमिहीन मज-दूरों जैसी ही है। जो कष्टमय जीवन परिगणित जन-जातियों को बिताना पड़ रहा है, उसका वर्णन अनुसूचित क्षेत्र और परिगणित जन-जाति आयोग के प्रतिवेदन में किया गया है, जिसकी यहाँ पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं। नगरों में जो गन्दी बस्तियाँ हैं, उनमें रहनेवालों की जो फटेहाल वाली स्थिति है, उसका चित्र किसी से छिपा नहीं है। भारत के बड़े-बड़े शहरों-नगरों में 'फुट-पाथ' पर कितने व्यक्ति रहते हैं इस सम्बन्ध में आंकड़े प्रस्तुत करना आसान नहीं है।

किसी देश में जो असमानताएँ हों, उन्हें राष्ट्र जीवन के सामाजिक तथा आर्थिक सन्दर्भ में मापना पड़ता है। मैंने सामाजिक और आर्थिक अवस्थाओं पर इतना विस्तृत विचार स्थिति की गम्भीरता व्यक्त करने के लिए ही किया है। भारत में जो असमानताएँ हैं, उन पर केवल आर्थिक रूप में ही प्रकाश नहीं डाला जा सकता। साधन-स्रोत-विहीन भारतीय आधे भूखे-नंगे रहते हैं। वे देश की जन-संख्या के एक-तिहाई हैं।

६

भारत में सहायक धंधे की भूमिका पर इस उक्त दृष्टि से विचार करना होगा। कोई भी अर्थशास्त्री किसी भूखे को अपनी अतृप्त भूख मिटाने के लिए दो कौर भोजन मिल जाये तो उसका मूल्य आर्थिक शब्दावली यानी रुपये-पैसे की भाषा में व्यक्त नहीं कर सकता। इन कौरों का अपना स्वयम् का मूल्य है। भूखे के लिए वे आधे पेट और भर पेट भोजन किये हुए व्यक्ति का अन्तर स्पष्ट करते हैं। इस सन्दर्भ में अर्थ-शास्त्रीय दृष्टि से विचार करना उस भूखे आदमी के 'कौरों' का मजाक उड़ाना है। कोई भी आर्थिक सिद्धान्त अभी तक यह नहीं बता सका है कि क्षुधाग्रस्त अथवा किसी तरह से अपना अस्तित्व बनाये रखनेवाली जनता के सामने किसी रक्त-क्रांति का क्या मूल्य है। इसका कारण यह है कि जब आदमी के स्वयम् अस्तित्व बनाये रखने का ही प्रश्न आ खड़ा होता है तब रुपये-पैसे का विचार कोई माने नहीं रखता। भारत की ३० प्रति शत से अधिक आबादी के समक्ष आज इसी निजी अस्तित्व का सवाल है। जो सरकार अथवा अर्थशास्त्री केवल रुपये-पैसे की शब्दावली में ही दलील पेश करता है वह मानवीय प्रकृति के सिद्धान्त के विषय में अपनी अज्ञानता ही प्रकट करता है। ये सिद्धान्त अथवा नियम अर्थशास्त्रीय नियमों से भिन्न हैं।

दोहरी समस्या

अकिंचन भारतीय जनता की सहायता करने की समस्या नैतिक और राजनीतिक दोनों ही है—अपने खुद के प्रयासों से अपने पैरों पर खड़ा होने में समर्थ बनाने की दृष्टि से यह नैतिक है और समाज को अपना अस्तित्व बनाये रखने में समर्थ बनाने के अर्थ में राजनीतिक। खादी और ग्रामोद्योगों की प्रासंगिकता यानी उनका स्थान भारत में अवस्थित इस नैतिक और राजनीतिक संघर्ष के सन्दर्भ या प्रसंग में ही समझना पड़ेगा। हमारे अपने देश में असमानता का उन्मूलन करने का संघर्ष हमारी बहुत बड़ी गरीब आबादी के लिए अपना अस्तित्व बनाये रखने का संघर्ष है। मात्र आर्थिक असमानताएँ समाप्त

करने अथवा केवल धन और शक्ति के संकेन्द्रण से बचने के संघर्ष से यह हमेशा ही अधिक गम्भीर है।

ग्रामोद्योग और पशु-पालन एक तरह से कृषि अर्थ-व्यवस्था की दो शाखाएँ हैं। वे भूमि की कमी पूरित करते हैं। वे खेती पर दिन प्रति दिन बढ़नेवाले भारी बोझ के कारण ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में जो असंतुलन है, उसे कम करते हैं। वे ग्रामीणों को अपना अस्तित्व बनाये रखने में समर्थ बनाते हैं। यथा सम्भव न्यूनतम पूंजी विनियोजन के साथ वे धंधे भी सुनिश्चित करते हैं। साथ ही साथ वे प्रविधि तथा उत्पादन में व्यवहृत उपकरणों और तौर-तरीकों में सुधार करने के अवसर भी प्रस्तुत करते हैं। धीरे-धीरे सुस्थिर गति से नव अभिक्रम का निर्माण करने तथा सृजनशीलता को बढ़ावा देने में भी वे सहायक होते हैं। निर्भरता और नैराश्य की भावना को वे मिटाते हैं। इस प्रक्रिया के दौरान वे सम्भाव्य हिंसात्मक कार्यवाहियों के विरुद्ध एक तरह से दिवाल खड़ी करते हैं, जो निराशापूर्ण अवस्थाओं के फलस्वरूप कभी भी पैदा हो सकती हैं। जिस खर्च पर खादी और ग्रामोद्योग सर्वसाधारण जनता के खाली समय को उत्पादनशील कामों में लगा पाये हैं, उतने कम व्यय पर अन्य कोई भी राष्ट्रीय गतिविधि वैसा करने में समर्थ नहीं हुई है। इस प्रकार सरकार जो आर्थिक मदद देती है, उससे वह न केवल व्यक्तियों की सहायता करती है, बल्कि सामाजिक कर्तव्य भी पूरा करती है। खादी व ग्रामोद्योगी उत्पादनों का ग्राहक अपेक्षाकृत थोड़ा-बहुत अधिक मूल्य चुका कर न केवल किसी व्यक्तिगत परिवार को जिन्दा रखने में, बल्कि राष्ट्र का अस्तित्व बनाये रखने में भी योगदान देता है।

बम्बई : ११ सितम्बर १९६३

आर्थिक समानता अहिंसात्मक स्वाधीनता की कुंजी है। आर्थिक समानता के लिए काम करने का अर्थ पूंजी और श्रम के शाश्वत संघर्ष को मिटा देना है। इसका अर्थ यह है कि एक तरफ जिन मुठ्ठीभर धनवानों के हाथ में राष्ट्र की अधिकांश सम्पत्ति इकट्ठी हो गयी है उनका स्तर घटाया जाय और दूसरी ओर करोड़ों भूखे-नंगे लोगों का स्तर बढ़ाया जाय। जब तक धनवानों और करोड़ों भूखे लोगों के बीच की चौड़ी खाई बनी हुई है तब तक स्पष्ट है कि कोई अहिंसक शासन प्रणाली कायम नहीं हो सकती। नयी दिल्ली के महलों और गरीबों तथा श्रमिक वर्ग की झोपड़ियों का अन्तर स्वतंत्र भारत में एक दिन भी नहीं टिक सकता, जिसमें कि गरीबों को भी वे ही अधिकार प्राप्त होंगे जोकि धनवानों को। यदि धन का तथा धन से मिलनेवाले अधिकारों का स्वेच्छा से त्याग नहीं किया जाता और उनका सर्वसाधारण की भलाई के लिए उपयोग नहीं किया जाता तो एक दिन हिंसक और खूनी क्रांति होकर रहेगी। मेरे संरक्षकता के सिद्धान्त की खूब खिल्ली उड़ायी गयी है, फिर भी मैं उस पर कायम हूँ। सच तो यह है कि उसे सिद्ध करना कठिन है। अहिंसा की भी यही बात है। परन्तु हमलोगों ने सन् १९२० में इस पर पहल करने का निर्णय लिया।

—महात्मा गांधी

आयोजन का गांधीवादी दृष्टिकोण*

वैकुण्ठ ल. मेहता

देश में आयोजन की सफलता का मूल्यांकन करने के लिए गांधीजी के अनुसार एक ही कसौटी है कि वह किस हद तक अधिकाधिक लोगों को काम करने का अधिकार दिलवाने और भोजन, वस्त्र, शुद्ध-स्वच्छ जल, आवास तथा शैक्षणिक सुविधाओं जैसी आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करवाने में सफल हुआ है। विकास कार्यक्रमों का वास्तविक परीक्षण भी इसी दृष्टि से होना चाहिए।

राष्ट्रीय आयोजन के स्वरूप अथवा पंच वर्षीय योजनाओं के उद्देश्यों और कार्यक्रमों पर गांधीजी की दृष्टि से परीक्षण करना इस लेख का अभिप्राय नहीं है। ऐसा लेख निरर्थक है, और फिर, मेरे लिए तो ऐसा करना दुस्साहस ही होगा। परन्तु सामाजिक और आर्थिक आयोजन के प्रति गांधीजी का जो सामान्य दृष्टिकोण था, उसे ध्यान में रखना अप्रासंगिक न होगा। **हिन्द स्वराज** और गांधीजी के प्रारंभिक लेखों के अतिरिक्त, कराची में १९३१ में हुए अखिल भारतीय कांग्रेस के ऐतिहासिक अधिवेशन के वक्त उन्होंने जो काम किया उसकी ओर ध्यान दिलाया जा सकता है। चूंकि पूर्ण स्वतंत्रता के लिए आंदोलन आरम्भ करने के वाद वह प्रथम अधिवेशन था, अतः राष्ट्रीय नेताओं का, जिनमें गांधीजी सवके अग्रणी थे, ध्यान भारत की भावी सामाजिक पद्धति की ओर केन्द्रित होना स्वाभाविक ही था। उनके विचार, जिनका गांधीजी ने न सिर्फ समर्थन, वल्कि प्रतिपादन भी किया था, राष्ट्रीय कार्यक्रम से सम्वन्धित प्रसिद्ध कराची कांग्रेस प्रस्ताव में अंकित हैं। अतः गांधीजी राष्ट्र के विकासार्थ योजना वनाने से विमुख नहीं थे। कांग्रेस ने जव सन् १९३५ के 'गवरमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट' के अन्तर्गत चुनावों में भाग लिया तथा उसके प्रतिनिधियों ने १९३७ में अधिकांश प्रांतों में अपनी सरकारें वनायीं, तव गांधीजी की सम्मति से कराची प्रस्ताव राष्ट्रीय मांग का आधार वनाया गया।

कांग्रेस मंत्रियों के कार्य-भार सम्भाल लेने के शीघ्र वाद तत्कालीन कांग्रेस अध्यक्ष नेताजी सुभाष चन्द्र वोस ने १९३९ के आरम्भ में श्री जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में राष्ट्रीय आयोजन समिति का गठन किया। समिति के एक सदस्य प्रोफेसर जे. सी. कुमारप्पा भी थे, जवकि कुटीरोद्योग समिति के अध्यक्ष श्री सतीश चन्द्र दास गुप्त थे—और दोनों ही गांधीजी के निकट सहयोगी थे। उसी समय श्री एम. विश्वेश्वरय्या लिखित **इकनॉमिक प्लानिंग फॉर इण्डिया** प्रकाशित हुई। जिस एकाग्रता और उत्साह से सुविख्यात अभियंता-राजमर्मज्ञ ने उक्त पुस्तक तैयार की थी, जो कि इस विषय पर प्रथम पुस्तक थी, गांधीजी ने उसकी वड़ी प्रशंसा की, परन्तु उन्होंने इस वात पर आपत्ति उठायी कि आर्थिक आयोजन का केन्द्र तीव्र सघन औद्योगीकरण है। उन्होंने उस प्रकार के औद्योगीकरण के सघनीकरण का विशेष रूप से विरोध किया, जो कि अस्त्र-शस्त्र तैयार करने की वुनियाद डालते हैं।

यह वड़ा महत्वपूर्ण है कि जवकि राष्ट्रीय आयोजन समिति राष्ट्रीय विकास के विविध पहलुओं के लिए योजना वनाने में व्यस्त थी, गांधीजी ने देश के समक्ष सत्य और अहिंसा पर आधारित अपने रचनात्मक कार्यक्रम का परमावश्यक अंग प्रस्तुत किया। वे सामाजिक न्याय पर आधारित समाज की स्थापना करना चाहते थे।

* गांधी स्मारक निधि की पूना स्थित महाराष्ट्र शाखा में १४ जुलाई १९६३ को दी गयी एक वार्ता पर आधारित।

परन्तु आर्थिक समानता अहिंसक तरीके से लानी थी; उन्हें इस बात का विश्वास था कि हिंसा के जरिये सामाजिक क्रांति लाने का कोई भी प्रयत्न वैसी शक्तियों को विमुक्त कर देगा जिनसे स्वतंत्रता और भ्रातृत्व का सामाजिक मूल्य ही, जो कि भारत को बहुत ही पसन्द है, संकट में पड़ जायगा। रचनात्मक कार्यक्रम का मार्ग अपनाना जनतंत्र की जड़ें जमाने के लिए सुनिश्चित तरीका है। वे जोर दिया करते थे कि चूंकि हमारी अधिकांश आबादी गाँवों में रहती है, अतः उसे तथा सबसे निचली श्रेणी के लोगों अर्थात् हरिजनों के कल्याण कार्य को सामाजिक और आर्थिक कार्यक्रम के अन्य अंगों से प्राथमिकता दी जानी चाहिए। दूरद्रष्टा, पद्धति-संगत और व्यवहार शल होने की वजह से गांधीजी जो करना चाहते थे, हमेशा उसकी योजना बना लिया करते थे।

आयोजन के उद्देश्य

यह कहा जा सकता है कि हमारे देश में आयोजन युग भारतीय संविधान के अंतर्गत स्थापित भारतीय गणतंत्र के उद्घाटन के साथ आरम्भ हुआ है। संविधान में निहित मौलिक अधिकारों के अनुरूप राज्य-नीति के निर्देशक सिद्धांतों ने देश की सरकार के लिए यह आवश्यक बना दिया है कि वह उन निर्देशों के कार्यान्वियन के लिए देश के सामाजिक और आर्थिक विकास हेतु योजना बनाये। यह समझा गया कि औपनिवेशिक अर्थ-व्यवस्था से मुक्त हुए देश के लिए–जिसके कुछ विभाग अल्प विकसित हैं तथा ग्रामीण विभाग निश्चल–सावधानी-पूर्वक सुनियोजित आयोजन के अभाव में प्रगति करना असम्भव-सा है। राष्ट्रीय आयोजन समिति ने योजना आयोग की स्थापना के दस वर्ष पूर्व ही उद्देश्यों की व्याख्या की थी–जिन्हें यदि गांधीजी होते तो उनकी स्वीकृति मिल सकती थी–"हमारे आयोजन की पृष्ठ-भूमि अथवा मूल परिपूर्ण लोकतांत्रिक राज्य की स्थापना करना है, जिससे समतावादी समाज का निर्माण हो, जिसमें हर व्यक्ति को अपने विचार व्यक्त करने तथा आत्मपूर्ति का समान अवसर प्राप्त हो व प्रत्येक सदस्य को सभ्य ढंग के जीवन-स्तर के लिए पर्याप्त न्यूनतम निश्चित ही मिले ताकि यह समान अवसर की प्राप्ति वास्तविकता का रूप धारण कर सके।" द्वितीय और तृतीय योजना के प्रतिवेदन में उद्देश्यों की और भी विस्तृत व्याख्या की गयी है तथा उन्हें निश्चित ढंग से प्रस्तुत किया गया है। तृतीय पंच वर्षीय योजना में प्रथम वाक्य है : "भारत के विकास का मूल उद्देश्य निश्चय ही भारतीय जनता को एक अच्छा जीवन व्यतीत करने का अवसर प्रदान करना होना चाहिए।"

साधन को साध्य समझने का भ्रम नहीं होना चाहिए। भारी उद्योगों का विकास, इस्पात का उत्पादन, तेल-स्रोतों का विस्तार, विद्युत उत्पादन, ये सब साध्य प्राप्ति के उपकरण हैं। यदि उन करोड़ों लोगों के जीवन को पूर्ण बनाना है, जिनका १२ वर्ष के आयोजन के पश्चात् भी कठिनाई से गुजर-बसर हो पाता है, तो प्रगति आंकने के माप कुछ और ही हैं। औद्योगीकरण और शक्ति तो सामान्य लोगों के जीवन को पूर्ण बनाने हेतु स्रोत प्राप्त करने के साधन हैं। जैसा कि पूना में १९६१ में अखिल भारत सर्व सेवा संघ और 'गोखले इंस्टीट्यूट ऑफ पोलिटिक्स एण्ड इकनॉमिक्स' के संयुक्त तत्वावधान में हुई गोष्ठी में जोर दिया गया था कि सर्वोच्च प्राथमिकता हर काम चाहनेवाले व्यक्ति को रोजगार देने के उद्देश्य को दी जानी चाहिए, जिससे कि वह अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति अथवा न्यूनतम भौतिक सुख की प्राप्ति कर सके। गांधीजी के सर्वोदय समाज से यह विचार मेल खाता है।

कृषि समस्याएँ

इसका अर्थ यह है कि योजना ग्रामोन्मुखी होनी चाहिए। गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम में ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के समग्र विकास को सर्वोपरि स्थान दिया गया था। यह सच है कि कृषि उद्योग के पुनर्गठनार्थ गांधीजी के पास कोई विशिष्ट कार्यक्रम नहीं था, परन्तु अपने रचनात्मक कार्यक्रम में उन्होंने

कृषि में सुधरे तरीके अपनाने का जोरदार आग्रह किया और कहा कि इसके विकास के लिए जिन लोगों के पास छोटे खेत हैं तथा जो आवश्यक साधन प्राप्त नहीं कर सकते, उन्हें सहकारी संगठन में आबद्ध हो जाने के लिए उत्साहित किया जाना चाहिए। सहकारी खेती का आग्रह उन्होंने वर्तमान अवस्था को देखते हुए आर्थिक बचत के साधन के रूप में किया। सहकारी संगठन का विचार उन्होंने गोपालन, गोसंवर्द्धन और दुग्ध उत्पादन बढ़ाने के लिए भी किया। जनता के प्रति जिम्मेदार सरकार के अभाव में उन्होंने भू-स्वामित्व के प्रश्न पर अधिक विचार नहीं किया। आज की परिवर्तित अवस्था में आचार्य विनोबा भावे इस समस्या का हल हृदय परिवर्तन, अधिकतम अहिंसा और न्यूनतम राजकीय सहयोग पर आधारित कार्यक्रम के जरिये करने की कोशिश कर रहे हैं।

तृतीय पंच वर्षीय योजना के उद्देश्यों में यद्यपि कृषि के विकास की आवश्यकता पर बल दिया गया है; उद्योगों के लिए कच्चे माल तथा विदेशी मुद्रा प्राप्त करने हेतु निर्यातीय कृषि सामग्रियों के उत्पादन पर जो अधिक बल दिया गया है, वह कुछ असंगत लगता है। निश्चय ही हम खेतों में अधिक पैदावार करना चाहते हैं, जिससे कुल कृषि उत्पादन बढ़े, ताकि अन्न के मामले में हम स्वालम्बी बन जायें। तथापि, इससे भी अधिक स्वागतार्ह हैं वे उपाय जिनसे कृषि से होनेवाली आय में वृद्धि के लिए उत्पादन स्तर ऊँचा उठे और कृषि तथा शहरी उद्योगों, व्यापार, वाणिज्य तथा माध्यमिक या तीसरी श्रेणी की सेवाओं से होनेवाली आय के बीच जो महान अन्तर है वह कम हो।

स्थानीय स्रोतों पर बल

विभिन्न कृषि कार्यों में यांत्रीकरण अपनाने अथवा फसलों के लिए उर्वरकों का उपयोग करने से ही कृषि में सुधार नहीं हो जायगा। ये दोनों ही उपयोगी हैं, परन्तु जैसा कि गांधीजी ने हमेशा यह आग्रह रखा कि कृत्रिम साधनों को अपनाने के पहले यह सुनिश्चित कर लेना चाहिए कि उपलब्ध साधन-स्रोतों का पूर्ण उपयोग होता है। यदि किसी कार्य को करने के लिए जन और बैल शक्ति उपलब्ध है तो उसके बदले यांत्रिक शक्ति का उपयोग नहीं किया जाना चाहिए। इसी तरह उत्पादन-स्तर बढ़ाने के लिए स्थानीय खाद-स्रोतों का उचित आरक्षण और पूर्ण उपयोग करने के बाद ही उर्वरकों का इस्तेमाल किया जाना चाहिए, जो कि कम परिमाण में उपलब्ध हैं तथा महँगे भी। समूचे गाँव के लिए खाद-स्रोत का आरक्षण प्रत्येक ग्राम आयोजन का एक अत्यावश्यक भाग होना चाहिए—जैसे कि भू-आरक्षण स्थानीय श्रम से किया जाना है—और लघु-सिंचाई कार्यों के जरिये जल-स्रोतों का आरक्षण भी किया जाना चाहिए। पशु-पालन से प्राप्त होनेवाले धन को मृत पशुओं के शव के हर भाग का पूर्ण उपयोग कर बढ़ाया जा सकता है। पशु-शव सम्प्राप्ति कार्यक्रम से जो लोग शवच्छेदन, चर्मशोधन तथा अन्य सह-प्रशोधन कार्यों में लगे हैं, उनका सामाजिक स्थान उन्नत होगा और आय-स्तर भी बढ़ेगा।

दोहरी हानि

गांधीजी के विचार से ग्रामीण निश्चलता और फलस्वरूप गाँवों की घोर गरीबी के लिए मुख्यतः जिम्मेदार है—ग्रामोद्योगों का ह्रास। वे प्रायः कहा करते थे कि इससे गाँव को दोहरी आर्थिक हानि होती है। ग्रामीण लोग विभिन्न पूरक धंधों तथा सहायक अथवा मुख्य उद्योगों में उत्पादन कर—जिसकी गाँवों तथा शहरों दोनों ही जगह माँग थी—जो आय करते थे, वह बंद हो गयी। अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए भी उन्हें अपनी गाढ़ी कमाई का पैसा देशी-विदेशी चीजें खरीदने में खर्च करना पड़ता था; जब कि वे उन वस्तुओं का उत्पादन स्वयं ही कर सकते थे और कम पैसे में अपनी आवश्यकता पूरी कर सकते थे। गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम में इन उद्योग-धंधों की पुनस्स्थापना का प्रमुख स्थान था।

अतः हमारी अर्थ-व्यवस्था में कुटीरोद्योगों के महत्व को समझते हुए उनके विकासार्थ प्रथम पंच वर्षीय

योजना में प्रावधान रखा गया। द्वितीय योजना में मोटे तौर पर इस बात को स्वीकार किया गया कि सर्व साधारण की दैनिक उपभोक्ता सामग्रियों की आवश्यकता अधिकाधिक ग्रामीण और अन्य कुटीरोद्योगों के जरिये ही पूरी करने की कोशिश की जानी चाहिए। यह स्वीकार किया गया कि सरकार ऐसी नीति अपनाये कि वह इन उद्योगों को सहायता दे तथा संगठित भारी उद्योगों के उत्पादनों की स्पर्धा में संरक्षण प्रदान करे। यद्यपि इस बात का दावा नहीं किया जा सकता कि सर्व साधारण मांग की हर तरह की उपभोक्ता सामग्रियों की बढ़ते परिमाण में पूर्ति ग्रामीण और कुटीर उद्योगों द्वारा की जा रही है, तथापि गत १२ वर्ष के आयोजन में यह बात तो स्पष्ट दिखाई दी है कि इन उद्योगों के जरिये लोगों को काफी संख्या में रोजगारी मिली है।

ग्रामीण औद्योगीकरण आयोग

समग्र अर्थ-व्यवस्था पर स्पष्टतः इस कार्यक्रम का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा है। प्राप्त सफलता की समीक्षा करते हुए १९६१ के सर्वोदय सम्मेलन में श्री जयप्रकाश नारायण ने आग्रह किया था कि ग्रामीण-अर्थ-व्यवस्था के वैविध्यीकरण की समस्या पर अधिक विस्तृत दृष्टिकोण अपनाया जाय और ऐसा परम्परागत उद्योगों के अलावा अन्य उद्योगों को—न सिर्फ देहाती क्षेत्र की बल्कि शहरी क्षेत्रों की भी नयी उपभोक्ता और उत्पादक सामग्रियों की आवश्यकता पूरी करने के लिए—आरम्भ करके किया जा सकता है। ये उद्योग बहुत-कुछ स्थानीय रूप में उपलब्ध कच्चे माल—कृषिक तथा अन्य—पर निर्भर कर सकते हैं। तथापि, अपने क्षेत्र के बाहर से कच्चा माल मँगाने पर किसी तरह का प्रतिबंध नहीं लगाया जाना चाहिए। मुख्य ध्येय गांव के अतिरिक्त श्रमिकों को यथा सम्भव उनके घर या पास-पड़ोस में रोजगारी प्रदान करने के लिए उपयुक्त किस्म का कार्य देना होना चाहिए।

फिर, नये अथवा पुराने उद्योगों में भी उन्नत तकनीकों के उपयोग पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए, बशर्ते कि इन पद्धतियों अथवा उपकरणों के इस्तेमाल से काम पर लगे श्रमिकों का विस्थापन न हो अथवा शोषण को प्रश्रय न मिले। इस तरह के विस्तृत और प्राणवान कार्यक्रम का आरम्भ करने के लिए श्री जयप्रकाश नारायण ने ग्रामीण औद्योगीकरण आयोग की स्थापना का आग्रह किया। ग्रामीण उद्योग आयोजन समिति की स्थापना तथा स्वीकृत योजनाओं के कार्यान्वियन हेतु आयोजन समिति के प्रति जिम्मेदार किसी एक संस्था के अन्तर्गत ग्रामीण उद्योगों के सघन विकासार्थ योजना-बद्ध यानी अनुक्रमिक कार्यक्रम स्वीकृत कर योजना आयोग ने इस मांग के मूल की पूर्ति कर दी है।

मूल उद्योगों का राष्ट्रीयकरण

यह गैर कृषि उत्पादनों के विकेन्द्रीकरण का कार्यक्रम है, जिसमें उत्पादन केन्द्र गाँव-गाँव में फैले रहेंगे, ग्रामीण ही उनके मालिक होंगे और वे ही उनका संचालन विभिन्न स्तरों पर अपने पंचायत माध्यमों अथवा सहकारी समितियों के जरिये करेंगे। लेकिन जैसा कि गांधीजी ने समझा था, कुछ उत्पादन ऐसे हैं जिनका संचालन व नियंत्रण राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के हित में किसी केन्द्रीय अधिकारी के हाथ में रहना चाहिए। जिन्हें हम आज भारी उद्योग कहते हैं, उन्हें ही उन्होंने मूल उद्योग कहा था। इनकी आवश्यकता उत्पादक माल देने तथा विद्युत् पैदा करने के लिए है, जो कि आधुनिक समाज की आवश्यकताएँ पूरी करने हेतु हमारी अर्थ-व्यवस्था को मजबूत तथा प्राणवान बनाने के लिए परमाश्यक हैं। यह गांधीजी का एक आधारभूत सिद्धांत था कि इस तरह के उद्योगों का राष्ट्रीयकरण होना चाहिए अर्थात् उन्हें सरकारी स्वामित्व और नियंत्रण में चलाया जाना चाहिए। अधिकारों के केन्द्रीकरण होने से नौकरशाही की अवस्था पैदा न हो और न मालिक-नौकर का सवाल पैदा हो, इसके लिए गांधीजी यही उपाय बताते कि श्रमिक का स्थान सहयोगी और भागीदार का होना चाहिए।

चूंकि सर्वोदय का अर्थ है सबका भला, जो कि अधिकाधिक लोगों के अधिकाधिक भले से अलग है, अतः

गांधीजी ने निजी तौर पर अथवा सिंडिकेट या निगमों द्वारा चलायी जा रही व्यापारिक संस्थाओं को निर्मूल करने की कल्पना नहीं की। परन्तु उन्होंने इनके अधीक्षकों से आग्रह किया कि वे श्रमिकों को कार्य-नियमों तथा मुनाफे में अपना भागीदार व सहयोगी दोनों ही समझें। जबकि उन्होंने इन संस्थाओं के अधीक्षकों के उद्यम, कुशाग्रता और योग्यता को मूल्यवान माना, तो उन्हें उन्होंने जनता का न्यासी भी कहा। उन्हें अपने कला-कौशल का उपयोग संस्था के लिए जन-सेवी के रूप में करना चाहिए। इसके लिए उन संस्थाओं के–जिनको अभी निजी अथवा गैर-सरकारी विभाग कहा जाता है– अधी-क्षकों के हृदय-परिवर्तन की आश्यकता है। प्रन्यासिता के विचार को ऐच्छिक रूप से नहीं अपनाये जाने पर इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु समाज को कानूनी कार्यवाही करनी होगी।

प्रगति का मूल्यांकन

आयोजन में गांधीजी के आदर्श तथा सामाजिक मूल्य जिस हद तक समाहित हैं, उस हद तक यह दावा किया जा सकता है कि यह उस दिशा में प्रगति कर रहा है जिस दिशा में स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारत की प्रगति की कामना गांधीजी करते थे। परन्तु यदि हम भव्य के आकर्षण में बह गये, यदि हम गति को जबरदस्ती आगे ढकेलने की कोशिश करते हैं, यदि हम औद्योगिक दृष्टि से उन्नत देशों की विकास पद्धति की नकल करने का प्रयत्न करते हैं, यदि हम बेकारी और अर्ध-बेकारी को देश में जड़ जमाने देते हैं और यदि हम आय तथा धन में असमानता बढ़ने देते हैं, तो यह कहा जा सकता है कि आयोजन अपने उद्देश्य में असफल रहा है, फिर चाहे समग्र राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि की दर जो भी रही हो और इस्पात के उत्पादन, विद्युत उत्पादन, तेल, गैस और कोयला-स्रोतों की प्राप्ति कितनी भी अधिक क्यों न हो अथवा रेडियो और टेलीफोन जैसी उपभोक्ता सामग्रियों में प्रति व्यक्ति खपत कितनी भी क्यों न बढ़ी हो। न सिर्फ गांधीजी, बल्कि जो प्रगति का मूल्यांकन एक अच्छे जीवन से करते हैं, उनके अनुसार एक मात्र कसौटी यह है कि आयोजन किस हद तक बढ़ती हुई आबादी के लिए पर्याप्त भोजन, अच्छे वस्त्र, शुद्ध-स्वच्छ जल, आवास, साक्षरता, स्वस्थ व स्वच्छ वातावरण और इन सबके भी ऊपर अपने निर्वाह के लिए काम करने का अधिकार देने में सफलता प्राप्त करता है।

पूना: २ अगस्त १९६३

जिन व्यक्तियों की सर्वोच्च पदों पर नियुक्ति हो उनमें ये तीन गुण होने चाहिए: (१) सबसे पहले निर्धारित संविधान में निष्ठा; (२) सर्वोत्तम प्रशासकीय क्षमता; (३) हर प्रकार के शासन के योग्य गुण और न्याय-परायणता; क्योंकि जो न्यायपूर्ण है, यदि वह सभी शासनों में समान न हो तो न्याय का स्तर भी बदलना ही चाहिए।

—अरस्तू : पॉलिटिक्स

ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के चन्द पहलू

मोरारजी देसाई

भारत में गरीबी का उन्मूलन करना कोई सहज काम नहीं है। कृषि, विकास का मर्मस्थल है। उसे उत्पादनशील बनाना पड़ेगा। दस्तकारियों, कुटीर तथा अन्य उद्योगों के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ना होगा। लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के अन्तर्गत जनता को ग्रामीण विकास कार्यक्रमों का उत्तरदायित्व स्वयम् उठाना पड़ेगा। ग्रामीण भारत का भावी चित्र ऐसा होना चाहिए कि आर्थिक दृष्टि से वह समृद्ध हो और ग्रामीण लोकतांत्रिक दृष्टि से काम में हाथ बटायें।

भारत में आयोजित आर्थिक एवम् सामाजिक विकास कार्यक्रम एक दशक से भी कुछ पहले प्रारम्भ हुआ था। आज हम तीसरी पंच वर्षीय योजना के मध्य से गुजर रहे हैं। हमारी समस्त योजनाओं के पीछे भविष्य की एक ऐसी कल्पना है कि भारत निर्धनता के अभिशाप से मुक्त होगा और देश के प्रत्येक व्यक्ति को एक अच्छा जीवन व्यतीत करने हेतु अवसर प्राप्त होंगे। इस कल्पना को साकार रूप देने हेतु हम स्वतंत्रता प्राप्ति आंदोलन के समय से ही प्रयत्नशील रहे हैं। जब तक हमें आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त नहीं होती, तब तक राजनीतिक स्वतंत्रता के कोई माने नहीं होते। इस आर्थिक स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए ही तो देश ने सोच-विचार कर वर्षों की आर्थिक गतिहीनता को तिलांजलि दी और विकास के लम्बे मार्ग पर प्रथम चरण रखा है।

निर्धनता की समाप्ति

देश के ४४ करोड़ से भी अधिक लोगों को एक अच्छा जीवन व्यतीत करने के साधन उपलब्ध कराना कोई मामूली कार्य नहीं है। यह एक बड़ा भारी काम है; और इसे पूरा करने में अनेक वर्ष लग जायेंगे। निर्धनता की समाप्ति कोई चुटकी भर में कर लेनेवाला सहज काम नहीं है। यह काम कतिपय व्यक्तियों द्वारा—चाहे वे कितने ही महत्वपूर्ण क्यों न हों—एक-दो छोटे-मोटे कार्य करने से पूर्ण नहीं हो सकता। देश की अर्थ-व्यवस्था के प्रत्येक अंग – खेत, कारखाने, खानें और वन के उत्पादन में वृद्धि होनी ही चाहिए। अर्थ-व्यवस्था के ग्रामीण तथा शहरी दोनों ही पहलुओं में परिवर्तन तथा विकास होना ही चाहिए।

भारत के विशाल जनसमूह का जीवन स्तर ऊँचा उठाने के महान कार्य में स्वयम् ग्रामीण भारत की ही अनेक कठिन समस्याएँ हैं। भारत मूलतः ग्रामीण है और काफी समय तक ऐसा रहेगा। इसकी लगभग ८० प्रति शत आबादी गाँवों में रहती है। इस गाँवों के विकास के बिना भारत का विकास अपूर्ण और अवास्तविक अर्थात् कृत्रिम या दिखावटी ही रहेगा। वस्तुतः देश की गरीबी की जड़ें इसके गाँवों में निहित हैं। अतः ग्रामीणों को अपना जीवन-स्तर ऊँचा उठाने तथा बेहतर जीवन बनाने के प्रयत्न में सहायता करना ही हमारा तात्कालिक, सामाजिक एवम् आर्थिक लक्ष्य है। ग्राम-समृद्धि वह आधार है जिस पर ही देश के आर्थिक विकास की इमारत खड़ी करने की आवश्यकता है।

उत्पादन वृद्धि के लिए उपाय

गाँवों में हर आठ में से सात व्यक्ति जीविकोपार्जन के लिए कृषि पर निर्भर करते हैं और वह उनका मुख्य

पेशा है। भारत की राष्ट्रीय आय का लगभग आधा भाग कृषि से प्राप्त होता है, जबकि अमेरिका में कृषि का योगदान ९ प्रति शत और जापान में १८ प्रति शत है। कृषि के आधुनिकीकरण और विकास में ही ग्राम-समृद्धि अथवा राष्ट्र की समृद्धि भी निहित है। तीसरी पंच वर्षीय योजना में हमने कृषि को सर्वोपरि प्रमुखता दी है और सच तो यह है कि आगामी पन्द्रह वर्षों में भी इसको प्राथमिकता देनी पड़ेगी। जबसे योजनावद्ध आर्थिक विकास प्रारम्भ हुआ है, भारत का कृषि उत्पादन बढ़ रहा है, परन्तु देश की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए वृद्धि की यह गति अब भी बहुत धीमी है। भारत संसार के उन देशों में है जहाँ प्रति एकड़ उत्पादन न्यूनतम है। प्रति एकड़ अधिक उत्पादन करके कृषि-उत्पादन में तीव्र वृद्धि करने की सम्भाव्यता हमारे लिए एक चुनौती है और साथ ही साथ कृषि उद्योग के लिए एक गर्व की बात भी। सिंचाई–जोकि कृषि का प्राण है–की सुविधा, उर्वरक, उत्तम बीज और खेती-बाड़ी के उन्नत उपकरण, और इन समुन्नत उपकरणों का उपयोग करने के लिए सुशिक्षित तथा उद्यमशील किसान हों तो मुझे विश्वास है कि कृषि-उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि सम्भव है। वस्तुतः हमारे समस्त कृषि कार्यक्रमों का ध्येय, ये सब चीजें शीघ्र और व्यापक रूप से प्रदान करना है।

मर्मस्थल

कृषि उद्योग संसार के अधिकांश विकासोन्मुख देशों का 'रावण की नाभि' के समान एक मर्मस्थल है। किसी भी प्रकार के कृषि संगठन या व्यवस्था में उत्पादन बढ़ाने की समस्त समस्याओं में अधिकतम कृषि-उत्पादन सुनिश्चित करना सबसे कठिन समस्या सिद्ध हुई है। ग्रामीण समस्याओं के अत्यधिक महत्वपूर्ण एवम् कठिन होने के कारण देश में शांतिपूर्ण लोकतंत्रात्मक प्रणाली से आर्थिक परिवर्तन लाने के इस संघर्ष की विजय या पराजय ग्रामीण क्षेत्रों में ही होगी। लोगों को धैर्यपूर्वक समझा कर प्रेरित करने और अधिक विस्तार सेवाओं, खेती की आवश्यक चीजों की अधिक पूर्ति, उधार तथा बिक्री सुविधाओं, प्रभावकारी भूमि-सुधार और कृषि-उत्पादनों के उचित मूल्य के रूप में सक्रिय सहायता देने के सफल परिणाम दृष्टिगोचर होने लगे हैं। सिंचाई के साधनों में निरन्तर वृद्धि की जा रही है और अधिकाधिक किसान पानी से भरे हुए खेतों में बोआई करने (वेट फार्मिंग) के तौर-तरीके सीख रहे हैं। वस्तुतः भारत की खेती योग्य समस्त भूमि के आधे हिस्से यानी १७ करोड़ ५० लाख एकड़ में सिंचाई सुविधाएँ प्रदान करने का विचार है, जबकि फिलहाल सात करोड़ एकड़ भूमि में ही सिंचाई होती है। इससे भारत में कृषि को वर्षा पर निर्भर रहने से मुक्ति दिलाने में बहुत सहायता मिलेगी।

ग्रामीण क्षेत्रों के लिए उद्योग

कृषि-उत्पादन बढ़ाना एक प्रक्रिया है जिसमें समय लगेगा; और जिसके लिए धैर्य, कुशल आयोजन तथा संगठन की आवश्यकता है। इसे उर्वरकों, सुधरे उपकरणों की पूर्ति और अतिरिक्त उत्पादन की बिक्री के लिए औद्योगिक क्षेत्र की ओर से अधिकाधिक मदद की आवश्यकता है। देश में आर्थिक विकास की समग्र योजना के लिए कृषि का महत्व इतना बड़ा है और ग्राम-समृद्धि से इसका सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि मौजूदा और भविष्य की योजनाओं में इसे अधिक उत्पादक तथा लाभप्रद बनाने के लिए बड़े प्रयास करने ही चाहिए एवम् किये जायेंगे।

अधिक उत्पादनशील कृषि के अतिरिक्त ग्रामीण क्षेत्रों की समृद्धि को कुछ उद्योगों की भी आवश्यकता है, ताकि वहाँ के ७ करोड़ ४० लाख परिवार शहरों तथा नगरों में रहनेवाले परिवारों के साथ कदम मिला कर चल सकें। अकेली उन्नत यानी फलती-फूलती कृषि से ही देश के लगभग ८० प्रति शत ग्रामवासियों को उपयुक्त आय सुनिश्चित नहीं हो सकती। और फिर, आज बहुत अधिक लोग खेती पर निर्भर करते हैं। इस भारी

निर्भरता को कम करने की आवश्यकता है और यह काम मुख्यतः उद्योगों के जरिये ही किया जा सकता है। उद्योग एक महान् आधुनिकीकारक पहलू है और नवीन विचारों के द्वार उन्मुक्त करता है। इसके प्रभाव से कृषि और समस्त ग्रामीण समाज लाभान्वित होगा। जब हम इस संदर्भ में उद्योगों की चर्चा करते हैं तो अनेक महत्वपूर्ण प्रश्न खड़े होते हैं। कौन-से यानी किस प्रकार के तथा कितने उद्योग ग्रामों में शुरू किये जा सकते हैं? औद्योगिक विकास की समग्र योजना के साथ इनका कैसे तालमेल बैठाया जा सकता है? उद्योगों को स्थापित करने हेतु किस प्रकार के स्थल का चुनाव हमें करना है? उद्योग विकास के लिए आवश्यक वित्त कैसे प्राप्त किया जाय?

विस्फुरण आवश्यक

औद्योगिक विकास की हमारी समग्र योजनाओं में यंत्रचालित बड़े उद्योगों एवम् कुटीर और दस्तकारी उद्योगों दोनों का ही अपना-अपना स्थान है। देश के आर्थिक विकास और प्रतिरक्षा दोनों के लिए आवश्यक जटिल वस्तुओं के उत्पादन हेतु हमें बड़े कारखाना उद्योगों की जरूरत है। किन्तु ग्रामीण भारत के इकतरफे पेशेवर ढाँचे में विविधता लाने के लिए दस्तकारियाँ तथा ग्रामोद्योग महत्वपूर्ण हैं। दूरदर्शी दृष्टिकोण से विचार करने पर एक संतुलित और कुशल औद्योगिक स्वरूप का विकास करना आवश्यक प्रतीत होता है। पश्चिम के औद्योगिक दृष्टि से विकसित देशों के अनुभव से हम कतिपय शहरों में उद्योगों के केन्द्रीकरण के फल-स्वरूप उत्पन्न हानियों से परिचित हैं।

भारत में भी अभी हाल ही तक जो थोड़े-बहुत उद्योग विकसित हुए हैं, वे कुछ नगरों के आस-पास ही हुए हैं। कतिपय बड़े नगरों में इस प्रकार के केन्द्रीकरण से कुछ प्रारम्भिक लाभ हो सकते हैं, पर कुछ ही समय बाद लोक-स्वास्थ्य, शिक्षा, यातायात तथा अन्य लोकसेवाओं और सुविधाओं सम्बन्धी—इनमें जल व बिजली की सुविधाएँ भी शामिल हैं—अनेक गम्भीर समस्याएँ एवम् बुराइयाँ पैदा हो जाती हैं।

अतः हमें अपने उद्योगों की योजनाएँ एक ऐसे ढंग से बनानी पड़ेंगी कि उनसे हम उन गंभीर सामाजिक और आर्थिक बुराइयों से बच सकें जो प्रायः कुछ ही शहरों में उद्योगों के संकेन्द्रण से खड़ी हुआ करती हैं। इस प्रसंग में यहाँ यह जानना रुचिकर होगा कि भारत के सबसे बड़े दस शहरों में उसकी पांच प्रति शत जन-संख्या है, जबकि जापान में २० प्रति शत, इंग्लैण्ड में १८ प्रति शत और संयुक्त राज्य अमेरिका में १२ प्रति शत। लेकिन हमें जापान या ब्रिटेन की तरह जन-संख्या का भारी केन्द्रीकरण नहीं चाहिए। इसके साथ ही हम प्रत्येक गाँव को दीर्घ-स्तरीय उद्योग का केन्द्र भी नहीं बना सकते। इसलिए उद्योगों की आदर्श संरचना यह लगती है कि देश में कुछ एक-सौ उद्योग केन्द्र हों जो पूरे देश भर में अच्छी तरह फैले हों। इस प्रकार के ये केन्द्र औद्योगिक विकास के प्रतिनिधि केन्द्र होंगे। उद्योगों की ऐसी संरचना यानी स्थापना से गाँवों और शहरों के बीच जो अंतर है उसमें कमी हो सकेगी। इस प्रकार उद्योगों की प्रस्थापना के साथ-साथ हमें एक नये प्रकार के उद्योगों का विकास करने की आवश्यकता है। वे न तो कुटीर एवम् दस्तकारी उद्योगों जैसे ही होंगे और न यंत्र-चालित बड़े उद्योगों जैसे ही और इस प्रकार के उद्योगों में छोटे उद्योगों जैसी लोगों को काम देने की क्षमता होगी तथा बड़े उद्योगों जैसी उत्पादन-क्षमता। देश की पूर्ण एवम् अर्ध-बेकारी की गंभीर समस्या का बहुत-कुछ समाधान इस प्रकार के उद्योगों के विकास में सफलता पर ही निर्भर है।

बचत पर जोर

हमारे ग्रामीण अथवा समूचे आर्थिक विकास का स्वरूप चाहे जो भी हो, हमें अपनी विकास योजनाओं के लिए साधन-स्रोत खोजने ही पड़ेंगे। यह कैसे हो? ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर ब्रिटेन, जर्मनी और जापान

में औद्योगीकरण' कृषि क्षेत्र से साधन-स्रोत छीन कर किया गया। भारत में हम उस अनुभव की पुनरावृत्ति नहीं करना चाहते। परन्तु यह आवश्यक और महत्वपूर्ण है कि कम से कम खेती के विकास के लिए तो उससे साधन-स्रोतों की पूर्ति हो। विकास के लिए आवश्यक सभी वित्त की पूर्ति या तो हमारी बचत से करनी पड़ेगी या फिर किसी दूसरे की बचत से। यहाँ आकर ग्रामीण बचत अभियान, कराधान, अनिवार्य जमा योजना और स्वर्ण नियन्त्रण आदेश का महत्व सामने आता है। इनमें से पहले तीन–जहाँ तक उनका ग्रामीण क्षेत्रों में प्रयोग से सम्बन्ध है–ग्रामीण क्षेत्रों में बचत निर्मित तथा सक्रिय बनाने के लिए है तो स्वर्ण नियंत्रण आदेश का ध्येय स्वर्ण जैसी अनुत्पादन चीज पर बचत को लगाने से रोकना है। मौजूदा हालत में स्वर्ण खरीदना देश का अहित करना है, क्योंकि जितना सोना आज खरीदा और बेचा जाता है वह अधिकांशतः चोरी से लाया हुआ होता है। इस प्रकार से प्राप्त सोने से देश को नुकसान और तस्कर व्यापारी को फायदा होता है।

सहकारिता, विद्युतीकरण, गोदाम तथा बिक्री सम्बन्धी सुविधाओं जैसे ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के और भी अनेक पहलू हैं, जिनका विकास ग्राम-प्रधान भारत का स्वरूप बदलने के लिए किया जा रहा है। सहकारिता और विद्युतीकरण दोनों ही ग्रामीण प्रगति की गाड़ी खींचनेवाले दो बैल हैं। कृषि क्रांति के आरम्भ और संचालन तथा साथ ही साथ ग्रामीण और शहरी संस्कृतियों के मध्य भारी अंतर को कम करने के लिए ये दोनों अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं।

त्रि-सूत्री व्यवस्था

भविष्य के ग्रामीण भारत की कल्पना केवल आर्थिक ही नहीं है। लोकतंत्र के रूप में विकास योजनाएँ बनाने तथा कार्यान्वित करने के काम में ग्रामीणों सहित हर व्यक्ति को प्रत्यक्ष एवम् सक्रिय भाग लेने के लिए अवसर प्रदान करना आवश्यक है। पंचायत राज ग्रामवासियों को ऐसे अवसर प्रदान करने के लिए है। पंचायत राज देश के ग्रामीण विकास और स्थानीय प्रशासन के क्षेत्र में बहुत ही व्यापक व दूरगामी परिवर्तन है। पंचायत राज का मुख्य उद्देश्य समस्त ग्रामवासियों को ग्राम विकास योजनाओं में भाग लेने के अवसर प्रदान करना है। यह त्रि-सूत्री व्यवस्था है, जिसमें तीन निर्वाचित स्थानीय संस्थाएँ आती हैं–ग्राम स्तर पर **पंचायत,** खण्ड स्तर पर **पंचायत समिति** और जिला स्तर पर **जिला परिषद**। पंचायत राज की महान सम्भाव्यताएँ इस बात में निहित हैं कि राज्य सरकारों के मार्गदर्शन व निरीक्षण में ग्राम विकास की योजनाएँ कार्यान्वित करने का अन्तिम उत्तरदायित्व अधिकाधिक रूप से निर्वाचित प्रतिनिधियों के जरिये ग्रामीणों पर पड़ता जायगा।

लोकतांत्रिक भागीदारी

यद्यपि पंचायतें हमारे देश की प्राचीन संस्थाएँ हैं, पर लोक कल्याण यानी गाँव के सामान्य हित की दृष्टि से गाँवों का विकास करने का जो उत्तरदायित्व उन्हें सौंपा गया है, वह अपेक्षाकृत नया ही है। पंचायत राज के अन्तर्गत प्रत्येक पंचायत को नहीं तो कम से कम पंचायत समितियों को तो स्थानीय साधन-स्रोतों का पूरा उपयोग करने के लिए योजनाएँ बनाना और उन्हें कार्यान्वित करने के लिए वित्तीय साधन-स्रोत यदि पूरे तौर पर नहीं तो कम से कम आंशिक रूप में जुटाना सीख ही जाना चाहिए। आर्थिक समृद्धि और ग्रामीण संस्थाओं में लोकतांत्रिक भागीदारी से परिपूर्ण यही तो वह ग्रामीण भारत का चित्र है, जो गांधीजी ने हमारे सामने रखा था।

नयी दिल्ली: ४ सितम्बर १९६३ ●

शैक्षणिक प्रगति तथा औद्योगीकरण

कन्दस्वामी अरुणाचलम्

योजना आयोग ने १९९१ में संगठित और सुव्यवस्थित राष्ट्रीय शिक्षा के उद्देश्यों की पुनः व्याख्या की, तौर-तरीके तथा विषय-सामग्री तैयार की एवम् उसके लक्ष्य को नया रूप दिया। शिक्षा में शहरी मूल्यों की प्रमुखता होने की वजह से आर्थिक विकास का पलड़ा भी शहरी क्षेत्र की ओर झुका हुआ है। शैक्षणिक सुविधाओं की दृष्टि से अभाव-ग्रस्त ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी तथा अन्य बातों की कमी भी पायी जाती है। यदि ग्रामीण क्षेत्रों में बुनियादी शिक्षा का विस्तृत पैमाने पर विस्तार किया जाय, तो वहां औद्योगीकरण के लिए वातावरण निर्मित करने में बहुत सहायता मिलेगी।

शिक्षा अर्थ-व्यवस्था को अनेक दृष्टियों से प्रभावित करती है। न केवल यह कौशल प्रवाह में वृद्धि करती है वरन् नयी-नयी तकनीकों की ज्ञान-प्राप्ति में सहायता भी देती है। और फिर, यह प्रगति-अवरोधक पुराने दृष्टिकोण या विचार को नष्ट करने की ओर प्रवृत होती है; यह ज्ञान को उत्पादन के साथ जोड़ती है। दूसरी ओर शिक्षा-पद्धति पर अर्थ-व्यवस्था की तरफ से विज्ञान के जरिये प्रतिक्रिया होती है, जिसने आज उद्योग में एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है तथा विद्यालयों में जिसकी अधिकाधिक शिक्षा दी जाती है। अतएव एक तरफ शिक्षा अर्थ-व्यवस्था को शक्ति-शाली बनाने में सहायक होती है; क्योंकि जन-शक्ति में यह एक प्रकार का निवेश अर्थात् विनियोजन है, जबकि दूसरी ओर यह बहुत खर्चीली बनती जा रही है। जैसे-जैसे राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है, शिक्षा के लिए अधिक निधि दी जा सकती है। हमारी अर्थ-व्यवस्था की गति बर्मा और श्रीलंका जैसे हमारे पड़ोसी देशों से भी धीमी है। हमारे यहाँ अभियंतों (इंजीनियरों) और वैज्ञानिकों की कमी है। हमें बहुत शीघ्र ही सैंकड़ों-हजारों अपेक्षाकृत अधिक योग्य व्यक्तियों की आवश्यकता है।

अतएव शिक्षा न केवल बच्चों को सहायता देने, उनका जीवन बेहतर बनाने, जिस समाज में हम रहते हैं उसे समुन्नत करने तथा देश को अपने मार्ग में आगे बढ़ते रहने और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा करने में समर्थ बनाने के लिए ही महत्वपूर्ण है; वरन् यदि हम परिवर्तनशील प्राविधिक एवम् वैज्ञानिक युग में अपना अस्तित्व बनाये रखना चाहते हैं तो उसके लिए अर्थात् उस दृष्टि से वह परमावश्यक भी है। किन्तु मात्र शिक्षा ही पर्याप्त नहीं है, उसीसे काम नहीं चलेगा। महत्व इस बात का भी है कि शिक्षा कैसी और किस ढंग की है; जिस संसार में हम रहते हैं, शिक्षा उसके अनुरूप ही होनी चाहिए, उससे व्यक्ति को जीवन व परिवर्तनों के लिए तैयार होना ही चाहिए। मानव को अपना विकास करने तथा अपने को ग्रहणशील बनाने में भी शिक्षा से सहायता मिलनी ही चाहिए। और अन्त में, वह सभी तक अवश्य पहुँचनी चाहिए।

स्वतंत्रता-प्राप्ति से पूर्व

स्वतंत्रता-प्राप्ति से पूर्व भारत में शिक्षा का उद्देश्य था—अंग्रेजी प्रशासन और सैनिक सेवाओं में काम-काज करने के लिए शिक्षित भारतीय वर्ग में से बाबू यानी क्लर्क तैयार करना। उस वक्त के 'शिक्षित वर्ग' में अधिकांशतः क्लर्क और सैनिक तथा 'मुट्ठीभर' व्यावसायिक व्यक्ति ही थे, जिन्होंने भारत में अंग्रेजों के एजेण्टों के रूप में काम किया। जिन विचारों और प्रभावों ने अंग्रेजों को अपने देश में प्रेरित किया उनसे अनुप्राणित हो उक्त स्वदेशी व्यक्तियों ने भी उन्हीं रीति-रिवाजों तथा नीति का अनुसरण किया और वह भी अधिक सघनता

के साथ। लोक शिक्षा के बजाय वर्ग शिक्षा उस वक्त का एक नियम-सा, फैशन-सी बन गयी थी और अनेक मामलों में आज भी बनी हुई है। इस प्रकार की नीति का अपरिहार्य परिणाम निकला विशुद्ध साहित्यिक शिक्षा पर जोर देने की अति और वह भी विदेशी भाषा के माध्यम से। स्कूल और कालेज किसी एक स्तर के शिक्षित व्यक्ति पैदा करनेवाले कारखाने जैसे बन गये।

देश जब आजाद हुआ तब ६ से ११ वर्ष तक की आयुवाले ४० प्रति शत और ११ से १७ वर्ष तक की आयुवाले १० प्रति शत बालक ही स्कूलों में जाते थे। देश के विभिन्न भागों, भिन्न-भिन्न वर्गों और विशेष कर शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों के मध्य शिक्षा सुविधाओं की व्यवस्था में असमानताएँ थीं।

शिक्षा पद्धति के विभिन्न सोपानों पर काफी बर्बादी होती थी। प्राविधिक तथा वृत्तिक शिक्षा के लिए सुविधाएँ बिल्कुल अपर्याप्त थीं। प्रशिक्षण-विहीन शिक्षकों का अनुपात प्राथमिक विद्यालयों में ४१ प्रति शत और माध्यमिक विद्यालयों में ४६ प्रति शत से अधिक था। अध्यापिकाओं की बहुत कमी थी। अध्यापकों का वेतन-स्तर तथा नौकरी सम्बन्धी अवस्थाएँ सामान्यतः असन्तोषप्रद थीं और किसी अंश तक निम्न शिक्षण-स्तर के लिए उत्तरदायी भी।

स्वतंत्र देश में

ऐसी अवस्था में न तो व्यक्तिगत अभिक्रम की आवश्यकता थी और न स्वतंत्रता को प्रोत्साहन मिलता था। नकल, पुनरावृत्ति, बिना किसी अंत अथवा अन्तर के एक ही काम की चक्की चलाते जाना (रुटीन वर्क) तब का एक परिशुद्ध नियम था। एक स्वतंत्र देश में इस प्रकार की स्थिति दीर्घ काल तक नहीं चल सकती थी। एक स्वतंत्र राष्ट्र में वहाँ के नागरिकों को प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व वहन करना और राष्ट्र के शासन-संचालन में अधिकार काम में लाना पड़ता है। इस प्रकार एक नयी शैक्षणिक नीति और कार्यक्रम की रचना कर उसे समग्र देश में स्वीकृत कराना था। तदनुसार १९५१ में राष्ट्रीय योजना आयोग ने पुनः संगठित और सुव्यवस्थित राष्ट्रीय शिक्षा के उद्देश्यों की व्याख्या की, तौर-तरीके तथा विषय सामग्री तैयार की एवम् उसके लक्ष्य को नया रूप दिया।

परिमाणात्मक विकास

तत्पश्चात् १९५०-५१ से १९५९-६० तक के दशक में सरकार द्वारा शिक्षा पर किये जानेवाले वार्षिक व्यय में वृद्धि हुई और प्रथम वर्ष का ६५ करोड़ रुपये का व्यय अन्तिम वर्ष (१९५९-६०) में दो अरब तक पहुँच गया। कुल खर्च–जिसमें स्थानीय संस्थाओं, शुल्क तथा अन्य धर्मार्थ संस्थाओं का खर्च शामिल होता है–एक अरब चौदह करोड़ से बढ़ कर दो अरब सत्तानवें करोड़ रुपये तक पहुँचा। कुल जन संख्या के प्रति ६ से ११ वर्ष के आयु वर्ग के बच्चों का अनुपात प्रथम से पांचवी कक्षा तक १९५०-५१ में मात्र ४२ प्रति शत था। यह अनुपात १९६०-६१ में बढ़ कर ६१ प्रति शत हुआ। तृतीय योजना की समाप्ति तक ७६ प्रति शत का लक्ष्यांक प्राप्त करना है। चतुर्थ योजना के अन्त तक आशा है कि स्कूल जाने लायक आयुवाले सभी बालक पढ़ने जाया करेंगे। यह सच है कि अन्य स्तरों पर भी पढ़ने के प्रातिशत्य में काफी वृद्धि हुई है, जैसे ११ से १४ वर्ष के आयु वर्ग का प्रातिशत्य १२ से बढ़ कर २८ प्रति शत हुआ, इसी प्रकार १४ से १७ वर्ष के आयु वर्ग का प्रातिशत्य ५ से १५; और १७ से २३ वर्ष वाले आयु वर्ग का प्रातिशत्य ०.९ से २.४ हो गया। किन्तु यह भी एक तथ्य है कि १४ वर्ष तक के बच्चों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का जो संवैधानिक निर्देश है वह अभी तक तो एक निर्देश ही बना हुआ है।

आन्ध्र प्रदेश, गुजरात, मध्य प्रदेश, मैसूर, पंजाब और दिल्ली जैसे राज्यों में अनिवार्य शिक्षा के लिए कानून बनाये जा चुके हैं। विद्यालयों में सघन प्रवेश के लिए योजनाएँ बनी हैं। शिक्षकों (१५ लाख) को प्रशिक्षित करने की योजनाएँ भी बनायी गयी हैं।

भारत में १९५०-५१ से १९५९-६० तक की अवधि में प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में जो प्रगति हुई है वह तालिका १ (पृष्ठ २२) में दी जाती है :

तालिका १

भारत में प्राथमिक शिक्षा की प्रगति : १९५०–१९६०

वर्ष	मान्य विद्यालय	छात्र संख्या	शिक्षक संख्या	प्रत्यक्ष व्यय (करोड़ रुपये में)
१९५०–५१	२,०९,६७१	१,८२,९३,९६७	५,३७,९१८	३६.४९
१९५५–५६	२,७८,१३५	२,२९,१९,७३४	६,९१,२४९	५३.७३
१९५६–५७	२,८७,२९८	२,३९,२२,५६७	७,१०,१३९	५८.४८
१९५७–५८	२,९८,२४७	२,४७,८८,२९९	७,२९,२३९	६६.७४
१९५८–५९	३,०१,५६४	२,४३,७२,१८१	६,९५,२८०	६३.६४
१९५९–६०	३,२०,५८६	२,५९,१८,८६४	७,३३,३८२	६९.६३

तालिका २ माध्यमिक (सेकण्डरी) विद्यालयों के विकास और वित्तीय पहलुओं का एक विहंगम चित्र प्रस्तुत करती है।

तालिका २

भारत में माध्यमिक शिक्षा की प्रगति : १९५०–१९६०

वर्ष	विद्यालय	छात्र संख्या	शिक्षक संख्या	प्रत्यक्ष व्यय (करोड़ रु. में)
१९५०–५१	२०,८८४	५२,३२,००९	२,१२,०००	३०.७४
१९५५–५६	३२,५६८	८५,२६,५०९	३,३८,१८८	५३.०२
१९५६–५७	३६,२९१	५९,७९,१६४	३,७२,१८०	५८.७३
१९५७–५८	३९,६५४	१,०६,२१,४९९	४,०६,७६८	६७.२१
१९५८–५९	५३,९२३	१,४३,४१,०४३	५,१०,३८८	८४.३४
१९५९–६०	५७,८६३	१,५७,०६,२००	५,६१,९५९	९५.६५

तालिका ३ उच्चतर शिक्षा के क्षेत्र में हुई संस्थागत प्रगति का एक चित्र प्रस्तुत करती है।

तालिका ३

भारत में उच्चतर शिक्षा का विकास : १९५०–१९६०

वर्ष	विश्व विद्यालय	शिक्षा मंडल	अन्वेषण संस्थाएँ	विशिष्ट शिक्षा कालेज	प्राविधिक कालेजों के वृत्तिक	कला व विज्ञान कालेज	छात्र-संख्या	शिक्षक संख्या	प्रत्यक्ष व्यय (करोड़ रुपये में)
१९५०–५१	२७	७	१८	९२	२०८	४९८	४,०३,५१९	२४,४५३	१७.६८
१९५५–५६	३२	११	३४	११२	३४६	७१२	६,८१,१७९	३७,८६५	२९.७१
१९५६–५७	३३	१२	४१	१२८	३९९	७७३	७,५०,१९५	४२,१३५	३३.५४
१९५७–५८	३८	१४	४३	१४८	४८९	८१७	८,०३,९४२	४५,२३२	३८.१०
१९५८–५९	४०	१३	४२	१६८	५४२	८७८	८,७६,३१२	५२,१८०	४३.९२
१९५९–६०	४०	१३	४२	१७७	७२८	९४६	९,४०,४८४	५५,४९३	४७.७१

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् प्राविधिक और वृत्तिक शिक्षा के विस्तार की जरूरत महसूस की गयी। प्राविधिक तथा वृत्तिक शिक्षा की विकास योजनाओं में केन्द्रीय और राज्य सरकारों को परामर्श देने हेतु १९४५ में प्राविधिक शिक्षा के लिए अखिल भारतीय परिषद गठित की गयी। सन् १९४७ के प्रारम्भ में युद्धोत्तर विकास कार्यक्रमों पर विचार हो रहा था। उनके लिए आवश्यक वैज्ञानिक तथा प्राविधिक कर्मचारियों का मूल्यांकन करने का कार्य वैज्ञानिक जन-शक्ति समिति (साइण्टीफिक मैन पावर कमेटी) को सौंपा गया। इस क्षेत्र में सुविधाएँ बढ़ाने के लिए प्रथम पंच वर्षीय योजना से पहले अनेक कदम उठाये गये। खड़गपुर में 'इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ टेक्नालॉजी' की स्थापना, और विकास के लिए १४ प्राविधिक प्रशिक्षण संस्थाओं का चुनाव, गवेषणा प्रशिक्षण छात्रवृत्ति और व्यावहारिक प्रशिक्षण हेतु वृत्तिका के लिए प्रावधान तथा वैज्ञानिक एवम् प्राविधिक शिक्षा व अन्वेषण के प्रोत्साहनार्थ अन्य योजनाएँ इन सुविधाओं में शामिल थीं। इस काल में और दो योजनाओं के अन्तर्गत उठाये गये कदमों के परिणाम, नीचे तालिका ४ में, १९५०–१९६० के बीच की अवधि में अभियांत्रिक तथा प्राविधिक संस्थाओं के विकास में हुई वृद्धि में परिलक्षित हैं।

गुणात्मक सुधार

आर्थिक विकास के लिए शिक्षा का कितना भारी महत्व है, इसकी शायद ही अतिशयोक्ति हो अर्थात् उसका बहुत बड़ा महत्व है। आज के संसार में अनेक देशों में आर्थिक विकास और शैक्षणिक स्तर में परिपूर्ण पारस्परिक सम्बन्ध पाया जाता है। यहाँ तक कि हमारे अपने देश में भी शिक्षा में शहरी मूल्यों की प्रधानता के कारण आर्थिक विकास के पलड़े का झुकाव भी शहरों की ओर ही है। देहाती क्षेत्रों में अब भी शिक्षा सुविधाओं का अभाव है। आज भी वे दुख-दर्दों और भुखमरी के शिकार हैं। जहाँ-कहीं शिक्षा की दृष्टि से लोग पिछड़े हुए हैं, वहाँ अर्थ-व्यवस्था भी पिछड़ी हुई है। हमें आजाद हुए पन्द्रह वर्ष हो गये। इस अवधि में हमने अनुभव भी प्राप्त किये हैं। फिर भी, हम आज अन्धेरे में पत्थर फेंक रहे हैं और अपनी शक्ति तथा अल्प राष्ट्रीय स्रोत गँवा रहे हैं। एक ही साथ कई योजनाएँ चालू करने की पद्धति से हमारे प्रयासों की बर्बादी होती है और प्राप्त परिणाम महत्वहीन बन जाते हैं। जैसा कि विनोबाजी कहते हैं, "सभी प्रकार की शिक्षा का एकमेव उद्देश्य है कि देश के सभी नागरिक कुशल दस्तकार और स्पष्ट विचारक बन जायें। लेकिन हम इस उद्देश्य को अनेक भागों—टुकड़ों—में बाँट देते हैं, जैसे शहरी शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा, बाल शिक्षा, धाय शिक्षा, बुनियादी शिक्षा, स्त्री शिक्षा, पुरुष शिक्षा, दस्तकार शिक्षा, बौद्धिक शिक्षा, शारीरिक शिक्षा और इन सबके ऊपर आता है साक्षरता अभियान।"

विनोबाजी का मत है कि यदि हम इन सभी पहलुओं

तालिका ४

इंजीनियरिंग कालेजों और पॉलिटेकनिक्स की प्रगति : १९५०–१९६०

वर्ष	स्नातक पाठ्यक्रम			डिप्लोमा पाठ्यक्रम		
	संस्थाएँ	प्रवेश क्षमता	शिक्षा प्राप्त व्यक्ति	संस्थाएँ	प्रवेश क्षमता	शिक्षा प्राप्त व्यक्ति
१९५०–५१	४९	४,१२०	२,२००	८६	५,९००	२,४८०
१९५५–५६	६५	५,८९०	४,०२०	११४	१०,४८०	४,५००
१९६०–६१	१००	१३,८६०	५,७००	१९६	२५,५७०	८,०००
१९६५–६६*	११७	१९,१४०	१२,०००	२६३	३७,३९०	१९,०००

* अनुमानित।

पर अलग-अलग रूप में विचार करेंगे तो निश्चय ही हमारी प्रगति रुक जायेगी। हर आदमी को खुश करने के लिए अल्प स्रोतों का वितरण किया जा रहा है। इसका परिणाम यह निकलता है कि ऐसी शैक्षणिक बातों को, अपेक्षाकृत उपेक्षित करना पड़ता है। जिनसे बचा नहीं जा सकता और जो तुरन्त करने योग्य है यदि हमारा ध्यान थोड़ा इस ओर, थोड़ा उस ओर बँट जाता है तो हमें कहीं भी वास्तविक सन्तोष नहीं मिलेगा। हमें दृढ़ता के साथ मूल प्रश्न को लेना है और इस बात पर परिपूर्ण ध्यान देना है कि उस पर उचित कार्यवाही होती है। मूल है बुनियादी तालीम। दस्तकारी भी इसमें आ जाती है, बौद्धिक विकास भी और साक्षरता भी। यह एक गतिविधि-केन्द्रित पाठ्यक्रम है, जिसमें ज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रिया बच्चे के शारीरिक और सामाजिक वातावरण के साथ परस्पर जुड़ी हुई है। शिक्षा कताई और बुनाई, बागवानी, बढ़ईगीरी, चर्म कार्य, घरेलू दस्तकारी, कुम्भकारी, प्रारम्भिक अभियांत्रिकी आदि जैसी सामाजिक दृष्टि से उपयोगी उत्पादक गतिविधियों के माध्यम से दी जाती है। यद्यपि बुनियादी शिक्षा प्रारम्भिक स्तर पर अब शिक्षा पद्धति की राष्ट्रीय तौर पर स्वीकृत पद्धति है, तो भी प्राथमिक विद्यालयों की संख्या में बुनियादी तालीम के मात्र २९ प्रति शत विद्यालय हैं। शेष वही 'मैकाले पद्धति' वाली किताबी शिक्षा देते हैं। तीसरी योजना के अन्त तक यह प्रातिशत्य बढ़कर ३६ हो जाने की अपेक्षा है। कहा जाता है कि इस विलम्ब का कारण है शिक्षा के लिए उपलब्ध साधन-स्रोतों की कमी। किन्तु जो मुख्य कारण सुस्पष्ट है वह यह है कि जिस प्रकार की शिक्षा दी जा रही है उसमें और राष्ट्र के औद्योगिक विकास में जो पारस्परिक सम्बन्ध है, शैक्षणिक प्रशासकों को अभी तक उसकी प्रतीति नहीं हो पायी है। पुरानी नौकरशाही वाली प्रवृत्ति आज भी पायी जाती है। बाबूगिरी को आज भी अच्छा समझते हैं।

तथापि, बताया जाता है कि गैर बुनियादी प्राथमिक विद्यालयों में बुनियादी शिक्षा के चन्द उन महत्वपूर्ण-विषयों को प्रारम्भ किया जा रहा है, जिनके सम्बन्ध में व्यय की बात नहीं है। अधिकारियों और प्राथमिक विद्यालयों के शिक्षकों के लिए नवीनीकरण पाठ्यक्रम कार्यान्वित किये जा रहे हैं। जिस ढंग से कदम उठाये जा रहे हैं, उनमें यह नहीं प्रकट होता है कि शिक्षा की यह क्रांतिकारी पद्धति समझ-बूझ कर तथा हृदय से स्वीकृत की जा रही है। देश भर में इस शिक्षा पद्धति के विस्तार से ही भारत के साढ़े-पाँच लाख गाँवों में उद्योग फैलेंगे। तब वे गतिविधियों के केन्द्र होंगे और देश से अल्प तथा पूर्ण बेकारी को मार भगायेंगे।

सभी प्राथमिक विद्यालय शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं को अनुक्रमिक रूप से बुनियादी ढंग की संस्थाओं में बदला जा रहा है। सत्तरह वर्ष की आयु तक के बालकों के लिए माध्यमिक शिक्षा को परिपूर्ण बनाने के उद्देश्य से माध्यमिक शिक्षा आयोग की सिफारिशों के आधार पर माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये जा रहे हैं। उनमें एक अनुपम परिवर्तन है बहुमुखी शिक्षा पद्धति का प्रारम्भ, जिसके अन्तर्गत विद्यार्थी को सामान्य पाठ्यक्रम के अतिरिक्त मानव शास्त्र, विज्ञान, प्रविधि, वाणिज्य, कृषि, परिष्कृत कलाओं तथा गृह विज्ञान में से तीन विषयों का चुनाव करने की छूट है।

विश्वविद्यालय स्तर पर भी प्रत्यक्ष अनुभव पर जोर दिया जा रहा है। यद्यपि विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग की ग्राम्य विश्वविद्यालयों सम्बन्धी सिफारिशें स्वीकार नहीं की गयी हैं, तथापि चन्द ग्राम्य संस्थान खुले हैं। अधिकाधिक प्राविधिक और वृत्तिक विद्यालय स्थापित किये जा रहे हैं।

कृषि शिक्षा

शिक्षा पद्धति में एक दोष यह है कि कृषि स्नातकों के प्रशिक्षण और अशिक्षित कृषक जनता के बीच बहुत बड़ी खाई है। जिस वर्तमान पद्धति के अन्तर्गत बहु-उद्देश्यीय उच्च विद्यालयों अथवा अलग-अलग पाठ्यक्रमों में कृषि-विषयक पाठ्यक्रम का प्रावधान है वह किसी भी व्यावहारिक उद्देश्य यानी काम के लिए बहुत ही अपर्याप्त है। जहाँ स्थानीय परिस्थितियों के अनुकूल व्यावहारिक

पाठ्यक्रमों की शिक्षा दी जा सकती है, वहाँ कृषि को बुनियादी दस्तकारी के रूप में लेकर अनेक उत्तर बुनियादी विद्यालय स्थापित करना वांछनीय होगा। इन विद्यालयों में शिक्षित-प्रशिक्षित विद्यार्थी अपने खेतों व खेती करने के तौर-तरीकों में सुधार और कृषि उत्पादन बढ़ाने में समर्थ होने चाहिए। कृषि विकास देश में विस्तृत औद्योगिक विकास करने की कुन्जी है, जान है। इसका कारण यह है कि कृषि अधिकांश उपभोक्ता सामग्री उत्पादित करनेवाले उद्योगों का आधार है। राष्ट्रीय शिक्षा पद्धित को इस दृष्टि से मोड़ देने पर व्यक्ति को मनुष्यत्व-विहीन बनाये बिना भारत का औद्योगीकरण करना सम्भव बन सकेगा।

परिमाणात्मक दृष्टि से हम ने शिक्षा के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति की है। यदि प्राविधिक शिक्षा के द्रुत विस्तार से हमें मात्र नकल करनेवाले और स्वचलन का अनुकरण करनेवाले बनने से बचना है तो शिक्षा के गुण एवम् उसकी उपयुक्तता पर अपेक्षाकृत अधिक ध्यान देना चाहिए, परिमाण की वेदी पर हमें गुण की बली नहीं चढ़ा देनी चाहिए। हम गुण के सम्बन्ध में इतने आतुर इसलिए हैं कि हम उद्योगवाद की बुराइयों से बचते हुए देश में उद्योग फैलाना चाहते हैं। औद्योगीकरण यदि आज की तरह चन्द बड़े-बड़े नगरों में ही होता है, तो ग्राम रूपी भारत के हृदय का शोषण होता रहेगा तथा अन्ततोगत्वा समूचा देश बर्बाद हो जायेगा। उपयुक्त राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति के द्वारा ही इससे बचा जा सकता है।

मदुराई : २ अगस्त १९६३

●

कुछ लोग यह सोच सकते हैं कि यदि किसी वस्तु का मूल्य इस बात से निर्धारित किया जाये कि उसमें कितना श्रम लगा है, तो श्रमिक जितना ही अधिक सुस्त व अकुशल होगा उस वस्तु का मूल्य भी उतना ही अधिक होगा; क्योंकि उसके उत्पादन में अधिक समय लगेगा। मूल्य में श्रम का जो भाग होता है वह संयुक्त मानव श्रम होता है अर्थात् एक समान श्रमशक्ति का व्यय। समाज की सम्पूर्ण श्रम-शक्ति जो कि उस समाज द्वारा निर्मित सभी सामग्रियों में निहित होती है, मानव-श्रम-शक्ति का संयुक्त पुंज होती है, यद्यपि उस शक्ति में असंख्य व्यक्ति रूपी ईकाइयों की शक्ति मिली होती है। जहाँ तक समाज की औसत श्रम-शक्ति के स्वरूप का सम्बन्ध है, इन इकाइयों में से प्रत्येक इकाई दूसरी के समान ही होती है और इसी रूप में वह घटित होती, अर्थात् उस वस्तु के उत्पादन में औसत समय ही खर्च होता है; और सामाजिक दृष्टि से जितना समय आवश्यक है उससे अधिक समय नहीं खर्च होता है। सामाजिक दृष्टि से श्रम रूपी समय वही है जो कि उत्पादन की सामान्य परिस्थितयों में कार्यकुशलता के औसत स्तर के साथ और उस समय प्रचलित गति व तीव्रता के साथ उस वस्तु के निर्माण में लगे। इंग्लैण्ड में शक्ति-चालित करघों के प्रचलन से संभवतः सूत की निश्चित मात्रा का कपड़ा बुनने के लिए आवश्यक श्रम में आधे की कमी हो गयी। वास्तव में हाथ करघे के बुनकरों को पहले जितना ही समय लगता रहा, परन्तु उनका एक घण्टे का श्रम इस परिवर्तन के बाद केवल आधे घण्टे के सामाजिक श्रम के बराबर हुआ और इस कारण उसका मूल्य पहले के मूल्य का आधा हो गया।

--कार्ल मार्क्स :कैपिटल, *खण्ड १*

ग्रामीण क्षेत्रों में उद्योग कार्यक्रम

त्रिभुवन नारायण सिंह

ग्रामीणों का जीवन-स्तर ऊँचा उठाना और गाँवों में गैर खेतिहर काम-धंधों का सृजन करना ग्रामीण उद्योग कार्यक्रम का प्रधान उद्देश्य है, लक्ष्य है। कार्यक्रम के प्रवर्त्तकों ने उत्पादन के उन्नत तौर-तरीके अपनाने और जहाँ शक्ति उपलब्ध हो वहाँ उसका उपयोग करने की आवश्यकता पर बल दिया है। ग्रामीण उद्योगों के आयोजित विकास में सफलता प्राप्त करने के लिए ग्रामीणों को आवश्यक सुविधाएँ प्रदान करने के अतिरिक्त सरकार को और भी वस्तुपरक, सोद्देश्य तथा ठोस कदम उठाने पड़ेंगे।

दिल्ली में विभिन्न राज्यों के मुख्य मंत्रियों और उद्योग मंत्रियों का हाल ही में एक सम्मेलन हुआ था। ग्रामीण उद्योग कार्यक्रम के सम्बन्ध में उक्त सम्मेलन में चन्द महत्वपूर्ण तथा उल्लेखनीय सवालात उठाये गये थे। सम्मेलन में जिन मुद्दों पर विचार हुआ उनमें से कुछ महत्वपूर्ण प्रश्नों की महत्ता का उपयुक्त मूल्यांकन करने, उन्हें सही रूप में पहचानने के लिए उक्त कार्यक्रम के प्रधान उद्देश्यों और मान्यताओं का कुछ विस्तृत विश्लेषण करना वांछनीय होगा।

प्रधान उद्देश्य

ग्रामीणों का जीवन-स्तर ऊँचा उठाना तथा उच्च स्तरीय आय करवानेवाली उत्पादनशील गतिविधियों के लिए उन्हें विभिन्न प्रकार के अवसर प्रदान करना कार्यक्रम का प्रधान उद्देश्य यानी लक्ष्य है। ग्रामीण क्षेत्रों में गैर खेतिहर धंधों के लिए विस्तृत अवसर निर्मित करने की योजना है। उत्पादन के उन्नत, विकसित तौर-तरीके अथवा जिसे 'माध्यमिक प्रविधि' (इण्टरमीडिएट टेक्नालॉजी) कहा जाता है उसे न केवल कृषि उत्पादनों एवम् अन्य कच्ची सामग्री का प्रशोधन करने के लिए वरन् यांत्रीकृत लघु उद्योगों के लिए भी अपनाना है। लोग उच्च उत्पादन क्षमतावाले बेहतरीन यंत्रों का संचालन कर सकें, इसके लिए उन्हें इस नये कौशल का प्रशिक्षण देने और संगठन तथा व्यवस्था कार्य के लिए एक व्यापक कार्यक्रम हाथ में लिया जा रहा है।

ग्रामीण उद्योग कार्यक्रम की चन्द मान्यताओं को संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है :

मान्यताएँ

अ. खेत बहुत छोटे-छोटे हैं तथा द्रुत गति से बढ़ रही आबादी के कारण वे और भी छोटे हो जायेंगे, इसलिए काफी आबादी को कृषि से हटा कर अन्यान्य धंधों में लगाना आवश्यक हो गया है।

आ. एक ऐसी स्थिति में जिसमें लोग बहुत बड़ी तादाद में देहाती क्षेत्रों से शहरी क्षेत्रों की ओर अनवरत रूप से काम की तलाश में जाते हों, भयंकर सामाजिक तथा आर्थिक समस्याएँ पैदा हो सकती हैं, जिन्हें हो सकता है कि हल करना ही मुश्किल हो जाय।

इ. यदि आवश्यक सुविधाएँ प्रदान की जायं और लोगों को आवश्यक कौशल का प्रशिक्षण दिया जाय तो ग्रामीण क्षेत्रों में भी उन्हें काफी तादाद में गैर खेतिहर काम-धंधे उपलब्ध करवाये जा सकते हैं।

ई. ग्रामीण क्षेत्रों में आज काफी परिमाण में अमूल्य कच्ची सामग्री बर्बाद यानी बेकार जाती है। यदि नवीन तथा वैज्ञानिक तकनीक प्रारम्भ की जायं, तो काफी लोगों को काम मिलना चाहिए।

उ. कृषि उत्पादन पर आधारित प्रशोधन उद्योगों के लिए व्यापक क्षेत्र है और यदि उनमें उपयुक्त वैज्ञानिक

तौर तरीके अपनाये जायें तो वे दीर्घ-स्तरीय इकाइयों के साथ सफलतापूर्वक प्रतिस्पर्धा कर सकते हैं।

शक्ति की उपलब्धि

प्रधान मंत्री ने सम्मेलन का उद्घाटन करते वक्त आवश्यक सुविधाएँ–विशेष कर बिजली–उपलब्ध करवाने की व्यवस्था पर काफी जोर दिया था। ऐसा होने से ही ग्रामीण आबादी के एक बहुत बड़े हिस्से को कृषि के अतिरिक्त अन्य काम-धंधे अपनाने के अवसर प्रदान किये जा सकते हैं। कुछ अन्य वक्ताओं ने भी इस प्रश्न पर जोर दिया और यहाँ तक कहा कि शक्ति की उपयुक्त पूर्ति के बिना ग्रामीण क्षेत्रों के औद्योगीकरण का कोई विशाल कार्यक्रम चलाना सम्भव नहीं है। यहाँ एक प्रश्न उठता है कि निकट भविष्य में ही लगभग एक लाख गाँवों का भी विद्युतीकरण करना सम्भव प्रतीत नहीं होता तो फिर कम से कम एक लाख गाँवों तक बिजली न पहुँच जाय, क्या तब तक ग्रामीण औद्योगीकरण का समग्र कार्यक्रम त्याग देना चाहिए? मुझे विश्वास है कि प्रधान मंत्री का मकसद यह नहीं था कि शक्ति की उपलब्धि हो तब तक के लिए ग्रामीण उद्योग कार्यक्रम से नमस्कार कर लेना चाहिए। यदि ऐसा होता तो वे सम्मेलन का उद्घाटन करना स्वीकार न करते।

विभिन्न अवस्थाएँ

ग्रामीण उद्योग कार्यक्रम के प्रवर्त्तकों ने प्रारम्भ से ही उत्पादन के यांत्रिक तौर-तरीके और जहाँ उपलब्ध हों वहाँ शक्ति का प्रयोग करने की आवश्यकता पर बहुत जोर दिया है। जो ४६ परियोजनाएँ कार्यान्वित हो रही हैं उनमें से अधिकांश उन स्थानों में हैं जहाँ शक्ति उपलब्ध है, यद्यपि कुछ जगह ऐसी भी हैं जहाँ शक्ति जैसी सुविधाओं की कमी है। इस प्रकार की मिश्रित व्यवस्था इसलिए है कि ग्रामीण क्षेत्रों में गैर खेतिहर काम-धंधों की उत्पादन क्षमता बढ़ाने का प्रयत्न करनेवाले व्यक्ति को विभिन्न अवस्थाओं के अन्तर्गत जिन विभिन्न समस्याओं का सामना करना पड़ेगा, कार्यकर्त्ताओं को उनका अनुभव हो जाय।

कुछ लोग ऐसे हैं जो इस बात में विश्वास करते हैं कि राज्य यानी सरकार का कर्तव्य तो इतना ही है कि वह कुछ सुविधाएँ तथा अन्य सामाजिक उपादान (जैसे सड़क, पानी, बिजली, यातायात आदि) प्रदान कर दे और इसके बाद का काम स्वतंत्र रूप से करने के लिए ग्रामीण जनता पर छोड़ दे। मुझे डर है कि इस प्रकार का सिद्धान्त ग्रामीण क्षेत्रों में फिलहाल जैसी स्थिति है उसमें चल ही नहीं सकता। हमें ग्रामीण क्षेत्रों में न केवल शक्ति, यातायात, संचार तथा शिक्षा जैसी आवश्यक सुविधाएँ ही प्रदान करनी पड़ेंगी, बल्कि वहाँ ग्रामीण उद्योगों के आयोजित विकास के लिए सोद्देश्य यानी वस्तुनिष्ठ कदम भी उठाने पड़ेंगे। जिन्हें साधारणतया 'उद्यमशील' या 'साहसिक' वर्ग कहा जाता है वे दुर्भाग्यवश न केवल ग्रामीण समस्याओं और अवस्था से परिचित ही नहीं हैं, बल्कि इस प्रकार के प्रयास में हाथ बंटाने की दिशा में सोचेंगे तक नहीं।

व्यक्तिगत रूप से मैं ग्रामीण क्षेत्रों की जनता में आवश्यक कौशल का विकास करने और उन्हें तकनीकल ज्ञान की शिक्षा देने को बहुत बड़ा महत्व देता हूँ। मामूली जुगतवाले उपकरणों को चलाने का सहज कौशल साधारण ग्रामीणों में होता है। बहुत ही कम समय का उपयुक्त प्रशिक्षण देने पर मुझे विश्वास है कि वे छोटे-छोटे शक्ति-चालित यंत्र चला सकते हैं।

कार्यकर्त्ता

कोई वस्तुपरक कदम उठाने से पूर्व परियोजना क्षेत्रों का प्राविधिकार्थिक सर्वेक्षण करना आवश्यक है। किसी परियोजना क्षेत्र के जन-शक्ति तथा सामग्री, दोनों प्रकार के साधन-स्रोतों सम्बन्धी उपयुक्त आंकड़ों के बिना ग्रामीण उद्योगों का सुनियोजित कार्यक्रम सम्भव नहीं है। मेरी समझ में कार्यक्रम की सफलता बहुत-कुछ ग्रामीण उद्योगों के चुनाव के सम्बन्ध में सही निर्णय लेने पर निर्भर करेगी। हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि कार्यक्रम की सफलता के लिए उन व्यक्तियों की क्षमता का भी समान महत्व है, जो काम में अपने आप को निष्ठा और विवेक के

साथ निरन्तर कठोर श्रम करते हुए लगाने के लिए उत्तरदायी है।

रूढ़िमुक्त उपागम

अधिकांश परियोजना क्षेत्रों के सर्वेक्षण पूरे हो गये हैं, किन्तु मैं सोचता हूँ कि कुछ सर्वेक्षण और अधिक परिपूर्ण होने चाहिए थे। विभिन्न राज्यों के उद्योग अधिकारियों और परियोजना अधिकारियों के साथ विस्तृत चर्चा करने के पश्चात् स्थायी समिति के अध्यक्ष तथा उनके सहयोगी प्रत्येक क्षेत्र के लिए कार्यक्रम तैयार करने में व्यस्त हैं। अनेक ऐसी समस्याओं का सामना करना पड़ा जिनके सम्बन्ध में किसी ने कुछ सोचा नहीं था और अनेक अनपेक्षित बाधाएँ रास्ते में आयीं। इस सम्बन्ध में मैं सबसे अधिक प्रशंसा इस बात की करता हूँ कि कार्यक्रम के कार्यान्विय के लिए उत्तरदायी व्यक्ति कार्यक्रम के प्रति रूढ़िमुक्त उपागम अपनाते हैं और इसलिए जो भी कोई समस्या उनके सामने आती है, वे उसे बड़े स्फूर्तिदायक ढंग से हल करने में अपने को लगा देते हैं। जो कठिनाइयाँ हमारे सामने आती हैं, उनके सम्बन्ध में मुझे कोई भ्रांति नहीं है। यह तो प्रायः अनजाने सागर की यात्रा के समान ही है। अनेक मामलों में हमें शमन करना पड़ता है जो कि स्पष्टतः अगम्य प्रतीत होते हैं अर्थात् बेमेल के साथ मेल बैठाना पड़ता है, समझौता करना पड़ता है।

कार्यक्रम के प्रवर्त्तकों को न केवल उन व्यक्तियों की ओर से निष्क्रियता और विरोध मिलेगा, जो सामान्यतः नये विचारों को आत्मसात नहीं करते, बल्कि आधुनिक और नव जीवन मार्ग के अनेक विचारकों की तरफ से भी, जो ग्रामीण तथा आडम्बरविहीन यानी दीखने में भव्य, महान न लगनेवाली चीजों का उपहास करते हैं।

तथापि, मैं सोचता हूँ कि राज्यों तथा केन्द्र के स्तर पर ग्रामीण उद्योग समिति के सदस्यों और सम्बद्ध अधिकारियों में, रूढ़िमुक्त मार्गों यानी तौर-तरीकों की सामर्थ्य पर दिलजमी हो जाने पर वे भी अपनाने की तत्परता एवम् जिस सुस्थिरता व आडम्बरविहीन ढंग से वे अपने आपको काम में लगाये हुए हैं, उससे मुझे यह विश्वास करने का प्रोत्साहन मिलता है कि इस कार्यक्रम को सफलता मिलनी चाहिए तथा ग्रामीण भारत की प्रगति अवरोधक समस्याओं को हल करने का सम्भवतः उससे नया मार्ग भी प्रशस्त होना चाहिए।

नयी दिल्ली : १९ अगस्त १९६३

सत्य की आराधना भक्ति है, और भक्ति 'सिर हथेली पर लेकर चलने का सौदा' है, अथवा वह 'हरि का मार्ग' है, जिसमें कायरता की गुंजाइश नहीं है, जिसमें हार नाम की कोई चीज है ही नहीं। वह तो 'मर कर जीने का मंत्र' है।

—महात्मा गांधी

गाँवों के लिए ऋण की व्यवस्था

ब्रह्मदेव मुकर्जी

ग्रामीण क्षेत्रों का विकेन्द्रित आधार पर विकास करने में सम्पूर्णतः संलग्न समग्र, विकेन्द्रित परंतु योग्य बैंकिंग पद्धति की बड़ी आवश्यकता है। पंचायत राज की स्थापना से अब 'सामुदायिक बैंक' खोलने के विषय पर ध्यान देना होगा, जो कि पंचायत राज संस्थाओं के लिए बैंकर का काम करेगा तथा ग्राम समाज के आर्थिक विकास में सहयोग देगा।

हमारे देश के विशाल ग्रामीण क्षेत्र में आधुनिक बैंकिंग सुविधाएँ शायद ही कहीं उपलब्ध हैं। इसका कारण यह है कि अब भी बैंकिंग कार्य अधिकतर औद्योगिक और व्यावसायिक रूप से विकसित क्षेत्रों में ही केन्द्रित है। परन्तु ग्रामीण ऋण की समस्या पर बात करना मुख्यतः कृषकों को कृषि कार्य के लिए और सामान्यतया अन्य ग्रामीण विभागों को ऋण उपलब्ध करने की बहुत ही कठिन समस्या को सामने रखना है। यदि हम इस तथ्य को समझ लें कि हमारी आबादी का करीब ८० प्रति शत गाँवों में रहता है, उसमें से तीन-चौथाई लोग कृषि पर निर्भर हैं और वार्षिक कुल राष्ट्रीय उत्पादन में करीब आधा योगदान कृषि उत्पादन का है, तो इस समस्या का महत्व स्पष्ट हो जायगा। अतः ग्रामीण ऋण की समस्या पर विचार करना एक तरह से कृषि उत्पादन के लिए संस्थागत वित्त पर विचार करना है।

कृषि के लिए निधि

यद्यपि कृषि एक कला भी है और एक जीवन मार्ग भी, फिर भी यह एक व्यापार है और अन्य व्यापारों की तरह तब तक नहीं चल सकता जब तक इसके मुख्य उपकरणों के रख-रखाव , बदल और सुधार तथा इसके उत्पादन में होनेवाले कार्यकारी खर्च के लिए निधि उपलब्ध न हो। इस तरह की निधि की आवश्यकता इसलिए और भी बढ़ जाती है कि हमें कृषि में बहुत सुधार करना है। कृषि में नये और उन्नत तरीके अपनाने होंगे, जिनमें उन्नत कृषि सरंजाम, अच्छे बीज, अधिक उर्वरक और सिंचाई जल भी शामिल हैं। गुजारेवाली कृषि के लिए भी उधार व्यवस्था आवश्यक है।

अन्य उद्योगों से भिन्न

कृषि अन्य अधिकांश उद्योगों से कई महत्वपूर्ण मामलों में भिन्न है और उन्हीं भिन्नताओं के कारण कृषि के लिए उधार व्यवस्था करने में विशेष कठिनाइयाँ पैदा होती हैं। बड़े उद्योगों का कार्य चन्द क्षेत्रों में केन्द्रित होता है और वे पब्लिक कम्पनी का रूप धारण कर लेते हैं, जिनका देय सीमित होता है तथा जिनके पास विस्तृत पूंजीगत साधन और बिक्री योग्य सम्पत्ति होती है; जबकि इतना बड़ा कृषि उत्पादन व्यक्तियों अथवा परिवारों के हाथ में होता है, जिनके पास अपेक्षाकृत छोटे-छोटे खेत, सीमित पूंजी और उपकरण होते हैं। इतनी अधिक संख्या में उत्पादन इकाइयाँ, हर उत्पादक के सीमित पूंजीगत साधन और धंधे का निजी स्वरूप होने के कारण ही कृषि उधार देने में कई कठिनाइयाँ पैदा हो जाती हैं। धंधे का यह निजी स्वरूप और उत्पादक के सीमित साधन ऋण देनेवाली संस्था के लिए यह और भी महत्वपूर्ण बना देते हैं कि वह कर्जदार से अधिकाधिक व्यक्तिगत सम्पर्क रखे, लेकिन इनकी संख्या इतनी अधिक है और ये किसान देश भर में फैले हुए हैं, जिनमें से कुछ तक तो पहुँचना भी कठिन है, इसलिए व्यक्तिगत सम्पर्क बनाये रखना असम्भव-सा हो जाता है।

कृषि की दूसरी विशेषता इसकी लम्बी उत्पादन अवधि है। इसकी वजह से व्यावसायिक बैंकों का ऋण के प्रत्यक्ष स्रोत के रूप में इस्तेमाल करने में साधारण किसानों की राह में अड़चन आती है, क्योंकि बैंक अपने पैसों का लेन-देन जल्दी-जल्दी चाहते हैं। फिर भूमि, मवेशी या उपकरण खरीदने अथवा भूमि-सुधार करने के लिए दीर्घ-कालीन ऋण का प्रश्न है। साधारण व्यावसायिक बैंकों के लिए कृषि में पैसे लगाना सामान्यतः अनाकर्षक है; क्योंकि इस काम में प्रशासन का खर्च हमेशा भारी पड़ता है और जोखिम भी अन्य व्यापारों से अधिक रहती है।

प्रशासनात्मक समस्या

किसानों को वित्त प्रदान करनेवाली किसी भी पद्धति को उसकी सारी ऋण आवश्यकताओं (लघु-कालीन, मध्य-कालीन और दीर्घ-कालीन), उत्पादन-साख और व्यक्तिगत साख को ध्यान में रखना तथा सब जोखिमों का मूल्यांकन करना होगा, ताकि यह सुनिश्चित हो सके कि किसान का कुल खर्च उसकी क्षमता से अधिक नहीं है और न ही इतना अधिक है कि उसकी उत्पादन क्षमता ही समाप्त हो जायगी एवम् वह हमेशा कर्ज में डूबा रहेगा। न सिर्फ किसानों की आवश्यकताएँ ही भिन्न होंगी, वरन् व्यक्तिगत आवश्यकताओं का मूल्यांकन करना बहुत कठिन भी होगा। कृषि ऋण की मुख्य समस्या है इतनी अधिक संख्या में किसानों को आवश्यक निधि उपलब्ध करना तथा उनकी आवश्यकताओं का अलग-अलग मूल्यांकन करना; और यह समस्या आर्थिक से अधिक प्रशासनात्मक है।

इस प्रकार एक ही सम्भव रास्ता माना जाता है और वह है सहकारी समितियों के जरिये वित्त देना। कई देशों के अनुभवों ने इसे सही ठहराया है। गाँव में अथवा उसके निकट स्थित सहकारी समिति उधार लेनेवाले सभी व्यक्तियों से निकट सम्पर्क रख सकती हैं। सहकारी समिति के सदस्य एक-दूसरे को जानते हैं और हर कोई दूसरे के चरित्र, क्षमता और आवश्यकताओं की गवाही दे सकता है तथा समिति बिना किसी विशेष खतरे के ऋण दे सकती है एवम् बिना किसी खास दिक्कत के उस ऋण से चलनेवाले कार्य का पर्यवेक्षण कर सकती है। अपने कार्य में स्वायत्त होने के फलस्वरूप सहकारी समिति अपनी नीतियाँ और व्यवहारों में परिवर्तन कर सकती हैं, ताकि वे क्षेत्र अथवा उधार लेनेवालों की अवस्था के अनुरूप हो सकें। इन सबसे भी अधिक सहकारी दृष्टिकोण सदस्यों में स्वयं-सेवा, मितव्ययिता और पारस्परिक सहयोग की भावना भरने की कोशिश करता है और समुदाय में सामाजिक स्निग्धता का विकास करता है। यह इस तथ्य का यथार्थ रूप में सामना करता है कि बहुत हद तक ग्रामीणों को अपनी आय तथा अपने ही साधनों पर निर्भर करना पड़ेगा; और यह विश्वास रखता है कि व्यक्तिगत तौर से कहीं अधिक वे सहकारी तौर पर बढ़ सकते हैं।

सहकारिता का प्रारम्भ

भारत में सहकारिता का आरम्भ इस शताब्दी के आरम्भ में हुआ। परन्तु अंग्रेजी शासनकाल में इसने बहुत ही कम प्रगति की। हमारी पंच वर्षीय योजनाओं में सहकार को दोनों ही दृष्टियों से—इसके व्यवहारिक महत्व और समाजवादी समाज तथा लोकतांत्रिक कल्याण राज्य सम्बन्धी देश की बुनियादी नीति के अनुरूप होने की दृष्टियाँ—बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। द्वितीय पंच वर्षीय योजना में यह कहा गया—"लोकतांत्रिक आधार पर आर्थिक विकास अनन्त रूपों में सहकार को प्रयुक्त करने का बृहत् क्षेत्र प्रस्तुत करता है। समाजवादी समाज की हमारी पद्धति में बहु-संख्यक विकेन्द्रित इकाइयों का निर्माण—कृषि और उद्योग दोनों ही क्षेत्रों में—शामिल है। सहकारी संगठन का जो लाभ है, उसका मुकाबला न निजी उद्योग कर सकता है और न राज्य स्वामित्व। विशेष रूप से यह समान रूप से सामाजिक और वैयक्तिक प्रेरणाओं का लाभ उठा कर समाज के लिए बहुमूल्य परिणाम प्राप्त करने के साधन प्रस्तुत करता है।"

अब तक जो प्रगति हुई है, वह महत्वपूर्ण है। प्राथमिक कृषि सहकारी समितियों की संख्या १९५०-५१के १,०५,००० से बढ़ कर १९६१-६२ में २,१५,००० हो गयी। उनकी सदस्य संख्या ४० लाख ८ हजार से बढ़ कर १ करोड़ ९५ लाख ६ हजार हो गयी है और संचालन पूंजी ३७ करोड़ २५ लाख रुपये से बढ़ कर ३ अरब २५ करोड़ २५ लाख रुपये। ये आंकड़े समूचे देश की दृष्टि से आकर्षक हैं; देश भर में प्रगति समान नहीं हुई है और समस्या का सिर्फ एक छोर ही छूआ जा सकता है। जबकि देश के कुछ भागों में हुई प्रगति उत्साहजनक रही है, कई अन्य भागों में वह बड़ी निराशाजनक रही है। सहकारी विभाग के विकासार्थ बहुत विचार, आयोजन और प्रयास किये गये हैं, परन्तु विश्वास के साथ यह कहा जा सके कि हम उस प्रशस्त पथ तक पहुँच गये हैं जोकि हमें निर्दिष्ट लक्ष्य तक ले जायगा, मुझे इसमें संदेह है। मैं अपने सहकारी कार्यक्रम के विभिन्न पहलुओं पर विस्तार में चर्चा नहीं करूँगा जो कि अभी तक कमजोर बने हुए हैं, और न उन दोषों के विषय में ही जो कि कार्यक्रम के कार्यान्वय में मौजूद हैं और न उन कारणों पर ही, जो कि प्रगति की राह में बाधक बने हैं। इन पर कई समितियों, कार्यकारी दलों, आदि द्वारा विचार किया जा चुका है तथा बड़ी-बड़ी रिपोर्टें प्रकाशित की जा चुकी हैं, जिससे सबको इसकी जानकारी मिल सके। अतः मैं प्रश्न के अन्य पहलुओं का जिक्र करूँगा।

ग्रामीणों को ज्ञान देना

यह महसूस करना आवश्यक है कि यह बड़ा ही कठिन काम है। इसमें लाखों ग्रामीणों को नये विश्वासों और विचारों में शिक्षित, संगठित और लक्ष्यमुखी बनाना शामिल है ताकि वे बुद्धिमानीपूर्वक और सक्रिय ढंग से लोकतांत्रिक संस्थाओं के रूप में काम कर सकें और अपने को आर्थिक और सामाजिक कल्याण के नये कार्यों में लगा सकें। इतने बड़े देश में और वह भी अशिक्षित और परम्परामुखी लोगों में ऐसा परिवर्तन लाना जटिल, कठिन और समय लगनेवाला कार्य होगा। लेकिन सबसे महत्वपूर्ण यह है कि सहकारी कार्यशीलताएँ ग्रामीणों के आर्थिक व सामाजिक कल्याण से बहुत ही निकट रूप में सम्बन्धित हैं, जो कि प्रत्यक्षतः दृष्टिगोचर हो तथा उसमें जनता का दृढ़ विश्वास पैदा हो।

यदि कृषि को सुधारने तथा ग्रामीण औद्योगीकरण के विकास में पर्याप्त सफलता नहीं मिली तो सहकार आन्दोलन के सफल होने की आशा बहुत कम रहेगी, यद्यपि ग्रामीण औद्योगीकरण के क्षेत्र में सफलता किसी हद तक सहकार के विकास में प्राप्त सफलता पर निर्भर करेगी। ठोस और अच्छा आयोजन तथा आयोजन का योग्य कार्यान्वय आवश्यक होगा। अकेली कृषि से ग्रामीण क्षेत्र के सम्पूर्ण श्रमिकों को रोजगारी नहीं मिल सकती, जब तक कि वह रोजगारी गुजारे अथवा गुजारे से भी निचले स्तर की न हो। यदि ग्रामीण क्षेत्रों में ग्रामीण औद्योगीकरण रोजगारी के अन्य पथ प्रशस्त नहीं करता तो अधिकांश श्रमिक औद्योगिक केन्द्रों की ओर भागते ही रहेंगे और इस प्रकार सामाजिक और आर्थिक समस्याएँ पैदा करते रहेंगे।

आर्थिक रूप से प्राणवान उद्योग

परन्तु अतिरिक्त श्रम-शक्ति को रोजगारी अथवा पूर्ण रोजगारी प्रदान करने और ग्रामीणों के लिए केवल कृषि अर्थ-व्यवस्था के स्तर से, भले ही वह कितनी भी सुधरी क्यों न हो, ऊँचे स्तर का जीवन प्राप्त करने हेतु धन-उत्पादन में वृद्धि करने, इन दोनों ही उद्देश्यों की पूर्ति करने के लिए यह आवश्यक है कि ग्रामीण औद्योगीकरण का कार्यक्रम सुनियोजित हो तथा वह कृषि विकास के साथ-साथ बड़े पैमाने के औद्योगिक विकास के साथ समन्वित हो।

मैं ग्रामीण औद्योगीकरण के विषय में कह रहा हूँ, न कि ग्रामीण उद्योगों अथवा ग्रामोद्योगों के बारे में। कुछ और उत्तम साधन प्राप्त न हो जाने तक ग्रामोद्योगों का पुनस्स्थापन और विकास कार्य जारी रखना होगा, उन्हें हमेशा निचली तकनालॉजी तक ही नहीं रखा जा

सकता। परम्परागत ग्रामोद्योगों के स्थान तथा उन्हें यथावत् संरक्षित रखने की आवश्यकता पर हाल के वर्षों में काफी भावात्मक, निराधार और प्रायः परि-भ्रमित विचार व्यक्त किये गये हैं। इसमें कोई शक नहीं कि किसी भी ग्रामीण औद्योगीकरण कार्यक्रम की सफलता वैसे उद्योगों के चुनाव पर ही निर्भर करेगी जो कि आर्थिक रूप से जीवित रहने योग्य, प्राणवान हों अथवा जिन्हें शीघ्र ही वैसा बनाया जा सके और जो कि निरन्तर उन्नत तकनालॉजी अपनाने योग्य हों।

सही दृष्टिकोण से विचार करने पर ग्रामीण औद्योगीकरण का उद्देश्य प्रो. गाडगिल के शब्दों में यह होना चाहिए—"देश का औद्योगीकरण अधिकाधिक विकेन्द्रित, छोटे से छोटे पैमाने पर और अधिक से अधिक रोजगारी क्षमता के साथ होना चाहिए जोकि योग्य तकनीक और विकास प्रक्रियाओं की आवश्यकताओं के अनुरूप हो।" इस सन्दर्भ में कृषि विकास की चर्चा करते वक्त मैं अन्ततः कृषि को योग्य व्यावसायिक कार्य के रूप में विकसित करने के विषय में सोच रहा हूँ। विकेन्द्रित क्षेत्रीय आधार पर आयोजन के जरिये ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि विकास और औद्योगिक विकास के बीच अधिका-धिक आपसी सहायता और परस्पर निर्भरता लाना सम्भव होना चाहिए। कुछ हद तक ग्रामीण क्षेत्रों में स्थापित होनेवाले लघु उद्योगों और देश के औद्योगिक केन्द्रों में जमे बड़े उद्योगों के बीच भी आपसी सहायता और परस्पर निर्भरता लाने के लिए आयोजन करना सम्भव है।

ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को साख योग्य बनाना

ग्रामीण औद्योगीकरण के लिए ऋण की व्यवस्था करने में भी वैसी समस्याओं का सामना करना पड़ेगा जैसा कि कृषि के विकास में; और कारण भी बहुत-कुछ वही रहेंगे। दोनों ही मामलों में सामान्य बैंकिंग माप से साख की दर निम्न रहेगी। परन्तु दोनों ही मामलों में आवश्यक ऋण की व्यवस्था करनी होगी ताकि उनकी साख बढ़ सके। इससे परिस्थिति की जटिलता सामने आती है, पर साथ ही इस बात का विशाल व्यापक महत्व भी स्पष्ट होता है कि ग्रामीण क्षेत्रों के आर्थिक विकास के लिए एक ठोस योजना अपनाना कितना आवश्यक है जो कि उस अर्थ-व्यवस्था की सारी बातों को ध्यान में रखते हुए —जैसे बढ़ती आबादी, समग्र रूप से स्रोतों की अपर्याप्तता, गांवों में तकनीकल ज्ञान तथा प्रबन्धकीय योग्यता की कमी, प्रारम्भ में सीमित बाजारों का होना आदि—उसे चिरविकासशील निवेश-स्तर के लिए एक प्राणवान और साख के लायक अर्थ-व्यवस्था बना दे। ग्रामीण ऋण तो सिक्के का एक ही पहलू है, दूसरा पहलू है ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को साख के लायक बनाना। इन दोनों समस्याओं को सिर्फ इकट्ठे ही हल किया जा सकता है।

विकेन्द्रीकरण

यह प्रश्न किया जा सकता है : ग्रामीण क्षेत्रों का जैसा विकास मैं चाहता हूँ, उसे कैसे पूरा किया जा सकता है? मेरा उत्तर है कि इसकी प्राप्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक कि लोकतांत्रिक राष्ट्रीय सरकार और राष्ट्रीय विकास कार्यक्रम में विकेन्द्रित सामाजार्थिक समुदायों के विकासार्थ एक सामान्य नीति नहीं अपनायी जाती। केन्द्रित उपागम तो असफल ही रहेगा। मैं यहाँ इस प्रश्न पर चर्चा नहीं करूँगा कि क्षेत्रीय विकास के लिए विकेन्द्रित आयोजन किस प्रकार आम तौर पर तथा समग्र राष्ट्रीय आयोजन से पूर्णरूपेण संगत है। मेरी समझ से इस पर तर्क करने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि हमने पंचायत राज जैसे दूरगामी और क्रांतिकारी विचार अपना कर तथा हमारे विकास कार्यक्रम में सहकारी संगठन को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान कर विकेन्द्रीकरण की नीति स्वीकार कर ली है।

विकास कार्यक्रम की सफलता के लिए सही किस्म के स्थानीय नेतृत्व का विकास बड़ा ही महत्वपूर्ण होगा और दूरगामी विकेन्द्रित दृष्टिकोण ही ऐसे नेतृत्व का विकास कर सकेगा। पंचायत राज योजना तभी सफल होगी जबकि उसमें निहित विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त

राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में समान रूप से लागू हों। घोर गरीबी में जीवन बिता रहे ग्रामीणों को सिर्फ यह कहने से काम नहीं चलेगा कि पंचायत राज संस्थाएँ उनकी हैं और उन्हें बहुत-से काम दिये जा रहे हैं, बल्कि उन्हें यह विश्वास हो जाना चाहिए कि ये अधिकारी उनकी आर्थिक समस्याओं को योग्यतापूर्वक सम्भाल रहे हैं। इस कार्य के लिए उन्हें पर्याप्त आर्थिक-स्रोत प्राप्त करने योग्य होना चाहिए। उन्हें गाँवों में कृषि-सुधार और उद्योगों के विकास का कार्य देखना होगा जो कि बेकारों तथा अर्धवेकारों को रोजगारी देगा, न कि सिर्फ वे असैनिक कार्य देखने होंगे जो कि स्थानीय अधिकारियों द्वारा किया जाता है। ग्रामीणों की आर्थिक अवस्था सुधारने हेतु मैं जिला परिषदों और पंचायत समितियों द्वारा भी सार्वजनिक स्वामित्व वाले उद्योग आरम्भ किये जाने की कल्पना करता हूँ, जिस तरह कि राज्य सरकारें और केन्द्रीय सरकार भी कुछ सार्वजनिक संस्थान चलाती हैं।

सहकारी आधार

बेशक इन उद्योगों को वैसा होना होगा, जो कि अधिकतर स्थानीय प्रयासों से विकसित किये जा सकें और जिनका प्रबन्ध स्थानीय अधिकारीगण कर सकें। इसे फलित होने में कुछ समय लग सकता है, पर लक्ष्य यही होना चाहिए। इनके अतिरिक्त सहकारी आधार पर गठित अन्य बहुत-से उद्योग होंगे। हमारे आयोजन का सामाजिक उद्देश्य यह है कि ग्रामीण क्षेत्रों का विकास, भले ही कृषिक रूप में हो अथवा औद्योगिक, यथा सम्भव सहकारी आधार पर होना चाहिए। यदि ग्रामीणों को अपने उद्योग स्वयं ही विकसित करने हैं, जोकि अधिकतर अपने ही प्रयासों और स्थानीय स्रोतों पर आधारित होना चाहिए, तो अधिकतर इनका विकास सहकारी आधार पर करने के सिवा और कोई चारा नहीं दिखाई देता। पर यह समझ लेना गलत होगा कि सहकारी आधार पर संगठन सिर्फ ग्रामीण क्षेत्रों की पिछड़ी अर्थ-व्यवस्था, जिनकी तकनालाजी उन्नत नहीं है, तथा ग्राम स्वावलम्बन के आधार पर बिक्री के लिए ही आवश्यक है। सहकारी आधार पर योग्य उत्पादन, ठोस व्यापारिक प्रबन्ध और निरन्तर उन्नत हो रही तकनालाजी का संगठन करना सम्भव है और इसका कई उन्नत देशों में प्रदर्शन भी किया गया है।

स्रोतों का स्थानीय विकास

अब मैं इस सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रश्न पर आता हूँ कि मेरी कल्पना के ग्रामीण विकास हेतु किस प्रकार पर्याप्त स्थानीय स्रोत उपलब्ध हो सकते हैं। स्थानाभाव के कारण इस प्रश्न पर विस्तारपूर्वक प्रकाश नहीं डाला जा सकता। सामान्य उद्देश्य, जिसे कि मैं कुछ महत्वपूर्ण समझता हूँ और जो कि मेरी राय में पर्याप्त वैधता भी रखता है, यह है कि मेरे बताये अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों के विकासार्थ आवश्यक स्रोत का बहुत अधिक भाग गांवों में ही पैदा किया जाना चाहिए। इस उद्देश्य की दीर्घ-कालीन वैधता है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि कुछ समय के लिए बाहरी आर्थिक सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। इस तरह की बाहरी सहायताएँ पंच वर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत दी जाती हैं, खास कर सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत सहकार, कृषि, ग्रामोद्योग आदि कार्यक्रमों के लिए। मैं यह कल्पना करता हूँ कि पूर्ण विकसित हो जाने पर पंचायत राज संस्थाओं को कर के रूप में भी खासी रकम उगाहनी चाहिए। सब कर उनके द्वारा लगाये जाने अथवा उगाहने की आवश्यकता नहीं है। उदाहरणार्थ भूमि-राजस्व जैसे कर राज्य-कर रह सकते हैं, परन्तु पंचायत राज संस्थाओं को उसम से कुछ हिस्सा मिलना चाहिए। अन्य कर भी वितरित होनेवाले करों की श्रेणी में आ सकते हैं। परन्तु पंचायत राज संस्थाओं द्वारा लगाये और उगाहे जानेवाले करों की सूची बढ़ती जायेगी और उससे अधिकाधिक राजस्व की प्राप्ति होनी चाहिए। फिर उन्हें राज्य सरकार से ऋण मिलना चाहिए। उन्हें इस योग्य होना चाहिए कि वे बाजार से स्वयं भी ऋण प्राप्त कर सकें। सहकार आन्दोलन और इसकी बैंकिंग

पद्धति के मजबूत होने के साथ साथ सहकारी विभाग द्वारा अधिकाधिक निधि प्राप्त की जायगी और विकास कार्यों के लिए प्राप्त होगी—सहकारी संस्थाओं की अंश पूंजी बढ़ा कर, संरक्षित निधि बना कर, बाहरी साधनों से उधार लेकर।

संयुक्त बैंकिंग स्वरूप

पंचायत राज संस्थाओं को मेरी कल्पना के अनुरूप विकास कार्यक्रम का कार्यान्विय करने हेतु, जो कि उन्हें अन्ततः अपनाना ही चाहिए, बैंकिंग सेवा की आवश्यकता होगी जिसे कि सहकारी माध्यम के जरिये उपलब्ध किया जा सकेगा। अब तक हमारा सहकार आन्दोलन प्रधानतः कृषि विकास की आवश्यकताओं को पूरा करने तक ही विकसित हुआ है। काफी हद तक ग्रामीण औद्योगीकरण हो जाने के बाद भी, ग्रामीणों का मुख्य धंधा कृषि ही रहेगा। अतः मुझे शक है कि ग्रामीण क्षेत्रों में उद्योगों के विकास में सहकारी बैंकिंग माध्यम कोई विशेष योगदान दे सकेगा। उसका झुकाव कृषि की ओर ही रहनेवाला है। बाद में पंचायत राज संस्थाओं को कई किस्म की बैंकिंग सेवाओं की जरुरत पड़ेगी, जैसे बढ़ते नकद लेन-देन का प्रबंध करने, पूंजीगत और सार्वजनिक निर्माण कार्यों के लिए ऋण प्राप्त करने में मदद देने, उनके उद्योगों के लिए ऋण प्राप्त करने में मदद देने, उनके उद्योगों के लिए संचालन आदि के लिए।

हमें यह भी ध्नान में रखना ही चाहिए कि जैसे-जैसे हमारी कृषि व्यापारिक बनती जाती है, जैसा कि होना ही चाहिए—इसमें लोगों को उच्च जीवन स्तर उपलब्ध करने तथा बढ़ते पैमाने के विकास कार्यक्रम को बनाये रखने के लिए भी—इसे काफी बड़े पूंजी-निवेश की जरुरत पड़ेगी। मेरी राय में हमारे देश में कृषि के लिए आर्थिक सहायता हेतु सहकारी और व्यावसायिक बैंकों का मिश्रित दृष्टिकोण रखनेवाला बैंक कृषकों के लिए अधिक उपयोगी होगा। कृषि और ग्रामीण-औद्योगीकरण, दोनों ही के विकास पर आधारित ग्राम विकास की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्ततः संयुक्त बैंकिंग प्रणाली ही लाभदायक होगी।

एक सामुदायिक बैंक की भी आवश्यकता होगी, जोकि पंचायत राज संस्थाओं के लिए बैंकर का काम करने और स्थानीय समुदायों के आर्थिक विकास में सहायता देने के लिए विशेष रूप से उत्तरदायी हो। यह सुझाव देते वक्त इतना तो मैं मान ही लेता हूँ कि पंचायत राज संस्थाएँ मेरी कल्पना के अनुरूप विकेन्द्रित स्थानीय अधिकारियों के रूप में विकसित हो जायेंगी। यह आशा करना बेकार है कि बड़े-बड़े व्यावसायिक बैंकों की शाखाएँ यह कार्य कर सकती हैं। यह भी कल्पना करना कठिन है कि कोई सहकारी समिति अथवा बैंक इतना बड़ा काम कर सकता है। जिस सामुदायिक बैंक का मैं सुझाव दे रहा हूँ, वह सहकारी और व्यावसायिक बैंकों दोनों के अच्छे और मजबूत पहलुओं का मिश्रण होना चाहिए। उन्हें बहुत ही विकेन्द्रित आधार पर और स्थानीय अधिकारियों से निकट सम्पर्क रखते हुए कार्य करना होगा। स्टेट बैंक ऑफ इंडिया, राज्य वित्त निगमों, सहकारी बैंकों तथा अन्य व्यावसायिक बैंकों जैसी कई वित्तीय संस्थाओं की भागीदारी में इन्हें स्थापित किया जा सकता है, जैसे कि चन्द विकास वित्तीय संस्थाएँ स्थापित की गयी हैं। इस तरह के छोटे बैंकों के योग्य ढंग से कार्य न करने का कोई कारण ही नहीं है, यदि स्टेट बैंक ऑफ इंडिया और रिजर्व बैंक जैसी अनुभवी संस्थाओं द्वारा उनके नियंत्रण और मार्गदर्शन के लिए कोई अच्छी पद्धति निकाली जाय।

अमेरिका में छोटे बैंक

मैं यह स्वीकार करता हूँ कि 'सामुदायिक बैंक' पर मैंने इतना अध्ययन नहीं किया है कि उसे विस्तृत रूप से बता सकूं, परन्तु मैं यह महसूस करता हूँ कि यह विचार आजमाने लायक है। संयुक्त राज्य अमेरिका के बैंकिंग इतिहास में—देश के विकास के प्रारंभिक काल में जबकि आबादी पूर्व से पश्चिम की ओर जा रही थी और नये-

नये क्षेत्र बन रहे थे—छोटे-छोटे बैंकों ने सामुदायिक बैंक के रूप में बहुत ही मूल्यावान कार्य किया। नये-नये समुदायों के साथ उनका भी विकास और उत्थान हुआ और उन्होंने उन समुदायों के विकास में सहयोग दिया। वे जिस समुदाय के बीच कार्य करते थे, उसके प्रति बड़े ही ईमानदार थे। इस अमेरिकी बैंकिंग पद्धति के अच्छे-बुरे अनुभवों से हम लाभ उठा सकते हैं। मैं मुख्य रूप से यही कहता हूँ कि हमारे ग्रामीण क्षेत्रों का विकास विकेन्द्रित आधार पर और कृषि-औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था के विकास के जरिये करने पर हमें समग्र, विकेन्द्रित, परन्तु योग्य बैंकिंग सेवा की—जोकि पूर्णतः इस विकास कार्य के लिए ही हो—जरुरत पड़ेगी। इसकी नीतियाँ, कार्य और कार्य-विधियाँ क्षेत्र की आवश्यकताओं तथा जिसकी सेवा करनी है उसकी अर्थ-व्यवस्था के अनुरूप होनी चाहिए।

इस विचार का एक अनुसिद्धान्त यह है कि इस बैंकिंग स्वरूप को उस समुदाय की बचत और व्यापार का आश्वासन दिया जाना चाहिए, जिसकी इसे सेवा करनी है। जैसा कि मैंने कहा है, ग्रामीण क्षेत्रों को अधिकतर अपने ही साधनों के आधार पर विकसित होना है। लोगों की बचत के लिए आज व्यावसायिक बैंकों, सहकारी बैंकों, सरकारी अल्प बचत अभियानों के बीच प्रतियोगिता बढ़ती जा रही है। व्यावसायिक बैंक गाँवों में अपनी शाखाएँ खोल रहे हैं। यदि बड़े रूप में अन्ततः विकेन्द्रित विचारधारा को सफल होना है तो इन माध्यमों के बीच कार्य-क्षेत्र का किसी किस्म का बटवारा होना ही चाहिए। गाँवों में कार्य कर रहीं विभिन्न वित्तीय संस्थाओं के बीच काफी सहयोग पैदा करना कठिन नहीं होना चाहिए, जोकि सब के लिए लाभदायक होगा। रिजर्व बैंक, व्यावसायिक बैंकों, विकास बैंकों और सहकारी बैंकों के बीच इस तरह के सहयोग और समझ-बूझ की आवश्यकता हमारे आर्थिक विकास के अन्तर्गत स्पष्ट होती जा रही है।

बम्बई : ६ सितम्बर १९६३

●

विचार ही मनुष्य को नागरिक बनाता है। इसलिए उसे अपने श्रम की अवधि का ऐसा विभाजन करना चाहिए कि रचनात्मक कार्यों के लिए समय बच सके। यह स्पष्ट है कि मनुष्य जो शक्ति खर्च कर सकता है मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उसकी सीमा होती है, परन्तु अपने लिए सरकार उसे शक्ति खर्च करने की जो अनुमति दे सकती है उसकी भी नागरिक, सामाजिक दृष्टि से सीमा होगी। जो लोग यंत्र के संचालन व उसकी देख-रेख में अपनी शक्ति खर्च करते हैं वे, जैसा कि अरस्तू ने अनुभव किया, जीवन के उच्चतम कार्यों के लिए अयोग्य हो जाते हैं, बशर्ते कि उनके पास यंत्र चलाने व उसकी देखरेख के अलावा दूसरे काम के लिए काफी अवकाश हो। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में कई घण्टों तक काम करने के कारण व्यक्तित्व में अवरुद्धता का पैदा होना एक आम बात थी और उसके परिणामों की जो जाँच की गयी उससे यह स्पष्ट हो गया है। पुरुष और स्त्रियाँ दिन भर मेहनत करने के बाद जब घर लौटते थे तो थकान के कारण उनकी सोचने-विचारने की शक्ति लुप्त हो जाती थी, यहाँ तक कि उनकी भावनाएँ भी मन्द पड़ जाती थीं। उनके यंत्र ही उनके मालिक थे। उनके पास अवकाश नहीं होता था, जिसमें वे अपने आप को पहचान सकें। वे तो केवल लगातार मेहनत के जीवन से ही परिचित थे। समुचित घण्टों तक श्रम करने का अधिकार ही मनुष्य को अपने मस्तिष्क का क्षेत्र पहचानने का अधिकार प्रदान करता है। यह मानव जाति की बौद्धिक विरासत का मूलमंत्र है।

—हॅरोल्ड जे लास्की : ए ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स

हमारी आर्थिक व सामाजिक व्यवस्था पर खादी का प्रभाव

अरुण चन्द्र गुहा

हमारी सामाजिक और आर्थिक स्थिति पर खादी तथा ग्रामोद्योग कार्यक्रम का क्या प्रभाव पड़ा है, इसका निर्णय इस दृष्टि से किया जाना चाहिए कि समाज के सबसे गरीब वर्गों को राहत प्रदान करने, उनकी मदद करने में वह किस हद तक सफल हुआ है।

भारत सरकार को खादी-ग्रामोद्योग कार्यक्रम राष्ट्र पिता की प्रत्यक्ष देन के रूप में मिला है। महात्मा गांधी के नेतृत्व में स्वतंत्रता संग्राम की समस्त अवधि में इस कार्यक्रम ने एक बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। उस वक्त प्रत्येक कार्यकर्त्ता खादी व ग्रामोद्योगों का संकल्प लिये हुए था। अतएव समग्र सरकार अथवा सरकार में उत्तरदायित्वपूर्ण पदों का भार वहन करनेवाले व्यक्तियों का इस कार्यक्रम से भावात्मक सम्बन्ध है तथा वे इसके लिए जिम्मेदार हैं। किन्तु यह कहना ठीक नहीं होगा कि भावात्मक सम्बन्ध के कारण ही हमारी सरकार ने इन उद्योगों को प्रोत्साहन देने का उत्तरदायित्व लिया है। भारत एक गरीब देश है। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व भारत की प्रति व्यक्ति आय १०० रुपये वार्षिक से कुछ अधिक थी। आज भी लाखों व्यक्ति या तो बेरोजगार हैं अथवा उन्हें बहुत ही कम रोजगार उपलब्ध है। किसी भी सरकार का यह कर्तव्य है कि वह ऐसे लाखों बेरोजगार अथवा अल्प-रोजगारी प्राप्त व्यक्तियों के लिए काम का प्रबन्ध करके उनकी प्रति व्यक्ति आय बढ़ाये। काम दिलाऊ दफ्तरों के माध्यम से शहरी बेरोजगारी के कुछ चित्र हमारे सामने हैं, किन्तु ग्रामीण क्षेत्रों की रोजगारी की स्थिति का कोई खाका हमारे सामने नहीं है, वह अनुमान का विषय ही बना हुआ है। तिस पर भी यह मालूम है कि अधिकांश ग्रामीणों के पास वर्ष में १५० दिन का ही काम रहता है और इस प्रकार उन्हें आंशिक रूप से ही काम प्राप्त हैं।

खादी-ग्रामोद्योग कार्यक्रम बनाने का यही आर्थिक और सामाजिक कारण है। जबसे हम आजाद हुए हैं, ग्रामीण बेरोजगारों तथा अल्प-रोजगारी प्राप्त व्यक्तियों को रोजगारी का वैकल्पिक साधन प्रदान करने के विचार से हम यह कार्यक्रम चलाते आ रहे हैं। लगभग १६ वर्ष तक कार्यक्रम चलाने के पश्चात् इस बात का मूल्यांकन करना समीचीन ही होगा कि हमारी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था पर इसका क्या प्रभाव पड़ा है। बड़ी दृढ़तापूर्वक ऐसा कहा जाता है कि गत १५-१६ वर्ष में समाज के सबसे निचले तबके के व्यक्तियों की वास्तविक आय बढ़ी नहीं है; हो सकता है कि रुपये-पैसे की शब्दावली में उनकी आमदनी बढ़ी हो, लेकिन जिन सेवाओं तथा सामग्री का वे उपभोग करते हैं उनकी दृष्टि से नहीं। अतएव अब इस चीज का मूल्यांकन किया जाना चाहिए कि इस कार्यक्रम ने हमारी ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के स्वरूप में क्या कोई परिवर्तन लाया है।

खादी उद्योग

खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के नवीनतम वार्षिक विवरण (१९६१-६२) से पता चलता है कि करीब १७ लाख व्यक्ति खादी कार्य में लगे हैं तथा उनमें से अधिकांश आंशिक समय का काम करनवाले हैं। इन १७ लाख व्यक्तियों में कमीशन ने १७ करोड़ से कुछ अधिक रुपये वितरित किये, इसलिए इन व्यक्तियों की प्रति व्यक्ति आय लगभग १०० रुपये वार्षिक अथवा ८.३३ रुपये प्रति माह हो सकी। जिस देश में नितल श्रेणी के लोगों की आय करीब आठ-दस रुपये मासिक ही हो,

वहाँ और आठ रुपये की आमदनी कोई नगण्य नहीं है। तृतीय योजना के प्रतिवेदन में लगाये गये हिसाब के आधार पर ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगार व्यक्तियों की कुल संख्या १ करोड़ ७५ लाख (द्वितीय योजना के अन्त में बचे करीब ६० लाख व्यक्तियों और रोजगारी चाहनेवाले नये १ करोड़ १५ लाख से कुछ अधिक व्यक्तियों सहित) होगी। यदि खादी कायक्रम ने १७ लाख व्यक्तियों को आंशिक काम और औसतन रूप से लगभग १०० रुपये प्रति व्यक्ति वार्षिक आमदनी प्रदान की है तो उसने तकरीबन १० प्रति शत ग्रामीण बेरोजगारों की मदद की है। यह कोई मामूली बात नहीं है। हाँ, इस हिसाब में जो असंख्य व्यक्ति अल्प-रोजगार प्राप्त हैं, उन्हें वस्तुतः शामिल नहीं किया गया है।

राज्य मण्डल

समग्र खादी-कार्यक्रम के अन्तर्गत १७ करोड़ से कुछ अधिक रुपये की खादी बिकी और उसी वर्ष में कमीशन ने अनुदान तथा ऋण के रूप में लगभग १८ करोड़ रुपये वितरित किये। प्रतिवेदन का अध्ययन करने पर पाठक को आश्चर्य होता है कि कमीशन ने १९६१–६२ में १७ करोड़ ९३ लाख रुपये वितरित किये और समग्र कार्यक्रम ने खादी का उत्पादन भी १७ करोड़ ५४ लाख रुपये का ही किया। कोई यह मानने के लिए उद्यत हो सकता है कि यह समग्र रकम खादी-कार्यक्रम में लगे सूतकारों और बुनकरों को राज्य की तरफ से एक प्रकार से सदावर्त के रूप में दी गयी। किन्तु मेरी दृष्टि से यह सही मूल्यांकन नहीं है; प्रति वर्ष जो वितरण होता है वह सब का सब सरकार से नहीं मिलता। इसका कुछ हिस्सा खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की कमाई होता है, जिसे खादी का बिक्री मूल्य मिलता है; और उसका कुछ हिस्सा पहले ऋण के रूप में दी गयी रकम की पुनः अदायगी के रूप में वापस मिलता है। इस सम्बन्ध में एक चिन्ताजनक बात यह है कि बकाया ऋण की रकम बढ़ती जाती है–फिलहाल ३५ करोड़ ५८ लाख रुपये बकाया हैं। यह प्रश्न उठ सकता है कि यह समूची रकम कभी वापिस आयेगी भी या नहीं।

दो वर्ष पूर्व संसद द्वारा नियुक्त अनुमान समिति ने खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के काम का मूल्यांकन किया था। उसने बताया था कि कमीशन ने राज्य खादी और ग्रामोद्योग मण्डलों को २२ करोड़ से ज्यादा रुपये दिये, लेकिन उपयोगिता प्रमाण-पत्र केवल १ करोड़ ४७ लाख रुपयों के लिए ही प्राप्त हुए। अतएव हिसाब-किताब और लेखा-परीक्षण की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि २१ करोड़ रुपयों का अब भी कोई हिसाब नहीं है। हम आशा कर सकते हैं कि राज्य मण्डल अब हिसाब-किताब और लेखा-परीक्षण सम्बन्धी कार्यों के मामले में ठीक से काम कर रहे होंगे। हमारा एक दुःखपूर्ण अनुभव यह है कि जहाँ कमीशन निष्ठापूर्वक और तहेदिल से कार्य करना चाहता है, वहाँ राज्य मण्डल वैसा ही दृष्टिकोण प्रस्तुत नहीं करते। राज्य मण्डलों के गठन और कार्य में प्रायः राजनीति की प्रधानता रहती है। हो सकता है कि कार्यक्रम के संचालन का काम राज्य मण्डलों को देने और स्वयम् कमीशन के पास मात्र रुपये-पैसे वितरित करने तथा प्रभावविहीन निरीक्षण या व्यवस्था का अधिकार रखने का निर्णय विवेकपूर्ण नहीं रहा हो।

हमें डर है कि कमीशन कभी-कभी बहुत ही विस्फुरित कार्यक्रम हाथ में लेता है। कताई, बुनाई और खादी की बिक्री कमीशन के खादी विभाग का मुख्य कार्यक्रम है; अब उसने उत्पादन और बिक्री का काम राज्य मण्डलों के पास छोड़ने का तय किया है। लेकिन हम विश्वासपूर्वक नहीं कह सकते कि कपास उत्पादन में प्रयोग व अन्वेषण के क्षेत्र में कदम रखना इसके लिए बुद्धिमानी का काम था। यह काम उपयुक्त अधिकारियों–केन्द्रीय कपास समिति और कृषि मंत्रालय–के लिए छोड़ना चाहिए था। इस काम के अनुपात के आधार पर इस बात के कारण हैं कि कमीशन को विस्तृत पैमाने पर कृषि-विषयक परीक्षण और अन्वेषण करना पड़ेगा। इन सबके लिए विशिष्ट माध्यम, संस्थाएँ हैं।

कुटीरद्योगों में शक्ति के उपयोग का प्रश्न काफी समय से विचाराधीन रहा है। जहाँ तक हम इस सम्बन्ध में गांधीजी के विचारों को समझ पाये हैं, उन्हें इस सम्बन्ध में कोई आपत्ति नहीं होती; क्योंकि प्राथमिक उत्पादक का श्रम कम करने के लिए उन्होंने किसी भी प्रकार की यांत्रिक शक्ति का समर्थन किया है। जिस महत्वपूर्ण प्रश्न पर उन्होंने बहुत जोर दिया वह यह था कि उत्पादन के साधन और उससे प्राप्त फल पर मिल्कियत कामगार की होनी चाहिए और यह कि उसे इन साधनों का गुलाम नहीं बना देना चाहिए। हाथ से सिलाई करने के स्थान पर, महिलाओं को सिलाई करने के थका देनेवाले श्रम से बचाने के लिए, सिलाई मशीन के उपयोग को तरजीह देने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी। फिर भी, ग्रामोद्योगों में शक्ति का उपयोग स्वीकार करने में कमीशन को काफी हिचक है। कुटीर उद्योगों में शक्ति के इस्तेमाल के प्रश्न पर विचार करने के लिए एक समिति नियुक्त की गयी थी। समिति ने शक्ति के उपयोग की सिफारिश की; किन्तु प्रतिवेदन से पता चलता है कि कमीशन अब भी हिचकिचा रहा है और "विकेन्द्रित आधार पर शक्ति उत्पादन अथवा जनन के लिए कदम उठाने की" कोशिश कर रहा है।

शक्ति-जनन

कमीशन का विचार है कि "स्थानीय रूप से उपलब्ध सामग्री से विकेन्द्रित आधार पर शक्ति उत्पादन को एक प्राथमिक उद्योग समझना चाहिए।" हमें डर है कि कमीशन एक कठिन मार्ग अपना रहा है, उसके सामने अनेक कठिनाइयाँ आ सकती हैं। शक्ति उत्पादन के लिए प्रायः एकाधिकृत तंत्र सरकार—उसका सिंचाई मंत्रालय तथा उसके सहायक अभिकर्त्ता—है। यह एक विशिष्ट विषय है और सस्ती कीमत पर शक्ति पैदा करने का प्रत्येक उपाय किया जाना चाहिए। इकाई जितनी ही बड़ी होगी, शक्ति जनन की लागत उतनी ही कम होने की अपेक्षा है।

कुटीरोद्योगों में एक कमी यह है कि उनका उत्पादन खर्च कारखानों के उत्पादन खर्च से अधिक होता है। लागत कम करने का एक साधन शक्ति का इस्तेमाल है। अब यदि कमीशन के विकेन्द्रित शक्ति उत्पादन के विचार को अमल में लाया जाता है तो इसका मतलब है कि कुटीर उद्योगों को बिजली के लिए अधिक खर्च वहन करना पड़ेगा। और फिर, ग्रामीण उद्योग शक्ति के विकेन्द्रित उत्पादन के लिए प्रतीक्षा करते हैं तो हमें डर है कि उन्हें काफी लम्बे समय तक इन्तजार करना पड़ेगा। कमीशन गोबर गैस और सौर ऊर्जा के उपयोग पर विचार करता आ रहा है। इस सम्बन्ध में काफी समय तक प्रचार करने के बाद अब भी यह देखना है कि ग्रामीणों को उक्त योजनाएँ कब वास्तविक सेवाएँ प्रदान करेंगी। प्रात्यक्षिक के तौर पर उत्पादन और व्यावसायिक उत्पादन के मध्य विभेद करना होगा।

निराधार भय

राष्ट्र या राष्ट्र के अपेक्षाकृत गरीब लोगों तक की अर्थ-व्यवस्था को प्रभावित करनेवाले मामलों में बहुत अधिक भावना-प्रधान या सैद्धान्तिक होने से कोई लाभ नहीं है। कमीशन को यह महसूस नहीं करना चाहिए कि बड़ी इकाइयों की शक्ति का कुटीरोद्योगों में इस्तेमाल करने से वे दूषित हो सकते हैं। इस सम्बन्ध में सर्व प्रधान विचार यह होना चाहिए कि शारीरिक श्रम तथा उत्पादन लागत कम हो और फलस्वरूप ग्रामीण कारीगर को कुछ आराम मिले एवम् अधिक प्राप्ति हो। मानवीय श्रम को उचित प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए और उसे पशुवत श्रम नहीं समझना चाहिए।

हम ने खादी के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है वह प्रायः अन्य सभी ग्रामोद्योगों पर समान रूप से लागू हो सकता है। हम सोचते हैं कि खादी की अपेक्षा हाथ कागज में शक्ति का उपयोग अधिक आवश्यक है; साबुन उत्पादन में भी शक्ति के इस्तेमाल से अच्छे फल प्राप्त हो सकते हैं। यह शंका पैदा हो सकती है कि शक्ति के प्रयोग से कार्यक्रम की रोजगारी देने सम्बन्धी क्षमता कम हो जायेगी। किन्तु वस्त्र तथा अन्य उपभोक्ता सामग्री

की अपेक्षाकृत कम पूर्ति होने की वजह से इस प्रकार का डर न्यायोचित नहीं हैं। इसके सिवाय बिजली के प्रति जो आपत्ति है उसी आधार पर 'गियर' और 'बाल बियरिंग' सहित चार या छः तकुओं के अम्बर चरखों से भी बचना चाहिए था।

अम्बर चरखा

चरखे में सुधार करने के लिए कमीशन ने अनेक प्रयोग किये हैं। अम्बर चरखा कार्यक्रम के भविष्य का मूल्यांकन करना लाभप्रद होगा। करीब चार लाख अम्बर चरखे वितरित हुए हैं। उनमें से दो लाख के करीब चरखे निष्क्रिय पड़े हैं। कमीशन अब उन्हें छः तकुओंवाले चरखों में बदलने और चलाने में हल्के तथा आसान बनाने के लिए उनकी बनावट में कुछ सुधार करने की भी सोच रहा है। ऐसा करने से उत्पादन तथा आमदनी बढ़ सकेगी। इन पुराने चरखों को फिर से दूसरे नमूनों में बदलने का कार्यक्रम चलाने से पूर्व यह देखना बेहतर होगा कि अन्ततोगत्वा कहीं अच्छी किस्म के नये चरखों का उत्पादन करना तो सस्ता नहीं पड़ेगा। रचनात्मक काम करनेवाले प्रमाणित संगठनों से पुराने अम्बर चरखे वापिस लेने के लिए कहा गया है, लेकिन वे सभी ऐसा करने में हिचकिचा रहे हैं।

अम्बर चरखे को उच्च उत्पादकता और अधिक लाभदायक आय करवानेवाले बेहतरीन चरखे के रूप में बड़ी आशावादिता के साथ प्रारम्भ किया गया था। 'गियर' और 'बाल बियरिंग' से युक्त तथा चलाने में आसान हो, ऐसे चरखे के लिए आज भी व्यापक क्षेत्र व गुंजाइश है। यदि आवश्यक हो तो इस प्रकार के चरखे में शक्ति का उपयोग किया जा सकता है। ऐसा करने पर हमें कुटीर उद्योग स्तर पर चलाने के लिए एक प्रकार का कताई यंत्र मिल जायेगा। बुनाई में शक्ति का प्रयोग करने के प्रति अब भी प्रतिरोध है। हम मानते हैं कि हाथ करघे के स्थान पर शक्ति करघे का अर्थ है कार्यक्रम की रोजगारी देने की क्षमता में कमी; किन्तु हम सोचते है कि कपड़े की कोई बहुत अधिक पूर्ति न होने के कारण इस प्रकार का डर परिपूर्णतः न्यायसंगत नहीं है।

यह सच है कि रोजगारी के पहलू का महत्व है; लेकिन इसके साथ ही इस बात का भी समान महत्व है कि काम में लगे व्यक्ति को उस काम से लाभदायक आय का प्राप्त होना सुनिश्चित हो। कमीशन इस सवाल पर विचार कर सकता है कि शक्ति चालित करघों के साथ शक्ति से चलाये जानेवाले कताई यंत्र को कुटीर उद्योग का आधार माना जा सकता है या नहीं। हमें अपना कार्यक्रम इस मान्यता पर आधारित नहीं करना चाहिए कि निकट भविष्य में ही बेरोजगारी के परिणाम में कमी नहीं होगी। फिलहाल उचित मूल्य पर उपभोक्ता सामग्री की पूर्ति करने का भी बहुत बड़ा महत्व है। खादी और ग्रामोद्योग कार्यक्रम को उस दिशा में अवरोधक नहीं बनना चाहिए।

यह स्मरण रखना चाहिए कि भारत की अर्थ-व्यवस्था इस वक्त एक संघर्ष से होकर गुजर रही है। संघर्ष है उच्च उत्पादन खर्च और वस्तुओं की अपर्याप्त पूर्ति से। इन दोनों बातों से ही ऊँची कीमतों को प्रश्रय मिलता है। इसका परिणाम होता है रहन-सहन का मँहगा हो जाना। उच्च उत्पादन लागत का एक कारण है बेरोजगारी या अल्प-रोजगार प्राप्त व्यक्तियों को काम प्राप्त कराने की आवश्यकता। इसके लिए पूंजी-प्रधान उद्योगों के समक्ष श्रम-प्रधान उद्योग कार्यक्रम है। पूंजी-प्रधान उद्योग सस्ती कीमत पर सामान मुहैया कर सकते हैं, लेकिन श्रम-प्रधान उद्योगों का सहज अर्थ है अपेक्षाकृत अधिक लागत।

आर्थिक दृष्टि से प्राणवान

द्वितीय योजना-काल में भारत सरकार ने खादी और ग्रामोद्योगों पर ८७ करोड़ से कुछ अधिक रुपये खर्च किये। इनमें से ६८ करोड़ ६८ लाख रुपये अकेली खादी पर खर्च हुए। तृतीय योजना में खादी व ग्रामोद्योगों के लिए ९२ करोड़ रुपये का प्रावधान है। यह एक बड़ा निवेश है। जैसा कि कमीशन के अनुक्रमिक

वर्षों के प्रतिवेदनों से पता चलता है, इस निवेश से उत्पादन भी प्रायः उसके बराबर ही होगा। इससे अन्य उत्पादनों के कुल लागत खर्च और सरकार की कराधान नीति पर भी प्रभाव पड़ता है। हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि खादी में निष्ठा रखनेवाले हमारे बुजुर्ग नेतागण धीरे-धीरे कम होते जा रहे हैं; नये व्यक्तियों का कार्यक्रम के साथ उनके समान ही भावात्मक लगाव नहीं होगा। इसलिए अब वह समय है कि कार्यक्रम को आर्थिक दृष्टि से प्राणवान आधार पर प्रतिष्ठापित किया जाय।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं खादी और ग्रामोद्योगों का कार्यक्रम सरकार ने मात्र राष्ट्र पिता की देन के रूप में हाथ में नहीं लिया बल्कि हमारे सर्वाधिक गरीब वर्ग की आर्थिक स्थिति सुधारने के उपाय के रूप में भी। अब इस बात का निर्णय करना है कि राष्ट्र के सर्वाधिक गरीब वर्ग को यह कार्यक्रम कहाँ तक राहत पहुँचाने में समर्थ हुआ है। कोई यह कह सकता है कि न केवल समग्र राष्ट्र, बल्कि सबसे गरीब वर्ग के भी सामाजिक तथा आर्थिक जीवन पर खादी व ग्रामोद्योगों का इतना प्रभाव नहीं पड़ा है कि उससे तृतीय योजाना के पाँच वर्ष में उन पर ९२ करोड़ रुपया खर्च करने का औचित्य सिद्ध हो। बड़े उद्योगों के हिमायती कह सकते हैं कि इन ९२ करोड़ रुपयों की लागत से उपभोक्ता सामग्री का उत्पादन करने के लिए सरकार कुछ कपड़ा मिलें तथा कारखाने स्थापित कर सकती है। फिलहाल कपड़े और अन्य उपभोक्ता सामग्री की जो कमी है, उससे कीमतें बढ़ी हैं। उपभोक्ता सामग्री की कीमतें बढ़ना सरकार के लिए गम्भीर समस्या है। उपभोक्ता सामग्री की कमी दूर करने और फलस्वरूप उनकी कीमतें कम करने के लिए, कोई कह सकता है कि सरकर को इस बात पर विचार करना चाहिए कि क्या उसे ऐसे कार्यक्रम में इतनी बड़ी रकम रोकनी चाहिए, जहाँ उत्पादन अपेक्षाकृत कम होगा; और क्या अपेक्षाकृत अधिक फलप्रद विनियोजन करके उपभोक्ता सामग्री की कमी दूर करने में सहायता नहीं करनी चाहिए।

कमीशन तथा खादी व ग्रामोद्योगों के समर्थकों को इस सम्बन्ध में विश्वास दिलाना पड़ेगा कि इन कार्यक्रमों से उपभोक्ता सामग्री—खास करके ग्रामीणों की कपड़े सम्बन्धी—की कमी दूर करने में वास्तव में काफी सहायता मिलेगी। न केवल स्थापित उद्योग वरन् समग्र कार्यक्रम आर्थिक ृष्टि से प्राणवान हो, इस पर अधिक ध्यान देना चाहिए। हमारी जनता के सबसे गरीब व्यक्तियों के लिए यह कार्यक्रम है। जनता की विकासोन्मुख उच्चाकांक्षाओं के अनुसार ये व्यक्ति भी अपना जीवन-यापन कर सकें, वैसे ही रह सकें, उनके साथ कदम मिला कर चल सकें—ये सब सुनिश्चित करना हमारा कर्तव्य होना चाहिए।

नयी दिल्ली : ७ सितम्बर १९६३

कर्म युग में अंधभक्ति बिल्कुल बेकाम है, प्रायः आकुल करनेवाला है और उतना ही दुखदायी भी।

—महात्मा गांधी

खादी किस ओर ?

ध्वजा प्रसाद साहू

विस्तृत पैमाने पर खादी कार्य का विस्तार करने के लिए जन-बल तैयार करना होगा। जनता को इसके विकास का उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर लेने के लिए प्रोत्साहित करके यह काम हो सकता है। मुफ्त बुनाई का नया प्रस्ताव और ग्राम इकाई कार्यक्रम कार्यकर्त्ताओं को इस दिशा में आगे बढ़नेके लिए अपना पुरुषार्थ दिखाने का अवसर प्रस्तुत करते हैं।

पिछले महीने श्री गांधी आश्रम का वार्षिक अधिवेशन अकबरपुर (जिला फैजाबाद) में हुआ था। आश्रम की ओर से जो प्रतिवेदन पेश किया गया उससे प्रकट हुआ कि पिछले वर्ष के लिए खादी उत्पादन और बिक्री का जितना अनुमान किया गया था, वह पूरा हुआ। फिर भी, अगले वर्ष का जो अन्दाजा लगाया गया था, उसमें काम बढ़ाने का कार्यक्रम नहीं था। सारे देश की खादी संस्थाओं का प्रायः यही हाल है। पुरानी बड़ी-बड़ी संस्थाओं की शक्ति सीमा पर पहुँच गयी हैं और वे काम बढ़ाना नहीं चाहतीं। नयी संस्थाओं के पास कार्यक्षम कार्यकर्त्ताओं का अभाव रहता है, खादी बिक्री की परेशानी रहती ही है, इसलिए उनके काम नहीं बढ़ते। कम्बलों के उत्पादन में यथेष्ठ वृद्धि हुई है, जिन्हें सेना के इस्तेमाल के लिए संस्थाएं बनाती हैं। सूती खादी का उत्पादन बड़ी धीमी गति से कहीं-कहीं बढ़ रहा है। ऐसा कहना गलत नहीं होगा कि खादी उत्पादन की गति ठिठक-सी गयी है। इस स्थित में खादी की गति को देख कर इसके भविष्य के बारे में चिन्ता होती है। कहावत है जो लड़का न बढ़ता है और न मोटा होता है वह मर जाता है। तो क्या खादी का भी वही हाल होनेवाला है ?

रिबेट कोई हल नहीं

खादी संस्थाओं के बहुत-से जिम्मेवार व्यक्तियों की यह राय है कि आज जो प्रति रुपया बीस नया पैसा रिबेट दिया जाता है, उसको क्रमशः बढ़ाते जाना चाहिए, जिससे खादी सस्ती हो और उत्पादन बढ़ाया जा सके। यह सोचने की बात है कि जब मिल के कपड़े से खादी का दाम दुगुना-तिगुना और उससे भी ज्यादा है तो रिबेट बढ़ाते जाने से क्या खादी स्थायी बन सकती है और क्या सरकार को इतनी रकम देने के लिये तैयार कियाजा सकता है ? मैं समझता हूँ कि जब तक बुनियादी दृष्टि से इस पर विचार नहीं किया जायेगा, तब तक चाहे जितनी भी रिबेट की रकम बढ़ाई जाय—जिसकी प्राप्ति की बहुत कम सम्भावना है—खादी की जड़ मजबूत नहीं बन सकती। खादी के लिए आज जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित है। इस पर खादी प्रेमियों को गंभीरता से विचार करना चाहिए और मजबूती के साथ ठोस तथा क्रांतिकारी कदम उठाना चाहिए।

मुफ्त बुनाई

खादी का विकास आज जिस मंद गति से हो रहा है उससे आचार्य विनोबा भावे को संतोष नहीं है और वे यह अनुभव करते हैं कि बिना क्रांतिकारी कदम उठाये खादी को जीवित नहीं रखा जा सकता। इसीलिए वे खादी संस्थाओं को रिबेट छोड़ने के लिये सलाह दे रहे हैं। पड़ोसी के लिये त्याग करने की भावना यानी 'पड़ोसी धर्म' के पालन पर ही खादी टिक सकती है। इसे जिन्दा रखने के लिए वही भावना एक मात्र इसका सहारा हो सकती है। नवद्वीप में विनोबाजी के सम्मुख खादी संस्थाओं के प्रतिनिधियों ने रिबेट छोड़ने की तत्परता बुनाई सहायता देने की शर्त पर दिखलाई। विनोबाजी ने

मध्यम मार्ग समझ कर उसे मंजूर किया। उसमें उन्हें दीख पड़ा कि खादी की प्रगति पर्याप्त मात्रा में हो सकेगी। वे मानते हैं कि बुनाई सहायता से खादी व्यापक बन सकती है और व्यापकता से शक्ति पैदा होगी। आज की खादी अपने अथवा जनता के बल पर नहीं चल रही है। खादी आज बापू के पुण्यार्थ और सरकार की कृपा से चल रही है। खादी के प्रसार के लिए जनता की शक्ति का आवाहन् करना होगा। इसके लिए संस्थाओं का स्वरूप बदलना होगा, जिसके लिए संस्थाओं के पास काफी जन-बल है। आवश्यकता है संस्थाओं के संचालक खादी के काम को जनता के हाथ देदेने, सौपने का संकल्प करें और उसके लिए तैयारी करें। बुनाई सहायता पुरुषार्थ करने का काफी मौका दे रही है।

कार्यकर्त्ताओं की भूमिका

आज देश में हजारों संस्थाओं द्वारा करीब एक लाख गाँवोंमें खादी का काम हो रहा है। कुल मिला कर ३०–३५ हजार खादी कार्यकर्त्ता सारे देश में फैले हुए हैं। मेरा अन्दाज है कि इनमें से २०–२५ हजार कार्यकर्त्ता ऐसे निकल सकते हैं जो एक-एक करके पांच हजार आबादीवाली एक-एक पंचायत में सघन रूप से चर्खे का प्रचार कर सकते हैं और खादी का विचार जनता को समझा कर जो खादी गाँव में बनेगी उसका अधिकांश हिस्सा वहीं खर्च हो, इसकी दीक्षा दे सकते हैं। गाँव में उद्योग देकर बेकारी निवारण करने की जिम्मेवारी ग्राम पंचायतों की है, यह समझाना आवश्यक होगा। पंचायत स्तर पर संस्था खड़ी हो और उसकी जिम्मेवारी गाँव के लोग लें, इस भावना से खादी कार्यकर्त्ताओं को काम करना होगा। जिन बीस-पच्चीस हजार कार्यकर्त्ताओं का ऊपर उल्लेख किया गया है, उनमें से बहुत-से लोग गाँवों के रहनेवाले होंगे। वे अपनी-अपनी पंचायतों की जिम्मेवारी ले सकते हैं और अड़ोस-पड़ोस के गाँवों में अपने उदाहरण से वातावरण बना सकते हैं। जन-शक्ति को जगाने और उसे संगठित करने के दूसरे कारगर उपाय भी सोचे जा सकते हैं। मैंने जो सुझाव दिये हैं, वे थोड़े-बहुत अनुभव के आधार पर दिये हैं, लेकिन मेरी दृष्टि में आज की स्थिति को कायम रखना खादी के विकास के लिए घातक होगा। हम लोगों को सोचना होगा कि खादी को जनता का बल किस प्रकार प्राप्त हो।

कमीशन का **ग्राम इकाई** कार्यक्रम इस दिशा में जाने का एक ठोस कदम है। यद्यपि इकाइयों का लक्ष्य बहुत ऊँचा रखा गया है, जहाँ तक पहुँचने में काफी समय की आवश्यकता है। फिर भी, प्रारम्भ में प्रगति का जो मापदण्ड इकाइयों के लिए निर्धारित किया गया है वह केवल इकाई के अन्दर रहनेवाले प्रति व्यक्ति एक गज खादी के इस्तेमाल का ही है। नयी इकाइयों में इस छोटे-से कार्यक्रम को भी पूरा करन में समय लगेगा। उसे प्रत्येक खादी संस्था अपने उत्पादन केन्द्र के गाँवों में आसानी से पूरा करती हुई जनता को जिम्मेवारी उठाने के लिए प्रेरित कर सकती है।

जहाँ कताई, वहीं बुनाई

बुनाई की छूट से संस्थाओं के ऊपर एक बड़ी जिम्मेवारी इस बात की आ जाती है कि जहाँ कताई हो वहाँ बुनाई का भी प्रबन्ध किया जाय। यह काम कठिन अवश्य है, पर दु:साध्य नहीं। जहाँ पेशेवर बुनकर हैं, वहाँ यह आसान है। लेकिन जहाँ पर पेशेवर बुनकर नहीं हैं, वहाँ पर नये व्यक्तियों को बुनाई का काम सिखाना होगा। पहले का अनुभव यह रहा है कि जिन लोगों ने यह काम सीखा उन्होंने इसे अपना पेशा नहीं बनाया। इससे बहुत लोगों को शंका होती है कि यह कार्यक्रम सफल होगा या नहीं। इसके विपरीत दूसरा भी अनुभव है कि कई लोगों ने यह काम सीखा और वे अच्छी तरह से उसे (बुनाई) कर रहे हैं। ऐसे व्यक्तियों का चुनाव करना होगा जिनको काम की भूख हो। बिना भूख के काम लादने से असफलता ही हाथ लगती है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हजारों अम्बर चरखों का बैठ जाना है। कठिनाइयाँ अनेक हैं, लेकिन साथ ही पुरुषार्थी आदमी को कोई भी कठिनाई आगे बढ़ने से नहीं रोक सकती।

पटना : २० अगस्त १९६३

खादी का भविष्य

रामकृष्णराव कृ. पाटिल

खादी जब तक समुदाय के जीवन का अविभाज्य अंग नहीं बन जाती, तब तक वह जीवित नहीं रह सकती। व्यापारिक खादी के लिए बहुत ही सीमित क्षेत्र है।

खादी-कार्य के पीछे अंततः क्या उद्देश्य है? क्या इसका उपयोग जीवन के नये मूल्यों को लेकर नये समाज की रचना करने के साधन के रूप में किया जाने-वाला है अथवा जरूरतमंद लोगों को रोजगारी, खासकर सहायक धंधा, मुहैया करने के रूप में ही इसका उपयोग है? इस कार्य सम्बन्धी स्पष्ट धारणा का अभाव ही भ्रम उत्पन्न करने और खादी कार्यकर्त्ताओं के बीच के मतवैभिन्य के लिए भी जिम्मेवार है। निरुत्तर हो जाने पर उनमें से कुछ लोग कहते हैं कि उनका उद्देश्य तो रोजगारी या सहायक धंधे के रूप में खादी-कार्य करने का है; खादी को नये समाज के नये मूल्यों का वाहक बनाने की जिम्मेवारी अखिल भारत सर्व सेवा संघ या दूसरी संस्थाएँ उठायें। परंतु इस तरह जो लोग दलील करते हैं, वे यह महसूस नहीं करते कि इस दृष्टि से तो वे गांधीजी के नाम का उपयोग करने और इस प्रकार से व्याख्यित खादी के साथ उस नाम को जोड़ने के हकदार नहीं हो सकते।

नव संस्करण

प्रारंभ में सन् १९२० से १९२९ के काल में जब खादी-कार्य आरंभ हुआ, गांधीजी की इस काम के पीछे जो भी दृष्टि रही हो, बाद में, सन् १९४० के पश्चात् जब उन्होंने खादी कार्य का नवसंस्करण किया, तब उनके सामने खादी संबंधी लक्ष्य बिल्कुल स्पष्ट था। जब उन्होंने कहा कि "कातो, समझ बूझ कर कातो, जो काते वह पहने और जो पहने वह काते..." आदि, तो यह बात स्पष्ट थी कि खादी से सम्बन्धित नयी दृष्टि के बारे में उनका मंतव्य क्या है। वे चाहते थे कि शांतिमय सामाजिक परिवर्तन के साधन के रूप में खादी-कार्य किया जाय, जो हमें अहिंसक अर्थात् शोषण-रहित समाज की स्थापना की दिशा में अग्रसर करेगा। यही मूल है और जो खादी कार्यकर्त्ता पूर्ववत खादी कार्य जारी रखना चाहते हैं, वे शीघ्रातिशीघ्र इस बुनियादी बात को समझ लें। तब न सिर्फ वे अपनी अन्तर्निहित कमजोरी का अनुभव कर सकेंगे, बल्कि कदाचित वे वैकल्पिक उद्देश्य के संबंध में विचार करने और उसको परखने की ओर भी प्रवृत्त हो सकेंगे।

मूल्यांकन समिति का दृष्टिकोण

जब खादी की मूल्यांकन समिति ने खादी कार्य की प्रगति के बारे में अपना विवरण पेश किया, और कुछ आलोचकों की राय में खादी के उत्पादन और वितरण के क्षेत्र में हुई भारी प्रगति के लिए खादी और ग्रामोद्योग कमीशन तथा खादी कार्यकर्त्ताओं को यथोचित श्रेय देने में वह असफल रही तो मौजूदा उपलब्धियों पर निर्णय देने की बनिस्वत उसे (समिति को) खादी काम के भविष्य के बारे में ही विशेष रूप से अपनी राय प्रकट करनी थी। उसकी मुख्य आलोचना यह थी कि खादी-कार्य एक तो कुछ परंपरागत क्षेत्रों तक ही सीमित हो गया है और दूसरे, वहाँ भी ग्रामीण समाज के जीवन से वह एकरूप नहीं हो सका है। उसने अनुभव किया कि खादी का भविष्य तभी सुरक्षित रह सकता है जब वह ग्राम जीवन से पूर्णतः एकरूप हो जाय। यही मत पूसा सम्मेलन द्वारा प्रकट किये गये वक्तव्य में भी स्वीकार किया गया। उसमें कहा गया कि खादी-कार्य को नया

मोड़ दिया जाना चाहिए, ताकि उससे बुनियादी बातों का समाधान हो सके। इसीलिए ग्राम इकाई का कार्यक्रम बना और वर्तमान खादी-कार्य सघन रूप से स्थापित ग्राम इकाइयों को हस्तांतरित करने का निर्णय किया गया।

उद्देश्यों से सम्बन्धित इन दृष्टि भेदों के बारे में अब मैं चर्चा नहीं करूँगा। मैं यह मानता हूँ कि जिनके मन संदिग्धावस्था में हैं, उन्हें भी यदि यह कहा जाय कि जैसा काम आज वे कर रहे हैं, उसमें वे गांधीजी के नाम का उपयोग तो नहीं कर सकते, तो इसमें वे कुछ तथ्य ही अनुभव कर सकेंगे। परन्तु नये उद्देश्यों की हार्दिक स्वीकृति भी विशेष उपयोगी तब तक नहीं बन सकती, जब तक इस बात की स्पष्ट अनुभूति न हो जाये कि इस नये दृष्टिकोण की उपलब्धि के लिए खादी कार्य का पुनरुत्थान किस प्रकार से होना चाहिए। नया समाज क्या है और उसके नये मूल्य कौन से हैं? इस नये समाज में शोषण नहीं होगा और नये मूल्य वे हैं, जिनके अनुसार सामाजिक रूप में उपयोगी सभी कार्यों का पारिश्रमिक समान या करीब-करीब समान होना चाहिए, ताकि इस समाज के सदस्य अन्य लोगों की तरह ही रह सकें। अर्थात्, अन्नोत्पादन, वस्त्रोत्पादन, तेल-उत्पादन, बढ़ईगिरी, लुहारी आदि कामों में समान रूप से पारिश्रमिक दिया जाय, क्योंकि ये सभी काम समाज-जीवन बनाये रखने की दृष्टि से समान रूप से आवश्यक हैं। "उपयोग के लिए उत्पादन" का सही अर्थ यही है।

ग्रामदान के साथ सम्बंध

एक समाज अपनी आवश्यकताओं के लिए उत्पादन करता है और जो लोग उत्पादन करते हैं, वे उसमें हिस्सा बँटाते हैं। इससे कुछ निष्कर्ष पर आना पड़ता है। सर्वप्रथम, सबमें सामाजिक भावना होनी चाहिए। इसीलिए, पश्चिम बंगाल के नवद्वीप स्थान में खादी कार्यकर्त्ताओं के सामने बोलते हुए विनोबाजी ने अपने भाषण में बहुत ही स्पष्ट रूप से कहा था कि खादी कार्य का तब तक कोई भविष्य नहीं है, जब तक कि वह खेती के साथ न जुड़ जाय। खादी का अर्थ केवल रोजी के लिए कताई या स्थानीय रूप से कपड़े का उत्पादन और खपत नहीं है। प्राथमिक रूप से वह समाज द्वारा अपने निज के उपयोगके लिए किया हुआ वस्त्रोत्पादन है। यह विचार अमल में लाने की दृष्टि से जरूरी है कि समाज के मुख्य साधन-स्रोत समुदाय के ही पास हों। अब, जब तक कि मनुष्य के पास उसकी अपनी भूमि है, वह समाज के विरुद्ध भी उसे अपने पास रखता है। परन्तु एक बार समाज को भूमि दे देने के बाद वह समाज के लिए ही उसकी देखभाल करता है। वस्तुतः फिर यह बात कोई खास महत्व की नहीं रह जाती है कि दान के पहले एवं पश्चात् उसकी भूमि-सीमा में क्या परिवर्तन होता है और किस हद तक वह अपनी जमीन में दूसरों के साथ हिस्सा बँटाता है। अगर, वह ऐसा नहीं भी करता है, तो भी यह तथ्य कि अब वह समाज के लिए भूमि रखता है, उसके दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन ला देता है। पहले वह 'अपनी' भूमि जोतता था। अब वह समाज की भूमि को जोतता है। अब भी उसके अपने लिए भूमि की जुताई तो जारी ही है, परन्तु जैसा कि विनोबाजी बारबार कहते हैं, समाज को भूमिदान करना ही अपने आप में एक ऐसी सामाजिक चेतना जागृत करा देता है, जिसको और भी आगे विकसित करते रहना आवश्यक है। इसीलिए वे इस बात पर जोर देते हैं कि ग्रामदानी गाँवों में खादी कार्य प्राथमिकता के आधार पर शुरू हो जाना चाहिए। और, यदि वह अन्यत्र भी चल रहा हो, तो वहाँ भी उसे बंद नहीं करना चाहिए। परंतु आवश्यकता केवल इस बात की है कि कार्यकर्त्ता यह समझें कि वह कार्य सिर्फ अपने बल पर नहीं टिक सकता और देर-अबेर उसे भूदान-आधारित होना ही है। अतः व्यवहार में खादी-कार्य को भूदान और ग्रामदान और भूदान-ग्रामदान को खादी के प्रचार के साथ-साथ चलना ही होगा।

अल्प उपयोगार्थ उत्पादन

समाज का अपने निज के उपभोग के लिए वस्त्रोत्पादन ही इस बात की एकमात्र गारंटी है कि उसकी उत्पादन की लागत के बारे में बहुत अधिक सतर्कता बरते

बिना भी यह कार्य सतत जारी रह सकता है। एवं केवल इन्हीं परिस्थितियों में ही यह खुले बाजार में मिल कपड़े की प्रतिस्पर्धा में खड़ा रह सकता है। कोई भी किसान अपने घर में उत्पादित चावल या गेहूँ की लागत देखने नहीं बैठता। इसी तरह, जहाँ समाज ने अपना कपड़ा खुद बनाना तय किया कि वह स्वाभाविक रूप से उसके पास उपलब्ध सभी उच्चतम कुशल साधनों से लाभ उठाएगा; परंतु इसके उपरांत, वह इस बात की फिक्र नहीं करेगा कि इन वस्त्रों के उत्पादन की लागत क्या आती है और इन कपड़ों का बाजार-भाव क्या है। जैसा कि स्वर्गीय डॉ. जे.सी. कुमारप्पा अक्सर कहा करते थे, 'हम जब हलुवा खाना चाहते हैं, तो हम उसे तैयार करके खा लेते हैं। हम यह नहीं देखने जाते कि उस पर हमें क्या लागत बैठी और न हम यही तुलना करते हैं कि बाजार से यह हमें किस कीमत पर प्राप्त हो सकता था।'

काल्पनिक जगत

समाज द्वारा निर्मित कपड़े के उत्पादन के बारे में भी यही स्थिति आनी चाहिए। यहाँ फिर समाज का ही निर्णय महत्वपूर्ण है। क्योंकि केवल उन परिस्थितियों में ही, जिनमें समाज यह तय करता है कि अपने लिए वह अन्न और वस्त्र का उपयोग करेगा, इस तरह का तरीका उपयोगी हो सकता है। समाज का इस प्रकार का निर्णय कार्यरूप में तभी आ सकता है, जब श्रम-विभाजन के सिद्धांत का अनुसरण किया जाय। समाज में कुछ लोग अन्नोत्पादन करेंगे, तो कुछ लोग वस्त्रोत्पादन करेंगे। दूसरे कुछ लोग मिट्टी के वर्तन बनायेंगे। ऐसे यह प्रक्रिया चलती रहेगी। परंतु चूंकि कुम्हार को अन्न-वस्त्र की जरूरत है और किसान को वर्तन और कपड़ों की तथा बुनकर को अनाज और वर्तन की, इसलिए सबका उत्पादन हरेक अपनी आवश्यकतानुसार पायेगा। यह व्यवहार में, वस्तुओं के आदान-प्रदान के रूप में भी चल सकेगा या पारिश्रमिक तय करके मुद्रा-विनिमय के रूप में भी। आलस्य और निठल्लेपन को रोकने के लिए उत्पादन की मात्रा के साथ पारिश्रमिक को जोड़ना होगा। लेकिन यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाना चाहिए कि समाज के भीतर, समाज द्वारा निर्मित वस्तुओं के लिए बाजार की व्यवस्था होगी।

इसका अर्थ होता है, व्यक्ति के पारिवारिक जीवन का ऐसा विस्तार, जिसमें समस्त ग्राम-समुदाय समाविष्ट हो जाय। पर क्या यह कभी संभव भी है ? और अगर यह संभव है, तो इसमें और सामूहिक (कलेक्टिव) जीवन के बीच क्या अंतर रहेगा ? पहले प्रश्न का उत्तर निश्चयात्मक रूप से देना जरा कठिन है। ऐसे कुछ गाँवों की ओर, जहाँ ग्रामदान के पश्चात इस प्रकार घटित हुआ है संकेत करके ही इसकी मिसाल दी जा सकती है। इन गाँवों में तो यहाँ तक देखा गया है कि ग्राम समुदाय के वे सदस्य, जिन्हें गाँव के बाहर रोजगारी प्राप्त थी, उन्होंने अपने ग्राम-समुदाय द्वारा निर्धारित वेतन स्वीकार किया और अपनी उस आय की शेष रकम ग्राम-समुदाय को अर्पित कर दी। यह सब कुछ काल्पनिक या अव्यावहारिक दिखाई दे सकता है। एक अर्थ में यह ऐसा है भी।

इजरायल में ऐसी ही करीब ३०० बस्तियाँ अपने आर्थिक जीवन का उत्तरोत्तर विकास करती जा रही हैं और वे गत ४० वर्षों से वहाँ विद्यमान हैं। इस कार्य की पृष्ठभूमि में जो आदर्शवादिता है, उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता; परंतु यह उदाहरण इस बात की ओर संकेत करता है कि अन्यत्र भी ऐसे प्रयोग हो रहे हैं। आदर्शवादिता के दृष्टिकोण से सभी परिवर्तन–मुख्यतया सामाजिक और आर्थिक संगठन में क्रांतिकारी परिवर्तन–हमेशा आदर्शवादी ही दिखाई देते हैं, खासकर उन लोगों को, जिनके दिमाग नये अपेक्षित परिवर्तनों को ग्रहण करने के लिए तैयार नहीं हैं। इस अर्थ में, भूदान, ग्रामदान और ऐसे ही अन्य नये परिवर्तन, जैसे कि सहकारी खेती का कार्यक्रम, आदर्शवादी महसूस हो सकते हैं। परंतु सिर्फ इसी कारण उद्देश्य को तो नहीं छोड़ देना चाहिए।

इच्छा स्वातंत्र्य

पर स्पष्टतया ऐसे समुदाय (कम्युनिटी) में और सामूहिकता (कलेक्टिव) में अन्तर होगा। दोनों में समानता

इतनी ही है कि दोनों में ही व्यक्ति सामाजिक नियम-व्यवस्था, खासकर अपने आर्थिक जीवन के नियम, स्वीकार करता है। परंतु व्यक्ति द्वारा इसकी स्वेच्छापूर्वक स्वीकृति के अलावा, समुदाय अपना आर्थिक जीवन अपने इच्छानुसार, आयोजित करने में भी स्वतंत्र रहेगा, जो कि सामूहिकता से सर्वथा भिन्न होगा, जो 'राज्य' के नाम से पहचाने जानेवाले विशाल समुदाय के लाभ के विचार से ही नियंत्रित होता है। अर्थात् इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि समुदाय के हित तथा क्रिया-कलाप सदैव राज्य के हितों व क्रिया-कलाप से विपरीत होंगे। फिर भी, समुदाय मुक्त व्यवसाय के विचारों से मार्ग-दर्शित होकर अपने उत्पादन और खपत का आयोजन खुद करने में स्वतंत्र होगा।

दोषपूर्ण आयोजन

कुछ खादी-कार्यकर्त्ताओं का मत है कि अम्बर चरखे के आगमन ने खादी तकनीक में ऐसा क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिया है कि अब खादी का उत्पादन और बिक्री बड़े पैमाने पर हो सकेगी। पर यह दृष्टिकोण खादी के बृहत् उत्पादन और बिक्री के विचार पर अधिक आधारित है, न कि समुदाय के जीवन के साथ खादी को एकात्म करने के विचार पर। इस पर भी इस दावे में बहुत अतिशयोक्ति है और, इस धारणा को अंगीकार करने के फलस्वरूप ही, दोषपूर्ण आयोजन हुए हैं। खादी-कार्य के लिए इससे बढ़कर क्लेशकारी और नैतिक अवनति की बात और क्या हो सकती है कि विशाल संख्या में अम्बर चरखे उत्पादन केंद्रों में बेकार पड़े हैं।* शायद ही भविष्य में उनका उपयोग ठीक से हो सकेगा और संभवत: रद्दी माल के रूप में वह बेच देना होगा। अम्बर चरखा यद्यपि अधिक रोजगारी दे सकता है और खादी की कीमत घटा सकता है, फिर भी अम्वर खादी और मिल के सामान्य कपड़े के दाम में अब भी इतना अधिक अंतर है कि एक अधिकतम मर्यादा के पश्चात् संभवत: वह बाजार में नहीं खपायी जा सकेगी। और, इस धारणा की भी, कि अम्बर चरखे का काम बढ़ाने से कताई द्वारा काफी हद तक रोजगारी की समस्या को हल किया जा सकता है, कुछ सीमाएँ स्पष्ट हैं। अम्बर चरखे तक पहुँच जाने मात्र से कताई को पूरक रोजगारी देनेवाले धंधे की स्थिति पर से नहीं हटाया जा सकता, क्योंकि इसको बाजार में लाने के लिए अभी भी राज्य की सहायता अपेक्षित रहेगी।

केवल कताई से नहीं

और जब कि प्रत्यक स्वस्थ व्यक्ति को रोजगारी देने की जिम्मेदारी राज्य की मान ली गयी है, तब ऐसी रोजगारी केवल कताई के जरिये ही दी जानी चाहिए, ऐसा कहना एक सर्वथा भिन्न बात होगी। राज्य के पास रोजगारी मुहैया करने के अलग-अलग कई क्षेत्र हैं। वह इस बात पर जोर दे सकता है कि जहाँ तक सारे स्वस्थ लोगों का संबंध है, अन्य सभी उपायों का पूरा उपयोग ले लेने के पश्चात् ही, कताई रूपी साधन का उपयोग रोजगारी के लिए किया जा सकता है। अतएव यह शर्त, कि अम्बर चरखे पर कता सभी सूत सरकार को ऐसे दामों पर खरीद ही लेना चाहिए कि जिनसे सूतकारों को पूरा जीवन वेतन मिल जाय, सरकार द्वारा तभी स्वीकार की जा सकती है, जब ऊपर बतायी हुई स्थिति आ जाय। अत: इस निष्कर्ष पर पहुँचना अनिवार्य हो जाता है कि खादी--कार्य कमोबेश ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का स्थायी अंग तभी और केवल तभी बना रह सकता है, जब हर ग्रामीण समुदाय यह स्वीकार

---

*पिछले दो वर्षों में, जितना संभव हो सका, कमीशन ने इन बेकार पड़े अंबर चरखों मे से अधिकतम् चरखे चालू करने की दृष्टि से कई कदम उठाये हैं। अन्य योजनाओं के साथ-साथ उस योजना का भी उल्लेख यहाँ कर देना उचित होगा, जिसके अनुसार अंबर चरखों के नवीनीकरण की प्रक्रिया के साथ उन्हें हलका बनाने के भी प्रयत्न किये गये हैं और जहां सूतकारों द्वारा अधिक घंटों तक सूत कातने की स्थिति हो, वहां मौजूदा ४ तकुओं के अंबर चरखों का रूपांतर ६ तकुओंवाले चरखों मे भी किया जाता है। दिनांक ३१ जुलाई १९६३ तक कमीशन ने ऐसे २६,७०५ चरखों का नवीनीकरण कर लिया है और १०,५०१ चार तकुएवाले चरखों को ६ तकुएवाले चरखों में बदल दिया है।

—सम्पादक

कर ले कि चरखा एक ऐसा साधन है, जो उसे वस्त्र दे सकता है और इसलिए वह उसे ग्राम समाज की अन्य आर्थिक प्रवृत्तियों में मिला लेता है।

खादी के उद्देश्य

कुछ विचार करने पर यह दिखाई देगा कि ऐसी एकरूपता या समग्रता चालू पारिवारिक अर्थ-व्यवस्था के स्थान पर सामुदायिक अर्थ-व्यवस्था की स्थापना का निर्देश करती है। उत्पादन और वितरण की व्यवस्था अन्य समुदाय द्वारा ही आयोजित होनी चाहिए, न कि आज की तरह व्यक्तिगत रूप से। खादी-कार्य को ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का स्थायी अंग बनाने के पूर्व उपर्युक्त परिवर्तन ग्रामवासियों के मानस में लाना होगा। ऐसा ही उत्पादन राज्य की सहायता के बिना अपने पैरों पर खड़ा रह सकता है, जबकि केवल रोजगारी देनेवाली खादी अपने अस्तित्व के लिए राज्य की सहायता पर और महात्मा गांधी द्वारा इसके लिए किये गये पुराने प्रयत्नों पर ही निर्भर रहती है। ये दो स्थितियाँ जब तक रहेंगी, तब तक ही खादी टिक सकेगी।

उत्पादन और विक्री में अस्थायी वृद्धि हो जाने और खादी भंडारों के स्थान पर खादी भवन बन जाने से ही खादी कार्यकर्त्ताओं को अपनी कार्यपूर्ति की गलतफहमी नहीं होनी चाहिए। खादी-कार्य के मूल उद्देश्य की यह पूर्णता नहीं है; वह तो, जैसा कि ऊपर कहा गया है, नये मूल्यों सहित नये समाज के निर्माण करने का कार्य है। महात्मा गांधी का यही स्वप्न था, जो अब तक अपूर्ण रहा है। ऐसे कुछ क्षेत्र, जहाँ समुदाय ने खादी को अपना वस्त्रभरण पूरा करने के एक साधन के रूप में स्वीकार कर लिया और फिर अपने ग्रामीण जीवन के साथ उसे एकरूप बना लिया है, खादी के आदर्श को अधिक अच्छी तरह प्रचारित कर सकेंगे, न कि कृत्रिमता से बढ़ा हुआ उत्पादन और करोड़ों रुपयों की खादी की बिक्री। इससे तो खादी कार्यकर्त्ताओं में स्वार्थों की प्रवृत्ति उत्पन्न हो गयी है। और जो मूलभूत उद्देश्य उनके सामने सतत रहना चाहिए था, उसके बारे में उनमें संभ्रांति पैदा हो गयी है।

नागपुर : १८ जुलाई १९६३

हमारे आनन्द और अवसाद सही मानी में ऐतिहासिक घटनाएँ है जो कि, राजनीतिक इतिहास में कितने भी छोटे क्यों न हों, सामूहिक रूप से भविष्य के परीक्षण हेतु अत्यावश्यक हैं। अधिकारों के कार्यकारी सिद्धान्त का अर्थ है कि हमें अधिकार दिये जाते हैं ताकि हम अपनी सामाजिक विरासत में और अभिवृद्धि करें। हमें पाने का नहीं, करने का अधिकार है। माना कि हमारा समाज कल्याण कोष में योगदान कम अथवा अधिक होगा, फिर भी योगदान के माध्यम तो रहेंगे ही।

—हॅरोल्ड जे. लास्की : ए **ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स**

खादी का मिशन

झवेरभाई पटेल

खादी अपने वर्तमान रूप में हमारी अर्थ-व्यवस्था की बुनियादी और आवश्यक समस्याओं को हल करने में असफल रही है। विनोबाजी इसे **अकाली खादी** कहते हैं। खादी कार्य का संगठन इस रूप में किया जाना चाहिए कि उससे कारीगरों का ज्ञान, शक्ति और चैतन्य बढ़े। ऐसा अस्तित्व के लिए उनके संघर्ष को कम करके ही किया जा सकता है। हमारे गाँवों को भी बड़ी और प्राणवान आकार की कार्यकारी इकाइयों में पुनर्गठित करना होगा ताकि ग्रामीणों का दृष्टिकोण व्यापक बने और उन्हें विकास के अवसर प्राप्त हों।

अब वह समय आ गया है जब खादी के सिद्धान्त पर फिर से रौशनी डाली जाय। सन् १९४७ में गांधीजी ने कहा था "बहुत-से रचनात्मक कार्यों पर अब तक राजनीति से अलग रह कर अमल किया जाता रहा है। कांग्रेस के हुकूमत में आने के बाद, मंत्रीगण अगर चाहते तो अपने अनुभवों (रचनात्मक कार्यकर्त्ता की हैसियत से) का फायदा उठा सकते थे और अब तक जो कुछ वे प्रयोग के रूप में करते रहे, उसे मुल्क भर में फैला सकते थे।" दो पंच वर्षीय योजनाओं की अवधि में खादी कार्यक्रम को अमल में लाने का हमने १० साल से ऊपर का तजुरबा हासिल किया है और अब हम इस स्थिति में आ गये हैं कि इस बात की जाँच कर सकें कि खादी के मिशन को पूरा करने में यह कार्यक्रम कहाँ तक प्रगति कर सका है अथवा सही दिशा में चल भी रहा है या नहीं।

खादी का असल मिशन क्या है? खादी की 'श्रुति' और 'स्मृति' क्या हैं? क्या समय-समय पर खादी कार्यक्रम इस मिशन की रौशनी में बनाये और मूल्यांकित किये जाते हैं?

अधूरा विचार

गांधीजी ने खादी की श्रुति की व्याख्या एक स्पष्ट सूत्र में की है—**खादी कपड़ा नहीं, विचार है**। स्पष्टतः, अपने समय की स्थिति की सीमाओं के अन्दर वे अपने सूत्र की पेचिदगियों की पूरी गणना नहीं बैठा सके। उस समय के हालात के मुताबिक वे सिर्फ सीधी-सादी उत्पादन-तक्नीक और किसी रूप में संगठन खड़ा करने का पहला कदम ही उठा सके।* गांधीजी का खयाल था कि एक कदम ही उनके लिए काफी है। इसमें कोई शक नहीं कि पहला कदम काफी महत्वपूर्ण था, लेकिन वह आखिरी कदम नहीं था—यहाँ तक कि बिचला कदम भी नहीं था। ये कदम काफी खोज और तजुरबे के जरिये उठाये जाने चाहिए थे। पर ऐसा लगता है कि हम पहले कदम से ही चिपटे हुए रहने की कोशिश में लगे हैं और नये तजुरबे करने की हम में हिम्मत नहीं है। मौजूदा अवस्था की सबसे बड़ी वजह यह है कि खादी के मूल्य या मूल्यों को उस सामाजिक ढांचे के सन्दर्भ में पूर्ण स्वरूप देना अब भी शेष है जो उन मूल्यों को कायम और जिन्दा रख सके। विचार अधूरा होने के कारण आगे के कदम असम्भव हो जाते हैं और स्वभावतः समूचा खादी कार्यक्रम उस प्रथम कदम की रौशनी में ही बनाया जा रहा है, जो गांधीजी ने उठाया था। इस वजह से खादी-आन्दोलन का आगे बढ़ना रूक-सा जाता है। इसलिए विचार को पूर्ण स्वरूप देना अर्थात् '**पूर्ण पश्यत मा अंशम्**' की स्थिति प्राप्त करना खादी आन्दोलन की बुनियादी जरूरत हो गयी है।

"आज का इन्सान एक धोखा खाया हुआ इन्सान

* गांधीजी ने एक कार्यक्षम चरखे की ईजाद के लिए एक लाख रुपये के इनाम की घोषणा की थी।

है–उसे बहुत-से ऐसे राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक और तकनीकी पुरोहितों ने धोखा दिया है जिनमें हर एक अपने धंधे का उस्ताद और कूप मण्डूक बना हुआ है।"*

कार्यकर्त्ताओं तक ही सीमित

खादी आन्दोलन के जरिये जिस समाज-व्यवस्था की कल्पना की गयी थी उसकी साफ तस्वीर न होने की वजह से लाजिमी तौर पर इसकी नीति और कार्यक्रम अंश के दृष्टिकोण से ही चलते जा रहे हैं। खादी कार्यकर्त्ता अन्य विशेषज्ञों की तरह कुछ पहलुओं तथा कामों में पूरे माहिर हो जाते हैं और उनके ढर्रे पर ही काम करते हैं। इसमें कोई ताज्जुब नहीं कि खादी आन्दोलन आज भी लोक आन्दोलन की बजाय खादी कार्यकर्त्ताओं का आन्दोलन ही बना हुआ है। बड़े दबाव के अन्तर्गत इसको चलाया जा रहा है और अब भी जनता रूपी जमीन में इसे जड़ पकड़ना बाकी है। इसे जनता के जेहन में उतरना भी बाकी है, क्योंकि वे अब भी ऐसा ही समझते हैं कि यह कार्यक्रम खादी कार्यकर्त्ताओं के जज्बात की तसल्ली के लिए है, न कि जन-साधारण की समस्याओं को हल करने के लिए। इसकी व्याख्या और व्यवस्था 'अंश' के आधार पर ही की जाती है। इसका पूरा भविष्य समझ सकने में जनता असमर्थ है। उत्पादन की तकनीक के बारे में जो विवाद उठ खड़ा होता है उसमें भी 'अंश' वाले दृष्टिकोण का बहुत बड़ा हाथ है। पारम्परिक चरखे की जगह अम्बर चरखे अपनाने के कार्य में भी काफी विरोध का मुकाबला करना पड़ा। इस विवाद में कभी-कभी एक पहलू पर इतना ज्यादा जोर दिया जाता है कि 'पूर्ण' नजरअन्दाज हो जाता है और कभी-कभी हालात की कठिनाइयों को आदर्श मान लिया जाता है।

माध्यम

आम तौर से कुछ आर्थिक और सामाजिक मूल्य, जैसे गाँवों की आत्म-निर्भरता और सामाजिक न्याय आदि, खादी कार्यक्रम के साथ जुड़े हुए हैं। खादी कार्यकर्त्ताओं से यह भी उम्मीद की जाती है कि वे खादी कार्यक्रम के जरिये इन मूल्यों का भी प्रचार करेंगे। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अध्यक्ष श्री उ. न. ढेबर भी यही चाहते हैं कि खादी कार्यकर्त्ता नैतिक मूल्यों को बढ़ावा दें। गांधीजी के व्यक्तित्व के जोरदार असर की वजह से, जिसका उनके कार्यक्रम के जरिये जनता पर काफी प्रभाव है, हम लोग इन मूल्यों का प्रचार करने में इस व्यक्तिगत तत्व के महत्व पर जोर देने के आदि हो गये हैं; किन्तु मौजूदा परिस्थितियों में, खास कर, इस असर की सीमाओं को महसूस करना मुनासिब होगा।

कार्यक्रम का स्वरूप

कार्यकर्त्ताओं की स्थिति के बारे में खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के सदस्य श्री ध्वजा प्रसाद साहू का कहना है कि "पहले के दिनों में किसी संस्था में खादी कार्यकर्त्ताओं के बीच भाई-चारे और बन्धुत्व का वातावरण रहता था; लेकिन अब उनकी तादाद बढ़ने के साथ ही पुराने रिश्ते टूटते जा रहे हैं और उनकी जगह व्यवस्थापकीय नियंत्रण के विचार आते जा रहे हैं जिसके कारण उस रिश्ते-नाते का बदलना लाजिमी है। खादी आन्दोलन के पीछे विचार यह था कि सूतकार, बुनकर, तथा अन्य कारीगरों का एक परिवार हो। खादी संस्थाओं की व्यवस्था में अब इस खयाल की कोई गुंजाइश नहीं रही और अब कारीगरों के साथ मजदूरी पानेवालों का सा सलूक किया जा रहा है।" अब ऐसी स्थिति आ गयी है कि खादी कार्यकर्त्ताओं ने संस्थाओं के साथ अपने सम्बन्धों को नियमित रखने के लिए अपने संघ बना लिये हैं। कारीगरों और संस्थाओं के बीच के रिश्ते अब बिल्कुल कारवारी ढंग के हो गये हैं। इन परिस्थितियों में ऐसी उम्मीद करना कि खादी संस्थाएँ या उनके कार्यकर्त्ता नैतिक मूल्यों का प्रचार करें, खामखयाली के अलावा और क्या हो सकता है!

खादी कार्यकर्त्ताओं के व्यक्तिगत असर से ज्यादा भरोसे का जरिया खादी कार्यक्रम का स्वरूप है। कार्यकर्त्ता

* रेने फुएर: **कृष्णमूर्ति–दि मैन एण्ड हिज टीचिंग।**

भी कार्यक्रम से ही प्रेरणा लेते हैं। इससे भी बढ़ कर बात यह है कि कार्यक्रम के स्वरूप के मुताबिक ही कार्यकर्त्ता उसमें शामिल होते हैं। अगर कार्यक्रम प्रेरणा उत्पन्न करनेवाला हुआ तो वह रचनात्मक और मेधावी कार्यकर्त्ताओं को सिर्फ अपनी ओर खींचने और उन्हें प्रेरणा देने का ही काम नहीं करता, बल्कि जनता पर भी भरपूर असर डालता है। क्या मौजूदा खादी कार्यक्रम में ऐसा कोई आकर्षण है ? लोगों की नजर में ऐसा लगता है कि खादी आन्दोलन अपने मौजूदा रूप में स्थिर हो गया है। ऐसा लगता है कि यह मौजूदा सामाजिक ढाँचे की सीमाओं के भीतर काम कर रहा है। सूत-कताई, जो खादी उत्पादन में सबसे ज्यादा तादाद में रोजगारी मुहैया कर रही है, किसानों तथा अन्य लोगों को खाली वक्त के धंधे के रूप में दी जा रही है और वह भी मुस्तकिल नहीं। अभी तक इसे पूरे समय के धंधे के रूप में विकसित नहीं किया जा सका है कि कृषि की तरफ से हट कर अधिकाधिक तादाद में लोग इसकी ओर आकर्षित हों। इसलिए खादी, कृषि को सहकारी खेती के रूप में बदलने की दिशा में कोई मदद नहीं पहुँचाती, जिसकी वजह से श्रम-शक्ति फाजिल रह जाती है। राहत पहुँचाने के अलावा आर्थिक शक्ति के विकेन्द्रीकरण के मामले में अब तक खादी प्रभावकारी नहीं रही। गाँव और शहर के बीच की असमानता और विभेद को दूर करने में भी इसका शायद ही कुछ असर पड़ सका हो। और, न तो खादी के धंधे ने पढ़े-लिखे बेरोजगारों को राहत पहुँचाने में ही कोई मदद की है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान रूप में खादी का हमारी अर्थ-व्यवस्था की बुनियादी और बड़ी समस्याओं से कोई ताल्लुक नहीं है।

बदलता हुआ तरीका

खादी कार्यकर्त्ताओं ने समय-समय पर कार्यक्रम के सम्बन्ध में बेचैनी महसूस की है और उसे जाहिर भी किया है। कुछ ने तो खादी कार्यक्रम को सरकार की पंच वर्षीय योजनाओं के एक अंग के रूप में चलाने की बुद्धिमानी तक पर भी शंका प्रकट की है। लेकिन यह देखने की बात है कि सरकार ने कार्यक्रम के स्वरूप या परम्परा को नहीं बदला है। श्री कृष्णदास जाजू ने योजना आयोग के सामने खादी की जो पहली पंच वर्षीय योजना पेश की वह सरकारी सहायता के बल पर खादी कपड़े के उत्पादन के विस्तार के अलावा और कुछ नहीं थी। विनोबाजी इसे 'अकाली खादी' कहते हैं। फिर खादी कार्यकर्त्ताओं ने जब अपने दिलों को टटोला तो **नया मोड़** का मशहूर फार्मूला सामने आया, जो १९५८ में चालीसगाँव (महाराष्ट्र) सम्मेलन में स्वीकृत किया गया। यद्यपि इस नये फार्मूले ने खादी को ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के समग्र विकास की योजना का एक अंग मान लिया है; लेकिन कुछ तो खादी और ग्रामोद्योग कमीशन अधिनियम की पाबंदियों की वजह से और कुछ ऊँची तकनीक–जिन्हें अब माध्यमिक तकनीक कहा जाता है और जो वाकई खादी को अन्यान्य विकासशील अर्थ-व्यवस्था से मिला देंगी–को अपनाने में कार्यकर्त्ताओं की हिचक की वजह से खादी कार्यक्रम अब भी अलग-थलग ही चल रहा है। अब एक बिल्कुल ताजातरीम फार्मूला बिक्री पर दिये जानेवाले रिबेट की जगह पर बुनाई-सहायता लागू करने से ताल्लुक रखता है। इसके जरिये देहाती क्षेत्रों में खादी उत्पादन के विस्तार पर कुछ असर तो पड़ सकता है, लेकिन जहाँ तक सामाजिक ढाँचे को बदलने का ताल्लुक है, यह कार्यक्रम के स्वरूप को शायद ही बदल पायेगा।

मिशन

खादी आन्दोलन को गांधीजी क्या मूल्य देते थे? सन् १९४६ में श्री जवाहरलाल नेहरू के साथ परामर्श करते हुए गांधीजी ने "मनुष्य के सर्वोच्च बौद्धिक, आर्थिक, राजनीतिक और नैतिक विकास" को खादी आन्दोलन का लक्ष्य या मिशन बताया था। उन्होंने यह भी कहा था कि "इसमें सबको बराबर के अधिकार और मौका मिलना चाहिए।" इस आन्दोलन के जरिये वे एक ऐसे वर्गहीन **सर्वोदय समाज** की स्थापना करना

चाहते थे, जिसमें मनुष्य का संतुलित शारीरिक, मानसिक और आत्मिक विकास हो सके।

हमारे समाज में वर्ग-विभेद की जड़ क्या है? गीता में वर्णित चारों वर्णों के कर्तव्य-विभेद में उसकी जड़ मिलती है। गीता ने ब्राह्मणों और क्षत्रियों के कर्म क्रमशः विद्या-अर्जन, पठन-पाठन और पुरोहिती तथा शासन, युद्ध और राजनीति वाह्य कर्म के रूप में नहीं, बल्कि अन्तर चारित्रिक रूप में बताये हैं।* वैश्य और शूद्र के कर्म वाह्य कर्म के रूप में बताये गये हैं और इस विभेद का गंभीर महत्व है। प्रथम दोनों वाह्य कर्मों को आंतरिक मूल्यों के विकास के लिए क्षेत्र और साधन के रूप में लेते हैं। अंतिम दोनों प्रायः निष्कासित कर दिये गये हैं और वे अपने कर्मों के चारित्रिक मूल्यों से अधिक वाह्य मूल्यों से चिपके हुए हैं। एक बार कर्मों के विभेद के जरिये व्यक्तित्व के विकास में इस तरह का विभेद आ जाने दिया जाय तो बेहतर से बेहतर राजनीतिक व्यवस्था भी उसे कभी दूर नहीं कर सकती। वास्तविक समानता तो व्यक्तित्व के विकास के लिए अवसर की समानता है। ब्राह्मणों और क्षत्रियों को एक ओर जहाँ यह अवसर मिलता है, वहाँ खास कर शूद्रों को बाध्य हो कर शारीरिक मेहनत करनी पड़ती है। शारीरिक आवश्यकताओं, जीवन के प्रति मोह तथा समाज द्वारा निर्धारित किसी न किसी रूप में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष विवशताओं ने उसके पशुवत आलस्यपूर्ण जीवन पर कठिन कामों का बोझ लाद रखा है। समाज के लिए वह पसीना बहाता है, पर उसकी प्रगति में उसकी कुछ भी देन नहीं है। वह अपनी मेहनत और मेहनताने से ही संतुष्ट है।

इस दृष्टिकोण से क्या आज के खादी कारीगर उन शूद्रों की तरह महज वाह्य मूल्यों के लिए ही काम नहीं कर रहे हैं? खादी आन्दोलन के सामने यही तो आज एक वास्तविक चुनौती है। क्या यह उन्हें अन्तर्मुखी बना सकता है? इसीसे उनका सर्वोच्च विकास होना चाहिए। यही खादी का असली मिशन है: '**स्त्रियों वैश्यास्तथा शूद्राः**।' यथा, जो विवश हो कर हर दम कठिन मेहनत करते रहते हैं और जो सिर्फ वाह्य मूल्यों के लिए ही कार्य करते हैं, इसलिए अविकसित ही रह जाते हैं उन्हें खादी आन्दोलन में अपने कर्मों का रूपान्तर मिलना चाहिए, जो उन्हें अपने आंतरिक मूल्यों के लिए काम करने में समर्थ बनाये।

अलग अलग आत्माएं नहीं

श्री अरविन्द के कथानुसार अलग-अलग आत्माएँ– एक आत्मा ज्ञान की, दूसरी आत्मा शक्ति की, तीसरी आत्मा उत्पादन शक्ति की और चौथी आत्मा सेवा की– नहीं हैं। वे यह भी नहीं मानते कि चौथी आत्मा को क्रमान्तर जीवन में तीसरी और दूसरी आत्माओं से होकर पहली आत्मा में आना पड़ता है। सच तो यह है कि प्रत्येक आत्मा में ज्ञान, शक्ति, उत्पादन-शक्ति और सेवा, ये चारों होते हैं, जिनमें कोई ज्यादा होता है कोई कम। मनुष्य के इन आंतरिक पहलुओं तथा वाह्य कार्यों के बीच गहरे ताल्लुकात हैं। अगर सही तौर पर किया जाय तो शूद्र के काम भी ज्ञान को विकसित करते हैं; शक्ति बढ़ाते हैं; उत्पादन-शक्ति को सुदृढ़ करते हैं और कौशल की वृद्धि करते हैं। यही सारा सवाल है। कार्यों को किस तरह सही ढंग से किया जाय? इस समस्या का हल निकालना ही खादी आन्दोलन का मिशन है। यह हल भी व्यक्तित्व का सर्वोच्च विकास और वर्गहीन समाज का निर्माण होना चाहिए, जिसमें इस तरह के विकास के लिए सदृश वातावरण उपस्थित हो।

खादी कार्य को किस तरह संगठित किया जाय कि खादी कारीगरों के अन्दर ज्ञान, शक्ति और उत्पादन-शक्ति की वृद्धि हो? क्या खादी अपने मात्र भौतिक

---

* **शमो दमस्तपः शौचम् क्षान्तिरार्जवमेवच।**
ज्ञानं विज्ञानमास्तिकयं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥
शौर्यं तेजोधृतिर्दाक्ष्यं युद्धेचाप्यपलायनम्।
दानमीश्वर भावश्च क्षात्रंकर्म स्वभावजम्॥
कृषि गोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्
पारिचर्यात्मक कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥

पहलुओं से ऐसा कर सकने में समर्थ हो सकेगी ? जमाने से इस कार्य में लगे हुए खादी कारीगरों की अवस्था से कोई ऐसा सबूत नहीं मिलता। भौतिक वस्तुओं से ज्यादा महत्वपूर्ण इसकी स्थापना या इसका संगठन है—वैज्ञानिक और तकनीकी, सामाजिक और दार्शनिक—जिसके अन्तर्गत कार्य किये जाते हैं। कार्यकर्त्ता का अंतर्मुखी या बहिर्मुखी होना, वह आंतरिक मूल्यों के लिए काम करता है या बाह्य मूल्यों के लिए, सब कुछ, उसी संगठन पर निर्भर करता है। यह संगठन क्या है जो कार्यकर्त्ता को आंतरिक मूल्यों के लिए अंतर्मुखी बना देता है ? संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि इसमें (१) अस्तित्व के लिए कोई संघर्ष नहीं है; (२) वर्ग-संघर्ष नहीं है; और (३) सादा जीवन तथा उच्च विचार है। पहली शर्त विज्ञान और तकनीक के विकास से ताल्लुक रखती है, दूसरी सही किस्म के सामाजिक संगठन से और तीसरी जीवन के उपयुक्त दर्शन से।

विज्ञान और तकनीक

अरविन्द बाबू ने कहा है कि "कोई भी अभौतिक सभ्यता जीवित नहीं रह सकती। भौतिकता और जीवन यानी प्राण मानव का वास्तविक आधार है। संसार के समस्त बौद्धिक तर्क, समस्त नैतिक आदर्शवादिता और अध्यात्मवादिता, जिसे मानव-विवेक समझ सकने में समर्थ है, हमारी जीव्यता और भौतिक बुनियाद की वास्तविकता तथा दावे को विलुप्त नहीं कर सकती और न जाति को प्रकृति की अलंघनीय विवषता के अन्दर अपने उद्देश्य तथा अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रयास करने या अपनी बड़ी समस्याओं को मानवीय लक्ष्य, अभिरुचि तथा प्रयासों का बड़ा और आवश्यक अंग बनाने की प्रवृत्ति से रोक सकती है।"

इसी प्रयास में मनुष्य ने विज्ञान तथा तकनीक के विकास के लिए लगातार कोशिशें की हैं, ताकि अस्तित्व के लिए संघर्ष की भीषणता कम हो सके। यही बुनियादी सवाल है। जिस हद तक इसमें सफलता मिलती है, मनुष्य अपने उच्च व्यक्तित्व के विकास की चेष्टा के लिए स्वतंत्र होता है, किन्तु विपरीतावस्था में जीवित रहने के लिए निरंतर संघर्ष करते-करते उसकी क्षमता और सामर्थ्य का ह्रास हो जाता है।* इसी दृष्टिकोण से उत्पादन और उत्पादकता का विशेष मूल्य है। आंशिक दृष्टि से देखने पर हाथ से होनेवाले कार्य का कुछ सीमित महत्व है, लेकिन व्यक्तित्व विकास के पूरे दृष्टिकोण से सबसे अधिक विचारनीय सवाल है विज्ञान और तकनीकी सहायता से अधिक उत्पादन के जरिये जीवन-संघर्ष की भीषणता कम करना। विनोबाजी की राय में मनुष्य को स्वयम् तथा अपने ऊपर निर्भर व्यक्तियों के भरण-पोषण के लिए रोजाना पांच घण्टे से अधिक उत्पादक-कार्य में लगा रहना आवश्यक नहीं होना चाहिए। और, इस भरण-पोषण में सिर्फ आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति ही नहीं, बल्कि ऊँचे जीवन की आवश्यकताएँ भी शामिल होनी चाहिए। उत्पादकता का स्तर इतना ऊँचा होना चाहिए कि इस तरह के जीवन-यापन के अतिरिक्त बचत भी हो सके, जिसकी समाज की प्रगति के लिए निहायत जरूरत है। जीवन-यापन की ऐसी परेशानियों से मुक्त होने पर मनुष्य अंतर्मुखी हो सकता है।

हाथ के काम पर अधिक जोर प्रायः आदर्श के साथ बेरोजगारी की व्यावहारिक समस्या को उलझा देता है। अगर पहले आदर्श के बारे में सफाई हो जाय, तो समस्त तथ्यों—जैसे समस्त संभाव्यताओं के विकास के जरिये विकासशील अर्थ-व्यवस्था और हमारी जनता के उठते हुए व्यक्तित्व के अनुकूल उपभोग और सेवाओं की वृद्धि आदि—को नजर में रखते हुए व्यावहारिक प्रश्न का वैज्ञानिक हल निकाला जा सकता है। इसके लिए लचीलेपन तथा प्रयोग का रास्ता अपनाने की जरूरत है।

खादी कार्यकर्त्ताओं के अन्दर अनेक वर्षों के विचार-विमर्श और दिल की खोज के बाद अब एक ठोस मतैक्यता स्थापित हो गयी है कि खादी और ग्रामोद्योगों की कुछ प्रक्रियाओं को, खास कर जो उत्पादन के लिए गत्या-

---

* **संसारर्णव लङ्घनक्षमधियांवृत्तिः कृता सा नृणाम।**
यामन्वेषयतां प्रयान्ति रूततं सर्वे समाप्तिं गुणाः॥

वरोध बनी हुई हैं, यंत्रीकृत कर दिया जाय। बहुत-से खादी कार्यकर्त्ता भी इस बात को नहीं जानते होंगे कि उसी करघे पर अंबर चरखे के सूत की बुनाई का खर्च मिल के सूत की बुनाई से ३५ नये पैसे अधिक पड़ता है। ऐसा इसलिए होता है कि हाथ-धुनाई प्रक्रिया के दोषपूर्ण होने की वजह से अम्बर सूत का गुण खराब होता है। इस प्रकार खादी उद्योग में धुनाई मुख्य गत्यावरोध है जिसका यांत्रीकरण होना चाहिए। अगर खादी-उत्पादन का लक्ष्य गाँवों की आत्म-निर्भरता है तो इस गत्यावरोध को दूर कर देना सर्वाधिक महत्वपूर्ण और आवश्यक कार्य है।

किसी धंधे को बुद्धिमत्तापूर्ण अपनाना बहुत आवश्यक शर्त है; क्योंकि यही कार्यकर्त्ता को अंतर्मुखी और आंतरिक मूल्यों के लिए कार्य करने में समर्थ बनाता है। आज हमारे समस्त उत्पादक धंधे–जिनमें खादी, कृषि तथा पशु-पालन भी सम्मिलित हैं–एक तरह से नियमित कार्य हो गये हैं, जिनसे कोई आंतरिक मूल्य नहीं निकलता, वरन् सिर्फ बाह्य मूल्यों के लिए ही उन्हें चलाया जाता है। और, चूंकि अंतः प्रेरणा की गतिशील शक्ति और वैज्ञानिक ज्ञान की भी कमी है, इसलिए बाह्य मूल्यों को भी नुकसान उठाना पड़ता है। स्वामी विवेकानन्द ने हमारी इस गिरी हुई हालत का कारण हमारी जनता का 'तमस्' बताया है। इजराइल की ग्राम-बस्तियों का सबसे बड़ा सबक यही है कि कार्यकर्त्ताओं का सिर्फ विकसित व्यक्तित्व ही अर्थ-व्यवस्था को विकसित कर सकता है। इजराइल के समस्त किसानों को कृषि धंधे में आने से पहले वैज्ञानिक प्रशिक्षण दिया गया–वैसे उनके मामले में यह बात भी है कि उनमें से कोई भी परम्परा से किसान नहीं था इसलिए वैसा करना उनके लिए एक आवश्यकता थी। इजराइल की विकास सेवाओं के अन्तर्गत वहाँ के किसानों को सिर्फ अच्छे किस्म के बीज, खाद, सरंजाम तथा कीट-नाशक दवाओं का ही उपयोग नहीं बताया जाता, बल्कि उन्हें कृषि के सभी क्षेत्रों का ज्ञान भी कराया जाता है और जिन्दगी की आम दिलचस्पी के विषय में, जैसे पुष्टिकर भोजन, सहकारिता तथा दर्शन आदि, शिक्षा भी दी जाती है, जहाँ पुरुषों के साथ महिलाएँ भी बराबर का भाग लेती हैं। इन ग्राम-बस्तियों में पुरुष और नारी दोनों का मानसिक स्तर मैंने काफी ऊँचा पाया। वहाँ का पुरुष वर्ग उत्पादक-कार्यों में सहकारिता या स्वयं सेवी भाव से लगा रहता है और महिलाएं भी घर के कामों के अतिरिक्त आपसी सहायता, सहकारी दुकानें, शिक्षा, खेल तथा क्रीड़ा-मैदान आदि समस्त ग्राम-सेवा कार्यों को स्वयं-सेवा के आधार पर सम्भालती हैं। इजराइल बहुत छोटा देश है, इसलिए वहाँ के गाँव बिखरे हुए, अलग-थलग नहीं हैं। पर हमारे लिए सबसे बड़ी दिलचस्पी की बात यह है कि उनका जीवन कुछ इस तरह का है कि उनके अन्दर सांस्कृतिक बिलगाव भी नहीं है।

खादी आन्दोलन की सफलता, दरअसल, इस बात से आंकी जायेगी कि अपने गाँवों के भौगोलिक और सांस्कृतिक बिलगाव को दूर करने में हम कहाँ तक सफल होते हैं। इस प्रकार तकनीक और नयी तालीम–कोई भी पेशा और कार्य बौद्धिक तथा वैज्ञानिक ढंग से करना–दो ऐसे महान तथ्य हैं जो **'स्त्रियों वैशावस्यता शूद्रा'** को अंतर्मुखी बनने और आंतरिक मूल्यों के लिए काम करने के लिए अभिप्रेरित करते हैं।

सामाजिक ढाँचा

वह आदर्श समाज जिसमें मनुष्य अंतर्मुखी हो सकता है, एक परिवार का विकसित रूप है। मनुष्य को इतना सक्षम होना चाहिए कि वह दृष्टिकोण के विस्तार और उच्च प्रेरणा के लिए 'संघं शरणं गच्छामि' की भावना से समाज में प्रवेश करे। मनुष्य को चिंताओं से मुक्त करने के लिए यह समाज रोजगारी, शिक्षा और स्वास्थ्य के लिए सामाजिक सुरक्षा प्रदान करता है और इस प्रकार वे हालात तैयार करता है कि मनुष्य अंतर्मुखी बन जाय। चूंकि प्रतिस्पर्द्धात्मक अर्थ-व्यवस्था मनुष्य को बहिर्मुखी बनाती है, इसलिए यह समाज सहकारी अर्थ-व्यवस्था को अपनाता है जिसमें स्वयं रोजगारी की पूरी गुंजाइश रहती है। लोगों की मेहनत के फलों को

संग्रहीत करनेवाला व्यापार परिपूर्ण रूप से सहकारी विभाग को सौंपा जा सकता है। सामूहिक उत्पादन की जगह इस तरह का समाज गांधीजी के शब्दों में "जन साधारण द्वारा विकेन्द्रित उत्पादन का संगठन करता है।" अगर केन्द्रित और विकेन्द्रित दोनों व्यवस्थाएँ विज्ञान और तकनीक से पूरा फायदा उठायें तो विकेन्द्रित व्यवस्था में उत्पादन अधिक होगा, क्योंकि जहाँ केन्द्रित व्यवस्था सिर्फ सर्वाधिक सक्षम इकाई से ही उत्पादन का काम लेती है और अन्य इकाइयों को काम से अलग रखती हैं, वहाँ विकेन्द्रित व्यवस्था समस्त प्राप्य साधन व स्रोतों का पूर्ण उपयोग करती हैं और कुल उत्पादन में प्रत्येक* का कुछ न कुछ योग रहता है। इस तरह का समाज, वाकई-कल्याणकारी समाज होगा, जिसमें स्वयं-रोजगारी से पर्याप्त आय होगी और सार्वजनिक सम्पत्ति के सहारे पर्याप्त मात्रा में सामाजिक सेवाएँ उपलब्ध होंगी।

गाँवों का पुनर्गठन

मौजूदा स्वरूप में, हमारे गाँव उपर्युक्त कल्पना के आधार पर जीवन संचार की प्रेरणा लेने की शायद ही आशा कर सकें। वे इतने बिखरे हैं कि आधुनिक सुविधाओं और सेवाओं की आशा भी नहीं कर सकते। अपने मानसिक स्तर को ऊपर उठाने के लिए तथा विकास के अवसर विस्तृत करने के लिए उन्हें अपने को अपेक्षाकृत काम की दृष्टि से सप्राण इकाइयों के रूप में पुनर्गठित करना पड़ेगा। राजनीतिक दायरे में उनके इस तरह के संगठन जिला परिषदों के रूप में हैं। आर्थिक दायरे में उन्हें उपयुक्त सहकारी संगठन बनाने पड़ेंगे जो प्रतिस्पर्द्धा को समाप्त कर स्थानीय साधनों–प्राकृतिक और श्रम-शक्ति–को समस्त सदस्यों के समान लाभ के लिए पूर्ण वैज्ञानिक उपयोग का अवसर देंगे। इस तरह की सहकारी व्यवस्था के अन्तर्गत उद्योग की बड़ी इकाइयाँ उत्पादन की छोटी इकाइयों के पोषक केन्द्र या सेवा केन्द्र की तरह चलेंगी, उन्हें दबाने की हरकत नहीं करेंगी। इस कार्य के लिए अलग-थलग दूर-दूर बसे हुए गाँवों को सेवा केन्द्रों के जरिये सम्बद्ध किया जायेगा, जिसमें एक केन्द्र कई गाँवों के एक समूह की सेवा करेगा और यही एक रास्ता है जो गाँवों के भौगोलिक बिलगाव को दूर करेगा।

विकसित विज्ञान और तकनीक तथा एक अच्छी समाज व्यवस्था मनुष्य को आराम और सामाजिक न्याय दे सकती है, पर यह कोई जरूरी नहीं है कि वह उसे जीवन के उच्चादर्शों तक भी ले जाय? इसके लिए उसमें समुचित जीवन-दर्शन का ज्ञान एवं अपने व्यक्तित्व के संतुलित§ विकास की लालसा का होना आवश्यक है। दर्शन का जीवन पर कितना प्रभावशाली असर पड़ता है, यह तो विभिन्न तौर-तरीके के समाजों की कार्य प्रणालियों के पर्यवेक्षण से ही पता लगता है।

सादा जीवन

अफ्रीका के आदिम समाजों में वर्गविहीन समाज के बहुत से लक्षण दृष्टव्य हैं। व्यवहारतः वहाँ समस्त उत्पादक कार्य हाथ से ही किये जाते हैं। वहाँ खेती के लिए पशु-शक्तिया पुरुष-शक्ति का नहीं बल्कि नारी-शक्ति का उपयोग होता है। यह **ऋषी खेती** है और अपनी चरमावस्था में। सारी जमीन समाज की है और प्रत्येक परिवार को उसे जोतने और उससे जीविका प्राप्त करने का हक है। अभी हाल तक वहाँ वस्तु या सेवा विनिमय के लिए मुद्रा का प्रचलन नहीं था। वस्तुओं का ही विनिमय होता था। और, तब प्रत्येक कबीला अपनी निहायत जरूरियात तथा सुरक्षा के मामले में आत्मनिर्भर था। प्रकृति व बीमारियों से संघर्ष तथा विभिन्न कबीलों के साथ लड़ाइयाँ करते-करते जीवन व्यतीत होता था। यह उस **प्राकृत समाज** का नमूना

---

* **अमंत्रं अक्षरं नास्ति**
नास्ति मूलमनौषधम्
अयोग्यः पुरुष नास्ति
योजकस्तत्र दुर्लभः ॥

§ **धर्मार्थ कामाः सममेव सेव्याः।**
य एकसेवी स नरो जघन्यः ॥

है जिसमें सीधी-सादी जिन्दगी और सीधे-सादे विचार हैं। और फिर, शोषण करनेवाले देशों में हम विकृत समाज का नमूना देखते हैं, जहाँ विज्ञान और तकनीक ने अस्तित्व के लिए संघर्ष तो कम कर दिया है, लेकिन ऊँचे जीवन-यापन के आदर्श की वजह से अस्तित्व के लिए संघर्ष की जगह वर्ग-संघर्ष ने ले ली है। यह उस किस्म का समाज है जहाँ आदर्श की शब्दावली में ऊँची जिन्दगी और साधारण विचार हैं।

इस प्रकार सीधी-सादी जिन्दगी सिर्फ बसर करने के खयाल से या विज्ञान तथा तकनीक ही इतने पर्याप्त या सक्षम नहीं हैं कि मनुष्य को ऊँची जिन्दगी की खोज में रास्ता बता सकें। यह क्षमता तो संस्कृत समाज–सर्वोदय समाज–में ही है, जो नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों पर जोर देते हुए और भावनाएँ भरते हुए मनुष्य को ऊँचा उठने में समर्थ बनाता है। सर्वोदय समाज प्राकृत समाज की सीमाओं तथा विकृत समाज की कमजोरियों पर काबू पा कर मनुष्य को इस योग्य बनाता है कि वह शारीरिक, मानसिक और आत्मिक तौर पर पूर्ण और संतुलित जीवन व्यतीत कर सके। यह समाज का ऐसा आदर्श है जिसमें सीधी-सादी जिन्दगी और ऊँचे विचार हैं। खादी आन्दोलन का यही मिशन है कि चुने हुए क्षेत्रों में इस तरह के नमूने निर्मित करने के जरिये सर्वोदय समाज की स्थापना की जाय। किन्तु कार्यक्रम के एक अलग-थलग अंग की हैसियत से खादी यह काम पूरा नहीं कर पायेगी, फिर चाहे इसके पीछे कितनी भी श्रेष्ठ भावना क्यों न हो। यह तो तभी सम्भव होगा जब खादी सर्वोदय समाज के पूरे मूल्यों का प्रतिनिधित्व करते हुए हमारे समाज के समस्त कार्यों से ऊपर उठ कर एक विशेष रूप अपनाये, एक आदर्श बन जाय। यही महसूस करके गांधीजी ने १९४४ में समग्र कार्यक्रम पेश किया था। सर्वोदय समाज सिर्फ अर्थ-व्यवस्था की ही नहीं, बल्कि मनुष्य की सारी जिन्दगी की समग्रता चाहता है।

नयी दिल्ली : १६ अगस्त १९६३

नैतिक और बौद्धिक स्वतंत्रता के लिए पेश किये जानेवाले तत्कालीन तर्कों में कुछ नया नहीं है। जब कोई सरकार विश्वास और आचरण के स्तरीयकरण हेतु असामान्य अथवा अति प्रयास करती प्रतीत होती है तब हम यह पाते हैं कि अधिकतर लूथर, मिल्टन, लॉक, स्पीनोजा, फेनेलॉन, मौण्टेस्क्यू, वालतेयर और मिल की ही उत्कृष्ट बातें दोहरायी गयी हैं। इन लोगों ने कहा है कि विश्वासवाली बातों का निर्णय विवेकपूर्ण आग्रह अथवा दैवी अभिव्यक्ति और प्रेरणा से ही किया जा सकता है; नैतिकता और विचार में समानता लाने का बलयुक्त प्रयत्न तो असफल होगा ही; विचार और निजी नैतिकता के विषय में स्वतंत्रता तो मनुष्य का स्वाभाविक अधिकार है; और सुख-शान्ति सहन-शक्ति की नीति से ही प्रवाहित होती है।

—फ्रांसिस डब्ल्यू कोकर : रिसेण्ट पॉलिटिकल थॉट

अम्बर की शक्यता

शंकरलाल बैंकर

यदि सूतकारों को यह देखने का अवसर मिले कि अम्बर चरखा किस प्रकार दक्षता, कुशलतापूर्वक चलाया जा सकता है तो उन्हें अपनी कुशलता, क्षमता बढ़ाने का प्रोत्साहन मिलेगा। परीक्षण और प्रात्यक्षिक केन्द्र इस लक्ष्य की प्राप्ति में बहुत सहायक हो सकते हैं।

भारत अधिकतर देहातों से बना हुआ है और देहातों की अधिकतर आबादी गरीब, बेकार अथवा अर्ध बेकार है। ग्रामीणों को रोजगारी मिले और उनके जीवन का उचित विकास हो, इस दृष्टि से गांधीजी ने खादी की प्रवृत्ति चलायी तथा चरखा संघ व ग्रामोद्योग संघ की स्थापना की। राष्ट्रीय कांग्रेस ने भी यह कार्यक्रम चलाया। स्वराज्य-प्राप्ति के बाद राष्ट्रीय सरकार ने भी इस कार्यक्रम को अधिक गतिशील बनाने के लिए खादी और ग्रामोद्योग मंडल तथा कमीशन की स्थापना की। इस प्रकार के प्रयास के फलस्वरूप आज भारत के करीब एक लाख देहातों में यह प्रवृत्ति फैली हुई है और करीब १५ लाख से अधिक लोग इससे फायदा उठा रहे हैं।

परम्परागत चरखे में सुधार

गांधीजी ने चरखे का काम शुरू किया तब भी देश के अनेक भागों में परम्परागत चरखे चल रहे थे। शुरू-शुरू में इसी चरखे का प्रचार हुआ, फिर भी, इस दिशा में प्रगति करनी हो तो उसमें संशोधन और सुधार करने ही चाहिए, ऐसा गांधीजी का आग्रह रहा। इसलिए परंपरागत चरखे में नये-नये सुधार होते रहे तथा खुद गांधीजी ने इसमें दिलचस्पी ली। फलतः यरवड़ा चक्र (पेटी चरखे) की शोध हुई और बाद में वे चरखे हजारों की तादाद में चलने लगे। स्कूलों में कताई सिखाने के लिए भी इन पेटी चरखों का उपयोग किया गया।

पेटी चरखा कीमत में सस्ता, वजन में हलका, एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाने के लिए अनुकूल, चलाने में सरल एवम् हलका, कम जगह घेरनेवाला तथा परम्परागत चरखे की अपेक्षा अधिक उत्पादन देनेवाला बना। इस विशेषता के कारण पेटी चरखे का उपयोग दिन-प्रति-दिन बढ़ता गया।

इस पेटी चरखे के निर्माण के बाद भी गांधीजी को संतोष नहीं हुआ। उनको चाहिए था ८ घंटे में १६,००० गज समान और मजबूत सूत कत सके वैसा चरखा। इसके लिए उन्होंने एक लाख रुपये के इनाम की घोषणा की। कई प्रकार के नमूने आये, लेकिन गांधीजी की शर्त के अनुसार कोई नमूना न बनने के कारण इनाम की घोषणा वापस लेनी पड़ी। फिर भी, चरखे में संशोधन हो, वह पूर्ण रूप से कार्यक्षम बने, ऐसा चिंतन वे करते रहे। साथ-साथ पेटी चरखे पर कतवार की गति बढ़े, पूनी अच्छी ली जाय, सूत अच्छा एवम् अधिक कते, इसके लिए भी वे प्रयत्नशील रहे।

अम्बर चरखा

उसके बाद तमिलनाड के श्री एकम्बरनाथ ने अंबर चरखे का आविष्कार किया। गांधीजी की इनामी चरखे की कल्पना के अनुसार यह चरखा कुछ शर्तें पूरी करता था। खादी काम करनेवालों ने इसे पसंद किया। लेकिन इसमें भी संशोधन की काफी गुंजाइश प्रयोगकारों ने महसूस की और इस दिशा में अधिक प्रयोग करने के लिए सर्व सेवा संघ ने 'अंबर प्रयोग समिति' की स्थापना की। इस समिति द्वारा अम्बर चरखे में संशोधन का काम चलता रहा और परिणाम स्वरूप एक

व्यक्ति आठ घंटे में आसानी से ८ से १६ गुण्डी अच्छा और समान सूत कात सके, ऐसे अंबर चरखे का निर्माण किया।

पेटी चरखे पर आठ घंटे में तीन गुंडी सूत कतता है और अम्बर चरखे में चार और छः तकुए होने से सूत अधिक कतता है, इसलिए इसके विकास और प्रचार की ओर अधिक ध्यान जाना स्वाभाविक है। पेटी चरखे और अम्बर चरखे की कताई प्रक्रियायें भिन्न हैं। पेटी चरखे में 'म्यूल पद्धति' के अनुसार काम होता है, जबकि अम्बर पर 'रिंग पद्धति' के अनुसार। 'रिंग पद्धति' में कताई के साथ-साथ तकुओं पर सूत परेतने का काम भी होता है, इसलिए सूत अधिक कतता है, जबकि 'म्यूल पद्धति' में वे दोनों काम एक साथ नहीं हो सकते। मिलों में भी अब 'रिंग पद्धति' के अनुसार काम होता है।

धुनाई यंत्र

कताई उद्योग में धुनाई एवम् पूनी बनाने की प्रक्रिया का स्थान भी अत्यंत मत्वपूर्ण है। पहले धुनाई का काम पारम्परिक साधनों से होता था। धुनाई अच्छी नहीं होती थी, इसलिए हाथ की मध्यम धुनकी का उपयोग शुरू हुआ। इसके बाद कई प्रकार के प्रयोग हुए तथा धुनाई यंत्र का संशोधन हुआ, और उस पर रूई की धुनाई होने लगी। लेकिन गुण की दृष्टि से उस धुनाई यंत्र पर जो काम होता था, वह संतोषजनक न लगने से यह काम प्रयोग समिति ने हाथ में लिया। अब ऐसा यंत्र तैयार किया जा सका है कि उससे धुनाई करते समय रूई के तंतु अच्छी तरह अलग होते हैं, तंतुओं को बहुत कम हानि पहुँचती है और रूई में से कचरा अच्छी तरह अलग हो जाता है। इस यंत्र के हाथ और पैर दोनों से चलाये जा सके, ऐसे दो नमूने बनाये गये। हस्त-चालित यंत्र पर प्रति घंटा १५ तोला और पैर-चालित यंत्र पर प्रति घंटा ३० तोला रूई की धुनाई अच्छी तरह हो सकती है। अम्बर कताई के लिए पूनी (टेप) भी तैयार हो सके, ऐसी शक्यता भी अब प्रयोगों में दीख रही है।

पेटी चरखे की अपेक्षा अम्बर चरखा कीमत में महँगा और चलाने में कुछ पेचीदा होने के बावजूद अच्छे गुण-स्तर का अधिक सूत दे सके, ऐसा कार्यक्षम साधन है। आज के प्राविधिक विकास के युग में विकेन्द्रित हस्त उद्योग में भी अच्छा उत्पादन दे सके, ऐसे साधन का प्रचार वांछनीय है और इस दृष्टि से ही गांधीजी चरखे की उत्पादन-क्षमता बढ़ाने का आग्रह रखते थे।

कुछ महत्वपूर्ण पहलू

अम्बर चरखे से सूत अधिक, समान और मजबूत निकलता है, कतवारों को अधिक रोजी मिलती है, बुनकर यह सूत आसानी से अधिक मात्रा में बुन सकते हैं, और उससे अधिक टिकाऊ खादी बन सकती है, इसलिए कताई उद्योग में कार्यक्षम साधन के तौर पर अम्बर का प्रचार हो, यह उचित ही है।

अम्बर चरखा कार्यक्षम होते हुए भी उसके उपयोग एवम् प्रचार के लिए कई महत्वपूर्ण पहलुओं के बारे में ध्यान रखना जरूरी है। उदाहरणार्थ :

१. हरेक कतवार को दिया जानेवाला अम्बर चरखा अच्छा एवम् त्रुटिहीन होना चाहिए। जरूरत पड़ने पर उसकी मरम्मत तुरंत हो सके, ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए।

२. कतवार को अम्बर की पूरी तालीम देनी चाहिए जैसे, अलग-अलग अंकों का सूत कातने का गणित, बट का हिसाब, यंत्र के हरेक पुर्जे की जानकारी तथा यंत्र बिगड़ने न पाये, इस प्रकार चलाने की कुशलता और यदि बिगड़ जाय तो उसे दुरुस्त करने की तालीम आदि। इसके उपरांत किसी कारणवश चरखा कुछ समय बंद रखना पड़े तो वह जंग लग कर बिगड़ न जाय, इस प्रकार उसे रखने की जानकारी भी देनी चाहिए।

अलग-अलग अंकों का सूत कातने के लिए अलग-अलग प्रकार की रुई काम में ली जाती है। किस अंक के लिए कौन सी रुई का इस्तेमाल करना चाहिए, इसका अभ्यास कतवार को कराना चाहिए। और, वैसी रुई मुहैया करने का प्रबंध भी होना चाहिए।

३. टाइपराइटर एवं सीने की मशीन चलाना सीख जाने मात्र से आदमी निष्णात नहीं बन सकता, लेकिन उसमें गति के साथ अधिक और अच्छा काम करने के लिए सतत अभ्यास करते रहना जरूरी है। इसी प्रकार अम्बर चरखे की भी तालीम लेने के बाद गति के साथ कताई करते हुए अच्छा और मजबूत सूत कत सके, इसके लिए सतत अभ्यास की आवश्यकता है। पेटी चरखे पर भी अच्छा और गतिपूर्वक कातने के लिए सतत अभ्यास की जरूरत रहती है।

गाँवों के लोगों की आर्थिक उन्नति के लिए हाथ कताई उद्योग अत्यंत महत्व का है। इस प्रवृत्ति के साधनों से काम लेने की समझ और कुशलता के उपरांत उन साधनों के प्रति लोगों में श्रद्धा जगायी व उत्साह लाया जा सके, ऐसा वायु-मण्डल बनाना भी अत्यंत महत्वपूर्ण है।

परीक्षण तथा आदर्श केन्द्र

अम्बर की तालीम पूरी होने के बाद गाँव के लोग अम्बर चरखा अपने घर ले जाकर कताई करते हैं। घर पर किया जानेवाला काम भी अच्छे से अच्छा हो, यह अत्यंत आवश्यक है। यह स्थिति किस प्रकार लायी जा सके, यह एक सवाल है। देहातों में—केन्द्रों में भी—यह काम वास्तव में घर-घर उत्तम प्रकार से चलता हुआ ये लोग प्रत्यक्ष देख सकें, तो उस बारे में उनके दिल में विश्वास बढ़ेगा और इस प्रकार यह काम उत्साहपूर्वक करने के लिए वे भी तैयार हो सकते हैं। इसके लिए अलग-अलग प्रदेशों के खास चुने हुए देहातों में परीक्षण और आदर्श सूत उत्पादन केन्द्र स्थापित किये जायँ और उनके द्वारा अम्बर की वास्तविक क्षमता की प्रतीती क्षेत्रों में हो। इस दृष्टि से घर-घर यह काम शास्त्रीय पद्धति से उत्तम प्रकार का होता रहे। इस प्रकार इस काम को विकसित करने का प्रयत्न किया जाय तो इसके विकास में बहुत ही सहायता मिल सकती है। ऐसे केन्द्रों में आदर्श स्थिति स्थापित हो और बाद में आस-पास के अन्य केन्द्रों के कतवार तथा कार्यकर्त्ता उन केंन्द्रों का अवलोकन कर सकें, वहाँ के काम का अच्छी तरह निरीक्षण कर सकें और उसके बारे में महत्व के पहलुओं पर मन को समाधान हो वैसी सही जानकारी एवम् अनुभव ले सकें, ऐसी व्यवस्था हो सके तो उससे इस महत्वपूर्ण काम को अच्छा वेग मिल सकता है।

अनाज की अधिक एवं अच्छी किस्मों के उत्पादन के लिए कृषि प्रयोग केन्द्र एवम् 'आदर्श फार्म' हैं। जो किसान अधिक-से-अधिक अच्छी किस्म का अनाज पैदा करता है, उसे इनाम दिया जाता है। पशुपालन के लिए भी वैसी व्यवस्था है। अधिक पैदावार तथा अच्छी नस्ल के पशु गाँवों में लोग देख सकते हैं। ये सुधार कैसे हुए, इसकी जानकारी प्राप्त कर सकते हैं, और खुद वैसे प्रयोग करने के लिए प्रेरित होते हैं। इसी तरह यदि अम्बर और खादी में भी उत्तरोत्तर अच्छी प्रगति करती हो तो उसके साधन और प्रक्रियाओं का प्रात्यक्षिक हो सके, ऐसे नमूने के अंबर व खादी केन्द्रों की व्यवस्था का होना अत्यंत आवश्यक है।

प्रयोग समिति केन्द्र

यह स्वाभाविक है कि अम्बर चरखे की योग्यता और कार्यक्षम उपयोगिता के बारे में अम्बर प्रयोग समिति के संचालक तथा कार्यकर्त्ता अधिक जानकारी रखते हों। इसलिए यह वांछनीय लगता है कि ऐसे परीक्षण और आदर्श केन्द्र स्थापित करने तथा चलाने का काम प्रयोग समिति द्वारा किया जाय। कताई का काम अधिक परिमाण में जिन प्रदेशों में चलता हो, वहाँ अनुकूल स्थान चुन कर अम्बर की वास्तविक क्षमता के दर्शन हों, इस दृष्टि से परीक्षण केन्द्र स्थापित करने तथा उन्हें चलाने की व्यवस्था प्रयोग समिति करे। ऐसा एक केन्द्र प्रयोग समिति की ओर से गुजरात के श्रीअमीरगढ़ में चल भी रहा है। वहाँ जो काम हो रहा है, उससे ऐसा लगता है कि हरेक राज्य में ऐसे कुछ केन्द्र भी चलाये जायँ और अम्बर कताई तथा बुनाई के बारे में शास्त्रीय पद्धति से व्यवस्थित ढंग से प्रयास हो, तो

कार्यकर्त्ता व कतवारों पर इसका अच्छा प्रभाव पड़ सकता है और क्षेत्रों में कार्यक्षमता बढ़ाने में मदद भी मिल सकती है।

परीक्षण एवं आदर्श केन्द्र खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के मार्गदर्शन में संस्थाओं द्वारा चलाये जा रहे हैं। लेकिन संस्थाएँ स्वयम् भी ऐसे केन्द्र अपनी ओर से चलायें, यह वांछनीय है अर्थात् जहाँ ऐसे केन्द्र चल रहे हों उन्हें अधिक विकसित करने तथा जहाँ न हों वहाँ नये केन्द्र शुरू करने का कार्यक्रम बनाना चाहिए। इस प्रयास की ओर विशेष ध्यान दिया जाय और ऐसे केन्द्र अच्छी तरह विकसित किये जायं तो इस काम की नींव अधिक सुदृढ़ हो सकेगी।

सहज प्रेरणा

देहातों में ऐसे परीक्षण तथा आदर्श केन्द्र शुरू किये जांय और उनमें वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक दृष्टि से उत्तम प्रकार का काम होता रहे, उन केन्द्रों के मातहत अच्छे से अच्छे और अधिक से अधिक सूतकार तैयार होते रहें और अन्य क्षेत्रों के कतवारों को उनका काम दिखाने की व्यवस्था हो, तो उस आदर्श तक पहुँचने के लिए देखनेवाले नये लोग भी प्रेरित होंगे। देहातों की आबादी में बहुत बड़ा हिस्सा गरीबों का है। उनके लिए हाथ कताई एक सहायक उद्योग है। उस पर काम करनेवाले को अच्छी कमाई हो तो उस ओर वे सहज ही अधिक ध्यान देंगे। उत्पादन बढ़ाने के लिए त्रुटिहीन साधन मुहैया करना और क्षमता बढ़ाने के लिए बौद्धिक और वैज्ञानिक तालीम देना जितना जरूरी है उतना ही उस काम के लिए श्रद्धा और उत्साह का वायुमण्डल बनाना भी। प्रत्यक्ष अच्छा काम हो रहा हो तो उसे देखने से सहज ही वैसा वायुमण्डल पैदा होता है।

इस संबंध में १९२२ में गांधीजी के साथ यरवडा जेल में था उस समय की बातचीत का स्मरण मुझे आता है। गांधीजी उस समय रोजाना चार घण्टे कताई करते थे और घण्टे में २५० गज सूत कत जाता था। लेकिन वह बहुत कम कतता है, ऐसा गांधीजी को लगता था इसलिए अधिक गति से कातने का प्रयत्न वे करते थे। श्री मगन-लाल गांधी के पुत्र भाई केशव को सत्याग्रह आश्रम में एक घण्टे में ४५० गज से भी अधिक गति से कातते हुए, उन्होंने देखा था। 'इसलिए मैं भी इतना क्यों नहीं कात सकूं', ऐसा गांधीजी को लगता था। तात्पर्य यह है कि अच्छे और गति से कातनेवालों की टोली इस प्रकार के केन्द्रों में कातती रहे तो उसे देख कर अन्य कातनेवालों का उत्साह भी बढ़ सकता है।

चन्द उदाहरण

इस प्रकार देख कर प्रोत्साहित होनेवालों में से एक-दो उदाहरण मित्रों से सुने हुए नीचे दे रहा हूँ :

साबरमती जेल में करीब तीन साल पहले अम्बर चरखे दाखिल किये गये। छः माह के प्रयत्न के बाद भी वहाँ के कैदियों की दो गुंडी से अधिक गति नहीं आयी। शिक्षक कुशल होने के बावजूद यह स्थिति रहती थी। फिर, कैदियों को प्रयोग समिति के शिक्षकों व कार्यकर्ताओं की कताई दिखाने का प्रयोग किया गया। पहले ही दिन प्रथम घण्टे में ही उनके दिल में ऐसा विश्वास पैदा हो गया कि ये लोग जिस गति से कातते हैं उस गति से हम भी कात सकते हैं। दूसरे दिन फिर से चार घण्टे तक उनके सामने कताई प्रदर्शन किया गया। फलतः सभी कैदियों का विश्वास बढ़ गया और उनकी गति दो गुण्डी से बढ़ कर पाँच से आठ गुंडी तक पहुँच गयी।

ऐसा ही एक दूसरा उदाहरण १९५९-६० के काँग्रेस अधिवेशन के समय का है :

प्रयोग समिति के कार्यकर्त्ता तीन तकुओं का संयुक्त ढोलवाला चरखा नागपुर ले गये थे। उनका दावा था कि वे उस पर चार घण्टे में आठ गुंडी सूत कात सकते हैं। लेकिन भारत में उत्तम गति से कातनेवाले वर्धा के श्री शामराव मुले ने उस बारे में शंका प्रकट की। इसलिए प्रयोग समिति के कायकर्त्ता श्री रामथादीभाई ने उतनी गति से कात कर दिखाना स्वीकार किया। श्री शामराव आदि घड़ी लेकर सामने बैठे। चार घण्टे के बाद साढ़े आठ गुण्डी कतीं। उसी समय श्री शामराव तथा अन्य

साथियों ने कहा कि अब हम इससे भी अधिक कात सकेंगे।

इस प्रकार श्रद्धा और उत्साह पैदा करने तथा उसके लिए वायुमण्डल बनाने में काम का प्रत्यक्ष दर्शन अधिक महत्व रखता है। इस पर से लगता है कि जहाँ खादी प्रवृत्ति अच्छी तरह चल रही हो वैसे सभी प्रदेशों में परीक्षण और आदर्श केन्द्र स्थापित करके विकास करने का भरसक प्रयत्न हो, यह वांछनीय है।

दोनों का महत्व

अम्बर और पेटी चरखा दोनों ही महत्वपूर्ण साधन हैं। दोनों का अपना-अपना स्थान है। स्वावलंबन, अकाल, अतिवृष्टि आदि में राहत कार्य, शारीरिक श्रम कम हो सके ऐसे शारीरिक दृष्टि से कमजोर व्यक्तियों के लिए पेटी चरखा अधिक अनुकूल हो सकता है, जब कि सशक्त, कला-कुशल, बुद्धिशाली एवम् अपनी कमाई में वृद्धि की इच्छा रखनेवाले व्यक्तियों के लिए अम्बर चरखा अधिक उपयोगी हो सकता है।

देहातों में हाथ कताई का काम पर्याप्त रोजी देनेवाले उद्योग के तौर पर स्थापित करने के लिए अम्बर चरखा कार्यक्षम, आशास्पद और उपयोगी साबित हो सकता है। लेकिन उसे ग्राम विस्तार में प्रचलित करने के काम की ओर विशेष ध्यान देना जरूरी लगता है। ऊपर बताये अनुसार आदर्श केन्द्र तथा आदर्श कताई करनेवालों के समूहों की रचना हो और उसके द्वारा अम्बर की वास्तविक कार्य-क्षमता का प्रत्यक्ष अनुभव खादी क्षेत्र के ग्राम जनों को मिले, ऐसा प्रबंध किया जा सके तो अम्बर चरखे को व्यापक बनाने में अधिक सफलता मिल सकती है।

अहमदाबाद : २६ जुलाई १९६३

हमें बाहरी भयों से मुक्ति पानी है। भीतर जो शत्रु मौजूद हैं उनसे तो डरकर ही चलना है। काम-क्रोधादि का भय वास्तविक भय है। इसे जीत लेने से बाहरी भयों का उपद्रव अपने आप मिट जाता है। भय मात्र देह के कारण हैं। देह विषयक रोग दूर हो जाने से अभय सहज में प्राप्त हो जा सकता है। इस दृष्टि से यह मालूम होता है कि भय मात्र हमारी कल्पना की उपज है। धन से, परिवार से, शरीर से 'अपनापन' हटा दें तो फिर भय कहाँ ? 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'—यह रामबाण वचन है। कुटुंब, धन, देह ज्यों के त्यों रहें, कोई आपत्ति नहीं, इनके बारे में अपनी कल्पना बदल देनी है। यह 'हमारे' नहीं, वह 'मेरे' नहीं हैं; यह ईश्वर के हैं, 'मैं' उसी का हूँ; मेरी कहलानेवाली इस संसार में कोई भी वस्तु नहीं है, फिर मुझे भय किसका हो सकता है ? इस प्रकार स्वामी न रहकर हम सेवक हो जायें, शून्यवत होकर रहें तो सहज में भयमात्र जीत लें, सहज में शान्ति पा जायें, सत्यनारायण के दर्शन प्राप्त कर लें।

—महात्मा गांधी

यथार्थवादी दृष्टिकोण आवश्यक

जोसेफ टु. सुन्दरम्

गांधीजी एक ऐसे शोषणरहित समाज की स्थापना की कामना करते थे जो कि बिना अधिक सामाजिक अथवा आर्थिक उलट-फेर के आर्थिक स्वतंत्रता सुनिश्चित करे। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मंडल से कार्य-भार सम्भालने के बाद, अपने 'नीचे से निर्माण' और नया मोड़ कार्यक्रमों के जरिये गांधीजी द्वारा निर्दिष्ट इस लक्ष्य की पूर्ति का प्रयास कर रहा है। इस दिशा में कमीशन की सफलताओं की समीक्षा करते हुए लेखक, जो कि खादी और ग्रामोद्योग मूल्यांकन समितियों (१९६०) के मंत्री रह चुके हैं, नीति और कार्यक्रम के कई पहलुओं के सम्बन्ध में आलोचनात्मक प्रतीत होते हैं। यद्यपि प्रत्यक्षतः हम डा. सुन्दरम् की समीक्षा से सहमत नहीं हैं, इसे हम इस विश्वास के साथ प्रकाशित कर रहे हैं कि विकास की गति बढ़ाने के लिए मुक्त विचार-विमर्श परमावश्यक पूर्वावश्यकता है। अतः इस लेख में उठाये गये प्रश्नों पर विचार आमंत्रित हैं। —सम्पादक

गांधीजी द्वारा खादी ग्रामोद्योगों की की जानेवाली वकालत इस बात पर आधारित थी कि निम्न तीन उद्देश्यों की पूर्ति में इसके द्वारा सहायता पहुँचाने की अत्यावश्यकता वे महसूस करते थे: (१) सबसे गरीब वर्ग की मामूली आय में कुछ वृद्धि की जा सके, ऐसे योग्य साधन उन्हें मुहैया करना, जिससे उनकी सामाजिक और आर्थिक उन्नति के कार्यक्रम की दिशा में पहला कदम उठाया जा सके, (२) तेजी से बढ़ते हुए शहरों के फलस्वरूप गाँवों की अपनी सम्पत्ति, उत्पादन तथा मनुष्य शक्ति का जो ह्रास हो रहा है, उसे रोकना तथा (३) परंपरागत भारतीय जीवन के बुनियादी, सामाजिक तथा नैतिक मूल्यों की रक्षा करना—खासकर उनके उस अंग की रक्षा करना, जो एक या दूसरे तरीके से,कम या अधिक प्रमाण में, पारस्परिक सहायता, सहकार और परस्पर निर्भरता जैसे सामाजिक गुणों को उनके अन्तःकरण में प्रविष्ट कराने की क्षमता रखता है। गांधीजी के समय में जो राजनीतिक परिस्थितियाँ थीं, उनके कारण उनके कार्यक्रम का राष्ट्रीय (राजनीतिक) और सांस्कृतिक (सामाजिक) महत्व भी हो गया था।

विकासोन्मुख तत्व

खादी और ग्रामोद्योगों के पुनर्जीवन और विकास का गांधीजी का कार्यक्रम, "समय चक्र को पीछे खींचनेवाला" है, ऐसा बताकर कुछ उदार मतवादी आलोचकों द्वारा इसे सामान्यतः या तो ठुकरा दिया जाता था या कुछ आलोचक, जो 'आधुनिकता' का दावा करते थे, इसे "स्वप्नदर्शी या सनकी" करार देते थे। तथापि गांधीजी के बहुसंख्य निकट सहयोगी इस कार्यक्रम को अत्यधिक संभाव्यताओं से भरे एक ऐसे क्रांतिकारी साधन के रूप में देखते थे, जो भारतीय जीवन पद्धति के संपूर्ण सत्वांश की रक्षा कर सकता है। लेकिन गांधीजी को अपने कार्यक्रम के प्रति होनेवाली ऐसी प्रशंसाओं या निंदाओं से कोई वास्ता न था; उनका ध्यान मुख्यतः ऐसे संगठित प्रयत्न के कार्यक्रम के विकास की ओर था और उसी ओर लगा रहा, जो जनता को, खासकर ग्रामीणों को, उद्देश्यपूर्ण उत्पादन प्रयत्नों के लिए प्रवृत्त करे जिससे कि ऊपर लिखे हुए उद्देश्यों को कार्यरूप में लाया जा सके। इसी कारण गांधीजी की दिलचस्पी हाथ करघा बुनकरों के, क्योंकि पहले पहल बुनकरों ने ही उनका ध्यान अपनी ओर खींचा था, वर्तमान कौशल की सुरक्षा और विकास के प्रयत्नों से आगे बढ़ कर विकेन्द्रित कताई उद्योग के विकास की ओर मुड़ी, जिससे कि बुनकरों को सूत की पर्याप्त और निश्चित आपूर्ति अवश्य होती रहे। यही

बात तकनीकी अनुसंधान, प्रशिक्षण, कारीगरों की आय बढ़ाने और उत्पादन वृद्धि में उनकी गहरी दिलचस्पी और आग्रह को प्रकट करती हैं। सुधार के समस्त प्रयत्न, यद्यपि अपने आप में स्वागत योग्य थे, उनकी दृष्टि से पूरे सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति के साधन रूप थे। यह उद्देश्य, उनकी राय में, भारतीय जीवन पद्धति के बुनियादी सामाजिक मूल्यों की रक्षा का था। संक्षेप में, उनका सामाजार्थिक कार्यक्रम इस उद्देश्य से प्रेरित था कि शोषण रहित सामाजिक व्यवस्था की स्थापना हो सके, जिसके द्वारा बिना किसी सामाजिक या आर्थिक विघटन के आर्थिक स्वतंत्रता का आश्वासन प्राप्त हो। इसके फलस्वरूप उनका कार्यक्रम सतत बदलता और बढ़ता रहता एवं उसके मूल तत्व में, सुधार होता रहता, जिसके परिणामस्वरूप यह कार्यक्रम उतना योग्यतम बनता गया जितना वे बना सकते थे।

तैयारी के दस वर्ष

सन् १९५३ और १९६३ के एक दशक की अवधि में खादी और ग्रामोद्योग का विकास सामाजिक-आर्थिक विकास के लिए होनेवाले सुयोजित राष्ट्रीय प्रयत्नों का अविभाज्य अंग बन गया है। यह पहली पंच वर्षीय योजनावधि के अंत में वास्तविक रूप में राष्ट्रीय बन गयीं, यद्यपि आरम्भ में उसे राजनीतिक जामा पहनाया जा सकता था। करीब-करीब एक रिक्तता (वैक्यूम) में से ही शुरू करके खादी और ग्रामोद्योग कमीशन ने विधिविहित राज्य मण्डलों को स्थापित करके यह काम आगे बढ़ाया, जो कि अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मण्डल द्वारा सन १९५३–५४ में शुरू किया गया था। ये राज्य मंडल खादी ग्रामोद्योग के विकास का राज्यवार कार्यक्रम अमल में लाने की कमीशन की जिम्मेवारी स्वयं उठाने के इच्छुक थे और वैसी क्षमता भी रखते थे। इसके लिए आवश्यक प्रशासनात्मक और संगठनात्मक कार्य पद्धति का जो क्रमशः विकास, अपनी नीतियों को आर्थिक उन्नति और आर्थिक उत्कर्ष के प्रभावकारी कार्यक्रम के रूप में परिणत करने के लिए कमीशन द्वारा किया गया, वह व्यापक पैमाने के प्रयत्नों के लिए तैयारी करने के अत्यावश्यक समय की समाप्ति का निदर्शक था। अतः प्रस्तुत समय इस बात का विचार करने के लिए उपयुक्त है कि इन उद्योगों के विकास की वर्तमान नीति और दृष्टिकोण योग्य हैं या नहीं और इससे गांधीजी के ध्येय को कार्यक्रम में सहज ही लाया जा सकता है कि नहीं।

बुनियादी नीति

भूतपूर्व अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मण्डल ने 'नीचे से निर्माण' नामक अपने नीति संबंधी वक्तव्य में इस बात का प्रतिपादन किया कि नये उन्नत साधनों और उपकरणों को अंगीकार किया जाय, जिनसे कारीगरों की आय में वृद्धि हो और उत्पादकता भी बढ़े।[१] संगठनात्मक रूप में, उसने शोषण रहित समाज की स्थापना की दिशा में प्रगति करने की दृष्टि से सहकारिता को एक बहुत प्रभावशाली संरचना के रूप में अंगीकार किया।[२] अतः स्वयं-रोजगारी प्राप्त कारीगरों की सहकारी समितियों को उत्तरोत्तर उन्नत किस्म का सामान तैयार करने, जहाँ उत्पादन होता है उन्हीं क्षेत्रों में अधिकतर उन्हें बेचने, परिवहन खर्च कम करने और अन्य इसी तरह का खर्च घटाने में तथा कुछ अवधि के पश्चात् स्वनिर्भर इकाइयों की स्थिति उन्हें प्राप्त हो सके, इसके लिए सहायता देने की बात की गयी।

समग्र विकास, जो कि 'नया मोड़' के नाम से जाना जाता है और जिसे तीसरी पंच वर्षीय योजना के आधार के रूप में स्वीकार किया जा चुका है, जहाँ तक खादी-ग्रामोद्योगों के विकास का संबंध है, वही कार्यक्रम है।[३] तथापि, कम से कम प्रारम्भिक काल में, संगठनात्मक स्वरूप के लिए योग्य नेताओं द्वारा बनायी गयी स्थानीय

---

१. **'बिल्डिंग फ्रॉम बिलो'** अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मण्डल, १९५६ अध्याय ५ और ८।
२. वही।
३. **'थर्ड फाइव ईयर प्लान फॉर खादी'**, खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, १९६१।

समितियों पर जोर दिया गया, यद्यपि संगठन के अंतिम स्वरूप के तौर पर बहुधंधी सहकारी समितियाँ ही रहेंगी। उसका जोर, पूर्व के 'नीचे से निर्माण' के समान ही, उन्नत साधनों और उपकरणों का अंगीकार करने, उच्च उत्पादकता, अल्प लागत और कम मूल्य पर तथा अधिकतम आय पर ही रहा।[४]

नीति और व्यवहार

स्थूल नीति संबंधी वक्तव्यों के रूप में न तो 'नीचे से निर्माण' का और न 'नया मोड़' का ही उस बुनियादी सामाजिक उद्देश्यों से संघर्ष आता है, जिसके लिए गांधीजी चाहते थे कि इन उद्योगों के विकास कार्यक्रम को अमल में लाया जाय। पर कथनी और करनी में सतत बढ़ती हुई खाई केवल उस समय दिखाई देती है, जब प्रत्यक्ष कार्यक्रम, उसकी संरचना और उसकी गत्यात्मकता का अध्ययन उन उद्देश्यों के संदर्भ में किया जाता है। ये कार्यक्रम अपने मूल स्वरूप में आपत्तिजनक नहीं लग सकते, क्योंकि अन्ततः सहायित प्रयत्नों के लिए किये जानेवाले अनेकविध उपायों से अधिक उनका स्थान न था; परन्तु कमीशन द्वारा अपनाये हुए स्थायी महत्व के उपाय या कमीशन द्वारा सहायित और प्रोत्साहित प्रयत्न दूसरी ही श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। कमीशन ने अपने कार्यक्षेत्र में आनेवाले प्रत्येक ग्रामोद्योग का और खादी का सन् १९५३ से १९६३ तक की दस साल की अवधि में जो विकास किया, उसे यदि बड़ी-बड़ी आर्थिक सहायताओं और उनके उपयोग, उत्पादन और बिक्री तथा कमीशन द्वारा मान्य और पंजीकृत नयी संस्थाओं की संख्या की दृष्टि से सन् १९५३ या अन्य किसी कथित वर्ष की स्थितियों से तुलना करें तो वह वास्तविक खर्च के ठीक अनुरूप और प्रभावशाली लगेगा भले ही प्रगति संबंधी अधिकारिक वित्तीय मूल्यांकन इस दावे के बारे में सवाल उठा सकता है, प्रगति का वास्तविक या सच्चा माप वस्तुतः उत्पादन और बिक्री में वृद्धि की दर नहीं है, बल्कि सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन का वह स्वरूप ही है जो प्रत्यक्ष रूप से लाया गया हो या उसके लिए तैयारी की गयी हो। इसी दृष्टि से नीचे कुछ मंतव्य एवं सुझाव पेश किये जा रहे हैं।

भारतीय अर्थ-व्यवस्था में खादी-ग्रामोद्योगों का जो स्थान है, उसका औचित्य अतिरिक्त पूंजीगत लागत बहुत कम मात्रा में लगाकर या उसके बिना ही व्यापक पैमाने पर जरूरतमंदों को रोजगारी देने की उसकी क्षमता में है। अम्बर चरखा कार्यक्रम शुरू किये जाने के कारण विविध प्रकार के प्रशिक्षण कार्यक्रम की आवश्यकता स्वभावतः पैदा हुई। प्रयत्नस्वरूप प्रति इकाई उत्पादन काफी मात्रा में बढ़ाने का आश्वासन, सूत की सुधरी हुई किस्म, लागत मूल्य में कमी और इस कारण रिबेट और सब्सिडी की दरों में भी होनेवाली कमी से इस प्रशिक्षण कार्यक्रम का औचित्य सिद्ध किया जाता है।[५] दावा किया गया कि अम्बर चरखा कार्यक्रम इस योग्य है कि स्वस्थ शरीरवाले लोगों को पूरे समय की रोजगारी मुहैया करके वह अपनी ओर आकृष्ट करेगा, जिससे भूमि पर का दबाव कम होगा।[६]

निरपेक्ष मूल्यांकन

परन्तु खादी के विकास और उसमें अम्बर चरखा कार्यक्रम के योगदान की सूक्ष्म छानबीन से इन दावों को कोई समर्थन नहीं मिलता। ग्रामीण क्षेत्रों के गरीब और कमजोर वर्गों ने साधारणतया सम्पूर्ण उद्योग को नजरअंदाज ही किया है, क्योंकि उन्हें इसमें स्थायी आर्थिक महत्व का कोई आश्वासन नहीं मिला।[७] अम्बर या परंपरागत चरखे द्वारा जिन्हें रोजगारी दी गयी, उन्होंने केवल आंशिक समय के लिए ही उस पर काम किया। पूरे समय काम करनेवाले लोग, संख्या की दृष्टि से अथवा

---

४. **थर्ड फाइव ईयर प्लान फॉर खादी**, खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, १९६१।

५. **दि अंबर चरखा प्रोग्राम, इट्स इकनॉमिक्स**, अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मण्डल, १९५६।

६. **खादी एंड विलेज इंडस्ट्रीज, सेकेण्ड फाइव ईयर प्लान**, अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मण्डल, १९५६।

७. **रिपोर्ट ऑफ दि खादी इवेल्यूएशन कमिटी**; अध्याय ८।

अन्य किसी भी दृष्टि से महत्वहीन ही रहे।[८] तथापि विशेष महत्व की बात यह है कि, ऊपर बतायी हुई महत्वहीन संख्या को छोड़ कर, अम्बर या परंपरागत चरखों के सूतकारों की आय बहुत ही कम रही, इसलिए आर्थिक प्रगति के बुनियादी उद्देश्यों के प्रति, जो कि माली राहत से भिन्न वस्तु है, उनका योगदान नगण्य रहा।[९] पुरुष सूतकारों को आकर्षित करने और उन्हें इस काम में टिकाये रखने के कार्य में, वर्तमान सामाजिक और अन्य बाधक परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए, खादी को करीब-करीब पूरी असफलता ही प्राप्त हुई और इस असफलता का दोषारोपण आर्थिक महत्व की रोजगारी के स्रोत के रूप में इस कार्यक्रम की जो बुनियादी अपूर्णता है, उसी पर होना चाहिए।[१०]

उसी तरह, हाथ करघा बुनकरों को पर्याप्त और नियमित रूप से सूत की पूर्ति की जा सके, ऐसा आश्वासन देने की दृष्टि से भी खादी-कार्यक्रम असफल रहा है। जो कुछ भी कारण हो, हाथ-कता सूत करघा-बुनकरों की उत्पादकता और उनकी आय की दृष्टि से अवरोध ही बना रहा है; और कपड़े की किस्म में काफी हद तक गिरावट होने के बावजूद बुनाई की लागत भी सामान्य-तौर पर ऊँची ही रही है। मिल सूत बुननेवाले बुनकर हाथ-सूत का उपयोग करने के लिए राजी हो सकें, इसके लिए उन्हें काफी प्रलोभन देने होंगे और साथ ही उन्हें हाथ-सूत के उपयोग का प्रारंभिक प्रशिक्षण भी देना होगा।[११] खादी संस्थाओं के बुनकर खुले रूप में इस नियम की, कि मिल सूत से वे कपड़ा न बनावें, जो अवहेलना कर रहे हैं,[१२] वह मिल सूत के योग्य विकल्प के रूप में हाथ-कते सूत की तकनीकी और आर्थिक असफलता को ही प्रकट करती है।

खादी-कार्यक्रम में, विशेषतः अम्बर चरखा कार्यक्रम में, लगनेवाले पूंजीगत व्यय की तुलना में कोई प्रशंसनीय प्रगति हुई है, ऐसा किसी भी दृष्टि से नहीं दिखायी देता। वितरित कुल अम्बर चरखों में से अनुपयोगित पड़े हुए अम्बर चरखों के प्रातिशत्य, बेकार और दोषपूर्ण चरखों के नवीनीकरण और सुधार पर होनेवाले खर्च, उस पर कते हुए सूत से बनाये गये कपड़ों की गिरी हुई किस्म और सबसे अधिक तो इनके कारण खादी की फुटकर बिक्री के बाजार की जो गम्भीर स्थिति हो गयी है तथा संस्थाओं का स्टॉक बढ़ गया है, इनके आधार पर गणना करते से इस पूंजीगत व्यय को नगण्य नहीं कहा जा सकता।

प्रशिक्षितों की सम्भावना

कुल मिलाकर हमारे खादी कार्यक्रम का, और अम्बर कार्यक्रम का, जैसाकि विशेष रूप से उसका कार्यान्विय हुआ है, सबसे बड़ा दोष यह है कि लोगों को प्रशिक्षण देने में समय, शक्ति और धन का बड़ा अपव्यय हो रहा है,[१३] क्योंकि इन प्रशिक्षितों की न तो आज, न आगे ही खादी या अन्य किसी उद्योग में कोई मांग है। यदि कपड़ों की दिन प्रति दिन उन्नत हो रही किस्मों के बढ़ते उत्पादन को सतत निम्न दरों पर बेचना सम्भव होता, तो अम्बर चरखे के सूतकारों के लिए काफी अधिक, यद्यपि सीमित क्षेत्र में, मांग हो सकती थी। तेजी से गिरती हुई कपड़ों की किस्म, अंशतः, ऊँची कीमतों के और अंशतः लोगों की सतत गिरते जानेवाली आय के कारण कपड़े की माँग जो कम होती जा रही है, वह इस बात की ओर इंगित करता है कि अम्बर के सूतकारों के लिए कोई वास्तविक माँग नहीं है और विभिन्न श्रेणी के लोगों को दिये जानेवाले प्रशिक्षण पर होनेवाले खर्च की तुलना में आर्थिक या सामाजिक रूप से कोई स्थायी महत्व की या प्रशंसनीय प्राप्ति नहीं हुई है, न होने की संभावना है। देर या अबेर इन "प्रशिक्षित" लोगों को, जहाँ भी संभव हो, दूसरे कामों की शरण में जाना ही होगा।

---

८. वही।

९. वही।

१०. वही।

११. वही; सहायता के विवरण के लिए परिचय पुस्तिका : सहायता का विवरण भी देखिए।

१२. **खादी इवेल्यूएशन कमिटी रिपोर्ट,** अध्याय ८

१३. प्रशिक्षण कार्यक्रम के परिणामों के विवरण के लिए देखिए **खादी इवेल्यूएशन कमिटी रिपोर्ट,** अध्याय ८ और १०।

अनियमित और निर्भरीय होने के बावजूद पर्यायी काम, जैसे सड़कें बनाना, मेड़ें बनाना आदि, सूतकारों को अपनी ओर खींचते रहते हैं, क्योंकि सूत कताई से वस्तुतः इतनी आय हो ही नहीं सकती। दूसरे शब्दों में, अम्बर या परंपरागत चरखों पर सूत कताई ऐसी कला या कौशल नहीं है, जो "बिक्री योग्य" हो, जैसे कि बढ़ईगीरी, लुहारी, राजगीरी आदि हैं। सूतकारों की 'कला', या 'कौशल' की मांग कुछ संस्थाओं तक ही सीमित है, जिनके कार्य उन अनेक विध-विचारों पर आधारित रहते हैं, जो कारीगरों की जरूरतों से सर्वथा असंबंधित होते हैं।

विकेन्द्रीकरण और खादी

परन्तु उपर्युक्त सूक्ष्म मूल्यांकन से विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता के बारे में कोई शंका नहीं उठती। औद्योगीकरण के साथ-साथ आनेवाले नागरीकरण का सामाजार्थिक मूल्यांकन, सामाजार्थिक जीवन के विकेन्द्रीकरण का ही महत्व निर्देश करता है, जो कि मानव और उसके नैतिक मूल्यों को बचाने की दृष्टि से एकमात्र संभव उपाय है। परन्तु आर्थिक संगठन और प्रवृत्तियों का विकेन्द्रीकरण भी उत्पादन के आधुनिक और अत्यधिक उन्नत तक्नीकों को अपनाने से विरत नहीं करता,[१४] जैसाकि अमेरिका, इंग्लैण्ड और स्वीट्जरलैंड का अनुभव बताता है। आवश्यक कौशल की प्राप्ति, जिसमें यद्यपि समय लगता है, कारीगर को काम के चुनाव के कई मौके उपलब्ध करा देती है, और इसलिए कई पर्यायी कामों या व्यवसायों का उपयोग लेते रहने का अवसर उसे मिलता रहता है। दूसरे शब्दों में, उसे वह बाजार के उपयोग के योग्य कौशल प्रदान करती है, फलतः उसे आत्मनिर्भर, उपयोगी और उत्पादक कारीगर बना देती है, जबकि सूतकार संभवतः कभी ऐसा नहीं बन सकता। बढ़ईगीरी या ऐसा ही कोई काम सीखने में निस्संदेह सूत कताई की तुलना में अधिक समय लगता है, लेकिन औसत कौशलवाला मेहनती बढ़ई भी समान समय काम कर उस बहुत कुशल सूतकार की बनिस्बत कई गुना अधिक कमा लेता है। अतः यहाँ प्रश्न कौशल की पसंदगी का है, न कि बृहत प्रयास का, और यही महत्वपूर्ण बन जाता है।[१५]

वस्तुनिष्ठ या निरपेक्ष दृष्टि से देखने पर यह नहीं कहा जा सकता कि व्यापक और दुर्बोध प्रशिक्षण कार्यक्रम, जो अम्बर चरखे के कारण आवश्यक हो गया है, के अन्तर्गत प्रशिक्षित उन बहुसंख्य लोगों को ऐसा कौशल सिखाया गया है, जो कि 'खुले बाजार' में बिक्री योग्य हो। निस्संदेह, खादी के लिए हाथ-कताई करनेवालों की जरूरत है, लेकिन उसमें ऐसी क्षमता नहीं है कि मान्य दर से मजदूरी चुका सके। यह राहत पहुँचाने में बड़ा सफल हुआ है। परन्तु वह भी यदि निरपेक्ष रूप से देखें तो, सीमान्त स्तर पर ही हुआ है। व्यापक राष्ट्रीय दृष्टिकोण से विचार करने पर पूरी तौर से अस्थायी या क्षणिक महत्ववाला महज राहत का कार्यक्रम क्या इतनी अधिक आर्थिक सहायता पा सकता है या पाने के लिए मांग कर सकता है जितना कि अम्बर चरखा कार्यक्रम के लिए आवश्यक है? प्रत्यक्षतः निरपेक्ष मूल्यों से रहित कौशल का प्रशिक्षण मुश्किल से यह दावा कर सकता है कि वह राष्ट्रीय है अथवा एक राष्ट्रीय कार्यक्रम के साथ एकरूप हो सकने योग्य स्थायी महत्व का है।

तकनीकी अनुसंधान

अच्छे साधनों और उपकरणों का विकास करने की दृष्टि से अलग-अलग संस्थाओं को कमीशन द्वारा अनुदानों के रूप में पर्याप्त व्यय करने की स्वीकृति दी गयी है। उसने अपनी एक अनुसंधानशाला भी स्थापित की है और संस्थाओं तथा एजेंसियों द्वारा सिफारिश किये गये

१४. भारत की कौशलहीन जनता की परिस्थितियों के साथ उसका संबंध कैसे बैठता है, इसके विवरण के लिए तुलना कीजिए, **बिल्डिंग फ्राम बिलो,** भाग-३।

१५. समाज के पिछड़े हुए वर्गों से कारीगर कौन-से बिक्री योग्य कौशल प्राप्त कर सकता है इसके विस्तृत विवरण के लिए देखिए, **ऑल इंडिया कांग्रेस कमिटी का इकनॉमिक रिव्यू** भाग १५, सं. ३१७, जुलाई १९६३, पृष्ठ २६ और आगे।

कारीगरों की भी सहायता इसके लिए की है। पर यहाँ भी, प्राप्त निष्कर्षों के संबंध में वस्तुनिष्ठ दृष्टि से विचार करने की आवश्यकता है।

सन् १९५०-५९ के दशक के प्रारंभ में, अम्बर चरखे का प्रथम नमूना बनने के बाद से, अखिल भारत सर्व सेवा संघ, उससे संबंधित संस्थाओं तथा खादी और ग्रामोद्योग कमीशन द्वारा अनुसंधान पर जो खर्च हुआ है, वह काफी है; परन्तु किस उद्देश्य की पूर्ति की दिशा में यह अनुसंधान कार्य हो रहा है? किसी नये 'तकनीक' को खोजने का प्रश्न तो कतई था ही नहीं। विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकताओं के लिए पहले से जाने हुए और पूर्णतः प्राप्त तकनीकों को अपनाने का ही प्रश्न था। परन्तु जो कुछ हुआ, वह यही कि कीमती वस्तु, शक्ति और पैसों का व्यय छोटे-मोटे सुधार करने जैसे प्रयासों पर हुआ है और केन्द्रित उद्योगों के रूप में वर्णित उद्योगों पर जो निर्भरता है, उसे दूर करने या काफी हद तक कम करने के साधन और रास्ते ढूंढ़ने पर ही खर्च हुआ है। इनमें से कुछ केन्द्रों में जो समाधन खोजे गये, उनमें से कुछ साधन कार्य करने की दृष्टि से "स्वीकृत उद्देश्यों" के संदर्भ में "सक्षम" माने जा सकते हैं; पर पूर्णतः ग्रामों में ही बन सकें, ऐसे साधन ढूंढ़ने में ही शक्ति लगाने के बारे में अवश्य प्रश्न किया जा सकता है। यह बात उस समग्र अर्थ-व्यवस्था की संपूर्ण धारणा के ही विपरीत चली जाती है जिसके अनुसार हरेक क्षेत्र दूसरे पर निर्भर रहता है और प्रत्येक दूसरे की सहायता करता है। यह उन सभी बड़े उद्योगों की परिलक्षित निन्दा है, जो कि स्वतंत्र भारत में उतने ही "स्वदेशी" हैं, जितनी कि "खादी" दावा करती है। "रूढ़िवादी" (या पूर्व कालीन अपि-रिवर्तनकारी ?) रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं के प्रभुत्व के कारण तकनीकी अनुसंधान उपाहासात्मक बन कर रह गया है। करीब एक दशक बाद भी, कमीशन के क्षेत्र में आनेवाले किसी भी उद्योग के किसी प्रशोधन कार्य के उपकरण में उन्नत तकनीक दाखिल करके उसे विकसित किया गया हो, ऐसा नहीं दिखायी देता। तथाकथित 'तकनीकी अनुसंधान' ऐसा कोई उपकरण ढूंढ निकालने में असफल रहा, जो तकनीकी और कार्यक्षमता, उत्पादकता, उत्पादन की प्रति इकाई लागत और फलतः मूल्य की दृष्टि से संतोषकारी हो। प्रयोगशालाओं में जो उपकरण खोजे गये, यद्यपि वे आज उपयोग में आनेवाले साधनों से निश्चित ही श्रेष्ठ हैं, पर वे विशेष रूप से उच्च उत्पादकतावाले नहीं हैं अथवा मान्य तकनीकों के सफल अंगीकार का भी प्रतिनिधित्व वे नहीं करते या मानकीकरण और बड़े पैमाने पर निर्मित करने योग्य भी नहीं हैं। सबसे बुरी बात तो यह है कि विशेषता युक्त और व्यक्तिगत ध्यान, जो प्रयोगशाला म देना संभव है, क्षेत्र में नहीं दिया जा सकता, क्योंकि कारीगर वह आवश्यक कौशल अपने में न रखता है, न विशेष वक्त खर्च किये बिना उसे प्राप्त ही कर सकता है, जो कि ऊपर बताये अनुसार, किसी तरह के भौतिक लाभ की संभावना नहीं बताता।

असली परिवर्तन का विरोधी

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उस पर से यह खयाल स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि किसी प्रकार का अनुसंधान कार्य हुआ है और वह चल भी रहा है, फिर भी प्रभावशाली रूप से अपनाने और उच्च उत्पादकता में सहायता पहुँचानेवाले उन उन्नत साधनों एवम् उपकरणों की खोज करने, जो पूरे समय काम करने के इच्छुक और योग्य ऐसे स्वस्थ शरीरवाले लोगों को उद्योगों में टिकाये रखने और आकर्षित करने लायक हों, की दिशा में सच्ची एकाग्रता से प्रयास नहीं किया गया है। तकनीकी अनुसंधान कार्य को रूढ़िवादिता ने सदा रोका है और यही स्थिति आज भी चली आ रही है। यह रूढ़िवादिता ही असली परिवर्तन का विरोध करती है। इस सिद्धान्तवादी दृष्टिकोण और प्रवृत्ति ने ही कमीशन को अनेक समितियां जैसे ग्रामीण और लघु उद्योग (द्वितीय पंच वर्षीय योजना) समिति, खादी और ग्रामोद्योगों के लिए मूल्यांकन समितियां तथा शक्ति समिति, के उपयुक्त सुझावों पर अमल करने से रोका है। इसका फल यह हुआ कि बुनियादी नीति को प्रभावित करनेवाली सिफा-

रिशों और इस कार्यक्रम को वास्तविक रूप से सामाजिक तथा आर्थिक महत्व प्रदान करनेवाले सुझावों की स्वीकृति केवल जबानी जमा खर्च तक ही सीमित रह गयी। व्यवहार में ये सारे कार्यक्रम वैसे ही बने रहे और उसी प्रकार प्रभावहीन रहे, जैसे कि इन समितियों की जाँच और रिपोर्ट के पूर्व थे।

उद्देश्यपूर्ण उपयोगितावाद

रचनात्मक कायकर्त्ताओं की सिद्धान्तवादी दृष्टि ही वास्तव में प्रभावशाली कार्यक्रम की प्रगति में बाधा पहुँचाने के लिए उत्तरदायी रही है। हर चीज को समझते हुए रचनात्मक आलोचना करने पर भी ऐसा जोशीला और अक्सर असंगत बचाव किया जाता रहा है कि जिससे सुझावों का सार भी दुर्लक्ष्य हो जाता है। इन परिस्थितियों में विकास कार्यक्रम रोजगारी की स्थिति पर किसी भी तरह का प्रभाव डालने में असफल सिद्ध हुए तथा उनके बचाव की सभी दलीलें और दावे, सब कुछ कहे और किये जाने के वाद, खाली और प्रभावहीन रहे।

बहुत अधिक मात्रा में बढ़ती हुई बेरोजगारी और अर्द्ध-रोजगारी की सच्चाई के बारे में अब कोई प्रश्न नहीं रहा है; परन्तु जो संदेह किया गया और किया जाता है, वह बेरोजगारी की भीषण समस्या को हलका बनाने के साधन के रूप में खादी-ग्रामोद्योगों की प्रभावशीलता के बारे में है, जिसका कारण यह है कि एक पूरे दशक की अवधि में भी कहीं भी बेरोजगारी और अर्द्ध-रोजगारी की समस्या, किसी भी प्रशंसा योग्य पैमाने पर, हल करने में ये पूर्णतः असफल रहे हैं। इन उद्योगों से हट कर श्रमिकों का भारी संख्या में किसी दूसरी रोजगारी में लग जाना इसी बात को प्रकट करता है कि अपर्याप्त आमदनी होने के कारण वे इन उद्योगों में काम करते रहना नहीं चाहते।

वे बुनियादी सिद्धान्त, जिनसे अनुप्राणित होकर गांधीजी ने खादी की वकालत की, आज भी उतने ही सत्य हैं, जितने कि उनके जीवन-काल में थे। खादी एक विशेष तकनीक के द्वारा उत्पादित उपभोक्ता सामग्री होने के अतिरिक्त, सामाजिक बुराइयों के प्रति संवेदनशीलता का भी प्रतिनिधित्व करती है। संसार की परिवर्तित स्थितियों में खादी का अपने खुद के मूल्यों और अधिमानों के पैमाने पर जो बुनियादी सिद्धान्त है, वह प्रसंगोचित है, क्योंकि उसका स्थायी मूल्य है।[१६] मानवीय कार्यकलापों के आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में खादी एक विकेन्द्रित, आर्थिक एवं सामाजिक संगठन का प्रतिनिधित्व करेगी, विशेषतया इसका स्वरूप ऐसा होगा कि वह जन-संख्या के जीवन-स्तर को ऊँचा उठायेगी और सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक विकास के अवसरों की असमानताओं को कम करेगी।

बीते जमाने का दृष्टिकोण

बार-बार दुहराया जानेवाला "आत्मनिर्भरता" का आदर्श आज की परिस्थितियों में सर्वथा अप्रासंगिक और बीते जमाने का है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी के रूप में जन्मता है और सिर्फ अपने ही समाज में वह पूर्णता प्राप्त कर सकता है। धर्म, सामाजिक एवम् सांस्कृतिक जीवन के साथ ही आर्थिक क्षमता सहकारी प्रयासों तथा सामान्य आदर्शों के प्रयत्नों को अपरिहार्य कर देती है। आत्मनिर्भरता के विचार द्वारा तिरस्कृत श्रम विभाजन सभी कार्यकलापों को आधार देता है। राजनीतिक, आर्थिक तथा जनांकिकीय प्रवाह आज विश्वव्यापी चिन्तन की आवश्यकता पर जोर देता है और आणविक विकासों ने राष्ट्रीय सीमाओं तक को भूल जाने की आवश्यकता पैदा कर दी है, जैसे कि अब वे सचमुच अर्थहीन हो गयी हैं। इस संदर्भ में, आत्मनिर्भरता के लिए पुकार मचाना या भारी उद्योगों पर निर्भर रहने से वचना अवश्यम्भावी यथार्थताओं का मुकाबला करने से पीछे भागना ही है। यथार्थता का यही अभाव बौद्धिक जड़ता की बुनियाद में है, जो संकल्पपूर्वक आगे बढ़ने से रोकती रहती है।

---

१६. खादी विचार की पूर्ण जानकारी के लिए तुलना कीजिए **रिपोर्ट ऑफ खादी इवेल्यूएशन कमिटी**; अध्याय २।

इसी प्रकार संगठन और रोजगारी के स्वरूप के संबंध में भी कई बाधाएँ हैं। आमतौर पर यह माना जाता है—जो मानो स्वयं सिद्ध ही हो—कि कारखाना संगठन या अन्य किसी रूप में रोजगारी में बुरे हैं और सहकारी संगठन स्वतः उच्चतर है। वैयक्तिक अभिक्रम और उद्यम में एक व्यक्ति के दूसरे के ऊपर हावी होने के सिवा और कुछ नहीं हो सकता; और सहकारी संस्था में रोजगारी, यदि उसका प्रबन्ध निहित स्वार्थवाले व्यक्तियों के हाथ में हो तो, फैक्टरी की रोजगारी से भी बदतर हो सकती है। सभी खादी संस्थाएँ समान रूप से दयालु नहीं हैं, और न सब-के-सब फैक्टरी मालिक या मैनेजर क्रूर शोषक ही होते हैं। यथार्थवाद इन बीते समय के पक्षपातों को दूर फेंकने की आवश्यकता का संकेत दे रहा है। प्रजातंत्र में मानवीय कार्यकलापों का अंतिम नियामक जागृत और जिम्मेवार जनमत ही होता है। विकास कार्य को सभी कार्यकलापों की प्रभावशाली तथा सामाजिक रूप में सार्थ समग्रता की समस्या के रूप में देखनेवाली नयी सामाजिक व्यवस्था में सामाजिक जरूरतों और समस्याओं के प्रति भावनात्मकता की शिक्षा देनी होगी। स्वमताग्रह तो केवल प्रगति रोकने का ही काम करता है और उद्देश्ययुक्त प्रयत्नों को प्रोत्साहित नहीं करता।

कल्याण का उत्तरदायित्व

आधुनिक, औद्योगीकृत और तीव्र गति से विकसित होती हुई अर्थ-व्यवस्था के संदर्भ में यह मान्य है कि सामाजिक कल्याण का उत्तरदायित्व सरकार, मालिक और कर्मचारी इन तीनों का है। हाल के श्रमिक, फैक्टरी और औद्योगिक विधि-विधान इस बात की दृढ़ स्वीकृति पर आधारित हैं कि सामाजिक कल्याण में त्रिदलीय आयोजन, सहयोग और प्रशासन निहित है और सरकार की भूमिका निश्चित ही एक पंच की तरह है। अतएव हमारे लिए यह जरूरी है कि इस संदर्भ में हम संगठन के सभी स्वरूपों और नमूनों को विकास की सामाजार्थिक परियोजना में समान और समझदार भागीदार के रूप में ग्रहण करें। उपयोगितावादी दृष्टिकोण, जो कि व्यक्तिगत उद्योगकर्त्ताओं के व्यापार की संभाव्य लाभकारी भूमिका को मान्यता देता है, विकास को शीघ्र सरल बना सकता है, क्योंकि वह समुदाय के अधिकांश उद्यमी और उन्नति के लिए तत्पर लोगों के सक्रिय सहयोग को प्राप्त कर सकेगा। इसके अतिरिक्त उद्योग, श्रम और सामाजिक सम्बन्धों को प्रभावित करनेवाले मौजूदा कानून सर्व-साधारण रूप से व्यापक हैं; और यदि उन्हें प्रभावकारी रूप से लागू किया गया, तो वे बिना किसी बड़े परिवर्तन के, समाज के सभी वर्गों के अधिकार की रक्षा कर सकेंगे, एवं उनके विशेषाधिकारों को भी प्राप्त कर सकेंगे। सबके द्वारा स्वीकृत आदर्शों की प्राप्ति के लिए सामान्य समस्याओं के हल के प्रति पारस्परिक दायित्वों की सामाजिक चेतना सभी विकेन्द्रित सामाजार्थिक विकास की अनिवार्य शर्त है; और यह वही उद्देश्य है, जिसका उत्साह के साथ निरंतर पालन और प्राप्ति के प्रयत्न होने चाहिए।

यथार्थतायुक्त पुनर्गठन

ग्रामीण क्षेत्रों के सामाजिक विकास संबंधी सही और समग्रतायुक्त दृष्टिकोण विकसित करने में जो बाधाएँ वर्तमान हैं, वे उपर्युक्त विचारों को स्वीकार करने से दूर हो सकती हैं। विचार और कार्य स्वयमेव आर्थिक बुराइयों को दूर करने की नीति और उपायों को प्रतिबिंबित करेंगे, क्योंकि वे अपनी शक्ति सीधे समुदाय से ही प्राप्त करेंगे। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, अखिल भारत हाथ करघा मण्डल व लघु स्तरीय उद्योग मण्डल के कार्यों की भूमिका और कार्यक्षेत्र का जो सर्वथा असमर्थनीय विभाजन हुआ है, वह ग्रामीण विकास मंडलों की स्थापना कर दूर किया जा सकता है, जो कि सभी आर्थिक हितों की सहभागिता के लिए योग्य संघटनात्मक ढांचा प्रस्तुत करेगा तथा किसी भी कार्यक्रम पर जन-सम्मति की मुहर लगा सकेगा। सामाजिक कल्याण और आर्थिक उन्नति के स्वीकृत और प्रशंसनीय उद्देश्य रखने के बावजूद कमीशन की वर्तमान योजनाओं को जनता का सहयोग या स्वीकृति नहीं मिल पाती, जैसे कि जनता के समर्थन

की वर्तमान मात्रा और उत्साह से दिखाई देता है।

कमीशन ने पिछले दशक में वास्तविक उद्देश्य और महत्ता के कार्यक्रम के कार्यान्वियार्थ संगठनात्मक तथा प्रशासनात्मक बुनियादी तैयारियाँ पूरी कर ली हैं। इसके कार्यक्रम को नियंत्रित करनेवाली इसकी नीतियों, उनके प्राविधिक-आर्थिक तत्वों, और अर्थ-व्यवस्था के समग्र और स्थायी अंग के रूप में विकेन्द्रित आर्थिक व्यवस्था की स्थापना और विकास के साथ उसकी संबद्धता तथा इनके प्रभावशाली कार्यान्विय हेतु आवश्यक प्रशिक्षण और अनुसंधान के कार्यक्रम पर पुनर्विचार करना अत्यावश्यक है, और इस पर यथार्थवादी दृष्टिकोण से ही विचार करना चाहिए।

जैसाकि शुरू में ही बताया गया है, खादी केवल एक उपभोक्ता वस्तु नहीं है, बल्कि कुछ बुनियादी सिद्धान्तों का पुंज है। वे तथाकथित भावनात्मक मूल्य, जो खादी के साथ जोड़े जाते हैं, अक्सर भावुकता की उस सीमा तक उतर आते हैं, जहाँ खादी अपने निज के समस्त मूल्य ही खो बैठती है। खादी के सामाजिक उद्देश्य की मान्यता, जिसे गांधीजी अपनी सर्वश्रेष्ठ विरासत के रूप में राष्ट्र के पास छोड़ गये हैं, उस प्रयास कार्यक्रम की तैयारी में सहायक हो सकती है जो कि सब को आर्थिक रूप में स्वीकार्य होगा और सामाजिक रूप में वह इतना महत्व-पूर्ण होगा कि सभी वर्ग के लोग इसमें स्वेच्छापूर्वक सहयोग दे सकेंगे।

हमारी जनता के ६० प्रति शत से भी अधिक भाग की आय का निम्न स्तर और उसकी गरीबी के किसी तात्का-लिक सुधार की क्षीण संभावनाएँ हमें सतत निर्भर रखने-वाले कार्यक्रमों अथवा स्थायी फल का आश्वासन न दे सकने योग्य कार्यकलापों की ओर न ले जा पाएँ, इसका ध्यान हमें रखना होगा। दुर्भाग्य से ये दोनों ही सामाजिक-आर्थिक-संरचना में बुराइयाँ और संभाव्य राजनीतिक खतरा पैदा करते हैं। इस परिस्थिति को सुधारने की दृष्टि से जो परिवर्तन जरूरी हैं, वे इतने पर्याप्त होने चाहिए कि वर्तमान काल में जनता में प्रेरणा भर दे और उन्हें इस बात के लिए उत्साहित करें कि वे अपने प्रयत्नों को जारी रखें तो अंततः सफलता मिलेगी ही। अगर यह लेख नीति तय करनेवाले लोगों को उपर्युक्त तरीकों से सोचने के लिए बाध्य कर सके, तो मेरा प्रयास सार्थक होगा।

बम्बई : २१ अगस्त १९६२

●

अभय के मानी हैं बाहरी भयमात्र से मुक्ति–मौत का भय, धन दौलत लुट जाने का भय, कुटुंब परिवार विषयक भय, रोग भय, शस्त्रप्रहार का भय, प्रतिष्ठा का भय, किसी के बुरा मानने का भय।

— महात्मा गांधी

गत पन्द्रह वर्ष में रोजगारी व बेरोजगारी

भगवन्त नागेश दातार

दो योजनाएँ पूरी होने और तीसरी के चलने के बावजूद बेरोजगारी की स्थिति बदतर होती जा रही है; अर्थ-व्यवस्था का विकास जैसी कल्पना की गयी थी, उससे धीमा हो रहा है। पिछले पन्द्रह वर्ष में रोजगारी की क्या स्थिति रही है, उस पर तथा बेरोजगारी के विभिन्न पहलुओं पर प्रस्तुत लेख में विचार किया गया है।

आयोजन और विकास के सन्दर्भ में रोजगारी का कितना महत्व है, इस बात पर जोर देने की शायद ही कोई आवश्यकता हो। काम चाहनेवाला प्रत्येक व्यक्ति रोजगारी की स्थिति से अवश्य प्रभावित होता है। अगर उसे काम नहीं मिलता है, तो स्वयम् उसे तथा उसके परिवार को तो जीवन में कठिनाई का सामना करना ही पड़ता है पर साथ-साथ राष्ट्र को भी हानि उठानी पड़ती है; क्योंकि ऐसी अवस्था में राष्ट्र के उत्पादन कार्य में बिना हाथ बँटाए वस्तुओं का उपभोग होता है। देश में लोग अपनी शिक्षा, प्रशिक्षण, सहज प्रवृत्ति और क्षमता या कौशल के अनुसार हजारों काम-धंधे करते हैं। कुछ लोग गाँवों में रहते हैं तो कुछ शहरों में और काम की खोज में वे एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में साधारणतः गाँवों से शहरों में जाते हैं। यद्यपि काम की खोज करना व्यक्ति के लिए बड़ा सहज दीखता है, किन्तु उसे प्राप्त करना सदैव ही आसान नहीं होता। वस्तुतः आज रोजगारी पाने का वास्तविक संघर्ष चल रहा है; और इससे यह प्रश्न राजनीतिज्ञ, अर्थशास्त्री और आयोजक से लेकर साधारण व्यक्ति तक की गहरी और स्थायी दिलचस्पी का विषय बन जाता है।

अन्तर

आर्थिक विकास और रोजगारी के अवसर निर्माण करना, ये दोनों एक ही प्रक्रिया के दो पहलू हैं जिसका ध्येय बेहतर जीवन व्यतीत करने की हमारी अनन्त आकांक्षाओं की पूर्ति करना है। रोजगारी (यानी व्यक्ति जो दैनिक या मासिक पारिश्रमिक अथवा वेतन अर्जित करते हुए काम करते हैं) और बेरोजगारी (यानी व्यक्ति जो काम में लगे थे पर बाद में बेरोजगार हो गये या वे व्यक्ति जो काम की तलाश में हैं) में जो अन्तर है वह बिल्कुल स्पष्ट है। ये विचार ऐसे काम से सम्बन्धित हैं जो पारिश्रमिक पर होता है और ऐसी विकसित अर्थ-व्यवस्था का वर्णन करने में प्रयोग में लाये जाते हैं, जहाँ के लोगों को या तो रोजगारी प्राप्त है या वे बेरोजगार हैं।

बेरोजगारी के कारण

विकसित अर्थ-व्यवस्था में बेरोजगारी का मुख्य कारण तकनालाजिकल परिवर्तन होता है और वह अस्थायी होती है तथा व्यापार की स्थिति में सामान्य अर्थ में होनेवाले उतार-चढ़ाव पर और अभिनवीकरण एवम् उत्पादन प्रक्रिया में उन्नत तकनीकों के उपयोग से उत्पादकता के स्तर में हुए परिवर्तनों पर आधारित रहती है। विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था में आयोजक को उत्पादकता और रोजगारी में वद्धि करनेवाले तरीकों में संतुलन स्थापित करना पड़ता है। नये-नये उद्योगों और परियोजनाओं से रोजगारी के नये द्वार उन्मुक्त होते हैं। निरन्तर रोजगारी उपलब्ध करने और जनशक्ति बर्बाद जाने से रोकने के लिए प्रविस्तरण प्रबन्ध करने की आवश्यकता होती है। विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था में अर्ध-बेरोजगार लोगों का भी खयाल करना पड़ता है, जो बिल्कुल बेकार तो नहीं हैं पर उनके पास पूरा काम नहीं होता और वे अतिरिक्त काम के लिए उपलब्ध हैं अर्थात् वे और भी काम कर सकते हैं।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि देश में फिलहाल जैसी स्थिति है उसमें काफी लोग बेरोजगारी से प्रभावित हैं और उनसे भी ज्यादा लोग ऐसे हैं, जिन्हें आंशिक रोजगारी ही प्राप्त है। यद्यपि गाँवों में पूर्ण और अर्ध बेकारी में अन्तर नहीं किया जा सकता, पर पूर्ण बेकारी की समस्या प्रायः शहरों में अधिक है और अर्ध बेकारी की गाँवों में। चूंकि काम करने की इच्छा रखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को पर्याप्त काम नहीं मिल पाता, इसलिए जो-कुछ थोड़े-बहुत काम के अवसर उपलब्ध हैं काम करनेवालों में उनका बँटवारा हो जाता है। अगर इस अतिरिक्त जन-शक्ति को सक्रिय बना दिया जाय तो आर्थिक विकास बड़ी तीव्र गति से हो सकता है। यह कथन कि भारत में साधनों की प्रचुरता होते हुए भी गरीबी व्यापक रूप से व्याप्त है, शायद प्रचुर मात्रा में उपलब्ध एक ही साधन-स्रोत—जन-शक्ति—की ओर संकेत करता है।

गत १५ वर्षों में रोजगारी की स्थिति के मूल्यांकन का अर्थ है १९४७ यानी स्वतंत्रता-प्राप्ति के वर्ष से मूल्यांकन शुरू करना। इस सम्बन्ध में मुख्य कठिनाई है जानकारी की कमी और अन्तर इतने विस्तृत हैं कि रोजगारी, बेरोजगारी और अर्ध रोजगारी की स्थिति का परिपूर्ण चित्र उपस्थित करना सम्भव नहीं है। सन् १९४७ और १९५० के बीच की अवधि ऐसी अवधि थी कि उसमें देश की शक्ति विभाजन से उत्पन्न समस्याओं के समाधान में ही लगी। अतः १९५१ की जन-गणना ही एक ऐसा साधन है जिस पर हम विश्लेषण करने के लिए निर्भर रह सकते हैं। किन्तु जन-गणना तो इस बात का अध्ययन करने में ही उपयोगी हो सकती है कि काम में लगे लोग किस प्रकार के काम करते हैं।

नगरों में रोजगारी

बेरोजगारी और वह भी मुख्यतः शहरी क्षेत्रों की बेरोजगारी के सम्बन्ध में जानकारी राष्ट्रीय रोजगारी सेवा के अन्तर्गत रोजगारी कार्यालयों के जरिये प्राप्त की जाती है। दिसम्बर १९४७ में रोजगारी कार्यालयों के पास करीब १ लाख ७२ हजार लोगों ने अपने नाम दर्ज कराये थे और दिसम्बर १९५० में यह संख्या बढ़ कर २ लाख ८७ हजार हो गयी थी। रोजगारी और बेरोजगारी की स्थिति को समझने के लिए इन आंकड़ों की व्याख्या अनेक सीमाओं यानी बातों से नियंत्रित होती है, जैसे रोजगारी कार्यालयों की कुछ चुनिन्दा स्थानों पर ही स्थापना, समय-समय पर इन कार्यालयों की संख्या में वृद्धि होना, इन कार्यालयों में स्वेच्छा से नाम दर्ज कराना और इनके जरिये काम दिलाना, काम में लगे लोगों द्वारा अच्छा काम पाने हेतु नाम दर्ज कराने की सम्भावना आदि। अतः ये आंकड़े शहरों की बेरोजगारी की स्थिति से भी पूर्णतः अवगत नहीं कराते। यद्यपि इस अवधि में श्रम-शक्ति की वृद्धि और रोजगारी के सृजन का विवरण उपलब्ध नहीं है, पर यह मानना अनुचित न होगा कि १९४७ से १९५१ के बीच की अवधि में आर्थिक मामलों पर जो चर्चाएँ हुई उनमें बेरोजगारी मुख्य विषय नहीं रहा। ऐसा प्रतीत होता है कि द्वितीय महायुद्ध और कोरिया की लड़ाई के कारण बाजार में जो तेजी आयी थी, उसमें रोजगारी की स्थिति में कुछ इस हद तक स्थिरता आयी कि वह अधिक चिंता-जनक नहीं थी।

दो योजनाओं में

अब प्रथम एवम् द्वितीय योजना-काल में परिमाण की दृष्टि से रोजगारी की स्थिति का मूल्यांकन करना समीचीन होगा। परिमाण की दृष्टि से रोजगारी की स्थिति को प्रभावित करनेवाले कारण हैं : (अ) योजना के शुरू में बेरोजगारों की संख्या; (आ) योजनावधि में श्रम-शक्ति में वृद्धि; और (इ) योजना के कार्यान्वियन के परिणाम-स्वरूप अतिरिक्त रोजगारी के अवसरों का सृजन। अन्तिम (इ) के सम्बन्ध में अनुमान लगाते वक्त अर्थ-व्यवस्था के आयोजित विभाग में प्रत्यक्ष रूप से रोजगारी प्राप्त व्यक्तियों की संख्या पर ही ध्यान नहीं दिया जाता बल्कि उन लोगों की संख्या का भी ध्यान रखा जाता है जिन्हें परोक्ष रूप से व्यापार, वाणिज्य और यातायात के क्षेत्रों में रोजगारी उपलब्ध हुई है। श्रम-शक्ति में हुई वृद्धि की गणना लाभदायक रूप से काम

में लगे या काम पाने की कोशिश में लगे १५-५९ वर्ष के आयु वर्ग में आनेवाले स्त्री-पुरुषों के अनुपात से की जाती है।

प्रथम योजना

प्रथम योजना मुख्य रूप से महायुद्ध और देश के बँटवारे से उत्पन्न विशिष्ट समस्याओं को हल करने के उद्देश्य से बनायी गयी थी। उल्लिखित कारणों से इस योजना में रोजगारी की स्थिति पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। मोटे तौर पर प्रथम पंच वर्षीय योजना का उद्देश्य देश की अर्थ-व्यवस्था की बुनियाद मजबूत करना और आगामी वर्षों में विकास की गति में तीव्रता लाने के लिए सांस्थानिक परिवर्तन लाना था। परन्तु योजना के मध्य में योजना आयोग को बेरोजगारी की समस्या पर ध्यान देना पड़ा। कोरिया की लड़ाई से उत्पन्न तेजी के गिरते ही काम चाहनेवालों की संख्या में वृद्धि होने लगी और दिसम्बर १९५३ में रोजगारी कार्यालयों के पास काम चाहनेवालों के नामों की संख्या करीब ५ लाख २२ हजार तक पहुँच गयी। अतः बेरोजगार लोगों को काम देने के उद्देश्य से विशिष्ट योजनाएँ सम्मिलित करने हेतु योजना में संशोधन किया गया। ऐसी अल्प-कालीन योजनाएँ सम्मिलित की गयीं, जिनसे रोजगारी के सृजन को प्रोत्साहन मिले। आरम्भ में प्रथम योजना में कृषि के अलावा अन्य क्षेत्रों में ५५ लाख लोगों को काम उपलब्ध कराने का लक्ष्य था।

योजनावधि में 'एक दश-सूत्री कार्यक्रम' सहित और जो कार्यक्रम शुरू किये गये उनके फलस्वरूप प्रथम योजना के लिए निर्धारित लक्ष्य लगभग प्राप्त हो गये। किन्तु प्रथम योजना में जितने नये काम करनेवालों की संख्या बढ़ी थी उसके हिसाब से यह लक्ष्य भी कम था। बाद में रोजगारी की स्थिति बिगड़ी और इसका पता इस बात से लग जाता है कि मार्च १९५६ तक रोजगारी कार्यालयों के रिक्त रजिस्टर, (लाइव रजिस्टर) के नाम दर्ज करानेवाले बेरोजगारों की संख्या ७ लाख ५ जार तक पहुँच गयी। इन पाँच वर्षों में (मार्च १९५१ से मार्च १९५६ तक की अवधि में) विशुद्ध वृद्धि ३ लाख ६८ हजार थी। इन आंकड़ों का अध्ययन यदि शहरों की बेकारी पर राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (प्रारम्भिक सर्वेक्षण) में प्राप्त परिणामों को दृष्टिगत रख कर किया जाय तो (सर्वेक्षण के अनुसार सिर्फ २५ प्रति शत बेकार लोग ही अपना नाम रोजगारी कार्यालयों में दर्ज कराते हैं) १९५१ और १९५६ में मौजूदा बेकारी की हालत का मोटे तौर पर अन्दाज लगाया जा सकता है। शायद इनकी संख्या क्रमशः १३ लाख ४८ हजार और २८ लाख २० हजार हो सकती है।

द्वितीय योजना

इस आधार पर द्वितीय योजना के प्रारम्भ में अस्थायी बेकारी को छोड़ कर– जिनका होना अपरिहार्य है–२५ लाख बेरोजगार लोगों का अनुमान लगाया गया। कृषि श्रमिक जाँच समिति के प्रतिवेदन के आधार पर गाँवों में बेरोजगारों की संख्या का अनुमान २८ लाख लगाया गया था। रोजगारी प्रदान करना द्वितीय योजना का चार लक्ष्यों में से एक था। इस समस्या को भली-भाँति समझने हेतु द्वितीय योजना-काल में नियमित रूप से रोजगारी विषयक जानकारी एकत्रित करनेवाला संगठन काफी शक्तिशाली बनाया गया, नये रोजगारी कार्यालय स्थापित किये गये और इन कार्यालयों द्वारा चलाये जानेवाले रोजगारी के विषय में सूचना देनेवाले केन्द्रों का एक जाल-सा बिछाया गया। ये केन्द्र ऐसे सार्वजनिक एवम् गैर सरकारी प्रतिष्ठानों में, जिनमें से प्रत्येक में २५ या उससे अधिक व्यक्ति काम करते हों, रोजगारी की हालत की खबरें देने लगे। और, प्रत्येक केन्द्र ने विभिन्न स्थानों पर रोजगारी की स्थिति में होनेवाले परिवर्तनों के बारे में उपयोगी सामग्री प्रदान की।

दूसरी योजना के प्रारम्भ में देश में ५३ लाख व्यक्ति बेरोजगार थे, जिनमें से २५ लाख शहरों में व २८ लाख गाँवों में थे। यह अनुमान था कि दूसरी योजना की अवधि में काम चाहनेवाले नये एक करोड़ लोग आ जायेंगे। पूर्ण रोजगारी देने के लक्ष्य की पूर्ति करने के लिए द्वितीय पंच वर्षीय योजना की अवधि में १ करोड़ ५० लाख से

अधिक लोगों को काम देना आवश्यक था। यह स्वीकार किया गया था कि योजनावधि में बढ़ती हुई बेकारी को रोकने के लिए कम से कम उन लोगों को जो प्रति वर्ष काम पाने के लिए तैयार हो जाते हैं, काम दिलाने के लिए प्रयास किया जाना चाहिए, ताकि बेरोजगारी की स्थिति जहाँ की वहाँ रोक रखी जाय। अतः दूसरी पंच वर्षीय योजना का लक्ष्य करीब एक करोड़ लोगों को काम दिलाना रखा गया। यह अपेक्षा की गयी थी कि सिंचाई, सामुदायिक विकास, ग्राम एवम् लघु उद्योगों आदि सम्बन्धी कार्यक्रमों के जरिये अर्ध बेकारों को भी कुछ राहत मिल जायगी। इसके अतिरिक्त शिक्षित बेकारों के लिए कुछ विशेष योजनाएँ बनायी गयीं, जैसे कार्य-सह-अभिस्थापन केन्द्रों, सहकारी भारवाही यातायात, उत्पादन केन्द्रों आदि की स्थापना।

रोजगारों की संख्या में वृद्धि

तथापि, योजना के परिव्यय और स्थूल लक्ष्यों में संशोधन करके कमी करनी पड़ी और साथ ही कीमतें बढ़ीं जिससे योजना के लिए निर्धारित रोजगारी के अवसरों में २० प्रति शत की कमी हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि तीसरी योजना के प्रारम्भ में बेरोजगार व्यक्तियों की संख्या और भी बढ़ी हुई थी। प्रथम और द्वितीय योजनाओं में रोजगारी के अवसर निर्मित करने में काफी प्रयत्न करने के बावजूद उनकी समाप्ति पर देश में बेकारों की संख्या बढ़ी। अनुमानतः उस समय करीब ९० लाख लोग बेकार थे, जिन्हें रोजगारी देने का काम तृतीय और उसके बाद की योजनाओं पर छोड़ा गया। यह संख्या देश की कुल ४३ करोड़ ९० लाख जन-संख्या का करीब २.१ प्रति शत है।

बेरोजगारों की इतनी बड़ी संख्या होने के अतिरिक्त यह अनुमान लगाया गया था कि तृतीय योजना की अवधि में करीब १ करोड़ ७० लाख व्यक्ति नये काम करनेवाले तैयार हो जायेंगे और १९६१ की जन-गणना के आंकड़ों के हिसाब से–जिन्हें अभी सारिणीबद्ध किया जा रहा है–जब इस संख्या में संशोधन किया जायगा तो बहुत सम्भव है कि यह और भी बढ़ जाय। यद्यपि अर्ध-बेकारी की अवस्था का सही-सही अनुमान लगाना सम्भव नहीं है, पर ऐसे लोगों की संख्या जिनके पास थोड़ा ही काम है और वे अधिक काम पाने के लिए इच्छुक हैं, आज १ करोड़ ५० लाख से १ करोड़ ८० लाख तक मानी जाती है। यह अनुमान राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण द्वारा १९५५ और १९५७ के मध्य की गयी जाँचों पर आधारित है और यह उन लोगों से सम्बन्धित है, जिन्हें औसतन दैनिक चार घण्टा या उससे कुछ कम समय तक ही काम मिल पाता है (वे बुरी तरह अर्ध बेकारी के शिकार हैं) तथा उन लोगों से जो प्रति दिन ४ घण्टे से ८ घण्टे तक काम कर लेते हैं (साधारणतः अर्ध बेकार लोग) किन्तु अधिक काम पाने के इच्छुक हैं। तृतीय योजना का लक्ष्य १ करोड़ ७० लाख व्यक्तियों के लिए काम के अवसर निर्मित करना है, जोकि अपेक्षित नयी श्रम-शक्ति की वृद्धि के बराबर ही है।

तृतीय योजना में इस समस्या के विभिन्न पहलुओं और रोजगारी का लक्ष्य प्राप्त करने के कल्पित उपायों पर भी व्यापक रूप से विवेचन किया गया है। इसका उद्देश्य १ करोड़ ४० लाख व्यक्तियों को रोजगारी देने की व्यवस्था करना है–जिनमें से १ करोड़ ५ लाख को गैर कृषि क्षेत्र में और ३५ लाख को कृषि और उसकी सहायक गतिविधियों में। योजना के अंतिम वर्ष में ग्रामीण निर्माण कार्यक्रमों द्वारा गाँवों में योजना के अन्तिम वर्ष तक २५ लाख व्यक्तियों को काम देने की व्यवस्था भी की गयी है; परन्तु यह कार्यक्रम मुख्यतः अर्ध बेकारों को राहत देने के रूप में ही होगा। ग्रामीण और लघु उद्योगों, उनकी उत्पादक-क्षमता का पूर्ण उपयोग, ग्रामीण औद्योगीकरण, ग्रामीण विद्युतीकरण, यातायात आदि से सम्बन्धित कार्यक्रमों को रोजगारी के अवसर निर्मित करने की दृष्टि से बहुत महत्व दिया जाता है।

ग्राम, खण्ड और जिला स्तरों पर बेरोजगारी की समस्या को हल करने पर भी योजना पर्याप्त जोर देती है। पहले की तरह यह बताया जा चुका है कि बेरोजगारी

निवारण की प्रक्रिया एक लम्बे अर्से तक चलनेवाली प्रक्रिया है। योजना में रोजगारी का एक दीर्घ-कालीन उद्देश्य यह है कि १९७६ तक कृषि पर निर्भर रहनेवाली श्रम-शक्ति का अनुपात घटा कर ६० प्रति शत कर दिया जाय। इसका यह अर्थ है कि १९६१-१९७६ की अवधि में गैर कृषि क्षेत्र में ५ करोड़ व्यक्तियों को काम देने की व्यवस्था की जाय।

मन्द आर्थिक विकास

तृतीय योजना के प्रथम दो वर्षों में रोजगारी मुहैया करने का जो क्रम रहा है उसके सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि अमूमन तौर पर श्रम-शक्ति में ३० लाख नये व्यक्ति वार्षिक रूप से काम चाहने के लिए तैयार हो जाते हैं, उनके समकक्ष ४० लाख को काम देने की व्यवस्था की गयी होती। स्पष्टतः प्राप्त सफलता हमारी आवश्यकता से ओछी पड़ती है। रोजगारी कार्यालयों में नाम दर्ज व्यक्तियों की संख्या में भी उक्त स्थिति का प्रतिबिम्ब मिलता है। उनकी संख्या मार्च १९६१ के अन्त में १५ लाख ६१ हजार थी जो मार्च १९६२ में १८ लाख ५४ हजार तक और मार्च १९६३ में तकरीबन २५ लाख तक पहुँच गयी। इस बात के लिए कुछ रियायत करते हुए भी कि रोजगारी कार्यालयों की संख्या में कुछ वृद्धि और रिक्त स्थानों को अनिवार्य रूप से अधिसूचित करने का कुछ प्रभाव पड़ा हो, तो भी इतनी अधिक वृद्धि वस्तुतः गहरी चिन्ता का विषय है।

कुल मिला कर देखने पर यह कहा जा सकता है कि जिस गति से आर्थिक विकास होने की कल्पना की गयी थी, उससे उसकी गति काफी कम रही है। राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आंकड़ों से भी उक्त कथन की पुष्टि होती है। कृषि उत्पादन प्रायः स्थिर रहा है। शक्ति, कच्ची सामग्री, विदेशी विनिमय आदि की कमी जैसी अनेक बाधाओं के कारण उद्योग अपनी क्षमता से कम काम कर रहे हैं। यदि जन-संख्या वृद्धि १९५१-६१ की दर से जारी रहती है तथा विकास की गति भविष्य में तीव्र नहीं हुई, तो यह मानने के कारण हैं कि तृतीय योजना के दरमियान रोजगारी की स्थिति और भी खराब हो जायेगी।

इसके साथ ही साथ कि बेरोजगारों की संख्या में वृद्धि होती है, दूसरी तरफ जन-शक्ति की–विशेष कर तकनीकल और वृत्तिक कार्यकर्त्ताओं के मामले में–कमी है। किसी हद तक यह बात क्षेत्रीय असंतुलन के कारण हो सकती है, लेकिन समग्र रूप से देखने पर पता चलता है कि अर्थ-व्यवस्था की जन-शक्ति सम्बन्धी आवश्यकताओं तथा जन-शक्ति की पूर्ति के बीच संतुलन की कमी शायद अस्थायी है। तदनुसार तृतीय योजना में प्राविधिक शिक्षा के पर्याप्त विस्तार और प्रशिक्षण सुविधाओं की व्यवस्था है, ताकि वर्तमान आवश्यकताएँ पूर्ण की जा सकें एवम् भविष्य में सभी स्तरों पर इस प्रकार के व्यक्तियों की उपयुक्त पूर्ति के लिए नींव डाली जा सके। देश के अन्दर ही प्रशिक्षित तकनीकल व्यक्ति तैयार करना, जन-शक्ति उपयोगिता का एक महत्वपूर्ण अंग है। कुछ समय के लिए उधार लिये गये व्यक्तियों से काम चलाना सम्भव है, पर चूँकि प्रशिक्षित व्यक्तियों की भी संसार में कमी है, इसलिए अनवरत रूप से उन्हें बाहर से बुलाते रहना न तो वांछनीय है और न शक्य ही।

गत बारह वर्ष में हमारी बेरोजगारी के एक दूसरे पहलू–शिक्षित बेरोजगारों–की तरफ देश का ध्यान गया है। रोजगारी कार्यालयों के रजिस्टरों से पता चलता है कि शिक्षित व्यक्ति पर्याप्त संख्या में बेरोजगार हैं। इस मामले में छानबीन करने की आवश्यकता है। सन् १९५५ में नियुक्त एक अध्ययन दल के अनुमान के मुताबिक–जिसने उन व्यक्तियों को शिक्षित माना था, जो मैट्रिक की परीक्षा में उत्तीर्ण हो चुके थे—द्वितीय योजना के प्रारम्भ में बेरोजगारी की संख्या ५ लाख ५० हजार थी। तब से इस संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई है। इस अध्ययन का एक परिणाम यह निकला कि इसने विश्व विद्यालय के स्तर की शिक्षा और रोजगारी के मध्य सम्बन्ध मालूम यानी स्थापित करने के विचार का प्रचलन किया, ताकि उस दिशा की खोज की जा सके, जिसमें शिक्षा का अभिनवीकरण करने की आवश्यकता है।

इस दिशा में प्रथम कदम यह था कि दिल्ली विश्व विद्यालय से १९५० और १९५४ में निकले विद्यार्थियों

का १९५८-५९ में एक सर्वेक्षण किया गया। इस सर्वेक्षण के अन्तर्गत वे सभी व्यक्ति शामिल थे, जिन्होंने उक्त वर्षों में स्नातकीय उपाधियाँ, डिप्लोमा तथा प्रमाण-पत्र प्राप्त किये। यद्यपि ऐसा लगता है कि सर्व प्रथम रोजगारी मिलने से पहले उक्त विद्यार्थियों में से बहु-सों को एक वर्ष तक बेरोजगार रहना पड़ा, किन्तु समग्र रूप से देखने पर उनकी रोजगारी सम्बन्धी स्थिति असन्तोष-जनक नहीं पायी गयी। उनमें से अधिकांश को सार्वजनिक विभाग में काम मिला। सर्वेक्षण से यह भी पता चला कि अधिक वेतन, पेशे की दृष्टि से उच्च दर्जे अथवा अधिक सुरक्षा की खोज के लिए उनमें पर्याप्त तत्परता थी।

वृत्तिक उद्देश्यविहीनता के अत्यधिक प्रभाव के अतिरिक्त रोजगारी प्राप्त करने में पारिवारिक पद्धति का अनुसरण करने की ओर शक्तिशाली झुकाव था। महिला विद्यार्थियों में शिक्षण-कार्य सर्वाधिक लोकप्रिय था—करीब ५० प्रति शत स्थानों पर वे काम कर रही थीं। सर्वेक्षण से इस बात का पता चला कि कानूनी पढ़ाई के अतिरिक्त वृत्तिक तथा प्राविधिक पाठ्यक्रमों के सम्बन्ध में शिक्षा और रोजगारी के मध्य निकट सम्बन्ध है। सामान्य शिक्षा प्राप्त अधिकांश व्यक्ति क्लर्की का काम करते पाये गये, जिससे सामान्य शिक्षा और रोजगार के मध्य असंतोषजनक सम्बन्ध की स्थिति प्रकाश में आयी। सामान्य स्नातकीय प्रमाण-पत्रों-वाले व्यक्तियों में पर्याप्त पेशेवर सक्रियता, तत्परता पायी गयी। दिल्ली सर्वेक्षण (१९५८-५९ में) के परिणामों से प्रोत्साहित हो कर स्नातकीय रोजगारी की पद्धति पर १९६० में एक अखिल भारतीय सर्वेक्षण प्रारम्भ किया गया, जो उन विश्वविद्यालयीन स्नातकों तक ही सीमित था, जिन्होंने १९५० और १९५४ में डिग्रियाँ प्राप्त कीं। यद्यपि इस द्वितीय सर्वेक्षण के अंतिम आंकड़े प्रकाशित नहीं हुए हैं, तो भी सारांश रूप में अखिल भारतीय आंकड़ों से दिल्ली सर्वेक्षण के निष्कर्षों का समर्थन होता प्रतीत होता है।

इन सर्वेक्षणों तथा विकसित किये जानेवाले उद्योगों और अनुमानित जन-संयोजन पद्धति के आधार पर उनकी आवश्यकताओं के बारे में सहायक जानकारी से शिक्षित जन-शक्ति की बेहतरीन उपयोगिता के लिए सुझाव प्राप्त होगा। ज्यों-ज्यों योजना में प्रगति होती है, त्यों-त्यों ग्राम प्रशासन, शिक्षा, उद्योग आदि जैसे क्षेत्रों में काम करने के लिए शिक्षित व्यक्तियों के लिए रोजगारी के अधिकाधिक अवसरों का सृजन भी होनेवाला है। अधिक रोजगारी के अवसर निर्मित करने और साथ ही साथ शारीरिक श्रम करने प्रति उनके दृष्टिकोण में अन्तर आने से उनकी समस्या हल करने में बहुत बड़ी सहायता मिलेगी।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे प्रकट होगा कि

१. भारत में रोजगारी की समस्या का तात्पर्य है पूर्ण और अल्प-बेरोजगारी—प्रथम मुख्यतः शहरी क्षेत्रों में और द्वितीय ग्रामीण क्षेत्रों में पायी जाती है।

२. स्वतंत्रता प्राप्ति से लेकर १९५१ तक आर्थिक मामलों पर हुए विचार में रोजगारी का सवाल महत्वपूर्ण नहीं था; क्योंकि द्वितीय विश्वयुद्ध और कोरिया की लड़ाई के कारण आयी तेजी का अनुकूल प्रभाव पड़ा।

३. प्रथम दोनों तथा तृतीय योजनाओं के अन्तर्गत विकासशील प्रयत्नों के बावजूद रोजगारी की स्थिति में ह्रास होने के लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे हैं; क्योंकि रोजगारी का उस तीव्र गति से सृजन नहीं हो रहा है कि श्रम-शक्ति में नवागंतुकों को काम दिया जा सके।

४. यह एक विरोधाभास ही है कि पर्याप्त जन-शक्ति के होते हुए भी प्राविधिक तथा वृत्तिक व्यक्तियों के मामले में अर्थ-व्यवस्था के सामने जन-शक्ति की कमी आयी है। इसका अर्थ है देश में जन-शक्ति की आवश्यकता व उसकी पूर्ति के बीच सन्तुलन का अभाव—सम्भवतः अस्थायी।

५. सामान्य बेरोजगारी के साथ ही साथ शिक्षित व्यक्तियों में भी बेरोजगारी बढ़ रही है।

नयी दिल्ली : ७ सितम्बर १९६३

भारत में पूँजी संचयन और निवेश

अमृतलाल दत्त

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् सकल अचल निवेश की वृद्धि दर सकल राष्ट्रीय उत्पादन की दर से तीव्र रही है। पूँजी संचयन की वार्षिक वृद्धि दर भी विशुद्ध अचल निवेश की दर से आगे बढ़ गयी है। ऐसा, उच्च वृद्धिशील पूँजी-उत्पादन-अनुपात के साथ-साथ हुआ है। प्रस्तुत लेख में बताया गया है कि निर्यात-आय को अधिकतम बनाया जाय। उससे ही देश में अचल पूँजी निर्माण की प्रक्रिया को द्रुत गति मिल सकती है।

भारत में पूँजी निर्माण का विकास काफी समय से मन्द रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी में दीर्घ स्तर पर विनियोजन करके जूट और वस्त्रोद्योग की स्थापना को छोड़ कर १९२० या १९३० तक देश में औद्योगिक विकास प्रायः गतिहीन ही रहा। उक्त समय में यानी १९२०–३० के बीच उपभोक्ता सामग्री तथा अन्य कुछ मध्यस्थ-सृष्ट (अर्थात् ऐसे उत्पादन जो प्राथमिक भी न हों और अन्तिम भी नहीं, बल्कि बीच-वाले, जैसे पूनी) उत्पादन के लिए चन्द उद्योग स्थापित हुए। युद्ध तथा युद्धोत्तर काल में इस प्रक्रिया को कुछ बढ़ावा मिला और डीजल इंजन, रेल के इंजन, वस्त्रोद्योगी यंत्र आदि का निर्माण करनेवाले बुनियादी सामग्री उत्पादक उद्योगों की स्थापना करने हेतु एक श्रीगणेश भी हुआ। तथापि, विनियोजन न केवल उपभोक्ता सामग्री-उद्योगों में ही संकेन्द्रित था, बल्कि उसका नियन्त्रण और प्रबन्ध भी प्रायः परिपूर्ण रूप से स्वतंत्र व्यक्तियों के हाथ में था। अनेक सर्वविदित बाधक पहलुओं के कारण बुनियादी सामग्री उत्पादक उद्योगों के विस्तार की सीमित गुंजाइश थी। परिणाम-स्वरूप अचल विनियोजन अर्थात् निवेश के लिए निर्धारित साधन-स्रोत अपेक्षाकृत मामूली थे।

देश को आजादी मिलने के साथ अचल सम्पत्ति निर्माण की दीर्घ-कालीन गतिहीनता समाप्त हुई। अगस्त १९४७ के पश्चात् का समय भारत के आर्थिक विकास में एक नये उत्साहपूर्ण अध्याय के प्रारम्भ का द्योतक है। औद्योगिक नीति में परिवर्तन और पंच वर्षीय योजनाओं के प्रारम्भ के साथ सरकारी नीति अधिक तीव्र गति से आर्थिक विकास करने के लिए अधिकाधिक रूप से अचल निवेश यानी विनियोजन के विस्तार की ओर उन्मुख हुई। पिछले वर्षों में देश ने कितनी तीव्र प्रगति की है, इस बात की एक झलक आजादी हासिल करने के बाद अचल सम्पत्ति निर्माण में कितना विकास हुआ है उससे प्राप्त की जा सकती है। सन् १९४८–४९ और १९६०–६१ के बीच जहाँ सकल अचल सम्पत्ति सात प्रति शत वार्षिक की दर से बढ़ी वहाँ सार्वजनिक विकास में यह वृद्धि १३ प्रति शत थी और निजी विभाग में ५.६ प्रति शत। इसके अलावा समग्र अचल निवेश में सार्वजनिक विकास का हिस्सा (१९५८-५९ में प्रचलित मूल्यों के आधार पर) योजना-युग से पूर्व १९.३ प्रति शत था, वह प्रथम और द्वितीय पंच वर्षीय योजनाओं में क्रमशः २७.३ और ३५.५ प्रति शत हो गया। निवेश के इस परिमाण में हुई वृद्धि के साथ सकल राष्ट्रीय उत्पादन में सकल अचल निवेश की वृद्धि (यानी औसत निवेश अनुपात) भी हुई। जैसा कि निम्न आंकड़ों से प्रकट है, योजना-पूर्व-काल का औसत निवेश अनुपात

टिप्पणी : प्रस्तुत लेख लेखक ने व्यक्तिगत हैसियत से लिखा है।

प्रथम योजना में १२.१ से बढ़ कर १३.२ प्रति शत और द्वितीय योजना में १७.५ प्रति शत हो गया। *

	सकल अचल में वार्षिक वृद्धि की दर (प्रातिशत्य)	निवेश औसत निवेश अनुपात
(१९५८-५९ में प्रचलित मूल्यों के आधार पर)		
योजना-पूर्व काल (१९४८-४९ से १९५०-५१)	४.१	१२.१
प्रथम योजना काल (१९५१-५२ से १९५५-५६)	८.६	१३.२
द्वितीय योजना काल (१९५६-५७ से १९६०-६१)	६.५	१७.५
समग्र काल (१९४८-४९ से १९६०-६१)	७.०	१४.८

स्रोत : भारत सरकार : केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन और संयुक्त राष्ट्र संघ : एशिया और सुदूर पूर्व का आर्थिक सर्वेक्षण, १९६१।

निवेश हेतु साधन-स्रोतों का नियतन फिर भी अक्षरशः योजना-कालों का पालन नहीं करता। इस बात का पता निवेश अनुपात के झुकाव से लग सकता है, जोकि १९५४–५५ तक प्रायः स्थिर ही रहा, किन्तु उसके बाद उसमें उल्लेखनीय वृद्धि हुई। जैसा कि आगे तालिका ? में दिये गये अंकों से पता चलता है स्थिर मूल्यों के आधार पर औसत निवेश-अनुपात में सुधार हुआ और वह १९४८–४९ / १९५४–५५ के दरमियान के १२.३ प्रति शत से बढ़ कर १९५४–५५/१९६०–६१ के दौरान १६.६ प्रति शत हुआ। सन् १९५४–५५ के पश्चात् न केवल सार्वजनिय परिव्यय तीव्र बनाया गया बल्कि निजी क्षेत्र में भी अधिक कार्यशीलताओं ने जोर पकड़ा, जिसे कि आजादी मिलने से पहले के प्रारम्भिक काल की अनिश्चितता के वातावरण (राष्ट्रीयकरण, श्रमिकों के झगड़ों आदि का भय) की बजाय अपने अस्तित्व के सम्बन्ध में अब अधिक विश्वास हो गया था। फिर भी, १९५४–५५ से सकल अचल निवेश की वृद्धि की दर सकल राष्ट्रीय उत्पादन विकास से अधिक रही है। जहाँ १९४८–४९ से १९५४–५५ तक अचल निवेश में वृद्धि की औसत दर ५.३ प्रति शत और १९५४–५५ से १९६०–६१ तक ८.७ प्रति शत रही है, वहाँ सकल राष्ट्रीय उत्पादन की उक्त अवधियों के लिए औसत दर क्रमशः २.९ प्रति शत तथा ३.१ प्रति शत रही हैं। अतएव अध्ययन के उद्देश्य से १९५४-५५ को विभाजक रेखा माना जा सकता है।

भारत में जिन दो विभागों ने अचल विनियोजन अथवा निवेश के विकास में योगदान दिया उनमें निजी विभाग ने–जैसा कि उसकी भूतकालीन देन का निदर्शन किया गया है–सकल राष्ट्रीय उत्पादन में सार्वजनिक विभाग के अपेक्षाकृत मामूली हिस्से (४.३ प्रति शत) के समक्ष काफी अधिक (१०.५ प्रति शत) योगदान दिया। फिर भी, जैसा कि पहले कहा जा चुका है अचल निवेश में वार्षिक वृद्धि की दर निजी विभाग की अपेक्षा सार्वजनिक विभाग में काफी अधिक थी; आलोच्य काल के उतरार्द्ध में अनुवर्ती की दर में कुछ कमी आयी तो पूर्ववर्ती की दर में पर्याप्त सुधार हुआ। तथापि, आलोच्य काल में सार्वजनिक विभाग के सम्बन्ध में जो समस्त रूप से उच्च दर दृष्टिगोचर होती है वह इस बात का प्रमाण है (यदि प्रमाण की आवश्यकता भी हो तो) कि आजादी के बाद इस विभाग ने उल्लेखनीय प्रगति की है। इसका जो न्यून निवेश अनुपात है उसे भी १९३०–४० के मध्य सार्वजनिक आर्थिक गतिविधियों के क्षेत्र में जो गतिहीनता की अवस्थाएँ थीं, उनके सन्दर्भ में प्रभावोत्पादक समझा जा सकता है। (नीचे तालिका २ देखिए)

* इस सम्पूर्ण लेख में अचल निवेश, स्टाक तथा अन्य सहायक आंकड़े 'राष्ट्रीय आय सांख्यिकी' (भारत में १९४८–४९ से १९६०-६१ तक सकल पूँजी निर्माण का अनुमान) पर प्रकाशित केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन के 'पेपर' से लिये गये हैं।

तालिका १

सार्वजनिक और निजी निवेश की प्रगति

(१९५८–५९ में प्रचलित मूल्यों के आधार पर)

वर्ष	सकल राष्ट्रीय उत्पादन में सकल अचल निवेश का अनुपात			सकल निवेश में सार्वजनिक निवेश का प्रातिशत्य
	सार्वजनिक	निजी	कुल	
१९४८–४९	२.१	९.५	११.६	१७.९
१९४९–५०	२.३	१०.१	१२.४	१८.९
१९५०–५१	२.६	९.७	१२.३	२१.०
१९५१–५२	२.९	१०.०	१२.९	२२.३
१९५२–५३	२.९	९.२	१२.१	२४.०
१९५३–५४	३.२	८.६	११.८	२७.२
१९५४–५५	३.८	९.४	१३.२	२९.२
१९५५–५६	५.०	१०.६	१५.६	३१.८
१९५६–५७	५.४	११.९	१७.३	३१.१
१९५७–५८	५.४	१३.३	१८.७	२९.०
१९५८–५९	५.३	११.३	१६.६	३२.१
१९५९–६०	७.३	१०.८	१७.१	४२.८
१९६०–६१	५.८	१२.०	१७.८	३२.४

स्रोत : अचल निवेश के सम्बन्ध में आंकड़े केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन के 'पेपर' से और सकल राष्ट्रीय उत्पादन के बारे में संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा १९६१ में किये गये 'एशिया और सुदूर पूर्व के आर्थिक सर्वेक्षण' से लिये गये हैं। द्वितीय आंकड़े प्रथम से संकलित किये गये हैं।

तालिका २

सकल राष्ट्रीय उत्पादन और सकल अचल पूँजी निर्माण के विकास में सम्बन्ध

(१९५८–५९ में प्रचलित मूल्यों के आधार पर)

वार्षिक वृद्धि दर (प्रातिशत्य)	१९४८–४९ से १९६०–६१ तक	१९४८–४९ से १९५४–५५ तक	१९५४–५५ से १९६०–६१ तक
सकल राष्ट्रीय उत्पादन (स. रा. उ.)	३.०	२.९	३.१
सकल अचल निवेश (स. अ. नि.)	७.०	५.३	८.७
१. सार्वजनिक क्षेत्र	१३.०	१४.२	११.८
२. निजी क्षेत्र	५.६	२.७	८.५
स. रा. उ. के प्रातिशत्य स्वरूप (स. अ. नि.)	१४.८	१२.३	१६.६
इसमें १. सार्वजनिक क्षेत्र	४.३	२.९	५.५
२. निजी क्षेत्र	१०.५	९.४	११.१
वद्धिशील पूंजी-गुणक अनुपात *	४.९	४.२	५.४

* औसत निवेश अनुपात को सकल राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि की वार्षिक दर से भाग देकर निकाला गया।

आलोच्य काल में सकल और विशुद्ध निवेश के पारस्परिक सम्बन्ध में परिवर्तनों तथा वस्तु-सूचियों में परिवर्तन व अवमूल्यन का अध्ययन करना यहाँ रुचिकर होगा। यद्यपि नीचे तालिका ३ में प्रस्तुत आंकड़ों में कुछ समंजन (जैसा कि तालिका की टिप्पणी में बताया गया है) किया गया है, फिर भी यह माना जा सकता निवेश के परिवर्तनों में अन्तर माल (स्टॉक) की स्फीतियों के कारण थे जो १.३ प्रति शत से बढ़ कर १.५ प्रति शत हो गयीं। इसका मुख्य कारण था, देश में फसलों का अनिश्चित होना जिससे आयात के जरिये खाद्यान्नों में वृद्धि करना आवश्यक हो गया।

सकल राष्ट्रीय उत्पादन के प्रति सकल और विशुद्ध

तालिका ३

सकल राष्ट्रीय उत्पादन के प्रातिशत्य स्वरूप सकल अचल निवेश, अवमूल्यन, वस्तु-सूची और पूंजी संचयन में सापेक्षिक परिवर्तन

(१९५८–५९ में प्रचलित मूल्यों के आधार पर)

अवधि	सकल अचल निवेश	अवमूल्यन	विशुद्ध अचल निवेश	वस्तु-सूची परिवर्तन	पूंजी संचयन
१९४८–४९ से १९५०–५१	१२.१	७.६	४.५	१.१	५.६
१९५०–५१ से १९५२–५३	१२.४	७.३	५.१	१.०	६.१
१९५२–५३ से १९५४–५५	१२.४	६.९	५.५	१.१	६.६
१९५४–५५ से १९५६–५७	१५.४	६.७	८.७	१.८	१०.५
१९५६–५७ से १९५८–५९	१७.५	६.५	११.०	१.७	१२.७
१९५८–५९ से १९६०–६१	१७.२	६.४	१०.८	२.१	१२.९
१९४८–४९ से १९६०–६१	१४.८	६.९	७.९	१.४	९.३
१९४८–४९ से १९५४–५५	१२.३	७.३	५.०	१.३	६.३
१९५४–५५ से १९६०–६१	१६.६	६.५	१०.१	१.५	११.६

टिप्पणी : चूंकि विशुद्ध अचल निवेश के सम्बन्ध में प्रचलित मूल्यों के आधार पर आंकड़े उपलब्ध हैं, इसलिए स्थिर मूल्यों के आधार पर विशुद्ध अचल निवेश हासिल करने के लिए प्रचलित मूल्यों के आधार पर प्रत्येक वर्ष के लिए सकल अचल निवेश के प्रति विशुद्ध अचल निवेश का अनुपात स्थिर मूल्यों (१९५८-५९) के आधार पर सकल अचल निवेश पर लागू किया गया है।

स्रोत : भारत सरकार : केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन।

है कि इस समंजन से वस्तुस्थिति के झुकाव पर कोई प्रभाव नहीं पड़नेवाला है। तालिका ३ से पता चल सकता है कि आलोच्य अवधि में सकल अचल निवेश और पूंजी संचयन दोनों की ही समान रूप से प्रतिक्रिया हुई। सकल राष्ट्रीय उत्पादन के अनुपात स्वरूप सकल तथा विशुद्ध दोनों ही प्रकार का अचल निवेश पूर्वार्ध में क्रमशः १२.३ और ५ प्रति शत था जो उत्तरार्ध में बढ़ कर १६.६ और १०.१ प्रति शत हो गया। पूंजी संचयन में भी इसी प्रकार वृद्धि हुई–वह ६.३ से ११.६ प्रति शत हुआ। पूंजी संचयन तथा विशुद्ध अचल अचल निवेश के मध्य भारी अन्तर अवमूल्यन में परिवर्तन प्रतिबिम्बित करते हैं, जो पूर्वार्ध में ७.३ प्रति शत था तथा उत्तरार्ध में घट कर ६.५ प्रति शत हुआ। जहां समूची अवधि में विशुद्ध अचल निवेश सकल अचल निवेश की दर (७ प्रति शत) से काफी अधिक दर (१३.७ प्रति शत) से बढ़े, वहाँ अवमूल्यन की वृद्धि १.२ प्रति शत वार्षिक की नगण्य दर (तालिका ४) से बढ़े। सकल राष्ट्रीय उत्पादन के प्रति अवमूल्यन का अनुपात पूर्वार्द्ध में विशुद्ध अचल निवेश के अनुपात से अधिक था, लेकिन उत्तरार्ध में वह उससे कम हो गया।

अवमूल्यन का सापेक्षिक रूप से कम अनुपात पूंजी-परिसम्पत्ति की दीर्घायु प्रतिबिम्बित करता है। युद्ध-कालीन टूटे-फूटे, घिसे-घिसाये पुराने यंत्रों तथा संयंत्रों के कारण पूर्वार्ध में उनकी व्यवहार लोपोन्मुखता यानी उनका अप्रचलन उत्तरार्ध की अपेक्षा अधिक था, जबकि द्वितीय पंच वर्षीय योजना काल में उन्हें हमवक्त बनाने की क्रिया के कारण सार्वजनिक क्षेत्र में नये यंत्र और संयंत्र स्थापित किये गये।

तालिका ४

सकल अचल निवेश, अवमूल्यन, विशुद्ध अचल निवेश और पूँजी संचयन में वार्षिक वृद्धि दर का प्रातिशत्य

(१९५८–५९ में प्रचलित मूल्यों के आधार पर)

मद	१९४८ से १९६०–६१	१९४८–४९ से १९५४–५५	१९५४–५५ से १९६०–६१
सकल अचल निवेश	७.०	५.३	८.७
अवमूल्यन	१.२	१.१	१.३
विशुद्ध अचल निवेश	१३.७	१२.३	१५.२
पूँजी संचयन	१५.४	१४.२	१६.६

स्रोत : भारत सरकार : केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन।

पूँजी संचयन

उत्तरार्ध में पूँजी संचयन में न केवल वृद्धि ही हुई वरन् उसकी वार्षिक वृद्धि दर विशुद्ध अचल निवेश की वार्षिक वृद्धि दर को भी मात कर गयी। यद्यपि पूर्वार्द्ध की अपेक्षा उत्तरार्ध में अवमूल्यन में तनिक वृद्धि थी, पर वस्तु-सूचियों में परिवर्तन प्रायः नगण्य-सा ही रहा। इससे परमावश्यक माल की अपेक्षा कुछ अधिक माल का स्टॉक रखने के बाबत औद्योगिक विभाग की असमर्थता प्रकट होती है। इसका मुख्य कारण था १९५७ में आये विदेशी विनिमय के संकट के कारण सीमित स्तर पर कच्चे माल के 'कोटा' का निर्धारण और कठोर आयात नियंत्रण। और फिर, आयात नियंत्रण, टैरिफ तथा अन्य ऐसे कारणों से बाजार बहुत ही सुरक्षित था, जिससे उत्पादक भारी मुनाफे पर अपना माल जल्दी-जल्दी खाली करने में समर्थ हुए। तथापि, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि उत्तरार्ध में केन्द्रीय गोदामों में माल के स्टॉक में जो थोड़ी-बहुत वृद्धि थी वह खाद्यान्नों के मामले में किसी संकट काल का सामना करने के कारण हुई थी। प्राप्य पूर्ति के प्रति खाद्यान्नों के कुल स्टॉक का अनुपात १९४८-४९/१९५४-५५ के ६ प्रति शत से बढ़ कर १९५४-५५/१९६०-६१ के दौरान १६ प्रति शत हो गया (विस्तृत विवरण के लिए पृष्ठ ८६ पर तालिका १० देखिए)। फिर भी, स्टॉक में कुछ वृद्धि होते हुए भी उत्तरार्ध में पूँजी संचयन में तीव्र वृद्धि हुई। इस प्रकार अधिकाधिक अनुपात में साधन-स्रोतों की प्रयुक्ति निवेश को बढ़ावा और आजादी हासिल करने के बाद तेरह वर्ष की लघु-कालीन अवधि के दौरान अर्थ-व्यवस्था के तीव्र विकास को प्रश्रय मिला। यद्यपि अर्थ-व्यवस्था के इस विस्तार में सार्वजनिक तथा निजी दोनों ही क्षेत्रों का हाथ रहा है, फिर भी सार्वजनिक विभाग ने जो गति हासिल की वह बहुत ही प्रभावशाली रही है।

इतना होने पर भी आलोच्यावधि के दरमियान पूँजी संचयन में अधिकांश बढ़ोतरी उच्च वृद्धिशील पूँजी-उत्पादन अनुपात के समकालीन अर्थात् उसके साथ हुई है। जैसा कि पीछे तालिका २ में प्रस्तुत आंकड़ों से पता चलता है, वृद्धिशील पूँजी-उत्पादन-अनुपात पूर्वार्ध के ४.२ से बढ़ कर उत्तरार्ध में ५.४ हो गया और उसके साथ ही सकल राष्ट्रीय उत्पादन के प्रति अचल निवेश का अनुपात भी उसी काल में १२.३ से बढ़ कर १६.६ हो गया था। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि उद्योग तथा कृषि दोनों ही स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद प्रारम्भिक काल में अपने क्षमता-स्तर से काफी नीचे रहे और प्रायः करके माल तथा सेवाओं की कमी रही। यद्यपि बाद के वर्षों में उपलब्ध रसद सम्बन्धी स्थिति में सुधार हुआ, किन्तु उसके यानी सामान के सम्बन्ध में मांग और भी अधिक बढ़ गयी है। घरेलू और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही क्षेत्रों में मांग के कारण घरेलू उपभोग तथा निर्यात विभाग के लिए वस्तुओं की

सप्लाई में विस्तार हुआ है। तथापि, निर्यात विभाग के धीमे विकास और फलस्वरूप निर्यात में मंद वृद्धि के कारण इस विशिष्ट क्षेत्र में अथवा अन्यान्य क्षेत्रों में निवेश वृद्धि से पूँजी-उत्पादन अनुपात में वृद्धि हुई है, विशेष कर आलोच्य-काल के उत्तरार्द्ध में। और फिर, नये क्षेत्रों में हुए निवेश की फल-प्राप्ति में समय लगा है और जहाँ सकल अनुपात पूर्वार्ध के ५.३ प्रति शत से उत्तरार्ध में ८.७ प्रति शत वार्षिक की तीव्र गति से बढ़ा है, वहाँ सकल राष्ट्रीय उत्पादन अपेक्षाकृत मंद गति से बढ़ा है—उक्त काल में वह २.६ प्रति शत से बढ़ कर ३.१ प्रति शत ही हुआ। अतएव, यह स्वाभाविक ही है कि दीर्घ-कालीन दृष्टि-कोण से रसद के मामले में विकास अपर्याप्त रहा है।

२

घरेलू वास्तविक स्रोत

घरेलू पूँजी निर्माण की बहुविध आवश्यकताएँ पूर्ण करने हेतु निवेश के परिमाण में तीव्र वृद्धि के साथ-साथ वास्तविक साधन-स्रोतों में भी वृद्धि हुई है और कभी-कभी तो निवेश के परिमाण में वृद्धि को सहायता भी मिली है। यह बात दो तरह से हुई। कुछ मूल उद्योगों—उदाहरणार्थ सिमेण्ट—के उत्पादन में इतनी उल्लेखनीय वृद्धि हुई है कि आयात कम अथवा बिल्कुल बन्द करना पड़ा। दूसरी ओर अचल पूँजी निर्माण की प्रक्रिया में सहायता देने हेतु लोहे और इस्पात अथवा अन्य बुनियादी वस्तुओं जैसी चन्द सामग्रियों का आयात होने दिया गया। तालिका ५ इस बात का चित्र प्रस्तुत करती है कि घरेलू उत्पादन और/या आयात पर किस हद तक निर्भर रहा गया। यद्यपि लोहे तथा इस्पात और अन्य भवन निर्माण सामग्री (सिमेण्ट को छोड़ कर) का आयात अब भी—विशेष कर उत्तरार्द्ध में—आवश्यक था, तथापि 'निर्माण' के अन्तर्गत सिमेण्ट, लोहे और इस्पात जैसे सामान के घरेलू

तालिका ५

सकल अचल सम्पत्ति निर्माण के प्रातिशत्य स्वरूप निर्माण सामग्री तथा यंत्रों व उपकरणों का घरेलू उत्पादन और आयात

(प्रचलित मूल्यों के आधार पर)

मद	१९४८–४९ से १९६०–६१		१९४८–४९ से १९५४–५५		१९५४–५५ से १९६०–६१	
	उत्पादन	आयात	उत्पादन	आयात	उत्पादन	आयात
१. निर्माण सामग्री	१९.५	२.७	२०.४	१.९	१९.२	३.०
इसमें						
सिमेण्ट	३.२	०.१	२.७	...	३.५	...
लोहा और इस्पात	५.९	१.५	५.२	०.५	६.३	२.०
अन्य भवन निर्माण सामग्री	१०.४	१.१	१२.५	१.४	९.४	१.०
२. यंत्र और उपकरण	१३.०	१५.१	११.३	१५.१	१३.९	१४.९
जिनमें						
बुनियादी सामान	८.१	८.२	७.२	१०.२	८.६	७.१
अन्य यंत्रादि	४.९	६.९	४.१	४.९	५.३	७.८
३. योग (१ और २)	३२.५	१७.८	३१.७	१७.०	३३.१	१७.९

स्रोत : भारत सरकार : केन्द्रीय सांख्यकीय संगठन।

उत्पादन-क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति हुई। इसके दूसरी ओर बुनियादी सामग्रियों तथा अन्यान्य प्रकार के यंत्रादि के घरेलू उत्पादन में सुधार हुआ अर्थात् उसमें वृद्धि हुई, तथापि आयात काफी अधिक हुआ, जिसका परिणाम यह निकला कि आलोच्यावधि में सकल अचल निवेश में उनका स्थान १५ प्रति शत था।

इस प्रकार जहाँ अचल पूंजी निर्माण की वृद्धि में निर्माण सामग्री के उत्पादन-विस्तार ने उल्लेखनीय भूमिका अदा की, वहाँ चूँकि देश में बुनियादी-आधार का अभाव था इसलिए बुनियादी सामान तथा अन्य प्रकार के यंत्रों में वद्धि आयात के जरिये की गयी। तथापि, यह उल्लेखनीय है कि उत्तरवर्ती सामानों के घरेलू उत्पादन में महत्वपूर्ण उन्नति हुई है, चूँकि आलोच्यावधि में वह सकल अचल निवेश का १३ प्रति शत था। वास्तव में सिमेण्ट तथा बुनियादी सामग्री के उत्पादन में वार्षिक वृद्धि-दर उनके लिए प्राप्त पूर्ति (तालिका ६ देखें) से बहुत अधिक रही है। यद्यपि लोहा और इस्पात तथा यंत्रों के पुर्जों के सम्बन्ध में वृद्धि दर बहुत अच्छी रही है तथापि, आलोच्य-काल में उक्त दो मदों के आयात में बहुत वृद्धि हुई है। इसके दूसरी ओर सिमेण्ट के आयात में १.४ प्रति शत वार्षिक दर से गिरावट आयी है। उत्तरार्द्ध में उत्पादन तथा आयात (सिमेण्ट को छोड़ कर) दोनों क्षेत्रों में ही तीव्र वृद्धि हुई है और आयात के– खास कर लोहा और इस्पात तथा अन्य यंत्रों के पुर्जे आदि का–जरिये जो साधन-स्रोत प्राप्त किये गये वे उनके घरेलू उत्पादन के जरिये जो वृद्धि हुई उससे काफी अधिक थे। सामान्यत: आलोच्य काल में जहाँ समग्र निर्माण सामग्री का आयात यंत्रों/उपकरणों की वार्षिक दर से तीव्र दर से बढ़ा वहाँ उत्पादन तथा प्राप्य पूर्ति दोनों ही क्षेत्रों में प्रथम की अपेक्षा द्वितीय मद की गति तीव्र रही।

तालिका ६

प्राप्य पूर्ति, निर्माण सामग्री तथा यंत्रों व उपकरणों के उत्पादन और आयात में वृद्धि/कमी की वार्षिक दर

(प्रातिशत्य प्रचलित मूल्यों के आधार पर)

मद	१९४८–४९ से १९६०–६१			१९४८–४९ से १९५४–५५			१९५४–५५ से १९६०–६१		
	प्रा.पू.	उ.	आ.	प्रा.पू.	उ.	आ.	प्रा.पू.	उ.	आ.
निर्माण सामग्री									
सिमेण्ट	१७.१	१८.२	–१.४	१८.२	२०.५	–०.३	१६.१	१५.९	–२.५
लोहा और इस्पात	१६.५	१५.२	४०.८	१२.५	१२.५	१९.२	२०.६	१७.८	६२.५
अन्य	५.०	५.१	७.०	२.५	२.२	९.९	७.५	८.०	४.१
योग	९.६	९.६	१७.२	६.३	६.७	८.४	१२.९	१२.४	२६.०
यंत्र तथा अन्य उपकरण									
बुनियादी सामग्री	८.६	१२.६	५.४	४.३	८.७	१.३	१३.०	१६.५	९.४
अन्य यंत्र	१९.५	१३.५	१७.९	७.०	६.५	७.७	३२.०	२०.५	२८.०
योग	११.१	१२.८	९.८	४.९	७.६	२.९	१७.३	१७.९	१६.७
कुल योग	१०.३	१०.७	१०.३	५.४	६.९	३.२	१५.३	१४.५	१७.३

स्रोत: भारत सरकार : केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन। प्रा. पू.=प्राप्य पूर्ति; उ.= उत्पादन; आ.= आयात।

जैसी अपेक्षा की जाति है, सकल पूंजी निर्माण और सकल राष्ट्रीय उत्पादन में निर्माण कार्यों सम्बन्धी पूँजी निर्माण सामग्री का हिस्सा (क्रमश: ६३.२ और १०.३ प्रति शत) आलोच्यावधि में यंत्रों तथा उपकरणों के हिस्से (क्रमश: २७.९ और ४.५ प्रति शत) से अधिक रहा। (इस सम्बन्ध में विस्तृत आंकड़े तालिका ७ में दिये गये हैं।) सकल राष्ट्रीय उत्पादन में निर्माण सामग्री और यंत्रों तथा उपकरणों का सापेक्षिक हिस्सा पूर्वार्द्ध व उत्तरार्द्ध के बीच दो विशिष्ट उपनतियाँ अर्थात् झुकाव प्रदर्शित करता हैं। जैसा कि तालिका ७ से स्पष्ट है, उक्त मदों का अनुपात पूर्वार्ध में काफी कम था और उत्तरार्ध में पर्याप्त रूप से बढ़ा। सकल पूँजी निर्माण और सकल राष्ट्रीय उत्पादन के समक्ष कुल सकल अचल निवेश के सम्बन्ध में भी यही प्रवृत्ति दृष्टि-गोचर होती है। यद्यपि दोनों ही 'अर्द्धों' में सकल पूंजी निर्माण के प्रति अनुपात सापेक्षिक रूप से करीब ९१ प्रति शत रहा, लेकिन इसी काल में सकल राष्ट्रीय उत्पादन के प्रति यह अनुपात सापेक्षिक तौर पर १२ से बढ़ कर १७ हो गया। इस प्रकार का अप्रत्याशित झुकाव या मोड़ आलोच्य-काल के उत्तरार्ध में निवेश की गतिविधि के क्षेत्र में जो सामान्य वृद्धि हुई उसके कारण हो सकता है।

तालिका ७

सकल पूँजी निर्माण और सकल राष्ट्रीय उत्पादन में 'निर्माण सामग्री' तथा 'यंत्र-उपकरणों' के क्षेत्र में अचल निवेश का सापेक्षिक हिस्सा और वार्षिक वृद्धि-दर का प्रातिशत्य

(१९५८–५९ में प्रचलित मूल्यों पर आधारित)

सकल अचल निवेश	वार्षिक वृद्धि दर	सापेक्षिक हिस्सा: सकल पूँजी निर्माण	सापेक्षिक हिस्सा: सकल राष्ट्रीय उत्पादन
निर्माण सामग्री			
१९४८-४९ से १९६०-६१	७.२	६३.२	१०.३
१९४८-४९ से १९५४-५५	७.५	६३.०	८.६
१९५४-५५ से १९६०-६१	६.९	६३.७	११.६
यंत्र और उपकरण			
१९४८-४९ से १९६०-६१	६.९	२७.९	४.५
१९४८-४९ से १९५४-५५	०.५	२७.३	३.१
१९५४-५५ से १९६०-६१	१३.२	२७.९	५.१
सकल अचल निवेश			
१९४८-४९ से १९६०-६१	७.०	९१.१	१४.८
१९४८-४९ से १९५४-५५	५.३	९०.३	११.७
१९५४-५५ से १९६०-६१	८.७	९१.६	१६.७

स्रोत : भारत सरकार : केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन।

स्थिर मूल्यों के आधार पर इन मदों की वार्षिक वृद्धि-दरों में आलोच्य काल के दौरान तीव्र भिन्नता पायी जाती है। जहाँ निर्माण सामग्री में अचल निवेश की वार्षिक दर ७.५ से कम हो कर ६.९ प्रति शत हुई, वहाँ यंत्रों व उपकरणों की वार्षिक दर दोनों 'अर्द्धों' में ०.५ से बढ़ कर १३.२ प्रति शत तक जा पहुँची। पूर्वार्द्ध में जो नगण्य वृद्धि हुई उसका मुख्य कारण था युद्ध समाप्ति के तुरन्त बादवाले प्रारम्भिक वर्षों में विदेशों में बुनियादी सामग्री की उपलब्धि का अभाव। किसी भी दृष्टि से देश में १९५४-५५ से पहले निवेश कार्यक्रम इतना सघन नहीं हुआ कि उसकी यंत्रों व उपकरणों में अचल निवेश की वार्षिक वृद्धि-दर के लिए गणना की जा सके। उत्तरार्द्ध में निवेश कार्यक्रम ने जोर पकड़ा। उससे इस विभाग की वार्षिक वृद्धि-दर में तीव्र सुधार हुआ। फलत: दोनों 'अर्द्धों' में कुल अचल निवेश भी ५.३ और ८.७ प्रति शत की वार्षिक-दर से बढ़ा।

समग्र रूप से देखने पर आलोच्य काल में निर्माण सामग्री की अपेक्षा यंत्रों तथा उपकरणों का विस्तार सापेक्षिक रूप से कम हुआ है। वस्तुत: सकल अचल निवेश में सभी प्रकार के प्रमुख विस्तार में आयातित सामग्री से सहायता मिली है। विशेष कर उत्तरार्ध

के दौरान निवेश के आयात तत्व में तीव्र वृद्धि दृष्टि-गोचर हुई। यद्यपि इसके साथ लोहे तथा इस्पात का उत्पादन काफी बढ़ा तथापि इस सामग्री का आयात भी पूर्वार्द्ध की अपेक्षा उत्तरार्द्ध में बहुत अधिक था। इस प्रकार सकल अचल निवेश के विस्तार में घेरलू उत्पादन वृद्धि (जिससे आयात कम या बन्द हुआ, जैसे सिमेण्ट के मामले में) तथा अधिक आयात (लोहे और इस्पात तथा बुनियादी सामान के मामले में) दोनों से ही सहायता मिली है। अब यह प्रश्न उठता है कि इस आयातित सामान की वृद्धि में सहायक होने के नाते हमारी आयात करने की क्षमता पर्याप्त रही है अथवा नहीं।

३

अप्रैल १९४८ के प्रारम्भ में देश के विदेशी विनिमय सम्बन्धी स्रोत १६ अरब १२ करोड़ रुपये के बराबर थे, जो अप्रैल १९५४ के आरम्भ में कम हो कर ९ अरब १० करोड़ रुपये और अप्रैल १९६० के शुरू में ३ अरब ६३ करोड़ रुपये के बराबर रह गये। यद्यपि व्यापारिक वस्तुओं के निर्यात और विशुद्ध सेवाओं से प्राप्त विदेशी मुद्रा के कारण उत्तरार्ध में आयात करने की क्षमता में कुछ सुधार हुआ, तो भी अचल निवेश के आयात-तत्व के लिए वित्तीय व्यवस्था करने हेतु विदेशी विनिमय प्रारक्षण का सहारा लेना पड़ा। पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के मध्य–जैसा कि तालिका ८ से

तालिका ८

वास्तविक आयात और आयात क्षमता की वस्तु-सूचियों और वार्षिक-दरों की वृद्धि/कमी

(१९५८–५९ में प्रचलित मूल्यों पर आधारित; आधार : १९४८–४९ से १९५४–५५ = १००)

मद	१९४८–४९ से १९६०–६१		१९४८–४९ से १९५४–५५		१९५४–५५ से १९६०–६१	
	वस्तु सूचियाँ	वार्षिक दर	वस्तु सूचियाँ	वार्षिक दर	वस्तु सूचियाँ	वार्षिक दर
वास्तविक व्यावसायिक आयात †	१२५.३	९.८	१००.०	७.५	१४६.९	१२.१
निम्न मदों से प्राप्त आयात क्षमता						
निर्यात और विशुद्ध सेवाएँ*	१०५.५	६.१	१००.०	१०.८	११६.१	१.४
योग सरकारी ऋण व अनुदान	११६.६	८.२	१००.०	९.१	१३१.१	७.३
योग अन्य दीर्घ-कालीन पूँजी	१२१.६	८.०	१००.०	६.६	१४०.२	९.४
विदेशी मुद्रा प्रारक्षण	८१.९	८.२	१००.०	४.९	६४.८	११.६

† प्रतिरक्षा सामग्री व संस्थापन की खरीद के लिए १९४८–४९ में इंग्लैण्ड को चुकाये गये ७१ करोड़ ९० लाख रुपये के असाधारण भुगतान को छोड़ कर।

* उधार पट्टे (लेण्ड-लीज) के सम्बन्ध म १९५७–५८ में संयुक्त राज्य अमेरिका को भुगतान स्वरूप भेजी गयी ७४ करोड़ ४० लाख रुपये की चांदी को छोड़ कर। 'विशुद्ध सेवाओं' में सरकारी अनुदान नहीं है, पर 'निजी' अनुदान शामिल है।

स्रोत : रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया।

प्रकट है–व्यापारिक वस्तुओं के निर्यात व सेवाओं के कारण आयात क्षमता १६.१ प्रति शत बढ़ी जो सरकारी ऋण व अनुदान को मिला कर ३१.१ प्रति शत तक बढ़ी। दीर्घ-कालीन पूंजी को साथ मिला कर देखने से पता चलता है कि यह वृद्धि ४०.२ प्रति शत थी। आलोच्यावधि में सरकारी ऋण व अनुदान तथा अन्य दीर्घ-कालीन पूंजी जो कुल विदेशी मुद्रा मिली उसके २३.७ प्रति शत थे, यद्यपि पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के बीच अन्तर बहुत अधिक था–पूर्वार्द्ध में उनका प्रातिशत्य ११.९ और उत्तरार्द्ध में ३०.८ था। तथापि, इसी काल में वास्तविक व्यापारिक वस्तुओं के आयात में ४६.९ प्रति शत वृद्धि हुई। आयात क्षमता से अधिक इस आयात की वित्तीय व्यवस्था वस्तुतः विदेशी मुद्रा प्रारक्षण से की गयी। पूर्वार्द्ध की तुलना में उत्तरार्द्ध में मुद्रा प्रारक्षण के 'बराबर' का आयात काफी कम करके ३५.२ प्रति शत कर दिया गया। जबकि व्यापारिक वस्तुओं के आयात में आयात करने की क्षमता की वृद्धि-दर (८ प्रति शत) से अधिक दर (९.८ प्रति शत) पर वृद्धि हुई, इसलिए शेष कमी-पूर्ति के लिए एक ही विकल्प था कि विदेशी मुद्रा प्रारक्षण का सहारा लेना पड़ा। विशेष कर उत्तरार्द्ध में वास्तविक आयात कुल आयात क्षमता व दर (९.४ प्रति शत) से भी काफी ऊँची दर (१२.१ प्रति शत) से बढ़े, जिसका परिणाम यह निकला कि विदेशी मुद्रा प्रारक्षण ११.६ प्रति शत वार्षिक दर से कम हो गये। इस प्रकार घरेलू अचल निवेश के लिए वास्तविक आयात को परिपूर्णतः कुल आयात क्षमता पर ही निर्भर नहीं रहना पड़ा।

बुनियादी सामग्री और यंत्रों के हिस्सों के आयात के फलस्वरूप सकल अचल निवेश के कारण स्वयम् आयात की जानेवाली वस्तुओं की सूची में ही कुछ तब्दीली करनी पड़ी। दोनों 'अर्द्धों' में, जैसा कि तालिका ९ में प्रस्तुत आंकड़ों से पता चलता है कि बुनियादी सामग्री के आयात में २५ से ३८ प्रति शत तक वृद्धि हुई, जबकि इसी काल में कच्चे माल और उपभोक्ता सामग्री का प्रातिशत्य क्रमशः ३० और २४ प्रति शत से गिर कर प्रत्येक का २० प्रति शत हो गया। इसके पीछे मुख्य कारण था आयात पर कठोर पाबंदियों

तालिका ९

कुल आयात के प्रातिशत्य स्वरूप बुनियादी सामग्री, कच्चे माल और उपभोक्ता सामग्री का आयात

(प्रचलित मूल्यों के आधार पर)

अवधि	कुल आयात	बुनियादी सामग्री§	कच्चा माल	उपभोक्ता सामग्री	
				खाद्य	कुल
१९४८-४९ से १९५०-५१	१००.०	२५.८	२९.८	१६.५	२३.८
१९५०-५१ से १९५२-५३	१००.०	२२.६	३१.१	२०.२	२६.९
१९५२-५३ से १९५४-५५	१००.०	२७.१	२८.९	१४.६	२२.५
१९५४-५५ से १९५६-५७	१००.०	३५.७	२३.१	४.०	१३.२
१९५६-५७ से १९५८-५९	१००.०	४०.४	१८.२	८.८	१८.६
१९५८-५९ से १९६०-६१	१००.०	३८.५	१८.६	१७.६	२६.४
१९४८-४९ से १९६०-६१	१००.०	३२.५	२४.२	१३.७	२२.०
१९४८-४९ से १९५४-५५	१००.०	२४.८	२९.९	१७.१	२४.४
१९५४-५५ से १९६०-६१	१००.०	३८.०	२०.३	१०.६	१९.८

§ बुनियादी सामग्री के लिए यहाँ दिये गये आंकड़े केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन के आंकड़ों से कुछ भिन्न हैं।

स्रोत : रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया।

का लगाया जाना, जिसे १९५७ में उत्पन्न संकट के बाद और भी कठोर कर दिया गया। जहाँ बुनियादी सामग्री के अधिक आयात से अचल पूँजी निर्माण की प्रक्रिया में सहायता मिली, वहाँ साथ ही साथ कच्चे माल व उपभोक्ता सामग्री के आयात में—कुल आयात के आनुपातिक रूप में—कमी हुई। जहाँ तक देश में औद्योगिक गतिविधि का सम्बन्ध है, कच्चे माल पर पाबन्दियाँ लगा देने से बड़ी गड़बड़ी पैदा हुई; क्योंकि उससे अर्थ-व्यवस्था और स्वयम् अचल निवेश के विकास में गत्यावरोध आनेवाला था।

यद्यपि जब–तब कम उत्पादन होने के कारण काफी तादाद में खाद्यान्नों का आयात करना आवश्यक हुआ है, तथापि उपभोक्ता सामग्री के आयात पर पाबन्दियाँ लगाना सामान्यत: हमारे आयात व्यापार का एक उपयोगी अंग रहा है। वास्तव में उपभोक्ता सामग्री के कुल आयात में खाद्यान्नों के आयात का अनुपात, समग्र अवधि में ६२ प्रति शत रहा है, लेकिन पूर्वार्द्ध में जो ७० प्रति शत था वह उत्तरार्द्ध में ५४ प्रति शत हो गया। यद्यपि उत्तरार्द्ध में खाद्यान्नों का उत्पादन २० प्रति शत बढ़ा, अधिक आयात करना न केवल घरेलू उपयोग पूरा करने बल्कि केन्द्रीय प्रारक्षण बनाये रखने के लिए भी करना आवश्यक हो गया। जैसा कि तालिका १० से प्रकट है, पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध में खाद्यान्नों के घरेलू उपभोग में यद्यपि क्रमश: २.५ और २.७ प्रति शत वार्षिक की दर से वृद्धि हुई, लेकिन इसके समक्ष उक्त काल में खाद्यान्नों के उत्पादन में क्रमश: ३.७ और ३.२ प्रति शत की दर से वृद्धि हुई। उपभोग (मानवीय तथा कुल) में विशुद्ध आयात वास्तव में उत्तरार्द्ध में कम हुआ और किसी भी दृष्टि से वह बहुत ही कम प्रातिशत्य (३ से ५ प्रति शत तक) के रूप में था। तिस पर भी विशुद्ध आयात जो कि पूर्वार्द्ध में ४ प्रति शत वार्षिक दर से कम हुए थे वे उत्तरार्द्ध में २९ प्रति शत वार्षिक की दर से बढ़े, जो कि कुल उपलब्धि के प्रति खाद्यान्नों के स्टॉक के अनुपात में हुई तीव्र वृद्धि (६ से १६ प्रति शत तक) पर प्रकाश डालते हैं। तथापि, मूल्य की दृष्टि से खाद्यान्नों के आयात और कुल उपभोक्ता सामग्री दोनों में ही उत्तरार्द्ध में कमी हुई और इससे तथा कच्चे माल के आयात में कमी के कारण कुल आयातित वस्तुओं में बुनियादी सामग्री का अनुपात बढ़ा।

वस्तुत: निजी तथा समग्र उपभोग्य परिव्यय में कच्चे माल और उपभोक्ता सामग्री (खाद्यान्नों सहित) का सापेक्षिक हिस्सा पूर्वार्द्ध की तुलना में उत्तरार्द्ध में

तालिका १०

भारत में खाद्यान्नों की स्थिति

वर्ष	वार्षिक वृद्धि (प्रातिशत्य)			उपभोग के प्रातिशत्य स्वरूप विशुद्ध आयात		प्राप्य रसद के प्रातिशत्य स्वरूप स्टॉक
	घरेलू उत्पादन	विशुद्ध आयात	कुल उपभोग	मा. उ.	कुल	
१९४८–४९ से १९६०–६१	३.४	१२.५	२.६	४.५	४.१	११.५
१९४८–४९ से १९५४–५५	३.७	३.९	२.५	५.२	४.७	६.१
१९५४–५५ से १९६०–६१	३.२	२८.९	२.७	३.४	३.१	१६.०

मा.उ.=मानवीय उपभोग।

टिप्पणी : आंकड़े मौलिक रूप से हजार टनों में हैं और जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन के 'पेपर' से लिए गये हैं।

काफी कम कर दिया गया, जैसा कि तालिका ११ से प्रकट है। हाँ, तालिका ११ में दिये गये आंकड़े अस्थायी हैं और उनमें सेवाओं पर हुआ खर्च भी शामिल है। मात्र सामग्री यानी अकेले माल पर ही कितना खर्च हुआ उसे अलग करके देखना सम्भव नहीं बन पड़ा है। तथापि, मोटे तौर पर जो झुकाव परिलक्षित हैं उनसे निश्चय ही यह संकेत मिलता है कि इनके अनुपात में कमी हुई है। यह कमी उपभोक्ता सामग्री की अपेक्षा कच्चे माल के क्षेत्र में विशेष रूप से अधिक हुई है।

उत्तरार्द्ध में निजी तथा कुल उपभोक्ता खर्च के प्रति खाद्यान्नों के आयात के अनुपातों में तीव्र कमी होते हुए भी कुल उपभोक्ता सामग्री के आयातानुपातों में तनिक-सी कमी ही आयी। यद्यपि इस विशिष्ट श्रेणी में आने-वाली वस्तुओं के आयात पर सर्वाधिक कठोर पाबन्दियाँ थीं, तथापि बिजली सम्बन्धी सामान के सम्बन्ध में प्रायः उदारता बरती गयी। उत्तरार्द्ध में इनके आयात में वृद्धि हुई। इसके विपरीत इसी अवधि में (जैसा कि तालिका ११ में प्रस्तुत आंकड़ों से द्रष्टव्य है) उपभोग परिव्यय के प्रति कच्चे माल के आयातानुपातों में तीव्र कमी आयी है। बाजार की मुक्तावस्था की अपेक्षा आयात नियंत्रण और 'कोटा' निर्धारण का अपेक्षाकृत उस पर अधिक प्रभाव पड़ा है। निस्संदेह पूर्वार्द्ध की अपेक्षा उत्तरार्ध के दौरान कृषि तथा औद्योगिक, दोनों ही प्रकार के उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। कृषि उत्पादन का औसत सूचकांक (आधार: १९४९-५०=१००) १९४९-५० से १९५४-५५ (वर्ष का अन्त जून माह में) के १०४.३ से बढ़ कर १९५४-५५ से १९६०-६१ में १२५.१ हुआ है, जिसमें करीब

तालिका ११

घरेलू उपभोग परिव्यय के प्रतिशत्य स्वरूप कच्चे माल और उपभोक्ता सामग्री का आयात
(प्रचलित मूल्यों के आधार पर)

आयातित वस्तुएँ	१९४८–४९ से १९६०–६१		१९४८–४९ से १९५४–५५		१९५४–५५ से १९६०–६१	
	निजी	कुल	निजी	कुल	निजी	कुल
कच्चा माल	२०.५	१९.०	२३.४	२१.९	१८.१	१६.६
उपभोक्ता सामग्री	१८.६	१३.३	१९.१	१७.९	१३.३	१३.२
इसमें						
खाद्यान्न	११.५	१०.७	१३.४	१२.६	९.५	८.७
कुल	३९.१	३६.३	४२.५	३९.८	३५.३	३२.८

टिप्पणी : घरेलू उपभोग व्यय में सामान व सेवाओं के अंक भी शामिल हैं। कुल उपभोग्य खर्च में निजी तथा सरकारी खर्च—प्रचलित मूल्यों पर आधारित—शामिल है। इन अंकों के संकलन में कई जगह समंजन किया गया है। चूँकि विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन निर्मित करते हुए खर्च--एक्सपेण्डीचर जेनरेटिंग नेट नेशनल प्रोडक्ट (केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन : राष्ट्रीय आय का अनुमान)—दिखानेवाले विवरण में निजी वर्तमान खर्च के अंक निजी विशुद्ध पूँजी निर्माण के अंकों के साथ मिला दिये गये हैं, इसलिए १९४८-४९ से १९५४-५५ तक के प्रत्येक वर्ष के लिए कुल सकल पूँजी निर्माण के प्रति निजी पूँजी निर्माण के अनुपातों का प्रचलित मूल्यों के आधार पर (के. सां. सं. के 'पेपर' में उपलब्ध) विशुद्ध पूँजी निर्माण पर प्रयोग किया गया है। प्रचलित मूल्यों के आधार पर सामग्री और सेवाओं पर निजी वर्तमान खर्च के अंक प्राप्त करने के लिए मिले हुए आंकड़ों में से उक्त प्रकार से प्राप्त आंकड़े निकाल लिये गयें हैं।

सन् १९५५-५६ से १९६०-६१ तक के वर्षों के लिए निजी उपभोक्ता खर्च के आंकड़े के. सां. सं. के. 'पेपर' में उपलब्ध आंकड़ों को पुनः व्यवस्थित करके सकल राष्ट्रीय उत्पादन के आंकड़ों से प्राप्त किये गये हैं। कच्चे माल और उपभोक्ता सामग्री के आंकड़े 'रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया' से प्राप्त किये गये हैं।

२० प्रति शत ऊर्ध्वोन्मुखी उपनति दृष्टिगोचर होती है। औद्योगिक उत्पादन का वार्षिक औसत सूचकांक (आधार : १९५१=१००) भी ३७.४ प्रति शत बढ़ा है– पूर्वार्द्ध में वह १०३.३ था और उत्तरार्द्ध में बढ़ कर १४१.९ हो गया। इस प्रकार की इस उन्नति का घरेलू उपभोक्ता परिव्यय के प्रति कच्चे माल का आयातानुपात कम करने में प्रभाव पड़ना चाहिए। इतना होने पर भी कुछ उद्योग न केवल अपने संयंत्रों को उनकी अनुकूलतम क्षमता पर चलाने बल्कि जिस क्षमता का लाइसेंस मिला हुआ था उसके अन्दर रहते हुए उत्पादन को अधिकतम बनाने के लिए भी बिल्कुल आयातित कच्चे माल पर ही निर्भर थे।

बुनियादी सामग्री, कच्चे माल और खाद्यान्न हमारे आयात व्यापार में तीन मुख्य प्रतिस्पर्धी रहे हैं तथा सामान्यतः बुनियादी सामग्री के आयात के साथ या तो कच्चे माल के आयात में कमी हुई है या खाद्यान्नों के आयात में अथवा फिर दोनों के आयात में। जैसा कि पीछे तालिका ९ के अंकों से प्रकट होता है कि बुनियादी सामग्री का आयात सामान्यतः विलोमरूप से कच्चे माल और उपभोक्ता सामग्री (विशेष कर खाद्यान्न) से भिन्न रहा है। कच्चे माल और उपभोक्ता सामग्री के सापेक्षिक हिस्सों में कमी के साथ बुनियादी सामग्री के हिस्से में वृद्धि हुई है। इस प्रकार जहाँ तक बुनियादी सामग्री के आयात ने अचल निवेश का स्तर निर्धारित किया है, अचल निवेश को अन्ततोगत्वा खाद्यान्नों और/अथवा कच्चे माल की कमी ने प्रतिबद्ध कर दिया है। खाद्यान्न उत्पादन में कमी और अन्ततोगत्वा परमावश्यक कच्चे माल तथा उपभोक्ता सामग्री के आयात को बन्द कर देना एक असंभव बात बना देना मुख्य बाधा रही है।

आयात क्षमता जब निजी या कुल उपभोग खर्च से अधिक ऊँची वार्षिक-दर से बढ़ी तो सकल अचल निवेश की वृद्धि में सहूलियत हुई (देखिए तालिका १२)। इसके ऊपर उत्तरार्द्ध में अधिक जोर दिया गया, यद्यपि यह बात नहीं है कि पूर्वार्द्ध में उस पर जोर न दिया गया हो। यद्यपि वास्तविक आयात, आयात क्षमता की दर की अपेक्षा तीव्र दर से बढ़े, तो भी युद्ध समाप्ति पर जो पौण्ड-पावना भारी तादाद में उपलब्ध था उससे उनकी वित्तीय व्यवस्था में जो अन्तर था वह काफी समय तक पूरा किया जाता रहा। इस प्रकार आयात क्षमता में वृद्धि और उसके साथ घरेलू उपभोग की वस्तुओं के आयात में कमी से देश कुल आयात में बुनियादी सामग्री का हिस्सा बढ़ाने तथा सकल अचल निवेश को बढ़ावा देने में समर्थ हो सका। इसलिए यह स्वाभाविक था कि सकल अचल निवेश में आयात क्षमता के साथ प्रत्यक्ष रूप से परिवर्तन आया, यद्यपि अनुवर्ती की वार्षिक वृद्धि दर पूर्ववर्ती से बहुत तीव्र थी। इस विस्मयजनक स्थिति का कारण यह हो सकता है कि विदेशों से प्राप्त सरकारी ऋण व अनुदान की बड़ी-बड़ी रकम अनुपयोगित पड़ी रहीं, जोकि या तो आवश्यक परिमाण में या फिर निरूपित समय के अन्दर-अन्दर खर्च नहीं की जा सकीं। इसके अतिरिक्त अनुदानों का काफी हिस्सा सरकारी हिसाब में खाद्यान्नों का आयात करने के लिए था और सम्भवतः देश में अचल निवेश के विकासार्थ नहीं था।

उपसंहार के रूप में यह कहा जा सकता है कि युद्धोत्तर-काल में पूँजी संचयन में विकास की गति उल्लेखनीय रही है, जिसकी प्राप्ति मुख्यतः सरकारी अभिक्रम के जरिये अचल विनियोजन यानी निवेश में वृद्धि के कारण हुई। अचल पूँजी निर्माण के क्षेत्र में निजी विभाग ने भी प्रशंसनीय भूमिका अदा की है। यद्यपि बन्द दिशाओं में घरेलू उत्पादन से सहायता मिली है तथापि अचल निवेश की आवश्यकता पूर्ति के लिए साधन-स्रोत प्राप्ति का मुख्य जरिया आयात व्यापार रहा है। इसमें किसी हद तक वृद्धि-प्राप्त आयात क्षमता से सहायता मिली है, जोकि घरेलू उपभोग परिव्यय की अपेक्षा तीव्र गति से बढ़ी है। तिस पर भी, वास्तविक आयात, आयात क्षमता से भी तीव्र गति से बढ़ा है, जिस कारण विदेशी

मुद्रा प्रारक्षण का सहारा लेना आवश्यक हो गया। अचल निवेश की प्रगति रोकने में बुनियादी सामग्री का आयात मुख्य पहलू रहा है, जोकि आयात व्यापार में कच्चे माल व खाद्यान्नों के सापेक्षिक महत्व पर निर्भर रहा है। यद्यपि कृषि तथा उद्योग, दोनों ही क्षेत्रों में उत्पादन बढ़ा है, वर्षों के दौरान प्रारक्षणों में तीव्र कमी आने से परिपूर्ण रूप से इन पर ही निर्भर रहना सम्भव नहीं होगा। इसके बाद सरकारी ऋण और अनुदान के रूप में विदेशों से प्राप्त स्रोत आते हैं, लेकिन ऋण की वापसी सम्बन्धी समस्याएँ होती हैं तथा फलस्वरूप भुगतान-शेष पर दबाव पड़ता है; और अनुदान स्पष्टतः चिरकाल

तालिका १२

सकल अचल निवेश, वास्तविक आयात, आयात क्षमता और घरेलू उपभोग परिव्यय की वार्षिक वृद्धि-दर का अनुपात

(१९५८–५९ में प्रचलित मूल्यों के आधार पर)

अवधि	सकल अचल पूंजी	वास्तविक आयात	आयात क्षमता	घरेलू उपभोक्ता व्यय* निजी	सरकारी	कुल
१९४८–४९ से १९६०–६१	७.०	९.८	८.०	२.५	४.५	२.६
१९४८–४९ से १९५४–५५	५.३	७.५	६.६	२.२	२.६	२.२
१९५४–५५ से १९६०–६१	८.७	१२.१	९.४	२.७	६.३	३.०

स्रोत : केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन तथा एशिया और सुदूर पूर्व का आर्थिक सर्वेक्षण; १९६१।

टिप्पणी :* स्थिर मूल्यों के आधार पर निजी और सरकारी वर्तमान व्यय प्राप्त करने के लिए तालिका ११ की टिप्पणी में दिये गये तरीके के अनुसार प्राप्त प्रचलित मूल्यों के आधार पर सकल राष्ट्रीय उत्पादन के प्रति सामग्री और सेवाओं पर निजी तथा सरकारी वर्तमान व्यय का जो अनुपात है उसका १९५८–५९ में प्रचलित मूल्यों के आधार पर सकल राष्ट्रीय उत्पादन पर प्रयोग किया गया। आंकड़े आवश्यक रूप से ही अस्थायी हैं और सदैव की भाँति सरो-सामान तथा सेवाओं के आंकड़े भी इनमें शामिल हैं। दोनों को अलग-अलग करना सम्भव नहीं जान पड़ा है। आशा है मामूली त्रुटि रहते हुए भी मोटे तौर पर जिधर झुकाव है, वह द्रष्टव्य है।

तथापि सामान्यतः उपभोक्ता सामग्री और विशेष कर खाद्यान्नों का आयात रोक रखना मुश्किल रहा है। कच्चे माल के आयात पर लगीं पाबन्दियाँ अर्थ-व्यवस्था के चन्द क्षेत्रों की गति मंद करने के कारण रही हैं। इस प्रकार अर्थ-व्यवस्था की बुनियादी स्वरूपात्मक कुव्यवस्था अब भी शेष है—आर्थिक विकास की समग्ररूपेण आवश्यकताओं के प्रति अन्योन्याश्रय रूप से साधन-स्रोतों की पूर्ति में कमी अब भी बनी हुई ही है।

दीर्घ काल तक आयात क्षमता से अधिक आयात करने के कारण उत्पन्न कमी की वित्तीय व्यवस्था विदेशी मुद्रा प्रारक्षणों से की जा सकी। पिछले चन्द के लिए जारी नहीं रह सकते। इन सबसे एक ही दिशा का निदर्शन होता है कि निर्यात-आय को अधिकतम बनाया जाय। उससे ही देश में अचल पूंजी निर्माण की प्रक्रिया को गति मिल सकती है। निस्संदेह अचल निवेश की दर तीव्र बनाने से चतुर्दिक कठिनाइयाँ व कष्ट आयेंगे, किन्तु ये सब शांति, धैर्य और पौरुष के साथ सभी को सहन करने पड़ेंगे; क्योंकि पूंजी संचयन की समस्या न तो अस्थायी ही है और न उस लिहाज से कोई प्रासंगिक विषय ही।

बम्बई : ५ सितम्बर १९६३

आदिवासी क्षेत्रों में ग्रामोद्योग

बहराम होरमसजी मेहता

आदिवासी क्षेत्रों में कुटीर और ग्रामोद्योगों के विकासार्थ दृष्टिकोण को सम्पूर्ण रूप में उन क्षेत्रों की आर्थिक विकास की समस्याओं के प्रति सामान्य दृष्टिकोण से अलग नहीं किया जा सकता है। आदिवासी प्राकृतिक स्रोतों तथा कौशल में सम्पन्न है तथा उनमें सौंदर्य-भाव भी है। अतः आदिवासी क्षेत्र की अर्थ-व्यवस्था को प्रगति मार्ग पर उन्मुख करने के लिए आवश्यक यह है कि स्थानीय जनसमूह को उचित प्रशिक्षण दिया जाय तथा प्राकृतिक स्रोतों का पूर्ण उपयोग किया जाय।

सभी क्षेत्रों में आर्थिक विकास की दिशा, प्रकृति किस्म तथा गति एक ही नहीं हो सकती हैं, किन्तु जहाँ कहीं भी नेतृत्व, शैक्षणिक प्रगति तथा उन्नत आवागमन प्राप्य हो, प्रगति की गति तेज हो सकती है। जहाँ भी ये तीन साधन अनुपस्थित हैं अथवा सीमित रूप में उपस्थित हैं, वहाँ प्रगति अत्यंत मन्द तथा यहाँ तक कि नगण्य होगी। भारत के वन्य प्रदेशों में जहाँ कि मुख्यतः आदिवासी निवास करते हैं तथा जिनकी संख्या ३ करोड़ से अधिक है, विकास का नया दृष्टिकोण कार्यरत है। दुर्भाग्यवश विकास संस्थाओं के पास ऐसे क्षेत्रों के प्राकृतिक साधनों तथा निवासियों के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी तथा ज्ञान नहीं है। आदिवासी क्षेत्रों में ग्रामीण विकास की सामान्य पद्धति सहज ही प्रारंभ नहीं की जा सकती है और यद्यपि हाल ही में बहुमुखी योजना-क्षेत्रों में सामुदायिक विकास योजानाओं की शुरुआत हुई है, किन्तु वे जटिल समस्याओं का समाधान नहीं कर सकती हैं जो कि वन्य अर्थ-व्यवस्था के सघन विकास के लिए अत्यावश्यक है।

घाटी-क्षेत्र-सिद्धान्त

आदिवासी क्षेत्र में कुटीर तथा ग्रामोद्योग के विकासार्थ दृष्टिकोण को सम्पूर्ण रूप में उस क्षेत्र की आर्थिक विकास की समस्याओं के प्रति सामान्य दृष्टिकोण से अलग नहीं किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, आदिवासी क्षेत्र के आर्थिक विकास की समस्या इन अर्द्ध विकसित तथा कम जनसंख्यावाले क्षेत्रों की भूमि-समस्या की प्रकृति उन क्षेत्रों में प्रचलित कृषि प्रणाली तथा मानव शक्ति की स्थिति से बहुत अधिक सम्बन्धित है। सर्व प्रथम, वन्य अर्थव्यवस्था के अध्ययन तथा ग्रामीण एवम् वन्य अर्थ-व्यवस्था की महत्वपूर्ण भिन्नताओं को जानने के लिए सघन प्रयास करना आवश्यक है। घाटी-क्षेत्र-सिद्धान्त इन भिन्नताओं की अच्छी व्याख्या करता है, जिसके अनुसार प्राकृतिक खंडों को व्यापक तौर पर ६ प्रमुख किस्मों में विभाजित कर सकते हैं: (१) पर्वतीय तथा वन्य क्षेत्र, (२) सामान्य घास-क्षेत्र तथा प्रमुख घास-क्षेत्र, (३) भिन्न भू-तत्व तथा सिंचाई की सुविधाओंवाले मैदान, (४) उर्वर मिट्टी तथा सिंचाई–सुविधाओं से युक्त उपवन-भूमि तथा नदी की घाटियाँ, (५) वाणिज्य का अवसर प्रदान करनेवाले समुद्र-तट तथा तटीय प्रदेश, और (६) कठिन अवरोधों से युक्त मरुस्थल। ग्रामोद्योग के विकास कार्यक्रम बहुत लाभकारी सिद्ध होंगे यदि योजनाएं क्षेत्र के पाषाण तथा प्राकृतिक साधनों और जनता तथा उसकी अर्थ-व्यवस्था पर प्रभाव डालनेवाली मुख्य विशेषताओं के अध्ययन पर आधारित हों।

आदिवासी क्षेत्र सतत पर्वतीय तथा वन्य क्षेत्रों से सम्बद्ध हैं और कभी-कभी विशेषकर पर्वत-शृंखलाओं के गिरिपादों के समीप घास के बड़े मैदान भी इसमें आ

जाते हैं। सामान्य मैदानी क्षेत्रों की तुलना में इन क्षेत्रों में अधिक अच्छे तथा भिन्न प्राकृतिक साधन होते हैं।

ऐतिहासिक रूप में आदिवासी क्षेत्रों में आखेटक रहते थे, जिन्होंने उन्नतिशील अर्थ-व्यवस्था का निर्माण किया। वे पशु जगत की अमूल्य उपयोगिता से अच्छी तरह अवगत थे। अब भी वन्य पशु स्थानीय तथा राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में योगदान कर सकते हैं। वे देश की भोजन-आपूर्ति को बढ़ा सकते हैं और पशु चर्म औद्योगिक कार्यों तथा निर्यात के लिए उपयोग में लाया जा सकता है।

कच्चे माल

हाल ही में सतपुड़ा पहाड़ियों पर गोंडवाना केन्द्र अस्तित्व में आया है। वह विशेष प्रकार के फूल उगाने तथा औषधियों और विदेशी पौधे लगाने की सम्भावनाओं की खोज कर रहा है। तेल युक्त घासों से बड़ी सम्पत्ति का उत्पादन हो सकता है। सावधानीपूर्वक संगठित तथा व्यापक वानस्पतिक सर्वेक्षण से हमारे वन्य क्षेत्रों के प्रचुर पौधों के उपयोग की जानकारी हो सकती है।

पर्वतीय क्षेत्रों में अनेक प्रकार की मिट्टी मिलती है जिसकी जानकारी हमें नहीं है। मिट्टी-बर्तन-निर्माण के लिए ये मिट्टी अत्यंत मूल्यावान हैं। औद्योगिक कार्यों में दुर्लभ मिट्टी प्रयुक्त होती है तथा कुछ मिट्टी स्थानीय निर्माण कार्यों के लिए उपयोगी हैं। जब तक इन अनुपयोगी प्रतीत होने वाले आर्थिक साधनों की उचित खोज तथा उनका अध्ययन नहीं होता, आदिवासी क्षेत्रों की अर्थव्यवस्था तेजी से प्रगति नहीं कर सकती।

प्रस्तर, काष्ठ तथा चिक्कण मृत्तिका ही ऐसे कच्चे माल रहे हैं जिनको आदिवासियों ने शताब्दियों से उपयोग किया है। जहाँ पत्थर पाये जाते हैं उससे दूर मैदान निवासी पत्थर का प्रयोग करते हैं, किन्तु पर्वतीय क्षेत्रों में कदाचित ही प्रस्तर खानें विकसित हुई हैं; शायद इसका कारण परिवहन तथा आवागमन की सुविधाओं का अभाव रहा हो। यद्यपि आदिवासी क्षेत्रों में अपरिमित प्रस्तर साधन उपलब्ध है, किन्तु उनका उपयोग किये बिना ही उन क्षेत्रों में प्रति मील २०० रुपये की लागत की सड़कें बनायी गयी हैं।

वाणिज्य उपयोगी काष्ठ उत्पन्न करनेवाले वृक्षों, अथवा वन्य फलों अथवा शोभावृक्षों का उपयोग शायद ही आर्थिक विकास का योजनाबद्ध कार्यक्रम हो। महुआ, अचार, बेर, चिरौंजी, वन्य आम, जामुन आदि जैसे वृक्ष, जो समृद्धि तथा अभाव के दशकों में लोगों के लिए अत्यंत मूल्यवान सिद्ध हुए हैं, ग्रामीण तथा कुटीर उद्योग के आयोजकों का उपयुक्त ध्यान नहीं प्राप्त कर रहे हैं।

आदिवासी अर्थ-व्यवस्था का विकास

कुटीर उद्योगों के आयोजक शहरी समाज के औद्योगिक विकास की विशाल आयोजनों के समक्ष किसी प्रकार की हीन ग्रन्थि से पीड़ित प्रतीत होते हैं। साधारणतः लोगों का यह विश्वास है कि कुटीर उद्योग अवश्य ही लघु होने चाहिए और प्रबन्ध तथा संगठन की क्षमताओं के कारण ही उनके विकास की योजनाएं असफल होती हैं। क्षेत्र में उपलब्ध कच्चे माल की विशाल मात्रा का उपयोग करना लाभदायक है। जन-शक्ति समस्या, स्थानीय कौशल तथा बाजार का गम्भीर अध्ययन अवश्य करना चाहिए, और तब समस्त स्थानीय सामग्रियों को स्थानीय आदिवासी अर्थ व्यवस्था के विकास में योगदान देना चाहिए। सिर्फ औद्योगिक उपयोगितावाले कच्चे मालों को प्रमुख शहरों तथा विदेशों में उचित तौर पर बेचना चाहिए।

शताब्दियों की उपेक्षा तथा उर्वरकों एवम् अन्य रसायन-उपयोग की अनुपस्थिति के कारण सौ वर्षों से भी अधिक पुराने वृक्ष ऐसे फल प्रदान कर रहे हैं जिनकी बिक्री बहुत मुश्किल है। पर्वतों तथा वन्य क्षेत्रों में पादपजात के पुनस्स्थापन से आदिवासियों को बड़ी सम्पत्ति प्राप्त हो सकती है।

एक आदिवासी क्षेत्र में औद्योगिक विकास चार प्रमुख बातों पर ही आधारित होना चाहिए : (अ) कच्चे माल की उपलब्धि, (आ) उत्पादक समुदाय में उपभोक्ता की आवश्यकता, (इ) स्थानीय बाजार की आवश्यकताएँ और (ई) अतिरिक्त श्रम तथा लोगों

को अवकाश–समय की उपलब्धि। कच्चे माल प्राप्य हैं, किन्तु उनका उपयोग थोड़े से विक्रय-योग्य वस्तुओं के उत्पादन में ही होता है। आदिवासी केवल स्थानीय साप्ताहिक बाजार से अवगत हैं, और कभी-कभी वे समीप के नगरीय बाजार का भी लाभ उठाते हैं। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, वे कच्चे मालों की उपलब्धि, उनके संभव उपयोग तथा उक्त क्षेत्र के बाहर के प्राकृतिक साधनों से अनभिज्ञ हैं। स्थानीय अर्थव्यवस्था के विकासार्थ प्रकृति-प्रदानों का अधिकतम लाभ उठाने के लिए उनमें पहल, व्यापारिक क्षमता एवम् उत्पादन के तौर-तरीके के ज्ञान की कमी है।

उनका घरेलू जीवन सामान्यतः सादा तथा प्रायः आत्मनिर्भर है। प्रकृति की गोद में रहने तथा जीवन-स्तर की कोई चिंता नहीं रहने के कारण वे संतुष्ट तथा आलसी जैसे प्रतीत होते हैं। भोजन, वस्त्र और आवास सम्बन्धी उनकी आदतों तथा जीवन-सुख के लिए थोड़े बहुत विलास की प्राप्ति के कारण अब तक ग्रामोद्योगों के विकास में उन्होंने कोई योगदान नहीं दिया है। परियोजना क्षेत्र में, जहाँ कि मध्य प्रदेश के गोंडवाना केन्द्र ने गोंड लोगों में काम करने का प्रचुर अनुभव प्राप्त किया है, पांच सौ वर्गमील के क्षेत्र में शायद ही एक दर्जन बढ़ई, राजगीर, लोहार, कुम्हार तथा टोकरी बनाने वाले मिलें।

बाजार का अभाव

संस्कृति-संगर, मूल्य-वृद्धि, तथा पारिश्रमिक और नौकरियों में अभिवृद्धि होने के फलस्वरूप मन्द परन्तु निरन्तर सुधार हो रहा है। परन्तु सामुदायिक योजना अधिकारीगण कुछ निम्न कोटि का प्रशिक्षिण देने के अतिरिक्त कारीगरों को संगठित करने अथवा समीपवर्ती नगरों में बाजार की व्यवस्था करने में असमर्थ हैं।

आदिवासी क्षेत्रों में वर्तमान बाजारें मौसमी, अस्थायी तथा अव्यस्थित हैं। वे लोगों की आवश्यकता-पूर्ति के लिए लगायी जाती हैं, किन्तु दूकानदार तथा छोटे व्यापारी औद्योगिक क्षेत्रों में मौजूद बड़े बाजारों से पूर्णतः अनभिज्ञ हैं। संगठित बाजारों तथा परिवहन के समुचित सरल तथा सस्ते साधन के अभाव और स्थानीय उत्पादनों के विक्रयार्थ गैर-आदिवासियों पर उनकी लगभग पूर्ण निर्भरता के कारण अब तक आदिवासी क्षेत्रों की अर्थ-व्यवस्था का विकास नहीं हो सका है।

आदिवासी क्षेत्रों में मानव शक्ति की समस्या बड़ी उलझनपूर्ण है। सम्पूर्णरूपेण जनसंख्या कम है, ग्राम समुदाय भी बहुत छोटा है तथा खेत भी बहुत छोटे हैं। वन्य तथा सामुदायिक विकास के अधिकारीगण अनियमित रूप से काम देते हैं, इसलिये लोग ग्रामोद्योगों का काम स्थायी तौर पर करने में असमर्थ हैं।

प्रतिकूल जलवायु

आदिवासी क्षेत्रों में स्त्रियाँ पुरुषों से अधिक काम करती हैं। पुरुष दूर दूर के स्थानों को जाने में अधिक समय बिताता है और उसे स्थायी रूप से कोई काम करने अथवा समय पर काम करने की आदत नहीं है। उसमें काम करने की इच्छा का अभाव होता है। जलवायु के कारणों से वह साल भर नियमित रूप से काम नहीं कर सकता है। बरसात के दिनों में ६० प्रति शत से भी अधिक पुरवे अलग पड़ जाते हैं और यहाँ तक कि समीपवर्ती गांवों से भी आवागमन बन्द हो जाता है। बुवाई तथा फसल कटाई के समय मजदूरों की कमी रहती है। जाड़े के दिन, जबकि अधिक काम हो सकता है, ठंडे और छोटे होते हैं, और इसलिए पर्याप्त अवकाश नहीं मिलता है। मुख्यतः गर्मी में, मार्च से मई के अन्त तक अवकाश मिलता है और वह होली का समय होता है जबकि कई दिनों तक उत्सव तथा नृत्य होते हैं और उसके बाद ही शादी, तीर्थयात्रा तथा अनेक उत्सवों का समय आता है। तदनन्तर ऐसे दिन आते हैं जो बरसात से बचने के लिए घर की छतों तथा दीवारों को सुधारने में लग जाते हैं। और फिर, खेत बुवाई के लिए तैयार किये जाते हैं।

आदिवासियों ने अनेक शताब्दियों में अपने कौशल तथा तकनालाजी का विकास किया है, जो आधुनिक

ग्रामोद्योगों के लिए आवश्यक कौशल से अलग हैं। पिछड़ेपन तथा ग्रामोद्योग के अर्द्धविकास के मुख्य कारणों में से एक है—ऐसे नेतृत्व का अभाव, जिसमें वर्तमान अर्थव्यवस्था के लिए आवश्यक प्राप्त कौशल को उचित दिशा में पलटने तथा नवीन कौशल को विकसित करने का ज्ञान हो।

सामुदायिक विकास अधिकारियों द्वारा आयोजित अधिकांश प्रशिक्षण पाठ्यक्रम उचित ढंग से नहीं तैयार किये जाते हैं और उन कार्यक्रमों का संचालन ऐसे व्यक्तियों द्वारा नहीं होता है जो स्वयं औद्योगिक युग के लिए आवश्यक नव-कौशल तथा गति से युक्त हों। प्रयुक्त औजार तथा साधन निम्न कोटि के हैं। प्रशिक्षण काल बहुत सीमित है और अच्छी कारीगरी तथा उच्च श्रेणी के वस्तु-निर्माण के लिए पर्याप्त अनुभव नहीं है। आर्थिक व्यवस्था को पुराने से नये में शीघ्र बदलने के लिए बिल्कुल नये विचारों की आवश्यकता है।

वैविध्यपूर्ण अर्थ-व्यवस्था

यह समझना आवश्यक है कि आदिवासी अर्थ-व्यवस्था तभी समृद्धिशाली होगी, जबकि वह मिश्रित अर्थ-व्यवस्था हो। वन्य अर्थ-व्यवस्था के विकास में, आखेट के महत्वपूर्ण योगदान के बिना भी, वन संवर्धन का सबसे बड़ा क्षेत्र है। आदिवासी क्षेत्रों में 'आदिवासी कृषि' तथा पशु-पालन का अपना विशेष स्थान है, और मैदानी कृषि पर्वतीय क्षेत्रों की मिट्टी तथा जलवायु के अनुकूल नहीं हो सकती। आदिवासी दस्तकारियाँ, वन संवर्धन, गिरि क्षेत्रीय ज्वार तथा बाजरे की खेती, मुर्गी-पालन, मधुमक्खी-पालन, बागवानी आदि केवल पूरक रूप में ही स्थान पा सकती हैं।

आदिवासी क्षेत्रों में ग्रामोद्योग के विकास की समस्या के हल के लिए आवश्यकता है—छोटे परन्तु अनुक्रियाशील समुदायों का गहन अध्ययन तथा शोध कार्य एवम् उनमें अधिक काल तक धैर्यपूर्ण कार्य। शहरों को सर्वोत्कृष्ट प्रतिभाएँ उच्च पारिश्रमिक की अपेक्षा किये बिना ही प्रदान करनी चाहिए; जो कि असंगठित तथा पारिश्रमिक न दे सकनेवाली अर्थ-व्यवस्था के लिए संभव नहीं है। आदिवासी कच्चे माल, कौशल और सौन्दर्य भाव रखते हैं, किन्तु शहरों तथा आदिवासी क्षेत्रों के सम्पर्क को अभी भी सघन तथा परस्पर लाभकारी होना बाकी है, जिससे आदिवासी अर्थ-व्यवस्था में पर्याप्त योगदान के लिए ग्रामोद्योगों की उत्पत्ति तथा उसका विकास हो सके।

सुखी जीवन के लिए प्रशिक्षण

सात वर्षों के प्रयास से निर्मित गोंडवाना केन्द्र एक प्रयोगात्मक केन्द्र के रूप में विकसित हुआ है, जहाँ विकासशील आदिवासी अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए गोंड जनता में शिक्षा के समग्र कार्यक्रम के विकास का प्रयोग चल रहा है। इस कार्यक्रम का उद्देश्य है तीन वर्षीय प्रशिक्षण प्रदान करना, जिससे उन्नत कृषि तथा बढ़ईगीरी, ईंटें बनाने का काम, सूत की कताई और बुनाई जैसे शिल्पों की कुशलता का विकास हो सके और युवक ऐसी वृत्ति के लिए तैयार हो सकें कि वे आदिवासी वातावरण में अपनी अनुकूलनीयता न नष्ट करें। शारीरिक योग्यता, नैतिक शिक्षा तथा पौष्टिक शरीर विकास के लिए प्रशिक्षण, तीन वर्ष के कठोर श्रम से युक्त जीवन का एक अंग है। परन्तु जहाँ शिक्षा-कक्ष, वर्कशाप तथा पुस्तकालय में निरन्तर शारीरिक काम करना पड़ता है, वहाँ जीवन सुखी होता है।

केवल सही शिक्षा द्वारा ही प्रगतिशील तथा जागृत आदिवासी समाज के लिए ऐसी नींव डाली जा सकती है, जिसमें नेतृत्व, पहल तथा संगठित प्रयास की क्षमता हो, और जो सुन्दरतम अवसरों से युक्त तथा पहले से ही आधुनिक जीवन की कला से सम्पन्न लोगों के साथ-साथ आदिवासी समाज में सामाजिक तथा आर्थिक प्रगति लाने की शक्ति रखती हो। ग्राम-नगर, वन-समतल मैदान, मानसिक-भावनात्मक विकास के स्तर और जीवन-स्तर के बीच के अन्तर को दूर करने के लिए उचित कदम उठाये जाने चाहिए।

बम्बई: १४ जुलाई १९६३

कृषिक अनुसंधान और ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था

अब्दुर रहीम खाँ

खेती में सुधार करने के लिए कृषिक अनुसंधान का महत्वपूर्ण स्थान है। प्राविधिक विकास में सरकार की कितनी रुचि है, यह तो इसी से परिलक्षित है कि देश भर में उसने अनेक अनुसंधान संस्थाएँ स्थापित की हैं। उक्त संस्थाओं में प्राप्त सफलता का यद्यपि बहुत बड़ा व्यावहारिक मूल्य है, तथापि ग्रामीण क्षेत्रों की विशिष्ट सामाजिक एवम् आर्थिक अवस्थाओं के कारण ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था पर उनका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा।

यद्यपि खेती भारत का सबसे बड़ा पेशा है तथा उसमें देश की करीब ७० प्रति शत जनता लगी है और राष्ट्रीय आय में उसका आधे से भी अधिक हिस्सा रहता है, फिर भी वह देश की अनवरत रूप से बढ़ रही आबादी का भरण-पोषण करते रहने में समर्थ नहीं हो पायी है। भारत में औसत प्रति एकड़ उत्पादन और भारतीय कृषक की प्रति व्यक्ति आय सम्भवतः संसार में सबसे कम है। आज भी खेती का काम एक जीवन-मार्ग के रूप में होता है, व्यवसाय के रूप में नहीं। पिछले चन्द वर्षों में प्रविधि के क्षेत्र में महान विकास हुए हैं और एक तरह से उन्होंने क्रान्ति-सी ला दी है, किन्तु ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था पर उसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा है।

विज्ञान की देन

कृषि क्षेत्र में सुधार करने की दिशा में कृषिक अनुसंधान ने जो भूमिका अदा की है, उसका मूल्यांकन करना रुचिकर हो सकता है। पिछली सदी में विज्ञान ने कृषि को तीन महत्वपूर्ण देन दीं। प्रथम देन थी १८४३ में उर्वरक उद्योग का प्रादुर्भाव। उर्वरक और मृत्तिका के बीच जो प्रतिक्रिया होती है, उसके आधार पर उर्वरक प्रयोग तथा वर्गीकरण की तकनीक विकसित की गयी। इससे करीब ६० वर्ष बाद बेहतरीन किस्मों के पौधे उत्पादित करने का मार्ग ढूंढ निकाला गया और, कृषि के लिए यांत्रिक शक्ति का उपयोग तीसरी देन थी। तब से प्रविधि के क्षेत्र में इतनी तरक्की यानी विकास हुआ है कि सर्वोत्तम भूमि पर उसका प्रयोग किया जाय, तो हमारी अधिकांश ग्रामीण जनता बेरोजगार हो जायेगी और उसे कहीं अन्यत्र काम देना पड़ेगा। इससे सामाजिक और आर्थिक पुनः समंजन—जिसके बिना विज्ञान तथा कृषि के बीच जो खाई है वह पाटी नहीं जा सकती—की नयी समस्याएँ सामने आयेंगी।

अनुसंधान संस्थाएँ

देश का रूपान्तर करने में प्राविधिक विकास को सरकार कितना महत्व देती है यह तो इसी बात से परिलक्षित है कि उसने देश भर में अनेक अनुसंधान संस्थाएँ और सामग्री केन्द्र खोले हैं। इन संस्थाओं में हुई चन्द मौलिक और व्यावहारिक खोजों से बहुत ही प्रत्यक्ष मूल्य के परिणाम प्राप्त हुए हैं। **पूसा गेहूँ** अपने गुण, पौधों को होनेवाली बीमारियों के प्रति प्रतिरोध, प्रति एकड़ अधिक उपज और देश के विभिन्न भागों में पाई जानेवाली विभिन्न प्रकार की मिट्टी तथा बोआई आदि की अवस्थाओं के अनुकूल अपने को ढाल लेने के लिए प्रसिद्ध है। इसकी लोकप्रियता कृषकों तथा उपभोक्ता दोनों ने ही पिछले पचास वर्ष से भी कुछ अधिक से इसमें जो विश्वास प्रकट किया है, उस पर आधारित है। गन्ने के पतले डण्ठलवाली देशी किस्म के स्थान पर जिससे किसान को शरबत के रूप में बहुत कम यानी नगण्य-सी प्राप्ति होती थी, अब कोयम्बतूर किस्म का मोटे डण्ठल-वाला गन्ना बोया जाने लगा है, जिससे प्रथम किस्म की तुलना में ५० प्रति शत से ज्यादा अथवा उससे भी अधिक प्राप्ति होती है। इस नयी पद्धति का प्रभाव चीनी के कारखानों की स्थापना और उनसे ग्रामीण आबादी को जो रोजगारी प्राप्त होती है, उसके कारण ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में जो परिवर्तन आया है उससे परिलक्षित होता है।

ज्वार, बाजरा आदि जैसे मोटे अनाजों के सम्बन्ध में अधिक उपज की प्राप्ति करवानेवाली किस्मों का पता लगाने के लिए ज्वार और बाजरे की खेती में विजातीयकरण-तकनीक का विस्तार किया जा रहा है अर्थात् यह विधि लागू की जा रही है। अनेक केन्द्रों में उक्त प्रकार के मोट अनाजों के बारे में उन्नत कृषि-शास्त्र सम्बन्धी पद्धतियों का अध्ययन किया जा रहा है। कपास अन्वेषण के क्षेत्र में केरल में एण्ड्रूज की 'सी आयलैण्ड' कपास का वायुजलानुकूलन एक उल्लेखनीय कदम है। मद्रास और पंजाब में अति लम्बे रेशे की कपास का पता लगाया जा चुका है और व्यावसायिक आधार पर उसका उपयोग करने की सिफारिश की गयी है। विजातीय मक्का बीज उत्पादन का एक विस्तृत कार्यक्रम हाथ में लिया जा चुका ह और आलू तथा कसावा की सूजी आदि जैसे सहायक खाद्य पदार्थों एवम् टमाटर व बैगन जैसी साक-भाजी और अंगूतन पपीते जैसे फलों तथा दालों एवम् तिलहनों की कई उन्नत किस्मों का पता लगाया जा चुका है। विभिन्न फसलों में कितनी मात्रा में उर्वरक दिये जांय तथा उन्हें कितने जल की आवश्यकता होती है, इस सम्बन्ध में विस्तृत बातों की खोज की जा चुकी है। घास-पात पर नियंत्रण और रसायन छिड़क कर पौधों की रक्षा करने के लाभप्रद फल प्राप्त हुए हैं।

तृतीय पंच वर्षीय योजना के अन्तर्गत मौजूदा कृषि संस्थाओं के विस्तार के जरिए और विभिन्न क्षेत्रों में मिट्टी तथा जलवायु सम्बन्धी अवस्थाओं पर आधारित प्रायोगिक केन्द्र स्थापित करते हुए भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् का राज्यों में अनुसंधान सुविधाएँ विस्तृत करने का कार्यक्रम है।

संयुक्त कृषि

इन सब बातों से पता चलता है कि भारत में ग्रामीण जीवन की गतिहीनता भंग करने के लिए महान प्रयासों का आयोजन किया जा रहा है। किन्तु अनुभव ने यह सिद्ध किया है कि कृषि में उच्च स्तरीय अनुसंधान करके ही सुधार को प्रश्रय नहीं मिलता। भारत में कृषि विषयक अनुसंधान का स्तर पर्याप्त ऊंचा है और संसार के अन्य किसी भी विकसित देश के कृषि अनुसंधान-स्तर से उसकी तुलना की जा सकती है। लेकिन दुर्भाग्यवश अन्वेषण से प्राप्त फलों का ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा है। इस सम्बन्ध में मुख्य कमजोरी हमारी समाज व्यवस्था में निहित है। कृषि में किसी भी प्रकार की तरक्की के लिए भूमि सुधार एक पूर्व-शर्त है, जो अभी तक पूर्ण नहीं हुई है। उत्पादन वृद्धि में खेतों का छोटा होना उतना बाधक नहीं है जितना कि उनका अलग-अलग छितरे हुए रूप में होना तथा फसल पद्धति। निश्चित फसल पद्धतिवाले बड़े-बड़े खेतों का सम्बद्ध संस्था के कृषक सदस्यों के संयुक्त प्रबन्ध के अन्तर्गत कुशलतापूर्वक एवं लाभदायक रूप में संचालन होना चाहिए। इससे गाँव को एक खेत का नया आकार प्राप्त होगा और इस प्रकार खेतों के क्षत-विक्षत छोटे-छोटे टुकड़ों का लोप हो जायेगा। एक ही समान फसल बोनेवाले व्यक्तियों के निकट साहचर्य से सहकारी मिल्कियतवाले साधन-स्रोतों का सामूहिक तौर पर उपयोग करने का प्रोत्साहन मिलेगा और बेहतरीन उत्पादन के लिए स्वस्थ प्रतिस्पर्धा करने की प्रेरणा मिलेगी। नयी-नयी कुछ बातें स्वतंत्र रूप से अपनायी जा सकती हैं, किन्तु कुल मिला कर देखने पर अधिकांश बातें सहकारिताओं के माध्यम से ही अपनायी जा सकती हैं।

मानवीय पहलू

उत्पादकता बढ़ाने, सघन कृषि को बढ़ावा देने और लोगों को काम के अधिक अवसर प्रदान करने के लिए विस्तार सेवा को शक्तिशाली बनाना पड़ेगा। इस सेवा के बिना अनुसंधान से प्राप्त परिणामों को सरलतापूर्वक कार्यान्वित करने की अपेक्षा करना अवास्तविक है। जिन्होंने इस कार्य के सामाजिक और मनोवैज्ञानिक पहलुओं पर विचार नहीं किया है, वे अनुसंधान से प्राप्त मालूमातों को किसान जिस धीमी गति से अपना रहे हैं, उस पर आसानी से चिढ़ सकते हैं। इस समस्या ने कार्यकर्त्ताओं को भी चक्कर में डाल दिया है। इसके लिए मुख्यतः मानवीय पहलू उत्तरदायी प्रतीत होता है। मानवीय

पहलू के महत्व को समझ लेने पर अन्वेषण की एक नयी दिशा के लिए मार्ग प्रशस्त होगा। इसका विकास किया जाना चाहिए और विस्तार अनुसंधान का यह एक अंग होना चाहिए। अनुसंधान से प्राप्त फल उपभोक्ता (कृषक) तक पहुँचाना और उपभोक्ता की समस्यएँ वापिस अनुसंधानकर्त्ता (वैज्ञानिक) तक लाना विस्तार सेवा का मुख्य कार्य है। कार्यशीलता का यह एक नया क्षेत्र है जिसके जरिये प्रयोगशाला और खेत के बीच के अन्तर की खाई पटनी चाहिए।

विस्तार सेवा के क्षेत्र में जो कार्य हुआ है, उसका संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत करना अप्रासंगिक न होगा। सामुदायिक विकास की समस्याओं में शोधकार्य करने और उस क्षेत्र में प्रशिक्षण प्रदान करने के मुख्य उद्देश्य से केन्द्रीय सामुदायिक विकास संस्था की स्थापना सम्भवतः इस दिशा में प्रथम कदम था। नयी दिल्ली स्थित उच्च स्तरीय कृषि अनुसंधान के लिए लब्ध प्रतीष्ठ भारतीय कृषि अनुसंधान संस्था में हाल ही में एक स्वतंत्र कृषि विस्तार विभाग खोला गया है। प्रकृति विज्ञान और मनोविज्ञान तथा ग्रामीण समाज शास्त्र के विशेषज्ञों की सेवा-प्राप्ति का लाभ उक्त विभाग को उपलब्ध है। गृह अर्थशास्त्र तथा श्रव्य-दृश्य शिक्षा के विशेषज्ञ भी वहाँ हैं। विभाग उत्तर-स्नातकीय शिक्षा कार्यक्रम चलाता ह। कृषि विस्तार के क्षेत्र में शोधकार्य करके एम. ए. और पीएच. डी. की पदवी प्रदान करने की व्यवस्था भी विभाग में है।

बहुविध प्रयास

कृषिक विस्तार के क्षेत्र में शोधकार्य का ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था पर भारी प्रभाव पड़नेवाला है। कृषक तक अनुसंधान से प्राप्त परिणाम पहुँचाने के सर्वाधिक प्रभावकारी उपायों का विकास किया जा रहा है। अनुसंधान से जो नये मालूमात होते हैं उनके महत्व के सम्बन्ध में किसान की दिलजमई करने में प्रात्य-क्षिक बहुत प्रभावशाली पाये गये। परिवर्तनों के प्रति प्रतिरोध पैदा करनेवाले मनोवैज्ञानिक और सामाजिक पहलुओं का अध्ययन किया जा रहा है। ऐसा पाया गया है कि कुछ खोजों को वे किसान सामान्य किसान की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह अपनाते हैं, जिनका सामाजार्थिक दर्जा यानी प्रतिष्ठा कुछ ऊँची होती है। किसान के दृष्टिकोण अथवा अनुकूलता और प्रतिकूल-ताओं, मूल्यों और मान्यताओं, आकांक्षाओं तथा अपे-क्षाओं, परिवर्तन के प्रति ग्रहणशीलता और अभिप्रेरणा को प्रभावित करनेवाले अन्य महत्वपूर्ण पहलू मालूम करने के लिए भी प्रयास किये जा रहे हैं। 'किसान द्वारा निर्णय' करने की दिशा में भी शोधकार्य हो रहा है।

नेताओं की भूमिका

वैज्ञानिकों द्वारा की गयी खोजों पर सिफारिशें स्वीकार करने में जन-नायकों की भूमिका पर ध्यान दिया जा रहा है। ऐसा पाया गया है कि अभिनव कृषि में तथा उन्नत पद्धतियाँ कार्यान्वित करने और फलस्वरूप ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को उन्नत बनाने की दृष्टि से गाँवों में लोक-मन को प्रभावित करनेवाले जन-नायक बहुत महत्वपूर्ण हैं। अनुसंधान और उसके व्यवहार के बीच का अन्तर मिटाने के लिए नयी-नयी पद्धतियाँ अपनाने की दिशा में अनेक अध्ययन किये जा रहे हैं।

निस्संदेह भारत में कृषि क्षेत्र में उल्लेखनीय अनुसंधान हुआ है। देश की अर्थ-व्यवस्था पर इसका बहुत प्रभाव पड़ना चाहिए था। किन्तु यह प्रभाव अपेक्षित रूप से नहीं पड़ा है। इन विभिन्न शोधों के मध्य समन्वय और संश्ले-षण स्थापित करने की बड़ी आवश्यकता है। आगे चल कर इन शोधकार्यों से प्राप्त परिणामों से देश की कृषि में सुधार होना चाहिए। अनुसंधान का यही औचित्य है, वैधता है। 'विस्तार सेवा' के जरिये यह प्रदान की जा रही है, जो कि एक सामान्य केन्द्र बिन्दू—यानी किसान—पर विभिन्न प्रकार के अनुसंधान का संश्लेषण कर रही है। ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के विकास में योगदान देने के लिए किसान की अवस्था सुधरनी ही चाहिए।

नयी दिल्ली : ९ अगस्त १९६३

हमारे हड्डी स्रोत

शिशिर कुमार बराट

भारत सरकार द्वारा खाद्य और कृषि-कचरे के उपयोगार्थ जो समिति नियुक्त की गयी थी, उसने अनुमान लगाया कि भारत में कच्ची हड्डियों की वार्षिक उपलब्धि ३ लाख ६० हजार टन के करीब है, जिसकी कीमत लगभग ७ करोड़ रुपये होती है। इनमें से सिर्फ ३८ प्रति शत ही एकत्रित और प्रशोधित होती है। अतः हड्डियों की सघन सम्प्राप्ति आवश्यक है। समिति ने सिफारिश की है कि यथा सम्भव हड्डी उत्पादनों, जिसमें हड्डी-खाद भी शामिल है, के निर्यात की हर कोशिश की जानी चाहिए।

भारत हड्डी-स्रोत में परम रूप से काफी धनी है और इसके और भी विकास की काफी सम्भावनाएँ हैं। आमतौर पर यह अन्दाज लगाया जाता है कि मवेशी के शारीरिक वजन का एक-चौथाई हड्डियों का वजन होता है। भारतीय मवेशी का औसत वजन करीब ४०० पौंड मान कर और उनके मृत्यु-अनुपात का अनुदार अनुमान ८ प्रति शत लगा कर हिसाब लगाने से सैद्धान्तिक तौर पर हर साल २ करोड़ ४६ लाख मवेशी मिलेंगे, और अकेले उनसे ही १० लाख ९० हजार टन हड्डियाँ प्राप्त होंगी। बहरहाल, असल में जितनी हड्डी मिलती है, वह बहुत कम है। बड़े जानवरों की हड्डियाँ, खासकर स्वाभाविक मौत मरनेवालों की, व्यापारिक रूप से एकत्रित की जाती हैं, क्योंकि कसाईखाने में ये जानवर थोड़ी संख्या में ही आते हैं। भारत सरकार द्वारा खाद्य और कृषि कचरे के उपयोगार्थ जो समिति नियुक्त की गयी थी, उसने अनुमान लगाया कि भारत में कच्ची हड्डियों की वार्षिक उपलब्धि ३ लाख ६० हजार टन के करीब है जिसकी कीमत लगभग ७ करोड़ रुपये होती है। विभिन्न जातियों के जानवरों से होनेवाली उपलब्धि निम्न तालिका में दी गयी है:

तालिका

विभिन्न जातियों के जानवरों से प्राप्त कच्ची हड्डी

(लाख टन में)

जाति	मृत	कत्ल	कुल
मवेशी	२.४९५	०.०९७	२.५९२
भैंस	०.९५२	०.०६८	१.०२०
घोड़े और टट्टू	०.०१३	—	०.०१३
ऊँट	०.०१७	—	०.०१७
कुल	३.४७७	०.१६५	३.६४२

अनुमानित उपलब्धि

इनमें से अभी सिर्फ १ लाख ३६ हजार टन हड्डियाँ हीं, जो कि कुल अनुमानित उपलब्धि की ३८ प्रति शत हैं, असल में देश की ९८ हड्डी चूरक इकाइयों में एकत्र और प्रशोधित की जाती हैं और बाकी संगठन की कमी के कारण बेकार जाती हैं। हड्डियों की सघन सम्प्राप्ति का कार्य, विशेषकर उत्तर प्रदेश, उड़ीसा और असम के जंगलों से, हाथ में लिया जाना चाहिए, क्योंकि इन राज्यों में मवेशियों और जंगली पशुओं की हड्डियाँ

भारी परिमाण में एकत्रित नहीं होने के कारण बेकार चली जाती हैं। हमारे देश में हड्डियों की पूर्ति लचीली नहीं है, क्योंकि अधिकतर इनकी प्राप्ति मृत पशुओं से होती है।

एकत्रीकरण की कठिनाइयाँ

मुख्य कठिनाई हड्डियों के एकत्रीकरण की है क्योंकि हमारा पशुधन देश के साढ़े पाँच लाख गाँवों में वितरित हैं। सच तो यह है कि बहुत से गाँव तो ऐसे हैं—जिनकी औसत मवेशी संख्या सिर्फ ३५० है। मवेशियों का मृत्यु-अनुपात करीब ८ प्रति शत मान कर इन गाँवों में पशु-शवों की वार्षिक उपलब्धि प्रति गाँव ३० से कुछ कम होती है। अतः यह प्रत्यक्ष है कि गाँवों में पशु-शवों की इस आकस्मिक पूर्ति के कारण ग्राम स्तर पर हड्डियों का प्रभावशाली एकत्रण संगठित करना कठिन होगा। बहरहाल यह कार्य गाँवों में ग्राम पंचायतों, सामुदायिक परियोजना प्रशासन, ग्राम शवच्छेदन केन्द्रों, आदि के जरिये सलाभ संगठित किया जा सकता है। गाँवों में मरनेवाले जानवरों का प्रशोधन निकट के शवच्छेदन केन्द्रों में किया जाना चाहिए। गाँवों में मरनेवाले सभी पशुओं को एक निश्चित जगह में पहुँचाया जाना चाहिए।

खंड विकास क्षेत्रों में क्रय केन्द्र भी खोले जा सकते हैं जहाँ कि आस-पास के ग्रामीण एकत्रित की गयी हड्डियों को समुचित दर पर, जो कि उनके लिए आकर्षक भी हो, बेच सकें। अधिकाधिक एकत्रण तभी सम्भव है, जबकि इन प्राथमिक एकत्राकर्त्ताओं को ऊँची कीमत दे प्रोत्साहित किया जाय। एकत्रण बढ़ाने के लिए प्रोत्साहन की एक ऐसी पद्धति निकाली जानी चाहिए जो कि प्राथमिक एकत्रकर्त्ता को पर्याप्त लाभ की गारंटी दे। अधिकांश मामलों में यह एकत्रणकार्य लाभदायक नहीं होता, क्योंकि माल-भाड़ा और परिवहन की दरें बहुत ऊँची हैं।

फासफोरस युक्त खाद के लिए हड्डी बड़ा ही महत्वपूर्ण स्रोत है। सुपर फास्फेट में फासफोरस पेण्टोक्साइड (P_2O_5) होता है जोकि पानी में घुल जाता है और भारत के अधिकांश भाग की भूमि में फास्फेटयुक्त उर्वरक के इस्तेमाल के लिए यह अधिक उपयुक्त है। यदि हड्डी उत्पादक क्षेत्र में ही व्यापारिक सलफ्यूरिक एसिड सस्ते में मिल जाय, तो उसका उपयोग हड्डियों को सुपर फास्फेट में, कम-से-कम स्थानीय उपयोग के लिए, बदलने हेतु सलाभ किया जा सकता है। तथापि, देश के कई भागों में धार्मिक कारणों से हड्डी उर्वरक को लोग जल्दी स्वीकार नहीं करते, यद्यपि आमतौर पर इसके इस्तेमाल में कुछ हद तक इसकी ऊँची कीमत भी बाधक है। विशेषकर दक्षिण में सब्सिडी आदि देकर हड्डी उर्वरक के इस्तेमाल को लोकप्रिय बनाने की कोशिश की जा रही है। भारत सरकार और राज्य सरकारें राज्य सरकार के जरिये बेचे जानेवाली हड्डी खाद की खुदरा कीमत पर २५ प्रति शत सब्सिडी देती हैं; हड्डी खाद तैयार उर्वरक के एक अंग के रूप में अधिकाधिक लोकप्रिय होती जा रही है। यह वांछनीय है कि इस हड्डी खाद को एन्थरेक्स से बचाने के लिए अच्छी तरह निष्कीटित कर लिया जाय। जहाँ सुपर-फास्फेट आवश्यक न हो, वहाँ खनिजीय फास्फेटों का भी सुविधानुसार उपयोग कर सकते हैं।

विदेशी मुद्रा उपार्जक

देश में खनिजीय फास्फेट स्रोतों की कमी होने की वजह से हाल के वर्षों में हड्डियों अथवा अधिक फासफोरस पेण्टोक्साइड रखनेवाले हड्डी उत्पादनों के मुक्त निर्यात के विरुद्ध आवाज उठायी गयी है। यह आग्रह किया जाता है कि देश के अन्दर फास्फेटिक उर्वरक की मांग की पूर्ति करने हेतु इसका निर्यात बन्द किया जाना चाहिए। तथापि निर्यातीत हड्डी अथवा आयातीत फास्फेट राक की फासफोरस पेण्टोक्साइड इकाई की गणना के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय दर का अन्तिम विश्लेषण करें तो यह मालूम होगा कि सुपर फास्फेट के मामले में फासफोरस पेण्टोक्साइड का मूल्य बहुत प्रतियोगात्मक है। सच तो यह है कि प्रति टन फासफोरस पेण्टोक्साइड हड्डी अथवा हड्डी उत्पादन के रूप में निर्यात करने पर उसके बदले में आयातीत फासफेट राक में वह तीन गुना अधिक मिलता है। अतः हड्डी उत्पादनों की वर्तमान अन्तर्रा-

ष्ट्रीय दर पर भारत के लिए इनका अधिकाधिक निर्यात करना लाभदायक है और देश की मांग की पूर्ति के लिए फास्फेटिक राक का आयात किया जाना चाहिए, जोकि विदेशों में तैयार मिलते हैं; उपर्युक्त तथ्यों के सन्दर्भ में भारत सरकार द्वारा गठित समिति ने अधिकृत रूप में यह सिफारिश की है कि जब तक विदेशों से हमें फास्फेट राक सहज ही मिल जाता है और अपने देश के अन्दर हड्डी उत्पादनों का मुख्यतः खाद के रूप में इस्तेमाल होता है, तब तक जितना ज्यादा सम्भव हो हम हड्डी उत्पादनों का, जिसमें हड्डी चूरा भी शामिल है, निर्यात करने की भरपूर कोशिश करें। इससे उपार्जित विदेशी मुद्रा का एक भाग फास्फेट राक अथवा हाइपर फास्फेट जैसे खनिजीय फास्फेट का आयात करने में खर्च किया जा सकता है, जोकि हड्डियों तथा हड्डी उत्पादनों के निर्यात से फासफोरस पेण्टोक्साइड के होनेवाले नुकसान की पूर्ति करेगा।

चूना निकालना

हमारे देश में हड्डी उद्योग तो काफी हद तक अभी निर्यात-मुखी है ही, क्योंकि अभी सालाना औसत ७४ हजार टन हड्डी और हड्डी उत्पादनों का इग्लैंड, बेल्जियम अमेरिका आदि को निर्यात कर करीब २ करोड़ ५० लाख रुपये की आय होती है। इसके अतिरिक्त, भारत प्रति वर्ष करीब ३२ से ३५ हजार टन हड्डी खाद तैयार करता है। परन्तु अभी इसके निर्यात पर प्रतिबन्ध हटा दिया जाय तो इस उद्योग की विदेशी मुद्रा अर्जन क्षमता बहुत बढ़ जायगी। इससे प्राथमिक उत्पादकों को अधिक लाभ होगा और जिससे कि उपलब्ध स्रोतों से अधिकाधिक हड्डी एकत्रण कार्य को प्रोत्साहन मिलेगा।

हड्डी का अन्य उपयोग है इसे ओसीन में परिवर्तित कर देना और फिर यदि आवश्यक हो तो जिलेटीन में। हड्डी को श्लेष-जनीय अन्तर्द्रव्य कह सकते हैं, जिसमें कैलशियम फास्फेट की लगभग-रचना का अणुस्फटात्मक अप्रांगारिक क्रम रहता है, लेकिन उसमें अन्य अयन भी रहते हैं। इसलिए जब हड्डी को कमरे के तापमान पर मन्द हाइड्रोक्लोरिक एसिड का संयोग कराया जाता है तो मुख्यतः ओसीन और मन्द हाइड्रोक्लोरिक एसिड में कैलशियम फास्फेट का घोल प्राप्त होते हैं। प्रयोगिक तौर पर यह पाया गया है कि हड्डी का चूना निकालने के लिए करीब १४ प्रति शत अम्ल आवश्यक है, और अम्ल को चूना जल अथवा सोडियम हाइड्रोक्साइड में मिलाकर क्लीबिन करने से कैलशियम फास्फेट प्राप्त होता है। इस प्रक्रिया के दौरान कैलशियम क्लोराइड और सोडियम क्लोराइड का भी उत्पादन होता है और उन्हें पानी से धोकर आसानी से बाहर निकाल लेते हैं। परिवर्त समु का सावधानी से फेर-बदल तथा क्लोराइडों को निकाल कर उचित रूप में शुद्ध डाइकैलशियम फास्फेट प्राप्त करना सम्भव है।

नये मार्ग

अभी देश के अन्दर जिलेटीन की खपत कम है तथा इसके निर्माण की संस्थापित क्षमता का काफी भाग निष्क्रिय पड़ा रहता है। अतः ओसीन और तकनीकल जिलेटीन के निर्यात व्यापार की क्षमता को जानना होगा और यदि इन उत्पादनों की ठीक मांग हो तो देश में ही प्राप्य हड्डियों से ओसीन और जिलेटीन तैयार करने के लिए कदम उठाने होंगे। अभी जापान भारी मात्रा में ओसीन आयात करने को तैयार है और हमारे यहाँ उपलब्ध उनकी अपेक्षा सस्ते श्रम को देखते हुए हमें इस मामले में अच्छी तरह प्रतियोगिता करने योग्य होना चाहिए। फिर, हड्डी को ओसीन में परिवर्तित करने से क्लोरिन उपयोग का नया मार्ग निकलेगा, जिससे माल-भाड़ा खर्च तो काफी बचेगा ही, साथ ही सह-उत्पादन के रूप में डाइकैलशियम फास्फेट और अवशिष्ट आसव प्राप्त होगा जिनका उपयोग उपयोगी उर्वरकों के रूप में करने के अलावा अन्य औद्योगिक कार्यों में भी किया जा सकता है।

मद्रास: १९ अप्रैल १९६३

ग्रामीण रोजगारी और योजना

चित्तप्रिय मुखर्जी

यदि हम एक आत्म-निर्भरक, अपने पैरों पर खड़े होनेवाले स्वावलंबी ग्राम समाज की स्थापना करना चाहते हैं, तो गैर खेतिहर उद्योगों के संगठित निजी क्षेत्र और ग्रामोद्योगों व गाँवों, यंत्र-प्रधान और श्रम-प्रधान उद्योगों, तथा सामान्यतः शहरोन्मुख औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था और ग्रामोन्मुख विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था के मध्य संतुलित सम्बन्ध सुनिश्चित करना आवश्यक है।

तृतीय योजना के अन्त में पूर्ण तथा अर्ध-बेरोजगारों[1] की संख्या के द्वितीय पंच वर्षीय योजना के अंत की संख्या से भी अधिक होने के आसार हम में से अनेकों को उलझन में डालनेवाले प्रतीत होते हैं। दो दशकों की अवधि में बलिदान करते और कष्ट झेलते हुए क्या हमने एक ऐसे समाज का मार्ग प्रशस्त नहीं किया है, जिसमें बेरोजगारी तथा उसके सहगामी असमान सम्पत्ति वितरण की समस्या नहीं होगी? क्या स्वयम् योजना में या उसके कार्यान्वयन में कोई कमी है?

हितों में अनेकरूपता

फलविहीन विश्वयुद्ध के साथ समाप्त होनेवाले दीर्घ कालीन आर्थिक शोषण और हम पर थोपे गये देश विभाजन के फलस्वरूप चूर-चूर कर खोखलेपन की स्थिति तक पहुँचे हुए देश के सामने आज जो अनेक समस्याएँ—भूमि की उर्वरकता को मात कर देनेवाली जन-संख्या में अचानक वृद्धि से लेकर विनियोजन की वांछित दर के साथ-साथ आगे बढ़ने हेतु घरेलू बचत की असफलता तक—हैं उनमें जन-शक्ति रूपी पूंजी का पूर्ण उपयोग करने के लिए अवसरों (काम के अवसरों) का अभाव निस्सन्देह सबसे भारी समस्या है। नवीन और प्राचीन तथा बड़े-बड़े गर्वित शहरों व नगरों में संगठित एकाधिकरवादी विकास और बिल्कुल असंगठित एवम् यत्र-तत्र बिखरे हुए कृषि विभाग के विलक्षण और अनुरूप संयोग से पीड़ित हमारे ससाज ने—जिसके सामाजिक व आर्थिक जीवन में पहले से ही किसी न किसी रूप में व्यक्ति-वाद तथा वर्ग-भेद की अन्तर्निहित भावना थी—गरीब और अमीर, ग्रामीण और शहरी, शिक्षित और अशिक्षित, बाबूगिरी का काम करनेवालों व बुद्धिजीवियों और मेहनतकश के बीच हितों की अनेकरूपता तथा दृष्टिकोण भिन्नता को पनपाया।

आज जो देश अच्छी और सुदृढ़ स्थिति में हैं, उनके द्वारा निर्धारित समाधान (जो कि अधिकांश आकस्मिक रूप से, केवल युद्धकाल[2] में ही अपनी

---

१. "द्वितीय पंच वर्षीय योजनावधि में ८० लाख व्यक्तियों को रोजगारी देने के नये अवसर निर्मित किये गये, जिनमें से ६९ लाख कृषि क्षेत्र के बाहर थे। द्वितीय योजना के अन्त में बेरोजगारों की संख्या ९० लाख थी।...इसके अतिरिक्त उन व्यक्तियों का सही-सही अनुमान नहीं लगाया जा सकता जिनके पास कुछ काम तो है पर वे और भी अतिरिक्त काम करने के लिए उत्सुक हैं। फिर भी, उनकी संख्या डेढ़-दो करोड़ के बीच मानी जाती है।...तृतीय योजना के दौरान करीब और पौने दो करोड़ व्यक्ति श्रम-शक्ति में शामिल हो जायेंगे।...ऐसा अनुमान है कि तृतीय योजना के दौरान १ करोड़ ५ लाख नये व्यक्तियों को गैर खेतिहर कामों में तथा कृषि में और ३५ लाख व्यक्तियों को काम दिया जा सकेगा।" —**तृतीय पंच वर्षीय योजना;** पृष्ठ: १५६–१५९।

२. "ऐसे व्यक्ति भी हैं जो प्राविधिक बेरोजगारी की सम्भाव्यता से इन्कार करते हैं। जिस तर्क पर उनकी दलील आधारित है...वह कुछ हद तक सही है, लेकिन अधिक तर्कसंगत नहीं जान पड़ती। अब तक द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण मांग

बेरोजगारी की समस्या सुलझाने की बात सोच सकते हैं) शायद ही उन वास्तविक समस्याओं की तह तक पहुँच सकें जोकि मात्र गुजर-बसर करने के स्तरवाली अत्यधिक अतिरिक्त जन-शक्ति और परिणामस्वरूप बचत के अभाव तथा उच्च उत्पादकता और रोजगारी के मध्य उद्देश्यों के संघर्ष से पीड़ित हमारे देश में एक दुष्चक्र बनाये हुई हैं। हमने इस महान कठिन काम में उस वक्त हाथ डाला है जबकि कम आबादीवाले महाद्वीपों में अपनी अतिरिक्त आबादी को भेजने की कोई गुंजाइश नहीं है–जोकि अग्रणी पाश्चात्य देशों के मामले में थी–और न आज शोषण व नियंत्रण के लिए उपनिवेश हैं तथा न ही साम्राज्य।[3]

मालथस (Malthus) के सिद्धान्त को सही न मान कर जब समूचा संसार उत्सुकतापूर्वक 'भूख से मुक्ति' अभियान में शामिल होता है, तो प्रायः समस्त 'अल्प-विकसित' देश एक साथ राष्ट्रीय आत्म-निर्भरता की योजनाएँ चलाते हैं; और विश्व-व्यापार एक ऐसा मोड़ लेता है कि उससे 'तुलनात्मक लागत' के पुराने सिद्धान्त के आधार पर दूसरों के साथ विनिमय करने के लिए शायद ही पर्याप्त रूप में निर्यात योग्य उत्पादन हों। विदेशी सहायता की परिभाषा अथवा उसके उद्देश्य जो भी हों[4] अल्प-विकसित देशों को सहायता देनेवाले शक्तिशाली राष्ट्र, विश्व संगठनों द्वारा अन्य दिशाओं में किये जानेवाले प्रयासों की प्रायः अवहेलना करते हुए, अपने स्वयम् के संघ बना लेते हैं और फलस्वरूप अल्प-विकसित देश पहले जिन उत्पादनों का निर्यात करते थे उनका मूल्य गिरा देते हैं। फिर भी, उन तमाम आपदाओं के बावजूद जिन पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं है, यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हमने कुछ स्थूल परिणाम प्राप्त किये हैं; और कुल आबादी में कार्यकारी आबादी का अनुपात १९५१ के बाद भारत में बढ़ा है।[5]

असामान्य रूप से बढ़ नहीं गयी, संयुक्त राज्य अमेरिका में बेरोजगारी की समस्या पर काबू नहीं पाया जा सका था।... यदि संसार का सर्वाधिक सम्पन्न देश, जो संतति-निग्रह के जरिये लाखों और सम्भवतः करोड़ों की तादाद में श्रम-शक्ति में बढ़ती नहीं होने देता, अपनी श्रम-शक्ति को काम में लगाये नहीं रख सकता तो यदि यांत्रिक क्रांति का विलोम पक्ष कभी सामने नहीं आया होता, उस अवस्था में कितनी भयंकर बेरोजगारी होती?"–ई. डब्ल्यू. जिमरमॉन (Zimmermann) : **वर्ल्ड रिसोर्सेस एण्ड इण्डस्ट्रीज; पृष्ठ : १००।**

३. चीन की समस्याएँ तथा सम्भाव्यताएँ हमारे समान हैं, पर उसने विकास की जो पद्धति अपनायी है वह हमारे विकास का जो सिद्धान्त है उससे मेल नहीं खाती। जापान ने इस सदी के प्रारम्भ से महान सफलता प्राप्त की थी। लेकिन वह भी उसका विस्तृत साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो जाने के बाद और पहले की अपेक्षा आबादी बहुत बढ़ जाने से आज अपने साधन-स्रोतों का पुनर्मूल्यांकन करने में व्यस्त है। "राष्ट्रीय स्तर पर यह महसूस करने, समझ लेने पर कि राष्ट्र जितनी आबादी का भार सह सकता है, उस अधिकतम सीमा तक उसकी जन-संख्या पहुँच गयी है, जापान में पिछले वर्षों में जन्मानुपात में जो महान गिरावट (प्रति एक हजार के पीछे सात) आयी या लायी गयी है उससे हर किसी को विश्वास हो जाना चाहिए कि जो कुछ जापान में हुआ उसकी पुनरावृत्ति भारत में भी की जा सकती है।"–**रिपोर्ट ऑफ दि कमीशन फॉर लेजीस्लेशन ऑन टाउन एण्ड कण्ट्री प्लानिंग; पृष्ठ : ४१।**

४. "प्रायः 'सहायता' शब्द का बड़ा उदार प्रयोग किया जाता है और इसमें वह विनियोजन अथवा उधार भी शामिल कर ली जाती है जो, उदाहरणस्वरूप, विकासोन्मुख देशों को यंत्रों तथा उपकरणों के मध्य-कालीन निर्यात के रूप में दी जाती है। इसके अतिरिक्त विकासोन्मुख देशों को फिलहाल जो सहायता उपलब्ध है–विशेष कर कुछ यूरोपीय देशों से–वह इतनी लघु-कालीन है और उस पर ब्याज दर इतनी अधिक है कि उसे सामान्य वाणिज्य-उधार से शायद ही अलग किया जा सके।..." डाक्टर बी. के. मदान (रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया के कार्यकारी निर्देशक) का 'रिजर्व बैंक ऑफ इन्डिया बुलेटिन' के मई १९६३ के अंक में पृष्ठ १०९ पर प्रकाशित ३० अप्रैल १९६३ को दिया गया भाषण।

५. **भारत की जनगणना : १९६१** (१९६२ का पेपर नंबर १) पृष्ठ ४०३ और ४०९; तथा स्टेटमेण्ट (विवरण) १५ और १६; पृष्ठ २२ और २३ (रोमन में)। १९५१ को आधार (१००) मान कर १९६१ में आबादी वृद्धि का सूचकांक १२१.६९ और कामगारों की वृद्धि का सूचकांक १३३.८१ था। यदि १९०१

सभी समस्याओं को एक साथ हल करने के महान् दुस्तर कार्य का सामना करते हुए और वैसे परिणाम प्राप्त करने के लिए कृत-संकल्प—जिनकी प्राप्ति में हमसे अधिक विकसित देशों को भी अपेक्षाकृत अधिक अनुकूल परिस्थितियों के होते हुए ज्यादा समय लगा—हम एक ऐसी आयोजन तकनीक का अनुसरण करते आ रहे हैं, जो एक माने में अनुपम तथा कार्यान्वित करने में अधिक कठिन है। यदि अन्य तरीकों से उक्त तरीका धीमी यानी मन्द गतिवाला है, तो इसके साथ ही कार्यान्वयन की प्रक्रिया में यह कम कष्टदायक भी है और ज्यों ही हम इस अवसाद—उड़ान भरने या छलांग मारने की स्थिति—को पार करके 'आत्म-निर्भर' यानी अपने पैरों पर खड़े हो कर विकास करने की स्थिति पर पहुँच जायेंगे उसके बाद इसमें बहुत ही दूरगामी फल प्राप्त होने की सम्भावना है। प्राथमिकता किसे दी जाय? इस प्रश्न पर कुछ लोग यह दलील देते हैं कि हमारे पास जो कुछ भी धन, सम्पत्ति है उसके समान वितरण और सबको रोजगारी देने के सवाल को सर्वाधिक प्राथमिकता दी जानी चाहिए। दूसरों का कहना है कि समान वितरण बाद में भी हो सकता है और यदि निकट भविष्य में तीव्र गति से सम्पत्ति के सृजन या अन्यथा सम्पत्ति-सृजन के लिए आधार निर्मित करने की प्रक्रिया में वर्तमान आय सम्बन्धी असमानताएँ कुछ और भी बढ़ जाती हैं तो अन्तिम परिणामों के सम्बन्ध में हमें निराश होने की आवश्यकता नहीं। वे आगे कहते हैं कि उत्पादन-तकनीक के सुधार के दौरान प्रत्येक देश में-विभिन्न कालों में—प्रारम्भिक तौर पर कुछ बेरोजगारी अथवा श्रम-विस्थापन हुआ है, लेकिन उसके बाद उत्पादन साधनों व रोजगारी का विस्फुरण, विस्तार हुआ है, होता है। ऐसा सुझाया जाता है कि जो परिवर्तन अब हम कर रहे हैं उनका मूल्यांकन चन्द नये उद्योगों या काम-धंधों के अतिरिक्त रोजगारी संबन्धी आंकड़ों अथवा बेरोजगारी की परिमाणात्मक शब्दावली में ही नहीं किया जाना चाहिए, बल्कि उनका मूल्यांकन उस जीवन मार्ग के प्रति परिवर्तित, पुनः संस्कृत उपागम की गुणात्मक दृष्टि से किया जाना चाहिए जिसने आज तक बेरोजगारी, गरीबी और सम्पत्ति-सृजन के अपर्याप्त साधनों का दुष्चक्र ही निर्मित किया है।

सफलताएँ

उत्पादकता, रोजगारी और सम्पत्ति के समान वितरण के प्रतिस्पर्धात्मक दावों के प्रवाह में अपनी नैया को खेते हुए हमारे आयोजक दो पंच वर्षीय योजनाओं के दश वर्षीय काल में पुनरुत्पादनीय चर सम्पत्ति[६] का एक ठोस आधार निर्मित करने और १९५१ से लेकर पाँच करोड़ व्यक्तियों को रोजगारी

को आधार (१००) स्वरूप मानें तो आबादी का सूचकांक १९५१ में १५०.७० तथा १९६१ में १८३.४० आता है; कुल कामगारों का प्रातिशत्य इसी काल में १२६.५० से बढ कर १६९.१४ हुआ। कुल आबादी में कामगारों का प्रातिशत्य १९०१ में ४६.६१; १९५१ में ३९.१०; और १९६१ में ४२.९८ था। रोजगारी के विकास पर योजना-परिव्यय का प्रभाव स्पष्ट है; दो योजनाओं में सार्वजनिक विभाग में हुए कुल परिव्यय (६९ अरब ६० करोड़ रुपये) में से सामान्य तौर पर कृषि कार्यक्रमों को १२ अरब २१ करोड़ रुपये यानी खानों सम्बन्धी कार्यक्रम पर हुए खर्च के करीब २०.२ प्रति शत रुपये मिले; और उद्योगों को २६.९ प्रति शत; निर्माण कार्यों को ६.२ प्रति शत; यातायात, भाण्डारीकरण आदि को २८.४ प्रति शत और सामाजिक सेवाओं तथा अन्यों को १८.१ प्रति शत धन मिला। कामगारों की विभिन्न श्रेणियों में हुई वृद्धि के सूचकांक से इसकी तुलना करने पर हमें पता चलता है कि १९५१ को आधार (१००) मानने पर कृषकों की वृद्धि का प्रातिशत्य ४०.८६; खेतिहर मजदूरों का १४.२१; बागानों, वनों आदि में लगे श्रमिकों का २९; घरेलू तथा निर्माण उद्योगों के काम में लगे कामगारों का ९७.९७; निर्माण कार्य में लगे व्यक्तियों का ३९.०४; वाणिज्य और व्यापार में ३.८७; यातायात, भाण्डारीकरण, संचार में ३९.७५ और तीसरी श्रेणी की सेवाओं या काम-धंधों में लगे व्यक्तियों का प्रातिशत्य १२.३९ था।

६. पुनरुत्पादनीय चर सम्पत्ति १९४९-५० में १ खरब ७० अरब ८६ करोड़ रुपये से बढ कर १९६०-६१ में २ खरब २१ अरब ६४ करोड़ रुपये क बराबर हो गयी थी। इसी

अथवा लाभदायक काम-धंधे प्रदान करने तथा तृतीय योजना[७] में अनुपातिक रूप से और भी तीव्र गति से रोजगारी के लिए उपयुक्त प्रावधान रखने में समर्थ हुए हैं। यद्यपि चन्द हाथों में धन का संकेन्द्रण होने की अवश्यम्भावी प्रवृत्ति जारी है,[८] तथापि उन व्यक्तियों के हाथ से, जिन्होंने योजना के कार्यान्वियन के दौरान विदेशी उत्पादकों का स्थान ले लिया है– और विकास-शील व्यय के अन्य हिताधिकारियों के हाथ से भी– अत्यधिक क्रय-शक्ति कम करने के लिए अनेक प्रकार के राज्य-कर-विषयक, वित्तीय और प्रशासनात्मक कदम उठाये तथा साथ ही साथ अपनाये जा रहे हैं।

प्रविधि और रोजगारी

यद्यपि विशेषज्ञ इस बात से सहमत हैं कि भारत में बुनियादी समस्या ग्रामीण क्षेत्रों में अल्प-रोजगारी की है, तथापि इस शक्ति का उपयोग करने के तरीकों के सम्बन्ध में बहुत मत-भिन्नता है। 'राहत' की प्रकृतिवाली रोजगारी की जैसे के तैसे रूप में भर्त्सना[९] नहीं की जाती, लेकिन जैसा कि अनुवर्ती अनुभव से प्रकट हुआ है उससे देश की समग्र उत्पादकता अथवा सम्पत्ति में शायद ही कोई वृद्धि हो; इस आशा से इस प्रकार की रोजगारी का निर्माण या विस्तार करने के विचार को कि जब उसका विस्तृत रूप सामने आयेगा तो अपने विशाल पैमाने मात्र से ही वह उस चीज की प्राप्ति कर लेगा, जोकि 'उत्पादनशील' रोजगारी छोटे पैमाने पर प्राप्त कर सकती है, उन व्यक्तियों की ओर से शायद ही प्रोत्साहन मिले जो 'तत्काल' की अपेक्षा आगे की सोचते हैं तथा इस बात में दृढ़ विश्वास रखते हैं कि प्रति कर्मी उच्च उत्पादकता प्राप्त करने के लिए बेहतरीन तकनीकों के व्यवहार से इन्कार करना स्वयम् 'प्रगति' की जड़ में कुल्हाड़ी मारना है। पहले से ही यह तर्क मानते हुए कि शांति के समय में विकसित देश बेहतरीन उत्पादन-तकनीकों का व्यवहार करके बेरोजगारी की समस्या का उन्मूलन करने में अभी तक समर्थ नहीं हुए हैं, बड़ा जोर देकर यह दलील दी जाती है कि यदि वे देश असफल रहे हैं तो इसका कारण श्रमिक की उत्पादकता बढ़ाने के लिए प्राविधिक सफलताएँ प्राप्त करना इतना नहीं है, जितना कि मानवीय संस्थाओं तथा वृत्तियों का असफल होना, जिनसे मार्गदर्शन मिलता है एवम् जिन पर मानव व मशीन[१०] का उपयोग करने के बड़े भारी काम का उत्तरदायित्व है।

काल में कुल चर सम्पत्ति अनुमानतः क्रमशः ३ खरब ४९ अरब ४० करोड़ और ९ खरब २४ अरब ९ करोड़ रुपये मूल्य की थी–**रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया बुलेटिन;** जनवरी १९६३।

७. महापंजीयक और केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन द्वारा १९६१ में लगाये गये अनुमान के अनुसार हमारी आबादी १९६६ में बढ़ कर ४९ करोड़ २० लाख; १९७१ में ५५ करोड़ ५० लाख और १९७६ में ६२ करोड़ ५० लाख तक हो जानेवाली है; इस काल में श्रम-शक्ति वृद्धि ७ करोड़ हो सकती है; मोटे तौर पर यह तृतीय योजना में करीब १ करोड़ ७० लाख; चतुर्थ योजना में लगभग २ करोड़ ३० लाख और पंचम योजना में तकरीबन ३ करोड़ हो सकती है।–**तृतीय पंच वर्षीय योजना;** पृष्ठ : १५६; ७५०।

८. देखिए **रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया बुलेटिन;** सितम्बर १९६२।

९. इस सम्बन्ध में योजना आयोग द्वारा रोजगारी का विस्तार करने के लिए १९५३ में जिस 'ग्यारह-सूत्री कार्यक्रम' की घोषणा की गयी थी, उसका उल्लेख किया जा सकता है। उत्पादनशील रोजगारी निर्मित करने के लिए 'अरूढ़िवादी' तरीकों का इस्तेमाल करने सम्बन्धी प्रस्ताव की अनेक अर्थशास्त्रियों ने उसे बेरोजगारी के समान ही कह कर आलोचना की है। –भवतोष दत्त : **एसेज इन प्लान इकनॉमिक्स** में 'अनएम्प्लॉयमेण्ट एण्ड अनऑर्थोडोक्स मेथड्स' शीर्षक लेख।

१०. "मार्गावरोधक यन्त्र युग का नहीं, बल्कि द्रव्य-विषयक युग का अस्तित्व है। कामगार असहाय रूप से मशीन से बंधा हुआ है और हमारी संस्थाएँ तथा रीति-रिवाज मशीनों से इस लिए आक्रांत एवम् अपक्षरित होते हैं कि यन्त्र का उप-योग पैसे के लिए होता है। हम उस प्राचीन पंथ से चिपटते हैं, वे विचार और भावनाएँ अभिव्यक्त करते हैं, जिनका

सरकारी दृष्टिकोण[११] परिपूर्णतः उक्त सिद्धान्त को स्वीकार करता है--और, स्वयम् योजना आयोग द्वारा स्वीकृत चन्द अपरिहार्य प्रशासनात्मक मन्दता को छोड़ कर--तथा यंत्रों के आयात व निर्माण पर बड़ा जोर देता है, विशेष कर उन उद्योगों के लिए जो पूँजी-प्रधान होने चाहिए और उस गति से उत्पादन करें कि फलतः न केवल घरेलू मांग पूरी हो, बल्कि निर्यात के लिए भी पर्याप्त सामान बचा रहे। जैसा कि पिछले दशक के रिकार्ड से पता चलता है कि यंत्रों का आयात अन्य प्रकार की आयातित वस्तुओं से बहुत अधिक हुआ है और वर्तमान विदेशी मुद्रा के संकट का कारण भी बहुत कुछ इन यंत्रों का आयात ही है, जो भविष्य में उत्पादकता-वृद्धि के लिए निस्संदेह एक ठोस आधार निर्मित करता है।[१२]

विविध उद्योग

इसके साथ ही योजना आयोग अतिरिक्त जन-शक्ति[१३] को काम देने के लिए विभिन्न प्रकार के उद्योगों पर भी विचार करता है और साथ ही साथ कुटीरोद्योगों के 'कृषि-प्रकार' 'पूरक उद्योग', 'सेवा प्रकार' के कुटीर उद्योग आदि तथा सम्बद्ध कुटीर एवम् लघु-स्तरीय उद्योगों पर जोर देता है, जोकि अपेक्षा की जाती है कि प्रारम्भिक अवस्था में उपयुक्त संरक्षण प्रदान करने पर पर्याप्त मात्रा में उपभोक्ता सामग्री उत्पादित कर सकते हैं तथा प्रति कर्मी मामूली विनियोजन से काफी संख्या में पूर्ण और अर्द्ध-बेकार जन-शक्ति को काम दे सकते हैं। परम्परागत या अम्बर चरखा, हाथ करघा आदि को प्रोत्साहन देना, और संगठित क्षेत्र के साथ 'संयुक्त उत्पादन कार्यक्रम' बनाना पिछले दशक में उठाये गये तथा तृतीय एवम् अनुवर्ती योजनावधियों में सघन रूप दिये जानेवाले कदमों यानी उपायों के प्रमाण हैं।

गाँवों में रोजगारी की समस्या

गाँवों में बेरोजगारी की समस्या जितनी बड़ी और जिस प्रकार की है, वह तो है ही, लेकिन इस दुर्भाग्यपूर्ण

हमारे जीवन की वर्तमान कार्यशीलताओं पर कोई वास्तविक प्रभाव नहीं है; क्योंकि आज भी हमारी निष्ठा पर रुपयेपैसे सम्बन्धी लाभ-हानि का भूत छाया हुआ है।"--जॉन डिवे (Dewey) : **दि हाउस डिवाइडेड अगेन्स्ट इटसेल्फ।**

११. बेकारी की समस्या और उसके समाधानार्थ तीन उपागमों-- **लघु उद्योगों** के जरिये काम का विस्तार करने के लिए **रोजगारी के अवसरों का विस्तार, ग्रामीण विद्युतीकरण** और औद्योगीकरण तथा **ग्रामीण निर्माण कार्यक्रम** का संगठन -- के प्रसंग में योजना आयोग का मत है, "उत्पादन की नयी तकनीकों का समावेश करने पर शुरू की अवस्था में रोजगारी में कमी भी हो सकती है। **यह अपेक्षा की जाती है** कि ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में पुनः प्राण फूँकने की दृष्टि से उल्लेखनीय दूरगामी फल प्राप्त होंगे,"--**तृतीय पंच वर्षीय योजना;** पृष्ठ; १६१।

१२. सन् १९५८-५९ और १९६१-६२ के दौरान हम ने अनुमानतः कुल ४० अरब रुपये की आयातित सामग्री में से १.२ अरब रुपये के यंत्र तथा सभी श्रेणियों के यातायात उपकरणों का आयात किया।

१३. तृतीय योजना के दौरान अतिरिक्त गैर खेतिहर रोजगारी का अनुमान लगाते हुए (कुल १ करोड़ ५ लाख ३० व्यक्तियों को काम देने की संख्या में से ६७ लाख ५० हजार की प्रत्यक्ष रोजगारी के लिए गणना की जा सकेगी और शेष ५९ प्रति शत विकास कार्यक्रमों के परोक्ष हिताधिकारियों के रूप में वाणिज्य तथा व्यापार में काम प्राप्त कर सकेंगे) योजना आयोग ने **नव निर्माण कार्य,** पहले से **जारी कार्य** और **परोक्ष रोजगारी** के सम्बन्ध में भी रोजगारी के लिए अमूमन तौर पर रोजगारी-निवेश-अनुपात का हिसाब लगाया है। नव निर्माण कार्य में रोजगारी के लिए (१) **सिंचाई परियोजनाओं** में प्रति एक करोड़ रुपयों के पीछे ७,००० मनुष्य-वर्षों का अनुपात है; (२) **शक्ति परियोजनाओं** में प्रति एक करोड़ रुपयों के पीछे १,६०० मनुष्य-वर्षों का; और (३) यातायात निर्माण--विशेष कर रेलवे में--१,९०० मनुष्य-वर्षों का अनुपात है। पहले से **जारी रोजगारी** के सम्बन्ध में स्वभावतः बहुत भिन्न, विस्तृत अनुपात प्रयुक्त होता है। लघु-स्तरीय उद्योगों में एक व्यक्ति को रोजगारी देने का मतलब है औसतन ५,००० रुपयों का निवेश; दस्तकारियों के सम्बन्ध में इसका अर्थ है १,५०० रुपये का निवेश और रेशा तथा रेशम उद्योग के लिए अमूमन तौर पर १,०००

बर्बादी को समाप्त करने के लिए जो कदम उठाये गये हैं अथवा उठाये जानेवाले हैं, उनसे वह दूर नहीं हो सकेगी। यह मानते हुए कि परिवार नियोजन के लिए जो सोद्देश्य कदम उठाये गये तथा उठाये जा रहे हैं उनसे निरपेक्ष रूप से बढ़नेवाली आबादी को कुछ अंश ही प्रभावित होगा। हमारे सामने समस्या—जहाँ तक उत्पादन तकनीक का सवाल है—इस प्रकार के उत्पादनों के सम्बंध में पूँजी-प्रधान उपकरणों और जन-शक्ति के बारे में **अब प्राथमिकता निर्धारण** की रहेगी जोकि—चन्द विशिष्ट प्रकार के भारी और बुनियादी उद्योगों अथवा अन्य ऐसे उपभोक्ता उत्पादनों[१४] के विपरीत जिनके लिए निर्यात बाजार निर्मित करने की हमारी योजना है—त्रिशंकु के समान बीचवाली स्थिति में हैं। सभी क्षेत्रों में प्रति श्रमिक उत्पादकता बढ़ाने का सामान्य विचार जबकि अविवादास्पद हैं वहाँ वर्तमान अल्प-रोजगारी-स्तर, औद्योगीकरण की स्थिति प्राप्त[१५]

रुपये। दीर्घ और मध्य-स्तरीय उद्योगों के सम्बन्ध में भी अलग-अलग सिद्धान्त या कसौटियां होंगी। इस्पात उद्योग में आवश्यक प्रति व्यक्ति १,६०,००० रुपये; उर्वरक उद्योग में ४०,००० रुपये; यंत्रोपकरण उद्योग में २५,००० रुपये; भारी यंत्र निर्माण उद्योग में १,००,००० रुपये; कोयला खुदाई व मशीन उद्योग में ६०,००० रुपये विनियोजन का अनुमान है। (तृतीय पंच वर्षीय योजना—पृष्ठ: ७५३–७५७)। द्वितीय योजना में प्रति कर्मी कुल १०,४०० रुपये का निवेश किया गया था। उसके समक्ष तृतीय योजना में ९,७०० रुपये का अनुमानित निवेश डाक्टर ए. वैद्यनाथन (इन्क्रीजिंग दि इम्प्लॉयमेण्ट पोटेंसियल : **प्रॉब्लम्स इन दि थर्ड प्लान, ए क्रिटीकल मिसेलनी**)। पश्चिम बंगाल के प्राविधिकाधिक सर्वेक्षण के मालूमातों के अनुसार १९६१–७१ के दौरान दीर्घ-स्तरीय उद्योगों के विकास से ७३,९०० व्यक्तियों को काम मिलेगा और विनियोजन होंगे २ अरब ३७ करोड़ ८२ लाख रुपये। इस प्रकार प्रति कर्मी विनियोजन ३२,२०० रुपये होगा। वर्तमान अभियांत्रिक उद्योगों के विस्तार में ३ अरब ८४ करोड़ ३० लाख रुपये के विनियोजन की आवश्यकता पड़ेगी। इन उद्योगों में ३५,९०० व्यक्तियों को काम मिल सकेगा। प्रति व्यक्ति विनियोजन करीब १,०७,००० रुपये आता है। नये लघु-स्तरीय उद्योगों में ६,४०० व्यक्ति लग सकेंगे और विनियोजन होंगे ४१ करोड़ ६९ लाख रुपये। प्रति कर्मी निवेश करीब ६५,००० रुपये आता है। कुल मिला कर १,१६,८०० कामगारों को काम देने के लिए कुल पूँजी परिव्यय ६ अरब ६३ करोड़ ८१ लाख रुपये होगा; प्रति कर्मी विनियोजन ५७,००० रुपये आता है। पश्चिम बंगाल के राज्य सांख्यिकीय केन्द्र के भूतपूर्व निर्देशक द्वारा लिखित 'ए डिजाइन फॉर डेवलपमेण्ट ऑफ विलेज इण्डस्ट्रीज इन वेस्ट बंगाल' भी देखिए, पैराग्राफ १९. १–१९.९।

१४. परिवर्तनशील समय के साथ हम 'नितान्त मांग-रहितावस्था' से बाहर आ रहे हैं, जिसके सम्बन्ध में पाश्चात्य विक्रेताओं ने प्राच्य-निवासियों पर दोषारोपण किया है। यद्यपि हम इस बात के प्रति सचेत हैं कि 'मांगें बनावटी रूप से निर्मित की जाती हैं' और आधुनिक उद्योगवेत्ता 'मांग के सृजन-कर्त्ता' हैं, फिर भी हम यथा संभव 'तेते पांव पसारिये जेती चादर होय' के मुताबिक उन वस्तुओं की प्राप्ति के लिए उत्सुक हैं, जो कभी ऐशो-आराम की चीजें समझी जाती थीं। और, इससे निश्चय ही विस्तृत आर्थिक गतिविधि के लिए क्षेत्र निर्मित होता है।

१५. सन् १८०० में विश्व जन-संख्या का अनुमान ९० करोड़ ५६ लाख होने का लगाया गया था। यूरोप में १८ करोड़ ७० लाख; उत्तरी अमेरिका में ५७ लाख; मध्य और दक्षिण अमेरिका में १ करोड़ ८९ लाख; अफ्रीका में ९ करोड़ और एशिया में ६० करोड़ २० लाख की आबादी थी। सन् १९३६ में विश्व जन-संख्या २ अरब ११ करोड़ ५८ लाख थी और उक्त भूभागों की क्रमशः ५३ करोड़ ३० लाख; १४ करोड़ ३ लाख; १२ करोड़ ५३ लाख; १५ करोड़ १२ लाख और १ अरब १९ करोड़ ३३ लाख। यह अनुमान लगाया जाता है कि सन् २००० तक यूरोप तथा उत्तरी अमेरिका की आबादी प्रायः स्थिर रहेगी, अफ्रीका और एशिया की जन-संख्या क्रमशः २५ करोड़ एवम् १ अरब ९० करोड़ हो जायेगी।

"......किसी नवोदित राष्ट्र का औद्योगीकरण ज्यों-ज्यों विकसित होता है, आगे बढ़ता है और खेतिहर आबादी का गैर खेतीहर आबादी के प्रति अनुपात घटता है, तो आर्थिक विकास के एक ऐसे बिन्दु पर पहुँचा जा सकता है जब कि प्रति व्यक्ति उच्च उत्पादकता भी निर्यात योग्य अतिरिक्त माल की प्राप्ति नहीं करवा सकती।"—**वर्ल्ड रिसोर्सेस एण्ड इण्डस्ट्रीज**; पृष्ठ: १२८।

करने से पूर्व बहुत अधिक जन-संख्या वृद्धि और अन्यत्र स्थानों में विकास के सन्दर्भ में हमारे निर्यात व्यापार का भविष्य बहुत उज्ज्वल न होने की दृष्टि से ऐसा लगता है कि हमें इस बात का निर्णय करना पड़ेगा कि **ऐसे कौन-से क्षेत्र हैं जहाँ यांत्रीकरण करना तथा पूँजी-प्रधान तकनीकों का अपनाना नितान्त परमावश्यक है** और कौन-से ऐसे क्षेत्र हैं जिनमें ऐसा बिल्कुल नहीं किया जाय।

भूमि-उत्पादकता में वृद्धि

यद्यपि हम इस बात से बिल्कुल सहमत हो सकते हैं कि संयुक्त राज्य अमेरिका, रूस या अन्य यूरोपीय देशों के समान यांत्रीकरण (पशु-शक्ति से चलनेवाले उपकरण नहीं बल्कि अचेतन शक्ति से संचालित उपकरण, जैसे ट्रैक्टर आदि) और विज्ञान का बेहतरीन उपयोग करने से न केवल हमारे लिए खाद्यान्न एवम् सम्पत्ति की प्राप्ति होगी, बल्कि आगे चल कर निर्यात करने के लिए अतिरिक्त सामग्री भी बच सकेगी और साथ ही साथ काफी संख्या में लोग गैर खेतिहर काम-धंधों के लिए उपलब्ध हो सकेंगे, तथापि वर्तमान अवस्था में यदि हमें, उदाहरणार्थ, कृषि क्षेत्र में किसी निश्चित श्रम तथा विज्ञान—जोकि निश्चय ही यांत्रीकरण का पर्याय नहीं है—का उपयोग करते हुए उच्च उत्पादकता और उसी उत्पादकता के लिए श्रम की बचत करनेवाले यांत्रिक साधनों के प्रयोग के मध्य किसी एक का चुनाव करना हो तो सम्भवतः तरजीह प्रथम को ही दी जायेगी। जैसे हम बहुत आगे चल कर प्राप्त होनेवाले लाभों की चिन्ता न करते हुए लागत और श्रम-विस्थापन के आधार पर ट्रैक्टर, फसल कटाई मशीनों आदि के उपयोग को खारिज कर पुराने हल व बैलगाड़ी को तरजीह देते हैं; वैसे ही उन्नत बीज, उर्वरक, जल, संयुक्त खेती, बेहतरीन भूधारण–पद्धति, खेतों का आकार बढ़ाने आदि जैसी बातों से ऐसा लगता है कि हम यह अवश्यम्भावी बात स्वीकार करते हैं कि समस्या **श्रम बचत करने की उतनी नहीं है** जितनी की **भूमि की उर्वरकता बढ़ाने की।**

यांत्रीकरण की समस्या

व्यस्त मौसम में लम्बे समय तक दिन भर कमर तोड़ देनेवाले श्रम-साध्य काम में लगे देश के अधिकांश कृषकों को जहाँ निस्संदेह आराम[१६] की आवश्यकता है वहाँ इस बात से भी हर कोई सहमत होगा कि उनकी (और इसलिए समग्र देश की) सेवा अथवा इमदाद के लिए यह बेहतर होगा कि

१६. "सन् १८५० में साधारण अमेरिकी सप्ताह में ७० घण्टे काम करता था; आज वह ४३ घण्टे काम करता है। उस वक्त एक अमेरिकी कृषक १.८ अश्व-शक्ति के बराबर पशु-शक्ति का उपयोग करता था; सन् १९४० में प्रति खेतिहर कामगार २७.८ अश्व-शक्ति के बराबर शक्ति का इस्तेमाल हुआ। इसमें यांत्रिक शक्ति २६.३ और पशु-शक्ति मात्र १.५ अश्व-शक्ति के बराबर थी। सन् १९३९ में प्रति व्यक्ति दैनिक ऊर्जा उत्पादन संयुक्त राज्य अमेरिका में १२.२७ अश्व-शक्ति घण्टे था और कनाडा में १९.७९; चीन में ०.४६ तथा भारत में ०.४९ अश्व-शक्ति घण्टे। यांत्रिक शक्ति का उपयोग कर एक कृषक २४ घण्टे में उतना काम कर सकता है, जितना कि उसके बिना काम करनेवाला दूसरा किसान १० दिन में करता है। ...... श्रम की बचत करनेवाले साधन वहाँ सर्वाधिक फलीभूत होते हैं जहाँ उसकी कमी है।...सामान्यतयः यह कहा जा सकता है कि जहाँ भूमि की पर्याप्तता है वहाँ **यांत्रीकरण** सर्वाधिक उपयुक्त है और जहाँ भूमि अपेक्षाकृत कम है वहाँ खेती में **विज्ञान का प्रत्यक्ष व्यवहार** अधिक उपयुक्त जान पड़ता है।...यांत्रिक श्रम-बचतकारी साधन जन-शक्ति का स्थान लेते हैं और प्रति व्यक्ति अधिक क्षेत्र पर खेती करने में समर्थ बनाते हैं।...विज्ञान **प्रति एकड़, प्रति पौधा, प्रति पशु उत्पादकता** बढ़ाने की ओर अग्रसर करनेवाला है। विज्ञान कृषि को सघन बनाता है और यंत्र उसका विस्तार करते हैं। **प्रति एकड़** अधिक उत्पादकतावाले देशों में **श्रम पर अधिक खर्च** की किसी अंश में कम भूमि के इस्तेमाल के रूप में **क्षतिपूर्ति** हो जाती है।"—**वर्ल्ड रिसोर्सेस एण्ड इण्डस्ट्रीज**; पृष्ठ: १९८। **अमेरिकन रिव्यू** के जुलाई १९६३ के अंक के परिशिष्टांक–न्यू पॉइण्ट ऑन इकनॉमिक एड–में ई. जे. लाँग का 'अल्प-विकसित देशों में भूमि-सुधार का आर्थिक आधार' विषयक लेख भी देखें।

वर्ष के शेष महीनों में उन्हें जो मजबूरन बिना काम के बैठा रहना पड़ता है उससे मुक्ति दिलवायी जाय। अत्यन्त व्यस्त महीनों में आराम निस्संदेह आवश्यक है लेकिन यदि इसका मतलब एक ओर ट्रैक्टर, फसल कटाई यंत्र तथा 'ईंधन-तेल' पर विदेशी मुद्रा खर्च होती है तथा दूसरी ओर खेतिहर मजदूरों में बेरोजगारी फैलती है तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हम वैसा कर ही नहीं सकते। इस सैद्धान्तिक सम्भाव्यता की बिना परवाह करते हुए कि हमारे पास निर्यात योग्य अतिरिक्त सामग्री बच सकेगी, हमें उक्त बात अव्यावहारिक होने की वजह से खारिज करनी पड़ेगी।

गैर खेतिहर उत्पादन के इस प्रकार के मदों पर उक्त तर्क का प्रयोग करते हुए, **जिनमें यांत्रीकरण करने से समग्र उत्पादन में वृद्धि नहीं होती** या जिनमें हमारी घरेलू मांग से अधिक उत्पादन करने की आवश्यकता नहीं है, **लेकिन केवल श्रम की बचत होती है**, हमें यह निर्णय करना पड़ेगा कि हम किस हद तक **विदेशी मुद्रा में कमी करने और अतिरिक्त बेरोजगारी निर्मित करने की दोहरी हानि** बर्दाश्त कर सकते हैं। इस तथ्य का हमारी वर्तमान अवस्था से कोई ताल्लुक नहीं है कि इंग्लैण्ड या अन्य यूरोपीय देशों में भी इसी प्रकार की **संक्रमणकालीन** बेरोजगारी की स्थिति उन्नीसवीं शताब्दी[१७] के प्रारम्भिक काल में आयी थी।

इस क्षेत्र में ऐसा लगता है कि अब तक जिस नीति का अनुसरण किया गया है उसमें कुल स्पष्टता का अभाव है। कृषि तथा ग्रामीण क्षेत्र की समस्याओं के संबंध में पिछले दशक में हमने जो प्रयास किये हैं उनके बावजूद कुछ ऐसे कारणों की वजह से, जिन्हें समझा जा सकता है, हमारा ध्यान बड़े उद्योगों की ओर निर्देशित होता है। विकास की यह पद्धति बहुत कुछ उस पद्धति से मिलती है, जिससे हो कर पाश्चात्य देश गुजरे हैं।[१८]

प्रतिस्पर्धात्मक उद्योग

यह मानते हुए कि ग्रामीण औद्योगीकरण का सर्वोपरि इलाज बिजली है, हमें यह सुनिश्चित करना चाहिए कि विकेन्द्रित औद्योगीकरण के लिए यह नयी सहायता **नव** सम्पत्ति निर्माण में लगे और उन उद्योगों का **स्थान लेने में नहीं** जोकि काफी तादाद में श्रमिकों को लगाये

१७. देखिए जॉन सेविल (Saville) : **रूरल डिपोपूलेशन इन इंग्लैण्ड एण्ड वेल्स : १८५१–१९५१** (अध्याय एक— दि हिस्टोरीकल बैक ग्राउण्ड)...“उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान अमेरिकी खोज-वेत्ता जिन समस्याओं का सामना कर रहे थे उनमें श्रम की कमी, स्थान आधिक्य और समय की कमी की समस्याएँ मुख्य थीं .... इस तमाम प्रगति के बावजूद दोनों महायुद्धों के बीच के बीस वर्षों की अवधि में अधिकांश काल में समूचे पाश्चात्य संसार में कृषि अत्यधिक दुरावस्था में थी; और उसे अप्राकृतिक साधनों के जरिये जैसे के तैसे रूप में जीवित रखा जा रहा था।” **— वर्ल्ड रिसोर्सेस एण्ड इण्डस्ट्रीज;** पृष्ठ : १६३।

१८. “निस्सन्देह आज के भारतीय जीवन में भूमि सम्बन्धी समस्याएँ सब चीजों के केन्द्र में निहित हैं। ग्रामीण आय में महान वृद्धि–और अपेक्षाकृत बेहतर वितरण–किये बिना उद्योग का परिपूर्ण विकास नहीं हो सकता; क्योंकि भूमि सम्बन्धी गरीबी परिमाणात्मक दृष्टि से विशाल आन्तरिक बाजार की प्रभावक मांग को बुरी तरह सीमित कर देती है और अनवरत रूप से भूमिहीन अथवा अल्प-रोजगार प्राप्त ग्रामीण श्रमिकों की संख्या या तो पूर्ववत् बनाये रखती है अथवा उसमें वृद्धि करती है तथा इस प्रकार कामगार का पारिश्रमिक न्यून बनाये रखती है एवम् जीवनावस्था ऐसी बदतर कि उसका बयान नहीं किया जा सकता, और जैसा कि स्वाभाविक परिणाम निकलता है उसकी कार्यक्षमता बहुत ही निम्न। ...इस क्रांति (भारत में) के प्रणेताओं, शहरी मध्यम वर्ग और नये व्यापारी उद्योगपतियों, के लिए मिलें, कारखाने, बिजली घर ही बड़ी चीजें हैं और राष्ट्रीय गर्व का पोषण करती हैं। यह पर्याप्त रूप से वैध है। बशर्ते कि इससे उस सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य की अवहेलना न हो कि भारत के खेतों में ही उसका अन्तिम भविष्य निहित है और यह कि स्वयम् औद्योगिक विकास भी सुसंयोजित तथा संतुलित हो, जोकि फिलहाल स्पष्टतः नहीं है। इसका अत्यन्त असमान विकास सम्भवतः कुछ तो राष्ट्रीय देन के कारण है, लेकिन अधिकांशतः इसके सामाजिक इतिहास के कारण।”—ओ. एच. के. स्पेट : **इंडिया एण्ड पाकिस्तान।**

हुए हैं तथा समाज की चन्द आवश्यकताओं को पूर्ण कर रहे हैं। यह सच है कि नये उद्योगों और पुराने तौर-तरीकों से काम चलाते आ रहे उद्योगों के बीच बिल्कुल सही-सही सीमा निर्धारित करना कठिन है, फिर चाहे वे अलग-अलग सामग्री का इस्तेमाल करते हों अथवा एक समान माल का। जिस प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका में पेट्रोल की खोज से इंग्लैण्ड के कोयले की खानों का काम करनेवालों में बहुत बेकारी फैल गयी थी अथवा जर्मनी में संश्लिष्ट रंजकों की खोज से भारत में 'इण्डिगो' की खेती समाप्त हो गयी थी, उसी प्रकार बिजली-चालित आरा ग्रामीण बढ़ई के पुराने आरे का स्थान ले लेगा; कुम्भकारी के स्थान पर अल्यूमिनियम आ धमकेगा या प्लास्टिक उद्योग के सामने धात्विक खिलौने बनानेवाला ग्रामीण घुटने टेक देगा; लोहे की चद्दरें ग्रामीण लोहार का हक छीन लेंगी; और इसी प्रकार मोटर गाड़ियाँ असंख्य ग्रामीण बैल गाड़ियों को बेकार बना देंगी।

जब हम यह देखते हैं कि हाथ धान कुटाई अथवा तेल घानी (या अन्य ऐसे ही 'कृपि प्रकार' के उद्योग जो **अतिरिक्त** सम्पत्ति के निर्माण में **नहीं** बल्कि कुछ निश्चित तादाद में सामग्री का प्रशोधन करने में ही लगे थे) के स्थान पर पिछले कुछ वर्षों में 'डीजल' अथवा बिजली से चलनेवाले यंत्र (यद्यपि लघु स्तरीय उद्योग) आ गये हैं, जबकि सिफारिश या सुझाव [19] इसके विपरित थे, तो हमें कम से कम देश के अधिकांश भाग[20] के सम्बन्ध में महिलाओं की रोजगारी का सूक्ष्म निरीक्षण करके यह देखने की आवश्यकता है कि क्या पिछले दशक में सामाजिक अवस्थाओं में इतना परिवर्तन हो गया है कि आर्थिक कार्यशीलता के जिस क्षेत्र में पहले महिलाओं का नियंत्रण था उससे काफी संख्या में उन्हें हटा कर तथा मात्र पुरुषों पर निर्भर बना देना आवश्यक हो गया। यदि यह मान लिया जाता है कि "शुरू-शुरू में नव उत्पादन-तकनीकों के समावेश से रोजगारी कम हो सकती है, आशा है कि ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में पुनः प्राण फूँकने की दिशा में आगे चल कर उनका उल्लेखनीय लाभ सामने आयेगा" (तृतीय पंच वर्षीय योजना; पृष्ठ : १६१) तो भी यह पूछा जा सकता है कि यदि परम्परागत उद्योगों का यांत्रीकरण[21] जारी रहता है तो बाद में गैर खेतिहर क्षेत्र में किस प्रकार के काम-धन्धे उपलब्ध होंगे?

---

१९. ग्राम और लघु स्तरीय उद्योग (द्वितीय पंच वर्षीय योजना) समिति (१९५५) ने आयोजित विकास की प्रक्रिया में और अधिक प्राविधिक बेरोजगारी से बचने की बात पर जोर दिया था। तृतीय पंच वर्षीय योजना (पृष्ठ : ४४३) से यह प्रकट होता है कि १९५८ के चावल कुटाई उद्योग (नियन्त्रण) अधिनियम के अन्तर्गत कुछ निर्देश होते हुए भी उक्त अधिनियम के कुछ मुख्य इरादे राज्यों में पूरे नहीं किये गये हैं। इस सम्बन्ध में पश्चिम बंगाल की १९५१ की जनगणना (खण्ड ६, भाग १–ए : रिपोर्ट) और 'ए डिसीजन फॉर डेवलपमेण्ट ऑफ विलेज इण्डस्ट्रीज इन वेस्ट बंगाल' (१९५९) के पृष्ठ १५४-१५५ भी देखिए। पश्चिम बंगाल में १९०१ में अनाज व दाल प्रशोधन उद्योग में १२,५०० पुरुष और १,९०,२८० स्त्रियां (कुल २,०२,७८०) थीं, उनमें से १९५१ में २३,२७० पुरुष और ८८,१४० महिलाएँ (कुल १,११,४१०) ही थीं। पश्चिम बंगाल में १९०१ में गैर खेतिहर वर्गों की १०,६१,८७६ महिलाएँ स्वावलम्बिनी थीं; १९५१ में उनकी संख्या घट कर ६,०९,१२२ हो गयी थी। दीर्घ स्तरीय उद्योगों में १९५१ में ८५,४५७ महिलाएँ ही थीं, जबकि १९०१ में ६१,२००थीं। यह अन्तर इतना बड़ा है कि उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। १९६१ में हुई पश्चिम बंगाल तथा अन्य कई राज्यों की जनगणना से भी उक्त तथ्य की परिपुष्टि होती है।

२०. भारत की जनगणना, १९६१ (पृष्ठ : २९–३१–संख्या रोमन अक्षरों में–१९६२ का पेपर नम्बर १) : महिलाओं की रोजगारी में सामान्य वृद्धि होने के बावजूद—अधिकांशतः कृषि क्षेत्र में—१९५१ से कुछ श्रेणियों के काम-धंधों में उल्लेखनीय कमी आयी है तथा १९६१ में उस कमी की गति और भी तीव्र बन गयी।

२१. संयोगवश, अम्बर या परम्परागत चरखे में जो कुछ भी कमियाँ हों और निर्यात बाजार प्राप्त करने के लिए संगठित सूती मिलों में जो भी सम्भाव्यता हो, हमें रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के प्रतिवेदन ('रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया बुलेटिन'

यह सच है कि पिछले चन्द वर्षों में कृषक आबादी के एक वर्ग ने—उस वर्ग ने जिसके पास पर्याप्त जमीन थी और उस पर वह बाजार में बेची जाने योग्य अतिरिक्त सामग्री पैदा कर सकता था—कृषि उत्पादनों की कीमतें अधिक होने के कारण कुछ नकद लाभ प्राप्त किया है। किन्तु उस रकम का इस प्रकार के उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिए जिनमें सभी ग्रामीण भाग ले सकें, उपयोग करने के एक निश्चित और सुदृढ़ तथा सोद्देश्य प्रयास के अभाव में उन चन्द कृषकों की वह रकम या तो और अधिक जमीन प्राप्त करने (अधिकांशतः गरीबों द्वारा धनवानों को निराश हो कर बेची गयी जमीन) में अथवा ट्रांजीस्टर रेडियो, तेल-फूलेल, साबुन तथा अन्य इसी प्रकार की फैन्सी चीजें खरीदने में या फिर मुकद्दमेबाजी में जाती है। जहाँ यह स्वीकार किया जाता है कि ग्रामीणों को उन चीजों का इस्तेमाल करने का पूर्ण अधिकार है जिन तक आज तक शहरी व्यक्तियों की ही पहुँच थी (और जब तक गाँवों से अतिरिक्त आय प्रवाहित नहीं होती उद्योग नहीं फल-फूल सकते) तो भी औद्योगिक शहरों और खेतिहर ग्रामों के मध्य आज जिस प्रकार के व्यावसायिक सम्बन्धों की प्रवृत्ति है उससे यह बात सामने आती प्रतीत होती है कि असंतुलन अब भी जारी है एवम् सामान्यतः उसका झुकाव ग्रामीणों के विपक्ष में ही अधिक है।

यदि चंद पैसेवाले ग्रामीण अपने गैर मौसम के, बिना कामवाले महीने चाहे जिस ढंग से व्यतीत करना बर्दाश्त कर सकते हैं तो भी अधिकांश भूमिहीन कृषकों और बहुत कम जमीन के मालिक किसानों के लिए ये बिना कामवाले महीने भार-स्वरूप हैं तथा बिल्कुल बेकार जाते हैं।

यदि एक आत्मनिर्भर, अपने पैरों पर खड़े होनेवाले ग्राम समुदाय का विकास करता है तो जहाँ हम एक ओर सहकारिताओं[२२] अथवा पंचायतों को लोकप्रिय बनाने की बात सोचते हैं वहाँ दूसरी ओर इसके साथ ही हमें संगठित निजी क्षेत्र और गैर खेतीहर उद्योगों और गाँवों, यंत्र-प्रधान और श्रम-प्रधान उद्योगों, तथा अन्त में सामान्यतः शहरोन्मुख औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था व ग्रामोन्मुख विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था के मध्य **संतुलित सम्बन्ध** स्थापित करने के लिए एक या दो नहीं बल्कि अनेक कदम बढ़ाने पड़ेंगे, उपाय काम में लाने पड़ेंगे। यदि हम यह भी स्वीकार कर लें कि विश्व स्थिति ऐसी है कि उसमें हम गांधीजी या रवीन्द्रनाथ ठाकुर की योजनाएँ जैसे के तैसे रूप में कार्यान्वित करने की बात शायद ही सोच सकें, तो भी यह कहना पड़ेगा कि यदि हम असंख्य ग्रामों में नव जीवन संचार करने और ग्रामीण बेरोजगारी का उन्मूलन करने की बात सोचते हैं तो हमें 'अपरमावश्यक' उपभोक्ता सामग्री के संगठित दीर्घ स्तरीय उत्पादकों और लघु-स्तरीय तथा कुटीरोद्योगी उत्पादन, बिक्री और यांत्रीकरण की सीमा के बीच एक सुस्पष्ट विभाजन रेखा खींचनी ही पड़ेगी।

संरक्षण

यहाँ यह तर्क उठाया जा सकता है कि इस आधुनिक युग में इस प्रकार का कदम उठाना समय की गति को उल्टा फेरना होगा। चूँकि हमें इस प्रतिस्पर्धा-

---

के मार्च १९६२ का अंक देखिए) से पता चलता है कि पिछले चन्द वर्षों में उद्योग पर विदेशी मुद्रा परिव्यय उसकी आय से निरन्तर रूप से अधिक हुआ है। किन्तु घरेलू बाजार में मिल वस्त्र हाथ करघा और खादी के विकास को अधिक कठिन बना देता है। विदेशी मुद्रा की बर्बादी रोकने और हाथ करघा वस्त्र के स्वस्थ विकास, इन दोनों ही दृष्टियों से हमारी निर्यात नीति का घरेलू उपभोक्ता-नीति के साथ एवम् मिल क्षेत्र का कुटीर क्षेत्र के साथ निकट संयोजन स्थापित करना आवश्यक प्रतीत होता है।

२२. ग्रामीण उधार अनुवर्ती सर्वेक्षणों से पता चलता है कि सहकारिताओं तथा सामान्य ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था पर शहरी व्यापारियों और साहूकारों, महाजनों का कितना भारी प्रभाव है। (देखिए, 'रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया बुलेटिन,' नवम्बर १९६२।)

प्रधान युग में अपना अस्तित्व बनाये रखना है, उसमें जिन्दा रहना है, इसलिए हमें प्रत्येक क्षेत्र में अपनी उत्पादन तकनीकों को आधुनिक रूप देना ही चाहिए। यदि हम यह तर्क उन उद्योगों पर लागू करें जो देश में भलीभाँति जमे हुए हैं, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि इन सब उद्योगों को इनकी प्रारंभिक अवस्था में विदेशी प्रतिस्पर्धा के समक्ष जो 'संरक्षण' प्रदान किया गया वह आज जिस 'तुलनात्मक लागत' और 'श्रेष्ठ प्राकृतिक लाभ प्राप्ति' के नियम की जो दलील पेश की जाती है उसके तदनुरूप नहीं था। (अधिकांश यूरोपीय देशों के इस्पात उद्योग के इतिहास से पता चलता है कि तुलनात्मक लाभ प्राप्ति का अभाव होते हुए भी अनेक देशों ने इस्पात संयंत्र स्थापित करने के लिए संरक्षणात्मक उपाय अपनाये।) यदि हमारे चीनी उद्योग, मोटर, ट्रक आदि का निर्माण करनेवाले उद्योग तथा इसी प्रकार के अन्य अनेक उद्योगों को प्रतिस्पर्धा के प्रति संरक्षण प्रदान नहीं किया जाता तो जीवित नहीं रह पाते। (और फिर, प्रारम्भिक लाभ प्राप्त होते हुए भी लंकाशायर संरक्षण के बिना जीवित नहीं रह सका, पनप नहीं सका।) और, यदि उक्त मामलों में उन उद्योगों के पास उन्नत उपकरण उपलब्ध होते हुए भी संरक्षण अच्छा था तो फिर हमारे लघु स्तरीय एवम् कुटीर उद्योगों को भी, यदि वे देश में किसी निश्चित कमी की पूर्ति करते हैं तो, क्यों न संरक्षण प्रदान किया जाय ?

अल्प और पूर्ण बेरोजगारी का समाधान निकालना हमारी योजनाओं का एक उद्देश्य है; और हम अपने असंख्य गाँवों में आत्मनिर्भरता (जहाँ तक वह आधुनिक अवस्थाओं के मुताबिक ठीक है) लाने के लिए वचनबद्ध हैं। दीर्घ स्तरीय उद्योग का विकास अपनी प्रकृति से ही सबको काम देने में असफल रहा है और यदि हम यह भी मान लें कि हमारा निर्यात व्यापार उस सीमा तक बढ़ जायेगा कि वह अधिक विस्तृत पैमाने पर लोगों को काम प्रदान कर सकेगा (प्रत्येक देश में राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता आन्दोलन हमारे सामने वैसा अवसर नहीं आने देगा) तो भी हम परम्परागत कुटीरोद्योगों को समाप्त होने दे कर बेरोजगारी की समस्या हल करने की आशा नहीं कर सकते। उत्पादकता और रोजगारी के मध्य एक संतुलन स्थापित करना ही होगा; अब तक जिस नीति का अनुसरण किया गया है वह किसी हद तक अनिर्णयात्मक अर्थात् ढुलमुल और स्वयम् असफलता कारक रही है। एक ठोस व सोद्देश्य नीति के अभाव में जिन ग्राम सहकारी समितियों की स्थापना के लिए हम वचनबद्ध हैं तथा जिन्हें हम ग्राम-जीवन का केन्द्र बिन्दु मानते, समझते हैं उन्हें विकसित होने का शायद ही अवसर या समय मिले; और ग्रामीण क्षेत्रों में अल्प-रोजगारी की समस्या भी उक्त प्रकार की नीति के अभाव में हमारी अर्थ-व्यवस्था पर एक धब्बा ही बनी रहेगी।

कलकत्ता : २९ जुलाई १९६३

उपनिषदों में वर्णित उन कथाओं से जिनमें ब्राह्मणों को क्षत्रियों के पास जाकर दर्शन का सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त करने की बातें आयी हैं और फिर उपनिषद के उपदेशों की ब्राह्मण-धर्म से विभिन्नताएँ एवम् पाली ग्रन्थों में वर्णित लोगों के अन्दर दार्शनिक कल्पनाओं के संकेतों से यही अन्दाज लगता है कि क्षत्रियों के अन्दर आम तौर पर पर्याप्त दार्शनिक ज्ञान मौजूद था, जिसका उपनिषद-सिद्धान्तों के निर्माण पर निश्चय ही महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा होगा। इसलिए यह मत कुछ हद तक सही प्रतीत होता है कि यद्यपि उपनिषदों की पराकाष्ठा ब्राह्मणों के हाथों ही हुई, पर वे ब्राह्मण धर्म से प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध होते हुए भी उनकी रचना अकेले ब्राह्मण सिद्धान्तों की अभिवृद्धि से ही नहीं हुई, बल्कि पर-ब्राह्मण विचारों ने भी उनके सिद्धान्तों को आगे बढ़ाया होगा या उनके संविन्यास और परिमार्जन में लाभप्रद सहयोग दिया होगा।

सुरेन्द्र नाथ दास गुप्त : ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी; खण्ड १

ग्रामीण औद्योगीकरण में वैज्ञानिकों और अभियंताओं की भूमिका

मंजेश्वर सदाशिव राव

आधुनिक वैज्ञानिक और प्राविधिक प्रगति के संदर्भ में ग्रामीण उद्योगों के समक्ष दो किस्म की समस्याएँ हैं—एक औद्योगिक उत्पादकता बढ़ाने के आर्थिक उद्देश्य से और दूसरी जन-स्रोतों के उपयोगार्थ सामाजिक उद्देश्य से सम्बन्धित है। प्रश्न है कि क्या विकेन्द्रित पद्धति की स्थापना के जरिये एक प्राणवान औद्योगिकी को मूर्त रूप दिया जा सकता है, जिसके लिए आधुनिक प्राविधिक विकास का योजित उपयोग करना आवश्यक है? यह काम सुव्यवस्थित अनुसंधान से हो सकता है। इसमें वैज्ञानिकों और अभियंताओं को बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका निभानी है।

हमारी आर्थिक योजनाओं में ग्रामीण औद्योगीकरण एक विशालकाय परियोजना है और आर्थिक तथा सामाजिक कल्याण के लिए वैज्ञानिक और प्राविधिक विकास का उपयोग करने की जटिल समस्याएँ प्रस्तुत करता है। फिर भी, प्रथम और द्वितीय पंच वर्षीय योजनाओं की अवधि में उद्योगों के ग्रामीण विभाग में शहर और अन्य विभागों के बनिस्वत कुछ ही औद्योगिक वैज्ञानिक, जिनमें अभियंता भी शामिल हैं, जुटाये जा सके हैं। इस बड़े अन्तर के कारण क्या हैं? ग्रामीण उद्योग विभाग के विकास के कार्य क्या हैं? ग्रामीण औद्योगीकरण कार्यक्रमों में वैज्ञानिक और तकनीकल जन-शक्ति को किस तरह प्रभावशाली ढंग से जुटाया जा सकता है? इन पर तथा सम्बन्धित अन्य प्रश्नों पर, जिनके लिए अब तक कोई मान्य हल नहीं मिला है, हमारी विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था में ग्रामीण औद्योगीकरण की दीर्घ-कालीन समस्याओं के सन्दर्भ में, आधुनिक वैज्ञानिक और प्राविधिक प्रगति के दृष्टिकोण से, विचार-विमर्श किया जाना चाहिए।

दीर्घ-कालीन समस्याएँ

अन्य विभागों के उद्योगों से भिन्न ग्रामीण उद्योग औद्योगिक उत्पादन के लिए आधुनिक वैज्ञानिक और प्राविधिक प्रगति के सन्दर्भ में दो भिन्न किस्म की दीर्घ-कालीन विकास समस्याएँ प्रस्तुत करते हैं। पहली किस्म की समस्याएँ हर विभाग के उद्योगों में पायी जाती हैं और उनका सम्बन्ध औद्योगिक कार्यों और प्रक्रियाओं की उत्पादकता में निरन्तर वृद्धि होने से है ताकि आर्थिक अस्तित्व और प्रगति सुनिश्चित हो सके। ये मुख्यतः व्यक्तिगत औद्योगिक इकाइयों अथवा ग्रामीण उत्पादकों की समस्याएँ हैं। आधुनिक सन्दर्भ में उनका एक ही हल है और वह है उपयुक्त आधुनिक प्राविधिक विकासों को अपनाना। उन्हें औद्योगिक उत्पादकता की समस्याएँ भी कह सकते हैं। तथापि ग्रामीण औद्योगीकरण अथवा गाँवों में औद्योगिक कार्यों के विस्तार की प्रक्रिया दूसरी किस्म की समस्याएँ भी प्रस्तुत करती हैं जो कि हमारी योजनाओं में ग्रामीण समुदायों में उद्योगों अथवा धंधों में अतिरिक्त रोजगारी के अवसर निर्मित कर जन-शक्ति के उपयोग को उच्च प्राथमिकता दी गयी है, उससे पैदा होती हैं। ये मुख्यतः समूचे विभाग की समस्याएँ हैं जिनकी ओर योजनाधिकारियों का ध्यान आकर्षित है और ये इस विभाग के लिए विशिष्ट समस्याएँ हैं। इन्हें ग्रामीण औद्योगीकरण में जन-शक्ति के उपयोग की समस्याएँ कह सकते हैं। ये दोनों ही किस्म की समस्याएँ स्पष्ट हैं, क्योंकि इनके उद्देश्य, दृष्टिकोण और हल प्राप्त करने के तरीके अलग हैं।

विकेन्द्रित पद्धति

ग्रामीण उद्योग विभाग शहरी तथा अन्य औद्योगिक विभागों की अपेक्षा कम उन्नत है। इसके विकास की कोशिश ग्रामीण औद्योगीकरण के आयोजन और कार्यान्वय के

जरिये की गयी है। आयोजन की दो बहुत ही महत्वपूर्ण पूर्व-शर्तें हैं: सामान्य रूप से उपलब्ध रोजगारी से कहीं अधिक मात्रा में औद्योगिक रोजगारी निर्मित करना और उच्च औद्योगिक उत्पादकता का समावेश कर ग्रामीणों का जीवन-स्तर उच्च करना। विकासोन्मुख क्षेत्रों में औद्योगीकरण सामान्यतः विकसित क्षेत्रों में चलाये जा रहे औद्योगिक कार्यों के जरिये किया जाता है। ग्रामीण क्षेत्रों में औद्योगीकरण सामान्यतः शहरी औद्योगिक पद्धति का विस्तार कर लाया जाता है। इस कार्य के लिए प्रारंभिक तौर पर सर्वाधिक उपयुक्त उद्योग हैं कृषि और सह-उद्योगों के कच्चे माल के प्रशोधन उद्योग। इन उद्योगों के शहरी अथवा आधुनिक रूप सामान्यतया बड़े पैमाने के संगठन का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिनकी तकनालाजी पूँजी प्रधान और कम रोजगारीवाली होती है। इन उद्योगों का गाँवों में विस्तार करने से औद्योगिक उत्पादकता की समस्याएँ हल हो सकती हैं, पर इससे अतिरिक्त रोजगारी के अवसर निर्मित करने की समस्या का हल नहीं हो सकता। इस प्रकार ग्रामीण औद्योगीकरण की शीघ्र और दीर्घ-कालीन सम्भावनाएँ औद्योगिक उत्पादकता बढ़ाने के आर्थिक उद्देश्य और जन-शक्ति स्रोत के उपयोग के सामाजिक उद्देश्य के बीच मतभेद उपस्थित करती हैं। इस मतभेद को औद्योगीकरण की विकेन्द्रित पद्धति अपनाकर दूर करने की कोशिश की गयी है।

सैद्धान्तिक कल्पना

यद्यपि औद्योगीकरण की विकेन्द्रित पद्धति के विकास पर बहुत विचार किया गया है, परन्तु अब तक कोई ठोस रूप नहीं दिया जा सका है। इसका एक स्थिर रूप है आपेक्षिक तौर पर छोटे और लघु उद्योगों का ग्रामों में प्रसार तथा कुल रूप में रोजगारी में वृद्धि। तथापि इसका अधिक प्राणवान रूप यह मानना है—उपलब्ध श्रोतों का अनुकूलतम पैमाने पर आर्थिक लाभ उठाने और रोजगार प्रदान करने के लिए बँटवारा। इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करना अभी भी बाकी है कि क्या आधुनिक प्राविधिक विकास के दृष्टिकोण से सच्चे प्राणवान औद्योगिकी के रूप में विकेन्द्रित पद्धति की स्थापना की जा सकती है? यद्यपि छोटे और लघु उद्योगों के विकेन्द्रीकरण का विकास करने हेतु आर्थिक सहायता और संरक्षण जैसे आर्थिक साधनों को परमावश्यक माना जाता है तथापि इस बात पर ध्यान नहीं दिया गया है, जबकि इस पर विचार किया जाना चाहिए, कि इसमें भी बड़े उद्योगों की भाँति औद्योगिक वैज्ञानिकों और अभियंताओं का सक्रिय रूप से भाग लेना आवश्यक है या नहीं। यह सुझाव दिया गया है कि औद्योगिक विकेन्द्रीकरण की समस्या को हल करने के लिए अनुसंधान की आवश्यकता है। परन्तु वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान के वर्तमान तरीके, इस प्रकार का अनुसंधान कौन-सी एजेंसियाँ करेंगी तथा ग्रामीण औद्योगिक विकास के विशाल क्षेत्र में इसके परिणामों को प्रयुक्त करने के सन्दर्भ में यह नहीं बताया गया है कि अनुसंधान किस प्रकार का हो। इस प्रकार औद्योगीकरण की विकेन्द्रित पद्धति की कल्पना अभी मुख्यतः सैद्धान्तिक ही है, जो कि आर्थिक विश्लेषणकारों के लिए दिलचस्प विषय है परन्तु व्यावहारिक वैज्ञानिकों और अभियंताओं तथा ग्रामीण उत्पादकों के बड़े समूह के लिए अवधारणा के बाहर की बात है।

अनुसंधान और विकास

विकेन्द्रित पद्धति में वैज्ञानिकों और अभियंताओं की रुचि न होने के कारण कभी-कभी यह आलोचना की जाती है कि उनमें 'सामाजिक चेतना' नहीं है जो कि उन्हें ग्रामीण उद्योग विभाग की ओर पर्याप्त आकर्षित कर सके और इसकी विकास समस्याओं के समाधान हेतु अनुसंधान करने के लिए प्रेरित कर सके। इस तरह की आलोचनाएँ अंशतः वैज्ञानिक और प्राविधिक विकास से प्रभावित विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था में औद्योगिक विकास की प्रक्रिया को पूर्णतः नहीं समझ सकने के कारण की जाती हैं। अंशतः यह औद्योगिक उत्पादकता की समस्याओं और ग्रामीण औद्योगीकरण में जन-शक्ति स्रोत के उपयोग को एक समान ही समझने से पैदा होती है। विज्ञान और तकनालाजी में हुई आधुनिक

प्रगति के सन्दर्भ में विकासोन्मुख गाँवों की वे समस्याएँ, जिनका सम्बन्ध अनुसंधान से है, तकनालाजी के उपयोग से सम्बन्धित हैं, न कि तकनालाजी के विकास से, जिससे सर्वाधिक आर्थिक और सामाजिक लाभ हो। इन समस्याओं को औद्योगीकरण के क्षेत्र में ही हल करना है।

दो-क्रमी प्रक्रिया

आलोचना से यह ज्ञात होता है कि अभी भी हमारे विचार में उन्नीसवीं सदी की "भौतिक विज्ञान बनाम सामाजिक विज्ञान" वाली अवस्था मौजूद है, यद्यपि इस प्रकार का द्विभाजन माध्यमिक विज्ञान और द्वितीय विश्वयुद्ध के समय से ही सामाजिक उद्देश्यों में प्रयुक्त करने के लिए भौतिक और सामाजिक दोनों ही विज्ञानों से प्राप्त वैज्ञानिक तकनीक के विकास से कब की दूर हो चुकी है। आलोचना जिस अनुसंधान की बात करता है, वह अनुसंधान है जिसे आम लोग समझते हैं और जो बृहत वैज्ञानिक खोजों और प्राविधिक अन्वेषणों से सम्बन्धित है। वर्तमान परिभाषा में इसे "अनुसंधान और विकास" कहते हैं। अनुसंधान और विकास अथवा विकास करनेवाला वैज्ञानिक अनुसंधान अथवा औद्योगिक तकनालाजी की प्रगति ही वह मुख्य रचनात्मक प्रक्रिया है जिसके जरिये आधुनिक उद्योग उच्च उत्पादकता प्राप्त करने की ओर प्रगति कर रहे हैं अथवा प्राकृतिक स्रोतों के अधिकतम उपयोग को सुनिश्चित तथा औद्योगिक उत्पादनों की श्रृंखला विस्तृत करने के लिए अपनी क्रियाशीलनाओं को विविध बना रहे हैं। यह दो-क्रमी प्रक्रिया है जो कि दो भिन्न माध्यमों द्वारा पूरी की जाती है। प्रथम क्रम में, जो कि व्यावहारिक वैज्ञानिक अनुसंधान कहलाता है, अनुसंधान प्रयोगशालाओं में काम कर रहे वैज्ञानिक उद्योग में विज्ञान के नये उपयोग की खोज करते हैं। द्वितीय क्रम में, जो कि प्राविधिक विकास अथवा प्राविधिक अनुसंधान कहलाता है, औद्योगिक उपकरणों का निर्माण करनेवाले उद्योगों में काम करनेवाले अभियंता विज्ञान के नये तरीकों का उपयोग नयी तकनालाजी का विकास अथवा वर्तमान तकनालाजी में सुधार करने में करते हैं।

संगठित अनुसंधान और विकास के जरिये ही वर्तमान शताब्दी में विज्ञान और तकनालाजी में अद्भुत प्रगति की गयी है। अनुसंधान और विकास नये उद्योगों को आरम्भ करने और पुरानों को मजबूत बनाने का मार्ग प्रशस्त करते हैं। आपेक्षिक तौर पर नये उद्योग, जो कि पूर्णतः वैज्ञानिक प्रगति के फलस्वरूप ही जन्मे हैं, वे हैं: आधुनिक रसायन प्रशोधन उद्योग, इलेक्ट्रोनिक उद्योग, एडवान्स इंजीनियरिंग और मेटलर्जिकल इंडस्ट्रीज, आणविक उद्योग, आदि। पुराने उद्योग वे हैं, जिनका मूल पूर्व-औद्योगिक दस्तकारियों में है और जिन्होंने कि १७५० और १८५० के बीच औद्योगिक क्रांति में से गुजरने पर अपना कार्य बड़े पैमाने पर कर लिये हैं और उस तकनालाजी को ठोस कर लिया है जो कि प्रथम अभियांत्रिकी के उपयोग के जरिये विकसित हुई और बाद में प्राकृतिक रेशों का उपयोग करनेवाले वस्त्रोद्योग, वानस्पतिक तेल और स्नेह, चीनी, चमड़ा, कागज़, कुम्हारी तथा अन्य कृषिक प्रशोधन उद्योगों, दुग्ध और खाद्य उत्पादनों जैसे उद्योगों को विज्ञान के उपयोग के जरिये अभिनव किया। ये पुराने उद्योग ग्रामीण औद्योगीकरण के लिए सर्वाधिक उपयुक्त हैं क्योंकि प्रक्रियाएँ अपेक्षाकृत सरल हैं तथा कच्चे माल ग्रामीण स्रोत से ही उपलब्ध हैं।

चन्द गलतफहमियाँ

प्राविधिक रूप से अर्ध-विकसित उद्योग, जैसेकि हमारे परम्परागत ग्रामोद्योग, अनुसंधान और विकास के जरिये प्रगति नहीं कर सकते, लेकिन सिर्फ आधुनिकीकरण अथवा आधुनिक तरीकों को अधिकाधिक अपनाकर ही प्रगति कर सकते हैं। व्यावहारिक वैज्ञानिक और प्राविधिक अनुसंधान के तरीकों को औद्योगिक विकेन्द्रीकरण में युक्त नहीं किया जा सकता। प्राविधिक परिवर्तन के फलस्वरूप होनेवाले सामाजिक व्यवस्था की समस्याओं का हल करने में उनका उपयोग नहीं किया जा सकता। अतः कभी-कभी यों यह सुझाव दिया जाता है कि ग्रामीण उद्योगों में किया जानेवाला अनुसंधान वैज्ञानिक

खोजों और प्राविधिक अन्वेषणों की दिशा में किया जाना चाहिए, जो कि आधुनिक तकनालाजी की अवांछनीय सामाजिक और केन्द्रित जटिलताओं से मुक्त हों, बेमतलब है। अनुसंधान करनेवाले वैज्ञानिकों अथवा अभियंताओं से ऐसी आशा करना उनसे किसी चमत्कार की ही आशा करना होगा। अधिकांश वैज्ञानिक खोजों और प्राविधिक अन्वेषणों के पीछे आर्थिक उद्देश्य है। सामाजिक जटिलताएँ उद्देश्य और जिस सन्दर्भ में मनुष्य द्वारा उसका उपयोग किया जाता है उसके फलस्वरूप पैदा होती हैं। यदि किसी तरह विकेन्द्रित पद्धति सफल हो सकती है तो वह सिर्फ आधुनिक तकनालाजी का उपयोग कर ही। इस असत्याभास को सिद्ध करने में अधिक समय नहीं लगेगा कि ग्रामीण उद्योगों में रोजगारी के जरिये जन-शक्ति स्रोत के उपयोग की समस्याएँ हमारी विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था में वैज्ञानिक और प्राविधिक अनुसंधान की कमी के कारण नहीं पैदा हुई हैं बल्कि इस कारण से पैदा हुई हैं कि हम यह समझने में असमर्थ रहे हैं कि किस तरह आधुनिक प्राविधिक विकास के रूप में उनके संग्रहित परिणामों को उपयोग में लाया जाय ताकि जितना संभव हो उतना उत्तम आर्थिक और सामाजिक परिणाम निकले।

आधुनिक तकनालाजी की जटिलताएं

आज हमारे सम्मुख जो समस्याएँ हैं वे शक्ति के यांत्रिक स्रोतों के प्राविधिक विकास से शुरू हुई, जो कि औद्योगिक क्रांति की अवधि में सौ वर्ष से भी पूर्व आरम्भ हुई। तब से विज्ञान और तकनालाजी ने बड़ी तीव्र गति से प्रगति की है। उनकी विकास गति आबादी-वृद्धि गति से भी काफी तेज रही है। हमारे समय में ही स्वचलन का प्रतिनिधित्व करनेवाले प्राविधिक विकास, जिन्होंने कि दूसरी औद्योगिक क्रांति की रूपरेखा तैयार कर दी (साइबरनेटिक रिवोल्यूशन), के कारण पैदा हुई समस्याओं को हमारी औद्योगिक क्रांति को अभी भी झेलना बांकी है। इस दृष्टिकोण से यह समझना कि ग्रामीण उद्योगों की समस्याएँ तकनालाजी के विकासार्थ अनुसंधान की समस्याएँ हैं, बहुत ही कृत्रिम है।

तथापि यथार्थ दृष्टिकोण है: उन्हें आधुनिक प्राविधिक विकास के साथ ही अन्य स्रोतों के योजित उपयोग की समस्याएँ समझना ताकि अनुकूलतम अथवा सर्वाधिक सम्भव रोजगारी के अवसर प्राप्त हो सकें। विकेन्द्रित पद्धति तथा "माध्यमिक" तकनालाजी की आधुनिक कल्पना इस अनुकूलतम का प्रतिनिधित्व करते हैं। ग्रामीण औद्योगीकरण में आधुनिक तकनालाजी के योजित उपयोग का इसके सिवा कोई दूसरा विकल्प नहीं है कि शहरी उद्योगों का ग्रामीण क्षेत्रों में विस्तार कर बिना क्रम अथवा आयोजन के उपयोग किया जाय। आधुनिक तकनालाजी का उसी के द्वारा उठायी गयी समस्याओं के हल के लिए उपयोग परस्पर विरोधी ला सकता है। परन्तु अगर यह महसूस कर लिया जाय कि आधुनिक तकनालाजी की सामाजिक जटिलताएँ इसमें निहित न होकर इसके उपयोग के तरीके पर निर्भर है तो कोई विरोधाभास नहीं है।

तकनालाजी का योजित उपयोग

हर विभाग में औद्योगीकरण विकसित विभागों से तकनालाजी के साथ-साथ संगठन की नकल कर किया जाता है। हमारी विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था में हर औद्योगिक विभाग, इस्पात और मूल उद्योगों से लेकर लघु शहरी उद्योगों तक, उन्नत अथवा विकसित देशों की तकनालाजी अपना रहे हैं। ग्रामीण विभाग कोई अपवाद नहीं है। यह अधिक उन्नत शहरी विभाग से तकनालाजी अपना रहा है। यह विकेन्द्रित प्रक्रिया है, जो कि उत्पादकों के स्वयं के निर्णय से लागू किया गया है। सामान्य क्रम में उद्यमी उत्पादक को निर्णय करने में छोटी-छोटी आटा मिलों से लेकर बड़ी सोलवेण्ट एक्सट्रैक्शन प्लांट्स बनानेवाले औद्योगिक निर्माताओं से सहायता मिलती है। उसे तकनीकल ज्ञान नहीं होता और वह तकनीकल ज्ञान तथा औद्योगिक उपकरणों के लिए व्यावसायिक स्रोतों पर निर्भर करता है। सफल उत्पादकों के उदाहरण उनमें और विश्वास पैदा करते हैं। अतः उपलब्ध स्रोतों के उपयोगार्थ सर्वोत्तम

मार्ग का ध्यान रखे बिना ही औद्योगिक संगठन और तकनालाजी आमूल रूप से दोहराये जाते हैं। योजना का एकमात्र प्रभावशाली व्यूह है ग्रामीण औद्योगीकरण की प्रक्रिया को उद्गम स्थल–सामुदायिक विकास खंड स्तर–की ओर निर्देशित करना ताकि स्रोतों का, जिनमें जन-शक्ति और तकनालाजी भी शामिल हैं, अनुकूलतम उपयोग सुनिश्चित हो सके।

तकनालाजी सर्वाधिक योग्य स्रोत है और सम्पूर्ण रूप में औद्योगीकरण की प्राणवान प्रक्रिया में नियंत्रण योग्य स्वतंत्र परिवर्ती है, जबकि उसमें उत्पादन और रोजगारी में बचत निर्भरीय परिवर्ती हैं। यदि तकनालाजी पर नियंत्रण रखा जा सकता है तो रोजगारी पर भी नियंत्रण रखा जा सकता है। परन्तु नियंत्रण के लिए खंड-स्तर पर तकनीकल सेवाओं के संगठन की जरूरत है, जिसमें औद्योगिक आयोजन के आधुनिक तरीकों में प्रशिक्षित वैज्ञानिकों, समाज वैज्ञानिकों और अभियंताओं की सेवाएँ भी शामिल हैं, जो कि भौतिक और समाज-विज्ञान के तरीकों का मिश्रण प्रस्तुत करता है। इन तरीकों को ही प्रयुक्त कर प्राविधिक विकास का उपयोग योजित आधार पर उत्पादन खर्च में बचत करने और उच्च पारिश्रमिक पर अधिक रोजगारी देने में किया जा सकता है।

तकनीकल सेवाओं का संगठन

तकनीकल सेवाओं के इस तरह के संगठन के परिणामस्वरूप, जिसका कार्य पंच वर्षीय योजनाओं के अनुसार सार्वजनिक और निजी क्षेत्र में विकसित हो रहे बहुत ही उन्नत उद्योगों को उपलब्ध तकनीकल और सलाह सेवाओं की तरह ही है, आधुनिक भौतिक और समाज विज्ञान की समस्त रचनात्मक शक्तियाँ घोर गरीब और निश्चल समाज में रहनेवाले हमारे लाखों लोगों की आर्थिक और सामाजिक प्रगति में सहायक होंगी। पंचायत राज की स्थापना ने, जो कि ग्रामीण विकास आयोजन का अधिकार स्थानीय लोकतांत्रिक संस्थाओं को दिया है, उस पैमाने और गुण-स्तर पर इस तरह की तकनीकल सेवाओं का संगठन सम्भव बना दिया है जो कि हमारे आर्थिक आयोजन के प्रथम दशक में सम्भव नहीं था।

औद्योगिक आयोजन

औद्योगिक आयोजन के वे कौन-से नये तरीके ग्रामीण औद्योगीकरण कार्यक्रम में प्रयुक्त किये जाने के लिए उपलब्ध हैं, जोकि अधिकतम रोजगारी के अवसर निर्मित करना सुनिश्चित करते हैं? वर्तमान शताब्दी में, और खास कर द्वितीय महायुद्ध के बाद, वैज्ञानिक और प्राविधिक विकास की बहुत ही तीव्र गति ने उद्योगों तथा उनकी प्रगति से प्रभावित अन्य गतिविधियों के लिए नयी समस्याएँ पैदा कर दी हैं। ये निर्णय अथवा आयोजन की समस्याएँ हैं, जोकि संगठित प्रक्रियाओं ने अपनी विवादास्पद आर्थिक और सामाजिक उद्देश्यों के कारण बड़ी जटिलताओं से पैदा की हैं। इस समस्या का सबसे ज्वलंत उदाहरण है आणविक शक्ति का विकास, जिसका उपयोग मानवता के लाभ के लिए भी किया जा सकता है और विनाश के लिए भी। इन समस्याओं का न तो भौतिक विज्ञान के जरिये ही और न सामाजिक विज्ञान के जरिये ही हल हो सकता है।

हाल के दशकों में माध्यमिक विज्ञानों की अभूतपूर्व प्रगति ने–खास कर सांख्यिकी शाखा ने, जोकि 'सांख्यिकी निर्णय' के नाम से जानी जाती है–भौतिक और समाज विज्ञान की वर्तमान तकनीकों को मिलाने योग्य बनाया है ताकि विवादास्पद समस्याओं का हल हो सके और अनुकूलतम अथवा फलमूलक हल खोजे जा सकें। उच्च औद्योगिक उत्पादकता के आर्थिक उद्देश्य और ग्रामीण औद्योगीकरण में बड़ी रोजगारी के सामाजिक उद्देश्य के बीच का मतभेद विवादास्पद समस्या है, जिसका इस तरीके से हल किया जा सकता है। अब तक भौतिक और सामाजिक वैज्ञानिकों के बीच कोई सामान्य दृष्टिकोण नहीं रहा है। यह नया तरीका जिसे वैज्ञानिक 'कार्य-वाहक अनुसंधान' कहा करते हैं, सामान्य दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। इसकी सम्भाव्यता आर्थिक, औद्योगिक और

राज्य-वार आधार पर सामाजिक आयोजन से लेकर यातायात नियंत्रण तक हैं।

ग्रामीण औद्योगीकरण में विवादास्पद पद्धति है– "नियंत्रित परिस्थितियों में स्रोतों का अनुकूलतम बँटवारा।" ग्रामीण औद्योगीकरण में कार्यवाहक अनुसंधान की सम्भाव्यता मुख्य रूप से इसी विवादास्पद पद्धति से सीमित है। अतः प्रयुक्त होनेवाली चुनिन्दा तकनीकों को औद्योगिक आयोजन कहा गया है, जिसमें क्रमबद्ध कार्यक्रम और प्राणवान कार्यक्रम शामिल हैं। औद्योगिक आयोजन की तकनीक परम्परागत ग्रामोद्योगों के विकास अथवा आधुनिक उद्योगों के विकेन्द्रीकरण में प्रयुक्त कर सकते हैं। उन्हें प्रादेशिक आयोजन में भी, जिनमें परम्परागत अथवा आधुनिक उद्योग और कृषि दोनों ही शामिल हैं, प्रयुक्त किया जा सकता है। विशिष्ट उद्योगों में इसे प्रयुक्त करने का विस्तृत विवरण इस लेख में देना स्थानाभाव के कारण सम्भव नहीं है।

कार्यवाहक अनुसंधान

कार्यवाहक अनुसंधान ही आज एकमात्र उपलब्ध तरीका है जिसे सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विज्ञान तथा उसके उत्पादन–तकनालाजी–में प्रयुक्त कर सकते हैं। इसी तरीके से वैज्ञानिक और अभियंता सक्रिय रूप से ग्रामीण औद्योगीकरण में भाग ले सकते हैं। आयोजन के लिए अनुसंधान शब्दों का प्रयोग विचित्र लग सकता है। अनुसंधान और विकास तथा कार्यवाहक अनुसंधान के बीच भेद यह है कि एक विकास कार्य है और दूसरा मूल्यांकन कार्य। अनुसंधान और विकास कार्य वर्तमान तकनालाजी से अधिक उत्पादकतावाली नयी तकनालाजी विकसित करने से सम्बन्धित है। कार्यवाहक अनुसंधान वर्तमान और नयी तकनालाजी के मूल्यांकन से सम्बन्धित है, जिससे उनका उपयोग योजित आधार पर पूर्व-निर्धारित आर्थिक और सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जा सके। अनुसंधान और विकास वह अनुसंधान है, जोकि सम्पन्न समाज के लिए बहुत ही लाभदायक है। कार्यवाहक अनुसंधान वह अनुसंधान है जोकि करोड़ों लोगों की प्रगति के लिए परमावश्यक है। तथापि, ग्रामीण औद्योगीकरण के लिए कार्यवाहक अनुसंधान प्रयुक्त करने में वैज्ञानिकों और अभियंतों की अनुसंधान और विकास से कम आवश्यकता नहीं पड़ती। जबकि हमारे देश में प्राविधिक विकास के लिए वैज्ञानिक अनुसंधान करनेवाली २० से भी अधिक राष्ट्रीय प्रयोगशालाएँ हैं, हमारे करोड़ों ग्रामीणों के आर्थिक और सामाजिक कल्याण के लिए वैज्ञानिक और प्राविधिक विकास का मूल्यांकन और उपयोग करनेवाला अब तक वैसा कोई भी संगठन नहीं है। यदि हम औद्योगिक उत्पादकता बढ़ाने की समस्याओं और ग्रामीण औद्योगीकरण के जरिये जन-शक्ति स्रोत के उपयोग की समस्या को एक समान ही समझें, तो इस तरह के संगठन का अर्थ बड़े-बड़े भवनों के निर्माण तथा खर्चीले वैज्ञानिक और अभियांत्रिक उपकरणों से लगाया जा सकता है, जोकि गलत होगा। राष्ट्रीय आयोजन की सबसे बड़ी समस्या को हल करने के लिए इस संगठन में परमावश्यक रूप से ही मेधावी और नेतृत्वशाली वैज्ञानिकों और अभियंताओं का जुटाया जाना शामिल है।

बम्बई : १५ जुलाई १९६३

★

भारत पर नयी दृष्टि*

• गौरी शंकर रायचौधरी

ग्रामीण औद्योगीकरण भारत में एक भारी समस्या है। इस समस्या की विशालता तब स्पष्ट हो जाती है, जब हम भारत की ग्रामीण जन-संख्या की गत्यात्मकता को देखते हैं। सन् १९६१ की जनगणना के अनुसार कुल ४३ करोड़ ९० लाख की जन-संख्या में से ३६ करोड़ आबादी देश के लगभग ६ लाख गाँवों में (साढ़े पाँच लाख से अधिक) है। यह जन-संख्या प्रति वर्ष लगभग २ प्रति शत की दर से बढ़ रही है। और फिर, जैसाकि गत दशक के शहरीकरण की प्रक्रिया से अभिव्यक्त होता है, अब शहरी क्षेत्र में इन ३७ करोड़ ५० लाख व्यक्तियों के किसी महत्वपूर्ण हिस्से को बसाने की बहुत कम गुंजाइश है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि हमें ग्रामीण एवम् शहरी क्षेत्रों में पहले से जो बेरोजगारी है, उसकी समस्या पर अलग-अलग रूप से विचार करना चाहिए।

इस आधार पर ही श्री लिण्टन एवम् स्टेपनेक ने 'बड़े शहरों के बाहर औद्योगीकरण' (इण्डस्ट्रियलाइजेशन बियॉण्ड मेट्रोपोलिस) की समस्या पर विचार किया है। बड़े शहरों के बाहर औद्योगीकरण के प्रसार में अनेक बाधाएँ हैं, तथापि यह सुझाव दिया गया है कि दरिद्रता एवम् बेकारी की समस्या को हल करने के लिए हर हालत में भारत को अपने औद्योगिक विकास की गति दुगुनी अथवा तिगुनी करनी पड़ेगी। प्रति वर्ष १५ से २० प्रति शत के मध्य सन् १९५६ को आधार वर्ष मान कर औद्योगिक विकास की औसत दर प्राप्त करने के लिए पूंजी निवेश अर्थात् विनियोजन बहुत बढ़ाना पड़ेगा। इस काम के लिए आवश्यक पूंजी की मात्रा के बारे में कुछ अनुमान लगाना हमारे पूंजी उत्पादन अनुपात सम्बन्धी जानकारी पर निर्भर करता है। यह जानकारी कुछ माने में हमारे पूंजी लगाने के क्षेत्र एवम् उत्पादन तकनीक के चुनाव अर्थात् पसन्दगी से हासिल की जा सकती है। इसी पसन्दगी से हमें रोजगारी सम्बन्धी स्थिति की भी जानकारी मिलती है। अत्यधिक पूंजी प्रधान तकनीक के लिए अधिक विनियोजन की आवश्यकता होती है, जबकि उसी अनुपात में रोजगारी में वृद्धि नहीं होती। चूंकि भारत में उत्पादन तथा रोजगारी दोनों का बढ़ाना जरूरी है, इसलिए पुस्तिका के लेखकों ने औद्योगिक विकास की एक नयी नीति अपनाने की आवश्यकता प्रकट की है। इस नीति की प्रमुख विशिष्टताएँ हैं: (अ) सम्पूर्ण भारत के बजाय जिले का आयोजन इकाई के रूप में चुनाव; (आ) कौशल प्रधान माध्यमिक प्रविधि (इण्टरमीडियेट टेक्नालॉजी) पर जोर; और स्थानीय संस्थाओं के पुनर्गठन के जरिए विकास कार्य में अधिकाधिक रूप से लोक-भागीदारी को प्रोत्साहन देना।

जिला आयोजन

जिले को आयोजन इकाई के रूप में चुनने के प्रश्न पर केवल किन्हीं विशिष्ट उद्योगों की स्थापना की दृष्टि से नहीं, बल्कि समग्र योजना में सघन विधेयक संयोजन की समस्या के रूप में उसका चुनाव करने की दृष्टि से विचार किया जाना चाहिए।

---

*आर. पी. लिण्टन और जे. ई. स्टेपनेक: **इण्डस्ट्रीयलाइजेशन बियॉण्ड दि मेट्रोपोलिस–ए न्यू लुक ऐट इण्डिया, हैदराबाद, १९६३, पृष्ठ:** ६+४४ (संक्षिप्त संस्करण); मूल्य का उल्लेख नहीं।

अर्थशास्त्र के दर्शनशास्त्रीय सिद्धान्त (क्लासिकल थियरी) की उद्योगों से विकास होता है। यहाँ बदली जा रही है कि उद्योग कार्यक्रम के अनुवर्ती हैं। यह इसलिए है कि उद्योगों के केन्द्रीभूत होने के फलस्वरूप आर्थिक विकास के तथा कथित विस्तार प्रभाव का बहुत ही सीमित महत्व देखने में आया है। इसके अतिरिक्त, अत्यधिक केन्द्रीभूत उद्योगोंवाले क्षेत्र के समीपवर्ती भाग के आर्थिक विकास की पद्धति से जाहिर होता है कि वहाँ आय एवम् सम्पत्ति के वितरण में घोर असमानता है। अतः यह सिर्फ किसी जिले के निष्क्रय साधन स्रोतों का उपयोग करने का ही नहीं, बल्कि यह ठोस तथा संतुलित क्षेत्रीय विकास का श्रीगणेश करने का सवाल है कि हम जिले के एक पार्श्ववर्ती चित्र (डिस्ट्रिक्ट प्रोफायल) के रूप में शुरूआत करके, उसे जिला योजना में रूपान्तरित कर दें।

इस चित्र का दूसरा पहलू भी है। अल्प काल में जब तक कि गाँवों में पर्याप्त सामाजिक साधनों (बिजली, सड़क, यातायात आदि) का निर्माण नहीं होता है, देहाती क्षेत्रों में मानांकित सामग्री उत्पादित करने के किसी भी प्रयत्न का फल यह निकलने वाला है कि उत्पादन लागत अधिक होगी। फिर भी लेखकों का मत है कि यद्यपि ऐसे उत्पादनों को अलग से देखने पर लागत अधिक होगी, किन्तु कुल लागत कम होगी, क्योंकि विकास की एक निश्चित सीमा के बाद उन उद्योगों को शहरों से बाह्य लाभ एवम् जीवन की अन्य सहूलियतें अधिक लागत पर प्राप्त होती हैं। यद्यपि अल्प विकसित देशों के सम्बन्ध में यह सत्य है, किन्तु यह सत्य इसलिए नहीं है कि अल्प विकसित देशों में शहर अपनी परिपूर्णता के स्तर पर पहुँच गये हैं, बल्कि इसलिए कि उनमें शहर प्रायः अनायोजित हैं। इसलिए निकट-भविष्य में हमारे सामने शहरों के पुनरायोजन तथा ग्रामीण विकेन्द्रीकरण के लिए सहायता प्रदान करने में से किसी एक का चुनाव करने की समस्या है, और यह जैसाकि लेखकों का मत है, विभिन्न प्रकार के उत्पादनों की सार्वजनिक तथा निजी लागत के बीच सम्बन्ध-स्थापित करने हेतु बहुत कुछ परिमाणात्मक अनुसंधान पर निर्भर करता है।

माध्यमिक प्रविधि

रोजगारी के लिए लेखकों ने कौशल प्रधान माध्यमिक प्रविधि के चुनाव का सुझाव दिया है। यह इस तथ्य से अनुप्राणित है कि भारत न तो इतना बड़ा विनियोजन कर सकता है कि वह पूंजीप्रधान तक्नीक के साथ अतिरिक्त श्रम-शक्ति को सम्भाल सके और न वह अपनी औद्योगिक उत्पादकता बढ़ाने के लिए परम्परागत तकनीकों पर ही निर्भर रह सकता है। इसलिए माध्यमिक प्रविधि के साथ समझौता किया जाना चाहिए अर्थात् उसका चुनाव किया जाना चाहिए। यह एक ऐसा समझौता है जो यंत्र तथा मूल्य दोनों दृष्टियों से सफल होना चाहिए, किन्तु निश्चय की इस प्रविधि से उत्पादकता इतनी नहीं बढ़ सकती जितनी वह आधुनिक तकनीक में बढ़ सकती है। वैसी अवस्था में विकसित देश माध्यमिक प्रविधि का अनुसरण करने की आवश्यकता महसूस करेंगे। तब प्रश्न उठता है कि माध्यमिक प्रविधि कितनी माध्यमिक होगी, क्या हमारे वित्तीय विनियोजन की सीमाओं के अन्दर रहते हुए एक निश्चित अधिकतम उत्पादकता की गति प्राप्त करने के लिए प्रविधि में संशोधन करना सम्भव हो सकेगा ?

इस सम्बन्ध में बहुत कुछ यांत्रिक संभाव्यताओं पर निर्भर करता है। अब यदि कोई इससे एक अल्प कालिक सम्भावना के रूप में स्वीकार भी करे तो भी कोई यह नहीं जानता कि भविष्य में यह क्या रूप धारण करेगी, क्योंकि जब वर्तमान अल्प विकसित देश आज की आधुनिक प्रविधि अपनाने में समर्थ होंगे। तब उन्हें शायद यह जान कर आश्चर्य नहीं होगा कि उस समय के विकसित देशों की प्रविधि की तुलना में उनकी आजवाली प्रविधि पुरानी पड़ेगी। या फिर कोई यह भी बड़ी खुशी के साथ

सोच सकता है कि इतिहास के एक निश्चित स्थल यानी काल में अल्प विकसित देशों की विकास की गति वर्तमान विकसित देशों की विकास की गति से बहुत आगे बढ़ जायेगी। जिससे प्रविधि की दृष्टि से वे विकसित देशों के बराबर होंगे तथा अल्प विकसित देशों की जन-संख्या में कमी होने लगेगी। फलस्वरूप बेकारी की समस्या हल हो जायेगी। अतएव हमें अवश्य ही प्रतीक्षा करके देखना चाहिए।

सलाहकार सहकारिताएँ

यह सब उसके लिए है कि क्या करना चाहिए, किन्तु एक दूसरा और प्रश्न है कि जो काम करना है वह किया जाना चाहिए? लेखक इन वातों पर जोर देते हैं: (अ) प्रत्येक जिले में एक प्रमुख सलाहकार अवश्य ही होना चाहिए और (आ) औद्योगिक संगठनों में सहकारी उद्योग शहरी एवम् ग्रामीण क्षेत्रों के मध्य विभिन्न प्रकार के संयुक्त उद्योग और कारखानों की शाखाएँ हो सकती हैं। सलाहकार का स्थान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि उसमें न केवल उच्च तकनीकी योग्यता ही, बल्कि आधुनिक प्रविधि का प्रचार मात्रा में प्रत्यक्ष अनुभव भी होना चाहिए। इन सबसे अधिक बिना दैनंदिन बाह्य सहायता के लिए अपना काम जारी रखने में समर्थ किसी व्यक्ति में कार्य-शक्ति, अभिक्रम और सृजन-शक्ति का होना परमावश्यक है। प्राविधिक सलाह देने से लेकर भावी होनहार उद्योगपतियों की ओर ध्यान आकृष्ट करने तक के विभिन्न प्रकार के काम उक्त सलाहकार करेगा।

यद्यपि हम इस प्रकार के मार्गदर्शक असामान्य व्यक्ति की सेवाएँ प्राप्त कर सकें तो उससे बढ़ कर और कोई बात नहीं होगी। वस्तुतः हम अपनी सामुदायिक विकास योजनाओं में ग्राम-स्तरीय कार्यकर्ता के विचार में एक ऐसे ही सर्वज्ञानी व्यक्ति का स्वरूप रखते हैं, किन्तु हमारे ग्राम-स्तरीय कार्यकर्ता की तुलना में यह सलाहकार अधिक तकनीकी योग्यता रखेगा और उसे अधिक वेतन भी मिलेगा। हमारा ग्राम-स्तरीय कार्यकर्ता स्पष्टतः इस कार्य में असफल हुआ है, किन्तु यह भी सन्देहास्पद ही है कि उच्च-स्तरीय तकनीकी ज्ञान एवम् उच्च वेतन प्राप्ति के कारण यह सलाहकार सफल हो सकेगा। ग्रामीण क्षेत्रों का आर्थिक विकास केवल एक आर्थिक कार्य ही है—इसमें समाजशास्त्रीय तथा राजनीतिक गुत्थियाँ भी सुलझायी हैं। हमारी नौकरशाही राजनीतिक वातावरण से बहुत अधिक प्रभावित होने के कारण सलाहकार को प्रस्तावित स्वतंत्रता की गारंटी नहीं दे सकती। दूसरी तरफ अनेक तरह की गुटबन्दियों तथा असमानताओं से वशीभूत जिस तरह का समाज हमारे गाँव में है वह हमारी कोरी आर्थिक उत्प्रेरणाओं से अनुप्राणित, प्रत्युत्तरशील नहीं हो सकता। यहाँ स्पष्ट अभिव्यक्ति की जाय तो यह कहना पड़ेगा कि नौकरशाही की ओर उदासीनता अथवा दबदबे उसके तथा ग्रामीण राजनीति के मध्य हो सकता है कि सलाहकार का कार्य बिल्कुल ही उत्प्रेरक हो। अनेक प्रकार के औद्योगिक संगठन एवम् वित्तीय संस्थाओं के मामले में उनके विकास की ऐतिहासिक परिस्थितियों को सावधानीपूर्वक ध्यान में रखना चाहिए।

जनतंत्र में जब तक विरोधी शक्तियाँ अधिक प्रभावशाली स्थिति में हों, तब तक ये संस्थाएँ कदापि विकसित नहीं हो सकतीं। और जनतंत्र में ही कभी-कभी इन विरोधी शक्तियों का निदान भी बड़ा पेचीदा किंकर्तव्यमूढ़ कर देनेवाला बन जाता है। फिर भी, मैं लेखक द्वय के इस मत से पूर्ण सहमत हूँ कि किसी न किसी तरह के सलाहकार एवं विभिन्न प्रकार की आर्थिक संस्थाओं की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में केवल एक बात जोड़ना चाहूँगा कि उनके विकास को बढ़ावा देने के लिए सरकार को पर्याप्त धानिक तथा राजनीतिक अवस्थाएँ निर्मित करनी चाहिए।

नयी दिल्ली : २४ अगस्त १९६२

स्त्री शिक्षा की समस्याएँ

श्रीपति श्रीदेवी

जबकि स्त्री शिक्षा के प्रसार तथा उनके स्थान में सुधार होने का, विशेष कर स्वतंत्रता के बाद, स्वागत किया गया है, साथ ही कई समस्याएँ भी खड़ी हो गयी हैं। शिक्षा ने महिलाओं को जो आर्थिक स्वतंत्रता प्रदान की है, पारिवारिक जीवन, जिसमें बच्चों का पालन-पोषण भी शामिल है, के सन्दर्भ में उसके अवांछनीय परिणाम निकल रहे हैं! इससे स्त्री शिक्षा के उद्देश्य, तत्व और कार्यक्रम के पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता हो गयी है।

हाल के वर्षों में भारत ने जिस क्षेत्र में बहुत ही शानदार प्रगति की है वह है स्त्री शिक्षा। जो भारतीय समाज आज से साठ वर्ष पूर्व तक लड़कियों की शिक्षा को बिल्कुल अनावश्यक समझता था, उसके रुख में आमूल परिवर्तन हो गया है और अब वह उन्हें हर स्तर पर शिक्षा देने की आवश्यकता समझता है। आज स्कूलों और कालेजों में बड़ी संख्या में लड़कियाँ सिर्फ सामान्य शिक्षा और संस्कृति के लिए ही नहीं बल्कि शिक्षण, नर्सिंग, चिकित्सा, व्यापार, अभियांत्रिकी, कानून, पत्रकारिता आदि क्षेत्रों में काम करने की शिक्षा प्राप्त करने की दृष्टि से भी पढ़ने जाती हैं। जिनशक्तियों ने महिलाओं में उच्च शिक्षा का यह विस्तार लाया है, उनके लिए कोई सीधा-साधा कारण नहीं बताया जा सकता। इस विकास में, उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में धार्मिक और सामाजिक सुधारों के लिए हुए आन्दोलन के परिणामस्वरूप जिन चन्द शक्तिशाली विचारों का प्रसार हुआ, उन्हीं का योगदान है।

महिलाओं के स्थान में परिवर्तन

ये आन्दोलन दो बाहरी तथ्यों के चुनौतीपूर्ण प्रत्युत्तर स्वरूप थे—भारत में अंग्रेजी राज का आरम्भ और इसाई धर्म के प्रचारार्थ इसाई मिशनरियों का आगमन। साम्राज्यवादी प्रवृत्तिवाले अंग्रेजी प्रशासन का प्रारम्भिक इसाई मिशनरियों की धर्मपरिवर्तन नीति के साथ-साथ कड़ा विरोध किया गया। राष्ट्रवादी आन्दोलन, विशेषकर महात्मा गांधी के नेतृत्व में जो कि महिलाओं की स्थिति सुधारने में गहरी दिलचस्पी रखते थे, इतना शक्तिशाली था कि महिलाओं को अपनी उन्नति के लिए स्वयं ही आगे बढ़ कर काम करने का प्रोत्साहन मिला। इससे स्त्री आन्दोलन का आरम्भ यद्यपि कुछ देर से ही हुआ, परन्तु उसने निरंतर महिलाओं के अधिकारों और शिक्षा के लिए आन्दोलन किया। फिर रामकृष्ण मिशन और ब्रह्मवाद आन्दोलन का आरम्भ हुआ, जिसने अपने साधारण कार्यक्रम में महिलाओं के निस्तार को भी शामिल किया। फलतः क्रियाशीलताएँ बहुत अधिक हो गयीं, जिससे अचानक ही महिलाओं की स्थिति में बहुत ही अनुकूल परिवर्तन और अंततः निस्तार हुआ।

स्वतंत्रता मिलने के बाद पिछले पन्द्रह वर्षों में महिलाओं के निस्तार के साथ-साथ सम्पत्ति और तलाक अधिकारों तथा पुरुषों से बराबरी का हक आदि जैसे अन्य अधिकारों से एक शांतिमय क्रांति हुई है, जिससे विभिन्न वर्गों की महिलाओं में बहुत भारी परिवर्तन हुए हैं। उच्च वर्गों में, जो कि आबादी का सबसे कम प्रति शत है, स्त्री शिक्षा अधिकतर 'सजावट की वस्तु' ही रही है, यद्यपि इन वर्गों की कई महिलाओं ने अपने को सार्वजनिक कार्यों में भी लगा दिया है। मध्यम तथा निम्न मध्यम वर्गों में शिक्षा और स्वतंत्रता ने कई परिवर्तन लाये हैं, जिनमें से कुछ लाभदायक हैं, जबकि बाकी परिवारिक सुख

की राह में बाधक बन रहे हैं।

सबसे बड़ा परिवर्तन तो यह है कि विवाहित और अविवाहित शिक्षित लड़कियाँ बहुत बड़ी संख्या में रोजगारी में लगी हैं। आरम्भ में तो सिर्फ अविवाहिताएँ ही नौकरी किया करती थीं और वह भी अध्यापन तथा चिकित्सा क्षेत्रों में ही, क्योंकि उस समय उनके लिए और कोई मार्ग नहीं था, परन्तु आज स्थिति बदल गयी है और करीब-करीब हर क्षेत्र में महिलाएँ कार्य कर रही हैं तथा अन्य महिलाओं की प्रेरणा और अपने परिवार की अवस्था पर ध्यान दिये बिना कार्य करने के लिए आकर्षित हो रही हैं। श्रमिकों की मांग बढ़ने से, विशेष कर पंच वर्षीय योजनाएँ आरम्भ होने के बाद—जिनसे हर क्षेत्र में रोजगारी की सम्भाव्यताएँ और बढ़ गयी हैं—काफी संख्या में महिलाएँ पूर्ण अथवा अंश-कालीन कार्यों में लगी हैं। इससे निश्चय ही महिलाओं को आर्थिक स्वतंत्रता मिली है, जिसके फल-स्वरूप विवाह के क्षेत्र में अनुकूल परिवर्तन हुए हैं और माता-पिता को दहेज में होनेवाले भारी खर्च की चिंता से मुक्ति मिली है। दहेज के सम्बन्ध में हाल ही में बने कानून से भी स्थिति में सुधार हुआ है।

आर्थिक रूप से स्वतंत्र महिलाओं के लिए विवाह अब आर्थिक आवश्यकता नहीं रही, बल्कि पसन्द की बात हो गयी है। इसने संकीर्ण सामाजिक दृष्टिकोण की सीमा तोड़ दी है और अन्तर्जातीय तथा अन्तर्साम्प्रदायी विवाह हो रहे हैं। तथापि इसका अर्थ यह नहीं है कि मध्यम तथा निम्न मध्यम वर्ग की सभी शिक्षित लड़कियाँ सुखी वैवाहिक जीवन व्यतीत कर रही हैं। कुछ युवक अभी भी चुपके-चुपके दहेज मांगते हैं। अतः कुछ नौकरीपेशा लड़कियाँ अविवाहित रहने को मजबूर हैं, यद्यपि हमारे समाज-सुधारक और सरकार इस प्राचीन प्रथा को समाप्त करने के लिए जोरदार प्रयास कर रही है। फिर अधिक उम्र होने पर भी विवाह होते हैं, जिसमें लड़कियाँ जानबूझ कर अथवा अनजाने विवाहित पुरुषों से, जिनकी पत्नी हैं अथवा मर चुकी है, ब्याह कर लेती हैं। नये हिन्दू विवाह अधिनियम में इस बहु-विवाह से महिलाओं की रक्षा की गयी है।

पारिवारिक जीवन को खतरा

तथापि महिलाओं के निस्तार को पारिवारिक सम्बन्ध भंग करने के लिए जिम्मेदार ठहराया गया है। यद्यपि इसके लिए अनेक बड़े कारण हैं, युवा शिक्षित विवाहित जोड़ों का अपना घर खुद बसाने की इच्छा एक मुख्य कारण मानी जाती है। प्राचीन पारिवारिक सांस्कृतिक पद्धति नष्ट हो गयी है और इसके साथ ही संयुक्त परिवार के विभिन्न लाभ भी। फिर, यह भी कहा जाता है कि वर्तमान शिक्षा पद्धति, जिसमें पश्चिमी विचारों के अवशेष अभी भी वर्तमान हैं, ने हमारी महिलाओं को पश्चिमी दृष्टिकोण दिया है, जिससे कि वे व्यक्तिवादी हो गयी हैं, जोकि हमारे लिए बिल्कुल विदेशी है। दोषारोपण किया जाता है कि इस नयी बात से पुराने किस्म के परिवार भंग होते जा रहे हैं; क्योंकि शिक्षित लड़कियाँ कृत्रिम बनती जा रही हैं और वे अब अपने देश अथवा परिवार की सामाजिक और धार्मिक परम्पराओं में रुचि नहीं रखतीं। वे अब बड़ी रूमानी समझी जाती हैं, जोकि उपयोगी घरेलू कार्य पर ध्यान देने के बजाय सस्ती और गंदी फिल्मों तथा अन्य उत्तेजक कार्यों से अधिक प्रभावित हैं। अतः परिवार का सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन खतरे में बताया जाता है। कुछ हद तक यह सही हो सकता है, परन्तु यह भी स्वीकार करना होगा कि आधुनिक युवती दो संसार के बीच फँसी है—समाप्त हो रही पुरानी दुनिया और नवजात संसार। निश्चय ही वह इस स्थिति में अपने को व्यवस्थित कर रही है। प्रायः वह पारिवारिक जीवन और अपने धंधे के बीच उलझ जाती है। जीवन की कठिनाइयों को दूर करने के प्रयास में उसकी मान-सिक और भौतिक दोनों ही रूपों में अपरिमित हानि हो रही है। कुछ लोग इन अवस्थाओं से बहुत चिन्तित

हैं। हाँ, कुछ ऐसे भी लोग हैं जोकि उत्तम सन्तति और उत्तम विश्व के लिए महिलाओं की शिक्षा को परमावश्यक मानते हैं। ये दोनों ही वर्ग दो भिन्न विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं और दोनों ही के अपने-अपने समर्थक हैं।

बच्चों का पालन-पोषण

एक वर्ग के निराशावादी दावे पर ध्यान देते हुए यह विचार उत्पन्न हो सकता है कि क्या इतना दुखदायी विकास हुआ है। तथापि यह स्वीकार करना होगा कि स्नातक पत्नियों ने, जोकि कहीं काम करती हैं, बच्चों के पालन-पोषण तथा पूर्णकालीन धंधे के अनुगमन को समाहित करने की समस्या खड़ी कर दी है; क्योंकि बच्चों पर पूरा-पूरा ध्यान दिये जाने की जरूरत है। डाक्टरों ने यह पाया है कि जिन बच्चों को सविराम दूसरों की देखभाल में छोड़ दिया गया है उन्हें अधिजठर व्रण, फीलपांव तथा अन्य बीमारियाँ हो गयी हैं। अतः बच्चों को माँ-बाप के प्यार अथवा देखभाल में कोई कमी नहीं होनी चाहिए।

साथ ही मनोवैज्ञानिक यह बताते हैं कि बहुत अधिक आरक्षण भी नहीं देना चाहिए, जैसे बच्चों को अपनी आवश्यकताएं नहीं बढ़ाने दी जातीं। उन्हें कुछ स्वतंत्रता देनी चाहिए। बच्चों पर माँ का प्रभुत्व कभी भी उनके (बच्चों) लिए लाभदायक नहीं हो सकता। अल्वा मिरडल और वायला क्लिएन अपनी पुस्तक **वीमेन्स टू रोल्स** में कहती हैं : "अधिक दबाव अथवा अधिक प्यार करने से बच्चों की शिक्षा की दिशा अनिश्चित हो जाती है। माता-पिता के लिए सम्भवतः सबसे अच्छा यह है कि वे अधिक ध्यान न दें, नहीं तो स्वचेतना से उनका स्वाभाविक विश्वास समाप्त हो जायगा। चूँकि माता-पिता के पालन-पोषण में यह बहु-विशेष अवस्था वर्तमान रहती है कि उत्पादन उत्पादक के साथ-साथ उत्पादन की प्रक्रिया को भी आंक सकता है, अतः पूर्णता का लक्ष्य रखना बेकार है। जहाँ बच्चे मनोवैज्ञानिक साहित्य पढ़ने लायक हो गये, वे अपने माता-पिता को किसी न किसी अपराध के लिए कोसना शुरू कर देंगे।"

भविष्य की सम्भावना

दूसरे वर्ग का विचार कि उत्तम सन्तति तथा उत्तम विश्व के लिए महिलाओं की शिक्षा परमावश्यक है, सही है तथा होना चाहिए, क्योंकि सारा शैक्षणिक प्रशिक्षण बेकार नहीं जायगा। माँ के रूप में महिलाओं को महत्वपूर्ण कार्य करना है। उनके लिए शिक्षा पुरुषों से भी अधिक महत्वपूर्ण है; क्योंकि उन पर परिवार के अपने पालन-पोषण तथा अपने बच्चों को, जोकि भावी नागरिक हैं, अच्छी शिक्षा देने की जिम्मेदारी है। शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जोकि उन्हें घर तथा समाज में अच्छी तरह कार्य करने में मदद दे। जब भारत अमेरिका और इंग्लैंड की तरह उच्चतम औद्योगिक राष्ट्र हो जायगा तो महिलाएँ घर और दफ्तर दोनों का ही काम बिना विशेष कठिनाई के सम्भाल सकेंगी; क्योंकि कई नयी और सुधरी घरेलू सुविधाएँ मिल जायेंगी जो कि उनके समय और शक्ति की बचत करेंगी। इस सन्दर्भ में जॉन डी. डुरैण्ड की सुखद घोषणा का जिक्र करना दिलचस्प होगा, जिन्होंने अपने लेख 'मैरिड वीमेन इन दि लेबर फोर्स' में कहा है कि नित नयी चीजों के आविष्कार होते जाने से एक दिन ऐसा आयगा जब किसी घर में कोई काम नहीं होगा और गृहणियाँ आबादी की कार्यकारी वर्ग नहीं रह जायेंगी। फिर, परिवार नियोजन के प्रचलित होने से काम और भी कम हो जायेगा।

माँ का प्रभाव

फिर भी, समस्या वही रह जाती है; क्योंकि घर और बच्चे नजरअंदाज होने ही वाले हैं और यदि बच्चों को अच्छी तरह बढ़ना है तो उन्हें माता की अच्छी देख-भाल चाहिए ही—खास कर शिक्षित माँ की—क्योंकि पुरुषों और नारियों की सांस्कृतिक, नैतिक और आध्यात्मिक प्रकृति का निर्णय प्रारम्भिक वर्षों में ही

माँ के संसर्ग में होता है। जैसा कि डा. राधाकृष्णन् कहते हैं—"इसलिए यदि माँ शिक्षित और नव-विचारों का स्वागत करनेवाली, जिज्ञासु और सचेत, अफवाहों और परम्परा पर ध्यान न देकर तथ्य पर ध्यान देनेवाली, अपने आसपास की दुनिया के मूल्य की जानकार और उसमें दिलचस्पी रखनेवाली, इतिहास और साहित्य में रुचि रखने तथा आनन्द लेनेवाली हो तो उसके बच्चे ये चीजें उससे सीखेंगे। शिक्षित सजग माँ, जोकि अपने घर में अपने बच्चों के बीच रह कर काम करती है, चरित्र और बौद्धिक ज्ञान की विश्व में सबसे बड़ी शिक्षिका है।.... ऐसे घरवाले समाज के बच्चे जब स्कूल जाना आरम्भ करते हैं तो उन्हें सब चीजों की जानकारी और समझ-बूझ रहती है तथा वे सुसंस्कृत होते हैं, जिससे उन्हें स्कूल का अधिक लाभ प्राप्त होता है, अन्यथा जितना कि सम्भव नहीं होता।"

यांत्रीकरण के प्रभाव

लेकिन सबसे विकट प्रश्न है कि श्रम बचानेवाली खोजों के उपयोग से अवकाश के जिन बड़े क्षणों की प्राप्ति होगी, क्या उसे महिलाओं को अपनी अमेरिकी बहनों की तरह उकताहट से बचाने अथवा अधिक पैसे कमाने के लिए बेचने होंगे? यदि वे ऐसा करती हैं तो बच्चों के सही पालन-पोषण की जिम्मेदारी स्कूलों की हो जायगी। अमेरिकी स्कूल इस दोमुखी कार्य के उपयुक्त नयी कार्य-विधि आरम्भ करने हेतु गम्भीरतापूर्वक विचार कर रहे हैं। सम्भवतः इन्हीं परिणामों की कल्पना करते हुए महात्मा गांधी बड़े पैमाने के यांत्रीकरण से भय खाते थे। हमारा भविष्य देश में किस हद तक औद्योगीकरण होता है और कहाँ तक महिलाएँ इस यांत्रीकरण को अपने घरों में प्रवेश करने से बचा पाती हैं, इस पर निर्भर करता है।

माना कि काफी अवकाशवाली शिक्षित महिलाएँ अपने घर में रह कर घर और बच्चों की देख-रेख पर पूरा ध्यान देने का निर्णय करती हैं, फिर भी यदि उकताने का नहीं तो निराश होने का खतरा तो रहेगा ही, क्योंकि उनकी शिक्षा के उपयोग का मार्ग नहीं रहेगा। उनकी शिक्षा निरर्थक जायगी और वे शिक्षा में दिलचस्पी लेना कम कर देंगी और काफी समय बाद महिलाएँ फिर से उतनी ही अज्ञानी हो जायेंगी जितनी कि सौ साल पहले थीं। अतः महिलाओं को अपने घरेलू कार्य के अलावा कुछ काम करना ही चाहिए। यह काम दो-तीन घंटे रोजाना का हो सकता है, जिससे वे अपनी घरेलू जिम्मेदारियों को निभाने के लिए शीघ्र घर लौट सकें। यदि सभी शिक्षित महिलाओं को इस तरह का आंशिक काम दे दिया गया तो वे कम महत्वपूर्ण कार्यों से बंध जायेंगी जहाँ कि उन्हें मानसिक कार्य नहीं करना होगा। यदि इसके विपरीत महिलाएँ प्रमुख प्रशासनाधिकारी अथवा डाक्टर अथवा वकील बनाना चाहती हैं तो उन्हें धंधे के लिए तैयार किया जाना चाहिए, जिससे उन्हें मानसिक संतोष मिलेगा तथा पूर्णता का भान होगा। लेकिन यह फिर से हमें प्रारंभिक प्रश्न पर ले जाता है।

विशेष पाठ-चर्या

इस दूषित वृत्त से निकलने हेतु रामबाण के रूप में महिलाओं के लिए विशेष शिक्षा का सुझाव दिया गया है। इस प्रश्न पर तरह-तरह के विचार प्रकट किये गये हैं। विवाद महिलाओं के लिए विशेष विषयों के मूल्य पर है—क्या लड़कियों की सीमित शारीरिक क्षमता को देखते हुए अध्ययन क्षेत्र सीमित कर दिया जाय अथवा उनके लिए बिल्कुल ही अलग पाठ्यक्रम बनाया जाय जिसमें गृह विज्ञान और संबंधित विषय हों। लड़कियों के लिए बिल्कुल ही अलग पाठ्यक्रम से कई खतरे हैं। उनका ज्ञान घरेलू कार्य तक सीमित हो जायगा और उससे भारत में महिलाओं की प्रगति रुक जायगी। व्यवहारतः यह स्त्री शिक्षा के लिए धक्का सिद्ध होगा। महिलाओं की शिक्षा का क्षेत्र सीमित कर राष्ट्र आधे जन-स्रोत को खो देगा।

यह तर्क लड़कियों के लिए विशेष पाठ्यक्रम लागू करने के विपक्ष में नहीं दिया गया है। निश्चय ही विशेष पाठ्यक्रम हो सकते हैं, बशर्ते कि अन्य विषयों

के अध्ययन पर रोक न हो। फिर, विशेष शिक्षा लेने-वाली महिलाएँ, अपने को अपने घरों तक सीमित रखने में कभी भी सफल नहीं हो सकतीं। निस्तार और पुरुषों से बराबरी का हक औरत को घर के बाहर भी कुछ रुचि पैदा करेगा। चूंकि बच्चों का पालन-पोषण औरत की जिम्मेदारी है, अतः उसे घर में हमेशा काम मिलेगा। जैसा कि मिस डेटन पीलेक कहती हैं, "समानता की ओर बहुत अधिक प्रगति होने के बावजूद, महिलाओं के लिए जीवन पुरुषों से अधिक कठिन है और सम्भवतः रहेगा।" उसे इन दोनों महत्वपूर्ण कार्यों के लिए आयोजन करना होगा और तदनुरूप अपने को व्यवस्थित करना होगा। इसी संकट का सामना करते हुए इंग्लैंड में आबादी सम्बंधी रायल कमीशन ने यह विचार प्रकट किया कि "महिलाएँ राष्ट्र के सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन में जो योगदान दे रही हैं, उसे सीमित करने की कोशिश करना महिलाओं के लिए सर्वांगीण हानिकर होगा। यह सत्य है कि मातृत्व और पूर्ण-कालीन पेशे के बीच सही संघर्ष है। इस संघर्ष का एक अंश महिलाओं के जैविक कार्य में अन्तर्निहित है, परन्तु एक अंश कृत्रिम है और इस कृत्रिम तत्व की निरन्तर उपस्थिति मातृत्व के स्थान को निकृष्ट विकल्प में—बाहरी रोजगारी अथवा सार्वजनिक जीवन में—गिराने का प्रयास करती है। अतः हम शिक्षण और असैनिक सेवाओं में रोजगारी पर से विवाह प्रतिबन्ध हटाने का स्वागत करते हैं और यह समझते हैं कि एक ऐसी व्यवस्था खोज निकालने का समझ-बूझ कर प्रयत्न करना चाहिए कि महिलाओं के लिए मातृत्व और घरेलू कार्य को बाहरी गतिविधियों के साथ मिलाना सहज हो सके।"

हैदराबाद : ५ अगस्त १९६३

इसीलिए राज्य के आदेश ही अंतिम आदेश नहीं होते। हमारे आचरण का मार्ग-दर्शन सत्ता की आवाज से नहीं होता। सत्ता के परिणाम तो सिर्फ आदर्श अधिकारों की पूर्ति ही कर सकते हैं। जनता से राज्य भक्ति की अपेक्षा करने के पहले, न्याय का तकाजा है कि राज्य मनुष्य को मनुष्य की हैसियत से उसका सब कुछ दे। व्यापक तौर पर, यह भी कहा जा सकता है कि ऐसे युग में जबकि सक्रिय नागरिकता वयस्क व्यक्तियों को प्राप्त हो, तब तो राज्यों की कर्तव्य-परीक्षा पूर्व समय की अपेक्षा और भी गंभीर हो जाती है। जिन लोगों के हाथों में राजनीतिक सत्ता आ जाती है वे देर-सबेर सत्ता के परिणाम अधिकारों में देखने का आग्रह करने लगते हैं। वे ऐसी संस्थाओं का निर्माण करेंगे जिनके जरिये अधिकारों की सुगमता से प्राप्ति की जा सके। वे सुविधाओं को व्यापक रूप दे देंगे या उसे रद्द कर देंगे। वे यह भी आग्रह करेंगे कि स्वतंत्रता और समानता, लोकतांत्रिक व्यवस्था के अनिवार्य स्वाभाविक परिणाम हैं। वे अपने उन भाव-विचारों का प्रसारण समाज के पूरे ताने-बाने में करेंगे, कम से कम उस सीमा तक जहाँ राज्य की सत्ता अधिकाधिक स्पष्टता के साथ सबकी मर्जी पर निर्भर करती है। अंत में, इन लोगों का अवरोध कठिन हो जाता है; क्योंकि जैसा कि एक्टन ने बताया है, जनता के पास गुप्त अधिकार होते हैं जिससे निपटने की शक्ति या एकता बहुत थोड़े अल्प मत के पास होती है। इसलिए राज्य को, अगर वह जीवीत रहना चाहता है तो जनता की मांग के सामने बदलना पड़ेगा; क्योंकि सार्वजनिक कल्याण पर उसका भी समान दावा होता है और उसकी अभिवृद्धि उसका उद्देश्य होता है।

हॅरोल्ड जे. लास्की : ए ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स

बंगाल में शहरीकरण के कुछ पहलू

मीरा गुहा

अंग्रेजी शासन के आगमन से भारत के अन्य स्थानों के समान बंगाल की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को भी बुरी तरह आघात पहुँचा। कृषि व्यापार की वस्तु बन गयी और कारीगर तथा व्यापारी अपने जीविकोपार्जन के पुश्तैनी धंधों से वंचित हो गये। ग्रामीण आबादी का नये औद्योगिक केन्द्रों में स्थानांतरण हुआ और उसने जीवन-यापन के लिए नये-नये काम-धंधे अपनाये। शहरीकरण की इस प्रक्रिया से मानवीय सम्बन्धों में भी परिवर्तन आये।

बंगाल में शहरीकरण की प्रक्रिया में सन्निहित परिवर्तन ग्रामीण स्वायत्तता अथवा आत्म-निर्भरिता पर लादे गये हैं। इस ग्रामीण आधार के अन्दर एक पेशेवर परस्परावलम्बन है, जिसका उद्देश्य है स्वावलम्बन। फलतः स्वरूप या पद्धति उस चुनरी के समान है, जिसमें कृषक समुदायों रूपी 'बिन्दियों' के छोटे-छोटे 'गुच्छ' और उनके साथ विशिष्ट कुटीरोद्योगों में लगे कारीगरों रूपी 'बिन्दियों' के बड़े-बड़े 'गुच्छ' हों। स्थान-विषयक दृष्टि से इसमें ऐसे गाँव आते हैं, जिनमें एक या अधिक प्रकार के काम-धंधे चलते हैं और जो 'साप्ताहिक बाजारों' अथवा 'मौसमी मेलों' के माध्यम से दस्तकारी केन्द्रों से जुड़े हुए होते हैं। 'साप्ताहिक बाजारों' से पास-पड़ौस के कुछ गाँवों का सम्पर्क होता है, जबकि 'मेलों' का क्षेत्र काफी विस्तृत होता है। इस प्रकार के मेले प्रायः धार्मिक पर्वों के वक्त लगते हैं, किन्तु आस-पास के अनेक जिलों के आदान-प्रदान केन्द्र के रूप में आर्थिक दृष्टि से वे अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं।

प्राचीन अर्थ-व्यवस्था में परिवर्तन

इस प्रकार की जीवन पद्धति में कई तरह से परिवर्तन आये हैं, किन्तु इनका ठोस रूप से अध्ययन करने से पूर्व इनमें सन्निहित कुछ अधिक गहरे पहलुओं का अध्ययन करना बेहतर होगा। अर्थ-व्यवस्था में परिवर्तन मुख्य पृष्ठभूमि हैं और ऐतिहासिक दृष्टि से यह पिछले दो सौ वर्ष से भारत-बर्तानिया आर्थिक सम्बन्धों से जुड़ी हुई है।

अंग्रेजों ने १७५७ तक अन्य यूरोपीय प्रतियोगियों को बाजार से समाप्त कर दिया था। अपनी राजनीतिक शक्ति का विस्तार कर उन्होंने देश के व्यापार में एकाधिकार जमा लिया था। इस प्रक्रिया के प्रथम सोपान में उन्होंने कृषि को एक व्यावसायिक वस्तु बनाया और रेशम, इण्डिगो तथा अन्य इस प्रकार की वस्तुओं की खेती अंग्रेजों के एकाधिकार की चीज बन गयी। यहाँ यह बड़े मजे की बात है कि इस नये व्यवसाय ने भारतीय पूंजी को भी आकर्षित किया, जिसने क्वचित रूप से अंग्रेजों की पूंजी के साथ गठ-बंधन किया। तथापि, बाद में अंग्रेजी व्यापार और उद्योग की संरक्षण-नीति ने इन भारतीय व्यापारियों को विस्थापित कर दिया तथा उन्हें इसके बदले स्थायी बन्दोबस्त (परमानेण्ट सेटलमेण्ट) द्वारा भूमि-प्रलोभन दिया गया। इस संरक्षण नीति ने दस्तकारी उद्योगों पर भी कुठाराघात किया और कारीगर अपने परम्परागत काम-धंधों से वंचित कर दिये गये। प्राचीन भारतीय अर्थ-व्यवस्था बुरी तरह अस्त-व्यस्त हो गयी। नयी अर्थ-व्यवस्था में उत्पादन केन्द्रों के अभिनवीकरण को वाष्प उत्कर्षण के समारम्भ द्वारा अन्तिम उत्प्रेरणा प्रदान की गयी। इन

नये केन्द्रों में विस्थापित हो कर आयी आबादी ने उसके समक्ष जो विशिष्ट अवसर प्रस्तुत हुए, उनमें चुनाव प्रवृत्ति का परिचय दिया। बोलपुर-रायपुर-इलमबाजार क्षेत्र इस सम्बन्ध में एक उपयुक्त उदाहरण है।

बोलपुर-रायपुर-इलमबाजार

यह क्षेत्र अजय नदी के उत्तरी किनारे–जोकि बीरभूम जिले की सीमा है–के साथ-साथ फैला हुआ है। कभी इस सरिता तट पर सुपुर, रायपुर तथा इलमबाजार जैसे व्यावसायिक केन्द्र थे। इस नदी का महत्व इसलिए था कि यह गंगा के किनारे पर कतवा की ओर जाने के लिए एक माध्यम के रूप में थी। इस क्षेत्र की **दिवानी** १७६५ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी को दे दी गयी; और अंग्रेजों की व्यावसायिक गतिविधियाँ शुरू हुईं तथा रेशम उद्योग में उनका एकाधिकार था–उसमें ४.५ से ६.५ लाख तक रुपये उनके लगे थे। एक अंग्रेज अभिकर्त्ता जॉन चीप (John Cheap) ने 'इण्डिगो' की खेती प्रारम्भ की और सुरुल तथा सुपुर में इण्डिगो के कारखाने खोले गये।

रायपुर के एक सम्पन्न बंगाली कायस्थ श्याम किशोर सिन्हा ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अभिकर्त्ता के रूप में काम किया और उसने यूरोप को निर्यात करने के लिए जॉन चीप को वस्त्रों की पूर्ति की। रायपुर के समीप इण्डिगो के कारखाने में श्याम किशोर के पौत्र सितीकान्त भी हेनरी एर्सकिन (Erskine) के साथ भागीदार हुए। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के साथ अपने भाग्य का तादात्म्य स्थापित कर उक्त परिवार ने बहुत धन कमाया और शीघ्र ही जमीदार परिवार बन बैठा। सितीकान्त के बच्चे शिक्षा-प्राप्ति के लिए इंग्लैंड भेजे गये। उनमें से एक वकील बना और 'पीर' की पदवी पानेवाला वह प्रथम भारतीय था। तदुपरान्त परिवार के अन्य सदस्यों ने भी अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त की और कलकत्ता में विभिन्न उद्योग-धंधों में अच्छे पद प्राप्त किये।*

तथापि, जर्मनी में सस्ती लागत पर उत्पादित संश्लिष्ट रंजकों की स्पर्धा में 'इंडिगो' उद्योग की अवनति हो गयी। फलस्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक सभी कारखाने बन्द कर दिये गये–तत्कालीन फलते-फूलते सुरुल तथा सुपुर के केन्द्रों के बुरे दिन आ गये। इसी वक्त एक अन्य कारक का प्रादुर्भाव हुआ जिसने शहरी केन्द्रों की स्थापना में और कुछ परिवर्तन लाने में अपना प्रभाव डाला। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने १८५५ में बंगाल को उत्तरी भारत से मिलाते हुए अपेक्षाकृत एक लघु रेल मार्ग का निर्माण किया। अजय नदी पर से होकर यह रेलवे लाइन उत्तर दक्षिण रूप में गयी थी।

द्रुत विकास

बीरभूम जिला सदैव ही एक अच्छा अतिरिक्त चावल उत्पादक क्षेत्र रहा है। प्रथम महायुद्ध के समय जब चावल की कीमतें बढ़ीं तो चावल कुटाई वहाँ का एक लाभदायक उद्योग बन गया। रेलवे लाइन के आस-पास गुशकारा, बोलपुर, अहमदपुर और संथिया जैसे नये चावल कुटाई केन्द्र खुले। सुपुर से छः मील की दूरी पर स्थित पुराना इंडिगो केन्द्र बोलपुर उस वक्त एक मामूली छोटा-सा गाँव था, जो आज तब से विकसित होते-होते क्षेत्र का एक सर्व प्रमुख चावल व्यापार केन्द्र बन गया है। शहर में अब काफी श्रमिक आबादी है और मौसमी काल में बोआई व कटाई का काम करनेवाले संथाल आकर देहाती वातावरण निर्मित कर देते हैं। पचास वर्ष की अवधि में स्वयम् बोलपुर का बड़ी द्रुत गति से विकास हुआ है–सन् १९०१ में उसकी आबादी ३,८३१ थी और १९५१ में १४,८०२। इलम-

* निर्मल कुमार बोस : **मॉडर्न बंगाल**; १९५९; पृष्ठ: २०–२३.

बाजार जानेवाली सड़क के समीप एक छोटे-से पुरवे से शुरू होकर इसका क्षेत्र उत्तर की ओर बन्दगोरा और त्रिशूलीपट्टी तक फैल गया है, जो आज इसकी नगरपालिका के कार्यक्षेत्र में आते हैं।

अद्रा-रघुनाथपुर §

अब हम उस क्षेत्र के जीवन मार्ग में रेलवे शहर के विकास से हुए परिवर्तनों का उदाहरण लें, जो प्रधान रूप से ग्रामीण यानी देहाती क्षेत्र था। रघुनाथपुर मानभूम जिले में एक बहुत ही प्राचीन गाँव है। यह गाँव पंचेत के राजा का हेड क्वार्टर था। ऐतिहासिक दृष्टि से यह बंगाल से जानेवाले गया-बनारस मार्ग पर एक छोटी-सी **चट्टी** या डाकघर प्रतीत होता है। श्री चैतन्य महाप्रभु (१४८५-१५३३) ने जब गया की पैदल तीर्थयात्रा की तो यही मार्ग अपनाया था। रघुनाथपुर के दक्षिण और पूर्व में अन्य कई पुराने गाँव हैं। पूर्व की ओर मौजा आरा के चार गाँवों में विष्णुपुर नमूने के अनेक ईंटों से वने मन्दिर हैं और वे बांकुरा तथा वर्दवान जानेवाले मार्ग पर अवस्थित हैं। इस क्षेत्र में प्रारम्भिक जनसंख्या इस प्रकार थी : पंचेत के राजा ने माल उगाहने और पुजारियों के रूप में काम करने के लिए कनौज (उत्तर प्रदेश) से बुला कर पाँच ब्राह्मण परिवार वसाये। उसने मौजा आरा में उन्हें जमीन दी। आज वहाँ के ब्राह्मण परिवार अपने को उन्हीं के वंशज कहते हैं। वहाँ की आदिवासी जाति **बोरी** थी, जो राजा की पालकी इधर-उधर लाया-ले जाया करती थी। इसके अलावा लुहार, कुम्हार, मछुवे, वढ़ई तथा तेली भी थे, जो अपना-अपना पेशा किया करते थे।

आस-पास के क्षेत्र और रघुनाथपुर के जयचण्डी पहाड़ में भी अयस्क (ओर) मिलने के कारण क्षेत्र का आर्थिक उपयोग करने की दिशा में एक नयी सम्भाव्यता सामने आयी। भविष्य में इन कच्चे मालों का औद्योगिक उपयोग करने की दृष्टि से सिंघभूम के अयस्क उत्पादक क्षेत्र को रानीगंज और बैराकड़ की कोयले की खानों से जोड़ने के लिए क्षेत्र से हो कर एक रेलवे लाइन निकाली गयी। काशीपुर तथा आरा मौजों के बीच अद्रा नामक एक नया रेलवे शहर वसा और इसने जनता के जीविकोपार्जन की पद्धति में एक सामान्य परिवर्तन ला दिया है।

रोजगारी की पद्धति

रेलवे के कारखाने (रेलवे सेटलमेण्ट) काशीपुर और आरा के दो छोटे-छोटे टोलों—पलासखोला और पांचूडांगा—तक फैल गये हैं। रेलवे की वर्कशाप में रोजगारी मिलने के कारण, इस नये शहर ने पास-पड़ौस की जन-संख्या आकर्षित की है। कृषि कार्य काफी कम हो गया है तथा उसी प्रकार पुराने पुश्तैनी धंधे भी। 'बोरियों' को या तो कुली कार्य में अथवा रेलवे के चौथी श्रेणी के कर्मचारियों का काम मिलता है। जमींदारी उन्मूलन के साथ ब्राह्मणों की बहुत-सी जमीन चली गयी और अब वे या तो रेलवे कार्यालय में कर्मचारियों के रूप में काम करते हैं अथवा झरिया में कोयले की खानों में क्लर्की का। लुहारों और वढ़इयों ने अपना पुश्तैनी धंधा छोड़ दिया है। अब लुहार रेलवे में 'फीटरों' और 'वेल्डरों' का काम करते हैं तथा वढ़ई रेलवे की 'वर्कशाप' में वढ़इयों का। इसी प्रकार तेलकार भी रेलवे में काम करने लगे हैं और आसनसोल तथा रानीगंज से आ कर मारवाड़ी व्यापारी वाणिज्य-व्यवसाय के क्षेत्र में घुस गये हैं। इस तरह जाति के आधार पर चलनेवाले पुश्तैनी काम-धंधों में एक प्रकार से क्रांतिकारी परिवर्तन आ गया है। यद्यपि कुछ आवादी—बहुत ही कम—अव भी खेती करती है, पर प्रत्येक परिवार

§ इस क्षेत्र के सम्बन्ध में जानकारी कलकत्ता विश्व विद्यालय के भूगोल विभाग से सम्बद्ध कुमारी सीखा चक्रवर्ती ने इकट्ठी की है।

के लगभग ७५ प्रति शत व्यक्ति रेलवे अथवा खानों में मजदूरी करते हैं।

रिसड़ा

·तीसरा उदाहरण है हुगली के दोनों किनारों पर घनी आबादीवाले चिरंतन शहरीकरण में विशुद्ध औद्योगिक इकाई का। **विप्र दास** १४६५ में लिखित अपनी रचना **मनसा मंगल** में हुगली के दोनों किनारों पर बसे गांवो का वर्णन करते है। त्रिवेणी से नीचे की ओर सप्तग्राम, कुमारहट्ट (हाली शहर), हुगली, भटपाड़ा, बोरो (एक बस्ती जो अव चन्द्र नगर के क्षेत्र में आती है), काकीनारा, मूलजोड़े, गुरुलिया, तेलिनीपाड़ा, भद्रेश्वर, चम्पादानी, इचापुर, डिग्गा (वैद्यवती खाल), रामनान, अकनाख, महेश, रिसड़ा, कोन्नागर, कोटरंग, चाणक, सुकचर, कामराहटी, अड़ियादह, घुसुरी और चित्तपुर का वर्णन है। चित्तपुर का **सर्व मंगल देवी** के मन्दिर के साथ वर्णन किया गया है। नदी के इस किनारे के साथ-साथ ईस्ट इंडिया कम्पनी के व्यावसायिक हित १८वीं शताब्दी में कलकत्ता—जॉब चारनोक (Job Charnock) द्वारा बसाये गये सूतानट्टी, गोविन्दपुर और कालीकाता क्षेत्र—में घनीभूत हो गये थे। नदी के किनारों के देहाती वातावरण में अवस्थित इन गांवों में या तो ब्राह्मणों के पठन-पाठन केन्द्र थे या छोटे-छोटे बाजार व व्यापारिक बस्तियाँ थीं अथवा बुनाई केन्द्र। इस अवस्था पर द्रुत गति से हुए औद्योगिक विकास का बहुत प्रभाव पड़ा।

जूट मिलों की स्थापना

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक आते-आते थोक रूप में सामान के आदान-प्रदान सम्बन्धी व्यापार में जूट का महत्व सामने आ चुका था। इसकी फसल पर बंगाल का एकाधिकार है, इसलिए नदी-किनारों पर जूट मिलों की स्थापना स्वाभाविक थी। प्रथम मिल १८५५ में रिसड़ा नामक स्थान पर स्थापित हुई थी—१९४० तक इनकी संख्या १०१ तक पहुँच गयी थी। रिसड़ा का सावधानीपूर्वक अध्ययन करने से शहरी विकास की प्रक्रिया का अधिक स्पष्ट चित्र सामने आ सकेगा।

गाँव के रूप में रिसड़ा को महेश के समीप होने का लाभ प्राप्त था, जोकि 'रथयात्रा पर्व' के लिए सुप्रसिद्ध है। रिसड़ा स्वयम् पान के बागानों के लिए प्रसिद्ध था। वर्तमान शहर के पुराने घरों—वार्ड तीन व चार—में बहुत तंग गलियाँ—मात्र ढाई गज चौड़ी—थीं। इसके अन्दर तीन जाति-प्रधान मुहल्ले हैं—बरुईपाड़ा में बोरी हैं, जोकि परम्परा से पान की खेती करते हैं; ढेंकीपाड़ा में ढ़ेंकी है, वे भी पान की खेती करते हैं; और चासापाड़ा, जिसके निवासी भी कृषक हैं। अतएव पुराने गाँव का स्वरूप इस प्रकार के समुदाय का था, जो विशेष प्रकार की खेती पर निर्भर करता था। इस पर औद्योगिक स्वरूप थोपा गया। रिसड़ा १८६५ में सेरामपुर नगरपालिका का हिस्सा था। सन् १९०० में रेलवे स्टेशन की स्थापना होने पर ही इसका मुख्य रूप से विकास हुआ। इस सम्बन्ध में कारखानों के विकास का विश्लेषण (विस्तृत विवरण के लिए पृष्ठ १२९ पर दी हुई तालिका देखें) करना रूचिकर होगा।

औद्योगिक विकास जूट मिलों की स्थापना के साथ प्रारंम्भ हुआ और बहुत अधिक तादाद में श्रम-स्थानांतरण के लिए उत्तरदायी था। पहले से ही औद्योगिक परम्परा स्थापित हो जाने पर अन्य प्रकार के उद्योगों की स्थापना करना अपेक्षाकृत आसान बन गया। विशेष विकास आजादी हासिल करने के बाद हुआ और ऐसा प्रतीत होता है कि हलके धातुकार्मिक सामान के उत्पादन पर जोर दिया जाता है। लेकिन यहां ध्यान दैने की मुख्य बात यह है कि बादवाले उद्योग रेलवे लाइन के दोनों ओर स्थापित हैं, जबकि नदी के किनारे स्थापित जूट मिलें

यातायाव के साधन के रूप में हुगली नदी का महत्व प्रकट करती हैं। ग्राण्ट ट्रंक रोड पर अवस्थित प्रेसीडेंसी जूट मिल बाद में स्थापित हुई, किन्तु कच्चा माल ढोने के लिए नदी-किनारे इसकी भी स्वयम् की 'गोदी' है। यहां यह मजेदार चीज है कि औद्योगिक कारखानों में ग्यारह के मालिक बंगाल के बाहर के पूंजीपति हैं। इनमें से कुछ के मालिक अंग्रेज थे, किन्तु बाद में वे कारखाने भारतीय व्यापारियों को हस्तांतरित कर दिये गये।

औद्योगिक इकाई	स्थापना वर्ष	कर्मचारी
वेलिंग्टन जूट मिल	१८५५	३,८६१
हैस्टिंग्स जूट मिल	१८७६	४,५००
प्रेसीड़ेन्सी जूट मिल	—	—
ए. सी. सी. आय. (आय. सी. आय.)	१९३१	१,४००
जयश्री टेक्सटायल्स	१९४४	३,०००
श्री राम सिल्क मैन्यूफक्चरिंग कम्पनी लिमिटेड	१९४८	३००
यनाइटेड वेजीटेवल मैन्यूफैक्चरिंग कम्पनी	१९४८	—
कलकत्ता फॉसफेट कम्पनी लिमिटेड	१९४८	—
लक्ष्मीनारायण कॉटन मिल्स	१९५२	१,०००
जे. के. स्टील	१९५२	—
बंगाल वायर नेटिंग फैक्ट्री	१९५२	—
श्री इंजीनियरिंग प्रोडक्ट्स	१९६०	३००
गोविन्द स्टील कम्पनी लिमिटेड	१९६२	३००
श्री दयाल पोर्सेलेन वर्क्स	१९६२	—

श्रमिकों की भर्ती

भौतिक दृष्टि से इस औद्योगिक संगठन या व्यवस्था का परिणाम निकला है आबादी का पृथक्करण अथवा विसंयोजन। जहाँ जमीन औद्योगिक प्रतिष्ठानों से रिक्त है—वार्ड एक और दो—वहाँ श्रमिक बस्तियाँ हैं। औद्योगिक क्षेत्रों में भी अधिकारियों, श्रमिक चालों और कारखानों के लिए मकान हैं। पान के बागीचों के अन्तर्गत भूमि बहुत कम हो गयी है। उसमें से अधिकांश अब औद्योगिक उपयोग में आती है। श्रमिक आबादी—खास कर गैर बंगाली—आन्ध्र प्रदेश(महिलाएँ), बिहार, उत्तर प्रदेश और उडीसा से आती है। सामान्यतः इस आबादी में अनेक जातियाँ हैं। श्रमिक भर्ती करने का तरीका इस प्रकार है: मिल जॉबर के जरिये सम्पर्क साधती है, हो सकता है कि वह उस मिल का कर्मचारी ही हो। गाँवों से नये श्रमिक भर्ती करने के लिए वह जिम्मेदार होता है। स्वाभाविक रूप से ही वह अपने गांवों की ओर से श्रमिक लाता है, जो प्रायः पारिवारिक तौर पर उसके सम्बन्धी होते हैं। इसके लिए वह जो सेवा प्रदान करता है, उसके बदले में प्रति श्रमिक कुछ शुल्क लेता है। इस प्रकार लाये गये व्यक्ति अकुशल होते हैं। उन्हें शिशिक्षु प्रशिक्षण दिया जाता है। औद्योगिक प्रतिष्ठानों में इस प्रकार के अनेक जॉबर हैं। किन्तु जहाँ तक बड़े प्रतिष्ठानों का सवाल है, जहां कि कुशल श्रमिकों की आवश्यकता होती है, श्रमिकों की

भर्ती एक श्रमिक भर्ती अधिकारी के जरिये की जाती है। वह प्रतिष्ठान का वेतन भोगी कर्मचारी होता है।

प्रथम तरीके से भर्ती किये गये श्रमिकों में सामुदायिक गठन और ठोस ग्रामीण सम्बन्ध होते हैं। प्रायः किसी विशिष्ट कुशल समुदाय की तकनीकल ज्ञान के सम्बन्ध में परम्परागत पृष्ठभूमि होती है, जैसे वस्त्र मिलों में बुनकर, जोकि प्रायः सभी उत्तर प्रदेश के मुसलमान कारीगर हैं। श्रमिक आवादी के स्थानांतरण के सम्बन्ध में जो भी पृष्ठभूमि हो, उसमें समूह के लिए विशिष्ट तरजीह पायी जाती है। उन्हें जब मिल की तरफ से मकानात नहीं मिलते तो वे अपने प्रदेशवालों–जैसे छपरा, बलिया, पटना, गोरखपुर, प्रतापगढ़ अथवा अन्य ऐसे ही स्थानों से आये हुए व्यक्ति जोकि किन्हीं खास मुहल्लों में रहते हैं–के मोहल्लों की ओर जाना पसन्द करते हैं। संकटकाल अथवा होली या मुहर्रम जैसे त्यौहारों पर जो पारस्परिक मदद ली-दी जाती है, उस वक्त ये विशिष्टताएँ अधिक स्पष्ट रूपेण दृष्टिगोचर होती हैं; तथापि मालिक और मजदूरों के मध्य खड़े होनेवाले श्रमिक विवादों या झगड़ों के दौरान मजदूर संघ इन विभागों को पार कर जाते हैं तथा तरोताजा निष्ठा निर्मित करते हैं।

सामाजिक पृथक्करण

प्रारम्भिक बोरी, ढेंकी और चासा आबादी में मात्र २० परिवार ही खेती करते हैं। शेष कारखानों में काम करते हैं। बंगाली व्यक्ति कारखानों के दफ्तरों में काम करते हैं। उन्हें स्थानीय रूप से अथवा सेरामपुर, कोन्नागार और चन्द्रनगर से भर्ती किया जाता है। आर्थिक स्तर का विन्यास इस प्रकार है: श्रमिक–गैर बंगाली; कार्यालय कर्मचारी–बंगाली; और कार्यपालक–गैर बंगाली।

श्रमिक दलों की भांति सामाजिक पृथक्करण उच्च स्तरों पर भी पाया जाता है। उदाहरणार्थ, रिसड़ा महिला मण्डल नामक एक महिला संघ आस-पास के औद्योगिक प्रतिष्ठानों में काम करनेवाले कार्यपालकों की श्रीमतियों का संगठन है। इसकी कुल सदस्य-संख्या ३६ है। इनमें केवल तीन ही बंगाली हैं। अध्यक्ष तथा मंत्री गैर बंगाली हैं। एक अन्य संगठन रोटेरी क्लब है। इसके अन्तर्गत बाली से वैद्यावती तक का क्षेत्र आता है। इसके सदस्य जूट मिलों से लेकर मोटर आदि का उत्पादन करनेवाले कारखानों तक के कार्यपालक हैं। कुल सदस्य २१ है, जिनमें चार बंगाली हैं और अध्यक्ष गैर बंगाली है।

नव आर्थिक स्तर विन्यास

परिवर्तनशील आर्थिक पद्धति से शहरी संगठन के स्थान-विषयक वितरण में एक नयी पेशेवर संघटना का विकास हुआ है। आबादी-स्वरूप में भी एक परिपूर्ण परिवर्तन आ गया है। नवीन आर्थिक स्तर विन्यास में, उत्पादन क्षेत्र में मजदूरों की नयी संस्था का जन्म हुआ है और सामुदायिक हितों के अनेक रूप हैं। इनमें से कुछ अभी शहरीकरण द्वारा मुक्त नहीं हुए हैं। उदाहरणार्थ, रिसड़ा में जो श्रमिक हैं उनमें अब भी अपने जिले की भावना पायी जाती है। इस प्रकार शहीरकरण के नये स्वरूप और काम-धंधों ने मानवीय सम्बधों के स्वरूप में भी एक नयी परिवर्तन प्रक्रिया प्रारम्भ की है, जिसमें जाति, गाँव अथवा जिले सम्बन्धी पहले के सम्बन्ध धीरे-धीरे समाप्त हो रहे हैं।

कलकत्ता : १७ अगस्त १९६३

मितव्ययी तिलहन एकत्रण की ओर

• पु. वि. श्रीकण्ठ राव

तिलहन एकत्रण कार्य का संगठन इस प्रकार से किया जाना चाहिए कि एकत्रकर्त्ता की उचित आय सुनिश्चित हो और औद्योगिक तथा अन्य कार्यों के लिए तिलहन का उपयोग करनेवालों का उत्पादन सस्ता हो।

लगभग गत पाँच वर्षों से देश में अखाद्य तिलहन सम्पत्ति के संरक्षण की आवश्यकता अधिक महसूस की जाने लगी है, यद्यपि भूतपूर्व अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मण्डल द्वारा अखाद्य तेल और साबुन उद्योग के विकास का कार्यक्रम १० वर्ष पहले आरम्भ किया गया था। यद्यपि इन तिलहनों के उपयुक्त एकत्रण, भाण्डारीकरण तथा प्रशोधन के लिए अनेक कदम उठाये गये और अनुप्रेरणाएँ दी गयीं, किन्तु प्रारम्भिक अवस्था में 'स्तरीय एकत्रण' की अनुक्रिया बड़ी मन्द रही। 'स्तरीय एकत्रण' का लक्ष्य बनाते समय दो परस्पर विरोधी तत्वों पर उचित ध्यान देना चाहिए— पहला यह कि तिलहन एकत्र करनेवालों की उचित आय सुनिश्चित होनी चाहिए और दूसरा यह कि तिलहन का प्रशोधन खर्च ऐसा होना चाहिए जोकि उसका औद्योगिक अथवा अन्य कार्यों में उपयोग करनेवालों को स्वीकार्य हो। इन दोनों को सन्तुलित करना सरल काम नहीं है। इस समस्या का एक निदान है हमारी कार्य-पद्धति के अनरूप बनाने के लिए तकनालाजी को सरल बनाना। प्रक्रिया को अधिक तेज करने के लिए जहाँ कहीं भी सम्भव हो, किसी भी आवश्यक हद तक शक्ति का उपयोग किया जाना चाहिए। सभी क्रियाओं में समय का बड़ा महत्व है।

आज अधिकांश तिलहन एकत्रकर्त्ता की मौजूदगी मौसम के साथ-साथ बदलती रहती है। यह प्रयास किया जाना चाहिए कि तिलहन एकत्रकर्त्ता और तिलहन प्रशोधन में लगे लोग साल दर साल यही कार्य करें। चन्द क्षेत्रों में बहुत बड़ी मात्रा में तिलहन एकत्र होता है या बड़ी संख्या में लोग इस काम में लगते हैं और अल्प काल में ही (लगभग एक महीने में) अच्छी रकम मजदूरी के रूप में प्राप्त कर लेते हैं। यद्यपि यह अल्प आयवाले परिवारों को अतिरिक्त आय कराने की दृष्टि से एक सफलता है, तथापि यह अकेले ही ऐसी मजबूत नींव नहीं डाल सकती, जोकि किसी भी औद्योगिक क्रिया के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। तिलहन एकत्रण की अवधि उतनी महत्वपूर्ण नहीं है जितनी कि मौसम में एक व्यक्ति कितनी आय कर लेता है। समस्या है यह देखना कि इस आय में पर्याप्त वृद्धि की जा सके। इस उद्देश्य की पूर्ति को सुनिश्चित करने के लिए संगठनात्मक स्वरूप को तदनुरूप व्यवस्थित करना ही पड़ेगा।

भाण्डारित तिलहन

प्रथम एवम् प्रमुख बात है यह समझना कि हम कहते हैं 'तिलहन एकत्रण' यद्यपि वह फल ही है जोकि पक जाने पर एकत्र किया जाना है। तिलहन शब्द का प्रयोग इस माने में महत्वपूर्ण है कि वह तिलहन ही है जो लम्बे काल के लिए भाण्डारित किया जा सकता है। इसीलिए फल को तिलहन में बदलने की आवश्यकता है। यदि कुछ हालात में तिलहन अर्थात् बीज भाण्डारित नहीं हो सकता हो तो व्यावहारिक रूप में गिरी या गूदा ही बीज का काम करेगी, किन्तु किसी भी हालत में फल बीज नहीं हो सकता है।

जब लक्ष्य तिलहन का 'स्तरीय एकत्रण' है तब एकत्रण खर्च उचित रूप में कम होना चाहिए। उचित रूप में कम का तात्पर्य है कि अन्तिम उत्पादन को ध्यान में

रख कर विभिन्न जाति के तिलहनों और क्षेत्रों के लिए लागत का विस्तृत स्वरूप तैयार किया जाना चाहिए। यह तभी संभव है, जबकि अन्तिम उत्पादन की लागत प्रसिद्ध तिलहनों तथा तेल के मूल्यों के परिवर्तनों के प्रभाववश नहीं हो। यह सवाल दूसरा है कि लागत के सामान्य स्तर और श्रम तथा समय स्रोतों के रूप में निवेशों को ध्यान में रख कर देखा जाय कि क्या किसानों को उनके तिलहनों के लिए मिलनेवाला मूल्य उचित है।

तिलहन एकत्रण में सफलता को इससे आँकन होगा कि किस हद तक कार्य-पद्धति ताजे फल एकत्रण को 'भाण्डारित तिलहन' के रूप में परिवर्तित करने में सफल रही है। 'भाण्डारित तिलहन' एक महत्वपूर्ण वाक्यांश है जोकि सिर्फ बड़ी मात्रा में तिलहन एकत्रण की ओर ही संकेत न करके ऐसे तिलहन की ओर भी संकेत करता है जो लम्बे समय तक अच्छी हालत में सुरक्षित रखा जा सकता हो। इसका महत्व इस अर्थ में है कि भाण्डारित तिलहन अच्छा तेल प्रदान करने में क्षम्य हो जिसका मतलब यह है कि उनका तेल-तत्व अनकूलतम होना चाहिए और आर्द्रता तथा मुक्त स्नेहाम्ल का क्रांतिक अनुपात रासायनिक तौर पर स्वीकृत मात्रा से अधिक नहीं होना चाहिए।

स्राव-सूचिका : वृक्ष से तेल तक

निम्न स्राव-सूचिका प्रत्येक क्रम पर प्राथमिक उत्पादन और अन्तिम उत्पादन प्रदर्शित करती है :

वृक्ष फल देनेवाले प्राथमिक स्रोत हैं। फल गुच्छों में रहते हैं और शाखाओं के अन्त में मिलते हैं। पकने पर वे पेड़ से गिर जाते हैं और कभी-कभी तेज हवा या आँधी के कारण वे अध पकी अथवा कच्ची स्थिति में ही गुच्छे से अलग हो कर गिर पड़ते हैं। फलों के पकने तथा जमीन पर गिरने में तीन से चार सप्ताह और कभी-कभी उससे भी अधिक समय लगता है। सीधे-सीधे वृक्षों से ही फलों को प्राप्त करना आदर्शपूर्ण है। किन्तु चूंकि कभी-कभी पेड़ लम्बे होते हैं और फलों के गुच्छे फुनगियों पर होते हैं, ऐसी स्थिति में पेड़ों पर चढ़ कर उनको तोड़ना संभव नहीं, क्योंकि पेड़ की वे शाखाएँ आदमी का भार वहन नहीं कर सकतीं। मध्यम श्रेणी के वृक्षों के लिए हँसिया लगे हुए बांसों का प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु इससे पेड़ों को क्षति पहुँच सकती है। इसलिए फलों को पेड़ों से स्वाभाविक तौर पर गिरने पर ही एकत्र करना पड़ता है। पेड़ के नीचे की भूमि की सफाई और फलों को हाथ से तोड़ने से वाह्य अशुद्धियों को खत्म किया जा सकता है, जोकि जमीन से बटोर कर एकत्र करने से नहीं हो सकता है।

फलों को हाथ से तोड़ने का अभ्यास करना चाहिए; क्योंकि वह आदर्शपूर्ण तरीका है जबकि बटोरने की पद्धति से एकत्रण में बाहरी चीजों का आना अवश्यम्भावी है। ये बाहरी चीजें—पत्थर, टहनियाँ, फूल—लागत तो बढ़ाती ही हैं और यदि उन्हें उसी हालत में कुछ समय तक छोड़ दिया जाय तो फल पर बुरे प्रभाव भी डालती हैं। कच्चे फल हवा की वजह से या फल के गुच्छे के

अंश के पेड़ से अलग हो जाने के कारण जमीन पर गिर पड़ते हैं। पके फल का रंग (पीला) कच्चे फल के रंग–जोकि कुछ हरापन लिए हुए होता है–से भिन्न होता है। विभिन्न किस्मों के फलों का निरीक्षण करके कोई भी सूक्ष्म दृष्टि इस भिन्नता को सहज ही पहचान सकती है। व्यापारिक एकत्रण में उनको अलग-अलग करना कठिन होगा; वह अधिक समय लगानेवाली प्रक्रिया है।

उन फलों के तिलहनों में जिनके छिलके टूटे-फूटे हैं, हवा तथा आर्द्रता प्रवेश कर जाती है और गूदे को प्रभावित करती है। गूदा जारित होकर दुर्गन्धित हो जाता है। इसलिए यह सावधानी बरतनी चाहिए कि छिलका टूटे-फूटे नहीं।

धूल से भरे फलों से मालूम होता है कि गूदे में मिट्टी लगी है और अन्दर का छिलका टूट-फूट सकता है। जब आंधी-पानी आता है, तब जमीन पर गिरे हुए फल मिट्टी से भर जाते हैं। उनको पानी से साफ करके शीघ्र सुखाना चाहिए। किन्तु सबसे अच्छा तरीका है उनका गूदा शीघ्र निकालना। पानी में फल को भिगोने से ऐसे वाह्य तत्व निकल जाते हैं जोकि पानी से अधिक वजनदार हैं, जबकि अन्य तत्व फल के साथ पानी में तैरते रहते हैं। इनको दूर करने के लिए चलनी का उपयोग किया जा सकता है।

अतः इस दिशा में एकत्रण के समय ही कदम उठाये जाने चाहिए, जिससे स्तरीय एकत्रण सुनिश्चित हो सके। इसके लिए एक विस्तार प्रशिक्षण कार्यक्रम की आवश्यकता है, जोकि धैर्यपूर्ण तथा प्रवीण मार्गदर्शन में संचालित किया जाना चाहिए। यह क्षेत्र के लोगों से सीधे-सीधे सम्बन्धित समस्याओं के अध्ययन के लिए पर्याप्त सम्भावना प्रदान करता है। यदि कम से कम इतना प्राप्त हो जाय तो अच्छे श्रेणी के फल का एकत्रण बहुत-कुछ सुनिश्चित हो जाय।

गूदा निकालने, सुखाने, छिलका निकालने, ओसाने और तेल निकालने की प्रक्रियाएँ तकनालाजी, कार्य पद्धति, तकनीक, उपकरण, औजार और संबंधित लोगों की तकनीकी योग्यता पर निर्भर करती हैं।

प्रशोधन के दौरान प्राप्त विभिन्न उप-उत्पादनों, जैसे एकत्रित फलों के विभिन्न भाग के उपयोग की सम्भावनाओं की खोज करने की भी काफी गुंजाइश है। उदाहरणार्थ, निम्बौरी के बारे में निम्न स्राव सूचिका कार्य की विभिन्न स्थितियों में उत्पत्ति व प्रक्रियाएं प्रदर्शित करती है :
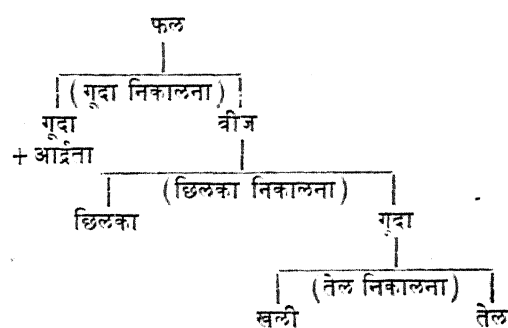
प्रथम स्थिति में फल से गूदा निकाला जाता है और सुखाया जाता है। यदि फलों से प्राप्त गूदे का कुछ उपयोग हो सके तो फल से गूदा निकालने की लागत पूरी की जा सकती है। जिस हद तक यह किया जा सकता है उस हद तक तिलहन एकत्रण लागत को कम किया जा सकता है। उसी तरह जिस हद तक छिलके, खली और बाद में उपोत्पादन से आर्थिक अर्घ्य प्राप्त किये जा सकते हैं उस हद तक तेल–जोकि अन्तिम उत्पादन है–का मूल्य नियंत्रित किया जा सकता है।

हर क्रम–गूदा निकालने, छीलने तथा तेल निकालने–में प्रशोधन लागत कम करनी चाहिए। इस के लिए यंत्र तथा उपकरण योग्य होने चाहिए, ताकि कम से कम समय में अनुकूलतम उत्पादन सुनिश्चित हो सके।

उपकरणों तथा औजारों की संविरचना के साथ-साथ, प्रशोधन के हर क्रम में अनुकूलतम उत्पादन सुनिश्चित करने के लिए अच्छी तरह उनके इस्तेमाल की योग्यता को सुनिश्चित करना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए लोगों को प्रशिक्षण देने की पर्याप्त सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिए। उन्नत उपकरणों, तकनीकों तथा कार्य पद्धति शुरू करने के लिए योजनाबद्ध कार्यक्रम लागू करना चाहिए, जिससे कि उनका उपयोग

करनेवाले लोग नवीन प्रवृत्तियों को आत्मसात कर सकें। इस प्रसंग में प्रचलित कार्य-पद्धति के अध्ययन और नयी कार्य पद्धति न अपना कर उसमें ही सुधार करने की सम्भावनाओं की खोज के लिए उठाये गये कदम सही प्रयास होंगे। इस प्रकार कुछ समय बाद उन्नत तथा नवीनतम उपकरणों व तकनीकों को लागू करना सहज होगा। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अखाद्य तेल और साबुन उद्योग निर्देशालय द्वारा गठित तिलहन प्रशोधन पर्यवेक्षण इकाइयाँ इस दिशा में सही कदम हैं। ये इकाइयाँ प्रचलित पद्धतियों के बारे में आधारभूत आंकड़े प्रदान करने में सहायक सिद्ध हुई हैं।

सावधानी बरतने के बावजूद हर क्रम में उत्पादन में कुछ अशुद्धियाँ रह जाने की सम्भावनाएँ हैं। आदर्श फल या बीज अथवा गूदा की परिभाषा क्षम्य अशुद्धियों के अनुपात के साथ करनी चाहिए। यह इकट्ठे फलों और तिलहनों के ढेर के निर्धारण को सरल बनायेगा। फलों या तिलहनों के स्तर के अनुकूल मूल्य दिये जाने चाहिए। सम्प्रति, सारे देश के लिए समान मान नहीं है। यह हर क्षेत्र में भिन्न है, परन्तु एक सामान्य मान निश्चित करना है। तिलहन प्रशोधन पर्यवेक्षण इकाइयों द्वारा एकत्रित आंकड़े इस दिशा में उचित मार्गदर्शन दे सकते हैं।

समाजशास्त्रीय पहलू

मित्तव्ययी तिलहन एकत्रण की समस्या के अन्य पहलू भी हैं। अनुकूलतम स्थितियां सुनिश्चित करने के लिए किये गये समस्त प्रयासों—गुणात्मक, परिमाणात्मक तथा तकनालाजीकल—के बाद भी यह निश्चित नहीं माना जा सकता कि अपेक्षित परिणाम प्राप्त होंगे। जब कार्य पद्धति को कार्यरत किया जाता है, तो उसमें सर्वदा पीछे रह जाने का तत्व रहता है; क्योंकि समस्त अनुवर्ती क्रिया अन्ततोगत्वा स्थानीय लोगों पर निर्भर करेगी। एकत्रण एवम् प्रशोधन कार्य में सर्वदा व्यक्तिगत तत्व होता है, जोकि स्थानीय लोगों द्वारा मानक तकनीकों की ग्रहण-शीलता तथा प्रयुक्तता पर निर्भर करता है। साथ ही यह ध्यान में रखना चाहिए कि तिलहन एकत्रण प्राकृतिक स्थिति व प्रकृति की अनिश्चितताओं पर निर्भर है, जिन पर सामान्य स्थिति में नियंत्रण रखना कठिन है।

कृषि प्रक्रियाओं के विपरीत, जहाँ किसान अपने को कुछ ज्ञात तत्वों—जैसे उपलब्ध भूमि का विस्तार और उसकी किस्म, जमीन जोतने, बोने और कटाई के समय तक फसल की देखभाल करने की उसकी क्षमता तथा उत्पत्ति का ज्ञान—का भान रहता है। ये अखाद्य तिलहन वृक्ष सर्वत्र बिखरे हैं और समस्त स्रोतों का एकत्रीकरण तथा उपयोग करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को स्थान-स्थान तथा पेड़-पेड़ तक जाना पड़ता है।

कृषि में सहायक

अखाद्य तिलहनों की समस्त अनुमानित सम्पत्ति में नीम का हिस्सा आधा है। इसे ५ लाख टन ताजे फल मानने से मूल्य करीब तीन करोड़ रुपये होता है। समस्त अखाद्य तिलहनों से २८ करोड़ रुपये की कीमत के दो लाख टन अखाद्य तेल प्राप्त हो सकते हैं। साथ ही कृषि के लिए खाद के रूप में उपयोग करने लायक ४ लाख टन खली भी मिल सकती है। एक एकड़ मूंगफली की फसल से अन्दाजन २०० पौंड तेल मिलता है। दो लाख टन अखाद्य तेल २२ लाख ४० हजार एकड़ मूंगफली क्षेत्र के बराबर होगा। चार लाख टन खली धान और गन्ने की चार लाख एकड़ फसल में खाद का काम दे सकती है।

अतः अभी आवश्यकता यह है कि अखाद्य तिलहनों के इस स्रोत का पूर्ण उपयोग किया जाय। निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त करने में हमारी असफलता के कारणों का पूर्ण विश्लेषण होना चाहिए। ये मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय या तकनीकी हो सकते हैं, जैसे असाक्षरता कार्यक्रम के प्रति उदासीनता, पर्य्याप्त आर्थिक आकर्षण का अभाव, वित्तीय कमी और आर्थिक नेतृत्व। इनको युद्ध-तत्परता के स्तर पर चलाना पड़ेगा। हमारे संगठन की शक्ति हमारी इस तत्परता में निहित है कि हमारे कार्य में छोटे से छोटे दोष को अच्छी तरह ठीक किया जाय और हमारी सफलता इस बात पर निर्भर रहेगी कि किस हद तक कार्यक्रम व्याप्त हो गया है।

बम्बई : २७ अगस्त १९६३

समृद्धि की दुविधा *

• सुभाष चन्द्र सरकार

हजारों वर्ष पूर्व पृथ्वी पर मनुष्य के आगमन से ही उसका जीवन बड़ा परिश्रमी रहा है, जिसमें उसे अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए निरन्तर संघर्ष और कठोर श्रम करना पड़ा है। अधिकांश मानविक शक्ति जीवन की अत्यावश्यकताएँ पूरी करने में लगती थी। बहुतों को कष्टमय जीवन बिताने के लिए मजबूर किये बिना कोई आराम से नहीं रह सकता था; क्योंकि उपलब्ध रसद सीमित थी और उसे बढ़ाया नहीं जा सका। जहाँ कुछ लोग धनी थे, वहाँ बहुतों को गरीब होना ही पड़ता था। कुछ दिनों पूर्व तक सब जगह के लोगों के लिए यह सत्य था। औद्योगिक क्रान्ति ने प्रथम बार उन सम्भाव्यताओं का मार्ग प्रशस्त किया, जिनके जरिये राष्ट्र न सिर्फ अपनी आवश्यकता भर, बल्कि उससे कहीं ज्यादा उत्पादन कर सकें। प्राविधिक विकासों ने गरीबी और असमानता को अनावश्यक बना दिया है। अनेक देशों में यह सिद्ध किया जा चुका है कि आधुनिक तकनालाजी का उपयोग कर काफी हद तक गरीबी दूर की जा सकती है। इसी प्रकार असमानता भी दूर की जा सकती है; क्योंकि अब हर व्यक्ति के लिए पर्याप्त उत्पादन करना सम्भव है।

गरीब-अमीर का अन्तर जारी

दुर्भाग्यवश ये सम्भावनाएँ विश्वव्यापी रूप से कार्य रूप में परिणत नहीं की गयी हैं। अभी भी बहुत बड़ी आबादी घोर गरीबी में रहती है और संसार के सर्वाधिक समृद्ध देश में भी असमानता समाप्त नहीं हुई है। सर्वाधिक समृद्ध देशों में गरीबी का भौगोलिक वितरण तथा असमानता का रूप बहुत ही महत्वपूर्ण है। विश्व की करीब आधी आबादी विश्व की कुल आय का १३ प्रतिशत ही प्राप्त करती है; दूसरी ओर सिर्फ १५.२ प्रतिशत लोग ही विश्व की कुल आय का ४५ प्रतिशत प्राप्त करते हैं (सिर्फ ३.७ प्रतिशत आबादी कुल आय का २८ प्रतिशत प्राप्त कर लेती है)। जैसे कि यह अवस्था अधिक खराब नहीं है, गरीब देशों में धनी देशों की अपेक्षा धीमी गति से प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि हो रही है, जिससे गरीब और धनी देशों का अन्तर निरन्तर बढ़ता जा रहा है। अनेक देशों में राष्ट्रीय रूप से भी विभिन्न आय वर्गों के बीच के बड़े अन्तर की यह अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्ति धीरे-धीरे स्पष्ट हो गयी है। इसलिए, प्राविधिक संभाव्यताओं के बावजूद राष्ट्रीय दायरे में भी समृद्धि उतनी ही अपवाद स्वरूप रह गयी है, जितनी कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में।

यह एक असाधारण स्थिति है, और मानव के सुखी भविष्य के लिए इसमें शीघ्र सुधार करना ही चाहिए। इस समस्या के दो पहलू हैं—राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय। प्रत्येक राष्ट्र में सर्व साधारण जनता का जीवन-स्तर उन्नत करने और असमानता कम करने का हर प्रयास किया जाना चाहिए। विश्व की वर्तमान स्थिति में, जबकि देशों को विश्वव्यापी प्रतियोगिता करनी पड़ती है, यह उद्देश्य प्राप्त करना बहरहाल किसी भी तरह सहज नहीं है। कई राष्ट्र आधुनिक तकनालाजी को जन-सेवा में प्रयुक्त करना बहुत ही मुश्किल पाते हैं। प्रथम, इसलिए कि उन्हें तकनीकी ज्ञान नहीं है और न वे साधन हैं जिनसे कि यह ज्ञान खरीद सकें, जोकि अधिक मांग होने के कारण

---

* अमेरिका एण्ड दि वर्ल्ड रिवोल्यूशन; लेखक: आर्नोल्ड टायनबी; आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन: १९६२; पृष्ठ: ७७; मूल्य: १२ शिलिंग ६ पेंस।

अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में जितने में बिकना चाहिए था, उससे कहीं अधिक महँगा है; और द्वितीय, न सिर्फ विकसित और अल्प विकसित देशों के बीच, बल्कि अल्प विकसित देशों के बीच आपस में भी, दिन प्रति दिन प्रतियोगिता कड़ी होती जा रही है, जिसका अल्प विकसित देशों की विकास क्षमता पर असर पड़ रहा है। दूसरी बात को और स्पष्ट करने के लिए भारत-चीन के संघर्ष का उदाहरण लीजिए, जिसने निश्चय ही भारत के विकास की गति पर असर डाला है और उसी तरह चीन-रूस संघर्ष ने चीन की प्रगति पर। इससे समस्या के दूसरे पहलू की ओर ध्यान जाता है, जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय सहकार की आवश्यकता पर बल दिया जाता है। अधिक समृद्ध राष्ट्र कई तरह से लाभदायक योगदान दे सकते हैं। आधुनिक विश्व में दो बड़े राष्ट्र हैं–अमेरिका और रूस। केवल पश्चिमी शक्तियों और रूस द्वारा ही निःशस्त्रीकरण से विश्व कल्याण के लिए वृहत राशि और ऊर्जा प्रसारित हो सकती है; यह "धनी राष्ट्रों को उनके वर्तमान भय और गरीब राष्ट्रों को उनकी वर्तमान कमियों से छुटकारा दिलायेगा।" (पृष्ठ ७१)

प्रचुरता के जरिये पृथकत्व

सन् १९६१ के बसंत में पेनसिलवानिया विश्वविद्यालय में दिये गये अपने तीन सार्वजनिक-व्याख्यानों में डा. आर्नोल्ड टायनबी (Arnold Toynbee) ने, जोकि उक्त पुस्तक में प्रकाशित किये गये हैं, अमेरिका के कर्तव्य पर प्रकाश डाला है, जिसके पास इस आधुनिक विश्व में बहुत बड़ी उत्पादक शक्ति है। अमेरिका ने समकालीन विश्व में अपनी जिम्मेदारियों को कहाँ तक आंका है और कहाँ तक पूरा किया है? डा. टायनबी कहते हैं कि अमेरिका ने अपनी जिम्मेदारियाँ नहीं निभायी हैं। यद्यपि अमेरिका के स्वातंत्र्य युद्ध ने विश्व भर में दिलचस्पी जगायी थी, अब वह जबकि धनी हो गया है इस क्रान्ति युग में संसार भर से मिले प्रत्युत्तर के प्रति उत्साही नहीं है, जिसने कि सर्वत्र गरीब किसानों के दिल में हलचल मचा दी थी। डा. टायनबी के शब्दों में अमेरिका "अल्प-संख्यकों में शामिल हो गया है" और "अब बढ़ती हुई क्रांतिकारी शक्तियों, जिनका उसने खुद ही निर्माण किया था, के विरुद्ध उसने जो धन संचय किया है उसकी रक्षा के लिए वह अपने को बाध्य पाता है।" (पृष्ठ १८)

मांग सीमित करना आवश्यक

यह पृथकत्व धन के कारण हुआ है। (यह जातिवाद के कारण भी हो सकता है। डाक्टर टायनबी ने बताया है कि एक भारतीय हिन्दू ब्राह्मण प्राध्यापक उनके साथ भोजन करने से बचता था; क्योंकि वे ईसाई थे।) सन् १९२४ तक अमेरिका ने देशान्तरवास कानून बना कर, जिसने कि यूरोपवासियों के (एशियावासियों को अमेरिका में बसने की इजाजत तो कभी थी ही नहीं) देशान्तरवास पर भी प्रतिबंध लगा दिया। "यह स्वयं पृथक्करण, इस बात का भान होने का कि 'वह धनी हो गया है तथा फिर अपने इस नये कल्याण की रक्षा करने के लिए कदम उठा रहा है' का अनिवार्य दंड है।" (पृष्ठ २४–२५) फिर भी, इस समृद्धि का रूप क्या है? आज अमेरिका में जितनी खपत होती है वह लोगों की सही व्यक्तिगत आवश्यकता से कहीं ज्यादा है। ("हमारी मांगें तब भी हमारी जरूरतों से बहुत अधिक हैं, जबकि वे विज्ञापन माध्यमों के कृत्रिम प्रोत्साहन से प्रभावित नहीं हैं।"। (पृष्ठ ६९) और, वृहत उत्पादन शक्तियों को बनाये रखने के लिए, जोकि सामान्य कल्याण के लिए आवश्यकताओं का उत्पादन करने के लिए स्वाभाविक मार्ग नहीं खोज सकीं तथा जोकि कम आवश्यक सामग्रियों के उत्पादन में लग गयी हैं, मांगों को विज्ञापन उद्योग के जरिये कई गुना अधिक बढ़ा-चढ़ा दिया गया है। डा. टायनबी लिखते हैं, "अमेरिका में सही मांग और वास्तविक खपत के बीच कितना अन्तर है, उसकी प्राप्ति मांग निर्माण उद्योग के पैमाने से होती है, जोकि मैडिसन एवेन्यू में (जहाँ प्रमुख विज्ञापन कार्यालय स्थित हैं) चलता है।" (पृष्ठ ५९) इसका परिणाम सुखद नहीं हुआ है।

निरन्तर बढ़ती मांग को कुछ सीमित करना आवश्यक

हो गया है। डा. टायनबी चेतावनी देते हैं, "अमेरिकी जीवन मार्ग 'जाँच' करने की अवस्था पर आ पहुँचा है" (पृष्ठ ६७); क्योंकि वह मनुष्य के सही लक्ष्य, जोकि आध्यात्मिक उद्देश्यों की प्राप्ति है, की प्राप्ति में मदद नहीं देता। जबकि मनुष्य का अस्तित्व आवश्यकताओं की पूर्ति पर निर्भर करता है, उन मांगों की पूर्ति की कोशिश करना—जोकि प्राथमिक आवश्यकताएँ नहीं हैं—जीवन का मुख्य लक्ष्य नहीं बनाया जा सकता। आध्यात्मवाद ही मनुष्य को मानवीय बनाता है। संसार से गरीबी दूर करने की सम्भावनाओं ने इन आध्यात्मिक क्षमताओं को—मूल आवश्यकताओं की पूर्ति पहले से बहुत ही सहज बना कर—प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। भूखे मर रहे लोगों को जब अन्न दिया जाता है, तो वे अत्याहारी हो सकते हैं, परन्तु अत्याहारी होना स्वास्थ्यकर नहीं है।

प्रचुरता प्राप्त करने में सर्व प्रथम, अमेरिकी यदि पहली पीढ़ी में अपने को उपभोक्ता सामग्रियों में ही बाहुल्यता की ओर प्रवृत्त करते तो यह समझना कठिन नहीं है। परन्तु अत्याहारी होने की तरह यह लिप्सा भी स्वास्थ्यकर नहीं है और इसलिए वांछनीय भी नहीं है; आगे चल कर इससे विवेकशीलता आने ही वाली है। डा. टायनबी कहते हैं, "पश्चिमी देशों की भावी पीढ़ियाँ पश्चिमी इतिहास के इस अंश पर आश्चर्य और अरुचि से गौर करेंगी।" (पृष्ठ ७६)

संसार के सबसे बड़े जीवित इतिहासकार के विश्लेषण पर पूर्ण गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है। डा. टायनबी अमेरिकी श्रोताओं के बीच भाषण कर रहे थे, इसलिए उन्होंने अमेरिका के ही उदाहरण दिये। लेकिन हर राष्ट्र को यह विश्लेषण अपने क्षेत्र में प्रयुक्त करना ही चाहिए, ताकि वह अपनी गलतियां सुधार सके। अत्याहारी होने से, भले ही अमेरिकी हो अथवा भारतीय, सभी जगह एक समान बुरे परिणाम निकलनेवाले हैं। यह समझना सबसे बड़ी गलती होगी कि कम उन्नत राष्ट्रों को प्रमुख खपत के विषय में चिन्ता नहीं करनी चाहिए। हम भारतवासी यह जानते हैं कि घोर गरीबी होने के बावजूद दिखावटी खर्च एक दुर्गुण बन चुका है। अमेरिकी सिर्फ अपने ही प्रयासों से अत्याहार और असमानता को दूर नहीं कर सकते; उन्हें अन्य राष्ट्रों की मदद भी लेनी ही होगी। इस सम्बन्ध में एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी कम समृद्ध राष्ट्रों पर है। एक प्रकार से अमेरिकी जीवन (जिसे डा. टायनबी विलासी जीवन कहते हैं) की विलासिता से बहुत दूर रहने के कारण अल्प विकसित राष्ट्रों के लोग अच्छी स्थिति में हैं; क्योंकि वे उस अनुभव से सीख सकते हैं और विज्ञापन के जरिये निर्मित कृत्रिम मांगवाले समाज के दोषों से बच सकते हैं। संतुष्टि का दर्शन हम भारतीयों के लिए—जिन्हें शताब्दियों से ऋषि-मुनियों और दार्शनिकों के ज्ञान-संदेश प्राप्त हैं—एक लम्बे अरसे से जीवन-मार्ग का एक अंग बना हुआ है। हाँ, व्यवहार में कुछ समय से इस पोषित आचरण के प्रति कुछ विमुखता दिखायी पड़ रही है। आवश्यकता इस बात की है कि उसे परिपूर्ण रूप से व्यवहार में लाना सुनिश्चित करने हेतु ठोस कदम उठाये जांय।

बम्बई : २ सितम्बर १९६३

हम अपने पाठकों और लेखकों के प्रति आभारी हैं, जिन्होंने खादी ग्रामोद्योग के प्रस्तुत वार्षिकांक के लिए हमारे आग्रह का आदर कर लेख भेजने की कृपा की। खेद है कि स्थानाभाव के कारण हम सभी लेख इस वार्षिकांक में प्रकाशित करने में असमर्थ रहे हैं। हम आशा करते हैं कि खादी ग्रामोद्योग के आगामी अंकों में हम उन्हें प्रकाशित कर सकेंगे।

—सम्पादक

एस्पेक्ट्स ऑफ इकनॉमिक चेन्ज एण्ड पॉलिसी इन इण्डिया : १८००–१९६०;

लेखक : वी. वी. भट्ट; एलाइड पब्लीशर्स प्रायवेट लिमिटेड, बम्बई; १९६३; पृष्ठ : १२+१४०; मूल्य : १०.५० रुपये।

इस वर्ष के प्रारम्भ में डा. भट्ट द्वारा बड़ौदा के महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय में दिये गये तीन व्याख्यान, जोकि इस पुस्तक का सार है–विशेष कर ऐतिहासिक अंश का–काफी रुचिकर पाठ है। यद्यपि वे किसी प्रकार का आश्चर्यजनक रहस्योद्घाटन नहीं करते, तथापि गत १५० वर्षों में देश में आर्थिक नीति एवम् विकास के ऐतिहासिक अनुभव का अकाटच सारांश अवश्य पेश करते हैं। और, यह ज्ञान केवल शास्त्रीय रुचि का ही विषय नहीं है। विकास की प्रक्रिया को उपयुक्त दृष्टिकोण से देखने तथा वर्तमान नीतियों एवम् प्रवृत्तियों का बुद्धिमत्तापूर्ण मूल्यांकन करने की अभिलाषा रखनेवाले व्यक्ति के लिए इतिहास का ज्ञान जहाँ तक उसके द्वारा विकास की गति को नियंत्रित करनेवाली दीर्घ कालीन अनिवार्यताओं व परिसीमाओं का उद्घाटन होता है वहाँ तक आवश्यक है। डा. भट्ट ने यह सुझाव देने के लिए पर्याप्त तथ्य एकत्र किये हैं कि "स्वतंत्रता-पूर्व के गत १५० वर्षों में प्रति व्यक्ति आय में होनेवाले परिवर्तनों के अनेक लक्षणों एवम् अनुमानों के मापन से जाहिर होता है कि भारतीय अर्थ-व्यवस्था आर्थिक गतिहीनता अथवा हो सकता है आर्थिक अवनति के दौर से गुजर रही थी।" (पृष्ठ २८) लेखक द्वारा पुस्तक में उल्लिखित सन्दर्भ-स्रोतों से ज्ञात होता है कि साम्राज्य के दिनों में अधिक विचारवान अंग्रेजों में से भी कई अवनति की इस प्रक्रिया से भिज्ञ थे। विलियम विल्सन हण्टर ने १८८० में कहा था, "हस्त लिखित दस्तावेजों से प्राप्त तथ्यों से वर्तमान ग्रामीण भारत की तुलना करने पर मैं इस नतीजे पर पहुँचने के लिए बाध्य हो गया हूँ कि भारत में आज जीवन उस समय की अपेक्षा अधिक कष्टमय हो गया है, जब यह देश हमारे हाथों में आया था।" सन् १९५१ के पूर्व की लगभग एक शताब्दी में भारतीयों के परम्परागत पेशे की अपरिवर्तनीयता में गतिहीनता की झलक मिलती है।

लेखक ने भारतीयों तथा अंग्रेजों के अकाटच प्रमाणों के आधार पर भारत में ब्रिटिश नीति पर गंभीर आरोप लगाया है। ऐसा अनुमान है कि १७५७ से १९३९ तक के काल में भारत की राष्ट्रीय आय का २ से ३ प्रतिशत भाग अनेक प्रकार के भुगतानों के रूप में इंग्लैण्ड जाता था और उसके बदले भारत को कुछ भी नहीं मिलता था। सामान्य अपवादों को छोड़ कर उस वक्त की सरकार की नीति भारतीय उद्योगों के विकास में यदि पूर्णतः विरोधी नहीं, तो अवरोधक अवश्य रही है। विदेशी पूंजी देश के अर्थतंत्र के विकास में सहायक होने के बजाय बाधक ही रही है। लेखक महोदय ठीक ही इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि "भारत में आर्थिक गतिहीनता की व्यापक व्याख्या यह हो सकती है कि राज्य अपनी उचित भूमिका निभाने में असफल रहा।" (पृष्ठ ५८)

योजनाबद्ध विकास के दशक पर लिखते हुए डा. भट्ट ठीक ही कहते हैं कि "आर्थिक विकास एवम् सामाजिक-राजनीतिक स्थायित्व के लिए, प्राप्य अतिरिक्त जन-शक्ति का पूर्ण उपयोग अवश्य होना चाहिए।" (पृष्ठ १०१)

जन-शक्ति के प्रभावशाली उपयोग के बारे में डा. भट्ट कहते हैं कि इसके लिए "किसी तरह के प्रशासनिक तंत्र की आवश्यकता होगी" (पृष्ठ १०३), जिसे अतिरिक्त जन-शक्ति को उत्पादक कामों के निमित्त संगठित करने का उत्तरदायित्व लेना पड़ेगा। उनका विश्वास है कि पंचायत राज संस्थाएँ संतोषजनक रूप से ऐसा कर सकती हैं।

—सुभाष चन्द्र सरकार

* * *

एक्शन रिसर्च एण्ड इट्स इम्पॉर्टेन्स इन एन अण्डर-डेवलण्ड इकनॉमी : प्लानिंग रिसर्च एण्ड एक्शन इन्स्टीटयूट; योजना विभाग, उत्तर प्रदेश सरकार; लखनऊ; १९६३; पृष्ठ: ३४; मूल्य का उल्लेख नहीं।

'कृति-शोध' (एक्शन रिसर्च) का तात्पर्य है मौलिक तथा प्रयुक्त शोध के परिणामों को बुद्धिमत्तापूर्वक आर्थिक तथा सामाजिक विकास के क्षेत्र में विस्तृत करना। यह वैज्ञानिक ज्ञान का जीवन की वास्तविक परिस्थितियों के साथ समन्वय करना है यानी उक्त ज्ञान को प्रस्तुत परिस्थितियों के अनुरूप बनाना तथा उसमें संशोधन करना। इस अर्थ में उक्त 'कृति शोध' पर कोई आपत्ति नहीं हो सकती, जोकि लोगों द्वारा शोध परिणामों के अपनाने अथवा अस्वीकार करने की अभिप्रेरणा तथा आचरण में बहुत बहुमूल्य जानकारी प्रदान कर सकती है। तथापि, भारत की संस्कृति, जलवायु तथा अर्थ-व्यवस्था की विभिन्नता की स्थिति ही 'कृति शोध' की (जो विशिष्ट परिस्थितियों का हल प्राप्त करने का उद्देश्य रखती है) उपयोगिता अति वांछनीय होते हुए भी भारत जैसे देश के लिए न्यून कर देती है; क्योंकि जो हल एक प्रकार की परिस्थितियों में उपयोगी है, शायद वह भिन्न परिस्थितियों में संतोषजनक परिणाम न दे। 'कृति शोध' को उपयोगी क्रियाशीलता की मान्यता देने के पूर्व यह निश्चय करना आवश्यक है कि उसके परिणामों को बिना अनावश्यक लागत के व्यवहार में लाया जा सके। यह स्पष्ट है कि इस तरह का आश्वासन सरलतापूर्वक नहीं दिया जा सकता और इससे देश में इस प्रकार की शोध का क्षेत्र बहुत सीमित हो जाता है। यह उद्देश्य सुनिश्चित करने का एक उपाय यह है कि यथा संभव विस्तृत क्षेत्रों में 'कृति शोध' केन्द्र कायम किये जायें। उत्तर प्रदेश की जन सहयोग मूल्यांकन समिति ने भी यह माना है, पर अन्ततोगत्वा वही साधन-स्रोतों की उपलब्धि का प्रश्न आ खड़ा होता है।

सन् १९५४ में उत्तर प्रदेश सरकार के योजना विभाग के अन्तर्गत लखनऊ में 'दि प्लानिंग रिसर्च एण्ड एक्शन इन्स्टीटयूट' का प्रारम्भ निम्न लिखित समस्याओं पर शोध करने के लिए हुआ : (१) जन-दृष्टिकोण; (२) पंचायत, सहकारी समिति तथा विद्यालयों जैसी ग्राम्य संस्थाएँ; (३) कुटीर तथा लघु स्तरीय उद्योग; (४) सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा सफाई; (५) भू-रक्षण तथा भू-उपादेयकरण सहित कृषि; (६) पशुपालन; (७) लघु सिंचाई; (८) ग्रामीण आवास; (९) युवक, महिला तथा शिशु-कल्याण; और (१०) परिवार नियोजन। भारत में इस प्रकार का यह प्रथम संस्थान है।

लखनऊ स्थित 'प्लानिंग रिसर्च एण्ड एक्शन इन्स्टीटयूट' के निर्देशक डा. राम दास ने क्षेत्र में बहुत महत्वपूर्ण काम किया है। उन्होंने इस रचना में 'कृति शोध' के सिद्धांत व व्यवहार की व्याख्या की है तथा गत वर्षों में संस्था द्वारा किये गये कार्य का संक्षेप में वर्णन किया भी है।

—सु. च. स.

* * *

इकनॉमिक अफेयर्स (एक अर्थशास्त्र विषयक मासिक); योजना अंक; वर्ष : ८; अंक : ७ और ८ (जुलाई-अगस्त १९६३); सम्पादक : हिमांसर राय; ५।१।१डी, राजा दिनेन्द्र स्ट्रीट, कलकत्ता—६; पृष्ठ : ८२; मूल्य: १.५० रुपया। (वार्षिक शुल्क: १० रुपये)।

विशुद्ध अर्थशास्त्र से सम्बन्धित मासिक पत्रिकाओं में 'दि इकनॉमिक अफेयर्स' विशेष उल्लेखनीय है। इसकी उपयोगिता तथा मूल्य तो इसी तथ्य से सिद्ध होता है कि अब इसका आठवाँ वर्ष चल रहा है। विशुद्ध अर्थशास्त्रीय पत्रिका प्रकाशित करने

में आनेवाली कठिनाइयों पर काबू पाना कोई आसान काम नहीं है और सम्पादक महोदय— जिन्होंने इन वर्षों में पत्रिका चलायी है—प्रशंसा के पात्र हैं। ऐसी पत्रिकाओं के सम्पादकों के समक्ष सबसे बड़ी कठिनाई होती है, उक्त विषय पर प्रकाशित करने योग्य लेखों का अभाव। श्री राय ने अपने अथक प्रयास से देश भर के ऐसे लेखकों की रचनाएँ प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की है, जो इस विषय में सैद्धांतिक रुचि—ज्ञान और समझ बढ़ाने के लिए—रखते हैं।

प्रस्तुत योजना अंक में उदीयमान अर्थशास्त्रियों की रचनाएँ संगृहीत हैं।

—सु. च. स.

* * *

कोऑपरेटिव पालिसी एण्ड प्रोग्रेम्स : नेशनल कोऑपरेटिव यूनियन ऑफ इण्डिया; नयी दिल्ली; १९६३; पृष्ठ: १८९; मूल्य का उल्लेख नहीं।

यह केन्द्रीय सामुदायिक विकास, पंचायती राज और सहकार मंत्रालय के सहकारी विभाग द्वारा राज्य सरकारों के सहकारिता विभागों के सचिवों को प्रेषित सहकारी नीति तथा कार्यक्रम सम्बन्धी महत्वपूर्ण पत्रों का संग्रह है। पत्र कई परिच्छेदों में संकलित कर प्रत्येक परिच्छेद में कालक्रम से समाविष्ट किये गये हैं।

ग्रामीण समितियों के गठन के पीछे कल्पना यह थी कि वे मुख्यत: अल्प कालिक तथा मध्य कालिक ऋण, कृषि विषयक तथा अन्य प्रकार की उत्पादन आवश्यकताओं की पूर्ति और कृषि उत्पादनों की बिक्री की व्यवस्था करेंगी। ऐसे संगठन के लिए अनुपयुक्त छोटे गाँवों को छोड़ कर समस्त गाँवों में सहकारी समितियाँ बनाने की योजना थी। सहकारी समितियाँ आवश्यक रूप से ही व्यापारिक संगठन होने के कारण उन्हें ग्राम पंचायतों, जोकि लगान के स्रोत से युक्त तथा कर लगाने की शक्ति से सम्पन्न प्रशासनात्मक संगठन हैं, से अलग रखा जाना था। सहकारिता की स्वयंभू प्रकृति, उसमें अधिक से अधिक गैर सरकारी व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त करने, तथा सहकारी विधि एवम् कार्य पद्धति में सरलता लाने की आवश्यकता पर जोर दिया गया था।

प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगा। जैसा कि श्री ब्रह्म प्रकाश ने पुस्तक की भूमिका में उल्लेख किया है कि सहकारिता प्रसार में अनेक कार्यकर्त्ताओं— जिन पर कार्यक्रम को लागू करने का बड़ा उत्तरदायित्व है— को भारत सरकार द्वारा प्रवर्तित सहकारी विकास कार्यक्रमों व नीति-विषयक निर्णयों की विस्तृत जानकारी नहीं है। इस सम्बन्ध में उक्त पुस्तक बहुत सहायक सिद्ध होगी।

—सुभाष चन्द्र सरकार

* * *

कोऑपरेशन अज ए रेमेडी फॉर रूरल पावर्टी : एम. नुरुल हक; ईस्ट पाकिस्तान कोऑपरेटिव यूनियन लिमिटेड, ढाका-२; १९६३; पृष्ठ : ३९; मूल्य : १.२५ रुपया।

यह रिक्शा-चालकों की एक सहकारी समिति (दि काशीनाथपुर बलरामपुर दीदर श्रमिक समवाय समिति लि.) का यथा तथ्य अध्ययन है, जो १९६० के प्रारम्भिक काल में कोमिला स्थित ग्रामीण विकास के लिए पाकिस्तान अकादमी के तत्वावधान में संगठित की गयी थी। लेखक के अनुसार सहकारी समिति बहुत सफल रही। किन्तु अप्रभावकारी लेखनी से पाठकों के समक्ष उसका पूर्ण स्पष्टीकरण नहीं होता है।

—सु. च. स.

सम्पादक : सुभाष चन्द्र सरकार द्वारा खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय,' इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई-५६ से प्रकाशित तथा मुद्रित। मुद्रण-स्थल : एसोसिएटेड एडवर्टाइजर्स एण्ड प्रिण्टर्स, ५०५, तारदेव, आर्थर रोड, बम्बई-३४। वार्षिक शुल्क : २.९० रुपये; एक प्रति : २९ नये पैसे। इस अंक के दो रुपये।

खादी ग्रामोद्योग
ग्रामीण जीवन, समाज और अर्थशास्त्र विषयक मासिक

दशम वर्ष · नवम्बर १९६३ · द्वितीय अंक

सम्पादक : सुभाष चन्द्र सरकार द्वारा 'ग्रामोदय', इर्ला, बम्बई-५६ से मुद्रित और प्रकाशित। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की पत्रिका 'खादी ग्रामोद्योग' ग्रामीण विकास और समाज तथा अर्थशास्त्र-विषयक मासिक है, जिसका ध्येय आर्थिक लाभ अर्जित करना नहीं है। इन तथा अन्य सम्बन्धित विषयों पर ग्रामीण विकास के ध्येय से लिखे गये लेखों पर पत्रिका में प्रकाशनार्थ सहर्ष विचार किया जायेगा। स्वीकृत रचनाओं पर पारिश्रमिक दिया जायगा। लेख, पुस्तकों की समीक्षा आदि सम्पादक, 'खादी ग्रामोद्योग', खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय,' इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई–५६ के पते पर भेजें। टेलिफोन नं. ९७१४९२।

इस पत्र में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार आवश्यक नहीं कि खादी और ग्रामोद्योग कमीशन अथवा सम्पादक के हों, जब तक कि विशेष रूप से उल्लेख न कर दिया गया हो।

वार्षिक शुल्क : २.५० रुपये; एक प्रति : २५ नये पैसे। चन्दे की रकम इस पते पर भेजी जानी चाहिए : असिस्टेण्ट एकाउण्ट्स ऑफिसर (कैश), खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय', इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई–५६।

इस अंक के लेखक

ललित कुमार मित्र	–कलकत्ता के सिटी कालेज में अर्थशास्त्र विभाग के अध्यक्ष।
यादव प्रसाद पन्त	–नेपाल सरकार के वित्त मंत्रालय के सचिव।
सुनील कुमार मुखर्जी	–नयी दिल्ली स्थित 'इण्डियन एग्रीकल्चरल रिसर्च इन्स्टीट्यूट' में हार्टीकल्चर डिवीजन के अध्यक्ष।
शैलेश कुमार बोस	–पटना स्थित बिहार नेशनल कालेज में अर्थशास्त्र विभाग के अध्यक्ष।
मगुदेसन बालसुब्रह्मण्यम्	–अन्नमलैनगर स्थित अन्नमलै विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के रीडर।
देवेन्द्र कुमार गुप्त	–खादी और ग्रामोद्योग मण्डल के सदस्य।
वेदनभट्ल सीतारामय्या	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के उड़ीसा राज्य के भुवनेश्वर स्थित निर्देशक।
सत्य रंजन सेन	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के विशेषाधिकारी (रेशम), कलकत्ता।
संजीवराव कृष्णराव कल्लापुर	–खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के रेशा, बढ़ईगीरी और लोहारी उद्योगों के निर्देशक, धारवाड़।
जुगतराम दवे	–गुजरात के सूरत जिले में वेडछी स्थित सर्वोदय आश्रम के संचालक।
रतिभाई गोंधिया	–राजकोट (गुजरात) स्थित सौराष्ट्र रचनात्मक समिति के मंत्री।
श्रीपति रंगनाथ	–मद्रास स्थित जन-संख्या का अध्ययन करनेवाली संस्था 'इण्डियन इन्स्टीट्यूट फॉर पापुलेशन स्टडीज' के हैदराबाद में वरिष्ठ गवेषणा अधिकारी।
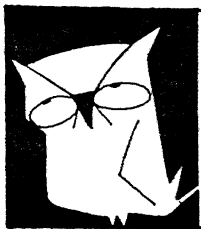
सम्पादकीय

बुनाई सहायता का प्रस्ताव

लगभग सात वर्ष में खादी आन्दोलन अपनी अर्द्ध शताब्दी पूरी कर लेगा। प्रारम्भ काल से अब तक खादी आन्दोलन कई क्रमों से हो कर गुजरा है। आन्दोलन के २५ वर्षों में हुए अनुभव के आधार पर महात्मा गांधी ने यह निष्कर्ष निकाला था कि खादी कार्यक्रम का स्थायी महत्व तभी रह सकता है जबकि वह अहिंसक ग्राम विकास अथवा ग्राम पुनर्निर्माण का एक अंग बन जाय। इसे उन्होंने समग्र सेवा का नाम दिया। खादी कार्य को ग्राम विकास योजना के साथ जोड़ने का पुन: विचार १९५९ में नये उत्साह से किया गया जबकि खादी और ग्रामोद्योग कमीशन ने **नया मोड़** कार्यक्रम अपनाने का निर्णय किया। इस विचार का सार था—स्थानीय लोगों द्वारा अपनी आवश्यकता के आधार पर बनायी गयी योजना के साथ खादी का सम्बन्ध जोड़ना। इकाइयों में खादी के अधिकाधिक उपभोग और खादी-उत्पादकों की व्यापारिक प्रवृत्ति को निरुत्साहित करने हेतु चन्द वर्ष पूर्व एक प्रस्ताव उपस्थित किया गया था कि सूतकारों के अपने उपभोग हेतु हाथ कते सूत की एक निश्चित मात्रा की मुफ्त बुनाई की व्यवस्था की जाय। यह सुझाव मूलतः विनोबाजी का था, जिन्होंने यह प्रस्ताव रखा था कि सरकार को खादी उत्पादन के लिए बुनाई खर्च वहन करना चाहिए। इसके पीछे विचार यह था कि जिस तरह प्रगतिशील राज्यों में सबके लिए शिक्षा अनिवार्य है तथा सरकारी खर्च पर निःशुल्क दी जाती है उसी प्रकार भारत में सरकार को कम से कम सभी हाथ कते सूत की मुफ्त बुनाई व्यवस्था करने हेतु आगे आना चाहिए।

इसी बीच, देश पर चीन द्वारा अकारण आक्रमण के फलस्वरूप अखिल भारत सर्व सेवा संघ ने खादी संस्थाओं से आग्रह किया कि वे नयी पद्धति से खादी उत्पादन करें। यह सुझाया गया कि अभी खादी की बिक्री पर दी जानेवाली छूट (रिबेट) के बदले ऐसी पद्धति अपनानी चाहिए कि सभी हाथ कते सूत की, बिना कोई सीमा रखे, मुफ्त बुनाई व्यवस्था की जा सके और यह बुनाई खर्च खादी और ग्रामोद्योग कमीशन तृतीय योजना के लिए मिली निधि में से वहन करे।

इस प्रश्न पर गत फरवरी माह में पश्चिम बंगाल के नवद्वीप में हुए अखिल भारत खादी कार्यकर्त्ता सम्मेलन में विचार किया गया, जबकि आचार्य विनोबा भावे भी उपस्थित थे। सभी पहलुओं पर अच्छी तरह विचार-विमर्श करने के उपरान्त सम्मेलन ने गाँवों में सभी हाथ कते सूत की मुफ्त बुनाई व्यवस्था करने का प्रस्ताव पारित किया। बुनाई सहायता देने की नयी योजना को कार्यान्वित करने हेतु विस्तृत कार्यक्रम बनाने के लिए एक २० सदस्यीय समिति नियुक्त की गयी।

समिति, जोकि बुनाई पुनरीक्षण समिति के नाम से जानी जाती है, ने जो सिफारिशें की उनमें से कुछ इस प्रकार हैं :

अ. अभी बिक्री पर जो छूट दी जाती है, उसे बन्द कर देना चाहिए।

आ. सादी खादी के लिए दी जानेवाली मानक बुनाई मजदूरी पूर्णतः सहायता स्वरूप जी जानी चाहिए। (इस कार्य के लिए नियुक्त राज्य स्तरीय समितियों ने प्रत्येक राज्य अथवा क्षेत्र के लिए सादी बुनाई की मानक दर तय कर दी है।)

इ. सादी खादी के अलावा अन्य प्रकार की खादी के लिए जिसकी बुनाई मजदूरी प्रति मीटर १०० कंघी के लिए १० नये पैसे से अधिक न हो, अतिरिक्त बुनाई मजदूरी का ५० प्रति शत सहायता के रूप में दिया जाना चाहिए।

ई. प्रशोधित वस्तुओं का वर्तमान मूल्य स्तर बनाये रखने के लिए कुल प्रशोधन खर्च का २० प्रति शत सहायता स्वरूप दिया जाना चाहिए।

उ. विभिन्न प्रक्रियाओं के अन्तर्गत प्रति मद में ऊपरी खर्च निम्न प्रकार लगाये जा सकते हैं:

१. उत्पादन ७ प्रति शत;

२. उत्पादन अवस्था में ही बिक्री ७+३=१० प्रति शत;

३. क्षेत्रीय वस्त्रागार १० प्रति शत; और

४. केन्द्रीय वस्त्रागार अथवा बिक्री भंडार १४ प्रति शत।

ऊ. उत्पादन केन्द्र अथवा क्षेत्रीय वस्त्रागार प्रस्तावित दर पर सहायता के लिए वैध बुनाई मजदूरी घटाने के बाद ही माल का बीजक तैयार करेंगे।

समिति का मत था कि पूरी बुनाई मजदूरी सहायता स्वरूप देने की योजना लागू करने के पूर्व तैयारी के लिए तीन महीने की अवधि आवश्यक होगी और नयी योजना लागू करने के दिन खादी के स्टाक का जो मूल्य हो उसमें २० प्रती शत अर्थात् अभी मिलनेवाली छूट की दर तक कमी कर देनी चाहिए। समिति का यह भी मत था कि वस्त्र स्वावलम्बन योजना के अन्तर्गत दी जानेवाली वर्तमान प्रबन्ध सहायता जारी रहेगी और अब कोई उत्पादन-सीमा नहीं रहेगी।

खादी की बिक्री पर अभी दी जानेवाली छूट के बदले सभी हाथ कते सूत की मुफ्त बुनाई सुविधाएँ देने के प्रस्ताव पर खादी और ग्रामोद्योग मण्डल ने, जोकि खादी और ग्रामोद्योग कमीशन को नीति-विषयक मामलों में सलाह देता है, कई बार विचार किया और इसे अपनाने का सुझाव दिया। तत्पश्चात् कमीशन ने भी खादी बिक्री पर दी जानेवाली छूट के बदले मुफ्त बुनाई पद्धति अपनाने के प्रस्ताव को सैद्धान्तिक रूप से स्वीकार कर लिया है और भारत सरकार से इसे स्वीकार करने के लिए सिफारिश की है। भारत सरकार और योजना आयोग ने वित्तीय खर्च और योजना की कार्यान्वय-पद्धति के विषय में कई बातों का स्पष्टीकरण मांगा। सभी तथ्यों पर विचार करने के बाद भारत सरकार ने खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की इस योजना को अप्रैल १९६४ से लागू करने के प्रस्ताव को सामान्यतः स्वीकार कर लिया है। यह नयी योजना देश भर में वर्तमान छूट पद्धति के बदले लागू होगी। उसके पूर्व ही खादी के संग्रहीत स्टाक और घटिया खादी की निकासी के लिए कदम उठाये जायेंगे।

अध्यक्ष श्री उछरंगराय न. ढेबर के नेतृत्व में कमीशन के सदस्यों ने नयी दिल्ली में २९ अक्तूबर १९६३ को प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू से भेंट की, जबकि केन्द्रीय वित्त मंत्री श्री टी. टी. कृष्णमाचारी, केन्द्रीय उद्योग मंत्री श्री नित्यानन्द कानूनगो और योजना आयोग के सदस्य (उद्योग) श्री त्रिभुवन नारायण सिंह भी उपस्थित थे। सभी हाथ कते सूत की मुफ्त बुनाई योजना लागू करने का प्रस्ताव सामान्यतः स्वीकार कर लिया गया। यह भी तय हुआ कि भारत सरकार मौजूदा स्टाक की निकासी की दृष्टि से जनवरी और मार्च १९६४ के बीच फिर से ३० दिनों के लिए खादी की बिक्री पर ५ प्रति शत अतिरिक्त छूट देगी।

इस नयी योजना के फलस्वरूप अतिरिक्त खर्च छूट और स्वावलम्बन योजनाओं के अन्तर्गत होनेवाले मौजूदा खर्च के चार प्रति शत से कम होगा। फिर, जहाँ कताई होती आ रही है वहीं बुनाई सुविधाएँ प्रदान करने से भाण्डारीकरण, परिवहन, बीमा आदि में होनेवाले खर्च में भी कुछ कमी होगी ही।

इस योजना में हानि से कहीं अधिक लाभ है। यह भय प्रकट किया गया है कि योजना के लागू होने से शहरों में खादी की बिक्री कम हो सकती है और इस प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगारी कार्यक्रम में व्यतिक्रम आ सकता है। तथापि, इस योजना में आन्दोलन में और उसके फलस्वरूप स्थिर होती जा रही ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में भी, नव प्राण फूंकने की क्षमता है।

प्रथम, यह उन ग्रामीण सूतकारों को जोकि कपास भी उगाते हैं, वस्तुतः बिना किसी मूल्य के कपड़े की पूर्ति सुनिश्चित करेगी। गाँव के बहुत-से लोगों के लिए जोकि पैसे की कमी के कारण कपड़ा खरीदना बहुत ही कठिन पाते हैं, यह योजना एक वरदान सिद्ध होगी।

द्वितीय, गाँवों के उन सूतकारों को जोकि कपास नहीं उगाते, यह बहुत ही मामूली कीमत पर, कोई सैंतीस नये पैसे प्रति वर्ग गज, कपड़े की पूर्ति सुनिश्चित

करेगी। इसका महत्व तभी समझा जा सकता है जबकि इस पर ग्रामीणों की जीवन स्थिति को ध्यान में रखते हुए विचार किया जाय। केन्द्रीय योजना मंत्री द्वारा हाल में दिये गये एक वक्तव्य के अनुसार ७० प्रति शत ग्रामीण नित्य ५० नये पैसे से भी कम खर्च कर सकते हैं। इसे यों भी कहा जा सकता है कि हमारे देश के २५ करोड़ १९ लाख लोगों की शक्ति नित्य ५० नये पैसे खर्च करने की भी नहीं है। यदि इस नयी योजना के जरिये लोग मुफ्त अथवा ३७ नये पैसे प्रति वर्ग गज की मामूली कीमत पर कपड़ा प्राप्त कर सकते हैं, तो इसे नगण्य लाभ कह कर समाप्त नहीं किया जा सकता।

निस्सन्देह अधिकाधिक ग्रामीण कताई की ओर आकर्षित होंगे; क्योंकि इससे वे सिर्फ अपने परिश्रम की कीमत पर अपना वस्त्र प्राप्त कर लेंगे।

तृतीय, जो ग्रामीण सूत नहीं कातते उन्हें बहुत कम कीमत पर वस्त्र प्राप्त होगा, जोकि अभी के मुकाबले मिल वस्त्र से काफी सस्ता होगा।

इस प्रकार इस नयी योजना के अन्तर्गत गाँवों में खादी बाजार के विस्तार की वास्तविक सम्भावना है और धीरे-धीरे खादी की खपत के लिए शहरी बाजारों पर निर्भरता भी बहुत कम की जा सकती है।

चतुर्थ, शहरी क्षेत्रों में ग्राहकों को उसी कीमत पर खादी मिलेगी, जिस पर अभी मिलती है। अतः इस नयी योजना के अपनाने के फलस्वरूप शहरी बाजार के कम होने का कोई भय नहीं है। बिक्री और रोजगारी पर इसके कुप्रभाव का जो डर है, वह अनुभव से निराधार सिद्ध हो जायगा।

इस नयी योजना को लागू करने में हिचकिचाहट का एक कारण यह भय भी था कि इसके लागू होने से खादी का स्टाक जमा हो जायगा, जिसे बाजार में बेचना कठिन होगा। अनुमान है कि अभी ५ करोड़ रुपये की खादी का स्टाक है। परन्तु जैसा कि छूट पुनरीक्षण समिति ने सुझाव दिया है कि यदि खादी की कीमत २० प्रति शत कम कर दी जाय तो उसका बाजार मूल्य भी उसी हद तक कम हो जायगा अर्थात् ग्राहकों को खादी उसी मूल्य में मिलेगी जिसमें आज मिल रही है। अतः सामान्यतः इस नयी योजना के लागू होने से खादी की बिक्री में कोई अतिरिक्त कठिनाई नहीं होनी चाहिए। इस पर भी, अब जनवरी और मार्च १९६४ के बीच खादी के वर्तमान स्टाक की बिक्री पर ३० दिन के लिए ५ प्रति शत अतिरिक्त छूट देने का निर्णय किया गया है। अभी जो खादी का स्टाक है उसे बेचने के लिए जितनी छूट देने की आवश्यकता होगी, उसे वहन करना भारत सरकार ने स्वीकार कर लिया है। यह खर्च वर्तमान योजना के लिए मिली निधि में से किया जायगा और इसमें कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

इस योजना को लागू करने के पूर्व इस पर २५ दिसम्बर १९६३ को रायपुर में होनेवाले खादी कार्यकर्त्ता सम्मेलन में पुनः विचार किया जायगा। इस योजना के कार्यान्वय हेतु पहले एक उपयुक्त संगठन तैयार करना आवश्यक होगा, जिसके अन्तर्गत गाँवों में बुनाई सुविधाएँ उपलब्ध की जायेंगी। अभी जितने गाँवों में खादी का काम चलता है, उनमें से कुछ में ही बुनाई-व्यवस्था है। समस्त देश में बिखरे गाँवों के लिए बुनाई-व्यवस्था करना निश्चय ही एक बहुत कठिन काम है और खादी संस्थाओं, राज्य मण्डलों तथा कमीशन के बीच पूर्ण सहयोग होने से ही सफलता मिल सकती है। इस सम्बन्ध में जन-मानस शिक्षित करने के लिए अखिल भारतीय नेताओं की सहायता प्राप्त की जायगी।

नयी योजना की सफलता के लिए यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण है कि खादी कार्यकर्त्ता इस नयी योजना को स्वयम् अच्छी तरह समझें और लोगों को अच्छी तरह समझायें। शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों के ग्राहकों को यह समझना चाहिए कि इस नयी योजना से उन्हें कोई नुकसान नहीं होता; और सच तो यह है कि ग्रामीण ग्राहकों को विशिष्ट रूप से इसका लाभ होगा तथा शहरी ग्राहकों को भी अधिक कीमत नहीं देनी होगी।

बम्बई : ३० अक्तूबर १९६३

ग्राम और लघु उद्योगों के लिए संगठन

ललित कुमार मिश्र

ग्राम और लघु उद्योगों का जीवित रहना अन्य बातों के साथ-साथ उत्पादन बढ़ाने तथा उसकी बिक्री के लिए नये बाजारों की खोज करने हेतु एक उपयुक्त संगठनात्मक आधार निर्मित करने पर निर्भर करता है। संगठनात्मक समस्याओं के समाधान की दिशा में सहकारी समितियाँ बहुत सहायक सिद्ध हो सकती हैं।

कुटीर और लघु उद्योग जिस चट्टान से अधिकांशतः लुढ़क जाते हैं वह है संगठन, विशेष कर बिक्री और संस्थात्मक संगठन-रूपी चट्टान। निस्सन्देह इन दोनों दिशाओं में कुछ सुधार हुआ है, किन्तु आशातीत रूप से नहीं। अतएव न केवल भारत में वरन् विदेशों में भी उपयुक्त बिक्री सर्वेक्षणों का संगठन करने की ओर ध्यान देना पड़ेगा। ऐसी सहकारी संस्थाओं के द्रुत विकास से जिनका प्रबन्ध व्यावसायिक पद्धति के अनुसार हो, उत्पादन-साधनों का बेहतरीन उपयोग होगा और बिक्री को बढ़ावा मिलेगा। इसके साथ ही यह भी देखना पड़ेगा कि बिक्री को प्रोत्साहन देने पर होनेवाले खर्च सहित व्यवस्था-खर्च भी अधिक न हो।

लघु स्तरीय उद्योगों का जिन्दा रहना इस बात पर निर्भर है कि उत्पादक के चारों ओर बड़े पैमाने पर चलनेवाले बाजारों यानी बिक्री केन्द्रों का सुसंगठन हो तथा जिन प्राविधिक अवस्थाओं के अन्तर्गत उसे काम करना पड़ता है वे उपयुक्त हों। जहाँ माँगवाली सामग्री कारखाना उत्पादनों के समान—जैसे खादी और मिल वस्त्र—नहीं होगी वहाँ वह लाभदायक स्थिति में होगी। राष्ट्रीय आय में बढ़ोतरी होने के साथ कुटीरोद्योगी उत्पादनों के लिए माँग बढ़नी ही चाहिए। इस दायरे में छोटे उत्पादकों को नये-नये उत्पादन तैयार और बाजार विस्तृत करना ही चाहिए। इस प्रकार कुटीरोद्योगों की दलील प्राविधिक प्रगति के लिए सामान्य तर्क का ही एक अंग है। यदि उत्पादकता माँग से तेज गति से साथ बढ़ती है तो बेकारी आयेगी, किन्तु यदि माँग उत्पादकता से तेज रफ्तार के साथ बढ़ती है तो या तो स्फीति पैदा होगी या फिर उत्पादन-विस्तार के जरिये रोजगारी बढ़ेगी।[1] इस प्रकार किसी भी उद्योग में—फिर चाहे वह कुटीर उद्योग हो अथवा कारखाना उद्योग—उत्पादकता बढ़ाने के प्रयत्न के साथ ही साथ उत्पादित माल के लिए मांग बढ़ाने की कोशिश भी की जानी चाहिए।

कुटीर और लघु उद्योगों के मामले में लागत मूल्य सम्बन्धों में प्रारम्भिक अवस्था में बिक्री अथवा संगठन पर हुए खर्च या विभिन्न अखिल भारतीय संगठनों के दीर्घ स्तर पर चलनेवाले बिक्री भवनों और कार्यालयों का खर्च पूँजी-उत्पादन-अनुपात की गणना करने में शामिल नहीं किया जाना चाहिए। प्रारम्भ में बिक्री मूल्य में ये बातें शामिल की जानी चाहिए: कच्ची सामग्री का मूल्य, पारिश्रमिक और व्यावहारिक खर्च तथा पूंजी; लेकिन उसमें सड़क, पानी आदि जैसा सामाजिक व्यय, प्रशिक्षण अथवा पूंजी निर्माण पर हुआ व्यय शामिल नहीं किया जाना चाहिए।

छूट व आर्थिक सहायता

ग्रामोद्योगों के मामले में बिक्री पर दी जानेवाली छूट का यह जानने के लिए परिपूर्ण मूल्यांकन किया जाना चाहिए कि यह संगठन अथवा कार्यालय और बिक्री

१. डब्ल्यू. ए. लुईस : थियरी ऑफ इकनॉमिक ग्रोथ; पृष्ठ : १४१।

व्यवस्था-खर्च पूरा करने के लिए है अथवा वास्तव में उत्पादन में घाटा दर्शाता है। (इसी से इस बात का पता चलता है कि कुटीरोद्योगी उत्पादनों का 'पड़ता' भी यदि ज्यादा नहीं तो उतना ही जटिल है जितना कि कारखाना उद्योगों का।) यदि यह प्रथम कार्य के लिए हो, तो बिक्री छूट (रिबेट) के स्थान पर संगठन अथवा प्रबन्ध सहायता या अनुदान प्रतिष्ठापित किया जा सकता है और यदि अन्तिम के लिए हो तो इसकी ऐवज में अस्थायी काल के लिए उत्पादन सहायता अपनायी जा सकती है। भारत में नव स्थापित इस्पात के कारखानों तक के मामले में इस्पात उत्पादनों की 'बरकरार कीमतों' के रूप में इस प्रकार की सहायता आवश्यक है। फिर भी, चूंकि मिल और कुटीर उद्योगों की लागतों में बहुत अन्तर है तथा कुटीरोद्योगों के उत्पादन अनेकों प्रकार के हैं, इसलिए कुटीर उद्योगों के लिए इस प्रकार की 'बरकरारी कीमत', का दावा नहीं किया जा सकता। तथापि, सैद्धान्तिक तौर पर 'बरकरारी कीमत' तथा आन्तरिक सहायता के मध्य अन्तर है–प्रथम के मामले में जब तक लागत बहुत कम न ले आयी जाय प्रभाव यह होगा कि मूल्य-वृद्धि होगी, द्वितीय के सम्बन्ध में यह कि कीमत या तो वैसी ही रहेगी अथवा कम होगी।

उत्पादन और बिक्री

सभी मामलों में उत्पादन कार्यक्रम माँग की प्रकृति के अनुसार ढालना है। हस्त और कारखाना उद्योगों के मध्य संयुक्त उत्पादन कार्यक्रम निश्चय ही इस बात से सम्बद्ध है कि मांग कितनी और किस प्रकार की है। इसमें न केवल उद्योग के लघु और दीर्घ स्तरीय विभागों के लिए विभिन्न उत्पादन लक्ष्यांक निर्धारित करना बल्कि प्रत्येक के लिए उस का आरक्षण भी शामिल है तथा दोनों के मध्य सह-उत्पादन का प्राविधिक समंजन भी। फिर भी, सभी मामलों में उत्पादन मांग के प्रकार या उत्पादन की विक्रयशीलता पर निर्भर करता है। खादी-ग्रामोद्योगों के कुछ बिक्री आंकड़े[२] तालिका १ और २ में दिये जाते हैं।

२. खादी और ग्रामोद्योग कमीशन : अॅन्युअल रिपोर्ट १९६०–६१; भूमिका के पृष्ठ १६ से १८।

तालिका १

खादी का उत्पादन और बिक्री

(लाख रुपये में)

वर्ष	उत्पादन	बिक्री
१९५६–५७	८२२.५२	६२३.५०
१९५७–५८	१,१४८.३९	८२९.८५
१९५८–५९	१,३७५.७२	८६१.१०
१९५९–६०	१,४१४.४६	१,०६०.४५
१९६०–६१	१,४२३.४९	१,४०७.२५

टिप्पणी : भार रूपी अतिरिक्त उत्पादन-काल समाप्त हुआ कहा जा सकता है।

खादी की बिक्री सदैव ही एक समस्या रही है। सघन बिक्री अभियान चलाने के फलस्वरूप वार्षिक बिक्री हाल ही में सुधरी है, किन्तु इस वृद्धि के बावजूद १९५९–६० के दौरान खादी का स्टॉक इकट्ठा हुआ और १९६०–६१ में उत्पादन प्रायः स्थिर रहते हुए बिक्री उसके समान हो सकती थी। तालिका २ (अगले पृष्ठ पर) में प्रस्तुत १९५९–६०, १९६०–६१, और १९६१–६२ के दरमियान हुई बिक्री के आंकड़ों से यह देखा जा सकता है कि खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अन्तर्गत आनेवाले अन्य ग्रामोद्योगों की बिक्री में पर्याप्त सुधार हुआ है, यद्यपि बिक्री सदैव ही उत्पादन वृद्धि के साथ नहीं बढ़ सकी।

हाथ करघा, दस्तकारी और रेशमी उत्पादनों की बिक्री उत्पादन के समरूप रही है तथा यूरोपीय एवम् अमेरिकी देशों को इन उत्पादनों का अच्छा खासा निर्यात किया गया है। यही बात लघु स्तरीय उद्योगों पर लागू होती है। इन उत्पादनों के लिए विदेशी बाजार ढूंढे जा रहे हैं और धीरे-धीरे सफलता मिल रही है। अखिल भारत दस्तकारी विकास निगम, हाथ करघा विकास निगम और लघु स्तरीय उद्योग विकास आयुक्त (भारत सरकार) विदेशी बाजारों का विकास करने हेतु

तालिका २
ग्रामोद्योगों का उत्पादन और बिक्री

उद्योग	१९५९–६०		१९६०–६१		१९६१–६२	
	उत्पादन	बिक्री	उत्पादन	बिक्री	उत्पादन	बिक्री
अनाज तथा दाल प्रशोधन (लाख मन में)	१३.९४	७.११	२२.७४	११.०१	२६.३३	१३.३१
ग्रामीण तेल (लाख मन में)	१३.३०	११.३९	१५.९६	१४.१४	१६.७०	१६.२४
ग्रामीण चर्म (लाख रुपये में)	२६.६२	२२.६९	३५.५०	२८.१६	८६.९५	९५.८८
अखाद्य तेल से साबुन (लाख पौण्ड में)	५५.१७	४७.१०	५६.५७	५०.००	५८.५५	५५.५२
हाथ कागज (लाख रुपये में)	२३.५८	२२.४०	२४.२३	२०.६७	२३.९९	२०.९६
ग्रामीण कुम्हारी (लाख रुपये में)	१७.५७	१४.५६	३१.९२	२८.१२	४९.०८	४२.२४
रेशा (लाख रुपये में)	१.५५	१.१०	६.५६	५.९८	१४.१८	११.८०

अधिकाधिक कदम उठा रहे हैं। यह उल्लेखनीय है कि खादी की भी विदेशों में माँग है। अत्यधिक सम्भाव्यता से परिपूर्ण स्पष्ट रूपेण उपेक्षित बाजार है: गाँवों में ३६ करोड़ व्यक्ति और शहरों में रहनेवाली ८ करोड़ आबादी। यह संसार में एक सबसे बड़ा बाजार है, जिसका यूरोपीय साझा बाजार के समान लाभ उठाया जा सकता है।

उत्पादन को, जैसा कि फोर्ड फाउण्डेशन दल[३] ने कहा है, बाजार की निहित अथवा अनुभूत आवश्यकताओं के अनुसार ढाला जाना चाहिए। निहित माँग अनुभूत मांग में बदलनी ही चाहिए। इसी प्रकार उपभोक्ता आवश्यकताओं को मौजूदा अथवा भावी उद्योगों से सम्बद्ध करना है। इस प्रकार नया बाजार विकसित करना होगा। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, यह नया बाजार हमारे गाँवों तथा शहरों दोनों में ही और विदेशों में भी मौजूद है। अंशतः वस्तु विनिमय और अंशतः मुद्रा-विनिमय पर आधारित ग्रामीण बाजार ग्रामीणों–जिनकी नकद आय धीरे-धीरे बढ़ रही है–की आवश्यकता के संबंध में आज स्वावलंबी नहीं है। गुणक तथा गतिवर्द्धक सिद्धान्तों के व्यवहार के जरिये आर्थिक विकास को और आगे बढ़ावा देने के लिए ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में परिवर्तन का यह पहलू पर्याप्त है। स्वतः प्रेरित निवेश का ग्रामीण आय तथा उपभोग पर गुणक प्रभाव पड़ेगा, और उपभोग के जरिये अभिप्रेरित निवेश से वांछित फल-प्राप्ति हो सकती है। चूंकि गुजर-बसर भर करनेवाले वर्तमान निम्न स्तर में उपभोग नियंत्रित करना कठिन है, अतएव गति-वर्द्धक सिद्धान्त कुछ समय के लिए न भी चल सकता है। तथापि इससे न केवल परम्परागत पद्धति से वरन् नवीन तौर-तरीकों से भी विभिन्न वस्तुओं का अधिक उत्पादन करके उपभोग स्तर ऊँचा उठाने की आवश्यकता का इंगित मिलता है।

बाजार की भूमिका

माँग को मूल्य निरपेक्ष बनाने के लिए इन उद्योगों को चाहिए कि वे नयी-नयी उपयोगिता की चीजें–न केवल घरेलू बाजार में बल्कि विदेशी बाजार में भी जिनकी माँग व जरूरत आज भी बहुत ही तेजी के साथ बदल रही हैं–पेश करें। उन्हें सभी बाजारों की माँग के साथ चलाना चाहिए। यह काम फोर्ड फाउण्डेशन दल ने जिसे स्वायत्त उपभोक्ता सेवा निगम कहा है[४] उसके जरिए किया जा सकता है। इस प्रकार भारतीय दस्तकारियाँ व लघु उद्योग आज जितना उत्पादन करते हैं उससे ज्यादा उत्पादन और भारत व अन्य देशों में जितनी बिक्री

३. रिपोर्ट ऑन स्मॉल इण्डस्ट्रीज इन इण्डिया, १९५४; अध्याय: २, ४ और ७।

४. वही, पृष्ठ: ३१–३३।

करते हैं उससे कहीं अधिक बिक्री कर सकते हैं। ज्यों ही उत्पादन तथा पूर्ति की आधुनिक आवश्यकताएँ पूर्ण होती हैं, इस तरह के अतिरिक्त व्यवसाय के लिए विदेशी बाजार उपलब्ध होंगे।[५] ग्रामीण कारीगरों तथा छोटे-छोटे उद्योगपतियों को सदैव ही यह ध्यान में रखना चाहिए कि औद्योगीकरण की अन्तिम सफलता उपभोक्ता के हाथ में है। उत्पादन और उपभोग के मध्य सम्बन्ध स्थापित करनेवाली कड़ी है बिक्री-व्यवस्था तथा वितरण। अतएव इनका पूर्ण ध्यान रखा ही जाना चाहिए। डिजाइन और नमूने इस प्रकार निदर्शित होने चाहिए कि दस्तकारियाँ कारखानों में तैयार माल जैसी सामग्री ही न बनायें। उदाहरणार्थ, जब हाथ कता सूत वेचा नहीं जा सके तो उसका बनियान, मौजा आदि बनाने में इस्तेमाल किया जा सकता है। इसी प्रकार धोती और साड़ियों के उत्पादन पर जोर देने के स्थान पर हाथ कता सूत रंग कर उसके पलंगपोश, मेजपोश, पर्दे आदि बनाये जा सकते हैं अथवा उसकी छापिल साड़ियाँ भी बनायी जा सकती हैं। किसी भी वक्त जिन सीमित चीजों की बाजार में माँग हो सकती हो उसके मुताबिक वे चीजें बनानी चाहिए और समय के साथ उत्पादन खर्च घटाने तथा उपयोगिता की वस्तुओं का उत्पादन करने के उद्देश्य से अन्य उपाय काम में लाने चाहिए।

कुटीर और लघु उद्योगों की निर्यात संम्बन्धी सम्भाव्यताओं के सम्बन्ध में एक अन्य बात यह ध्यान में रखनी चाहिए कि पश्चिम के बहुत ही विकसित देश अब बुनियादी सामग्री के उत्पादन में विशेषता प्राप्त कर रहे हैं तथा हल्की उपभोक्ता सामग्री के उत्पादन में उन्हें कम रुचि है, इसलिए अपने स्वयम् के कारखानों में ये सामान तैयार करने में अपनी ऊर्जा खपाने की अपेक्षा वे नव विकासोन्मुख देशों द्वारा उत्पादित इस प्रकार की अच्छे गुण-स्तरवाली उपयोगी सामग्री आयात करेंगे। जैसा कि अभी हाल ही में संयुक्त राज्य अमेरिका को निर्यात की गयी चीनी के मामले में हुआ है, विदेशी विनिमय अर्जित करने के लिए दस्तकारी उत्पादनों का निर्यात सम्बन्धी एक और भी पहलू है कि उन्हें आर्थिक सहायता दे कर उनका मूल्य कम किया जाय। इन उत्पादनों के निर्यात में मानकीकरण तथा गुण नियंत्रण से बहुत आसानी होगी। एक अच्छे गुण-स्तर की बढ़िया टोकरी बुननेवाले उत्तरी बिहार के बुनकर के "बम्बई, नयी दिल्ली, स्टॉकहाम तथा न्यूयार्क के गुण-दोष-विद परिवारों तक में ग्राहक हो सकते है।"[६] कभी-कभी वांस और बेंत की चीजों का, निषेधात्मक भाड़े से बचने के लिए असमवेत रूप में निर्यात किया जाना चाहिए, और ऐसा करने पर वे निर्यात बाजार में अपेक्षाकृत सस्ती होंगी। उदाहरण के लिए त्रिपुरा से भेजी जानेवाली बेंत और बांस की कुर्सियाँ, मुड्ढे आदि वहाँ से अन्तिम उत्पादन के रूप में कलकत्ता हवाई जहाज से लाये जाते हैं; उन्हें कलकत्ता के समीप छोटे कारखानों में सस्ते दामों पर तैयार करवाया जा सकता है।

सहकारों की भूमिका

खादी और ग्रामोद्योगों का संगठन सामान्यत: सामाजिक संस्थाएँ, प्रन्यास, सहकारी समितियाँ तथा चन्द सरकारी अभिकरण करते हैं। प्रत्येक उद्योग में अपने खुद के काम में लगे अनेक स्वतंत्र कारीगर भी हैं। हाथ करघा, दस्तकारी और रेशम उद्योगों की सहकारी समितियों की स्थापना बड़ी वेग पूर्ण गति से हो रही है। यंत्र उद्योग में औद्योगिक सहकारिताएँ स्थापित करना एक नया प्रयास अथवा कदम है और अभी तक इस सम्बन्ध में कोई विशेष उल्लेखनीय प्रगति नहीं हुई है। चूँकि औद्योगिक सहकारी समितियों की प्रगति बहुत सीमित है, इसलिए विधिविहित संगठनों के लिए अपनी सभी जिम्मेदारियाँ इन संस्थाओं को सौंप देना तथा उन्हें अकेली छोड़ देना वड़ा जोखिम का काम होगा।

५. वही, पृष्ठ : २७।

६. खादी और ग्रामोद्योग कमीशन : रिपोर्ट ऑफ दि सर्वे कमेटी ऑन मणिपुर एण्ड त्रिपुरा; पृष्ठ : ७३।

खादी[७] क्षेत्र की संस्थात्मक प्रगति नीचे तालिका ३ में दी जाती है।

तालिका ३
खादी में संस्थात्मक प्रगति

वर्ष	राज्य मण्डल	पंजीकृत संस्थाएँ	सहकारी समितियाँ	योग	उत्पादन केन्द्र	बिक्री केन्द्र
१९५६–५७	—	—	१६६	४४५	७५९	—
१९५७–५८	—	—	२३६	५५५	१,७५२	—
१९५८–५९	—	—	३०४	६९६	२,४७९	—
१९५९–६०	१२	४३७	३१९	७६८	३,६१८	—
१९६०–६१	१३	७२०	४१९	१,१५२	३,९३९	३,२४४

यद्यपि संस्थात्मक आधार मजबूत बनाया जा चुका है, तथापि किसी भी उल्लेखनीय स्तर पर सहकारी आधार पर खादी कार्य करनेवाली सहकारी समितियों की संख्या कोई विशेष अधिक नहीं। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अन्तर्गत आनेवाले अन्य ग्रामोद्योगों के क्षेत्र में सहकारी समितियों की संख्या १९५८-५९ में २,१८० थी, जो १९५९-६० में बढ़ कर २,४९८ हुई, किन्तु १९६०-६१ में घट कर २,२६३ हो गयी।

इससे प्रकट होता है कि जहाँ तक ग्रामोद्योगों का सम्बन्ध है १९६०-६१ में इनके सहकारीकरण में कुछ गिरावट आयी है। द्वितीय पंच वर्षिय योजना के अन्त में ९,२९७ सहकारिताएँ और १,२४३ पंजीकृत संस्थाएँ थीं। खादी और ग्रामोद्योगों की ३१ मार्च १९६१ को सहकारी समितियों की संख्या प्रदर्शित करनेवाले एक विवरण के अनुसार स्थिति इस प्रकार थी : खादी : ८५५; ग्रामीण तेल : ३,५९३; ताड़-गुड़ : २,९०९; चर्म : १,५८२; हाथ कागज : १,७८९; कुम्हारी : ६०९; मधुमक्खी-पालन : ४११; साबुन : ३०७ आदि। इस प्रकार कुल संख्या १२,२०१ थी। इन उद्योगों का सहकारीकरण ग्राम सेवा सहकार, बहुद्देशीय सहकार, कारीगरों की अलग सहकारी समिति, सहायक सहकारी समिति अथवा कुछ गाँवों के समूह के लिए सह-भागीदारी सहकारी समिति में से कोई भी रूप ले सकता है। संगठनात्मक एकता हासिल करने के लिए कारीगरों को प्राथमिक या सह-भागीदारी समितियाँ बनानी चाहिए।[८] फोर्ड फाउण्डेशन दल[९] का भी यह मत था कि उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं के लिए सहकारिताएँ सेवा अभिकरणों के रूप में सफल होती हैं। सहकारी मिल्कियत के अन्तर्गत औद्योगिक संयंत्रों के रूप में ये सहकारिताएँ स्कैण्डीनेवियायी देशों में ऐसा करने में सफल रही हैं। और फिर, यदि छोटे उत्पादकों को अपने स्थानीय बाजार के बाहर प्रतिस्पर्धा करनी है तो एक किस्म के सेवा सहकार के रूप में बिक्री सहकारी समितियाँ कभी-कभी एक आवश्यकता बन जाती हैं। सदस्यों की तरफ से ये एक मात्र बिक्री अभिकर्ताओं के रूप में काम करेंगी।

संयुक्त समिति

खादी सहकारी समिति कताई से बुनाई तक की सभी प्रक्रियाओं के लिए उपयुक्त व्यवस्था होने पर ही अर्थात्

७. खादी और ग्रामोद्योग कमीशन : अॅन्यूअल रिपोर्ट; १९६०–६१।

८. उक्त उद्धृत; पृष्ठ : १९७।

९. उक्त उद्धृत; पृष्ठ : ४८–५४।

वह संयुक्त सहकारी समिति[१०] के रूप में ही सफल हो सकती है। औद्योगिक सहकारों पर कार्यकारी दल ने उत्पादन सहकार और सेवा सहकार के बीच भेद किया था। उसके अनुसार सेवा सहकार का ताल्लुक कच्ची सामग्री तथा तैयार माल की खरीद व वितरण से है। यह विभेद सही लगता है।

लघु स्तरीय उद्योगों पर कार्यकारी दल के मुताबिक चन्द अपवादों को छोड़ कर द्वितीय योजना काल में औद्योगिक सहकारों ने कोई विशेष प्रगति नहीं की है, जबकि हाथ करघा पर कार्यकारी दल के अनुसार हाथ करघों को सहकारी दायरे में लाने और सहकारी समितियों द्वारा प्राप्त सफलता के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति (१९५६-१९५९ के दौरान करीब १०,००० सहकारी समितियों ने १६ करोड़ ६८ लाख रुपये खर्च किये) हुई है। दस्तारियों पर कार्यकारी दल के अनुसार दस्तकारियाँ किसी बड़े पैमाने पर सहकारिताओं के अन्तर्गत नहीं लायी गयी हैं और न ही जो गठित हुई हैं उन्होंने कोई विशेष उल्लेखनीय कार्य किया है।

रेशम तथा रेशा उद्योगों में सहकारी समितियों के संगठन के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी उपलब्ध नहीं है। तथापि, इस बात का पर्याप्त संकेत मिलता है कि इस दिशा में कोई खास पहल नहीं हुई है सिवाय हाथ करघा क्षेत्र तथा खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अन्तर्गत आनेवाले कुछ ग्रामोद्योगों के।

इस प्रकार इन उद्योगों का संगठनात्मक पक्ष अब भी सबसे कमजोर कड़ी बना हुआ है। और फिर, यह अपेक्षा भी नहीं की जाती है कि सरकार अथवा विधिविहित संगठन काफी लम्बे समय तक रोजमर्रा का काम चलायेंगे या नये काम शुरू करेंगे अथवा सहायता करते जायेंगे। अब वह समय है कि अधिकारीगण केवल आर्थिक खर्च की व्यवस्था तथा अनुसंधान, मार्गदर्शन, नीति आदि के लिए संगठन व्यवस्था करने पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करें, लेकिन प्रबन्ध कार्य धीरे-धीरे करके स्थानीय सहकारी समितियों को सौंप दें। इस प्रकार सार्वजनिक उपक्रमों यानी विधिविहित संगठनों के कार्यों में ग्रामीण उद्योगों के समग्र अभिनवीकरण तथा यांत्रीकरण के फलस्वरूप उत्पन्न बेरोजगारी के सम्बन्ध में ग्रामीण निर्माण कार्यक्रम और इस तरह के ऊपरी काम शामिल होंगे जैसे ग्रामीण उद्योगपुरियों में प्रदान किये जाते हैं।

संगठन में समन्वय लाना विधिविहित संस्थाओं का दूसरा कार्य होना चाहिए। यद्यपि यह सुझाया जाता है कि कुछ ग्राम और लघु उद्योग जनता के समक्ष उनकी सम्भाव्यता प्रदर्शित करने हेतु सार्वजनिक उपक्रम के रूप में सरकार के प्रत्यक्ष नियंत्रण व देख-रेख में होने चाहिए तथापि किसी ऐसे दीर्घ स्तरीय और स्थायी प्रयास की परिकल्पना नहीं की जाती। जहाँ सार्वजनिक विभाग में नयी उत्पादन इकाइयाँ स्थापित करना आवश्यक है, वहाँ सार्वजनिक से निजी विभाग में परिवर्तन जल्दी किया जाना चाहिए। भारत के सामाजिक और आर्थिक स्वरूप के आधार के रूप में परिकल्पना यह की गयी है कि "सक्रिय उत्तरदायी, स्वतंत्र लघु उद्योगों का विकास और धीरे-धीरे अनेकानेक कारीगरों का आत्मनिर्भर छोटे-छोटे उद्योगपतियों के दर्जे तक पहुँच जाना।" इस विकास में साधारण आदमी रोज-ब-रोज सक्रिय रूप से भाग लेगा और लागत तथा मूल्य कम करते हुए सुधार अथवा अभिनवीकरण, जोकि एक विकासशील प्रक्रिया है, लायेगा। प्रत्येक मामले में, प्रत्येक उद्योग में उन्नत उपकरणों का समावेश अथवा अभिनवीकरण कुछ विशेषज्ञों को सदैव ही मुनासिब लग भी सकता है अथवा नहीं भी, परन्तु यदि ऐसा हो तो उसमें कोई रूकावट नहीं आनी चाहिए।

कलकत्ता : १ अगस्त १९६३

---

१०. रिपोर्ट ऑफ दि खादी इवैल्यूएशन कमेटी, १९६०; पृष्ठ: १२४–१३०।

नेपाल की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था

यादव प्रसाद पन्त

नेपाल में ९३ प्रति शत जनता के जीविकोपार्जन का आधार कृषि है। दो-तिहाई भूमि के मालिक बड़े जमींदार हैं। भूमि की जोताई-बोआई वहाँ पर छोटे-छोटे परिवारों के उद्योग के रूप में होती है। अतएव ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में सुधार लाने के लिए आयोजन करते वक्त सामाजिक, आर्थिक तथा प्राविधिक पहलुओं के समग्र चित्र को ध्यान में रखना पड़ेगा।

प्रायः स्वरूप की दृष्टि से आयताकार नेपाल का क्षेत्रफल ५४,०५४ वर्ग मील है। इसके उत्तर में चीन का तिब्बत प्रदेश और पश्चिम, दक्षिण तथा पूर्व में क्रमशः भारत के उत्तर प्रदेश, बिहार एवम् पश्चिम बंगाल राज्य हैं। देश को मोटे तौर पर तीन विशिष्ट क्षेत्रों में विभक्त किया जा सकता है: तराई प्रदेश, मध्यवर्ती क्षेत्र और उत्तरी क्षेत्र। तराई प्रदेश में तलहटी के मैदान और पहाड़ों का ढलवाँ जंगल-प्रधान क्षेत्र आता है; इन पहाड़ी ढालों की ऊँचाई करीब ४,००० फुट तक है; तराई का क्षेत्रफल करीब ८,००० वर्ग मील है, जो समूचे देश के क्षेत्रफल का लगभग एक-सप्तांश है। मध्यवर्ती क्षेत्र में पर्वत ही पर्वत हैं, जिनकी ऊँचाई ४,००० से १०,००० फुट तक है। उत्तरी क्षेत्र में मुख्य हिमालय है, जिसकी ऊँचाई १०,००० से २९,००० फुट तक है। एवरेस्ट सहित हिमालय के प्रसिद्ध शिखर इसी क्षेत्र में आते हैं। जलवायु में बहुत अन्तर है। तराई प्रदेश की जलवायु उष्ण कटिबन्धीय है। तापमान जनवरी में ४०° फर्नहाइट और जून में १०५° फर्नहाइट तक रहता है। पर्वतीय प्रदेशों की जलवायु पर्वतीय तथा सम-शीतोष्ण है। वहाँ तापमान क्रमशः ३८° फर्नहाइट और ८०° फर्नहाइट से नीचे है। देश की आबादी करीब ९० लाख और प्रति वर्ग मील आबादी घनत्व १६६ है। पश्चिमी भाग की अपेक्षा पूर्वी भाग अधिक घना बसा हुआ है। अनुमान लगाया जाता है कि आबादी १.६ प्रति शत वार्षिक की दर से बढ़ रही है। सन् १९७० तक वृद्धि दर करीब दो प्रति शत हो जाने की सम्भावना है।

प्रस्तुत लेख में व्यक्त विचार परिपूर्णतः व्यक्तिगत हैं।

कृषि मुख्य आधार

जीविकोपार्जन के लिए ९३ प्रति शत जनता का आलम्बन कृषि है। करीब २ प्रति शत आबादी अन्य उत्पादन-कार्यों में लगी है। कृषि योग्य समग्र भूमि ३ करोड़ ६० लाख एकड़ है, किन्तु फिलहाल इसके केवल दो-सप्तांश पर ही खेती होती है। शेष भूमि बर्फीली, जंगली और बंजर है। जितने क्षेत्र पर खेती होती है, उसका औसत प्रातिशत्य-वितरण मुख्य-मुख्य फसलों के अन्तर्गत क्रमशः इस प्रकार है: धान—५५.७, मक्का और अन्य मोटे अनाज—२४.७, गेहूं—६.५, आलू—४.९, तिलहन—३.४, तम्बाकू—२.४, जूट—०.८ और अन्य १.६। गेहूँ, आलू, तिलहन और तम्बाकू के अन्तर्गत भूमि सामान्य दोहरी फसलवाली है।

पेशेवर स्वरूप

यद्यपि नेपाली जीवन और अर्थ-व्यवस्था में ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था एक बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है, तथापि उसकी क्षमता सम्भवतः संसार में निम्नतम है। पहाड़ी तथा तराई दोनों ही क्षेत्रों में कृषक खेती-बाड़ी का काम सदियों से पुराने तौर-तरीकों के अनुसार करते आ रहे हैं, जोकि रूढ़िबद्ध

सामाजिक संगठन से जुड़े हुए हैं। तराई के अधिकांश पश्चिमी भागों को छोड़ कर खेती छोटे-छोटे परिवारों के उद्योग के रूप में होती है। और, चूँकि करीब दो-तिहाई भूमि के मालिक बड़े-बड़े जमींदार हैं, इसलिए अधिकांश कृषक सिकमी काश्तकार हैं। स्पष्टतः जहाँ पारम्परिक तौर-तरीकों से कृषि उत्पादन वृद्धि के लिए बहुत कम गुंजाइश है, वहाँ छोटे-छोटे खेतों पर कृषि करनेवाले कृषक के लिए वैज्ञानिक तौर-तरीके लागू करना भी, असाधारण रूप से कठिन सिद्ध हुआ है। यद्यपि देश के कुछ भागों में गन्ने और जूट जैसी व्यावसायिक फसलों का धीरे-धीरे समावेश किया जा रहा है, जिससे कम से कम कुछ कृषकों ने अपने उत्पादन का कुछ हिस्सा बेचना प्रारम्भ किया है तथापि, देश की अधिकांश फसलें खाद्यान्नों की हैं और प्रायः गुजर-बसर के लिए पैदा की जाती हैं। इस प्रकार की व्यावसायिक फसलों का क्षेत्र जितनी भूमि पर खेती होती है, उसका एक प्रति शत भी नहीं है। साधारण तौर पर जिन उपकरणों का कृषि में व्यवहार होता है, वे अब भी बहुत पुराने हैं; हाल ही में हुए कुछ काम के फलस्वरूप चन्द क्षेत्रों में कुछ परिवर्तनों के साथ जो पशु-अभिजनन होता है वह बहुत ही विवेकशून्य ढंग से होता है; और देश की भूमि सम्बन्धी समस्याओं के समग्र चित्र को दृष्टिगत रखते हुए मूल्यांकन करने पर पता चलता है कि श्रम की बचत करने के लिए कोई सामान्य प्रयास नहीं होता या फिर बहुत ही कम होता है।

बहु-विध समस्याएँ

देश की कृषि सम्बन्धी समस्याएँ वस्तुतः अनेक प्रकार की हैं। चूंकि देश के लिए कृषि विकास का बहुत बड़ा महत्व है, इसलिए इस समस्या पर कृषि की प्रगति में बाधा स्वरूप आनेवाले सभी सामाजिक, आर्थिक और प्राविधिक पहलुओं को परिपूर्ण रूपेण ध्यान में रखते हुए व्यापक दृष्टि से विचार किया जाना चाहिए। वस्तुतः प्रथम पंच वर्षीय योजना में कृषि और ग्राम विकास कार्यक्रम पर्याप्त प्रभावोत्पादक लगते हैं। जैसा हम समझते हैं. योजना में मौजूदा उत्पादन और उपलब्ध कृषिक साधन-स्रोतों के मूल्यांकन का महत्व समझाने का प्रयास किया गया है। भूतकालीन अनुभव से पता चलता है कि देश कृषिक श्रम-साधनों की बढ़ती हुई पूर्ति के बावजूद कृषि उत्पादन की कमी से पीड़ित है। कृषि की दृष्टि से यदि देश साधारणतया अनाज के सम्बन्ध में आत्म-निर्भर है तो भी समय-समय पर उसकी कमी आती है और उत्पादकता काफी कम है। इसके बहुत-कुछ हद तक कारण ये हैं : सूखा, अपर्याप्त परिवहन-व्यवस्था तथा यह तथ्य कि अधिकांश कृषि उत्पादन की खेतों में ही खपत हो जाती है और इसलिए बेचा नहीं जाता। अन्य बातों के अतिरिक्त कृषि समस्या के समाधान की कुंजी कृषिक प्रविधि में परिवर्तन करने में निहित है।

कृषिक सुधार

ऐसे खेत जोकि कृषक परिवार का गुजारा चलाने के लिए बहुत छोटे हैं, अधिकांशतः घने बसे पर्वतीय प्रदेश में हैं। सघन आबादी युक्त ऐसे क्षेत्र में कृष्य भूमि के विस्तार की अपेक्षा प्रति एकड़ अधिक उपज प्राप्त करना अधिक आसान और मूल्यवान है। और फिर, देश की भौगोलिक बनावट को देखते हुए तराई प्रदेश को छोड़ कर उत्पादकता की दृष्टि से विशाल यंत्र-प्रधान कृषि इकाइयाँ उपयुक्त नहीं हैं। पारिवारिक उपक्रम में सभी सदस्यों को रोजगारी मिल जाती है और इसलिए आत्मनिर्भर फार्मों को तरजीह देनी है। चूंकि तराई प्रदेश में अनिश्चित जल-पूर्ति के कारण अनिश्चित फसल-प्राप्ति को प्रश्रय मिलता है, अतएव सामान्यतः कृषि के विशेष तौर-तरीकों (बागनी खेती), दीर्घ यांत्रिक उपक्रम बल्कि यह कहें कि बागवानी जैसी रोपाई पद्धति को कुछ विशेष लाभ प्राप्त हो सकते हैं।

सरकार ने १९५६ में प्रथम पंच वर्षीय योजना प्रारम्भ करने से भी करीब दो दशक पहले कृषि में

सुधार करने के लिए कृषि आयोग की स्थापना के जरिये एक योजना बनायी थी। उन्नत बीजों का वितरण करने के उद्देश्य से तराई प्रदेश में १९५१ तक दो फार्म—एक काठमाण्डू में और दूसरा परबनीपुर में—स्थापित किये जा चुके थे। तथापि, देश की कृषि का चतुर्दिक विकास करने की दृष्टि से १९५१ के बाद ही कृषि फार्म, पशु नस्ल सुधार केन्द्र और मुर्गी-पालन केन्द्र खोले गये। सन् १९५६ में प्रथम पंच वर्षीय योजना प्रारम्भ हुई, जो जून १९६१ में पूरी हो गयी। योजना में कृषि विकास तथा ग्राम विकास, सहकारी समितियों, भूकर सर्वेक्षण और भूमि सुधार जैसे सम्बद्ध विषय शामिल हैं। इनमें से कुछ के संबंध में बड़े उत्साहप्रद समाचार मिले हैं, परन्तु प्रायः प्रत्येक मामले में ही कुछ कमियाँ दूर करनी पड़ीं। दुग्धालय और मत्स्य-पालन उद्योग व्यावसायिक आधार पर चल रहे हैं। परबनीपुर, सिंह दरबार (काठमाण्डू) और राप्ती (यज्ञपुरी) में तीन प्रायोगिक फार्म बड़ी अच्छी तरह चल रहे हैं। वस्तुतः पशु विकास के लिए भी अवस्थाएँ बड़ी उत्साहवर्धक हैं। यद्यपि बाहर से मंगवाये गये पशु प्रारम्भ में ऐसा लगा कि अपने को स्थानीय अवस्थाओं के अनुकूल नहीं ढाल पायेंगे, किन्तु समय पाकर स्थानीय पशुओं के मेल से वर्णशंकरीय सन्तान पैदा करने में अच्छे परिणाम प्राप्त हुए हैं। इसके साथ ही बीज वितरण तथा अन्य उपायों के फलस्वरूप कृषि की प्रगति में सहायता नहीं मिली है और न ही देश के विभिन्न भागों तक अन्वेषण क्रियाशीलताएँ फैलायी जा सकी हैं।

ऐसे देश में जहाँ सिंचाई अत्यधिक* आवश्यक हो और जल की उपलब्धि बहुत-ही भरपूर हो, वहां सिंचाई सुविधाएँ नगण्य हैं। वस्तुतः कुछ अपवादों को छोड़ कर कृषि उत्पादन अब तक वर्षा पर निर्भर रहा है। भारत की तरह नेपाल में भी वर्षा एक समान नहीं होती। कुल मिला कर देखने पर काठमाण्डू तथा नेपाल के कुछ अन्य भागों और भारत में वर्षा की पद्धति में कोई विशेष अन्तर नहीं है। सन् १९५० से पूर्व मुख्य सिंचाई साधन मोरंग और सप्ताड़ी में ही संकेन्द्रित थे (१९२६ में बनी चन्द्र नहर, जगदीशपुर जलाशय, जूढ़ा नहर प्रणाली), जिनसे ५०,००० एकड़ से अधिक की सिंचाई होती थी। वस्तुतः स्वयम् कृषकों द्वारा विकसित कुछ अन्य छोटी सिंचाई व्यवस्थाएँ विकसित की गयीं।

* अनुमान लगाया जाता है कि नेपाल में केवल ६० लाख एकड़ भूमि की ही सिंचाई होती है।

सिंचाई क्षमता

सिंचाई के लिए प्रथम पंच वर्षीय योजना के अन्तर्गत २ करोड़ रुपये के परिव्यय से २,७५,००० एकड़ भूमि की सिंचाई करने का लक्ष्यांक था। प्राथमिकता उन योजनाओं को दी गयी, जो परिवहन सुविधाओं की अथवा उत्पादन में कमी के कारण खाद्यान्नों की कमीवाले क्षेत्रों से सम्बद्ध थीं तथा बाढ़ पर नियंत्रण, पीने के पानी की पूर्ति और विद्युत-क्षमता में वृद्धि करना जिनका उद्देश्य था। तथापि, एकड़ों के सम्बन्ध में योजना के अंत तक केवल ३० प्रति शत लक्ष्यांक (लगभग ६५,२०० एकड़) ही प्राप्त किया जा सका। यद्यपि स्थिति अब भी सन्तोषजनक नहीं है, तथापि नेपाल में सिंचाई सम्बन्धी सुविधाओं के मामले में पर्याप्त सम्भाव्यताएँ हैं। उत्तरी पर्वतीय प्रदेश से आनेवाले विभिन्न नाले तीन मुख्य नदियों का रूप लेकर दक्षिण की ओर बहते चले जाते हैं, जैसे पूर्व में कोसी है, मध्यवर्ती-पश्चिम में गण्डक और पश्चिम में करनाली है। इनमें से प्रत्येक में कम से कम १०,००० 'क्यूसेक' जल प्रदान करने की क्षमता है। अन्य ऐसी नदियों के नाम जो १५० से ३०० 'क्यूसेक' तक जल प्रदान करती हैं इस प्रकार हैं: पूर्व में त्रियुग और कमला, काठमाण्डू घाटी में बागमती, और पश्चिम में तिनऊ तथा राप्ती। देश में २० लाख एकड़ भूमि के लिए ये नदियाँ पर्याप्त होनी चाहिए। वर्तमान त्रि-वर्षीय योजना (१९६२–६५), जिसका

जुलाई १९६३ में एक वर्ष पूरा हो गया, में यद्यपि कृषि और सिंचाई के लिए नियत व्यय का अनुपात करीब १५ प्रति शत है, तथापि निजी विभाग को अधिक उत्प्रेरणाएँ दी जा रही हैं। सिंचाई के अन्तर्गत कमला, राप्ती तथा बबाई जैसी कुछ प्रमुख पद्दियोजनाएँ हाथ में ली जायेंगी और लघु एवम् मध्यम स्तर की कुछ अन्य परियोजनाएँ पूर्ण की जायेंगी।

संस्थात्मक उपायों पर जोर

सामान्यतः किसी भी विकास योजना में कृषि पर प्राथमिक जोर देने के बावजूद उसके प्रति किसी प्रकार की कूप-मण्डूकता नहीं होनी चाहिए ताकि कृषि तथा अर्थ-व्यवस्था के अन्य विभागों के बीच जो असंतुलन है वह उससे कहीं और अधिक न बढ़ जाय एवम् ऐसी कठिनाइयाँ न पैदा हो जायें कि उनके कारण योजना में निर्धारित कृषि सम्बन्धी लक्ष्यांकों की प्राप्ति को बड़ा धक्का पहुँचे। और फिर, प्राविधिक सुधार के लिए लघु-कालीन उपाय काम में लाने के साथ-साथ संगठनात्मक अथवा संस्थात्मक दूरगामी परिवर्तन लाते हुए समूचे ग्रामीण विभाग में पुनः प्राण फूँकने पर विशेष जोर दिया जाना चाहिए।

संस्थात्मक स्वरूप में ये बातें आती हैं: (१) भू-धारणाधिकार यानी कानूनी अथवा रीति-रिवाज पर आधारित पद्धति जिसके अंतर्गत भूमि का स्वामित्व आता है और उसकी जुताई होती है तथा कृषक और भूमि के मालिक में कृषि उत्पादन बांटा जाता है; (२) बड़े प्रतिष्ठानों तथा वर्तमान विभिन्न आकार के फार्मों के मध्य फार्म-सम्पत्ति की मिल्कियत का वितरण; और (३) उत्पादन तथा बिक्री-व्यवस्था के लिए उधार संगठन, जिससे कृषि उत्पादन का व्यावसायिक दृष्टि से उपयोग करने में सुविधा मिलेगी।

भूधारणाधिकार

एशिया के अनेक देशों के समान भूधारणाधिकार की प्रकृति यानी स्वरूप नेपाल में भी बड़ा असन्तोष-प्रद है। केवल पिछले कुछ वर्षों में ही धीरे-धीरे करके कुछ सुधार किये गये हैं। अब तक भूमि की मिल्कियत दूर बैठे जमींदारों के हाथ में रही है और परिणाम स्वरूप वास्तविक कृषक को अत्यधिक लगान देना पड़ता था तथा उसके भूधारणाधिकार को कोई सुरक्षा प्राप्त न थी। देश के विभिन्न भागों में भूधारणाधिकार के अनेक प्रकार होते हुए भी मोटे तौर पर नेपाल में तीन प्रकार की भूमि-व्यवस्था प्रचलित है: 'रायकर' 'बृत' और 'गुठी'। 'रायकर' पद्धति के अन्तर्गत भूमि पर मिल्कियत राज्य की होती है और वह लगान वसूल करता है। 'रायकर' के अन्तर्गत जमींदारी प्रथा भी है जिसमें लगान जमींदार की मार्फत वसूल किया जाता है। जमींदार को सरकारी मूल्यांकन के अनुसार पांच प्रति शत कमिशन मिलता है। जमींदार के पास काफी जमीन होती है। (इस जमीन को घरेलू खेत अथवा 'सिर' भूमि कहते हैं।) कुछ भूमि वह दूसरों को जोतने के लिए देता है। इसके बदले संविदे की शर्त के अनुसार या तो वह जिन्स लेता है या फिर नकद। किन्हीं मामलों में वह स्वयम् भी काफी जमीन जोतता है।

'बृत' पद्धति (जिसके अधिकांश का १९६० में उन्मूलन कर दिया गया) एक विशिष्ट प्रकार है, जिसमें राज्य की मिल्कियत के विपरीत व्यक्तिगत स्वामित्व होता है। इस प्रकार की भूमि सामान्यतः स्वयम् मालिक नहीं जोतते, बल्कि सिकमी काश्तकार को जोतने के लिए दी जाती है जो बदले में लगान देता है। 'गुठी' व्यवस्था में इस प्रकार की जमीन आती है, जिसकी व्यवस्था या तो प्रत्यक्ष रूप से राज्य करता है या फिर मठ करते हैं। इस तरह की भूमि का चिकित्सालय, देवालय तथा अन्य धर्मार्थ संस्थाओं के लिए उपयोग होता है। इस प्रकार की अधिकांश भूमि काठमाण्डू घाटी में है। भूमि का उपयोग धार्मिक कामों के लिए मठ करते हैं। उक्त पद्धतियों के मध्य अन्य अनेक प्रकार की व्यवस्थाएँ प्रचलित हैं जो स्थानीय अवस्थाओं तथा व्यवहार के अनुसार भिन्न-भिन्न हैं।

वस्तुतः पिछले दो वर्ष के दौरान देश के विभिन्न भागों में जमीन का सम रूप लगान निर्धारित करना सरकार की आर्थिक नीति का एक मुख्य उद्देश्य रहा है।

नये सुधार

भूधारणाधिकार, भूमि का समान वितरण और ऋण सुविधाएँ प्रदान करने के लिए संगठन करने के उद्देश्य से सरकार ने अनवरत प्रयास किये हैं। इन सुधारों की अत्यावश्यकता १९५१ के बाद ही महसूस की गयी। अगस्त १९५२ में स्थापित भूमि सुधार आयोग ने भूमि रिकार्ड, भूधारिता की विस्तृत शर्तें यानी बातें तैयार करने, गैर-सरकारी बिचवानिया व्यवस्था समाप्त करने, जागीरदार को अपने खुद के लिए कुछ सीमित हिस्सा देते हुए असली काश्तकार के भूधारिता सम्बन्धी अधिकारों की सुरक्षा और 'बृत' पद्धति के उन्मूलन की सिफारिश की। तथापि, इन सिफारिशों के आधार पर व्यवहार-जगत में तुरन्त कोई कदम नहीं उठाये गये।

सितम्बर १९५५ में राजा महेन्द्र ने देश के इतिहास में प्रथम बार भूमि-सुधार संबंधी शाही घोषणा की। एक तेरह-सूत्री कार्यक्रम के अन्तर्गत 'बृत' भूमि की लगान दर निर्धारित की गयी। जिन खेतों से ३,००० रुपये तक की ही आमदनी हो, उन्हें कर से मुक्त रखा गया। तीन वर्ष से अधिक किसी भी भूमि को बिना जोते रखने की इजाजत नहीं दी गयी और 'बृत' जमीन के मालिक के लिए यह तय कर दिया गया कि वह किसान से खेत की उपज के ५० प्रति शत से अधिक लगान के रूप में नहीं ले सकता। ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में उपयुक्त परिवर्तन लाना सितम्बर १९५६ में प्रारम्भ की गयी प्रथम पंच वर्षीय योजना का उद्देश्य था, जिससे इसके साथ ही द्रुत आर्थिक विकास को प्रोत्साहन भी मिलेगा। योजनावधि के दरमियान नेपाल के मौजूदा भूधारणाधिकारों के सन्दर्भ में, जो अनेक मामलों में विरोधी हैं, सभी उपाय सन्तोषप्रद रूप से कार्यान्वित नहीं किये जा सके।

वस्तुतः हाल ही के वर्षों में लागू किये गये कुछ विधायक उपाय उन बुनियादी कदमों से सम्बन्धित हैं, जिनका उद्देश्य सर्वांगीण विकास है। सन् १९५७ के भूमि सुधार अधिनियम के अन्तर्गत भूमि के लगान की अधिकतम सीमा उपज का ५० प्रति शत निर्धारित की गयी। जागीरदार और काश्तकार के बीच यदि इससे कम दर के लगान का कोई पहले का समझौता था, तो उस पर उक्त ५० प्रति शत तक की शर्त लागू नहीं हुई–वह जैसे का तैसा ही रहा। अधिनियम ने बेगार तथा अन्य इसी प्रकार के कर भी समाप्त किये, और अधिनियम लागू होने के वक्त जो काश्तकार थे उन्हें जो जमीन वे जोत रहे थे उसके सम्बन्ध में सुरक्षित काश्तकार घोषित किया गया। भूमि सम्बन्धी रिकार्ड और फसल उत्पादन सम्बन्धी आंकड़ों के अभाव में तत्सम्बन्धी किसी भी तात्कालिक कानून के सामने निश्चय ही अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ आ सकती हैं, जिनमें प्रशासनात्मक समस्याएँ भी शामिल हैं।

भूमि सुधार आयोग

जुलाई १९५९ में भूमि सुधार नीति के अंग स्वरूप 'बृत' उन्मूलन अधिनियम की घोषणा की गयी, जो वित्तीय वर्ष १९५९–६० के प्रारम्भ के साथ लागू होना था। निस्सन्देह 'बृत' उन्मूलन अधिनियम के साथ 'बृत' भूमि स्वामित्व शाही सरकार के हाथ में आ गया। फिर भी, देश में भूमि सुधार के लिए यह एक सर्वाधिक प्रगतिशील कानून है। मई १९६१ में रायल लैण्ड रिफार्म कमीशन (भूमि सुधार आयोग) नियुक्त किया गया, जिसने एक वर्ष के अन्दर देश में प्रचलित विभिन्न प्रकार की भूमि व्यवस्था, तत्सम्बन्धी कानून और उनमें सुधार लाने हेतु अपनी सिफारिशों सहित अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया।

कृषि संगठन अधिनियम, १९६३ पर इसी सन्दर्भ में विचार किया जाना चाहिए। यह नया अधिनियम प्रयोग के तौर पर कुछ चुनिन्दा जिलों में

लागू होगा और अनुभव के आधार पर यदि कोई संशोधन करना वांछनीय हुआ तो वैसा करके धीरे-धीरे उसे समूचे देश में लागू किया जायेगा। नेपाल की मौजूदा अवस्थाओं के अन्तर्गत प्रयोगात्मक आधार पर कुछ प्रतिनिधि चुनिन्दा क्षेत्रों के जरिये ही धीरे-धीरे सुधार लाया जा सकता है। इस अधिनियम से आन्तरिक साधन-स्रोतों की वृद्धि करने और उपलब्ध भूमि का पुनर्वितरण करने के जरिये भूमि से अधिक फसल-प्राप्ति करने में मदद मिलेगी। उत्पादन-वृद्धि से विकास के लिए अधिक योगदान मिलना चाहिए और इस प्रकार उससे नेपाल को धीरे-धीरे दूसरों पर निर्भर रहने से छुटकारा पाने में भी समर्थ होना चाहिए। भूधारिता तथा उत्पादन के लिए ऋण-व्यवस्था संगठन, इन दोनों से इसका सम्बन्ध है।

सहकारी कृषि उत्पादन अधिनियम में प्रारम्भ के तौर पर कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए आवश्यक विकास पूंजी के सम्बन्ध में प्रायोगिक कार्यक्रम के लिए और भूमि से विकास कार्यों में पूंजी का स्थानान्तरण करने हेतु वित्तीय व्यवस्था के लिए निवेश पूंजी का प्रावधान हैं। सामाजिक न्याय और साम्या इन दोनों की दृष्टि से ४ जुलाई १९६३ को प्रस्तुत १९६३-६४ के बजट में पेशे और धर्म पर आधारित तथा भूमि से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार के कर समाप्त कर दिये गये हैं। मात्र खेती की गयी भूमि पर ही कर कायम रखे गये हैं।

उत्पादकता वृद्धि के लिए प्रत्यक्ष उपाय व्यवहार में लाने के अतिरिक्त एक उपयुक्त भूमि सुधार नीति उन्नत कृषि की अग्रदूत है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उन्नत कृषि के जरिये ही निर्यात करने के लिए अतिरिक्त उत्पादन किया जा सकता है और मूल्य बढ़ने से रोके जा सकते हैं, जोकि योजनाओं के वित्तीय एवम् भौतिक लक्ष्यांकों की पूर्ति के लिए अपरिहार्य है। इस प्रकार की विदेशी मुद्रा का विदेशों से बुनियादी उपकरण और प्राविधिक ज्ञान प्राप्त करने में इस्तेमाल किया जा सकता है। इसी से देश की व्यापक रूप में सन्तुलित अर्थ-व्यवस्था का मार्ग प्रशस्त हो सकता है।

निष्कर्ष

इस प्रकार ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की उन्नति के लिए प्राविधिक तथा संस्थात्मक दोनों ही प्रकार के सुधार आवश्यक हैं। यह खुशी की बात है कि पिछले वर्षों से शाही सरकार की आर्थिक-नीति का एक मुख्य पहलू इन दोनों बातों पर दृढ़तापूर्वक जोर देते रहना रहा है। वित्त मंत्री ने १९६२-६३ के अपने बजट भाषण में कहा था, "बुनियादी तौर पर सरकार का उद्देश्य संस्थात्मक सुधारों के जरिये सही रूप में लोगों में भूमि वितरण और निजी विभाग को प्राविधिक सुधार लागू करने के लिए प्रेरित करना है।" यह कहने की जरूरत नहीं कि आन्तरिक साधन-स्रोतों का उपयोग भी उत्पादक क्षमता से सीमित होता है, जोकि चाहे जैसे भी हो बढ़ायी ही जानी चाहिए। जनता की कराधान सम्बन्धी क्षमता देश के समग्र उत्पादन पर निर्भर करती है। अतएव अन्य बातों के अलावा नेपाल जैसे कृषि-प्रधान देश में वास्तव में यह एक खतरा है कि वर्तमान अवस्था अधिक समय तक अच्छी नहीं बनी रह सकती, कि आबादी कृषि उत्पादन की वृद्धि दर से भी अधिक तेजी के साथ बढ़ सकती है तथा यह कि वर्तमान स्तर में सुधार होने की अपेक्षा वह और भी नीचे गिर सकता है। क्या इससे हमारे ऊपर एक यह स्वाभाविक वास्तविक उत्तरदायित्व नहीं आ गया है कि नेपाल के आयोजन में दीर्घ काल तक कृषि को सर्वाधिक प्राथमिकता दी जानी चाहिए?

काठमाण्डू (नेपाल) : ७ सितम्बर १९६३

भारतीय आहार, औद्यानिकी और ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था

सुनील कुमार मुखर्जी

यद्यपि संतुलित आहार में फल और तरकारियाँ होनी ही चाहिए, तथापि भारतीय आहार में उनका अनुपात बहुत अपर्याप्त है। प्रत्येक राज्य में फलों और तरकारियों का उत्पादन बढ़ाने के लिए मार्गदर्शी परियोजनाएँ आरम्भ की जानी चाहिए।

यद्यपि भारतवासी मुख्यतः निरामिष हैं, समुचित निरामिष आहार की आवश्यकता पूर्ति हेतु फल और तरकारियाँ पर्याप्त मात्रा में पैदा नहीं की जातीं। हमारी अधिकांश आबादी के आहार की पूर्ति अनाज मण्ड, चन्द दालों (प्रोभूजिन खाद्य) और थोड़ी-सी तरकारी—मुख्यतः पत्तियोंवाली—से की जाती है। अधिकांश आबादी को फल तो शायद ही कभी मिल पाते हैं। भारत तथा अन्य देशों* में अन्न उपभोग का वर्तमान स्तर निम्न तालिका में दिया गया है। श्रेणी १ में सुदूर पूर्व, निकट पूर्व, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका तथा श्रेणी २ में यूरोप, उत्तरी अमेरिका आदि के देश शामिल हैं।

विभिन्न देशों में अन्नोपभोग स्तर

मद	भारत	श्रेणी १	श्रेणी २	संसार
	(खुदरा स्तर पर प्रति व्यक्ति प्रति दिन : ग्राम में)			
अन्न श्रेणी				
अनाज	३७५	३८९	३२८	३७०
मण्डमय कंदमूल	३०	१८९	३१६	२२७
शक्कर	४५	२९	८८	४७
दालें	६५	५३	१६	४२
तरकारियाँ और फल	८०	१६९	३६२	२२७
मांस	४	३०	१५२	६७
अंडे	१	४	३३	१२
मछली	७	२४	३४	२७
दूध	१४०	७९	५७३	२२८
तेल और चिकनाई	११	१२	४७	२२
कैलोरी	१,९७०	२,१५०	३,०६०	२,४२०
अनाज— मण्डमय कंदमूल शक्कर से कैलोरी (प्रति शत)	७७	७८	५७	७०
कुल प्रोभूजिन	५१	५८	९०	६८
पशु प्रोभूजिन	६	९	४४	२०
चिकनाई	२७	३४	१०६	५६

*पी. वी. सुखात्मे : लेख—फूड एण्ड न्यूट्रीशन सिचुएशन इन इंडिया; पत्रिका : जर्नल ऑफ इंडियन सोसायटी ऑफ अग्रीकल्चरल स्टेटिस्टिक्स; पृष्ठ : ४९; वर्ष : १४; १९६२।

उक्त तालिका से यह प्रकट है कि दूध, मांस, अंडे आदि से प्राप्त पशु-खाद्य के अलावा अभी तरकारियों और फलों की जो मात्रा उपलब्ध है, वह बहुत ही अपर्याप्त है। इसका कारण यह नहीं है कि हमारी भूमि अथवा जल-वायु बड़ी मात्रा में तरकारियाँ और फल उगाने के उपयुक्त नहीं है; इसके विपरित देश के अधिकांश भागों में उष्ण अथवा सम-उष्णकटिबंधीय जलवायु होने के कारण हम साल भर फल व तरकारियाँ उगाने की अवस्था में हैं। जहाँ-कहीं भी सिंचाई सुविधाएँ उपलब्ध हैं, वहाँ हम ग्रीष्म में उष्णकटिबंधीय तरकारियाँ उगा सकते हैं और शरद में कोष्ण कटिबंधीय तरकारियाँ। यहाँ यह बताना अप्रासंगिक नहीं होगा कि जापान में लोगों के औसत आहार में ४५ प्रति शत तरकारियाँ होती हैं (जैसा कि अन्तर्राष्ट्रीय औद्योगिक काँग्रेस में बताया गया था)। चूँकि हमारे देश में भी आबादी का बहुत अधिक बोझ है, अतः धान, गेहूँ, मक्का आदि का उत्पादन बढ़ाने का प्रयास करने के अतिरिक्त हमें तरकारियों और फल का उत्पादन बढ़ाने के लिए भी सघन प्रयास करना चाहिए। हाल ही में भारत के पूर्वोत्तर राज्यों में संकटकालीन योजना के अन्तर्गत तरकारी उत्पादन में वृद्धि से यह ज्ञात होता है कि उत्पादन बहुत जल्दी बढ़ाया जा सकता है।

बाधाएँ

इन फसलों का उत्पादन बढ़ाने में कौन-सी बाधाएँ उपस्थित होती हैं? ऐसा लगता है कि शहरी क्षेत्रों में फलों और तरकारियों की कीमत अधिक होने के कारण लोग अपने आहार में फल और तरकारियों की मात्रा बढ़ाने के लिए प्रोत्साहित नहीं होते। तथापि, इनका उत्पादन करनेवालों को जो कीमत मिलती है तथा खुदरा विक्रेताओं द्वारा जिस दर पर इन्हें ग्राहकों को बेचा जाता है, उसमें बड़ा अन्तर है। बिक्री की अवस्था सुधारने के लिए सहकारी अथवा अर्ध-सरकारी माध्यमों द्वारा प्रयास किया जा सकता है, जिससे उत्पादकों को भी लाभ पहुँचे और शहरी ग्राहकों को भी। कलकत्ता, बम्बई और दिल्ली में सरकारी दुग्ध उत्पादन विकास योजना के अन्तर्गत दुग्ध उत्पादन और वितरण एक उदाहरण है। यदि उसी तरह व्यावसायिक उत्पादन केन्द्रों को सहकारी समितियाँ बनाने के लिए प्रोत्साहित किया जाय और शहरों के दुग्ध बिक्री केन्द्रों की तरह बिक्री केन्द्र खोले जायें तो इससे ग्राहकों को फल व तरकारियाँ सस्ते में मिल सकती हैं और उत्पादकों को भी अधिक लाभ हो सकता है। इस कार्यक्रम के साथ-साथ शहरों में भाण्डारीकरण और पैकिंग केन्द्रों की स्थापना करनी होगी तथा वैसे केन्द्र भी खोलने होंगे, जोकि आरक्षण कारखानों में पड़े अनबिके माल का उपयोग कर सकें।

लाभदायक पैमाने पर

खादी और ग्रामोद्योग कमीशन सम्भवतः इस योजना को कम से कम मार्गदर्शी पैमाने पर गाँवों में तरकारी और फल दोनों ही का उत्पादन बढ़ाने के लिए परियोज-नाओं का आरम्भ कर सकता है। इसके लिए प्रत्येक राज्य में तरकारियाँ और फल पैदा करने योग्य क्षेत्रों का चुनाव करने हेतु—जोकि उस क्षेत्र के सिंचाई विकास पर आधारित होगा—एक मास्टर योजना की जरूरत होगी। इन क्षेत्रों का चुनाव मुख्यतः बाजार और प्रमुख शहरों में, जिनमें भिलाई, राउरकेला आदि जैसे नव विकसित औद्योगिक शहर, जोकि तेजी से बढ़ रहे हैं, भी शामिल हैं, इनके उत्पादनों की पूर्ति करने की दृष्टि से करना चाहिए। खास-खास क्षेत्रों में फलों का उत्पादन बड़ा ही लाभदायक सिद्ध हो सकता है बशर्ते कि इसे उपयुक्त पैमाने पर किया जाय। इस संदर्भ में हिमाचल प्रदेश में सेव की बागवानी से (प्रति एकड़ ५,००० रुपये तथा उससे भी अधिक), हैदराबाद तथा महाराष्ट्र में अंगूर की खेती से (प्रति एकड़ करीब ३,००० रुपये से ४,००० रुपये), पंजाब और आंध्र प्रदेश में निम्बू की बागवानी से (प्रति एकड़ २,००० रुपये अथवा उससे अधिक) तथा गुजरात और महाराष्ट्र में केले की खेती से (प्रति एकड़ १,००० रुपये से अधिक)

हुए बड़े लाभ का जिक्र किया जा सकता है। यदि देश के अन्य भागों के खेतिहर भी इसी पैमाने पर उपयुक्त तकनीकल ज्ञान के साथ इनकी खेती करना आरम्भ करें, तो कोई कारण नहीं कि उन्हें भी इसी पमाने पर अथवा इससे अधिक लाभ न हो।

फलों के पौध-घर

फलों की बागवानी से होनेवाले अधिक मुनाफे के अलावा, आलू तथा अन्य तरकारियाँ पैदा करने से भी अच्छा मुनाफा होने की उम्मीद है बशर्ते कि यह उचित पैमाने पर किया जाय। ऊपर बताये गये फलों में होनेवाले अधिक मुनाफे के अतिरिक्त, इन फसलों के बढ़े उत्पादन से वैसी फसलों का उत्पादन होगा जिनमें प्रति एकड़ कैलोरी तत्व अधिक रहता है; क्योंकि यह मानी हुई बात है कि प्रति एकड़ तरकारी और फलों में जितनी खाद्य-कैलोरी प्राप्त होती है, वह धान अथवा गेहूँ से कहीं अधिक होती है। यहाँ यह बताया जा सकता है कि अभी भारत में ३५ करोड़ एकड़ में जो खेती होती है उसमें से तरकारियों (आलू सहित) के अन्तर्गत २५ लाख एकड़ और फलों के अन्तर्गत करीब २० लाख एकड़ भूमि ही है। जिस देश के लोग मुख्यत: निरामिष हों, उसके लिए यह क्षेत्र बहुत ही कम है।

विभिन्न राज्यों में सामुदायिक विकास परियोजनाओं और पंचायत राज के आरम्भ होने से हर गाँव फल और तरकारियों (खासकर तरकारियों) की अपनी आवश्यकता की योजना तैयार कर सकता है। यदि हर गाँव अथवा ग्राम-समूह में तरकारियों के बीज तथा फलों के पौधे उत्पादन के लिए संगठित पौध-घर हों, तो उससे उत्पादकों को पौधे और बीज पूर्ति करने में काफी मदद मिलेगी; क्योंकि ये चीजें उन्हें सहज ही प्राप्त नहीं होतीं। तरकारी के बीज सरकारी माध्यमों से अथवा अच्छे पौध-घरों के जरिये अथवा राष्ट्रीय बीज निगम, जिससे कि शीघ्र ही तरकारी बीज उत्पादन आरम्भ करने की आशा है, से प्राप्त किये जा सकते हैं। बीज का उत्पादन किसी एक केन्द्र अथवा पौध-घर में करना अधिक लाभदायक है और उससे कीटाणुओं आदि से रक्षा के लिए भी सहज ही व्यवस्था की जा सकती है। जहाँ तक फल के पौधों का सम्बन्ध है, 'मूल पौधे' के लिए उत्तम पौध होनी चाहिए, जोकि राज्य के औद्यानिक अनुसंधान केन्द्रों से प्राप्त की जा सकती है, ताकि इनसे उत्पादकों को परीक्षित तथा उत्तम सामग्री की पूर्ति की जा सके। यह व्यवस्था सरकारी और गैर-सरकारी माध्यमों दोनों की सहायता से की जा सकती है। यदि चतुर्थ पंच वर्षीय योजना में इस आधार पर योजना बनायी जाय, तो बीज और पौध सम्बन्धी हमारी आवश्यकताएँ पूरी हो सकती हैं। चूँकि अब अधिकांश राज्यों में बीज-घर हैं, जिससे कि वे देश भर में फैल गये हैं, अत: छोटे-छोटे पौध-घरों में, समन्वित रूप में, इनके उत्पादन की व्यवस्था करना कठिन नहीं होगा।

फलों का आरक्षण और उपयोग

उपर्युक्त उत्पादन योजना के साथ-साथ लोगों को यह सिखाने के लिए भी कदम उठाये जाने चाहिए कि वे किस प्रकार फलों और तरकारियों को आरक्षित रख सकते हैं। इस संदर्भ में खादी और ग्रामोद्योग कमीशन ग्रामीणों को मदद देने हेतु प्रत्येक राज्य के चन्द गाँवों में, जहाँ कि अतिरिक्त उत्पादन के मुख्य मदों को प्रशोधित अथवा टीन-बन्द किया जा सकता ह, केन्द्र खोल कर योगदान दे सकता है। उदाहरण-स्वरूप, कुछ क्षेत्रों में टमाटर बहुत अधिक मात्रा में पैदा होते हैं और कभी-कभी वे सड़ जाते हैं। इस अतिरिक्त उत्पादन को, स्वच्छ ढंग से उसमें से रस निकाल कर बीज उत्पादन करने हेतु इस्तेमाल किया जा सकता है। इस रस को संरक्षित रखा जा सकता है ताकि गाँव के लोग कमी के दिनों में इस्तेमाल कर सकें और इसे स्कूली बच्चों को भी पिलाया जा सकता है। इस तरह के और उदाहरण भी दिये जा सकते हैं। जब तक महिलाएँ फल और तरकारियों का अच्छी तरह उपयोग करना तथा आहार में उनका मूल्य नहीं जान लेतीं, गाँवों में इन फसलों का उत्पादन और उपभोग नहीं बढ़ेगा।

नयी दिल्ली : २१ सितम्बर १९६३

बिहार में आर्थिक विकास, जन-संख्या वृद्धि और रोजगारी

शैलेश कुमार बोस

सन् १९५१ और १९६१ की जनगणना तथा बिहार बेरोजगारी समिति द्वारा एकत्रित आकड़ों पर आधारित बिहार में आबादी और रोजगारी-स्थिति की मुख्य बातों पर यहाँ पंच वर्षीय योजनाओं के कार्यान्वयन के सन्दर्भ में चर्चा की जा रही है।

बिहार का स्थान भारतीय राज्यों में कुल आबादी की दृष्टि से दूसरा और सर्वाधिक घनी आबादी की दृष्टि से तीसरा है। यह सर्वाधिक ग्रामीण राज्य भी है और यहाँ के लोग कृषि पर बहुत अधिक निर्भर हैं। साथ ही यहाँ सबसे अधिक किस्म के खनिजीय स्रोत उपलब्ध हैं और इस मामले में यह बहुत धनी है। फलतः खनिजों पर आधारित और/अथवा कोयला और जल-विद्युत शक्ति से चलनेवाले आधुनिक उद्योगों के विकास की इसमें सर्वाधिक क्षमता है। इस प्रकार राज्य के प्राकृतिक स्रोत उसके सघन आर्थिक विकास के लिए, जिसका लाभप्रद प्रभाव समस्त राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था पर पड़ेगा, अवसर प्रदान करते हैं और आमंत्रण भी देते हैं।

मुख्य उद्देश्य

पंच वर्षीय योजनाओं का उद्देश्य मूलतः देश के निष्क्रिय प्राकृतिक और जन-स्रोतों का, जिनकी बिहार में प्रचुरता है, उपयोग करना है। राज्य की योजनाओं में कृषि पर बहुत अधिक जोर है और इन्हें कृषिक गति-विधियों के विस्तार और सघनीकरण दोनों ही के विकास में सहायक होना चाहिए। कृषि के अलावा अन्य योजनाओं की अधिकांश बड़ी परियोजनाएँ केन्द्रीय योजना के अंग हैं, जैसे सिन्दरी उर्वरक कारखाना, हेवी इंजीनियरिंग कारपोरेशन का हथिया प्लांट स्टील प्रोजेक्ट, बरौनी तेल परिशोधक परियोजना तथा प्रस्तावित बोखारो इस्पात परियोजना। फिर, दामोदर घाटी निगम तो संयुक्त प्रयास है ही। सार्वजनिक विभाग परियोजनाओं के अतिरिक्त, उद्योग के निजी विभाग में भी योजनावधि में काफी प्रगति हुई है। अनुमान है कि ये, सार्वजनिक विभाग द्वारा यातायात और शक्ति में किये गये विकास के साथ अर्थव्यवस्था में 'आवेजक' के रूप में इसे सक्रिय बनाने, परिवर्तित करने और आधुनिक बनाने के लिए कार्य कर रहे थे और कर रहे हैं।

आर्थिक विकास के लिए आयोजन का एक मुख्य उद्देश्य निष्क्रिय जन-शक्ति स्रोत का उपयोग करना है। जैसा कि अल्फ्रेड मार्शल ने कहा है: मनुष्य सिर्फ साध्य ही नहीं बल्कि वह उत्पादन का माध्यम भी है। तथापि, निष्क्रिय जन-शक्ति स्रोत के उपयोग की समस्या तीव्र इसलिए है कि बेरोजगारी के भूत से बचना है। अतः यह जांचना समीचीन होगा कि पिछले पन्द्रह वर्ष के आयोजन में राज्य में रोजगारी की स्थिति में कौन-कौन से परिवर्तन हुए हैं, यदि हुए हों, जिनका न सिर्फ कुल रोजगारी और बेरोजगारी स्तर पर प्रभाव पड़ा है, वल्कि उनके स्वरूप पर भी।

उम्र के अनुसार श्रमिक वर्गों की आबादी

रोजगारी अथवा बेरोजगारी पर विचार-विमर्श करते वक्त आबादी की श्रमिक शक्ति क्षमता का जानना आवश्यक है; क्योंकि जिस देश में 'पूर्ण रोजगारी' है, वहाँ भी हर व्यक्ति को रोजगारी नहीं मिली होती है। श्रमिक शक्ति का सामान्य अर्थ यह माना जाता है कि कुल आबादी का वह अंग जोकि सामान्यतया काम करने-

वाली उम्र में आता है। श्रमिक शक्ति में सामान्यतया १५ वर्ष से ५९ वर्ष तक के लोग आते हैं।

सन् १९६१ की जनगणना में बिहार की आबादी ४ करोड़ ६४ लाख ५० हजार अंकित की गयी। सन् १९५१ में आबादी ३ करोड़ ८७ लाख ८० हजार थी। इस प्रकार दस वर्ष में आबादी ७६ लाख ७० हजार बढ़ गयी है अर्थात् १९.७८ प्रति शत। बीसवीं सदी के ६० वर्षों में राज्य की आबादी १ करोड़ ९० लाख से भी अधिक बढ़ी है। राज्यमें लोगों को कितनी रोजगारी प्रदान करनी है, उस काम का यह एक माप है। सन् १९५१ की जनगणना में आयुवार तालिकाओं में १६ से ६० वर्ष की आयुवाले अर्थात् श्रमिक शक्ति में आनेवाले लोगों की आबादी २ करोड़ ३३ लाख बतायी गयी थी, जिन्हें या तो रोजगारी मिली हुई थी या वे रोजगार खोज रहे थे अथवा इच्छा से बेरोजगार थे। यह कुल आबादी का ५७.८* प्रति शत था। सन् १९६१ की आबादी में भी वही अनुपात प्रयुक्त करने से सम्भावित श्रमिक शक्ति में करीब २ करोड़ ६८ लाख ४० हजार लोग आयेंगे।

कर्मी

सन् १९६१ की जनगणना में कर्मियों की व्याख्या इस प्रकार की गयी है: (१) मौसमी धंधों में जिसने कार्यकारी मौसम के अधिकांश भाग में नित्य एक घण्टे से अधिक काम किया हो, (२) नियमित प्रकार की रोजगारी में, जिसने सर्वेक्षण करनेवाले के आगमन के पूर्व कम से कम पन्द्रह दिन कार्य किया हो, इस अवधि में बीमारी के कारण काम न करने को बाधित होना भी शामिल है; (३) शिशिक्षु और प्रशिक्षार्थी; और (४) सार्वजनिक कार्यों अथवा राजनीतिक गतिविधियों में सक्रिय रूप से लगे सामाजिक और राजनीतिक कार्यकर्त्ता। किराया लेनेवाले अथवा सालाना आयवाले (जिनमें कृषि किराया प्राप्त करनेवाले अथवा लाभ में हिस्सा बंटानेवाले भी शामिल हैं) और घरेलू काम करनेवाली महिलाओं को, जोकि परिवार की आय में योगदान नहीं देतीं, कर्मी नहीं माना जाय।

इस परिभाषा के आधार पर सन् १९६१ में बिहार में कर्मियों की कुल संख्या १ करोड़ ९२ लाख ३० हजार थी, जिसमें से १ करोड़ २९ लाख ५० हजार पुरुष और ६२ लाख ७० हजार महिलाएँ थीं। बाकी आबादी अर्थात् २ करोड़ ७२ लाख २० हजार लोग आय करानेवाले कार्यों में नहीं लगे थे। यदि किसी भी कर्मी को १६ से ६० वर्ष की उम्र के बाहर का ही माना जाय अर्थात् सारी कार्यकारी आबादी १६ से ६० वर्ष की उम्र के अन्दर की ही हो, तो इतर-कर्मी श्रेणी के २ करोड़ ७२ लाख २० हजार लोगों में से उन लोगों की संख्या घटा देनी चाहिए जोकि श्रमिक आयु श्रेणी में होते हुए भी काम की तलाश में हैं। जैसा कि पहले बताया जा चुका है सन् १९६१ में सम्भावित श्रमिक शक्ति का आकार, सन् १९६१ में आयु-वितरण स्वरूप को १९५१ जैसा ही मान कर, २ करोड़ ६८ लाख ४० हजार अथवा करीब २ करोड़ ७० लाख मान सकते हैं। यदि उनमें से १ करोड़ ९२ लाख ३० हजार कर्मी हों, जैसा कि १९६१ की जनगणना में बताया गया है, १६ से ६० वर्ष की उम्र के इतर-कर्मी ७६ लाख १० हजार होंगे अर्थात् श्रमिक शक्ति के करीब २८.३ प्रति शत और आबादी के १८.९ प्रति शत।

इसी तरह के अनुमान पर सन् १९६१ के लिए १६ से ६० वर्ष की आयु की सम्भावित श्रमिक शक्ति सम्पूर्ण देश के लिए योजना आयोग द्वारा २३ करोड़ ८५ लाख व्यक्ति मानी गयी है, जबकि आयु-वितरण के असल जनगणना आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं। हाँ, काम कर रहे लोगों के सम्बन्ध में जनगणना आंकड़े उपलब्ध हैं, जोकि १८ करोड़ ८४ लाख हैं। इतर-कर्मियों की संख्या २४ करोड़ ९८ लाख ९० हजार है। यदि सभी कर्मियों को श्रमिक आयु वर्ग का माना जाय तो सम्भावित श्रमिक

* अथवा बिहार बेरोजगारी समिति की रिपोर्ट (पृष्ठ १०४) के अनुसार ५४.७ प्रति शत।

शक्ति के बेकार सदस्यों की संख्या ५ करोड़ अर्थात् करीब २१ प्रति शत हो जायगी। इस प्रकार श्रमिक आयु वर्ग के अन्दर निष्क्रिय आबादी की दृष्टि से बिहार की अवस्था अखिल भारत से बदतर लगती है।

इस प्रकार बिहार की १९६१ में कुल आबादी ४ करोड़ ६४ लाख ५० हजार में से १ करोड़ ९२ लाख ३० हजार पुरुष और महिला कर्मी थे अर्थात् ४१.४ प्रति शत, जोकि कुल आबादी के करीब ६० प्रति शत का पोषण करते थे।

बिहार में १९५१ में कमाऊ व्यक्तियों की संख्या–२ करोड़ ३३ लाख सम्भावित श्रमिक शक्ति में से–१ करोड़ ४३ लाख थी, जिससे यह पता चलता है कि सम्भावित श्रमिक शक्ति में से ९० लाख अर्थात् ३८ प्रति शत और कुल आबादी के २२.३ प्रति शत लोग बेकार थे। इस प्रकार १९६१ की अवस्था सम्भावित श्रमिक शक्ति और बेकार आबादी के प्रातिशत्य दृष्टि से १९५१ से अच्छी लगती है।*

रोजगारी के लायक शक्ति

बेरोजगारी की मात्रा के विषय में ऊपर जो चर्चा की गयी है, वह इस अनुमान पर आधारित है कि श्रमिक आयु (१५ से ५९) की कुल आबादी रोजगारी के लिए उपलब्ध है। तथापि, सच यह है कि श्रमिक आयु की सम्पूर्ण आबादी रोजगारी के लिए उपलब्ध नहीं है। पंद्रह वर्ष से ऊपर के युवक रोजगारी में काफी संख्या में और कुछ वर्ष बड़े होने पर ही लगते हैं। काम का ज्ञान तथा घर और गाँव के बाहर की कार्यकारी अवस्था की जानकारी न होने से लोग पुश्तैनी धंधे अथवा खेती में ही लगे रह सकते हैं, भले ही वे परम्परागत अथवा पारिवारिक धंधे में उपयोगी सिद्ध नहीं हों। महिलाएँ घर के बाहर जाकर कमाना पसन्द नहीं करती हैं अतः असल में काम चाहनेवाले लोगों की संख्या श्रमिक आयु वर्ग की आबादी से बहुत कम पड़ जा सकती है। ज्ञात हुआ है कि योजना आयोग ने यह मान लिया है कि श्रमिक आयु वर्ग की सिर्फ ९० प्रति शत पुरुष आबादी और ३६ प्रति शत महिला आबादी ही रोजगारी के लिए अमल में उपलब्ध है। बिहार बेरोजगारी समिति ने, अन्य आधार पर, यह माना है कि कुल आबादी का ४० प्रति शत रोजगारी के लिए उपलब्ध श्रमिक शक्ति है।

प्रयुक्त राष्ट्रीय आर्थिक अनुसंधान परिषद द्वारा संचालित तकनीकी-आर्थिक सर्वेक्षण ने राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के इस अनुमान को कि ४४.१७ प्रति शत ग्रामीण और ३४.५४ प्रति शत शहरी आबादी श्रमिक शक्ति में आती है, स्वीकार किया। इस आधार पर सन् १९५१ में रोजगारी योग्य श्रमिक शक्ति १ करोड़ ७५ लाख मानी गयी, जिसमें १ करोड़ ४३ लाख स्वावलम्बी कर्मी अथवा कमाऊ आश्रित थे, जिससे ३२ लाख लोग ही ऐसे बच जाते हैं जिन्हें रोजगारी की जरूरत थी। इस आधार पर १९६१ में रोजगारी पाने लायक २ करोड़ ७ लाख ५० हजार लोग थे। यह मान कर कि ४० प्रति शत आबादी श्रमिक शक्ति में आती है, १९५१ में बिहार में श्रमिक शक्ति में १ करोड़ ६० लाख ९० हजार लोग थे, जिसका अर्थ यह हुआ कि श्रमिक शक्ति १ करोड़ ४३ लाख लोगों की थी और श्रमिक वर्ग के १७ लाख ९० हजार लोग बेकार थे। यदि कमाऊ आश्रितों को श्रमिक आयु वर्ग के बाहर का माना जाय तो बेकारों की संख्या में उतनी ही और वृद्धि हो जायगी, जितनी कि

---

* सन् १९६१ की अन्तिम कुल आबादी (पृष्ठ ४१०, तालिका १२ बी–१९६१) यह भी दर्शाती है कि जबकि बिहार में १९६१ में कर्मियों की संख्या कुल आबादी का ४१.४ प्रति शत थी, १९५१ में प्रातिशत्य ३९ था।

बिहार के कुछ क्षेत्र, जिनके लिए अलग से बेकारी और रोजगारी के आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं, पश्चिम बंगाल में मिला देने के कारण हिसाब में पैदा हुई गड़बड़ी को दूर करने हेतु बिहार बेरोजगारी समिति ने यह मान लिया कि जो १९५१ के अविभाजित बिहार के लिए प्रयुक्त होता है वही १९५४ के विभाजित बिहार के लिए प्रयुक्त होगा और सिर्फ उस अवधि की आबादी वृद्धि को ध्यान में रखना होगा।

कमाऊ आश्रितों की संख्या है अर्थात् १६ लाख ३५ हजार, जिससे बेकारों की कुल संख्या ३४ लाख २० हजार हो जायगी। तकनीकी-आर्थिक सर्वेक्षण के आधार पर अनुमान करने से १९६१ में रोजगारी पाने योग्य २ करोड़ ७ लाख ५० हजार लोग थे। बिहार बेरोजगारी समिति के आधार पर (कि कुल आबादी का ४० प्रति शत रोजगारी पाने योग्य है) रोजगारी पाने योग्य व्यक्तियों की संख्या १ करोड़ ८५ लाख ८० हजार हो जायगी। स्पष्टतः यह कम अन्दाज है, जोकि कर्मियों की संख्या से भी कम है।

श्रमिक शक्ति और बेकार

बिहार में १९५१ में कर्मियों की कुल संख्या १,३५,५९,४६८ थी। सन् १९६१ में यह १,९२,३४,५६५ हो गयी अर्थात् एक दशक में ५६,७५,०९७ की वृद्धि हुई। सन् १९५१ में श्रमिक शक्ति कुल आबादी का ३४.९ प्रति शत थी, जोकि निर्भरता का बोझ दर्शाती है। सन् १९६१ में श्रमिक शक्ति आबादी का ४१.४ प्रति शत थी। श्रमिक शक्ति पर बोझ के मामले में यह निश्चय ही कुछ सुधरी अवस्था है और राज्य में रोजगारी की स्थिति की दृष्टि से भी। जिस अवधि में आबादी १९.७ प्रति शत बढ़ी, श्रमिक शक्ति ४१.५ प्रति शत बढ़ी। सन् १९५१ में कर्मियों की संख्या श्रमिक आयु वर्ग की आबादी का ५८.१५ प्रति शत थी और रोजगारी पाने योग्य आबादी का ७७.४ प्रति शत; इस प्रकार बेकारी का अनुपात बादवाले का २२.६ प्रति शत था। सन् १९६१ में (जबकि श्रमिक आयु वर्ग की आबादी संख्या प्रकाशित होना अभी बाकी ही है) उपर्युक्त अनुमान पर (श्रमिक आयु वर्ग में ९० प्रति शत पुरुष और ३६ प्रति शत महिला आबादी) रोजगारी पाने योग्य श्रमिकों की संख्या २ करोड़ ४० लाख आयेगी; तकनीकी-आर्थिक सर्वेक्षण के अनुमान (४४.१७ प्रति शत ग्रामीण और ३४.५४ प्रति शत शहरी आबादी) से यह करीब २ करोड़ ३ लाख होगी। अतः योजना आयोग के सूत्र के आधार पर १९६१ में बेकारी की संख्या ५० लाख होगी और तकनीकी-आर्थिक सर्वेक्षण के सूत्रानुसार करीब ९ लाख।

सन् १९६१ की जनगणना में प्रथम बार इतर कर्मियों के विषय में जानकारी इकट्ठी की गयी। बिहार सरकार के श्रम और रोजगारी विभाग द्वारा प्रसारित अठारहवें रोजगारी स्थिति विवरण के अनुसार सम्पूर्ण राज्य में बेकारों की संख्या सिर्फ ७२,८१४ बतायी गयी। ऊपर जो संगणन दिये गये हैं, उनमें यह संख्या बिल्कुल बेमेल है और जनगणना में बेकारी की जो परिभाषा दी गयी है, उसी विशेष अर्थ में इसे समझा जा सकता है।

योजनाओं के रोजगार तत्व

योजना आयोग द्वारा द्वितीय योजना में निवेश खर्च और रोजगारी का जो अनुपात माना गया, उसे ही मान कर बिहार में किये गये तकनीकी-आर्थिक सर्वेक्षण में यह बताया गया कि बिहार में प्रथम योजना में ६,३०,००० लोगों को काम मिलेगा। तत्कालीन आबादी वृद्धि की दर के अनुमान से यह आशा की गयी थी कि श्रमिक क्षेत्र में ११ लाख नये लोग आयेंगे; और इस प्रकार प्रथम पंच वर्षीय योजना के अंत में बेकारों की संख्या बढ़कर ३६ लाख ७० हजार हो जायगी। बिहार की तीसरी योजना में बताया गया है कि प्रथम योजना के अंत में सिर्फ ५ लाख लोग बेकार थे। किस प्रकार ये आंकड़े प्राप्त किये गये, इसे स्पष्ट नहीं किया गया है। बिहार के किसी भी योजना प्रकाशन में अधिकृत रूप से यह नहीं बताया गया है कि प्रथम योजना में कितने लोगों को रोजगारी देने की योजना थी। बिहार की तीसरी योजना में यह बताया गया है कि दूसरी योजना में ८ लाख अतिरिक्त लोगों को काम दिया गया, जबकि १९६१ की जनगणना के अस्थायी आंकड़ों के अनुसार श्रमिक वर्ग में १३ लाख ८२ हजार नये लोग आये, जिससे बचे बेकारों की संख्या १० लाख ८२ हजार हो गयी।

अनुमान है कि बिहार की तीसरी योजना में ९ लाख ७२ हजार अतिरिक्त लोगों के लिए रोजगारी के अवसर निम्न रूप में निर्मित किये जायेंगे: निर्माण कार्यों में २ लाख ८८ हजार; पहले से जारी रोजगारी २ लाख

९७ हजार; राज्य सरकार की योजना परियोजनाओं के फलस्वरूप व्यापार, वाणिज्य आदि में माध्यमिक रोजगारी ३ लाख २८ हजार; और कृषि परियोजनाओं में ५९ हजार। इससे कुल रोजगारी संख्या ९ लाख ७२ हजार होती है। तीसरी योजनावधि में, बिहार की तीसरी योजना के अनुसार श्रमिक शक्ति में १६ लाख ९० हजार लोगों के बढ़ने की आशा है। इस प्रकार यदि बेकारी को पूर्णतः दूर करना है तो तीसरी योजना में २७ लाख ७२ हजार लोगों को काम देना होगा। जैसा कि ऊपर दिखाया गया है, बिहार में राज्य की योजनाओं से ९ लाख ७२ हजार नये लोगों को रोजगारी मिलने की आशा है। इस प्रकार तीसरी योजना के अंत में १८ लाख लोग बेकार रह जायेंगे।

धंधा वितरण

उपर्युक्त में केन्द्रीय योजना की वे परियोजनाएँ शामिल नहीं हैं, जोकि बिहार में कार्यान्वित की जाती हैं। केन्द्रीय सरकार की इन परियोजनाओं के फलस्वरूप आशा है कि बेकारों की संख्या ३ लाख से अधिक नहीं रहेगी, जिसका अर्थ है कि बिहार में तीसरी योजनावधि में कुल २४ लाख ७२ हजार व्यक्तियों के लिए काम की व्यवस्था की जायगी। तथापि, यह असम्भव-सा दीखता है। इस उच्च आशावादी आंकड़े की गणना की विस्तृत व्याख्या बिहार की तीसरी योजना के उपर्युक्त वक्तव्य की पुष्टि के लिए नहीं की गयी है। तथापि, यदि हम १९५१ और १९६१ के जनगणना आंकड़ों को देखें तो बेकारों की संख्या में ५५ लाख से अधिक की वृद्धि नजर आती है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है यदि दो योजनाओं में १५ लाख नये लोगों को काम दिया जा सका है, तो बाकी अतिरिक्त रोजगारी को सामान्य आर्थिक विकास का सृजन समझा जा सकता है।

राज्य में रोजगारी और बेकारी की मात्रा के विषय में उपर्युक्त पर्यवेक्षण की पृष्ठभूमि में, अब हम विभिन्न वर्गों में रोजगारी पा रहे लोगों के वितरण पर गौर कर सकते हैं। सन् १९५१ की जनगणना सम्पूर्ण आबादी को तीन मुख्य श्रेणियों में विभक्त करती है: स्वावलम्बी, कमाऊ आश्रित और पूर्ण आश्रित। मोटे रूप में प्रथम दो श्रेणियों को कर्मी आबादी में ले सकते हैं, यद्यपि जैसा कि बिहार बेरोजगारी समिति का कहना है, कमाऊ आश्रितों के अधिकांश, और किसी भी दर से उनका खासा भाग, वस्तुतः सामान्य श्रमिक आय सीमा के नीचे का हो सकता है। तथापि, प्रत्येक जीविका श्रेणी में, जिसमें आश्रित भी शामिल हैं, कुल आबादी के अनुपात असल कर्मियों के, जिनमें पूर्ण आश्रित शामिल नहीं हैं, अनुपात के सम हैं, जिसमें प्रसंगवश यह अर्थ निकलता है कि प्रत्येक श्रेणी में पूर्ण आश्रितों का कुल पूर्ण आश्रितों से सापेक्षिक अनुपात वही है, जोकि प्रत्येक श्रेणी के कमाऊ लोगों का कुल कर्मियों से है। ये अनुपात निम्न प्रकार हैं:

१९५१ की जनगणना	प्रतिशत्य	
कृषिक वर्ग	८६.०५	
खेती के अलावा उत्पादन	३.०२	
वाणिज्य	३.३५	९.८५
यातायात और परिवहन	.७	
अन्य सेवाएँ और विविध स्रोत	५.९	

सन् १९६१ की जनगणना में आबादी को कर्मियों की नौ श्रेणियों में विभक्त किया गया है: (१) खेतिहर, (२) खेतिहर मजदूर; (३) खान, पाषाण खनि, पशुपालन, वन, शिकार आदि कार्यों में लगे लोग; (४) घरेलू उद्योग; (५) घरेलू उद्योग के अलावा अन्य उत्पादन; (६) निर्माण; (७) वाणिज्य और व्यापार; (८) परिवहन, भंडार और संचार; तथा (९) अन्य सेवाएँ।

हाँ, इनमें से प्रथम दो श्रेणियाँ १९५१ की जनगणना के जीविका वर्गों के प्रथम तीन के समान हैं और उन्हें एक साथ लें तो मोटे तौर पर १९५१ की जनगणना के कृषिक वर्गों के समान हैं। अतः जीविका वर्गों से सम्बन्धित १९५१ की जनगणना आंकड़ों से उनकी उपयोगी तुलना निम्न प्रकार की जा सकती है:

१९६१ की जनगणना: कर्मियों का (प्रातिशत्य) वर्गीकरण

१ और २ खेतिहर तथा खेतिहर मजदूर	७६.८४	८०.२३	
३ खान, पाषाण-खनि, पशुपालन, वन, मत्स्यपालन शिकार आदि में लगे लोग	३.३९		
४ घरेलू उद्योग	५.५०	७.७१	८.२७
५ घरेलू उद्योग के अलावा अन्य उत्पादन	२.२१		
६ निर्माण	.५		
७ वाणिज्य और व्यापार	२.७	११.४	
८ परिवहन, भण्डार और संचार	१.२		
९ अन्य सेवाएँ	७.५		

यह वृत्ति के वैविध्यीकरण की दृष्टि से सुधार और कृषि से आपेक्षिक महत्व में कमी– ८६ प्रति शत से ८० प्रति शत–दर्शाता है। जबकि १९५१ में खेती के अलावा अन्य उत्पादन में आबादी का ४ प्रति शत से भी कम भाग लगा था,§ १९६१ की जनगणना में यह दर्शाया गया है कि लाभदायक रोजी प्राप्त लोगों में से करीब ११ प्रति शत वाणिज्य, यातायात, संचार आदि के अलावा गैर खेतिहर उत्पदनों में लगे हैं। निर्माण उद्योगों में निश्चय ही स्फुरण है और घरेलू उद्योगों तथा उनके अलावा अन्य निर्माण उद्योगों में १९६१ में लाभदायक रोजी प्राप्त लोगों का ७.७ प्रत शत भाग लगा है, जबकि १९५१ में 'कृषि के अलावा अन्य उत्पादन' में ४ प्रति शत से भी कम लोग लगे थे।§

सन् १९६१ की जनगणना की अन्तिम कुल आबादी १९५१ की कर्मी आबादी को १९६१ के अनुसार श्रेणी-बद्ध करती है (पृष्ठ ४०६)। फिर, वृत्ति सम्बन्धी वितरण के तुलनात्मक प्रातिशत्य इस प्रकार होते हैं:

	१९५१		१९६१	
१ और २	८३.९	८६.०४	७६.८४	८०.२३
३	२.१४		३.३९	
४	—		५.५	
५	३.०९		२.२१	
६	०.५३		.५१	
७	३.७		२.७	
८	.९		१.२	
९	५.४		७.५	

हाँ, यह स्पष्ट है कि १९६१ की जनगणना आंकड़ों के अनुसार भी बिहार की अर्थ-व्यवस्था में बहुत ही पिछड़ी अर्थ-व्यवस्था के गुण विद्यमान हैं, जिसमें कि वृत्ति में लगी ८० प्रति शत आबादी प्राथमिक (कृषि, खान, पशुपालन, वन, शिकार, मत्स्य-पालन); ७.७१ प्रति शत माध्यमिक (घरेलू उद्योग तथा अन्य निर्माण उद्योग); और १२ प्रति शत तृतीय श्रेणी के उद्योगों (निर्माण,* व्यापार, वाणिज्य, परिवहन, संचार तथा अन्य सेवाएँ और धंधे) में लगी है। यह अवस्था भी १९५१ की अपेक्षा सुधरी हुई है, जिसमें कि ९१ प्रति शत से अधिक प्राथमिक (अकेली कृषि में ही ८६ प्रति शत से अधिक और बाकी प्राथमिक उद्योगों में ५ प्रति शत से कुछ अधिक); ४ प्रति शत से कम माध्यमिक (खेती के अलावा उत्पादन); और १० प्रति शत तृतीय श्रेणी के उद्योगों में लगे थे।† इस प्रकार योजित आर्थिक विकास का प्रभाव

§ यदि हम १९६१ की वृत्ति श्रेणियों में २,४ और ५ श्रेणी के कर्मियों का प्रातिशत्य जोड़ दें तो ५.८ प्रति शत।

* सन् १९६१ की जनगणना तालिकाओं में निर्माण कार्य को माध्यमिक धंधा माना गया है।

† सन् १९६१ की जनगणना तालिकाओं में किये गये सन् १९५१ की कर्मी आबादी के वर्गीकरण के अनुसार : प्राथमिक ८६.१२ प्रति शत, माध्यमिक (सिर्फ उद्योग) ३.१ प्रति शत और तृतीय श्रेणी के धंधे–९.७६ प्रति शत।

वृत्ति सम्बन्धी पद्धति पर पड़ रहा है। तथापि, यह अजीब बात है, जैसा कि अखिल भारत अन्तिम आबादी योग की भूमिका में कहा गया है, कि सम्पूर्ण देश के लिए, जिसमें प्रत्येक राज्य शामिल है, वाणिज्य में गिरावट आयी है, यद्यपि परिवहन में आपेक्षिक तौर पर महत्व-पूर्ण वृद्धि हुई है।

तथापि, इन सब बातों पर इस नजरिये से गौर करना चाहिए कि (१) कर्मियों सम्बन्धी सन् १९६१ की व्याख्या १९५१ की व्याख्या जैसी नहीं है; (२) १९६१ की कर्मी आबादी का वृत्ति सम्बन्धी वर्गीकरण १९६१ की श्रेणियों के अनुसार करना बिल्कुल सही नहीं हुआ होगा; और (३) सन् १९६१ की परिभाषा में कर्मियों में "किराया कमानेवालों" को शामिल नहीं किया गया है, जिनकी संख्या हर तरह से काफी हो सकती है।§

इन गुणों के अनुसार यह कहना सही होगा कि बिहार भारत के बहुत ही ग्रामीण राज्यों में एक बना हुआ है, जबकि अखिल भारतीय स्थिति १९५१ और १९६१ में इस प्रकार थी :

कुल कर्मी आबादी का प्रातिशत्य

	१९५१	१९६१
प्राथमिक	७२.१२	७२.२८
माध्यमिक	१०.६२	११.७०
तृतीय श्रेणी	१७.२६	१६.०२

सम्पूर्ण देश की दृष्टि से प्राथमिक विभाग कुछ उन्नत हुआ है जबकि बिहार में इसमें थोड़ी अवनति हुई है। यह ऐसा झुकाव है जोकि अखिल भारत की तुलना में बिहार में कुल पुरुष आबादी में पुरुष कर्मियों की श्रेणी १ और २ के प्रातिशत्य में भिन्नता दिखानेवाले आंकड़ों से सम्पुष्ट है। (इस सम्बन्ध में आंकड़े इसी पृष्ठ पर सबसे नीचे की तालिका में दिये गये हैं।)

अन्तिम आबादी योग में १९६१ की जनगणना में कृषिक कर्मियों पर दिये गये परिशिष्ट में १९५१ और १९६१ के तत्संम्बन्धी आंकड़े निम्न प्रकार हैं:

कुल कर्मी आबादी के प्रातिशत्य स्वरूप बिहार को खेतिहर कर्मी आबादी

	१९५१	१९६१
खेतिहर	६०.०९	५३.८७
खेतिहर मजदूर	२३.८८	२२.९७
	८३.९७	७६.८४

इस से पता चलता है कि आबादी के वृत्ति सम्बन्धी वितरण में कृषि से लोग अलग हो रहे हैं।

इस प्रकार ये आंकड़े दर्शाते हैं कि बिहार में सम्पूर्ण भारत के बनिस्बत अधिक परिवर्तन हुआ है। अन्य दृष्टि से सचमुच अखिल भारत की स्थिति गिरी है। अब तक कृषि (श्रेणी १ और २) में लगी कुल पुरुष आबादी का प्रातिशत्य ऊँचा उठा है—सन् १९५१ के ३६.१३ प्रति शत से १९६१ में ३७.०८ प्रति शत और इसके अतिरिक्त प्राथमिक विभाग में कर्मी आबादी में

	१ खेती		२ खेतिहर मजदूर	
	१९५१ में प्रातिशत्य	१९६१ में प्रातिशत्य	१९५१ में प्रातिशत्य	१९६१ में प्रातिशत्य
बिहार	६०.३७	५३.४६	२२.३९	१९.८७
अखिल भारत	५१.९०	५१.४६	१४.९५	१३.४२

§ सन् १९६१ में बिहार में कृषक वार्षिक आयवाले ८१,००० और गैर खेतिहर सालाना आमदनीवाले ४१,००० थे।

थोड़ी-सी वृद्धि हुई है, जोकि पहले बतायी जा चुकी है। बिहार की व्यावसायिक पद्धति में परिवर्तन ग्रामीण तथा शहरी आबादी के अनुपात में भी परिलक्षित हुआ है। यद्यपि अधिकांश लोग अब भी ग्रामीण ही हैं, कुल आबादी में शहरी आबादी का अनुपात बढ़ा है—१९५१ के ६.४७ से बढ़ कर १९६१ में वह ८.४३ हो गया है। और, इसके लिए अखिल भारत अंक १७.३५ से बढ़ कर सिर्फ १७.९५ ही हुआ है।

आबादी वृद्धि के साथ ही भूमि पर आबादी बोझ भी बढ़ा है—राज्य का औसत आबादी घनत्व ५७८ से ६९१ हो गया है और किसानों की संख्या प्रति १०० एकड़ पीछे ४७ से बढ़ कर ७५ हो गयी है। इसने निश्चय ही राज्य की कृषि अर्द्ध बेकारी की अवस्था में काफी ह्रास लाया है।

सन् १९५१ और १९५६ में हुई दो कृषि श्रमिक जांच राज्य में आकस्मिक पुरुष खेतिहरों द्वारा किये गये काम के दिनों की संख्या इस प्रकार बताती है:

	वर्ष	मजदूरी के लिए रोजगारी	निजी काम	कुल
आकस्मिक पुरुष कर्मी	१९५०–५१	१९८	८२	२८०
	१९५६–५७	२१८	२८	२४६
संलग्न पुरुष कर्मी	१९५०–५१	२७६	६८	३४४
	१९५६–५७	२२४	२२	२४६

कृषि क्षेत्र में अखिल भारत के मुकाबले बिहार की स्थिति खेतिहर प्रातिशत्य के मामले में देश के कुल खेतिहरों की तुलना में थोड़ी गिरी है—१९५१ के ११.६७ प्रति शत से गिर कर १९६१ में वह १०.४१ हो गया है, परन्तु भारत के कुल खेतिहर मजदूरों की तुलना में इनकी संख्या में बिहार में हुई वृद्धि से वह कमी पूरी हो गयी लगती है—यह १९५१ के ११.७७ प्रति शत से बढ़ कर १९६१ में १४.०३ हो गयी है। इस पर अखिल भारत शुद्ध खेत की तुलना में बिहार में जोते गये शुद्ध क्षेत्र में हुई शुद्ध कमी के कारण गिरे प्रातिशत्य की पृष्ठभूमि में विचार करना चाहिए (अनुमानतः पश्चिम बंगाल को हस्तांतरित क्षेत्र के कारण); यह क्षेत्र ७.७१ प्रति शत से घट कर ६.०७ प्रति शत हो गया है। भूमि पर बढ़े आबादी बोझ का दिग्दर्शन इसी से हो जाता है कि इस अवधि में खेतिहर मजदूरों और किसानों की संख्या प्रति १०० एकड़ ४७ से बढ़ कर ७५ हो गयी है।

अर्द्ध बेकारी

गैर खेतिहर वर्गों में भी अर्द्ध बेकारी है, पर यह कृषि में अधिक है। जैसा कि ऊपर बताया गया है,

वयस्क मजदूरिनों की स्थिति इस प्रकार है: मजदूरी के लिए रोजगारी १९५०–५१ में १११ दिन तथा १९५६–५७ में १२४ दिन और निजी काम के लिए २७ दिन।

इस प्रकार महिलाओं की रोजगारी का रुख पुरुष श्रमिकों की रोजगारी के रुख के समान ही है। पुरुष श्रमिकों के प्राधान्य के कारण सामान्य निष्कर्ष रोजगारी अवसरों में कमी ही निकाला जायगा, जैसा कि प्रति १०० एकड़ पीछे आबादी में हो रही वृद्धि से युक्तिसंगत लगेगा।

फालतू अथवा अनावश्यक खेतिहर आबादी

बिहार बेरोजगारी समिति ने १९६० में प्रकाशित अपने प्रतिवेदन में 'अनावश्यक खेतिहर आबादी' के विषय में अच्छी संगणना की है। अनावश्यक लोगों की संख्या जानने के लिए समिति ने स्वावलम्बी खेतों का स्वरूप अपनाया है। निर्दिष्ट खेत के सन्दर्भ में एक स्वावलम्बी खेत की परिभाषा यह दी गयी है कि वह खेत जोकि परिवार के दो वयस्क पुरुषों की, मय परिवार के महिला और बाल सदस्यों की सहायता के, पूरी सेवा

ले। इस प्रकार के स्वावलम्वी खेत का आकार स्पष्टतः क्षेत्र-क्षेत्र में अलग होगा। समिति हर क्षेत्र के लिए अलग-अलग यह भी गणना करती है कि यदि खेती योग्य सम्पूर्ण भूमि को इस तरह के अस्तित्ववाले खेतों में विभक्त कर दिया जाय तो खेती के लिए कितने किसानों की जरूरत होगी। इस प्रकार प्राप्त संख्या से जितने अधिक लोग खेती में लगे होंगे, खेतिहर आवादी में अनावश्यक अथवा फालतू गिने जायेंगे।

समिति ने १९५१ की जनगणना के आधार पर राज्य में अनावश्यक खेतिहर आबादी ४३ लाख ७० हजार गिनी। समिति ने 'अनावश्यक' के लिए जो माप अपनाया, उस पर वस्तुतः कई बातों को ले कर विवाद किया जा सकता है, परन्तु अभी इसे अर्द्धबेकारी के मोटे माप के रूप में मान लिया जा सकता है। इस तथ्य की दृष्टि से कि खेतिहर आवादी प्रति १०० एकड़ पीछे करीब ६० प्रति शत बढ़ गयी है, यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अर्द्ध बेकारी भी उतनी ही बढ़ गयी होगी। द्वितीय कृषि श्रमिक जांच में जो यह बताया गया है कि बेरोजगार दिनों की संख्या बढ़ गयी है, उसके लिए बहुत कुछ पूछताछ की गयी। कितना बिगाड़ हुआ है इसके निश्चित माप में गलती हो सकती है, परन्तु आवादी में वृद्धि तो इस निष्कर्ष के लिए आगाह करती ही है कि रोजगारी की तीव्रता में थोड़ी कमी हुई है।

शहरी बेकारी

निश्चय ही जनगणना आंकड़े खेतिहरों की संख्या में ३० प्रति शत वृद्धि दर्शाते हैं जवकि कुल ग्रामीण आबादी में १८ प्रति शत से कम ही वृद्धि हुई है। बेशक यह सन् १९५२ के बनिस्बत १९६१ में अर्द्ध बेकारी की वड़ी मात्रा पर पर्दा डालता है। जैसा कि बिहार बेरोजगारी समिति ने कहा है, कृषि में कुछ ही परिवार अपने सदस्यों में से किसी को बेकार कहेंगे, भले ही परिवार और खेत का आकार जो भी हो। जैसा कि द्वितीय कृषि श्रमिक जांच और जनगणना आंकड़ों से प्रदर्शित होता है, १९५१–६१ के दशक में कृषि में अर्द्ध बेकारी की अवस्था बिगड़ी ही होगी।

सन् १९५१ और १९६१ के बीच बिहार की शहरी आवादी करीब ४८ प्रति शत बढ़ी। शहरी कर्मियों की संख्या में करीब ४६ प्रति शत वृद्धि हुई है। इस प्रकार यह दोनों वृद्धि-दर करीब-करीब बराबर हैं तथा बेकारी अथवा अर्द्ध बेकारी की मात्रा में अधिक परिवर्तन नहीं होना चाहिए। निश्चय ही शहरी क्षेत्रों में ग्रामीण क्षेत्रों के बनिस्बत अर्द्ध बेकारी बहुत ही कम है। बिहार बेरोजगारी समिति ने १९५४ में नमूना आधार पर शहरी रोजगारी का सर्वेक्षण किया था। विभिन्न श्रेणियों के शहरों से नमूना सर्वेक्षण के लिए ४,३१६ परिवार चुने गये जिनके सदस्यों की संख्या २३,००० से अधिक थी। श्रमिक आयु की नमूना श्रमिक शक्ति से २१,००० से कुछ अधिक लोग थे। कुल ४,३१६ परिवारों में से ३५.२ प्रति शत बेकार अथवा अर्द्ध बेकार थे। बेकार लोगों की संख्या १,८५५ थी और आंशिक रोजगारी पानेवालों की ८०४। काम करने योग्य पुरुषों और महिलाओं में काम चाहने पर भी क्रमशः १५.३६ प्रति शत और १.७६ प्रति शत पूर्णतः और ७.०५ प्रति शत तथा ७.३५ प्रति शत आंशिक रूप में बेकार थे।

सन् १९५० के अंत में कामदिलाऊ दफ्तर की बही में २५,४२४ आवेदकों के नाम दर्ज थे। सन् १९५६ तक यह संख्या ६८,००० हो गयी और सितम्बर १९६२ में १,६२,७६५। यह तो मानी हुई बात है कि कामदिलाऊ दफ्तरों के आंकड़े बहुत ही अपूर्ण हैं और उनसे सम्पूर्ण राज्य की बेकारी की अवस्था के रुख के विषय में निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। कामदिलाऊ दफ्तरों में बढ़ती संख्या में नाम दर्ज कराने का अर्थ बहुत कुछ यह है कि बेकार लोग इस माध्यम का अब अधिक लाभ उठा रहे हैं।

मजदूरी रोजगारी में महिलाएँ

रोजगारी स्थिति का एक महत्वपूर्ण पहलू है महिलाओं का रोजगारी की ओर झुकाव। द्वितीय कृषि श्रमिक जांच ने यह बताया कि जबकि पुरुष श्रमिकों के रोजगारी दिनों की संख्या में कमी हुई है, महिला श्रमिकों के रोजगारी दिनों की संख्या हर राज्य में बढ़ी है, जोकि

प्रथम कृषि श्रमिक जांच के विवरण से तुलना करने पर स्पष्ट हो जाती है। इस प्रकार बिहार में वयस्क महिलाओं को जहाँ कि १९५०–५१ में १११ दिनों की मजदूरी रोजगारी मिली थी, १९५६–५७ में १२४ दिनों की मिली। सन् १९६१ की जनगणना में भी यह बताया गया है कि जबकि १९५१ में २०.६६ प्रति शत महिलाएँ काम पर थीं, १९६१ में उनका प्रातिशत्य २७.१२ हो गया। कर्मी महिलाओं का अधिकांश कृषि में लगा है—कुल कर्मी महिला आबादी के ८४ प्रति शत से भी अधिक। तथापि, अन्य विभागों में भी महिलाओं का प्रसार हुआ है, जोकि इस तथ्य से प्रत्यक्ष है कि जबकि १९५१ में करीब ८७ प्रति शत कर्मी महिलाएँ कृषि में थीं, १९६१ में वे सिर्फ ८४ प्रति शत से कुछ अधिक थीं, यद्यपि १९६१ में काम करनेवाली महिलाओं की संख्या ६२ लाख ७० हजार थी और १९५१ में ३९ लाख ८० हजार।

सन् १९५१ जनगणना की व्यावसायिक श्रेणियों में कुटीरोद्योगों का कोई विशेष जिक्र नहीं किया गया है—जिसके विषय में १९६१ में बताया गया है। अतः इस विभाग में रोजगारी के क्षेत्र में हुई प्रगति का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। तथापि, अपेक्षतया निर्माण का बढ़ा महत्व यह दर्शाता है कि घरेलू उद्योग, जिन पर प्रथम दो योजनाओं में काफी ध्यान दिया गया है, ने इस बड़े विभाग में रोजगारी बढ़ाने में काफी योगदान दिया होगा। सन् १९६१ में घरेलू उद्योगों में १० लाख ५ हजार लोग लगे थे अर्थात् बिहार की रोजगारी में लगी कुल आबादी का ५.४ प्रति शत, जबकि घरेलू उद्योग के अलावा अन्य निर्माण उद्योगों में ३ लाख ६० हजार अर्थात् रोजगारी में लगी कुल आबादी के २ प्रति शत लोग लगे थे।

उपर्युक्त विवरण पंच वर्षीय योजनाओं के सन्दर्भ में बिहार की आबादी और रोजगारी की स्थिति की चन्द मुख्य बातों का संक्षिप्त, बल्कि छिटपुट सर्वेक्षण है। यह स्पष्ट है कि बेकारों की संख्या विषयक विवरण बहुत ही उलझा हुआ है। काम के लायक श्रमिक शक्ति के सम्बन्ध में विभिन्न अनुमानों पर आधारित गणना स्पष्टतः भिन्न हैं। सन् १९६१ की जनगणना में बेकारों की जितनी कम संख्या बतायी गयी है उससे बड़ा ताज्जुब होता है और निश्चय ही इस पर बेरोजगारी की अपनायी गयी परिभाषा और तदनुसार की गयी गणना का प्रभाव पड़ा है। अतः इसे कम अन्दाज माना जा सकता है। पिछली जनगणना की आर्थिक तालिकाएँ इस स्थिति पर निश्चय ही प्रकाश डालेंगी, विशेष कर उनके विषय में जोकि कहीं काम नहीं कर रहे और काम की खोज में हैं।

जैसा कि बताया गया है, यह संख्या बहुत बड़ी नहीं हो सकती है, जिस तरह कि कृषि-प्रधान अर्थ-व्यवस्था में कृषि के बाहर काम खोजनेवालों की संख्या का अधिक होना संभव नहीं लगता। तथापि, यह बताना आवश्यक है कि विकासोन्मुख कृषि अर्थ-व्यवस्था में, जिसकी आबादी बढ़ती जा रही हो, अर्द्ध बेकारी एक मुख्य समस्या है। अनावश्यक कृषि आबादी का स्वरूप बहुत ही महत्वपूर्ण है। परन्तु इसकी उत्तम ढंग से व्याख्या करनी होगी और इसकी मात्रा को सही-सही निश्चित करना होगा। निष्क्रिय जन-स्रोत न सिर्फ सामाजिक समस्या पैदा करते हैं, बल्कि राष्ट्रीय बर्बादी का भी प्रतिनिधित्व करते हैं। अपूर्ण विकसित श्रम बाजार होने से शहरों में भी काम ढूंढ़नेवालों की सही संख्या निश्चित करना कठिन है, परन्तु जैसा कि बिहार बेरोजगारी समिति* ने जोर दिया था, सत्य यही है कि कुल आबादी का २० प्रति शत अथवा श्रमिक आयु वर्ग की कुल आबादी का ३६ प्रति शत १९५१ में रोजगारी में लगा था और यद्यपि बाकी सभी श्रम बाजार में नहीं भी आ सकते हैं, परन्तु वे अर्थ-व्यवस्था पर बोझ बन जाते हैं; और भारत की गरीबी का मुख्य कारण वे ही हैं। इस प्रकार उत्पादक रूप में श्रम के उपयोग की दृष्टि से रोजगारी और श्रम के आंकड़ों पर विवेकपूर्ण ढंग से विचार करना चाहिए।

पटना : २३ सितम्बर १९६२

---

* समिति की गणना निम्न प्रकार है :

१. सन् १९५१ में श्रमिक आयु वर्ग की आबादी = २,२०,०३,०००
२. घटाव विद्यार्थियों, शिशिक्षुओं, अपाहिजों आदि की संख्या = ५९,१३,०००
३. अतः जिन्हें काम पर रहना चाहिए, उनकी संख्या (१–२) = १,६०,९०,०००
४. सन् १९६१ में जिन्हें स्वावलम्बी बताया गया = १,२७,०७,०००
अतः आबादी में से आर्थिक रूप में निष्क्रिय वे लोग जिन्हें काम पर रहना चाहिए (३–४) = ३३,८३,०००
अनुमानित अनावश्यक श्रमिक शक्ति जोड़ दें = ४३,७८,०००
कुल निष्क्रिय आबादी, जिसे कि काम पर रहना चाहिए था, जोकि जितने लोगों को काम पर रहना चाहिए था उसके ५४.४ प्रति शत से अधिक है = ८७,६१,०००

आर्थिक विकास का साधन : शिक्षा

म. बालसुब्रह्मण्यम्

शिक्षा मनुष्य को इस बात का बेहतर एहसास कराती है कि समाज के प्रति उसका कर्तव्य क्या है; क्योंकि वह उसकी योग्यता बढ़ाती है। प्रथम योजना आरम्भ किये जाने के वक्त से यद्यपि शिक्षा सुविधाओं का विस्तार हुआ है, किन्तु जहां तक शिक्षा प्रणाली को सामाजिक उद्देश्य के समरूप परिवर्तित करने का प्रश्न है, परिणाम साधारण ही रहे हैं।

शिक्षण और प्रशिक्षण सुविधाओं का विस्तार न सिर्फ भारत जैसे विकासोन्मुख देश, बल्कि इंग्लैंड और अमेरिका जैसे पूर्ण विकसित अधिकांश देशों में भी प्रासंगिक बन गया है। उदाहरणार्थ, इंग्लैंड में भी आज शिक्षा पर कुल राष्ट्रीय आय का जो चार प्रति शत खर्च किया जाता है, वह अपर्याप्त पाया गया है और यह विचार प्रकट किया जाता है कि औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था के लिए सक्षम जन-शक्ति और विशेषज्ञ प्राप्त करने हेतु इसमें तुरंत कम से कम १·५ प्रति शत वृद्धि करनी चाहिए। इस प्रकार आर्थिक विकास से सम्बन्धित शैक्षणिक विकास के प्रकार और कार्यकर्त्ताओं तथा कर्मचारियों के प्रशिक्षण की ओर आज जनता का ध्यान जा रहा है।

सामाजिक जीवन पर प्रभाव

योजित विकास में शिक्षा का बहुत बड़ा महत्व है। इसे विशिष्ट कार्यों के लिए कार्यकर्त्ताओं की व्यवस्था करनी होती है, भारत जैसे विशाल देश में जिनकी संख्या बहुत अधिक है और विस्तृत आयोजन में किस्म अत्यधिक विविध। इसे एक सामाजिक वातावरण बनाना है जोकि योजित प्रगति में सहायक हो ताकि लोग योजना के कार्यान्वयन में सिर्फ विविध रूपों में सजग और बुद्धिमत्तापूर्वक सहयोग ही न दें, बल्कि योजना के लाभों के उपयुक्त उपयोग में भी सहायता दें जिससे कि स्वीकृत सामाजिक लक्ष्य की ओर प्रगति हो। लोकतांत्रिक आयोजन में जन-सहयोग न सिर्फ योजना के कार्यान्वयन में ही चाहिए, बल्कि इसकी रचना में भी और यह उस हद तक सफल होता है जिस हद तक लोग अपनी आवश्यकताओं को समझते हैं तथा उनकी पूर्ति के लिए परिश्रम करने को तैयार हैं। तीव्र आर्थिक विकास और प्राविधिक प्रगति, जोकि इसमें निहित हैं, शक्तियाँ पैदा करती हैं जोकि जन-जीवन के हर पहलू पर अपना प्रभाव डालती हैं—और जिसमें परिवर्तन व समंजन की जरूरत है—और जब तक उन्हें उचित रूप में इस तीव्र परिवर्तन की चुनौती का उत्तर देने के लिए, जिसमें कि वे शामिल हो जाती हैं, उचित रूप में शिक्षित नहीं किया जाता, समाज में गम्भीर अव्यवस्थाएं और तनाव पैदा होंगे।

इस प्रकार किसी देश में आर्थिक आयोजन की सफलता न सिर्फ आर्थिक खर्च और कृषि, उद्योग, शक्ति, परिवहन तथा संचार सम्बन्धी भौतिक लक्ष्यों की पूर्ति पर, बल्कि विभिन्न परियोजनाओं और कार्यक्रमों के कार्यान्वयन हेतु उपलब्ध ईमानदार और सुप्रशिक्षित तकनीकल कार्यकर्त्ताओं के रूप में साधन के गुण और योग्यता पर भी निर्भर करती है। शिक्षा जन-साधन को आर्थिक प्रगति के उपयुक्त तो बनाती ही है, बल्कि उससे भी अधिक राष्ट्र के कल्याण में भी, अमूर्त परन्तु निश्चित ही योगदान देती है।

प्रथम योजनारम्भ के पूर्व

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व शिक्षा पर नाम मात्र का ध्यान दिया जाता था। प्रथम पंच वर्षीय योजना आरम्भ

होने तक अवस्था में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था। अप्रैल १९५१ तक ६ से ११ वर्ष के आयु वर्ग के सिर्फ ४२.६ प्रति शत बच्चे ही स्कूल जाया करते थे; ११ से १४ वर्ष के आयु वर्ग के लिए यह प्रातिशत्य १२.७ और १४ से १७ वर्ष के आयु वर्ग के लिए ५.३ था। छः से सत्रह वर्ष के आयु वर्ग के कुल बच्चों का २५.४ प्रति शत ही स्कूल जाता था। कुल साक्षरता प्रातिशत्य १६.६ ही था। तकनीकल और वृत्तिक शिक्षा के लिए सुविधाएँ बहुत ही अपर्याप्त थीं। सिर्फ ४९ डिग्री कालेज थे जिनमें करीब ४,००० विद्यार्थियों के लिए स्थान था तथा ८६ पोलिटेकनिक संस्थाओं में ६,००० विद्यार्थियों के लिए। ग्रामीण क्षेत्रों की मान्य शैक्षणिक संस्थाओं पर हुआ। महिला शिक्षा तो काफी पीछे रही। छः से ग्यारह वर्ष के आयु वर्ग की सिर्फ २४.६ प्रति शत; ११ से १४ वर्ष के आयु वर्ग की ४.५ प्रति शत और १४ से १७ वर्ष के आयु वर्ग की १.८ प्रति शत लड़कियाँ ही स्कूल जाती थीं। आबादी के २२ प्रति शत लोग परि-गणित जातियों और परिगणित जन-जातियों के हैं। विभिन्न राज्यों और यहाँ तक कि एक ही राज्य के विभिन्न क्षेत्रों के बीच उपलब्ध शैक्षणिक सुविधाओं में भी गहरा अन्तर था।

विस्तार सुविधाएँ

तालिका १ में शिक्षा पर हुए खर्च और राष्ट्रीय आय में उसका प्रातिशत्य दिखाया गया है।

तालिका १

शिक्षा पर व्यय और राष्ट्रीय आय : १९५०–१९६६

मद	१९५०–५१	१९५५–५६	१९६०–६१	१९६५–६६ (अनुमानित)
१. १९६०–६१ के मूल्यों पर राष्ट्रीय आय (लाख रुपये में)	१०,२४,०००	१२,१३,०००	१४,५०,०००	१९,००,०००
२. आबादी (लाख में)	३,६१०	३,९७०	४,३८०	४,९००
३. १९६०–६१ के मूल्यों पर प्रति व्यक्ति आय (रु.)	२८४	३०६	३३०	३८५
४. शिक्षा पर प्रति व्यक्ति कुल खर्च (रु.)	३.२	४.९	७.३	९.४
५. शिक्षा पर प्रति व्यक्ति सरकारी खर्च (रु.)	१.८	३.०	५.०	६.७
६. (३) के प्रातिशत्य स्वरूप (४)	१.१	१.६	२.२	२.४

कुल स्थिति असंतोषजनक होने के अलावा, शिक्षा पद्धति में गंभीर आन्तरिक गड़बड़ियाँ भी थीं। जबकि अधिकांश आबादी गाँवों में रहती है, शैक्षणिक सुविधाएँ, विशेषतः माध्यमिक और उच्च शिक्षा के लिए, अधिकतर शहरों में ही केन्द्रित थीं। सन् १९५०–५१ में शिक्षा पर हुए कुल खर्च का ३७.५ प्रति शत

तालिका १ से यह प्रकट है कि पिछले वर्षों में प्रति व्यक्ति शिक्षा पर खर्च का प्रावधान बढ़ता रहा है।

तीनों योजनाओं में शिक्षा के विकास हेतु किये गये आर्थिक प्रावधान सम्बन्धी आँकड़े तालिका २ में दिये गये हैं।

तालिका २

शिक्षण और प्रशिक्षण के लिए आर्थिक प्रावधान : १९५१–६६

(करोड़ रु. में)

	प्रथम योजना (१९५१–५६)	द्वितीय योजना (१९५६–६१)	तृतीय योजना (१९६१–६६)
सामान्य शिक्षा (सांस्कृतिक कार्यक्रम सहित)	१३३	२०८	४१८
तकनीकल शिक्षा	२०	४८	१४२
वृत्तिक प्रशिक्षण (रोजगारी और प्रशिक्षण महानिर्देशक)	—	१३	४९
चिकित्सा शिक्षा	२२	३३	५७
कृषि शिक्षा (पशु-पालन सहित)	५	११	२०
अन्य (सामुदायिक विकास और सहकार, पुनर्वास तथा गृह मामलों के मंत्रालय)	२२	४२	३२
१. कुल शिक्षण और प्रशिक्षण	२१२	३५८	७६५
२. कुल योजना प्रावधान	१,९६०	४,६००	७,५००
३. (२) के प्रातिशत्य स्वरूप (१)	१०.३	७.८	१०.२

इन पन्द्रह वर्षों में शिक्षा के विकास के लिए निर्धारित की गयी राशि बढ़ती ही गयी है। प्रथम योजना में कुल योजना प्रावधान में शिक्षा खर्च का प्रातिशत्य उच्च था; क्योंकि अर्थ-व्यवस्था के तव उद्योग, शक्ति, सिंचाई, परिवहन और कृषि जैसे अन्य विभागों ने द्वितीय और तृतीय योजना जितनी उच्च व्यय गति प्राप्त नहीं की थी।

योजनाओं ने विभिन्न क्षेत्रों में तथा विभिन्न वर्ग के लोगों के लिए शिक्षा प्राप्ति के असंतुलन को दूर करने की भी कोशिश की है। यद्यपि पूर्ण आंकड़े प्राप्त नहीं हैं, तथापि यह झुकाव स्पष्ट नजर आता है कि गाँवों पर योजनावधि के पूर्व के बनिस्वत अधिक ध्यान दिया जा रहा है, यद्यपि पलड़ा अभी भी शहरी क्षेत्रों की ओर ही झुका हुआ है।

क्षेत्रीय अन्तर

किसी राज्य को साधनों का वितरण करते वक्त उसके प्रमुख विभागों में, जिनमें शिक्षा भी एक है, जो पिछड़ापन है उस पर विशेष ध्यान दिया जाता है। चन्द राज्यों में प्राथमिक शिक्षा के लिए प्रदत्त सुविधाओं की वृद्धि-दर तालिका ३ में प्रदर्शित है।

तालिका ३

पिछड़े राज्यों में प्राथमिक शिक्षा

(संख्या लाख में)

राज्य	श्रेणी १–५ में भर्ती १९५५–५६	१९६५–६६ (लक्ष्यांक)
बिहार	१७·८१	४८·००
जम्मू और कश्मीर	१·२६	३·०२
मध्य प्रदेश	१४·००	३०·००
उड़ीसा	६·५१	१६·००
राजस्थान	५·३६	२१·००
उत्तर प्रदेश	२८·०५	६६·५०
सब राज्यों के लिए	२४७·७६	४८७·८६

पिछड़े वर्गों की सहायता

जबकि अब भी देश पिछड़े वर्गों के लोगों को पर्याप्त संख्या में छात्रवृत्ति नहीं दे पाता, अब तक जो प्रगति हुई है वह उत्साहजनक है। सन् १९५०-५१ में छात्रवृत्ति देने पर जहाँ ३ करोड़ ५० लाख रुपये खर्च हुये थे, द्वितीय पंच वर्षीय योजना के अंत में करीब १८ करोड़ रुपये खर्च हुए और तृतीय पंच वर्षीय योजना के अन्तर्गत विभिन्न क्षेत्रों में नयी छात्रवृत्तियों के लिए ३७ करोड़ रुपये का प्रावधान रखा गया है। इनके अतिरिक्त विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा प्रदत्त अनुसंधान छात्रवृत्तियाँ और शिक्षा-वृत्तियाँ हैं तथा वैज्ञानिक अनुसंधान, कृषि और स्वास्थ्य जैसे क्षेत्रों में छात्रवृत्ति योजनाएँ हैं। उपयुक्त ३७ करोड़ रुपयों में से १७ करोड़ रुपये परिगणित जातियों, जन-जातियों और अन्य पिछड़े वर्गों के लिए हैं।

मूल्यांकन

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शिक्षा सुविधाएँ बढ़ाने के लिए सरकार द्वारा काफी प्रयास किया गया है। जहाँ तक शिक्षा के विस्तार का सम्बन्ध है, प्रगति उत्साहजनक रही है। जहाँ तक इसे सामाजिक उद्देश्य के अनुरूप बनाने हेतु गुणात्मक परिवर्तन और पद्धति में उपयुक्त परिवर्तन करने का सम्बन्ध है, प्रगति साधारण रही है। तथापि, देश ने समस्या को समझा है और उसे हल करने के लिए चन्द प्राथमिक प्रयास भी किये हैं। बहरहाल शिक्षा के क्षेत्र में जो कुछ भी करना है उसकी तुलना में, इसके पूर्व कि यहाँ योग्य और पर्याप्त शिक्षा पद्धति स्थापित हो, देश को अभी बहुत प्रगति करनी है।

अहमदनगर : २९ जुलाई १९६३

भूल सुधार-

खादी ग्रामोद्योग के सितम्बर १९६३ अंक में पृष्ठ ७८६ पर "यह बात......महामारी है।" वाले वाक्य का पूर्वार्द्ध इस प्रकार होना चाहिए था : "यह बात ६९ वर्ष पूर्व अच्छी तरह प्रतिष्ठापित हो चुकी थी कि अत्यधिक पालिशदार चावल के उपभोग और बेरीबेरी नामक बीमारी का बहुत गहरा सम्बन्ध होता है"...। भूल का हमें खेद है। —सम्पादक

विकेन्द्रित अर्थ-रचना

• देवेन्द्र कुमार गुप्त

ऐक्य तथा सामंजस्य पर आधारित समाज रचना की दिशा में व्यष्टि और समष्टि के हितों का संघर्ष समाप्त करना प्राथमिक कदम है। आर्थिक क्षेत्र में यह संघर्ष सम्भवतः अपेक्षाकृत अधिक है। इसका समाधान आर्थिक गतिविधियों के विकेन्द्रीकरण और उन्हें 'स्वावलम्बन' के आधार पर संगठित करने में निहित है।

मानव-मानव के मध्य ऐक्य तथा सहकार हो, तो ही शांति संभव है। ऐक्य पर आधारित समाज-रचना हमारा उद्देश्य है। इस प्रकार के सामाजिक स्वरूप का आधार क्या हो सकता है? व्यष्टि और समष्टि के हितों में जो झगड़ा या विवाद है उसे मिटाना होगा। हमें इस तरह के मानवीय दृष्टिकोण के निर्माण हेतु कार्य करना है जिसमें व्यष्टि अपने और समष्टि के हित में अन्तर करना छोड़ दे। इसके लिए एक ऐसे समाज की आवश्यकता है जिसे व्यक्ति अपने स्वयम् के समाज के रूप में समझ सके, अनुभव कर सके, उसे मान्यता दे सके और उसमें वह भाग ले सके। इस तरह की यह सामाजिक इकाई एक छोटा-सा ग्राम समुदाय हो सकता है, व्यक्ति जहाँ काम करता हो वहाँ के कर्मचारियों की भी ऐसी सामाजिक इकाई हो सकती है या जिस स्थान पर वह रहता है वहाँ के स्थानीय लोग भी उक्त सामाजिक इकाई बन सकते हैं। जिस समाज के प्रति व्यक्ति यह भावना रखे कि "मैं इस समाज में रहता हूँ" उसका स्वरूप या प्रकार विभिन्न हो सकता है, किन्तु उसे यह अनुभव करना चाहिए कि यह उसका अपना समाज है।

इससे वह इकाई बनेगी जिसमें व्यष्टि को इस प्रकार शिक्षित करना है कि वह प्रतियोगिता की भावना छोड़ कर सहकारी बन जाये। इस इकाई में वह उन सिद्धान्तों का व्यवहार करेगा जिनका फिलहाल वह अपनी पारिवारिक इकाई में करता है। वह अपने से ऊपरवाले की ओर निहार कर उसकी बराबरी करने के स्थान पर अपने से निचले की तरफ ध्यान दे कर उसे ऊपर उठाने में मदद देने का प्रयत्न करेगा। अनेक स्थलों पर अनेक रूपों में किया जानेवाला यह मामूली-सा प्रयास आज मानव जिस स्पर्धा के 'भाव' से जकड़ा हुआ है, उस जकड़ को ढीली कर देगा। इस सम्बन्ध में आचार्य विनोबा भावे ने जो आन्दोलन प्रशस्त किया है, उसका उदाहरण दिया जा सकता है। किसी अणु बम के गिरने से जिस प्रकार सर्वनाश होना निश्चित है वैसे ही इस प्रकार के दृष्टिकोण और उपागम से मानव-मानव के बीच ऐक्य तथा सद्भावना की स्थापना भी निश्चित है। ऐक्य से परिपूर्ण वातावरण में रहने की यह शिक्षा सभी स्थलों और अवस्थाओं में दी जानी सम्भव है, यद्यपि इसके लिए हमें अपने सभी साधनस्रोत तथा मेधा व प्रवीणता प्रयुक्त करनी पड़ेगी। अहिंसा, भ्रातृत्व और पारस्परिक सहकार पर आधारित समाज रचना के लिए ऐसा करना एक ठोस कार्य होगा। यह उपागम आर्थिक क्षेत्र में भी व्यवहृत करना पड़ेगा।

प्रविधि ने मानव को उत्पादन साधन दिये हैं। इससे पृथ्वी पर प्राकृतिक सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए उसकी क्षमता, और साथ ही उसका लालच यानी धन लोलुपता दोनों बढ़े हैं। अतएव मानव की धन-लोलुपता को नियंत्रित और सुव्यवस्थित करने के लिए मार्ग खोज निकालना आवश्यक बन गया है ताकि उसे जो अधिक भौतिक साधन-स्रोत और शक्ति उपलब्ध है उससे आज की तरह अधिकाधिक परस्परिक झगड़ों यानी विवादों एवम् स्पर्धा को प्रश्रय न मिले, जो यदि रोके नहीं गये तो निश्चय ही आत्मघाती सिद्ध होनेवाले हैं।

संसार की इस स्पर्धा का नतीजा निकलता है युद्ध। इन लड़ाइयों की बारम्बारता और सघनता इस बात पर निर्भर करती है कि किसी प्रस्तुत वक्त में यह स्पर्धा किस हद तक नियंत्रित तथा किस अनुपात में है। आर्थिक क्षेत्र से हम इस स्पर्धा को किस प्रकार कम और अन्ततोगत्वा समाप्त कर सकते हैं ?

जब हम आर्थिक क्षेत्र में जो द्वन्द है उसका विश्लेषण करते हैं तब पाते है कि वैज्ञानिक प्रगति के साथ मानव का परस्परावलम्बन बढ़ गया है। आर्थिक परस्परावलम्बन स्वयम् कोई बुरी चीज नहीं है, किन्तु जब व्यक्ति की स्वतंत्रता और परस्परावलम्बन के बीच असन्तुलन हो तो उसका परिणाम निकलता है शोषण। प्रत्येक इकाई में अपने पर निर्भरता का परमावश्यक तत्व होना ही चाहिए, ताकि वह अपनी स्वतंत्र भूमिका अदा कर सके, अन्यथा यदि एक इकाई दूसरी पर अत्यधिक रूप से निर्भर करती है, तो वैसी अवस्था में आश्रित रहनेवाली इकाई दूसरी इकाई के पक्ष में अपनी कुछ आजादी खो बैठती है। इस प्रकार परस्परावलम्बन की पद्धति में अपने पर निर्भर रहना अहिंसा मूलक समाज रचना का आधार है।

स्व-निर्भरता और परस्परावलम्बन केवल तभी संतुलित हो सकते हैं जबकि 'स्व' अर्थात् 'मैं' यानी व्यक्ति का परिवार के 'हम' अर्थात् ग्राम, जिला, राज्य, देश तथा और भी व्यापक इकाई के साथ–एक इकाई की दूसरी इकाई पर निर्भरता की तरह–समुचित सन्तुलन स्थापित हो जाय। इस संतुलन के लिए कोई पद्धति ढूंढ़ने हेतु हमें प्रकृति पर एक दृष्टि डालनी होगी। हम देखते हैं कि हमें हवा इतनी भरपूर मात्रा में उपलब्ध है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं के मामले में आत्म-निर्भर है। उसे जब कभी और जहाँ-कहीं हवा की आवश्यकता है वह उसे समय तथा स्थान दोनों ही दृष्टियों से विनान्तर रूप से प्राप्त है। हवा के लिए वह परस्परावलम्बी नहीं है। जल के सम्बन्ध में उसकी आवश्यकता हवा से बहुत कम है। इसके लिए आदमी अपेक्षाकृत काफी लम्बे समय तक प्रतीक्षा कर सकता है। अतएव हम देखते हैं कि पानी हवा की अपेक्षा कम विस्तृत यानी व्यापक रूप में मिलता है। इन दोनों का फैलाव आदमी उन पर कितना निर्भर है, इसके प्रत्यक्ष अनुपात में है। आदमी को जिस सामग्री की जितनी अधिक और जितने कम विराम के साथ आवश्यकता होती है उसी हिसाब से उसकी प्राप्ति अधिक विस्तृत तथा स्वतंत्र होनी चाहिए। जब मांग और पूर्ति के मध्य सामन्जस्य के इस प्राकृतिक नियम का उल्लंघन होता है, तो संघर्ष सामने आता है, खड़ा होता है।

आज क्या हो रहा है ? उत्पादन तथा वितरण अधिकाधिक केन्द्रित होते जा रहे हैं और दूसरे का गला काटनेवाली स्पर्धा परस्परावलम्बन का स्थान ले रही है, जोकि एक ऐसी दौड़ है जिसमें सर्वनाश का खतरा है। क्या हम किसी ऐसी पद्धति का विकास कर सकते हैं जिसमें सभ्यता उस विधि के अनुसार चल सके जो प्रकृति में मौजूद दीखती है। मानव को जिस चीज पर जितना ज्यादा निर्भर रहना पड़े उसकी उपलब्धि तथा उत्पादन उतना ही विस्तृत यानी फैला हुआ – एक माने में व्यापक तथा विकेन्द्रित–होना चाहिए; और इसके विपरीत जिस वस्तु के लिए व्यक्ति अथवा समाज को जितना कम आश्रित रहना पड़े, उसका उतना ही अधिक केन्द्रीयकरण हो सकता है। गांधीजी ने इसे 'स्वावलम्बन' का नियम कहा था। इसे वे अहिंसक अर्थ-व्यवस्था का आधार मानते थे।

उद्योगों के विकेन्द्रीकरण के लिए उन्होंने उक्त आधार पर काम किया। वे चाहते थे कि गाँवों को उन वस्तुओं के मामले में स्वावलम्बी होना चाहिए जिनकी उन्हें सर्वाधिक आवश्यकता हो। स्वावलम्बन की परिसीमा वस्तु-वस्तु के मामले में भिन्न होगी। एक चीज के मामले में स्वावलम्बन का क्षेत्र स्वयम् परिवार हो सकता है तो दूसरी वस्तु के सम्बन्ध में समग्र गाँव आर्थिक स्वावलम्बन के लिए आयोजन कर सकता है। इसी प्रकार किसी तीसरी चीज के बारे में कई गाँव मिल कर स्वावलम्बन के लिए प्रयास कर सकते हैं तो चौथी के लिए आयोजन इकाई और भी बड़ी हो सकती है। किसी वस्तु यानी सामग्री के लिए आदमी को जितना ही कम निर्भर रहना पड़े उस सम्बन्ध में स्वावलम्बन प्राप्त करने हेतु आयोजन क्षेत्र उतना ही विस्तृत हो सकता है। प्रत्येक अवस्था में उत्पादन 'स्थानीय' ('स्थानीय' शब्द सापेक्षिक है) उपभोग के लिए हो, स्पर्धा हेतु नहीं।

इन्दौर : ४ जुलाई १९६३

उड़ीसा की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था और खादी तथा ग्रामोद्योग

वेदनभट्ल सीतारामय्या

उड़ीसा गरीब है, न सिर्फ औद्योगिक विकास में पिछड़े होने के कारण बल्कि अपनी बृहत आदिवासी आबादी और इस तथ्य के कारण भी कि वहाँ लगातार सूखा पड़ता रहता है तथा बाढ़ आती रहती है। पंचायत समितियों और ग्राम इकाइयों के जरिये जन सहयोग के आधार पर कृषि के सघनीकरण और ग्रामोद्योगों तथा पशु-पालन के विकास से ग्रामीण क्षेत्रों में बेकारी दूर करने में मदद मिलनी चाहिए।

भारत के राज्यों में उड़ीसा सबसे गरीब है। सन् १९६१ की जनगणना के आधार पर इसकी आबादी १,७५,६०,००० थी। सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार इसकी आबादी १,४६,४६,००० थी। यह सिर्फ औद्योगिक विकास में पीछे रहने के कारण ही पिछड़ा हुआ नहीं है बल्कि निम्न कृषि उत्पादन, बृहत आदिवासी आबादी–जोकि कुल आबादी की करीब दो-पंचमांश है–और लगातार सूखा और बाढ़ से पीड़ित होने के कारण भी। उड़ीसा की गरीबी ने गांधीजी का ध्यान आकर्षित किया और उन्होंने राज्य पर विशेष ध्यान दिया तथा वहाँ के गरीबों की मदद करने हेतु रचनात्मक कार्यक्रम चलाने के लिए काफी संख्या में कार्यकर्त्ताओं को भेजा। उन्होंने स्वयं १९३४ में उड़ीसा के कई भागों की पद-यात्रा की तथा ग्रामीणों की गरीबी का अनुभव किया। तत्पश्चात् उन्होंने काँग्रेस के कार्यकर्त्ताओं से लोगों की गरीबी दूर करने के लिए वहाँ खादी और अन्य रचनात्मक कार्य आरम्भ करने के लिए कहा। उन्होंने कहा था :

"आप मेरे साथ उड़ीसा में पुरी चलिए, जोकि तीर्थ स्थान है, जहाँ आरोग्याश्रम है, जहाँ कि सैनिक रहते हैं और जहाँ गर्मियों में राज्यपाल का शिविर होता है। पुरी से दस मील की त्रिज्या में आपको नरकंकाल दिखाई देंगे। इन्हीं हाथों से मैंने उनसे चन्दा इकट्ठा किया है, जोकि उन्होंने अपने चिथड़े वस्त्रों की गांठों को खोल-खोल कर दिया। आप उनसे आधुनिक प्रगति की बात करें, भगवान का नाम ले कर उनका निरादर करें, पर सब बेकार। अगर हम उनसे भगवान की बात करें तो वे आपको तथा मुझे अपना मित्र कहेंगे। अगर वे किसी भगवान को जानते हैं तो वह है भय, प्रतिहिंसा और निरंकुश का भगवान। वे यह नहीं जानते कि प्रेम क्या है! आप उनके लिए क्या कर सकते हैं? उड़ीसा की गरीब बहनों के पास साड़ियाँ नहीं हैं, वे चिथड़ों में लिपटी हैं, फिर भी उनमें थोड़ी शर्म है, जबकि हमने तो बिल्कुल खो दी है। हम वस्त्र पहने होते हुए भी निर्वस्त्र हैं जबकि वे निर्वस्त्र होते हुए भी वस्त्र में सुसज्जित हैं। यही कारण है कि मैं जगह-जगह घूमता रहता हूँ।"

आर्थिक उन्नति के लिए

तब से तीस वर्ष बीत चुके हैं। इस बीच देश में बृहत परिवर्तन–राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक–हुए हैं जिनमें सर्वप्रमुख यह है कि देश विदेशी दासता से मुक्त हो पूर्णतः स्वतंत्र हो चुका है और राजनीतिक स्वतंत्रता के आवश्यक स्वाभाविक परिणामस्वरूप लोगों के जीवन में सामाजिक और आर्थिक क्रांति लाने के लिए पंच वर्षीय योजनाओं के रूप में बृहत कार्यक्रम बना तथा कार्यान्वित कर रहा है। अन्यथा स्वतंत्रता लोगों के लिए खोखली वस्तु ही रह जाती। इस प्रयास में उड़ीसा को भी अपना हिस्सा मिला, राज्य की अर्थ-व्यवस्था को सुधारने के लिए बृहत विकास कार्यक्रमों के आयोजन और कार्यान्वय दोनों में ही। जल-विद्युत परियोजनाओं तथा इस्पात संयंत्रों के निर्माण, छोटी-बड़ी नहरें बना कर तथा अन्य

सिंचाई कार्य के जरिये कृषि में सुधार करने, निरक्षरता दूर करने तथा लोगों को उच्च शिक्षा देने, उनका स्वास्थ्य सुधारने हेतु किये गये विभिन्न उपायों तथा अधिकाधिक सामाजिक सेवाएँ और सुविधाएँ प्रदान करने हेतु करोड़ों रुपये खर्च किये गये हैं।

इस बृहत विकास कार्यक्रम के फलस्वरूप चन्द शहरी और अर्ध-शहरी क्षेत्रों में लोगों की सामाजिक और आर्थिक अवस्था में कुछ सुधार हुआ है। परन्तु जनता में, विशेष कर ग्रामीण क्षेत्रों में, गरीबी ने इतनी गहरी जड़ें जमा ली हैं कि जो परिणाम प्राप्त हुए हैं वे यह दर्शाते हैं कि समस्यां को सिर्फ छुआ भर जा सका है और अभी जितना करना बाकी है वह इतना बड़ा है कि जितना काम हुआ है वह राज्य की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था की पृष्ठभूमि में बहुत कम लगता है। सन् १९६० में प्रकाशित राज्य के आर्थिक सर्वेक्षण विवरण में इस अवस्था को विशेष रूप से दर्शाया गया है। इस सर्वेक्षण विवरण के अनुसार ९५.९ प्रति शत आबादी गाँवों में रहती है और यह प्रातिशत्य उत्तरी पहाड़ी क्षेत्रों को छोड़ कर भारत में सर्वाधिक है। इस आबादी में से ८२.९ प्रति शत कृषि तथा १५.४ प्रति शत गैर-खेतिहर कार्यों पर निर्भर करती है और १.७ प्रति शत के पास आय का कोई निश्चित स्रोत नहीं है। ग्रामीण परिवारों में से, मुख्यतः कृषि पर निर्भर करनेवाले २१.६ प्रति शत खेतिहर मजदूर हैं। कुल आबादी में कृषि परिवारों का प्रातिशत्य भारत के औसत से कहीं अधिक है, यह ७८.३ है। यह दर्शाता है कि राज्य की अर्थ-व्यवस्था मुख्यतः ग्रामीण और कृषिक है तथा राज्य अन्य राज्यों से औद्योगिक रूप में बहुत पिछड़ा हुआ है।

कृषकों की दुर्दशा

यद्यपि उड़ीसा की अर्थ-व्यवस्था कृषि-प्रधान है, फिर भी कृषकों की अवस्था बिलकुल संतोषजनक नहीं है। यद्यपि कुल जोते गये क्षेत्र में से ९४ प्रति शत स्वयं भू-स्वामियों द्वारा जोता जाता है, एक कृषक परिवार की खेती से औसत वार्षिक आय सिर्फ २४२.१३ रुपये है। इसके साथ सामान्यतया गैर-खेतिहर कार्यों से तथा बैलों का गैर-खेतिहर कामों में इस्तेमाल कर कुछ पूरक आय हो जाती है—वार्षिक औसत १६७.११ रुपये। खेती में कम आय होने का कारण यह है कि जमीन की पैदावार कम है तथा खेतों का आकार भी बहुत छोटा है। दस एकड़ से कम खेत रखनेवाले भूस्वामी परिवारों का प्रातिशत्य ६१.४ है तथा ४८.८ प्रति शत के पास पाँच-पाँच एकड़ से कम भूमि है और ३० प्रति शत ग्रामीण परिवार भूमि-हीन हैं। राज्य में धान की प्रति एकड़ औसत उपज सिर्फ ९.७५ मन है। दोहरी फसलवाली जमीन बहुत कम है और सर्वेक्षण विवरण के अनुसार इसका औसत राज्य के कुल जुते क्षेत्र का ५.४९ प्रति शत होता है। कटक, गंजाम, पुरी और फूलबानी जिलों को छोड़ कर अन्य जिलों में दोहरी फसल का क्षेत्र कुल जुते क्षेत्र का तीन प्रति शत से अधिक नहीं है।

कृषि मजदूरी

बहुत-से किसान परिवारों के पास कोई सहायक धंधा नहीं है। यद्यपि राज्य में उन कृषक परिवारों की औसत संख्या जिनके पास सहायक धंधा नहीं है, ५०.९ प्रति शत है, कालाहांडी और बोलांगीर जैसे पिछड़े जिलों में तो ऐसे परिवारों का प्रातिशत्य क्रमशः ७४ और ८३ तक है। ये सहायक धंधे अधिकांशतः, दूसरों के खेतों में मजदूरी करना, गैर-खेतिहर कार्यों में मजदूरी करना, कृषि के अलावा अन्य उत्पादन करना, छोटे-मोटे व्यापार और सेवाएँ हैं। किन्तु सेवाओं और गैर-खेतिहर मजदूरी, व्यापार तथा कृषि के अलावा अन्य उत्पादनों में लगे लोगों का प्रातिशत्य सिर्फ १६ है और ३३ प्रति शत सहायक धंधे के रूप में सिर्फ कृषि-मजदूरी करते हैं।

ग्रामीण परिवारों में खेतिहर मजदूरों की अवस्था बहुत खराब है। उनमें भीषण बेकारी है। खेतिहर मजदूरों में ८९.६३ प्रति शत पुरुष और १०.३७ प्रति शत महिलाएँ हैं। वे कृषि मौसम में काम पाते हैं और बाकी दिनों बेकार बैठे रहते हैं। वर्ष में बेकारी के औसत दिन १२७.१४ होते हैं। लेकिन कोरापुट और अन्य

परिगणित क्षेत्रों में यह वर्ष में १८५ से १९० तक भी होता है। तिहत्तर प्रति शत श्रमिक केवल आकस्मिक श्रमिक हैं। पुरुषों को प्रति आठ घंटे काम की मजदूरी शहरी और अर्ध-शहरी क्षेत्रों में २ रुपये तथा भीतरी परिगणित क्षेत्रों में ३० से ५० नये पैसे मिलती है। महिलाओं के लिए यह दर क्रमशः ७५ नये पैसे और २५ से ३७ नये पैसे है। मजदूरी की दर के अलावा, सालों भर काम की अनिश्चितता और अनुपलब्धि के कारण वर्ष में काफी दिन बेकारी रहती है जिससे उनकी आर्थिक स्थिति पर बुरा असर पड़ता है और उनमें से बहुतों को अमानुषिक स्थिति में रहना पड़ता है। अड़तीस प्रति शत कृषि श्रमिकों को साल में २१० दिन से कम काम मिलता है। एक कृषक श्रमिक की औसत वार्षिक आय १५० रुपये है; कटक जिले में अधिकतम आय होती है २६७.४२ रुपये, फूलबानी और मयूरभंज जिलों में न्यूनतम क्रमशः १०३.८ रुपये तथा १००.५४ रुपये।

अन्तर्निर्भर विभाग

ग्रामीण क्षेत्रों में जिन परिवारों की मुख्य आय गैर खेतिहर धंधों से है उनका प्रातिशत्य कुल ग्रामीण परिवारों का १५.४ है। उनमें से जो मुख्यतः गैर खेतिहर मजदूरी, व्यापार, खेती के अलावा अन्य उत्पादन और सेवाओं पर, जिनमें धंधे भी शामिल हैं, निर्भर करते हैं, उनका प्रातिशत्य क्रमशः २.३, १.७, ६ और ५.४ है। गैर खेतिहर परिवारों में ४६.४ प्रति शत के पास कोई पूरक धंधा नहीं है। इस सम्बन्ध में उनकी स्थिति कृषि पर निर्भर करनेवाले परिवारों से थोड़ी अच्छी है। इन गैर खेतिहर परिवारों की आर्थिक स्थिति, कृषि विभाग के जिन लोगों की अवस्था गिर चुकी है उनकी आर्थिक स्थिति से मिली हुई है, क्योंकि पहले विभाग के ४७ प्रति शत परिवारों के पास गैर खेतिहर कार्यों से होनेवाली आय में पूरक आय जोड़ने के लिए सिर्फ खेती और खेतिहर-मजदूरी ही सहायक धंधे हैं और सिर्फ ७ प्रति शत के पास ही व्यापार सेवाएँ और खेती के अन्य उत्पादक कार्य सहायक धंधे के रूप में हैं। इससे पुनः यह सिद्ध होता है कि ग्रामीण क्षेत्रों का तथाकथित गैर खेतिहर विभाग खेतिहर विभाग का ही अंग है और अपनी जीविका के लिए मुख्यतः इसी पर निर्भर है।

कारीगरों की आय

गैर खेतिहर विभाग में खेती के अलावा अन्य उत्पादनों में लगे परिवारों की संख्या कुल परिवारों का ४० प्रति शत है, इसमें ग्रामोद्योगों में लगे कारीगर और कार्यकर्त्ता आते हैं। उनकी अवस्था सेवाओं व्यापार और धंधे जैसे गैर खेतिहर अर्थ-व्यवस्था के अन्य विभागों में लगे कार्यकर्त्ताओं और कारीगरों से कोई अच्छी नहीं है, बल्कि बुरी ही है। विभिन्न कार्यों में लगे ग्रामीण कारीगरों और कार्यकर्त्ताओं, जोकि आर्थिक सर्वेक्षण के अन्तर्गत आये हैं, की औसत वार्षिक आय नीचे तालिका १ में दी गयी है:

तालिका १

	औसत वार्षिक आय (रुपये)
राज	३३१.००
मछुए	२४६.०२
सुनार	१,४२५.९४
लोहार	११९.७९
कुम्हार	१६७.८०
बढ़ई	१७५.०७
बुनकर	१९७.०९
बांस और बेंत कारीगर	१७५.४२
मिठाईवाले	१९५.०२
तेली	१३२.५०
दर्जी	४६८.६७
'बेलमेटल' कारीगर	१८६.३२
पत्थर का काम करनेवाले	२३८.८८
चमड़े का काम करनेवाले	१७०.७९
रस्सी बनानेवाले	१३०.३२
चूना बनानेवाले	५५७.२५
सींग का काम करनेवाले	५४.९४
साइकिल मरम्मत करनेवाले	५५०.००
अन्य	२८२.१७
औसत	२३१

व्यापारियों की औसत वार्षिक आय २७९.४८ रुपये है, जिसमें सबसे कम बांस और बेंत व्यापारियों की ७७.६६ रुपये है तथा सबसे अधिक औषधि विक्रेताओं की ७५० रुपये। निजी सेवा करनेवालों को छोड़ कर बाकी सेवाओं में लगे लोगों की अवस्था कारीगरों और औद्योगिक कर्मियों से अच्छी है। घरेलू सेवाओं में लगे लोगों को छोड़ कर अन्य सेवकों की आय ४५५ रुपये से २,१९२ रुपये के बीच है और घरेलू सेवाओं में लगे लोगों की औसत वार्षिक आय २२२ रुपये है। ग्रामीण क्षेत्रों में परिवहन कर्मियों की आर्थिक अवस्था, मोटर-लारीवालों को छोड़ कर, कुम्हारों और लोहारों जैसे परम्परागत ग्रामीण कारीगरों जैसी है, क्योंकि उनकी औसत वार्षिक आय १७० रुपये से अधिक नहीं होती। हज्जाम, धोबी और ग्रामीण पुजारियों जैसे लोगों के परम्परागत धंधे पर निर्भर करनेवालों की अवस्था ग्रामीण कारीगरों और औद्योगिक कर्मियों से किसी भी हालत में अच्छी नहीं है, क्योंकि उनकी वार्षिक औसत आय शायद ही २०० रुपये से अधिक होती है।

यदि ग्रामीण क्षेत्रों के लोगों की उपर्युक्त आर्थिक अवस्था की तुलना राज्य के शहरी क्षेत्रों के लोगों की आर्थिक अवस्था से की जाय तो उड़ीसा जैसे राज्य में भी, जहाँ कि अन्य राज्यों के शहरों और गाँवों से तुलना करने लायक शायद ही कोई शहर या गाँव हो, बड़ा अन्तर दिखाई देगा, जैसा कि नीचे तालिका २ में दिखाया गया है:

तालिका २

वार्षिक आय क्रम (रुपये)	शहरी परिवारों का प्रातिशत्य	ग्रामीण परिवारों का प्रातिशत्य
१ से ५००	३५	७५.७
५०१ से १,०००	३३.२	१८.२
१,००१ और ऊपर	३१.८	६.१

ग्रामीण क्षेत्रों के उपर्युक्त चित्र से यह स्पष्ट हो जायेगा कि खेती में सहायता देनेवाले खेतिहर मजदूर वर्ग, ग्रामीण कारीगरों और औद्योगिक कर्मियों, जोकि गाँव-वालों की आवश्यक जरूरतों की पूर्ति करते हैं, पर राज्य की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में सुधार लाने के लिए बनायी जा रही किसी भी योजना में सर्वाधिक ध्यान दिया ही जाना चाहिए। कुछ खेतिहर मजदूर गैर खेतिहर मौसम में रोजगारी के लिए शहरों और औद्योगिक क्षेत्रों में चले जाते हैं, क्योंकि गाँव में काम के बहुत कम अवसर प्राप्य हैं। परन्तु ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम है। यह इस कारण कि शहरी और औद्योगिक क्षेत्र बहुत सीमित हैं और इन सीमित क्षेत्रों में भी उन्हें पड़ोसी राज्यों से आ रहे श्रमिकों की प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है। यदि गाँव में काम उपलब्ध हो तो खेतिहर मजदूर उसे ही पसन्द करता है, क्योंकि सब कुछ उसका जाना-पहचाना रहता है; परन्तु गाँव में साल भर काम उपलब्ध नहीं होता, भले ही वह कृषि विभाग हो अथवा गैर खेतिहर।

आदिवासी क्षेत्र

परिगणित क्षेत्रों में रहनेवाले आदिवासियों की अवस्था तो अभी भी दयनीय है, सिर्फ इसलिए नहीं कि उनके आस-पास आर्थिक स्रोतों की कमी है (उन क्षेत्रों को छोड़ कर जिनके निकट खान हैं, अथवा जहाँ कोई बड़ी परियोजना शुरू की गयी है), बल्कि चन्द सामाजिक जैविक कारणों से भी। वे राज्य के अन्य श्रमिकों अथवा खेतिहर वर्गों से अधिक घरेलू हैं अर्थात् अपना गाँव छोड़ कहीं जाना नहीं चाहते। फिर, उनके काम करने का ढँग भी धीमा है तथा जीवन सहज है और मामूली आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाने पर भी वे संतुष्ट हो जाते हैं। यह सम्भवतः बाहरी तथा उसके तेजी से बढ़ रहे जीवन-स्तर से अधिक समय तक अलग रहने के परिणाम-स्वरूप ही है। यह बाहरी धनी, चालाक और साधन सम्पन्न व्यक्तियों द्वारा लगातार उनके श्रम और उनके क्षेत्र के आर्थिक स्रोतों का शोषण किये जाने की वजह से भी है। इधर संचार-विकास, धीमे-धीमे शिक्षा का प्रचार तथा कुछ आदिवासी क्षेत्रों में चल रही बड़ी परियोजनाओं

में काम कर रहे दक्ष और साधन-सम्पन्न व्यक्तियों के सम्पर्क में आने से उनके दिमाग में आकांक्षा और साहस की बातें भरी जा रही हैं। आदिवासियों के सम्बन्ध में असल समस्या है, उन्हें अधिक सक्रिय, महत्वाकांक्षी और तत्पर बनाना। उनमें दो बुराइयाँ—सामाजिक तथा आर्थिक—हैं जिनसे वे पीड़ित हैं: मदिरापान तथा व्यापारियों द्वारा शोषण। कुछ क्षेत्रों में मदिरा तो एक प्रकार का भोजन है; पर्याप्त मात्रा में अनाज और दाल न मिलने के कारण उनका विकल्प है और कुछ लोगों के लिए विलासिता की सामग्री है! इस समस्या को हल करने का एक ही रास्ता है, इसका विकल्प पान नीरा, चाय, काफी आदि के रूप में उपलब्ध करना तथा अनाज और दाल की खेती में सुधार करना ताकि पर्याप्त मात्रा में उनका उत्पादन सम्भव हो सके। सच तो यह है कि गंजाम जिले के रतगिरी क्षेत्र में ताड़ गुड़ योजना के आरम्भ किये जाने पर यह पाया गया कि वहाँ के आदिवासियों ने ताड़ी तथा अन्य मदिरा पान छोड़ना शुरू कर दिया है तथा नीरा उन्हें अच्छी लगने लगी है।

सहकार आन्दोलन

सहकार आन्दोलन को, ऋण और बिक्री दोनों ही विभागों में, आदिवासी क्षेत्र में अधिक विस्तृत रूप में तथा तेजी से, कुछ माली जोखम उठा कर भी बढ़ाना चाहिए ताकि साधन-सम्पन्न और चालाक व्यापारी वर्ग के हाथों उनके आर्थिक स्रोतों का जो लगातार शोषण हो रहा है, वह रोका जा सके। आदिवासी क्षेत्रों में प्रचलित प्राचीन अवस्था के अनुकूल बनाने हेतु सहकारी समितियों को आर्थिक सहायता देने के नियम में परिवर्तन करने होंगे, भले ही इस कारण बैंकिंग के स्थापित मानक से जिसे आर्थिक सहायता देनेवाली सहकारी समितियाँ अपनाती हैं, कुछ हटना ही क्यों न पड़े। यह उस वक्त तक करना होगा जब तक कि आदिवासी लोगों की आर्थिक अवस्था राज्य के अन्य क्षेत्रों के लोगों के समान नहीं हो जाती।

खेतिहर मजदूरों की आर्थिक अवस्था की तुलना में कुम्हारों, लोहारों, तेलियों, बुनकरों आदि जैसे परम्परागत ग्रामीण कारीगरों और औद्योगिक कर्मियों, जोकि कभी ग्राम्य जीवन और अर्थ-व्यवस्था की रीढ़ थे, की अवस्था कोई अच्छी नहीं है। उनकी वार्षिक औसत आय शायद ही २०० रुपये से अधिक हो पाती है। यह उत्पादन के लिए उन्नत सरंजाम न होने, पर्याप्त संचालन पूंजी तथा भांडार और बिक्री सुविधाओं की कमी के कारण है। उनके पास कोई नामी औद्योगिक संस्थान नहीं है। वे पारिवारिक संस्थान की तरह काम करते हैं, परिवार के दो अथवा तीन सदस्य किसी उद्योग की विभिन्न प्रक्रियाओं में लगे रहते हैं और उनका पारिश्रमिक उनके द्वारा तैयार चीज की बिक्री कीमत में शामिल रहता है, उसके लिए उन्हें अलग से पैसे नहीं मिलते। उन्हें सतत संगठित विभाग से प्रतियोगिता करनी पड़ रही है।

ग्रामोद्योगों का स्थान

राज्य की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में खेतिहर-मजदूरों और ग्रामीण कारीगरों का स्थान सबसे नीचा है। खादी और ग्रामोद्योग कार्यक्रम ने ग्रामीण क्षेत्रों के इन दो वर्गों की आर्थिक अवस्था सुधारने में कितनी मदद दी है तथा भविष्य में उन्हें क्या करना चाहिए, ये सचमुच महत्वपूर्ण प्रश्न हैं, जिन पर राज्य के समाज सेवियों का ध्यान केन्द्रित है। गाँवों की वर्तमान अवस्था पर सोद्देश्य, तटस्थ और वस्तुपरक दृष्टि से विचार करने पर खादी और ग्रामोद्योग कार्यक्रम का कार्यान्वय पूर्णतः न्यायोचित सिद्ध होता है। इस कार्यक्रम के अनेक आलोचक कोई दूसरा वैसा अधिक आय करानेवाला कार्यक्रम नहीं सुझा पाते जोकि ग्रामीण क्षेत्रों की इस बहुत खेतिहर मजदूर आबादी और कारीगर वर्ग को अपने में लगा सके। यह सही है कि चन्द ग्रामोद्योगों में इस्तेमाल किये जा रहे सरंजामों तथा प्रक्रियाओं में तकनीकल सुधार करना आवश्यक है और उत्पादन सुधारने के लिए जहाँ शक्ति उपलब्ध है वहाँ, कुछ प्रक्रियाओं में शक्ति का भी उपयोग किया जाय, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि राज्य की

ग्रामीण आबादी की आर्थिक अवस्था सुधारने में ग्रामोद्योग मदद नहीं करते।

खादी और ग्रामोद्योग कमीशन राज्य में जिन उद्योगों का विकास कर रहा है, उनका विश्लेषण करने से कार्यक्रम का प्रभाव सिद्ध हो जायेगा। उड़ीसा के १,६०५ गाँवों में खादी कार्य आरम्भ किया गया है और उनमें ९,०७५ अम्बर सूतकार हैं। उनमें से अधिकांश नित्य दो-तीन घंटे कताई करते हैं और बाकी समय घरेलू काम में खर्च करते हैं। कुछ सूतकार नित्य पांच से सात घंटे भी कताई करते हैं। सन् १९६२–६३ में उन्हें पारिश्रमिक स्वरूप ५,३९,८५५ रुपये दिये गये। बुनकरों में से १,५४० ने खादी बुनाई काम अपना लिया है और उन्हें पारिश्रमिक स्वरूप ५,०६,५०२ रुपये दिये गये। जिन गाँवों में खादी कार्यक्रम का प्रसार हुआ है, वहाँ इससे निश्चय ही गरीब परिवारों को लाभ पहुँचा है, क्योंकि इससे उनकी महिला सदस्यों को लाभदायक रोजगारी के अवसर प्राप्त हुए हैं।

ग्रामीण कारीगरों और औद्योगिक कर्मियों को, जिनमें संगठन की कमी है तथा जिन्हें संचालन पूंजी और बाजार सुविधाएं भी प्राप्त नहीं हैं, कमीशन की योजनाओं के अन्तर्गत ये चीजें प्रदान की जा रही हैं। इसमें योग्य समाज-सेवियों, पर्याप्त निधि और बाजार सुविधाओं की कमी कार्यक्रम के तीव्र विस्तार में बाधक है, जिससे किसी भी उद्योग के सभी कारीगरों तक कार्यक्रम नहीं पहुँचाया जा सकता। नीचे तालिका ३ में यह प्रदर्शित है कि राज्य में कमीशन द्वारा चलाये जा रहे चन्द प्रमुख ग्रामोद्योगों से १९६२–६३ के दौरान कारीगरों को कितना लाभ पहुँचा है।

मधुमक्खी-पालन ने भी ३,४६१ मधुपालकों को आंशिक समय का काम दिया, जिनके पास ७,०९८ मधु-उपनिवेश थे और जिन्होंने सन् १९६२–६३ में २,१०,५३३ रुपये कीमत का ८४,२२१ पौंड शहद निकाला।

खेती के भार में कमी

जो लोग यह सोचते हैं कि खादी-ग्रामोद्योग देश की अर्थ-व्यवस्था में बाधक हैं तथा इन उद्योगों को संगठित

तालिका ३

सन् १९६२–६३ में उड़ीसा में ग्रामोद्योगों की सफलता

उद्योग	कार्यकारी समितियों की संख्या	रोजगारी में लगे लोगों की संख्या		कुल
		आंशिक	पूर्ण कालीन	पारिश्रमिक (रुपये)
ग्रामीण तेल	११२	१,११६	८३८	३,४५,१०७
ग्रामीण चर्मोद्योग	३७	२०	२०	१५,५३३
ग्रामीण रेशा	७	५६	१०६	३५,१५८
हाथ कागज	२	—	१४	४,६१८
कुम्हारी	३०	१३४	२७०	८६,५००
ताड़ गुड़	३७	२,०६३	८२	२,९६,७६०
बढ़ईगीरी और लोहारी	१	—	९३	६३,११९
गुड़ खांडसारी	१७	८५०	२,८७०	३,९७,५५०
धान हाथ कुटाई	९२	५,०७६	२७७	२,९८,०६५
अखाद्य तेल और साबुन	८	१८	५६	५,६१३

उद्योगों की प्रतियोगिता में अपने-आप मरने देना चाहिए, वे इस तथ्य को भूल जाते हैं कि उससे खेती पर बोझ और बढ़ जायगा, क्योंकि इन लोगों को किसी संगठित उद्योग में नहीं लगाया जा सकता, कारण उनमें विशिष्ट प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है और इस कारण भी कि बड़ी पूंजी लगती है तथा चंद उद्योगों को आरम्भ करने में विदेशी मुद्रा-विनिमय की भी आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार वे बेकार खेतिहर मजदूरों की संख्या में और भी वृद्धि करेंगे। लगातार काश्तकारी विधि लागू रहने और काश्तकारों द्वारा भूस्वामियों को दिये जानेवाले अनाज-हिस्से में कमी करने का प्रचार करने के बाद भी खेती पर जो बोझ है वह कम नहीं हो सका है। इसी से यह सिद्ध है कि गाँवों में अपनी जीवका के साधन रूप खेती अपनाने में, इसमें जोखम होने तथा कम पैसा मिलने पर भी, किस कदर प्रतियोगिता है। यह इस कारण है कि गाँवों में अच्छे पारिश्रमिक वाली रोजगारी के अन्य अवसर बहुत सीमित हैं। यदि ग्रामोद्योगों में रोजगारी देने के वर्तमान पथ को प्रशस्त करने तथा उसमें अधिक पारिश्रमिक दिलाने का प्रयत्न करने के बदले उन्हें बन्द कर दिया जाता है तो स्थिति बहुत दयनीय हो जायगी। कृषि अर्थ-व्यवस्था पर तो अभी ही बहुत अधिक भार है, यह गैर खेतिहर विभाग से और लोगों को अपने में शरण नहीं दे सकती। इसके विपरीत, इसकी अवस्था सुधारने के लिए इसके बोझ को कुछ कम करना होगा। सन् १९२१ से १९५१ के बीच प्रति व्यक्ति पीछे खेत का आकार ११० सेंट से कम हो कर ८३ सेंट हो गया है।

चूंकि अब प्रशासन विकेन्द्रित कर दिया गया है, अतः राज्य सरकार को यह निर्देश देना चाहिए कि पंचायत समितियों को अपने क्षेत्र की पूर्ण और अर्द्ध बेकारी की समस्या पर अधिक ध्यान देना चाहिए तथा स्थानीय लोगों को काम देने के लिए योजना बनानी चाहिए। जब तक इस तरह का निर्देश राज्य सरकार द्वारा नहीं दिया जाता, पंचायत समितियाँ इस समस्या पर गम्भीरतापूर्वक ध्यान नहीं भी दे सकती हैं; इसके हल करने के लिए कदम उठाने की बात तो दूर रही। कृषि के सघनीकरण तथा ग्रामोद्योगों और पशुपालन के विकास से समस्या हल करने में मदद मिलेगी, बशर्ते कि विकेन्द्रित प्रशासन इकाइयां उन्हें गम्भीरतापूर्वक हाथ में लें और जन-आन्दोलन के रूप में संगठित करें।

इस दिशा में आरम्भ ग्राम इकाई क्षेत्रों में किया जा सकता है। ग्राम सहायकों को अपने-अपने क्षेत्रों में न सिर्फ कार्यक्रम के आरम्भ के समय, बल्कि समय समय पर समस्या की गम्भीरता के सम्बन्ध में भी जानकारी प्राप्त करनी है। उन्हें रजिस्टर रखना चाहिए जिसमें वे गाँव की बेकारी का माहवार विवरण लिखें तथा क्षेत्र में आयात की जानेवाली उन वस्तुओं को भी दर्ज करें जिनका उत्पादन स्थानीय रूप में हो सकता है। निम्नतम स्तर पर जनता के प्रतिनिधियों के समक्ष आंकड़े आदि उपस्थित कर उन्हें पूर्ण और अर्द्ध बेकारी की समस्या की गम्भीरता बतायी जा सकती है। निस्संदेह यह बहुत कठिन कार्य है परन्तु ग्रामीणों और उनके प्रतिनिधियों को गम्भीर चिन्तन करने की प्रेरणा देने के लिए इसे वहन करना ही होगा। निम्नतम स्तर पर जनता तथा उसके प्रतिनिधियों के निकट सहयोग और समन्वय के जरिये ही ग्रामीण क्षेत्रों में काफी हद तक पूर्ण और अर्द्ध बेकारी की समस्या को हल किया जा सकता है।

भुवनेश्वर : ३१ अगस्त १९६३

तृतीय पंच वर्षीय योजना में रेशम खादी उद्योग

सत्य रंजन सेन

रेशम खादी के चतुर्दिक विकास कार्यक्रम के अंग स्वरूप रेशम कीट-पालन पर जिससे कि रेशम खादी की लागत कम करने में सहायता मिलेगी, गम्भीरतापूर्वक ध्यान दिये जाने की आवश्यकता है।

रेशम खादी उद्योग की व्यवहारतः अपनी कोई अलग हस्ती नहीं है। चूंकि अम्बर खादी की तरह नयी तकनीक और तौर-तरीके के साथ यह कोई नया उद्योग नहीं है, इसे परम्परागत खादी उद्योग के अंग स्वरूप शामिल किया जाता है। इसलिए पहले अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मण्डल ने तथा बाद में खादी और ग्रामोद्योग कमीशन ने रेशम खादी उद्योग के विकास को परम्परागत सूती खादी उद्योग के विकास कार्यक्रम का एक अंग समझा। स्वतंत्रता-प्राप्ति से पूर्व के दिनों में जो संस्थाएँ रेशम कार्य कर रही थीं उन्होंने अब फिर से नये उत्साह और नयी संस्थाओं के साथ काम हाथ में लिया; सहकारी समितियाँ तथा चेरीटेबल सोसायटीज एक्ट के अन्तर्गत पंजीकृत समितियाँ, दोनों प्रकार की संस्थाएँ बनीं। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन ने इन्हें प्रमाणित कर वित्त प्रदान किया। किन्हीं मामलों में राज्य सरकारों ने भी इन्हें वित्तीय सहायता प्रदान की। इन संस्थाओं ने रेशम खादी उत्पादन और विक्रय कार्य प्रारम्भ किया। अन्य राज्यों की अपेक्षा जहाँ रेशम कीट-पालन होता है, पश्चिम बंगाल और बिहार में संगठन की जड़ें अधिक मजबूती के साथ जमीं।

मूल्यांकन समिति का मत

जैसा कि खादी उद्योग विकास का सभी प्रकार से मूल्यांकन करने और सही मार्ग पर उसका विस्तार करने के लिए तौर-तरीके तथा साधनों का सुझाव देने हेतु भारत सरकार द्वारा द्वितीय पंच वर्षीय योजना के अन्त में नियुक्त खादी मूल्यांकन समिति ने बताया था, यह विकास एकांगी था। रेशम खादी के सम्बन्ध में समिति के जो पर्यवेक्षण व सुझाव थे, संक्षेप में वे इस प्रकार हैं:

"कच्ची सामग्री की उपलब्धि तथा हाथ करघों पर उत्पादित वस्त्र की मात्रा के समक्ष खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अन्तर्गत रेशम खादी उत्पादन का परिमाण नगण्य है। यद्यपि भूतपूर्व मण्डल की रेशम समिति ने योजित आधार पर उत्पादन—विशेष कर एण्डी और गैर शहतूती रेशम खादी उत्पादन—का विस्तार करने की सिफारिश की थी तथापि, विस्तार, विकास और अनुसंधान के लिए कोई योजना नहीं बनायी अथवा कार्यान्वित की गयी। रेशम खादी उद्योग को सुनियोजित आधार पर विकसित करना अभी बाकी है।

"......कोया-पालन के बाद की सभी स्थितियाँ बड़ी अच्छी तरह कमीशन के अधिकार क्षेत्र में आती हैं। इस उद्योग का विकास सहकारी आधार पर किया जाना चाहिए, जिसके लिए पर्याप्त गुंजाइश है; और खादी कार्यकर्त्ताओं को यह काम उद्योग के इस विकेन्द्रित विभाग में शोषण की सघनता को देखते हुए बड़ी निष्ठा और तात्कालिकता की भावना के साथ करना चाहिए।

"एक ओर कच्चे रेशम की हाथ से लपेटाई करने के काम में लगे कारीगरों के हितों की रक्षा करने और लपेटकों के लिए न्यूनतम स्तरीय मूल्य सुनिश्चित करने तथा दूसरी तरफ विशुद्ध रेशमी व रेशम की छीजन के वस्त्रों का उत्पादन विकसित एवम् विस्तृत करने के लिए हमारी राय यह है कि विशुद्ध रेशमी और रेशमी छीजन के सूत तथा वस्त्र के उत्पादन एवम् विस्तार को मिला

कर एक कर देना चाहिए; और इस काम को करने का भार एक ही अभिकरण को सौंपा जाना चाहिए। हमारा यह भी मत है कि यह काम खादी और ग्रामोद्योग कमीशन को सौंपा जाना चाहिए तथा वह इस उद्योग का सुनियोजित एवम् तीव्र विकास करने के लिए कदम उठाये।

"रेशम कताई और बुनाई के क्षेत्र में सघन रूप से अनुसंधान करने की आवश्यकता है।"

उद्देश्य

तृतीय पंच वर्षीय योजना बनाते वक्त ये पर्यवेक्षण और सिफारिशें ध्यान में रखी गयी थीं। तीसरी योजना के अन्तर्गत रेशम खादी उद्योग के लिए बने कार्यक्रम की विशिष्ट बातें इस प्रकार हैं:

(१) योजना काल के आधार वर्ष का १६ लाख वर्ग मीटर वस्त्रोत्पादन का लक्ष्यांक अन्तिम वर्ष के लिए बढ़ा कर ३६ लाख वर्ग मीटर किया जाना चाहिए; (२) इस लक्ष्यांक की पूर्ति के लिए उन सभी राज्यों में संगठन स्थापित किया जाना चाहिए जहाँ रेशम कीट-पालन का काम होता है; (३) शहतूती तथा इतर शहतूती दोनों प्रकार के रेशम का उत्पादन होना चाहिए; (४) देश के भीतर तथा विदेशों में बाजार निर्मित करने के लिए प्रयास किये जाने चाहिए; (५) रद्दी यानी छीजन-उत्पादनों के उपयोग हेतु सघन प्रयत्न किये जाने चाहिए; (६) उत्पादन लागत कम करने की प्रक्रिया का अध्ययन करने के लिए शहतूत के बगीचों सहित प्रायोगिक आधार पर मार्गदर्शी परियोजनाएँ प्रारम्भ की जानी चाहिए; (७) साधन-सरंजाम और उत्पादन तकनीक तथा कपड़े की डिजाइनों में सुधार करने के लिए अनुसंधान व प्रयोग किये जाने चाहिए; (८) उड़न ढर्की करघों, टेप-अप-मोशन तथा अभिनव कताई यंत्रों जैसे उन्नत उपकरण व सरंजाम अपनाये जांय; (९) कारीगरों को प्रोत्साहित करने के लिए उद्योग के विभिन्न विभागों में लगीं सहकारी समितियों को सुसंयोजित ढंग से संगठित किया जाना चाहिए; और (१०) विदेशों में निर्यात करने के लिए शहतूती तथा इतर शहतूती दोनों ही प्रकार की रेशम खादी के उत्पादन पर विशेष जोर दिया जाना चाहिए।

लागत में कमी

रेशम खादी जो एक लम्बे समय से राजा-महाराजाओं का परिधान समझा जाता रहा है, अब देश तथा विदेशों में अधिकाधिक लोकप्रिय होती जा रही है, और मध्य वर्गीय लोगों के घरों में एक उपभोग्य सामग्री के रूप में स्थान प्राप्त कर रही है। अतएव यह माना यानी स्वीकार किया जाता है कि रेशम खादी की कीमत यथा सम्भव कम की जाय ताकि उत्पादन कार्य में लगे कारीगरों का बिना शोषण किये वह मध्य वर्गीय उपभोक्ताओं की पहुँच—पैसे की दृष्टि से—के अन्दर आ जाय। इसलिए तीसरी योजना में शामिल करने के लिए कार्यक्रम बनाते वक्त यद्यपि कमीशन ने यह महसूस किया कि १६ लाख वर्ग मीटर के उत्पादन को बढ़ा कर ३६ लाख वर्ग मीटर करने का लक्ष्यांक प्राप्त करना सम्भव होगा, तथापि उसने यह भी महसूस किया कि इस योजनावधि के लिए कार्यक्रम इस प्रकार बनाया जाय कि उत्पादन को अधिक बिक्री-योग्य बनाने के लिए लागत कम करना सम्भव बने एवम् योजना-काल के अन्त तक लक्ष्यांक प्राप्त करने में सहायता मिले। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए लपेटाई और बुनाई तथा उप-उत्पादनों के उपयोग के लिए भी उन्नत उपकरणों का समावेश करने हेतु प्रावधान रखना पड़ा।

रेशम कीट-पालन का विकास

चूंकि शहतूती रेशम कीट का भोजन शहतूत की पत्तियों का खर्च रेशम खादी की बुनियादी कच्ची सामग्री कोयों की कुल लागत का करीब ६० प्रति शत होता है, इसलिए यदि समग्र लागत खर्च में कमी करनी हो तो, शहतूती पत्तियों का उत्पादन-खर्च कम करने के प्रयत्न किये जाने चाहिए। वस्तुतः केन्द्रीय रेशम मण्डल उन राज्य सरकारों की सहायता से यह काम कर रहा है

जहाँ रेशम कीट-पालन का काम होता है, किन्तु अभी तक कोई स्थूल परिणाम सामने नहीं आये हैं। इसका कारण यह है कि रेशम कीट-पालन के क्षेत्र में कोई उल्लेखनीय संगठन नहीं है, जोकि गम्भीरतापूर्वक विकास कार्य हाथ में ले सके। राज्य सरकारों के पास कृषकों को अच्छी कलमें, अण्ड सेवकों और औद्योगिक रेशम कोया-पालकों को रोगमुक्त स्तरण और बीज-कोये की पूर्ति करने हेतु अपने पौध-घर हैं, परन्तु यहाँ भी संगठन की कमी है।

जापान में

अतएव यदि रेशम खादी उद्योग के विकासार्थ कोई चतुर्दिक कार्य का संगठन करना हो तो केन्द्रीय रेशम मण्डल की सहायता से यह काम खादी और ग्रामोद्योग कमीशन कर सकता है; क्योंकि वैसा करने के लिए उसके पास आवश्यक संगठन है। रेशम खादी के उत्पादन में लगीं प्रमाणित संस्थाएँ केवल कच्चे रेशम और रेशम खादी के उत्पादन में ही लगी हुई हैं। लपेटक और बुनकर उनके अन्तर्गत संगठित किये गये हैं; कच्चे रेशम यानी रेशम कोयों और अन्ततोगत्वा शहतूत की कृषि के लिए कच्ची सामग्री की पूर्ति के लिए संगठन पर ध्यान नहीं दिया गया है। शहतूत उत्पादकों और कोया-पालकों का अपना कोई संगठन नहीं है, अतएव शहतूत की खेती में लागत खर्च कम करने के लिए सुधार करने हेतु कोई संगठित प्रयास नहीं है। यह काम व्यक्तियों पर ही छुड़ा हुआ है और इसलिए कोई परिणाम हासिल नहीं हुआ है। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन अपनी प्रमाणित संस्थाओं के जरिये यह काम वस्तुतः शुरू-शुरू में एक मार्गदर्शी परियोजना के आधार पर अपने हाथ में ले सकता है। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए कमीशन की तृतीय योजना में शहतूती बगीचों के लिए प्रावधान रखा गया है।

इस सम्बन्ध में जापानी रेशम कीट-पालन उद्योग में अपनाये गये संगठन की विशिष्टताओं को नीचे प्रस्तुत करना रुचिकर होगा।*

"तकनीकों में सुधार करने तथा अन्वेषण के लिए वहाँ कृषि और वन्य मंत्रालय के अन्तर्गत रेशम कीट-पालन प्रयोग केन्द्र, जिला रेशम-कीट-पालन प्रयोग केन्द्र एवम् रेशम लपेटक कारखानों की प्रयोगशालाएँ हैं। इन संस्थाओं में प्राप्त परिणामों का विस्तार अथवा संकट-कालीन उपायों का समावेश करने के लिए प्रत्येक जिले में रेशम-कीट-पालन की तकनीक में मार्गदर्शन देनेवाले अनेक केन्द्र हैं। रेशम-कीट-पालकों को निर्देश देने के लिए प्रत्येक शहर, कस्बे, गाँव अथवा रेशम उद्योग सहकारी संघ में रेशम उद्योग-विषयक तकनीक-प्रचारक हैं।

"इसके अतिरिक्त कौशेय-मारी निरीक्षण और शहतूती कलमों के संरक्षणार्थ रेशम-कीट-विषयक नियंत्रक कार्यालय, कोया-परीक्षण और अवस्थापन केन्द्र तथा रेशम उद्योग विषयक तकनीकों का प्रसारण करने के लिए रेशम-कीट-पालन-विषयक तकनीज्ञों के लिए प्रशिक्षण विद्यालय हैं। जिला प्रशासन में कच्चा रेशम विभाग इन सुविधाओं की व्यवस्था का काम करता है।

"कच्चे रेशम के अवस्थापन के लिए योकोहामा और कोबे में कच्चा रेशम अवस्थापन केन्द्र हैं, जहाँ कच्चे रेशम का श्रेणी-विभाजन तथा अवस्थापित वजन परीक्षण होता है। रेशम-कोया-पालकों, रेशम-कोया-अण्डोत्पादकों, शहतूत कलम उत्पादकों, कच्चा रेशम लपेटकों, कच्चा रेशम दलालों तथा कच्चा रेशम निर्यातकों को उनके स्वयम् के व्यवसाय के विकासार्थ उनकी तत्सम्बन्धी सहकारी समितियों अथवा संघों में संगठित किया जाता है। उक्त सभी संस्थाओं और माध्यमों को उपयुक्त मार्गदर्शन तथा सहायता प्रदान करने के लिए सरकार ने कृषि और वन्य मंत्रालय के अन्तर्गत कच्चा रेशम विभाग खोल रखा है।"

कलकत्ता : ९ अगस्त १९६३

---

* टी. योकोयामः सिन्थेसाइज्ड साइन्स ऑफ सेरीकल्चर; सेण्ट्रल सिल्क बोर्ड; पृष्ठ : १० और ११।

रेशा उद्योग का विकास

• संजीवराव कृ. कल्लापुर

ग्राम रेशा उद्योग अपना अस्तित्व बनाये रखने में समर्थ हो, इसके लिए यह आवश्यक है कि उद्योग में व्यवहृत तकनीकों में सुधार करने और नयी-नयी वस्तुएँ तैयार करने का प्रशिक्षण देने तथा फिलहाल जो सामग्री बेकार जाती है उसका उपयोग करने के लिए उपाय काम में लाये जायें।

आदिकाल में जब आवागमन बड़ा कठिन था रेशा उत्पादन के लिए सभी प्रकार के देशी पौधों का उपयोग किया जाता था। उनके लिए बाजार भी जहाँ उत्पादन होता था उस गाँव अथवा कुछ गाँवों के समूह तक ही सीमित था। स्थानीय आवश्यकताएँ पूरी करने पर जोर दिया जाता था और प्रायः सभी गाँव अपनी आवश्यकता भर उत्पादन करते थे। जो कुछ वे स्थानीय रूप से पैदा करते उससे यदि कोई वस्तु नहीं बन पाती तो वे उसके बिना ही रहते।

तेज और सस्ते आवागमन साधन उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में सम्भव हुए; और संसार के अनेक भागों में विभिन्न प्रकार के रेशे पैदा किये जाने लगे। वैसे रेशों का विदेशी कारखानों को निर्यात किया जाने लगा जो पहले स्थानीय उपयोग तक ही सीमित थे। अनेक मामलों में कारखाने रेशों के मूल स्रोत के समीप स्थापित किये गये और जो काम पहले झोंपड़ियों में होता था उसका बहुत कुछ भाग दीर्घ स्तरीय कारखानों में होने लगा।

इतना सब होते हुए भी कुटीर रेशा उद्योग विस्तृत नहीं हुआ था। अनेक यंत्रों ने, जो जन-शक्ति विस्थापन के लिए उत्तरदायी रहे हैं, भारतीय ग्राम रेशा उद्योग पर कोई विशेष असर नहीं डाला है। प्रथम इसलिए कि भारत में यंत्र मंहगे हैं। उन्हें चलाने के लिए ईंधन और विद्युत ऊर्जा भी मंहगे हैं। गाँवों में भयंकर बेकारी है—खास करके उन वर्गों में जो इस उद्योग में लगे हैं, उदाहरणार्थ हरिजन, जोकि वैकल्पिक लाभदायक रोजगारी ढूंढ़ने में असमर्थ हैं। इस प्रकार, चूंकि श्रम सस्ता है इसलिए पूंजी निवेश और यंत्रों का समावेश करने से जो लाभ प्राप्त होते हैं, वे वैसे भी हो सकते हैं। ग्राम उद्योग के लिए दूसरा अन्तर्निहित लाभ है कच्ची सामग्री की स्थानीय उपलब्धि तथा यातायात एवम् अन्य अनेक व्यावसायिक व और और प्रकार की लागत में होनेवाले खर्च में कमी।

तथापि, दिन प्रति दिन नयी-नयी प्रक्रियाओं और मशीनों का प्रादुर्भाव हो रहा है। अतएव उद्योग अपना अस्तित्व बनाये रखने में समर्थ हो, इसलिए यह आवश्यक है कि इन उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु तुरन्त कदम उठाये जायें: तक्नीकों में सुधार; उन्नत उपकरणों का व्यवहार; नये-नये उत्पादन तैयार करने का प्रशिक्षण; रेशा उत्पादन के लिए उस सामग्री का पूरा उपयोग करना जो फिलहाल बेकार जाती है ताकि उद्योग के लिए कच्चे माल की अनवरत पूर्ति सुनिश्चित हो; कच्ची सामग्री के भाण्डारीकरण तथा संचालन पूजी के लिए ऋण; और उपयुक्त बिक्री व्यवस्था। रेशा उद्योग विकास के लिए कमीशन की योजनाएँ, जोकि कुछ मामलों तक ही सीमित हैं, इन बातों से सम्बद्ध हैं; (अ) कारीगरों को अच्छे गुण-स्तर का अधिक उत्पादन करने में समर्थ बनाने और ज्यादा आय सुनिश्चित करने की दृष्टि से तक्नीक में सुधार; (आ) नयी-नयी चीजें तैयार करने का प्रशिक्षण जैसे कारखानों द्वारा बनायी गयी वस्तुओं की एवज में

कुटीरोद्योगी चीजों की स्थापना; और (ड) गांव के अनेक कामों के लिए रेशा तैयार करने में उस सामग्री का उपयोग जो फिलहाल बेकार जाती है।

योजना बहुत कुछ रूप में रूई पैक करने के लिए बारदान उत्पादन से सम्बन्धित है। मैसूर में इस उद्योग का अच्छा जमाव है। उद्योग कुछ वर्ष पूर्व प्रारम्भ किया गया था। कताई और बुनाई पुराने ढर्रे के औजारों से हाथ से की जाती थी। अब अच्छे उपकरण तैयार किये गये हैं और उन्हें लोकप्रिय बनाना कमीशन के कार्यक्रम में आता है। शुरू-शुरू में उद्योग का जमाव बीजापुर और हुबली जैसे कस्बों व शहरों में था।

प्रगति

मार्च १९६२ के अन्त तक योजना के अन्तर्गत ६,९२४ उन्नत चरखे वितरित किये गये। सन् १९६२-६३ के दौरान १,३१२ उन्नत चरखे और वितरित किये गये। आठ घण्टे के काम से एक महिला एक बच्चे की सहायता लेकर डेढ़-दो रुपये कमा लेती है। महिलाएँ केवल कताई का काम ही करती हैं। बुनाई कार्य अधिकांशतः पुरुष करते हैं। वे प्रति दिन दो-ढ़ाई रुपये कमा लेते हैं। अधिकांश रूप में यह आंशिक समय का काम है। महिलाओं के खाली समय का इसमें उपयोग होता है। लेकिन वैसे यह काम साल भर यानी वर्ष में २०० दिन से अधिक तक चलता है। कमीशन ग्रामीणों को अपने खाली समय का उपयोग करते हुए अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुएँ तैयार करने का प्रोत्साहन देता है।

फिलहाल हुबली, बीजापुर और रायचूर उद्योग के प्रमुख केन्द्र हैं। मुश्किल से २० प्रति शत कर्मी पंजीकृत संस्थाओं से सम्बद्ध हैं, शेष ८०प्रति शत अथवा उससे भी अधिक कामगार 'साहूकारों' के अन्तर्गत काम करते हैं, जो कामगारों को कच्ची सामग्री देते हैं और उन्हें अनुबद्ध यानी नियत मजदूरी देकर तैयार माल ले लेते हैं। वार्षिक उत्पादन अकेले मैसूर राज्य में १,००,००,००० रुपये का होता है। इनमें से ४०,००,००० रुपये मजदूरी के समझे जा सकते हैं, जो करीब ८,००० महिलाओं तथा २,००० पुरुषों को मिलते हैं।

रस्सी बनाना

उत्पादन की दृष्टि से दूसरा महत्वपूर्ण काम है उत्तर भारत का बान उत्पादन उद्योग। बान के लिए कच्ची सामग्री मूंज और भाभर अथवा सवई घास है। यह खास कर जम्मू, पंजाब, हिमाचल प्रदेश, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, दिल्ली, मध्य प्रदेश और बिहार में मिलती है। बान तैयार करने का पुराना तरीका हथेलियों से बट देना अथवा एक अन्य अविकसित साधन से बट देना है। कमीशन के कार्यक्रम में जापानी रस्सी बटाई यंत्र को लोकप्रिय बनाना शामिल है, जिसका धान-तृण से रस्सी बटने के लिए जापान में सर्वत्र उपयोग होता है। मूंज और सवई घास से रस्सी बंटने के लिए यह उपकरण उपयुक्त पाया गया है। इस कार्यक्रम में पंजाब सबसे आगे है। मार्च १९६३ के अन्त तक गाँवों में ५,९९५ यंत्र वितरित किये जा चुके थे।

उक्त यंत्र या उपकरण चलाने में बहुत ही सरल है। एक आदमी दो से चार रुपये तक इस पर रस्सी बटाई का काम करके कमा सकता है। यह कमाई इस बात पर निर्भर करती है कि कामगार कितना कुशल है और वह कितने घण्टे काम करता है। परिवार के अन्य लोगों द्वारा भी इस काम में हाथ बटाने पर आमदनी पांच रुपये और किन्हीं मामलों में तो आठ रुपये दैनिक से बढ़ गयी है। यह कुछ व्यक्तियों के लिए आंशिक समय का धंधा है तो अनेक के लिए पूरे समय का।

इस सम्बन्ध में कमीशन का कार्यक्रम इस यंत्र के उपयोग के सम्बन्ध में जानकारी प्रदान करना और रियायती दरों पर ऐसे यंत्र कारीगरों को मुहैया करना है। कहीं से भी कच्ची सामग्री प्राप्त करने और किसी भी ढंग से अपना तैयार माल बेचने में कारीगर परिपूर्णतः स्वतंत्र हैं। सामान्यतः उत्पादन किसी परिचित उपभोक्ता के लिए होता है। कीमत प्रायः करके समान होती है। अधिकांशतः कार्य घरेलू

इकाई के तौर पर चलता है तथा कारीगर स्वतंत्र रूप से कार्य करते हैं।

एक यंत्र की प्रस्थापना पर कमीशन ११५ रुपये खर्च करता है। इसमें ८० रुपये यंत्र की कीमत पर आर्थिक सहायता के हैं, ३० रुपये वृत्तिका के और ५ रुपये प्रशिक्षण शुल्क के। प्रति यंत्र पीछे ८० रुपये ऋण स्वरूप भी दिये जाते हैं, जो तीन वर्ष में वापस लिये जाते हैं। किन्तु अनेक मामलों में ऋण देने की आवश्यकता नहीं पड़ी। आर्थिक सहायता (सब्सिडी) कम करके यंत्र का बचा हुआ मूल्य कारीगरों ने नकद दे दिया। उन्हें जरूरत केवल इस बात की है कि यंत्र उपयुक्त मानक का हो। बान उत्पादन कार्यक्रम के अन्तर्गत वार्षिक उत्पादन ५६,००,००० रुपये का होने का अनुमान है। पांच जेलों में–दो पंजाब में, दो उत्तर प्रदेश में और एक दिल्ली में–यंत्र प्रारम्भ किये जा चुके हैं। वहां के कैदियों ने इन्हें खुशी-खुशी अपनाया है।

केले का रेशा

केला रेशा उद्योग का संकेन्द्रण केरल में है। विश्वास किया जाता है कि वहाँ पर यह लोकप्रिय हो रहा है। इस उद्योग में ७०० से अधिक परिवार लगे हैं। अधिकांश कारीगर महिलाएँ हैं। पौधे के गुण और कामगार के कौशल के अनुसार प्रति महिला कर्मी दैनिक रेशा उत्पादन तीन से पांच पौण्ड है। आय साठ नये पैसे से एक रुपया प्रति दिन आती है। कताई उद्योग अधिक लाभदायक बताया जाता है। दैनिक उत्पादन ३०० रुपये से बढ़ जाता है। इस प्रकार वार्षिक उत्पादन १,००,००० रुपये का होता है।

अधिकांश कामगार किसी संस्था से सम्बद्ध नहीं हैं। वे उन तनों से रेशा प्राप्त करते हैं जो वे अपने खाली समय में हथिया सकते हैं। रेशे से वे रस्सी अथवा सूतली तैयार करते हैं और बेच देते हैं अथवा स्वयम् इस्तेमाल करते हैं। इस प्रकार वे उतनी बचत कर लेते हैं, जोकि अन्यथा उन्हें बान आदि खरीदने में खर्च करना पड़ता। प्रक्रियाएँ इतनी सीधी हैं और उपकरण बनाना इतना आसान तथा सस्ता है कि इस बात का अनुमान कठिन है कि उद्योग में कितने आदमी लगे है अथवा उनकी आय क्या है। अच्छे उपकरणों की सहायता से उत्पादन अधिक होगा और उसका गुण-स्तर बेहतरीन।

रेशा निस्सारण के लिए दो उपकरणों–एक निर्षर्षणक अथवा खुरचनी और दूसरा धुनाई साधन–की आवश्यकता होती है। इनकी कीमत क्रमशः १५ और १० रुपये है। इस सम्बन्ध में भी कमीशन ५० प्रतिशत के बराबर सहायता देता है। सूतली, रस्सी तथा बान बनाने के लिए रेशों का उपयोग होता है।

अब तक प्राप्त अनुभव से पता चलता है कि रेशा उद्योग के उत्पादनों की बिक्री में कोई विशेष कठिनाई नहीं आयी। इन उत्पादनों के लिए दीर्घ स्तरीय कारखानों में उत्पादित माल से प्रतिस्पर्धा करना सम्भव है। रूई पैक करने के लिए बारदान बनाना बड़ा लाभदायक रहा है। इस उद्योग से अन्य राज्यों में भी लाखों लोगों को काम मिल सकता है।

कुटीर रेशा उद्योग का काम करनेवाले लोगों में अधिकांश व्यक्ति पिछड़े वर्गों के, मुख्यतः हरिजन, हैं। वे अपने परम्परागत औजारों के लिए समूह के समूह में गांव-गांव घूमते हैं और प्रत्येक ग्राम में एक माह के लगभग रहते हैं। ग्रामीणों में अधिकांश कृषक होते हैं। वे अपनी वर्ष भर की खेती सम्बन्धी या घरेलू आवश्यकता पूरी करने के लिए पर्याप्त मात्रा में रेशा पैदा करते हैं। यह रेशा वे घुम्मकड़ समूह के प्रधान को बान तथा रस्सी बनाने के लिए दे देते हैं। सामान्यतः पारिश्रमिक जिन्स के रूप में दिया जाता है। यह पद्धति आज भी हमारे अनेक गाँवों में प्रचलित है, यद्यपि मिल और कारखानों के पास अब इसका लोप हो गया है।

कारीगर पुराने साधनों से काम करते हैं। इससे काम में जोर बहुत आता है और वह धीरे भी होता है। अब उन्हें हस्त उपकरण प्रदान करना सम्भव बन गया है। ये उपकरण पुराने औजारों से तीन गुना और बेहतरीन उत्पादन देते हैं।

कार्यशीलता का एक बहुत ही महत्वपूर्ण भाग अन्वेषण और प्रयोग से सम्बन्धित है। अन्वेषण तथा प्रयोगों के फलस्वरूप प्राप्त कुछ ऐसे यंत्र जो ग्रामीणों में लोकप्रिय हैं, इस प्रकार हैं:

१. बटारा चरखा; जूट, केनाफ, सीसल तथा केले के रेशों से बांधने के काम आनेवाली सूतली कातने के लिए हस्तचालित यंत्र;

२. उक्त रेशों से तथा वैसी घास से भी जिसमें कुछ रूइ जैसे तत्व होते हैं, कताई करने के लिए पद-चालित चरखा; इसे ¼ अश्व-शक्तिवाली मोटर से भी चलाया जा सकता है;

३. तीन आकार-प्रकार का रस्सी बटाई यंत्र;

४. सीसल और जूट के पत्तों से रेशा निकालने के लिए यंत्र (इसे चलाने के लिए एक अश्व-शक्ति की मोटर अथवा इंजिन आवश्यक है);

५. सीसल, जूट, अम्बाड़ी और सन की धुनाई के लिए एक यंत्र; इसे ½ अश्व-शक्ति या इंजिन और पैर से चलाया जा सकता है;

६. केला रेशा निर्घर्षणक अर्थात् खुरचनी (स्क्रैपर);

७. सीसल, जूट, अम्बाड़ी और सन से कुर्सी की गद्दी बुनने अथवा चटाइयाँ बुनने के लिए करघे;

८. नाजुक आवरण और साफ-साफ तथा परिपूर्णतः छिलका उतारने के लिए भी एक रेशा निर्घर्षणक; अन्य सभी छिलका उतारकों से यह अधिक सक्षम है;

९. केले के रेशों से बान तैयार करने के लिए एक जोड़ा रहट (यह भी जटा-क्वायर-रहट की तरह ही चलता है); और

१०. मूंज तथा सवई घास से रेशा निकालने के लिए एक पद-चालित यंत्र।

निम्न लिखित उपकरणों के सम्बन्ध में कार्यारम्भ हो चुका है और अब वे परिपूर्णावस्था में हैं:

१. गौरशण-वनकुमारी से सीसल रेशा निकालने के लिए एक हस्त-चालित यंत्र। इस पर एक दस वर्ष के छोटे लड़के या लड़की की सहायता से एक महिला ८०० ग्राम से एक किलोग्राम तक उत्पादन कर सकती हैं। प्राप्त रेशा बिल्कुल साफ होता है। उसमें रत्ती भर भी छीजन नहीं जाती और कोई भी 'लाइन्न' खराब नहीं होती जबकि अन्य प्रकार की सर्वोत्तम खुरचनी में भी १० प्रति शत छीजन जाती है तथा ७५ प्रति शत 'लाइनें' ही प्राप्त होती हैं। इस यंत्र पर अभी और अन्वेषण हो रहा है।

२. अनन्नास की पत्तियों से रेशा निकालने के लिए हस्त-चालित यंत्र।

३. केले के रेशों से बान तैयार करने के लिए हस्त-चालित स्वयम् परेतनेवाला यंत्र।

४. ताने के लिए सीसल और बाने के लिए केले के रेशे की सूतली का व्यवहार करके पैंकिंग के लिए बारदान तैयार करने के लिए करघा। वर्तमान उत्पादन ४२ इंच चौड़ाई का ३० गज लम्बा यानी ८४८ गज दैनिक है। लक्ष्य है अधिक उत्पादन करना।

प्रशिक्षण

रेशा उद्योग के लिए प्रशिक्षण पाठ्यक्रम दो श्रेणियों में विभक्त है। प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत चार माह के पाठ्यक्रम में सभी प्रकार के रेशे निकालने की जानकारी, उनकी धुनाई, कताई और बुनाई की सामान्य जानकारी करवायी जाती है। इसके बाद दो माह की अवधि का विशेषीकरण प्रशिक्षण दिया जाता है। विशेषीकरण निम्न में से किसी एक विषय में प्राप्त किया जाता है: रेशा निस्सारण, कताई और बुनाई। प्रथम श्रेणी का प्रशिक्षण धारवाड़ स्थित जनता शिक्षण समिति में और द्वितीय श्रेणी का बम्बई के समीप बोरिवली स्थित कोरा ग्रामोद्योग केन्द्र में दिया जाता है।

द्वितीय श्रेणी के पाठ्यक्रमों में तीन महीने की अवधि का इनमें से किसी एक विषय में प्रशिक्षण दिया जाता है: (१) रेशा निस्सारण और उनकी धुनाई, मोटे अंक की कताई (बांधने के काम आनेवाली सूतली तैयार करना) और सूतली, निवार और गुदड़ बनाने का भी। (२) महीन सूतली से बारदान बुनाई, गलीचा बुनाई तथा सूत रंगाई। घास रेशा सम्बन्धी प्रशिक्षण दिल्ली के समीप पट्टीकल्याण में पंजाब खादी ग्रामोद्योग संघ द्वारा, और पत्ती रेशा सम्बन्धी प्रशिक्षण कालीकट में केरल सर्वोदय संघ द्वारा दिया जाता है।

धारवाड़ : ८ जुलाई १९६२

ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था और ग्राम का आकार

भारत में ग्राम आर्थिक विकास के लिए अब तक जो कदम उठाये गये हैं, वे कोई विशेष क्रांतिकारी परिवर्तन लाने में सफल नहीं हुए हैं। इसलिए प्रश्न उठता है कि

अ. कार्यक्रम सफल क्यों नहीं हुए तथा जो कमियाँ हैं उन्हें दूर कैसे किया जाय ? और

आ. गाँवों के आगे बढ़ने यानी उन्नति करने में उनकी असमर्थता से क्या स्वयम् गाँव के छोटे आकार का कोई सम्बन्ध है ? भारत में अनेक गाँवों की आबादी ५०० से और यहाँ तक कि २०० से भी कम है। क्या इस प्रकार के छोटे-छोटे गाँवों में स्कूल, अस्पताल, कॉलेज आदि की सुविधाएँ प्राप्त करना सम्भव है ? यही नहीं, क्या इस प्रकार के छोटे-छोटे गाँवों में गैर खेतिहर उत्पादन भी लाभदायक आधार पर किया जा सकता है ? खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के समग्र विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत "ग्राम इकाई की आबादी ५,००० और उससे ऊपर मानी गयी है।" क्या इस आबादी का गाँवों के वर्तमान आकार से कोई सम्बन्ध है ? ग्राम पुनर्निर्माण कार्य में लगे प्रसिद्ध अनुभवी रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं के पास उक्त प्रश्न उनके विचार जानने के लिए भेजे गये थे। इन प्रश्नों के कुछ पक्षों पर नीचे दो प्रख्यात अनुभवी रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं के लेखों में विचार किया गया है। पाठकों की ओर से इन प्रश्नों पर विचार-विमर्श युक्त रचनाओं का स्वागत किया जायेगा।

—सम्पादक

१

जुगतराम दवे

एक ग्राम का आकार कितना होना चाहिए, इस सम्बन्ध में चर्चा उपस्थित की जाती है कि ग्राम का कद यानी उसकी जनसंख्या आदि अत्यंत कम होने से स्कूल, अस्पताल, कॉलेज आदि जैसे सभ्य समाज के साधन उसको दिये जा सकेंगे अथवा नहीं। लेकिन समाज के नेताओं की प्रधान चिंता यह न हो कर इस तरफ होनी चाहिए: लोगों के जीवन-निर्वाह का उद्योग, जो हमारे देश में स्वाभाविक रूप से ही कृषि तथा पशु पालन है, अच्छी तरह से चलाने में सुभीता हो। लोगों का कौटुम्बिक जीवन तथा जीवन-निर्वाह का यह उद्योग, दोनों एक-दूसरे के पोषक और मिले-जुले रूप में चलें, ऐसी अनुकूलता रहनी चाहिए। लोगों के जीवन का ढाँचा पैसा-केन्द्रित न रहे, किन्तु स्वावलंबन केंद्रित रहे अर्थात् जीवन की आवश्यकताओं में से अधिकतर यानी ८० फी सदी घर में या गाँव में ही उत्पन्न हों। अन्यान्य काम करके पैसा कमाना और जीवन की सारी जरूरतें बाजार से खरीद कर लाना, यह शहरी ढाँचा उनके काम का नहीं है। देशवासियों के लिए इस प्रकार के जीवन को हम आदर्श समझते हैं। आज शहरों में जिस ढंग से लोग जीवन बसर करते हैं, गाँवों के लिए वैसा ही आदर्श बनाना ठीक नहीं है और हमारी परिस्थिति में शक्य भी नहीं। कृषि, पशु-पालन का काम ही करना है, तो अपने खेतों में ही अथवा उनसे यथा सम्भव नजदीक बसना आवश्यक है। अपने खेतों से दूर शहर अथवा बड़े ग्रामों में रहना और मोटर कारों में बैठ कर रोज आना-जाना तथा अपनी गैर-हाजिरी में खेतों की सम्हाल के लिए दूसरा प्रबन्ध करना, यह सब अनावश्यक समझना चाहिए।

छोटा ग्राम बाधा नहीं

अत्यंत छोटी बस्तियों की शिकायत की जाती है, लेकिन स्वावलंबनपूर्वक कृषि करनेवाले किसानों के लिए खेतों के समीप की ऐसी बस्तियाँ ही हर प्रकार से अनुकूल हैं, यह हमें स्वीकार करना होगा। वस्तुतः

छोटी-छोटी बस्तियों को ग्राम न समझ कर एक बड़े ग्राम के बिखरे हुए मुहल्ले समझना चाहिए। आज सरकारी राजस्व विभागों के दस्तावेजों में किसी स्थान में अत्यंत छोटी बस्तियाँ भी स्वतंत्र ग्राम के स्वरूप में दर्ज की हुई हैं; वह तो पुराने अव्यवस्थित राज्य कारोबार के जमाने में गलती से हो गया है, ऐसा मैं मानता हूँ।

अलग-अलग प्रकार के ग्राम पाये जाते हैं। एक प्रकार है एक साथ सघन रूप से बसे हुए ५,००० जितनी संख्या के बड़े ग्रामों का। दूसरा प्रकार है बिखरे हुए अनेक 'फलियों' अर्थात् मुहल्लोंवाले दो-चार हजार जन-संख्या के ग्रामों का, जो एक या दो मील में फैले हुए हैं। तीसरा प्रकार है अत्यंत छोटे ग्रामों का, जिनकी संख्या २०० से ५०० तक की ही है। यह आखिरी प्रकार, मेरे मत से राजस्व अधिकारियों की गफलत से स्वतंत्र ग्राम बना दिये जाने के कारण है। कभी राजस्व के ढाँचे की पुनर्व्यवस्था करके, इस स्थिति को सुधार लिया जाय तो अच्छा होगा।

कसौटी

लेकिन यह स्पष्ट रूप से समझ लेना होगा कि इसका अर्थ यह नहीं है कि ये सारी बस्तियाँ आज के स्थानों से उठ कर एक साथ बड़े ग्राम बन कर बसने जायेंगी। बड़ी राजस्व इकाई (रेवेन्यू यूनिट) बनाने से कई 'वहीवटी' सुविधाएँ मिल सकती हैं, लेकिन कृषि के लिए लोग जो आज छोटी-छोटी बस्तियों में रहते हैं, वही प्रकार अच्छा है।

बड़े ग्रामों में भी यह पाया जाता है कि किसानों को दो मुकाम–एक ग्राम में और दूसरा खेत में–रखने पड़ते हैं; विशेष कर जो किसान सघन खेती यानी सिंचाई से खेती करते हैं, उनको ऐसा करना ही पड़ता है।

बिखरी हुई बस्तियों से लाभालाभ क्या हैं, यह निम्न कसौटी पर कसना होगा :

अ. क्या छोटी बस्ती के कारण कृषि के विकास में, उत्पादन वृद्धि में बाधा आ रही है? क्या ऐसी बाधा का आना अनिवार्य है?

आ. क्या छोटी बस्ती के कारण पूरक उद्योग का नया अंग विकसित करने में किसी बाधा के आने की सम्भावना है?

इ. क्या छोटी बस्ती के कारण शिक्षा, आरोग्य, वाहन, आदि जैसे साधनों के प्रबन्ध में कोई बाधा आयेगी?

हमारा आदर्श यह नहीं है कि ग्राम-जीवन दरिद्र रहे और शिक्षा आदि के साधनों से वंचित रहे। लेकिन सुख-साधन का आधुनिक शहरों में जो प्रमाण अपेक्षित है और हम शिक्षित लोग जिस प्रमाण की आदत बना बैठे हैं वह उचित नहीं है, ऐसा मानना होगा। छोटी बस्तियों में उस अपेक्षा को पूरा करना सम्भव न होगा, यह सही है। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन जैसी संस्था को दरिद्रता मिटाने का आदर्श रखना चाहिए, लेकिन शारीरिक श्रम से काम न करना और बड़े-बड़े यंत्रों से ही सब कुछ करना, यह आदर्श रखना उसके लिए योग्य न होगा। कृषि और पशु-पालन ज्ञान-विज्ञानपूर्वक किया जाय; खाद, बीज-सुधार, जमीन-सुधार आदि उपायों से उत्पादन बढ़ाना चाहिए; अशक्त शरीर तथा अविकसित बुद्धि के कारण आज के किसान कम काम करते हैं, उसमें सुधार लाना चाहिए। लोगों को घर मिलें, स्वच्छ रास्ते मिलें, आरोग्य मिले, यह आदर्श रखना योग्य होगा, मगर उन्हें पक्के सिमेण्ट के बनाये बंगले मिलें, आधुनिक ढंग के बड़े-बड़े अस्पताल ग्राम-ग्राम में लग जायें, सब लोग मोटरों में फिरने लग जायँ, इत्यादि की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। अपने परिश्रम से, ग्रामीण कारीगरों की मदद से बाँधे हुए छोटे-छोटे घरों से हमें संतोष करना होगा। अन्न, वस्त्र आदि बड़े यंत्रों से बनाने का स्वप्न छोड़ कर आरोग्य वर्धक परिश्रम को सुख समझना होगा। किसान अन्न के साथ अम्बर कताई, बुनाई अपना कर कपड़े और इतर

जरूरतों में भी स्वावलम्बी बन कर अधिक सुखी बनें, इस स्थिति से संतुष्ट रहना सीखना चाहिए।

शिक्षा के छोटे से ले कर बड़े केन्द्र तक ग्रामीण क्षेत्रों में ले जाने होंगे। कॉलेज अति विशाल हो, यह आवश्यक न समझना चाहिए। शिक्षक अच्छे हों और मकान आदि छोटे रहें, तो इससे असंतोष नहीं होना चाहिए। अति छोटी बस्तियों में दो-चार श्रेणियों के स्कूल, पूरे गाँव में ऊपर की बुनियादी शाला, दो-चार ग्रामों के बीच उत्तर बुनियादी तथा दस-पन्द्रह ग्रामों के बीच महाविद्यालय अथवा उद्योगशाला, इतने साधनों से संतोष मानना चाहिए। मैं तो यह मानता हूँ कि आज की शिक्षा संस्था के मुकाबले गुण एवम् संख्या, दोनों ही दृष्टियों से यह व्यवस्था अधिक उपयुक्त होगी।

अनुभव पर आधारित

मेरी समझ में मैंने ऊपर ठीक-ठीक बता दिया है कि छोटी संख्या की बस्तियाँ ग्राम जीवन के लिए बाधा रूप नहीं हैं। इतना ही नहीं लोगों ने सदियों के अनुभव से अपनी आवश्यकता समझ कर यह ढाँचा बना लिया है और वह भावी सुख-साधनों के लिए बाधक नहीं है। इस ढाँचे को प्रधान समझ कर उद्योग, शिक्षा आदि सबको उस रचना के अनुकूल बनाना चाहिए। ऐसी रचना करना मुश्किल नहीं है।

आज के अति विशाल और खर्चीले शहरी ढाँचे का त्याग करना होगा और उसके बदले छोटे कद की लेकिन गुण और मानव-मूल्यों में उच्च कोटि की संस्थाएँ खड़ी करनी चाहिए। ये सब करने से ग्रामों में से दरिद्रता और अज्ञान निकल जायेंगे, और तब आज ग्राम को देख कर हमारे मन में जो एक प्रकार की अप्रसन्नता पैदा होती है उसके लिए कारण न रहेगा। हम देख सकेंगे कि जीवन आज के मुकाबले काफी श्रम-प्रधान और सादा होगा। लेकिन आज हमें जिसका अनुभव नहीं मिल रहा है वैसा आनंद, उत्साह, संतोष, प्रेम, सहकार, समता आदि उस जीवन में देखने को मिलेंगे।

अन्त में एक दूसरी बात साथ-साथ बता देनी जरूरी है, जिसके बिना हमारे छोटे-छोटे ग्रामों को आनंद, सुख-संतोष आदि से परिपूर्ण करना और ऐसा करके उनको लोकप्रिय बनाना सम्भाव्य न होगा। आज जो कुछ कल्याण और विकास कार्य हो रहे हैं, वे विशाल और खर्चीली नौकरशाहियाँ बना कर किये जाते हैं। इस पद्धति से सार्वजनिक कार्य अति महँगे हो जाते हैं, बड़े वेतन कमानेवाली जमात खड़ी होती है और उस जमात को देख कर छोटे-बड़े सबके मन में बड़े-बड़े वेतनवाली नौकरी प्राप्त करने की अभिलाषा उठ रही है। ऐसा होने से ग्रामों में भी लोगों में शारीरिक श्रम करने के प्रति अप्रीति उत्पन्न होने लगी है और जो लोग कुछ पढ़ना-लिखना सीखते हैं वे नौकरी की खोज में ग्राम से बाहर चले जाते हैं। इसे रोक कर श्रम-प्रधान, आरोग्यदायी और आनंदमय जीवन लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

अधिकतर सार्वजनिक काम स्वयंसेवकों द्वारा करने की प्रथा देश में जारी करनी चाहिए। हमारे जो नौजवान लोग स्कूल, कॉलेज आदि की शिक्षा प्राप्त करके निकलते हैं, वे अपने जीवन के आरम्भ के पांच वर्ष अपनी सीखी हुई विद्याओं द्वारा कुछ न कुछ सार्वजनिक सेवा करने में लगायें और इसके बाद ही उन्हें प्रमाण-पत्र दिया जाय तथा नौकरी आदि में लिया जाय, ऐसा नया रिवाज आग्रह के साथ जारी करना चाहिए। अगर हिम्मत के साथ हम लोग यह उपाय अमल में न ला सकें तो समझना चाहिए कि हम स्वावलंबी, श्रम-प्रधान ग्राम-जीवन को कभी भी लोकप्रिय न बना सकेंगे। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन तथा अन्य इसी प्रकार की जो संस्थाएँ ग्रामों को सुखी बनाने का प्रयत्न कर रही हैं, उनके ये प्रयत्न भी सफल होने सम्भव नहीं हैं।

देश का जीवन और सारी संस्थाएँ तथा आदतें आज जैसी हैं, वैसी ही कायम बनी रहें व देश में समृद्धि एवम् सर्वोदय भी हो, ऐसी अपेक्षा में रह कर हम लोग अपने आपको धोखा दे रहे हैं।

सामान्य विचारक इस परिस्थिति को अपने समक्ष आने पर घूम जाना पसंद करते हैं। मेरी दृष्टि से खादी और ग्रामोद्योग कमीशन तथा उसके कार्यकर्त्ताओं के लिए इस प्रकार की निराशामय विचारधारा में अपने आपको बहाना आत्मघातक होगा। उनका कर्तव्य तो यही रहना चाहिए कि वे देश की जनता को आग्रह के साथ नयी आदतें सीखने तथा नव जीवन के क्रान्तिकारी परिवर्तन अपनाने के लिए ही उत्साहित करते रहें।

वेडछी (गुजरात) : ११ अप्रैल १९६१

२

रतिभाई गोंधिया

ये दोनों प्रश्न एक दूसरे के साथ जुड़े हुए होते हुए भी प्रत्येक का अपना निजी कार्यक्षेत्र है। खास करके पहले प्रश्न का अपना कार्यक्षेत्र विशाल है। अतएव उस प्रश्न पर विचार करने से पहले हमें कई बातों पर विचार करना पड़ेगा और शायद हमारे मन में इससे कई प्रतिप्रश्न भी उपस्थित होंगे।

हमें एक बात तो स्वीकार करनी ही होगी कि किसी भी देश के लिए दूसरे देश की नकल करना सयानापन का काम नहीं है। भारत ने अपनी आजादी अहिंसक क्रांति द्वारा प्राप्ति की और स्वराज्य प्राप्ति के बाद अपनी राज्य-व्यवस्था लोकशाही के स्तर पर चलाना पसंद किया। इसके वितरीत कई सदियों की मैत्रीवाले हमारे पड़ोसी देश ने भिन्न रास्ता पसंद किया। इस प्रकार प्रत्येक देश का अपना निजी ढाँचा, निजी परम्परा और निजी संस्कृति होती है जिससे उसका जीवन-मार्ग निश्चित होता है।

अतएव प्रश्न उठता है कि भारत में आर्थिक ग्राम विकास के जो कार्यक्रम हाथ लिये गये वे इस देश की संस्कृति, परम्परा और लोक-जीवन के अनुकूल थे या नहीं। मेरी समझ से ग्राम-विकास का कार्यक्रम इस देश की आबहवा, परम्परा और संस्कृति के अनुरूप न होने के कारण ही असफल रहा।

गांधीजी की कल्पना

इस देश का ग्राम स्वराज्य कैसा होना चाहिए उसके बारे में गांधीजी ने **हिन्द स्वराज** में विस्तृत विश्लेषण किया था। राष्ट्रपिता और विश्व की परम विभूति ने कितना ही विचार करने के बाद यह चित्र खींचा होगा। लेकिन हम और खास करके जिनके द्वारा इन योजनाओं का आयोजन होता है या योजनाएँ मंजूर की जाती हैं उन्होंने शायद ही **हिन्द स्वराज** के चित्र को दृष्टि में रखा है।

मेरी दृष्टि से ग्राम विकास के दो प्रयत्न भारत में हुए हैं : (१) सरकार के विकास विभाग द्वारा तालुका स्तर पर सामुदायिक विकास खण्डों के जरिये, और (२) खादी और ग्रामोद्योग कमीशन द्वारा सघन क्षेत्र योजना व ग्राम इकाई योजना के जरिये। इन दोनों प्रयत्नों में पूरी सफलता प्राप्त नहीं हुई उसके कुछ बुनियादी कारण इस प्रकार हो सकते हैं :

उपयुक्त कार्यकर्त्ता

पाँच लाख से भी अधिक गाँवोंवाले भारत का विकास करने के लिए गाँव की स्थिति और गाँव के लोगों को दृष्टि के समक्ष रख कर उस कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए और ग्राम स्वराज्य स्थापित करने के लिए कैसे कार्यकर्त्ता चाहिए यह गांधीजी ने कई बार तथा आखिर में 'नवसंस्करण' करते हुए बहुत ही स्पष्टतापूर्वक कहा। गाँव की इस विशाल सेवा के काम के लिए विकास विभाग ने नौकरी करने-वाला 'ग्राम सेवक' नामक जो बड़ा समुदाय उपस्थित किया, उसके द्वारा भला ग्राम-स्वराज्य कैसे हो सकता ? वे केवल दो ही काम कर सकते हैं : (१) बजट में नियत रकम का खर्च करके उसे 'लैप्स' न जाने देने का, और (२) अपनी नौकरी की बढ़ती, वेतन

वृद्धि इत्यादि की हमेशा की चिंता करने का। ऐसा लिख कर शायद गाँवों में कुछ न कुछ उपयोग में आने-वाले इस एक बड़े समुदाय के प्रति जाने-अनजाने अन्याय कर बैठने का मन में अंदेशा रहता है। फिर भी, यह बुनियादी बात स्वीकार करने के अतिरिक्त अन्य कोई चारा नहीं है। एक बार एक मुरब्बी को इसके बारे में टीका करते मैंने सुना है कि "गांधीजी ने ग्राम सेवकों को तैयार करने के लिए अपनी शक्ति लगाई, सेवाग्राम में विद्यालय चलाया, फिर भी इतने लम्बे अरसे में १०० ग्राम सेवक भी तैयार नहीं हो सके, जबकि इस विकास विभाग ने अत्यंत अल्प काल में ही हजारों ग्राम सेवक तैयार कर दिये!"

यह खामी मात्र ग्राम विकास विभागवालों में ही हो, ऐसा नहीं है और शायद हो तो वह क्षम्य भी है; क्योंकि सरकारी ढाँचे में इससे विशेष कुछ होने की आशा भी नहीं की जा सकती। लेकिन खादी और ग्रामोद्योग कमीशन ने भी विशेष कुछ नहीं किया। उसने भी बिल्कुल सरकारी ढाँचे की ही नकल की। उसने भी योजना बनाई, योजना के आधार पर संगठन बनाया और उस आधार पर वेतन तय किये तथा इन सभी के आधार पर विज्ञापन के जरिये कार्यकर्त्ता प्राप्त किये। किन्हीं स्थलों पर योजनाएँ सीधी रचनात्मक संस्थाओं को चलाने के लिए दी गयीं, लेकिन उन्होंने भी वेतभोगी कार्यकर्त्ता ही रखे।

सघन क्षेत्र योजना

खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की सघन क्षेत्र योजना जैसी महत्वपूर्ण योजना में सरकारी विकास योजना से कुछ भी नया नहीं था। उसमें भी उसी पद्धति से कार्यकर्त्ता लेने और उसी ढंग से वेतन इत्यादि एवम् अन्य सुविधाएँ वगैरह जैसी सुरक्षा की पद्धतियाँ स्वीकार की गयीं। इस योजना ने भी ग्राम स्वराज्य का लक्ष्य पूरा नहीं किया। अलबत्ता यह योजना कई पुरानी रचनात्मक संस्थाओं द्वारा चलाये जाने से कुछ परिणाम भी निकले हैं। लेकिन उन परिणामों के गुण-धर्म योजना के सूत्रधारों द्वारा ही गाये गये, इसलिए उनमें कुछ अतिशयोक्ति है।

सघन क्षेत्र योजना ने ऐसे सभी कामों में बीच में रह कर पोस्ट ऑफिस का काम किया और विकास विभाग से अपने प्रदेश में ऐसे काम करवाये कि बहुतेरे काम विभाग के नियमानुसार हुए, लेकिन सघन क्षेत्र योजना ने उन्हें अपने काम बनाये। वास्तव में इसके द्वारा हम मूल ध्येय की ओर आगे नहीं बढ़े।

ग्राम इकाई योजना की भी ऐसी ही स्थिति बनी हुई है। दो-एक वर्ष पहले भारत की मुख्य संस्थाओं के प्रतिनिधियों की कोरा ग्रामोद्योग केन्द्र में हुई सभा में मैंने कहा था कि "एक ग्राम इकाई द्वारा ३,००० रुपये से अधिक की योजना रद्द की जाय, और फलस्वरूप 'नवसंस्करण' के स्तर पर भले ही मात्र इनी-गिनी इकाइयाँ उपस्थित हों, सामने आयें, विकसित हों; लेकिन वे इनी-गिनी इकाइयाँ हमारी मार्गदर्शक बनेंगी तथा हमें सच्चा रास्ता दिखायेंगी।"

लोक-शक्ति कुण्ठित

इस प्रकार हम देखेंगे कि ग्राम विकास योजना निष्फल जाने का प्रधान कारण उस योजना को चलाने के लिए जो सेवाभावी, निष्ठावान कार्यकर्त्ता रखने चाहिए, वह सिलसिला हमने तोड़ा है, और जो दूसरे लोग यह काम करते थे उन्हें भी इस योजना के लालच में डाल कर उनका काम भी हमने बिगाड़ा है।

एक दूसरा कारण यह है कि लोक-शक्ति जागृत किये बिना हमारी सभी योजनाएँ लोगों पर लाद दी गयी हैं। इसने एक प्रकार की अर्थ-लालसा उपस्थित की और लोक-शक्ति को कुण्ठित कर दिया। हमारे गाँव गरीब हालत में हैं और उन्हें सहायता मिले वह अवश्य वांछनीय है, लेकिन पंचवर्षीय योजना और उसकी वजह से एक निश्चित अवधिमें धन राशि खर्च करने के लक्ष्यांक में हम सब फँस गये। रकम खर्च करके हमारे लालच ने व्यापक लोक-हित को ठेस पहुँचायी। इसी कारण तो सरकारी विभागों ने जो विद्यालय खोले उनका संस्कार

नहीं बना। शायद उनकी देखभाल भी स्वयम् गाँव ने ही नहीं की और किन्हीं स्थलों पर तो विद्यालय के मकान को भी नुकसान पहुँचाया। विकास विभाग ने दवाखाने बनवाये, लेकिन इन दवाखानों में सेवा परायण डाक्टर नहीं आये। गाँवों में सड़कें बनीं, लेकिन वे भी घूसखोरी तथा सरकारी पद्धति के कारण कुछ कच्ची बनीं और कई स्थलों पर लोगों ने ही मुफ्त में मिली सड़कों को नुकसान पहुँचाया।

कृषि में उन्नति

राजनैतिक आजादी मिलने के बाद देश को सामाजिक एवम् आर्थिक क्रांति करनी होती है। ग्राम विकास में सामाजिक तथा आर्थिक क्रांति करने का ध्येय समाविष्ट है। गाँवों में आर्थिक क्रांति के दो मुख्य आधार हैं: खेती और उद्योग। खेती के उत्पादन में शायद देश को प्रमाण की दृष्टि से अच्छी सफलता मिली है। उसका श्रेय जनता और शासन दोनों को है। लोग आजादी के बाद जमीन के मालिक बने और उन्हें सहकारी बैंकों के जरिये रकम यानी ऋण की अच्छी सुविधा मिली। अपने जीवन निर्वाह का सम्पूर्ण आधार खेती पर होने की वजह से लोगों का समग्र ध्यान उसकी ओर केन्द्रित हुआ, और अच्छी तादाद में कृषकों ने अपना उत्पादन बढ़ाया फिर भी, सरकारी नीति के कारण बाजारू फसल का उत्पादन अधिक हुआ। यह कितनी बड़ी निष्फलता है! सौराष्ट्र की मिसाल लें तो इस प्रदेश का मुख्य आहार बाजरी की फसल प्रायः नष्ट हो गयी है और उसकी जगह मूँगफली ने ले ली है। कृषक जब अपना मूँगफली उत्पादन बाजार में लाता है तब प्रथम उसे बेच कर, उससे प्राप्त पैसे से अपने लिए अन्य प्रदेश की बाजरी खरीदता है। यह स्थिति बड़ी दारुण है और सचमुच ही खतरेवाली भी। उसे पैसे मिलते हैं लेकिन खुराक नहीं मिलती। इसी बात का दूसरा पहलू है भूमिहीनों का होना। लेकिन यह स्वयम् एक बहुत बड़ा प्रश्न होने के कारण मैं इस पर यहाँ विचार नहीं करता।

हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि गाँवों में हम उद्योगों की स्थापना नहीं कर पाये हैं। खादी उद्योग ने अवश्य कुछ राहत पहुँचायी है, लेकिन वह भी जब तक उससे पूरी रोटी नहीं मिलती तब तक अधूरा है। हम उद्योग स्थापित नहीं कर सके, इसके निम्न कारण हो सकते हैं:

अ. विकास विभाग के पास तो उसकी खास कल्पना नहीं होती। उसने तो दवाखाने, स्कूलों, रास्ते, खेती इत्यादि पर ही ध्यान केन्द्रित किया। थोड़ी-बहुत रकम ग्रामोद्योगों के लिए रखी जाती थी, लेकिन कोई अधिकारी उनकी महत्ता शायद ही समझ पाते।

आ. खादी-ग्रामोद्योगों के जरिये पुरानी रचनात्मक संस्थाओं ने काम किया, लेकिन उन्हें सफलता इसलिए नहीं मिली कि सरकारी औद्योगिक नीति शायद ही इन उद्योगों को रक्षण देती है। ऐसे उद्योगों को मात्र आर्थिक सहायता देना ही पर्याप्त नहीं है, लेकिन उन्हें रक्षण भी देना चाहिए। फिलहाल खादी-ग्रामोद्योगों का जो काम चलता है वह मजबूरन, दूसरा कोई चारा नहीं है इसलिए चलता है; नीति के स्तर पर नहीं। इस सम्बन्ध में एक ताजा मिसाल हम देखेंगे तो यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

गलत स्पर्धा

सौराष्ट्र के बगसरा गाँव की आबादी करीबन आठ-दस हजार है। इस गाँव में करीबन ४०० हाथ करघे लम्बे अरसे से चलते हैं। आज से करीब ३५-४० वर्ष पहले जब गांधीजी ने इस गाँव का अवलोकन किया था तब उन्होंने कहा था, "यह सौराष्ट्र का लीवरपुल या मैन्चेस्टर है।" इस गाँव में करीब ५०-७५ हाथ करघे हाथ कते सूत की (खादी की) बुनाई करते थे, और शेष मील सूत की। लेकिन अभी तीन-चार महीने पहले वहाँ पर दो शक्ति करघों की स्थापना होने से मिल सूत की बुनाई करनेवाले हाथ करघा बुनकर बिल्कुल बेकार हो जाने के स्थिति में हैं।

ऐसी अनेक मिसालें मिल सकती हैं, लेकिन सभी का सार यही है कि सरकार की नीति ऐसी है कि गाँव में न तो बड़े उद्योग चल सकते हैं और न तो ग्रामोद्योगों को रक्षण मिल सकता है। इससे उल्टा ग्रामोद्योगों के सामने यह नीति इतने 'परिबल' उपस्थित कर देती है कि उन्हें चलाना भी मुश्किल हो जाता है।

कार्यकर्त्ताओं का रुख

लेकिन यह तो सरकारी नीति की बात हुई। कार्यकर्त्ताओं के समक्ष भी आज यही उलझन पड़ी है कि कौन-से उद्योग चलाने चाहिए। सरकारी नीति या लोक-शक्ति की अपूर्ति के कारण ग्रामोद्योग न चलें तो हम तुरन्त ही बिजली से चलनेवाले उद्योगों की तरफदारी करने लगते हैं, जैसे कि सघन क्षेत्र योजना ने खुले तौर पर ग्रामोद्योगों का मखौल ही उड़ाया है। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के तत्वावधान में संचालित इस योजना ने शायद ही खादी और ग्रामोद्योग पर श्रद्धा रखी है। इस योजना ने तेल घानी के सामने बिजली से चलनेवाले एक्सपेलरों यानी कोल्हुओं की हिमायत की तथा खादी के सम्मने बिजली से चलनेवाले कताई संयंत्र को सहारा दिया। इस योजना का एक कार्यक्रम 'सहकारी प्रवृत्ति' है। उसके द्वारा संचालित किसी भी उद्योग या कार्यक्रम पर कोई पाबन्दी न रही और बताया गया कि वह तो लोक संगठन है, उसे चाहे जैसा वे कर सकते हैं। फिर चाहे वह संगठन हमारे द्वारा ही क्यों न खड़ा किया गया हो।

इस प्रकार, निष्फलता के तीन कारण हुए: (१) सरकारी नीति; (२) लोक-शक्ति की अपूर्ति; और (३) रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं की मानसिक उलझन। अतएव इन निष्फलताओं को सफलता में बदलने के लिए निम्न कदम उठाये जाने चाहिए :

१. भले ही काम कम हो, लेकिन सेवाभावी कार्यकर्त्ताओं को इस काम में लगाये रखने के लिए खादी और ग्रामोद्योग कमीशन में ग्राम स्तरीय कार्यकर्त्ताओं के ऊपर देखरेख रखनेवाले बड़े-बड़े वेतन-भोगी अधिकारी वर्ग की प्रथा बन्द होनी चाहिए। वह मात्र सरकारी रिवाज है तथा उससे कई करोड़ रुपयों के खादी उत्पादन के सिवाय और कोई फायदा नहीं होगा।

२. लोक-शक्ति जागृत किये बिना लोगों पर उपर से आयी हुयी योजना लादने की प्रथा बन्द होनी चाहिए, भले ही उसके कारण काम स्थगित ही क्यों न हो।

३. सरकारी नीति स्पष्ट होनी चाहिए। जब तक सरकार मिश्र अर्थ-नीति का अनुसरण करती है तब तक अगर वह ग्रामोद्योग चलाना चाहती हो तो उन्हें दो प्रकार से रक्षण प्रदान करना चाहिए। प्रथम, ग्रामोद्योगों में लगे लोगों के लिए पूरी रोजगारी की व्यवस्था और द्वितीय, ग्रामोद्योगों द्वारा उत्पादित माल को यंत्र उद्योग द्वारा तैयार किये गये सस्ते माल के सामने भाव के सम्बन्ध में संरक्षण या फिर वह ग्रामोद्योगी माल सरकार स्वयम् खरीद कर ले।

४. रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं के बीच विभिन्न कार्यक्रमों में पहले कौन-कौन से चलाने हैं इस बारे में एकमत हो जाना चाहिए और एकमतवाले कार्यक्रम ही चलाने चाहिए, अन्य कार्यक्रम छोड़ देने चाहिए; क्योंकि कार्यक्रमों के बारे में कार्यकर्त्ताओं में एकमत के अभाव के कारण काम में रुकावट आ जाने का खतरा रहता है।

ग्राम का आकार

अब हम 'ग्राम के आकार' विषयक दूसरे प्रश्न पर विचार करें। सामाजिक, शैक्षणिक, कृषि-उत्पादन और अन्य उत्पादन व उद्योगों के लिए गाँव की बस्ती का कार्य साधक आकार तय करने के लिए हमें अनेक बुनियादी प्रश्नों पर विचार कर लेना चाहिए, उदाहरणार्थ :

१. सामाजिक क्रांति के माने क्या हैं? हमें पाश्चात्य संस्कृति की नकल करनी है या भारतीय परम्परा और संस्कृति के अनुरूप समाज बनाना है?

२. शिक्षा की व्यवस्था एवम् मर्यादा क्या है? आज तो शिक्षा का अर्थ कॉलेज तक के शिक्षण से ही

लिया जाता है। इस बारे में हमें सोच लेना चाहिए कि गाँव में या ग्राम समूह में कॉलेज की या ऐसी ही अन्य किसी व्यवस्था का विचार छोड़ कर चलना होगा।

३. उद्योगों के बारे में भले ही हम ग्रामोद्योगों के लिए स्पष्ट हों, किन्तु उस सम्बन्ध में भी मर्यादा तय करनी होगी। सभी उद्योग गाँव या ग्राम समूह स्वयम् चलायेंगे, ऐसा मान कर हम नहीं चल सकते।

इन प्रश्नों से एक ऐसा सार तय करना रहा कि हमारी कल्पना का गाँव बापू ने श्री जवाहरलाल नेहरू को १९४५ में लिखे गये एक पत्र में गाँव की कल्पना का जो चित्र अंकित करके दिखाया था वैसा होना चाहिए। समस्त भारत का अध्ययन एवम् मंथन करने पर निकला वह चित्र कुछ ऐसा था :

अ. भारत जैसे विशाल देश को सच्ची स्वतंत्रता हासिल करनी हो तो गाँव में ही रहना होगा। शहरों और महलों में लोग सुख-शांति से कभी नहीं रह सकते।

आ. ऐसे गाँव में मनुष्य जीवन के लिए जो आवश्यक चीजें हैं उन पर उसका स्वयम् का नियंत्रण होना आवश्यक है।

इ. ऐसे गाँव में रहनेवाला मनुष्य जड़ नहीं होगा। वह शुद्ध चैतन्यमय होगा। वह गंदे अंधकारमय कमरे में पशुओं की तरह जिन्दगी बसर नहीं करेगा। स्त्री व पुरुष दोनों स्वतंत्रता के साथ जीवन बितायेंगे और सारी दुनिया के साथ टक्कर लेने को तैयार रहेंगे। वहाँ हैजा न होगा, न प्लेग आयेगी, न चेचक होगी; और न तो कोई आलसी की तरह पड़ा रहेगा तथा न कोई आरामतलबी ही होगा। सभी को शारीरिक श्रम करना होगा।

ई. प्रत्येक मनुष्य की बौद्धिक, आर्थिक, राजनीतिक एवम् नैतिक शक्ति बढ़ानी होगी। और, प्रत्येक के लिए आगे बढ़ने का समान अधिकार तथा समान मौका रहेगा।

उ. ऐसे गाँवों को या ग्राम इकाई को वस्त्र, अन्न और अपने रहने का प्रबन्ध स्वयम् करना चाहिए। इसी प्रकार पानी, प्रकाश आदि का प्रबन्ध भी स्वयम् ही करना होगा। इस तरह ऐसी इकाई स्वावलंबी होगी और उसमें परस्परावलंबन भी रहेगा।

बापू के इस चित्र की नींव है ग्राम स्वावलंबन। और, ग्राम स्वावलंबन का एक आधार पारस्परिक सम्बन्ध एवम् संपर्क भी है। परस्पर का सम्बन्ध एवम् संपर्क रखने और उसे निभाने के लिए बस्ती का आकार जितना छोटा होगा उतना ही अधिक सुविधा-पूर्ण होगा। इस प्रकार हम देखेंगे कि अगर हम अपनी ग्राम इकाई गांधीजी द्वारा निर्देशित रास्ते पर स्थिर करना चाहते हैं तो ५०० तक की आबादी कार्य-साधक होगी; क्योंकि इतनी आबादी को स्वावलंबन तथा परस्परावलंबन पर एकत्रित रखना आसान होगा।

आकार विस्तार की आवश्यकता

लेकिन अगर हम सारे चित्र का विचार करें, तो हमें अपना यह आकार बढ़ाना होगा; क्योंकि हमारा गाँव जिस प्रकार अन्न और वस्त्र पैदा कर लेगा, उसी प्रकार हमें जीवन की अन्य प्राथमिक आवश्यकताएँ भी पैदा कर लेनी होंगी। इसके माने यह हैं कि हमें छोटे-छोटे ग्रामोद्योग स्थापित करने होंगे और तब ५०० की आबादी पर्याप्त नहीं होगी; क्योंकि इतने छोटे आकार की इकाई में अलग-अलग पेशे करनेवाले टिक नहीं सकेंगे।

इस प्रकार इस कल्पित ग्राम इकाई में माध्यमिक शिक्षा या उत्तर बुनियादी शिक्षा तक का प्रबन्ध करना होगा, और इससे अधिक शिक्षा (उच्च शिक्षा) के लिए दूर के प्रबन्ध का आधार रखना होगा।

जल और प्रकाश मानव जीवन के लिए ऐसी अत्यावश्यकताएँ हैं कि जिन्हें हम टाल नहीं सकेंगे। इसी तरह हमें स्वास्थ्य भी बनाये रखना होगा। गांधीजी की कल्पना, जिसका धुँधला चित्र हमने देखा, जैसे आदर्श ग्राम या ग्राम समूह की व्यवस्था हमें करनी हो तो उसके लिए आबादी का आकार ५०० से बढ़ा कर १,००० तक का करना होगा और उसमें भी ऐसी १,००० की आबादीवाली इकाइयों को कई बातों में परस्पर जोड़ना होगा।

संक्षेप में, सारांश यह है कि भारतीय संस्कृति की परम्परा पर जीवन-व्यवस्था बनाने के उद्देश्य से आर्थिक, शैक्षणिक, सामाजिक एवम् राजनैतिक बातों में स्वावलम्बन तथा परस्परावलम्बन पर आधारित ग्राम इकाई की कल्पना में १,००० की आबादी को कार्यसाधक मानना विशेष योग्य लगता है।

राजकोट : १९ अप्रैल १९६३

ग्रामोद्योगीकरण का बिक्री विषयक पहलू

• श्रीपति रंगनाथ

वैज्ञानिक ढंग से बाजार का अनुसंधान और विश्लेषण करने से वर्तमान और सम्भावित माँग का मूल्यांकन सम्भव हो सकेगा, जोकि ग्रामीण उद्योग विभाग के वैविध्यीकरण का एक महत्वपूर्ण कारक है।

ग्रामीण औद्योगीकरण का उद्देश्य है गाँवों में रहनेवाले बकारों को लाभदायक रोजगारी प्रदान कर वर्तमान निष्क्रिय जनशक्ति स्रोत का उपयोग करना तथा जो आंशिक अथवा मौसमी रोजगारी में है, उन्हें पूर्णकालीन काम देना। यह माल के उत्पादन और सेवाओं में वृद्धि करेगा तथा उससे समुदाय का सामान्य जीवन स्तर ऊँचा उठेगा। हम यह भी कह सकते हैं कि औद्योगिक इकाइयों की स्थापना से ग्रामीण क्षेत्रों में बेकारी और अर्द्ध बेकारी नहीं बढ़ पायेगी। इसके अतिरिक्त, कृषि के नये और वैज्ञानिक तरीके लागू करने की पहल से रोजगारी के मौजूदा जरियों को काफी हद तक विविध बनाया जा सकता है। इतनी अधिक गतिविधियों से न सिर्फ बहुत से श्रमिकों को काम मिल जायगा, बल्कि वे बाजार की वर्तमान सम्भाव्यताओं और भावी सम्भाव्यताओं पर भी ध्यान केन्द्रित करते हैं। ग्रामीण औद्योगीकरण की राहत देनेवाली अन्य विशेषता है बुनाई, सुनारी आदि परम्परागत धंधों का पुनरावर्तन और पुनरुज्जीवन। सुनारों के लिए वस्तुतः अभी यह दुखदायी घटना है कि उन्हें अपना पुश्तैनी काम छोड़ना पड़ रहा है और अपेक्षाकृत नगण्य पूंजी से विकल्प धंधे अपनाने पड़ रहे हैं यद्यपि इस तरह का परिवर्तन आगे चलकर देश की अर्थव्यवस्था के लिए अत्यधिक अच्छा हो सकता है, वर्तमान बेकारी को यह और बढ़ाता ही है।

ग्रामीण भारत में लोगों की शुद्ध बचत नगण्य ही है और उपभोक्ता सामग्रियों के लिए उनकी मांग भी बहुत कम है। अतः बिक्री पहलू का भी करीब-करीब, कोई महत्व नहीं है तथापि जहाँ भी उत्पादन होता है तुरन्त या बाद में बिक्री भी होनी ही चाहिए ताकि आर्थिक स्रोतों का पूर्ण उपयोग हो सके।

उद्योगों की दो श्रेणियाँ

कृषि औद्योगिक कार्य मुख्यतः दो श्रेणियों में विभक्त है। प्रथम श्रेणी में वे सहायक धंधे आते हैं जो पूर्णतः हस्तचालित हैं और परिवार के श्रम पर निर्भर हैं। वे कृषि के पूरक हैं और ग्रामीण परिवारों की आय में वृद्धि करते हैं। ऐसे 'स्थानीय धंधों' में फल उगाना, तरकारी तथा फूल उगाना, दुग्धालय, हाथ कताई, मुर्गीपालन, मधुमक्खीपालन, धान हाथ कुटाई, आटा हाथ-पिसाई, तेल पेराई, अनाज-प्रशोधन, रेशम उत्पादन आदि शामिल हैं। अपने कार्य के प्रकार के अनुसार, सम्पूर्ण प्रक्रिया कारीगरों की परम्परागत दक्षता और निपुणता पर निर्भर करती है। इन धंधों के उत्पादनों का सामान्यतया स्तरीयकरण नहीं होता तथा उनके वजन और परिमाण उनके मूल्य के अनुपात में बहुत अधिक परिवहन खर्च बैठा देते हैं। इस कारण, उनकी खपत गाँवों में ही हो जाती है और यदि कोई बिक्री हुई भी तो वह उत्पादन-स्थल के निकट के ही फेरीवालों और छोटे-मोटे दुकानदारों द्वारा की जाती है।

इस श्रेणी के अन्तर्गत इसी तरह के और इससे कुछ ऊँचे किस्म के धंधे, जैसे कोमल कला और दस्तकारियाँ, देश विदेश के सम्पन्न लोगों की मांग की पूर्ति के लिए चलाये जाते हैं। बिदरी और फिलीग्री काम किये बर्तन,

दरी बुनाई, कसीदाकारी, हाथी दांत का खुदाई काम, लाख के बर्तनों का निर्माण , आदि इस श्रेणी में आते हैं। इन कलात्मक बर्तनों की बिक्री में शायद ही कभी प्रतियोगिता होती है तथा स्तरीयकरण की आवश्यकता पड़ती है। उनमें बड़ी संख्या में कारीगरों को पूर्ण-कालीन काम मिलता है। संचार और परिवहन की प्रगति के साथ ये विशिष्ट कलात्मक तथा विलासिता वस्तु बहुत ही प्रचलित हो गये हैं और इस किस्म के मशीनी उत्पादनों से कहीं उत्तम माने जाते हैं। यद्यपि इन विशिष्ट वस्तुओं के लिए विशेष मांग नहीं है, तथापि यह कार्य चालू रखा जा रहा है। सम्भावित बाजार मुख्यंतः कारीगरों की खोज क्षमता, कारीगरी निपुणता और उन्नत औद्योगिक डिजाइन बनाने की क्षमता पर निर्भर करता है।

परम्परागत उद्योग

एक अन्य ग्रामीण औद्योगिक कार्यशीलता, जोकि बहुतों को रोजगारी प्रदान करती है तथा जिसके लिए बाजार की समस्या नहीं है, वह है "उप-ठेके का काम"। शहरों के चन्द सुस्थित बड़े फर्म छोटी ग्रामीण औद्योगिक इकाइयों को ठेके पर विभाजित और समायोजित पुर्जों के निर्माण का भार दे सकते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में इस तरह के पुर्जों का निर्माण करना आपेक्षिक तौर पर सहज और कम खर्च है बनिस्बत के शहरी क्षेत्र में स्थापित मुख्य कारखाने द्वारा स्वयं निर्माण करने के, क्योंकि उनके लाभ एक खास सीमा के बाद बन्द हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त कृषि सरंजाम, छुरी-कांटे-चम्मच, बिजली के सामान, साइकिल के पुर्जे आदि का गाँवों में विशेष औजारों की सहायता से उत्पादन करना कम खर्च होगा, क्योंकि वहाँ अपेक्षतया लागत कम पड़ती है। "उप-ठेका काम" और हमारी औद्योगिक बस्तियों के सहायक-सह-उप उद्योगों में सूक्ष्म समानता है। दोनों ही लघु उद्योग विभाग को मजबूत बनाने की कोशिश करते हैं, परन्तु उनके उद्देश्य इस तरह भिन्न हैं कि पहले-वाला ग्रामीण औद्योगीकरण का विकास करता है जबकि दूसरा नहीं। इन उद्योगों के उत्पादन न सिर्फ पैतृक संस्थाओं द्वारा ही बल्कि दूसरों के द्वारा भी तुरत खरीद लिये जाते हैं।

दूसरी श्रेणी का औद्योगिक कार्य बढ़ईगीरी, कुम्हारी, चर्म कमाई-आदि परम्परागत धंधों से संबंधित है। इन धंधों में लगे कारीगर अपनी जीविका सतत रूप से अपने उत्पादनों के उपयोगिता-मूल्य से अर्जित करते हैं। औद्योगिक स्वरूप की इस पद्धति को विकसित करने तथा आधुनिक बनाने की बड़ी गुंजाइश है। हमारे जैसे विकासोन्मुख देश में ऐसे कारीगर समय के अनुसार आवश्यक दक्षता प्राप्त करते हैं और यदि आवश्यक हुआ तो अन्य धंधों को भी, जिसमें अधिक आय होने की सम्भावना हो, अपना सकते हैं। इस औद्योगिक विभाग को सुधारने तथा इसे वैज्ञानिक आधार पर सुदृढ़ करने की सम्भाव्यता बहुत अधिक है। बाहरी प्रति-योगिता से होनेवाली क्षति के बाद भी ये औद्योगिक इकाइयाँ अपने ही बल और गुण पर फल-फूल सकती हैं। डा. यूजीन स्टाली कहते हैं: "उनके बहुत से पुराने काम कारखानों द्वारा कम खर्च में कर दिये जाते हैं परन्तु बहुत से नये काम पैदा हो गये हैं जोकि कारखाना उत्पादन के प्रतियोगी होने के बनिस्बत उनके पूरक हैं।" लघु उद्योग की इन संगठित इकाइयों के उत्पादनों का तैयार क्षेत्रीय बाजार है और ये भ्रमणार्थी व्यापारियों और शहरी खुदरा दुकानदारों द्वारा बेचे जाते हैं। जब तक ये अपनी मांग स्वयं निर्मित करते हैं, इस कला के विकसित होने तथा कच्चे माल प्राप्त कर और उद्य-मियों से ऋण प्राप्त कर विस्तृत होने की सम्भावना बनी ही रहेगी। अतः ये कारीगर सामान्यतया सहायता, बिक्री छूट, सुरक्षित बाजार आदि जैसे आरक्षित साधनों की मांग नहीं करते।

बाजार अनुसंधान

जैसा कि पहले बताया जा चुका है ग्रामीण औद्योगी-करण का अन्तिम उद्देश्य ग्रामीण जनता, जोकि कुल आबादी का ८० प्रति शत है, के जीवन स्तर को ऊँचा उठाना है।

इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ग्रामीण भारत की वर्तमान सहायित अर्थ-व्यवस्था को प्रचुर-सी अर्थ-व्यवस्था में परिवर्तित करने की कोशिश करनी चाहिए। अर्थ-व्यवस्था में इस तरह के परिवर्तन के लिए बाजार के विकास की भी आवश्यकता है, क्योंकि आर्थिक प्रगति मुख्यतः माल पूर्ति के वैविध्यीकरण पर निर्भर है। बिक्री व्यवस्था की व्याख्या इस प्रकार की गयी है : 'बिक्री-व्यवस्था यह सुनिश्चित करने के लिए व्यापार का एक संगठित प्रयास है कि उसके बिक्री सम्बन्धी प्रयास सही ग्राहक तक पहुँचते और सही बाजार की ओर निर्दशित हैं।" बाजार अनुसंधान के वैज्ञानिक तरीकों तथा बिक्री तकनीकों के विश्लेषण को प्रकाशित करना चाहिए। इस तरह की अनुसंधान पद्धति में न सिर्फ समय, प्रयास और खर्च लगता है बल्कि व्यूह-रचना की भी जानकारी आवश्यक है। पहले इस दिशा में कोई संगठित और सुव्यवस्थित प्रयास नहीं किया गया। हमारे जैसे विकासोन्मुख देश में बहुत-ही विकसित देशों के मुकाबले एक निश्चित लाभ यह है कि हमें नये विचारों और प्रक्रियाओं को लेकर नये प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं है, बल्कि हम अपनी स्थानीय आवश्कताओं के उपयुक्त प्रचलित और सिद्ध तकनीकों को विवेकपूर्ण ढंग से अपना सकते हैं।

यह बड़ा ही महत्वपूर्ण है कि बाजार का सुनियोजित प्राथमिक परीक्षण और बिक्री सम्भावनाओं के आकलन* का उपयोग किया जाना चाहिए ताकि माल की वर्तमान और सम्भावित मांग, जोकि ग्रामीण औद्योगीकरण के फलस्वरूप होनेवाली है, का मूल्यांकन किया जा सके। इस प्रकार के सर्वेक्षण न सिर्फ माल के प्रसार की सम्भावना और सीमा पर प्रकाश डालते हैं, बल्कि इस खपत की प्राप्ति के लिए कार्यप्रणाली समझने में भी मदद करते हैं। जैसा कि डाक्टर प. साम्. लोकनाथन ने कहा है–"यदि बाजार की मांग को ध्यान में रख कर उद्योगों का विकास किया जाय और यदि हर दृष्टिकोण से इस मांग का भली-भांति सर्वेक्षण कर लिया जाय, जैसे आमदनी का रुख और पसन्दगी आदि, तो कोई कारण नहीं कि पूर्णरूप से आर्थिक आधार पर ग्रामीण औद्योगीकरण सफल न हो और इन पर जितना व्यय किया जाय उसी के अनुपात में कुल रोजगार और उत्पादन में वे ये वृद्धि न कर दें।"

हैदराबाद : ५ अगस्त १९६२

*किसी विशेष कारखाने के माल तथा सेवाओं की कुल माँग, जो कि निकट भविष्य में कायम रहनेवाली है, की जानकारी के लिए बिक्री सम्भावनाओं के आकलन का प्रयास। बाजार में सम्भावनाओं पर सर्वोत्तम ढंग से तीन उपयोगिताओं के अन्तर्गत विचार कर सकते हैं : वर्तमान बाजार का मूल्यांकन, विक्रय परिमाण का अनुमान और अन्ततः बाह्यवेशन।

सन् १९५५–५६ में करीब १३ प्रति शत कार्यकारी आबादी यानी २० लाख व्यक्ति उद्योगों में लगे थे और उन्होंने २ अरब ४५ करोड़ रुपये का या राज्य उत्पादन का २४ प्रति शत उत्पादन किया। मोटे तौर पर औद्योगिक रोजगारी में ३७ प्रति शत और उत्पादन में ६८ प्रति शत हिस्सा फैक्ट्रीज एक्ट के अन्तर्गत पंजीकृत प्रतिष्ठानों का था।

—*टेक्नो-इकनॉमिक सर्वे ऑफ महाराष्ट्र* : नेशनल कॉउन्सिल ऑफ अप्लाइड इकनॉमिक रिसर्च, नयी दिल्ली।

खादी ग्रामोद्योग के दशम वार्षिकांक (अक्तूबर १९६३) में प्रकाशित श्री अरुण चन्द्र गुहा का लेख 'हमारी आर्थिक व सामाजिक व्यवस्था पर खादी का प्रभाव' पढ़ते वक्त इस कथन पर ध्यान गया कि "इस सम्बन्ध में (गोबर गैस संयंत्रों के बारे में) काफी लम्बे समय तक प्रचार करने के बाद अब भी यह देखना है कि ग्रामीणों को उक्त योजनाएँ कब वास्तविक सेवाएँ प्रदान करेंगी। प्रात्यक्षिक के तौर पर उत्पादन और व्यावसायिक उत्पादन के मध्य विभेद करना होगा।"

मैं यह बताना चाहता हूँ कि गोबर गैस के उपयोग पर प्रयोगशाला विषयक कार्य नयी दिल्ली स्थित 'इंडियन एग्रीकल्चरल रिसर्च इन्स्टीट्यूट' में १९३९ में शुरू हुआ था। काम के नतीजे १९४५-४६ में प्रकाशित हुए। उक्त विकसित तरीके का व्यावसायिक उपयोग करने के लिए १९५१ में ग्रामलक्ष्मी गैस संयंत्र का विकास करने तक कोई साधन उपलब्ध नहीं था। वास्तव में काम देने लायक संयंत्र १९५३-५४ तक बना। किन्तु, कुछ अन्य बातें भी हुईं। सीधे-सादे ग्रामलक्ष्मी संयंत्र के आविष्कार पर अनेक कार्यकर्त्ताओं, जोकि अधिकांश इतर तंत्रज्ञ थे, ने ग्रामलक्ष्मी डिजाइन के मोटा-मोटी स्वरूप के आधार पर संयंत्र बनाना शुरू कर दिया। यहाँ तक कि ग्रामलक्ष्मी के आविष्कारक ने भी एक संयंत्र १९५२ में बनाया जो असफल सिद्ध हुआ। यह स्पष्ट हो गया कि इंडियन एग्रीकल्चरल रिसर्च इन्स्टीट्यूट की प्रयोगशाला में किये गये तत्सम्बन्धी प्रयोगों से प्राप्त ज्ञान से काफी अधिक जानकारी हासिल करना आवश्यक है। इन वर्षों में गिर-गिर सवार होनेवाली कहावत के अनुसार इसका विकास हुआ।

कमीशन द्वारा अपनाया गया वर्तमान संयंत्र व्यावसायिक दृष्टि से सफल है, और आंकड़े एकत्रण की बहुत ही सही अवस्थाओं के अन्तर्गत किया गया आर्थिक अध्ययन **खादी ग्रामोद्योग** (जुलाई १९६३ के अंक में श्री हर्षवदन जयकिशनदास दलाल का लेख : गोबर गैस संयंत्र से बचत) में प्रकाशित किया गया है। इस अध्ययन से पता चलता है कि ४,३०० रुपये की लागत के संयंत्र ने संस्था को प्रथम दो वर्ष में ईंधन की खरीद पर ३,००० रुपये की बचत करवायी और परिव्यय पर १८ प्रति शत से अधिक का विशुद्ध लाभ करवाया।

डिजाइन के सम्बन्ध में यह कि उक्त विशेष डिजाइन समय की कसौटी पर खरी उतरी है। इस डिजाइन (ग्रामलक्ष्मी-१९५३-५४) की मुख्य विशिष्टताओं वाले संयंत्र एक दिन भी बिना रुके आज तक चल रहे हैं और इससे ज्यादा क्या चाहिए कि अब तक एक भी संयंत्र का परित्याग नहीं किया गया है।

अतएव हम विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि गोबर

गैस संयंत्र अब एक व्यावसायिक वस्तु बन गयी है। देश में करीब एक हजार संयंत्र चल रहे हैं–उनमें से कुछ तो कई वर्षों से चल रहे हैं–और उनके मालिकों को उनसे पूर्ण सन्तोष है।

निर्देशक,
गोबर गैस योजना,
खादी और ग्रामोद्योग कमीशन,
बम्बई
२२ अक्तूबर १९६३

—जशभाई पटेल

× × ×

मेरा एकमात्र सुझाव पत्रिका में प्रकाशित लेखों के सम्बन्ध में ही है जोकि कभी-कभी ऐसा लगने लगता है कि एक ही विषय–आर्थिक–से सम्बन्धित हैं। मैं सोचता हूँ कि गांधी विचारधारा के चन्द मौलिक पहलुओं पर विचार-विमर्श करने पर कुछ ध्यान दिया जाना चाहिए। इसका मतलब यह नहीं है कि आर्थिक पहलू महत्वहीन हैं। इसके विपरीत मेरा विचार है कि लेखों की विविधता से यह अधिकाधिक पाठकों के लिए रुचिकर और प्रिय बनेगा।

गांधीयन इन्स्टीट्यूट आफ स्टडीज,
राजघाट, वाराणसी,
१६ अक्तूबर १९६३

—नागेश्वर प्रसाद

●

आबादी की दृष्टि से तुलना करने पर महाराष्ट्र का उत्पादन देश के उत्पादन से अधिक है, किन्तु प्रति व्यक्ति उपभोक्ता खर्च राष्ट्रीय औसत से कोई बहुत अधिक भिन्न नहीं लगता। उत्पादन और उपभोग के बीच के अन्तर से राज्य में बचत का एक स्थूल माप प्राप्त होता है। ये आंकड़े इतने सही नहीं हैं कि उनसे बचत दर का बिल्कुल ठीक अनुमान लगाया जा सके, किन्तु उनसे इंगित यह स्थूल निष्कर्ष कि जिस अनुपात से महाराष्ट्र में आमदनी से बचत होती है वह राष्ट्रीय अनुपात से अधिक है, समीचीन जान पड़ता है। यह तथ्य कि राज्य में दीर्घ स्तरीय औद्योगिक उत्पादन का करीब एक-चौथाई हिस्सा पैदा होता है, ज्वाइण्ट स्टॉक कम्पनियों की चुकता पुंजी में उसका भाग लगभग ३६ प्रति शत है और भारत में जितनी आय पर कर लगता है प्रायः उसका भी इतना ही प्रतिशत राज्य में है, शेष भारत से महाराष्ट्र में बचत की दर पर्याप्त रूप से अधिक होने की अपेक्षा करने के लिए स्वतंत्र आधार प्रस्तुत करता है।

—टेक्नो-इकनॉमिक सर्वे ऑफ महाराष्ट्र: नेशनल कॉउन्सिल ऑफ अप्लाइड इकनॉमिक रिसर्च, नयी दिल्ली।

पुस्तक समीक्षा :

इवोल्यूशन ऑफ कम्यूनिटी डेवलपमेण्ट प्रोग्रॉम इन इंडिया; सामुदायिक विकास तथा सहकार मंत्रालय, भारत सरकार, नयी दिल्ली, १९६३, पृष्ठ : २+१०४, मूल्य : ९५ नये पैसे।

प्रस्तुत पुस्तक में भिन्न-भिन्न लेखकों के नौ लेखों का संकलन है। प्रथम पांच लेखों में सामुदायिक विकास कार्यक्रम प्रारम्भ होने से बहुत पहले ही आरम्भ की गयीं विशिष्ट ग्राम सुधार परियोजनाओं का यथातथ्य अध्ययन है। श्री लिओनार्ड एमहर्स्ट ने अपने लेख में टैगोर द्वारा श्रीनिकेतन तथा उसके आस-पास ग्राम विकास के लिए किये गये प्रयासों का वर्णन किया है, श्री स्पेन्सर हैच ने त्रावणकोर के दक्षिणी क्षेत्र में मार्तण्डम परियोजना के कार्य का स्थूल चित्र प्रस्तुत किया है, श्री एस. आर. वर्मा ने ब्रेनें (Brayne) द्वारा गुड़गाँव में प्रारम्भ किये गये प्रयोग का संक्षिप्त वर्णन किया है। श्री वी. टी. कृष्णमाचारी ने बड़ौदा में हुए कार्य से प्राप्त अनुभवों तथा श्री जी. वेंकटचलपति ने मद्रास में फिरका विकास योजना की प्रगति का वर्णन किया है। शेष चार लेखों में से तीन सामुदायिक विकास कार्यक्रम की दिशा में प्राथमिक योजनाओं से सम्बन्धित हैं और चौथे लेख में श्री आर. जगन्नाथ ने पिछले दशक में सामुदायिक विकास आन्दोलन जिन अनेक चरणों से होकर गुजरा है उन पर प्रकाश डाला है।

सामुदायिक विकास, पंचायती राज और सहकार के उपमंत्री श्री बी. एस. मूर्ति ने पुस्तिका की प्रस्तावना में लिखा है, "सामुदायिक विकास कार्यक्रम को प्रायः शांतिपूर्ण किन्तु गुरुत्तर क्रान्ति कहा गया है। इस छोटी पुस्तिका से हमें यह जानने में भी सहायता मिलती है कि यह क्रान्ति एक विकास भी है, जोकि हमारे भूतकालीन मार्गदर्शकों के आदर्श को 'वर्तमान' के कार्यकर्त्ताओं के समर्पण के साथ शृंखलाबद्ध करता है।"

—सु. च. स.

खादी ग्रामोद्योग के वार्षिकांक में प्रकाशनार्थ प्राप्त सभी रचनाएँ हम उक्त विशेषांक (अक्तूबर १९६३) में सम्मिलित नहीं कर सके। कुछ लेख इस अंक में प्रकाशित किये जा रहे हैं। हमें आशा है कि वार्षिकांक में प्रकाशन हेतु प्राप्त कुछ और लेख हम आगामी अंकों में प्रकाशित करेंगे। हम फिर अपने सभी लेखकों के प्रति आभार प्रकट करते हैं, जिन्होंने अपने लेख भेजने की कृपा की।

—*सम्पादक*

सम्पादक : सुभाष चन्द्र सरकार द्वारा खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के लिए 'ग्रामोदय,' इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई–५६ से प्रकाशित तथा मुद्रित। मुद्रण-स्थल : एसोसिएटेड एडवर्टाइजर्स एण्ड प्रिण्टर्स, ५०५, तारदेव, आर्थर रोड, बम्बई–३४। वार्षिक शुल्क : २.९० रुपये; एक प्रति : २९ नये पैसे।

खादी ग्रामोद्योग

ग्रामीण जीवन, समाज और अर्थशास्त्र विषयक मासिक

दशम वर्ष · दिसम्बर १९६३ · तृतीय अंक

सम्पादक : सुभाष चन्द्र सरकार द्वारा 'ग्रामोदय', इर्ला, बम्बई-५६ से मुद्रित और प्रकाशित। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की पत्रिका 'खादी ग्रामोद्योग' ग्रामीण विकास और समाज तथा अर्थशास्त्र विषयक मासिक है, जिसका ध्येय आर्थिक लाभ अर्जित करना नहीं है। इन तथा अन्य सम्बन्धित विषयों पर ग्रामीण विकास के ध्येय से लिखे गये लेखों पर पत्रिका में प्रकाशनार्थ सहर्ष विचार किया जायेगा। स्वीकृत रचनाओं पर पारिश्रमिक दिया जायेगा। लेख, पुस्तकों की समीक्षा आदि सम्पादक, 'खादी ग्रामोद्योग', खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय,' इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई–५६ के पते पर भेजें। टेलिफोन नं. ५७१४९२।

वार्षिक शुल्क : २.५० रुपये; एक प्रति : २५ नये पैसे। चन्दे की रकम इस पते पर भेजी जानी चाहिए : असिस्टेण्ट एकाउण्ट्स ऑफिसर (कैश), खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, 'ग्रामोदय', इर्ला रोड, विले पार्ले (पश्चिम), बम्बई–५६।

इस अंक के लेखक

वैकुण्ठ लल्लूभाई मेहता	—खादी और ग्रामोद्योग मण्डल के सदस्य।
सुभाष चन्द्र सरकार	—खादी और ग्रामोद्योग कमीशन द्वारा प्रकाशित **खादी ग्रामोद्योग** और **जागृति** के सम्पादक।
सीताराम गंगाधर शेण्डे	—खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के मधुमक्खी-पालन उद्योग निर्देशक।
रामदास किशोरदास अमीन	—वल्लभ विद्यानगर (गुजरात) स्थित सरदार वल्लभभाई विद्यापीठ में प्रोफेसर और अर्थशास्त्र विभाग के अध्यक्ष।
राम दास	—लखनऊ स्थित प्लानिंग रिसर्च एण्ड एक्शन इंस्टीट्यूट के निर्देशक।
शचीन्द्रलाल घोष	—नयी दिल्ली से प्रकाशित **हिन्दुस्तान स्टैण्डर्ड** के भूतपूर्व सहायक सम्पादक और अब नयी दिल्ली स्थित इण्डियन काउन्सिल फॉर कल्चरल रिलेशन्स द्वारा प्रकाशित **इण्डो-एशियन कल्चर** के सम्पादक।
श्रीनिवासमूर्ति कृष्णमूर्ति मिरमिरा	—खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के कुम्हारी उद्योग के अवैतनिक तकनीकल सलाहकार; भद्रावती (महाराष्ट्र) स्थित ग्रामोदय संघ के मंत्री।
कृष्णन श्रीकण्ठन् नायर	—क्विलन स्थित दि क्विलन डिस्ट्रीक्ट कोऑपरेटिव बैंक लिमिटेड के प्लानिंग, रिसर्च और स्टेटिस्टिक्स विभाग के प्रमुख अधिकारी।
पेकल श्रीरामुलू पैंट्रो	—बिड़लापुर (पश्चिम बंगाल) स्थित बिड़ला जूट मैन्यूफैक्चरिंग कम्पनी लिमिटेड में डाईंग मास्टर और वीविंग ओवरसीयर।
वेट्टैकरनपुदूर आरुमुगम् वासुदेवराजू	—टी. कल्लूपट्टी के गांधी निकेतन स्थित विस्तार अधिकारियों (उद्योग) के खादी ग्रामोद्योग विद्यालय में लेक्चरर।

बुनाई उपदान योजना के निहितार्थ

• वैकुण्ठ ल. मेहता

राजनीतिक और आर्थिक लोकतंत्र को जड़ से पनपना होता है। ग्रामीण क्षेत्र को यथा सम्भव अधिकाधिक स्वायत्त और स्वावलम्बी होने का उद्देश्य रखना चाहिए। इस लक्ष्य की प्राप्ति सुगम बनाने हेतु खादी की बिक्री पर दी जानेवाली वर्तमान छूट के बदले हाथ कते सूत का सम्पूर्ण बुनाई खर्च उपदान स्वरूप देने का निर्णय किया गया है। मुफ्त बुनाई सेवा के इस प्रावधान का एक विशिष्ट लाभ यह है कि सरकारी सहायता ऐसे रूप में दी जाती है कि उससे होनेवाले लाभ सीधे ग्राम समुदाय को मिलते हैं।

चंद वर्ष पूर्व यह माँग की गयी थी—और केवल सर्वोदय विचारधारा के माननेवालों ने ही यह माँग नहीं की थी—कि लोकतांत्रिक आयोजन को सफल बनाने के लिए नीचे से निर्माण करना पड़ेगा। उनकी दृष्टि में यह कृषि और उद्योग दोनों ही विभागों में अत्यावश्यक था। कृषि में अधिक उत्पादन सुनिश्चित करने के लिए ग्रामीणों की मदद से ग्राम आयोजन तैयार करना जरूरी था। उद्योग विभाग में स्थिति कुछ और थी। एक ओर उत्पादक वस्तुओं का निर्माण करनेवाले उद्योगों अथवा भारी उद्योगों या उपभोक्ता सामग्रियों का उत्पादन, जिसमें आधुनिक तकनीकल दक्षता और उपकरणों का उपयोग आवश्यक है, करनेवाले उद्योगों तथा दूसरी ओर रोजमर्रा इस्तेमाल की वस्तुओं का उत्पादन करनेवाले परम्परागत कुटीर उद्योगों के बीच विभेद करना पड़ा। चूँकि द्वितीय श्रेणी के अन्तर्गत आनेवाली चीजों का उत्पादन विकेंद्रित आधार पर हो सकता है, अतएव इनके उत्पादन के लिए निश्चय ही नीचे से आयोजन हो सकता है।

कारीगरों की सहकारी समितियाँ

इस विचार के उत्साही समर्थकों में मुख्यतः खादी और ग्रामोद्योग आन्दोलन के कार्यकर्त्ता थे, जिनमें अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग मंडल और उसके उत्तराधिकारी कमीशन से संबंधित लोग भी शामिल हैं। अखिल भारत सर्व सेवा संघ द्वारा गठित खादी ग्रामोद्योग समिति ने शुरू-शुरू में यह निर्णय किया था कि संघ से पहले जो संस्थाएँ संबद्ध थी, उन्हें स्थानीय इकाइयों का निर्माण कर उत्पादन कार्यों का विकेन्द्रित आधार पर पुनर्गठन करना चाहिए, जोकि हमेशा सूतकारों, बुनकरों और अन्य कारीगरों के निकट सम्पर्क में रह सकती हैं। वे कारीगरों की राय से योजना बना सकती हैं और स्वीकृत योजनाओं के कार्यान्वय के लिए जिम्मेदार बन सकती हैं। यह भी सुझाव दिया गया की उत्पादन केन्द्रों में कारीगरों की सहकारी समितियाँ बनाने की कोशिश करनी चाहिए, जोकि स्थानीय उत्पादन की योजनाएँ बना तथा कार्यान्वित कर सकें। स्मरण रहे कि २० वर्ष पूर्व अखिल भारत चरखा संघ के तत्कालीन अधीक्षक स्वर्गीय श्री श्रीकृष्ण जाजू के आग्रह पर सूतकारों तथा अन्य कारीगरों की सहकारी समितियों को उत्पादन कार्य सौंपने का कदम उठाया गया और उसके लिए आदर्श नियम बनाये गये। खादी ग्रामोद्योग समिति के सुझावों को कार्यरूप में परिणत करने तथा विकेन्द्रीकरण के अपने प्रयासों के अनुरूप कमीशन ने खादी उत्पादकों की सहकारी समितियों के लिए आदर्श उप-नियम बनाये तथा उन्हें विशेष आर्थिक सहायता देने की एक योजना स्वीकृत की।

नया मोड़ का जन्म

प्रत्यक्षतः विकेन्द्रीकरण की प्राप्ति के लिए इन विभिन्न कदमों का संयुक्त प्रभाव संतोषजनक नहीं था।

अतः १९५८ के मध्य में चालीसगांव (महाराष्ट्र) में सम्पन्न अखिल भारत खादी कार्यकर्त्ता सम्मेलन में आचार्य विनोबा भावे ने खादी कार्य की नयी दिशा पर जो चिंता प्रकट की तथा उसे नया मोड़ देने का आग्रह किया जिसमें ग्राम ही मुख्य केन्द्र हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। यहीं नया मोड़ का जन्म हुआ, खादी उत्पादन को दिया जानेवाला नया मोड़, जिसके अनुसार गाँव खादी उत्पादन का आयोजन प्रथम अपनी वस्त्रावश्यकता पूरी करने और द्वितीय बचा हुआ माल बाहर बेचने के लिए करेंगे। खादी ग्रामोद्योग समिति ने अपनी सम्बद्ध संस्थाओं—विशेष कर पुरानी यानी अच्छी तरह जमी हुई बड़ी संस्थाओं—से ग्राम समुदाय से शक्ति प्राप्त करनेवाली स्थानीय उत्पादन इकाइयों के निर्माण में सहायता करते हुए उत्पादन का गाँव-गाँव के आधार पर विकेन्द्रीकरण करने में अपनी शक्ति लगाने का आग्रह करने का तय किया। इसी का अनुसरण करते हुए कमीशन ने अपनी ग्राम इकाई योजना बनायी और यह बताया कि किस रूप में वह सुगठित गाँवो में ग्राम इकाइयाँ बनाने में मदद करेगा।

स्थानीय अभिक्रम

नीचे से निर्माण के इस प्रयास को प्रेरणा देने हेतु आचार्य विनोबा भावे ने नया मोड़ कार्यक्रम अपनाने के पूर्व ही यह सुझाव दिया था कि यदि सरकार किसानों को अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए खादी की मुफ्त बुनाई की व्यवस्था खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के जरिये करे तो इससे कृषकों—पुरुषों और महिलाओं दोनों— को अपने अवकाश के समय कताई करने की उत्प्रेरणा मिलेगी। प्रति व्यक्ति वस्त्रावश्यकता महज १२ गज मान कर विनोबाजी ने यह इच्छा प्रकट की कि उनकी आवश्यकता पूर्ति के लिए मुफ्त बुनाई व्यवस्था की जानी चाहिए। उन्होंने यह आशा प्रकट की कि इस सुविधा से ग्रामीण क्षेत्रों में अधिकाधिक लोगों को अपनी आवश्यकता-पूर्ति के लिए कताई अपनाने की प्रेरणा मिलेगी। इससे ग्राम समाज को स्वावलम्बन के आधार पर अपनी वस्त्रावश्यकता पूर्ति के लिए स्थानीय अभिक्रम की प्रेरणा मिलेगी। अतएव इससे खादी कार्य के लिए एक परिवर्तित यानी नये वातावरण का निर्माण हो सकेगा। उन्हें यह विश्वास था कि इससे खादी उत्पादन के प्रति ग्रामीणों का रुख सहायक हो सकेगा।

लक्ष्य की अपर्याप्त समझ

वर्तमान पद्धति के अन्तर्गत कताई, मुख्यतः महिलाओं द्वारा, व्यक्तिगत रूप में अन्य स्रोतों से होनेवाली अपने परिवार की आय में पूरक आय जोड़ने के लिए ही की जाती है। अन्य कार्यों से अधिक आय-प्राप्ति पर लोग चरखा चलाना कम कर देते हैं, जिससे सूत उत्पादन कम हो जाता है। उत्पादन केन्द्र को सूत बेच देने के बाद उसका क्या होता है, इसकी चिन्ता सूतकार को नहीं होती। बुनकर भी इसकी परवाह नहीं करता कि उसके द्वारा बुनी गयी खादी बिकती है या नहीं। ग्राम समाज के लिए खादी उत्पादन तो किसी बाहरी संस्था द्वारा मजदूरी पर काम करनेवाली महिलाओं को प्रदान किया जानेवाला महज एक अकल्पिक धंधा है। इस कार्यक्रम का उद्देश्य काम देने के अलावा लोगों के कला-कौशल का उपयोग और विकास करना है, अर्ध और पूर्ण बेकारों को काम दे उत्पादक कार्य का संगठन कर अत्यावश्यक उपभोक्ता सामग्री प्रदान करना है तथा वस्त्र खरीदने में गांव का जो पैसा बाहर जाता है उसे कम करना है एवम् इस प्रकार खादी आन्दोलन का एक पहलू ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में परिवर्तन लाना है, जिसे अब तक लोगों ने अच्छी तरह नहीं समझा है।

जबकि कमीशन ने यह निर्णय कर लिया है कि अपनी तृतीय पंच वर्षीय योजना में कार्य विस्तार ग्राम इकाइयों के जरिये किया जाय, यह भी प्रावधान रखा गया है कि जब तक नयी व्यवस्था पूर्ण रूपेण लागू न हो जाय, खादी का उत्पादन वर्तमान पद्धति से जारी रहेगा। अतः साधारणतया अच्छी तरह जमी हुई पुरानी तथा अन्य संस्थाओं ने तुरंत ही अपने उत्पादन केन्द्रों को

ग्राम इकाइयों में बदलना आवश्यक नहीं समझा। सामान्यतः उन क्षेत्रों में ग्राम इकाइयों की स्थापना हेतु प्रयास किया गया, जहाँ अभी तक कोई काम नहीं हुआ है। चूँकि अधिकांश उत्पादन मजदूरी आधार पर होता था, उत्पादन पद्धति को स्थानीय आवश्यकता के अनुरूप बदलने की कोशिश नहीं की गयी तदनुसार सूत बुना नहीं गया और बाहरी निर्देश पर कार्य होता रहा; अतः इसमें कोई ताज्जुब नहीं कि खादी कार्य में ग्राम समुदाय की अभिरुचि जागृत करने के उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकी।

उपभोक्ता सामग्रियों में स्वावलम्बन

यह निराशाजनक बात है, विशेष कर इसलिए कि ग्राम इकाइयों के संगठन तथा जहाँ संगठन हो गया वहाँ परमावश्यक उपभोक्ता सामग्रियों में स्वावलम्बन प्राप्त करने के लिए योजना बनाने में उनका मार्गदर्शन देने में देर हुई है। स्वावलम्बन का आर्थिक आधार यह है कि यह जहाँ कहीं भी सम्भव है उपलब्ध जन-शक्ति स्रोत को स्थानीय औजारों और कच्चे माल के जरिये उत्पादक रोजगारी में लगा देता है। परमावश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ग्राम समुदाय को बाहर से उपभोक्त सामग्री खरीदने के लिए अपनी मामूली आय में से कुछ खर्च नहीं करना पड़ता। तब व्यापार में ग्राम समुदाय का ही पलड़ा भारी रहेगा। अंततः समाज का यह जो कर्तव्य है कि उसके हर सदस्य की न्यूनतम अन्न, वस्त्र और आवास सम्बन्धी आवश्यकता पूरी हो, उसकी पूर्ति उपयोगी किस्म के उत्पादक कार्य की व्यवस्था कर की जा सकती है। इससे ग्राम अर्थ-व्यवस्था मजबूत होगी। बेशक यह संपूर्ण राष्ट्र की जिम्मेदारी है कि वह इसे पूरा करे, परन्तु वह सफलता की आशा तभी कर सकता है, जबकि ग्राम समाज इस वृहत कार्य में अपने सीमित क्षेत्रों में उत्पादक कार्यों का संगठन कर मदद करे।

गांधीजी की तरह ही विनोबाजी भी राष्ट्र की शक्ति जड़ से बढ़ाने की कोशिश करते हैं। लोकतंत्र, राजनीतिक और आर्थिक दोनों ही, को जड़ से विकसित होना है। ग्रामीण क्षेत्र को यथा सम्भव स्वायत्त और स्वावलम्बी होने का उद्देश्य रखना चाहिए। इस दृष्टिकोण परिवर्तन का महत्व दर्शाने के लिए विनोबाजी ने सुझाव दिया है—और खादी कार्यकर्ताओं ने स्वीकार किया है—कि अभी खादी की खुदरा बिक्री पर जो छूट (रिबेट) दी जाती है, उसके बदले हाथ कते सूत की सम्पूर्ण बुनाई कीमत उपदान (सब्सिडी) स्वरूप दी जानी चाहिए। इससे खादी का उत्पादन खर्च बहुत कम हो जायगा और सूतकारों को रुई की कीमत पर खादी मिल जायगी। जो सूतकार अपनी ही रुई से सूत कातते हैं, उन्हें तो थोड़े श्रम के बल पर ही खादी मिल जायगी। ग्राम समुदाय के लोगों को भी खादी अभी की बनिस्बत बहुत कम कीमत पर मिलेगी; क्योंकि अब की तरह व्यवस्था खर्च नहीं लगाया जायगा। इस प्रकार मुफ्त बुनाई सेवा का एक विशिष्ट लाभ यह है कि सरकारी आर्थिक सहायता ऐसे रूप में दी जाती है कि उससे होनेवाले लाभ सीधे ग्राम समुदाय को मिलते हैं। यद्यपि विनोबाजी की विचारधारा में भौतिक पहलू का समावेश नहीं है, तथापि क्षेत्रवार स्वावलम्बन की प्राप्ति के लिए प्रेरणा स्थूल और ठोस दोनों ही है।

बुनाई की व्यवस्था

ऐसी बात नहीं है कि कोई बाधा नहीं आयेगी। एक बाधा तो यह है कि कई ग्राम समूहों में, जोकि ग्राम इकाइयाँ बनाते हैं, बुनाई के लिए बुनकर ही नहीं हैं। अभी खादी उत्पादन कार्य में लगी संस्थाओं का एक प्रमुख कर्तव्य यह सुनिश्चित करना है कि यथा संभव हर इकाई स्थानीय सूत की बुनाई में स्वावलम्बी हो जाय। द्वितीय, ग्रामीणों से सूत प्राप्त करने तथा उसकी बुनाई करवाने के लिए ऐसी व्यवस्था करनी होगी कि सूतकारों, बुनकरों, अन्य कारीगरों और शेष ग्रामीणों की वस्त्रावश्यकताओं को ध्यान में रखा जा सके। अन्त में, ग्राम समाज को शिक्षित करना होगा, ताकि इस कार्य में उनकी रुचि जगे और वे सक्रिय

रूप से भाग ले सकें। यह एक चुनौती है, जो खादी कार्यकर्त्ताओं को स्वीकार करनी ही चाहिए।

स्टाक की निकासी

हाल के वर्षों में खादी कार्यकर्त्ताओं के सामने एक समस्या यह भी रही है कि उत्पादन गति बिक्री गति से अधिक रही है। जिस गति से पिछले दस वर्षों में ग्राहकों की संख्या बढ़ी है, वह निश्चय ही प्रशंसनीय है। यह गुण-स्तर और भांतों की दृष्टि से फिलहाल उत्पादित हो रहे वस्त्रों के लिए उपभोक्ता की ओर से मांग के साथ-साथ कुछ हद तक यह भी दर्शाती है कि हमारी अर्थ-व्यवस्था में खादी का जो स्थान है उसे, वे पहचानते हैं। फिर, ग्रामीण क्षेत्रों में इतनी अधिक आर्थिक कठनाई है कि चरखे की मांग दिनों दिन इतनी अधिक और तेजी से बढ़ती जा रही है कि बिना किसी विशेष प्रयास के परम्परागत और अम्बर दोनों ही चरखों की खादी का उत्पादन बढ़ता ही जा रहा है। हमेशा नये-नये सूतकारों के आने से घटिया खादी का अनुपात कम नहीं हो पाता। खादी का स्टाक बढ़ते जाने की समस्या आज से दो साल पहले जितनी गम्भीर थी, आज उतनी नहीं है; परन्तु इसे नजरअन्दाज करना बुद्धिमानी नहीं है। अतः इस कार्यक्रम में लगे लोगों का कर्तव्य है कि वे बिक्री छूट बंद कर नयी योजना लागू करने के पूर्व ही स्टाक को कम से कम करने की कोशिश करें। इस कार्य के लिए दी जानेवाली विशेष सुविधाएँ भावी परिवर्तन को सहज कर देंगी।

शहरी ग्राहकों की सद्भावना

खादी का स्टाक फिर से जमा न हो सके, इसके लिए यह बहुत ही जरूरी है कि खादी का अधिकांश भाग उत्पादन केन्द्र में ही खप जाय। ऊपर जो कारण बताये गये हैं, उनसे निश्चय ही ग्रामीण क्षेत्रों में खादी की खपत काफी बढ़ेगी। तमिलनाड और बिहार में तो ऐसा शुरू भी हो गया है। अपनी दुकानें और भंडारों के खुलने से इसमें गति आयी है। परन्तु यह समझना होगा कि अभी उत्पादित खादी का दोतिहाई भाग शहरों में ही खपता है। पिछले चन्द वर्षों में बिक्री संगठन का काफी विस्तार हुआ है और उसकी क्षमता भी बढ़ी है। बिक्री के बदले उत्पादन स्थल पर उपदान देने के परिवर्तन से उत्पादकों को शहरी ग्राहकों के साथ स्थापित वर्तमान सम्पर्क से जो लाभ हो रहा है वह हाथ से निकलने नहीं देना चाहिए। अतः उत्पादन में लगीं संस्थाओं को शहरी ग्राहकों की सद्भावना बनाये रखने का दिल से प्रयास करना चाहिए।

उपभोक्ताओं का सहयोग

उन्हें ऐसा करने में मदद देने हेतु उत्पादन, बिक्री अथवा संगठनात्मक कार्यों में लगे कार्यकर्त्ताओं को खास कर शहरी ग्राहकों के मन में यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि यद्यपि अब छूट के रूप में कुछ नहीं घटाया जायेगा, परन्तु जो खादी वे खरीदेंगे उसके लिए मुफ्त बुनाई सेवा कुछ इस तरह निर्धारित की गयी है कि उन्हें अभी जितनी कीमत वे देते हैं उतनी ही कीमत देनी होगी। सरकारी सहायता अब भी जारी है, सिर्फ उसका रूप बदल गया है और ऐसा ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को लाभदायक उत्पादक रोजगारी के अवसर बढ़ा कर मजबूत करने के विशिष्ट उद्देश्य से किया गया है। हमारी राष्ट्रीय योजनाओं का यह एक उद्देश्य है। शहरी ग्राहक प्रत्येक बार खादी खरीदते वक्त परोक्ष रूप से इस उद्देश्य की पूर्ति में सहयोग देते हैं। वास्तव में अब तक जो छूट दी जाती रही है उससे खादी और हाथ करघा अथवा मिल वस्त्र का मूल्यान्तर परिपूर्णतः बराबर नहीं होता। जिस हद तक ग्राहक इस अन्तर का भार वहन करते हैं, उस हद तक वे ग्रामीण क्षेत्रों के न्यून आयवालों को पूरक आय कराने में काफी संख्या में अर्ध और पूर्ण बेकारों को रोजगारी दिलवाते हुए अपना योगदान देते रहे हैं। सरकारी आर्थिक सहायता की पद्धति में परिवर्तन होने पर भी खादी के ग्राहक राष्ट्र की यह सेवा करते रहेंगे। अतः खादी आन्दोलन में लगे कार्यकर्त्ताओं को यह सुनिश्चित करने का अवश्य ही प्रयास करते रहना चाहिए कि खादी के हितार्थ सदैव ही उनका यह अनवरत सहयोग प्राप्त हो।

बम्बई : २० नवम्बर १९६३

खादी-ग्रामोद्योग और प्रचार कार्य*

• सुभाष चन्द्र सरकार

गत वर्ष सम्पन्न प्रचार अधिकारी सम्मेलन में खादी और ग्रामोद्योग कार्यक्रम बनाने तथा उसे कार्यान्वित करने में प्रचार कार्यकर्त्ताओं के योगदान के प्रति नयी जागरूकता प्रकट हुई। सम्मेलन का आयोजन गैर आधिकारिक रूप में नहीं हुआ था, बल्कि वह खादी और ग्रामोद्योग कमीशन द्वारा प्रवर्तित और अर्थ-सहायित था और उसे राज्य खादी और ग्रामोद्योग मंडलों का समर्थन प्राप्त था। कमीशन के अध्यक्ष (तब श्री वैकुण्ठ ल. मेहता) ने सम्मेलन का उद्घाटन करने के लिए अपने व्यस्त क्षणों में से भी समय निकाला और कमीशन के वर्तमान उपाध्यक्ष श्री कन्दस्वामी अरुणाचलम् ने उसकी अध्यक्षता की। राज्य मंडलों और कमीशन के प्रचार कार्यकर्त्ताओं के अलावा उद्घाटन समारोह में कमीशन के अधिकारियों ने भी भाग लिया, जिनमें से कुछ ने दूसरे-तीसरे दिन सम्मेलन में भाषण भी दिये। पहले की इस धारणा में भी परि-वर्तन हुआ कि प्रचार एक आवश्यक हेय कार्य है, जिसे सहन तो करना पड़ता है पर इतना उत्साहित नहीं करना चाहिए कि वह बढ़ कर अत्यावश्यक हो जाये। पहले की यह धारणा मुख्यत: उनके दिमाग की उपज थी जोकि स्वयं अथवा अपने कार्यों के विषय में कुछ बोलना आवश्यक नहीं समझते और यह मानते हैं कि सुकार्य को प्रचार की आवश्यकता नहीं।

आधुनिक सभ्यता का प्रभाव

यद्यपि यह उच्चतम नैतिक भावनाओं पर आधारित है, फिर भी यह तो निश्चित है कि इस दृष्टिकोण में चन्द कमियाँ अन्तर्निहित हैं। आधुनिक सभ्यता इन दो तथ्यों पर निर्भर है: मनुष्य के कार्यक्षेत्र का भौगोलिक विस्तार तथा आधुनिक वैज्ञानिक खोजों के जरिये बड़ी भौगोलिक दूरी और समय को कम करना। हमारा जीवन और कार्य अब सिर्फ हमारे घर अथवा गाँव के सुपरिचित वातावरण तक ही सीमित नहीं है, जहाँ कि हम सब एक दूसरे को जानते हैं और एक दूसरे से किसी विशेष परिचय की आवश्यकता नहीं है। इसके विपरीत आज हम काफी बड़े क्षेत्र में काम कर रहे हैं और प्राय: अपरिचित वातावरण में भी, जहाँ कि एक दूसरे से परिचित होना ही पड़ता है। इस विचित्र वातावरण में जब तक कि हम अपने कार्य और जीवन का परिचय देने हेतु जानबूझ कर प्रयास न करें, इनके अनजाने रह जाने तथा अच्छी तरह न समझे जाने का अंदेशा है।

दो रूप

खादी और ग्रामोद्योग कार्यक्रम के अन्तर्गत काम करनेवाले प्रचार कार्यकर्त्ताओं की भूमिका सबसे अलग है। तथापि, यह एक तरह से योजित आर्थिक विकास में लगे सभी व्यक्तियों के लिए सही है, पर विशेष रूप में यह विकेन्द्रित क्षेत्र में कार्य करनेवालों के लिए प्रयुक्त है। सामान्यतया यह बिक्री विकास में सहायता पहुँचानेवाला है, परन्तु खादी और ग्रामोद्योग कार्यक्रम के अन्तर्गत प्रचार कार्य उत्पादन विकास की ओर भी उतना ही निर्देशित है, जितना बिक्री विकास की ओर। इस कार्यक्रम का स्वरूप ही ऐसा है कि यह अनिवार्य है; क्योंकि इसके दो उद्देश्य हैं—उत्पादन वृद्धि तथा रोजगारी

* खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के प्रचार निर्देशालय द्वारा आयोजित राज्य खादी और ग्रामोद्योग मडलों के प्रचार अधिकारियों के सम्मेलन में १ नवम्बर १९६३ को दिये गये भाषण पर आधारित। सम्मेलन ४ नवम्बर तक चला।

के अवसरों में विस्तार। यों भी कह सकते हैं कि उद्देश्य उत्पादन वृद्धि का है, परन्तु सिर्फ उत्पादन में ही वृद्धि वांछनीय नहीं होगी, अगर उसके साथ ही साथ लाभदायक रोजगारी में लगे लोगों की संख्या नहीं बढ़ती है।

कार्यक्रम के प्रति लोगों का समर्थन ग्राहक के रूप में प्राप्त करना भर ही यथेष्ठ नहीं है, यह भी अत्यावश्यक है कि अधिकांश आबादी को इस कार्यक्रम को अपना समझ सक्रिय रूप में अपनाने के लिए उत्साहित किया जाय। ये दोनों कार्य एक दूसरे के निकट रूप से पूरक नहीं है, यद्यपि अंतिम विश्लेषण में उत्पादकों और ग्राहकों के हित का सम्पूर्ण सान्निध्य होना चाहिए। और, हम में से प्रत्येक व्यक्ति साथ-साथ किसी क्षेत्र में उत्पादक तथा किसी में ग्राहक है ही। इन दोनों को मिला कर एक करना निश्चय ही बहुत कठिन कार्य है। जो तर्क उसे उत्पादक के रूप में पहल करने की प्रेरणा दे सकती है, वह ग्राहक के रूप में उसे पसन्द नहीं भी आ सकती है।

विकेन्द्रित उद्योगों के प्रचारक

प्रचारकार्यकर्त्ताओं का कार्य है अधिकांश आबादी को यह कार्यक्रम स्वीकार करने के लिए प्रेरित करना, ताकि बढ़े उत्पादन और रोजगारी की दृष्टि से कार्यक्रम सफल हो। बिना अधिक ग्राहकों का इस कार्यक्रम के प्रति समर्थन प्राप्त किये सफलता नहीं मिल सकती। परन्तु जैसा कि सर्वविदित है, खुले बाजार में विकेन्द्रित उद्योगों के उत्पादन निश्चय ही संगठित विभाग के उत्पादनों से प्रतियोगिता नहीं कर सकते। ऐसी अवस्था में ग्राहकों का सहयोग प्राप्त करना सहज नहीं है। इस सन्दर्भ में खादी प्रचारकों का कार्य सबसे अलग है और संभवतः अन्य किसी भी उद्योग का प्रचार कार्य उसके मुकाबले नहीं है। इस कर्तव्य को योग्यतापूर्वक निभाने के लिए सेवा में प्रतिभाशाली व्यक्तियों को लगाना होगा। अतः विकेन्द्रित उद्योगों के प्रचारकों को न सिर्फ प्रचार के हर तरीके से पूर्णतः जानकार होना चाहिए बल्कि कार्यक्रम के पक्ष और विपक्ष की सारी आर्थिक तर्कों का संग्रह करना चाहिए। उसे देश के आर्थिक विकास के समकालीन क्रम में इस कार्यक्रम की नितांत आवश्यकता बतलाने योग्य होना चाहिए।

गतिहीन ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था

गत सम्मेलन* ऐसे संकटकाल में हुआ था जबकि देश पर एक आक्रमणकारी ने हमला किया था। तब से एक साल बीत चुका है। अकारण चीनी हमले के कारण घोषित राष्ट्रीय संकटकाल ने कई क्षेत्रों को किसी न किसी रूप में प्रभावित किया ही है। राष्ट्रीय कार्यक्रम का एक अंग होने के नाते खादी और ग्रामोद्योग कार्यक्रम पर भी इसका प्रभाव पड़ा है। अन्य बातों के साथ-साथ पहाड़ी और सीमावर्ती क्षेत्रों में, जोकि देश के अभी महत्वपूर्ण क्षेत्र हैं, इस कार्यक्रम के विस्तार की आवश्यकता के प्रति अधिक जागरूकता दिखाई दी। उसी तरह कमजोर वर्गों की समस्याओं पर भी बहुत अधिक ध्यान दिया गया है; क्योंकि कोई भी राष्ट्र छिन्न-भिन्न और कमजोर जनता के साथ बाहरी दुश्मन का मुकाबला नहीं कर सकता।

भारत में आर्थिक विकास का अर्थ है ग्रामीण क्षेत्रों का विकास। आवश्यकता इस बात की है कि एक जमाने से गतिहीन अर्थ-व्यवस्था में प्राण फूंके जायें। प्रसिद्ध अमेरिकी अर्थशास्त्री प्रो. विलफ्रेड मैलनबॉम लिखते हैं– "किसी भी दर से मूल्य स्तर में परिवर्तन के मोटे माप हैं, जो यह मानने की स्वीकृति देते हैं कि प्रति व्यक्ति सन् १८६८ की २० रुपये आय अथवा १८८७ की २७ रुपये आय और (वी.के.आर.वी.) राव के अनुसार १९३१–३२ की ६२ रुपये तथा राष्ट्रीय आय समिति के अनुसार १९५०–५१ की २६५ रुपये आय में वास्तविक आय की दृष्टि से कोई खास अन्तर नहीं है"।§ वैसी अर्थ व्यवस्था में प्राण फूंकना आसान नहीं है जोकि काफी लम्बे अर्से तक स्थिर रही हो। अनुमान है कि हमारे

---

* प्रचार अधिकारियों का प्रथम सम्मेलन बम्बई में २७ से २९ अक्तूबर १९६२ तक हुआ था।

§ विलफ्रेड मैलनबाम : प्रॉस्पेक्टस् फॉर इंडियन डेवलपमेण्ट; लंदन; १९६२; पृष्ठ : १०९।

देश के ६० प्रति शत लोगों का उपभोग स्तर प्रति व्यक्ति खपत स्तर के पर्याप्त राष्ट्रीय औसत प्रति वर्ष ३०० रुपये अथवा २५ रुपये प्रति माह से बहुत ही नीचा है; तीस प्रति शत का खपत स्तर १५ रुपये प्रति माह और २० प्रति शत का १२ रुपये प्रति माह से भी कम है। विशेषज्ञों द्वारा अनुमानित अर्थ-व्यवस्था और आबादी वृद्धि की दर के आधार पर यह भी अनुमान लगाया गया है कि देश के उन तीस प्रति शत लोगों का, जोकि न्यूनतम आयवाले वर्ग में आते हैं, वर्तमान मूल्य स्तर पर २५ रुपये प्रति माह खपत स्तर लाने में कम से कम ३०–४० वर्ष और लगेंगे। खादी और ग्रामोद्योग कार्यक्रम की अनिवार्यता इसी से स्पष्ट है। यदि ग्रामीण क्षेत्रों में लोगों को दैनिक पचास नये पैसे से अधिक आय करानेवाले काम के अवसर दिये जायें तो वैसा करना उन २५ करोड़ लोगों के लिए, जिनके पास खर्च के लिए उतने पैसे नहीं हैं, बड़ा ही लाभदायक होगा।

पहाड़ी क्षेत्रों के लिए कार्यक्रम

चूँकि खादी और ग्रामोद्योग कमीशन समाज के कमजोर वर्गों के कल्याण से संबंधित है, अतः उसने पहाड़ी क्षेत्रों में रहनवालों तथा सामाजिक और आर्थिक रूप से कमजोर अन्य लोगों की अवस्था सुधारने में विशेष दिलचस्पी ली है। कमीशन ने कितनी गंभीरता से इस समस्या पर ध्यान दिया है उसका परिचय तो इसी से मिल जाता है कि उसने पहाड़ी क्षेत्रों के लोगों की समस्या को हल करने के लिए अपने केन्द्रीय कार्यालय में एक अलग विभाग खोल रखा है।

प्रचार कार्य में लगे हर व्यक्ति को यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात जाननी ही चाहिए। जैसा कि अध्यक्ष श्री ढेबर ने कई अवसरों पर कहा है: मुख्य कार्य है एक ओर कमीशन तथा राज्य मंडलों के बीच और दूसरी ओर जनता से सम्पर्क स्थापित करना। यह कार्य उस हद तक पूरा हो सकता है, जिस हद तक प्रचार अधिकारीगण स्वयं इस कार्यक्रम का महत्व समझेंगे। राष्ट्रीय संकटकाल की घोषणा के बाद ही श्री उछरंगराय न. ढेबर ने लोकसभा में भाषण देते हुए आग्रह किया था कि देश के आर्थिक विकास हेतु तेजी से प्रयास किया जाय। खादी और ग्रामोद्योग कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य है आज के दुखी और गरीब लोगों का कल्याण करना तथा उन्हें समृद्ध बनाना।

बुनाई के लिए उपदान

एक अन्य महत्वपूर्ण विकास है खादी की खुदरा बिक्री पर छूट देने के बदले सारे हाथ कते सूत की बुनाई पर जो खर्च हो उसे उपदान (सब्सिडी) स्वरूप देने का विचार। इस नयी योजना को खादी कार्यकर्त्ताओं और भारत सरकार की स्वीकृति मिल गयी है, जिससे कि खादी और ग्रामोद्योग कमीशन इसे ६ अप्रैल १९६४ से लागू करना चाहता है।

प्रचार कार्यकर्त्ताओं को इस विकास से जानकार होना ही चाहिए और इसके निहितार्थ को समझने की कोशिश करनी चाहिए; क्योंकि कार्यक्रम का भविष्य बहुत-कुछ खादी और ग्रामोद्योग क्षेत्र में किये जानेवाले प्रयासों की सफलता चाहनेवालों द्वारा इस नयी योजना के हर पहलू को अच्छी तरह समझने पर निर्भर है।

यहाँ इस नयी योजना की कुछ विशेष बातें जानना प्रासंगिक होगा, जिसमें हानि से कहीं अधिक लाभ हैं। यह भय प्रकट किया गया है कि योजना के लागू होने से शहरों में खादी की बिक्री कम हो सकती है और इस प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगारी कार्यक्रम में व्यतिक्रम आ सकता है। तथापि, इस योजना में आंदोलन में और उसके फलस्वरूप स्थिर होती जा रही ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में भी, नव प्राण फूंकने की क्षमता है।

प्रथम, यह उन ग्रामीण सूतकारों को जोकि कपास भी पैदा करते हैं, वस्तुतः बिना किसी मूल्य के कपड़े की पूर्ति सुनिश्चित करेगी। गाँव के बहुत-से लोगों के लिए जोकि पैसे की कमी के कारण कपड़ा खरीदना बहुत ही कठिन पाते हैं, यह योजना एक वरदान सिद्ध होगी।

द्वितीय, गाँवों के उन सूतकारों को जोकि कपास

नहीं उगाते, यह बहुत ही मामूली कीमत पर, कोई सैंतीस नये पैसे प्रति वर्ग गज, कपड़े की पूर्ति सुनिश्चित करेगी। इसका महत्व तभी समझा जा सकता है जबकि इस पर ग्रामीणों की जीवन स्थिति को ध्यान में रखते हुए विचार किया जाय। केन्द्रीय योजना मंत्री द्वारा हाल में दिये गये एक वक्तव्य के अनुसार ७० प्रति शत ग्रामीण नित्य ५० नये पैसे से भी कम खर्च कर सकते हैं। इसे यों भी कहा जा सकता है कि हमारे देश के २५ करोड़ १९ लाख लोगों की शक्ति नित्य ५० नये पैसे खर्च करने की भी नहीं है। यदि इस नयी योजना के जरिये लोग मुफ्त अथवा ३७ नये पैसे प्रति वर्ग गज की मामूली कीमत पर कपड़ा प्राप्त कर सकते हैं, तो इसे नगण्य लाभ कह कर समाप्त नहीं किया जा सकता।

निस्सन्देह अधिकाधिक ग्रामीण कताई की ओर आकर्षित होंगे; क्योंकि इससे वे सिर्फ अपने परिश्रम की कीमत पर अपना वस्त्र प्राप्त कर लेंगे।

तृतीय, जो ग्रामीण सूत नहीं कातते उन्हें बहुत कम कीमत पर वस्त्र प्राप्त होगा, जोकि अभी के मुकाबले मिल वस्त्र से काफी सस्ता होगा।

इस प्रकार इस नयी योजना के अन्तर्गत गाँवों में खादी बाजार के विस्तार की वास्तविक सम्भावना है और धीरे-धीरे खादी की खपत के लिए शहरी बाजारों पर निर्भरता भी बहुत कम की जा सकती है।

चतुर्थ, शहरी क्षेत्रों में ग्राहकों को उसी कीमत पर खादी मिलेगी, जिस पर अभी मिलती है। अतः इस नयी योजना के अपनाने के फलस्वरूप शहरी बाजार के कम होने का कोई भय नहीं है। बिक्री और रोजगारी पर इसके कुप्रभाव का जो डर है, वह अनुभव से निराधार सिद्ध हो जायगा।

इस नयी योजना को लागू करने में हिचकिचाहट का एक कारण यह भय भी था कि इसके लागू होन से खादी का स्टाक जमा हो जायगा, जिसे बाजार में बेचना कठिन होगा। अनुमान है कि अभी ५ करोड़ रुपये की खादी का स्टाक है। परन्तु जैसा कि छूट पुनरीक्षण समिति ने सुझाव दिया है कि यदि खादी की कीमत २० प्रति शत कम कर दी जाय तो उसका बाजार मूल्य भी उसी हद तक कम हो जायगा अर्थात् ग्राहकों को खादी उसी मूल्य में मिलेगी जिसमें आज मिल रही है। अतः सामान्यतः इस नयी योजना के लागू होने से खादी की बिक्री में कोई अतिरिक्त कठिनाई नहीं होनी चाहिए। इस पर भी, अब जनवरी और मार्च १९६४ के बीच खादी के वर्तमान स्टाक की बिक्री पर ३० दिन के लिए ५ प्रति शत अतिरिक्त छूट देने का निर्णय किया गया है।

प्रचार तंत्र के टुकड़े

कमीशन और राज्य मंडलों के प्रचार निर्देशालयों की रचना सब को मालूम है, अतः इसके विषय में विस्तार में कुछ कहने की जरूरत नहीं है। तथापि, प्रचार कार्य के टुकड़े-टुकड़े होने से, जैसे प्रचार निर्देशालय विभाग, फिल्म और प्रदर्शन विभाग, सभी के काम में आवश्यक रूप से ही बाधा आयी है। दूसरी कमी रही है इस कार्य को करनेवाले उपयुक्त योग्यता और प्रशिक्षणवाले व्यक्तियों की कमी।

अन्य निर्देशालयों के साथ समन्वय

कमीशन के उद्योग निर्देशकों तथा विभिन्न राज्यों में स्थित निर्देशकों से सम्पर्क स्थापित करने में कुछ सफलता मिली है। राज्य निर्देशकों से हमें कई मामलों में मूल्यवान सहयोग मिला है। अधिकाधिक उद्योग निर्देशक भी अब प्रचार कार्य में धीरे-धीरे अधिक दिलचस्पी ले रहे हैं और अपना सहयोग दे रहे हैं। फिर भी, इसे नजर अन्दाज नहीं करना चाहिए कि अन्यथा उद्योग निर्देशक अपने कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने में बहुत व्यस्त रहते हैं तथा उनसे यह आशा करना उचित नहीं है कि उन्हें अपने उद्योग के विषय में लिखने के लिए हमेशा समय निकालना चाहिए। फिर, प्रचारक के काम करने का ढंग— जिसका सम्बन्ध कार्यक्रम को समझाना है— उद्योग निर्देशकों से महत्वपूर्ण मामलों में भिन्न रहेगा, क्योंकि

उनका संबंध स्वभावतः अधिकतर कार्यक्रम के व्यावहारिक पहलुओं से रहता है। यह एक व्यापक अनुभव है और इसने मान्य संगठनों में अलग-अलग प्रचार विभागों के लिए सम्पूर्ण न्यायोचितता प्रदान की है। फिर भी, यह तो मान ही लेना चाहिए कि उचित प्रशिक्षण प्राप्त लोगों के दल के बिना कोई भी प्रचार विभाग अधिक प्रभावी नहीं हो सकता। इस पर अधिक जोर देने की जरूरत ही नहीं है।

प्रयासों में संयोजन

गत सम्मेलन के बाद से कमीशन के प्रचार निर्देशालय और विभिन्न राज्य मंडलों के प्रचार विभागों के कार्यों में पहले से अधिक अच्छा समन्वय रहा है। विभिन्न राज्य मंडलों के प्रचार अधिकारीगण अपने कार्य के लिए प्रशंसा के अधिकारी हैं। इस संबंध में पश्चिम बंगाल राज्य खादी और ग्रामोद्योग मंडल के श्री मृत्युंजय मैती, पंजाब राज्य खादी और ग्रामोद्योग मंडल के श्री वासुदेव और राजस्थान राज्य खादी और ग्रामोद्योग मंडल के श्री राजगुरु का विशेष उल्लेख करना आवश्यक है। श्री मैती ने अब पश्चिम बंगाल खादी और ग्रामोद्योग मंडल से पद-त्याग कर दिया है। मुझे इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि अपने विभागों के सुदृढ़ हो जाने पर अन्य राज्य मंडलों के प्रचार अधिकारी भी भविष्य में हमें अपने राज्यों के कार्य-विवरण भेजने में अधिक सक्रिय और मददगार होंगे।

चन्द समाचार पत्रों में खादी और ग्रामोद्योग कार्यक्रम की बहुधा आलोचना की गयी है। उनमें से कुछ तो बेशक कार्यक्रम के कमजोर पक्षों की ओर ध्यान आकर्षित कर उसे मजबूत बनाने के ध्येय से लिखे गये हैं। परन्तु अधिकांश आलोचना अनभिज्ञता तथा कार्यक्रम के प्रभाव में अविश्वास से की गयी है। हमारे अध्यक्ष श्री ढेबर और सदस्य (प्रचार) श्री वैकुण्ठ ल. मेहता ने समय-समय पर कार्यक्रम की व्याख्या करने का प्रयास किया है। उनकी व्याख्या से हमें यह मार्गदर्शन मिलता है कि किस तरह समस्या के हल हेतु आगे बढ़ना चाहिए। इस सम्बन्ध में प्रचार निर्देशालय द्वारा तैयार की गयी उस पुस्तिका का जिक्र किया जा सकता है, जिसमें पिछले दस वर्षों की प्रगति का संक्षिप्त विवरण दिया गया है।

गत सम्मेलन के सुझावों पर क्या कार्यवाही की गयी, इस सम्बन्ध में मैं कोई उत्साहजनक बात नहीं कह सकता। इसके कई कारण हैं, जिन्हें यहाँ बताने की आवश्यकता नहीं है। तथापि, मुझे यह बताने में खुशी है कि खादी और ग्रामोद्योग कमीशन ने सैद्धांतिक रूप में अखिल भारतीय तथा प्रादेशिक आधार पर लेख प्रतियोगिता आयोजित करने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया है और प्रमुख विश्वविद्यालयों तथा अनुसंधान संस्थाओं में खादी और ग्रामोद्योगों के विशिष्ट अध्ययन के लिए छात्रवृत्तियाँ देने सम्बन्धी प्रस्ताव को भी स्वीकृति प्रदान की है।

खादी ग्रामोद्योग का निश्चित स्वरूप

हम **खादी ग्रामोद्योग** पत्रिका को विकेन्द्रित विकास की समस्याओं पर बौद्धिक विचार-विमर्श करनेवाली पत्रिका का निश्चित रूप देने की कोशिश कर रहे हैं, जोकि भारतीय आयोजन की एक विशेष बात है और जिस पर बहुत ही कम साहित्य उपलब्ध है। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की प्रकाशन सलाहकार समिति* ने भी बौद्धिक विचार-गोष्ठी गठित करने की आवश्यकता बतलायी है। इस दिशा में मुझे काफी प्रोत्साहन मिल रहा है, जिसके लिए मैं आभारी हूँ। **खादी ग्रामोद्योग** के दशम वार्षिकांक में हम ने वैसे लेख भी प्रकाशित किये जिनमें खुल कर आलोचना की गयी है और ऐसा करते वक्त यह ध्यान नहीं रखा गया है कि उन आलोचनाओं का आधार सही है अथवा नहीं। दुर्भाग्यवश चन्द लोगों ने इसका उपयोग खादी और ग्रामोद्योग कार्यक्रम की निन्दा करने के लिए किया है। हाल ही में एक प्रमुख दैनिक समाचार-पत्र ने अपने सम्पादकीय में कार्यक्रम की निन्दा की है और खादी ग्रामोद्योग में प्रकाशित लेख का उदाहरण दिया है। इस आलोचना-विशेष के विषय में

*इसके अध्यक्ष श्री वैकुण्ठ ल. मेहता हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं पड़ती, यदि **खादी ग्रामोद्योग** में प्रकाशित अन्य लेखों पर भी, जोकि कार्यक्रम के तथ्य विषयक पहलुओं की व्याख्या करते हैं, उतना ही ध्यान दिया जाता। तथापि, यह समझना चाहिए कि **खादी ग्रामोद्योग** के पृष्ठों में प्रकाशित विचारों की असमानता ने इसका मान बढ़ाया ही है और इस बात का भी संकेत मिलता है कि अधिकाधिक लोग यह कार्यक्रम तथा पत्रिका पहले से अधिक गंभीरता से अपना रहे हैं। दशम वार्षिकांक को पढ़ने के बाद हमारे उप-राष्ट्रपति ने हमें आशीर्वाद भेजा है। यह इस बात का संकेत है कि हम सही राह पर हैं।

जागृति

जागृति के समाचारों में भी विविधता लाने का प्रयास किया गया है, जिसे आप सबने देखा होगा। मैं **जागृति** में विभिन्न राज्यों से प्राप्त तथ्यपूर्ण विवरण अधिकाधिक प्रकाशित करना चाहता हूँ। मैं राज्यों के प्रचार अधिकारियों की कठिनाइयाँ समझता हूँ, जिन्हें हमेशा उचित सहायता उपलब्ध नहीं होती और कइयों को तो करीब-करीब सारा काम अकेले ही करना होता है। तथापि, मुझे आशा है कि इस अवस्था में सुधार होगा और हम राज्यों में हो रहे विकास के अधिक समाचार दे सकेंगे।

हम देश में खादी उत्पादन में लगीं प्रमुख संस्थाओं से निकट सम्पर्क स्थापित करने की कोशिश कर रहे हैं। कभी-कभी तो यह होता है कि संस्थाएँ जो आँकड़े भेजती हैं, उसमें वे पूरी सावधानी नहीं बरततीं। प्रेषक को यह सुनिश्चित कर लेना चाहिए कि जो वह भेज रहा है, बिल्कुल सही है। आखिर, समाचार-पत्र को तो प्रकाशित सभी समाचार की सत्यता के लिए प्रेषक पर ही निर्भर करना पड़ता है।

नयी दिल्ली स्थित सूचना केन्द्र **खादी वर्ल्ड** नामक सामयिक पत्रिका निकालता है, जिसे काफी पसन्द किया गया है। केन्द्र दिल्ली तथा उसके आस-पास, पंजाब में भी, प्रदर्शनियों के आयोजन में बड़ा सक्रिय है।

यह कहना ही होगा कि जिस सीमा के अन्दर विभिन्न राज्य मंडलों के प्रचार अधिकारीगण काम कर रहे हैं, उसे देखते हुए उनका काम बहुत ही अच्छा है। उनके द्वारा प्रकाशित पत्रिकाओं का स्तर भी ऊँचा उठा है। अधिकाधिक राज्य मंडल अपनी पत्रिकाएँ प्रादेशिक भाषा में प्रकाशित कर रहे हैं, जिसमें सबसे नवीन है असम राज्य खादी और ग्रामोद्योग मंडल द्वारा प्रकाशित **खादी ग्रामोद्योग**। जहाँ तक मेरा अपना माप है, मुख्य कठिनाई है उपयुक्त और स्तरीय लेखों की अनुपलब्धि। कुछ हद तक राज्य मंडलों की पत्रिकाएँ यह कठिनाई बम्बई से प्रकाशित **खादी ग्रामोद्योग** से अधिक लेख लेकर दूर कर सकती हैं। तथापि, जिन राज्यों में हिन्दी भाषी लोगों का आधिक्य है, उनके लिए यह जरा दुर्गम सिद्ध होगा। यह विवादास्पद विषय है कि क्या हर राज्य मंडल के लिए अपनी पत्रिका प्रकाशित करना आवश्यक है। तथापि, वह नीति सम्बन्धी प्रश्न है, जोकि इस सम्मेलन के विषय के बाहर है। इस विषय में मैं राज्य खादी और ग्रामोद्योग मंडलों के प्रचार अधिकारी साथियों तथा अधिकारियों का ध्यान ससम्मान चन्द प्रकाशनों की ओर आकर्षित करना चाहूँगा, जिनमें राज्य के चुनाव क्षेत्रों और उसी तरह की अन्य बातों के अनुसार वित्तीय वितरण के विवरण प्रकाशित किये गये हैं। प्रचार कार्य के लिए जितनी सीमित निधि उपलब्ध है, उसे देखते हुए ऐसे प्रकाशन में निधि खर्च करना, जिनमें खास वर्ग के लोगों की ही रुचि हो, वांछनीय नहीं लगता।

प्रचार कार्य सम्भालने तथा विशेष कर पत्रिकाओं को लोकप्रिय बनाने के लिए यह अत्यावश्यक है कि विभिन्न वर्गों के लोगों की एक सूची बनायी जाय तथा उन्हें पत्रिका भेजी जाय। इस सूची के तैयार करने में पर्याप्त अभिक्रम और कल्पना की आवश्यकता है तथा राष्ट्रीय जीवन-चरित्रों तथा डायरेक्टरी की कमी होने के कारण सहज भी नहीं है। राज्यों के प्रचार अधिकारी बन्धुओं से मेरा अनुरोध है कि वे हमारी सूची से अपनी सूची मिला लें, जिससे यह ज्ञात हो जाय कि किसी में कोई परिवर्तन करना आवश्यक है अथवा नहीं।

हमारे प्रयास बहुत-कुछ कमीशन के वार्षिक विवरण, नियम, उप-नियम, विनिमय आदि नियमित चीजें ही प्रकाशित करने तक सीमित हैं। पिछले दशक में खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के कार्य में हुई प्रगति सम्बन्धी पुस्तिका का जिक्र मैं पहले ही कर चुका हूँ। इसके अतिरिक्त हमने 'ग्राम इकाई' का संशोधित संस्करण प्रकाशित किया है।

सहायता विवरण संबंधी पुस्तक के अंग्रेजी संस्करण के लिए काफी माँग है, जोकि करीब एक साल से उपलब्ध नहीं है। उसके प्रकाशन को कुछ दिनों के लिए इस आशा से स्थगित कर दिया गया था कि सहायता के स्वरूप में संशोधन करने के लिए नियुक्त समिति के विवरण को संशोधित संस्करण में शामिल किया जा सके। अब यह महसूस किया जाता है कि विवरण तैयार होने में कुछ समय लगेगा, अतः सहायता विवरण को वर्तमान रूप में ही पुनः प्रकाशित करने पर विचार किया जा रहा है।

हाथ कागज

एक बाधक सभी प्रकाशनों में हाथ कागज का ही इस्तेमाल भी है। विभिन्न श्रेणी के प्रकाशनों का भेद करना तथा सिर्फ हाथ कागज के इस्तेमाल के विषय में कुछ छूट देना आवश्यक है। प्रचार निर्देशालय के प्रयास को वांछित किस्म के हाथ कागज न मिलने से गहरा धक्का पहुँचा है। फिर, अच्छा प्रेस मिलना भी बहुत कठिन है, क्योंकि आधुनिक मशीनों पर हाथ कागज की छपाई करना मुश्किल है।

हम लोकप्रिय किताबों के प्रकाशन पर अधिक जोर देना चाहते हैं जिनमें विभिन्न उद्योगों के तकनीकल पहलुओं की व्याख्या की गयी हो, ताकि अधिकाधिक लोग उद्योगों और उनकी क्षमताओं की जानकारी प्राप्त कर सकें।

भावी कार्यक्रम

वर्तमान कार्यक्रम के अलावा निम्न प्रकाशन कार्यक्रम बनाया गया है :

अ. खादी और ग्रामोद्योग कार्यक्रम तथा प्रत्येक उद्योग के संबंध में अलग-अलग सचित्र पुस्तिकाएँ, जिनमें यह भी बताया जायेगा कि राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में उनका क्या महत्व है।

आ. हमारे प्रतिरक्षा कार्यक्रम में खादी, खास कर ऊनी खादी, एवम् अन्य उद्योगों के योगदान के सम्बन्ध में पुस्तिका।

इ. राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था एवम् राष्ट्रीय संकटकाल में खादी-ग्रामोद्योगों की भूमिका बताते हुए रंगीन पोस्टर।

ई. विभिन्न उद्योगों के अन्दर इकाई की स्थापना तथा संचालन के सम्बन्ध में पुस्तिका।

उ. साल में कमीशन की सफलताओं के सम्बन्ध में पुस्तिका।

ऊ. किसी क्षेत्र या राज्य में उल्लेखनीय कार्य करने-वाली संस्थाओं अथवा संस्थाओं के समूह की प्रगति का प्रतिवेदन।

ए. दिवाल या टेबल कैलेण्डर एवम् छोटी डायरियों आदि की छपाई।

बिक्री

हमारे साहित्य मुख्यतः कमीशन और सरकार के क्षेत्रीय कार्यकर्त्ताओं के लिए हैं। इस तरह के विशिष्ट प्रकाशनों की बिक्री सीमित होती है। तथापि, मुझे यह बताने में खुशी होती है कि इस वर्ष कमीशन के प्रकाशनों की बिक्री में उत्साहजनक वृद्धि हुई है। सितम्बर १९६२ तक कुल बिक्री ५,९४७ रुपये की हुई, जबकि इस वर्ष उसी अवधि में ७,९७५ रुपये की बिक्री हुई अर्थात् ३४ प्रति शत वृद्धि हुई। प्रत्यक्ष है कि हमारे प्रकाशनों में लोगों की रुचि बढ़ रही है और यदि इनका प्रकाशन आकर्षक और पठनीय रूप से किया जा सके तो इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि बिक्री में, विशेष कर प्रकाशनों की, काफी वृद्धि हो सकती है।

सोवियत संघ में मधुमक्खी-पालन

सीताराम शेण्डे

सोवियत संघ मधुमक्खियों के मामले में बहुत धनी है और वहाँ बहुत किस्म की मधुमक्खियाँ मिलती हैं। इस उद्योग को कृषि उत्पादन बढ़ाने के विस्तृत कार्यक्रम के अंग-स्वरूप विकसित किया जाता है। सोवियत सरकार ने सुदृढ़ आधार पर मधुमक्खी-पालन को विकसित करने में प्रमुख भाग लिया है; और उत्तम तथा अधिक मधु देनेवाले मधु-उपनिवेश तैयार करने और अच्छी नस्ल की मधुमक्खियों को उन क्षेत्रों में रहने लायक बनाने के सम्बन्ध में जहाँ कि वे स्वाभाविक रूप से नहीं रहतीं, प्रयोग और अनुसंधान चल रहे हैं।

सोवियत संघ – सोवियत समाजवादी गणतंत्र संघ–पन्द्रह 'समान और स्वतंत्र' गणतत्रों का संघ राज्य, बाल्टिक सागर से प्रशान्त महासागर तक फैला हुआ और संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा तथा पश्चिमी यूरोप को मिला कर जितना बड़ा क्षेत्र होता है लगभग उतने ही क्षेत्रफलवाला! यद्यपि सोवियत संघ के लिए सामान्यतया 'रूस' शब्द का प्रयोग किया जाता है, परन्तु सच तो यह है कि रूस उक्त संघ का केवल एक अंग है। हाँ, वह सबसे बड़ा अंग है और उसका क्षेत्रफल संघ का तीन-चौथाई है। सात गणतंत्र यूरोप में हैं और आठ एशिया में।

इस वृहत और विविध क्षेत्र में मधुमक्खी-पालन ने भव्य प्रगति की है जिसका अध्ययन बड़ा ही प्रोत्साहक और रुचिकर है। वहाँ मधुमक्खी-पालन के क्षेत्र में जो प्रगति हुई है, वह अन्य देशों के मधुमक्खी पालकों के लिए ईर्ष्या और प्रशंसा दोनों का विषय है।

मधुमक्खी धन

सोवियत संघ देशी मधुमक्खियों के मामले में बहुत धनी है और वहाँ बहुत किस्म की मधुमक्खियाँ पायी जाती हैं। उत्तरी और दक्षिणी यूरोप जाति (एपिस मेलीफेरा मेलीफेरा) की मधुमक्खियाँ क्षेत्र के बहुत बड़े भाग में पायी जाती हैं। अपने कड़ेपन के लिए प्रसिद्ध काले रंग की जंगली मधुमक्खी, जोकि सर्वोत्तम नस्लों में से एक है, यूराल पहाड़ के निकट पश्चिम में, विशेष कर यूरोपीय क्षेत्र के बशकीर में, पायी जाती है। यह एक प्रकार का आरक्षित क्षेत्र है, जिसमें अन्य नस्लों की मधुमक्खियाँ नहीं प्रवेश कर सकतीं ताकि देशी मधुमक्खी की शुद्धता बनी रहे। और, दक्षिण में बढ़ने पर अधिक इटालियन प्रकार की मधुमक्खियाँ मिलने लगती हैं। एक दूसरी प्रसिद्ध जाति काकेशियन मधुमक्खियों की है (एपिस मेलीफेरा काकेशिया)। इनकी तीन मुख्य नस्लें हैं: (१) ऊँची पहाड़ियों पर पायी जानेवाली नस्लें जोकि अब्खाजिया, मिंग्रेटिया और स्वानेतिजया में पायी जाती हैं; (२) अन्य पहाड़ी नस्लें जोकि काकेशश के उत्तरी ढलाव पर क्राश्वोडोर में पायी जाती हैं—ये दोनों पहाड़ी नस्लें भूरे रंग की होती हैं; और (३) मैदानी नस्ल–पीले रंग की काकेशियन मधुमक्खी–जोकि बहुत कुछ इटालियन प्रकार की लगती हैं। ये मधुमक्खियाँ जार्जिया और कैस्पियन सागर के बीच अजेरबैजान के मैदान में फैली हुई हैं। ये सभी काकेशियन प्रकार अपनी लम्बी जीभ, आज्ञाकारिता और वायुजलानुकूलन (अन्य क्षेत्रों में जाने पर अपने को उस वातावरण के अनुकूल बनाना) की क्षमता रखने के लिए प्रसिद्ध हैं। सोवियत सुदूर पूर्व में, प्रिमोरकाई के जंगल में, मधुमक्खियों की और भी कई देशी जातियाँ मिलती हैं।

अधिक शहद उत्पादन करनेवाले मधुमक्खी उपनिवेशों

के उत्पादनार्थ प्रसंकरण और उत्तम नस्ल की मधु-मक्खियों को उन क्षेत्रों के वायुजलानुकूल बनाने पर, जहाँ कि वे नहीं पायी जातीं, भी अधिक जोर दिया जा रहा है। उत्तरी रूसी काकेशियन मधुमक्खियों के प्रसंकरण और बड़े आकारवाली विशिष्ट नस्ल की मधु-मक्खियों का सामान्य कोषों से बड़े कोषों में बारम्बार अभिजनन कर अभिपोषण के जरिये ठोस 'जाति समूह' को स्थायी बनाने संबंधी प्रयोगों ने रूसी-मधुमक्खी वैज्ञानिकों में विशेष रुचि पैदा कर दी है। जार्जिया में रानी अभिजनन से अधिक जोर रानी अभिपोषण पर दिया जाता है; हो सकता है कि यह संतोषप्रद गुणों-वाली पर्याप्त देशी नस्लों की उपलब्धि के कारण हो और उन्हें सिर्फ संरक्षित रखना तथा वितरित करना ही आवश्यक हो।

रानी अभिपोषण के लिए वृहत कार्यक्रम है, जैसे कि जार्जिया में क्यूबा को रानी-मधुमक्खियों का निर्यात करने के लिए। पार्सलों की संख्या १९५४ के ५० से बढ़ कर १९६२ में ५६० हो गयी है। पार्सल का अर्थ है कई छत्तोंवाला एक मधुमक्खी घर जिसमें कुछ कर्मी, रानी-मधुमक्खियाँ, मधुमक्खियाँ और उनका भोजन रहता है।

मधुमक्खी चरागाह

प्रशान्त महासागर के तटीय क्षेत्र, मध्य साइबेरिया का दक्षिणी भाग और यूरोपीय भाग की ओर कजकिस्तान से सटे उत्तरी-पूर्वी भाग, काकेशश के दोनों ढलाव क्षेत्र और एशिया में सिंकियांग, उजबेकिस्तान, करगिस्तान और कजकस्तान से गिरिपादों और निचले क्षेत्रों में सबसे अधिक शहद उत्पादन होता है। वहाँ वनस्पति उत्पादन भी बहुत अधिक होता है। इन सभी क्षेत्रों में प्रति मधु-घर औसत वार्षिक शहद उत्पादन ७० से १०० किलोग्राम के लगभग होता है। सर्वोत्तम मधु-मक्खी-पालन क्षेत्र अधिकतर सोवियत संघ के एशि-याई भाग में हैं।

सोवियत संघ की मधुमक्खी-पालन क्षमता बहुत अधिक है; क्योंकि सर्वोत्तम नस्लों की मधुमक्खियाँ सभी क्षेत्रों में समान रूप से बटी हैं और प्राकृतिक पुष्पीय वनस्पति की प्रचुरता है। सोवियत संघ में विस्तृति उतनी ही है जितनी कि उत्तरी अमेरिका में। शहद और पार्सल-मधुमक्खियों के उत्पादन के विकास की सम्भावना और भी बढ़ जायगी, जबकि यातायात के विकास और मधु-प्रबन्ध में यांत्रीकरण आरम्भ कर भीतरी क्षेत्रों का पूरा-पूरा उपयोग किया जा सकेगा।

भूत और वर्तमान प्रगति

शाही और गृह युद्ध की अवधि में मधुमक्खी-पालन पर कोई ध्यान नहीं दिया गया और वह दयनीय अवस्था में था। सन् १९१९ के पूर्व सोवियत संघ में ३२,००,००० मधु-घर थे, जबकि आज १,०६,००,००० हैं, जोकि संसार के कुल मधु-घरों के चौथाई कहे जाते हैं और इतनी अधिक संख्या किसी भी अन्य देश में नहीं है। एक करोड़ छः लाख मधु-घरों में से ५५,००,००० सरकारी और सामूहिक खेतों में हैं तथा बाकी ५१ लाख निजी स्वामित्व में। मधु-घरों के निजी स्वामित्व-वालों की संख्या सोवियत संघ के कुल मधुमक्खी-पालकों की ९० प्रति शत है और उनमें से अधिकांश मधुमक्खी-पालन कार्य अपने अवकाश के समय में करते हैं। उनमें से कुछ शहरवासी हैं जोकि चन्द छत्ते अपने बरामदे अथवा अपनी या मित्र की रसोई बाटिका म रखते हैं। अधिकांश खेतों में काम करनेवाले सेवा-निवृत और नौकरी पेशा हैं। सेवा-निवृत लोगों को निवृति के वक्त मिलनेवाले वेतन का आधा मिलता है और वे यह काम अपनी आय में वृद्धि करने के लिए करते हैं। वे तो इसे पूर्ण कालीन कार्य के रूप में भी कर सकते हैं।

शहद उत्पादन

निजी मधुमक्खी-पालक औसतन १० मधु-घर रखता है, जबकि भारत में इनकी संख्या मुश्किल से दो है। सरकारी और सामूहिक खेतों में औसतन क्रमशः ९० और ७० मधु-घर हैं। निजी विभाग के मधुपाल को प्रति

मधु-घर वार्षिक १० किलोग्राम शहद (मधुपाल को शुद्ध अतिरिक्त प्राप्ति) प्राप्त होता है। इसका अर्थ है कि दस मधु-घरों से एक मधुपाल को वर्ष में १०० किलोग्राम शहद मिलता है, जिससे उसे अच्छी अतिरिक्त आय हो सकती है। सरकारी और सामूहिक खेत में शहद उत्पादन का औसत कुछ और ज्यादा ही है—क्रमशः १५ से २० किलोग्राम और १० से १५ किलोग्राम। इस प्रकार सोवियत संघ में १,५०,००० टन शहद का उत्पादन होता है, जिसकी कीमत भारतीय शहद के अनुसार ७० करोड़ रुपये होगी। उत्तरी अमेरिका के प्रति मधु-घर औसत शहद उत्पादन ४६ पौंड के मुकाबले, पिछले ४० वर्षों से यही औसत है, तो रूस का औसत कम ही है तथापि, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, सोवियत संघ की मधुमक्खी-पालन क्षमता ऊँची है।

फसल परागाधान

वार्षिक १,५०,००० टन शहद का उत्पादन सचमुच ही बहुत अधिक है। शहद और मोम दोनों ही के उत्पादनार्थ एक करोड़ से भी अधिक मधु-उपनिवेश चल रहे हैं। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि मधुमक्खी-पालन का इतना अधिक विस्तार अधिक शहद प्राप्त करने के विचार से नहीं किया जाता, बल्कि इससे कृषि फसलों में परागाधान का जो लाभ होता है उसके लिए किया जाता है। आधुनिक वैज्ञानिक और बड़े पैमाने की खेती करने से, जिसमें 'बाड़' और निकट की प्राकृतिक वनस्पति की समाप्ति भी निहित है, जंगली कीटों को रहने-बढ़ने के लिए जगह मिलनी असम्भव-सी हो जाती है। फिर पौध-संरक्षण पद्धतियों के रूप में कीट-नाशक और जहरीली दवाओं के छिड़कने से इन कीटों का और भी तेजी से नाश होता है। इससे कृत्रिम रूप में परागाधान माध्यमों का प्रबन्ध करना और भी अनिवार्य हो जाता है। इस प्रकार चन्द कृषि फसलों की उत्पादकता और कृषि विकास के प्रयासों की सफलता परागाधान के लिए पर्याप्त संख्या में मधुमक्खियों की उपलब्धि पर निर्भर करती है। अतः सरकारी सामूहिक खेतों में रखी जानेवाली मधुमक्खियां कीट-परागाधानी फसलों के पर्याप्त परागाधान हेतु आरक्षित रखी जाती हैं। सोवियत संघ में पूर्णतः मधुमक्खियों के जरिये ही कृषि उत्पादन और फलों में शुद्ध वृद्धि अनुमानित एक अरब रुपये की होती है।

कृषि का पूरक : मधुमक्खी-पालन

इस प्रकार सोवियत संघ में मधुमक्खी-पालन कृषि उत्पादन का एक अंग है और सोवियत सरकार इस पर सर्वाधिक ध्यान देती है। मधुमक्खी अनुसंधान संस्थाएँ और अन्य अधिकृत संस्थाएँ कृषि कार्यों के लिए मधुमक्खियों और मधुमक्खी-पालन पर प्रत्यक्ष ध्यान देने हेतु निरंतर जोर दिया करती हैं। सन् १९२८ में प्रथम रूसी पंच वर्षीय योजना आरम्भ किय जाने के पूर्व सोवियत संघ में दो करोड़ खेत थे और एक खेत का औसत आकार ११ एकड़ (४.५ हेक्टर) था। धीरे-धीरे इनकी जगह सरकारी और सामूहिक खेत लेते गये, जिनकी संख्या अब ९८,००० है। इनमें से करीब छः प्रति शत में मधु-बागान हैं, जिनमें प्रति बागान औसतन ७० से ९० मधु-उपनिवेश हैं। इस प्रकार रूसी कृषि का काफी भाग परागाधान के लिए मधु-बागानों से प्राणवान और योग्य ढंग से जुड़ा हुआ है।

सरकारी उपाय

सन् १९१९ में 'मधुमक्खी-पालन के संरक्षण' पर लेनिन ने जो प्रथम राजाज्ञा प्रसारित की, वह सोवियत संघ के मधुमक्खी-पालन विकास के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। वह राजाज्ञा मधुमक्खी-पालन के पुनरावर्तन, संशोधन और विकास के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण थी। लेनिन द्वारा प्रथम राजाज्ञा प्रसारित करने के पश्चात् सोवियत सरकार ने बाद में और भी कई आदेश जारी किये और वे सब अभी लागू हैं। इन आदेशों के परिणामस्वरूप मधुमक्खी-पालन हमेशा ही आगे रहा है और इसने मार्के की प्रगति की है। 'मधुमक्खी पालन का संरक्षण' सम्बन्धी राजाज्ञा में उद्योग के सुचारु और सफल विकास के संरक्षणार्थ कई

उपाय शामिल थे।

मधुमक्खियों को शरद और जाड़े में खिलाने के लिए शहद की एक मात्रा निश्चित कर दी गयी: दक्षिणी प्रक्षेत्रों, उड़ालो, साइबेरिया और सुदूर पूर्व में प्रति मधु-घर २८ से ३० किलोग्राम और बाकी प्रक्षेत्रों के लिए २५ किलोग्राम। इनमें ५० से ७० प्रति शत शक्कर का अंश होना चाहिए था। इस प्रकार मधुमक्खियों के जीव और शक्ति की रक्षा सुनिश्चित की गयी है। मधुमक्खी अभिजनन केन्द्रों की स्थापना सरकारी और सामूहिक खेतों को निरन्तर उच्च उत्पादकतावाले मधु-घरों और रानी-मधुमक्खियों की पूर्ति के लिए की गयी। मधुमक्खियों की बीमारियों पर नियंत्रण पाने के लिए अनिवार्य उपाय लागू किय गये। सरकारी और सामूहिक खेतों में मधुमक्खियों के चरागाह की व्यवस्था सैनफार्म, बकह्वीट, फीडिया जैसी फसलों के अन्तर्गत खेतों का विस्तार कर तथा अन्य मधुदायी झाड़ियों के जरिये की गयी। कृषि और बागवानी फसलों में परागाधान हेतु मधुमक्खियों के प्रयोग की आवश्यकता और उपयोगिता अधिकृत रूप से स्वीकार की गयी और अतिरिक्त शहद प्राप्त करने के लिए उन क्षेत्रों में मधुमक्खियों के समयानुकूल स्थानान्तरण का भी सुझाव दिया गया, जहाँ कि पुष्पीय चरागाह फूले-फले और प्रचुर हों।

सरकारी तथा सामूहिक खेतों के अलावा निजी रूप में सामूहिक खेती करनेवालों, औद्योगिक कर्मियों, कर्मचारियों और सेवा-निवृत लोगों को जंगली भूमि देने की व्यवस्था की गयी ताकि वे अपने मधु-बागान लगाने को प्रोत्साहित हों। तथापि, इन सब लोगों के लिए पेड़ काटना, ठूंठ हटाना, जंगली भूमि में हल चलाना पूर्णतः वर्जित था।

सब गणतंत्रों में मधुमक्खी-पालकों को सहज ही मधु-घर तथा अन्य सरंजाम, जिनमें कृत्रिम छत्ते आदि भी शामिल हैं, उपलब्ध करने के लिए उनके निर्माणार्थ कारखाने खोले गये। मधुमक्खी-पालन उद्योग के लिए अनुसंधान कार्य के संगठन तथा वैज्ञानिकों और तकनीशियनों का दल तैयार करने हेतु प्रशिक्षण कार्यक्रम पर काफी ध्यान दिया जाने लगा।

अनुसंधान संगठन

सन् १९३० में लेनिनग्राड स्थित तुला तथा मास्को के प्रायोगिक मधुमक्खी-पालन केन्द्रों को मिला कर सेंट्रल बी-कीपिंग रिसर्च इन्स्टीट्यूट (केन्द्रीय मधुमक्खी-पालन अनुसंधान संस्था) की स्थापना की गयी। सन् १९५५ में उसे प्रादेशिक राजधानी रियाजन के निकट रीबोनो में बने विशेष भवन में स्थानान्तरित कर दिया गया, जोकि मास्को से १८० मील दूर है। इस संस्था में संसार की किसी भी मधुमक्खी-पालन संस्था से कहीं अधिक कार्यकर्त्ता हैं: इसमें १८० कार्यकर्त्ता हैं, जिनमें ६० प्राविधिक और ७० अप्राविधिक हैं। इस संस्था के विभिन्न विभाग हैं: प्रशासन, मधु-प्रबन्ध, संगठन और अर्थशास्त्र, निर्माण (सरंजाम), बीमारी-नियंत्रण रायल जेली और मधु-उत्पादनों की तकनालॉजी, मधुमक्खी खाद्यान्वेषण और फसल परागाधान, प्रचार, पुस्तकालय और संग्रहालय, स्नातकोत्तर विद्यार्थी और जनरल टाइपिस्ट, रख-रखाव कर्मचारी, वाहन संचालक, गार्ड्स तथा सफाई करनेवाले (क्लीनर्स)।

इस संस्था का उद्देश्य सोवियत संघ की कृषि के मधुमक्खी-पालन विभाग का विकास करना है। इसका सबसे बड़ा विभाग, जोकि मधु-प्रबन्ध विभाग कहलाता है, मधुमक्खी शरीर-शास्त्र से सम्बन्धित है और पोषण तथा जाड़े में स्थानान्तरण, मधुमक्खी अभिजनन और जनन विज्ञान पर विशेष ध्यान देती है। अन्तिम दो गतिविधियाँ उत्तरी रूसी/काकेशियन प्रसंकर मधुमक्खियों तथा बड़े कौपों में अभिपोषित मधुमक्खियों से ठोस 'जाति समूह' बनाना है। मधु मक्खी-पालन के अर्थशास्त्रीय पहलुओं में मधु-उपनिवेशों का वितरण और उत्पादन की नयी विधियाँ शामिल हैं। निर्माण विभाग में मधु-घरों, एक्सट्रैक्टर तथा अन्य उपकरणों

तृतीय ...
जाता ...
नये व्यक्ति ...
४० लाख ...
व्यक्ति ...
होंगे। ...
बेरोजगारी ...
उन व्यक्ति ...
'कर्मियों' ...
अनुमान ...
१० लाख ...
बेकारी ...
अनुपयोगि ...
विषय है, ...
वृद्धि की ...

सामान्य ...
में बेरोजगा ...
में जो बढ़ा ...
को बढ़ाने ...
खेती में ...
भर प्रति ...
मुश्किल ...
का अध्ययन ...
इसके ...

इस पर हमेशा अध्ययन और इसमें यांत्रीकरण भी शामिल है।

ह बीमारी के लिए एक विशेषज्ञ ध्ययनार्थ दो विभाग हैं : एक षण करने तथा शहद मानकी- (सरा विभाग अभी हाल में ही सका कार्य है रायल जेली के विज्ञान विशेषज्ञों के सहयोग १९६२ में एपीलो नामक ली ५२ किलोग्राम तैयार की उपयोग दवा के रूप में किया ो प्रसव के बाद खून में प्रीटीन कमी को दूर करने और दूध जाती है।

मक्खी खाद्यान्वेषण विभागों अध्ययन पौधों के सन्दर्भ में मधुमक्खी परागाधान के लिए वश्यकताओं तथा उन्हें परागा- तरीके का मूल्यांकन करने का उत्तम मधुमक्खी-पालन का मक्खी-पालकों तक अनुसंधान पहुँचाता है। किताबें लिखी ार-पत्रों के लिए लेख तैयार स्लाइड्स तैयार किये जाते हैं, की व्यवस्था की जाती है, गये जाते हैं तथा प्रदर्शनी-गाड़ी ी है।

ों अनुसंधान

ों के आने से संस्था और बढ़ गशालाएँ खोली जा रही हैं। ों के लिए कई मकान बना ी एक १,२०० एकड़ (५०० ा अंश है, और उसका अपना ००० हेक्टर में है। सरकार अनुदान स्वरूप २,५०,००० रूबल अर्थात् १३,१६,००० रुपये देती है।

संस्था के प्रायोगिक केन्द्र संघ के विभिन्न स्थानों पर हैं। इसके अतिरिक्त यूक्रेन, कजकिस्तान, जार्जिया और अर्मीनिया, आर्लाव, तथा बशकी के अपने मधुमक्खी अनुसंधान केन्द्र हैं। फिर, कई कृषिक और बागवानी संस्थाओं के अपने विशेष मधुमक्खी विभाग हैं, जहाँ कि प्रयुक्त अनुसंधान किया जाता है। सब मिलाकर कम से कम ५६ संस्थाएँ रीबोनो की केन्द्रीय संस्था से मिल कर मधुमक्खी-पालन अनुसंधान कार्य करती हैं। विश्व-विद्यालयों और अन्य संस्थाओं में किये जानेवाले अनु-संधान विज्ञान अकादमी के अन्तर्गत आते हैं। इन स्थानों में किये जानेवाले अनुसंधान अधिकतर सैद्धान्तिक अथवा बुनियादी प्रकार के होते हैं।

मधुमक्खी-पालन शाखा में अनुसंधान कार्य के उत्तम नियंत्रण हेतु सोवियत संघ के कृषि मंत्रालय में एक समन्वय परिषद् खोली गयी है, जिसके सदस्य इस शाखा के सर्वाधिक प्रमुख विशेषज्ञ हैं।

मधुमक्खी-पालन सम्बन्धी साहित्य

विभिन्न माध्यमों के जरिये शिक्षा कार्यक्रमों का एक बड़ा जाल फैला दिया गया है। सोवियत संघ के अन्तर्गत आनेवाले छः लाख मधुमक्खी-पालकों से सम्पर्क रखने-वाली कड़ी के रूप में अत्यधिक सुन्दर मधुमक्खी-पालन सम्बन्धी पत्रिका चेलोवोंद्स्तवो है, जिसकी दो लाख प्रतियाँ छपती हैं। इस वर्ष यह अपने प्रकाशन के चालीसवें वर्ष में प्रवेश करेगी।

हाल के वर्षों में औसत तकनीकल योग्यतावाले तंत्रज्ञों के दल को प्रशिक्षण देने हेतु, जिन्हें कि सामूहिक और सरकारी मधु-बागानों में काम करने के लिए तैयार किया जा रहा है, कई पाठ्य पुस्तकें और पुस्तकें लिखी गयी हैं। सोवियत संघ में रूसी, यूक्रेनियन, जार्जियन, लिथुएनियन तथा अन्य भाषाओं में हाल में प्रकाशित मधुमक्खी-पालन सम्बन्धी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण

देने के लिए भी काफी समय और स्थान की जरूरत पड़ेगी। मधुमक्खी-पालन पर विदेशी लेखकों द्वारा लिखी गयी पुस्तकों का रूसी भाषा में अनुवाद तथा काफी संख्या में प्रकाशन किया गया है। चेलोवोद्स्तवो में प्रायः जर्मनी, जेकोस्लोवाकिया, रूमानिया, चीन, अमेरिका और कनाडा के मधुमक्खी-पालकों के अनुभव छपा करते हैं। अनुसंधान कार्य सम्बन्धी रूसी विवरण का अन्य देशों में भी गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया जाता है। सोवियत संघ में अनुवाद, संक्षिप्तीकरण और पुस्तकालय सेवाएँ भी बहुत सुन्दर ढंग से चलायी जाती हैं।

मधुमक्खी-पालन में प्रशिक्षण

सन् १९६० में उच्च योग्यतावाले मधुमक्खी-पालकों हेतु 'आल यूनियन एग्रीकल्चरल इंस्टीट्यूट ऑफ कॉरेसपौंडेंस कोर्स' में एक पाठ्यक्रम आरम्भ किया गया। कृषि विद्या, पशु-पालन और पशु-चिकित्सा विज्ञान सम्बन्धी सभी संस्थाओं में मधुमक्खी-पालन पर ३० से ४० घण्टे तक के अनिवार्य भाषण आरम्भ किये गये हैं। कृषि विद्यालयों में मध्यम योग्यतावाले कार्यकर्ता तैयार किये जाते हैं। पशु-पालन विभाग ने मधुमक्खी-पालन सम्बन्धी एक विशेषज्ञ शाखा आरम्भ की है, जिसमें अध्ययन के अन्तिम वर्षों में ३०० से ४०० घण्टे मधुमक्खी-पालन पर दिये जाते हैं।

विभिन्न प्रक्षेत्रों में मधुमक्खी-पालन के और विकासार्थ कार्य किये जाने के लिए नियमित मधुमक्खी-पालन कार्यालय खोले जाते हैं। इन कार्यालयों के कर्मचारियों के अलावा लगभग १,०० विशेषज्ञ तज्ञ हैं, जो कि देश भर में मधुमक्खी-पालकों को व्यावहारिक मार्गदर्शन और सलाह दे रहे हैं।

सफल और समृद्ध मधुमक्खी-पालन के लिए सर्वोत्तम सुविधाओं से सुसज्जित सोवियत संघ मधुमक्खी-पालन उद्योग में पूर्णतः सुव्यवस्थित है और मधुमक्खी-पालन के लिए प्रसिद्ध देशों में अग्रणी रहा है।

बम्बई : ७ नवम्बर १९६३

महाराष्ट्र जितना विस्तृत औद्योगिक विभाग अन्य चन्द राज्यों में ही है। सम्भवतः पश्चिम बंगाल को अपवाद स्वरूप छोड़ कर, निरपेक्ष शब्दावली में तथा कुल आय और रोजगारी की तुलना में अर्थात् दोनों ही दृष्टियों से, अन्य सभी राज्यों की अपेक्षा यहाँ पर उद्योग अधिक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। संगठित उद्योगों के मामले में तो इसका महत्व और भी अधिक है। राज्य की आबादी भारत की जन-संख्या के १० प्रति शत से कम है, लेकिन देश में कारखाना उद्योग के कुल उत्पादन में इसका हिस्सा करीब २२-२३ प्रति शत है। किन्तु उद्योगों का अधिकांश विकास बम्बई-पूना क्षेत्र में ही संकेन्द्रित है। औद्योगिक दृष्टि से राज्य का अधिकांश क्षेत्र देश के अन्य भागों की तरह ही पिछड़ा हुआ है।

—*टेक्नो-इकनॉमिक सर्वे ऑफ महाराष्ट्र* : नेशनल कॉउन्सिल ऑफ अप्लाइड इकनॉमिक रिसर्च, नयी दिल्ली।

गुजरात में रोजगारी की स्थिति : १९५१–६१

रामदास किशोरदास अमीन

भारत में खेती पर पहले से ही बहुत बोझ है। आबादी में जो वृद्धि होती है वह खेती में खप जाने से 'गुप्त' बेरोजगारी बढ़ती है। इसलिए जन-संख्या वृद्धि का कोई-विशेष प्रतिबिम्ब बेरोजगारी बढ़ने में उतना नहीं मिलता, जितना कि 'गुप्त' बेरोजगारी की वृद्धि में। इस प्रकार देश के रोजगारी सम्बन्धी आंकड़ों के अध्ययन में एक प्रकार का भ्रामक तत्व आ जाता है। गुजरात में बेरोजगारी के सम्बन्ध में, खास कर के शिक्षित बेरोजगारी का उन्मूलन करने की दिशा में, तत्काल ध्यान दिये जाने की आवश्यकता है।

तृतीय पंच वर्षीय योजना काल में अनुमान लगाया जाता है कि देश की श्रम-शक्ति में १ करोड़ ७० लाख नये व्यक्ति शामिल हो जायेंगे। इनमें से १ करोड़ ४० लाख को काम मिल जायेगा और करीब ३० लाख व्यक्ति पहले से चले आ रहे बेरोजगारों में शामिल होंगे। सन् १९५१–५६ के दौरान भी १९५१ में जो बेरोजगारी की संख्या थी, उसमें वृद्धि हुई है। सामान्यत: उन व्यक्तियों में भी पर्याप्त 'गुप्त' बेरोजगारी है जिन्हें 'कर्मियों' की श्रेणी में वर्गीकृत किया गया था। एक अनुमान के अनुसार १९५८–५९ में भारत में १ करोड़ १० लाख पूर्ण बेरोजगार व्यक्तियों के बराबर 'गुप्त' बेकारी थी। इस प्रकार भारत में असंख्य मनुष्य-घण्टे अनुपयोगित रहते हैं। यह एक अत्यधिक चिन्ता का विषय है, खास कर तब जबकि पिछले दशक में जन-संख्या वृद्धि की दर २.२ प्रति शत वार्षिक रही है।

सामान्यत: एक स्वावलम्बी कृषि प्रधान अर्थ-व्यवस्था में बेरोजगारी की समस्या से निबटना कठिन है। आबादी में जो बढ़ोतरी होती है वह साधारणतया 'गुप्त' बेरोजगारी को बढ़ाते हुए कृषि में ही खपा ली जाती है। और फिर खेती में काम भी कुछ ऐसा है कि व्यक्ति के लिए साल भर प्रति दिन आठ घण्टे का नियमति काम ढूंढ निकालना मुश्किल है। अतएव देश के रोजगारी सम्बन्धी आंकड़ों का अध्ययन एक माने में भ्रम में डालनेवाला है।

इसके अतिरिक्त उपलब्ध आंकड़ों से इस बात का पता लगाना मुश्किल है कि ग्रामीण क्षेत्रों में कितनी बेरोजगारी है। "बेरोजगारी" की परिभाषा दो तरह से दी जा सकती है: प्रथम, "लाभदायक रोजगारी" के प्रति बोध का उपयोग करते हुए, जोकि प्रत्येक व्यक्ति को किसी खास वक्त पर उसकी वास्तविक गतिविधि का हवाला न लेते हुए, अर्थ-व्यवस्था में उसकी सामान्य कार्यकारी भूमिका से सम्बन्धित करती है। और द्वितीय, श्रम-शक्तिवाला तरीका जिसमें व्यक्ति का किसी विशेष समय पर अपने वास्तविक कार्य से सम्बन्ध होता है। कामगारों या कर्मियों की परिभाषा देश-देश में भिन्न-भिन्न होती है। भारत में १९०१ से १९२१ तक, १९३१ से १९५१ तक और १९६१ की जनगणनाओं के लिए अलग-अलग परिभाषाएँ थीं। रोजगारी की बिल्कुल सही स्थिति जानने के लिए कोई एक समान तरीका निर्धारित करने की ये साम्बोधिक अर्थात् विचार सम्बन्धी कठिनाइयाँ और असम्भावना, जहाँ तक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं का सम्बन्ध है, उनमें इस प्रश्न को सम्हालना मुश्किल बना देती है।

ग्रामीण बेरोजगारी का आकार

इस पृष्ठभूमि में अब हम १९५१–६१ के दौरान में गुजरात में रोजगारी का क्या रुख रहा है, इस पर विचार करें। अखिल भारतीय स्थिति की तुलना में गुजरात में रोजगारी की स्थिति को बहुत ही बदतर समझा जा सकता है। पिछले दशक में अखिल भारतीय २.२ प्रति

शत वार्षिक की दर से जन-संख्या वृद्धि के समक्ष गुजरात की आबादी में २.७ प्रति शत वार्षिक की दर से वृद्धि हुई। शहरी-क्षेत्रों में रहनेवाली आबादी का प्रतिशत्य गुजरात में २५ है, जबकि अखिल भारतीय प्रातिशत्य १८ है। जन-संख्या और शहरीकरण की अधिक वृद्धि के साथ ही यह भी जोड़ा जा सकता है कि आबादी में साक्षर व्यक्तियों का अनुपात भारतीय औसत से ज्यादा है—गुजरात में ३० प्रति शत आबादी साक्षर है जबकि अखिल भारतीय औसत २३ है।

आबादी का घनत्व

कोई यह कह सकता है कि चूंकि गुजरात में आबादी घनत्व कम है, इसलिए बढ़ती हुई जन-संख्या के लिए रोजगारी ढूंढ निकालना मुश्किल नहीं होगा। सन् १९६१ की जन गणना के अनुसार गुजरात में आबादी घनत्व अखिल भारतीय प्रति वर्ग मील ३७३ के समक्ष २९० है। किन्तु इससे समस्या का समाधान सहल नहीं बन जाता। जन-संख्या घनत्व की कमी मुख्यतः कच्छ को गुजरात में मिलाने के कारण है, जिसका आबादी घनत्व प्रति वर्ग मील ४२ तक है और कच्छ गुजरात राज्य का २३-२४ प्रति शत भाग है। कच्छ का आधे से अधिक हिस्सा रेगिस्तान है, जो आर्थिक विकास की दृष्टि से कई तरह से एक प्रकार का भार है। गुजरात में ऐसे भी क्षेत्र हैं, जिनमें जन-संख्या का घनत्व बहुत अधिक है। उदाहरण के लिए १९६१ में खेड़ा जिले में आबादी घनत्व प्रति वर्ग मील ७४० था। अहमदाबाद और सूरत जिले में भी यह घनत्व काफी अधिक है। जन-संख्या वृद्धि की उच्च दर का रुख कम से कम पिछले साठ वर्ष से कायम रहा है। सन् १९०१ से १९६१ तक की अवधि में भारत की जन-संख्या में ८४ प्रति शत वृद्धि हुई है; गुजरात में इसी काल में यह बढ़ोतरी १२७ प्रति शत रही है।

गुजरात की अर्थ-व्यवस्था का निकट अध्ययन व्यक्ति को इस विश्वास की ओर ले जाता है कि यद्यपि मौजूदा स्थिति केरल, पश्चिम बंगाल अथवा उत्तर प्रदेश जैसी गम्भीर नहीं है, तथापि वैसे सभी लक्षण सामने लगते है जो समय रहते हुए राज्य में पूर्व सावधानी के रूप में कदम उठाने की आवश्यकता का दिग्दर्शन करते है।

ग्रामीण बेरोजगारी

अब हम गुजरात के ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी के सवाल पर विचार करें। सन् १९५१ के प्रारम्भ में गुजरात की ग्रामीण आबादी १ करोड़ १८ लाख थी। इनमें करीब ५१-५२ प्रति शत व्यक्ति आर्थिक दृष्टि से सक्रिय श्रम-शक्ति में शामिल थे, जो कमाऊ अथवा कमाऊ आश्रितों की संख्या में आते थे। इस प्रकार गुजरात की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में श्रमिकों की भागीदारी ४४-४५ प्रति शत थी, यद्यपि राज्य में इनकी कुल भागीदारी कुल आबादी के २-३ प्रति शत जितनी कम थी। इन ५१-५२ लाख कर्मियों में से करीब ३९ लाख व्यक्ति या तो कृषकों अथवा फिर खेतिहर मजदूरों के रूप में कृषि में लगे थे। सन् १९५१ की जनगणना में घरेलू उद्योग का कोई हवाला नहीं है। इस प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों में कुल आर्थिक दृष्टि से सक्रिय श्रम-शक्ति में ७५ प्रति शत 'कर्मी' कृषि पर निर्भर करते थे।

अब यदि १९६१ में भी यही स्थिति रही होती तो यह देखना रुचिकर होगा कि ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगारी का आकार यानी विस्तार क्या होता। ग्रामीण क्षेत्रों में कुल जन-संख्या वृद्धि ३५ लाख हुई है। वह १ करोड़ १८ लाख से १ करोड़ ५३ लाख हो गयी है। स्पष्ट है कि ३५ लाख के ४५ प्रति शत अर्थात् १६ लाख लोग श्रम-शक्ति में और बढ़ जाने चाहिए थे, जिन्हें ग्रामीण क्षेत्रों में लाभदायक रोजगारी देनी होती। इन १६ लाख में से करीब १२ लाख कृषि क्षेत्र में आने चाहिए थे। इस प्रकार श्रम-शक्ति में करीब ६७ लाख व्यक्ति होते जिनमें से तकरीबन ५१ लाख कृषि क्षेत्र में लगे रहने चाहिए थे। इसके विपरीत स्थिति यह है कि ग्रामीण क्षेत्रों में आर्थिक दृष्टि से सक्रिय श्रम-शक्ति में लगभग ६९ लाख व्यक्ति हैं, इनमें से ५३ लाख मुख्यतः कृषि पर निर्भर है। कृषि में १२ लाख की सामान्य वृद्धि के स्थान पर करीब १४

लाख व्यक्ति नये शामिल हुए हैं, यद्यपि ग्रामीण क्षेत्रों में गैर खेतिहर क्षेत्र में आर्थिक दृष्टि से सक्रिय श्रम-शक्ति की वृद्धि १९५१ के अनुपात के समान ही रही है।

सार्थक रोजगारी

इसके अलावा तीन कारक ऐसे हैं, जिन्हें ध्यान में रखना पड़ता है। प्रथम, चूंकि गुजरात में शैक्षणिक स्तर ऊपर उठा है, अतएव ६ से १७ वर्ष के आयु वर्ग में आने और विभिन्न विद्यालयों में पढ़नेवाले युवक-युवतियों का प्रातिशत्य अब ज्यादा है। इस प्रकार सम्भवतः एक या दो लाख नये व्यक्ति शैक्षणिक संस्थाओं में लगे हुए हो सकते हैं। द्वितीय, चूंकि आबादी बढ़ रही है, इसलिए निचले आयु वर्गों में व्यक्तियों का अनुपात अधिक है। अतएव जन-संख्या का न्यून अनुपात श्रम-शक्ति के रूप में उपलब्ध है। तृतीय, कर्मियों की परिभाषा, विशेष कर महिलाओं के सम्बन्ध में १९५१ की जनगणना में बहुत उदार है। बिक्री या मजदूरी के लिए हाथ धान कुटाई, दूसरों के लिए मजदूरी पर घरेलू काम करने, पशुओं का ध्यान रखने, ईंधन बेचने या गोबर के उपले पाथने व बेचने जैसे कामों में लगी महिलाओं को 'कर्मी' या कामगार समझा गया था।

इसलिए श्रम भागीदारी का अनुपात एकसमान बना रहा है। यद्यपि अगर अन्य सभी क्षेत्रों में रोजगारी की स्थिति समान रही है तो १९५१ की तुलना में यह अनुपात कम रहना चाहिए था। इन सभी कारकों को ध्यान में रखते हुए ऐसा लगता है कि गुजरात में कृषि क्षेत्र में १४ लाख व्यक्तियों तक की प्रभावी रोजगारी में वृद्धि हुई है। इस प्रकार एक दशक में ३५ प्रति शत की वृद्धि का निदर्शन होता है।

गुजरात के ग्रामीण क्षेत्रों में गुप्त बेरोजगारी के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि यदि प्रति भले-चंगे शरीरवाले व्यक्ति के पीछे प्रयुक्त श्रम को मनुष्य घण्टों की शब्दावली में मापा जाय तो यह काफी कम होना चाहिए था। यदि कोई यह जानने की कोशिश करे कि काम करने के लिए इच्छुक व्यक्तियों से काम के लिए कितने मनुष्य घण्टे उपलब्ध हैं, तो यद्यपि समस्या का स्वरूप आज कुछ भिन्न है पर हो सकता है कि उसके परिमाण में कोई परिवर्तन न हो। इसके निम्न लिखित कारण हैं:

अ. गुजरात में कृषि क्षेत्र में की आमदनी में काफी वृद्धि हुई है; यह कहा जा सकता है कि १९५१–५२ से एक दशक की अवधि में यह वृद्धि १२० प्रति शत हुई है। कृषि उत्पादन प्रायः दुगुना हो गया है। कृषिक पद्धतियों और सुविधाओं में सुधार होने पर भी इस उत्पादन के लिए निश्चय ही मनुष्य घण्टों की दृष्टि से श्रम-शक्ति में ३५ प्रति शत से अधिक वृद्धि आवश्यक होगी।

आ. फसल पद्धति में परिवर्तन धान, मूंगफली, तम्बाकू आदि जैसी श्रम-प्रधान फसलों की दिशा में लगता है। जिस हद तक सिंचाई तथा उर्वरकों, कीट-नाशकों, कम्पोस्ट खाद के उपयोग आदि में वृद्धि हुई है उस सीमा तक कृषि में अधिक श्रम प्रयुक्त करने की आवश्यकता का निदर्शन होता है।

इ. कृषि उत्पादन के अलावा ग्रामीण क्षेत्रों में स्कूल, सड़क, सिंचाई, बाढ़ नियंत्रण, पानी की नालियाँ बनाने आदि जैसे मदों पर अधिक निवेश है, जिनके लिए इन सभी वर्षों में अधिक श्रम की आवश्यकता पड़ी।

शहरी क्षेत्रों में

अब हम राज्य के शहरी क्षेत्रों पर विचार करें। शहरों में रहनेवाली आबादी का कुल आबादी के प्रति अनुपात १९५१ में करीब २७ प्रति शत और १९६१में २५ प्रति शत था। यदि १९६१ की जनगणना में कस्बों की परिभाषा में तनिक परिवर्तन भी कर दिया गया है तो भी उक्त अनुपात से इस बात का संकेत मिलता है कि कम से कम गुजरात में शहरीकरण की वृद्धि तो नहीं

ही हुई है । पिछले दस वर्षों में राज्य की कुल शहरी आबादी में नौ लाख की बढ़ोतरी हुई है, जिसका मतलब है कि प्रति वर्ष एक लाख की वृद्धि भी नहीं हुई। साधारणतया भारत सहित एशिया के सभी देशों में शहरीकरण आबादी की करीब ६–७ प्रति शत दर की गति से बढ़ता है। सौभाग्य से गुजरात में यह झुकाव दृष्टव्य नहीं है। यद्यपि कुल आबादी में शहरी आबादी का अनुपात गुजरात में अखिल भारतीय अनुपात से अब भी अधिक है, तथापि ग्रामीण जन-संख्या का शहरी क्षेत्रों की ओर तीव्र पलायन नहीं है।

राज्य में कृषि की अत्यधिक उन्नति के कारण ऐसा हो सकता है। इसका कारण सम्भवतः यह भी हो सकता है कि १९३०–४० अथवा १९४०–५० के बीच की अवधि की अपेक्षा गाँवों की माली हालत कुछ अच्छी है। ग्रामीण क्षेत्रों में सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रीय विस्तार सेवा योजनाओं और शिक्षा, चिकित्सालय, भवन-निर्माण, यातायात आदि जैसे ऊपरी खर्च सम्बन्धी सामाजिक व आर्थिक कार्यक्रमों के जरिये विभिन्न प्रकार का काम मिलना भी किसी हद तक इसका कारण हो सकता है। यद्यपि हो सकता है कि गाँव अब भी लोगों को अपनी तरफ 'खींचने' में असमर्थ हों तथापि, अब वे उन्हें बाहर नहीं 'धकेलते'।

औद्योगिक क्षेत्र में धीमी प्रगति

अधिकांश शहरी व्यक्ति गैर खेतिहर धंधों में काम प्राप्त करना पसन्द करेंगे। इस संबंध में हम गुजरात की स्थिति की अखिल भारतीय स्थिति से तुलना कर सकते हैं। भारत में कुल शहरी आबादी ८ करोड़ ८० लाख है और गुजरात में ५३ लाख; इस प्रकार गुजरात की कुल शहरी आबादी अखिल भारतीय शहरी आबादी का करीब छः प्रति शत है। गैर खेतिहर काम-धंधों में इसका हिस्सा क्या है?

कामदिलाऊ दफ्तरों, घोषित रिक्त स्थानों और वर्गीकरण (प्लेसमेण्ट) के आंकड़ों से हमें शहरी क्षेत्रों में रोजगारी की स्थिति का पता लगता है। गुजरात का अनुपात करीब ६५ प्रति शत और अखिल भारतीय अनुपात लगभग ५८ प्रति शत है। दूकानों और प्रतिष्ठानों में रोजगारी के सम्बन्ध में यह कि १९६०-६१ में राज्य में २ लाख ४० हजार व्यक्ति लगे थे, जोकि अखिल भारतीय योग के करीब १६ प्रति शत है। भारत में करीब १० प्रति शत मजदूर गुरजरात के कारखानों में लगे हैं। बिजली खपत और औद्योगिक उत्पादन में राज्य का हिस्सा छः प्रति शत से अधिक है। इस प्रकार अखिल भारतीय शहरी रोजगारी की स्थिति की तुलना में गुजरात की शहरी आबादी की रोजगारी संबंधी अवस्था बेहतर समझी जा सकती है।

तथापि, यदि हम राज्य के औद्योगिक विकास में उपनतियों का परीक्षण करें तो खतरा स्पष्ट है। आय के आंकड़ों से पता लगता है कि औद्योगिक क्षेत्र में प्रगति बहुत ही धीमी रही है। प्रति व्यक्ति आय जोकि १९५४–५५ में २६७ रुपये (प्रचलित मूल्यों के आधार पर) थी १९५९–६० में बढ़ कर ३०६ रुपये हुई, जबकि अखिल भारतीय प्रति व्यक्ति आय १९५४–५५ में २५० थी वह १९५९–६० में ३०५ रुपये हो गयी। राज्य की कृषि आमदनी में उल्लेखनीय वृद्धि होते हुए भी उक्त बात घटी है।

साक्षरता और रोजगारी

बेरोजगारी की समस्या का सबसे महत्वपूर्ण पथ शिक्षित बेरोजगारी का है। राज्य में १९५१ में कुल ३७ लाख साक्षर थे। दस वर्ष की अवधि में यानी १९६१ में उनकी संख्या बढ़ कर करीब ६२ लाख हो गयी थी; जिसका मतलब है २५ लाख साक्षर व्यक्तियों की वृद्धि। चूंकि अधिकांश शिक्षित व्यक्ति गैर खेतिहर काम-धंधों में रोजगारी चाहते हैं, इसलिए साक्षरता में वृद्धि को शिक्षित बेरोजगारी की वृद्धि से जोड़ना समी-

चीन ही है। सन् १९५१ में गैर खेतिहर काम-धंधों पर निर्भर व्यक्तियों की संख्या करीब २५ लाख थी जबकि राज्य में साक्षर व्यक्तियों की संख्या ३७ लाख थी। यदि समूचे दशक में एक समान अनुपात कायम रहा तो इसका मतलब है कि १९६१ में लगभग ४० लाख व्यक्ति गैर खेतिहर कामों में लगे हुए थे। तथापि, हम देखते हैं कि गैर खेतिहर काम-धंधों में राज्य में २८–२९ लाख व्यक्ति लगे थे। चूंकि १९५१ से साक्षर व्यक्तियों का अनुपात बढ़ता रहा है, इसलिए तुलनात्मक दृष्टि से छात्रों का अनुपात भी अधिक हो सकता है। हम कह सकते हैं कि छः-सात लाख विद्यार्थी नये भर्ती हुए। फिर भी चार-पाँच लाख साक्षर व्यक्ति बँच रहते हैं जिन्हें हो सकता है कि काम न मिला हो और वे कृषि क्षेत्र पर ही निर्भर रह सकते हैं अथवा हो सकता है कि गैर खेतिहर काम-धंधों में लगे हों। कुल मिला कर चार-पाँच लाख साक्षर बेरोजगार रहे। उक्त विश्लेषण से यह इंगित होता है कि राज्य में शिक्षित व्यक्तियों को इतर खेतिहर काम-धंधों में लगाने की एक बहुत ही गम्भीर समस्या सामने आयेगी।

इस प्रकार गुजरात में खतरा शिक्षित बेरोजगारी का है। जिस महत्वपूर्ण समस्या पर तत्काल ध्यान दिये जाने की आवश्यक है, वह जन-संख्या वृद्धि की दर अथवा शहरीकरण की गति की इतनी नहीं है जितनी कि बढ़ते हुए शिक्षित बेरोजगारों को काम देने की है। इसे बिना कोई देर किये हल करना चाहिए। गाँवों में शिक्षित बेरोजगारी की वृद्धि स्पष्ट रूपेण ग्रामीण क्षेत्रों में उद्योगों का विकास करने की आवश्यकता प्रकट करती है।

वल्लभ विद्यानगर (गुजरात) : २९ अक्तूबर १९६३

राज्य का क्षेत्रफल ७२,१४० वर्ग मील है और आबादी २ करोड़ ६ लाख। प्रति वर्ग मील आबादी घनत्व २८६ के लगभग आता है, जबकि अखिल भारतीय औसत ३७३ है। सौराष्ट्र की अपेक्षा राज्य का पूर्वी आधा हिस्सा अधिक घना बसा है। अपेक्षाकृत अनुकूल कृषिक अवस्थाएँ और अधिक औद्योगिक विस्तार सम्भवतः इसके कारण हैं। इस प्रक्षेत्र में सर्वाधिक घने बसे जिले हैं: खेड़ा, अहमदाबाद, सूरत और बड़ोदा।

—टेक्नो-इकनॉमिक *सर्वे* ऑफ गुजरात : नेशनल काउन्सिल ऑफ अप्लाइड इकनॉमिक रिसर्च, नयी दिल्ली।

ग्राम पंचायतों को प्राणवान बनाने का कार्यक्रम

राम दास

सन् १९५९ में उत्तर प्रदेश की प्लानिंग रिसर्च एण्ड एक्शन इंस्टीट्यूट ने ग्राम पंचायतों के लिए एक मार्गदर्शी परियोजना का आरम्भ किया ताकि ऐसे तरीके व तकनीकें निकाली जा सकें जिनके जरिये उन्हें ग्राम विकास में अधिक सक्रिय योगदाय देने लायक बनाया जा सके। लखनऊ जिले के जिन पाँच गाँवों में यह मार्गदर्शी परियोजना चली, उसके अनुभव बताते हैं कि कार्यक्रम की सफलता पंचायत के सदस्यों को अपना कार्य सुयोग्य ढंग से चलाने की विधि सिखाने में ही निहित है।

सन् १९४९ में पंचायत राज अधिनियम उत्तर प्रदेश में लागू किया गया। इसके प्रावधान के अन्तर्गत करीब ३६,००० गाँव समाओं* का ग्रामीण क्षेत्रों में संगठन किया गया और १,००० अथवा अधिक आबादी-वाले प्रत्येक राजस्व ग्राम को अधिनियम के अन्तर्गत निर्देशित अपने नागरिक और विकास कार्यों को कार्यान्वित करने हेतु पंचायत नामक कार्यकारिणी सभा बनानी होती थी। प्रत्येक गाँव सभा ने १५ से ३० सदस्यों की कार्यकारिणी सभा का गठन गाँव के विभिन्न कार्यों को कार्यान्वित करने के लिए किया। करीब दस वर्षों तक इन पंचायतों के काम करने के बाद यह पाया गया कि कुछ पंचायतें ही उचित ढंग से काम कर सकीं तथा बाकी ने अपनी जिम्मेदारियों को निभाने में कोई खास दिलचस्पी नहीं ली। स्थिति बिगड़ने लगी और इन बुनियादी संस्थाओं को प्राणवान बनाने की दिशा में ध्यान दिया जाने लगा ताकि वे अधिनियम में बताये गये अनुसार ग्रामीणों की आवश्यक सेवा कर सकें। कुछ लोगों का मत था कि चूँकि गाँव सभा का क्षेत्र बहुत बड़ा है अतः पंचायतों का कार्यक्षेत्र कम करना अच्छा होगा और २५० या उससे अधिक आबादीवाले राजस्व गाँवों को अपनी पंचायत खुद चुनने का अधिकार दे दिया गया। इस प्रावधान से गाँव सभाओं की संख्या बढ़ कर करीब दूनी हो गयी और अब उत्तर प्रदेश में ७२,००० से भी अधिक गाँव सभाएँ हैं।

समस्या के प्रकार

इससे वर्तमान अवस्था में कोई सुधार नहीं हुआ। आवश्यकता थी कि ग्राम पंचायतों की कार्य प्रणाली का अध्ययन किया जाय तथा ऐसी पद्धतियाँ और प्रविधियाँ निकाली जायें जिनके जरिये उन्हें विभिन्न नागरिक और विकास कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने हेतु प्राणवान संस्थाओं में परिणत किया जा सके। इस तरह के कई उदाहरण उपलब्ध हैं कि करीब दस वर्ष कार्य करने के बाद भी पंचायतें अपने साधनों का वांछित सीमा तक उपयोग नहीं कर सकीं और इस प्रकार गाँवों में विकास कार्यक्रमों को किसी खास हद तक कार्यान्वित नहीं कर सकीं। चिनहट गाँव (लखनऊ से लखनऊ-फैजाबाद हाइवे पर सात मील दूर बसा हुआ) और इसमें से चार और गाँव (चिनहट से २.५ मील त्रिज्या के अन्दर) सामान्यतया ऐसी ही अवस्था में थे। मूल्यांकन कर लोगों ने नहीं चुकाये, क्योंकि इन गाँवों में न तो पंचायत राज अधिनियम ही लागू हुआ और शायद ही कोई काम आरम्भ या पूरा किया गया। पंचायत राज निर्देशक ने सन् १९५९ में एक बार यों ही कहा था कि यदि

* उत्तर प्रदेश में गाँव सभा राजस्व ग्राम है। मूल अधिनियम के अन्तर्गत गाँव सभा का गठन १,००० या उससे अधिक आबादीवाले गाँव अथवा ग्राम-समूह के लिए किया गया। संशोधित अधिनियम के अन्तर्गत गाँव सभा का गठन २५० या उससे अधिक आबादीवाले गाँवों के लिए किया जाता है।

चिनहट और उसके निकटस्थ गाँवों को सक्रिय बनाया जा सके, तो सम्भवतः राज्य की सभी पंचायतों को उसी पद्धति से मजबूत बनाया जा सकता है। यह एक चुनौती थी, जिसके लिए विचार, कार्यक्रम, आयोजन, कार्यान्विय तथा शिक्षा की ठोस पद्धति विकसित करने की आवश्यकता थी, जोकि राज्य में हर जगह प्रयुक्त की जा सके।

मार्गदर्शी परियोजना

सन् १९५९ में उत्तर प्रदेश की प्लानिंग रिसर्च एण्ड एक्शन इंस्टीट्यूट ने ग्राम पंचायतों के लिए एक मार्गदर्शी परियोजना वैसी पद्धतियाँ और प्रविधियाँ विकसित करने हेतु हाथ में ली जिससे कि ग्रामीण क्षेत्रों के विकास में ग्राम पंचायतें अधिक सक्रिय और योग्य ढंग से भाग ले सकें। इसी क्रम में पंचायत सदस्यों की शिक्षा हेतु एक कार्यक्रम पाँच गाँवों में आरम्भ किया गया। वे गाँव थे—चिनहट, इसमाइलगंज, मतियारी, उत्तर धौना और मलहौर। परियोजना के मुख्य उद्देश्य हैं:

१. सर्वाधिक जागरूकता : सदस्यों को गाँवों के विकास में ग्राम पंचायतों के महत्वपूर्ण कार्य की जानकारी देने तथा उनके कार्यों में सक्रिय सहयोग देने को उत्साहित करने हेतु।

२. पर्याप्त ज्ञान : विशेष कर सदस्यों को और सामान्यतया जनता को पंचायत संगठन के सम्बन्ध में आवश्यक ज्ञान देने हेतु।

३. सदस्यों की जिम्मेदारी : पंचायतों द्वारा स्थानीय साधनों के जरिये प्रवर्तित विकास योजनाओं के आयोजन और कार्यान्विय में पहल करने के लिए निश्चयात्मक रूख विकसित करने हेतु।

४. कार्यकारी नेतृत्व विकसित कर, पंचायतों को सामुदायिक विकास कार्यक्रम की शक्तिशाली इकाइयाँ बनाना।

कार्यारम्भ इन पाँच ग्राम पंचायतों की संयुक्त समिति बना कर किया गया, जिसमें हर ग्राम पंचायत के सरपंच, प्राथमिक विद्यालय के प्रधान शिक्षक, ग्राम सहकारिताओं के अध्यक्ष और युवक मंगल दल के नेता शामिल थे। इस परियोजना सम्बन्धी सभी शैक्षणिक कार्य संयुक्त समिति के समक्ष विचारार्थ और उसके विचार जानने के लिए प्रस्तुत किये गये।

क्षेत्र में प्रयोग करने के बाद पंचायत सदस्यों के लिए १२ पाठ तैयार किये गये और उन पाठों तथा सिनेमा के जरिये पंचायत सदस्यों को प्रशिक्षित किया गया। पाठों में पंचायत के कार्य, पंचायत सदस्यों तथा अधिकारियों के कर्तव्य और उत्तरदायित्व, साधनों के स्थान तथा उनका उपयोग, बही-खाता रखना, चुनाव और उनका महत्व, सामुदायिक कार्य आदि शामिल थे। पाठों का जनता पर अच्छा प्रभाव पड़ा। पिछले ८-१० वर्षों के बाकी कर लोगों ने चुका दिये। कुछ सामुदायिक कार्य भी आरम्भ किये गये तथा उन्हें पूरा कर दिया गया। सदस्यों के सामान्य ज्ञान में वृद्धि हुई। ग्राम संस्थाओं के कार्य में लोग अधिकाधिक सहयोग देने लगे। लोग पंचायतों के काम में दिनोंदिन अधिक दिलचस्पी लेने लगे। पंचायतों की मासिक बैठकें प्रचलित होने लगी और उनमें उपस्थिति भी बढ़ने लगी।

पंचायत उद्योग

एक बैठक में संयुक्त समिति के सदस्यों ने यह विचार प्रकट किया कि परियोजना क्षेत्रों की ग्राम पंचायतों के संयुक्त प्रयास से कोई आर्थिक कार्यक्रम आरम्भ किया जाना चाहिए ताकि पंचायतों के साधन सुधरें जिसके जरिये चन्द सामुदायिक कार्य पूरे किये जा सकें। संयुक्त समिति के सुझावों पर प्लानिंग रिसर्च एण्ड एक्शन इंस्टीट्यूट के निर्देशक तथा उत्तर प्रदेश सरकार के पंचायत राज निर्देशक ने विचार किया और पंचायत उद्योग आरम्भ करने का विचार पैदा हुआ।

यह तय हुआ कि चिनहट में एक पंचायत उद्योग शुरू किया जाय, जिसमें प्लानिंग रिसर्च एण्ड एक्शन इंस्टीट्यूट द्वारा तैयार किये गये नमूने के शौच-साँचों

आदि को तैयार करने का काम लेना चाहिए। उद्योग के आरम्भ करने में मुख्य कठिनाई यह थी कि ग्राम पंचायत के पास निधि नहीं थी। इस कठिनाई को दूर करने के लिए हर पंचायत को पंचायत राज निर्देशक की सम्मति से जिला ग्राम निधि में से ५०० रुपये ऋण स्वरूप स्वीकृत किये गये। इस्माइलगंज ग्राम पंचायत ने अपने स्रोतों से ३०० रुपये और दिये। इस प्रकार १६ सितम्बर १९६० को २,८०० रुपये की प्रारम्भिक पूंजी से पंचायत उद्योग का आरम्भ गाँवों में सम्पत्ति निर्माण और औद्योगिक कार्यक्रम के साथ-साथ रोजगारी के पथ प्रशस्त करने के लिए किया गया।

पंचायत उद्योग का आरम्भ छाये हुए कच्चे मकान में आरम्भ किया गया, जिसे १२ रुपये मासिक किराये पर लिया गया था। सितम्बर १९६० से ३१ मार्च १९६३ के बीच अर्थात् ढाई साल ही छोटी-सी अवधि में उद्योग ने करीब १,७०,००० रुपये की वस्तुएँ तैयार की, जिनमें से १,६५,००० रुपये के सामान व्यक्तियों तथा खंडों को, राज्य के अन्दर तथा बाहर, बेच दिये गये। अब उद्योग के पास ५०,००० रुपये की अपनी संचालन पूँजी है। प्रारम्भ में सिर्फ ३ व्यक्तियों को ही रोजगारी मिलती थी, जबकि अब ५० व्यक्तियों को रोजगारी देने की क्षमता है।

पंचायत उद्योग के मुख्य कार्य हैं: (१) पी. आर. ए. वाय. किस्म के शौचालय, शौचालय-अंग और सांचे बनाना; (२) सीमेंट की वस्तुओं का निर्माण, जैसे रोशनदानों, नाले की नलियाँ, घेरे के खम्भे, गमले और चकले; (३) पनचक्कियाँ तथा जल खींचने के अन्य यंत्र; (४) कृषि सरंजामों का निर्माण जैसे पी. आर. ए. वाय. किस्म के बहुद्देशीय हाल, हल, सिंह पटेला आदि; (५) पी. आर. ए. वाय. किस्म के रिंग वेल बनाने के लिए सांचे का निर्माण; (६) रेडीमेड कपड़े की सिलाई; (७) चिकन काम; (८) ग्राम पंचायतों के जरिये लघु सिंचाई कार्यक्रम का कार्यान्वय; और (९) चिनहट स्थित सरकारी मार्गदर्शी कुम्हारी केन्द्र के सामान की बिक्री करना।

प्रत्येक पंचायत के प्रतिनिधि सदस्यों से बनी संयुक्त समिति अब तक केन्द्र के कार्य की देख-रेख करती आ रही है। समिति की बैठक हर महीने होती है। पंचायत उद्योग के हिसाब समिति के समक्ष जाँच और स्वीकृति के लिए पेश किये जाते हैं। समिति सदस्य पंचायत उद्योग के कार्य देखते हैं और भविष्य के लिए सुझाव देते हैं। अब उद्योग के पास अपने कर्मचारी हैं और प्लानिंग रिसर्च एण्ड एक्शन इंस्टीट्यूट उसे तकनीकल मार्गदर्शन देती है।

भावी योजनाएँ

अब तक पंचायत उद्योग के लाभों को अतिरिक्त व्यावसायिक गतिविधियों में लगा दिया गया है। लगभग ७०० रुपये दो गाँवों के सामुदायिक कार्यों में खर्च किये गये हैं। इस वर्ष ऋण चुकाने के बाद कुछ निधि ग्राम सामुदायिक कार्य में खर्च करने का प्रस्ताव है।

उपर्युक्त नौ कार्यों के अलावा उद्योग में ये कार्य आरम्भ किये जायेंगे तथा इस वर्ष पूरे किये जायेंगे: (१) चूँकि पंचायत उद्योग की गतिविधियाँ बढ़ती जा रही हैं, अतः अभी किराये पर ली गयी जगह उसके अनुपात में अपर्याप्त है। चिनहट ग्राम पंचायत ने भवन निर्माण के लिए एक टुकड़ी जमीन दान दी है। उसमें दो सायबान और तीन दुकानें खोली जाने का विचार है। (२) उद्योग में काम करने की इच्छुक ग्रामीण महिलाओं के लिए सिलाई काम सिखाने के लिए एक प्रशिक्षण शिविर चलाया जायेगा। इसकी व्यवस्था उद्योग विभाग की सहायता से की जायेगी। (३) उत्तर प्रदेश खादी तथा ग्रामोद्योग बोर्ड की मदद से एक साबुन और ग्रामीण घानी इकाई भी शीघ्र ही खोली जायेगी। उद्योग को बोर्ड से कुछ सहायता प्राप्त हो चुकी है। (४) गोबर गैस संयंत्र के लिए गैस-होल्डर का निर्माण। (५) लाल मिट्टी के बर्तन बनाने का काम। लाल मिट्टी के बर्तन पकाने के लिए पी. आर. ए. वाय. किस्म की नयी भट्ठी बनायी जा रही है। (६) चमड़ा काम। (७) उपभोक्ता भंडारों का आरम्भ।

चिनहट पंचायत उद्योग के कार्य का अनुभव बहुत प्रोत्साहक रहा है। उद्योग में चल रहे कार्य तो जारी रहेंगे ही, यह भी आवश्यक समझा गया कि उक्त इंस्टीट्यूट में किये गये अनुसंधान के अनुकूल परिणामों, खोजों और तकनीकों की राज्य के अन्य प्रतिनिधि क्षेत्रों में चन्द परीक्षण परियोजनाएँ आरम्भ कर जांच की जा सकती है। यह अत्यावश्यक ह, क्योंकि हम अपने परीक्षण क्षेत्रों में स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप सम्भव होने पर वांछित संशोधन कर सकते हैं। परिणामों का पूर्ण परीक्षण हो जाने के बाद ही बड़े पैमाने पर इस कार्यक्रम को विस्तृत करने के लिए कार्यकारी माध्यमों को सुझाव दिये जाते हैं। दस परीक्षण परियोजनाएँ चलाने के लिए पंचायत राज निर्देशक ने प्लानिंग रिसर्च एण्ड एक्शन इंस्टीट्यूट के निर्देशक को प्रत्येक सम्भाग के एक-एक जिले में पंचायत उद्योग प्रारम्भ करने के लिए दस पंचायत निरीक्षक दिये।

इन नये पंचायत निरीक्षकों को चिनहट के पंचायत उद्योग में प्रशिक्षण दिया गया और उन्हें इस तरह के केन्द्र चलाने के लिए पूर्ण जानकार बनाया जाता है। इसके अतिरिक्त उन्हें पंचायत सदस्य के शिक्षा कार्यक्रम के अन्तर्गत प्रशिक्षण दिया गया ताकि वे पंचायत सदस्यों को अपना कार्य योग्य ढंग से करने का तरीका सिखा सकें।

अभी निरपेक्ष रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि ग्राम पंचायतों को प्राणवान बनाने के लिए विकसित वर्तमान पद्धति हर जगह प्रभावशाली सिद्ध होगी, परन्तु अब तक अनुभवों और पंचायत सदस्यों तथा अधिकारियों को प्राप्त ज्ञान के आधार पर यह समझना गलत नहीं होगा कि यह पंचायतों को उचित ढंग से कार्य करने का रास्ता दिखा सकती है। तथापि, "पंचायत सदस्य शिक्षा कार्यक्रम" ग्राम पंचायतों की सफलता का साधन होगा। सीमित साधनों के बावजूद पंचायत जनता को लाभ पहुँचानेवाली योग्य संस्था बन सकती है बशर्ते कि पंचायत के सदस्य लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के दौरान उन्हें सौंपी गयी जिम्मेदारी को अच्छी तरह समझें तथा निबाहें। अगर सदस्य इस नयी चुनौती को स्वीकार कर लेते हैं तथा आवश्यक समझ-बूझ और अपने कर्तव्य को पूरा करने का साहस रखते हैं, जोकि 'सदस्य शिक्षा' पाठ और समूह चर्चा से मिलेगा तो वर्तमान संस्था ग्रामीणों में नयी आशा, नव जीवन और नयी समझ-बूझ का संचार करेगी।

लोकतंत्र का सम्पूर्ण भवन बहुत ही दृढ़ आधार पर बनाना है और वह आ ार है ग्राम सभा तथा ग्राम पंचायत। अत: इन संस्थाओं को शैक्षणिक, आर्थिक और सांस्कृतिक रूप से सुसज्जित करना है ताकि भीषण विपत्ति के दिनों में भी वे अपनी दृढ़ता और योग्यता अचल रखें और इस प्रकार देश में लोकतांत्रिक कार्य के मुख्य स्तम्भ बनी रहें।

लखनऊ : २४ मई १९६३

अनुमानतः १९५५–५६ में २९ लाख व्यक्ति वाणिज्य, परिवहन, प्रशासन, शिक्षा तथा अन्य सेवाओं में काम कर रहे थे। उनका विशुद्ध उत्पादन ४ अरब २७ करोड़ २० लाख रुपये का माना जाता है। तृतीय श्रेणी की गौण सेवाओं के विभाग में रोजगारी प्राप्त कुल व्यक्तियों के २० प्रति शत से कुछ कम को काम मिला और कुल उत्पादन में उनका हिस्सा ४३ प्रति शत से कुछ कम था। इसी सम्बन्ध में अखिल भारतीय अनुपात क्रमशः १८ और ३६ प्रति शत था।

—टेक्नो-इकनॉमिक सर्वे ऑफ महाराष्ट्र : नेशनल कॉउन्सिल ऑफ अप्लाइड इकनॉमिक रिसर्च, नयी दिल्ली।

रेशम कीट-पालन : समस्याएँ और सम्भाव्यताएँ

यद्यपि संसार में भारत सबसे बड़ा चौथा रेशम उत्पादक देश है और जलवायु तथा अन्य बातों की दृष्टि से भी वह अनुकूल स्थिति में है, तथापि विश्व कोया-उत्पादन में उसका योगदान मात्र आठ प्रति शत है और कच्चे रेशम सम्बन्धी अपनी आवश्यकताओं के लिए वह आयात पर निर्भर करता है। प्रस्तुत लेख में द्वितीय विश्वयुद्ध से लेकर उद्योग किन स्थितियों से हो कर गुजरा है तथा खादी और ग्रामोद्योग कमीशन एवम् केन्द्रीय रेशम मण्डल ने जो प्रयत्न किये हैं उनका मूल्यांकन किया गया है। यह लेख अंशतः कमीशन के विशेषाधिकारी (रेशम) श्री सत्य रंजन सेन द्वारा प्रस्तुत 'नोट' पर आधारित है।

भारत में सदियों से रेशम कीट-पालन ग्रामीण परम्परा का एक अंग रहा है। उन्नीसदीं शताब्दी में देश के रेशम उद्योग ने चारों ओर प्रशंसा प्राप्त की। सन् १८६६–७० की अवधि में भारत से औसतन १५ लाख ५० हजार पौण्ड रेशम प्रति वर्ष विदेशों को निर्यात होता था। तथापि, उक्त शताब्दी का अन्त होते-होते भारत ने अपना निर्यात व्यापार खो दिया और उद्योग विघटित हो गया।

द्वितीय महायुद्ध के दौरान अपने खुद के स्वार्थ को ध्यान में रखते हुए अंग्रेजी सरकार ने पैराशूट बनाने के लिए उपयुक्त कच्चा रेशम तैयार करने के हेतु रेशम उद्योग को प्रोत्साहन देने की कोशिश की। उत्पादन पर नियंत्रण होता था और फिलेचर रेशम (प्रतिरक्षा केन्द्रों द्वारा अस्वीकृत की गयी नगण्य मात्रा को छोड़ कर) नागरिक बाजार के लिए उपलब्ध नहीं था। यद्यपि रेशम के लिए बहुत मांग थी और बाजार में मूल्य बहुत ही आकर्षक थे, तथापि उत्पादन पर विभिन्न प्रकार की सीमाएँ होन के कारण उद्योग विकसित नहीं हो सका। सरकार ने रेशम के कोयों की कीमत भी नियंत्रित करने की कोशिश की और सर्वोत्तम श्रेणी के कोये फिलेचर रेशम कारखानों के लिए संग्रहीत किये जाते थे। परिणाम यह निकला कि सर्व प्रथम चरखा संस्थाओं की प्रगति रुक गयी; द्वितीय, ऐसे दोषपूर्ण कोयों के कारण जोकि अच्छे गुण-स्तर के रेशम उत्पादन के लिए उपयुक्त नहीं थे, देश के फिलेचर संस्थान बहुत अच्छी जात का रेशम पर्याप्त मात्रा में उत्पादित नहीं कर सके; तृतीय, सर्वोत्तम जात का रेशम पैराशूट रेशम के उत्पादन और अन्य युद्ध सामग्री के लिए रेशम मिलों को भेजा जाता था; चतुर्थ, हाथ करघा बुनकरों को फिलेचर संस्थानों द्वारा अस्वीकृत और बहुत ऊँची कीमतों पर बेचे गये निम्न श्रेणी के रेशम तथा चरखा संस्थानों एवम् कोयों–जिनकी पूर्ति कम थी और इसलिए वे बहुत ही मंहगी कीमत पर बेचे जाते थे–से प्राप्त निम्न कोटि के कच्चे रेशम पर निर्भर रहना पड़ता था। फलस्वरूप हाथ बुने वस्त्रों का गुण-स्तर गिर गया और उनकी कीमतें बढ़ गयीं। इतना होने पर भी चूंकि उपभोक्ता की क्रय-शक्ति बढ़ गयी थी, इसलिए उन्हें अच्छा बाजार प्राप्त था।

सरकार की भूमिका

सन् १९४५ में सरकार को उद्योगों के विकास के संबंध में सिफारिश करने हेतु उसने कई 'पैनल' नियुक्त किये। रेशम उद्योग सम्बन्धी 'पैनल' ने ये सिफारिशें कीं : शहतूती खेती की तरक्की; रोग मुक्त बीजों की पूर्ति और गुण में सुधार; रेशम कोया-रोगों पर नियंत्रण, कीट-पालन, रेशम लपेटाई, संगठन और बिक्री-व्यवस्था आदि में सुधार। 'पैनल' का मत था कि सरकार ये सुनिश्चित करने के लिए कदम उठाये कि उद्योग में सभी श्रेणियों के कार्यकर्त्ताओं को इस प्रकार की आमदनी हो जो काम को जारी रखने और उसमें सुधार करने

के लिए उत्प्रेरणा देन हेतु पर्याप्त हो। जब कोई उद्योग बुरे दिनों से हो कर गुजर रहा हो तो सबसे ज्यादा आवश्यकता सरकारी सहायता की ही होती है। जापान इसलिए प्रमुख रेशम उत्पादक देश बन सका कि उसने रेशम कीट-पालन सम्बन्धी सभी समस्याओं का पचास वर्ष से भी अधिक समय तक वैज्ञानिक अध्ययन किया। इसके अतिरिक्त जब कभी जापान में इस उद्योग पर संकट आया तो वहाँ की सरकार ने अपने सभी साधन-स्रोत लगा कर उसकी सहायता की। सरकार ने जापानी रेशम उद्योग को भारतीय तथा अन्य विदेशी बाजार प्राप्त करने के लिए रेशमी वस्त्रों को उनके लागत मूल्य से भी कम कीमत पर बेचने में मदद दी।

भारत में रेशम उद्योग को प्रोत्साहन देने तथा विकसित करने के लिए १९४९ में केन्द्रीय रेशम मण्डल की स्थापना हुई। मंडल के पास अपने क्षेत्रीय कर्मचारी नहीं हैं और वह राज्य सरकारों के सम्बद्ध विभागों के जरिये काम करता है। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन तथा सम्बद्ध संस्थाओं और पश्चिम बंगाल सरकार के उद्योग निर्देशक व सम्बद्ध संगठनों ने केन्द्रीय रेशम मंडल के रेशम कीट-पालन विभाग के साथ सक्रिय रूप से सहयोग करने का प्रयत्न किया। रेशम कीट-पालन विभाग द्वारा प्रदत्त सहायता प्रात्यक्षिक, व्यावसायिक कोया-पालकों को उन्नत कलम और रोग मुक्त बीज सप्लाई करने और लपेटाई तथा कोया-पालन की उन्नत प्रक्रियाएँ प्रारम्भ करने के लिए ऋण व अनुदानों तक ही सीमित है। यह पौध घर भी चलाता तथा अनुसंधान करता है, किन्तु कोया-पालकों, लपेटकों और बुनकरों तक नहीं पहुँच पाता जिससे कि उनकी वित्त, कच्ची सामग्री, बाजार आदि सम्बन्धी समयाएँ हल की जा सकें। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन तथा राज्य उद्योग निर्देशालयों के कुटीर विभागों की योजनाएँ राज्यों में रेशम कीट-पालन उद्योग के इस पहलू तक पहुँचने की कोशिश करती हैं और इस प्रकार रेशम उद्योग की समस्याएँ हल करने के लिए एक नये उपागम और नयी संगठनात्मक तकनीक का प्रतिनिधित्व करती हैं।

रेशम कीट-पालन एक ऐसा उद्योग है जो ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों में विभिन्न वर्ग के लोगों द्वारा संचालित विभिन्न उद्योगों द्वारा विभिन्न स्थानों पर चलाया जाता है। शहतूत पर जीवित रहनेवाला पतंग (मौथ) रेशम का प्रमुख स्रोत है। मादा पतंग ४०० से ५०० तक अंडे देती है। इन अंडों से प्राप्त कीड़े शहतूत की पत्तियाँ खा कर रहते हैं और चार सप्ताह में शुरू में उनका जो आकार होता है उससे कोई दस हजार गुने बढ़ जाते हैं। इन कीड़ों के विकास की पांच अवस्थाएँ हैं जो अलग-अलग की जा सकती हैं। प्रथम तीन अवस्थाओं में विशेष सावधानी की जरूरत पड़ती है; क्योंकि इस काल में उनकी मृत्यु-दर सर्वाधिक होती है। जब उनका पालन-पोषण पूरा हो जाता है तो उन्हें बांस अथवा तृण के चन्द्रिके में रखा जाता था वहाँ वे कुछ ही दिनों में कोये तैयार कर लेते हैं और उनमें सो जाते हैं। दस बारह दिन बाद लारवा पतंगे में रूपांतरिक हो जाता है जोकि कोयों को बेधता है। तथापि, अन्तिम अवस्था तक पहुँचने से पहले कोये लपेटकों को स्थानांतरित कर दिये और बेच दिये जाते हैं। एक कोये में औसतन रूप से ५०० गज रेशम सूत होता है। सन् १९५४ से १९६० तक का विश्व कोया उत्पादन अगले पृष्ठ पर तालिका १ में दिया जाता है।

कोये से रेशम के धागे को उधेड़ने और उसे अलग से लपेटने को लपेटाई (रीलिंग) कहते हैं। यह काम या तो यंत्रों द्वारा होता है या फिर हस्त-चालित चरखों से। इस प्रकार से लपेटा हुआ सूत या तो बुनाई के काम में लिया जाता है अथवा बुनाई से पहले उसकी और आगे की प्रक्रियाएँ (मरोड़ने, धोइंग आदि प्रक्रियाओं के जरिये) की जाती हैं। रेशम छीजन अर्थात् वह रेशम जोकि लपेटा नहीं जा सके और लपेटाई प्रक्रियाओं के दौरान टूटा हुआ रेशम, बुनाई के लिए सूत प्राप्त करने हेतु काता जाता है।

इस प्रकार रेशम उत्पादन में पांच सोपान हैं: शहतूत की खेती, रेशम कीट-पालन, कोयों से रेशम लपेटना, रेशम को मरोड़ना और कता रेशम तथा बुनाई।

तालिका १

विश्व कोया उत्पादन

(टन में)

देश	१९५४	१९५५	१९५६	१९५७	१९५८	१९५९	१९६०
ब्राजील	१,०२३	१,०२३	१,०२३	७०१	४४२	१,०१७	१,०१७
बल्गेरिया	२,५६४	२,०३६	२,१८७	१,६७०	२,०४८	२,१५२	१,६०२
चीन	६५,०००	६७,०००	७२,५००	६८,०००	८४,५००	८०,६००	१,८०,६००
बेलजियन कांगो	१००	१००	१००	१००	१००	१००	१००
दक्षिण कोरिया	४,०००	६,५३६	५,९३३	५,७५५	५,६७०	५,४७७	४,६००
स्पेन	५६६	५०२	६२८	५६०	४८०	४८०	४९८
फ्रांस	२८५	२८८	१८८	११२	१००	८५	६१
यूनान	१,२००	१,२००	७८०	९२५	८७४	५१४	४९०
हंगरी	३६०	३६०	३६०	३६०	३६०	३६०	३६०
भारत	१९,२२५	१८,२०७	१८,४३७	२१,७४०	१९,७३८	२०,०१०	१९,९१८
हिन्द चीन	२४०	२४०	२४०	२४०	२४०	२४०	२४०
इरान	२,००२	२,४६५	२,८८०	२,२१३	१,८७३	१,८७३	१,८७३
इटली	१२,११९	९,३६८	८,४५२	८,९४३	७,०४३	६,८५५	६,१११
जापान	१,००,३१४	१,१४,३७३	१,१२,५००	१,१९,४५३	१,१५,७२४	१,१०,८५४	१,११,२८०
लेबनान	३००	३००	३००	३००	२००	२००	२००
पोलैण्ड	१६०	११९	९७	६९	६१	२७	९०
रूमानिया	१२०	१२०	१२०	१२०	१२०	१२०	१२०
सीरिया	१२५	१८०	१८०	१८०	१८०	१८०	१८०
तुर्की	३,१००	१,९७९	२,२७२	२,७८०	२,९९४	२,८८०	२,८८०
रूस	२६,०००	२४,५७७	२८,१००	२६,०००	२८,९००	२९,०००	२९,०००
युगोस्लाविया	५००	५००	५००	४५०	७२०	७२०	७२०
योग	२,३९,३०३	२,५१,७२२	२,५७,७७७	२,६०,३३१	२,७३,३६३	२,६३,७९४	२,६१,८६८

स्रोत : केन्द्रीय रेशम मण्डल : सेरीकल्चर इन जापान; १९६१; पृष्ठ : ९४।

स्पष्टतः कच्चे रेशम का गुण-स्तर उक्त प्रक्रियाओं संबंधी प्रत्येक सोपान में कुशल नियंत्रण और देखभाल पर निर्भर करता है। उद्योग में शहतूत की पत्तियों के गुण-स्तर तथा परिमाण, दोनों का ही महत्वपूर्ण स्थान है; क्योंकि इनका रेशम कीड़े के गुविकास पर असर पड़ता है। इस प्रकार रेशम कीट-पालन में शहतूत की बागवानी का प्रमुख स्थान है। इस पक्ष से भी उद्योग को कृषि प्रधान होने का गुण प्राप्त होता है।

शहतूत की पत्तियों की प्रति एकड़ उपज करीब १० हजार पौण्ड वार्षिक है। साधारणतया वर्ष में चार फसलें होती हैं। औसतन रूप से एक पौण्ड पत्तियों के उत्पादन पर ३ से ५ नये पैसे तक खर्च बैठता है।

फिलहाल देश के उत्पादन में करीब ९५ प्रति शत हिस्सा 'निस्ट्री' कोयों का है। यह एक देशी 'मल्टीवोल्टाइन' प्रजाति है जोकि बीमारियों तथा उच्च ग्रीष्म-कालीन तापमान की प्रतिरोधी है। तथापि, इन कोयों से लपेटा गया रेशम एक समान स्तर का नहीं होता और उनकी संतन्तु लम्बाई भी बहुत अधिक नहीं होती। (जापानी किस्म की लम्बाई ६४४ मीटर होती है, जबकि इसकी लम्बाई २६० मीटर के करीब होती है।) एक पौंड कच्चे रेशम की लपेटाई के लिए आवश्यक कोयों की मात्रा भी बहुत अधिक होती है। (इस सम्बन्ध में उन्नत किस्म के ८–१० कोये पर्याप्त होते हैं किन्तु इस प्रजाति के २०-२५ कोयों की आवश्यकता होती है।)

कमीशन का खरीद कार्यक्रम

कोये खरीदते वक्त खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की सम्बद्ध प्रमाणित संस्थाएँ पहले पहल उनके नमूने खरीदती हैं और परीक्षण के लिए यदि कोई अन्य प्रकार की व्यवस्था न हो तो वे अपने स्वयम् के लपेटक यंत्रों पर लपेटाई का प्रयोग करती हैं। वे कोयों की कीमत तय करती हैं और उनकी विश्वसनीयता आदि के आधार पर खरीद करती हैं। उनके अन्तर्गत अनेक रजिस्टर्ड कोया-पालक होते हैं, जोकि प्रायः प्राप्त कच्चे रेशम के आधार पर मूल्य लेते हैं। ऐसा कहा जाता है कि कमीशन तथा उसकी सम्बद्ध संस्थाएँ २५ प्रति शत तक कोये खरीद लेती है, जबकि शेष रेशम• कमीशन के अधिकार क्षेत्र से बाहर के अन्यान्य लपेटक संस्थानों द्वारा खरीदा जाता है। चूँकि कमीशन के अभिकरणों को बाहर से दूसरे संगठनों के साथ स्पर्धा करते हुए कोये खरीदने पड़ते है, इसलिए व्यावहारिक जगत में बाजार अनुवर्ती के ही काबू में रहता है। तथापि, कमीशन के अभिकरण सर्वोत्तम कच्चा रेशम उत्पादन करने के लिए बाजार में उपलब्ध सर्वोत्तम कोये ही खरीदते हैं।

परम्परागत चरखा

कमीशन और उसकी सम्बद्ध संस्थाएँ परम्परागत चरखे का इसलिए समर्थन करती, उसे प्रोत्साहन देती हैं; क्योंकि कहा जाता है कि इनके पास कोई दूसरा विकल्प नहीं है और यह कि इस चरखे से उनकी माँग पूरी हो जाती है। पश्चिम बंगाल में उन्होंने 'राय मशीन' चला कर देखी है। किन्तु बाद में पता चला कि यह मशीन 'निस्ट्री' कोयों के लिए उपयुक्त नहीं है और चूँकि पश्चिम बंगाल में कोयों के कुल उत्पादन में ९५ प्रति शत हिस्सा इन्हीं कोयों का है।

अगले पृष्ठ पर दी गयी तालिका २ से पता चलेगा कि 'निस्ट्री' जाति के कोयों की लपेटाई लाभदायक रूप से केवल परम्परागत चरखों पर ही हो सकती है।

यह देखा जा सकता है कि ऊँची जाति के 'निस्ट्री' रेशम को उन्नत काटेज बेसिन पर लपेटने से ज्यादा लागत की क्षति-पूर्ति नहीं होती। तथापि, मैसूर में कमीशन के अन्तर्गत प्रमाणित कच्चा रेशम उत्पादित करनेवाली सभी संस्थाओं ने अपने उपभोग के लिए उन्नत घरेलू बेसिन प्रस्थापित किये हैं।

उन्नत तकनीकें

पहले सभी प्रकार के रेशमी वस्त्र फेंक-ढर्की करघों पर बुने जाते थे। स्वतंत्रता-प्राप्ति से पूर्व के दिनों में अखिल भारत चरखा संघ को ही इस बात का श्रेय है कि

तालिका २

विभिन्न तकनीकों के अन्तर्गत लगात खर्च

(प्रति पौंड रुपये में)

लपेटाई तकनीक	लागत खर्च	
	निस्ट्री कोये	जापानी प्रजाति (कालिम्पोंग)
परम्परागत चरखा	२९.१० से ३४.५० तक	२८.५० से ३२ तक
उन्नत कटेज बेसिन	३८.२५ से ४४.५० तक	२७.५०

उसने रेशम बुनकरों में उड़न-ढर्की करघों और ताना बनाने के ढोलों (ड्रम) तथा अन्य उन्नत उपकरणों का प्रचलन किया। रेशम लपेटने की प्रक्रिया में नवीनीकरण लाने की मन्द गति का कारण अच्छे किस्म के कोयों की अनुपलब्धि है। अतएव द्वितीय योजना के दौरान उपयुक्त किस्म के उन्नत कोयों की खोज करने पर ध्यान केन्द्रित किया गया। कोयों के व्यावसायिक पालन के लिए, खास करके सर्दी में, 'एफ-हायब्रिड' (निस्ट्री और उन्नत जापानी प्रजाति के बीच की वर्ण-संकरीय प्रजाति) जाति का उपयोग किया जा सकता है। स्थानीय शहतूत की पत्तियों पर मार्च और अप्रैल तथा नवम्बर और दिसम्बर के मौसम में जापानी अण्डों का व्यावसायिक पालन भी सफल पाया गया।

वास्तव में प्राविधिक दृष्टि से समग्र शरद कालीन फसल को अच्छे गुण-स्तर के कोयों में बदलना सम्भव है। गरमी के मौसम में पालन-पोषण करने के लिए ऐसा लगता है कि शायद ही कोई ऐसी प्रजाति हो जो मौजूदा 'निस्ट्री' प्रजाति का स्थान ले सके। इसलिए पालन-पोषण और लपेटाई साथ-साथ करनी पड़ती है तथा एक बार अच्छी किस्म के कोये पालित-पोषित हो जांय तो लपेटाई का अभिनव तरीका अपने आप सामने आ जायेगा। इस प्रकार जब तक 'निस्ट्री' कोयों का उत्पादन होता है, रेशम उद्योग में परम्परागत चरखों का एक निश्चित स्थान है।

मूल्यांकन समिति के मालूमात

खादी और ग्रामोद्योग कमीशन तथा केन्द्रीय रेशम मण्डल के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में खादी मूल्यांकन समिति का मत है कि एक तरफ कच्चे रेशम की हाथ से लपेटाई करने में लगे कारीगरों के हितों की रक्षा करने और कोया-पालकों के लिए न्यूनतम स्तरीय मूल्य सुनिश्चित करने तथा दूसरी तरफ विशुद्ध रेशम और रद्दी रेशम के सूत एवम् वस्त्र के उत्पादन का विकास व विस्तार करने के काम की जिम्मेवारी वहन करनेवाली एक मात्र संस्था कमीशन होनी चाहिए।* खादी मूल्यांकन समिति के अनुसार कमीशन केन्द्रीय रेशम मण्डल का कार्य सम्हालने की स्थिति में नहीं है। रेशम कोया-पालन में सुधार लाने और विस्तार करने के लिए सभी परियोजनाएँ चलाने हेतु केन्द्रीय रेशम मण्डल ही उपयुक्त माध्यम जारी रहना चाहिए। जहाँ तक हाथ कते और हाथ से लपेटे गये रेशम सूत तथा हाथ बुने रेशमी वस्त्रों का सम्बन्ध है, कोया-पालन के बाद की सभी अवस्थाएँ बहुत अच्छी तरह कमीशन के कार्यक्षेत्र में आती हैं।*

फिलहाल रेशम उद्योग से देश भर में नौ करोड़

*रिपोर्ट ऑफ दि खादी इवैल्यूएशन कमेटी : वाणिज्य और व्यापार मंत्रालय; फरवरी; १९६०; पृष्ठ : ६९।

रुपये की सालाना आमदनी होती है और करीब २८ लाख ग्रामीणों को आंशिक अथवा पूर्ण-कालीन रोजगारी मिलती है। पचास से भी अधिक देशों को रेशमी वस्त्र और रद्दी रेशम का निर्यात करके इस उद्योग से लगभग एक करोड़ रुपये के बराबर विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है। विस्तृत विवरण के लिए नीचे तालिका ३ देखिए।

तालिका ३

रेशमी माल का निर्यात : १९५१–१९६०

(मूल्य लाख रुपये में)

वर्ष	रेशमी वस्त्र	रद्दी रेशम	अन्य	कुल
१९५१	२०.९७	३७.२०	अप्राप्य	५८.१८
१९५२	२०.९७	१४.०४	,,	३५.५३
१९५३	२५.७४	३०.५१	,,	५६.२५
१९५४	१६.३५	११.०७	,,	२७.४२
१९५५	३२.२७	२१.६३	,,	५४.४०
१९५६	३३.२१	५६.०८	,,	८९.३०
१९५७	१७.९५	३२.९१	०.२०	५१.०७
१९५८	२८.०३	९.७७	०.४५	३८.२६
१९५९	३८.०७	२६.९२	०.७०	६५.७०
१९६०	५८.९७	३२.४१	१.६४	९३.०२

स्रोत : भारत के विदेशी व्यापार के मासिक आंकड़े।

केन्द्रीय रेशम मण्डल के अनुसार देश में शहतूती रेशम का उत्पादन १९५३ में १९ लाख ७० हजार पौंड था, जो १९५८ में बढ़ कर २५ लाख ३३ हजार पौंड हो गया और इसी काल में गैर शहतूती रेशम उत्पादन ५ लाख ५० हजार पौंड से बढ़ कर ७ लाख पौंड से भी अधिक हो गया। अगले पृष्ठ पर तालिका ४ में तत्सम्बन्धी विस्तृत विवरण दिया गया है। उसी तालिका में चरखों पर लपेटे गये कच्चे रेशम उत्पादन का प्रातिशत्य भी दिया गया है। सन् १९५८ में कुल कच्चे रेशम की सप्लाई में ६५ प्रति शत चरखों पर लपेटा गया रेशम था, जबकि १९५८ में चरखों पर लपेटे गये रेशम का परिमाण २२ लाख पौंड था तो फिलेचर कारखानों में लपेटे गये रेशम का परिमाण केवल ३ लाख पौंड के करीब ही था।

इस सम्बन्ध में संसार, तथा विश्व में रेशम उत्पादन के क्षेत्र में सबसे आगे जापान के कच्चे रेशम उत्पादन के सन्दर्भ में भारत की स्थिति पर ध्यान देना रुचिकर होगा, यद्यपि भारत संसार में रेशम उत्पादन करनेवाला सबसे बड़ा चौथा देश है। जापान का उत्पादन १९५६–६० के दौरान संसार के कुल रेशम उत्पादन का करीब ६० प्रति शत है, जबकि भारत का उत्पादन विश्व उत्पादन का ४–५ प्रति शत ही है। विस्तृत विवरण अगले पृष्ठ पर तालिका ५ में प्रस्तुत है।

घरेलू खपत

भारत में कच्चे रेशम की खपत ३३ लाख ६० हजार पौंड होने का अनुमान है, जिसमें शहतूती रेशम का हिस्सा कुल खपत का करीब ७९ प्रति शत है। वार्षिक आवश्यकता ४०–४५ लाख पौंड होने का अनुमान लगाया जाता है। खपत आवश्यकता से कम है; क्योंकि वर्तमान पूर्ति (आन्तरिक तथा आयातित) वास्तविक माँग से कम है। जैसा कि तालिका ५ में दिखाया गया है, सन् १९६० में आन्तरिक उत्पादन मात्र १,५०२.५ मेट्रिक

तालिका ४

भारत में कच्चे रेशम की पूर्ति : १९५३–१९५८

(लाख पौण्ड में)

वर्ष	शहतूती	गैर शहतूती				कुल पूर्ति (आयात सहित)	फिलेचर पर लपेटित	चरखे पर लपेटित	कालम ७ के प्रातिशत्य स्वरूप कालम ९
		टसर	एण्डी	मूंगा	आयात				
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
१९५३	१९.७२	२.६८	१.५७	१.३०	२.३५	२७.६२	२.९९	१६.७३	६०.६
१९५४	२३.९८	२.७५	१.५७	१.२१	३.६४	३३.१५	३.२०	२०.७८	६२.७
१९५५	२४.३१	३.०७	१.८५	१.५८	१.६३	३५.४४	३.२९	२१.०२	५९.३
१९५६	२३.०७	२.९४	१.८९	१.५८	१.१०	३०.८५	३.२४	९.२२	६२.३
१९५७	२४.७३	३.०८	२.१३	१.९०	३.३४	३५.१८	२.९५	२१.०४*	५९.८
१९५८	२५.३३	२.८४	२.११	२.०७	१.२४	३३.५९	२.९१	२१.७३*	६४.७

स्रोत : केन्द्रीय रेशम मंडल, रिपोर्ट ऑफ दि खादी इवैल्यूएशन कमेटी (१९६०) के पृष्ठ १७ पर उध्दृत।

* सन् १९५७ और १९५८ में काटेज बेसिनों पर उत्पादित क्रमशः १ लाख २१ हजार पौंड तथा १ लाख १७ हजार पौंड कच्चा रेशम भी शामिल है।

तालिका ५

कच्चे रेशम का उत्पादन : १९५६–१९६०

(मेट्रिक टनों में)

वर्ष	भारत	विश्व उत्पादन के प्रातिशत्य स्वरूप	जापान	विश्व उत्पादन के प्रातिशत्य स्वरूप	विश्व
१९५६	१,३२८.८	४.३	१८,७६७	६१	३१,११०
१९५७	१,४२८.९	४.६	१८,८८७	६१	३१,२६०
१९५८	१,५१५.६	४.५	२०,०१४	५९	३३,८४५
१९५९	१,५३२.६	४.७	१९,१२१	५९	३२,६१०
१९६०	१,५०२.५	४.८	१८,०४८	६१	३१,३५८

स्रोत : कालम ४ से ६ तक सेरीकल्चर इन जापान (केन्द्रीय रेशम मंडल), १९६२, पृष्ठ ७ से; कालम २ और ३ रिपोर्ट ऑफ दि टैरिफ कमीशन, १९५८ और केन्द्रीय रेशम मण्डल के वार्षिक विवरण से संकलित किये गये हैं।

टन यानी करीब ३२ लाख ९० हजार पौंड ही था। आन्तरिक उत्पादन से अधिक माँग किसी हद तक आयात के जरिये पूरी की जाती है और शेष वैसे ही रह जाती है। रेशमी माल–कता रेशम सूत, कच्चा रेशम और रेशमी वस्त्र–के आयात का विवरण नीचे तालिका ६ में दिया जाता है।

मिल ने १९६१ से कार्यारम्भ कर दिया है। उसकी प्रति पाली वार्षिक उत्पादन क्षमता ७५ हजार पौंड कता सूत और ९० हजार पौंड 'नॉयल' सूत है। सन् १९६२ के ३१ अक्तूबर को उसके पास स्टाक में ४० हजार पौण्ड कता सूत इकट्ठा हो गया था और उसने बाहर से कता सूत मंगवाने तथा रद्दी रेशम विदेशों को

तालिका ६

भारत में रेशमी माल का आयात : १९५१–१९६०

(मूल्य लाख रुपये में)

वर्ष	कता रेशम सूत	कच्चा रेशम	रेशमी वस्त्र	योग
१९५१	९.२७	२६०.३२	१३.७८	२८३.३७
१९५२	५.०८	८३.१०	१५.४०	१०३.५८
१९५३	२.०३	५४.७१	९.७५	६६.४९
१९५४	७.१४	७५.००	१२.८९	९५.०३
१९५५	४.२५	९१.८७	१.७९	९७.९१
१९५६	७.४०	२०.२३	३.०३	३०.६६
१९५७	४.४३	६९.९७	१६.१०	९०.५०
१९५८	१.३३	२४.४५	३.५३	२९.३१
१९५९	२.५५	५४.९०	२.८०	६०.२५
१९६०	११.४८	२२.४५	२.९३	३६.८६

स्रोत : भारत के विदेशी व्यापार के मासिक आंकड़े।

तालिका ६ से प्रकट होता है कि रेशमी माल का आयात गिर रहा है। इसका बहुत कुछ कारण सरकार द्वारा लगाये गये आयात सम्बन्धी प्रतिबन्ध हैं। अतएव घरेलू माँग पूरी करने के लिए यह आवश्यक है कि आन्तरिक पूर्ति बढ़ायी जाय।

हाथ-कते-बुने माल के लिए माँग

यह जानना रुचिकर होगा कि अमेरिका सहित सभी विदेशों में टसर और रद्दी रेशम की अन्य किस्मों से हाथ द्वारा काते गये सूत से हाथ बुने वस्त्रों के लिए माँग है और यह कि मिल कते सूत से बुने वस्त्रों के लिए व्यवहारतः कोई माँग नहीं है। यह जानना भी रुचिकर होगा कि चन्नापटना (मद्रास) स्थित रेशम कताई

निर्यात करना रोकने के लिए अनुरोध किया। रेशम कीट-पालन पर कार्यकारी दल ने भी यह कहा था कि कते रेशम वस्त्रों अर्थात् मिल कते रेशम वस्त्रों के लिए निर्यात बाजार नहीं है।*

कच्चे रेशम का उपयोग

देश के चन्द भागों में चालू किया गया कुटीर कताई यंत्र (काटेज स्पीनिंग व्हील) काफी लोकप्रिय हो गया है। ऐसा पाया गया कि कामगार प्रति दिन ८ घण्टे काम करके डेढ़ रुपया कमा सकता है, जोकि गाँवों में आमदनी के स्तर को देखते हुए कोई बहुत कम नहीं है।

* इवैल्यूएशन रिपोर्ट ऑफ दि वर्किंग ग्रुप ऑन सेरीकल्चर; १९५९; पृष्ठ : ३७, पैराग्राफ : ८ और ३९।

कताई महिलाएँ करती हैं। यदि आंशिक कार्य के लिए यानी दिन में एक-दो घण्टे काम करने पर प्रति व्यक्ति आमदनी ५-१० रुपये मासिक होती है, तो यह पारिवारिक आय कोई नगण्य नहीं है। यदि कच्चे माल की कमी नहीं हुई, तो अधिक सूतकारों को काम मिलेगा। नये सूतकारों के अलावा मौजूदा मटका सूतकार भी कुटीर कताई यंत्र अपनानेवाले हैं। फिलहाल मटका सूतकारों को मैसूर से मंगवाये हुए कोयों की बेधित रूप में पूर्ति की जाती है। यदि इस पूर्ति को मिल में सूत तैयार करने के लिए भेजा जाता है तो अधिकांश सूतकार बेरोजगार हो जायेंगे और परम्परागत उद्योग समाप्त हो जायेगा, जिसे फिलहाल स्वयम् देश के भीतर तथा बाहर अच्छा बाजार प्राप्त है। अतएव कुटीर कताई उद्योग द्वारा उपलब्ध रद्दी रेशम का उपयोग करना इसकी उपयोगिता के लिए सर्वोत्तम सम्भव साधन है।

भारत में अकेली रेशम खादी का उत्पादन १९५३-५४ में ४ लाख ५० हजार रुपये का था। सन् १९६१-६२ तक आते-आते इसका उत्पादन बढ़ कर १ करोड़ ५ लाख रुपये का हो गया। पारिमाणिक दृष्टि से भी इसके उत्पादन में वृद्धि हुई—१९५३-५४ में इसका उत्पादन ८८ हजार वर्ग गज था, जो १९६१-६२ में १५ लाख ४५ हजार वर्ग गज तक पहुँच गया। वर्षानुसार विस्तृत विवरण नीचे तालिका ७ में दिया गया है।

भविष्य

कृत्रिम रेशम और संश्लिष्ट वस्त्रों के प्रादुर्भाव से संसार भर में रेशम कीट-पालन उद्योग के भविष्य के बारे में भय व्यक्त किया जाता है। किन्तु यह भ्रम मात्र है। वस्तुतः जून १९६१ में सम्पन्न आठवें अन्तर्राष्ट्रीय रेशम सम्मेलन(कांग्रेस)ने कच्चे रेशम की अत्यधिक कमी पर अपनी ओर से चिन्ता व्यक्त की थी और इस कमी पर काबू पाने के लिए उपायों पर विचार किया था। संसार के गैर साम्यवादी देशों में १९५९ में २४,६०० टन कच्चे रेशम के उपभोग का अनुमान लगाया गया था। सन् १९६० में इसका उपभोग २४,३५५ टन था।

तालिका ७

रेशमी खादी का उत्पादन : १९५३–६२

वर्ष	परिमाण (लाख वर्ग गज में)	मूल्य (लाख रुपये में)
१९५३–५४	०.८८	४.५०
१९५४–५५	१.९२	९.०५
१९५५–५६	६.२२	२८.०४
१९५६–५७	७.००	३०.०७
१९५७–५८	१२.५९	५५.७३
१९५८–५९	१४.४६	६१.६९
१९५९–६०	१५.३९	८३.८८
१९६०–६१	१३.४२	८५.१०
१९६१–६२	१५.४५	१०५.१९

स्रोत : सन् १९५८–५९ तक रिपोर्ट ऑफ दि खादी इवैल्यूएशन कमेटी (वाणिज्य और उद्योग मंत्रालय, फरवरी, १९६०) के पृष्ठ ९९ से। शेष खादी और ग्रामोद्योग कमीशन के अर्थ अनुसंधान विभाग से।

इसका कारण माँग में कमी नहीं, बल्कि बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के लिए प्रमुख पूर्ति-कर्ताओं की असमर्थता थी। फ्रांस, ब्रिटेन, इटली और स्वीटजरलैण्ड जैसे प्रमुख यूरोपीय उपभोक्ता देशों ने १९६० में अपने आयात में महत्वपूर्ण वृद्धि की।

पिछले वर्षों में जहाँ माँग में वृद्धि हुई है, उत्पादन में गिरावट आयी है। जापान के सम्बन्ध में भी जोकि प्रमुख रेशम उत्पादक देश है, यह बात लागू होती है (देखिए तालिका ५)। भूमि पर अधिक दबाव होने, उत्पादन लागत ज्यादा होने, श्रमिकों की कमी आदि के कारण जापान में कोई बहुत जल्दी ही उत्पादन बढ़ने की आशा नहीं है। जलवायु तथा रेशम सम्बन्धी परम्परा, सस्ता श्रम और उपयुक्त मिट्टी जैसे अन्य पहलुओं के सम्बन्ध में भारत की स्थिति बहुत अच्छी यानी अनुकूल है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यद्यपि भारत सबसे बड़ा चौथा रेशम उत्पादक देश है तथापि, कोयर उत्पादन में उसका योगदान मात्र ८ प्रतिशत है और वह अब भी आयातित कच्चे रेशम पर निर्भर है। यदि कच्चे रेशम के उत्पादन में वृद्धि करने के लिए गम्भीर प्रयास किया जाय, तो विश्व व्यापार में पदार्पण करने के लिए भारत के सामने एक बहुत अच्छा सुअवसर है। ●

प्राप्त आंकड़ों से पता चलता है कि पिछले एक दशक में आयोजित प्रयासों के फलस्वरूप बड़ी सिंचाई योजनाओं से ८,७६,००० एकड़ और लघु सिंचाई योजनाओं से ४,११,०० एकड़ अतिरिक्त भूमि के लिए सिंचाई सुविधाएँ उपलब्ध होनी चाहिए। सन् १९५१-५६ के दौरान कूप सिंचाई के अन्तर्गत क्षेत्रफल बढ़ कर ९ लाख ८० हजार से ११ लाख २० हजार हुआ और सिंचाई के लिए पम्पों की संख्या १९५१ के १२,९०० पम्पों से बढ़ कर १९५६ में २०,२०० हो गयी। तकरीबन दो-तिहाई ग्रामीण आबादी सामुदायिक विकास और राष्ट्रीय विस्तार सेवा योजनाओं के अन्तर्गत आ जायेगी। प्रमुख फसलों के अन्तर्गत जितनी भूमि है उसके आधे क्षेत्र में उन्नत बीजों से खेती होने लगेगी। उर्वरकों की खपत भी बढ़ी है।

—टेक्नो-इकनॉमिक सर्वे ऑफ गुजरात : नेशनल काउन्सिल ऑफ अप्लाइड इकनॉमिक रिसर्च, नयी दिल्ली।

राष्ट्रीय आर्थिक आयोजन पर विचार

शचीन्द्रलाल घोष

इस मान्यता पर आगे बढ़ना एक महान गलती होगी कि एक ग्रामीण को शहरी कामगार की अपेक्षा कम और गुणात्मक दृष्टि से निम्न कोटि की सेवाएँ प्रदान की जा सकती हैं। अब वह समय आ गया है कि आयोजन में मानवीय पहलू को उपयुक्त महत्त्व प्रदान किया जाय।

यदि चीनी हमले ने कुछ किया है तो यह कि उसने यह बात सामने लाकर रख दी है कि इस प्रकार की स्थिति का सफलतापूर्वक सामना करने के लिए भारत को यथाशीघ्र शक्तिशाली बनकर अपने पैरों पर खड़ा होना ही चाहिए। अन्ततोगत्वा, हमारे पड़ोसियों में केवल साम्यवादी चीन ही कोई ऐसा देश नहीं है कि उस पर पागलपन का भूत सवार हो जाय; और निकट भविष्य में चाहे विश्वव्यापी अणु निरस्त्रीकरण हो या न हो स्थिति की वास्तविकता को देखते हुए हमारी सीमाओं की प्रभावशाली प्रतिरक्षा के लिए आवश्यकता बनी रहेगी। आधुनिक प्रतिरक्षा जैसी होती है या है उसके अनुसार जो उद्योग प्रत्यक्षतः प्रतिरक्षा से सम्बद्ध हैं उनके अतिरिक्त देश के समग्र साधन-स्रोतों को यथाशीघ्र और सवनरूपेण सक्रिय बना कर उनका विकास करना ही चाहिए। भारत सभी क्षेत्रों में द्रुत गति से औद्योगीकरण करने की नीति के प्रति कृत संकल्प है, फिर चाहे उसका नतीजा अच्छा निकले या बुरा।

स्रोतों का प्रश्न

एक बार यह बुनियादी प्रश्न स्वीकार कर लिये जाने पर भारतीय जीवन की अर्थ-व्यवस्था को प्रभावित करनेवाले महत्वपूर्ण तथा दूरगामी परिणाम निकलने ही वाले हैं। प्रथम, विदेशी सहायता पर पूर्ण या आंशिक रूप में निर्भर रहने से आर्थिक क्षमता का समग्र रूपेण व्यापक और द्रुत विकास कभी नहीं किया जा सकता। इसके लिए रुपये-पैसे संबंधी एवम् अन्य प्रकार के साधन-स्रोत देशवासियों से ही प्राप्त किये जाने चाहिए। चतुर्थ सार्वजनिक इस्पात संयंत्र (बोकारो इस्पात संयंत्र) के लिए सहायता देने में संयुक्त राज्य अमेरिका की आनाकानी इस बात का एक उल्लेखनीय इंगित है कि भारत जिस माने में तात्कालिक आवश्यकता समझता है उससे कम से कम हमारा एक बहुत अच्छा विदेशी मित्र देश सहमत नहीं है, और वह हमारी राष्ट्रीय नीतियों का कोई विशेष आदर नहीं करता। यदि हम रुपये-पैसे संबंधी आवश्यक साधन-स्रोत जुटाने में सफल होते हैं तो हमारी तटस्थता की नीति हमारे लिए यह सम्भव बनाती है कि हम संसार के किसी भी कोने से आवश्यक यंत्र और प्राविधिक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं— और इस संबंध में हमारे सामने चयन करने का विस्तृत क्षेत्र है। और, चूंकि स्पष्टतः निर्यात में कोई आश्चर्य-जनक वृद्धि करके आवश्यक वित्त प्राप्त नहीं किया जा सकता, इसलिए ये वित्तीय साधन जुटाने का एक ही मार्ग है— कराधान। धनवान से लेकर गरीब तक सभी नये कर लगाने के प्रति अनिच्छुक हैं। करों के लिए चाहे कितना भी औचित्य क्यों न हो, सरकार में अविश्वास प्रकट करने के लिए, जैसा कि पहले हुआ है, यदि यह सर्वाधिक जोर दिया जानेवाला नहीं तो भी सबसे अधिक वास्तविक आधार बन जाता है। तथापि, जब हम अपनी समृद्धि के लिए विदेशी ऋण पर बहुत अधिक निर्भर करते हैं तो ऋण का बोझ हम मात्र टाल भर देते हैं, जिसका भुगतान भी निकट भविष्य में हमें ही करना पड़ेगा।

उपभोग पर प्रतिबन्ध

द्वितीय, प्रमुख परिणाम है उपभोग पर कड़ा प्रतिबन्ध। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जीवन की

प्राथमिक आवश्यकताओं– खाद्य, स्वास्थ्य, और आवास सम्बन्धी– को अपवाद स्वरूप छोड़ कर उपभोग उद्योगों का कोई विशेष उल्लेख तीव्र विस्तार नहीं होगा। उपभोग्य सामग्री के लिए बढ़ती हुई माँग को उन वस्तुओं का–जोकि परमावश्यक न हों– विस्तृत पैमाने पर राशनिंग करके और उन पर भारी कर लगा कर रोका ही जाना चाहिए। इस प्रकार का नियंत्रण खाद्यान्नों पर भी लागू हो सकता है, यद्यपि एक मुख्यतः कृषि प्रधान अर्थ-व्यवस्था में उत्पादक क्षेत्रों यानी गाँवों में ऐसा करना सम्भव नहीं है। तथापि, औद्योगिक और शहरी आबादी की खाद्य सामग्री माँगें विवेकपूर्ण ढंग से पूरी की जानी चाहिए और यह आवश्यक नहीं कि ये माँगें पुराने अनुपातों के अनुसार ही पूरी हों। इस बात का कोई कारण नहीं कि भारतीय श्रमिक को थोड़ी-बहुत तंगी क्यों नहीं स्वीकार करनी चाहिए। कारखाने के मजदूर और अर्थ-व्यवस्था के अन्य क्षेत्रों में उत्पादकों ने, प्रसंगवश, तंगी सह कर तथा अपनी सुविधाओं का त्याग करके कारखाने स्थापित करने के लिए बहुत कुछ रूप में सम्पत्ति प्रदान की है। उन्हें अब भी सोद्देश्य पेट बांधने की वेदना समान रूप से सहन करनी ही चाहिए।

बेरोजगारों को आसरा

तृतीय, इस बात को बड़ी सौम्यता के साथ स्वीकार करना ही चाहिए कि तीव्र औद्योगीकरण से तत्काल अथवा प्रत्यक्षतः रोजगारी के व्यापक विस्तार को प्रश्रय नहीं मिलेगा। वस्तुतः विभिन्न प्रकार के कुशल व्यक्तियों के लिए विस्तृत क्षेत्र होगा, किन्तु इस प्रकार की कौशल-प्राप्ति का अर्थ है शिक्षा और सक्रियता अथवा तत्परता की पृष्ठभूमि। ये ऐसी विशिष्टताएँ हैं जो कुल बेरोजगार व्यक्तियों के एक बहुत ही मामूली प्रातिशत्य के व्यक्तियों में मिलती हैं। निस्संदेह यह एक विचलित कर देनेवाला पहलू है और इससे अधिकाधिक असंतोष को प्रश्रय मिलेगा। बहरहाल यह आशा की जा सकती है कि समाजवादी विचारधारा के परिपोषक राजनैतिक दल अपनी पार्टी के लिए राजनैतिक लाभ प्राप्त करने में औद्योगीकरण के इस अनिवार्य प्रारम्भिक परिणाम का फायदा न उठायें। तथापि, उन व्यक्तियों का दुःख-दर्द दूर करने के लिए कोई कदम न उठाना जिन्हें कि समाज पूर्ण रोजगारी देने में असमर्थ है, राज्य की समाजवादी लक्ष्य की ओर निर्देशित नीति के तुल्य नहीं है। बेरोजगारी की यातनाओं को सामाजिक बीमा की दृढ़तापूर्वक प्रशासित पद्धति से सम्भवतः कुछ कम किया जा सकता है। किन्तु इसके लिए सर्व प्रथम इन यातनाओं का समग्र जन-संख्या में सामान्य स्फुरण करने की बात आयेगी, ताकि प्रत्येक को थोड़ी-थोड़ी यातना महसूस हो और चन्द व्यक्तियों पर ही दुःख-दर्द के पहाड़ न टूट पड़ें; द्वितीय, एक शक्तिशाली और कृत-संकल्पी समाजवादी प्रशासन के होने की बात है, जोकि वर्तमान परिस्थितियों में किसी भी शासन करनेवाली पार्टी के बूते के बाहर की चीज लगती है। तथापि, शासन करनेवालों को चाहिए कि वे यह क्षमता अवश्य ही हासिल करें या फिर, वे जो जन-कल्याण सम्बन्धी बातें कहते हैं या काम करते हैं उनके प्रति गम्भीर सन्देह पैदा कर लें।

कृषिक पुनर्गठन

चतुर्थ, सभी उत्पादन क्षेत्र परिपूर्णतः संगठित होने ही चाहिए। इनके निश्चित लक्ष्यांक हों और इन लक्ष्यांकों की प्राप्ति के लिए उपयुक्त साधन हों, जोकि समाजवादी उद्देश्य के अनुरूप हों। इसमें कृषि–और विशेषतः कृषि–भी शामिल है। भारत में कृषि उत्पादन सबसे बड़ा निजी क्षेत्र का धंधा है और ऐसा बना रहेगा; असम्भाव्य अत्युग्र शासकीय दबाव यानी अनिवार्यता आ पड़े–जिसमें दीर्घ स्तरीय समापन की बात आती है–तो बात दूसरी है। वित्तीय, भौतिक और मानवीय साधन-स्रोतों के संकेन्द्रण से औद्योगिक उत्पादन को नियंत्रण में लाना अपेक्षाकृत आसान है; तथापि, इस प्रकार के नियंत्रण इसलिए काम करते हैं कि उद्योगपति को सहायता व सहूलियतों और नियंत्रक सत्ता द्वारा श्रमिक के लिए प्रदत्त सुविधाओं के प्रावधान जैसे लाभों

से इनकी क्षतिपूर्ति हो जाती है। इसके विपरीत कृषिक उत्पादन में स्थिति बहुत भिन्न है; इस क्षेत्र में संगठित उद्योग को जो सुविधाएँ प्राप्त हैं उनका स्पष्ट अभाव है। यह तथ्य कि स्वयम् किसान अपनी जमीन पर उत्पादन के सम्बन्ध में बिल्कुल स्वतंत्र है, कृषि को सहकारी आधार पर संगठित करना एक बहुत ही कठिन कार्य बना देता है। किसान जमींदारों से हुए पीढ़ी दर पीढ़ी के अनुभव से सभी प्रकार के नियंत्रणों के प्रति—जिनका हाल ही तक निष्काशन और दारिद्रय से ही लगाव था—बहुत सशंकित है। वह सामुदायिक योजनाओं के जरिये योजना अधिकारियों द्वारा लागू किये जानेवाले नियंत्रणों का समर्थन नहीं करनेवाला है फिर चाहे, वे कितने ही कल्याण केन्द्रित क्यों न हों।

दस्तकारी पुनरुत्थान

स्पष्ट शब्दों में यह कहा जा सकता है कि उस पर बहुत अच्छे-अच्छे लाभ प्राप्त होने की बातों या संभाव्यताओं का कोई असर नहीं पड़ता; उसे केवल वास्तविक लाभ प्रदान करके प्रत्यक्ष प्रदर्शन के द्वारा ही तैयार किया जा सकता है। इसका मतलब यह है कि किसान को कारखाने में काम करनेवाले व्यक्ति को बीमारी सहायता जैसी सुविधाएँ और संरक्षण तथा अन्य लाभ प्राप्त हैं वैसा ही संरक्षण और सुविधाएँ मिलनी ही चाहिए; और जब तक उसे यह सब प्राप्त नहीं होता तब तक उसे यह विश्वास नहीं दिलाया जा सकता कि कृषि के आयोजित यानी नियंत्रित विकास से उसी को फायदा होनेवाला है। सहकारी उत्पादन के लिए पहला कदम है चकबन्दी और खेतों का संग्रहण; यदि प्रशासन ने इस सम्बन्ध में कोई कुव्यवस्था की है तो यह भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि किसान वैसी चकबन्दी को कोई खास पसन्द नहीं करता। भूतपूर्व जमींदार किसान का स्वामित्वहरण करने के लिए अब भी अपनी कुटिल थुथनी फैलाये हुए हैं; और राजनैतिक प्रचार किसान के सन्देह को और भी बढ़ा देते हैं कि प्रशासन जमींदार के साथ मिला हुआ है। पर्याप्त मात्रा में आकर्षक लाभों के प्रावधान से ही उसका अविश्वास दूर किया जा सकता है।

खेती पर जो बात लागू होती है वही ग्रामीण कुटीर उद्योगों पर भी होती है। यह केवल वित्तीय सहायता प्रदान करने का ही सवाल नहीं है। यह एक विश्वास का वातावरण निर्मित करने का प्रश्न है। स्वतंत्रता-प्राप्ति आन्दोलन के दिनों में ग्राम स्तरीय खादी कार्यकर्त्ता ने जो कुछ सफलता प्राप्त की वह उसकी किसानों और कारीगरों का विश्वास प्राप्त कर लेने की योग्यता के कारण थी; वह इसलिए सफल हो सका कि वह अपने दर्शन पर आचरण करता था, ग्रामीण जीवन में वह घुलमिल गया था और उसने ग्रामीणों को स्थूल लाभ प्राप्त करवाये तथा वह कोई ऐसा अधिकारी नहीं था कि ग्रामीणों से कहता 'यह करो, वह मत करो।' प्रशासक जो एक महान गलती कर सकते हैं वह है उनका इस मान्यता पर आगे बढ़ना कि ग्रामीण को शहरी कामगार से कम और गुण की दृष्टि से निम्न कोटि की सेवाएँ प्रदान की जा सकती हैं। निश्चय ही किसान इसे एक उसे परचाने के लिए बहुत ही तुच्छ वस्तु समझेंगे। पहली चीज को प्रकट करने के लिए प्रारम्भिक तौर पर ही सभी विकासशील गतिविधियों के आधार स्वरूप यह स्पष्ट मान लेना आवश्यक है कि शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों के लिए कोई दो तरह की सेवाएँ अथवा दो तरह का जीवन-स्तर नहीं हो सकता।

सदैव ही यह ध्यान में रखा जाना चाहिए कि कृषि उत्पादन के अपने वर्तमान स्तर पर रहते हुए —फिलहाल, जिन उत्पादन तरीकों का अनुसरण किया जाना है वे प्रायः उसे स्थिर यानी गतिहीन बना देते हैं — राष्ट्रीय कल्याण अथवा आर्थिक शक्ति प्राप्ति की दिशा में शायद ही कोई प्रगति हो सके फिर चाहे औद्योगिक विकास कितना ही सघन क्यों न हो। अधिक उद्योगों का स्वाभाविक अर्थ है ग्रामीण क्षेत्रों में बाजार की तलाश। आज का ग्रामीण एक शहरी का जो उच्च जीवन स्तर है उससे भलीभांति परिचित — और ईर्ष्यालु — है एवन् वह उसकी बराबरी करना चाहता है। स्थिर अथवा गतिहीन

कृषिक उत्पादन की वर्तमान अवस्था में वह ऐसा करने के लिए अपने उत्पादनों की कीमतें बढ़ाना चाहेगा। किसान की सदैव ही यह महत्वाकांक्षा रही है कि वह एक 'आदरणीय' व्यक्ति की तरह व्यवहार करने में समर्थ हो। यह एक अनवरत रूप से चली आ रही उपनति अथवा झुकाव है जिसकी शक्ति आयोजकों को ग्रामीणों के सभी कार्यों में एक बुनियादी अभिप्रेरक के रूप में पहचाननी ही चाहिए। खाद्य व्यापार में अनाज इकट्ठा कर उसे दबा कर रखनेवाले व्यक्तियों की गतिविधियाँ ही नहीं बल्कि यह सांस्कृतिक पहलू भी खाद्यान्नों की बढ़ती हुई कीमतों का कारण है। संग्रह करके छिपा कर रखनेवाले व्यक्ति को ढूंढ़ना और समाप्त करना मुश्किल नहीं है; जब यह किया जाता है तो सम्भवत: अल्प काल के लिए कीमतों पर इसका कुछ वांछनीय प्रभाव पड़ सकता है। लेकिन जब तक किसान शहरी जीवन स्तर जैसी कोई चीज प्राप्त करने की स्थिति में होने के सम्बन्ध में आश्वस्त न हो तब तक बढ़ती हुई कीमतों को न तो रोका जा सकेगा और न उन्हें स्थिर रखा जा सकेगा। निस्संदेह यह सही है कि उत्पादन और वितरण में सहकारी पद्धति से किसान को अपनी आकांक्षा पूरी करने में बहुत सहायता मिलेगी; जरूरत केवल इस बात की है कि उसे ये सब लाभ प्राप्त कराते हुए प्रत्यक्ष करके दिखाना है

आयोजन में मानवीय पहलू

यह स्पष्ट है कि इस लक्ष्य की प्राप्ति में किसी भी ठोस प्रयास से एक परिपूर्ण नव संस्कार अर्थात् विचार परिवर्तन होना आवश्यक है। मानवीय पहलू का बिना ध्यान रखे हुए और सफलता के भौतिक लक्ष्यांकों के साथ तीन पंच वर्षीय योजनाएं चलायी जा चुकी हैं। अब वह समय आ गया है कि मानवीय पहलू को उचित महत्व देना आवश्यक है। केवल कृषि उत्पादन में स्पष्ट वृद्धि से ही एक ऐसी स्वस्थ अर्थ-व्यवस्था के लिए आधार प्राप्त हो सकता है, जोकि छलांग भरने के लिए आवश्यक अधिकांश वित्तीय साधन-स्रोत प्राप्त करने में समर्थ हो। उत्पादन के नये तौर-तरीके और मार्ग अपनाने के लिए ग्रामीण को तैयार करने की अपरिहार्य आवश्यकता को पहचानने में असफल होने का परिणाम निकला है राष्ट्रीय खाद्य नीतियों का असफल होना और फलत: आयात पर अत्यधिक निर्भर करना। जब तक आयोजन के सम्बन्ध में इस बुनियादी दृष्टिकोण को सही नहीं कर लिया जाता तब तक डर है कि यह असफलता जारी रहेगी और महान अनुपात में बढ़ती जायगी।

नयी दिल्ली : ४ सितम्बर १९६१

राज्य में तृतीय श्रेणीवाले गौण कार्य का अच्छा विकास हुआ है; क्योंकि राज्य ने औद्योगिक विकास का उच्च स्तर प्राप्त कर लिया है; इसके कृषि उत्पादन में नकद फसलों का अच्छा-खासा हिस्सा है; और देश का तकरीबन ४० प्रति शत विदेशी व्यापार बम्बई की मार्फत होता है।

—*टेक्नो-इकनॉमिक सर्वे ऑफ महाराष्ट्र* : नेशनल कॉउन्सिल ऑफ अप्लाइड इकनॉमिक रिसर्च, नयी दिल्ली।

ग्रामीण कुम्हारी उद्योग में चीनी मिट्टी के बर्तन

[illegible]ी. कृ. मिरामिरा

औद्योगीकरण से रंग-बिरंगे तथा किस्म-किस्म के बर्तनों से बाजार भर गया और वे लोकप्रिय हो गये। लेकिन लोगों की बदलती रुचि और माँग के अनुसार ग्रामीण कुम्हार अपनी गति नहीं बदल पाये। यदि ग्रामीण कुम्हार चीनी मिट्टी के बर्तन बनाने लगें, तो उनकी प्रतियोगिता क्षमता बढ़ जायगी।

यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति कुम्हार की कला और दक्षता की प्रशंसा करता है, तथापि कुम्हार जैसे कुशल दस्तकार की स्थिति बहुत ही दयनीय है। इसका प्रमुख कारण यह है कि वह अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा तथा वह बाजार, जोकि कभी सुनिश्चित था, खोता जा रहा है। इसका कारण है कुम्हारों द्वारा उपयोग की जानेवाली मिट्टी।

लाखों कुम्हार जिस चिकनी मिट्टी से आज देश भर में बर्तन आदि बनाते हैं, उन्हें लाल मिट्टी के बर्तन कहते हैं; क्योंकि आवे में पकने के बाद उनका रंग लाल अथवा पाण्डु-लाल हो जाता है। ऐसे बर्तन यहाँ सदियों से बनाये जाते रहे हैं। पहले चन्द ऐश्वर्यवान लोगों को छोड़ कर सभी लोग घरों में विभिन्न कार्यों के लिए मिट्टी के बर्तनों का ही प्रयोग करते थे। ग्रामीण कुम्हार अच्छा व्यापार कर लेते थे, जिसका एक कारण यह भी था कि ग्राहकों के सामने कोई दूसरा मार्ग नहीं था। परन्तु औद्योगीकरण ने बाजार में कई अच्छे और आकर्षक बर्तनों का प्रवेश कराया। प्रथम महायुद्ध के समय अलूमिनियम की खोज ने बहुत-से लोगों को, खास कर उन गरीबों को जोकि कुम्हारों के स्थायी ग्राहक थे, इसका उपयोग करने को प्रेरित किया। लोगों ने पाया कि अलूमिनियम के बर्तन (१) टूटते नहीं तथा टिकाऊ हैं; (२) अप्रचूषणीय, दुर्गन्ध न करनेवाले तथा आसानी से साफ होनेवाले हैं; (३) चमकीले अतः आकर्षक हैं; (४) हल्के हैं; और (५) अन्य धातु-बर्तनों से सस्ते हैं। इसके विपरीत मिट्टी के बर्तन (१) जल्दी टूटनेवाले; (२) रन्ध्री, गंध करनेवाले और साफ करने में कठिन; (३) खुरदुरे और कम आकर्षक, तथा (४) भारी थे। यद्यपि मिट्टी के बर्तन सस्ते थे, लोगों ने अलूमिनियम के मँहगे बर्तनों को उनके कई लाभों के कारण खरीदना पसन्द किया। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् लोगों ने स्टील के बर्तनों का उनके चन्द गुणों के कारण उपयोग करना शुरू कर दिया, भले ही ये मिट्टी के बर्तनों से बहुत मँहगे ही क्यों न होते हों। इस तरह लोगों की रुचि बदल गयी है, लेकिन ग्रामीण कुम्हार समय और मांग के अनुसार कदम मिला कर आगे नहीं बढ़ सके। स्वभावतः उनकी दस्तकारी पर बुरा प्रभाव पड़ा।

खादी और ग्रामोद्योग कमीशन कुम्हारों की अवस्था सुधारने का प्रयास कर रहा है। परिणामस्वरूप कुम्हारों का ध्यान ईंट, नली आदि इमारती सामानों के निर्माण की ओर आकर्षित किया गया है। कुम्हारों से हमारा तात्पर्य उन कुम्हारों से है जोकि परम्परागत चाक पर काम करते हैं और अपने बर्तन भट्टी में पकाते हैं। उन्हें आवश्यक सहायता नहीं दी जा सकती है। इसका मुख्य कारण है उनके द्वारा उपयोग की जानेवाली मिट्टी।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि कुम्हारी वस्तुओं को आकर्षक बनाने के लिए कदम क्यों नहीं उठाये जा सकते, विशेष कर तब जबकि तकनालाजी में काफी प्रगति हुई है? इसका उत्तर यह है कि स्तरीय बर्तन बनाने के लिए लाल मिट्टी उपयुक्त नहीं है। यह बहुत ही कम ताप सह सकती है। वर्तमान भट्ठियाँ और जिस तापमान पर बर्तन पकाये जाते हैं, वे बर्तनों को पर्याप्त कड़ापन प्रदान नहीं करते, जिससे कि वे अच्छी और मजबूत हो सकें। भट्ठी का तापमान बढ़ाना आवश्यक है।

चूंकि भट्ठी के अन्दर ऊपर के तापमान से नीचे का तापमान भिन्न होता है, भट्ठी के ताव को आवश्यक अंक पर नियंत्रित रखना असम्भव है। अतः बड़े पैमाने पर उत्पादन नहीं किया जा सकता।

फिर, लोगों को सफेद और चीनी मिट्टी के बर्तन पसन्द हैं। लाल मिट्टी के बर्तनों में वह रंग नहीं मिल सकता; क्योंकि इसका मूल रंग इसमें बाधक है। मिट्टी में सुधार करने के कई प्रयोग किये गये, परन्तु इनसे जो तरीके निकले वे बहुत खर्चीले हैं और उन्हें व्यावसायिक आधार पर अपनाना उपयोगी नहीं है। इसमें निवेश भी प्रायः चीनी मिट्टी के बर्तन बनाने में लगनेवाली पूंजी के समान ही होगा। अतः एकमात्र हल है कुम्हारों में चीनी मिट्टी के बर्तन बनाने का आरम्भ करना।

चीनी मिट्टी के बर्तन सफेद अर्थात् चीनी मिट्टी से बनाये जाते हैं। यह मिट्टी और अन्य खनिजीय चूर्णों का मिश्रण है जोकि जल कर न सिर्फ सफेद हो जाता है बल्कि काफी ताप भी सहता है। उच्च तापमानवाली भट्ठियों में जलने के बाद बर्तन मजबूत और अरन्ध्री हो जाते हैं। उन्हें अभेद्य और आकर्षक बनाने के लिए रोगन लगाते हैं।

विज्ञान और तकनालॉजी की प्रगति के साथ कुम्हारी कला ने भी काफी प्रगति की है। फलस्वरूप कई यूरोपीय देशों ने चीनी मिट्टी के बर्तनों का निर्माण कार्य व्यावसायिक आधार पर आरम्भ किया। तब भारतीय कुम्हार चीनी मिट्टी के बर्तन बनाने की तकनीक सीखने से वंचित थे; क्योंकि विदेशी शासन था। नये किस्म के बर्तन बनाना आरम्भ करने में असफल होने का एक कारण धार्मिक रुढ़िवादिता भी थी। बहुत लोगों का विश्वास है कि चीनी मिट्टी के बर्तन बनाने में हड्डियों और अंडे के छिलकों का प्रयोग करते हैं। उन्होंने इस उत्पादन पद्धित का बहिष्कार इसलिए भी किया कि वे यूरोपीय देशों से आते हैं, जोकि गैर-हिन्दू क्षेत्र है। केवल पचास वर्ष पूर्व ही हमारे देश में बड़े उद्योगपतियों ने चीनी मिट्टी के बर्तन निर्माण का काम हाथ में लिया। इसे न सिर्फ कुम्हारों से दूर रखा गया, बल्कि उन्हें यह भी बताया गया कि इसमें अधिक पूंजी तथा उच्च तकनीकल कर्मचारियों की आवश्यकता है, जोकि केवल अंशतः सही है। अन्य देशों में तो परम्परागत कुम्हार ही आगे बढ़ कर धीरे-धीरे नयी तकनीकें अपनाते गये और आज के बनिस्बत लागत भी बहुत कम थी। इंग्लैण्ड के मशहूर सेरामिक विशेषज्ञ डा. सेगर और वेजवुड कुम्हार परिवारों के थे। मिट्टी के खूबसूरत बर्तन आदि बनानेवाला देश जापान आज भी स्नानीय बर्तन बनाने के लिए मुख्यतः अपने परम्परागत कारीगरों पर ही निर्भर है। निवेश सामग्री है और परम्परागत रूप से अनुभवी व्यक्ति इस काम में लगे हैं। यह समझना गलत है कि चीनी मिट्टी के बर्तन बनाने के लिए भारी निवेश और उच्च तकनीकल दक्षता अत्यावश्यक है। प्रयोगों और अनुभवों से यह पाया गया है कि हमारे कुम्हार किसी भी इकाई को अच्छी तरह चला सकते हैं, बशर्ते कि उन्हें प्रारम्भिक प्रशिक्षण और मार्गदर्शन प्रदान किया जाय।

पूंजी निवेश के आकार पर भी ध्यान दिया जाना जरूरी है। यह सही है कि इसमें जो एक लाख रुपये लगाने आवश्यक हैं, वह बड़ी रकम है, परन्तु यह अनिवार्य है; क्योंकि भारत में इकाई चलानेवाले को कच्चे माल की प्राप्ति से तैयार माल के समापन तक की हर प्रक्रिया करनी होगी। अतः प्रत्येक उपकरण का इस्तेमाल करना होगा और इस प्रकार प्रारम्भिक पूंजी अन्य स्थानों से अधिक लगेगी। परन्तु इस समस्या को कुछ समय बाद, जबकि सारे देश में यह उद्योग फैल जायगा, हल किया जा सकेगा। तब प्रति इकाई प्रारम्भिक लागत सेवा केन्द्रों (सर्विस स्टेशन) की स्थापना कर कम की जा सकेगी। तथापि, इसमें समय लगेगा। इस उद्योग में बिक्री की समस्या नहीं है और आरम्भ में छोड़ कर कीमत भी कारखानों में तैयार वस्तु के बराबर ही रहेगी।

उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुए यह महसूस किया जाता है कि ग्रामीण क्षेत्रों के उपयुक्त चीनी मिट्टी के बर्तन निर्माण के विकास की ओर शीघ्र ध्यान दिया जाना चाहिए।

भद्रावती (महाराष्ट्र): ११ सितम्बर १९६१

दक्षिणी राज्यों में कृषि श्रमिक

श्री श्रीकण्ठन् नायर

कुल कर्मियों के अनुपात्त में खेतिहर मजदूरों का प्रातिशत्य आंध्र प्रदेश में २८.५९; मद्रास में १९ और केरल में १७.३८ है। खेती में मजदूरी-रोजगारी की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है, जोकि तंजौर (मद्रास) और पालघाट (केरल) तथा आंध्र प्रदेश के डेल्टा प्रदेशों में अधिक है।

सन् १९६१ की जनगणना में आबादी का नये ढंग से विभाजन किया गया है—कर्मियों और इतर-कर्मियों में—जबकि १९५१ की जनगणना में आर्थिक अवस्था पर आधारित त्रिमुखी विभाजन था। तदनुसार कर्मी का अर्थ है "वह व्यक्ति जिसके पास कार्यकारी मौसम के अधिकांश भाग में नित्य एक घण्टे से अधिक का नियमित काम हो और ये मौसमी कार्य हैं: कृषि, पशु-पालन, दुग्ध उत्पादन, घरेलू उद्योग आदि।" व्यापार, धंधे, सेवाओं, वाणिज्य अथवा व्यवसाय में लगे उन लोगों को कर्मी माना गया है जिन्होंने सर्वेक्षण के पूर्व कम से कम पन्द्रह दिन काम दिया हो। काम में सिर्फ असल काम ही शामिल नहीं है, बल्कि काम की योग्य देख-रेख और निर्देशन भी। सन् १९६१ की जनगणना में उन सभी व्यक्तियों को इतर-कर्मी कहा गया है जोकि अनुत्पादक कार्य में लगे थे।

कृषक की व्याख्या

कृषि विभाग के कर्मियों में कृषक और कृषिक श्रमिक आते हैं। कृषक वह है "जोकि अपनी अथवा सरकारी और अन्य व्यक्तियों अथवा संस्थाओं से पट्टे अथवा बटाई पर ली गयी जमीन मालिक, कर्मी अथवा पारिवारिक सदस्य के नाते खेती कर रहा हो।" संक्षेप में, इसमें मालिक और काश्तकार दोनों ही शामिल हैं। व्याख्या में कृषि के अन्तर्गत उपवन लगाना अथवा चाय, रबड़ आदि के बागान में काम करना शामिल नहीं है। कृषि श्रमिक वह है "जोकि दूसरों के खेत में श्रमिक के रूप में नकद, जिस अथसा हिस्से (जैसे उत्पादित माल में हिस्सा) के रूप में प्राप्त मजदूरी के लिए काम करता हो तथा जिसे खेती में देख-रेख करने अथवा निर्देश देने का कोई अधिकार न हो। श्रमिक जिस भूमि पर खेती करता है, उस पर उसका कोई अधिकार, पट्टा या अनुबंध नहीं होना चाहिए और न ही उसे यह निर्णय लेने के लिए जिम्मेवार होना चाहिए कि कब और कौन-सी फसल बोयी जानी चाहिए अथवा खेती की जोखिम ही उठानी चाहिए। उत्पादन में हिस्सा उसे केवल पारिश्रमिक स्वरूप मिलता है। उसे पिछले अथवा वर्तमान कृषि मौसम में कृषि श्रमिक होना चाहिए था।" यह व्याख्या उसे भूमिहीन श्रमिक बना देती है।

कृषि श्रमिकों का अनुपात

सन् १९६२ के शोधलेख १ में प्रकाशित तालिकाएँ १, २ और ३ कुल कर्मियों तथा कृषि कर्मियों के अनुपात में कृषि श्रमिकों सम्बन्धी आंकड़े बताती हैं और वे क्रमशः आंध्र प्रदेश, मद्रास और केरल राज्यों के विभिन्न जिलों के लिए लिंग के अनुसार वर्गीकृत हैं। इससे यह अन्तर करने में मदद मिलती है कि किन जिलों में कृषि श्रमिकों का उच्च अनुपात है। इस उच्च अनुपात की जानकारी को दो स्तर पर आधारित कर सकते हैं: (अ) कुल कर्मियों के अनुपात में कृषि श्रमिक; और (आ) कुल कृषि कर्मियों के अनुपात में कृषि श्रमिक।

आंध्र प्रदेश में

आन्ध्र प्रदेश में कुल कर्मियों का करीब २८.५९ प्रति शत कृषि श्रमिक है और उनका प्रातिशत्य विभिन्न